अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१०, फरवरी १९५४

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।ǀ) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

उत्तम योगभ्रष्ट

ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें जन्म

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१०, फरवरी १९५४ { संख्या २ पूर्ण संख्या ३२७

उत्तम योगभ्रष्ट

जो संलग्न श्रेष्ठ साधनमें छोड़ जगत्‌के सारे स्वार्थ ।
आठों पहर सावधानीसे साध रहा जो शुचि परमार्थ ॥
साध्य तत्त्वतक नहीं पहुँचकर पहले ही यदि मर जाता ।
तो धीमान् योगियोंके घर जन्म सुदुर्लभ वह पाता ॥

(गीता ६ । ४२ के आधारपर)

कल्याण

याद रक्खो—कोई भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति तुम्हें शान्ति नहीं दे सकती, तुम्हारा मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकती, तुम्हें सुखी नहीं बना सकती, यदि तुम भगवान्‌के मङ्गलमय विधानके अनुसार प्राप्त परिस्थिति-का सदुपयोग करके उससे लाभ नहीं उठाते।

याद रक्खो—प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग यही है कि उसमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करो, उसमें अपना मङ्गल देखो और उससे लाभ उठाओ। यह निश्चय करो कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, मेरे परम सुहृद्, न्यायकारी और दयालु भगवान्‌ने मेरे कर्मोंको देखकर जो कुछ भी मेरे लिये विधान किया है, निश्चय ही मेरे लिये उसमें परम मङ्गल निहित है।

याद रक्खो—भगवान्‌ने तुम्हारे लिये जो कुछ भी परिस्थिति दी है, यदि तुम उससे लाभ उठाना चाहो तो प्रत्येक परिस्थिति तुम्हारे लिये शुभ और मङ्गलमयी हो सकती है। यदि तुम्हें भगवान्‌ने प्राणी-पदार्थ दिये हैं तो समझो कि तुम्हें सेवा करनेका अवसर दिया है। तुम उन वस्तुओंके ट्रस्टी हो, मालिक नहीं; उनकी सँभाल रखना, रक्षा करना और जहाँ, जब आवश्यकता हो वहाँ, तब यथायोग्य व्यवस्थापूर्वक उन्हें मालिककी सेवामें लगाते रहना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम यदि अपनेको उन वस्तुओंका स्वामी न मानकर उन्हें प्रभुकी सेवामें लगाते हो तो उनका सदुपयोग करते हो। इसी प्रकार यदि तुम्हारे पाससे वस्तुएँ चली गयी हैं तो समझो कि प्रभुने दया करके तुमको मोहमें फँसानेवाली स्थितिसे बचा लिया है, उन्होंने तुमपर बड़ी ही कृपा की है; और कृतज्ञ हृदयसे प्रभुका स्मरण करते हुए तथा संतोष और सुखका अनुभव करते हुए इस परिस्थितिसे लाभ उठाओ।

याद रक्खो—यदि तुम अपनी वर्तमान परिस्थितिमें संतुष्ट नहीं हो और किसी दूसरी परिस्थितिकी आशा करते हो तो तुम्हें कभी भी संतोष होगा ही नहीं और न कभी तुम चित्तमें शान्तिका अनुभव करोगे।

याद रक्खो—संसारमें कोई भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति ऐसी है ही नहीं, जो सर्वथा पूर्ण हो, जिसमें अभाव न हो। तुम जिस किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिको प्राप्त करोगे, जिससे अपनी मनोरथसिद्धि मानोगे, वही नये-नये अभावोंको और उनकी पूर्तिके लिये नयी-नयी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिकी अपेक्षा और आशाको लेकर तुम्हारे सामने आयेगी और तुम्हारी पराधीनताको, परमुखापेक्षिताको और भी बढ़ा देगी। तुम्हें नयी-नयी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितियोंकी आशाकी फाँसीमें बँधना पड़ेगा और उनकी चाहे जितनी गुलामी करनेपर भी कहीं भी कभी भी उनसे तुम्हें तृप्ति, संतोष, शान्ति और सुख नहीं मिलेगा। तुम दिन-रात उनकी आशा-प्रतीक्षामें रहोगे; परंतु आशा-प्रतीक्षाकी पूर्तिका प्रसङ्ग आगे-से-आगे टलता जायगा, दूर-से-दूर होता चला जायगा।

याद रक्खो—किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिमें शान्ति-सुख हैं ही नहीं, वे तो तुम्हारे अंदर हैं, जो किसी दूसरी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिकी आशाका त्याग करके प्रभुके द्वारा दी हुई वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग करनेपर स्वयं प्रकट होते हैं।

याद रक्खो—जो मनुष्य भगवान्‌पर विश्वास न करके प्रतिक्षण बदलनेवाली तथा मृत्युके प्रवाहमें बहती हुई वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिपर विश्वास करता है, वह कभी भी सच्ची शान्ति और सुखका मुख नहीं देख सकता। वह सदा वञ्चित ही रहता है।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(कुछ दिनों पूर्व हमारे एक आत्मीय एक महात्माके पास गये थे, वहाँ प्रवचन तथा प्रश्नोत्तररूपमें जो कुछ महात्माजीने कहा, उसे लिख लिया गया था । उसीको यहाँ क्रमसे दिया जा रहा है ।)

(१)

साधकके जीवनमें ऐसी प्रतीति नहीं रहनी चाहिये कि अमुक समय तो साधनका है और अमुक समय साधनका नहीं है । अमुक कृपा या प्रवृत्ति तो साधन है और अमुक नहीं है । उसका तो प्रत्येक क्षण और प्रत्येक प्रवृत्ति साधनमय होनी चाहिये। जिसकी समझमें सब कुछ भगवान्‌का है, उसका अपना तो केवलमात्र एक भगवान्‌के सिवा और कुछ भी नहीं रहा । फिर उसकी कोई भी प्रवृत्ति भगवान्‌की सेवासे भिन्न हो ही कैसे सकती है ? उसके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, उन्हींकी दी हुई योग्यतासे, उन्हींकी सेवामें लगेगा । इसके सिवा दूसरा साधन हो ही क्या सकता है !

(२)

अन्तःकरणकी शुद्धिका विषय

(१) बुरे और अनावश्यक संकल्पोंका त्याग ही चित्तशुद्धिका पहला उपाय है ।

(क) जिस कामसे किसीका अहित होता हो, तद्विषयक संकल्पोंका नाम बुरे संकल्प हैं ।

(ख) जिसका वर्तमानसे सम्बन्ध न हो, जिस संकल्पको पूरा करनेकी साधकमें योग्यता या शक्ति न हो, यदि शक्ति या योग्यता हो तो भी वर्तमानकालमें उसे पूरा करना आवश्यक न हो या सम्भव न हो, ऐसे संकल्पोंका नाम है—अनावश्यक संकल्प ।

इनकी निवृत्तिके बाद जो साधकके मनमें आवश्यक और भले संकल्प उठते हैं, उनकी पूर्ति अपने-आप होती है, यह प्राकृत नियम है ।

(ग) आवश्यक संकल्प उनको कहते हैं, जिनके अनुसार साधककी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है और जिनकी पूर्तिका सम्बन्ध वर्तमानसे है, जैसे भोजनादि शरीरसम्बन्धी क्रिया-विषयक संकल्प एवं अपनी योग्यताके अनुसार अन्यान्य वर्तमान प्रवृत्तिसे या निवृत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले संकल्प ।

(२) भले संकल्प-उनको कहते हैं जिनमें किसीका हित—प्रसन्नता निहित हो ।

आवश्यक और भले संकल्पोंकी पूर्तिमें भी उस पूर्तिके सुखमें रस न लेना किंतु ईश्वरकी अहैतुकी कृपाका अनुभव करते हुए उनके प्रेम और विश्वासको पुष्ट करते रहना—यह चित्तशुद्धिका दूसरा उपाय है ।

(३) जब कभी साधकको ऐसा प्रतीत होता हो कि मेरे आवश्यक और शुभ संकल्पोंकी भी पूर्ति नहीं हो रही है, तो उस समय मनमें किसी प्रकारकी खिन्नता या निराशाको स्थान नहीं देना चाहिये; किंतु ऐसा समझना चाहिये कि 'प्रभु अब मुझे अपनानेके लिये—मुझे अपना प्रेम प्रदान करनेके लिये मेरे मनकी बात पूरी न करके, अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं ।' तथा ऐसे भावसे उन प्रेमास्पदके संकल्पमें अपने संकल्पोंको मिलाकर उनकी प्रसन्नतासे और उनके प्रेमप्राप्तिकी आशाभरी उमंगमें आनन्दमग्न हो जाना—यह अन्तःकरणकी परम शुद्धिका अन्तिम साधन है ।

चित्त शुद्ध होनेसे निर्विकल्प स्थिति और संदेह-रहित बोध होता है । उस समय साधकके जीवनमें सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति तथा स्वाधीनता और सामर्थ्य—इनका अनुभव होता है; परंतु उससे होनेवाले सुखमें भी साधकको संतुष्ट नहीं होना चाहिये और उसका उपभोग भी नहीं करना चाहिये; किंतु उदासीन भावसे

उसकी उपेक्षा करके भगवान्‌के प्रेम और विश्वासको ही पुष्ट करते रहना चाहिये ।

(३)

सिद्धान्त और साधन

साधकके लिये वही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ मान्य है जिसके समझनेमें उसे किसी प्रकारका संदेह न हो और जिसके अनुसार अपना जीवन बना लेनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनाईका बोध न होता हो । यानी वर्तमानमें प्राप्त परिस्थिति और योग्यताके सदुपयोगसे ही जिस सिद्धान्तके अनुसार जीवन बना लेना सहज हो । जिसमें निराशाके लिये कोई स्थान न हो, जो उसको सबसे अधिक प्रिय हो तथा जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो । जिस साधकके पास न धनका बल है, न शरीरका बल है, न बुद्धि-बल है, न इन्द्रिय-बल है, न सदाचार-बल है और न जातिका बल है—ऐसा दीन-हीन पतितसे भी पतित मनुष्य जिस सिद्धान्तके अनुसार सुगमतासे अपने साध्यको अनायास सहज ही प्राप्त कर सकता हो, वही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है । जो सिद्धान्त प्राप्त योग्यताके सदुपयोगद्वारा साधकको साध्यकी प्राप्ति करा देनेमें समर्थ हो, वही उसके लिये वास्तविक सिद्धान्त है । अपने सिद्धान्तका अनुसरण करते हुए दूसरोंके सिद्धान्तका आदर करना ही धर्म है; क्योंकि धर्म सभी सिद्धान्तोंका समर्थक है ।

(४)

भाव, संकल्प और कर्मकी शुद्धि

किसी भी कर्मकी शुद्धिके लिये यह जानना परमावश्यक है कि उसका उद्गमस्थान क्या है अर्थात् कर्मकी उत्पत्ति कहाँसे होती है तो विचार करनेपर मालूम होगा कि कर्ताके भाव और संकल्पसे कर्म बनता है अर्थात् पहले कर्ता किसी भावसे भावित होकर स्वयं कुछ बनता है, तब उसके अनुसार संकल्प और कर्मकी उत्पत्ति होती है । जब मनुष्य कोई अच्छा काम करनेमें प्रवृत्त होता है तो पहले स्वयं अच्छा बनता है। वैसे ही जब किसी बुरे काममें प्रवृत्त होता है तो पहले स्वयं बुरा बनता है । जैसे चोर बनकर चोरी करता है, भोगी बनकर भोग करता है, सेवक बनकर सेवा करता है इत्यादि । अतः यह सिद्ध हुआ कि क्रियाकी शुद्धिके लिये साधकको पहले अपने अहंभावको शुद्ध करना परम आवश्यक है; क्योंकि कारणकी शुद्धिके बिना कार्यकी वास्तविक और स्थायी शुद्धि नहीं होती । इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपनी मान्यताको पहले स्थिर और शुद्ध बनावे, विकल्परहित यह निश्चय करे कि मैं भगवान्‌का हूँ । यह भाव निश्चित होनेपर अपने-आप उसी कामको करनेके संकल्प उठेंगे जो भगवान्‌को प्रिय हैं, जो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करने आवश्यक हैं । इस प्रकार भाव, संकल्प और कर्मकी शुद्धि सुगमतापूर्वक अपने-आप हो सकती है । साधक जिस वर्ण, आश्रम, परिस्थितिमें रहता हो उसे तो भगवान्‌की नाट्यशालाका स्वाँग समझे और उस स्वाँगके अनुसार जब जो कर्म करना आवश्यक हो, उसे खूब उत्साह, सावधानी और प्रसन्नतापूर्वक करता रहे; परंतु उस अभिनयको अपना जीवन न माने अर्थात् उसमें जीवन, बुद्धि, सद्भाव न रक्खे । ऐसा होनेसे अभिनयके रूपमें होनेवाली प्रवृत्तियोंका राग अङ्कित नहीं होगा । जिससे निर्वासना आ जायगी और प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें स्वाभाविक ही प्रेमास्पदके प्रेमकी प्रतीक्षा उदय होगी, क्योंकि अभिनयकालमें यह भावना जाग्रत् रहती है कि हमारे हिस्सेमें आया हुआ अभिनय ठीक-ठीक पूरा हो जानेपर हमारे प्रेमास्पद हमें जरूर अपनायेंगे, हमसे प्रेम करेंगे । प्रेमास्पदकी ओरसे मिले हुए अभिनयसे छिपे हुए रागकी निवृत्ति होती है । रागका अन्त होते ही अनुरागकी गङ्गा स्वतः लहराने लगती है—यह सभी प्रेमियोंका अनुभव है । अभिनय करते समय इस बात-

को कभी न भूले कि मैं उनका हूँ जो इस लीलास्थलीरूप जगत्के स्वामी हैं। अतः मैं जो कुछ कर रहा हूँ या मुझे जो कुछ करना है—वह उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करना है। इस अभिनयको प्रभु देख रहे हैं।

अहंभावकी शुद्धिके बिना यदि कोई मनुष्य कर्मकी शुद्धिके लिये प्रयत्न करता है तो वह कोशिश करनेपर भी कर्मको शुद्ध नहीं बना सकता; क्योंकि जहाँसे कर्मकी उत्पत्ति होती है, जो उसका कारण है, उसकी शुद्धिके बिना कर्मकी शुद्धि सम्भव नहीं है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(९।३०)

गीताके इस श्लोकसे भी यही भाव निकलता है; क्योंकि भगवान्ने इसमें साधकके निश्चयकी महिमाका ही वर्णन किया है। भगवान्का यह कहना कि जो मेरा अनन्य भक्त होकर मुझे भजता है, वह यदि अत्यन्त दुराचारी भी हो तो भी उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय बड़ा अच्छा है, उसने जो यह निश्चय कर लिया कि मैं भगवान्का भक्त हूँ। यह निश्चय उसको शीघ्र ही धर्मात्मा—सदाचारी बना देगा—यह भाव इसके अगले श्लोकमें स्पष्ट है।

(५)

प्रश्न—कलके सत्सङ्गमें यह बात सुनी थी कि साधकको अपनी निर्बलताका और प्रभुकी महिमाका ज्ञान होनेसे भगवान्में प्रेम और विश्वास बढ़ता है। अतः यह समझानेकी कृपा करें कि साधककी निर्बलता क्या है और वह उसे कैसे समझे तथा भगवान्की महिमा क्या है और उसे किस प्रकार समझा जाय?

उत्तर—मनुष्यमें सबसे बड़ी निर्बलता तो यह है कि वह जिसको करना बुरा समझता है उसे किये बिना नहीं रह सकता। जिसे करना उचित समझता है उसे नहीं कर पाता। भगवान्ने जो इसे सुचारुरूपसे कर्म करनेके लिये क्रियाशक्ति, विवेकशक्ति दी है, उसका यह सदुपयोग न करके दुरुपयोग करता है, तथापि भगवान् इतने उदार और दयालु हैं कि जब उन शक्तियोंका ह्रास हो जाता है, तब सब कुछ जानते हुए भी उसके अपराधकी ओर ध्यान न देकर बार-बार उसे वही शक्ति प्रदान करते रहते हैं। इस रहस्यको समझकर यदि साधक भगवान्से उनके द्वारा प्रदत्त शक्तिका सदुपयोग करनेका बल प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करे तो वह भी देनेके लिये वे महान् उदार प्रभु सदैव प्रस्तुत हैं। भगवान्के इस भावको समझनेवाला साधक उनमें प्रेम-विश्वास किये बिना रह ही कैसे सकता है?

जो साधक भगवान्को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है,—वह पतित है, महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्ण है या नीच वर्ण जातिका—इस बातका भगवान् जरा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है—वे उससे प्रेम करनेके लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है, वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं—इसका वाणीद्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्की इस महिमाको समझनेवाला साधक उनपर अपनेको न्योछावर कर देनेके सिवा और करेगा ही क्या।

(६)

साधकको चाहिये कि प्राप्त विवेकके द्वारा अपने मनकी दशाका भलीभाँति निरीक्षण करे कि उसकी आन्तरिक रुचि क्या है, उसमें कौन-कौन-सी आसक्ति (राग) छिपी है। इस प्रकार मनके अन्तस्तलमें रुचि और रागके रूपमें छिपे हुए अपने दोषोंको देख लेनेपर वे दोष अपने-आप नष्ट हो जाते हैं—यह प्राकृतिक नियम है। जबतक साधक गुरुजनों और शास्त्रोंद्वारा सुनकर अपने

दोषोंको दोष समझता है—उनको सद्गुणोंकी भावनासे दबाता रहता है, तबतक वे एक बार दब तो जाते हैं; पर उनका समूल नाश नहीं होता। अतः पुनः मौका पाकर समयपर वे घोर रूपमें भड़क उठते हैं, किंतु प्रत्यक्ष रूपसे देख लेनेके बाद दोषोंका मूलसहित नाश हो जाता है। यद्यपि साधक बुद्धिजन्य विवेकद्वारा दोषोंको दोषरूपमें समझता है, उनको छोड़ना भी चाहता है। उसी प्रकार सद्गुणोंको भी समझता है तथा उनको धारण भी करना चाहता है; परंतु जबतक हृदय और विवेककी एकता नहीं हो जाती, मनको उन दोषोंमें रस आता रहता है और गुणोंके रसका अनुभव नहीं होता, तबतक दोषोंका त्याग और गुणोंका संग्रह नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि वह प्राप्त विवेकके द्वारा गहराईसे अपने दोषोंका निरीक्षण करके विवेक और हृदयकी एकता स्थापित करे अर्थात् मन और बुद्धिमें जो दूरी है, उसे मिटाकर मनको बुद्धिमें विलीन कर दे। ऐसा होनेसे दोषोंकी उत्पत्ति नहीं होगी और गुणोंका सङ्ग नहीं होगा। तब बुद्धि अपने आप सम और स्थिर हो जायगी।

(७)

प्रश्न—भगवान्‌की कृपा, जो सबपर सदैव है, उसका अनुभव कैसे हो?

उत्तर—जिस साधकको अपने बल-पुरुषार्थपर भरोसा है, जो यह समझता है कि अपने कर्मोंके फलस्वरूपमें प्राप्त शक्तिके द्वारा साधन करके मैं अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लूँगा—उसे भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता। वैसे ही जो विचारमार्गमें विश्वास रखनेवाला साधक विचारके द्वारा ही अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ रहा है—उसे भी भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता। भगवत्कृपाका अनुभव उस साधकको होता है, जिसको उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास है। जो हर समय हर-एक परिस्थितिमें उनकी कृपाकी ही बाट जोहता रहता है। उस साधकको भी भगवत्कृपाका अनुभव होता है जो यह मानता है कि 'मुझे जो कुछ विवेक प्राप्त है—वह भगवान्‌का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर तथा अन्य समस्त साधनसामग्री उन्हींकी है और उन्होंने ही कृपापूर्वक इनका सदुपयोग करनेके लिये इनको मुझे दिया है। उन्हींकी कृपा, प्रेरणासे साधनमें मेरी प्रवृत्ति तथा प्रगति होती है और होगी।' इस प्रकार जो अपनेको भगवान्‌की कृपाका पात्र मानता है और उस मान्यतामें भी भगवान्‌की कृपाको ही कारण समझता है उसीको भगवत्कृपाका अनुभव होता है।

प्रभुका हृदयमें निवास

प्रेमरूप हरि बस गये हियमें नित्य सुबोध।
रह न सकेंगे अब वहाँ द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध॥
हरिका सुन्दर विनय-वपु रहा हृदयमें छाय।
गर्व, दर्प, अभिमान, मद पलमें गये विलाय॥
सत्यरूप आनन्दमय प्रभु हिय रहे विराज।
शोक दुःख भय दंभका नष्ट हो गया राज॥
प्रभुका शीतल विमल अति छाया हृदय प्रकाश।
राग-कामना-अहं-मम-तमका हुआ विनाश॥
क्षमामूर्ति प्रभु कर रहे हियमें नित्य निवास।
हुआ असूया अघमयी हिंसाका अति नाश॥
हियमें जबसे आ बसे नित्य निरामय राम।
त्रिविध व्याधि सब मिट गयीं मिला मधुर विश्राम॥
मेरे ही प्रभु बस रहे जब सबके हिय आप।
तब किससे कैसे रहे, द्वेष वैरका पाप॥
निज-पर-भेद मिटा सभी सबमें प्रभु पहचान।
प्राणिमात्र प्रति प्रेमकी धारा बही महान॥
सबमें प्रभु, सब ही प्रभु, सब लीला विस्तार।
लीला लीलामय सदा करते मधुर विहार॥

नारद-विष्णुपुराणकी महत्ता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इस वर्ष 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें श्रीनारदपुराण और श्रीविष्णुपुराणका संक्षिप्त अनुवाद दिया गया है। इन दोनों ही पुराणोंमें जो-जो प्रसङ्ग सबके जानने योग्य तथा विशेष उपयोगी जान पड़े, उन्हींको इसमें दिया गया है। श्रीबृहन्नारदीयपुराण अथवा श्रीनारदपुराणके नामसे जो मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध हुई थीं, उनमें श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी प्रतिके अतिरिक्त प्रायः सभीमें लगभग ४२ अध्याय ही मिलते हैं। ये अध्याय श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी प्रतिमें भी ग्रन्थके आरम्भसे ही कुछ साधारण पाठ-भेदके साथ ज्यों-के-त्यों आये हैं। अन्यान्य कुछ प्रतियोंमें वक्ता नारद हैं और इसमें नारद प्रश्नकर्ता हैं और वक्ता सनकादि हैं। इस नारदपुराणमें वर्णित पुराण-विषय-सूचीके अनुसार यह पचीस हजार श्लोकोंका बताया गया है, परंतु श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी मुद्रित प्रतिमें पूरे श्लोक नहीं है। श्रीनारदपुराणका अन्य कोई पूर्ण संस्करण प्राप्त न होनेके कारण इसी प्रतिके अनुसार अनुवाद करवाकर उसका संक्षेप दिया गया है।

इस नारदपुराणके पूर्वभागमें श्रीसनकादि मुनियोंके द्वारा श्रीनारदजीके प्रति अनेकों प्रकारके उपदेश दिये गये हैं, जिसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग, उपासना आदि आध्यात्मिक विषय तो प्रचुर मात्रामें हैं ही, साथ ही वेदके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष (गणित, जातक, संहिता) और छन्द इत्यादि लौकिक विज्ञानके सम्बन्धमें भी संक्षेपमें बड़ा ही सारगर्भित तथा उपयोगी विवेचन है। उसमें बहुत-सी बातें सीखनेयोग्य तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

नारदपुराणके पूर्वभागके सातवें अध्यायमें गङ्गावतरणके प्रसङ्गमें श्रीसनकजीने सूर्यवंशीय राजा बाहुका एक विचित्र चमत्कारपूर्ण इतिहास कहा है। उसमें अध्यात्म-शिक्षाके साथ ही सत्सङ्गका भी बड़ा सुन्दर प्रकरण है। इस प्रसङ्गमें सत्पुरुषोंकी जैसी अतुलनीय महिमा मिलती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं देखी गयी। यह प्रसङ्ग सबके लिये ध्यान देने योग्य है।

राजा बाहु अपने धर्माचरणके प्रभावसे परम ऐश्वर्य-सम्पन्न हो गये थे, किंतु एक समय उनके मनमें असूयादोषके कारण बड़ा भारी अहंकार उत्पन्न हो गया, जिससे वे अत्यन्त उद्दण्ड हो गये। तब हैहय और तालजङ्घ-कुलके क्षत्रिय उनके शत्रु बन गये तथा उन्होंने आक्रमण करके राजाको युद्धमें परास्त कर दिया। राजा अत्यन्त दुखी होकर अपनी गर्भवती पत्नीके साथ वनमें चले गये। बहुत समय बीतनेके बाद वनमें ही और्व मुनिके आश्रमके निकट रोग-ग्रस्त होकर राजा बाहु संसारसे चल बसे। तब गर्भवती होनेपर भी उनकी छोटी पत्नीने चितापर पतिके साथ जलकर सती होनेका विचार किया। इसी बीचमें परम बुद्धिमान् महान् तेजोनिधि महात्मा और्व मुनि वहाँ आ पहुँचे और रानीको चितापर चढ़नेके लिये उद्यत देख उन्होंने बड़े सौम्य शब्दोंमें समझाते हुए कहा—'राजपुत्री! तू निश्चय ही पतिव्रता है, किंतु चितापर चढ़नेका साहसपूर्ण कार्य न कर; क्योंकि तेरे गर्भमें चक्रवर्ती बालक है तथा गर्भवती नारीके लिये चितारोहणका निषेध है।'

और्व मुनिके समझानेपर पतिव्रता रानी चितारोहणसे निवृत्त हो गयी और पतिके चरणोंमें पड़कर विलाप करने लगी। तब सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता महात्मा और्वने रानीसे कहा—'महाभागे! तू रो मत, इस समय तुझे अपने स्वामीके मृतक शरीरका दाह-संस्कार करना उचित है, अतः शोक त्यागकर समयोचित कार्य कर। पण्डित हो या मूर्ख, दरिद्र हो या धनवान् तथा दुराचारी हो या सदाचारी—सबपर मृत्युकी समान दृष्टि है। नगरमें हो या वनमें, जिस जीवने जो कर्म किया है, उसे उसका फल-भोग अवश्य करना पड़ता है। जैसे दुःख बिना ही बुलाये प्राणियोंके पास चले आते हैं, उसी प्रकार सुख भी आ सकते हैं—ऐसा मेरा मत है। इस विषयमें प्रारब्ध ही प्रबल है। अतः तू इस दुःखको त्याग दे और विवेकके द्वारा धैर्य धारण करके सुखी हो जा।'

यों कहकर मुनिने उसके द्वारा दाह-सम्बन्धी सब कार्य करवाये। फिर रानीने शोक त्याग दिया और मुनीश्वरको प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आप-जैसे संत दूसरोंकी भलाईकी ही अभिलाषा रखते हैं,—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो दूसरोंके दुःखसे दुखी और दूसरोंकी

प्रसन्नतासे प्रसन्न होता है, वह नररूपधारी जगदीश्वर नारायण है। संत पुरुष दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिये शास्त्र सुनते हैं और अवसर आनेपर सबका दुःख दूर करनेके लिये ही शास्त्रोंके वचन कहते हैं। जहाँ संत रहते हैं, वहाँ वैसे ही दुःख नहीं सताता जैसे सूर्यके रहनेके स्थानमें अन्धकार नहीं रह सकता।'

तदनन्तर रानीने वहाँ तालाबके किनारे विधिपूर्वक पतिकी अन्यान्य पारलौकिक क्रियाएँ कीं। वहाँ महात्मा और्व मुनिके उपस्थित रहनेके कारण एक बड़ी अद्भुत घटना हुई, राजा बाहु महान् तेजसे प्रकाशित होते हुए चितासे निकले और श्रेष्ठ विमानपर बैठकर मुनीश्वर और्वको प्रणाम करके परम धामको चले गये। महान् पुरुषोंके ऐसे अद्भुत प्रभावका वर्णन करते हुए सनकजी कहते हैं—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥
(ना० पूर्व० ७। ७४-७५)

'जिनपर महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ती है, वे महापातक या उपपातकसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। पवित्रात्मा पुरुष यदि किसीके शरीरको, शरीरके भस्मको अथवा उसके धुएँको भी देख लें तो वह मृतक मनुष्य परम गतिको प्राप्त हो जाता है।' महापुरुषोंकी महिमाका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है। अस्तु !

पतिका श्राद्धकर्म करनेके बाद रानी और्व मुनिके आश्रमपर चली गयी और समयपर इसी छोटी रानीके गर्भसे पुराणप्रसिद्ध राजा सगरकी उत्पत्ति हुई।

उत्तरभागमें महर्षि वशिष्ठजीने नृपश्रेष्ठ मान्धाताके प्रति प्रधानतया एकादशी-व्रत और विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन किया है। वहाँ एकादशीके माहात्म्य-वर्णनमें विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गदका बड़ा सुन्दर अत्यन्त विचित्र इतिहास है। वे सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा थे। वे भगवद्भक्त तो थे ही, सदा एकादशी-व्रतके पालनमें तत्पर रहते थे। वे एकादशीके दिन हाथीपर नगाड़ा रखकर बजवाते और सब ओर यह घोषणा कराते थे कि 'आज एकादशी तिथि है। आजके दिन आठ वर्षसे अधिक और पचासी वर्षसे कम आयुवाला जो मन्दबुद्धि मनुष्य भोजन करेगा, वह कोई भी क्यों न हो, दण्डनीय होगा अथवा उसे नगरसे निर्वासित कर दिया जायगा।' राजाके इस प्रकार घोषणा करानेपर सब लोग एकादशी-व्रत करके भगवान् विष्णुके परम धाममें जाने लगे। यों उस राजाके राज्यमें जो लोग भी मृत्युको प्राप्त होते थे, वे पातकशून्य होकर भगवान् विष्णुके परम धाममें चले जाते थे। पापियोंके अभावसे यातना प्रदान करनेवाले सम्पूर्ण नरक सूने हो गये, यमराजका विभाग सर्वथा कार्यरहित हो गया।

इनसे भी बढ़कर कीर्तिमान् नामक एक चक्रवर्ती राजा हुए हैं, जिनके विषयमें स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें इस प्रकार वर्णन मिलता है कि वे महान् विष्णुभक्त थे। उनके सदुपदेशसे समस्त प्रजा सदाचार और भक्तिसे पूर्ण हो गयी। उनके पुण्यफलसे यमराजके यहाँ जो पहलेके प्राणी थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और वर्तमानमें मरनेवाले सब लोग परमगतिको प्राप्त होने लगे। इससे नये प्राणियोंका यमलोकमें जाना ही बंद हो गया। इस प्रकार यमलोक बिल्कुल सूना हो गया। तब यमराजने जाकर ब्रह्माजीसे कहा, ब्रह्माजी उन्हें साथ लेकर श्रीविष्णुभगवान्के पास गये। दोनोंने भगवान्को प्रणाम किया। फिर ब्रह्माजी बोले—'प्रभो! आपके श्रेष्ठ भक्त राजा कीर्तिमान्के प्रभावसे सब मनुष्य अविनाशी-पदको प्राप्त हो रहे हैं, इससे यमलोक सूना हो गया है।' तब भगवान् विष्णुने हँसते हुए कहा—'जिन्होंने मेरे लिये सब भोगोंका त्याग करके अपना जीवनतक मुझे सौंप दिया है, जो मुझमें मन लगाकर मेरे स्वरूप हो गये हैं, उन महाभाग भक्तोंको मैं कैसे त्याग सकता हूँ? राजा कीर्तिमान्को इस पृथ्वीपर मैंने दस हजार वर्षोंकी आयु दी है। उसमेंसे आठ हजार वर्ष बीत चुके हैं। शेष आयु और बीत जानेपर उन्हें मेरा सायुज्य प्राप्त होगा। जबतक ये धर्मात्मा भक्त राजा कीर्तिमान् जीवित हैं, तबतक तो ऐसा ही होगा, परंतु संसारमें सदा ऐसा चलता नहीं।'

ऐसे-ऐसे महान् पुण्यवान् तथा तेजस्वी श्रेष्ठ राजा हमारे इस भारतवर्षमें हो चुके हैं। जबतक इस पृथ्वीपर राजा कीर्तिमान् रहे, तबतक सभी मनुष्योंका उद्धार होता रहा, कोई भी यमलोकमें नहीं गया; किंतु फिर भी सब जीवोंका उद्धार नहीं हुआ। पर जब उद्धारका मार्ग खुला है और एक जीवका भी कल्याण होता है, तब सब जीवोंका भी कल्याण हो ही सकता है, यह न्याय है। सबके कल्याणके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके सुन्दर वाक्य भी मिलते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी दुःखका भागी न बने ।'

यदि सबके कल्याणकी बात असम्भव होती तो ऐसे वाक्य क्योंकर कहे जाते । यदि कहें कि 'जब सबका कल्याण आजतक नहीं हुआ तो अब कैसे हो सकता है ?' तो ऐसा कथन नहीं बनता, क्योंकि जब एकका कल्याण हो सकता है तो हजारका भी हो सकता है, लाखका भी हो सकता है एवं सबका भी हो सकता है । यह न्याययुक्त और युक्तिसङ्गत बात है । इसका विरोध नहीं किया जा सकता । एक मनुष्य लाखों-करोड़ों जन्मोंसे संसार-चक्रमें भटकता हुआ आ रहा है, उसकी मुक्ति आजतक नहीं हुई । तो भी साधन करनेसे उसकी मुक्ति हो तो सकती ही है; क्योंकि साधनद्वारा मुक्ति होती है, इस विषयमें सभी शास्त्रसम्मत हैं । फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'लाखों-करोड़ों ब्रह्मा बीत गये, अभीतक सबकी मुक्ति नहीं हुई तो अब भी नहीं हो सकती ।' हमारा यह कथन अयुक्त और शास्त्रविरुद्ध होगा, क्योंकि यदि मुक्ति नहीं होती तो उसके लिये लोग प्रयत्न क्यों करते, तथा शास्त्रोंमें जो भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग आदि साधनोंद्वारा मुक्ति बतलायी गयी है, वह भी अप्रमाणित होती । फिर ऐसे अनेकों उदाहरण भी मिलते हैं । ध्रुव, प्रह्लाद, शुकदेव, वामदेव, अम्बरीष आदि अनेक पुरुष मुक्त हुए हैं । इसलिये यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक पुरुष मुक्त हो सकता है तो हजारों, लाखों, करोड़ों भी मुक्त हो सकते हैं । इस न्यायसे सभी मुक्त हो सकते हैं । अतः जो बात आजतक नहीं हुई, वह भविष्यमें नहीं हो सकती, ऐसा कहना अयुक्त है ।

आर्ष ग्रन्थोंमें कहीं भी ऐसा नहीं कहा है कि सबका कल्याण नहीं हो सकता । तब फिर सबका कल्याण नहीं हो सकता—ऐसा हम किस आधारपर मानें । यदि कहें कि 'जब राजा कीर्तिमान्-जैसे धर्मात्मा भक्त भी सबका उद्धार नहीं कर सके तो दूसरा कौन कर सकता है ? 'तो यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि यह तो शास्त्रमें कहीं नहीं कहा गया कि जो कार्य राजा कीर्तिमान् नहीं कर सके, वह दूसरेके द्वारा भी नहीं हो सकेगा । यदि कीर्तिमान्से भी बढ़कर परम दयालु, परम उदार, निष्कामी, प्रेमी भक्त हों तो सबका उद्धार हो सकता है । इस विषयमें एक कहानी है—

एक निष्कामी प्रेमी भगवद्भक्त था । उसकी भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌ने उसको प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन दिये और कहा—'तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँगो ।' भक्तने उत्तर दिया—'मुझे किसी बातकी इच्छा नहीं है ।' फिर भगवान्‌ने बार-बार आग्रह किया—'तुम्हें कोई इच्छा नहीं है, तब भी हमारे संतोषके लिये तुम्हारी इच्छा हो वही वर माँग सकते हो ।' विशेष आग्रह करनेपर भक्तने कहा—'प्रभो ! ऐसी ही बात है तो जीवमात्रका उद्धार कर दीजिये ।' भगवान्‌ने कहा—'सबके पाप समाप्त हुए बिना सबकी मुक्ति नहीं हो सकती । इनके पापोंको कौन भोगेगा ?' भक्त बोला—'प्रभो ! सबके पापोंका उपभोग मैं अकेला कर लूँगा । आप सबको मुक्त कर दीजिये ।' भगवान्‌ने उत्तर दिया—'तुम मेरे भक्त हो; इसलिये सबके पापोंका फल तुम्हारे द्वारा कैसे भुगताया जा सकता है ?' भक्तने कहा—'ऐसा न करें तो सबके पापोंको क्षमा कर दीजिये ।' भगवान् बोले—'ऐसा सम्भव नहीं है ।' भक्तने कहा—'असम्भव भी तो नहीं है; क्योंकि जब एककी मुक्ति होती है, तब इसी न्यायसे सबकी भी हो सकती है । फिर आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, आपके लिये तो कुछ भी असम्भव है ही नहीं; क्योंकि आप सर्वशक्तिमान् हैं, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' हैं । आप असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं ।' भगवान् बोले—'वत्स ! तुम्हारा कथन ठीक है, किंतु मैं ऐसा नहीं कर सकता, इसके लिये मैं लाचार हूँ ।' भक्तने कहा—'भगवन् ! यदि आप नहीं कर सकते तो फिर आपने आग्रह करके यह क्यों कहा कि तुम अपने इच्छानुसार वर माँग लो ? आपको यही कहना उचित था कि तुम स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा, दीर्घायु, स्वर्ग या मुक्ति माँग लो ।' इसपर भगवान्‌ने उत्तर दिया—'तुम्हारा कहना ठीक है । तुम्हारी विजय हुई और हम हारे ।' भक्तने कहा—'इसमें मेरी विजय क्या हुई, मेरी विजय तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते ।' भगवान्‌ने कहा—'सबका कल्याण करनेके लिये तो मैं विवश हूँ । मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, स्मरण तथा नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, तुम बड़े दयालु और उदारचित्त निष्कामी प्रेमी भक्त हो, इसलिये तुम्हारे भी दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो जायगा ।' भक्तने इस बातको स्वीकार कर लिया ।

यदि भक्त उपर्युक्त बात स्वीकार नहीं करता और अड़ जाता तो सम्भव है कि भगवान् सभीका कल्याण कर देते ।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि सबका कल्याण हो सकता है; किंतु भक्त अनन्यप्रेमी, परम श्रद्धावान्, परम निष्कामी, उदारचित्त, सबका परम हित चाहनेवाला और परम दयालु होना चाहिये ।

× × × ×

श्रीविष्णुपुराण भी नारदपुराणोक्त सूचीके अनुसार पूर्व और उत्तर दो भागोंमें विभक्त माना गया है और उसमें तेईस हजार श्लोक बताये गये हैं । पूर्वभागमें छः अंश बताये गये हैं जो प्रायः मुद्रित प्रतियोंमें प्राप्त होते हैं । उत्तर-भाग विष्णुधर्मोत्तरके नामसे प्रसिद्ध है, इस विशेषाङ्कमें पूर्व-भाग ही लिया गया है ।

इस विष्णुपुराणके छठे अंशमें एक विशेष ध्यान देने योग्य प्रसङ्ग है। श्रीवेदव्यासजीने कलियुग, शूद्र और स्त्रियोंको 'श्रेष्ठ तथा अति धन्य' बतलाया है। पराशरजी कहते हैं—

मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम ।
शूद्रः साधुः कलिः साधुरित्येवं शृण्वतां वचः ॥
निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः ।
योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः ॥
(६ । २ । ६, ८)

'उस समय गङ्गाजीमें डुबकी लगाये मेरे पुत्र व्यासने जलसे निकलकर उन मुनिजनोंके सुनते हुए यह वचन कहा कि 'कलियुग ही श्रेष्ठ है, शूद्र ही श्रेष्ठ है ।' यह कहकर वे महामुनि फिर जलमें मग्न हो गये और फिर खड़े होकर बोले—'स्त्रियाँ ही साधु हैं, वे ही धन्य हैं; उनसे अधिक धन्य और कौन हैं ?'

कलियुगको धन्य और श्रेष्ठ कहनेका कारण तो यह है कि इसमें केवल भगवन्नाम-गुण-कीर्तन तथा बहुत ही थोड़े प्रयाससे मनुष्यका परम कल्याण हो जाता है ।

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥
(वि० पु० ६ । २ । ४०)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेता है ।'

इसीसे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
(१२ । ३ । ५१)

'परीक्षित् ! यह कलियुग दोषोंकी निधि है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है । वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जों नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह कलियुगकी बड़ी भारी महिमा गायी है । इतना ही नहीं, सत्ययुगमें दस वर्षोंतक ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और भगवन्नाम-जप आदिसे जो आत्म-कल्याणरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वह कलियुगमें एक दिन-रातमें हो सकती है । श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः ।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम् ॥
(वि० पु० ६ । २ । १५-१६)

'हे द्विजगण ! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है ।'

स्कन्दपुराणमें भी कहा है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे ।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः ॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे ।
(माहा० सेतु० ४३ । ३-४)

'सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य लाभ किया जाता है, उसी पुण्यको त्रेतायुगमें मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध कर लेते हैं और वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें ही प्राप्त हो जाता है ।'

सत्ययुगकी अपेक्षा कलियुगमें थोड़े समयमें ही कल्याण

हो जाता है, इसके सिवा उसमें सुगमता भी है। सत्ययुगमें ध्यान करनेसे जो परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धि होती है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंके जप-कीर्तनसे ही हो जाती है।

श्रीवेदव्यासजीने बतलाया है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ।
अल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः॥
(वि० पु० ६। २। १७-१८)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें देव-पूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवका नाम-कीर्तन करनेसे मिल जाता है। हे धर्मज्ञगण! कलियुगमें थोड़े-से परिश्रमसे ही पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये मैं कलियुगसे अति संतुष्ट हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी इसी प्रकार आता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(१२। ४। ५२)

'सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधि-पूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।'

कहीं-कहीं तो यहाँतक भी मिल जाता है कि कलियुगमें भगवान्‌के भजनके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती; किंतु हमलोगोंको कम-से-कम यह तो मान ही लेना चाहिये कि भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनका फल अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें अधिक है और यह भी मान लेना चाहिये कि इसमें परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे तथा अल्प कालमें ही हो सकती है। श्रीपराशरजी कहते हैं—

तत्राल्पेनैव यत्नेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम्।
करोति यं कृतयुगे क्रियते तपसा हि सः॥
(वि० पु० ६। १। ६०)

'सत्ययुगमें तपस्यासे जो उत्तम पुण्यराशि प्राप्त की जाती है, उसको मनुष्य कलियुगमें थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही प्राप्त कर सकता है।'

स्कन्दपुराणमें भी बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥
(माहेश्वर० कुमा० ३५। ११५)

'यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है, तथापि उसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो! कलिकालमें थोड़े ही समय साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं।'

इस समय हमलोग कलियुगमें विद्यमान हैं, अतः हमलोगोंको भगवत्कृपासे यह सुअवसर प्राप्त हो गया है। अब हमें इस अवसरसे कभी नहीं चूकना चाहिये। हमें उचित है कि भगवान्‌के नाम और गुणोंका स्मरण, जप और कीर्तन केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही निष्कामभावपूर्वक श्रद्धा-भक्तिसहित नित्य-निरन्तर करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करें। अन्य कार्य हों या न हों, अथवा अन्य कार्योंमें कोई बाधा भी आ जाय तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है।

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥
(मनु० २। ८७)

'ब्राह्मण केवल जपसे ही सिद्धि पा लेता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वह अन्य कुछ करे या न करे, ऐसा वह ब्राह्मण सबका मित्र कहा जाता है।'

यद्यपि यहाँ यह बात ब्राह्मणके लिये कही गयी है, किंतु शास्त्रोंका उद्देश्य ब्राह्मणको अग्रसर करके ही सबको धर्मका उपदेश देनेका रहता है, इस कारण यह सभीके लिये लागू पड़ता है।

अब इसपर विचार करें कि शूद्र श्रेष्ठ और धन्य क्यों हैं?

शूद्रोंके लिये तो शास्त्रोंमें बहुत ही सुविधा दी गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—यज्ञ, दान, वेदाभ्यास और ब्रह्मचर्यपालन आदि स्वधर्मोंका पालन करके बड़ी कठिनाईसे उत्तम गति प्राप्त करते हैं, किंतु शूद्र केवल उन तीनों वर्णोंकी सेवामात्रसे अनायास ही उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है। श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद्धनैः॥
जयन्ति ते निजाँल्लोकान् क्लेशेन महता द्विजाः॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान्।
निजान् जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः॥
(६। २। १९, २२, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरणसे उपार्जित धनके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं। द्विजगण! इस प्रकार वे अत्यन्त क्लेशसे अपने लोकोंको प्राप्त करते हैं, किंतु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र द्विजोंकी सेवा करके ही उस सद्गतिको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है।'

इसलिये शूद्रोंको ऐसा अवसर पाकर सबकी सेवा करके विशेष लाभ उठाना चाहिये।

कोई भी कर्म हो, यदि निष्कामभावसे किया जाय तो उससे तुरंत मुक्ति हो जाती है। कर्मोंके फलका, उन कर्मोंकी और विषयोंकी आसक्तिका एवं अभिमानका त्याग करके समतापूर्वक शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंके करनेका नाम ही कर्म-योग है। इस प्रकारके योगके साधनसे मनुष्यकी मुक्ति शीघ्र ही हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ५।६)

यदि सबको भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी सेवा की जाय तो वह भक्तिप्रधान कर्मयोग होनेके कारण उच्चकोटिका निष्काम कर्म है। भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके अनुसार सेवा करनेका तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णोंके लिये भी विधान है; क्योंकि इसी उद्देश्यसे भगवान्‌ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ४२, ४३ और ४४ वें श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये उनके पृथक्-पृथक् स्वधर्मरूप कर्मका प्रतिपादन करके सभीके लिये अपने-अपने कर्मोंद्वारा सबमें भगवद्बुद्धि करके उनकी सेवारूप पूजा करनेसे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलायी है।

शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा करना मुख्य है, क्योंकि उनकी आजीविकाका कर्म भी सेवा ही है। इसलिये दूसरे वर्णवालोंका अपनी आजीविकाके लिये शूद्रके तीनों वर्णोंकी सेवारूप स्वाभाविक कर्म करनेका अधिकार नहीं है; किंतु ...से समान और उच्च वर्णवालोंकी सेवा सभी कर सकते हैं। जैसे—वैश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी तथा क्षत्रिय ब्राह्मण और क्षत्रियकी सेवा कर सकता है। स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक ईश्वर-बुद्धिसे तो सभी लोग सभीकी सेवा कर सकते हैं।

आजकल लोग जो यह कहते हैं कि ब्राह्मणोंने शूद्रोंको पददलित करके नीचे गिरा दिया, यह उनकी भूल है। जिन्होंने शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, वे ही ऐसा कह सकते हैं। शास्त्रोंमें जो स्वधर्मपालनको सबसे बढ़कर बतलाया है और उसका फल उत्तम गतिकी प्राप्ति कहा गया है, वह ब्राह्मणोंकी अपेक्षा शूद्रके लिये बहुत ही सुगम है। इसी दृष्टिसे श्रीवेदव्यासजीने शूद्रोंको साधु (श्रेष्ठ) और धन्य कहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने उच्च वर्णके अभिमान-से शूद्रोंको तुच्छ समझकर यदि उनकी अवज्ञा करते हैं, तो यह उनकी गलती है; क्योंकि सबमें भगवान् विराजमान हैं। इसलिये कोई भी मनुष्य किसीकी अवज्ञा और तिरस्कार करता है तो वह भगवान्‌का ही अपमान और तिरस्कार करता है। अतः सभी मनुष्योंको उचित है कि अपनेसे निम्न वर्ण-वालोंकी अवज्ञा कभी न करें, अपितु उन्हें श्रेष्ठ और धन्य समझकर उनका यथायोग्य सम्मान करें; क्योंकि शास्त्रोंमें शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है तथा उनमें स्वाभाविक ही अपनेमें उच्चजातिका अभिमान नहीं रहता। किसी भी प्रकारका अभिमान क्यों न हो, अभिमानमात्र ही मुक्तिमें बाधक है। अब विचार करते हैं कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ और धन्य कैसे हैं? धर्मका पालन और परम गतिकी प्राप्ति स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा शीघ्र और अनायास ही हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

स्वधर्मस्याविरोधेन नरैर्लब्धं धनं सदा।
प्रतिपादनीयं पात्रेषु यष्टव्यं च यथाविधि॥
तस्यार्जने महाक्लेशः पालने च द्विजोत्तमाः।
तथासद्विनियोगेन विज्ञातं गहनं नृणाम्॥
एवमन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः।
निजान् जयन्ति वै लोकान् प्राजापत्यादिकान् क्रमात्॥
योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥
(वि० पु० ६।२।२५—२९)

'हे द्विजोत्तमगण! पुरुषोंको अपने धर्मानुकूल प्राप्त किये हुए धनसे ही सर्वदा सुपात्रको दान और विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये। इस द्रव्यके उपार्जन तथा रक्षणमें महान् क्लेश होता है और उसको अनुचित कार्यमें लगानेसे भी पुरुषोंको जो दुःख भोगना पड़ता है, वह कठिनाई मालूम ही है। विप्रगण! इस प्रकार पुरुषगण इन तथा ऐसे ही अन्य कष्टसाध्य उपायोंसे क्रमशः अपने प्राजापत्य आदि शुभ लोकोंको प्राप्त करते हैं; किंतु स्त्रियाँ तो केवल तन-मन-वचनसे पतिकी सेवा करनेसे ही उनकी हितकारिणी होकर पतिके समान शुभ लोकोंको, जो पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं, अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिये हे ब्राह्मणो! मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ साधु (श्रेष्ठ) हैं।'

इसी प्रकार शास्त्रोंमें सभी जगह यह प्रसिद्ध है कि पतिकी सेवाभावसे ही स्त्री परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें कहा है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियोंको केवल पतिकी सेवाभावसे ही बिना ही परिश्रम और सुगमतासे परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, वह पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे अपने पतिको भी परमधाममें ले जाती है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें आया है कि शुभा नामकी पतिव्रता स्त्री पातिव्रत्य धर्मका पालन करती हुई पतिसहित भगवान्‌के परम धामको चली गयी। उसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्‌ने यह कहा है कि शुभा पतिव्रता मेरे समान है, वह अपने सतीत्वके प्रभावसे ही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानती है।

पद्मपुराणके भूमिखण्डमें वर्णन आता है कि कृकल वैश्यकी पत्नी सुकलाको उसके पातिव्रत्यके प्रभावसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्र आदि देवताओंने साक्षात् दर्शन देकर वर माँगनेको कहा था। उस समय कृकलने पूछा—'देवताओ! आपलोग मेरे किस पुण्यके कारण पत्नीसहित मुझे वर देने पधारे हैं।' तब इन्द्रने कहा—'हमलोग तुम्हारी धर्मपत्नी सती सुकलाके पातिव्रत्यसे संतुष्ट होकर तुम्हें वर देना चाहते हैं।' सुकलाके सदाचारका माहात्म्य सुनकर उसके पति कृकल बड़े हर्षित हुए। तत्पश्चात् उन दोनोंके द्वारा भगवान्‌की भक्ति और धर्ममें अनुराग-प्राप्तिका वर माँगनेपर देवतागण उन्हें अभीष्ट वर देकर पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

यदि कहें कि 'पति महान् नीच और नरकमें ले जाने योग्य पाप कर्म करनेवाला है तथा उसकी स्त्री पतिव्रता है तो वह स्त्री पतिके साथ नरकमें जायगी या उत्तम गतिको प्राप्त होगी?' तो इसका उत्तर यह है कि पातिव्रत्य-धर्मके पालनके प्रभावसे वह अपने पतिसहित उत्तम गतिको प्राप्त होगी। उस स्त्रीके पातिव्रत्यके प्रभावसे उसका पति भी शुद्ध और परम पवित्र हो जायगा। पातिव्रत्य-धर्मका पालन करनेवाली स्त्रीकी दुर्गति तो कभी हो ही नहीं सकती और पतिसे उसका वियोग भी नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें उसका पति ही उसके प्रभावसे परम पवित्र हो जाता है और वह अपनी पत्नीसहित उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

इसीलिये महामुनि वेदव्यासजीने स्त्रियोंको साधु (श्रेष्ठ) कहा है और उनको अतिशय धन्यवाद दिया है। अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको ऐसा स्वर्ण-अवसर कभी हाथसे नहीं जाने देना चाहिये, अपि तु मन, वचन, कर्मसे अपने पातिव्रत्य-धर्मका तत्परतासे पालन करके अपनी आत्माका कल्याण शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिये; अन्यथा यदि यह अवसर हाथसे चला जायगा तो महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा; क्योंकि स्त्रीजातिके कल्याणके लिये भगवान्‌ने यह बहुत ही उत्तम और सरल उपाय बताया है।

इस प्रकार इस विशेषाङ्कमें श्रीनारदपुराण और श्रीविष्णुपुराण इन दो पुराणोंका अनुवाद संक्षेपमें दिया गया है। इन दोनों महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध पुराणोंके संक्षेप करनेके बहाने इनका विशेष मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेसे मुझे तो बहुत ही लाभ हुआ है।

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा गायी गयी है। वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं। उनका रचयिता कोई नहीं है। श्रीवेदव्यासजी भी इनके संकलन-कर्ता तथा संक्षेपक ही माने गये हैं। इसीलिये वेदोंके बाद पुराणोंका ही हमारे यहाँ सबसे अधिक सम्मान है। पुराणोंमें लौकिक और पारलौकिक उन्नतिके अनेक महत्त्वपूर्ण साधनोंका वर्णन मिलता है, जिनको पढ़-सुनकर और फिर अनुष्ठानमें लाकर मनुष्य परम पदतक प्राप्त कर सकता है। अतएव जिस

प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेका विधान है, उसी प्रकार पुराणोंका पठन-श्रवण और मनन भी सबको नित्य करना चाहिये। पुराणोंके इस महत्त्व और उपयोगिताको लक्ष्यमें रखकर ही 'कल्याण'में इनका संक्षिप्त अनुवाद छापनेकी योजना की गयी है। इससे भारतीय जनताका कुछ भी हित होगा तो हम अपने प्रयासको सफल मानेंगे। अन्तमें हम अपना यह नगण्य प्रयास श्रीभगवान्‌के पावन चरणकमलोंमें अर्पण करते हैं।

येन सर्वमिदं ततम्

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

भगवान् शङ्कराचार्यने ब्रह्मका स्वरूप समझाते हुए एक प्रसंगमें लिखा है—

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले॥

ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यह जो कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्-रूपमें प्रतीत होता है, सब उसीमें व्याप्त है। उसके साथ एक रूप होकर ही स्थित है। इसी प्रकार गति-क्रियात्मक जो कुछ व्यवहार चलता हुआ दीख पड़ता है, वह भी उसकी सत्तासे ही चल रहा है। शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ—ये सभी स्वभावसे जड हैं; तथापि उनसे जो व्यवहार होता है, वह केवल उसकी सत्ताके कारण ही होता है। इस प्रकार ब्रह्म केवल सर्वव्यापक ही नहीं है, बल्कि जगत्‌के रूपमें तथा उसके सारे व्यवहारोंके रूपमें वही दिखलायी देता है। अब दृष्टान्तद्वारा यह समझाते हैं कि ब्रह्म किस प्रकार व्याप्त हो रहा है। जिस प्रकार दूधमें घी सर्वत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत्‌में तथा इसके सारे व्यवहारोंमें ओत-प्रोत हो रहा है। दूधका एक भी बूँद ऐसा नहीं होता, जिसमें घी न हो, उसी प्रकार इस जगत्‌में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें ब्रह्म न हो।

अब यहाँ 'ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है' यह समझना चाहिये। व्याप्त हो रहा है अर्थात् जिस प्रकार वस्त्रमें सूत व्याप्त हो रहा है, अँगूठीमें सोना व्याप्त रहता है, घड़ेमें मिट्टी व्याप्त रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म सब चराचर भूतोंमें व्याप्त हो रहा है। वस्त्रमेंसे सूत निकाल लें, अँगूठीमेंसे सोना निकाल लें अथवा घड़ेमेंसे मिट्टी निकाल लें तो वस्त्र, अँगूठी या घड़ेका नाम-निशान भी न रहे। इसी प्रकार ब्रह्मके बिना कोई भी दृश्य पदार्थ टिक या रह नहीं सकता। परंतु जिस प्रकार वस्त्रके बिना सूत रहता है, अँगूठीके बिना सोना रहता है और घड़ेके बिना मिट्टी रहती है, उसी प्रकार जगत्‌के न रहनेपर भी ब्रह्म तो रहता ही है। यानी जगत् जब नहीं था, उस समय भी ब्रह्म था। इस समय जो जगत् दीख पड़ता है, वह भी ब्रह्मकी सत्तासे ही दीखता है और जब जगत् लयको प्राप्त हो जायगा, तब भी ब्रह्म तो रहेगा ही। इस प्रकार ब्रह्मकी सत्ता त्रिकालसे बाधित नहीं है। जब जगत् आदि या अन्तमें नहीं होता, बल्कि बीचमें ही दीख पड़ता है, तब भी वह ब्रह्मकी सत्तासे ही दीखता है, यानी ब्रह्म ही जगत्‌का आश्रय है। यह बात श्रीमद्भागवत‌में इस प्रकार समझायी गयी है—

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥

जिस अधिष्ठानमें जगत् उत्पन्न हुआ है और जिसमें फिर लयको प्राप्त होता है, वह उसका आश्रय कहलाता है। उस अधिष्ठानको कहीं तो परम तत्त्व कहा है, तो कहीं ब्रह्म कहा है और उसीको कहीं परमात्मा भी कहा है। शब्द केवल पृथक्-पृथक् हैं, परंतु वस्तुतत्त्व एक ही है और वही सबका आश्रय भी है। फिर भागवतमें दूसरे प्रसङ्गमें कहा है—

'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।'

अर्थात् ब्रह्म कहो, आत्मा या परमात्मा कहो अथवा भगवान् कहो, वस्तु एक ही है, केवल पृथक्-पृथक् शब्दोंका प्रयोग है ।

फिर सूक्ष्मतापूर्वक देखें तो ब्रह्मकी सर्वव्यापकता दिखलानेमें यह दृष्टान्त भी अधूरा ठहरता है; क्योंकि दृष्टान्तमें सूत, सोना और मिट्टी रूपान्तरको प्राप्त होकर एक आकृतिविशेष धारण करते हैं; तब वे वस्त्र, अँगूठी और घड़ेके रूपमें प्रतीत होते हैं । परंतु ब्रह्म तो निर्विकारी और कूटस्थ है, इसलिये वह कभी जगत्का आकार धारण नहीं करता । कोई भी दूसरा रूप धारण किये बिना, अथवा तनिक भी रूपान्तरको प्राप्त हुए बिना, कोई भी वस्तु जो दूसरे रूपमें दीख पड़ती है, उसे शास्त्रोंमें 'विवर्त्त' कहते हैं । उसकी व्याख्या इस प्रकार है—

'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः ।'

वस्तुके स्वरूपमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन हुए बिना जब वह दूसरे रूपमें दीख पड़ती है तो उसका नाम 'विवर्त्त' होता है । कहनेका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म कभी, जिस प्रकार सोना अँगूठीका आकार धारण करता है, उस प्रकार जगत्का आकार धारण नहीं करता । परंतु मायाके प्रभावसे कूटस्थ ब्रह्ममें जगत्की भ्रान्तिमात्र होती है । उसी प्रकार, जैसे धुँधले प्रकाशमें रस्सी पड़ी रहती है और उसमें सर्पका भ्रम होता है । रस्सीमें जब सर्प दीख पड़ता है तो रस्सी कहीं अपना स्वरूप छोड़कर सर्पका आकार धारण नहीं करती, वह तो अपने मूल स्वरूपमें ही पड़ी रहती है, परंतु धुँधले प्रकाशके कारण उसमें सर्पकी भ्रान्ति प्रतीत होती है ।

यहाँतक यह निश्चय किया गया कि इस जगत्में जो कुछ नामरूपात्मक दीख पड़ता है, अर्थात् चराचर प्राणी-पदार्थोंके रूपमें दीखता है, वह सभी भगवान्का ही रूप है, और जो-जो गति या क्रियात्मक व्यवहार दीख पड़ता है, वह केवल भगवान्की लीला है । श्रीशङ्कराचार्यने 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग किया है, जब कि मैंने यहाँ 'भगवान्' शब्दका प्रयोग किया है; क्योंकि भागवतके दो अवतरणोंसे हमने देख लिया कि ये दोनों शब्द एक दूसरेके पर्याय ही हैं, अर्थात् शब्दमात्र विभिन्न हैं, परंतु वाचक एक ही वस्तुके हैं । जैसे विश्वनाथ, नीलकण्ठ, वृषभध्वज एक महादेवके ही विभिन्न नाम हैं ।

अब भगवान् किस प्रकार जगत्-रूपमें तथा उसके समस्त व्यवहारोंके रूपमें दीख पड़ता है, इसे गीतामें देखना चाहिये, यही आजका विषय है ।

गीताके सातवें अध्यायमें भगवान् जगत्की उत्पत्तिका वर्णन करते हैं और कहते हैं कि इतनी ही बात यदि ठीक-ठीक समझमें आ जाय तो मेरे स्वरूपका पूर्ण ज्ञान हो जाय और फिर कुछ और जाननेके लिये न रहे । पहले तो भगवान् अपनी भूत प्रकृतिका परिचय देते हैं और उसके बाद जीव प्रकृतिका स्वभाव समझाते हैं । पश्चात् छठे श्लोकमें कहते हैं कि—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

जिस प्रकार मनुष्य दो हाथोंसे ताली बजाता है, उसी प्रकार इन दोनों प्रकृतिके संयोगसे ही यह चराचर जगत् उत्पन्न होता है और इससे यह समझना चाहिये कि यह सारा जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही इसकी स्थिति है और अन्तमें मुझमें ही लयको प्राप्त होता है । इस कारण हे अर्जुन !

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गीता ७ । ७)

इस जगत्में मेरे सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है, अर्थात् मैं ही भूत-भौतिक प्रपञ्चके रूपमें दीखता हूँ ।

और जैसे एक ही सूत समस्त मणियोंके समूहको धारण किये रहता है, वैसे ही मैंने अनन्त ब्रह्माण्डको धारण कर रक्खा है।

इस प्रकार इस प्रसंगमें भगवान्ने बतलाया कि सर्व रूपोंमें मैं ही हूँ और जो व्यवहार होता दीख पड़ता है, वह मेरी लीलामात्र है। फिर आगे चलकर विभूति-योगमें तो भगवान् जगह-जगह यह कहते हैं कि 'मैं ही सर्वरूप हो रहा हूँ—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
(गीता १०।८)

मुझसे ही चराचर जगत् उत्पन्न होता है और अपना-अपना व्यवहार करता है, ऐसा समझकर जो ज्ञानी पुरुष मेरा भजन करते हैं, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं।

आगे चलकर फिर कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(गीता १०।२०)

हे अर्जुन! मैं प्राणीमात्रके हृदयमें अन्तरात्मा रूपसे रहता हूँ। जगत्का आदि मैं हूँ, मध्य भी मैं हूँ और अन्तमें भी मैं ही रहता हूँ अर्थात् यह नामरूपात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही इसकी स्थिति रहती है और अन्तमें मुझमें ही यह लयको प्राप्त होता है।

अन्तमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
(गीता १०।३९)

हे अर्जुन! सब भूतोंका बीज भी मैं ही हूँ, अर्थात् जैसे बीजसे वृक्ष होता है, उसी प्रकार मुझसे यह जगत् प्रकट हुआ है। इसलिये यह स्थावर-जङ्गम जो कुछ जगत्रूपमें दीख पड़ता है, मेरे सिवा कुछ भी नहीं है अर्थात् मैं ही सब रूपोंमें प्रकट हो रहा हूँ।

इस प्रकार भगवान्की विभूतिका विस्तार सुनकर अर्जुनको भगवान्की महिमा प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा हुई। अबतक उनका 'श्रीकृष्ण मेरे मामाके लड़के हैं'—यह भाव निर्मूल नहीं हुआ था। परंतु जब भगवान्का विश्वरूप देखा, तब अर्जुनको प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया कि ये तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं। इससे भगवान्की स्तुति करते हुए वे कहने लगे—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥
(गीता ११।३८)

हे भगवन्! आप ही आदिदेव तथा पुराणपुरुष हैं। इस विश्वके परम आश्रयस्थान भी आप ही हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी रूप भी आप ही हैं और भक्तको प्राप्त करने योग्य धाम भी आप ही हैं। आप ही अपने असंख्य और अपार रूपोंके द्वारा इस विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं। इसी कारण अर्जुन विश्वरूपको देखनेके बाद कहते हैं कि नामरूपात्मक यह जगत् जो दीख पड़ता है, वह सब ईश्वररूप ही है।

यहाँतक भगवान्के ही श्रीमुखसे निकले हुए शब्दोंसे हमने जान लिया कि यह चराचर विश्व जो दीख पड़ता है, भगवान्का ही स्वरूप है और इसमें होनेवाले सारे व्यवहार भगवान्की लीला ही है। यहाँ सर्वत्र भगवान्ने 'मैं' कहकर प्रथम पुरुषका प्रयोग किया है, अब तृतीय पुरुषका प्रयोग करके इसी बातको भगवान् कैसे समझाते हैं, यह देखना चाहिये।

इस विषयका पहला उल्लेख दूसरे अध्यायमें मिलता है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥
(गीता २।१७)

शरीरका नाश होनेके बाद कभी आत्माका नाश नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी और अव्यय तत्त्व है—यह समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि इस आत्मतत्त्वको तुम अविनाशी अर्थात् विनाशरहित समझो। वह सर्वव्यापक होकर चराचरमें व्याप्त हो रहा है। और इस कारण इस अव्यय आत्माका कभी कोई भी विनाश नहीं कर सकता।

इसके बाद आठवें अध्यायमें यह उल्लेख है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(गीता ८। २२)

जो आत्मतत्त्व सब चराचरमें व्याप्त हो रहा है, वही परम पुरुष है और उसीमें भूतमात्र अवस्थित है। वह अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त होता है। अनन्य भक्तिका अर्थ इतना ही है कि जो भक्ति दूसरी किसी कामनाकी सिद्धिके लिये नहीं होती, वह अनन्य भक्ति कहलाती है और ऐसी अनन्य भक्तिके द्वारा ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

इसके बाद नवम अध्यायमें भगवान् फिर प्रथम पुरुषका प्रयोग करते हुए कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
(गीता ९। ४)

'यह सारा जगत् मुझसे व्याप्त है, यानी मैं समस्त चराचर भूतोंमें व्याप्त हो रहा हूँ। इस प्रकार सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ।' इस श्लोकमें दो बातें विशेषरूपसे समझने योग्य हैं—

(१) श्रीकृष्णभगवान् इस समय अर्जुनके रथके सारथि हैं और एक हाथमें घोड़ेकी लगाम और दूसरेमें चाबुक लेकर बैठे हैं। इससे कदाचित् अर्जुन यह प्रश्न करे कि महाराज! आप तो यहाँ मेरे सामने बैठे हैं और फिर कहते हैं कि 'मैं सारे जगत्‌में व्याप्त हो रहा हूँ' यह कैसे माना जाय? इसलिये बाढ़के प्रवाहको रोकनेके लिये जैसे बाँध बाँधा जाता है, वैसे ही भगवान् पहलेहीसे उसमें रोक लगाकर कहते हैं—'मया अव्यक्तमूर्तिना'। अपने अवतारस्वरूपमें मैं रथपर तेरे सामने बैठा हूँ, यह बात ठीक है; परंतु मेरा एक दूसरा अव्यक्तस्वरूप भी है, उस स्वरूपसे मैं जगत्‌में सर्वत्र व्याप्त भी हो रहा हूँ। व्यक्त यानी जिसका ज्ञान इन्द्रियोंसे हो सके, इसलिये अव्यक्तका अर्थ यह है कि इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान न हो, अर्थात् अतीन्द्रिय या इन्द्रियोंसे अगोचर। इस प्रकार अव्यक्त मूर्तिका अर्थ हुआ—अतीन्द्रिय व्यापक सूक्ष्म शरीरके द्वारा व्याप्त।

(२) 'न चाहं तेष्ववस्थितः' मैं सर्वभूतोंमें नहीं हूँ। परमात्माके व्यापक स्वरूपके केवल एक ही अंशमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ करते हैं, तब फिर वह इस एक जगत्‌में कैसे समा सकता है? इस प्रकार अपने विराट् स्वरूपको समझानेके लिये भगवान्‌ने इस शब्दका प्रयोग किया है। श्रुति भी कहती है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

भगवान्‌के एक ही पादमें अनन्त ब्रह्माण्ड रहते हैं और शेष तीन पाद दिव्य स्वरूपमें ज्यों-के-त्यों हैं।

इसके बाद अठारहवें अध्यायमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

'जिन परमात्मासे समस्त चराचर जगत् उत्पन्न हुए हैं और जो सर्वभूतोंमें अन्तर्यामी रूपसे व्याप्त

हैं, उनकी पूजा अपने-अपने वर्णाश्रमोचित विहित कर्मोंके द्वारा करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।' यह श्लोक बहुत ही महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है और यह गीतामन्दिरकी चावी-रूप माना जाता है तथा यह कर्मयोगका आधारस्वरूप है। तात्पर्य यह है कि जब समस्त भूत परमात्मासे ही प्रकट हुए हैं और जब अन्तर्यामीरूपमें भी परमात्मा ही भूतमात्रमें विराज रहे हैं, अतः जनतारूपी जनार्दनकी निष्काम भावसे सेवा करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है। यहाँ सिद्धिका अर्थ आचार्योंने अन्तःकरणकी शुद्धि किया है, भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं। परंतु अन्तःकरण शुद्ध होनेके बाद भगवत्प्राप्ति होनेमें कुछ भी विलम्ब नहीं लगता।

विशुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञान अपने-आप प्रकट होता है और ज्ञान होनेपर भगवत्प्राप्ति या मुक्तिकी प्राप्ति होती है। मनुष्यको केवल अपना विहित कर्म निष्काम भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिये, इतनी ही शर्त है।

अब जनतारूपी जनार्दनकी सेवाके द्वारा परमात्माकी सेवा किस प्रकार की जाय, इसे भी शास्त्रोंने उच्च-नीच अधिकारके अनुसार बतलाया है; इसे दिखलाकर यह निबन्ध समाप्त करेंगे। शास्त्र सर्वसाधारणके लिये कहते हैं—

> येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
> संतोषं जनयेत् प्राज्ञः तदेवेश्वरपूजनम्॥

अपनी शक्तिके अनुसार किसी भी देहधारी या प्राणीको सुख और संतोष प्रदान करनेवाला निष्काम भावसे किया हुआ आचरण ईश्वरका पूजन है और भगवद्भावपूर्वक की गयी ऐसी सेवा अन्तःकरणको शुद्ध करती है। उदाहरणके लिये भूलेको मार्ग बतलाना, नौकरी या मकान खोजनेवालेको उसके इस काममें सहायता करना, घबराये हुएको धीरज बँधाना आदि जिस किसी भी कार्यके द्वारा सम्पर्कमें आये हुए मनुष्यका मन प्रसन्न हो तो वह ईश्वरका पूजन ही है।

इससे अधिक सूक्ष्म बुद्धिवालेके लिये शास्त्र अधिक ऊँचा साधन बतलाते हैं—

> रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना।
> हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनत्रयम्॥

हृदयको राग-द्वेषसे रहित करके सबके साथ प्रेम-युक्त व्यवहार करना, मुँहसे असत्य या अप्रिय अथवा उद्वेगकारक बात कभी न कहना, बल्कि सबके साथ विवेकयुक्त मधुर वचन बोलना और असत्यसे दूर रहना, शरीरसे किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचाना तथा कठोर वाणीसे भी किसीको आघात न पहुँचाना; यह तीनों प्रकारके वर्ताव ईश्वरपूजन हैं।

यह मनुष्य-शरीर मिला है ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही और भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे इसका रास्ता भी बतलाया है। तो फिर दूसरे व्यर्थके कामोंमें समय न खोकर जिस कामके लिये हम आये हैं, उसी कामको समय रहते कर लें; क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है।

> एषा बुद्धिमतां बुद्धिः मनीषा च मनीषिणाम्।
> यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥

मनुष्यकी सच्ची चतुराई इस लोकके नश्वर भोगोंको इकट्ठा करनेमें नहीं है तथा बुद्धिका उपयोग भी विषयोंकी प्राप्ति करनेके लिये नहीं है; परंतु क्षणभङ्गुर और विनाशशील शरीरसे जैसे बने, वैसे ही शीघ्र अविनाशी और अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति कर ले।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(६५)

काननके उस भूभागपर हरित मृदुल तृणाङ्कुरोंका अम्बार-सा लग रहा था। ग्रीष्मका साम्राज्य होनेपर भी मानो उसकी छायातक उसे छू न सकी हो, इस प्रकार वह तृणराजि लह-लह कर रही थी। और वहींपर श्रीकृष्णचन्द्र अपने गोपसखाओंके साथ गोसंचारण कर रहे थे। साथ ही उनकी परम मनोहारिणी क्रीड़ाएँ भी चल रही थीं। उनके श्यामल सुन्दर श्रीअङ्गोंसे एवं शिशुओंकी प्रेमिल भावभङ्गिमाओंसे आनन्दका स्रोत झर-झर कर वन-प्रान्तरके कण-कणको प्लावित कर रहा था—

चरावत वृंदावन हरि गाइ।
सखा लिए सँग सुबल, सुदामा, डोलत हैं सुख पाइ।
क्रीड़ा करत जहाँ-तहँ सब मिलि अति आनंद बढ़ाइ॥

अचानक तृणग्रास मुखमें लिये ही गौएँ विदक गयीं। वे अवतक तो शान्तभावसे तृण चरती रहकर भी अपने पालक नीलसुन्दरकी ओर सिर उठाकर देख लेती थीं, किंतु हठात् उनकी आँखें इससे भी अधिक सुन्दर एक अन्य तृणसंकुल भूमिखण्डकी ओर बरबस जा लगीं, नहीं-नहीं, आकर्षित कर दी गयीं। अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने निर्धारित योजनाके अनुरूप डोरी खींच ली थी और इसलिये वे उस ओर ही भाग चलीं, बिखर गयीं। पर उस ओर तो सघन वन है; उनको उस ओरसे नियन्त्रित कर लेना नितान्त आवश्यक जो है। अतएव नीलसुन्दर-की क्रीड़ा भी स्थगित हो गयी और गोपशिशु भी गायों-को शान्त करनेके उद्देश्यसे उस ओर ही दौड़ चले—

बगरि गईं गैयाँ बन-बीथिनि, देखीं अति बहुताइ।
कोउ गए ग्वाल गाइ बन घेरन कोउ गए बछरू लिवाइ॥

श्रीकृष्णचन्द्र हँस रहे हैं। उनके नेत्रसरोजोंमें उत्सुकता भी है। वे रह-रहकर पुकार भी उठते हैं—'अरे भैयाओ! भागते क्यों हो? धीरे चलकर ही उन्हें घेर क्यों न लेते!' किंतु वे शिशु तो सुननेसे रहे। इधर उन्हें एक साथ दौड़ते देखकर गौएँ और भी वेगसे भागीं। देखते-ही-देखते वह गोराशि तथा वे शिशु—दोनों ही लता, द्रुम, वल्लरियोंकी ओटमें हो गये। यहाँ बच गये एकाकी नीलसुन्दर। बायें हस्तकमलमें एक वन्य-विटपकी डाल धारण किये हुए तथा दाहिनी मुट्ठी-को अरुणिम अधरोंसे सटाकर दक्षिण तर्जनी उठाये वे उस ओर ही कुछ संकेत-सा कर रहे हैं। क्या पता वे वनमाली किस धुनमें हैं? क्योंकि सदाकी भाँति सखाओंका अनुसरण उन्होंने आज नहीं किया। प्रत्युत कुछ विलम्ब हो जानेपर समीपमें ही कलिन्दनन्दिनीके तटपर स्थित उस विशाल वटकी छायामें वे जा विराजे हैं। शिशुओंके अवतक न आनेका कारण सोच रहे हैं—

बंसीवट सीतल जमुना तट, अतिहिं परम सुखदाइ।
सूर स्याम तहँ बैठि विचारत, सखा कहाँ बिरमाइ॥

'अरे! कितनी देर लगा दी उन सबोंने!'—चिन्ताहरण विश्वनियन्ता प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रको अब अपने सखाओंके लिये चिन्ता होने लग गयी; क्योंकि क्षण-क्षण करते ही वहाँ आये भी उन्हें प्रायः दो दण्ड हो चुके। सखाओंके अभावमें उनका चित्त वहाँ लग न सका। अन्यमनस्क-से हुए वे भी उस ओर ही चल पड़े। उनकी चिन्ताका पार नहीं—

बार-बार हरि कहत मनहिं मन; अबहिं रहे सँग चारत धेनु।
ग्वाल-बाल कोउ कहूँ न देखौं, टेरत नाउँ लेत दै सैनु॥
आलस-गात जात मन मोहन, सोच करत, तनु नाहिँ न चैनु।
अकनि रहत कहूँ,सुनत नहीं कछु, नहिँ गो-रंभन बालक-बैनु॥

इधर गायें तो सघन वनकी सीमाके उस पार जा पहुँची थीं तथा इतनी दूर बड़े वेगसे दौड़कर तृषित हो चुकी थीं। यही हाल उनके पालकवर्ग गोप-

शिशुओंका था। ऊपर निदाघके सूर्य तप रहे थे। वनस्थलीके इस भागमें वृक्षोंकी शीतल छाया भी समाप्त हो चुकी थी। उन्मुक्त गगन था और नीचेकी धरती। वहाँ—बस सम्पूर्ण वृन्दावनमें एकमात्र उस देश-विशेषमें ही—हरीतिमाशून्य-सी हो रही थी। अत्यन्त निकटमें ही तपनतनयाके सुन्दर मञ्जुल प्रवाहके दर्शन अवश्य हो रहे थे। पर वहाँ तटपर भी केवल एक कदम्बतरुके अतिरिक्त किसी भी वृक्षका चिह्नतक न था। आश्चर्य है, वहाँ तृण, वीरुध उगतक नहीं सके थे। बस, केवल रविनन्दिनी श्रीयमुनाकी लहरें ही वहाँ एकमात्र आकर्षणकी वस्तु थीं। विशेषतः तृषित गायें उन्हें देख लेनेके अनन्तर, इस मध्याह्नके समय वहाँ जाकर जलपानके द्वारा अपनी तृषा शान्त करनेका लोभ संवरण कर सकें, यह कैसे सम्भव था। इसीलिये स्वाभाविक ही गायें उस ओर ही मुड़ीं और पालक तो उनके पीछे चलेंगे ही। इस प्रकार सभी उस निर्वृक्ष तटपर ही जा पहुँचे; व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण-चन्द्रकी अचिन्त्य-लीला-महाशक्ति उन्हें वहाँ उस प्रसिद्ध कालिय-ह्रदपर ले आयीं, जहाँ नीलसुन्दरकी कालियदमन-लीलाका प्रकाश होगा—

> सिसु सुरभी तिहि बेर, त्रखावंत जल के भये।
> कालीदह कहँ हेरि चले सीघ्र पहुँचे तहाँ॥

अस्तु, ग्रीष्मतापसे व्यथित वे गायें आते ही उस जल-प्रवाहमें मुँह डालकर प्यास शान्त करने लगीं। श्री-यमुनाकी उस अमृततिरस्कारिणी धाराका ही वे सदा पान करती आयी हैं, इस धाराने सदा ही उनके प्राणोंमें शीतलताका संचार किया है, इसलिये ही नित्यके अभ्यासवश सबने जल पीना आरम्भ किया; किंतु आज वह चिरपरिचित तृप्ति उन्हें न मिली; तृप्ति दूर, वारि-स्पर्शमात्रसे कण्ठमें कुछ बूँदें उतरनेभरसे उनके प्राण झुलसने लगे। वे पशु इस बातको नहीं जानते कि यहाँ तपनतनयाके इस ह्रदमें ही कालिय नागका निवास है, उसके सम्पर्कसे इस ह्रदका प्रत्येक जलकण विषपूर्ण हो चुका है; उन्हें इसका जलपान तो क्या, इसकी सीमामें भी प्रविष्ट नहीं होना चाहिये था। और इस ज्ञानके अभावमें ही स्वभाववश वे इस सद्यः प्राणहारक जलको स्पर्श कर चुके थे, उसका कुछ अंश पी चुके थे। इसीलिये जो परिणाम होना था, वही हुआ। एक ही साथ सबके शरीरोंमें, उनके स्नायुजालके प्रत्येक कणमें आग-सी जल उठी और देखते-ही-देखते वे सब-की-सब गायें वहीं उस तटपर ही प्राणशून्य होकर गिर पड़ीं तथा उनके पालकवर्ग, ओह! लीलाशक्तिकी भी विचित्र महिमा है। उन मूक गो-समूहोंके लिये तो, पशुस्वभाववश उन्होंने जलपान कर लिया, यह हेतु किसी अंशमें समीचीन बन सकता है—किसी अंशकी बात इसीलिये कि सचमुच ही सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलामें उपकरणभूता ये गायें प्राकृत-सृजनकी वस्तुएँ नहीं हैं; किंतु वे गोपशिशु तो श्रीदाम, सुबल आदि प्रायः सभी जानते थे कि एक महासर्पका उस ह्रदमें निवास है। अपने पिता, पितृव्योंसे सुन चुके थे; वहाँ उस स्थानकी ओर पैर रखनेके लिये सर्वथा निवारित हो चुके थे। फिर भी उनका वह ज्ञान उस समय लुप्त हो गया। हतबुद्धि-से हुए वे भी अतिशय द्रुतवेगसे दौड़कर उन गायोंके पीठ-पीछे आ पहुँचे। इतना ही नहीं, वे आये थे इस उद्देश्यसे कि शीघ्र-से-शीघ्र इन पशुओंको पीछेकी ओर हाँक लायेंगे, किंतु यहाँ आनेपर वह स्मृति भी किसीने पोंछ दी। उन्हें प्यास तो थी ही, उन सबने भी अपनी अञ्जलि उस प्रवाहमें डाल ही दी, अञ्जलिका किञ्चिन्मात्र जल अपने कण्ठमें भी डाल ही लिया। बस, जैसे इधर गिरीं गायें, वैसे ही, सर्वथा साथ-ही-साथ क्षणभरमें वहीं गिर पड़े, प्राणशून्य हुए वे सब-के-सब गोपशिशु!

> **अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः।**
> **दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम्॥**

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ४८-४९)

गोप धेनु रवि कर लहि तापा। ग्रीषम धूप घोर तन व्यापा॥
तृषित महा व्याकुल मन तासू। गरल बिदूषित जल पिय आसू॥
दैवीहत चित विष जल जबहीं। परसत मृतक भए सब तबहीं॥
गिरि गे सकल सखा अरु धेनू। जमुना तीर तीर सुभ रेनू॥

वास्तवमें तो सृजन-संहारसे परे, आदि-अन्तविहीन नित्य-जीवनमें अवस्थित इन भगवत्पार्षदोंके लिये प्राण-शून्य होनेकी बात बनती नहीं। यह तो अघटनघटना-पटीयसी योगमायाका ही वैभव है। नीलसुन्दरकी लीला-मन्दाकिनीका, उनसे निःसृत प्रतिक्षण नूतन रस-प्रवाह-का सौन्दर्य और भी निखर उठे, इस उद्देश्यसे उनके प्राण आच्छादित हो गये हैं। योगमायाके अञ्चलकी छायामें उनके उन चिन्मय प्राणोंका व्यापार अदृश्य बन गया है, स्थगितमात्र हो गया है, और वे उस रूपमें दीख पड़ रहे हैं। यह एक विचित्र-सी मूर्च्छा है उनकी—

व्यसव इति लीलासौष्ठवार्थं योगमाययैव नित्यानामपि तेषामसूनाच्छाद्य तथा दर्शनात्।
(सारार्थदर्शिनी)

जो हो, यहाँ जब इतना हो चुका, तब कहीं श्रीकृष्णचन्द्र सखाओंको ढूँढ़ते हुए सघन वनकी सीमा पारकर इस शुष्क वृक्षशून्य भूभागपर आये और तत्क्षण दूरसे ही उनकी दृष्टि इस करुण दृश्यपर भी जा पहुँची। उस समय व्रजेन्द्रनन्दनकी कैसी दशा हुई—ओह! स्वयं वाग्वादिनीमें भी शक्ति कहाँ है जो इसपर किंचिन्मात्र प्रकाश दे सके। करुणासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दनके अन्तस्तलमें उच्छलित कृपामयी ऊर्मियोंका, किसी एक करुणालहरीके एक कणका भी वास्तविक चित्रण आज-तक कहीं किसीके द्वारा भी हुआ जो नहीं। यत्किंचित् चित्रण हुआ है, हो सकता है तो केवल उनके बाह्य अनुभावोंको लेकर ही—सो भी उनकी चरणनखचन्द्रिका-का प्रकाश बुद्धिमें, मन, प्राण, इन्द्रियोंमें परिव्याप्त हो जाय और उस आलोकमें उन चिन्मय अनुभावोंके दर्शन हों तब। अतएव किसी भी बड़भागी लीलादर्शीके प्राणोंकी झंकृति भी वाणीद्वारसे इतनामात्र ही व्यक्त कर सकती है—एक मुहूर्तके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आये थे और तुरंत दूरसे ही उन्होंने उन सबको प्राणरहित देख भी लिया। विद्युत्-वेगसे घटनास्थलपर भी वे आ पहुँचे। पर हाय! उनकी उस नवनीरदश्यामल मूर्तिपर, आह! सौन्दर्यनिधि उस नील कलेवरपर क्षण-भरमें ही, अन्तस्तलकी व्यथाके न जाने कितने शत-सहस्र काले आवरण जो आ गये! हाय रे! उनके श्याम श्रीअङ्गोंपर एक कैसी-सी, पहलेसे सर्वथा भिन्न जातिकी एक विचित्र श्यामता, नहीं-नहीं, व्यथाजन्य म्लानताका पुञ्ज जो बिखर गया। ओह! ....

अथ मुहूर्त्तपूर्त्तावागतोऽयं तोयदश्यामलमूर्त्तिर्मूर्त्तानेव तान् पश्यन्नन्यादृशश्यामलतामाजगाम।
(श्रीगोपालचम्पूः)

और तब आयी जडिमा। श्रीकृष्णचन्द्र स्तब्ध खड़े हैं और सामने पड़ी हैं सर्वथा स्पन्दनशून्य असंख्य गायें और प्राणप्रिय सखाओंकी देह; किंतु मानो जडिमा-के लिये भी श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणोंका ताप इस समय असह्य बन गया और वह भी मानो भाग निकली। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र चीत्कार कर उठे—

या गावः खलु देवता व्रजसदामस्माकमुच्चैस्तरां
ये बालाश्च सदैव जीवतुलितास्तेऽमी विपन्नाः पुरः।
हा! हन्त! स्वयमस्मि तत्सहचरः किं भ्रातरं मातरं
तातं सर्वजनं च वच्मि मम धिक् चापल्यतः साहसम्॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'ओह! ये गायें, नहीं-नहीं, निश्चितरूपसे हम व्रजवासियोंके सर्वाधिक आदरणीय देवता! तथा ये हमारे नित्य प्राणतुल्य बालक! आह! कैसी विपन्न दशामें ये सामने पड़े हैं! और मैं स्वयं, हाय रे! इनका सहचर हूँ! अब मैं क्या उत्तर दूँगा दाऊ भैयाको? मैयासे, बाबासे क्या कहूँगा? समस्त

पुरवासियोंको क्या बताऊँगा ? आह ! मैं गोसंचारण करने आज इस पथसे—कालियह्रदकी ओर आया ही क्यों ? धिक्कार है मेरी चञ्चलताजन्य ऐसे साहसको ।'

श्रीकृष्णचन्द्रका हृदय अनुतापवश विगलित हो उठा । वे क्रमशः एक-एकका मुख देखने लगे । फिर तो हृदयका वह द्रवभाव दृगोंमें भर आया । उनके नयनसरोरुह आर्द्र हुए एवं अश्रुवारिधारा कपोलोंपर बह चली—

श्रीव्रजकुलचन्द्रमसः क्रमशः सर्वेषां मुखमभिदृत्तदृशः स्तिमितीकृतनिजाधारा नेत्राम्बुधारा निपेतुः । (श्रीगोपालचम्पूः)

और यह लो ! जिस गोपशिशुपर, गायपर, उनकी वह अश्रुस्राविणी, नहीं-नहीं अमृतवर्षिणी, दृष्टि पड़ती जा रही है, वे सब जीवित होकर उठने जा रहे हैं ।

× × × यथाक्रमं सर्वे चेतयामासुः ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र भले कितने ही मुग्ध वेशमें, अपने समस्त ऐश्वर्यको बाल्यावेशके अतलतलमें डुबाकर अपने स्वरूपभूत लीलारसका पान क्यों न करें, किंतु समयपर ऐश्वर्यशक्ति जाग उठेगी ही । श्रीशेष, शिव आदि योगेश्वरोंके भी ईश्वर व्रजराजनन्दनका वह अप्रतिम ऐश्वर्य ठीक अवसरपर क्रियाशील हो ही जायगा । बाल्यलीलाविहारीकी तो आँखें झर रही थीं, उन्हें उस अवस्थामें देख-देखकर अनुताप-विह्वल हुए वे क्रन्दन कर रहे थे, किंतु उसी अश्रुपथसे उनका स्वरूपभूत ऐश्वर्य भी तो निःसृत हो रहा था । फिर वे अनन्यगति—एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रपर ही निर्भर करनेवाली गायें, सर्वथा उनपर ही आश्रित वे गोपशिशु क्यों न पुनर्जीवन लाभ करें ? उन्होंने किया ही, श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें नवजीवन प्रदान किया ही—

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ५०)

अब उनकी आँखें मिलनेभरकी देर थी, बस, श्रीकृष्णचन्द्रने लपककर प्रत्येकको ही—सर्वथा एक समयमें ही एक साथ पृथक्-पृथक्—अपने भुजपाशमें बाँध लिया । प्राकृत बुद्धिमें यह शक्ति नहीं कि उसका समाधान कर दे, पर वास्तवमें यह आलिङ्गन संघटित हुआ इस रूपमें ही—

युगपदेव सर्वान् कृष्णः पृथक् पृथगेवाश्लिष्टवान् ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

शिशु एवं श्रीकृष्णचन्द्रका यह मिलन भी देखने ही योग्य है—

दृष्टिर्बाष्पमिता तनुस्तिमितितामन्तर्मतिर्लीनता-
मित्थं सङ्गतिसाधने तु निखिलेऽभीक्ष्णं गते व्यर्थताम् ।
किं सौख्यं किमसौख्यमेतदिति च स्फूर्तिं विनावस्थितौ
कश्चित्कोऽपि न किञ्चिदुज्झितुमभूच्छक्तिप्रयुक्तश्चिरम् ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'उन बालकोंकी दृष्टि वाष्पधारासे अवरुद्ध हो गयी । शरीर निश्चेष्ट हो गया । अन्तश्चेतना लुप्त हो गयी । इस प्रकार मिलनेके सभी साधन जब बारंबार व्यर्थ होते गये—यहाँतक कि उन्हें इस बातका भी भान नहीं रहा कि यह सुखकी अवस्था है या दुःखकी, उस समय बड़ी देरतक तो कोई किसीको किंचिन्मात्र भी छोड़नेमें समर्थ ही न हुआ ।'

और वे जब प्रकृतिस्थ हुए तो गायोंकी दशा भी निराली ही बन गयी—

गावो हुङ्कृतिघोषणावलयिताः कृष्णं लिहन्त्यश्चिरा-
त्तद्बाहुद्वयवेष्टनेन विलसत्कण्ठ्यः समुत्कण्ठिताः ।
यत्नात्त्याजिततद्ग्रहाश्च पशुपैः क्षिप्ताश्च तस्थुश्चिरं
तास्तद्वक्त्रसुधाकरद्युतिसुधा पीतावतृप्तेक्षणाः ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'वे गायें उच्च स्वरसे हुंकार करती हुई श्रीकृष्णचन्द्रको

घेरकर खड़ी हो गयीं; उत्कण्ठायुक्त होकर उन्हें बड़ी देरतक चाटती रहीं। नीलसुन्दर उन्हें गलबाहीं देकर खड़े थे, इससे उनकी ग्रीवा अत्यन्त सुशोभित हो रही थी। उनके पालक शिशुओंने आकर अत्यधिक प्रयास कर उन्हें श्रीकृष्णके बाहुपाशसे मुक्त किया, वे उन्हें वहाँसे हटाने लगे, किंतु गौएँ तो उनके मुखचन्द्रसे अपने अतृप्त नेत्रोंको हटा न सकीं, बड़ी देरतक ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं। उस अनुपम सुधाकरकी सुधाका पान करके भी वे तृप्त न हो सकीं।'

अस्तु, उन बालकोंके नेत्रोंमें आश्चर्य तो अब भी भरा है, अतिशय विस्मित हुए वे सब परस्पर एक दूसरेको देख रहे हैं—

आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम्।
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ५१)

अवश्य ही उन सरलमति बालकोंको यह अनुमान होते देर न लगी कि वे पुनर्जीवित कैसे हो गये। विषकी ज्वालासे उनके प्राण समाप्त हो ही चुके थे; उन्हें मृत्युके इस पार तो पुनः लौटा लाये हैं उनके कन्हैया भैया ही—

अन्वमंसत तद्राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ५२)

सखन इहै मन आनि, मरे जिए एहि काल हम।
कृष्न अनुग्रह जानि, मन हरषे अति प्रेम भर॥

फिर तो कन्हैया भैयाकी जय होनी ही है—

आपुस में सिसु मिलि कह्यौ, धनि धनि नंदकुमार।

नीलसुन्दरके अधरोंपर मन्द मुसकान है; किंतु उनकी दृष्टि केन्द्रित है कालियह्रदकी ओर। वे सोच रहे हैं कुछ और ही; कालियह्रदमें विहार करनेका मनोरथ निर्मित हो रहा है तथा शिशु व्यस्त हैं अपने कोटि-प्राणप्रतिम कन्नू भैयाके प्रति अपने स्नेहपूरित अन्तस्तलका आभार व्यक्त करनेमें—

प्रान बिनु हम सब भए ते, तुमहिं दियौ जिवाइ।
सूरके प्रभु तुम जहाँ तहँ हमहिं लेत बचाइ।

आइंस्टीनके सापेक्षवाद "Theory of Relativity" का हमारे ऋषियोंको ज्ञान

(लेखक—श्रीघनश्यामसिंहजी गुप्त)

मुझे कुछ दिनोंसे ऐसा लगने लगा है कि हमारे ऋषियोंको भौतिक विज्ञानके बहुत-से सिद्धान्तोंका दर्शन था। यह किस प्रकार हुआ, यह विषय पृथक् है। इस लेखका उद्देश्य बहुत सीमित है और यह कि भौतिक विज्ञानके नूतनतम आविष्कार, जो सापेक्षवादके नामसे ज्ञात है, उसका ज्ञान हमारे ऋषियोंको अवश्य था। अति सरल शब्दोंमें और साधारण लोगोंके समझनेकी भाषामें, आइंस्टीनका सापेक्षवाद क्या है, वह देखना है।

इस विश्वकी बहुत-सी मौलिक बातें, निरपेक्ष (Absolute) नहीं, सापेक्ष (Relative) मानी जाती हैं। जैसे—'गति'। गतिको सापेक्ष मानते हैं। प्रत्येक पिण्ड, प्रत्येक नक्षत्र, प्रत्येक ताराकी गति (Absolute) निरपेक्ष नहीं मानी जाती, सापेक्ष मानी जाती है। साधारण उदाहरण, जो प्रत्येक विद्यार्थीको पता है—वह दो रेलगाड़ियोंका एक ही दिशामें अथवा विरुद्ध दिशामें भागनेका है। जब दो रेलगाड़ी एक ही दिशामें भागती हैं तो उनमें बैठे यात्रीको दोनों 'धीमी' चलती दीखती हैं। उनकी गति वही प्रतीत होती है जो दोनों गतियोंका अन्तर है। और जब विरुद्ध दिशामें भागती हैं तो उनमें बैठे यात्रीको दोनों बहुत वेगसे चलती दीखती हैं। उनकी गति दोनोंकी गतियोंके योगके बराबर प्रतीत होती है। इसी प्रकार सारे विश्वके प्रत्येक गतिमान पिण्डकी बात है। छोटी-से-छोटी वस्तुसे लेकर चन्द्र, सूर्य और इनसे भी विशालतर और विशालतम ताराओंकी भी यही बात है; परंतु एक

वस्तु जो सर्वथा निरपेक्ष मानी जाती थी, वह समयकी गति थी। कालकी गतिको सर्वथा ही निरपेक्ष मानते थे। कालकी गति चाहे पृथ्वीपर हो, चाहे सूर्य-लोकमें हो, चाहे वह आकाश-गङ्गाके परे विश्वोंके ताराओंमें हो, सभी स्थानोंमें यह माना जाता था कि कालकी गति एक समान है। यदि इस पृथ्वीपर या सौर जगत्‌में अथवा आकाश-गङ्गाके विश्वके किसी खण्डमें एक पल या एक घंटा बीता है तो सभी विश्वोंमें वही एक पल या एक घंटा बीतेगा। जिस कालकी गतिको एक घंटा हम इस पृथ्वी आदिपर मानते हैं, उतनी ही कालकी गति उसी माप-दण्डसे सब विश्वोंमें एक ही घंटा होगा। यह कालका निरपेक्षवाद है। आइंस्टीनसे पहले पाश्चात्त्य वैज्ञानिक जगत्‌में यही सिद्धान्त माना जाता था। आइंस्टीनने इसका खण्डन किया और उसका कहना है कि साधारण क्रियाओंके परे यदि हम जायँ तो कालका निरपेक्षवाद सत्य नहीं। कालकी गति भी सापेक्ष होती है। और अनेक विश्वोंमें कालकी वही एक गति उसी एक मानको नहीं लाती। इस पृथ्वीपर या सौर जगत्‌में अथवा आकाश-गङ्गाके विश्वमें जिस कालका मान एक घंटेसे होता है उसी कालका मान उसी माप-दण्डसे अन्य लोकोंमें और अन्य विश्वोंमें न्यूनाधिक हो सकता है। एक घंटेका एक पल हो सकता है और एक युग हो सकता है। यह आइंस्टीनके सापेक्षवाद सिद्धान्तका एक निष्कर्ष है, जो ऐसी भाषामें है जिसे एक साधारण पुरुषके जो कि भौतिक विज्ञानका पण्डित नहीं, समझमें आ सकती है।

कालके इस सापेक्षवादका हमारे ऋषियोंको ज्ञान था या नहीं यह देखना है। मैं मानता हूँ कि इसका उनको ज्ञान था। इसका प्रमाण हमें रामायणके उत्तर-काण्डमें काकभुशुण्डिजीके प्रसङ्गमें स्पष्ट मिलता है—

मूदेउँ नयन त्रसित जब भयऊँ। पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ॥
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥
उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥

जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक॥

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥
फिरत फिरत निज आश्रम आयउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गवाँयउँ॥
करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा॥

देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर॥

अब विचारिये 'उभय घरी महँ मैं सब देखा' दो घड़ीमें ही मैंने यह सब देखा। क्या देखा? अनेक ब्रह्माण्ड, अनेक लोक देखा। और वहाँ कितने कालतक रहे?

'एक एक ब्रह्मांड महुँ रहेउँ बरष सत एक।'
'भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥'

और इन ब्रह्माण्डोंमें इतने वर्ष जो बीते वे केवल दो घड़ीमें बीते। एक स्थानके दो घड़ीका कालमान अन्य ब्रह्माण्डोंमें वर्षोंके कालमानके बराबर हो सकता है—ऐसा बतानेवाला या तो पागलोंका पागल है या वह तत्त्ववेत्ता है, जिसे कालकी सापेक्षताका दर्शन था। पागल तो थे नहीं। अतः हम इस अनिवार्य परिणाममें पहुँचते हैं कि उनको कालकी सापेक्षताका ज्ञान था। नूतन भौतिक अन्वेषणके और भी प्रसङ्ग हैं, जिनका ज्ञान हमारे ऋषियोंको था। एक दूसरा उदाहरण इस पृथ्वीकी आयुका है।

भगवान् विष्णुकी स्तुति

[अवतार-वर्णन]

(रचयिता—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

भक्तोंकी करुण पुकार सुन—तुम विविध रूप धर आये,
तुम विविध रूप धर आये ॥ ध्रुव० ॥

सत्त्वगुणी है विरद तुम्हारा,
फिर भी आदि दैत्यको मारा ।
दुष्ट-दलनका तो प्रण प्यारा—
बन 'वराह' पातालसे पृथ्वी माताको लाये ॥ तुम विविध० ॥

फिर 'सुयज्ञमय' देह बनाकर,
अग्नि-प्रकाश रूपमें आकर ।
सब संकटको दूर हटाकर—
'कपिलदेव' अवतार धर सब तत्त्वोंको समझाये ॥ तुम० ॥

सत्त्वरजस्तम अंश मिलाया,
'दत्तात्रय'का रूप बनाया ।
काम-मोक्ष-संदेश सुनाया—
'सनकादिक' ऋषिवेषमें तप-संयम-नियम बताये ॥ तुम० ॥

'नर-नारायण' आकृति-धारी,
ब्रह्मचर्य-महिमा विस्तारी ।
'ध्रुव' बनकर ध्रुव-भक्ति-प्रचारी—
'पृथु' अवतार बनाय कर, धन-धान्यादिक उपजाये ॥ तुम० ॥

कर्मोंकी भरमार हुई जब,
'ऋषभदेव' अवतार धरा तब ।
जग-जंजाल निवृत्त किये सब—
'हयग्रीव' बन सृष्टिमें फिर वेदोंको प्रकटाये ॥ तुम० ॥

'मत्स्य' रूप धर वेद उबारा,
'कच्छप' बने रत्न दातारा ।
गजने आधा नाम पुकारा—
'हरि' बन नंगे पाँवसे वैकुण्ठ छोड़कर धाये ॥ तुम० ॥

बन नृसिंह 'हिरणाकुश' मारा,
श्री प्रह्लाद भक्त उद्धारा ।
'हंस' रूप धर ज्ञान उचारा—
'मन्वन्तर' अवतार धर युग-युगके पाप हटाये ॥ तुम० ॥

'वामन' बन कर गर्व विदारा,
'धन्वन्तरि' बन स्वास्थ्य सुधारा ।
'परशुराम' अद्भुत अवतारा—
धर्म-हेतु 'इक्कीस' बार क्षत्रिय निर्वंश बनाये ॥ तुम० ॥

दुर्जनता भूतलपर व्यापी,
'राम' बने मर्यादा स्थापी ।
भीत हुए दुनियाके पापी—
'व्यास' विविध विज्ञानसे जगके गुरुदेव कहाये ॥ तुम० ॥

जब धर्मी पापोंसे हारे,
'कृष्ण' पूर्ण अवतार पधारे ।
लीलामय बन दुःख निवारे—
'बुद्धरूप' बन प्रेमसे करुणाके कण बरसाये ॥ तुम० ॥

ईश्वर दूत पुत्र था पार्षद,
श्री जरथुस्त्र मसीह मुहम्मद—
जो जो भक्त नबी श्रद्धास्पद ।
एक तुम्हारे अंशसे युग-युग विभूतियाँ पाये ॥ तुम० ॥

जब जब जैसे संकट आये,
तब तब तैसे रूप बनाये ।
कलियुगने दुर्दश्य दिखाये—
'कल्किदेव' के रूपमें संतोंके ऊपर छाये ॥ तुम० ॥

कब अपना प्रण पूर्ण करोगे,
कब जगका दुख नाथ हरोगे ।
कब भूमंडलपर विचरोगे—
दुष्टोंने तो आज भी दीनोंको बहुत सताये ॥ तुम० ॥

दीनोंसे बंधुत्व तुम्हारा,
उन्हें दिया सत्प्रेम-सहारा ।
द्रोह-मोह-तम दूर निवारा—
दिवस निशामें आज भी फिर सूर्य-चन्द्र चमकाये ॥
तुम विविध रूप धर आये ॥
भक्तोंकी करुण पुकार सुन तुम विविध रूप धर आये ॥

समानाधिकार

(एकाङ्की)

(लेखक—पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

पहला दृश्य

स्थान—ब्रह्मलोक

समय—अनिश्चित। ब्रह्मलोकमें न रात होती है, न दिन ।

(एक श्वेत-वर्ण भव्य भवनके लंबे-चौड़े बरामदेमें, सोनेकी चौकीपर, ब्रह्मा पलथी मारकर बैठे हैं । ब्रह्माके चार मुँह हैं, चार हाथ हैं, सिरोंपर मुकुट हैं और प्रत्येक मुँहसे सफेद और लंबी दाढ़ी लटकी हुई है । ब्रह्मा जीवोंके लिये शरीर-रचनामें निमग्न हैं । आस-पास पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जलचर, थलचर और गगन-चर आदि जीवोंके नन्हे-नन्हे शरीर बना-बनाकर रक्खे हुए हैं । कुछ शरीरोंको वे सामनेके हाथोंसे बनाते हैं, जो बहुत सुन्दर बनते हैं । कुछको पीछेके दोनों हाथोंसे बनाते हैं, जो भद्दे, कुरूप और अपूर्णाङ्ग बनते हैं । पास ही, हाथोंकी पहुँचके अंदर छोटी-छोटी कई चौकियाँ हैं, जिनपर भिन्न-भिन्न वर्गोंके नन्हे-नन्हे जीव रक्खे हैं । चौकियोंपर सामनेकी पट्टियोंपर देवनागरी अक्षरोंमें चौकीपर रक्खे हुए जीवोंके वर्गवार नाम लिखे हैं ।

विरोचन और वारुणी नामके युवक और युवती बरामदेके बाहर, धरतीपर, हाथ जोड़े और ब्रह्माकी दृष्टि पानेके लिये लालायित खड़े हैं । ब्रह्मा अपने काममें लगे हैं ।

शरीर-रचनाका काम समाप्त करके ब्रह्मा पहले मनुष्यका एक-एक शरीर उठाकर उसमें जीव डालते हैं । जीव डालकर वे उसे अपने मुँहके पास ले जाते हैं और उसके कानमें कहते हैं ।)

ब्रह्मा—सबसे ज्यादा बुद्धि मैं तुम्हींको दे रहा हूँ ।

(यही एक वाक्य वे प्रत्येकके कानमें कहते हैं और वे उसे एक तरफ रखते जाते हैं ।)

विरोचन—(वारुणीसे धीरेसे) इस बुड्ढेकी शरारत देख रही हो न ? मनुष्योंमें फूटका बीज यह यहींसे बोकर भेजता है ।

वारुणी—इसीसे तो हर-एक पुरुष समझता है कि सबसे ज्यादा बुद्धि उसीको मिली है और उनकी आपसकी लड़ाई-का अन्त ही नहीं आता ।

विरोचन—समानाधिकारमें लड़ाईका भी हिस्सा तो लोगी न ?

(दोनों एक दूसरेको देखकर आँखोंमें मुसकराते हैं ।)

(ब्रह्माने हिरन, साँप, अजगर, मेढक, छिपकली, गिरगिट, खचर आदि जीवोंकी चौकियोंपरसे जीव उठा-उठाकर मनुष्यके शरीरमें डालना शुरू किया ।)

विरोचन—(धीरेसे) यह बुड्ढा करोड़ों वर्षोंसे यही काम कर रहा है । अब थक गया है । सूझता भी कम है । मनुष्यके जीवोंकी चौकी ही भूल गया और जानवरोंकी चौकियोंसे जीव उठा-उठाकर मनुष्यके शरीरमें डाल रहा है । यह देखो, हरिनका जीव इसने मनुष्यके शरीरमें डाल दिया ।

वारुणी—(मुसकराकर) यह टेनिस, क्रिकेट, फुटबाल और कबड्डीका अच्छा खिलाड़ी होगा ।

विरोचन—(साँपका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह ?

वारुणी—यह चोर होगा ।

विरोचन—(अजगरका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह ?

वारुणी—यह सेठ होगा ।

विरोचन—(मेढ़कका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह ?

वारुणी—यह राज्यका मन्त्री होगा ।

विरोचन—(गिरगिटका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह ?

वारुणी—यह राजनीतिक नेता होगा ।

विरोचन—(खचरका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह ?

वारुणी—यह नपुंसक होगा ।

विरोचन—(स्वगत) जान-बूझकर ब्रह्मा यह भूल कर रहे हैं, पर यह भी कोई शरारत है ? (छिपकलीका जीव एक स्त्रीके शरीरमें डालते हुए देखकर वारुणीसे) यह ?

वारुणी—यह सास होगी।

विरोचन—साससे छिपकलीका क्या सम्बन्ध ?

वारुणी—'वाह, पुत्र और पतोहू जब एक कमरेमें अकेले बैठते हैं, तब सास कमरेके बाहर किवाड़की बगलमें कान लगाये छपटी रहती है, कहीं उसकी चुगली-निन्दा न कर रहे हों। यह छिपकलीके जीवका ही प्रभाव तो है।

विरोचन—क्या मेरी माँ भी ऐसा करती थी ?

वारुणी—क्या सभीके शरीरमें छिपकलीके जीव पड़ते होंगे ?

विरोचन—(ब्रह्माकी ओर देखकर, चौंकते हुए !) आह ! इस शरीरमें तो बाघका, इसमें भेड़ियेका और इसमें चूहेका जीव डाल रहा है। बुड्ढा यह कर क्या रहा है ? बिल्कुल ही बौड़म हो गया है क्या ?

वारुणी—इन जानवरों-जैसे तो तुम्हारे कई मित्र हैं।

(ब्रह्मा उस दिनके बनाये सब शरीरोंमें जीव डालकर और सबके कानोंमें उपर्युक्त वाक्य कहकर उनको कई पाँतोंमें रख देते हैं। फिर किसी-किसीको चुनकर उठाते हैं और पास रक्खी हुई दिव्य लेखनी उठाकर उससे उनके माथोंपर कुछ लिखकर उन्हें अपने पीछेकी दीवारमें बने हुए दराजमें रखते जाते हैं। माथोंपर उनके लिखे हुए अक्षर चमकते हैं, जिन्हें विरोचन और वारुणी पढ़ते हैं।)

विरोचन—(पढ़ता है) यह पढ़-लिखकर योग्य होगा, इसके वृद्ध माता-पिता गृहस्थीका सारा बोझ इसपर रखकर निश्चिन्त हो जायँगे, तब यह पचीस वर्षकी अवस्थामें मर जायगा, ताकि माता-पिता शेष जीवन रोते-रोते दुःखमें बितायें; क्योंकि वे पूर्वजन्मके बड़े पापी थे। (स्वगत) यह बुड्ढा बड़े क्रूर स्वभावका है।

वारुणी—(दूसरा माथा पढ़ती है) फुटबॉलके खेलमें इसकी एक टाँग टूट जायगी; क्योंकि पूर्वजन्ममें इसने एक मनुष्यकी टाँग तोड़ दी थी।

विरोचन—(पढ़ता है) पूर्वजन्ममें इसने माता-पिताकी सेवा नहीं की थी, इससे पढ़-लिखकर भी यह अर्जियाँ लिये दौड़ता फिरेगा और कहीं नौकरी नहीं पायेगा। अन्तमें बुरी मौत मरेगा।

वारुणी—(पढ़ती है) यह नपुंसक होगा। पूर्व-जन्मकी एक पुंश्चली इसकी स्त्री होगी, जो बहुत सुन्दरी भी होगी। इससे दोनों एक-दूसरेको देख-देखकर पीड़ित होते रहेंगे।

वारुणी—(पढ़ती है) पूर्व-जन्ममें यह व्यभिचारिणी थी। इससे यह पचीस वर्षकी अवस्थामें विधवा हो जायगी। (स्वगत) भयंकर दण्ड है।

विरोचन—(पढ़ता है) बीस वर्षकी अवस्थासे यह जीवन-भर कोढ़ी होकर रहेगा। पिछले जन्ममें यह बड़ा रिश्वतखोर था।

वारुणी—(पढ़ती है) इसने पुण्य भी बहुत किये, पर सङ्ग अच्छा नहीं था और स्वयं चुगुलखोर भी था। इससे राज्यका मुख्य मन्त्री होनेपर भी पूर्वाभ्यासवश लुच्चों-लफंगोंकी मण्डली बनाकर रहेगा और उनके किये पापोंका मानसिक दण्ड भोगता रहेगा।

विरोचन—(वारुणीसे) देख ली न ब्रह्माकी व्यवस्था ? तुम्हारे भी पूर्व-जन्मका कोई पाप होगा, जिससे तुम मुझसे समानाधिकारके लिये झगड़ती रहती हो।

वारुणी—(तमककर) और वह तुम्हारा ही पाप हो तो ?

(ब्रह्मा अपने कामसे छुट्टी पाकर सिर उठाते हैं और विरोचन और वारुणीको देखते हैं।)

ब्रह्मा—तुम दोनों कौन हो और क्यों आये हो ?

विरोचन—हम दोनों पति-पत्नी हैं। पृथ्वीलोकसे आये हैं। मेरी यह पत्नी और इसीके समान और भी बहुत-सी पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ पुरुषोंके समान अधिकार चाहती हैं, उसीका निपटारा आपसे कराने आये हैं।

ब्रह्मा—अधिकार बाँटना स्मृतिकारोंका काम है, मेरा नहीं, फिर भी (वारुणीसे) तुम क्या चाहती हो ?

वारुणी—मैं चाहती हूँ कि स्त्रियोंको पुरुषोंने मिट्टीकी दीवारोंके घेरेमें कैद कर दिया है, उससे उनको छुटकारा दिला दिया जाय। पुरुषोंने जो उनको परदेमें छिपा रक्खा है, वह भी हटा दिया जाय। स्त्रियाँ भी पुरुषोंकी तरह पढ़-लिखकर वकील बन सकें, जज और मैजिस्ट्रेट बन सकें, प्रोफेसर और डॉक्टर बन सकें, बैंककी मैनेजर और कर्मचारी बन सकें, राजसभाकी मेम्बर और मन्त्री बन सकें—

विरोचन—(बीचमें) चपरासी, मेहतरोंके दारोगा, फौजी सिपाही, बढ़ई और राजगीर बन सकें। चोर और डाकू बन सकें—

वारुणी—(झुंझलाकर) चोर और डाकूका काम पुरुष करेंगे, (ब्रह्मासे) हाँ, तो मैं यह भी चाहती हूँ कि स्त्री या पुरुष जब चाहे, एक-दूसरेसे वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद कर लें। यह कोई ईश्वरीय नियम नहीं है कि पुरुष स्त्रियोंको दासी बनाकर रक्खें।

विरोचन—यह तो तुम्हारा भ्रम है; दास तो पुरुष ही बने रहते हैं।

ब्रह्मा—देखो, मेरा काम तो केवल सृष्टिकी रचना करना है। तुम्हारी सामाजिक व्यवस्था तुम्हारे स्मृतिकारोंने बाँधी है और मैं समझता हूँ, मेरी रचनाका मर्म समझकर ही उन्होंने कामका बँटवारा किया है। उसमें कहीं त्रुटि दिखायी पड़े, तो मनुष्य उसे ठीक कर ले, मैं उसमें कुछ दखल नहीं देता। मगर मेरी रचना ही ऐसी है कि उसमें समानाधिकार सम्भव नहीं।

वारुणी—कैसे ?

ब्रह्मा—मैंने स्त्रियोंमें कोमल गुणोंकी मात्रा अधिक रख दी है, जिससे वे दयालु, मधुर-भाषिणी, कलाओंको पसंद करनेवाली और परिवारमें आनन्दकी वृद्धि करनेवाली होती हैं।

विरोचन—और पुरुषोंमें ?

ब्रह्मा—पुरुषोंमें मैंने कठोर गुणोंकी मात्रा अधिक रख दी है। जिससे वे साहसी, शूरवीर, धैर्यवान्, अभिमानी, हठी और लड़ने-झगड़नेवाले, सर्दी-गरमीके कष्टोंको सहनेवाले, परिश्रमी होते हैं। दोनों—स्त्री और पुरुष, एक-दूसरेके पूरक होते हैं।

वारुणी—किंतु आपकी यह इच्छा तो नहीं होगी कि पुरुष स्त्रियोंको घरके अंदर परदेमें कैद करके रक्खें।

ब्रह्मा—कैदमें रखनेकी तो नहीं, पर स्त्रीके शरीरकी रचना मैंने इस प्रकारकी जरूर की है कि वे ज्यादातर धूल और धूपसे बचकर रहें और यह घरके अंदर ही सम्भव है। इससे मैंने उनके शरीरमें खासकर नाकमें पुरुषोंकी अपेक्षा बाल कम दिये।

वारुणी—इसका क्या मतलब ?

ब्रह्मा—नाकके बाल धूलको फेफड़ोंमें जानेसे रोकते हैं। स्त्रियाँ घरके अंदर धूलसे दूर रहेंगी, तो उनके फेफड़े स्वस्थ रहेंगे और वे स्वस्थ और सुन्दर बनी रहेंगी और उनके शरीरमें कोमलता भी मैंने ज्यादा दी है। वे धूपमें काम करेंगी तो उनकी कोमलता नष्ट हो जायगी।

विरोचन—ऐसा आपने क्यों किया ?

ब्रह्मा—क्योंकि उनको बच्चोंका पालन-पोषण भी करना होगा, जो उनके पास रहकर ही सम्भव हो सकता है। बच्चोंके रहकर वे अपने उत्तम गुणोंसे उनको उच्चकोटिका मनुष्य भी बना देंगी, जो समाजके दृढ़ स्तम्भ होंगे। मनुष्यका सच्चा स्वर्ग माताके चरणोंके नीचे ही है और कोमलता आदि गुणोंसे यह भी लाभ होगा कि पुरुष उनकी ओर आकर्षित होंगे और सृष्टि चलेगी।

विरोचन—पर आपने दाढ़ी और मूँछ दोनों पुरुषको ही दे दिये, यह तो अन्याय ही है।

वारुणी—(तमककर) तुम सदा यही कहा करते हो, दाढ़ी और मूँछमें कौन-सा ऐसा बोझ है, जो स्त्री नहीं उठा सकती ?

विरोचन—तो एक ले लो न ? समानाधिकार तो यहींसे शुरू होना चाहिये।

वारुणी—तुम मेरे और सब अधिकार स्वीकार करो, तो चलो, दाढ़ी मैं ले लूँगी, मूँछ तुम अपने मुँहपर रक्खो। तुमको पशुओंकी तरह लड़ाई लड़नेके लिये मूँछपर ताव देनेकी ज्यादा जरूरत पड़ेगी।

ब्रह्मा—(मुसकराते हुए स्वगत) स्त्रीमें अविवेककी मात्रा भी मैंने अधिक रख दी है, वह ठीक काम कर रही है।

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमविवेकता।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥

वारुणी—(श्लोक सुनकर) यह श्लोक पुरुषने बनाया है, स्त्री बनाती तो इससे अधिक अवगुण पुरुषोंमें गिना देती।

ब्रह्मा—श्लोकमें मेरी रचना ही बोल रही है।

विरोचन—(वारुणीसे) अच्छी बात है; तुम दाढ़ी ले लो तो जो-जो अधिकार तुम माँगती हो, मैं सब स्वीकार करता हूँ।

ब्रह्मा—देखो, मेरी रचनाका रहस्य समझकर ही ऋषि-मुनियोंने स्त्री-पुरुषोंके कामोंका बँटवारा किया है। मेरी तो राय है कि तुम उसका उचित रीतिसे पालन करो। मैंने तुम दोनोंके बीचमें 'प्रेम' नामकी एक वस्तु और रख दी है, वह वासनासे भिन्न वस्तु है। वह त्याग और सहिष्णुतासे प्राप्त होगी। (स्त्रीसे) सम्बन्ध-विच्छेदकी बात तो तुम वासनासे प्रेरित होकर ही कह रही हो। प्रेमसे पूर्ण बनोगी तो सम्बन्ध-विच्छेदका ध्यान भी नहीं आयेगा।

[पढ़ते हैं]

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(दोनोंसे) अच्छा, अब तुमलोग जाओ और विवेक-बुद्धिसे जो मार्ग तुमको सुखकर जान पड़े, उसीपर चलो।

(ब्रह्मा फिर अपने काममें लग जाते हैं, विरोचन और वारुणी प्रणाम करके जाते हैं।)

दूसरा दृश्य

समय–प्रातःकाल चायका वक्त।

स्थान–एक बँगलेके सामनेका लॉन।

(विरोचन और वारुणी बेंतकी कुर्सियोंपर आमने-सामने बैठे हैं। बीचमें एक छोटी-सी सुन्दर मेज रक्खी है। नौकर ट्रेमें चाय और खानेकी कुछ चीजें प्लेटोंमें रखकर लाता है और रखकर चला जाता है। वारुणी प्यालोंमें चाय डालती है और फिर दोनों खाने-पीनेमें लग जाते हैं।)

विरोचन–(चाय पीते-पीते) ऐसा याद आ रहा है कि रातमें मैंने एक स्वप्न देखा है, जिसमें हम दोनों ब्रह्माके पास गये थे।

वारुणी–(कौतूहलसे) मैंने भी ऐसा ही स्वप्न देखा है। अजीब बात है।

(दोनों कुछ देर चुप रहते हैं।)

वारुणी–मैं सोच रही हूँ कि कुछ दिनोंके लिये घर छोड़ दूँ और गाँव-गाँव घूमकर स्त्री-जातिको पुरुषोंकी गुलामीसे मुक्त करूँ।

विरोचन–(चाय पीते-पीते) तुमको क्या कष्ट है ?

वारुणी–कष्ट यह है कि पुरुषोंने स्त्रियोंके सब अधिकार छीनकर उन्हें घरकी दासी बना रक्खा है, हम समानाधिकार चाहती हैं।

विरोचन–आजकल कुछ पढ़ी-लिखी स्त्रियोंका दिमाग फिर गया है। उनमें इतना जोश बढ़ गया है कि होशके लिये कहीं जगह ही नहीं रह गयी है। (हँसता है।)

वारुणी–तुम तो हँसोगे ही। तुम समझते हो कि पुरुषोंने स्त्रियोंको ऐसा जकड़ रक्खा है कि वे छुटकारा पा ही नहीं सकतीं। इसीसे हँसते हो। पर जरा नारी-जागरण होने तो दो; फिर देखना हँसते हो या रोते।

विरोचन–दासी तो तुम अपने मुँहसे बन रही हो। समाजमें तुमको पुरुषोंसे ज्यादा अधिकार बिना किसी कानून-के प्राप्त हैं। बड़े-बड़े धुरन्धर नेता तुम्हारे सामने आकर नतमस्तक हो जाते हैं।

वारुणी–होना ही चाहिये। अब जरा ज्यादा अधिकारकी बातका खुलासा तो करो।

विरोचन–जैसे, घर-गृहस्थीके हल्के काम, जिनमें परिश्रम कम करना पड़ता है, तुमको मिले हैं। कठोर परिश्रमवाले काम पुरुष करते हैं।

वारुणी–मैं तो कामका बराबर-बराबर बँटवारा चाहती हूँ, पुरुषोंका एहसान क्यों लूँ ? बाँट लो न ?

विरोचन–मूर्खताका बँटवारा कैसे करें ? पेड़पर चढ़कर लकड़ी तोड़ना, धूपमें हल चलाना, सड़क कूटना, कुँवा खोदना, फावड़ा चलाना, मिट्टी ढोना, ठेला खींचना, पल्लेदारी करना, लकड़ी चीरना, लड़ाई लड़ना—ये काम स्त्रियाँ कैसे कर सकती हैं ?

वारुणी–लड़ाई तो मैं खूब लड़ सकती हूँ।

विरोचन–क्यों नहीं ? किंतु जीभसे। अभ्यास तो रोज ही करती रहती हो।

वारुणी–(तमककर) स्त्रियोंको पुरुष अवगुणोंकी खान समझते हैं और अपनेको गुणोंका समुद्र। पुरुषोंका यही अहंकार तो मैं तोड़ना चाहती हूँ। खैर, तुम कामका बँटवारा करके देख लो न ?

विरोचन–पहलेसे ही देखता हूँ फिरसे क्या देखूँ ? अगर पुरुषलोग घरके भीतर, छायामें, सुखसे बैठकर बर्तन माँजने, चौका देने, रसोई बनाने और चक्की चलानेका काम ले लेंगे और बाहरके काम तुमको सौंप देंगे, तो क्या तब भी तुम ऊँची एड़ीके बूट पहनकर ऊँटकी तरह मचकती फिरोगी ? और चश्मा लगाकर साइकिलकी-सी आँखें मटकाओगी ?

वारुणी–(उग्र स्वरमें) तुम मेरी दिल्लगी उड़ाते हो ?

विरोचन–(शान्त भावसे) दिल्लगी नहीं उड़ाता, सच बोलता हूँ। खैर, जो जीमें आवे सो करो, पर पुरुषोंने जो एहसान तुमपर किये हैं, उन्हें तो मत भूल जाना।

वारुणी–(आँखें फाड़कर) एहसान ? एहसान कौन-से ?

विरोचन–एक-दो हैं ? बीसों तो हैं ?

वारुणी–दो-चार तो गिनाओ, सुन तो लूँ।

विरोचन–सुनो; हिंदीके सैकड़ों कवियोंने तो एक-एक जीवन ही तुमको दे डाला। बिहारी, देव, मतिराम, बोधा, पद्माकर, रत्नाकर जीवनभर तुम्हारे शरीरके गीत गाते रहे। मौतने ही उनको तुमसे नोचकर अलग किया। आजकल भी हजारों जीवित कवि रात और दिन तुम्हारे ही रूपकी ज्वालामें जल रहे हैं।

वारुणी–(तमककर) हिंदी-कवियोंका नाम मेरे सामने मत लो; मैं उनसे घृणा करती हूँ ।

विरोचन–घृणा क्यों करती हो ? वे तो जबसे होशमें आये और मृत्युको देखकर बेहोश नहीं हो गये, स्त्रियोंके शरीरका ही गुणगान करते रहे । उन्होंने स्त्रियोंके अङ्गोंके लिये सुन्दर-सुन्दर उपमाएँ खोजीं और उन्हें अनेकों छन्दोंमें लिख-लिखकर दूरतक पहुँचाया और पुरुषोंको ही स्त्रियोंका दास बनाया । उनसे घृणा क्यों करती हो ?

वारुणी–उनकी उपमाएँ मैं पढ़ चुकी हूँ । उन्होंने स्त्रियोंके शरीरको जंगली पशु-पक्षियों और फूल-पत्तोंकी प्रदर्शनी बना दिया है । साँप-ऐसी वेणी, हिरन-जैसी आँखें, घोंघे-जैसे कान, नीमकी पत्ती-जैसी भौंहें, अनारके दाने-जैसे दाँत, कुँदरू-जैसे ओंठ, तोतेकी-सी नाक, कबूतर-जैसी गर्दन, सिंहकी-सी कमर, हाथीकी सूँड़-जैसी टाँगें, चम्पा-जैसा रंग और कहाँतक गिनायें हाथीकी चाल-जैसी चाल । जब स्त्रीके शरीरसे जानवरोंहीके शरीर श्रेष्ठ हैं, फूल-पत्ते ही सुन्दर हैं, तब स्त्रीके शरीरका क्या महत्त्व रह गया ? कवियोंने स्त्रियोंको मूर्ख बनाया है । जो स्त्री इन उपमाओंपर अभिमान करे, वह मूर्ख है ।

विरोचन–(हँसकर) उपमाएँ तो बुरी नहीं हैं; पर उनमें समयकी गतिके अनुसार कुछ परिवर्तनकी जरूरत है । हाथीके साथ अब ऊँटको भी शामिल कर लेना चाहिये, और ऊँची एड़ीके बूट पहननेवालीको अब गजगामिनी न कहकर उष्ट्रगामिनी कहना ज्यादा यथार्थ होगा—चश्मा लगानेवालीको हरिणाक्षी न कहकर साइकल-नेत्रा और उनके दाँतोंको कुन्द-कली न कहकर बल्बदशना कहना चाहिये ।

वारुणी–(रोषके स्वरमें) तुम स्त्रियोंका मजाक उड़ाते हो ?

विरोचन–मजाक तो नहीं उड़ाता, कवियोंकी लापरवाही गिनाता हूँ । कुछ भी हो, वे करते तो हैं तुम्हारा यशोगान ही ।

वारुणी–यह यशोगान है ?

वारुणी–पर स्त्रियोंके रूपपर कवि अपनी बुद्धि खो बैठें तो इसमें स्त्रियोंका क्या अपराध है ?

विरोचन–अपराधकी बात कौन कहता है ? मैं तो पुरुषोंके एहसानकी बात कहता हूँ ।

वारुणी–खैर, और कौन-से एहसान हैं, बताओ तो सही ।

विरोचन–नामहीको ले लो । पुरुषोंने स्त्रियोंके नाम कितने सुन्दर रक्खे हैं । मालती, वासन्ती, माधवी, सरला, सुभाषिणी, मदालसा, मृदुला, ललिता, भगवती, तारा, कमला, किशोरी । वाह ! सभी नाम उच्चारणमें सुगम, सुननेमें मधुर और समझनेमें सुखद हैं ।

वारुणी–(भौं मटकाकर) और पुरुषोंके ?

विरोचन–इक्ष्वाकु, खट्वाङ्ग, मार्कण्डेय, विष्णु, धृतराष्ट्र, धृष्टद्युम्न, प्रद्युम्न, भीष्म, मुग्धानल, क्षोणीन्द्र, फणीन्द्र, कोई नाम ऐसा नहीं, जिसमें दो-चार जगह मुँह न टेढ़ा करना पड़ता हो । सभी उच्चारणमें विषम तो हैं ही, सुननेमें भी कर्णकटु और समझनेमें भी भयानक हैं । बताओ, पुरुषोंने तुमको कोष और व्याकरणपर अधिक अधिकार दे रक्खा है या नहीं ? .

वारुणी–(मुसकराकर) अच्छा, यह एहसान मैं मानती हूँ । और क्या है ?

विरोचन–और सुनो, तुममें कोमलता तो है ही; तुम्हारी वाणीमें ऐसी मिठास है । तुम्हारे हृदयमें प्रेम है । दिनभरकी मेहनतसे चूर थका-माँदा पुरुष जब घर आता है और स्त्री एक बार प्रेमसे देखकर मुसकराकर एक शब्द बोल देती है कि सारी थकावट दूर हो जाती है और एक दमसे स्फूर्ति आ जाती है । तुममें दया है, सहिष्णुता है, भोलापन है, लज्जा है, वशीकरण है और मोहिनी कला है ।

वारुणी–और पुरुषोंमें ?

विरोचन–पुरुषोंमें युद्ध, विवाद, क्रूरता, अभिमान ।

वारुणी–(बात काटकर) चोरी, डकैती, क्रूरता, उजड्डता, खुशामद । कहते जाओ न ?

विरोचन–और भी जो बुरे-से-बुरे विशेषण तुम्हें याद हों, कह डालो । तुम्हारे गुणोंके कारण पुरुषने तो तुमको गृह-स्वामिनी बना रक्खा है । समानाधिकारकी चर्चा तो तुम नाहक ही करती हो ।

वारुणी–अच्छा, और क्या-क्या एहसान हैं ? सुन तो लूँ ।

विरोचन–सुनो, तुम्हारे जिस रूपने पुरुषसे पुरुषका गला कटाया और हजारों लड़ाइयाँ लड़वायीं, उसी रूपको सँवारने-सजानेके लिये वह अनन्त सागर-तलमें डूबकर, प्राणोंका मोह छोड़कर मोती निकालता है, जिससे तुम्हारे कण्ठ और वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ती है । पृथ्वीका पेट चीरकर सोना, चाँदी, हीरा और जवाहर निकालता है, जिनसे लाखों पुरुष सोनार गहने तैयार करते हैं और अपनी आँखें फोड़ते हैं । और

गिनायें ? पुरुष करोड़ों जीवोंकी हत्या करके रेशमी साड़ी तैयार करता है, जिसे पहनकर तुम तितलीकी तरह उड़ती फिरती हो । क्या ये एहसान नहीं हैं ?

वारुणी—यह पुरुषकी मूर्खता है । स्त्रियाँ स्वयं तो अपने रूपपर आसक्त नहीं ।

विरोचन—स्वयं आसक्त कैसे होतीं ? जो स्त्री जितनी ही अधिक रूपवती होती है, वह उतनी ही अधिक मूर्खा होती है; क्योंकि अपनेको कुरूपा समझती है, तभी तो रूपवती कहलानेके लिये वह तरह-तरहके गहने और चटक-मटकवाली साड़ियाँ पहना करती है ।

वारुणी—मैंने कब कहा कि मुझे गहने बनवा दो ?

विरोचन—क्यों झूठ बोलती हो ? मैं जब कभी भोजन करने बैठता हूँ या करके जरा-सा लेट जाता हूँ, तभी तुम प्रतिदिन किसी-न-किसी गहनेके लिये अनुनय, विनय, क्रोध, धमकी, रूठने और आँसू गिरानेका नाटक दिखाने लगती हो । क्या नहीं दिखाती ?

वारुणी—खैर; इसे मैं थोड़ी देरके लिये मान लेती हूँ । और क्या एहसान है ?

विरोचन—एक-दो हैं ? सैकड़ों तो हैं ।

वारुणी—अच्छा, कुछ और बताओ ।

विरोचन—कामका बँटवारा ही ले लो । तुमको घर-गृहस्थीके साधारण काम दिये गये, जिनमें परिश्रम कम पड़ता है । घरमें झाड़ू दे लेना, रसोई बना लेना कौनसे मुश्किल काम हैं ? चक्की चलाना तो घरके अंदरका व्यायाम है, जिससे स्त्रियोंकी तंदुरुस्ती ठीक रहती है । और रसोई तो तुमको ही बनानी चाहिये, क्योंकि तुम्हारा हाथ लगते ही खानेकी चीजोंमें अमृत-जैसी मिठास आ जाती है ।

वारुणी—सचमुच ?

विरोचन—(अपनी ही धुनमें) परिश्रमके बड़े-बड़े काम पुरुषोंने अपने जिम्मे ले लिये हैं? क्या यह एहसान नहीं है?

वारुणी—और ?

विरोचन—तुम समानाधिकार चाहती हो, पर विधाताका विधान तो ऐसा नहीं है ?

वारुणी—विधाताका विधान तुमको कैसे मालूम ?

विरोचन—मालूम क्यों नहीं ? विधाताने तुम्हारा पक्षपात किया है और पुरुषोंके साथ अन्याय किया है ?

वारुणी—(आश्चर्यसे) वह क्या ?

विरोचन—सुनो । उसने स्त्रियोंको पुरुषोंसे अधिक सुन्दर बनाया है । सुकोमल और सुडौल शरीर तुमको दिया ।

वारुणी—इसमें स्त्रियोंका क्या अपराध ?

विरोचन—अपराध तो क्या है ? पर तुम्हारे इसी रूप-रंगको देखकर ही तो पुरुषोंने तुम्हारे साथ रिआयत की है ।

वारुणी—रूप-रंग जिसने दिये, वही जिम्मेदार है ।

विरोचन—जिम्मेदार ब्रह्मा हैं । यदि उन्होंने पुरुषोंकी तरह तुम्हारे भी दाढ़ी-मूँछ दी होती, तो क्या पुरुषोंको तुम इस तरह नाक पकड़कर नचाया करती ? दाढ़ी-मूँछसे युक्त तुम्हारे मुँहसे तो लोग जटायुक्त नारियलके हुक्केको ज्यादा पसंद करते न ?

वारुणी—(तमककर) तुम मेरा अपमान करते हो ? याद पड़ता है, स्वप्नमें भी तुमने यही शिकायत ब्रह्मासे की थी ।

विरोचन—हाँ, मुझे भी याद पड़ता है ।

वारुणी—जरा भरके बालोंपर तुमको इतना मलाल है, तो लो, कलसे मैं ब्रह्माकी भूल दुरुस्त कर दूँगी । मूँछ तुम रक्खो, तुमको पशुओंकी तरह आपसमें लड़ना पड़ता है, ताव देनेके लिये तुमको मूँछ चाहिये । मैं दाढ़ी लगा लूँगी । तब तो तुम स्त्रियोंका समानाधिकार स्वीकार कर लोगे न ? कलसे देखो ।

(वारुणी तेजीसे उठती है और घरके अंदर जाती है । विरोचन थोड़ा ठहरकर यह चौपाई पढ़ता हुआ अंदर जाता है ।)

विरोचन—

नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं । अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया । भय अविवेक अशौच अदाया ॥

[जाता है]

तीसरा दृश्य

समय—प्रातःकाल ।

स्थान—विरोचनके बँगलेमें आँगनका एक बरामदा ।

(बरामदेमें एक छोटी मेजके पास कुरसीपर विरोचन नहा-धोकर साफ कपड़े पहनकर बैठा है । नौकर चाय और खानेकी कुछ चीजें लाकर मेजपर रखकर चला जाता है । वारुणी साड़ी पहने हुए और मुँहपर दाढ़ी लगाये हुए कमरेमेंसे आती है और विरोचनके सामने एक बार खड़ी होकर फिर दूसरी कुरसीपर बैठ जाती है ।)

विरोचन—(देखकर और खिलखिलाकर हँसकर) यह क्या भेस बनाया है ?

वारुणी—कल मैंने कहा था न कि मैं दाढ़ी लगा लूँगी। सो मैंने दाढ़ी लगा ली। अब तो तुम ब्रह्माका पक्षपात नहीं कहोगे?

(विरोचन व्यङ्ग्यपूर्ण दृष्टिसे वारुणीको देखता और खूब हँसता है।)

विरोचन—(स्वगत) यही स्त्री-बुद्धि है, स्वप्नको सत्य करके दिखला रही है। (पढ़ता है) 'का नहिं अबला करि सकै—'

वारुणी—(ताली बजाती है, नौकर आता है, नौकरसे) देखो, यहाँ बरामदेमें बीस-पचीस कुरसियाँ लगा दो और चार-पाँच छोटी मेजें रख दो। (नौकर वारुणीकी दाढ़ी देखकर मुसकराता हुआ जाता है। विरोचनसे) मैंने अपनी कुछ साथिनोंको अभी चायपर बुलाया है। मैं उनके सामने तुमसे प्रतिज्ञा कराऊँगी।

(विरोचन स्त्रीकी चञ्चल बुद्धिपर मन-ही-मन मुसकराता हुआ चायके प्यालेमें चाय उँड़ेलता है और पीता है। वारुणी कमरेके अंदर जाती है। देवियोंका आना शुरू होता है। एक-एक करके पंद्रह-बीस देवियाँ आती हैं और विरोचनको अभिवादन करके कुरसियोंपर बैठती जाती हैं। नौकर जलपान और चाय लाकर मेजोंपर रख जाता है। वारुणी कमरेसे बाहर आती है। उसकी दाढ़ी देखकर सब देवियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ती हैं। कुछ चकित होकर देखने लगती हैं।)

एक देवी—बहन, तुमने यह क्या ढोंग बनाया है?

वारुणी—पुरुषलोग ताना मारते हैं कि ब्रह्माने स्त्रियोंका पक्ष करके दाढ़ी और मूँछ दोनों उन्हींको दे दिया है और उनके साथ अन्याय किया है। ब्रह्माकी भूल ठीक करनेके लिये मैंने दाढ़ी लगा ली है। आप सब भी लगा लें। अब पुरुष हमको समानाधिकार दे दें।

दूसरी देवी—तुमको धन्यवाद है, बहन! तुमने पुरुषोंको मुँह-तोड़ जवाब दिया है। हमलोग दाढ़ी जरूर लगायँगी।

तीसरी देवी—लड़ाई तो कदम-कदमपर लड़नी होगी।

(वारुणी ताली बजाती है। नौकर आता है। वह प्यालोंमें चाय भरने लगता है और वारुणी प्याले उठाकर हर एक देवीके सामने रखती जाती है। जलपानकी दूसरी चीजें मेजपर पहलेसे ही तश्तरियोंमें रखकर कपड़ेसे ढँकी थीं। कपड़ा हटाकर वारुणी और नौकर तश्तरियोंको सबके सामने रखते हैं।)

वारुणी—बहनो! चाय पीनेसे पहले आओ हमलोग अपना सिद्धान्त-गीत गा लें।

(सब उठकर खड़ी हो जाती हैं। वारुणी एक-एक कड़ी गाती है, उसीको सब दुहराती हैं।)

सिद्धान्त-गीत

दे दो हे प्रियतम प्यारे, हमको अधिकार हमारे॥
चक्की चूल्हा तुम ले बैठो, सेंको मन भर रोटी।
हम कुलवंतिन आफिस देखें, गायें राग झिँझोटी॥
दे दो अधिकार हमारे।

(गीत गाकर वारुणी बैठ जाती है। साथ ही सब देवियाँ भी बैठ जाती हैं और सब जलपान करने और चाय पीनेमें लग जाती हैं।)

एक देवी—(विरोचनसे) आप भी आइये।

विरोचन—मैं क्षमा चाहता हूँ; चाय पी चुका हूँ।

दूसरी देवी—हमारे आन्दोलनके बारेमें आपकी क्या राय है?

विरोचन—समानाधिकार ही क्यों? मैं तो सम्पूर्ण अधिकार देनेको तैयार हूँ। पर यह दाढ़ी मुझसे नहीं देखी जायगी। कल मैं तीर्थ-यात्राको चला जाऊँगा।

(सब देवियाँ वारुणीका मुँह देखती हैं)

वारुणी—(उत्तेजित स्वरमें) धमकियोंसे तो आन्दोलन नहीं दब सकता। पर स्त्रियोंको छोड़कर पुरुष जा कहाँ सकते हैं? पुरुषकी नाथ तो ब्रह्माने स्त्रियोंके हाथमें पकड़ा रक्खी है। (थोड़ी देर चुप रहनेके बाद।) बहनो! कलसे घर-घर जाकर बहनोंको समझाओ और संगठन करो। फिर सब एक साथ मिलकर कानूनके अनुसार पूरा समानाधिकार प्रत्यक्ष करके दम लो।

सब—(एक स्वरमें) जरूर-जरूर हम कल सबेरेसे ही आन्दोलन शुरू कर देंगी।

वारुणी—(उठकर) अच्छा तो सबको नमस्ते।

(सब उठ खड़ी होती हैं और नमस्ते कहकर विदा लेती हैं। वारुणी घरके अंदर चली जाती है। नौकर चायके प्याले और तश्तरियाँ उठा ले जाता है। विरोचन थोड़ी देर किसी सोच-विचारमें बैठा रहकर उठकर कमरेमें चला जाता है।)

चौथा दृश्य

समय—संध्याकाल।

स्थान—देहाती मेलेका एक बाजार।

(रंग-बिरंगी धोतियाँ, सलूके, तरह-तरहके गहने पहने और

माथेपर छोटी-बड़ी टिकुलियाँ दिये ग्रामीण स्त्रियाँ और कुछ साफ-सुथरी पोशाकोंमें अच्छे परिवारोंकी स्त्रियाँ बाजारमें घूम-घूमकर सौदा खरीद रही हैं। कपड़े, काँसे और राँगेके गहने, कंठियाँ, माला, धागे, सूतके फुलड़े, पिपिहरियाँ, खिलौने, साग-तरकारियाँ और देहाती फलोंके दूकानदार जगह-जगह बैठे हैं। दूकानदार और खरीदार ज्यादातर स्त्रियाँ ही हैं।)

एक सुसभ्य स्त्री—(फल बेचनेवालीसे) आजकल गोपीनाथ नहीं दिखायी पड़ता। पहले तो वह फल और तरकारियाँ देने प्रायः रोज आया करता था।

फल बेचनेवाली—क्या कहूँ बहन! हमारे गाँवमें अब यह चाल चल गयी है कि पुरुष आटा पीसें, रोटी बनाया करें, बर्तन माँजें और लड़के खिलायें। यह देखकर उन्होंने कहा, जब घरमें रहते हुए भी रोटी बनानी पड़ेगी तो परदेश क्यों न चला जाऊँ? वहाँ तो पिसा-पिसाया आटा मिलेगा। परदेशमें तो अपने हाथसे रोटी बनानी ही पड़ती है। यह कहकर वे परदेश चले गये। अब घर-गृहस्थीका कुल बोझ मुझपर आ पड़ा है। थक जाती हूँ, सँभलता नहीं, बहन! क्या करूँ?

सुसभ्य स्त्री—यह हवा तो आसपासमें भी फैल रही है। गाँव तो मर्दोंसे सूने हुए जा रहे हैं। क्या कहा जाय?

(दाढ़ीवाली देवियोंका प्रवेश। सब एक स्वरमें, 'हमको अधिकार हमारे, दे दो हे प्रियतम! प्यारे।' वाला सिद्धान्त-गीत गाती हुई बाजारमें टहल रही हैं। खरीदार और दूकानदार सबका ध्यान उनकी ओर खिंच जाता है। कुछ लोग हँस रहे हैं; कुछ आश्चर्यसे देख रहे हैं।)

वारुणी—(स्त्री-दूकानदारों और खरीदारोंके मध्यमें खड़ी होकर) बहनो! पुरुषोंने हमें गुलाम बना रक्खा है। सबेरे जब मीठी-मीठी नींद आ रही होती है, तब सबसे पहले उठो, उनके लिये बिछौनेपर पड़े-पड़े पीनेकी चाय तैयार करो, फिर जलपानकी तैयारी करो, फिर दस बजेके पहले उन्हें खाना बनाकर खिला दो, तब वे आफिस जायँगे। मानो स्त्री उनकी खरीदी हुई दासी है।

एक स्त्री दूकानदार—यह कहाँका हाल बता रही हैं? हमारे घरोंमें तो चाय बुखारमें पी जाती है।

दूसरी स्त्री दूकानदार—इसके मर्दको रोज बुखार आता होगा।

तीसरी स्त्री दूकानदार—आफिस क्या है? कोई जुआ खेलनेकी जगह होगी।

चौथी स्त्री दूकानदार—मेरे घरमें तो कोई आफिस जानेवाला है ही नहीं।

वारुणी—सुनो, सुनो, तुम्हारे ही लाभकी बात मैं कह रही हूँ। तुम मर्दोंकी गुलामी करना छोड़ दो। कह दो वे चक्की चलायें, चूल्हा फूँकें, बच्चें खेलायें, पानी भरें, झाड़ू दें, बरतन माँजें।

भीड़की एक स्त्री—फिर हमलोग क्या करें?

वारुणी—मर्दोंपर हुकूमत करो, पढ़ी-लिखी हो तो आफिस जाओ। जो मर्द करते हैं, सो तुम करो, घूमो, फिरो, नाचो-गाओ, दावतें खाओ, मर्द और स्त्री दोनोंके अधिकार बराबर हैं, तुम दबकर क्यों रहो? अपने अधिकारोंके लिये उठ खड़ी हो। मर्द पसंद न हो तो उसे तिलाक देकर दूसरा चुन लो। तुम पशु नहीं हो कि एक खूँटेसे बाँध दी जाओ तो जन्मभर उसीमें बँधी रहकर दुःख भोगती रहो। संसारके सारे सुख जो पुरुष भोगते हैं, स्त्रियोंको भी उन्हें भोगनेका पूरा अधिकार है। चेतो बहनो! चेतो, अपना अधिकार पहचानो।

मेलेकी दूसरी स्त्री—(पास खड़ी स्त्रीसे) जान पड़ता है इसको इसके मर्दने मार-पीटकर घरसे निकाल दिया है। तभी यह झुँझलायी हुई है। पर इसने दाढ़ी क्यों लगा रक्खी है? मुँहपर कोई कलङ्क लगा होगा, इसलिये उसे छिपाये फिरती है।

मेलेका एक पुरुष—गाँव तो बदसूरत स्त्रियोंसे और भी बदसूरत बन गये हैं। उन्हें उनके पतियोंने छोड़ दिया और सुन्दरी स्त्रियोंने कुरूप पतियोंको छोड़ दिया। दोनों अब स्वतन्त्र होकर मिलते-जुलते और मनमानी करते हैं। सड़कोंपर भूतिनें और चुड़ैलें ही मर्दोंकी खोजमें इधर-उधर भटक रही हैं।

मेलेका दूसरा पुरुष—गाँव तो बाहरसे गंदे थे ही, भीतरसे भी हो रहे हैं। गर्भपात कितने हो रहे हैं, इसका तो कुछ ठिकाना ही नहीं।

पहला पुरुष—और बच्चोंका जन्म भी तो कम होने लगा है।

(वारुणी और उसकी साथिनें आगे जाती हैं। दर्शक उन्हींकी चर्चामें लगे हैं। एक गौर-वर्ण सुन्दर युवकका प्रवेश। उसके पीछे एक वृद्ध और एक युवक और उनके पीछे एक साँवले रंगकी युवतीका प्रवेश। वृद्ध आगेवाले युवकको हाथ पकड़कर खड़ा कर लेता है।)

वृद्ध—मान जाइये, आप मेरे दामाद हैं; मैं आपके पिताके

समान हूँ; वृद्ध हूँ; मुझे अब थोड़े ही दिन जीना है, मुझपर दया कीजिये, मेरी कन्याके अपराधको क्षमा कीजिये और घर लौट चलिये।

युवक—यह सही है, आप मेरे पिता-तुल्य हैं, पर मैं पुरुष हूँ, आत्माभिमान रखता हूँ; सो भी उस स्त्रीका किया हुआ अपमान, जिसे मैं प्राणकी तरह रखता था। मैंने कभी उसे एक भी कटुवचन नहीं कहा। अब वह समानाधिकार-आन्दोलनमें भाग लेने लगी है। कितने घर इसने चौपट कर दिये, घर-घरमें स्त्री-पुरुषके बीचमें आग लगा दी, दाढ़ी लगाती है, कहती है, चूल्हा फूँकनेसे इसकी दाढ़ी जल जायगी, इसलिये मैं रोटियाँ सेकूँ। दिनभर समानाधिकारके लिये विवाद किया करती है। दिनभरका थका-माँदा जिस घरमें मैं शान्तिके लिये बड़े उत्साहसे घुसता था, अब उसमें पैर रखते मुझे डर लगता है।

दूसरा युवक—बहनोई साहब! मेरी बहन अपनी भूल समझ गयी है, अब आप कोई शिकायत न पायेंगे।

युवक—(अपनी ही धुनमें) अंग्रेजोंने अपनी भाषाद्वारा अधिकारवाला यह रोग हमारे देशमें और हमारे घरोंमें फैलाया है। अंग्रेजी पढ़ी-लिखी लड़कियाँ अधिकारके लिये दौड़ पड़ी हैं और कर्तव्य भूल गयी हैं। कर्तव्यकी तो सीमा है, अधिकारकी सीमा ही नहीं। कहाँतक दिया जायगा? मैं घरमें नहीं रहूँगा, स्त्रीको छोड़ रहा हूँ। वह घरमें पूरी अधिकारिणी बनकर रहे। मैं उसे दुःख देना नहीं चाहता।

(मेलेके कुछ स्त्री-पुरुष घेरकर खड़े हो जाते हैं।)

वृद्ध—(युवतीसे) मुझे कुछ दिन और जीने देना चाहती है, तो क्षमा माँग। यह सच है कि कर्तव्यकी सीमा है, अधिकारकी सीमा नहीं। कर्तव्य-पालन करनेवाला समस्त अधिकारोंको आप-से-आप प्राप्त कर लेता है। क्षमा माँग और मनाकर ले जा।

(युवती युवकके सामने हाथ जोड़कर खड़ी होती है।)

युवती—आप मेरी भूलोंको क्षमा कीजिये और घर चलिये। मुझे आपकी छायामें सभी अधिकार प्राप्त हैं।

(युवक चुपचाप खड़े-खड़े कुछ सोचता है।)

एक वृद्ध दर्शक—यही हाल गाँव-गाँवमें हो रहा है। किसी घरमें सुख और शान्ति नहीं रह गयी। एक पहिया पूरबको चल रहा है, दूसरा पच्छिमको, तो गृहस्थीकी गाड़ी आगे कैसे सरके?

एक वृद्ध—(युवकसे) जाओ, बेटा! घर लौट जाओ। तुमने इसका हाथ पकड़ा है, तुम मर्द हो, इसे छोड़ नहीं सकते।

एक दर्शक—

तुलसी बाँह सपूतकी, जो धोखेहुँ छुइ जाय।
आपु निबाहैं जनम भरि, लरिकनसे कहि जायँ॥

वृद्ध (श्वशुर)—(युवककी ओर इशारा करके दर्शकोंसे) ये मेरे दामाद हैं। सब तरहसे योग्य हैं, शिक्षित हैं, सदाचारी हैं, मेरी कन्या इनके साथ बहुत सुखी थी। कई दिन हुए मेरी कन्याने पत्र भेजा कि ये घर छोड़कर कहीं चले गये। पत्र पढ़ते ही मैं और (दूसरे युवककी ओर इशारा करके) कन्याका यह भाई, दोनों दौड़ पड़े। नाते-रिश्तेमें सर्वत्र खोजा, नहीं मिले, तब सोचा कि शायद मेलेमें मिल जायँ। भगवान्‌की कृपा और कन्याके भाग्यसे ये मिल गये। अब आपलोग समझाकर इनको घर भेजिये। चार रोजसे मैंने और मेरे लड़केने कुछ खाया-पिया नहीं। बसा हुआ घर उजड़ रहा है।

(वृद्धके आँसू बहते हैं और वह दुपट्टेसे पोंछता है।)

एक दूसरा वृद्ध—जाओ बेटा! घर जाओ। अपने वृद्ध ससुरका सम्मान करो; तुम स्वयं अपने कर्तव्यका पालन करो। अधिकार पहले और कर्तव्य पीछे, यह गृहस्थीमें नहीं चल सकता।

एक पण्डितजी—गृहस्थी तो छोटा-सा एक राष्ट्र है, जिसमें पिता राष्ट्रपति, माता राष्ट्र-लक्ष्मी, पुत्र मन्त्री और स्त्रियाँ, बच्चे, नौकर, हलवाहे, गाय-बैल, तोता-मैना, कुत्ते-बिल्ली—सब प्रजा हैं। राष्ट्रमें सब अपना-अपना धर्म सच्ची निष्ठासे पालन करेंगे, तभी सुख मिलेगा। कर्तव्य ही अधिकार है। जाओ भाई, घर जाओ। पत्नी सुशीला है, क्षमा माँगती है, स्वीकार कर लो।

युवती—(युवकका हाथ पकड़कर) अब घर चलिये। घरमें माताजी भी उपवास कर रही हैं। टोला-महल्ला सब दुखी हैं। सब मुझे ही कोसते हैं। मेरा तो जीना भारी हो रहा है। (आँसू गिराती है।)

(युवक वृद्धकी ओर देखकर आगे-आगे चलनेका संकेत करता है। वे सब जाते हैं।)

दर्शक—(आपसमें) पति-पत्नी दोनों समझदार हैं। इसी आन्दोलनने यह विद्रोह पैदा कर दिया है। यह आग ऐसी

भड़क रही है कि पता नहीं, कहाँ जाकर शान्त होगी।

(सब जाते हैं। बाजार उठ जाता है।)

पाँचवाँ दृश्य

समय—संध्या।

स्थान—एक लंबा-चौड़ा कमरा।

(कमरेमें दरी बिछी है। दरीपर एक तरफ कालीन बिछे हैं। कालीनोंपर बेल-बूटेदार चादरें और कई छोटे-बड़े मसनद पड़े हैं। सिरेपर मसनदोंके सहारे सुन्दर रूप-रंग, वेष-भूषावाले पाँच कवि एक पंक्तिमें बैठे हैं। उनके सामने साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए बहुत-से श्रोता बैठे हैं। कवियोंकी दाहिनी ओर भड़कीली पोशाकमें वह रईस बैठे हैं, जिन्होंने यह समारोह आयोजित किया है। दाढ़ी लगाये हुए वारुणीका प्रवेश।)

रईस—(उठकर) आइये, श्रीमती वारुणी देवीजी! आपकी ही प्रतीक्षा की जा रही थी।

वारुणी—(खड़े-खड़े) आपका निमन्त्रण-पत्र पाकर मुझे आश्चर्य हुआ; क्योंकि यहाँका तो एक नियम था—दिनभर कवि-गोष्ठी हुआ करती थी। आज यह व्यतिक्रम कैसे हुआ?

रईस—बैठ जाइये, अभी बताता हूँ। (वारुणी सभापतिके सामनेवाली पङ्क्तिमें बैठ जाती है। श्रोताओंसे) श्रीमती वारुणीजी और सज्जनो! आपको यह सुनकर खेद होगा कि हमारे नगरके पाँच सुप्रसिद्ध कवि सर्वश्री कुमुद, मयङ्क, सुधांशु, कलाधर और मृगाङ्क हमारा नगर छोड़कर जा रहे हैं। हमने बहुत समझाया, अनुनय-विनय किया, पर उनको जो विरक्ति हुई है, उसे हटानेमें हम सर्वथा निष्फल रहे। उन्हींके स्वागतमें, उनको नगरवासियोंकी ओरसे खेदपूर्वक विदाई देनेके लिये मैंने यह गोष्ठी निर्धारित दिनसे पहले की है। हमारे इन पीयूषवर्षी कवियोंने वर्षोंसे नगरवासियोंका मनोरञ्जन किया है। इनका वियोग हमारे लिये निश्चय ही खेदजनक है। अब आप परस्पर वार्तालाप करके कवि महानुभावोंपर यहीं बसे रहनेके लिये कुछ प्रभाव डाल सकें, तो प्रयत्न करके देख लीजिये।

(रईस बैठ जाते हैं।)

वारुणी—कवि महानुभाव क्या विरक्तिका कारण बता सकते हैं?

कुमुद—कवि-गोष्ठीमें कविता सुनाना तो एक बहानामात्र था। वास्तवमें मैं तो सौन्दर्योपासक था, आराध्य मनोहारिणी प्रतिमाएँ, जो कवि-गोष्ठीमें आया करती थीं; पर अब तो देवियाँ प्रायः सभी दाढ़ी लगाने लगीं जो मुझे ऐसा लगता है, मानो चन्द्रदेवके हाथमें झाड़ू पकड़ा दी गयी है। मुझे दाढ़ीसे घृणा है, इससे मैं किसी और नगरमें बसने जा रहा हूँ, जहाँ सदा शुद्ध चन्द्रदेवके दर्शन होंगे। (बैठ जाता है।)

मयङ्क—समानाधिकार-आन्दोलन स्त्रियोंके मूर्ख होनेका एक प्रबल प्रमाण हो गया; क्योंकि उनको पुरुषोंसे कहीं अधिक अधिकार पहलेसे ही प्राप्त हैं, जिन्हें वे कम करके समान किया चाहती हैं। मैं ऐसी मूर्खतासे घृणा करता हूँ।

सुधांशु—जब स्त्रियाँ लकड़ी चीरेंगी, सड़कें कूटेंगी, ठेला ढकेलेंगी, ईंटें ढोयेंगी और गाय-भैंस चरायेंगी, तब तो धूपके मारे उनके शरीरकी कोमलता और मुखकी सुन्दरता ही नष्ट हो जायगी; तब मैं यहाँ रहकर क्या करूँगा? इससे मैं तो भविष्यकी चिन्तासे व्याकुल होकर भागा जा रहा हूँ। (बैठ जाता है।)

कलाधर—सैकड़ों कुरूपा स्त्रियोंको पुरुषोंने और हजारों कुरूप पुरुषोंको स्त्रियोंने उनके चरित्रपर दोष लगाकर उन्हें तिलाक दे दिया है। अब किसीपर कोई नियन्त्रण रह नहीं गया है; वे स्वतन्त्ररूपसे अलग-अलग अनाचारके केन्द्र भी बन गये हैं। मुझे धर्मका यह पतन देखकर दुःख होता है; इससे मैं इतनी दूर चला जाना चाहता हूँ, जहाँ ये दृश्य ही दिखायी न पड़ें, बल्कि इनकी चर्चा भी सुनायी न पड़े। (बैठ जाता है।)

मृगाङ्क—मैं पुरुषोंका तिरस्कार सह सकता हूँ, पर स्त्रियों-का नहीं; क्योंकि वे मेरी मातृ-जातिकी हैं। आज इस असामयिक, अवाञ्छित और केवल अनिष्टकारी आन्दोलन और उसके समर्थक कानूनने दोनोंमें बदलेकी भावना भर दी है और हजारों घरोंकी गृहस्थीमें दुःख ढकेल दिया है। एक सुपात्र स्त्री घरके खंभेसे भी ज्यादा मजबूत होती है, आज वह खंभा टूट रहा है। मैं रक्तके आँसू रोता हुआ इस असह्य वेदनासे बचनेके लिये दूर चला जाऊँगा। (बैठ जाता है।)

वारुणी—(बैठे-बैठे) तो मैं ही अपने प्यारे कवियोंके देश-निकालेका कारण बन रही हूँ। मुझे हार्दिक दुःख है। और इस बातका भी दुःख है कि शिक्षित लोग भी अभीतक स्त्रियोंके समानाधिकारकी माँगको गलत समझ रहे हैं। वे भी स्त्रियोंको पुरुषोंकी दासी बने रहनेकी रूढ़िका समर्थन करते हैं!

एक श्रोता—स्त्रियोंको दासी तो कोई नहीं समझता।

कामका बँटवारा उनकी शारीरिक योग्यता और स्वभावके गुणोंके अनुसार किया गया है। स्त्रियाँ तो क्षमा, दया और स्नेहकी साक्षात् दैवी मूर्तियाँ हैं। उनको ऐसे काम दिये गये हैं, जिनमें वे अपने इन गुणोंका उपयोग करें और गृहस्थीमें सुखोंकी वृद्धि करें।

दूसरा श्रोता—सौन्दर्यसे स्त्री अभिमानी बनती है, उत्तम गुणोंसे प्रशंसाकी अधिकारिणी बनती है, किंतु लज्जासे वह 'देवी' बन जाती है। हम ऐसी देवियोंका निरादर कैसे कर सकते हैं?

तीसरा श्रोता—खेद है, कुछ पढ़ी-लिखी बहनोंने उस लज्जाका त्याग कर दिया है; आजकलके गृह-कलहका मूल कारण यही है।

चौथा श्रोता—हमारी माँ और बहनें भी स्त्रियाँ ही हैं। हम तो उनके स्नेह-सागरमें एक लंबे जीवनतक डूबे ही रहते हैं। उनको दासी कौन समझता है? स्त्री तो जंगलको भी राजमहलसे सुन्दर बना देती हैं।

पाँचवाँ श्रोता—स्वर्गमें कौन-सी ऐसी चीज है, जो स्त्रीमें नहीं है। अद्भुत तेज, पवित्रता, सत्य, अनन्त आनन्द और अमर प्रेम सभी तो उसमें हैं। उनका निरादर कौन करता है?

छठा श्रोता—तारागण आकाशकी कविता हैं, तो स्त्रियाँ पृथ्वीकी। प्रेम उनका दिव्य प्रकाश है, जो घरभरको प्रफुल्लित किये रहता है।

रईस—(हँसकर) मेरी स्त्री तो जब क्रोधमें होती है, तब मेरी ओर नहीं देखती। उसे विश्वास है कि मेरी ओर देखेगी तो उसकी क्रोधाग्नि प्रेमका जल बनकर बह जायगी।

(वारुणी चुपचाप सिर झुकाये सुन रही है।)

वारुणी—आप सज्जनोंके मुखसे स्त्री-जातिकी प्रशंसा सुनकर मेरा रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठा है। पर प्रशंसाके अनुकूल व्यवहार भी होता हुआ दिखायी पड़ता तो इस आन्दोलनकी आवश्यकता ही न रहती।

एक श्रोता—अब आप अपने कवियोंको मना लीजिये। उनके चले जानेसे नगरकी शोभा चली जायगी।

वारुणी—उनके जानेका मुझे दुःख है। पर मैं अपना आन्दोलन तो नहीं बंद कर सकती। स्त्री-हठ तो आप जानते ही हैं। बिना अन्तिम सीमापर पहुँचे मैं नहीं रुकूँगी। समानाधिकारका कानून बन गया है, उसका सर्वत्र पालन होने लगेगा, तभी मुझे शान्ति मिलेगी।

दूसरा श्रोता—अयोग्यको तो कहीं भी सुख नहीं मिलेगा, चाहे स्त्री हो या पुरुष। सुख स्वभावकी सरलता, त्याग और सहिष्णुतासे मिलेगा, कानूनसे कभी नहीं।

वारुणी—(उपेक्षासे) देखा जायगा।

कुमुद—(आवेशमें) मैं दाढ़ीदार मुखोंको देखना तो क्या, उनपर थूकना भी नहीं चाहूँगा।

रईस—कविजी! शान्त होइये। आज हमारी-आपकी अन्तिम संध्या है, इसे हर्षोल्लासहीमें बीतने दीजिये।

वारुणी—यह कविजीकी शिष्टता है। मुझे तो अभी इससे भी कठिन परीक्षामें उतरना है।

रईस—सज्जनो! आजके कार्यक्रमके अनुसार हमलोग सङ्गीतका भी कुछ आनन्द ले लें, फिर अपने प्यारे कवियोंके साथ जलपान करके उन्हें प्रेमपूर्वक विदा करें। (एक तान-पूरेवाले गायकसे, जो श्रोताओंमें आगे बैठा है।) अब आप कुछ सुनाइये।

गायक—(बेला बजाकर गाता है।)

समझकर चलना जग है विराना।
किसने दिया है और दिया क्यों?
कोई पता नहीं कोई ठिकाना॥ समझ०॥
कब लेगा वह छीन अचानक
जोगी जती मुनि कोई न जाना॥ समझ०॥
जो मन माँगे झटपट कर ले,
फिर न सुनेगा कोई बहाना॥ समझ०॥
ऐसे जगतका कौन भरोसा
सुख देकर सुख ले ले दिवाना॥ समझ०॥

(गायक गान समाप्त करके चुप हो जाता है।)

कलाधर—(रईससे) हमें दूसरे मित्रोंसे भी मिलना है, कृपया जल्दी कीजिये।

सुधांशु—(रईससे) हमें बड़ी खुशी है कि श्रीमती वारुणी देवीजी यहीं मिल गयीं, नहीं तो, हमलोग इनसे भी विदा लेने इनके घरपर जाते; क्योंकि ये भी कविगोष्ठीकी सदस्या थीं।

वारुणी—मुझे लज्जित मत कीजिये। मेरा आन्दोलन सफल होगा तो इस गोष्ठीकी चमक कहीं ज्यादा बढ़ जायगी, जब पुरुषोंसे अधिक स्त्रियाँ भी भाग लेने लगेंगी। और तब मैं स्वयं आकर आप सबको मना लाऊँगी। आज तो मैं क्षमा ही माँगती हूँ।

रईस—(उठकर) सज्जनो, हमारे कवि महानुभावोंको अभी अन्य मित्रोंसे मिलने जाना है। इसलिये जल्दी है। अब यहाँका मिलन-समारोह समाप्त किया जाता है। अब आप सब कृपा करके दूसरे कमरेमें पधारिये। वहाँ जलपानका प्रबन्ध है। वहींसे हमलोग अपने कवि महानुभावोंको प्रेम और सम्मानपूर्वक शुभ कामनाओंके साथ विदा करेंगे।

(सब उठते और जाते हैं। रईस कवियोंको साथ लेकर जाता है।)

छठा दृश्य

समय—दोपहर।

स्थान—रास्तेके किनारेका एक बाग।

(बागमें पेड़ घने लगे हैं। छाया काफी है। वारुणी रास्तेके किनारेके एक घने पेड़की छायामें एक पेड़की मोटी जड़पर बैठकर सुस्ता रही है।)

वारुणी—(आप-ही-आप) दिन बीत गये, महीने बीत गये, वर्ष बीतनेको है, स्त्री-जातिके उद्धारका कोई सरल रास्ता अभीतक दिखायी नहीं पड़ा। गाँव-गाँव फिर रही हूँ। पैरोंमें छाले पड़ गये, जीभ घिस गयी। इतनी मेहनतसे। स्त्रियोंका कण्ठ खुलने तो लगा है, वे अपने अधिकारोंको समझने भी लगी हैं, पर शिक्षा न होनेसे उनका अज्ञान जल्द दूर नहीं होगा। अभी वे मेरी बातें सुनकर भड़कती हैं। पुरुषोंका आतङ्क उनके सिरमें जड़ पकड़े हुए है। उसे उखाड़ फेंकनेमें अभी काफी समय लगेगा। पर कोई परवा नहीं। मेरा उत्साह अदम्य है, मैं पुरुषोंका मान-मर्दन करके ही दम लूँगी।

(चार देवियाँ एक-दूसरेके पीछे चलती हुई आती हैं और वारुणीको बैठी हुई देखकर खड़ी हो जाती हैं। दाढ़ी किसीके नहीं है।)

वारुणी—(पहलीसे) तुमलोग गठरियाँ बाँधे कहाँ जा रही हो? क्या समानाधिकार-आन्दोलनका प्रचार करने जा रही हो?

पहली—मुझे मेरे पतिने यह कहकर तलाक दे दिया कि तुम्हारा रंग काला है।

वारुणी—अदालतने इस कारणको मान कैसे लिया?

पहली—अदालतको तो यह बताया गया कि मेरी चाल-चलन खराब है।

वारुणी—प्रमाण?

पहली—पुरुष तो सब एक साथ हो गये हैं। एकने गवाही दी कि यह मेरे पास आती-जाती रही।

वारुणी—(घृणाका भाव प्रकट करते हुए) बेशर्मीकी हद हो गयी। (दूसरीसे) तुम्हारा क्या हाल है?

दूसरी—मुझे भी तिलाक मिल गया। मेरे पतिने कहा कि तुम्हारी नाक चपटी है और अदालतमें मुझे भी बदचलन साबित किया गया।

वारुणी—(तीसरीसे) तुम्हारा भी ऐसा ही हाल हुआ होगा?

तीसरी—हाँ, मेरे पतिने यह कहकर मुझे तिलाक दे दिया कि बहुत मोटी हो, इससे तुम्हारे संतान नहीं होती। और अदालतमें वही दुराचारका आरोप।

वारुणी—(चिन्तित-सी होकर चौथीसे) तुम्हारा असली अपराध क्या था?

चौथी—ब्याहके बाद मुझे चेचक निकल आयी थी, इससे चेहरा खराब हो गया था और मैं दाढ़ी भी लगाने लगी थी। पतिने कहा—मुझे तुम नापसंद हो और अदालतमें जाकर मुझपर दुराचारिणी होनेका अपराध लगाकर तिलाक दे दिया।

वारुणी—तुम्हारी दाढ़ी क्या हुई?

चौथी—उसे भी मैं उसी घरमें फेंक आयी हूँ। लगाकर निकलनेसे गाँवोंके लड़के पीछे लग जाते थे और चिल्लाते थे, भूतनी है, भूतनी।

(वारुणी कुछ क्षण चुप रहती है।)

वारुणी—(आप-ही-आप) समानाधिकार-आन्दोलनके रास्तेमें क्या-क्या बाधाएँ हैं, एक-एक करके सब बाहर आ रही हैं। सबका हल निकालना पड़ेगा। (प्रकट) तब तुम-लोग भागी कहाँ जा रही हो?

चौथी—स्टेशनपर जा रही हैं। वहाँसे अपने-अपने माता-पिताके घर चली जायँगी। अब शरणकी जगह तो वहीं है।

वारुणी—तुम सबको अपने-अपने घरोंहीमें डटकर रहना चाहिये था। उस घरकी सम्पत्तिमेंसे तुमको भी तो कुछ मिलेगा? अदालतने कुछ तो दिलाया ही होगा?

पहली—दिलाया है, पर घरमें तो हम घुसने ही नहीं पातीं।

दूसरी—मैंने बड़ा अपमान किया था, अब किस मुँहको लेकर उनके पास जाऊँ ?

तीसरी—मैंने तो दो उपवास किये, कोई एक घूँट पानीके लिये भी पूछने नहीं आया।

चौथी—महल्लेमें निकलती हूँ, तो जो देखता है, वही घृणा करता है और दो-चार जली-कटी सुना देता है।

वारुणी—पुलिसमें जाती, अदालतमें जाती, सरकार तो रक्षा करनेके लिये हर वक्त तैयार रहती है।

पहली—यह कहनेकी बात है। कानून इतना सस्ता नहीं है कि गरीब भी उससे लाभ उठा सकें।

दूसरी—वकीलकी फीस हम कहाँ पायेंगी ?

तीसरी—हमें वकील भी तो नहीं मिलते।

चौथी—मैं एक वकीलके पास गयी थी, वह मुझे दुराचारिणी जानकर घृणा प्रकट करने लगा, मैं लौट आयी।

वारुणी—(गम्भीर होकर आप-ही-आप) इस रास्तेमें काँटे बहुत हैं। (प्रकट आह भरकर) पुरुष इतने चरित्रहीन हो गये हैं कि उनके साथ स्त्री-जातिका भी पतन हो रहा है। (सबसे) अच्छा, तुमलोग जाओ। मैं कोई-न-कोई उपाय करूँगी कि कम-से-कम तुम्हारे हिस्सेकी सम्पत्ति तो तुमको मिल जाय। (जिज्ञासाके स्वरमें) इन गठरियोंमें क्या है ?

पहली—घरवालोंने जो-जो चीजें हमारे सामने फेंक दीं, उन्हें ही बटोरकर लिये जा रही हैं।

(चारों नमस्ते करके जाती हैं। एक कुरूप पुरुष सिरपर एक गठरी लिये हुए आता है। छाया देखकर वारुणीके पास बैठ जाता है।)

वारुणी—तुम कहाँ जा रहे हो, भाई !

पुरुष—स्त्रीने मुझे घरसे निकाल दिया, अब मैं मथुरा, वृन्दावन जाऊँगा।

वारुणी—क्यों निकाल दिया ?

पुरुष—स्त्रीने कहा, तुम बड़े कुरूप हो, तुम्हारा रंग काला है, नाक मोटी है, गंदगीसे रहनेकी आदत है और फिर अदालतमें ले जाकर मुझपर यह अपराध लगा दिया कि मैं दुराचारी हूँ। एक स्त्रीने आकर गवाही भी दे दी कि मेरे यहाँ आते-जाते हैं।

वारुणी—सच क्या है ?

पुरुष—मैं अपनी स्त्रीके समान सुन्दर नहीं हूँ जरूर और मानता हूँ कि कुरूप हूँ, पर दुराचारी बिल्कुल नहीं हूँ। युवावस्थामें मेरा विवाह हुआ था। घरकी गरीबीके कारण मैंने पढ़ना बीचहीमें छोड़कर सरकारी नौकरी कर ली और अपने परिश्रम और सचाईके बलपर बढ़ता-बढ़ता मैं अफसर बन गया। उसी बीचमें माता-पिताका देहान्त हो गया था। मैं ही घरका मालिक था, मैं ही कमाता था। हम दोनोंमें बड़ा प्रेम था। मेरी स्त्री मेरे सुख-दुःखका सदा ध्यान रखती थी।

वारुणी—स्त्री भी पढ़ी-लिखी है ?

पुरुष—हाँ, बी० ए० तक। उसके पिता सम्पन्न व्यक्ति हैं, उन्होंने उसके इच्छानुसार बी० ए० तक पढ़ा दिया था।

वारुणी—फिर तुम दोनोंमें फूट कैसे हुई ?

पुरुष—समानाधिकारके आन्दोलनसे, तिलाक देनेका अधिकार मिल जानेसे। स्त्रीने कहा—तुम घरका काम करो, आफिसका काम मैं देखूँगी। मैंने इस्तीफा दे दिया, सरकारने वही जगह उसे दे दी।

वारुणी—बुरा क्या हुआ ? पैसे तो घरमें बराबर ही आते रहे !

पुरुष—बुरा हुआ या भला, यह तो मैं समझ ही न सका। पैसा जरूर बराबर आता रहा, पर घरमें अधिकारकी चर्चा आ गयी और कर्तव्य निकल गया।

वारुणी—तुम घरमें रहकर क्या करते थे ?

पुरुष—बहुत सबेरे उठकर दूध लाता, चाय तैयार करता, एक प्याला चाय स्त्रीको बिछौनेहीपर ही देता, 'सरकार ! चाय तैयार है'—कहकर जगाता, फिर बाजार जाता, बाजारसे साग-तरकारी लेकर आता, तब चूल्हा जलाता, जो खाना स्त्री माँगती, उसे तैयार करता, फिर पानी भरकर रख देता, स्त्री नहाती, कपड़े उठाकर देता, पहनती, फिर खाना खातीं, थोड़ा आराम करतीं, तबतक मैं उनके बूटमें पालिश कर देता। फिर आफिसके कपड़े पहनकर वे आफिस चली जातीं और मैं अपने खाने-पीनेमें लगता। चार बजे वे दो-चार मित्र-मित्राणियाँ लेकर आतीं, मैं सबको चाय पिलाता। इसके बाद वे कहीं बेडमिन्टन खेलने चली जातीं और मैं रातकी रसोईमें लग जाता।

वारुणी—तुम्हारा तो बिल्कुल जीवन ही बदल गया होगा। तुमसे वह प्रेमसे बोलती नहीं थी ?

पुरुष—उसके प्रेमकी तो मेरी आशा ही मर गयी थी।

दिनमें दो-चार बार मैं तो उसका मुँह देखकर ही ऐसा तृप्त हुआ रहता था कि मान-अपमान मैं कुछ समझता ही न था। क्या कहूँ ?

रहिमन एक दिन वे रहे, बीच न सोहत हार।
हवा जो ऐसी वहि गई, बीच न परे पहार॥

(आह भरकर) दिनभर हुक्म सुनते-सुनते अब हुक्म सुननेकी ही मेरी आदत पड़ गयी है। आज सवेरेसे हुक्म सुननेके लिये मैं छटपटा रहा हूँ। क्या करूँ ?

वारुणी—तुम तो पूरा घर सँभाले हुए थे, तुमको उसने छोड़ा क्यों ?

पुरुष—अपने मित्रोंमें वह मुझे अपना पति कहनेमें लजाती थी; क्योंकि उसके सामने सचमुच मैं बहुत कुरूप हूँ।

वारुणी—फिर तुमने घर क्यों छोड़ दिया ? तुमको तो घरकी सम्पत्तिमेंसे भाग मिलता ?

पुरुष—अब अभिमान आ गया है। स्त्रीका दास बनकर पुरुष क्यों रहे ? घरकी सम्पत्ति वही भोगे।

वारुणी—अब कहाँ जाओगे ?

पुरुष—अब किसी तीर्थमें जा बसूँगा। मथुरा-वृन्दावन जानेका विचार है।

वारुणी—अयोध्याजी क्यों नहीं जाते ? वह भी तो तीर्थ है ?

पुरुष—वहाँ मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका राज्य है। वहाँ कड़ी तपस्या करनी पड़ेगी।

वारुणी—और मथुरा-वृन्दावनमें ?

पुरुष—वहाँ रसिक-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी-का राज्य है। वहाँ निभ जाऊँगा।

वारुणी—अभी रूप-दर्शनकी लालसा नहीं गयी ?

पुरुष—जो रूप देखता रहा हूँ, वह इतनी जल्दी भुलाया नहीं जा सकता।

वारुणी—दूसरा विवाह कर लो ?

पुरुष—विवाह एक बार ही होता है। मनुष्य अमर नहीं, पर धर्म अमर है। जिस धर्मका हाथ पकड़ लिया, उसे इस जीवनमें नहीं छोड़ूँगा।

वारुणी—तुम भी स्त्रीको तिलाक दे सकते थे ?

पुरुष—मैं नहीं दे सकता था, मैं पुरुष हूँ। किसीका हाथ पकड़ लेनेपर मैं छोड़ना नहीं जानता। विवाह एक तप है। इसका सम्बन्ध शारीरिक भोग-विलाससे नहीं है, आत्मासे है।

(वारुणी थोड़ी देरतक विचार-मग्न रहती है।)

वारुणी—अच्छा भाई ! वही करो, जिससे सुख मिले।

(पुरुष थोड़ी देरतक चुप बैठा रहता है, फिर उठकर गठरी उठाता है और उसे सिरपर रखकर चला जाता है। एक दूसरा पुरुष गठरी लिये आता है। वह भी सुस्तानेके लिये वारुणीके पास बैठ जाता है।)

वारुणी—तुम कहाँ जाओगे, भाई !

पुरुष—जहाँ भगवान् ले जायँगे।

वारुणी—क्या घरसे भागकर जा रहे हो ?

पुरुष—नहीं, घरसे निकाल दिया गया हूँ। मेरी स्त्रीने मुझे तिलाक दे दिया है।

वारुणी—क्यों ? तुम्हारा क्या अपराध था ?

पुरुष—कामसे थका-माँदा घर आया तो मैंने देखा, वह अपने मित्रसे बात कर रही थी, मैंने उसे पुकारा। इसपर वह बिगड़ गयी और बोली कि 'मित्रसे बातें करते समय तुमने मुझे क्यों पुकारा ?' यहींतक उसका क्रोध समाप्त नहीं हुआ, वह अदालत पहुँची और मुझपर बदचलन होनेका इल्जाम लगाकर मुझे तिलाक दे दिया !

(पुरुष और वारुणी दोनों कुछ समयतक चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर पहले पुरुष उठकर जाता है, उसके बाद वारुणी उठकर एक ओरको चली जाती है।)

सातवाँ दृश्य

समय—दिनका पहला पहर।

स्थान—गाँवके एक गृहस्थके घरका सामना।

(मिट्टीके एक सुन्दर घरके सामने नीमका एक पेड़ है। पेड़-की छायामें एक बैठक बनी है। बैठकके सामने छायामें, एक खाट-पर एक पुरुष बीमार पड़ा है। वह बहुत दुर्बल और मृतप्राय हो रहा है। एक बहुत सुन्दरी युवती स्त्री सफेद धोती पहने उसके सिरहाने-की ओर एक पीढ़ेपर बैठी हुई बीमारको पंखा हाँक रही है। बीमार सो रहा है। वारुणीका प्रवेश। वारुणी आकर उस स्त्रीके पीछे कुछ दूरीपर खड़ी हो जाती है। स्त्री गर्दन घुमाकर वारुणीको देखती है। पंखी खाटपर रखकर वह उठ खड़ी होती है और वारुणीकी दाढ़ी देखकर एक बार तो वह चकित होकर एकटक देखने लगती है, फिर शीघ्र ही सावधान हो जाती है।)

स्त्री—आओ बहन, कहाँसे आ रही हो ?

(स्त्री वारुणीको कुछ दूरीपर ले जाकर तख्तेपर, जो पहलेसे

ही बिछा था, बैठाती है और स्वयं भी तख्तेके दूसरे सिरेपर बैठ जाती है ।)

वारुणी—बहन ! तुम मेरी दाढ़ी देखकर पहले तो चमकी, फिर एकाएक तुमने मुझे बहन कैसे कहा ? पहचाना कैसे कि मैं स्त्री हूँ ।

स्त्री—(सिरके कपड़ेको माथेपर खसकाती हुई सलज्ज मुसकराहटके साथ) स्त्री आँखोंसे पहचान ली जा सकती है, बहन ! (जरा रुककर) तुम जरा बैठो, मैं आती हूँ ।

(स्त्री उठकर घरमें जाती है और जल्दी ही कटोरेमें कुछ खानेकी चीजें और लोटेमें पानी और गिलास लेकर आती है और वारुणीके सामने रख देती है ।)

वारुणी—(नम्रतापूर्वक) मैं तो एक गाँवमें टिकी थी । वहाँसे सबेरे कुछ खा-पीकर चली हूँ, तुमने क्यों कष्ट किया बहन !

स्त्री—(नम्रतापूर्वक) कष्ट क्या है ? यह तो मेरा सौभाग्य है कि तुमने मुझे कुछ सेवा करनेका अवसर दिया । घरपर आये हुए अतिथिका सेवा-सत्कार तो मेरे कुलका परम्परागत नियम है । इसे स्वीकार करो ।

(वारुणी कटोरेकी चीजें खाकर गिलासमें पानी उँडेल कर पीती है और कमरमें लटकते हुए रुमालको हाथमें लेकर मुँह पोंछती है । स्त्री लोटा, गिलास और कटोरेको उठाकर एक कोनेमें रख आती है और फिर अपनी जगहपर आ बैठती है ।)

वारुणी—बहन ! ये जो खाटपर बीमार पड़े हैं, तुम्हारे पति जान पड़ते हैं ?

स्त्री—हाँ बहन ! वे मेरे पतिदेव हैं । कई महीनोंसे बीमार पड़े हैं ।

वारुणी—इनका चेहरा तो पीला पड़ गया है ।

स्त्री—हाँ, वैद्यने रोगको असाध्य बताया है ।

वारुणी—तुम बहुत दुखी हो । (जरा रुककर) तुमने बहन ! बहुत सुन्दर शरीर पाया है, अभी तुम्हारी युवावस्था भी है, तुम एक मरणासन्न रोगीके साथ अपना जीवन कैसे बिता रही हो ?

स्त्री—(शान्त भावसे) पाणिग्रहणके समय मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की थी, अब उसे कैसे तोड़ूँ ? पतिकी सेवासे बढ़कर युवावस्थाका सदुपयोग दूसरा क्या हो सकता है ? बहन !

वारुणी—तुम तो शिक्षिता स्त्री मालूम होती हो ?

स्त्री—हाँ, मेरे पूज्य पिताजीने मुझे संस्कृतकी शिक्षा दिलायी थी ।

वारुणी—विवाहके समय तुम्हारे पतिदेवकी शिक्षा कितनी थी ?

स्त्री—मुझसे कम थी ।

वारुणी—तब तो तुम्हारा जीवन कष्टसे ही बीता होगा ?

स्त्री—विवाहके बाद तो मेरा अपना जीवन तो कुछ रह ही नहीं गया था । मैंने तो पतिदेवको अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है । मैं उनमें समा गयी हूँ । अतएव मेरी शिक्षा भी उन्हींकी सम्पत्ति है ।

वारुणी—तुम दोनोंके स्वभावमें तो अन्तर रहा ही होगा ?

स्त्री—था । पतिदेवके स्वभावमें क्रोधकी मात्रा अधिक थी, यह देखकर मैंने सहिष्णुताकी मात्रा बढ़ा ली; इससे क्रोध अब प्रेममें परिणत हो गया है । वे मेरे हृदयमें बसते हैं । मैं जो कुछ सोचती हूँ, वह उन्हींके विचार होते हैं, जो कुछ करती हूँ, वह उन्हींकी इच्छाका परिणाम होता है, जो आज्ञा देती हूँ, वह उन्हींकी आज्ञा होती है । हम दो शरीर किंतु एक मन-प्राण हैं । हममें एक दूसरेसे सुख या दुःखका बदला पाने या लेनेकी भावना ही नहीं है ।

वारुणी—उनके भी भाव ऐसे ही हैं ?

स्त्री—दो धाराएँ मिलकर जब साथ बहती हैं, तब उनमें अन्तर रह ही नहीं जाता । जैसे गङ्गा और यमुना ।

वारुणी—पर पुरुषने तो स्त्रीको दासी बना रक्खा है ?

स्त्री—दासी होने योग्य स्त्री दासी ही होगी । मैं तो न दासी हूँ, न स्वामिनी; मुझे तो पतिदेवका मन्दिर कह सकती हो ।

वारुणी—स्त्रियोंके अधिकार भी तो कुछ हैं ?

स्त्री—मैं नहीं जानती, बहन ! स्त्रियोंके समानाधिकार-आन्दोलनकी चर्चा मैंने सुनी है, पर समझ नहीं सकी । तुम भी उसके आन्दोलनकारियोंमेंसे कोई होगी, यह मैं तुम्हारी दाढ़ी देखकर कह रही हूँ । पति-पत्नीके बीचमें अधिकार नामकी कोई अलग वस्तु होती ही नहीं; कर्तव्य-पालनमें उनको स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त है ।

वारुणी—यदि दुर्भाग्यसे, भगवान् न करे, तुम्हारे पतिका देहान्त हो गया तो ?

स्त्री—(हँसकर) उनके शरीरका अन्त हो सकता है,

पर जबतक मैं जीवित रहूँगी, वे मर नहीं सकते। वे मेरे हृदयमें जीवित रहेंगे।

(पढ़ती है)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वारुणी—(विनययुक्त स्वरमें) मुझे याद पड़ता है, एक स्वप्नमें मैंने ब्रह्मासे यही श्लोक सुना था। इसका अर्थ क्या है ? बहन !

स्त्री—ऐसा समझो, मैं पतिके प्रेमसे पूर्ण हूँ, पति मेरे प्रेमसे पूर्ण हैं, पूर्णसे पूर्ण मिलेगा तो पूर्ण ही रहेगा और पूर्णसे पूर्ण निकल जायगा तो भी पूर्ण ही बचेगा। अर्थात् दोमेंसे एक शरीर जबतक रहेगा, तबतक दोनों जीवित रहेंगे।

(इसी बीचमें बीमारको खाँसी आती है, स्त्री झटपट जाती है और बीमारके मुखसे निकले हुए कफको हाथमें लेकर दूर फेंक आती है और हाथ धोने लगती है।)

वारुणी—(आप-ही-आप) श्लोकका अर्थ बड़ा गूढ़ है। इस बहनने जो उदाहरण दिखाया है, उसमें तो समानाधिकार-का प्रश्न ही नहीं उठता। तो क्या मैं गलतीपर हूँ ? क्या समानाधिकारका आन्दोलन निरर्थक है ? (सोचती है। इतनेमें स्त्री आकर फिर अपनी जगहपर बैठ जाती है।)

वारुणी—बहन ! राम और सीता तो आदर्श दम्पति थे। फिर भी रामने सीताको घरसे निकाल दिया था। क्या पाणिग्रहणकी मर्यादाका उन्होंने उल्लङ्घन नहीं किया ?

स्त्री—राम दो थे बहन ! एक राजा राम, दूसरे पति राम। सीताको सीताके पति रामने नहीं निकाला, राजा रामने निकाला था। राजा राम राजसिंहासनपर बैठकर राजधर्मका पालन करते थे; पर जब पतिके रूपमें अपने निवास-गृहमें आते थे, तब सुनती हूँ, वे सोनेके पलँगका परित्याग करके भूमिपर चटाई बिछाकर सोते थे; क्योंकि वनमें सीता भी भूमिपर सोती रही होंगी। आहार भी वे वही लेते थे जो वनवासी लिया करते थे। राम सबके लिये सुलभ हैं, पर पति राम तो परम सौभाग्यवती सीताहीको मिले थे। वैसे ही सीताका जीवन भी पति-प्रेमसे ओतप्रोत है। सीता भूमिमें समा गयीं तो रामने जल-समाधि ले ली। यह राजा रामपर सीताके प्रेमकी बड़ी विजय थी। पति-पत्नीका यह गूढ़ प्रेम मनुष्यके अन्धकारमय मार्गका एक अमर दीपक है।

वारुणी—बहन ! समानाधिकारका आन्दोलन तो पति-पत्नीसे ही सम्बन्ध रखता है। अब मैं समझ रही हूँ कि कानूनी अधिकार लेकर कोई पत्नी या पति सुखी नहीं हो सकते। सुख तो दो धाराओंको एकमें मिलकर बहनेमें है। यमुना अपने नीले जलको अलग रखकर गङ्गाके प्रवाहमें बह नहीं सकती।

स्त्री—ठीक समझ रही हो बहन ! पति-पत्नी इसी तरह एक दूसरेमें समा जायँ तो सुरूप और कुरूपका प्रश्न ही नहीं उठेगा। कर्तव्य-पालन करना ही मनुष्यका सच्चा सौन्दर्य है। चमड़ेका रंग नहीं, चाहे वह पुरुषका हो या स्त्रीका।

वारुणी—बहन ! अपने बीमार पतिकी तुम जैसी सेवा कर रही हो, उसमें तुम्हारी दयालुताका अद्भुत दर्शन हो रहा है।

स्त्री—दयालुता तो स्त्री-जातिका स्वाभाविक धर्म है, बहन ! दयालुता वह भाषा है, जिसे बहरे सुन सकते हैं और गूँगे समझ सकते हैं। दयालुतासे ही जगत् सुखी हो सकता है। मेरे पतिदेव बड़े दयालु हैं, मेरी दयालुता तो उन्हींकी विभूति है।

(वारुणी उठती है और दाढ़ी नोचकर तख्तेपर रख देती है।)

वारुणी—(हाथ जोड़कर प्रणाम करके) बहन ! तुम मेरी गुरु हो। मेरी आँखें खुल गयी हैं। तुमने मुझे जीवनका सच्चा मार्ग दिखा दिया है। अब मैं इस आन्दोलनको समाप्त करके अपने पतिदेवमें अपनेको समाप्त करने जा रही हूँ। भगवान्से प्रार्थना करती हूँ कि तुम्हारे पतिदेव शीघ्र नीरोग हो जायँ।

स्त्री—बहन ! तुम्हारे सच्चे हृदयकी प्रार्थना भगवान् जरूर सुनेंगे। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। (उठकर) दाढ़ी तो लिये जाइये।

वारुणी—इसे बच्चोंको दे दीजियेगा, खेलेंगे।

(वारुणी फिर प्रणाम करके जाती है। स्त्री बीमारके पास चली जाती है।)

स्त्री—(स्वतः)

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः

वे ब्राह्मण ही तार सकते हैं

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ, सदस्य विधानसभा, उत्तरप्रदेश)

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
इह कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥
(मनु)

ब्राह्मणका देह क्षुद्र कामके लिये नहीं है ।

हमारा राष्ट्र शूद्रबहुल है, नास्तिकाक्रान्त है, अद्विज अर्थात् सच्चे ब्राह्मणोंसे विहीन होता जा रहा है । भारतवर्षकी इस समयकी विचित्र गति-विधिको देखकर प्रश्न उठता है कि 'उसको कौन उठा सकता है ? उसको कौन तार सकता है ? अब ऐसे समयमें जब कि किसीकी पगड़ी किसीके सिरपर नहीं है, अथवा कोई भी अपनी पगड़ी भलीभाँति नहीं सँभाल रहा है, अथवा किसी जातिका भी स्वभावानुकूल नियतकर्म—नहीं रहा है, अथवा दण्डशासनद्वारा नियत कर्मोंमें प्रवृत्त करानेवाला शासन भी सिरपर नहीं है, ऐसे समयमें यथार्थ मार्गदर्शन कौन करा सकता है, कौन स्वयं मर्यादामें चलकर प्रजाको मर्यादामें चला सकता है, अथवा कौन तार सकता है' इत्यादि प्रश्न सामने आ जायँ, अथवा खड़े हो जायँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ।

प्रश्न है—कौन तार सकता है ?

उत्तर है—ब्राह्मण तार सकते हैं ।

उत्तरके ठीक रहनेपर भी यह विवेचन करना कठिन ही है कि किस प्रकारके ब्राह्मण तार सकते हैं ?

किसी समय ब्राह्मण-जाति, जिसकी त्याग-तपस्या संसार-विदित थी और आज भी जो जाति अपने पूर्वजोंके पूर्वजोंके अति प्राचीन पूर्वजोंके त्याग-तपस्यामय जीवनके आश्रयसे, अथवा उनका नाम ले-लेकर ही श्वास-प्रश्वास ले रही है और आजकल केवल जातिमात्रोपजीवी बन रही है, वह भी जग उठी है और टटोल रही है कि उसका क्या-क्या खो गया है, क्या-क्या शेष रह गया है ।

हमने इस लेखका शीर्षक भागवतसे लिया है, जिसका अर्थ है कि कौन ब्राह्मण संसारको तार सकनेमें समर्थ हैं ? इस प्रश्नका उत्तर बहुत उत्तम ढंगसे दिया गया है । भागवतके समयमें जैसा उत्तर देना चाहिये था, वैसा ही वह उत्तर है । उत्तर धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे है । आजकल धर्म-निरपेक्ष राज्यके—स्वशासनके होनेपर धर्मकी आवश्यकता नहीं रही अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकी अपेक्षा नहीं रही, यह बात नहीं है । प्रत्युत इस भौतिक युगमें नये पचमेल प्रजातन्त्रके युगमें धर्म और आध्यात्मिक दृष्टिकी और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी है ।

इस समय उन ब्राह्मणोंकी संख्या, जो जातिमात्रोपजीवी हैं, लगभग ढाई करोड़ होगी । इनमें अपने परम्परागत नियत कर्मको सँभालनेवाले भी ब्राह्मण सैकड़ों होंगे और हैं भी; किंतु इनकी संख्या नगण्य ही समझिये ।

इनमें कई भेद हैं—

१–आचारमें बद्ध किंतु विचारमें स्वतन्त्र ।
२–आचारमें स्वतन्त्र किंतु विचारमें बद्ध ।
३–आचार-विचार—दोनोंमें पूर्ण स्वतन्त्र ।
४–आचार-विचारमें एक (संख्या नगण्य) ।

इसी प्रकार—

शहरी ब्राह्मण, ग्रामके ब्राह्मण, पुरानी परम्पराके ब्राह्मण, नयी शिक्षा प्राप्त साहेबी ठाटके ब्राह्मण और निर्वाह-साधनमें अन्य जातिके पेशोंको अपनानेवाले ब्राह्मण । इस प्रकारके भेद करते जायँ तो पचासों भेद जान पड़ेंगे—किंतु किसी प्रकारका भी ब्राह्मण क्यों न हो, अपनी वर्तमान दशामें किसीको भी संतुष्ट न पाइयेगा ।

'ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः'

'ब्राह्मण निर्भय हों' यों कहकर ब्राह्मणोंके सिरपर

रक्षाका हाथ रखकर आश्वासन देनेवाला क्षत्रिय राजा अथवा कोई शासन भी तो दिखलायी नहीं पड़ रहा है। ऐसी दशामें ब्राह्मण ही क्या अन्य लोग भी केवल क्षीणसंस्कारावशेष, स्वधर्म-कर्मविहीन हो गये तो आश्चर्य ही क्या है!

इनमेंसे असंतोष, असमाधान और हीनताके कारण कुछ तो स्वाधीन हैं और कुछ पराधीन हैं। स्वाधीन कारणोंकी खोज करके उनको सर्वथा निर्मूल करनेका दृढ़ प्रयत्न न किया जायगा तो हीनता चली ही जायगी। सहस्रों वर्षोंकी परतन्त्रताके युगमें जिस जातिने निरपेक्ष भावसे, अपने परम्परागत नियत स्वधर्मका पालन किया-कराया, भारतीय धर्म और भारतीयोंका मार्गदर्शन किया, वही जाति आज किसी प्रकार श्वास-प्रश्वास लेकर नाममात्र जीवित है। जब मुख्य अथवा मुखरूप ब्राह्मणोंकी यह दशा है तो अन्योंकी क्या दशा होगी।

तब	अब
१—परम्परागत नियत धर्मका पालन करते थे।	१—परम्परा प्रलुप्त होती जा रही है।
२—प्राच्यविद्या और उसके लिये तप तपते थे और जीवन खपा देते थे।	२—पाश्चात्त्य विद्यामें रम रहे हैं, उसीमें खप रहे हैं। उसीका प्रचार-प्रसार करते रहते हैं।
३—केवल कर्तव्यबुद्धिसे विद्याध्ययन-अध्यापन, ज्ञानप्रसारण चलता था।	३—उदरदरी-पूरणार्थ ही सब कुछ हो रहा है।
४—निःस्वार्थ भाव प्रबल था।	४—स्वार्थ अत्यन्त प्रबल हो रहा है।
५—'वसुधैव कुटुम्बकम्' यह वृत्ति रहती थी।	५—'स्वगृहमेव स्वकुटुम्बकम्' वृत्ति चल पड़ी है।

इस प्रकार सिरपर स्वधर्मी शासन न रहनेके कारण हो, समयका फेर हो अथवा हम ही स्वयं अपने पतनके कारण बन गये हों, है अवश्य चिन्ताजनक दशा—यह बात माननी ही पड़ेगी और यह भी मानना पड़ेगा कि जबतक ब्राह्मण अपने-आपको नहीं सँभालते, फिर निःस्वार्थ होकर अपना काम नहीं करते, तबतक भारतके अथवा संसारके असंतोषको मिटानेकी शक्ति किसीमें नहीं है।

इन्हींको उठना पड़ेगा। यह आवश्यक नहीं कि सब-के-सब ढाई करोड़ ब्राह्मण ऐसे बनें—हम चाहें तब भी बन कहाँ सकते हैं—असम्भवप्राय है। तथापि इनमें स्वाभाविक संस्कार तो है ही और उनका परिपोष हो जाय और सौ-पचास ब्राह्मण भी त्याग-तपस्यापूर्वक खड़े हो जायँ तो कायापलट हो सकती है। आजकल सर्वत्र जीवन-निर्वाहके लिये कोलाहल मचा हुआ है। ब्राह्मण भी इस कोलाहलमें बुद्धिभ्रष्ट और पथभ्रष्ट हो रहा है। सुखकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना प्रत्येक जाति अथवा व्यक्तिका कर्तव्य है; किंतु सुखके साथ यदि संतोषवृत्ति—समाधानवृत्ति न आयी तो असली सुख इन्द्रको भी नहीं मिलनेवाला है। ब्राह्मण-जाति इस बातको जब समझकर चलने लगेगी, वही भारतके लिये कल्याणका दिन होगा।

सरल जीवन और उच्च विचार

यह जो अनन्तकालसे ब्राह्मणोंका ध्येय रहा है—जो भारतीयोंका एक अनुत्तम (अत्यन्त उज्ज्वल) जीवनसूत्र रहा है, उसको आज बेकार और दरिद्रताका चिह्न समझा जा रहा है। उस उच्च जीवनसूत्रकी सर्वत्र खिल्ली उड़ायी जा रही है—यदि आज भी ब्राह्मण-जातिके धुरीण आहिताग्निकी अग्निकी तरह अपने जीवनसूत्रको सँभालकर चलेंगे, किसी प्रतिफलकी भावनाके बिना निःस्वार्थ भावसे ज्ञानसत्र चलाते रहेंगे, तभी कल्याण है। यदि ब्राह्मण इस कार्यको नहीं करेंगे, नहीं सँभालेंगे तो जो कोई भी इस कार्यको करेंगे, सँभालेंगे, भारत उनके पीछे ही चलेगा; किंतु ब्राह्मणोंको इसलिये विशेषकर आह्वान है कि यह जाति अभी सर्वथा अपने संस्कारोंसे शून्य नहीं हुई है। अब भी इसने संस्कृत विद्या, वेद, उपनिषद्, दर्शन-संस्कृति आदि प्राच्य विद्याको किसी प्रकार सँभाल रक्खा है। थोड़ा सावधान होकर चलनेकी आवश्यकता है—इस धर्मनिरपेक्ष राज्य-प्रणालीमें धर्मको, प्राचीन विद्याओंको, तपस्वी, त्यागी, धर्मनिष्ठ, उच्च जीवनसूत्रको सँभालनेवाले ब्राह्मण ही सँभाल सकते हैं।

करुणा

(लेखक–श्रीव्रजकुमारजी श्रीवास्तव, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

लोगोंने जाने क्यों मुझे कहानीकार समझ रक्खा है। शायद वे गलतीपर हैं, शायद मैं ही गलतीपर हूँ। पर जब विद्यालयकी पत्रिकाके लिये मुझसे कुछ लिखनेको कहा गया तो मैं लेखक होनेका गौरव प्राप्त करनेका लोभ संवरण न हो सका, और मैंने 'हाँ' कर दी। विद्यालयसे घरकी ओर आते समय न जाने कौन-कौन विचार मनमें उठे और मस्तिष्कमें न जाने कितने कथानक आये—सुन्दर और मनोरम; परंतु जब अध्ययन-कक्षमें बैठ लेखनी उठायी तो सभी कुछ गायब, मस्तिष्क शून्य। बड़ी देरतक बैठा रहा। दो-चार पग लेखनी चली भी, पर अड़ियल टट्टूकी तरह—चली और रुक गयी। उन काले टेढ़े-मेढ़े अक्षरोंको पढ़ा, संतोषजनक न होनेपर काट दिया और फिर कागजको फाड़कर मेजके नीचे रक्खी टोकरीमें डाल दिया। लेखनी रख दी। एक अँगड़ाई ली। कुर्सीसे पीठ टेक आँख बंदकर पड़ गया। कुछ मिनटों बाद आँखें खोलीं। पासकी आलमारीसे एक पुस्तक उठायी। व्यर्थमें पृष्ठ इधर-उधर किये। एक स्थानपर दृष्टि ठहर गयी। लिखा था—'कहानी हर जगह मिल सकती है, देखनेवाली आँखें चाहिये। तुम्हारा और दूसरोंका जीवन, कहानी ही तो है। तुम्हारे चारों ओर कहानीकी इतनी अधिक सामग्री है कि यदि कोई जीवनभर कलम घिसता रहे तो भी कहानियोंकी कमी न होगी।' मैंने पुस्तक बंद कर अपने चारों ओर निहारा, कहानी न मिली। नेत्र बंद कर अंदर देखा, वहाँ भी वह न थी। फिर भी मुझे उस विद्वान् लेखकके कथनमें शङ्का करनेका साहस न हुआ। मेरे जीवनमें घटनाएँ अवश्य घटी हैं, जिनसे कहानी बन सकती है—कहानी क्या, उपन्यासके पृष्ठ रँगे जा सकते हैं; पर मेरे पास सम्भवतः वह सब लिखनेकी प्रतिभा न हो, व्यक्त करनेकी कलाका अभाव हो। मैंने सोचा—'चलो किसीसे सहायता ली जाय।' हाथमें छड़ी ली, कमरा बंद किया और पूर्णिमाकी ज्योत्स्नासे स्नान करती हुई पृथ्वीपर चल दिया—चलता गया, चलता गया।

नहरके किनारे एक मन्दिर था—पुरातन, खँडहर, भग्नावशेष। वहीं मैं ठहर गया। एक साधु आगके पास बैठा था और पास ही पुआलपर कम्बल ओढ़े कोई सो रहा था। मैंने साधुके समीप जा प्रणाम किया। उसने आशीर्वाद दिया। मैं आगके निकट बैठ गया। साधु बोला—'बच्चा! ऐसी ठंडमें कहाँ?' मेरे मुखसे अनायास निकल गया—'महाराज! आज मैं एक विपत्तिमें हूँ। कुछ सहायता कीजियेगा?' परंतु शीघ्र ही अपनी हास्यास्पद स्थितिका विचार आते ही मैं सोचमें पड़ गया कि अब साधुको किस विपत्तिका परिचय दूँगा। साधु बोला—'बच्चा, कहो! जो हो सकेगा, करूँगा।' मैंने सोचा, साधुसे कैसा दुराव, उसके लिये सब कुछ एक-सा। अतः ग्लानिको एक ओर रख मैंने कहा—'महात्मन्! मुझे एक कहानी लिखनी है—आवश्यक, अनिवार्यतः, पर कुछ समझमें नहीं आता क्या लिखूँ? क्या आप कोई कहानी बता सकेंगे?' साधु हँसा, फिर गम्भीर हो गया। कुछ क्षणोंके मौनको भङ्ग करते हुए उसने कहा—'बच्चा! जीवन ही एक कहानी है। किसीके जीवनकी घटनाएँ एकत्रकर एक सूत्रमें पिरो डालो, कहानी बन जायगी।' मैं विचार करने लगा कि 'इस साधुके और उस लेखकके कथनोंका आशय तो एक ही है। तो—क्या कहानी लिखना इतना सरल है जितना ये कहते हैं? क्या सभी कोई कहानी लिख सकते हैं? तो फिर मैं क्यों

नहीं लिख पाता ? क्या मेरा साहित्यका विद्यार्थी होना व्यर्थ है ? क्या मैं प्रातः विद्यालयमें कह दूँ कि मैं कहानी न लिख सकूँगा ?'...मुझे उधेड़-बुनमें देख साधु बोला—'क्या सोच रहे हो ? क्या कोई कहानी नहीं मिली ?' मेरा सिर हिल गया । उसने कहा—'अच्छा, तो सुनो, जीवनकी कहानी । लिख सकना, तो लिखना ।'

× × ×

'मैं बालक था । विद्यालयमें पढ़ता था । आशा और अभिलाषासे मेरा परिचय कब हुआ मैं कह नहीं सकता; पर वे दोनों मेरे साथ रहती थीं और मेरी उनसे प्रगाढ़ घनिष्ठता थी । कहीं भी मैं जाऊँ वे मेरा साथ न छोड़ती थीं, मैं भी उन्हें छोड़ना न चाहता था।

'एक बार जब संध्या जगतीके प्राङ्गणमें दीपक जलाकर जा चुकी थी, रात्रि नक्षत्रोंका नूपुर बाँधे नभकी रङ्गस्थलीमें नृत्य कर रही थी, मैं भावीके चित्रोंमें भावुकताके रङ्ग भर रहा था और अभिलाषा तथा आशा दोनों मेरे पार्श्वोंमें बैठी निर्देश कर रही थीं । किसीने द्वार खटखटाया । मैंने जाकर द्वार खोले । सम्मुख थी भीनी-भीनी सुगन्धसे युक्त, इन्द्रधनुषी-परिधानमें परिवेष्टित, आलोकमयी दीपराशि-सी, सौन्दर्यमें अनुपम, ग्रीष्म-रात्रिके स्वप्न-सी मधुर, बलात् मनको मोह लेनेवाली, मोहक, चञ्चल । मैं उसे देखता रह गया, जैसे उसके रूपको आँखोंसे पी जाऊँगा ।

'मैं हूँ कल्पना' मधुकरीका-सा मधुर गुञ्जन मेरे कर्ण-कुहरोंको पारकर हृदय-काननमें गूँज गया । मेरी चेतना लौटी । मैंने कहा 'आओ' । अधरोंपर अस्फुट मुसकान लिये उसने प्रवेश किया । आते ही अभिलाषा और आशा विहँस पड़ीं, उनका सौन्दर्य और भी निखर उठा, वे और भी मोहक हो गयीं ।

'मैं युवा हुआ । विद्यालयको छोड़ जीवन-पथपर चल पड़ा । कल्पना, आशा और अभिलाषा मेरे साथ थीं । पथका श्रम मालूम न होने देती थीं । राहमें मिल गये एक दिवस दो व्यक्ति—बड़े कोमल छुई-मुईसे भी अधिक, बड़े अहंकारी चक्रवर्ती सम्राटोंसे भी अधिक, प्रशस्त भाल ऊँचा किये जैसे कभी झुकायेंगे ही नहीं । ये थे 'मान' और 'ऐश्वर्य' । मेरे अनुचर बन गये वे । अब मैं भी सिर ऊँचाकर चलता ।

'हम आगे बढ़े । कुछ दिनों बाद मार्गमें मिल गये प्रेम और विश्वास—गौरवर्णी, स्वस्थ शरीर, शिशु-सा सरल स्वभाव, मिष्टभाषी और विनम्र ।

'हम और आगे बढ़े । पथ काफी था । आगे थी सरिता, जिसमें थीं भयंकर भँवरें और नाना भाँतिके भयानक जन्तु, काल-से कराल, मुँह बाये । पर, उस ओर एक अस्पष्ट छाया-सी मुझे संकेतद्वारा बुला रही थी । यह छाया थी देवी सफलताकी । मुझे वरण करना था उसका, अतः पार जाना ही था ।

'एक किनारे थी एक नाव छोटी और जहाँ-तहाँ टूटी-फूटी, पतवार भी कमजोर । मैं हिचक रहा था उसपर चढ़ते । परंतु कल्पनाने उस ओरके वैभव और विजयके प्रलोभन देने आरम्भ किये; मान और ऐश्वर्य रूठे, तने, मुँह फुलाये एक ओर खड़े हो गये; प्रेम और विश्वासने भी हठ पकड़ा; आशा और अभिलाषा जाने कहाँसे 'साहस' और 'उत्साह'—दो नाविकोंको पकड़ लायीं । मैं बाध्य हो गया । नावपर चढ़ना ही पड़ा । सभी बैठे । नाव चली डगमगाती ।

'सहसा आकाशमें बादलोंकी घुड़दौड़ मच गयी । भास्कर भागकर न जाने कहाँ लुप्त हो गये । घटाटोप अन्धकार छा गया । बिजली कड़क-कड़ककर आँखें दिखाती, जिसे देख पृथ्वी डरसे काँप-काँप उठती । पवन वृक्षोंको झकझोरता न जाने कहाँ दौड़ा भागा जा रहा था । सरिताका जल भी स्थिर न रह सका । माझियोंकी पतवार छूट गयी । नाव पहले ही डगमग-डगमग तैर रही थी, अब उत्ताल तरङ्गोंपर उठने-गिरने लगी—अब

डूबी, अब डूबी। मैं भयभीत हो गया। मैंने नेत्र बंद कर लिये और गदेलियोंसे कान भी।

'जब आँख खुली—

'मैं बालुका-राशिपर पड़ा था। अङ्ग-अङ्गमें पीड़ा थी। मैंने करवट ली। पड़े-पड़े चारों ओर निहारा। तूफान थम चुका था, पर न वहाँ नाव थी और न थे नाविक। पासके वृक्षोंसे कृष्णपक्षका चन्द्रमा वक्र हँसी हँस रहा था।

'मैं उठा। साथियोंकी खोज की। पर 'मान' और 'ऐश्वर्य' मिट्टीमें मिल चुके थे, 'अभिलाषा' और 'आशा' धारमें बह गयी थीं, 'कल्पना' तो उस वास्तविक झंझामें ही उड़ गयी थी, 'प्रेम' और 'विश्वास' का अस्तित्व ही लुप्त था। रह गया था मैं अकेला—नितान्त अकेला।

'अकेला ही चल पड़ा उस देवीकी खोजमें जो मुझे पार आनेका संकेत कर रही थी। मार्गमें थे कंकड़ और थे काँटे! चलते-चलते वस्त्र उलझ जाते, वे तार-तार हो गये। पगोंमें छाले पड़े, फटे और घाव हो गये। अङ्ग-अङ्गसे रक्त टपकने लगा। पर 'सफलता' न मिली, न दिखायी ही दी। मैं निराश हो बैठ गया। आगे चलना अब मेरे लिये सम्भव भी न था।

'सहसा मुझे 'तप' के बलका स्मरण हुआ। मैंने उसीसे सफलताको खींच लानेका निश्चय किया। तप आरम्भ कर दिया मैंने।

'एक रात्रि—जब दिनके परिश्रमसे त्रस्त पवन विश्राम कर रहा था और दिशाएँ अन्धकारके दुर्भेद्य दुर्गमें बंदी थीं, मुझे सफलताकी देवी साकार होती दिखायी दी। मेरा जीवन सार्थक होने जा रहा था, मेरा तप सफल होनेको था। मैं बाहु फैलाये आगे बढ़ा—देवीको पानेके लिये, अपने अङ्कमें भर लेनेके लिये! पर देवी हँस पड़ी—भीषण अट्टहास, कर्कश, आकर्षणहीन, घृणोत्पादक। सृष्टि सिहर उठी, पवन चौंक पड़ा।

'देवी बोलीं—मूर्ख युवक! तुम मुझे पानेकी इच्छा रखते हो? जानते नहीं तुम्हारा जीवन इस विश्वमें केवल तड़पनेके लिये हुआ है? जाओ, चले जाओ! मुझे पानेके लिये प्रयास करो। कर्म करो और अन्तर्धान हो गयीं।

'फिर वही अन्धकार—मेरे मनमें उससे भी घोर निराशाका अन्धकार, रात्रिभर किंकर्तव्यविमूढ़ बैठा रहा। प्रातः सामने वही था जीवनका अछोर पथ।

'स्मरण हो आयी मुझे मृत्युकी उदारता, उसका शीतल शरणदायक स्वभाव। मैंने उसे ही प्राप्त करनेकी आराधना-उपासना आरम्भ कर दी।

'सृष्टिकी संहारिका सम्मुख आयीं। हिमकी भाँति शीतल और श्वेत; सुन्दर—नक्षत्र-लोककी रानी-सी, पर वज्र-सी कठोर; अङ्ग-अङ्ग कलापूर्ण—काली बड़ी-बड़ी आम्रफाँक-सी आँखें, काली सुरचाप-सी भौंहें और काले सचर केशजाल।

'मृत्युने कुछ कहा, पर मैं सुन न सका, उसके रूपको देखकर मैं संज्ञाविहीन हो गया था। मृत्युने फिर पूछा—'मौन क्यों हो? क्या चाहते हो, युवक?' मैं चौंक उठा, नयनोंसे अश्रुका स्रोत फूट चला, कण्ठ भर आया, किसी प्रकार बोला—'देवी! मैं····मैं समाजसे प्रताड़ित, अभिलाषा और आशासे उपेक्षित, प्रेम और विश्वाससे त्यक्त आपकी शरण आया हूँ' और मैं गिर पड़ा चरणोंपर। पर मृत्यु दूर हट गयीं। व्यङ्ग और घृणासे मुसकराते हुए बोलीं—'मत स्पर्श करो मेरा। तुम-जैसे कापुरुषको यहाँ स्थान नहीं। विपत्तियों और जलनके भयसे जो जीवनके कर्त्तव्य-क्षेत्रसे विमुख हो भागता है, उसे मैं शरण नहीं देती। उसके स्पर्शसे मैं कलङ्कित होती हूँ, अपवित्र होती हूँ। मैं उसे ही

अङ्गीकार करती हूँ जो वीर है, साहसी है, जो विपद् और कष्टके गालपर थप्पड़ मार सकता है और उनका डटकर सामना करता है, जो कभी हार नहीं मानता। जाओ युवक, योग्य बनो।'

'वह चली गयीं। मैं रोने लगा। अश्रुओंमें प्लावन आ गया। रोते-रोते आँखें लाल हो गयीं, सूज आयीं, सम्भवतः मैं अंधा हो गया। घाव पक गये, सड़ने लगे।

'कुछ समयोपरान्त एक दिन—

'मुझे किसी कोमल करका स्पर्श मिला। उस स्पर्शमें शीतलता थी, शान्ति थी, स्नेह था; वात्सल्य था, ममता थी, मृदुता थी। मैं बिलख पड़ा। रुकी हुई आँसुओंकी धारमें फिर प्रवाह आ गया। ऐसा चाहने लगा कि इस स्पर्शप्रदाताके चरणोंपर अपने अश्रुकोषको रिक्त कर दूँ। पर उसने अपने अञ्चलसे मेरे नेत्रोंको पोंछते हुए कहा—'मानव! मत रो। अपने इन अमूल्य रत्नोंके भण्डारको व्यर्थ मत खाली कर। इन अश्रुओंसे अपने हृदयको सींच, उसे कोमल बना।'

'मैंने पूछा—'देवी! तू कौन है? तेरी मिश्री-मिश्रित मधुर वाणी मेरी पीड़ाको शान्त कर रही है, जलनको शीतलता प्रदान कर रही है। तेरा स्पर्श मेरे अन्तरकी व्यथाको नष्ट कर रहा है। अमृत वर्षा करनेवाली तू कौन है?'

'मानव! मैं 'करुणा' हूँ।' उसी मधुर कण्ठसे शब्द निकले।

'करुणाने मेरे लिये कुटिया तैयार की। वह मेरे साथ रहने लगी। वह मेरे घावोंको धोती, उनकी परिचर्या करती, मुझे स्नान कराती, मेरे वस्त्र साफ करती, मेरे नेत्रोंपर ओषधि लेप करती और अवकाशमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का गीत सुनाती।

'शनैः-शनैः मैं स्वस्थ होने लगा। मेरे घाव पूर गये, नेत्र खुल गये, उनमें ज्योति आ गयी, एक नवीन ज्योति। संसार मुझे परिवर्तित दीख पड़ने लगा; सब कुछ वैसा ही था, फिर भी कुछ परिवर्तित-जैसा। स्मरण हो आया करुणा-का, पर वह कहीं दिखायी ही न पड़ी। कुछ देर प्रतीक्षा की, पर फिर धैर्य छूट गया। इतने दिनों बाद अपनी जीवनदात्रीके दर्शन करनेका अवसर पाया था, विलम्ब सहन न कर सका। मैंने पुकारा—'करुणा! देवी करुणा!!'

'मेरे अन्तरसे ध्वनि आयी—'मैं यहाँ हूँ।'

'करुणा मेरे अन्तरमें समा गयी थी। वहाँ उसने स्नेहका दीपक जलाकर प्रकाश किया और युग-युगसे सोयी पड़ी अहिंसा, दया, क्षमा आदिको 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का गीत गा-गाकर जगाया।

'आज मुझमें और करुणामें कोई अन्तर नहीं। मैं करुणाके अङ्कमें हूँ और करुणा मेरे अन्तरमें।'

सीताराम रट रे

(प्रेषक—महात्मा जय गौरीशंकर सीतारामजी)

रुचिर विचार सदाचार शील-जीवन हो,
व्यभिचार के न कभी जाना तू निकट रे॥ १॥
छोड़ दे कुवाद मुख मोड़ ले प्रमाद से भी,
वेद मरयाद को न उलट पलट रे॥ २॥
संग साधुओंका और प्रसंग भगवान का हो,
तुच्छ वासनाओं से नितान्त दूर हट रे॥ ३॥
त्याग के कपट झटपट अनुराग युक्त,
सीताराम सीताराम सीताराम रट रे॥ ४॥

मृत्युके लिये सदैव तैयार रहना सुखी रहनेका सर्वोत्तम साधन है

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

जो व्यक्ति यह समझता है कि मुझे सदा ही इस संसारमें निवास करना है, वह अनेक प्रकारके अनावश्यक प्रपञ्चों, कृत्रिम आवश्यकताओं और व्यर्थके ऋणोंके भारसे आक्रान्त रहता है। स्थायित्वके साथ मनुष्यकी निम्न वासनाएँ दूसरेपर छा जाना चाहती हैं। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, शासक, अमीर, रईस, पूँजीपति सदा यह समझते रहते हैं कि उन्हें स्थायी-रूपसे संसारमें निवास करना है। वे बड़े-बड़े आलीशान महल, अट्टालिकाएँ, आमोद-प्रमोदकी वस्तुएँ, मनोरंजन-के साधन एकत्रित करते हैं; अधिक धन-संग्रह करने-के हेतु वे प्रजापर अनावश्यक बोझ डालते हैं, जमींदार कृषकोंका शोषण करते हैं, व्यापारी ग्राहककी जेब काटनेको प्रस्तुत रहते हैं। वास्तवमें, जगत्में सदा-सर्वदा स्थायीरूपसे रहनेकी भावना अनाचार और अत्याचारकी मूल है। जो अपनेको जितना स्थायी समझता है, वह उतना ही अधिक आनन्द, मस्ती, शोषण कर लेना चाहता है। कितने ही व्यक्ति अनावश्यकरूपमें अपना अभाव बढ़ाते जाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने उत्तरदायित्वका बोध नहीं होता।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि जीवमात्रके लिये मृत्यु एक सहज सत्य है। प्रत्येक जन्मके साथ मृत्युका क्रम है। जो जन्मा है उसका मृत्युको प्राप्त होना अवश्यम्भावी है। जन्मके दिनसे ही हम धीरे-धीरे मृत्युकी ओर खिंचते चले जाते हैं। प्रत्येक क्षण हमें मृत्युके समीप लाता है।

और यह मालूम नहीं कि किस दिन मृत्युकी कुटिल काली मूर्ति प्रकट हो जाय। किस दिन संसारसे चलनेकी तैयारी हो जाय। छोटे-छोटे बच्चोंसे लेकर भरे यौवनमें हँसते-खेलते जवान क्षणभरमें मृत्युके ग्रास हो जाते हैं। तनिक-से कारणसे मृत्यु हो सकती है; दुर्घटनाएँ वृद्धिपर हैं, नयी-नयी बीमारियाँ देखनेमें आ रही हैं। कलकी खैर नहीं, परसोंकी कौन कहे। वास्तवमें मानव-जीवन एक बुलबुलेके समान है, जो क्षणभरमें नष्ट हो सकता है।

सबसे अच्छी मन:स्थिति उस व्यक्तिकी होती है जो मृत्युके लिये अर्थात् संसारसे बिना रंजोगम, बिना मोहचक्र या अनावश्यक क्षोभके जानेको तैयार रहता है। जिसे जितना अधिक माया-मोह संसारके कृत्रिम वस्तुओंपर रहता है, वह उतना ही अधिक दुखी, अतृप्त रहता है। प्रत्येक मोह या लगाव एक जंजीर है, जो आपको संसारसे जकड़े हुए है। यदि आप संसार-के पदार्थोंको काममें लेते हुए भी तटस्थ रहें, जब समय आये, उनका परित्याग करनेको प्रस्तुत रहें, तो आप सुखी-संतुष्ट रहेंगे। मोहका लगाव आपको विक्षुब्ध न कर सकेगा।

मेरी रायमें मृत्युके लिये सदैव तैयार रहना अर्थात् जगत्के झूठे लगाव और मोहके बन्धनसे मुक्त रहना, आनन्दित रहनेका सर्वोत्तम साधन है।

जब आप यात्रा करते हैं, तो आपसे कहा जाता है कि कम सामान लेकर यात्रा कीजिये (Travel light)। जिस यात्रीके पास अधिक सामान रहता है, वह अपनी छोटी-बड़ी पोटलियों, संदूक, बिस्तर और थैलोंको सम्हालनेमें सदैव चिन्तित, रहता है। उसके पास जितने बंडल होते हैं, उसे उतना ही बन्धन होता है, वह उतना ही चिन्तित, व्यग्र और क्षुब्ध रहता है। कहीं कोई गठरी छूट न जाय ? कहीं कोई व्यक्ति चुरा न ले ? कहीं कोई ताला न टूट जाय ? ऐसी असंख्य छोटी-बड़ी दुश्चिन्ताएँ मनमें अशान्ति रखती हैं।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कम-से-कम सामान लेकर यात्रा करता है, वह सहज रूपमें अपने सामानकी-देख-रेख कर लेता है। उसे अपेक्षाकृत चिन्ता भी कम होती है। कठिन अवसरोंपर वह इसे सरलतासे सम्हाल लेता है; मौका पड़नेपर उसे हाथमें स्वयं उठा लेता है। चूँकि उसपर भार कम है, उसे यात्रामें अनावश्यक बोझ प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रकार जीवन-यात्रामें उठाने योग्य थोड़ा-सा सामान साथ लेकर चलनेवाला यात्री सुखी रहता है। जो अनावश्यक आवश्यकताएँ, व्यर्थका दिखावा, फैशन-परस्ती, वासनाके मोहजाल या ममत्वके बड़े परिवारमें लिप्त रहता है, सांसारिक वस्तुओंके निरन्तर संग्रहसे अपना भार बढ़ा लेता है, वह दुखी और अतृप्त बना रहता है।

स्मरण रखिये—मृत्यु आपके सिरपर खड़ी है। अनावश्यक मोह-बन्धन आखिरी घड़ीमें मानसिक कष्ट प्रदान करनेवाले हैं। अपने ऊपर परिवारका अधिक बोझ मत लीजिये। यदि सम्भव हो, तो अपने परिवार-के एक सदस्यको ऐसा अवश्य रखिये जो आपकी अनुपस्थितिमें घर-परिवारका भार सहज ही सम्हाल ले। और कोई न हो, तो पत्नीमें ही इस भारको वहन करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न कीजिये। आपकी स्थिति ऐसी हो कि मौतका बुलावा आते ही आप बिना किसी रुकावट, मोह, उत्तरदायित्वके तुरंत प्रस्थान कर सकें।

मृत्युके लिये सदैव तैयार रहना ही निर्बाध सुखी रहनेका साधन है।

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'तू बनाकर भी व्यर्थ करता है। अपने ही निर्माणको कुचल देनेमें तुझे आनन्द आता है ?' वह कभी फूट-फूटकर रोता है और कभी 'हा, हा' करके हँसता है। कोई नहीं जानता कि वह कौन है। पता नहीं कैसे वह यहाँ आया। गाँवके लोग जब एक सवेरे सोकर उठे, उन्होंने देखा कि उनके गाँवकी गलियोंमें कहींसे एक नया व्यक्ति आ गया है। गौर वर्ण, लंबी आँखें, ऊँची-नुकीली नासिका, उन्नत ललाट, इकहरा शरीर—सम्भवतः किसी उच्चकुलका है, सम्भवतः सुपठित है। सम्भवतः इसलिये कि केवल अनुमान ही किया जा सकता है। उसके वस्त्र फटे और मैले होकर भी बताते हैं, वे कभी स्वच्छ थे, सुन्दर थे, मूल्यवान् थे। उसके केश उलझे होकर भी कहते हैं, वे कभी सुलझे और सुसज्जित थे, सुगन्धित तैलसे सिंचित होते थे। उसकी भावभङ्गिमा, उसकी चाल-ढाल उसकी दृष्टि कहती है, वह कभी सम्मान पाता था, सत्कृत होता था। लेकिन वह कुछ बोलता नहीं किसीसे। कुछ पूछनेपर प्रश्न-कर्ताके मुखकी ओर घूरने लगता है और फिर या तो ठहाका मारकर हँसने लगता है, या फूट-फूटकर रोने लगता है। बेचारा पागल है।

गाँवके दयालु लोग—वे लोग उसे स्नेहपूर्वक रूखी-सूखी रोटियाँ खिला देते हैं। उसे यदा-कदा एकाध वस्त्र मिल जाते हैं। जाड़ेके दिन हैं। रात्रिमें वह किसी-न-किसी अलावके पास लुढ़क पड़ता है।

बड़ा रमणीक गाँव है। नहरका पानी सींचता है यहाँ-के खेतोंको और खेतोंमें गेहूँ-चना नहीं होता। यहाँके खेत तो खेत नहीं, बगीचे हैं। जहाँतक दृष्टि जाय पाटलके पौधे लहरा रहे हैं। गुलाबकी खेती होती है यहाँ! इत्र बननेके लिये यहाँसे गुलाबके फूल अन्यत्र जाते हैं। जब पुष्पका समय होता है—मीलोंतक खिले पाटल-पुष्पोंसे मण्डित धरित्री-की शोभा—जो यहाँ आया नहीं, वह यहाँके उस सौन्दर्यका अनुमान तक नहीं कर सकता।

मोगरा, चमेली और दूसरे पुष्पोंके भी पौधे जहाँ-तहाँ हैं। जल ही जगत्का जीवन है। जहाँ जलकी पर्याप्त सुविधा है, जीवन अपने अनेक रूपोंमें प्रस्फुटित, पल्लवित, प्रफुल्लित होगा ही। छोटे-छोटे उपवन हैं। सघन तरु हैं; किंतु यह

सब तो विनोद है, विलास है उस भूमिका, वहाँके निवासियोंका। वहाँका जीवन तो है पाटल और उसका साम्राज्य है वहाँ।

जाड़ेके दिन, कठोर शीत, सम्पूर्ण प्रकृति ही तो इस शिशिरमें ठिठुर जाती है। गुलाबके पौधोंमें कलियाँ तो आज-कल भी आती हैं; किंतु इस मीलों लंबी-चौड़ी हरीतिमामें अपनी सुरभि प्रसारित कर सके, अपने सौन्दर्यसे लोक-लोचनों-को आह्लाद दान दे पाये, अपने परागसे भ्रमरोंकी मूँछें पीताभ बनाकर मुसकरा सके—कदाचित् किसी एकाध कलिकाको ही यह सौभाग्य मिलता है। कोई ही कलिका पुष्प बन पाती है। कठोर शीत—बेचारी कलियोंका बाहरी पर्दा झुलस जाता है। उसकी पाटलद्युति कालिमासे कलुष हो जाती है। जैसे शीतके भयसे कलिका सिकुड़ी-ठिठुरी पड़ी रह जाती है और जब जीवन विकसित न हो पाये—सूख ही तो जायगा वह।

'देवता ! तू देवता है न ? इसे सार्थक कर दे तब।' उस पागलको एक ही सनक है, वह गुलाबकी सर्दीसे ठिठुरी-मुर्झायी ढेर-सी कलियाँ तोड़ लेता है और शङ्करजीकी पिण्डीपर चढ़ा आता है। तोड़ता है और चढ़ाता है, दिनमें कितनी बार ? कोई संख्या नहीं। कोई क्रम नहीं। वह पागल जो ठहरा।

यह तो पाटलकी भूमि है। इस शिशिरमें भी प्रफुल्लित सौ-दो-सौ पुष्प यहाँ नहीं मिलेंगे, ऐसी तो कोई बात नहीं है। लेकिन वह पागल है न। उसकी दृष्टि जैसे पुष्पोंको देखती ही नहीं। वह तो कलियाँ तोड़ता है, चुन-चुनकर मुरझायी, सूखी-सी कलियाँ और फिर उन्हें देवतापर चढ़ा आता है।

'अपने ही निर्माणको कुचल देनेमें तुझे आनन्द आता है ?' कभी-कभी वह किसी बड़ी-सी कलीको तोड़ लेता है। गुलाबी पँखुड़ियाँ शीतसे सूखकर पीताभ हो गयी होती हैं, कुछ कालिमा आ गयी होती है, कली अपने ही उस अवगुण्ठनमें दृढ़तासे आबद्ध हो गयी होती है और वह उसे इस प्रकार देखता है, जैसे कोई गूढ़ रहस्य ढूँढ़ता हो।

'सौन्दर्य, सौरभ, सौकुमार्यका यह निर्माण और फिर उसे आबद्ध करके व्यर्थ बना देना।' अनेक बार वह आकाश-की ओर बड़ी कठोर भङ्गीसे देखता है। अनेक बार अट्टहास करता है और अनेक बार फूट-फूटकर रोता है।

× × ×

बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं भगवतीप्रसादजीको अपने पुत्र जगदीशसे। जगदीश उनका एकमात्र पुत्र है। पिताका सम्पूर्ण स्नेह पाया है उसने। सृष्टिकर्ताका भी उसे स्नेह मिला है। सुन्दर सुगठित देह है, जन्मजात प्रतिभा है और सम्पन्न घर मिला है। अनेक बार उसे देखकर उसके पिता मन-ही-मन कह उठते हैं—

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।'

ब्राह्मणका यह पवित्र कुल और भगवतीप्रसादजीको तो भगवान् शङ्करकी भक्ति पैतृक सम्पत्तिके रूपमें प्राप्त हुई है। जगदीश शैशवमें ही मातृहीन हो गया यह ठीक है; किंतु पिताने उसे कभी माताके अभावका अनुभव नहीं होने दिया। पुत्रका लालन-पालन और शिक्षा—एक अच्छे सम्पन्न जमींदार-के एकमात्र पुत्रके उपयुक्त ही जगदीशको यह सब प्राप्त हुआ।

बचपनमें जब जगदीश भस्मका त्रिपुण्ड्र लगाकर भगवान् शङ्करको मस्तक झुकाता था, जल-पुष्पादि चढ़ाकर—उस गौर-सुन्दर शिशुकी शोभा देखने ही योग्य होती थी और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके, ग्रेजुएट होकर भी वह वैसा ही आस्तिक, वैसा ही सुशील, वैसा ही विनम्र है। वह दोनों समय संध्या करता है, बड़ी-सी चोटी रखता है, भस्मका त्रिपुण्ड्र लगाता है। जमींदारका पुत्र होकर, उच्च शिक्षा पाकर भी ग्रामके गँवार गंदे लोगोंसे हिलमिल जानेमें, उनसे दादा, चाचा कहकर बात करनेमें, उनकी सेवा-सहायता करनेमें उसे कभी हिचक नहीं होती।

गाँवके लोग भगवतीप्रसादजीको देवता कहते हैं। उनकी कोठी गाँवके पीड़ितोंका, रोगियोंका आश्रय है। कोठीकी दरियाँ, बड़े बर्तन, गैस आदि सामग्री तो जैसे सार्वजनिक सामग्री है। किसीके यहाँ कथा-कीर्तन, ब्याह या दूसरा कोई उत्सव हो तो वह उन सामग्रियोंका बड़ी सरलतासे उपयोग करता है। लेकिन जगदीश भैया तो गाँवके लोगोंके आत्मीय हैं। अपने घरके हैं। वे कब किसके घर पहुँचकर बीमारकी खोज-खबर लेंगे। किसके दर्द करते मस्तकपर ओषधि मलेंगे, किसके रोते बालककी मुट्ठीमें पैसे धर देंगे—इसकी कहाँतक कोई गणना कर सकता है। वे तो दया, सहानुभूति, सेवा और आत्मीयताकी मूर्ति ही हैं।

जगदीश प्रतिभाशाली है। शिक्षाके समय वह कक्षामें सदा प्रथम रहा है। परीक्षामें विश्वविद्यालयमें प्रथम रहा है। सरकारने उसे पुरस्कृत किया है। पिता नहीं चाहते कि वह शिक्षाके लिये विदेश जाय और विदेश जानेकी उसकी अपनी

भी रुचि नहीं है। उसके घर कमी किस बातकी है कि वह नौकरी करेगा।

जगदीश महत्त्वाकाङ्क्षी है। उसकी महत्त्वाकाङ्क्षा उचित है। वह प्रतिभासम्पन्न है। कालेजके व्याख्यानोंमें वह सदा प्रशंसित होता रहा है। उसकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओंमें आदरपूर्वक छापी जाती हैं। वह यशस्वी होना चाहता है और कोई कारण नहीं कि उसे यश न मिले। विहार-प्रान्तकी एक सुप्रसिद्ध पत्रिकाके संचालकोंने उसे आमन्त्रित किया है पत्रिकाका सम्पादन करनेके लिये। पिताने अनुमति दे दी है। वह जायगा—परसों यात्रा करेगा। चलता तो वह दस दिन पहले जाता; किंतु एक महाकाव्य लिखनेमें लगा था वह पिछले वर्षसे। उसके महाकाव्यके अनेक अंश पत्रिकामें छप चुके हैं। जिसने भी उसे सुना है, भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आज अपना महाकाव्य जगदीशने पूरा कर दिया है।

भगवतीप्रसादजीको अपने पुत्रसे बहुत आशाएँ हैं। उनका पुत्र यशस्वी होगा। उनके कुलका गौरव बढ़ायेगा। जगदीशको अपने महाकाव्यसे बहुत आशाएँ हैं। चार दिन बाद वह एक श्रेष्ठ पत्रिकाका सम्पादक होगा, उसका महाकाव्य छपेगा, उस महाकाव्यपर मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक मिलेगा। जगदीश हिंदी-संसारमें सबसे कम अवस्थाका सबसे अधिक प्रख्यात पुरुष होगा।

भगवतीप्रसादजीकी आशाएँ, ग्रामके लोगोंकी आशाएँ, जगदीशकी आशाएँ—स्रष्टाने सबको सुयोग दिया; किंतु स्रष्टा सुयोग देकर सफल ही होने देगा, यह कहाँ निश्चित रहता है। बलिया सदासे बाढ़-पीड़ित क्षेत्र है और गङ्गाजीकी वह बाढ़—ऐसी भयंकर बाढ़की तो कोई कभी कल्पना ही नहीं कर सकता था। इस प्रकार अचानक बाढ़ आया करती है। कहते हैं—कहीं कोई पर्वत टूटकर गिर गया था। गङ्गाजीका या उनकी किसी सहायक धाराका—अब स्मरण नहीं; प्रवाह रुक गया था। जब धाराके वेगसे गिरे पर्वतका बाँध टूटा, किनारेके नगर एवं ग्रामोंमें प्रलय आ गयी।

कितने ग्राम बहे, कितने मनुष्य या पशु मरे, कितनी हानि हुई, यह कोई कैसे अनुमान करे। सरकारी कर्मचारी इधर-उधर दौड़-धूप कर रहे थे। जहाँ गाँव थे, समुद्रके समान वहाँ जल लहरा रहा था। उस प्रखर धारामें सर्वत्र एक बार घूम आना भी सरकारी नौकाओंके लिये शक्य नहीं था। जो गये, वे तो गये ही। जो बच गये थे, उनको बचाये रहनेकी चिन्ता कम बड़ी नहीं थी। स्थान, अन्न, वस्त्र, ओषधि—सहस्रों लोगोंके लिये दो-चार दिनोंमें इनका प्रबन्ध कर लेना क्या कुछ हँसी-खेल है।

भगवतीप्रसादजी, जगदीश, उनका ग्राम—सरकारी कागजोंमें यह लिख दिया गया है कि गङ्गाकी बाढ़ने उस किनारेके ग्रामको पूरा ही बहा दिया। अब तो वहाँ गङ्गाजीने अपना नवीन प्रवाह बना लिया है। क्या हुआ ग्रामका, ग्रामके लोगोंका, भगवतीप्रसादजीका, जगदीशका—कौन जानता है। उस बाढ़के प्रलय प्रवाहमें व्यक्तियोंकी खोज क्या रह सकती थी?

× × ×

जगदीश उस बाढ़के प्रबल प्रवाहमें भी बच गया। प्रारब्ध प्रबल था, किसी झोपड़ीका बहता छप्पर हाथ आ गया था। बहुत दूर जाकर उसे मल्लाहोंने निकाल लिया। दुर्बलता, अनाहार, ज्वर, शोक—बेचारा जगदीश पागल हो गया। वह कहाँ-कहाँ किस प्रकार भटकता यहाँ पहुँचा है, यह उसे भी स्मरण नहीं है।

खूब बड़ा-सा सुन्दर सुरंग पुष्प खिला था। इस शिशिरमें इतना बड़ा, इतना सुरंग पुष्प—जगदीश कभी पुष्पोंकी ओर ध्यान नहीं देता, आज भी नहीं देता; किंतु इस लम्बे-चौड़े खेतमें वह एकाकी पुष्प और इतना बड़ा। गाँवमें आजकल नगरसे एक युवक आया है। लंबे, घुँघराले बालोंमें सुगन्धित तेल लगाये वह प्रायः घूमता रहता है। उसका वेश, उसके वस्त्र, उसकी चाल—कोई कवि होगा। पता नहीं क्यों पागल जगदीश जब उसे देखता है—घूर-घूरकर देखता ही रहता है और फिर ठठाकर हँसता है। वह युवक भी घूमने आया है। वह उस पुष्पके पास खड़ा है, बड़े स्नेहसे पुष्पको देख रहा है। बहुत सम्भव है कि उसका पुष्पको इस प्रकार देखना ही जगदीशकी दृष्टि पुष्पकी ओर खींच सका हो।

जगदीश उस युवकको देखता है और पुष्पको देखता है। वह आज कलियाँ तोड़ना भूल गया है। युवक पुष्पको देख रहा है। इधर खड़े होकर, उधर खड़े होकर, कुछ गुनगुनाकर वह पुष्पको देख रहा है। कितना सौन्दर्य-प्रेमी है वह। कितना स्नेह है इसका पुष्पसे। पागल जगदीश उसे चुपचाप देख रहा है।

युवकने अपनी सुकोमल पतली अँगुलीसे फूलकी टहनी हिला दी। पुष्प झूम उठा। युवक देखता रहा। अब उसने पुष्पकी पँखड़ियाँ धीरेसे स्पर्श कीं। दो क्षण और—और—और युवकने पुष्पको तोड़ लिया। तोड़कर नेत्रोंसे लगाया, कपोलोंपर फिराया और पुष्पको लिये चल पड़ा। चल पड़ा उसके पीछे-पीछे पागल जगदीश भी।

युवकने पुष्पको अपने कोटके जेबमें रक्खा; फिर निकाला, फिर रक्खा, बार-बार सूँघा, बार-बार घुमाया और यह क्या? वह पुष्पकी एक-एक पँखड़ी नोचता भूमिमें गिराता चला जा रहा है। अपने गुनगुनानेमें मस्त चला जा रहा है। पुष्पके प्रति उसका कुछ स्नेह भी था, यह जैसे उसे स्मरण भी नहीं। पागल जगदीश चीख पड़ा और भागा-भागा वह उलटे पैर और सीधे उस शङ्करजीकी पिण्डीके पास पहुँचा, जहाँ उसने आज सवेरेसे अञ्जलि भर-भरकर मुर्झायी कलियाँ चढ़ायी हैं।

'देवता! तू देवता है। तू ठीक करता है। ये कलियाँ धन्य हैं। ये सफल हैं। ये पुष्प बनतीं तो इन्हें भी कोई तोड़कर बिखेर देता। इनकी पँखड़ियाँ भी कोई पैरोंसे कुचल देता।' पागल जगदीशके नेत्रोंसे आँसूकी धाराएँ गिर रही हैं। वह अपने अश्रुसे भगवान् शङ्करका अभिषेक कर रहा है। 'जगत्का प्यार जिसपर प्रलुब्ध होता है, उसे कुचल देता है, नष्ट कर देता है। जगत् कृतघ्न है। वह जिसे चाहता है, उसे चूस लेता है।'

जगदीश एक-एक कलीको उठाता था, सिरसे लगाता था और फिर भगवान् शङ्करकी मूर्तिपर चढ़ा देता था। वह पागल है; उसके जो मनमें आती है, करता है। वह कहता जा रहा है—'लेकिन देवता! तब तू सौन्दर्य, सौरभ, सौकुमार्य देता क्यों है? अपने आपमें वह आबद्ध होकर कुचल उठे—उनमें घुटता रहे, ऐसा तू क्यों करता है?'

'इसलिये कि मैं अन्तरमें हूँ। अन्तरमें स्थित मुझे ही अर्पित होकर जीवन सार्थक होता है, अनन्त होता है, धन्य होता है।' जब कोई भी एकान्तनिष्ठासे विश्वके अधिदेवताको सम्बोधित करता है, वह पागल है या सचेत, इसका प्रश्न नहीं रह जाता; वह चिद्घन उसे अपने चैतन्यके अनन्त प्रवाहसे निश्चय ही आप्लुत कर देता है। उसे—उस सर्वव्यापीको कोई हृदयकी वाणीसे सम्बोधित करे और उत्तर न मिले, यह तो कभी हुआ नहीं, हो सकता भी नहीं। जगदीशका अन्तर्यामी आज उसके लिये जाग गया है। वैसे तो वह नित्य जागरूक है। लेकिन आज वह जगदीशको उत्तर देने लगा है।

'जो अपनी प्रतिभा, अपने सद्गुण, अपने ऐश्वर्यसे जगत्को तुष्ट करना चाहता है, वह बहिर्मुख होता है। जगत्से उसे दो क्षणका स्नेह, कृत्रिम-सुयश एवं सौहार्द मिलता है और वह नष्ट हो जाता है। जगत् उसे चूस लेता है, नष्ट कर देता है।' जगदीश आज अपने अन्तर्यामीकी दिव्य वाणी सुन रहा है 'मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसे अन्तर्मुख बनाता हूँ। उसे जगत्के प्रलुब्ध नेत्रोंसे बचाता हूँ। उसका सौरभ, उसके सद्गुण, उसके भाव अपने अन्तरमें स्थित मुझे समर्पित होते हैं। वह आनन्दमय हो जाता है। वह शाश्वत जीवनकी गोदमें अनन्त क्रीडा करता है।'

'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' पागल जगदीश—लेकिन उसका नाम यहाँ कोई नहीं जानता। यहाँ तो वह केवल पागल कहा जाता है। अब वह रोते नहीं देखा जाता। वह रामायणकी एक अर्धालीका आधा गुनगुनाया करता है और प्रायः हँसता रहता है। खूब खुलकर हँसता है वह।

'तुम क्या गाते हो?' कोई भी उस पागलसे चाहे जब पूछ ले, उसका एक ही उत्तर है—'अरे रोना धोना मत! घबराना भी मत! राम जो करते हैं, बड़ा अच्छा करते हैं। वे हम सबका सदा मङ्गल ही करते हैं, भला!'

गाँवके बाहर जो हनुमान्जीका मन्दिर है, उसपर एक संत आये थे। रमते राम संत आये और गये। उनका क्या कोई नाम, ग्राम जान पाता है? लेकिन वे कह गये—'यह पागल नहीं है। यह तो बहुत उच्च स्थितिका संत है।' गाँवके भोले लोग—वे अब पागल जगदीशकी यथासम्भव सेवा करते हैं। उसे महात्मा मानते हैं। वह महात्मा है? लेकिन वह महात्मा न हो तो महात्मा होगा कौन? एक युवक जो सम्पादक बनने जा रहा था, कवि बन चुका था—संत हो गया। बनानेवालेके हाथ समर्थ हैं, वह किसे कब क्या बना देगा—……।

ये महापुरुष और महात्मा ! भगवान् इनसे बचावें

एक पत्र मिला है । पत्र-लेखकने किसी महापुरुष-को, उनके संकीर्तन करते-करते बेहोश होकर गिर पड़ने, अश्रुपात होने आदिसे प्रभावित होकर अपना गुरु माना और उनके आदेशानुसार पढ़ना-लिखना छोड़कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया । पर पीछे उन 'महापुरुष'के चरित और आचरणोंको देख-सुनकर इनके हृदयपर बड़ा धक्का लगा और मनमें तर्क-वितर्कके साथ ही यह भय उत्पन्न हो गया कि कहीं इनसे गुरु-अपराध तो नहीं बन रहा है । पत्र-लेखकका कहना है—

"वे बड़े-बड़े लोगोंके यहाँ ठहरते,·······व्याख्यान आदि खूब झाड़ते ही थे और 'महापुरुष' कहकर अपनेको संकेत करते; बेचारे लोगोंकी भावना तो यही है कि ये साक्षात् श्रीचैतन्य महाप्रभुके अवतार हैं तथा मेरी भी यही भावना थी । परंतु जब मैं अत्यन्त निकटतम रहा, उनके दिन-रातके चरित्र मेरे दिमागमें भर गये । वेष-भूषा तो पूर्ण गृहस्थोंका-सा था ही, × × × विलासिताकी भी पराकाष्ठा । दिनमें सौ-सौ पान, तम्बाकू पीना तथा सुन्दर सात्त्विक नवसुकुमारियों-के सतीत्वको नष्ट करना, × × × × मैंने प्रत्यक्ष आँखोंसे देखा तब मैं उनका साथ छोड़कर भाग निकला × × × × । तीन मास बाद पत्रव्यवहार किया। वे···· एडवोकेट × × × के यहाँ ठहरे हुए थे । मैंने यही लिखा कि 'श्रीमहाप्रभुजी आदि संतोंका न यह आदेश है, न उनका आचरण ही ऐसा था ।' तथा गोसाईंजीकी चौपाई भी लिखी—

राम चरन पंकज अनुरागे । ते सब भोग रोग सम त्यागे ॥
राम चरन पंकज अनुसरहीं। विषय भोग बस करहिं कि तिनहीं॥
रमाविलास राम अनुरागी । तजत बमन इव नर बड़भागी ॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

—आदि । उन महापुरुषजीने उत्तरमें लिखा—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसो न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥

'मैं समर्थ हूँ, मुझे कोई दोष या पाप नहीं ।'

उनके प्रभावशाली विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानपर बड़े-बड़े मुग्ध होकर उन्हें अपने यहाँ ठहराते हैं और उनका यही कार्य है कि भोली-भाली कुमारियोंके साथ दुराचरण, यही कहकर कि 'तुम्हारी कामवासना नष्ट करूँगा वा भगवद्-अनुभव कराऊँगा ।' अनभिज्ञ बालिकाएँ क्या समझें, वह जायँ उनके कहनेमें × × × × । उनका यह अत्याचार अभी चल रहा है·······बड़े-बड़े लोगोंके यहाँ ठहरते हैं । उन बेचारोंको समय भी कहाँ यह सब देखनेको । मैं भी गुरु-अपराधके भयके मारे किसीसे प्रकट नहीं कर सकता ।

मेरे जीवनका क्या होगा, मैं तो पथभ्रष्ट हो चुका । दिन-रात उसकी शङ्काएँ दिमागमें भरी रहती हैं । क्या वास्तवमें महापुरुषका आचरण ऐसा ही होता है ? इन विचारोंमें मैं तो भगवन्नाम भी भूल चुका हूँ × × × । एक संत मिले थे । उनके आज्ञानुसार आपकी सेवामें अपने दुःखको रो रहा हूँ । कुछ समझमें नहीं आता । भयभीत हूँ गुरु-अपराध आदिसे । क्या करूँ, किस प्रकार भजनका आनन्द ले सकूँ । उनके अनुयायी हजारोंकी तादादमें हैं । खूब मनमाना कर रहे हैं । × × × × मैं आपके उत्तरकी प्रतीक्षामें हूँ ।"

एक दूसरा पत्र एक संन्यासी महोदयका मिला है । वे लिखते हैं—"× × × × इस प्रकारका उपदेश दिया जा रहा है कि 'जगत् मिथ्या है, अन्तःकरणके मिथ्या दोष हैं, द्रष्टा आत्मा साक्षी असङ्ग है, इसलिये मिथ्या व्यवहारोंसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं । सभी भोग इन्द्रिय-जन्य ही तो हैं, इसलिये ये सभी भोग देहस्थितिपर्यन्त हैं, अतः निर्दोष हैं ।' एक महान्

अनर्थ और भी हो रहा है। वे समझाते हैं कि जैसे पत्नीका गुरु पति है, ऐसा शास्त्रोंमें देखा जाता है और जब पतिरूप गुरुका पत्नीके साथ विषयभोग निर्दोष है, तब गुरुके साथ भी शिष्याका विषयभोग निर्दोष है। जबतक पति है, तबतक तो पतिसे ही विषयतृप्ति की जाती है, पतिकी मृत्युके बाद गुरुरूप पतिसे भोगमें कोई दोष नहीं है × × × × एक 'महात्मा' कहलानेवालेने अपनी एक विधवा शिष्याको अपने पास रक्खा है, उनको कोई दोषी बतलाते हैं तो कहा जाता है कि 'समरथको नहिं दोष गुसाईं।' एक दूसरे महात्मा भी × × × × ऐसे ही अपनी वासना पूर्ण कर रहे हैं। × × × × यह उपदेश दिया जाता है कि 'अपने गुरुको भगवान्‌से भी बढ़कर मानना चाहिये। देखो रामायणमें ऐसा कहा है, भागवतमें ऐसा कहा है। अपना महत्त्व सिद्ध करनेके लिये शास्त्रोंके प्रमाणोंका उदाहरण देते हैं और अपने मतको पुष्ट करते हैं। कहते हैं कि 'राम, कृष्ण, शङ्कर, विष्णु, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि तो ज्ञानी थे। इनकी पत्नियोंने इन पतियोंको गुरु बनाकर अपना उद्धार कर लिया, पर आजकलके पति तो मूर्ख तथा अज्ञानी हैं। अतएव उन्हें गुरु न मानकर अपने कल्याणके लिये महात्माओंको ही गुरु बनाना चाहिये' आदि, बेचारी भोली-भाली अनभिज्ञ दुनियाँ इनके वाग्जालमें फँस जाती है।

ऐसे और भी पत्र, जिनमें ऐसे महात्मा तथा महापुरुषोंके द्वारा धोखा खाये हुए लोगोंके पत्र भी होते है,— आते रहते हैं। इसपर क्या कहा जाय। साधकको तो किसीका दोष न देखकर अपने साधनमें ही लगे रहना चाहिये। उसके लिये इन लोगोंके पापोंको देखना, उसकी आलोचना करना तथा चिन्तन करना हानिकर ही होता है। भजन, भगवान्‌का चिन्तन छूट जाता है और पापचिन्तन होने लगता है। इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने पापियोंके प्रति 'उपेक्षा' करनेका आदेश दिया है। और साधकको अपने लक्ष्यपर स्थिर रहकर साधन-मार्गमें अग्रसर होनेके लिये इस झगड़ेमें पड़ना ही नहीं चाहिये—

> तेरे भावे जो करो, भलो बुरो संसार।
> नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥

जगत् गुण-दोषमय है ही। जहाँ अच्छे साधु-महात्मा हैं, वहाँ साधु-महात्माओंका वेष बनाकर धूर्तोंका भी उस वेषसे अनुचित लाभ उठाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। तथापि आजकल इस प्रकारका दम्भ बहुत अधिक बढ़ रहा है, इसका प्रतीकार भी आवश्यक है। परमार्थ, भगवान्, वेदान्त, प्रेम, भक्ति और धर्मके नामपर होनेवाला अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार बड़ा ही भयानक होता है। इसमें किसी भी प्रकारसे सहारा देना पाप है। उपर्युक्त पहले पत्र-लेखकके लिये हमारी यह सम्मति है कि वे ऐसे गुरुका तत्काल त्याग कर दें। धोखेसे हम यदि किसी चोर, डाकू या व्यभिचारीको भलामानस मान लें और पता लगनेपर उसे छोड़ दें तो यह कोई अपराध नहीं है; बल्कि उसके साथ रहकर उसके पापमें प्रकारान्तरसे सहायता करना ही अपराध है। इनको यह भी चाहिये कि ये उन भले लोगोंको सावधान भी कर दें, जिनके यहाँ वे 'महापुरुष' ठहरते हैं और दुराचार करते हैं। ऐसा करना धर्म होगा, पाप नहीं। भजनमें प्रधानरूपसे मन लगाइये। भजनमें मन लगनेपर निश्चय ही आपका कल्याण होगा।

संन्यासी महोदयने जो कुछ लिखा है, वह भी इसी प्रकारका पाप है। हमारा बड़ा ही दुर्भाग्य है जो आज हमारे आदर्श पूज्य पुरुषोंके, धार्मिक नेताओंके और आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक महात्माओंके पवित्र आसनोंपर ऐसे बहुत-से दुराचारी, अनाचारी, विषय-लोलुप प्राणी आ डटे हैं, जो प्रच्छन्न नास्तिक हैं और अपनी पाप-वासनाओंकी पूर्तिके लिये नाना प्रकारके वाग्जाल फैलाकर श्रद्धावान् विश्वासी जन-समूहको धोखा देकर

स्वयं नरक-यन्त्रणा-भोगके लिये प्रस्तुत हो रहे हैं और श्रद्धालु जनताके स्त्री-पुरुषोंको भी नरकानलमें ढकेल रहे हैं। ये लोग धर्म तथा समाजके कलङ्क हैं और इनसे समाजको अवश्य बचना-बचाना चाहिये।

बड़ी-बड़ी ज्ञानकी बातें करने, आँसू बहाने, नाचने, मूर्छित होकर गिर पड़ने, आँखें मूँदकर समाधि-सी लगाने तथा शास्त्रोंकी विलक्षण व्याख्या करने तथा ज्ञान एवं प्रेमकी प्रक्रिया बतानेसे ही कोई ज्ञानी या प्रेमी महात्मा नहीं हो जाता। नाटकोंमें अभिनय करनेवाले नट भी व्यास, शुकदेव, शंकराचार्य, बुद्ध, श्रीचैतन्य महाप्रभुका सफल अभिनय कर सकते हैं, पर वे इससे महात्मा या महापुरुष नहीं हो जाते। इतना अवश्य है, इन नटोंसे कोई ठगा नहीं जाता; परंतु जो वासनाके गुलाम धूर्तलोग अपनेको सच्चे साधु, महात्मा या महापुरुष बतलाकर जनताके धन, धर्म और सदाचारको लूटते हैं, वे तो बड़े ही भयानक हैं। समाजके कोढ़रूप इन लोगोंसे सावधानीके साथ बचे रहनेमें ही कल्याण है। हर-किसीको महात्मा या महापुरुष मानकर घरमें ठहराना तथा अपने घरकी बहू-बेटियोंको उनकी सेवामें लगाना बहुत खतरेकी चीज है। इसपर सभीको ध्यान देना चाहिये।

इसीलिये 'कल्याण'में बार-बार सबको सावधान किया जाता है। माता-बहिनोंसे हमारा विशेषरूपसे अनुरोध है कि वे इन भेंड़की खालमें घुसे हुए भेड़ियोंसे बचें। किसीको भी साधु, महात्मा या महापुरुष मानकर उसे न गुरु बनावें और एकान्तमें तो भूलकर भी किसीसे न मिलें। किसीका भी चरण-स्पर्श न करें। सेवाके भावसे भी किसी पर-पुरुषके शरीरको छूना पाप समझें। महापुरुषों और गुरुओंके पास एकान्तमें ले जाकर उपदेश दिलानेवाली स्त्रियोंसे भी सावधान रहें। कहीं जाना हो तो अपने पिता, पति, पुत्र या अभिभावक आदिके साथ ही जायँ। आजकल चारों ओर यही दुर्दशा है। भगवान् इन महापुरुषों और महात्माओंसे समाजको बचावें।

कुछ दिनों पूर्व बंबईसे एक पत्र मिला था, जिसका सारांश है कि "गत अगस्तमें ३०।४० खाकियोंकी जमात उनके महंतके साथ सौराष्ट्रमें आयी थी। महंतका रहन-सहन बहुत ही खर्चीला था। × × × महंतने अपने प्रवचनोंमें कहा कि श्रीरामके एक पुत्रका नाम 'लव' था। और उसीके वंशज 'लवाना' नामसे प्रसिद्ध है। सौराष्ट्रमें लवाना जाति आजकल बहुत सम्पन्न है और उस लवाना जातिका ध्यान अपनी ओर खींचनेके लिये ही यह कहानी कही गयी है।

महंतने कहा कि 'उसने गोरखपुरमें कल्याण प्रेसके चालू करनेके लिये बहुत रुपये दिये थे और वहाँ उसकी बहुत बड़ी रकम जमा है। अयोध्यामें उसकी बड़ी सम्पत्ति है और ४२ गाँव उसे जयपुर स्टेटकी ओरसे भेंटमें मिले हैं।'

वह राजसी ठाटसे रहता है और जनतासे लेकर बहुत धन खर्च करता है।

कहा जाता है कि एक 'लवाना' सज्जनने सौराष्ट्रमें बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर उसपर लगभग एक लाख रुपये खर्च कर दिये। विष्णुयज्ञ करने, अयोध्यामें सम्पत्ति खरीदने और हरद्वारमें जमीन खरीदनेके लिये भी उन्होंने बहुत रुपये दिये। मैं नहीं कह सकता कि उन लवाना सज्जनको उस महंतके द्वारा कितनी विभूति, शक्ति या सफलता मिली, पर जनताका तो यही कहना है कि उक्त लवाना सज्जन तबसे विशेष विपत्तिमें हैं।

× × × ×

कुछ समय पहले 'पीपाड़' (मारवाड़) से भी पत्र मिले थे, जिनमें लिखा था कि 'एक साधुओंकी किसी जमातके महंतजी कहते हैं कि कल्याणमें जो 'कामके पत्र' शीर्षकसे पत्रोंके उत्तर छपते हैं, उन्हें मैं

ही लिखता हूँ और गीताप्रेसकी स्थापना मैंने ही की है।' पता नहीं, यही जमात सौराष्ट्रमें गयी थी या वह दूसरी थी।

भगवान् श्रीरामके पुत्र लवसे सौराष्ट्रकी 'लवाना' जातिका क्या सम्बन्ध है, इसका तो हमें पता नहीं, यद्यपि हमने यह बात इससे पहले कभी नहीं सुनी। पर 'गीताप्रेस' तथा 'कल्याण' के सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है, वह तो सर्वथा मिथ्या है। न तो किसीसे भी कभी 'कल्याण' प्रेसके चालू करनेके लिये एक पैसा लिया गया है, न किसी महंतका एक भी पैसा गीताप्रेसमें जमा ही है और न 'कामके पत्र' ही कोई महंत लिखते हैं। ये सारी बातें मिथ्या, धूर्ततापूर्ण और विश्वासी लोगोंको ठगनेके लिये गढ़कर कही गयी हैं। गीताप्रेसको ऐसे लोगोंपर कानूनी कार्यवाही करनेकी सलाह मिली है। भोले-भाले भाई ऐसे लोगोंको महात्मा मान लेते हैं और लोक-परलोककी झूठी-झूठी आशाएँ बाँधकर धन-धर्मका नाश करते हैं। ऐसे ठग साधु-समाजको कलङ्कित करते हैं। इनसे सदा सावधान रहना चाहिये। कोई भी मनुष्य अपनेको गीताप्रेससे सम्पर्क रखनेवाला बतावे तो पहले पत्र लिखकर पूछ लें, तब उसकी बात मानें। रुपये-पैसे किसीको कभी दें ही नहीं और महात्मा मानकर उनके शिष्य बननेका भी विचार न करें। माता-बहिनें ऐसे धूर्तोंसे विशेषरूपसे सावधान रहें।
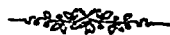
प्रणाम

ब्रह्माकी भी सृष्टि स्वयं ही जो करते हैं।
सारे भवको भव्य भूतिसे जो भरते हैं॥
होकर भव भूतेश विभवको जो हरते हैं।
नाना नाम-स्वरूप सर्वदा जो धरते हैं॥
ऐसे आदिम पुरुषको भजो प्रेमसे, भक्तिसे।
सब कुछ होता है सदा जिनकी अनुपम शक्तिसे॥१॥

जो अनादि हैं, अन्त-रहित भी कहलाते हैं।
जो निर्गुण हैं और सगुण भी हो जाते हैं॥
दर्शक, लोचन, दृश्य सभीमें जो पाते हैं।
देव-दनुज, गुण, मनुज सदा जिनके गाते हैं॥
ऐसे कविको, विष्णुको, कविके कोटि प्रणाम हैं।
जो त्रेतामें राम हैं, जो द्वापरमें श्याम हैं॥२॥

—पु० प्रतापनारायण

भक्त-गाथा

[भक्त श्रीरामदासजी]

प्रान्तभरको अन्न-जल प्रदान करनेवाली पवित्र नदी गोदावरीके तटपर एक छोटे-से गाँवमें रामदासजी रहते थे। रामदासजी ब्राह्मण होकर भी उच्चवर्णके अभिमान-से रहित थे, विद्वान् होकर भी सबका आदर करते थे, घरके स्वामी होनेपर भी किसीपर हुक्म नहीं चलाते थे—अपनेको अतिथिके सदृश मानकर सदा यह ध्यान रखते थे कि उनके कारण किसीको भी कभी, कुछ भी कष्ट या संकोचमें न पड़ना पड़े। किसीसे सेवा कराना तो उनके स्वभावसे सर्वथा विपरीत था। झाड़ू लगाना, कपड़े धोना आदिसे लेकर श्रीभगवान्‌की पूजातक अपना सारा काम वे अपने हाथों करते थे। सदा हँसमुख रहना, सबसे मधुर तथा नम्र वाणीसे बोलना, बड़ोंका आदर करना, छोटोंसे प्यार करना, गरीबोंके साथ विशेष प्रेमका व्यवहार करना, मधुर और हितकर बनाकर केवल सत्य कथन करना, इन्द्रियोंपर काबू रखना और भगवान्‌का निरन्तर स्मरण करते हुए ही सब कार्य करना—मानो उनकी जीवनचर्याका सहज स्वरूप था। यह सब उन्हें प्रयत्न करके करना नहीं पड़ता था; जैसे सूर्यमें प्रकाश, अग्निमें दाहिका शक्ति स्वरूपगत होती है, वैसे ही ये सब गुण उनमें स्वाभाविक स्वरूपगत थे।

घरमें सती स्त्री, एक पुत्र और पुत्रवधू थी। एक कन्या थी, जिसका विवाह हो चुका था। तरुण पुत्र ग्रामकी संस्कृत पाठशालाके अध्यापक थे। माता-पिताकी सेवा करना अपना परम सौभाग्य मानते थे। पर पिता तो कभी किसी सेवाका अवसर ही नहीं देते थे। जिसको किसी दूसरेसे सेवा करानेमें दु:ख होता है, उसको उसकी इच्छाके प्रतिकूल सेवा करानेके लिये बाध्य करना तो उसकी कु-सेवा करना है तथा जो अपनी इच्छाके विरुद्ध—धर्म उपस्थित होनेपर पुत्र-पत्नी आदिसे सेवा करानेको बाध्य होता है, वह सेवा कराकर वस्तुतः सेवा कराता नहीं, उनकी सेवा करता है; क्योंकि उसका उद्देश्य अपने सुखके लिये किसीसे सेवा कराना नहीं, वरं दूसरेकी प्रसन्नताके लिये सेवा करानेको बाध्य होना है। इसी प्रकार रामदासजी भी कभी-कभी पितृभक्त अपने पुत्र नारायणदाससे सेवा करानेको बाध्य होते थे। पुत्रवधू अपनी सासकी सेवा करनेमें और सासको कुछ भी काम करनेका अवसर सहजमें न देकर घरका सारा काम स्वयं करनेमें अपना परम सौभाग्य समझती थी। रामदासजीकी पत्नी मनोरमा अपनी पुत्रवधू सरलाके साथ अपनी पुत्री विमलासे भी बढ़कर स्नेहका व्यवहार करती थीं। घरके सभी लोग एक दूसरेको सुख पहुँचानेमें ही सुखका अनुभव करते थे, वे स्वभावसे ही अपनी सुख-सुविधाका त्याग करके एक-दूसरेको सुखी करना चाहते थे, सुतरां रामदासजीका घर सर्वथा 'सुखसदन' हो रहा था। कलह, झगड़ा, झुँझलाहट, द्रोह, क्रोध, कठोर वाणी आदिका मानो उनके घरमें प्रवेश निषिद्ध था। भगवान्‌की बड़ी कृपा होनेपर ही इस प्रकारकी स्थिति होती है।

रामदासजीको तो घरकी इस अनुकूल स्थितिमें कोई ममत्व या मोह नहीं था; परंतु रामदासजीकी पत्नी मनोरमा घरके सुखका अनुभव करती थीं, उनके मनमें यह अभिमान होने लगा था कि मेरे समान सुखी और कौन है? बात तो सच्ची थी। घरकी सभी अनुकूलता उन्हें प्राप्त थी, परंतु उसमें अभिमान करके अपनेको सुखी मानना उनका मोह था। एक सुन्दर बगीचेमें जो रंग-बिरंगे पुष्प खिल-खिलकर अपनी मधुर सुगन्धसे सबको मोहित करते हैं, बढ़िया फल लगकर बगीचेकी महत्ता बढ़ाते हैं, यह मालीके लिये अवश्य ही बड़े सुखका प्रसंग है। परंतु माली उनपर अपना अधिकार

मानकर मोह-ममता नहीं करता, उन्हें मालिककी सेवामें पहुँचाकर प्रसन्न होता है। पेड़ लगाना, उनमें खाद देना, जल सींचना, आँधी-तूफान तथा पशु-पक्षियोंसे बचाना, बढ़िया-बढ़िया फल-फूल उत्पन्न करना, फल-फूलोंकी रक्षा करना मालीका कर्तव्य है, पर वह यह सब करना है—स्वामीको अर्पण करके उसे सुख पहुँचानेके लिये। और इसीमें वह सुखी होता है। न बगीचेकी किसी वस्तुमें ममत्व करता है, न स्वयं उसका उपभोग करता है। इसी प्रकार संसारके—घरके सब प्राणि-पदार्थोंको भगवान्की वस्तु मानकर उनकी सेवा-सँभाल करना और प्रभुके इच्छानुसार समयपर उन्हें प्रभुके समर्पण करके सुखी होना चाहिये। जहाँ ममता आयी, वहीं मोह हुआ। मनोरमा देवीको कुछ ऐसा मोह हो चला था। इस मोहका हटना आवश्यक था। भगवान्का मङ्गल-विधान तो पूर्वनिर्मित था ही।

एक बार गाँवमें बड़े जोरसे हैजा फैला; धड़ाधड़ लोग मरने लगे। इक्के-दुक्के आदमी मरते हैं, तब तो लोग मानते हैं कि ये अपनी मौत मरे, पर जब महामारी, भूकम्प, बाढ़, किसी दुर्घटना आदिने बहुत-से आदमी एक ही स्थानपर एक साथ मरते हैं, तब लोग समझते हैं कि यह अकालमृत्यु हो रही है, यह कोई नयी बात हो रही है। पर वस्तुतः न तो अकालमृत्यु होती है, न कोई नयी बात ही होती है। जीवोंके कर्मवश प्रभुके मङ्गलविधानसे ही सब कुछ होता है। वही मङ्गलविधान यहाँ भी काम कर रहा था। देखते-ही-देखते हैजा श्रीरामदासजीके गृहमें भी आ गया और तीन ही दिनोंमें पुत्र और पुत्रवधू दोनोंका देहान्त हो गया। रामदासजीकी पत्नी मनोरमाको बड़ा ही दुःख हुआ। रामदासजीने पत्नीको समझाते हुए कहा—

'मनोरमा! तुम इतना दुःख क्यों कर रही हो? पुत्र तथा पुत्रवधूका इतने ही दिनोंका हमारे साथ संयोग था। जैसे जलके वेगसे बालूके बहुतसे कण परस्पर जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही कालके प्रवाहसे प्राणियोंका मिलना और बिछुड़ना होता रहता है। यहाँ किसीका नित्य सम्बन्ध नहीं है। तुमने उनको अपना पुत्र तथा पुत्रवधू मानकर उनमें ममता कर ली थी, उनके अनुकूल आचरणोंमें सुख मानकर उनमें मोह बढ़ा लिया था, इसीसे आज तुम्हें इतना दुःख हो रहा है। जगत्में प्रतिदिन कितनी माताओंके पुत्र मरते हैं, अभी अपने ही गाँवमें कितने बालक और युवा हैजेसे मर गये, तुम किस-किसके लिये रोयी? इसीलिये नहीं रोयी कि उनमें तुम्हारा ममत्व नहीं था। ये पुत्र-पुत्रवधू भी यदि तुम्हारे प्रतिकूल आचरण करनेवाले होते तो तुम्हारा उनमें ममत्व और मोह न होता और तुम नहीं रोती। जीव नित्य है, शरीर अनित्य है। शरीरका सम्बन्ध शरीरतक ही है। फिर यह दुःख क्यों? तुमने उनसे सुख माना था, इसीसे तुम्हें दुःख हो रहा है। इसके अतिरिक्त, यदि तुम नारायणदास और सरलाको भगवान्की दी हुई उन्हींकी वस्तु मानती तो भी तुम्हें दुःख नहीं होता। यहाँ जो कुछ होता है, सभी भगवान्की देख-रेखमें, उनके नियन्त्रणमें, उन्हींके मङ्गलविधानके अनुसार होता है। वे प्रभु हमारे ही नहीं, जीवमात्रके परम सुहृद् हैं। उनके मङ्गलविधानके अनुसार यदि नारायणदास और सरला तुम्हारे पास न रहकर प्रभुके पास चले गये तो इसमें रोनेकी कौन-सी बात है। उनकी चीज थी, उन्हींके आदेशसे हमारे पास थी। हमारा काम तो, जबतक प्रभुकी वह चीज हमारे पास थी, तबतक प्रभुके आज्ञानुसार प्रभुके प्रीत्यर्थ उसे सँभालना और उसकी सेवा करना था, अब प्रभुने अपनी वह चीज अपने पास मँगवा ली, हमने उसे अच्छी तरह सजा-बनाकर, उपयोगी बनाकर उनके पास भेज दिया, उनकी चीज सुन्दर रूपमें उनके समर्पण कर दी गयी, यह तो आनन्दकी बात हुई। एक दूसरी बात यह है कि इधर जबसे नारायणदास और सरलाकी ओर तुम्हारा ममत्व बढ़ा और तुमने उनमें तथा उनसे सुख माना,

तभीसे तुम क्रमशः प्रभुको भूली जा रही थी, तुम्हारा मन दिन-रात उन्हींमें रमने लगा था। हमारे कृपालु प्रभु तुम्हारी इस विपरीत गतिको कैसे देख सकते थे। अतएव तुम्हें विपरीत मार्गसे हटाकर दुर्गतिसे बचानेके लिये ही प्रभुने ऐसा किया है। तुम प्रभुके सम्बन्धसे उनसे सम्बन्ध जोड़ती, प्रभुकी वस्तु जानकर उनसे स्नेह करती, तब तो आपत्ति नहीं थी, पर तुमने तो उनको अपनी वस्तु मान लिया था। भला, दूसरेकी वस्तुपर अपना अधिकार माननेवाले, दूसरेकी चीजको अपनी समझ लेनेवालेके पास वह वस्तु कैसे रह सकती है? वह तो उससे छीनी ही जायगी। भगवान्‌ने तुमपर बड़ी कृपा की है जो तुम्हारे मोहके बन्धनको—ममताकी बेड़ीको सहज ही काट दिया। अब तुम निश्चिन्त होकर भगवान्‌का भजन करो और मनुष्य-जीवनको सफल बनाओ।

'देखो—संसारके ये सब प्राणि-पदार्थ—स्त्री-स्वामी, पुत्र-पौत्र, मित्र-स्वजन, सगे-सम्बन्धी, घर-जमीन, धन-सम्पत्ति, सम्मान-यश तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धरूप समस्त विषय अनित्य हैं और शोक, मोह, भय तथा दुःखकी उत्पत्तिके स्थान हैं; ये सभी अपूर्ण और अनित्य हैं, अतएव किसी भी प्रकारसे सुखके हेतु नहीं हैं, इनमें सुख खोजनेवालेको निश्चय ही निराश होना पड़ता है और हाथ मल-मलकर पछताना-रोना पड़ता है। इसलिये तुम इन मिथ्या तथा दुःखदायी विषयोंसे चित्तको हटाकर नित्य सच्चिदानन्दघन परम सुखरूप भगवान्‌में मन लगाओ।'

पुत्र एवं पुत्रवधूके आकस्मिक मरणसे संसारकी क्षणभङ्गुरता प्रत्यक्ष हो गयी और भक्त पतिके सदुपदेशसे, मनोरमाकी मति, जो मोह-ममताकी रात्रिमें घोर निद्रामें सो रही थी, तुरंत जाग गयी। उसकी बुद्धिमें प्रकाश छा गया, भगवान्‌की कृपाके दर्शन हुए और मनोरमा समस्त स्नेह-बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌के भजनमें लग गयी। भाई और भौजाईकी मृत्युका संवाद सुनकर रामदासजीकी लड़की विमला ससुरालसे आयी, परंतु उसने आकर माताको बिल्कुल दूसरे ही रंगमें पाया। पिता तो पहलेसे ही श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके श्याम रंगमें डूबकर, अपनी मोह-कालिमाको धोकर, परम उज्ज्वल बन चुके थे, अब माता मनोरमा भी श्याम रंगसे रँग गयीं। विमलाने देखा—माता भगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने बैठी हर्षोत्फुल्ल हृदयसे उनका नामोच्चारण कर रही है। मुखपर म्लानताका जरा भी चिह्न नहीं है। पुत्रीको आयी देखकर माताने कहा—'बेटी! तुम्हारे भाई-भौजाई बड़े भाग्यशाली थे, उन्हें प्रभुने अपने धाममें बुलाकर अपनी सेवामें लगा लिया। फिर, वे प्रभुकी ही तो वस्तु थे। प्रभुने उन्हें हमारे पास इसीलिये भेजा था कि उन्हें प्रभुकी सेवाके उपयोगी बनाकर हम प्रभुके समर्पण कर दें। आज बड़ा आनन्द है कि प्रभुकी वह प्यारी वस्तु प्रभुके समर्पित हो गयी। यही तो मनुष्यका परम सौभाग्य है।'

मनोरमाके वचनोंका विमलापर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह भाई-भावजके दुःखको भूल गयी और उसने भी अपने जीवनकी गति क्रमशः बदल दी। कुछ दिनों बाद वह ससुराल चली गयी।

अब भक्त रामदासजी और मनोरमाका जीवन 'प्रभुमय' हो गया। वे दोनों मानो मूर्तिमान् तितिक्षा और वैराग्य, तपस्या और संयम, भक्ति और प्रेम तथा अनुभूति और ज्ञानस्वरूप हो गये थे। उनका अन्तिम जीवन तो सर्वथा समाधिमग्न योगियोंका जीवन था। पर यह समाधि थी भगवत्प्रेमकी—भगवत्-रसकी। अद्वैत था पर था रसाद्वैत। अन्तमें दम्पति अस्सी वर्षकी अवस्थामें भी बिना वृद्धावस्थाको प्राप्त हुए, भगवत्प्रेममें झूमते हुए उन्मत्तवत् नाम-गुण-कीर्तन-ध्वनि करते-करते प्राणोंका त्याग कर परम धामको पधारे।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

सुन्दर जीवन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

हम अपने जीवनमें सुन्दरता चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सुन्दर नौकर मिले, सुन्दर मित्र मिले, सुन्दर पति मिले, सुन्दर पत्नी मिले—प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर-ही-सुन्दर चाहता है। सुन्दरका अर्थ आकृति नहीं है, सुन्दर जीवन है। सुन्दरताकी कसौटी यह है कि हमें सुन्दर स्त्री मिले तो प्रेमसे सेवा करे, आज्ञा माने, सुन्दर वचन कहे। सुन्दर पतिसे इसी प्रकार पत्नी सुन्दर व्यवहारकी आशा करती है। सुन्दरताकी प्यास सबको है, सब उसके भूखे हैं। मानवको इस दिशामें पद-पदपर धोखा खाना पड़ता है। दूसरोंसे तो वह सुन्दरताकी आशा करता है, पर दूसरोंके लिये स्वयं सुन्दर बननेका प्रयास नहीं करता। प्रत्येक मानवको यह संकल्प करना चाहिये कि दूसरे सुन्दर बनें या न बनें, पर मुझे अपने-आपको सबके लिये सुन्दर बनाना है। सुन्दर बने रहनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। सुन्दर जीवन ही पुण्यमय जीवन है और असुन्दर जीवन ही पापमय जीवन है। अपने लिये किसीको कष्ट देना ही असुन्दर है तथा दूसरोंके लिये स्वयं कष्ट सहना ही सुन्दर जीवन है। हम जिन लोगोंके बीचमें रहते हैं उनके साथ यदि हम असुन्दरताका परिचय देते हैं, अपने सुख-सम्मान-भोगकी पूर्तिमें जीवन लगाते हैं तो असुन्दरता—नारकीयताका ही संचय करते हैं। ज्ञानी अथवा विवेकीका ज्ञान—समझ इसीमें है कि चाहे कोई कितना ही असुन्दर हो वह उससे लाभ उठाता चला जाये; आसपासके लोगोंकी अभिमानी, असुन्दर, अन्यायी तथा अविवेकी आदि कहकर शिकायत करनेसे कुछ भी हाथ नहीं लग सकता, उन्हींके बीचमें सहिष्णु और विनम्र बनकर रहनेसे जीवनमें निर्मल—वास्तविक सौन्दर्यकी परिपुष्टि होती है। इस प्रकारका संयत आचरण किसी भोगीके वशकी बात नहीं है, यह तो उसके लिये सम्भव है जो संसारके भोगोंसे छक गया है—ऊब गया है, तृप्त हो गया है और आगे बढ़ना चाहता है, अपने-आपमें उच्चतम मानवताका विकास करना चाहता है; सुन्दर मानवतामें दिव्यता उतारना चाहता है; प्रेम, शान्ति, सुन्दरता, स्वाधीनता, मुक्ति और भगवत्प्राप्तिके लिये अपना जीवन शक्तिसम्पन्न करना चाहता है। अभिमानियोंके बीचमें ही विनम्रताकी पुष्टि होती है, लोभियोंके बीचमें ही संतोष-लाभका अभ्यास सफल होता है। यदि विनम्र और संतोषी बननेमें कष्ट होता है तो निस्संदेह जीवनमें सद्गुणका सौन्दर्य नहीं उतर पाता है। अपने दोषोंसे परिचित होना सद्गुणके सुन्दर पथपर चलनेका परिचायक है।

कोई कितना ही गरीब है, निर्धन है, पर अपनी उन्नतिके लिये वह उतना ही स्वतन्त्र है, जितना एक सम्राट् हो सकता है। वह अपने भीतर ऐसी मस्ती ला सकता है कि सम्राट् भी उसे पराजित नहीं कर सकता। जबतक किसी व्यक्ति या वस्तुका आश्रय लिया जाता है तबतक निर्भयता और वास्तविक शान्तिकी अनुभूति नहीं हो पाती है। सनातन ज्ञान अथवा प्रेमका अनादर कर व्यक्ति और वस्तुकी दासतामें कितना कष्ट उठाना पड़ता है—इस सत्यपर विवेकी मानवको विचार करना चाहिये। यह एक चिरस्मरणीय बात है कि हमें व्यावहारिक क्षेत्रसे अपने समस्त दोषोंको मिटाना है। दोषोंके मिटनेपर मानवताकी जागृति और दिव्यताके अवतरणका आरम्भ होता है। मानवतासे ही दिव्यताकी प्राप्ति सम्भव है, असुरता और पशुतासे यह नहीं आया करती है। सबसे ऊँचा ध्येय यही होना चाहिये कि हम अपने व्यवहारमें सद्गुणोंका विकास करें। हमें अपने जीवनके लिये दोषोंकी नहीं, सद्गुणोंकी

आवश्यकता है । सद्गुणोंके विकाससे ही जीवन सुन्दर होता जाता है । यदि कोई क्रोधमें आगे बढ़ता है तो हमें क्षमामें आगे बढ़ना चाहिये, कोई अपने आपमें दोष-ही-दोष बढ़ाता है तो हमें अपने भीतर सद्गुणोंकी वृद्धि करनी चाहिये । सद्गुणोंकी वृद्धिसे जीवन निःस्वार्थ, प्रेममय और पवित्र तथा सुन्दर होता है ।

कामके पत्र

(१)

कृपा-ही-कृपा

प्रिय महोदय ! आपका कृपापत्र मिला था । आपको क्या लिखूँ । भगवान् कितने कृपालु हैं, उनकी कृपा कैसी है, यह कोई कैसे बतला सकता है । वे तो कृपामूर्ति ही हैं, उनकी कृपामें कृपा-ही-कृपा है । वहाँ न्याय नहीं है, इन्साफ नहीं है, यही कहना पड़ता है । वे यदि न्याय या इन्साफ करते होते तो मुझ-सरीखे सहज पातकीकी न मालूम क्या गति हुई होती । लोगोंके सामने मुँह दिखानेकी बात ही नहीं, जगत् मुँहपर थूकनेसे भी घृणा करता—अपने अपराधोंका ध्यान आनेसे तो न्यायकी बात यही जँचती है । पर उनकी कृपाशक्ति इतनी विचित्र है कि वह जहाँ भी कोई कहीं न्यायका प्रसङ्ग आता है, वहीं उस न्यायमें काय-प्रवेश कर जाती है और न्यायको तत्काल कृपाके रूपमें बदल देती है । सच्ची बात तो यह है कि भगवान् सदा कृपामय ही हैं, उनमें कृपा-ही-कृपा है । अतएव उनका न्याय भी कृपामूलक ही है । अतएव निरन्तर उनकी कृपापर दृढ़ विश्वास रखना चाहिये और उस परम करुणामयी माँ कृपा देवीके चरणोंपर अपनेको विना शर्त न्योछावर कर देना चाहिये । बस, निश्चिन्त हो जाना चाहिये—कृपापर पूर्ण निर्भर हो जाना चाहिये । याद रखना चाहिये—

'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती ।'

'प्रभु मूरति कृपामयी है ।'

'सुहृदं सर्वभूतानाम्'

'मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि ।'

बस—कृपा, कृपा, कृपा ! भगवत्कृपा !!

(२)

अवतार-रहस्य

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—

जो अवतारवादको नहीं मानते, वे यह दलील देते हैं कि शरीर धारण करनेसे ईश्वर एकदेशीय हो जाता है । पर वस्तुतः यह कथन ठीक नहीं है । एकदेशित्वकी कल्पना जड देहमें होती है । भगवान्‌का स्वरूप चिन्मय है । वे ज्ञानमय प्रकाशके पुञ्ज हैं । उनका शरीर, उनके आयुध-आभूषण सभी दिव्य एवं चिन्मय हैं । वे साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं । अतएव वे एक देशमें दिखायी देते हुए भी सर्वदेशी तथा सर्वव्यापी हैं । यही भगवान्‌की विशेषता है कि उनमें सब प्रकारके विरोधी गुणोंका तथा भावोंका समन्वय होता है ।

यद्यपि भगवान्‌के सदृश व्यापक दूसरी कोई वस्तु नहीं, जिसका दृष्टान्त उपस्थित किया जाय तथापि अवतारवादको कुछ हदतक समझनेके लिये अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है । अग्नि परमाणुरूपसे सर्वत्र व्यापक है । काष्ठ आदि सभी वस्तुओंमें उसकी सत्ता है । इस प्रकारसे निराकार रूपसे सर्वत्र व्याप्त अग्नितत्त्व एक ही है तो भी वह दियासलाई आदिकी सहायतासे अनेक स्थानोंपर या एक स्थानपर साकाररूपमें प्रकट होता है । इस प्रकार एक देशमें प्रकट होकर भी वह अन्यत्र नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार भगवान् भी एक देशमें साकाररूपसे प्रकट होकर भी निराकार-रूपसे अन्यत्र सब स्थानोंमें विद्यमान हैं । अग्निकी दो शक्तियाँ हैं—दाहिका शक्ति और प्रकाशिका शक्ति ।

अग्निका प्राकट्य जहाँ कहीं भी होता है, वहाँ ये दोनों शक्तियाँ पूर्णरूपसे विद्यमान रहती हैं। इसी प्रकार भगवान् सर्वव्यापी परमात्मा जहाँ भी प्रकट होते हैं, अपनी सम्पूर्ण शक्ति साथ लेकर ही प्रकट होते हैं। अतः भगवान्के अवतार-विग्रहमें एकदेशीय या अल्पशक्ति होनेका दोष नहीं आ सकता। जैसे प्रकट अग्नि और अप्रकट अग्नि एक ही है, उसी प्रकार साकार और निराकार एक ही तत्त्व है, इसमें कोई पार्थक्य नहीं है, अतएव साकार विग्रह भी सर्वव्यापी ही है।

ईश्वर सर्वत्र है, अतः वह अपने लिये ऐसा नियम कभी नहीं बनाता जिसे कभी तोड़नेकी आवश्यकता पड़े। वह आविर्भाव और तिरोभावकी शक्तिसे युक्त है, अतः अवतार-ग्रहण उसके लिये नियमविरुद्ध नहीं है। वेदोंमें भी कहा है—

'स एव जातः, स जनिष्यमाणः।'

वह प्रकट है और वह भविष्यमें भी प्रकट होगा। गीता कहती है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

'मैं अजन्मा, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर होकर भी अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।' यही तो ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता है। शेष भगवत्कृपा!

(३)

गुरु किसको करें ?

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला, उत्तरमें निवेदन है कि ब्राह्मणके लिये यदि ब्राह्मण ही गुरु मिल जाय तो वह सर्वोत्तम है। केवल ब्राह्मणका ही नहीं, समस्त वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है। 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।' किंतु यदि ब्रह्मनिष्ठ भगवत्प्राप्त एवं गुरूचित गुणोंसे सम्पन्न ब्राह्मण गुरु न मिल सके तो उक्त गुणोंवाले क्षत्रिय अथवा वैश्यसे भी श्रद्धापूर्वक परमार्थपथका उपदेश लिया जा सकता है। यह बात शास्त्रोंद्वारा अनुमोदित है। छान्दोग्य उपनिषद्में कथा आती है—आरुणिके पुत्र श्वेतकेतु तथा स्वयं आरुणिने भी पाञ्चालराज प्रवाहणसे उपदेश ग्रहण किया था। पाञ्चालराज क्षत्रिय थे और आरुणि ब्राह्मण। इसी प्रकार महाभारतमें कथा आती है कि एक तपस्वी ब्राह्मणने किसी पतिव्रता देवीके भेजनेसे व्याधके पास जाकर उपदेश ग्रहण किया था। एक कथा है—एक ब्राह्मणने तुलाधार वैश्यके पास जाकर उपदेश देनेके लिये प्रार्थना की थी। इतना ही नहीं, उन्हें माता-पितामें भक्ति रखनेवाले एक चाण्डालके यहाँ भी उपदेश लेनेके लिये जाना पड़ा था। ये सभी अपवाद-स्थल हैं। तात्पर्य इतना ही है कि वास्तवमें गुरु उत्तम वर्णका होना चाहिये। अभावमें निम्नवर्णके योग्य पुरुषकी शरण लेनेमें भी कोई हर्ज नहीं है।

ईश्वरप्राप्ति अथवा मोक्षमार्गमें प्रवृत्त करानेवाले गुरुका महत्त्व सबसे बढ़कर है। साधन-सम्बन्धी उपदेश उन्हींसे लेना और उसका दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये। अन्य संत-महात्माओं तथा गुरुजनोंसे भी सत्सङ्गके तौरपर उत्तम बातें लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। सत्सङ्गसे साधनमें रुचि बढ़ती है और दृढ़ता आती है। अतः वह प्रत्येक साधकके लिये लाभदायक है।

कुलपरम्परासे यदि घरमें श्रीविष्णुकी अथवा देवीकी पूजा होती चली आ रही हो तो उसका पालन होना ही चाहिये। कुलके प्रत्येक व्यक्तिको उस परम्पराकी रक्षामें सहयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अपनी श्रद्धा-भक्तिके अनुसार जिन्हें हृदयके सिंहासनपर बिठाया है, उन श्रीकृष्ण अथवा श्रीराम आदि इष्टदेवकी पूजा भी करनी चाहिये। उस व्यक्तिके लिये, जिसके श्रीकृष्ण ही इष्टदेव हैं, श्रीकृष्णकी ही पूजा प्रधान है। वह केवल श्रीकृष्णकी प्रतिमा अथवा चित्रपटका पूजन करे। शालग्राम-शिलाका भी श्रीकृष्णभावसे पूजन करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। श्रीकृष्णके पार्षदों अथवा अन्तरङ्ग शक्तियोंका पूजन भिन्न-भिन्न तन्त्रोंमें भिन्न-भिन्न

प्रकारसे बताया गया है । साधारणतया आप श्रीकृष्णके साथ श्रीराधारानीका पूजन कर सकते हैं ।

इष्ट-प्रतिमामें या चित्रपटमें प्राणप्रतिष्ठा करना उत्तम है, किंतु उसकी पूजा आदिकी व्यवस्थामें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं होनी चाहिये । उसका वैदिक विधिसे संस्कार होनेपर अन्य असंस्कृत व्यक्तियों, स्त्रियों तथा अस्पृश्योंके स्पर्शसे बचाना तथा नित्य नियमपूर्वक पूजन, भोगराग आदिकी सुन्दर व्यवस्था करना आवश्यक है । यदि इस तरहकी व्यवस्था और विधि-निषेधके पालनमें अड़चन हो तो वैदिक विधिसे प्राणप्रतिष्ठा न करके भावनाद्वारा भगवान्‌को सर्वत्र व्यापक देखते हुए प्रेमपूर्वक पूजन करना चाहिये ।

जहाँ भगवान्‌में गुरुभावना है, वहाँ दूसरे किसी गुरुके बिना भी भजन-साधनमें कोई भयकी बात नहीं है ।

रुद्राक्ष अथवा तुलसीकी मालापर आप जप कर सकते हैं । माला न हो तो करमालापर जप कर सकते हैं ।

गायत्री-मन्त्रका जप करते समय ध्यान आप अपनी रुचिके अनुसार गायत्री देवी, भगवान् सूर्य अथवा इष्टदेव भगवान्‌का कर सकते हैं । निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ध्यान भी किया जा सकता है ।

नाम-जप प्रातः-सायंके अतिरिक्त सर्वदा सब कार्य करते समय भी कर सकते हैं । समष्टि-कीर्तनमें आप सबके साथ 'हरे राम०' मन्त्रका उच्च स्वरसे उच्चारण कर सकते हैं । यह मन्त्र-प्रकाशन नहीं है । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

माता-पिताका अपमान

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला, धन्यवाद । आपने पूछा है, माता-पिताको कटु शब्द कहनेवालेका तथा माता-पिताका अनादर करने और उन्हें गंदी गालियाँ देनेवालेका कौन-सा प्रायश्चित्त करनेसे पाप धुल सकता है । प्रश्न पढ़कर प्रसन्नता भी हुई और खेद भी । प्रसन्नता इसलिये कि आज भी ऐसे लोग मौजूद हैं, जो पिता-माताके महत्त्वको समझकर उनके प्रति अपने द्वारा होनेवाले अपराधोंका प्रायश्चित्त करना चाहते हैं । खेदकी बात यह है कि अब ऐसा बुरा समय आ गया कि लोग पिता-माताके प्रति भी कटु शब्द कहते समय संकोच नहीं करते । उन्हें गालियाँ देते समय उनकी वाणी कुण्ठित नहीं होती और उनका अपमान करके भी वे पश्चात्तापकी आगमें जल नहीं जाते ।

एक समय वह था, जब पिताकी आज्ञा दूसरेके मुखसे सुनकर भी भारतीय युवक बड़े-से-बड़े साम्राज्यको भी लात मार जंगलमें निकल जाते थे । माता-पिताको कंधोंपर बिठाकर तीर्थ कराते और उनको भगवान् समझकर नित्य-निरन्तर उनकी सेवा, उनकी आराधनामें संलग्न रहते थे । पुराणोंमें कथा आती है, इस देशके चाण्डाल और व्याध आदि भी केवल माता-पिताकी सेवा करके उस उत्तम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं, जिसे आजीवन कठोर तपस्या करके भी प्राप्त करना कठिन है ।

शास्त्रोंमें माता-पिताको उपाध्याय और आचार्यसे भी ऊँचा स्थान दिया गया है । भगवान् मनु कहते हैं—पिता प्रजापतिका स्वरूप है तथा माता पृथ्वीकी प्रतिमूर्ति है । मनुष्य कष्टमें पड़नेपर भी कभी इनका अपमान न करे । माता और पिता पुत्र-जन्मके लिये जो क्लेश उठाते हैं, उसके पालन-पोषणमें जो कष्ट सहन करते हैं, उसका बदला वह सैकड़ों वर्षोंतक उनकी सेवा करके भी नहीं चुका सकता । जिसने माता-पिता और आचार्यको प्रसन्न कर लिया, उसकी सम्पूर्ण तपस्या पूरी हो गयी । उनकी सेवा ही सबसे बड़ी तपस्या है । उनकी अनुमतिके बिना कितने ही बड़े दूसरे धर्मका अनुष्ठान क्यों न किया जाय, वह सफल नहीं होता । माताकी भक्तिसे इहलोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यम लोकको और गुरुभक्तिसे ब्रह्मलोकको मनुष्य जीत लेता है । जिसने इनका आदर

किया, उसके द्वारा सब धर्मोंका आदर हो गया। जिसने इनको अपमानित किया, उसके समस्त शुभ कर्म निष्फल हो जाते है। पुत्रके लिये माता-पिताकी सेवा ही परम धर्म है और सभी धर्म उसके लिये उपधर्म हैं। जो गुरुजनोंको 'हुंकार', 'त्वंकार' आदिके द्वारा अर्थात् उनको डाँट-डपटकर 'रे-तू' आदि कहकर अपमानित करता है, वह निर्जन वनमें प्रेत होता है।

इस प्रकार शास्त्रोंमे माता-पिताकी महिमा गायी गयी है, उनकी सेवाका माहात्म्य बताया गया है और उनके तिरस्कारसे घोर पापकी प्राप्ति दरसायी गयी है। यह तो हुई शास्त्रकी बात; लोकदृष्टिसे विचार किया जाय तो मनुष्यके लिये माता-पितासे बढ़कर उपकारी और हितैषी कौन हो सकता है? उनका अपमान करनेपर किस अभागे पुत्रको ग्लानि नहीं होती होगी?

आप इसका प्रायश्चित्त जानना चाहते हैं, किंतु क्या बताया जाय! माता-पिताके उपकारोंसे मनुष्यका रोम-रोम दबा हुआ है। उनके विपरीत आचरण करना भारी कृतघ्नता और विश्वासघात है। कृतघ्न और विश्वासघातीके लिये कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। वह इतना भयंकर पाप है कि प्रायश्चित्तसे शान्त नहीं होता। इस पापके प्रतीकारके दो ही उपाय हैं—अपनी भूलोंके लिये सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप हो और माता-पिताकी ओरसे क्षमा मिल जाय। क्षमा जबरदस्ती नहीं। उन्हें सेवासे प्रसन्न करके प्राप्त की जा सकती है। जब पुत्र पिता-माताकी इतनी सेवा-शुश्रूषा करे, जिससे उनका रोम-रोम उसके लिये आशीर्वाद दे और उनके अन्तःकरणमें पुत्रके लिये स्वभावतः ही मङ्गल-कामना होती रहे तो उस पुत्रका जन्म सार्थक मानना चाहिये। यों तो माता-पिता स्वभावसे ही पुत्रकी भलाई चाहते, करते और विचारते हैं; परंतु पुत्र तभी उनके ऋणसे मुक्त होता है जब सेवा और आज्ञा-पालनसे उन्हें निरन्तर संतुष्ट रखे। शास्त्रोंका वचन है—

जीविते वाक्यस्वीकारात् क्षयाहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

'पिताके जीते-जी उनकी प्रत्येक आज्ञा पालन करे, उनकी मृत्यु हो जानेपर प्रतिवर्ष मृत्युतिथिपर एकोद्दिष्ट करके ब्राह्मणोंको पूर्णतया भोजनसे तृप्त करे और गयामें पिण्डदान दे—इन तीन बातोंसे पुत्रका पुत्रत्व सार्थक होता है।'

किसी भी पापके लिये पश्चात्तापकी आगमें जलना उत्तम प्रायश्चित्त है। कियेपर पछतावा हो, आगे वैसा कर्म न करनेका दृढ़ संकल्प हो और भगवान्‌की प्रार्थना की जाय, उनकी शरणमें जाकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सत्कर्मका अनुष्ठान किया जाय तो सभी पाप भस्म होते हैं। भगवान्‌के नामका जप पापोंका अमोघ प्रायश्चित्त है।

मनुजीने एक जगह लिखा है—

हुंकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।
स्नात्वानश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत्॥
(११।२०५)

अर्थात् 'जो ब्राह्मणको डाँट बतावे, गुरुजनोंको 'तू' कहकर अपमानित करे, उसके लिये यह प्रायश्चित्त है, वह स्नान करके उस दिन उपवास करे और उन गुरुजनोंके चरणोंमें पड़कर अपने अपराधके लिये उनसे क्षमा माँगे।'

माता-पिताको गाली देना तो इससे बड़ा अपराध है। अतः इसके लिये भी यही उचित है कि अपराधके अनुसार दो-एक दिन उपवास किया जाय। माता-पिताके चरणोंपर पड़कर किये हुए अपराधके लिये क्षमा माँगी जाय और भविष्यमें फिर कभी ऐसी धृष्टता न करनेका दृढ़ संकल्प लेकर सदा अपनी सेवाओंसे माता-पिताको संतुष्ट रक्खा जाय। साथ ही भगवन्नाम-जप और भगवत्प्रार्थना भी चलती रहे। शेष भगवत्कृपा!

रजि० सं० ए० १७५

॥ श्रीहरिः ॥

नामकी अद्भुत महिमा

यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २२—२४)

इस जगत्में जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य—परमधर्म है कि वे नाम-कीर्तन आदि उपायोंसे भगवान्‌के चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें । प्रिय दूतो ! भगवान्‌के नामोच्चारणकी महिमा तो देखो, अजामिल-जैसा पापी भी एक बार नामोच्चारण करनेमात्रसे मृत्युपाशसे छुटकारा पा गया । भगवान्‌के गुण, लीला और नामोंका भलीभाँति कीर्तन मनुष्योंके पापोंका सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बहुत बड़ा फल नहीं है, क्योंकि अत्यन्त पापी अजामिलने मरनेके समय चञ्चल चित्तसे अपने पुत्रका नाम 'नारायण' उच्चारण किया । इस नामाभासमात्रसे उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, मुक्तिकी प्राप्ति भी हो गयी ।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र सं० २०१०, मार्च १९५४

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

खेलत झुनझुनियाँसे स्याम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१०, मार्च १९५४ { संख्या ३ पूर्ण संख्या ३२८

खेलत झुनझुनियाँ तें स्याम ।
रतनजटित पलनामें पौढ़े नंदसुअन सुखधाम ॥
कटि किंकिनी, कलित कंकन कर, गल मोतियनकी माल ।
उर बघनखा, बाहु बाजूबँद, तिलक सुसोभित भाल ॥
गोल कपोल, अधर अरुनारे, घन घुँघुरारे केस ।
मंजु मधुर दृग कंज हरत मन मोहन बाल सुवेस ॥
मुकुट मयूर-पिच्छ राजत सिर मुक्ता गुँथे ललाम ।
परम अकिंचन के धन दुर्लभ जसुधा-मन विश्राम ॥

याद रक्खो—यदि तुम किसी दूसरेसे सुखकी आशा रखते हो तो तुम्हें कभी सुख नहीं मिलेगा, क्योंकि ऐसी अवस्थामें तुम्हारा सुख तुम्हारे अपने अधीन नहीं है, उसके अधीन है। अतः दूसरे किसीसे किसी प्रकारके सुखकी आशा-प्रतीक्षा न करो। भगवान्ने तुम्हारी योग्यताके अनुसार तुम्हारे हितके लिये तुम्हें जो कुछ दिया है, उसीमें सुखका अनुभव करो। तुम्हारा सुख तुम्हारे अपने अधीन होना चाहिये, पराधीन नहीं।

याद रक्खो—जो दूसरोंसे सुखकी आशा न रखकर अपनी योग्यताके अनुसार दूसरोंको सुख पहुँचानेके प्रयत्नमें लगा रहता है, वही सुखी होता है। उसे कभी आशाभङ्ग या निराशाका दुःख नहीं भोगना पड़ता, न कभी दूसरोंके किसी कार्यको उनके कर्तव्य-पालनकी अवहेलना मानकर ही उसे दुःख या क्रोध होता है।

याद रक्खो—यदि तुम अपने प्राप्त साधनोंसे—चाहे वे अत्यन्त नगण्य ही क्यों न हों—दूसरोंको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करते रहोगे तो तुम्हारे वे साधन उत्तरोत्तर बढ़ते रहेंगे—तुम्हारे अंदर दूसरोंको सुख पहुँचानेकी प्रवृत्ति और शक्ति भी बढ़ेगी और तभी तुम दूसरोंके साथ रहनेके यथार्थ अधिकारी बनोगे। समझ रक्खो—दूसरोंके साथ रहनेका वही अधिकारी है जो दूसरोंको सुख पहुँचाता है और सदा उनका हित देखता है।

याद रक्खो—तुम्हारे पास जो कुछ भी है, सब भगवान्‌का है। भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌की सेवामें लगा देनेमें उसका सदुपयोग है। जहाँ-जहाँ दुःख है—अभाव है, वहाँ-वहाँ भगवान् ही उन वस्तुओंको तुमसे चाहते हैं, यह समझकर उनकी वस्तुओंको प्रसन्नतापूर्वक उन्हें देकर अपने कर्तव्यका पालन करो।

याद रक्खो—तुम यदि अपना सुधार चाहते हो, अपनी उन्नति चाहते हो तो दूसरोंके गुण देखो और अपने दोष देखो। दूसरेके दोषोंको देखने और उनकी आलोचना करनेसे केवल समय ही नष्ट नहीं होता, वरं अपने अंदर अभिमानकी मात्रा बढ़ती है। दूसरोंके प्रति घृणा और द्वेष उत्पन्न होता है, जो बाहर क्रियाशील होकर भयानक कलह और वैर पैदा कर देता है।

याद रक्खो—यदि तुम अपने दोषोंको देखोगे और उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर—जरा-सा भी कहीं पाते ही उसे नष्ट कर देनेकी कोशिश करोगे तो तुम शीघ्र ही दोषमुक्त हो जाओगे।

याद रक्खो—यदि तुम दूसरोंकी ओर देखते रहोगे, उनके दोषोंका निरीक्षण करते रहोगे तो अपने दोषोंको देखने और उन्हें मिटानेकी ओर तुम्हारा ध्यान ही नहीं जायगा और वे तुम्हारी बेजानकारीमें बढ़ते ही रहेंगे।

याद रक्खो—यदि तुम दूसरोंके दोष देखोगे तो तुम्हें अपनेमें गुण हैं, ऐसा अभिमान होगा और बिना हुए ही अपनेमें गुण देखने लगोगे। परिणाम यह होगा कि तुम्हारी उन्नति—तुम्हारे गुणोंका विकास रुक जायगा और तुमपर दोषोंका आधिपत्य बढ़ने लगेगा।

याद रक्खो—प्रकृति त्रिगुणमयी है, इसमें तमोगुण भी है। तमोगुणमें ही दोषोंका निवास है। इसलिये अपने तमोगुणका नाश करके सत्त्वगुणको बढ़ाओ और बढ़े हुए सत्त्वगुणसे दूसरोंके तमोगुणको दूर करो। सत्त्वगुणसे ही सद्व्यवहार, सदाचार बढ़ते हैं और उन्हींसे दूसरोंके तमोगुणका नाश होता है। तमोगुणसे तमोगुण नहीं मिटता, बल्कि बढ़ता है। अतएव दूसरोंके दोष दूर करनेका तरीका यही है कि उनके गुण देखो, अपने सद्व्यवहारसे उनके अंदर छिपे तथा सोये हुए गुणोंका विकास करो और अपने पास जो कुछ भी उनके कामकी चीज है उन्हें देकर उनके अभावकी पूर्ति करो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(८)

साधकको चाहिये कि अपने मनको पुनर्जन्म और नरकादि या अन्य किसी प्रकारका भय दिखाकर या प्रलोभ देकर उसकी रुचिको दबावे नहीं और प्राप्त विवेकके द्वारा उसकी रुचिका निरीक्षण करता रहे। ऐसा करनेसे मनकी दशाका ज्ञान सहजमें ही हो सकेगा और उस रुचिके अनुसार आचरण करनेपर भी जब मनके उद्देश्यकी पूर्ति नहीं होगी, तब वह सुगमतासे उस रुचिका परिवर्तन स्वीकार कर लेगा। ऐसा करनेसे स्वाभाविक ही मनमें यह रुचि उत्पन्न होगी कि मुझे ऐसा सुख मिले जो सदा बना रहे, जो कभी घटे नहीं और जिसमें दुःखका मिश्रण न हो। इस रुचिके अनुसार जब उसे संसारके किसी भी भोगमें—किसी भी परिस्थिति—अवस्थामें वैसा सुख नहीं मिलेगा, जब वह सब ओरसे भटककर थक जायगा, तब मनकी रुचि और बुद्धिके विवेककी एकता हो जानेपर जब मनमें यह विश्वास हो जायगा कि भगवान्के समान किसी प्रकार भी कोई सुन्दर नहीं है—समस्त सुन्दरताके केन्द्र वे ही हैं; समस्त जगत्की सुन्दरता उनके सौन्दर्यके किसी एक अंशका प्रतिविम्बमात्र हैं; भगवान्के समान प्यार करनेवाला, प्रेमके तत्त्वको जाननेवाला भी कोई नहीं है तथा बिना ही कारण दया करनेवाला भी कोई नहीं है; वे ही हैं, उनके-जैसा दूसरा कोई है ही नहीं—तब मन अपने आप उनकी ओर लगेगा।

वर्तमानकालमें जो साधकको ऐसी प्रतीति होती है कि 'क्या किया जाय, मन भगवान्में लगता नहीं, भगवान्की ओर मन खिंचता नहीं।' फिर ठीक उसका उल्टा हो जायगा। मन हटानेसे भी भगवान्से नहीं हटेगा। गोपियोंके चरित्रसे यह भाव ठीक समझमें आ जाता है। वे एक दूसरीसे क्या कहती हैं—यह न कि 'सखी! क्या करूँ, जबसे इन आँखोंने उस मोहनी मूर्तिको देख लिया, तबसे मेरी आँखें, मेरा मन मेरा नहीं रहा। वह उसे छोड़कर अन्य किसी ओर लगता ही नहीं।'

इस प्रकार हृदय और विवेककी एकता हो जानेपर बुद्धि सम और स्थिर हो जाती है। तब साधकका अहंभाव गलकर प्रेमास्पदके प्रेमकी लालसाके रूपमें बदल जाता है। उस समय अहंभाव और प्रेमकी लालसाके भेद-की उपलब्धि नहीं होती। दोनों एक हो जाते हैं एवं प्रेम और प्रेमकी लालसाके सिवा कुछ भी नहीं रहता।

ध्यान रहे कि शरीरके दोषोंका दर्शन करना, उनका चिन्तन करना नहीं है। दोषोंका चिन्तन तो साधनमें विघ्नरूप है, आसक्तिको पुष्ट करनेवाला है। अतः साधकको चाहिये कि शरीरकी आदि, मध्य, अन्तिम अवस्थापर तात्त्विक विचार करके उसकी वास्तविकताको देखे। उसका या उसके दोषोंका चिन्तन न करे। इस प्रकार जब साधक प्राप्त विवेकके द्वारा शरीरके वास्तविक स्वरूपका दर्शन कर लेता है, तब शरीरकी सत्यता और सुन्दरता मिट जाती है। उसके मिटते ही कामका अन्त हो जाता है। फिर अनन्त और नित्य सौन्दर्यके निधान परम-प्रेमास्पद प्रभुसे मिलनेकी लालसा जाग्रत् हो जाती है।

(९)

शरीरकी असलियतको देखनेका प्रकार

साधकको विचार करना चाहिये कि शरीरमें सुन्दरता, नित्यता और प्रियताकी प्रतीति क्यों होती है? इसका कारण क्या है? विचार करनेपर मालूम होगा कि अविचार अर्थात् विचारकी कमी ही इसका कारण है। साधकका अपना स्वरूप नित्य चेतन और आनन्दमय है। इसलिये वह जिसके साथ अपनेको मिलाकर उसमें अहंभाव कर लेता है, उसीमें उसे

नित्यता और चेतनाका भास होने लगता है और वह तबतक रहता है जबतक साधक प्राप्त विवेकके द्वारा उसपर विचार नहीं करता। अर्थात् अपनी जानकारीका निरादर करता रहता है।

वास्तवमें जो जिसका सजातीय है, उसीसे उसकी एकता अर्थात् वास्तविक सम्बन्ध है। अपने विजातीयसे कभी भी किसीकी एकता या सम्बन्ध नहीं होता। तथापि शरीर, जो कि अपना सजातीय नहीं है, उसे ही अज्ञानवश सजातीय मानकर उससे अपनी एकता और सम्बन्ध मानने लग जाता है। इसीका नाम अविचार है और यही समस्त अनर्थोंका मूल है।

यह सभी मनुष्योंकी स्वाभाविक जानकारी है कि शरीर मैं नहीं हूँ। बोलचालमें भी वह कहता है कि यह मेरा हाथ है, यह पैर है, यह आँख है, यह मन है, यह बुद्धि है इत्यादि। कोई भी ऐसा नहीं कहता कि मैं हाथ हूँ, मैं आँख हूँ। तथापि ऐसी मान्यता बन गयी है कि शरीर मैं हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसा अनुभव सजग नहीं रहता। यही कारण है कि वह शरीरके सुख-दुःखसे अपनेको सुखी-दुखी मानता है। अतएव यह अनित्य, क्षणभङ्गुर एवं गंदा शरीर नित्य एवं सुन्दर भासने लग गया है। इसमें, इसके सम्बन्धियोंमें अपनत्वका सम्बन्ध हो जानेके कारण उनमें प्रियताका भास होता है। इसीको 'काम' कहते हैं। इसीका विस्तार नाना भोग-सामग्रियोंको, उनके भोगनेकी शक्तिको और उसके उपयुक्त परिस्थितियोंको प्राप्त करनेकी इच्छाएँ हैं। प्रकृतिका यह नियम है कि इच्छाओंके अनुसार मनुष्यकी प्रवृत्ति तो होती है पर उस प्रवृत्तिके अन्तमें प्राप्ति कुछ भी नहीं होती। इच्छाओंको मनुष्य मिटा तो सकता है पर उनकी पूर्ति नहीं कर सकता। भोगोंके उपभोगसे होता क्या है? उनके भोगनेकी शक्तिका ह्रास और भोगवासनाकी उत्तरोत्तर वृद्धि। जिसके कारण अभावका अनुभव कभी नहीं मिटता और कहीं भी सुख-शान्तिकी उपलब्धि नहीं होती।

साधकको चाहिये कि उसे जो स्वतः जानकारी है, उसका आदर करे, उसका सदुपयोग करे, उसके द्वारा यह निश्चय करे कि न मैं यह शरीर हूँ और न यह मेरा है। जब यही मेरा नहीं है तब इससे सम्बन्ध रखनेवाले इसीके सजातीय अन्य पदार्थ तो मेरे हो ही कैसे सकते हैं? यह निश्चय होते ही सब प्रकारकी इच्छाएँ अपने-आप निवृत्त हो जाती हैं। अन्तःकरण शुद्ध, शान्त, स्थिर हो जाता है। फिर यह निश्चय करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती कि मेरे तो केवल भगवान् हैं, क्योंकि मैं उन्हींका हूँ। मेरी और उनकी सजातीयता है। स्वभावसे ही मैं उनका प्रिय हूँ, वे मेरे प्रेमास्पद हैं। जिस समय मैं उनके और अपने सम्बन्धको भूला हुआ हूँ—उस समय भी मेरा और उनका जो नित्य-सम्बन्ध है—वह तो है ही। उसका कभी विच्छेद नहीं होता। यह विश्वास दृढ़ हो जानेपर तत्काल साधकके हृदयमें उन परम सुहृद् परम प्रेमास्पद अपने उन प्रभुसे मिलनेकी उत्कट लालसा जाग्रत् हो उठती है। उसकी पूर्ति होनेपर भी वह मिटती नहीं बल्कि नित्य नूतन बनी रहती है।

भगवत्-प्रेम किसी भी कर्मका फल या क्रिया-साध्य वस्तु नहीं है। उसके लिये कालान्तरकी प्रतीक्षा करना भूल है। भगवान्से और उनके प्रेमसे साधकका देश, काल, अवस्थाविषयक किसी प्रकारका भी व्यवधान अथवा दूरी नहीं है। उपर्युक्त प्रकारसे सब प्रकारकी इच्छाएँ मिट जानेपर योग और बोधकी प्राप्ति हो जाती है; तब भगवत्-प्रेमका प्राकट्य और भगवान्का सांनिध्य स्वतः ही, बिना किसी प्रयत्नके अपने-आप होता है।

जीवकी सबसे बड़ी भूल है कि वह अपनी स्वाभाविक जानकारीका उपयोग, आदर न करके उसकी अवहेलना करता हुआ उसके विरुद्ध आचरण करता है। इस भूलको कोई मिटा सके तो भगवान् या उनके प्रेमकी प्राप्तिमें विलम्ब न हो। इसका सम्बन्ध वर्तमानसे है। इसे भविष्यके लिये छोड़ना ही प्रमाद करना है।

शास्त्रोंमें जो यह कहा है कि साधन करते-करते कालान्तरमें चित्तकी शुद्धि और उसका परिणाम योग, बोध एवं प्रभु-प्रेमकी प्राप्ति होती है, यह कहना केवल उसी अंशमें ठीक है कि साधक कहीं सफलतामें विलम्ब देखकर निराश न हो जाय। वास्तवमें विलम्बका कारण है अपनी जानकारीका अनादर करना; क्योंकि उसके बादका सारा काम तो भगवान्‌की अहैतुकी कृपा अपने-आप पहलेसे ही बना देती है। उसके लिये चेष्टाकी क्या जरूरत है? जानकारीके आदरका परिणाम है—पूर्ण वैराग्य। वैराग्यकी पूर्णता ही योग तथा बोध है। अबोध और भोगका हेतु राग ही है। बोधकी पूर्णतामें ही प्रेम निहित है।

(१०)

प्रश्न—मनकी एकाग्रता कैसे हो?

उत्तर—मनकी एकाग्रताके उपाय साधकोंकी प्रवृत्ति और विश्वासके भेदसे अनेक हैं। उनमें प्रधान साधन वैराग्य अर्थात् रागका अभाव है। अभ्याससे भी मनकी एकाग्रता होती है; परंतु केवल अभ्यासद्वारा की हुई एकाग्रता टिकती नहीं, पुनः चञ्चलतामें बदल जाती है।

जब मनमें सब प्रकारकी इच्छाओंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब मनकी स्वाभाविक एकाग्रता प्राप्त होती है और वही टिकती है।

जो मनकी चञ्चलतासे दुखी होकर एकमात्र एकाग्रताका इच्छुक होता है, जबतक मन एकाग्र नहीं होता तबतक जिसको चैन नहीं पड़ता, उसका मन भी अवश्य एकाग्र हो जाता है।

जो साधक किसी स्थितिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे मनकी एकाग्रताके लिये किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा भावमें अपने मनको लगाकर कर्तृत्वभावपूर्वक मनको एकाग्र करनेके लिये प्रयत्न करता है उसका मन कालान्तरमें एकाग्र नहीं रहता; क्योंकि कर्ता और भोक्ता भावके रहते हुए जो स्थिति प्राप्त की जाती है, उसका अन्त अवश्य होता है—यह प्राकृतिक नियम है।

जो चित्तकी एकाग्रताको ही सबसे अधिक आवश्यक काम समझ लेता है, जिसे चित्तकी एकाग्रता न होनेकी पूरी वेदना है, चित्त एकाग्र हुए बिना जिसको चैन नहीं पड़ता, उसका भी चित्त एकाग्र हो जाता है।

(११)

ध्यान रहे कि योग, बोध, प्रेम क्रियासाध्य नहीं हैं। किसी क्रियाके फलरूपमें इनकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि क्रियाका जन्म कर्ता-भावसे होता है। कर्ता-भाव शरीरमें मैं-भाव होनेपर ही होता है। एवं शरीरमें मैं-भाव अविचारके कारण होता है। जहाँ अविचार है अर्थात् विवेकका आदर नहीं है—वहाँ योग, बोध, प्रेम कैसे हो सकते हैं?

यह निश्चित नियम है कि प्राप्त विवेकका आदर-करनेपर अर्थात् उसका सदुपयोग करनेपर जब इन्द्रिय जनित ज्ञानपर बुद्धिकी विजय हो जाती है तब अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है। उस समय शरीरमें अहंता-ममता न रहनेके कारण कर्तापन और भोक्तापन भी नहीं रहता। सब प्रकारके राग और वासनाओंका समूल नाश हो जाता है। तब वृत्तिनिरोधरूप योग अपने-आप सिद्ध हो जाता है। उसके होनेपर विकल्परहित बोध अपने-आप प्रकट होता है, यह नियम है। ऐसी परिस्थितिमें भगवत्-प्रेमकी लालसा जाग्रत् होती है और हृदयमें प्रेमकी गङ्गा लहराने लगती है। जिसका कभी अन्त नहीं होता है—नित्य नया प्रेम बना रहता है।

साधकका पुरुषार्थ यहींतक है कि वह अपने अन्तःकरणमें सब प्रकारकी भोगवासनाओंका अन्त करके उसे शुद्ध कर ले, उसके पश्चात् उसे कोई प्रयत्न कर्तव्य नहीं रहता।

अपने प्रेमास्पदका स्मरण या चिन्तन कर्म नहीं है;

क्योंकि वह अपने-आप होता है । उसमें कर्तापनका अस्तित्व नहीं रहता ।

नाम-जप और स्मरणमें यही अन्तर है कि जप तो प्रेमकी उपलब्धिके लिये कर्ता-भावपूर्वक किया जाता है । उसमें क्रियाकी अधिकता और भावकी न्यूनता रहती है, किंतु स्मरण-चिन्तन तो प्रेमास्पदके विरहमें अपने-आप होता है । जो ध्यान या चिन्तन भगवान्‌के गुण, नाम, लीला आदिका महत्त्व सुनकर किसी प्रकारके रूप, आकृति या भावकी धारणापूर्वक कर्तापनके सहित किया जाता है, वह अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु और भगवान्‌में प्रेम-विश्वास उत्पन्न करनेवाला है, जिसे भक्तिका एक अङ्ग कहा गया है । परंतु उसके साथ जबतक कर्तापनका सम्बन्ध है, तबतक उसमें व्यवधान अनिवार्य है । वह सर्वथा निरन्तर नहीं हो सकता ।

जो स्मरण-चिन्तन प्रेमास्पदके वियोगमें—उनकी विरह-व्याकुलतामें होता है—उसमें व्यवधान नहीं होता; क्योंकि उसमें कर्तापन और भोक्तापनका अस्तित्व नहीं रहता, एकमात्र प्रेम-ही-प्रेम रह जाता है । उस समय साधकका शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता । इसलिये वह क्रियासाध्य नहीं है ।

जो कुछ कर्तापनके भावसे किया जाता है, उसका फल तत्काल नहीं मिलता, कालान्तरमें मिलता है । भगवत्-प्राप्ति और उनका प्रेम वर्तमानमें मिलता है । इसमें कालान्तरकी अपेक्षा नहीं । इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह प्रयत्नसाध्य नहीं है ।

जब साधक अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाता है, तब उसका कर्तापन सर्वथा गल जाता है । करनेकी वासनाका अन्त हो जाता है । उसकी अभिलाषा भगवान्‌की अकारण कृपासे अपने-आप पूर्ण होती है । हृदय प्रेमसे छका रहता है । करनेके द्वारा जो कुछ मिला है, उसके रागकी निवृत्ति हो जाती है और जो वर्तमानमें सर्वदा-सर्वत्र विद्यमान है, उसके विश्वासपर चित्त शुद्ध हो जाता है ।

जो सचमुचमें नित्य वर्तमान है, वह (परमेश्वर) अपनेको, और जो सदा-सर्वदा नहीं है—उसको भी प्रकाशित करता है । पर 'है' (परमात्मा)की प्रीति,—जो वास्तवमें नहीं है, उसकी निवृत्तिमें, और जो है उस (परमात्मा) की प्राप्तिमें समर्थ है । इसलिये भगवत्-प्रीतिका महत्त्व भगवान्‌से भी अधिक है । अतएव भगवद्विश्वासी साधकोंको भगवत्प्रीति और विश्वास सर्वदा सुरक्षित रखना चाहिये ।

(१२)

प्रश्न—जब साधकका देहाभिमान सर्वथा गल जाता है और उसका हृदय विशुद्ध प्रेमसे भरा रहता है, उस समय उसके व्यवहारमें क्या अन्तर हो जाता है ?

उत्तर—उसके सभी व्यवहार साधारण लोगोंकी अपेक्षा उलटे होते हैं । जहाँ लोगोंका हर-एक प्रवृत्तिमें कोई-न-कोई स्वार्थ रहता है, किसी-न-किसी प्रकारकी भोग-प्राप्तिकी इच्छा रहती है—वहाँ उसकी सभी प्रवृत्तियाँ दूसरोंकी प्रसन्नताके लिये या यों कहना चाहिये कि भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं । उसमें अपना कोई भी प्रयोजन नहीं रहता । लोक-व्यवहारमें जिनके साथ परिचय या किसी प्रकारका सम्बन्ध है और जिनके साथ नहीं है, जो उसके साथ अच्छा बर्ताव करते हैं और जो प्रतिकूल करते हैं—उन सबमें उसका समान भावसे ही प्रेम रहता है । प्रेमका भेद नहीं रहता । कर्मका भेद रहते हुए भी प्रेममें विषमता नहीं होती । अतः वह सबका प्रिय बन जाता है । उसकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें सहज ही दूसरोंका हित निहित रहता है; इसलिये सभी उससे प्यार करते हैं । यह उसके ऊपरके आचार-व्यवहारकी बात कही गयी है

जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायरूप भगवद्भक्तिसे उत्तरोत्तर उन्नतिका दिग्दर्शन

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानके आधारपर)

कोई-कोई भाई ऐसा कहते हैं कि 'हम ध्यान करते हैं, नामका जप करते हैं, माला भी अधिक संख्यामें फेरते हैं किंतु हमें विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता, हमारी स्थिति वैसी-की-वैसी ही दिखायी देती है।' कितने ही भाई कहते हैं—'हम बीस सालसे सत्सङ्ग करते हैं; किंतु विशेष लाभ नहीं देखनेमें आता।' इन लोगोंके कथनपर कुछ विचार करना आवश्यक है। मान लीजिये कि एक आदमी गीताका पाठ करता है, उसे पाठ करते दस वर्ष बीत गये, किंतु उसका कोई सुधार नहीं हुआ; तो, यह तो निश्चय ही है, इसमें गीताका तो कोई दोष है नहीं। तब फिर सुधार क्यों नहीं हो रहा है ? जो पुरुष गीताका अभ्यास करता है और उसका सुधार नहीं हो रहा है उसको यह सोचना चाहिये कि गीतामें तो कोई ऐसी बात है नहीं कि जिससे उसका पाठ करनेपर उल्टी खराबी हो या पाठका अभ्यास करनेसे आगे बढ़नेमें रुकावट पड़े। तो फिर बात क्या है ? तब फिर यही निश्चय होता है कि गीता-साधनमें ही कहीं-न-कहीं त्रुटि है। हम सत्सङ्ग करते हैं पर हमारा कोई सुधार नहीं हुआ। जो सत्सङ्ग नहीं करते हैं, वे भी वैसे ही हैं और हम जो सत्सङ्ग करते हैं, वे भी वैसे ही रहे। तो यह समझना चाहिये कि सत्सङ्गसे कोई नुकसान हो, ऐसी बात तो है ही नहीं और न सत्सङ्ग आगे बढ़नेसे रोकता ही है। इसी प्रकार भजन-ध्यानके विषयमें भी समझना चाहिये कि भजन-ध्यान करनेसे नुकसान हो, यह बात तो असम्भव है। तो फिर क्या बात है ? बात यह है कि हमारा साधन उच्च कोटिका नहीं है। साधन मूल्यवान् होना चाहिये। जिस प्रकार आप धन कमानेके लिये हृदयसे चेष्टा करते हैं और उस कामको ध्यान देकर बड़ी सावधानीके साथ सुचारुरूपसे करते हैं, इसी प्रकार गीतापाठ, जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधन भी आपको आदरपूर्वक और ध्यान देकर सुचारुरूपसे करने चाहिये। जब आप साधनका आदर नहीं करेंगे, तब साधन भी आपका आदर कैसे करेगा ? आदरका क्या अर्थ है ? गीतामें हमारी आदरबुद्धि होगी तो हम जहाँ भी बैठेंगे, हम गीताको अपने बैठनेके स्थानसे उच्च आसनपर आदरपूर्वक रक्खेंगे यानी जैसे सिख-लोग ग्रन्थसाहबको मानते हैं, उसी प्रकार हम उसका विशेष आदर करेंगे। दूसरी बात यह कि हम उसका पाठ बड़े प्रेमसे—अनुरागसे धीरे-धीरे सम्मानपूर्वक करेंगे; क्योंकि हमें उसके द्वारा श्रीभगवान्‌को प्रसन्न करना है। यह नहीं कि बड़ी जल्दीसे समाप्त करनेके लिये डाकगाड़ी-सी छोड़ देंगे। तीसरी बात यह कि हमने आज जो गीताका पाठ किया वह कौनसे अध्यायके कौनसे श्लोक थे यह याद रक्खें और उनके अर्थ और भावपर ध्यान दें। किसीने पूछा कि आज किस अध्यायका पाठ किया तो बोले—आज पञ्चमी है तो पाँचवें अध्यायका ही पाठ किया होगा। आपने प्रातःकाल ही पाठ किया, वह भी पूरा याद नहीं किस अध्यायका पाठ किया, तो गीताके ऐसे पाठसे विशेष क्या लाभ होगा। आप इसे समझते हैं कि हमने इतनी बेगार कर दी तो फिर लाभ भी आपको बेगारके अनुसार ही होना चाहिये। आप गीताका पाठ करते हैं, पाठ करते-करते नींद आ गयी, पुस्तक आपके हाथसे गिर गयी। फिर पुस्तक उठाकर सोचने लगे, किस अध्यायके किस श्लोकका पाठ कर रहे थे। ऐसा पाठ करना तो गीताका अनादर करना है। और जब आप गीताका यों अनादर करेंगे तब गीताके अध्ययनसे जो लाभ होना चाहिये, वह आपको कैसे होगा ?

इसी प्रकार आपने सत्सङ्ग किया। किसीने पूछा कि 'आप सत्सङ्गमें गये थे ?' कहा—'हाँ गये थे।' पूछा—'क्या विषय था ?' कहा—'सत्सङ्ग बहुत अच्छा था पर क्या विषय था सो तो याद नहीं है।' 'वाह, आप अभी-अभी सत्सङ्गसे आ रहे हैं फिर याद कैसे नहीं है ?' तो बोले—'हमें कुछ झपकी-सी आ गयी थी।' दूसरे भाईसे पूछा—'क्या आप सत्सङ्गमें गये थे ?' बोले—'सत्सङ्गको तो सभी लोगोंने अच्छा बताया।' 'अजी ! लोगोंने तो अच्छा बतलाया पर आप भी तो थे न ?' कहा—'था तो सही।' फिर पूछा—'तो सत्सङ्गमें किस विषयका विवेचन हुआ ?' बोले—'मेरा मन दूसरी ओर चला गया था, मैंने ध्यान देकर सुना नहीं।' तीसरे भाईसे पूछा—'आज प्रसङ्ग क्या हुआ ?' बोले—'सुना तो था, किंतु याद नहीं।' सोचिये, जब अभी-अभी सत्सङ्गमें सुनी हुई बात याद ही नहीं रही तब उसका पालन आप क्या करेंगे। बात यह है कि आपने आदरपूर्वक ध्यान देकर सुना ही नहीं।

इसी प्रकार आप जप करते हैं, आपका मन इधर-उधर चला गया, आप माला फेर रहे हैं, माला गिर गयी। कितनी माला फेरी, यह ध्यान नहीं है। तो यह जप आदरपूर्वक नहीं है। माला फेरते समय एक तो भगवान्‌के नामके जपका तार नहीं टूटना चाहिये। दूसरे, जप करते समय खूब प्रसन्नचित्त रहना चाहिये और समझना चाहिये कि भगवान्‌की मुझपर बड़ी भारी कृपा है, जो कि उनके नामका जप मेरे द्वारा हो रहा है। जप करते समय उसके अर्थका भी ज्ञान होना चाहिये अर्थात् भगवान्‌के स्वरूपका भी ध्यान होना चाहिये एवं जप निष्काम प्रेमभावसे करना चाहिये तथा ऐसे श्रद्धा-विश्वासके साथ करना चाहिये कि 'जप करनेसे पापोंका नाश होकर मेरा निश्चय ही कल्याण हो जायगा, इसमें तनिक भी शङ्का नहीं है।'

इसी प्रकार ध्यानके विषयमें समझना चाहिये। ध्यान करते समय भगवान्‌की लीलाका मनसे स्मरण होना चाहिये तथा भगवान्‌की लीलाके साथ-साथ भगवान्‌के स्वरूप और सौन्दर्य-माधुर्यको देख-देखकर पल-पलमें मुग्ध होना चाहिये। भगवान्‌के चरित्रोंमें भगवान्‌के गुण-प्रभावकी ओर भी दृष्टि डालनी चाहिये। भगवान्‌की जो कुछ लीला है, उसका तत्त्व-रहस्य भी साथ-ही-साथ समझना चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर ध्यान करना बहुत उत्तम है।

जब शास्त्रोंकी बातें महात्माओंसे सुनी जायँ तो सुनते समय इस बातपर अत्यन्त मुग्ध होना चाहिये कि भगवान्‌की हमपर कितनी कृपा है, जो ये बातें हमको सुननेको मिलीं। फिर उन बातोंको समझकर हृदयमें धारण करना चाहिये कि आजसे हमें यही करना है, यही बात आजसे हमको काममें लानी है। ऐसा करनेपर आपका जीवन शीघ्र ही बदल सकता है।

अब फिर कुछ रहस्यकी बातें बतायी जा रही हैं। चार बातें सार हैं—(१) भगवान्‌के नामका जप, (२) भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान, (३) स्वाध्याय करते समय उसके अर्थ और भावकी ओर दृष्टि और (४) सत्सङ्ग। अपने मनसे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इनसे हमारा निश्चय ही सुधार होकर उद्धार होगा।' जैसे भोजन करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति अवश्य होती है और जल पीनेसे पिपासा अवश्य मिटती है, यह सर्वथा प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार यह भी प्रत्यक्ष है। प्रतिदिन उसे सँभाल लेना चाहिये कि आज सत्सङ्ग करनेके बाद अपनेमें कितना सुधार हुआ यानी कौन-कौन-सी बातें जीवनमें धारण हुईं। आज रामायण पढ़ी तो पढ़नेके बाद यह देख लेना चाहिये कि उसमें कौन-सा प्रसङ्ग था और उससे मुझे क्या शिक्षा मिली और मेरा क्या सुधार हुआ। आज जप किया, ध्यान किया तो जप करनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य हो जायगा और सद्गुण-सदाचार अपने-आप ही अवश्य आ जायँगे। भजन-ध्यानसे हममें सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव अवश्य ही होगा। जब सद्गुण-सदाचार आवेंगे तो उनके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश भी अवश्य हो जायगा। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार-का नाश होता ही है। इसी प्रकार जहाँ सद्गुण हैं, वहाँ दुर्गुण रह ही नहीं सकते। जहाँ ईश्वरकी भक्ति है, वहाँ पाप रह ही नहीं सकते। इस प्रकार हमें अपने हृदयको रोज सँभालना चाहिये। जैसे लोभी मनुष्य व्यापार करते समय प्रतिदिन यह सँभाल लेता है कि आज कितना माल बिका और उसमें कितना मुनाफा हुआ। आज तो दो सौ रुपये मुनाफा हुआ। दूसरे दिन फिर सँभाला। आज कितना मुनाफा हुआ? बोले—डेढ़ सौ हुए। जब कल दो सौ रुपः हुए तो आज कम क्यों? अपनेको और विशेष चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार वह लोभी आदमी प्रतिदिन मुनाफा सँभाल लेता है। इसी तरह हमलोगोंको प्रतिदिन अपने साधनकी सँभाल कर लेनी चाहिये कि कलकी अपेक्षा आज साधनमें कितनी उन्नति हुई। और उन्नति न हुई तो क्यों नहीं हुई, उसका कारण ढूँढ़ना और उसे सावधानीसे दूर करना चाहिये। इस प्रकार देखते रहें और यह समझते रहें कि 'ईश्वरका हमारे मस्तकपर हाथ है, उनकी अनन्त कृपा है। देखो, हम किस लायक हैं। यह तो ईश्वरकी अहैतुकी कृपा है जो हमें संसारसे निकालकर वे हमारा उद्धार करना चाहते हैं। जब ईश्वरकी हमपर इतनी दया है, उनका इतना ध्यान है तब फिर हमारे उद्धारमें क्या शङ्का है।'

किसी गरीब आदमीपर किसी करोड़पति धनी आदमीका हाथ हो तो वह निर्भय हो जाता है। अपने ऊपर तो ईश्वरका हाथ है। फिर बात ही क्या है।' इस प्रकार समझकर हर समय प्रसन्न रहे। ध्यानमें ईश्वरके स्वरूपको देखकर हर समय प्रसन्न होते रहना चाहिये कि उनका रूप और लावण्य अत्यन्त मनोहर और अलौकिक है एवं अपने ऊपर भगवान्‌का अतिशय प्रेम देखकर भी प्रसन्न होना चाहिये कि

भगवान् हमसे कितना प्यार कर रहे हैं। इस बातको देख-देखकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये।

जो कुछ हो रहा है, यह सब परेच्छा और अनिच्छासे हो रहा है। जो परेच्छासे हो रहा है, उसे भगवान् करवा रहे हैं और जो अनिच्छासे हो रहा है, वह स्वयं भगवान् कर रहे हैं। उसको देख-देखकर हर समय प्रसन्न होना चाहिये, उसमें भगवान्की दयाका अनुभव करना चाहिये—यह समझना चाहिये कि जो कुछ भी हो रहा है, उसमें भगवान्की दया ओतप्रोत है। यदि किसी समय ऐसा प्रतीत हो कि इसमें भगवान्की दया नहीं है—कोप है, तो यह समझे कि वह कोप भी है तो भगवान्का ही न, अतः उसमें भी उनकी दया ही भरी है। बालकपर माताका कोप होता है तो बालक कोपमें भी माँकी दया ही समझता है; क्योंकि स्नेहमयी माँ कभी बालकका अनिष्ट नहीं करती। माँ कोप करती है तो लड़केपर अनुशासन करनेके लिये करती है, जिससे उसका सुधार हो। अतः जिस प्रकार माँके कोपमें दया भरी रहती है, इसी प्रकार भगवान्के कोपमें भी दया भरी है।

परेच्छा उसका नाम है, जो दूसरेकी इच्छासे हो। परेच्छाके उदाहरण देखिये—जैसे कोई भाई किसी नाबालिग लड़केको अपना दत्तक पुत्र बनाकर उसे अपनी सम्पत्तिका स्वामी बना दे तो यह समझना चाहिये कि सम्पत्तिका स्वामी वह लड़का परेच्छासे बना। लड़केने कोई कमाई नहीं की, परिश्रम भी नहीं किया; किंतु जब वह लड़का बालिग होकर अच्छी तरह समझता है, उस समय उसे प्रसन्नता होती है कि मुझपर कितनी दया है कि पाँच लाखकी सम्पत्तिके स्वामीने मुझे अपना लड़का बनाकर अपनी सारी सम्पत्तिका मुझे स्वत्वाधिकारी बनाया। यह उसे परेच्छासे लाभ मिला। अब परेच्छासे होनेवाली हानिका उदाहरण देखिये—किसी डाकूने हमारे पास रुपये समझकर पीछेसे चार लाठी जमा दी और रुपये छीनकर ले गया तो रुपये भी गये और चोट भी आयी। देखनेमें यह हमारे लिये बहुत ही हानिकी बात हुई, पर इसपर विचार करना चाहिये कि हमारा अनिष्ट कैसे हुआ? हुआ परेच्छासे। यह हमारी हानि भी परेच्छासे हुई और पहले बताया हुआ लाभ भी परेच्छासे हुआ। हमें जो परेच्छासे लाभ हुआ, वह पुण्यका फल है और हमारे जो यह चोट लगी तथा धन गया, यह हमारे पापका फल है। पापका फल दुःख है, पुण्यका फल सुख है। तो यह परेच्छासे पाप और पुण्य दोनोंका फल मिला। यह ईश्वरका विधान है। अतः इन दोनोंमें प्रसन्नता होनी चाहिये। यदि कहें कि रुपया मिले तो प्रसन्नता होती है पर चोट लगने और धन जानेपर तो दुःख ही होता है; तो मैं यह कहता हूँ कि जो आपको रुपये मिले, उसमें भी भगवान्की दया है, पर उससे भी अधिक दया उसमें है जिसको आप अनिष्ट मानते हैं। यह बात सबकी समझमें नहीं आती। परंतु गहराईसे समझनेकी बात है। आपको धन मिला, यह किसका फल है? पुण्यका फल है। अच्छा, पुण्यका फल मिल गया तब उस पुण्यका क्षय हो गया। उतनी पुण्यकी पूँजी कम हो गयी। अतः आप यहाँसे जायेंगे तब इतनी पूँजीका नुकसान लेकर ही तो जायँगे। यदि आपने यह भाव समझा कि ईश्वरकी कृपासे धन मिला है तो फिर उससे परमात्माकी प्राप्तिके विषयका ही लाभ उठाना चाहिये। तब तो परमात्माकी आपपर दया हुई। पर जो धन मिला, उस धनको लेकर यदि आप मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, अनाचार, व्यभिचार करते हैं, झूठ, कपट, चोरी तथा हिंसा आदि पाप करते हैं तो मैं तो यही समझता हूँ कि उस धनका आपको न मिलना ही अच्छा था। धनसे आप अपना कल्याण भी कर सकते हैं और पतन भी। इसी तरह आपको जो दण्ड मिला, उससे आपके पापका क्षय हो गया, आप पापके भारसे हल्के हो गये और उस दण्ड मिलनेके साथ ही आपके हृदयमें यदि यह भाव आया कि 'मैंने पाप किया था, उसका भगवान्ने आज मुझे यह दण्ड दिया, अतः भविष्यमें मैं पाप नहीं करूँगा। जो पाप नहीं करेगा उसे दण्ड क्यों मिलेगा। पापका फल ही तो दुःख है न।' तो यह आपको श्रेष्ठ शिक्षा मिली। धन मिलनेसे तो अहंकार बढ़ता है, प्रमाद बढ़ता है, भोग बढ़ता है, किंतु जब धन नष्ट होता है और मार पड़ती है, तब भगवान् याद आते हैं। इसलिये उसमें विशेष दया समझनी चाहिये।

अब अनिच्छासे होनेवाले हानि-लाभको समझिये। अनिच्छा उसे कहते हैं कि जिसमें आपकी या दूसरे किसीकी भी इच्छा न रही हो। अतः वह भगवान्की इच्छा है। इसे यों देखें—जो रोग होता है, वह अनिच्छासे प्राप्त प्रारब्धका फल है। बीमारीके लिये किसीकी इच्छा नहीं होती; फिर भी बीमारी हो गयी तो उसमें ईश्वरकी इच्छा समझे, या अनिच्छा-प्रारब्धका भोग समझे। इसी प्रकार और कोई स्वाभाविक घटना हो जाती है; जैसे हमारा मकान जल गया

पेड़की डाल अकस्मात् टूट पड़ी और लड़का मर गया तो यह अनिच्छा-प्रारब्धका भोग है । यह पापका फल है । इसी तरह अनिच्छासे पुण्यका फल प्राप्त होता है; जैसे जमीनके, घरके या चीजोंके दाम बढ़ गये अथवा कहीं गड़ा हुआ धन मिल गया तो इसमें दूसरे किसीकी इच्छा नहीं है । ईश्वरकी इच्छासे अपने-आप ही पुण्यका फल प्राप्त हो गया । सुख पुण्यका फल है और दुःख पापका फल है ।

कुछ पुण्य-पापोंका फल स्वेच्छासे प्राप्त होता है, उनको देखिये । हम स्वेच्छासे व्यापार करते हैं, उसमें मुनाफा भी होता है, नुकसान भी । मुनाफा पुण्यका फल है और नुकसान पापका । परेच्छा, अनिच्छा, स्वेच्छा—इन तीन प्रकारकी इच्छाओंसे कर्मोंका भोग होता है । स्वेच्छापूर्वक हम जो काम करते हैं, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही करना चाहिये । यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारे भाग्यमें जितना मिलना है, उतना ही धन हमें मिलेगा, अधिक नहीं मिलेगा । भगवान्‌के विधानसे अधिक मिल नहीं सकता । हम पाप नहीं करेंगे तो भी भगवान् छप्पर तोड़कर हमें दे जायँगे । इसलिये हमें झूठ-कपटादि पाप कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमारे भाग्यमें जो होगा वह कहीं नहीं जायगा । अतः भगवान्‌पर और प्रारब्धपर विश्वास करना चाहिये । जिसको ईश्वरपर और भाग्यपर विश्वास होता है, वह कभी झूठ नहीं बोलता । रुपयोंके लिये क्या, प्राणके लिये भी झूठ नहीं बोलता । आप लाभके समय यानी अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो लाभ होता है उसमें ईश्वरकी दया समझते हैं सो तो ठीक है, वह भी दया है । किंतु अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छासे जो हानि प्रतीत होती है, उसमें ईश्वरकी विशेष दया समझनी चाहिये ।

परमेश्वरने हमको मनुष्यका शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि केवल आत्माके कल्याणके लिये ही दिये हैं । यदि हम उनका उपयोग ठीक नहीं करते हैं या उसके विपरीत करते हैं तो हम अपने आपको और परमेश्वरको धोखा देते हैं । अतः जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य-शरीर और धनादि पदार्थ आपको दिये गये हैं, उनको उसी काममें लगाना चाहिये । नहीं लगाते हैं तो आप अपनेको धोखा देते हैं । एक भाई आपको दो हजार रुपये इसलिये दे गया कि इन रुपयोंसे कपड़ा खरीदकर आप साधुओंको बाँट दें । आपने उन रुपयोंसे साधुओंको कपड़ा तो नहीं बाँटा, किंतु उन्हें आपने अपनी लड़की, दामाद या भानजेको दे दिया । तो आपने यह उस धनीको धोखा दिया । साधुओंकी सेवामें न लगाकर गायोंकी सेवामें लगा दिया तब भी आपने एक प्रकारसे अनुचित किया । क्यों अनुचित किया ? इसलिये कि वे तो कह गये थे कि साधुओंकी सेवामें लगाओ और आपने पशुओंकी सेवामें लगा दिया तो यह भी ठीक नहीं किया और बेटी-दामादके स्वार्थमें रुपये लगा दिये तब तो बड़ा भारी अन्याय किया । इस प्रकार भगवान्‌ने जो हमें धन दिया, चीजें दीं, अपनी आत्माके कल्याणके लिये, भक्तिके लिये; उन्हें उस काममें न लगाकर ऐश-आराम, भोगमें लगाते हैं तो हम चोरी करते हैं । देवतालोग हमलोगोंको वर्षाके द्वारा जल-अन्न आदि देते हैं, उन्हें देवताओंको दिये बिना अर्थात् उनकी पूजा, यज्ञ, होम आदि किये बिना हम ऐश-आरामादि भोगोंमें लगाते हैं, तो हम चोर हैं । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः । (३ । १२)'—'देवताओंका दिया हुआ देवताओंको बिना दिये जो भोग करता है, वह चोर है ।' माता-पिता पुत्रके लिये बहुत-सा धन छोड़कर मर गये; इस उद्देश्यसे कि यह मरनेके बाद हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण करेगा, किंतु जो नालायक लड़का माता-पिताके मरनेके बाद उनका श्राद्ध-तर्पण नहीं करता है तो उनकी आत्मा दुराशिष देती है कि हम इतना धन छोड़कर आये, किंतु यह नालायक सौ रुपयेमें एक रुपया भी हमारे काममें नहीं लगाता । वह माता-पिताकी चोरी है । उनके उद्देश्यके अनुकूल काममें धन न लगाना ही चोरी है । वे तो लाचार हैं, अब कर ही क्या सकते हैं ? तुम्हारी इच्छा है, तुम जो चाहो, करो । किंतु उनकी इच्छाके विपरीत करना विश्वासघात है । कोई हमारे पास गहना रख जाय, फिर वह आवे और हम उसे न दें तो यह विश्वासघात है । इसी प्रकार माता-पिताका हक यदि हम नहीं देते तो हम चोर हैं । देवताओंको देवताओंका हक नहीं देते तो हम चोर हैं ।

जिस प्रकार हम माता-पिताका दिया हुआ माता-पिताको बिना दिये, बिना श्राद्ध-तर्पण किये भोगते हैं तो हम माता-पिताके चोर हैं; इसी प्रकार भगवान्‌के दिये हुए पदार्थोंको भगवान्‌के लिये भगवान्‌की भक्ति आदि साधनोंमें नहीं लगाते हैं तो हम भगवान्‌के चोर हैं । हमें मनुष्य-शरीर, बल, बुद्धि, धन और ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी वर्तमानमें प्राप्त है, उसको भगवान्‌के काममें लगाना चाहिये अर्थात् भगवान्‌की

आज्ञाके अनुसार ही हमें सब काम करने चाहिये। अतएव जो कुछ करें वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करें और भगवान्‌के विधानके अनुसार जो कुछ सुख-दुःख, लाभ-हानि आकर प्राप्त हो उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर प्रसन्न हों। माँ हाथसे मारती है तो भी समझदार लड़का यही समझता है कि 'इसमें माँकी कृपा है, मेरा स्वभाव सुधारनेके लिये मुझे मारती है।' इसी प्रकार भगवान् कभी मारें भी तो भक्तको यही समझना चाहिये कि भगवान्‌की कृपा है, भगवान् हमारे सुधारके लिये ऐसा करते हैं। मारका मतलब है कि जिसे हम अनिष्ट समझते हैं, वैसा फल मिलना। जैसे लड़का मर गया, धन चला गया, चोरी हो गयी; इसी प्रकार अन्य जो हानि होती है, वह भगवान्‌के हाथकी मार है। इसमें भगवान्‌की विशेष दया भरी हुई है। यह बात हमारी समझमें आ जाय तो फिर हमारे लिये सर्वदा सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है। अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें तो सभीको आनन्द होता है, किंतु प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें भी हर समय भगवान्‌की दयाका दर्शन करना चाहिये। जैसे छोटा बच्चा माँपर निर्भर रहता है, किसी छः महीनेके लड़केको उठाकर माँ गङ्गामें फेंक आवे तो वह क्या कर सकता है? वह बिल्कुल माँपर निर्भर है। माँ मारे, चाहे पुचकारे। इसी प्रकार हम अपनेको एकमात्र भगवान्‌पर छोड़ दें अर्थात् एक उन्हींपर निर्भर हो जायँ कि भगवान् हमें मारें चाहे तारें, हमारा सब प्रकारसे मङ्गल-ही-मङ्गल है। जब दयालु माँ भी अपने बच्चेका कभी कोई अनिष्ट नहीं कर सकती तो भगवान् क्या कभी कर सकते हैं। जब कभी बच्चेको फोड़ा या व्रण हो जाता है, तो माँ डाक्टरको बुलाकर चिरा देती है। लड़का रोता है, पर माँ उसके रोनेकी परवा न करके बलात् चिरा देती है; क्योंकि माँ उसे भीषण व्रणके विषसे मुक्त करके सर्वथा नीरोग तथा सुखी देखना चाहती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमारे हितके लिये ही, हम जिसे दुःख समझते हैं, उसे दे रहे हैं। उस दुःखमें भी हमको विश्वासपूर्वक खूब आनन्द मानना चाहिये अर्थात् वह बात हमारी समझमें नहीं भी आवे तो भी इतना विश्वास अवश्य कर लें कि जो कुछ भी भगवान्‌की मर्जीसे हो रहा है, उसमें आनन्द-ही-आनन्द है।

एक बात तो पहले कही गयी थी कि हमारे द्वारा जो भजन, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय होता है, उससे हमको अवश्य विशेष लाभ होता है। अर्थात् उससे निश्चय ही सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होती है। सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि होनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश अवश्य ही होता है। प्रतिदिन अपने हृदयमें उन्नतिको देखते रहना चाहिये। इस प्रकार देखनेसे वह प्रत्यक्ष दीखने लगेगी और उससे उत्साह बढ़ेगा। जैसे व्यापार करनेवालेके प्रतिदिन रुपये पैदा हों। आज सौ बढ़े, कल दो सौ, परसों तीन सौ बढ़े तो यह देखकर उसे नित्य नयी-नयी प्रसन्नता होती है। दिनों-दिन उत्साह बढ़ता जाता है। इसी प्रकार यह जो परमात्माकी प्राप्तिके विषयका व्यापार है, इसको दिन-प्रति-दिन देखते रहेंगे तो उत्तरोत्तर प्रसन्नता बढ़ती जायगी। इस तरह आपको दिन-प्रति-दिन उन्नतिका अनुभव करना चाहिये। दिनमें भी प्रतिक्षण उन्नतिका अनुभव करे। पहले क्षणमें जो कुछ करे, उसके अगले क्षणमें साधन तेज होना चाहिये। कम क्यों हो? साधन कमजोर हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये, जिससे भविष्यमें ऐसी भूल न होने पावे। जब भगवान्‌का हमारे सिरपर हाथ है, उनकी अपार दया है तो फिर हमारी तो उत्तरोत्तर उन्नति अवश्य ही होनी चाहिये और फिर उस उन्नतिके फलको भी देखते रहना चाहिये। वह फल यह कि दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश और सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि। इस प्रकार प्रतिक्षण देखनेपर आपके प्रत्यक्ष ही लाभ दिखायी देगा।

दूसरी बात यह कि सुख-दुःखकी प्राप्तिमें तथा लाभ-हानिकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझनी चाहिये। जो भी कुछ घटना हो रही है, उस सबमें ईश्वरकी दया ही भरी है अर्थात् उस सबमें दयाका दर्शन करना चाहिये। भगवान्‌के ऊपर निर्भर हो जानेपर, उनके शरण हो जानेपर मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि भाव अपने-आप आ जाते हैं। यह समझ ले कि 'मैं भगवान्‌के शरण हूँ, मुझे किस बातकी चिन्ता है? मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' जिस प्रबल पराक्रमी न्याय तथा दयापरायण किसी राजाके राज्यमें कोई मनुष्य राजाकी शरण ले लेता है, राजापर ही निर्भर हो जाता है और राजा उसको आश्रय दे देता है तो फिर वह निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। उसके मनमें यह भाव होता है कि राजाकी मुझपर विशेष दया है, मुझे इस राजाके राज्यमें क्या भय है? इसी प्रकार भगवान्‌पर निर्भर करनेवाला भी निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है।

जब नचिकेता यमराजके पास गया और दो वर प्राप्त कर चुका, तब यमराजने कहा—'तुमने दो वर तो माँग लिये, अब तीसरा वर अपने इच्छानुसार और माँग लो।' उसने कहा—'मैं यही वर माँगता हूँ कि मरनेके बाद आत्मा है या

नहीं, यह बतलाइये।' यमराज बोले—'इस बातको छोड़कर और कोई वर माँग लो; क्योंकि यह देवताओंके लिये भी दुर्विज्ञेय है। तुम इच्छानुसार सदाके लिये जीवन माँग लो अथवा इन रथ और बाजोंसहित स्त्रियोंको ले जाओ या और कोई स्वर्गके पदार्थ ले जाओ जो पृथ्वीपर नहीं हैं।' इसके उत्तरमें नचिकेताने कहा—'आप ये वाहन, नाच-गान तथा भोग आदि अपने ही पास रक्खें। मेरा वर तो वही है कि जिससे आत्माका ज्ञान हो जाय। आपने जो यह कहा कि सदाके लिये जीवन माँग लो सो जबतक आपका शासन है तबतक मुझे मृत्युका भय ही क्या है!'

इसी प्रकार जब यह समझ लिया कि भगवान्का हमारे सिरपर हाथ है तो फिर भय ही किस बातका है। यमराजकी कृपा होनेपर भी कोई भय नहीं है तो फिर भगवान्की कृपा हो जाय तब तो बात ही क्या है। वे तो यमराजके भी यमराज हैं, मृत्युके भी मृत्यु और कालके भी काल हैं। फिर हमें भय किस बातका ? इस प्रकार हम अपनेको भगवान्पर छोड़ दें अर्थात् भगवान्पर निर्भर हो जायँ। जैसे बिल्लीका बच्चा बिल्लीपर ही निर्भर है, बिल्ली उसे इच्छानुसार मुँहमें लिये फिरती है। उसी मुखमें वह चूहेको पकड़ती है, उसीमें अपने बच्चेको; वही दाँत, वही मुँह है; पर अपने बच्चेको कितने प्रेमसे पकड़ती है, जरा भी कष्ट नहीं होने पाता; वैसे ही हम भगवान्पर निर्भर हो जायँ। फिर हमें भय ही किस बातका है। यह सोचकर हमें भगवान्पर निर्भर हो जाना चाहिये। जैसे भक्त प्रह्लाद भगवान्पर निर्भर थे। हिरण्यकशिपु जो कुछ भी अत्याचार करता था, प्रह्लादको किसी बातकी चिन्ता नहीं रहती थी, वह भगवान्पर ही निर्भर था। भगवान् जो कुछ इच्छा हो, करें, किंतु क्या कोई उसका बाल भी बाँका कर सका ? नहीं कर सका। कहा भी है—

जाको राखै साँइयाँ, मार सक नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

मनुष्यकी तो बात ही क्या, सारा संसार भी उसका वैरी हो जाय तब भी कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकता। अतः यह समझना चाहिये कि जब हम भगवान्पर निर्भर हैं तो हमें भय किस बातका है। अतएव हमें भगवान्पर ही निर्भर रहना चाहिये।

मैं आपको फिर सावधान करके यह कहना चाहता हूँ। जप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्यायके समय एक तो यह निश्चय रखना चाहिये कि इनसे हमें अवश्य लाभ होगा तथा उसकी ओर हर समय देखते रहना चाहिये कि हमें लाभ हो रहा है न। लाभको बराबर होते हुए देखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इससे सद्गुण-सदाचार आनेके साथ ही दुर्गुण-दुराचार भाग जाते हैं। साथ ही ईश्वरकी दया, ईश्वरका प्रेम, ईश्वरका हमारे सिरपर हाथ समझकर हर समय प्रसन्न रहना चाहिये तथा ईश्वरके स्वरूपको देख-देखकर और ईश्वरकी दया और प्रेमको देख-देखकर हर समय हँसते रहना चाहिये, प्रमुदित होते रहना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करनेसे आपको प्रत्यक्ष लाभ होगा। यह आप करके देख लें, यह आजमाइश की हुई बात है।

इसके सिवा और भी एक रहस्यकी बात बतायी जाती है। आप ऐसी धारणा करें कि मानो भगवान् आकाशमें विराजमान हो रहे हैं और हम मनसे उनका दर्शन कर रहे हैं। भगवान् गुणोंके सागर हैं और बादल जैसे जलकी वर्षा करता है तथा चन्द्रमा जैसे अमृतकी वर्षा करता है, इसी प्रकार भगवान् आकाशमें स्थित होकर अपने गुणोंकी वर्षा और प्रभावका हमारे लिये वितरण कर रहे हैं। दया, क्षमा, शान्ति, समता, प्रेमकी अनवरत हमपर वर्षा हो रही है। जलकी जो वर्षा होती है, उसका तो आकार होता है, किंतु यह निराकार है। जैसे चन्द्रमाकी रश्मियोंसे जो अमृतकी वर्षा होती है, वह निराकार है, जैसे सूर्यका धूप निराकार है, सूर्यके धूपसे शीतकालमें धूपमें बैठनेसे शीतका निवारण हो जाता है; इसी प्रकार भगवान्के प्रभाव और गुणोंके समूहसे दुर्गुण-दुराचारोंका विनाश हो जाता है। भगवान् हमलोगोंपर अपने गुणोंका प्रभाव डाल रहे हैं, यह समझकर हर समय हँसता रहे, प्रसन्न होता रहे। हर समय जो प्रसन्नता और आनन्द है, यह सब भगवान्से ही है। भगवान् हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें, शरीरके रोम-रोममें सब जगह शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता, ज्ञान, चेतनता उत्तरोत्तर खूब बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार हम मनमें धारणा करें और मनसे परमात्माका ध्यान करें। परमात्माके ध्यानसे हमको प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है, उसका हम अनुभव करें तो हमें प्रत्यक्ष लाभ प्रतीत होगा अर्थात् यह प्रत्यक्ष दीखने लगेगा कि वास्तवमें ये घटना हो रही हैं।

इससे भी और बढ़कर एक बात और है—जैसे कोई नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है तो उसे यह नाना प्रकारका रंग-बिरंगा संसार हरा-ही-हरा दीखने लग जाता है,

यह चश्मा तो चढ़ता है नेत्रोंपर, ऐसे ही भगवद्भावका चश्मा चढ़ाना चाहिये बुद्धिपर। जैसे आँखोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ानेसे सारा संसार हरा-ही-हरा दीखता है, उसी प्रकार बुद्धिपर हरिके रंगका चश्मा चढ़ा लेनेसे सर्वत्र हरि-ही-हरि दीखने लगेंगे। गीतामें कहा है—

> बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
> वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
> (७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

हम जो दृश्यमात्र पदार्थोंको संसारके रूपमें देख रहे हैं, उसे भगवान्के रूपमें देखने लगें तो यह संसार हमको भगवान्के रूपमें ही दीखने लगेगा तथा चेष्टामात्रको भगवान्की लीला समझ लेनेपर यह सब चेष्टामात्र भगवान्की लीलाके रूपमें दीखने लगेगी। फिर ऐसा प्रतीत होगा कि जो कुछ चेष्टा हो रही है, वह साक्षात् भगवान्की लीला हो रही है और यह लीला स्वयं भगवान् नाना रूप धारण करके कर रहे हैं। ऐसा समझ लेनेपर हमें हर समय प्रसन्नता होती रहेगी; क्योंकि ये जितने भी मनुष्य हैं, सब भगवान्के परिकर हैं। यानी भगवान्के साथ आये हुए हैं। भगवान् ही इनमें छिपकर क्रीडा कर रहे हैं। हम भी इनमें शामिल हैं। हम सब मिलकर ही भगवान्के साथ क्रीडा कर रहे हैं। भगवान्की लीला हो रही है, ऐसा भाव हम धारण करें। जिस प्रकार गोपियोंको भगवान्के साथ गाने-बजाने और नाचनेमें प्रसन्नता होती थी, वैसी प्रसन्नता हमें भी होने लगेगी। फिर चिन्ता, शोक, भय हमारे पास भी नहीं आ सकेंगे। ऐसा आप अभ्यास करके देख लें। आपको इसमें प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिलेगा। प्रत्यक्ष आपकी उन्नति होगी। जैसे दूधमें उफान आता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष उन्नति देखनेमें आयेगी। दूधके उफानमें तो पोल है, ऊपर-ऊपर तो उफान है, भीतरमें कुछ नहीं, थोड़ी देरमें दूधका उफान आकर दूध भी समाप्त हो जायगा। पर यह तो इस प्रकारकी उन्नति है कि वास्तवमें भीतरसे ठोस है, नित्य है और उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जिससे प्रत्यक्ष जीवन बदल जाता है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

महाकवि कालिदासकृत 'कुमारसम्भव' में यह उक्ति है। श्रीपार्वतीजी भगवान् शङ्करकी प्राप्तिके लिये हिमालयमें तप कर रही हैं, तब शङ्करजी उनके निश्चयकी परीक्षा करनेके लिये एक ब्रह्मचारीके वेषमें आते हैं। आकर कुशल-समाचार पूछनेके बाद कहते हैं—

> अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं
> जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते।
> अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे
> शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्॥

तुम्हारे नित्यकर्मके लिये यहाँ समिधा, दूर्वा, फल-फूलादि आवश्यक सामग्री सुगमतासे मिलती तो है? यहाँका पानी स्नानके लिये तथा पीनेमें स्वास्थ्यके लिये हानिकर-तो नहीं है? तथा अपनी शक्तिके अनुसार तप करती हो या शक्तिका विचार किये बिना ही? तपस्या यथाशक्ति करनी चाहिये; क्योंकि शरीर ही धर्मसंग्रहका प्रमुख साधन है। यदि शरीर न हो या शरीर कार्यक्षम न हो तो धर्म-साधन नहीं बन सकता। इसलिये अपनी शक्तिका विचार करना आवश्यक है।

यहाँ शरीरको धर्मसंग्रहका एक मुख्य साधन बतलाया, अतएव धर्मका स्वरूप समझना चाहिये और फिर शरीर किस प्रकार धर्म-साधनरूप है, यह देखना चाहिये।

धर्मका स्वरूप इतना बड़ा विशाल है कि उसकी कोई एक ही नपीतुली व्याख्या नहीं हो सकती। यह ब्रह्माण्ड जैसा विशाल है, उससे अधिक विशाल है धर्म और इसीसे उसने अनन्त ब्रह्माण्डोंको धारण कर रक्खा है। और प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा उसके भीतरके प्राणी-पदार्थ भी अपने-अपने धर्मके नियन्त्रणमें रहते हैं।

इस प्रकार अपनी-अपनी दृष्टिमर्यादाके अनुसार विभिन्न विचारकोंने धर्मकी अनेकों व्याख्याएँ की हैं तथा धर्मशब्दकी व्युत्पत्ति भी विभिन्न रीतिसे की है। हम जिस कमरेमें बैठे हैं, उस एक ही कमरेका एक फोटो यदि कैमरा ईशान-

कोणमें रखकर लें और दूसरा नैर्ऋत्यकोणमें रखकर लें, तो दोनों चित्र एक-से नहीं आयेंगे। एकमें जहाँ मुख दीख पड़ेगा, वहाँ दूसरेमें पीठ दिखलायी देगी। इसलिये जहाँ-जहाँ खड़े होकर जिस-जिस दृष्टिसे धर्मका अवलोकन किया गया, उसीके अनुसार उसकी व्युत्पत्ति करके लक्षण निर्धारित किया गया।

अब धर्मकी कुछ व्युत्पत्ति देखिये। अन्तिम अर्थ तो सबका एक ही होता है। परंतु जैसा कि ऊपर कहा गया है, जिस दृष्टिकोणसे देखा जायगा वैसा ही दीख पड़ेगा। (१) 'धिन्वनात् धर्मः'—धिन्वन् अर्थात् धारणा या आश्वासन देना। दुःखसे पीडित समाजको धीरज देकर जो सुखका मार्ग दिखाता है, उस 'आचार' का नाम धर्म है। (२) धारणात् धर्मः। धारण करना=दुःखसे बचाना। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने जैसे गोवर्द्धन धारण करके व्रजको बचाया था, उसी प्रकार जिस आचरणसे समाज अधोगतिकी ओर न ढकेल जाय और अपने उच्च आसनपर स्थिर रह सके, उसका नाम है 'धर्म'। प्रकृतिका स्वभाव ही जलके समान नीचेकी ओर जानेका है, अतएव यदि धर्मका अवलम्बन न हो तो प्रजा सहज स्वभाववश अधोगतिकी ओर घसकती जायगी। आज धर्मकी टेक न होनेके कारण हम दिन-प्रति-दिन नीचे उतरते जा रहे हैं। यह प्रत्यक्ष ही है।

मनु भगवान्‌ने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं और उनमें धर्मपालनका समग्र स्वरूप आ जाता है। पुराणोंने उनका विस्तार करके धर्मके तीस लक्षण बतलाये हैं। धर्मके एकाध अङ्गोंका पालन भी यदि समझदारीके साथ किया जाय तो दूसरे अङ्गोंका पालन अपने-आप हो जाता है। जैसे खाटका एक पाया खींचनेपर दूसरे तीन पाये अपने-आप खिंच आते हैं, उसी प्रकार धर्मका पालन भी होता है। धर्मपालन समझदारीके साथ होना चाहिये।

अब धर्मकी एक सर्वदेशीय और सर्वमान्य व्याख्या देखिये। धर्मका यथार्थ ज्ञान चर्चासे या इस विषयके ग्रन्थोंके बाँचनेसे नहीं होता। वह तो आचरणमें आनेकी वस्तु है। जैसे-जैसे धर्ममय आचरण होता जाता है, वैसे-वैसे ही धर्मका रहस्य समझमें आता जाता है। वाचन या चर्चासे तो केवल ऊपरी ज्ञान होता है, जिसको केवल जानकारी कह सकते हैं। धर्मकी एक व्याख्या इस प्रकार है—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

जिसके आचरणसे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी प्राप्ति हो उसका नाम धर्म है।

अब अभ्युदय और निःश्रेयसका अर्थ समझना चाहिये। निःश्रेयसका अर्थ तो स्पष्ट ही है, इसलिये पहले इसीको समझ लें। श्रेयस् यानी कल्याण, जिस कल्याणसे बढ़कर दूसरा कोई बड़ा या अधिक महत्त्वका कल्याण न हो, उस सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि कल्याणको निःश्रेयस कहते हैं। सर्वश्रेष्ठ कल्याण मोक्षको कहते हैं, क्योंकि उसको प्राप्त कर लेनेपर फिर कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। अतएव निःश्रेयसका अर्थ है मुक्तिप्राप्ति या भगवत्प्राप्ति अथवा जन्म-मरणरूप बन्धनसे निवृत्ति। अतएव धर्मका एक लक्षण यह हुआ कि जिसके आचरणसे मोक्षकी प्राप्ति हो।

मुक्ति-प्राप्तिकी अपेक्षा दूसरा कोई बड़ा लाभ नहीं, इसका एक दृष्टान्त शास्त्रमें आता है। एक दिन नारदजी घूमते-घूमते हरिगुण-गान करते पतितपावनी जाह्नवीके तटपर आ पहुँचे और गङ्गाजीके दर्शन करके चलने लगे। यह देखकर पुण्यसलिला माता गङ्गाजी प्रकट हुईं और बोलीं—

'मज्जन्ति मुनयः सर्वे त्वमेकः किं न मज्जसि ?'

नारदजी! सारे मुनिलोग मुझमें स्नान करते हैं और आप क्यों केवल हाथ जोड़कर चले जा रहे हैं? स्नान क्यों नहीं करते? नारदजीने उत्तर दिया—

'अम्ब त्वद्दर्शनान्मुक्तिर्न जाने स्नानजं फलम्।'

माता! तुम्हारे दर्शनमात्रसे मनुष्यकी मुक्ति होती है, ऐसा शास्त्र कहते हैं, और मुक्तिकी प्राप्तिसे बढ़कर दूसरा कोई लाभ होता हो, यह मैं मानता नहीं। इससे तुम्हारा दर्शन करके ही मैं अपनेको कृतार्थ मानता हूँ, स्नानका फल इससे विशेष क्या होगा, यह मेरी समझमें नहीं आता। यह उत्तर सुनकर गङ्गाजी प्रसन्न होकर अन्तर्धान हो गयीं।

अब अभ्युदयको लीजिये। इस शब्दके बारेमें अधिक विचार करनेके पहले मनुष्यके स्वभाव, संस्कार तथा संस्कृतिके विषयमें समझना जरूरी है। मानव संस्कृति दो भागोंमें बाँटी जा सकती है—(१) आध्यात्मिक संस्कृति और (२) देहात्मभाववाली संस्कृति। भारतवर्षकी संस्कृति आध्यात्मिक है और दूसरे सारे देशोंकी देहात्मवादी है। आध्यात्मिक वादमें मनुष्य आत्माकी अमरता, नित्यता, अविनाशित्व तथा आत्माके सत्-चित्-आनन्द-स्वरूपमें विश्वास करता है। शरीरके नष्ट होनेके साथ आत्माका विनाश

नहीं होता, इसी प्रकार शरीरके जन्म लेनेपर कभी आत्मा नहीं जन्मता; क्योंकि आत्मा अजन्मा और अविनाशी है। इस प्रकार पुनर्जन्ममें विश्वास जगता है और उससे कर्मफल-भोगमें भी श्रद्धा होती है। शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगे बिना जीवका छुटकारा नहीं है। इस जन्ममें भोगनेके बाद शेष बचे हुए कर्मफल भविष्यमें जन्म लेकर जीवको भोगने पड़ते हैं, यों मानकर मनुष्य पाप करनेसे डरता है। ईश्वरको प्रारब्धका नियन्ता तथा कर्मफलको भुगतानेमें समर्थ मानकर उसको प्रसन्न रखनेके लिये सदाचारका पालन करता है। ईश्वर ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है, शुभाशुभ कर्मोंका फल भुगताता है और अन्तर्यामी रूपसे प्रत्येक देहमें रहकर देहका तथा सर्वव्यापक रूपमें विश्वका नियमन करता है। इससे यह निश्चय हो गया कि अध्यात्मवादमें जीवनका ध्येय ईश्वरकी प्राप्ति यानी मोक्षकी प्राप्ति होता है। और शरीर तो उसके लिये केवल एक साधनरूप ही है, इसलिये शरीरको सुख पहुँचानेके प्रयत्नमें वह नहीं लगता।

देहात्मवादी आत्मा और ईश्वरके विषयमें कुछ समझता नहीं। वह तो जहाँतक आँखोंसे देखता है, कानोंसे सुनता है तथा नाकसे सूँघता है, यानी इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, बस, उतना ही है, ऐसा मानता है। उसके लिये इसके सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं। आत्माकी अमरताका भान न होनेके कारण वह पुनर्जन्मको नहीं मानता और इस प्रकार किये हुए कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है, इसमें उसका विश्वास नहीं होता। वह तो यह मानता दीख पड़ता है कि जैसे इस लोकमें अपराधी अपराधसे छुटकारा पा जाता है, वैसे ही मनुष्य किये हुए पापकर्मोंसे भी छूट सकता है, इसलिये पापकर्मोंसे वह मुँह नहीं मोड़ता। इस कारण देहको ही सुख पहुँचाना तथा उसके लिये अधिक-से-अधिक भोगकी सामग्री इकट्ठी करना, यही उसके जीवनका ध्येय होता है। अतएव वह भोगका साधन इकट्ठा करनेमें पाप-पुण्य या नीति-अनीतिका कोई विचार नहीं करता। उसे तो येन-केन-प्रकारेण भोग भोगना है। ऐसे मनुष्योंका वर्णन शास्त्रोंमें इस प्रकार किया गया है—

> खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
> तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तामसी॥

श्वान, शूकर और गधे भी नित्य खाते-पीते और शरीरका निर्वाह करते हैं। जो मनुष्य अपना जीवन केवल देहके पोषण करनेमें तथा खान-पानादिसे लाड़-प्यारमें बिताता है, उसमें और पशुमें फिर अन्तर ही क्या रहा? निष्कुलानन्दने इन दोनों संस्कृतियोंकी तुलना बहुत ही सुन्दर रीतिसे की है, उसका उल्लेख यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

> देहदर्शी दुःख भोगवे, करे सुखना उपाय जी।
> आत्मदर्शी आनन्दमाँ, रहे सुखमाँ सदाय जी॥

उनके कहनेका तात्पर्य यह है कि जो देहदर्शी है, अर्थात् जो अपने देहको ही सार-सर्वस्व मानता है और इससे देहको सुख पहुँचानेमें ही जीवनकी इतिकर्तव्यता मानता है, वह जीवनभर सुखके साधनों—शारीरिक भोग पदार्थोंके इकट्ठा करनेमें ही बिताता है, परंतु उसे सुख नहीं मिलता, उलटे अतृप्तिका बोध होता है और इससे वह दुःखमय जीवन बिताता है। उधर आत्मदर्शी यानी जिसका आत्माके आनन्द-स्वरूपमें विश्वास है वह भोगपदार्थोंकी ओर ताकता भी नहीं और त्यागप्रधान जीवन बिताता है और इससे सदा प्रसन्न रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुख या तृप्तिका बीज त्यागमें ही है, भोग भोगनेसे तो अतृप्तिका ही अनुभव होता है।

अब हम 'अभ्युदय'के बारेमें विचार कर सकेंगे। परंतु दोनों संस्कृतियोंके बीच सूर्य और अन्धकार-जैसा अन्तर होनेके कारण दोनोंके लिये एक ही शब्दका पृथक्-पृथक् अर्थ करना पड़ेगा; क्योंकि दोनोंका दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है।

अध्यात्मवादीकी दृष्टिमें भगवत्प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार साध्य है और शरीर उसको प्राप्त करनेका एक साधनमात्र है। इस प्रकार उसका जीवन त्यागप्रधान होता है और वह शरीरके निर्वाहमात्रके लिये भोग भोगता है। अतः उसके लिये अभ्युदयका अर्थ शरीर-निर्वाहका पवित्र साधनमात्र है, विलासकी सामग्री या शरीरको लाड़ लड़ानेका वैभव नहीं। वह तो इस प्रकार विचार करता है—

> स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
> अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं सदा॥

'यह पेट तो अपने-आप उगे हुए वनके शाकसे भरा जा सकता है, फिर इस जलते हुए पेटके लिये कौन पाप करने जाय?' तात्पर्य यह है कि शरीरका निर्वाह तो अति अल्प साधनोंसे ही हो सकता है, फिर इसको अधिक

लाड़ लड़ानेकी क्या आवश्यकता है ? और जीवनका अमूल्य समय ऐसे साधनोंके इकट्ठा करनेमें क्यों व्यर्थ गँवाया जाय ?

देहात्मवादीकी दृष्टिमें तो शरीरको सुख पहुँचाना ही जीवनका लक्ष्य होता है; अतएव उसके लिये अभ्युदयका अर्थ अधिक-से-अधिक भोग-विलासके साधनोंको इकट्ठा करना और शरीरको वैभव और ऐश-आराममें लाड़ लड़ाना है।

यहाँ एक बात समझने योग्य है। भोग-पदार्थोंका कभी अन्त आता ही नहीं। दो पदार्थोंको प्राप्त किया तो चार नये भोगपदार्थोंको प्राप्त करनेकी लालसा जाग उठती है। इच्छा करनेमें तो पलक मारने तककी भी देर नहीं लगती, परंतु इच्छित पदार्थोंको प्राप्त करनेमें दिन, महीने और कभी-कभी वर्षों लग जाते हैं। फिर इच्छित भोगपदार्थोंकी प्राप्ति होने या न होनेका आधार प्रारब्धके ऊपर रहता है। प्रारब्ध-से अधिक, चाहे जितना परिश्रम करनेपर भी मिल नहीं सकता। शास्त्रमें कहा ही है—

लिखिता चित्रगुप्तेन ललाटेऽक्षरमालिका।
तां देवोऽपि न शक्नोति उल्लिख्य लिखितुं पुनः॥

विधाताने प्रारब्धमें जिस भोगका निर्माण किया है, उसमें कोई भी शक्ति फेर-फार नहीं कर सकती। ब्रह्मा स्वयं अपने लिखे लेखको मिथ्या करके दूसरा नहीं लिख सकते। अतएव प्रत्येकको मनोवाञ्छित वस्तु नहीं मिल सकती, इसलिये भोगी—भोगासक्त मनुष्यको सदा दुखी रहना पड़ता है।

इसी प्रकारसे शरीरकी शक्ति भी सीमित होनेके कारण प्राप्त हुए भोगपदार्थ भी एक निश्चित मात्रामें ही भोगे जा सकते हैं। इससे भोग भोगनेमें भी अतृप्तिका ही बोध होता है। अतृप्ति ही बड़ा दुःख है और अतृप्त वासनाओंके कारण जीवको संसारमें भटकना पड़ता है। अतएव शरीरको सुख पहुँचानेके लिये परिश्रम करनेमें भी दुःख ही मिलता है। विषयोंको भोगनेमें भी केवल दुःखका ही अनुभव होता है।

यहाँतक हमने यह देख लिया कि भोगप्रधान जीवन सुखका साधक नहीं है; बल्कि उससे दुःखका ही अनुभव होता है। अब जिनकी दृष्टि केवल भोगकी ओर ही रहती है वह किस प्रकार ईश्वरकी सृष्टिके पदार्थोंका दुरुपयोग कर रहा है, यह देखना है।

(१) वैज्ञानिकोंने अणुबम बनाया है, इससे संहारके सिवा दूसरा कोई अच्छा काम नहीं हो सकता। एक ही बमसे जापानका सुन्दर शहर हीरोशीमा बर्बाद हो गया और लाखों निरपराधी प्राणियोंकी हत्या हो गयी। इस प्रकारके एक बम बनानेमें, आँकड़ेके विशेषज्ञोंका कहना है कि साढ़े छः अरब रुपये खर्च होते हैं। हम जहाँ रहते हैं उस सारी दुनियाँकी जनसंख्या अढ़ाई अरब है। इससे एक बमके बनानेमें प्रत्येक मनुष्यके सिर ढाई रुपयेसे कुछ अधिक ही पड़ता है। इतना रुपये तो फूँके गये ही, साथ ही इतनी ही कीमतकी मालमिलकियत भी नष्ट हो गयी और असंख्य प्राणियोंका नाश हुआ वह अलग।

(२) कहते हैं कि वैज्ञानिकोंने एक यान्त्रिक हाथी बनाया है। वह जीवित हाथीके समान सूँड़ और कान हिलाता है और सत्ताईस मीलकी चालसे दौड़ता है। उसके शरीरकी बनावटमें प्रायः नौ सौ अवयव हैं और छप्पन मन उसका वजन है। एक हाथीकी कीमत दो लाख रुपये तक होती है।

अब सोचिये तो कि इस आविष्कारसे मनुष्यकी क्या उन्नति हुई ? अथवा आम जनताको क्या सुखका साधन मिला ? फिर, छप्पन मन बोझा उठानेमें कितना पेट्रोल खर्च होता होगा, इसका भी विचार करो। यह साधन-सामग्रीका दुर्व्यय नहीं तो और क्या है ? इस प्रकारका दुर्व्यय यदि रोका नहीं गया तो प्रजा कैसे सुखी हो सकती है ? हम नया तो कुछ भी पैदा कर नहीं सकते और जो कुछ है उसका यदि कुछ लोग इस प्रकार दुरुपयोग करते ही चले जायँगे तो फिर अगली पीढ़ीको बिना मौत मरना ही पड़ेगा न।

ये तो दो ही उदाहरण दिये गये। इसके अतिरिक्त आजकल ऐसे अनेकों काम करके विश्वकी सुख-सामग्रीका दुरुपयोग किया जा रहा है। लाखों रुपये खर्च करके वे एक घड़ी बना रहे हैं, जिसमें हजारों छोटे-बड़े चक्र हैं और उनमें एक चक्र ऐसा है कि तीन हजार वर्षोंमें भी एक बार नहीं घूम जाता, ऐसा उनका ख्याल है। इस प्रकार एकके बाद एक आविष्कार तैयार करके जगत्के साधनोंको बेकाम फूँका जा रहा है और वह भी विज्ञान और सुधारके पवित्र नामपर !

इसीलिये हमारे शास्त्र कहते हैं—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

तात्पर्य यह है कि शरीर तो आज है और कल नहीं रहेगा, इस प्रकारका क्षणभङ्गुर है। धन, वैभव, ऐश्वर्य आदि भी कपूरके समान उड़ जानेवाले हैं और मृत्यु मुँह बाये सामने खड़ी है। कब उठा लेगी, इसका पता भी नहीं लग सकता। वस्तुस्थिति ऐसी है, अतएव मनुष्यको यह सारा तूफान छोड़कर धर्मका पालन करना चाहिये, जिससे मनुष्यजीवनके अन्तिम ध्येय मोक्षकी प्राप्ति हो।

यहाँतक तो 'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति हुई, उसके लक्षण देखे गये और उसमें 'अभ्युदय'के अर्थको समझानेके लिये कुछ विषयान्तर भी करना पड़ा। ऐसा करना अनिवार्य था; क्योंकि धर्मकी इस व्याख्याके साथ आजके भोगप्रधान युगमें 'अभ्युदय'का अर्थ भोगसामग्री करके लोगोंको उलटे मार्गपर दौड़ानेका प्रयत्न किया जाता है।

अब हमें देखना है कि शरीर किस प्रकार साधनरूप है। ईश्वरकी सृष्टिमें शरीर तो ८४ लाख जातिके हैं, परंतु उनमें मानव-शरीर ही श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि इससे नया कर्म हो सकता है—स्वतन्त्र पुरुषार्थ बन सकता है, इसीसे इसको कर्मभूमि कहते हैं; जहाँ दूसरे शरीर केवल भोगभूमि ही हैं। भोगभूमिका अर्थ यह है कि गत जन्मोंमें किये कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही वे उत्पन्न होते हैं और भोगोंको भोग लेनेके बाद वे नष्ट हो जाते हैं। उनके जीवनमें कोई भी नवीन कर्म नहीं हो सकता। इस बातको समझाते हुए आत्मपुराणका यह श्लोक कहता है—

जातो बालो युवा वृद्धो मृतो जातः पुनस्तथा ।
भ्रमतीत्येव संसारे घटीयन्त्रसमोऽवशः ॥

प्राणी जन्म लेता है, बाल्यावस्थाको पार करके युवा होता है और फिर वृद्ध होकर मर जाता है। इस प्रकार प्राणी चक्रके अरेके समान पराधीन अवस्थामें संसारमें भ्रमण किया करता है। मनुष्य भी जो अपना हित नहीं समझता, वह भी इसी प्रकार भ्रमण किया करता है।

अब मनुष्य-शरीरसे ही नवीन कर्म हो सकता है, इसका कारण देखिये। परमात्माने अपनी कृपापरवशतासे मनुष्य-शरीरमें पूर्ण विकसित अन्तःकरण प्रदान किया है और इसके प्रतापसे ही मनुष्य स्वतन्त्र कर्म कर सकता है। अन्य शरीरोंमें केवल अहंकारवृत्ति ही काम करती है, परंतु मनुष्य-शरीरमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चारों वृत्तियाँ काम करती हैं। इस प्रकार अन्य प्राणियोंका जीवन-निर्वाह केवल अहंकारवृत्तिसे होता है। अहंकारवृत्तिका अर्थ है कि 'मैं हूँ और मुझको जीना है'—इसके सिवा दूसरा कोई विचार इन प्राणियोंको नहीं होता। ज्ञानशक्ति इन प्राणियोंमें नहीं होती, इसका निश्चय करनेके लिये कुछ दृष्टान्त लीजिये। हाथीको यदि अपने शरीरका ज्ञान होता, तो वह एक छोटेसे अङ्कुशधारी अल्पशक्तिवाले महावतसे नहीं डरता। हाथी अङ्कुशसे वशमें रहता है, इसका कारण इतना ही है कि उसको अपनी शक्तिका भान नहीं होता और न महावत तथा उसके अङ्कुशकी अल्पशक्तिका ज्ञान होता है।

एक दूसरी रीतिसे देखिये। प्राणी अपना प्रतिबिम्ब नहीं पहचानते, इससे सिद्ध होता है कि उनमें ज्ञानशक्ति नहीं होती। प्रतिबिम्ब सदा उलटा पड़ता है और इससे उसको पहचाननेमें बुद्धिवृत्तिकी जरूरत पड़ती है। इस प्रकारकी अनेकों बातें जानवरोंमें देखी जाती हैं, सिंह अपना प्रतिबिम्ब कुएँमें देखता है और अपने ही प्रतिबिम्बको दूसरा सिंह समझकर उसके साथ लड़नेके लिये कुएँमें कूद पड़ता है। मुर्गेके सामने एक बड़ा दर्पण रक्खो, वह अपने प्रतिबिम्बको दूसरा मुर्गा समझकर उस शीशेसे टक्कर मारते-मारते अधमरा हो जाता है और दर्पणको न हटाओ तो मर भी जाता है। मनुष्य बचपनमें, जबतक बुद्धि नहीं होती तबतक अपना प्रतिबिम्ब नहीं पहचानता, यह सबके अनुभवकी बात है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके सिवा अन्य प्राणियोंमें ज्ञानशक्ति नहीं होती।

इस बातको श्रीशङ्कराचार्यजीने एक ही उपगीतिमें इस प्रकार समझाया है—

नरदेहाभिक्रमणात् प्राप्तौ पश्वादिदेहानाम् ।
स्वतनोरप्यज्ञानं परमार्थस्यात्र का वार्ता ॥

आत्मबोध हुए बिना ही आयु पूरी होनेपर जब मनुष्य-शरीर छूट जाता है और जब पूर्वके पापकर्मोंको भोगनेके लिये पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि शरीर प्राप्त होते हैं, तब उन योनियोंमें अपने शरीरका भी ज्ञान नहीं होता, ऐसी अवस्थामें दूसरा कोई ज्ञान कैसे हो सकता है? ऐसी स्थितिमें परमार्थकी प्राप्तिकी बात कैसे की जा सकती है? अर्थात् इन योनियोंमें प्रारब्ध-भोगके सिवा दूसरी कोई सामग्री ही नहीं होती।

यहाँतक हमने देखा कि मनुष्य-शरीरमें ही प्रभुने सम्पूर्ण विकसित अन्तःकरण दिया है और इस कारण यही।एक शरीर स्वतन्त्र कर्म करनेमें समर्थ है। इसके सिवा ८३,९९,९९९ शरीर तो केवल भोगभूमि ही हैं, यानी वे केवल जन्म लेते हैं और भोगोंको भोगकर मर जाते हैं, अर्थात् केवल मरनेके लिये ही जन्म लेते हैं, दूसरा कुछ भी उनसे नहीं हो सकता।

जब परमात्माने ऐसा अमोघ दान मनुष्यको दिया है तो मनुष्यका भी यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि उसका उपयोग ईश्वरकी प्राप्तिके लिये ही करे। उसे अपनी बुद्धिसे निश्चय कर लेना चाहिये कि मनुष्यजीवन कदापि भोग भोगनेके लिये नहीं होता; क्योंकि भोग तो अन्य योनियोंमें भी विना परिश्रमके मिलता रहता है। मनुष्य-शरीर ही ईश्वर-की प्राप्ति करानेमें समर्थ है और धर्म ईश्वरकी प्राप्तिका अङ्ग है। प्रस्तुत श्लोकमें शरीरको धर्मका साधन बतलाया है। इस धर्मके लिये प्राप्त साधनका उपयोग जो मनुष्य विषय-भोगमें करता है, वह ईश्वरसे द्रोह करता है; क्योंकि ईश्वरकी सौंपी हुई अमूल्य वस्तुका वह दुरुपयोग करता है।

आप मुझे एक सौ रुपये दें और कहें कि इन्हें सत्कार्यमें लगाना। परंतु मैं वैसा न करके उनका उपयोग अपने शरीरके लिये करूँ तो मेरा वह कार्य आपसे द्रोह करना ही होगा। मुझको संन्यासी समझकर आप भले ही मुझे कुछ न कहें, परंतु ईश्वरके दरबारमें तो मुझे इसकी सजा भोगनी ही पड़ेगी।

इसी प्रकार परमात्माने कृपा करके महापुण्यके योगसे प्राप्त होने योग्य ऐसा देव-दुर्लभ मानव-शरीर दिया, तप करके ईश्वरकी प्राप्ति कर लेनेके लिये। यदि मनुष्य इसका उपयोग विषय-सेवनमें ही करता है (जो एक गधेके शरीरसे भी हो सकता है) तो यह ईश्वरसे द्रोह करना ही कहलायगा। और ईश्वरसे द्रोह करनेवालेको क्या सजा होती है, इस बातको भगवान्ने गीतामें स्पष्ट समझाया है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(१६। १९-२०)

'*मुझसे तथा मेरी सृष्टिसे द्रोह करनेवाले क्रूर तथा पापी नराधमोंको मैं संसारमें बारंबार आसुरी योनियोंमें ही डाला* करता हूँ। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरमें आसुरी योनियोंमें भटकते हुए वे मूढ़ मुझको नहीं पा सकते, बल्कि उत्तरोत्तर अधम गतिको ही प्राप्त होते हैं।' भगवती श्रुति भी चेतावनी देती हुई कहती है—

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्मदुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

जब महापुण्यके प्रतापसे देवदुर्लभ मानवशरीर मिला हो और उसमें भी श्रुतियोंका तात्पर्य समझनेका अधिकारवाला पुरुषत्व प्राप्त हुआ हो, इतनेपर भी जो मूर्ख अपनी मुक्तिके लिये यत्न न करके विषयभोगमें ही रमण करता है, वह आत्महत्यारा है; क्योंकि जिस शरीरसे परमपदकी प्राप्ति करनी थी, उसका उपयोग उसने विषयभोगमें ही किया और अपनी इस मूर्खताके कारण अपने ही गलेमें फाँसी लगाकर मृत्युकी शरणमें गया!

जो न तरे भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आतमाहन गति जाइ॥

कीर्तन

(रचयिता—श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)

भज ले श्रीराम-चरण!
कलि-अघ, भव-ताप-हरण!

शोभा जिसकी ललाम,
शीतल शुभ ज्योति-धाम:
पुण्य-पुञ्ज, पूर्ण-काम!
सबकी गति, सब-शरण!
भज ले श्रीराम-चरण!

चञ्चल मनका विराम,
जिसका है मधुर नाम;
भक्तोंका अचल धाम,
कर ले पद-अमृत-चरण!
भज ले श्रीराम-चरण!

नीलसुन्दरके सलोने दृगोंमें मानो कालियह्रदकी वह भयंकरता प्रतिबिम्बित हो उठी, नहीं-नहीं चुभने-सी लगी—'अरे ! यह विषपूर्ण गत तो एक योजन परिमित दीर्घ एवं विस्तृत है ! देवगण भी इसको पार कर जायँ, यह दु:साध्य ही है । यह अत्यन्त गभीर है; ह्रासवृद्धि-विहीन सागरके समान ही इसका जल भी है । फिर भी जलजन्तुओंसे, जलचर-पक्षियोंसे यह शून्य है; इसकी अगाध जलराशि मेघावृत आकाश-सी प्रतीत हो रही है । इसकी तीरभूमि सर्पोंके आवासभूत अनेकों बिलोंसे पूर्ण है, इतना ही नहीं, सर्पगण इनमें निवास भी कर रहे हैं; अतएव अगम्य बन गया है यात्रियोंके लिये ह्रदका यह तट ! सर्पोंके श्वाससे उद्भूत अग्निधूम इसे परिवेष्टित किये हुए है । व्रजपुरवासियोंके पशुगण इसके जलका भोग नहीं कर सकते, तृषार्त एवं जलकी आशा लेकर आनेवालोंके लिये इसका जल अपेय बन रहा है । और तो क्या, त्रिषवणार्थी (तीन बार स्नान करनेवाले) अमरवृन्दने भी इसका उपभोग करना त्याग दिया । आकाशपथसे पक्षियोंके लिये भी इसके ऊपरसे संचरण करना सम्भव नहीं है । झंझावातके झोंकोंमें उड़कर गिर जानेवाले तृण-पत्रतक इसके विषके तेजसे तत्क्षण भस्म हो जाते हैं । ह्रदके चारों ओर चार कोस भूमितलकी कैसी भीषण दुर्दशा है ! किसकी सामर्थ्य है कि इस सीमामें प्रविष्ट हो जाय; सामर्थ्यशाली देवोंके लिये भी यह दुर्गम है ! ओह ! इस घोर विषाग्निकी ज्वालासे समस्त द्रुम, वीरुध आदि जल जो गये हैं—

दीर्घं योजनविस्तारं दुस्तरं त्रिदशैरपि ।
गम्भीरमक्षोभ्यजलं निष्कम्पमिव सागरम् ॥
तोयजैः श्वापदैस्त्यक्तं शून्यं तोयचरैः खगैः ।
अगाधेनाम्भसा पूर्णं मेघपूर्णमिवाम्बरम् ॥
दुःखोपसर्पतीरेषु ससर्पैर्विपुलैर्बिलैः ।
विषारणिभवस्याग्नेर्धूमेन परिवेष्टितम् ॥
अभोग्यं तत्पशूनां हि अपेयं च जलार्थिनाम् ।
उपभोगैः परित्यक्तं सुरैस्त्रिषवणार्थिभिः ॥
आकाशादप्यसंचार्यं खगैराकाशगोचरैः ।
तृणेष्वपि पतत्स्वप्सु ज्वलन्तमिव तेजसा ॥
समन्ताद्योजनं साग्रं देवैरपि दुरासदम् ।
विषानलेन घोरेण ज्वालाप्रज्वलितद्रुमम् ॥
(हरिवंश विष्णुपर्व ११ । ४२-४७)

अरे ! देखो सही, अभी इस समय ही तपनतनया-के इस कालियह्रदका जल कैसा उबल रहा है ! मानो चूल्हेपर स्थित विशाल जलपात्रका यह अत्युष्ण जल हो, आलोडित एवं आवर्तित हो रहा हो ! तथा ऊपरकी ओर, ओह ! यह देखो, वे भूले-भटके कुछ विहङ्गम उड़ते हुए आये; विषजलसे स्पृष्ट वायुने उन्हें छू लिया और वे मूर्च्छित होकर, हाय ! उस ह्रदमें ही जा गिरे । इसके परिसरमें अवस्थित स्थावर प्राणी भी जीवित रह ही कैसे सकते थे ? दैवप्रेरित जङ्गम-मृग आदि इस ह्रदके तीरकी ओर आकर जीवित रह जायँ, यह सम्भव ही कहाँ है ? बस, पवन इन विषाक्त तरङ्गमालाओंको स्पर्श कर, विषजलकणोंको वहन करते हुए उन्हें छू लेता है और वे जल जाते हैं, प्राणशून्य हो जाते हैं—

कालिन्द्यां कालियस्यासीद् ह्रदः कश्चिद् विषाग्निना ।
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥
विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ४-५)

जमुनहि मिल्यौ निकट ही महा। अति अगाध ह्रद कहियै कहा ॥
विषकी आगि लागि जल जरै। उड़ते खग जहँ गिरि गिरि परै ॥
पवन रासि उठि छुटि जल लहरैं। तिन तें विषकी फुही जु फहरैं ॥

इक जोजनके थिर चर जंत। जरि जरि मरि मरि गये अनंत॥
जो वृंदावन जोग्य न हुते। ते सब बिष-जल-ज्वाला हुते॥

× × ×

जमुन धार कहँ तजहिं अगम द्रह भरिव धनुष सत।
तहँ अहि करहिं प्रवास कोह काली दुर्मद मत॥
लहरि लोल मिलि अनिल चलत जब तपतु सकल बन।
उठति विसम विस ज्वाल जरत नभ उड़त विहगगन॥
तट निकट बिटप झौंके जहर झार भार नहिं सहि सकत।
इहि भाँत अमित उतपात लखि जगत-तात कूदन तकत॥

किंतु साथ ही ऐसे सूने निरानन्द कालियह्रदके तटपर भी वह एक कदम्बतरु अवस्थित अवश्य है तथा उसकी निराली हरीतिमा भी व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके नयनसरोजोंमें सना जाती है। ओह ! उसकी शत-शत सुन्दर शाखाएँ—कभी एक क्षणके लिये भी इस विषम विषकी ज्वालासे म्लान नहीं हुई, उसका एक पल्लव भी झुलस न सका। यह तरुराज निरन्तर एक पुण्यसौरभका संचार करता रहता है, व्रजपुरवासी दूरसे उसका घ्राण पाकर हर्षित होते हैं। इतना ही नहीं, कालके नियमोंका सर्वथा अतिक्रमणकर वह सदा एकरस मनोज्ञ सुखशीतल बना रहता है। पावस, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म—इन सब ऋतुओंमें ही, बारहों मास निरन्तर उसके अङ्ग पुष्पभारसे नमित रहते हैं, सदा ही वह कुसुमित रहता है एवं उसकी शोभासे दसों दिशाएँ उद्भासित रहती हैं, किंतु ऐसी असम्भावित घटना क्यों? अत्यन्त घोर विषकी इस तरुके प्रति ऐसी प्रभावहीनता कैसे ? बस, इसीलिये कि यह बड़भागी कदम्ब तरुराज श्रीकृष्णचन्द्रके भावी चरणसरोज-स्पर्शकी परम पुनीत प्रतीक्षामें जो अवस्थित है; व्रजराजनन्दनके नलिन-सुन्दर श्रीचरणोंका स्पर्श उसे भविष्यमें प्राप्त होगा, इस अप्रतिम सौभाग्यसे वह विभूषित है—

भाविना श्रीकृष्णचरणस्पर्शभाग्येन स एकस्तत्रापि न शुष्कः। (भावार्थदीपिका)

ऐसी ही है श्रीकृष्णचरणस्पर्शकी महिमा! यह स्पर्श प्राप्त हो चुका हो फिर तो कहना ही क्या है, किसीके लिये केवलमात्र यह सौभाग्य निर्धारित ही हो जाय, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपाशक्ति भविष्यमें, सहस्र-सहस्र युगसमूह व्यतीत होनेके अनन्तर भी यदि किसीके लिये ऐसे परम सुदुर्लभ संयोगका विधानमात्र कर दे तो इससे अधिक जीवनकी कृतार्थता और है ही क्या? व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्य-लीलामहाशक्तिके कक्षकोरमें एक अद्भुत अनादि अनन्त लीलोपकरणसूचिका सुरक्षित रहती है। उसमें यह कदम्बतरु भी स्थान पाये हुए है। सुदूर भविष्यमें, अमुक द्वापरके अन्तमें व्रजेन्द्रनन्दन अपने बाल्यावेशकी मौजमें इस कदम्बपर आरोहण करेंगे और पश्चात् इसीपरसे ही कालियदमनकी लीला संघटित करनेके लिये कलिन्दनन्दिनीके उस विषमय ह्रदमें कूद पड़ेंगे—यह विवरण इस तरुराजके लिये अङ्कित है। फिर कालियका विष इसका कभी कुछ भी बिगाड़ कर सके, यह तो असम्भव है। भला, जिन व्रजेन्द्रनन्दनका एक नाम जिह्वाग्रपर उपस्थित होनेमात्रसे, कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट होनेभरसे, उनके त्रिभुवनमनोहर रूपकी एक काल्पनिक आभा भी मानसतल्पर उदय होनेमात्रसे, परिस्थितिविवश हुए आकुल प्राणोंकी सर्वथा असहाय अवस्थामें एक बार 'नाथ ! मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकार मन-ही-मन जिनके शीतल शंतम चरण-सरोरुहकी शरण ग्रहण कर लेनेसे—संक्षेपमें कहनेपर अचिन्त्य सौभाग्यवश, उनके नाम-रूप-लीला-गुण आदिके सम्पर्कमें किसी प्रकार चले आनेमात्रसे जब संसार-सर्पविषकी ज्वाला सदाके लिये शान्त हो जाती है तो फिर जिसे व्रजराजनन्दन अपने श्रीचरणोंसे स्वयं स्पर्श करेंगे, उसे कालियके विषकी ज्वाला क्या कर सकती है?

या-पर कृष्न-चरन परसिहैं।
इहि चढ़ि या द्रुहहि करसिहैं॥
भावी जा कदंब की ऐसैं।
विष-जल परसि सकै तिहि कैसैं॥

इसीलिये यह कदम्ब-तरुवर विषकी कराल शिखाओंसे निरन्तर परिवेष्टित रहकर भी सर्वथा अक्षत बना है, अपने अन्तस्तलमें नित्य नवीन उल्लास लिये निरन्तर पल्लवित एवं पुष्पित रहता है। न जाने, कबसे यह कदम्ब पल्लवोंका शृङ्गार धारणकर, अपने कुसुमरूप नयनोंके पाँवड़े बिछाकर नीलसुन्दरका आवाहन कर रहा है—'आओ मेरे देवता! मेरे चिरजीवनकी अभिलाषा पूर्ण हो।'

इसके अतिरिक्त इसका एक और भी समाधान है कि इस कदम्बको कालियकी विषाग्नि क्यों नहीं जला सकी। और नीलसुन्दर तो इस समाधानको ही अपने बाल्यावेशसे निःसृत लीलारस-तरङ्गिणीमें स्थान देंगे। शालीनता गुणका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन यदि पुरुषोत्तम प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रमें व्यक्त न हो तो और कहाँ हो ? वे भला इस निराविल लीलारससिन्धुमें अवगाहन करते हुए, अपने अनन्त ऐश्वर्यको सर्वथा पीछे रखकर, डुबोकर एक अभिनव मुग्धताके साजसे सज्जित हुए जब इन रसमयी ऊर्मियोंका आस्वादन ले रहे हैं, अपने स्वजनोंको स्वरूपभूत परम आनन्दका दान कर रहे हैं, उस समय अपने चरणस्पर्शकी महिमाको अपने ही श्रीमुखकी वाणीद्वारा इस कदम्बके साथ सम्बद्ध करें—यह भी कभी सम्भव है ? अतएव वे तो इस दूसरे समाधानको ही उस अवसरपर महत्त्व देंगे तथा लीलारङ्गमञ्चपर झूलता हुआ आवरण-पट इस सूत्रके सहारे ही सरककर दूसरे दृश्यकी अवतारणा करेगा। जो हो, वह समाधान यह है—'उस दिन जब कि स्वर्गके देवगण पराजित हो चुके थे तथा विजेता पक्षिराज गरुड़ अमृतभाण्ड लेकर नागलोककी ओर अग्रसर हो रहे थे, उस समय— उस अमृतकलशके साथ ही—वे इस कदम्बतरुकी शाखापर क्षणभरके लिये अन्तःप्रेरित-से हुए जा विराजे थे, क्षणिक विश्राम-सा किया था उन्होंने इस वृक्षपर। तथा इस प्रकार अमृत-स्पर्शसे उस कदम्बने अमरत्व लाभ कर लिया और इसीलिये कालियविषकी अग्निसे उसकी किञ्चिन्मात्र भी क्षति न हो सकी।'—

अमृतमाहरता गरुत्मता क्रान्तत्वादिति च पुराणान्तरम्। (भावार्थदीपिका)

अस्तु, गोपशिशुओंके द्वारा प्रशंसा-गीतका विराम होते-न-होते—और कुछ भी लीला होनेसे पूर्व ही—श्रीकृष्णचन्द्रने कालियह्रदकी ऐसी भयावह परिस्थितिपर एवं साथ ही आकुल प्रतीक्षामें अवस्थित उस सुन्दर मनोहर कदम्बतरुपर अपनी कृपाभरी दृष्टि डाल ही दी, नहीं-नहीं, उनकी ऐश्वर्यशक्तिने ही अवसर देखकर अपनी विनम्र सेवा समर्पित करनेकी भावनासे नीलसुन्दरके नेत्र उनकी ओर फेर दिये। फिर तो तत्क्षण ही उनके हृत्तलके स्रोत कुछ क्षणोंके लिये ऐश्वर्यसंवलित हो उठे, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अन्तस्तलमें अब यह झंकृति होने लग गयी—

एतदर्थं च वासोऽयं व्रजेऽस्मिन् गोपजन्म च।
अमीषामुत्पथस्थानां निग्रहार्थं दुरात्मनाम्॥
एनं कदम्बमारुह्य तदेव शिशुलीलया।
विनिपत्य ह्रदे घोरे दमयिष्यामि कालियम्॥
(हरिवंश विष्णुपर्व ११। ५८-५९)

'इसी उद्देश्यसे तो इस व्रजमें मेरी यह प्रकट-लीला है, मैंने गोपजन्म स्वीकार किया है कि इन कुमार्गगामी दुरात्माओंका निग्रह करूँ। बस, ठीक है, शिशुलीलाके आवेशमें ही मैं इस कदम्बपर चढ़ जाऊँगा और फिर इस कालियह्रदमें कूदकर कालियसर्पका दमन करूँगा।'

बस, ऐश्वर्यशक्तिकी इतनी-सी सेवा ही नीलसुन्दरने इस समय स्वीकार की और फिर पूर्वकी भाँति ही वे सरस ऊर्मियोंमें बह चले। लीलाविहारी व्रजराजदुलारेका यही स्वभाव है। उनकी नित्यसहचरी ऐश्वर्यशक्ति अपने-आपको आवृत रखकर जो-जो सेवाएँ समर्पित करती हैं, उन्हें तो वे स्वीकार करते हैं; किंतु व्यक्तरूपसे वे नीलसुन्दरके हृत्तलको बार-बार स्पर्श करती

रहें, यह सम्भव नहीं है। अपने विश्वविमोहन, मुग्ध, रसमय लीलाप्रवाहमें श्रीकृष्णचन्द्रको ऐश्वर्यका सम्मिश्रण अभिप्रेत जो नहीं है। इसीलिये वृन्दावनविहारी उपर्युक्त ऐश्वर्यमय चिन्तनको तत्क्षण विराम देकर पहलेकी भाँति ही अपने बाल्यावेशकी तरङ्गोंसे उच्छलित लीलासिन्धुमें डूबने-उतराने लगे। अवश्य ही इसकी लोल लहरें उन्हें अतिशय वेगसे बहाये लिये जा रही हैं कालियदमनलीलाकी ओर ही। वे अगणित सखा भी उनके पीछे बढ़ते जा रहे हैं। साथ ही उन शिशुओंका उत्साह भी प्रतिक्षण नवीन होता जा रहा है। कदाचित् वे सरलमति बालक जानते होते, अपने कन्हैया भैयाकी भावी योजनाका आभास भी उन्हें प्राप्त हो जाता, फिर तो उनकी वह उमंग तत्क्षण समाप्त हो जाती; वे अपने प्राणप्रिय कन्नूको एक पग भी उस ओर बढ़ने नहीं देते। किंतु वे जानें कैसे, श्रीकृष्णचन्द्रकी चञ्चल चितवनकी ओटमें ऐसे समस्त अवसरोंपर ही अचिन्त्यलीलामहाशक्तिका अञ्चल स्पन्दित जो होने लगता है; इसी स्पन्दनके बयारसे उनके ज्ञानकी परमोज्ज्वल आलोकशिखा सचमुच झिलमिल करने लगती है और इसीलिये वे वस्तुस्थितिको देखकर भी नहीं देख पाते। इसके अतिरिक्त अपने कन्नू भैयाके किसी प्रस्तावका समर्थन वे न करें—यह तो उन्होंने सीखा ही नहीं। अपने प्राणोंका समस्त उत्साह लेकर वे सदा ही नीलसुन्दरकी प्रत्येक इच्छाका अनुसरण करते हैं। इसीलिये आज भी इस कालियह्रदके विषमय-तटपर, अभी-अभी इस विषके प्रभावसे मृत्युके उस पार जाकर लौट आनेपर भी, उन्हें कोई भय नहीं है, अपितु प्रत्येक शिशु ही मन-ही-मन कुछ-न-कुछ नवीन मनोरथका निर्माण कर रहा है, सबकी आँखोंमें एक पवित्रतम सरल उत्कण्ठा भरी है—'देखें! अब मेरा कन्नू क्या कहता है, क्या करता है!'

अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर नित्य विराजित स्मितकी आभा किञ्चित् बदली; वे तनिक गम्भीर-से दीखे! किंतु पुनः निमेष गिरते-न-गिरते उनके नेत्र पहलेसे भी अधिक चञ्चल हो उठे। दक्षिण भुजा कालियह्रदकी ओर केन्द्रित हो गयी तथा तर्जनीसे कालियनागके उस आवासकी ओर संकेत करते हुए नीलसुन्दरने कहना प्रारम्भ किया। स्वरमें एक अभिनव गम्भीरताका पुट अवश्य है, पर बाल्यावेशकी सरलता, वीणाविनिन्दित स्वरकी सरसता भी निरन्तर झर ही रही है और वे मानो एक श्वासमें ही इतनी बातें कह गये—

अहो वयस्याः! पश्यथ अत्रोदकस्तम्भविद्याकृतावकाशप्रकाशमानह्रदिनीह्रदस्थितस्वसदने कालियाख्यमन्ददन्दशूकस्तिष्ठति। तेन च दुष्टनिष्ठ्यूतया सर्व एवाखर्वविषज्वालया ज्वलिताः पर्यग्देशा दृश्यन्ते। उपर्य्यप्युत्पतिताः पतत्रिणश्चात्र पतिता इत्यात्मनेत्राभ्यां प्रतीयताम्। येभ्यस्तु प्राणा जगत्प्राणाशनभयतः सद्य एव विप्रतिपद्येव स्वयमुत्पतन्तः कदापि न न्यवर्त्तन्त। सोऽयं पुनर्गरुत्मत्कृतामृतसेक एक एव कालकूटज्वालयापि कृतालम्बः कदम्बः सुललितदलादितया लालसीति। तस्मादस्योपरिगकोटरपिठरे स्फुटं तदनवद्यममृतमद्यापि विद्यत इति प्रसह्याहमारुह्य पश्यामि। भवन्तस्तु गाः किञ्चिद्दूरचरतया चारयन्तश्चरन्तु।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अरे भैयाओ! देखो तो सही, यहाँ चमचम करती हुई यमुनाके वक्षःस्थलसे सटे हुए ह्रदमें एक बहुत बड़ा सर्प रहता है हो! महादुष्ट है वह। उसका नाम कालिय है। इतना ही नहीं, वह जलस्तम्भनविद्या जानता है। उस विद्याके प्रभावसे उसने जलमें ही स्थान बना लिया और फिर इस ह्रदमें गृहका निर्माण कर निवास करने लगा है। और सुनो, इसकी फुफकार इतनी दूषित है, इसके फुफकारसे ऐसी एवं इतनी अधिक भयंकर विषज्वाला निकलती है कि चारों

ओरकी भूमि झुलस गयी, जल गयी है। सचमुच, सब ओरकी पृथ्वी जली हुई प्रतीत हो रही है। और यह तो अपनी आँखोंसे अभी-अभी प्रत्यक्ष देख लो, ऊपर ऊँचे आकाशमें उड़ते हुए पक्षी सब-के-सब इस ह्रदमें गिर पड़े। हाय ! इन पक्षियोंके प्राण इस सर्पके भयसे इन्हें छोड़कर ऐसे उड़ गये मानो इनका इनसे मेल है ही नहीं, परस्पर विरोध हो गया है—सब-के-सब पक्षी बेचारे मर ही गये। इनके प्राण (तुम्हारी भाँति) लौटनेके नहीं। किंतु भैयाओ ! अरे देखो, यह अकेला कदम्ब ही ज्यों-का-त्यों बना है हो ! इस सर्पकी कालकूट ज्वालाके सम्पर्कमें भी यह अपने-आपको धारण किये हुए है, यही नहीं, अत्यन्त सुन्दर पल्लव आदिसे विभूषित रहकर अतिशय चमक रहा है। इसका कारण बताऊँ ? अच्छा सुनो, गरुड़के द्वारा अमृत ले जाते समय इसपर भी अमृतके छींटे पड़ गये थे। और सुनो भैयाओ ! मुझे स्पष्ट ही ऐसा लगता है कि उसी कारणसे आज भी इस वृक्षके ऊपरके कोटरमें वह विशुद्ध अमृत सुरक्षित पड़ा है। मेरी तो इच्छा है कि साहसपूर्वक मैं इस कदम्बपर चढ़ जाऊँ और देखूँ तो सही कि वहाँ उस कोटरमें सचमुच अमृत है या नहीं। हाँ, तुम सब यहाँसे किञ्चित् दूर हटकर गोचारण करते हुए विचरो !'

श्रीकृष्णचन्द्र इतना कह लेनेके अनन्तर अपने सखाओंकी ओर देखने लगे। प्रत्येक शिशुने ही देखा, ठीक ऐसी ही अनुभूति उसे हुई—'मेरा कोटिप्राणप्रिय कन्नू केवल मेरी ही आँखोंमें अपनी आँखें मिलाकर मेरी अनुमति चाह रहा है !' सचमुच मानो स्नेहकी शत-सहस्र स्रोतस्विनी नीलसुन्दरके इन दृगोंसे एक साथ प्रसरित हो रही हो, ऐसी स्नेहपूरित दृष्टिसे वे उन शिशुओंकी सम्मति माँग रहे हैं। किंतु उन बालकोंका हृदय—न जाने क्यों—आज भर आया। क्षणभर पूर्वका वह अप्रतिम उल्लास भी सहसा, न जाने कैसे, सर्वथा प्रशमित हो गया। वे कुछ बोलने चले, पर इतनेमें तो उनके नेत्र भी छल-छल करने लगे। व्रजेन्द्रनन्दनने उन्हें दूर हटकर गोचारण करनेकी बात कह दी—इस हेतुसे यह बात हुई क्या ? नहीं-नहीं, यह तो कितनी बार हो चुका है। आज तो बिना किसी प्रत्यक्ष कारणके ही उनके हृदयका बाँध ही टूटा-सा जा रहा था। पर, इधर नीलसुन्दरको भी अब अत्यधिक त्वरा है। यह कहना सम्भव नहीं कि उन शिशुओंने उन्हें मूक सम्मति दी या असम्मति प्रकट की; क्योंकि सहसा व्रजेन्द्रनन्दन उनकी ओर देखना स्थगित कर कदम्बतरुकी ओर देखने लग गये। साथ ही उनके अधरपल्लव भी उनकी शुभ्र दशनकान्तिसे उद्भासित हो उठे तथा सर्वत्र एक विचित्र मनोहर हास्य गूँज उठा और फिर नादित होने लगी उनकी यह रहस्यपूर्ण अभय वाणी—'भैयाओ ! डरना मत, डरना मत, मेरे लिये शोक मत करना भला ! अच्छा, दूर मत जाओ। यहीं इस स्थानपर ही गायोंको सँभालनेकी दृष्टिसे स्थित रहना।'

मा भेतव्यं मा भेतव्यमिहैव धेनुसम्भालनया स्थातव्यमिति हसितसितदशनरुचिरुचिराधरमाभाष्य।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, अपलक दृष्टिसे वे शिशु देखते ही रहे तथा श्रीकृष्णचन्द्र दौड़कर कदम्बके समीप जा पहुँचे। अत्यन्त शीघ्रतासे उन्होंने कटिवस्त्रको समेटकर दृढ़तापूर्वक बाँधा। वह बिखरी हुई अलकावलि भी चटपट सहेज ली—

किंकिनि सौं कटि पटहि लपेटि। कुटिल अलक मुकुट मैं समेटि॥

फिर दाहिने करतलसे वाम भुजाको ठोककर उन्होंने उस कदम्ब तरुपर चढ़ना आरम्भ किया, अरे नहीं, वह देखो वे तरुके ऊपरकी सर्वोच्च शाखापर जा विराजे। ओह ! इस समयका उनका वह उत्साह !

वह अप्रतिम सौन्दर्य ! बस, कहना ही क्या है—

घट है जिहि कदंब पर चढे। छाजत ता छिन अति छबि बढ़े॥

× × ×

खेलहिं प्रभु नाँध्यौ कसु पट्ट बाँध्यौ
हरि हर बर करि कदम चढे।
ठोकनि भुजदंडनि लीला मंडनि
अति उर उमगि उछाह बढे॥

मानो, इस समय अपने मत्स्य-कूर्म आदि स्वरूपोंसे अवतरित होनेकी घटना, उन-उन दुष्टोंके दमनकी बात, खलनिग्रहकी अपनी प्रवृत्ति—इन सबका श्रीकृष्णचन्द्रको स्मरण हो आया हो और वे उन भावोंसे भावित हो उठे हों—इस प्रकार उनकी दृष्टि नीचे अवस्थित कालियह्रदपर पड़ी, नहीं-नहीं स्वयं कालियपर ही पड़ी; तथा फिर क्षणार्धका सहस्रांश मात्र बीतनेसे कालियके अत्युग्र विषमय प्रभाव—पराक्रमकी समीक्षा करके लौट भी आयी। श्रीकृष्णचन्द्र अर्द्धनिमीलित नयनोंसे अब कलिन्दनन्दिनीके सुदूर कल-कल प्रवाहकी ओर देखने लगे। उन्होंने स्पष्ट देख लिया—केवल तीरभूमि ही नहीं, तपनतनयाका वह मञ्जुल प्रवाह भी कितने बृहत् अंशमें इस कालियने विषदूषित कर दिया है! अनन्त करुणार्णव व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र फिर विलम्ब क्यों करें! कदम्बकी वह तुङ्ग शाखा अतिशय वेगसे कम्पित हुई और नीलसुन्दर उस विषमय ह्रदमें ही कूद पड़े—

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्ग-
मास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद् विषोदे॥
(श्रीमद्भा० १०।१६।६)

जिहि जल छुवत जात जन जरे। तिहि जल कुँवर कूदि ही परे॥

नामकी महिमा

[विधि-अविधि कैसे भी हो]

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

इस कलिकालमें भव-तरणके सभी साधनोंमें भगवान्‌का नामाराधन ही अमोघ एवं निरुपाधि है; यथा—

'नाहिं न आवत आन भरोसो।
एहि कलिकाल सकल साधन तरु
है श्रम फलनि फरो सो॥'.........
राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥'
(विनय-पत्रिका १७३)

'नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥'
(श्रीरामचरितमानस बाल० २६)

'कलि नहिं ग्यान, बिराग न जोग समाधि।
राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥'
(बरवै रा० ४८)

इस नामाराधनकी विधि—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' (योगसूत्र)

अर्थात् उस (प्रणव ॐ) का जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये।

'मननात्त्राणनान्मन्त्रः' (रामतापनीय० पू० १।१२)

अर्थात् नाम एवं मन्त्रके अर्थका मनन करनेसे रक्षा होती है। तथा—

मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः।
फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥
यथा नामी वाचकेन नाम्ना योऽभिमुखो भवेत्।
तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत्॥
(रामतापनीय० पू० १।२१-२२)

अर्थात् यह (श्रीराम-) मन्त्र वाचक है और श्रीरामजी इसके वाच्य हैं, इन दोनोंका संयोग (अर्थका अनुसंधान और मन्त्रका अनुष्ठान) सब साधकोंको फल देनेवाला है,

इसमें संदेह नहीं है। जिस प्रकार नामवाला अपने वाचक नामके द्वारा (पुकारे जानेपर विमुख भी) सम्मुख हो जाता है; उसी प्रकार बीजयुक्त मन्त्र (आराधनद्वारा) मन्त्री श्रीरामजीको सम्मुख कर देता है।

इस प्रकार जप करनेमें उच्चारणके साथ मन्त्र एवं नामके देवताके रूपका ध्यान एवं उनके गुणोंका अनुसंधान अपेक्षित है; तथा—

'जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुंदर स्याम सरीर ॥'
(रामचरितमानस बाल० ३४)

'रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।
तस्यानुरूपं च कथां तदर्थमेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि ॥
....................मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि ॥'
(वाल्मी० ५।३२।११-१२)

अर्थात् (अशोकवाटिकामें श्रीसीताजी मनमें कहती हैं कि) मैं सदा श्रीरामजीको बुद्धिसे सोचा करती हूँ और वाणीसे 'राम-राम' ऐसा कहा भी करती हूँ; इसीसे अपने विचारानुसार यह कथा सुन रही हूँ और देख रही हूँ।.................... मेरा मनोरथ ही (राममय होकर राम-कथाका बोध करा रहा) है, ऐसा मैं मानती हूँ।

इस जप-प्रसङ्गमें श्रीजानकीजीने दिखाया है कि श्रीराम-नामका जप करते हुए श्रीरामजीके रूप एवं नामार्थ-रूपा उनकी कथाओंका चिन्तन होना चाहिये। इससे 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' इस शरणागतिके प्रथम एवं प्रधान अंशकी सिद्धि होती है।

इसके पश्चात्की इस जीवकी कल्याण-व्यवस्था 'कल्याण' २७१६ के पृ० १०६०-१०६१में लिखी जा चुकी है। यह विधिसे जपकी व्यवस्था है। अविधिपूर्वक नाम लेनेसे भी कल्याण-व्यवस्था होती है; यथा—

'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥'
(रामचरितमानस बाल० २७)

'बिवसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥'
(रामचरितमानस बाल० ११८)

'राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ॥'
(रामचरितमानस अयो० १९३)

श्रीगोस्वामीजीने ही ऐसा नहीं लिखा; प्रत्युत सभी शास्त्र ऐसा कहते हैं—विष्णुपुराण ६ । ८ । १९, श्रीमद्भागवत ६ । २ । १४-१८ एवं १२ । १२ । ४६-४७ तथा स्कन्दपुराण, का० पू० २१ । ५७ आदि देखिये।

इन वचनोंको अर्थवाद नहीं कह सकते; यथा—

'गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।'
(पद्मपुराण, सनत्कुमार-वचन श्रीनारदजीसे)

अर्थात् (दस नामापराधका वर्णन करते हुए कहा गया है कि) गुरुकी अवज्ञा, वेद-शास्त्रकी निन्दा और हरिनाम-माहात्म्यमें अर्थवादकी कल्पना—ये सब नामापराध हैं। नाम-प्रभावमें सब कुछ सम्भव है; यथा—

'नाम-प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो।'
(विनय-पत्रिका २२८)

अतः अविधिसे नामद्वारा कल्याण होनेकी कोई व्यवस्था होनी चाहिये। वह इस प्रकार होती है; यथा—

'यस्य नाम महद्यशः, न तस्य प्रतिमाऽस्ति।
(यजुर्वेद, अ० ३२, मन्त्र ३)

अर्थात् जिस परमात्माका नाम और यश महान् है, उसकी बराबरीका कोई नहीं है। नामकी महत्ता; यथा—

'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नामप्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥'
(रामचरितमानस बाल० २१)

अर्थात् नाम-प्रभाव चारों युगोंमें और चारों वेदोंमें कहा गया है, कलिकालमें विशेषरूपमें यही उपाय है; क्योंकि इसमें अन्य उपायोंका अभाव-सा है, इससे इसका प्रभाव विशेष स्पष्ट दीखता है।

'ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें ॥
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला ॥'
(रामचरितमानस बाल० २६)

अर्थात् सत्ययुग आदि युगोंमें ध्यान, यज्ञ और पूजन विधिरूपमें थे। नामाराधनद्वारा इन विधियोंकी रक्षा होती थी; यथा—

'नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥'
(रामचरितमानस बाल० २१)

कलिकालमें यह केवल (विधियोंके बिना) ही सब कल्याण करता है। राजारूप श्रीरामनामके संरक्षणसे ही अन्य साधन सिद्ध होते हैं; यथा—

'नाम राम को अंक है, सब साधन हैं सून।
अंक गये कछु हाथ नहिं, अंक रहे दसगून ॥'
(दोहावली १०)

इसीसे नामको सदासे महान् यश प्राप्त होता आया है; यथा—

'चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका ॥'
(रामचरितमानस बाल० २६)

जैसे कोई यशस्वी वैद्य अच्छे-अच्छे देशोंमें जड़ी-बूटीकी ओषधियोंमें कुछ रसायन देकर बहुतोंका कल्याण करता है। इससे उसका यश फैल जाता है। संयोगसे यदि वह किसी ऐसे देशमें जा पहुँचता है, जहाँ जड़ी-बूटी नहीं मिलती; वहाँ वह रसायनमात्रसे रोगियोंको अच्छा कर अपने यशकी रक्षा करता है एवं अपने नामकी लज्जा रखता है। वैसे ही नाम ही यहाँ यशस्वी वैद्य है। यह अपने प्रभावरूप रसायनसे ही विधिहीन कलिकालरूप कुदेशमें अपने यशकी रक्षा करता है एवं अपनी लज्जा रखता है। इसके प्रमाण ऊपर प्रारम्भमें ही आ गये। ध्यान, यज्ञ एवं पूजन आदि विधियोंके अभावकी भाँति नाम-जप-विधिके अभावमें भी यह अपनी लज्जा रखता है।

नामकी लाज ही रूपकी भी लाज है, यथा—

'समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ॥'
(रामचरितमानस बाल० २०)

अर्थात् नामी (रूप) के ही गुण नाम (नामार्थ) में रहते हैं, जापक नामार्थसे प्रकट करते हैं। नामकी प्रशंसासे रूप प्रसन्न होता है, इस प्रकार दोनों समझनेमें समान हैं तथा एक दूसरेके अनुगामी हैं। इस रीतिसे नामकी लाज ही रूपकी लाज है। अतः नामके यशकी रक्षा रूप करता है। नामार्थसे प्रकट हुए अपने गुणोंके अनुसार रूप अपने षडैश्वर्योंका आधार किये हुए जापककी कामना पूरी करनेके लिये उसकी श्रद्धाको अपने बलसे धारण कर नाम-यशकी रक्षा करता है—गीता ७। २१-२२ भी देखिये।

ध्यान-यज्ञ आदि विधियोंके अभावमें नामके यशकी रक्षा करनेके प्रमाण ऊपर आ चुके हैं, नाम-जप-विधिके अभावमें भी नामके यशकी रक्षा करनेका प्रसङ्ग आगे लिखा जाता है, जिस प्रकार लक्ष्य-हीनता, शुद्ध उच्चारणहीनता एवं हृदयमलिनता तथा मुमुक्षुता-रूप विधि-हीनतापर भी 'नाम'द्वारा कल्याण होता है।

सो धौं को जो नाम-लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि! हरी सकल भव भीर ॥ १ ॥
बेद-बिदित जग-बिदित अजामिल बिप्रबंधु अघधाम।
घोर जमालय जात निवारयो सुत हित सुमिरत नाम ॥ २ ॥
पसु पाँवर अभिमान सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह।
सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु हरयो दुसह उर दाह ॥ ३ ॥
ब्याध निषाद गीध गनिकादिक अगनित अवगुन मूल।
नाम ओट ते राम! सबनि की दूरि करी सब सूल ॥ ४ ॥
केहि आचरन घाटि हौं तिन्ह ते रघुकुल-भूषन भूप।
सीदत तुलसिदास निसिबासर पर्यो भीम तम कूप ॥ ५ ॥

अर्थ—हे रघुवीर! ऐसा कौन है जिसे आपने अपने नामकी लज्जा रखनेके लिये अपनी शरणमें नहीं रक्खा है? हे कारुणिक! और हे हरि! आपने बिना कारण ही समस्त सांसारिक भय दूर कर दिये हैं ॥ १ ॥ [आगे कुछ उदाहरण देते हैं—] वेद [एवं वेदोपबृंहणरूप भाग० ६। १, २, ३] में प्रसिद्ध है और सारे संसारभरमें प्रकट है कि अजामिल ब्राह्मणोंमें नीच और पापोंका स्थान ही था। उसके (अपने) बेटेके लिये (व्याजसे) अपना (नारायण) नाम स्मरण करनेपर आपने उसे घोर यमलोक जाते हुए रोक लिया ॥ २ ॥ गजेन्द्र अभिमानका समुद्र और नीच पशु था। परंतु जब उसे मगरने आकर पकड़ लिया था, तब उसके एक बार स्मरण करनेपर, हे प्रभो! आप शीघ्र ही आ गये थे और आपने उसकी दुस्सह हार्दिक पीड़ाका हरण किया था ॥ ३ ॥ (इसी प्रकार) व्याध (वाल्मीकि), निषाद (गुह), गृध्र (जटायु) और गणिका (जीवन्ती) आदि अगणित जीव जो दोषोंके कारण एवं आधार थे; परंतु हे श्रीरामजी! आपने अपने नामकी ओटसे उन सबकी सारी पीड़ाओंको दूर किया था ॥ ४ ॥ हे रघुकुलश्रेष्ठ राजा श्रीरामजी! मैं उन सबसे किस आचरणमें कम हूँ? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि फिर भी मैं भयंकर अन्धकारमय कुएँमें पड़ा हुआ रात-दिन कष्ट पा रहा हूँ। [आपने जैसे उन सबको भवकूपसे निकाला है, वैसे मुझे भी निकालिये, क्योंकि मैं भी वैसा ही आपका नाम लेता हूँ] ॥ ५ ॥

श्रीरामजीको अपने नामकी बड़ी लज्जा है। अतः वे किसी प्रकारसे भी नाम लेनेवालोंको शुद्ध नाम-जापककी गति देते हैं; यथा—

'कैसेहुँ पाँवर पातकी जो लई नामकी ओट।
गाँठी बाँध्यो राम सो पर्‍यो न फिरि खर खोट॥
(विनय-पत्रिका १९१)

'तव तुम्ह मोहूँ-से सठनिको हठि गति देते।
कैसेहु नाम लेहि कोउ पामर सुनि सादर आगे है लेते॥'
(विनय-पत्रिका २४१)

श्रीगोस्वामीजीको भी एकमात्र नामका ही अवलम्ब है; यथा—

'नाम अवलंब अंबु दीन मीन राउ सो।
प्रभु सों बनाइ कहौं जीह जरि जाउ सो॥'
(विनय-पत्रिका १८२)

'रामकी सपथ सर्बस मेरे राम नाम
कामधेनु कामतरु मोसे छीनछाम को॥
(कवित्त रा० उत्तर० ७८)

अतः नामद्वारा अपने कल्याणका उद्देश्य लेकर स्वामी श्रीरामजीके समक्ष अपना प्रस्ताव रखते हुए कहते हैं—

'सो धौं को जो नाम लाज तें……' भाव यह कि मेरे विचारसे तो श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणमें ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं है कि किसीने आपके नामकी ओट ली हो और आपने अपने नामकी लज्जा रखते हुए उसे सद्गति न दी हो।

'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं…'

[श्रीरामचरितमानसके प्रारम्भकी इस प्रतिज्ञासे सिद्ध है कि ग्रन्थकारने श्रुति आदिका परिशीलन किया है] इनमें तो मुझे अभीतक कहीं कोई उदाहरण नहीं मिला। 'धौं' इस दुविधावाचक शब्दसे यह प्रश्न भी श्रीरामजीसे करते हैं कि मैं जीव हूँ। अतः सीमित ज्ञान होनेसे अल्पज्ञ हूँ। इससे सम्भव है कि यथार्थ न जानता होऊँ; परंतु आप तो सर्वज्ञ हैं, अखण्ड ज्ञानवाले हैं। अतः सब कुछ जानते हैं, इससे आप ही बतलावें, यदि वैसा कोई उदाहरण हो।

आगे नामकी लज्जा रखनेका कारण कहते हैं—

'कारुनीक बिनु कारन ही हरि……'—नाम-जापकके प्रति आपके हृदयमें अत्यन्त करुणा हो आती है, इससे 'कारुनीक' कहा गया है और फिर उस निर्हेतु करुणासे तुरंत ही आश्रितका क्लेश हरण करते हैं, इससे 'हरि' भी साथ ही कहा गया है। करुणा; यथा—

'आश्रितार्त्यभिना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः।
अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्‌द्रवत्॥
कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्तिनिवारणम्।
इतीच्छादुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणत्वरा॥
परदुःखानुसंधानाद्विह्वलीभवनं विभोः।
कारुण्यात्म्यगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः॥'
(श्रीभगवद्गुणदर्पण)

अर्थात् आश्रितके दुःखपर विह्वल हो जाना और अत्यन्त तत्परतासे उसका दुःख निवारण करना करुणागुणका कार्य है। ऐसी करुणा नाम-जापकके प्रति होती है; यथा—
'अंतरजामिहु तें बड़े बाहेर जामि हैं राम जे नाम लियें तें।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाई ज्यों बालक बोलनि कान किये तें॥'
(कवित्त० उत्तर० १२९)

नाम-जापकोंके प्रति इसी गुणसे प्रेरित होकर आप बिना कारण ही उनके समस्त संसार-भयका हरण करते हैं। आगे उदाहरण देते हैं—

'बेद बिदित जगबिदित अजामिल…'—अजामिल ब्राह्मणोंमें अधम और पापोंका स्थान ही था; अर्थात् उसमें ब्राह्मणत्व एवं सदाचार कुछ भी नहीं थे। ऐसेको भी आपने घोर यमालय जानेसे बचाया था, निमित्त था—'सुत हित सुमिरत नाम' अर्थात् उसने अपने बेटेके ही उद्देश्यसे 'नारायण' यह नाम लिया था, भगवान्‌के उद्देश्यसे नहीं; यथा—

'नामु लिएँ पूतको पुनीत कियो पातकीसु'
(कवित्त० उ० १८)

रूप एवं नामार्थभूत गुणपर चित्त रखकर नाम-स्मरण करनेकी विधि है। पर इसका लक्ष्य तो बेटेपर ही था। जीभमात्रसे इसने 'नारायण' यह नाम कहा था, फिर भी आपने अपने नामकी लज्जा रखते हुए इसका उद्धार किया।

[आगे 'केहि आचरन घाटि हौं तिन्हते' इस वाक्यखण्डसे ग्रन्थकारने इन प्रसङ्गोंसे अपनी तुल्यता कही है। अतः मिलानसे भाव स्पष्ट करता हूँ—] मैं भी देहाभिमानी होनेसे अजामिलके समान हूँ। अजा प्रकृति एवं मायाका नाम है; यथा—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां…………"
(श्वेता० ४। ५)

प्रकृतिका परिणाम मेरा देह है। अतः यह भी 'अजा'

है। इसका अभिमानी होकर मैं इसमें 'मिल' गया हूँ। अतः अजामिल हूँ। मैं भी उदरपूर्तिके लिये आपका नाम लेता हूँ। जिह्वामात्रसे नाम लेता हूँ; लक्ष्य उदर-पूर्तिपर रहता है; यथा

'मोह-मद-माते, रच्यो कुमति-कुनारि सों
बिसरि बेद-लोक-लाज, आँकरो अचेतु है।
....

तुलसी अधिक अधमाई हू अजामिल तें,
ताहू में सहाय कलिकपटनिकेतु है।
जैबे को अनेक टेक, एक टेक ह्वैबे की, जो
पेट-प्रियपूत-हित राम नाम लेतु है॥
(कवित्त० उत्तर० ८२)।

अतः उसी प्रकार अपने नामकी लज्जा रखते हुए मेरा भी उद्धार कीजिये। इस उदाहरणसे यहाँ 'लक्ष्यविहीन' एवं 'नामार्थ-विचाररहित' नाम लेनेकी भी सफलता कही गयी है। प्रभुकी करुणाका पात्र बननेके लिये दीनता चाहिये, यह उपर्युक्त 'आरतीक' ' इस चरणमें ध्वनित है।

इसपर यदि कहा जाय कि भगवान्‌के नाम-सम्बन्धसे अक्षरोंमें भी महत्त्व आ जाता है; यथा—
'यन्नामसंसर्गवशाद् द्विवर्णौ नष्टस्वरौ मूर्ध्निगतौ स्वराणाम्।'
अर्थात् श्रीरामजीके नाम-सम्बन्धसे 'र' और 'म' इन दोनों अक्षरोंको यह महत्त्व प्राप्त है कि ये स्वररहित होनेपर सभी वर्णोंके सिरपर चढ़ जाते हैं।

'अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥'
(श्रीमद्भा० ६। २। १८)

अर्थात् जानकर एवं बिना जाने हुए भी नाम लेनेपर पाप भस्म होते ही हैं और यह ब्राह्मण एवं विद्वान् भी था। अतः इसने शुद्ध उच्चारणपूर्वक नाम लिया है, इससे इसका उद्धार किया है, यह एक हेतु इसके उद्धारमें है, तुम तो वैसे विद्वान् नहीं हो; इस सम्भावित शङ्कापर दूसरा उदाहरण भी देते हैं—

'पसु पाँवर अभिमानसिंधु गज..........................,

गजेन्द्रकी कथा भागवत ८। २। ४ में है। वह पशु था; हाथीके स्वभावसे महान् अभिमानी था। अतः दयाका पात्र भी नहीं था; उसके तो वैखरी वाणी भी नहीं थी, जिससे उसका शुद्ध उच्चारण करना समझा जाय। हृदयके भावके साथ संकेतमात्रसे इसने नामोच्चारण किया था; यथा—

'तर्यो गयंद जाके अर्ध नाम।'
(विनयपत्रिका ८३)

अर्थात् हाथीके सूँड़का अग्रभाग (नथुना) डूबता है तभी वह पानीसे मरता है। डूबते हुए उसने नथुनेके अग्रभागको फैलाया कि क्षणभर ही बच जाऊँ; उसीमें 'रा' इस आधा नाम लेनेका संकेत हुआ। क्योंकि 'रा' का उच्चारण करनेमें मुँह खुल जाता है। फिर डूबते हुए कुछ क्षणोंके लिये नथुना बंद करता तो 'म' का संकेत भी बन जाता; पर वैसा होने नहीं पाया; वह डूबने ही न पाया। 'रा' (इस आधे नाम) के संकेतमात्रमें ही भगवान्‌ने आकर उसे बचा लिया। इस प्रकार इसने आधे नामके संकेतमात्रसे मुक्ति पायी है।

मेरा हृदय भी अभिमान आदि दोषोंसे मलिन है। लोभरूपी ग्राहने मनरूपी गजेन्द्रको कुभाँतिसे ग्रहण किया है। इन कारणोंसे मेरी वाणी मलिन हो रही है। अतः मेरा नामोच्चारण करना नामका संकेत करना मात्र है। हृदयमें आपका भरोसारूप भाव है। अतः गजेन्द्र-प्रसङ्गके समान अपने नामकी लज्जा रखते हुए मेरा भी उद्धार कीजिये।

अजामिल-प्रसङ्गमें उच्चारणमात्र ठीक था, लक्ष्य ठीक नहीं था और इस गजेन्द्र-प्रसङ्गमें हृदयका भाव ठीक है, पर उच्चारण ठीक नहीं है, परंतु अपने नामकी लज्जा रखते हुए श्रीरामजीने कृपा करके इन्हें भी शुद्ध नाम-जापककी गति दी है।

आगे अन्तःकरणकी अशुद्धियोंपर भी नामद्वारा कल्याण होनेके उदाहरण देते हैं—

'ब्याध निषाद गीध गनिकादिक..............,

व्याध (श्रीवाल्मीकिजी) ने उल्टे नामके जपसे गति पायी है; यथा—
'जान आदिकबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥'
(रामचरितमानस बाल० १८)

'जहाँ बालमीकि भये ब्याध तें मुनींद्र साधु
'मरा मरा' जपें सिख सुनि रिषि सात की॥'
(कवित्त० उत्तर० १३८)

गुह निषादने जीवहिंसावृत्तिके साथ-साथ जैसे-तैसे

नाम लिया था। गृध्र जटायु आमिषभोगी थे। उन्होंने भी नाम-जपसे ही सद्गति पायी है और गणिका (जीवन्ती नामकी) ने वेश्यावृत्तिके साथ तोताको पढ़ाते हुए नाम लिया था; उसकी कथा पद्मपुराण-क्रियायोगसारमें है; वह भी तर गयी है, यथा—

'गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना।''''''
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥'

(रामचरितमानस उत्तर० १२९)

यहाँ मेरा मन व्याधके समान है, मनुष्य-शरीर ब्रह्मप्राप्तिके लिये मिलता है। अतः इस अंशमें यह ब्राह्मण है। इस देहाभिमानी मनुष्यका भवसागरमें डाला जाना इसकी हत्या करना है। मनके ही विषयप्रमादसे जीवका बार-बार जन्म-मरण होता रहता है; यथा—

'विटप-मध्य पुतरिका सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये।
मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाये॥'

(विनयपत्रिका १२४)

व्याध (वाल्मीकिजी) अपने एक-एक दिनमें बहुत-सी ब्रह्महत्याएँ करते थे, वैसे यह मन भी बहुत-से मनुष्य-शरीरोंसे विषयी हो एक कल्परूपी दिनमें बहुत बार जीवको मृत्युमय नाना योनियोंमें ले जाता है। यही इसका बहुत ब्रह्महत्या करना है। ऐसे मनका अपनी वैषयिक वृत्तिके साथ नामाराधन करना इसका उल्टी वृत्तिके साथ उलटा नामका जप करना है।

गुह निषादके समान मेरा अहङ्कार है। मान-क्रोध आदिके स्वभावके साथ इसका नाम-जप करना हिंसावृत्तिके साथ नामाराधन है।

चित्त गृध्र जटायुके समान है। यह राग-द्वेष वृत्तिके साथ नामाराधन करता है; यही इसका मांसाहारी-वृत्तिके साथ नामाराधन है।

बुद्धि गणिकाके समान है। इसे आत्मामें ही गति करनी चाहिये; परंतु यह विषयी मनके साहचर्यसे इन्द्रियदेवोंके साथ व्यभिचारिणी हो गयी; यही इसमें वेश्यापन है; यथा—

'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥'

(गीता २। ४१)

इसकी वृत्ति तो विषयोंमें रत रहती है, पर जीभरूपी तोतेसे यह नाम रटती-रटाती रहती है; यथा—

"कीर ज्यों नाम रटै तुलसी'''''''"

(कवित्त० उत्तर० ६०)

तोतेकी वृत्ति वाक्यार्थपर नहीं रहती, उसी प्रकार इस वेश्या-बुद्धिकी वृत्ति भी नामार्थपर नहीं रहती। उस वेश्याने तोतेके साथ अन्ततक नाम रटकर सद्गति पायी है। वैसे ही इस बुद्धिने भी अन्ततक नाम-रटनकी ठान ली है।

इस प्रकार मेरे चारों अन्तःकरण उक्त पापियोंके समान हैं। अतः अपने नामकी लज्जा रखते हुए इनका भी उद्धार कीजिये।

'केहि आचरन घाटि हौं'''''''',

उन पापियोंसे मैं किसी बातमें कम नहीं हूँ। फिर मेरा भी उद्धार करके अपने नामकी लज्जा क्यों नहीं रखते? आप तो 'रघुकुलभूषन भूप' हैं। राजा रघु परम उदार और न्यायशील थे, वैसा ही यह कुल सदासे चला आता है। फिर मेरे प्रति न्यायमें संकोच क्यों हो रहा है? राजा सभी प्रजाको पुत्रवत् एक समान मानता है। परंतु आप उन व्याध आदिकी अपेक्षा मेरे प्रति संकोच क्यों कर रहे हैं? तथा—

'खग-गनिका-गज-ब्याध-पाँति जहँ तहँ हौं हूँ बैठारो।
अब केहि लाज कृपानिधान! परसत पनवारो फारो॥'

(विनय-पत्रिका ९४)

'सीदत तुलसिदास निसि-बासर'''''

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जबसे मुझमें मुमुक्षुता-वृत्ति आयी है, तबसे मैं समझ-समझकर दिन-रात दुःखित होता रहता हूँ कि इस संसाररूपी भयंकर अज्ञानान्धकारपूर्ण कुएँसे कब बाहर हो पाऊँगा। हे प्रभो! आप मेरी इस विपत्तिपर करुणा करें और अपने नामकी लज्जा रखते हुए मेरी रक्षा करें।

'तम-कूप' यथा—

'काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥'

(रामचरितमानस उत्तर० ७३)

नामाराधनसे रूप हृदयमें आता है। यद्यपि मेरा नामाराधन उक्त पापियोंके समान अविधिसे है। फिर भी अपने नामकी लज्जा रखते हुए आप मेरे हृदयमें निवास करें, इससे तमरूप कामादि स्वयं नष्ट हो जायँगे, यथा—

'तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि माथा॥'
(रामचरितमानस सुन्दर० ४६)

'भरत हृदयँ सिय राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥'
(रामचरितमानस अयो० २९४)

सारांश यह कि उपर्युक्त 'बिबछहु जासु नाम''''''
इसपर यह शङ्का थी कि नाम-जपमें रूपके द्वारा ही रक्षा आदि कार्य होते हैं। जब रूपका लक्ष्य है ही नहीं तो कल्याण कैसे होगा? इसपर इस पदसे दिखाया गया कि इस प्रकार आराधनापर श्रीरामजी अपने नामकी लज्जा रखते हुए जापकके हृदयमें स्वतः आ जाते हैं और इसका कल्याण करते हैं; जैसे कहा गया है कि यदि वातादि दोषसे मरते समय शरणागतके द्वारा भगवान्‌का स्मरण नहीं होता तो भगवान् कृपा करके स्वयं उसके हृदयमें आ जाते हैं; यथा—

'नामकी लाज राम करुनाकर केहि न दिये कर चीठे।'
(विनय-पत्रिका १६९)

आजकलके नाम-जापकोंके लिये अनुसंधान करनेको इस पदमें सुन्दर लक्ष्य हैं। अतः इन 'बिबछहुँ जासु'' आदि चौपाइयों एवं तदनुसार श्लोकोंके लक्ष्यार्थसे तात्पर्य लेना चाहिये।

एक बात और—जीव ईश्वरका अंश है। अतः इसे अपनी सभी इन्द्रियोंसे ईश्वरके लिये ही (उसका भोग्यभूत) होकर रहना चाहिये; अर्थात् सब इन्द्रियोंसे उसकी भक्ति करनी चाहिये। यदि विषयी होनेसे सब अनुकूल न हो तो इनके मुखिया मुखको नाम-रटनमें लगा ही देना चाहिये। मुख भोजन देकर सब इन्द्रियोंको पोषता रहता है। इससे यह मुखिया है; यथा—

'मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥'
(रामचरितमानस अयो० ३१५)

मुखियाकी उपस्थितिपर उसके अनुयायियोंकी अनुपस्थिति कृपालु राजाके यहाँ क्षम्य होती है। वैसे ही मुखके नाम-रटनमें रत रहनेपर अपने नामकी लज्जा रखते हुए श्रीरामजी इसकी सभी इन्द्रियोंकी पूर्णभक्ति मानकर इसे अवश्य कृतार्थ कर देंगे; यथा—

'सकल अंग पद-बिमुख, नाथ! मुख नामकी ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामयी है॥'
(विनय-पत्रिका १७०)

भारतमें तपोवन

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०)

तपोवन भारतीय संस्कृतिका एक अविभाज्य अङ्ग है। भारतीय संस्कृतिसे यदि तपोवनको हटा दिया जाय तो वह एकदम भौतिक, नीरस तथा शुष्क प्रतीत होने लगेगी। प्राचीन भारतमें तपोवनका नितान्त प्राचुर्य था। जहाँ मानव प्रकृतिके साथ घुल-मिलकर एकरस जीवन बिताता था और जहाँ वह भूतलपर रहकर भी दिव्य आनन्दका अनुभव करता था। यज्ञ हमारे धर्मका एक महनीय अनुष्ठान है। इस जगतीतलपर मानव तथा देवता दोनोंमें एक दृढ़ मैत्री-बन्धनका सर्वश्रेष्ठ उपाय यही यज्ञ ही है। यज्ञके द्वारा मनुष्य अपनी सबसे प्यारी वस्तुको देवताओंको समर्पण कर अपनेको कृतकृत्य मानता है और देवगण भी यज्ञके द्वारा आप्यायित होकर मानवोंके कल्याण-साधनमें निरत रहते हैं। इसी प्रकार तपस्याके द्वारा प्राणी अपनी चारित्रिक त्रुटियोंको, दोषोंको तथा मलिनताओंको दूर भगाकर अपना जीवन समुन्नत बनाता है और उसे अपने देश तथा अपनी जातिके अभ्युत्थानमें लगाता है। तपोवन यज्ञ तथा तपस्याका क्रीडास्थल है। उसका भौगोलिक तथा भौतिक रूप जितना पवित्र तथा सुन्दर होता है, उसका आध्यात्मिक रूप भी उतना ही शुचि तथा कमनीय होता है। तपोवनका वायु-मण्डल आध्यात्मिकताका उदय करता है। तपोवनका यह चित्र अपने मानस-पटलपर अङ्कित कीजिये। कलकल निनादिनी कल्लोलिनीके कूलपर तापसोंका निवास है, जहाँ जंगलके पशु अपने स्वाभाविक वैर-भावको भुलाकर परस्पर प्रीतिसे एक दूसरेके साथ हिल-मिलकर रहते हैं। मृगशावक अपनी माताकी गोदीको छोड़कर ऋषियोंकी गोदीमें बैठ अपना जीवन-यापन करते हैं और जिनके कुशकी तेज नोकसे छिद जानेवाले मुखकी पीड़ाको इंगुदीका तेल लगाकर ऋषिलोग दूर किया करते हैं। आश्रममें सायं-प्रातः अग्निहोत्रके धूमसे वृक्षोंके कोमल पत्ते धूमिल बनकर विचित्र शोभा धारण करते हैं। कुशासनपर आसीन ब्रह्मचारीगण वेदाध्ययन करते हैं और अपने कोमल कण्ठसे सामका गायन कर आश्रममें अद्भुत माधुर्य तथा सौन्दर्यकी सृष्टि करते हैं। ऋषिगण

अपनी पत्नी तथा कन्याओंके साथ गार्हस्थ्यजीवनमें रहकर भी वानप्रस्थीके समान जीवन बिताते हैं। परोपकार ही उनके जीवनका एकमात्र व्रत होता है; प्राणिमात्रके कल्याणकी वेदीपर उनका जीवन समर्पित होता है। ये लोग अपनी क्षुद्र कामनाओंकी सिद्धिके लिये न तो सचेष्ट हैं और न किसीको उपदेश देते हैं। ये सूक्ष्म दृष्टिसे प्राणियोंकी त्रुटियों तथा दोषोंको देखते हैं तथा उनके निराकरण करनेके लिये सदा जागरूक रहते हैं। नगरसे दूर रहनेपर भी वे नगरके पास हैं। क्षुद्र स्वार्थके सम्पादनके स्थानपर इस विशाल विश्वका सच्चा मङ्गल-साधन अपनी वाणीके द्वारा तथा अपने नित्यप्रति सदाचारके द्वारा करना ही उनका महनीय व्रत है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

संस्कृतके महाकाव्योंमें तपोवनके सच्चे रूपका परिचय हमें मिलता है। वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दण्डीने एक स्वरसे तपोवनके स्वरूपका गुणगान किया है। तपोवनका रमणीय चित्र महाकवि कालिदासने अपने काव्यों तथा नाटकोंमें सर्वत्र प्रदर्शित किया है। शाकुन्तलके आरम्भमें आश्रमकी यह छवि कितनी स्निग्ध, कितनी सुन्दर तथा कितनी मधुर है—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः॥

'तपोवनके वृक्षोंके खोखलोंमें तोतोंके बच्चे आराम कर रहे हैं। सुग्गोंने नीवारके दानोंको अपने बच्चोंके मुँहमें डाल रक्खा है, जिससे कुछ दाने वृक्षोंके नीचे गिरे हुए हैं। इंगुदीके फलोंको तोड़नेके कारण पत्थर चिकने दीखते हैं। सहज विश्वासके उत्पन्न होनेसे मृग शब्दोंको सुनकर भी ज्यों-के-त्यों खड़े रहते हैं, किसी प्रकार हटनेका नाम नहीं जानते। सरोवरको जानेवाले मार्ग भींगे वल्कल-वस्त्रसे चुये हुए जलकी रेखाओंसे अङ्कित हैं।'

ऋषिकी पत्नियोंका प्रेम मृगों तथा पक्षियोंके साथ कितना सहज, स्वाभाविक तथा मधुर है—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम्॥
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गणभूमिषु॥

'मुनिकी कन्याओंने पौधोंको स्वयं जलसे सींच दिया है। पेड़ोंपर बैठे हुए पक्षी वृक्षोंके आलवालमें पानी पीना चाहते हैं। इसलिये उनके हृदयमें विश्वास जमानेके लिये इन मुनि-कन्याओंने इन पौधोंको छोड़ दिया है। ऋषिकी कुटियोंकी शोभा निराली है। ग्रीष्मके बीत जानेपर ऋषियोंने नीवारको काटकर अपने आँगनोंमें इकट्ठा किया है। इनमें बैठकर मृग जुगाली कर रहे हैं।' ऐसे सुन्दर वातावरणमें ही सहज स्नेहका उदय होता है।

महाकवि बाणभट्टने अपनी कादम्बरीमें तपोवनका, जाबालि मुनिके आश्रमका, इतना चटकीला वर्णन किया है कि अपनी स्वाभाविक पवित्रतासे मण्डित तपोवन हमारे नेत्रोंके सामने झूलने लगता है। तपोवनके प्राणिमात्रमें इतने नैसर्गिक प्रेम तथा सद्भावनाका अस्तित्व रहता है कि मानव तथा पशुकी विभेदक रेखा भी दीख नहीं पड़ती, तभी तो हम बंदरोंको आश्रमके बुड्ढे-अन्धे तापसोंको छड़ी पकड़कर बाहर ले जाने और अंदर ले आनेका काम करते हुए पाते हैं। इस प्रकार भारतीय कविजनोंने अपने काव्योंमें तपोवनके सच्चे स्वरूपको अभिव्यक्त करनेका पूर्ण प्रयास किया है।

तपोवन भारतीय संस्कृतिके प्रधान पीठ हैं। आध्यात्मिकताके आगार, नैतिकताके निकेतन, सात्त्विकताके शुभ्र-सदन भारतीय तपोवन हमारी आध्यात्मिक संस्कृतिके कमनीय क्रीडा-स्थल हैं। तपोवनके अञ्चलमें हमारी संस्कृति जनमी और पनपी। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यताका पाठ विश्वको जिन ऋषियोंने पढ़ाया, उनका जीवन तपोवनमें ही समृद्ध तथा विकसित हुआ था। पाश्चात्त्य-संस्कृति भोगकी भावनापर आश्रित है, वहाँ हमारी संस्कृति त्यागकी भावनापर प्रतिष्ठित है। उपनिषद् डंकेकी चोट पुकारकर विश्वको अपना संदेश दे रहा है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

'इस जगतीतलपर जंगम तथा स्थावर जितने भी जीव निवास करते हैं, उनमें अनुग्रह तथा निग्रह करनेमें समर्थ ईश्वर अन्तर्यामीरूपसे वास करता है। किसी दूसरेके धनकी लिप्सा न रक्खो। अपने धनको भी त्यागके साथ भोगो।'

भारतवर्ष आध्यात्मिक साम्यवादका प्रथम उपदेशक है। वह नहीं चाहता कि मानव अपनी उपार्जित सम्पत्तिका उपयोग अपने ही क्षुद्र स्वार्थके लिये, अपने ही भरण-पोषणके लिये करे, प्रत्युत वह औदार्य तथा साम्यकी शिक्षा देकर बतलाता है कि इस विश्वका प्रत्येक व्यक्ति भगवान्‌की संतान होनेसे भाई-भाई हैं। अतः अपनी कमाईमें उसका भी अंश अवश्यमेव विद्यमान रहता है। श्रीमद्भागवतके कथनानुसार जितनेसे अपना उदर भर जाय, बस, मनुष्यका उतना ही स्वत्व है, सम्पत्तिके ऊपर उतना ही अधिकार है। उससे अधिकपर अपना अधिकार जमानेवाला व्यक्ति चोर है और वह समाजके हाथोंमें दण्डका भाजन है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

आध्यात्मिक साम्यवादके सिद्धान्तकी कितनी संक्षिप्त परंतु भव्य घोषणा है इस लघुकाय श्लोकमें। अद्वैत वेदान्तके प्रतिष्ठा-पीठपर ही सच्चा साम्यवादका प्रासाद खड़ा हो सकता है। मनुष्योंके पारस्परिक भ्रातृभावकी ही शिक्षा तपोवनसे नहीं मिलती, प्रत्युत प्राणिमात्रके प्रति सहज मैत्री तथा सरल सहानुभूतिका उपदेश हमें इन्हींसे प्राप्त होता है।

यह कम महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है कि रघुका जन्म महाराज दिलीपके आश्रम-निवास तथा गो-सेवाका परिणत फल है। रघुके जीवनकी उदारता देखकर कौन चकित नहीं हो जाता ? भला, ऐसा आदर्श महीपति भी किसी पाश्चात्त्य-राष्ट्रके सिंहासनपर बैठा है ? महर्षि वरतन्तुका शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणाके निमित्त धनसंग्रहके लिये रघुके पास पहुँचता है। सर्वस्व दक्षिणावाले यज्ञमें महाराज रघुने अपना सर्वस्व लुटा दिया है। केवल मिट्टीका बरतन ही बच रहा है; परंतु महर्षि वसिष्ठके आथर्वण प्रयोगोंके फलरूप रघुका भाण्डार असंख्य निधियोंसे भर जाता है, महाराज रघु अपने खजानोंकी समस्त सम्पत्तिको उठा ले जानेके लिये आग्रह करता है, परंतु अपनी प्रतिज्ञात गुरुदक्षिणासे अधिक एक कौड़ी भी कौत्स नहीं छूता। अयोध्यापुरीकी जनता ऐसे आदर्श दाता तथा ऐसे आदर्श याचकके चरित्रको देखकर आश्चर्यसे चकित हो जाती है—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

महर्षि कौत्स भारतीय तपोवनका एक छात्र था और महाराज रघु भारतीय आश्रमके प्रभावसे जन्म लेनेवाला एक राजन्य था। आश्रमके पुनीत वातावरणको छोड़कर ऐसी निःस्वार्थ भावनाका उदय क्या कहीं अन्यत्र हो सकता है ? गीताके द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्मयोगका सच्चा साधन क्या आश्रमको छोड़कर अन्यत्र कहीं परिनिष्ठित हो सकता है ? नहीं, कहीं नहीं। आजकल इन तपोवनोंकी बड़ी आवश्यकता है। असंख्य नरोंका संहार, अपरिमित धनका स्वाहाकार, दीन-दुःखी अबलाओंका हाहाकार, निर्धनों तथा निर्बलोंकी उपेक्षा कर धनिकोंका असंख्य धनका संग्रह—आजकी भौतिकवादी सभ्यताके ये ही तो जीते जागते फल हैं। जबतक भारतकी इन तपोवनोंमें पली आध्यात्मिक संस्कृतिका प्रचार न होगा, परस्पर भ्रातृभावका उदय न होगा, तबतक मानवोंकी इस दानव-प्रवृत्तिका अन्त क्या कभी सम्भव है ? आजकी नागरिक संस्कृतिमें सच्चे तपोवनको फिरसे लाना असम्भव भले ही हो, परंतु उनकी भावनाको तो भली-भाँति लाया जा सकता है। इस प्रकार जीवनको आध्यात्मिक भावनासे पूर्ण करनेका, परोपकारकी वेदीपर क्षुद्र स्वार्थोंके बलिदानका, परस्पर मैत्री तथा सहानुभूतिका सुन्दर संदेश हमें भारतके तपोवन आज भी दे रहे हैं। जिस विश्वकल्याण-साधक धर्मका वर्णन महर्षि वेदव्यासने इस पद्यमें किया है उसका प्रचारक तथा उपदेशक हमारा आदरणीय आश्रम ही है—

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवात्मभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥
बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायिनी भगति सदा सत्संग ॥
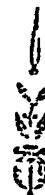
आपका जीवन एक खुली पुस्तक-जैसा होना चाहिये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०)

जो-जो बातें हम दूसरोंकी दृष्टिसे बचाते हैं, या जिन विचारोंका उच्चारण करते हुए हम शङ्कित–प्रकम्पित होते हैं, उसका कारण यह है कि स्वयं हमारा अन्तः-करण उन्हें तुच्छ और घृणित समझता है और उनका तिरस्कार करता है। हम लोकनिन्दाके भयसे उन तुच्छ वासनाओं, गलत योजनाओं और पाशविक वृत्तियोंको दूसरोंके समक्ष प्रस्तुत करनेमें आत्मग्लानिका अनुभव करते हैं।

हमारे गुप्त मनमें ऐसी अनेक पाशविक दुष्प्रवृत्तियाँ छिपी रहती हैं, जो गंदा वातावरण पाकर यकायक उत्तेजित हो उठती हैं और हमें आश्चर्य होता है कि हम कैसे इतने पतित हो गये कि इतने निम्न स्तरपर उतर आये।

आश्चर्य यह है कि हम कैसे उन निन्द्य वासनाओंके चंगुलमें फँस जाते हैं, जिन्हें हमारा अन्तःकरण बुरा कहता है? हम इतने उच्च नैतिक सांस्कृतिक स्तरपर होते हुए भी वस्तुतः क्यों पशुत्वकी कोटिपर आ जाते हैं?

वास्तवमें प्रत्येक मनमें उच्चतम दैवी गुणों एवं निन्द्यतम दानवी पशुवत् वासनाओंके बीज पड़े रहते हैं। प्रकृति सभी प्रकारके गुण मानव-मनमें छोटे रूपमें यत्र-तत्र छिपाये रहती है। जैसा वातावरण मिलता है, समयानुसार वैसा ही गुण उत्तेजित और विकसित हो उठता है। यदि हम अपने सद्गुणोंको प्रोत्साहित करते रहें तो दुर्गुण स्वयं फीके पड़ जाते हैं। सतत सदुद्योगों, सद्विचारों और सद्भावनाओंमें निवास करनेसे कुवासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

आप यदि किसी विचार, कार्य या वचनको लज्जाजनक और घृणित मानते हैं, तो उसका परित्याग क्यों नहीं कर देते? आपके मुँहमें दाँत खराब हो जाता है, कीड़ा उसे खोखला कर डालता है। जबतक आप उसे डाक्टरसे निकलवा नहीं देते, तबतक चैन नहीं लेते। आपके बाल बढ़ जाते हैं, उन्हें जबतक नाई काट नहीं देता, आपका मन बेचैन रहता है। बदनमें जब गंदगी एकत्रित हो जाती है तो आप स्नानके बिना अशान्त रहते हैं। इसी प्रकार यदि आप किसी विचार, कार्य या वचनको तुच्छ, घृणित और गंदा समझते हैं, तो उसे क्यों नहीं बाहर फेंक देते? गंदा विचार किसी-न-किसी दिन आपका भयंकर पतन करनेवाला है। कूड़े-करकटकी तरह मनका झाड़ू लगाते समय इसे बाहर निकाल फेंकनेमें ही आपका मानसिक स्वास्थ्य रह सकता है।

जो विचार बुरा है, उसका उच्चारण या कार्यरूपमें परिणत करना तो निन्द्य है ही, उसे मनमें रखना, किसी मस्तिष्क-रन्ध्रमें पनपने देना उससे भी अधिक लज्जाजनक है।

मनुष्यका अन्तःकरण दैवी तत्त्वसे परिपूर्ण है। परमेश्वरकी सत्ता कहींसे हमें सत्पथपर अग्रसर किया करती है। आत्माकी आवाज हमें सदा विवेकमय पथ-पर चलानेवाली है। हमें इसी ध्वनिके अनुसार कार्य करना चाहिये। जो शक्ति आपको मनमें गंदा विचार न रखनेकी प्रेरणा देती है, वह यही अन्तरात्मा है।

आप अपने जीवनको दुराव-छिपावसे दूर रखिये। आपका जीवन एक ऐसी खुली पुस्तक होना चाहिये जिसका प्रत्येक पृष्ठ खुला हुआ हो; जिसकी प्रत्येक पङ्क्ति स्पष्ट हो और पढ़ी जा सके। उसका एक-एक शब्द साफ-साफ हो। जिस व्यक्तिका जीवन स्पष्ट

रूपसे पढ़ा, समझा और साफ़-साफ़ देखा जा सके, जिसमें छिपाने योग्य कुछ शेष ही न रह जाय, वही अनुकरणीय है।

जैसे ही आपका मन किसी बातको दूसरोंसे छिपानेको करे, तो सावधान हो जाइये। जिसका तिरस्कार आपकी आत्मा करती है, वह त्याज्य है।

जिस दृष्टिकोण या विचारधाराको दूसरोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए आपको लज्जा या हिचक नहीं प्रतीत होती, उसे करनेमें कोई पाप नहीं। छिपानेकी प्रवृत्ति चोरीकी दुष्प्रवृत्ति है। इस गंदे मार्गसे सदैव जागरूक रहिये। वही कीजिये जिसे करनेमें आपको अपने अन्तः-करणका हनन नहीं करना पड़ता।

जो नहीं जानता

(लेखक—रावी)

किसी समय एक पूरा महानगर एक ही धर्मगुरुका शिष्य था। यथासमय शरीरके वृद्ध हो जानेपर धर्म-गुरुने समाधि लेकर अपना देहान्त कर लिया। उनके रिक्त धर्मासनपर दो शिष्योंने अपने उत्तराधिकारका दावा किया। फलस्वरूप नागरिक जन दो दलोंमें विभक्त हो गये और नगरमें दो धर्ममठ स्थापित हो गये।

उस महानगरकी गुरु-परम्पराके अनुसार यह निश्चित था कि एक गुरुका एक ही सच्चा उत्तराधिकारी हो सकता है, अधिक नहीं। दोनों मठोंके अनुयायी अपने गुरुको ही सच्चा और दूसरेको झूठा मानते थे। स्वभावतया, दोनों दलोंका प्रयत्न था कि दूसरे दलके लोग भी अपने नये गुरुको छोड़कर इसी दलमें आ मिलें। दोनों दलोंके व्यक्ति विपरीत दलके अनुयायियोंमें जाकर प्रकट और अप्रकट रीतिसे अपने मठके समर्थनमें प्रचार करते थे और कुछ लोगोंको अपने पक्षमें लानेमें सफल भी होते थे। उनका यह व्यापार स्वाभाविक ही नहीं, अपनी मान्यताके अनुसार उचित और आवश्यक भी था।

एक बार एक मठके गुरुने अपने कुछ शिष्योंको यह कार्य सौंपा कि वे दूसरे मठमें जाकर उसके गुरु-की उन असङ्गतियोंका पता लगायें, जो वास्तविक धार्मिकता और आध्यात्मिकताके प्रतिकूल हैं। अभिप्राय यह था कि उन असङ्गत बातोंका पता लग जानेपर उनकी चर्चा सारे महानगरमें प्रसारित करके सचाईसे लोगोंको अवगत कर दिया जाय और विवेकका आश्रय लेकर लोग सच्चे पक्षमें आ मिलें।

इस गुरुके चौदह शिष्य विपरीत मठमें गये और उन्होंने गुप्त और प्रकट रूपसे, एक साथ और अलग-अलग भी, उस गुरु तथा मठकी कसरों और असङ्गतियों-का अध्ययन किया। उनका एक विस्तृत लेखा-जोखा तैयार करके वे अपने मठको लौट आये।

उनमेंसे तेरह व्यक्तियोंने अपनी-अपनी खोजका विवरण अपने गुरुके दरबारमें प्रस्तुत करते हुए बताया कि उन्होंने ये-ये बातें धर्म और आध्यात्मिकताके प्रतिकूल उस मठमें देखी हैं; किंतु चौदहवें व्यक्तिने अपनी अल्पज्ञता और विवशता प्रकट करते हुए कहा—

'महाराज! मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पाया कि उस मठकी कौन-सी बातें धर्म और आध्यात्मिकताके प्रतिकूल हैं। उस मठके सम्बन्धमें बहुत कुछ देख आनेपर भी मैं कुछ नहीं जानता!'

गुरुने तुरंत ही अपने धर्मासनसे उतरकर इस चौदहवें व्यक्तिको गलेसे लगा लिया और शिष्यवर्गको सम्बोधित करते हुए कहा—

'बहुत कुछ देखते हुए भी जो निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं जानता वही वास्तविकरूपमें कुछ, और फिर बहुत कुछ जाननेका अधिकारी है। अपने इसी एक शिष्यसे मुझे आशाएँ हैं कि यह झूठे पक्षकी वास्तविक असङ्गतियोंका पता लगाकर नगर-जनोंको उनसे अवगत करेगा और इसीके प्रयत्नोंके फलस्वरूप एक दिन सम्पूर्ण नगर फिर एक होकर सत्य-पक्षका अनुयायी बनेगा।'

आत्मालोचन

(लेखक—डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहि...)

अपने कार्यकलापोंका वैज्ञानिक निरीक्षण करते हुए यदि हम कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करनेका प्रयास करें, तो इस परिणामपर पहुँचेंगे कि हमें अपने प्रति विश्वास नहीं है। हमारा मन अविश्वासी बन गया है, इसी कारण हम उसकी सलाहके बिना सब काम कर डालते हैं।

इसी तरह विचारों, भावनाओं एवं धारणाओंके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणके फलस्वरूप हम इस निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि हमें अपने प्रति प्रेम नहीं है, हम अपने आपको एक तुच्छ जीव मानते हैं, कभी-कभी हमारी यही धारणा भी हो जाती है कि हमें मानव-शरीर यों ही संयोगवश मिल गया है। आप यह बात भलीभाँति समझ लें कि यथार्थ आत्म-प्रेमकी वृद्धिंगत कमीके कारण ही विश्वमें अपराध दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं।

हम यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो हमें विदित होगा—

१. मानव-शरीर बहुत कठिनाई और बड़े भाग्यसे मिलता है अतः हमें अपने आपको परम पुण्यात्मा एवं परम सौभाग्यशाली समझना चाहिये, २. अन्यसे प्रेम करना सरल है, स्वयं अपने आपसे प्रेम करना अत्यन्त कठिन है तथा ३. स्वयं अपने प्रति उत्पन्न प्रेम ही सद्भावनाको जन्म देता है और अन्तमें विश्व-कल्याणका साधक सिद्ध होता है। अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करनेका मार्ग दुस्साध्य अवश्य है, असाध्य नहीं। उसपर बढ़नेके लिये अपनाये जानेवाले प्रमुख साधन इस प्रकार हैं—

(क) हमें चाहिये कि अपनी भूलको स्वीकार करते हुए अपने आपको क्षमा कर दें और फिर नये सिरेसे प्रयत्न करें। मनुष्यका स्वभाव भूल करना है, यह विचार कर अपने आपको क्षमा कर दें। परमात्मामें क्षमा करनेकी शक्ति है और वह हमारे अंदर मौजूद है, इसके बाद है—'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेइ' के अनुसार फिर अपने कर्मयोगपर आरूढ़ हो जायँ। बीती हुई बातपर सोच करना, अपने किये हुएका पश्चात्ताप करते रहना—ये दो बातें हमारे प्रयत्नोंको पनपने न देंगी।

(ख) हमें सतर्कतापूर्वक इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि हम कहीं दम्भके दास तो नहीं हो गये हैं तथा हम कहाँ गलती कर रहे हैं। अपनी गलतीको मालूम करने और उसे स्वीकार करनेके लिये हमें हर घड़ी तैयार रहना चाहिये। हमारा दम्भ हमें अपनी दुर्बलताओंकी ओरसे उदासीन कर देता है अथवा दम्भ हमारी आँखोंपर पड़ा हुआ वह पर्दा है जिसके कारण हम अपनी दुर्बलताओंको नहीं देख पाते हैं। गलत रास्तेपर चलकर हम कहाँ पहुँच सकते हैं, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

(ग) परमात्मतत्त्वका प्रत्यक्ष दर्शन हमारे जीवनका लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिये हमें त्याग-भावनाका विकास करना चाहिये।

(घ) हमें अपने प्रत्येक विचार तथा प्रत्येक कर्मपर कड़ी नजर रखनी चाहिये। हमें इस बातका सदैव ध्यान रखना चाहिये कि हमारे विचारों तथा हमारे कामोंका

अन्य व्यक्तियोंपर, हमारे पास-पड़ोसके सामाजिकोंपर क्या प्रभाव पड़ेगा । हमें समझ लेना चाहिये कि हमारे व्यवहार व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर समाजकी वस्तु हैं । विश्वरूपी बड़ी मशीनके हम एक छोटे-से पुर्जा हैं ।

(ङ) हमें अपनी दशासे, अपने-आपसे संतुष्ट रहना चाहिये । हम जो हैं, जैसे हैं बहुत अच्छे हैं । हमारी उलझनों तथा मनकी चञ्चलताका सबसे बड़ा कारण यह है कि हम सदा यही सोचते रहते हैं कि हम क्या होने चाहिये थे अथवा क्या हो सकते थे । यदि हम अपनी स्थितिको स्वीकार करते हुए अपने प्रयत्नोंमें लगे रहते हैं, तो हमारे पथ-भ्रष्ट होनेकी सम्भावना बहुत कम रह जाती है । साक्षात् भगवान्ने स्वयं 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' वाली बात कहकर हमें इस ओर प्रवृत्त होनेका आदेश दिया है ।

इस युगका सबसे बड़ा अभिशाप है—मानवके व्यक्तित्वकी उपेक्षा । हम मानवको विभिन्न श्रेणियोंमें अथवा साँचोंमें विभक्त करके देखनेके अभ्यस्त हो गये हैं । आजकल मानव-समाजको इतनी अधिक श्रेणियोंमें विभाजित कर दिया गया है कि मानव हमारी आँखोंसे ओझल हो गया है । हम व्यक्तिके व्यक्तित्वपर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनेके बजाय यह जानना चाहते हैं कि वह किस समुदाय अथवा सम्प्रदायका है । हमारा निश्चित मत है कि विश्वकी समस्या व्यक्तिकी समस्या है । सम्प्रदाय, समुदाय, देश, जाति आदिकी अपेक्षा व्यक्ति कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । अपने व्यक्तित्वके सम्यक् विकासके लिये, अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये हमें स्वयं अपनी नजरोंमें उठना होगा तथा अपने-आपपर श्रद्धा करना सीखना होगा ।

चोरी-बेईमानी

वह मनुष्य बड़ा ही भाग्यवान् है जो दूसरेके हित-के लिये अपने स्वार्थकी चोरी करता है; वह भी बड़ा पुण्यात्मा है जो दूसरेको लाभ पहुँचानेके लिये अपने स्वार्थके साथ बेईमानी तथा बेइंसाफी कर जाता है । चोरी-बेईमानी पाप है; परंतु वही चोरी-बेईमानी यदि अपने स्वार्थके प्रति होती है और दूसरेका हित-साधन करनेवाली होती है तो पुण्य बन जाती है । वह हित-कारी चोर तो बहुत ही श्रेष्ठ है जो निरन्तर दूसरोंका हित ही करता रहता है; परंतु उनको मालूम भी नहीं होता कि हमारा हित कौन कर रहा है । यों अपनेको जरा भी बिना जताये, सदा छिपा हुआ जो चोरी-चोरी-से हित-साधन किया करता है, उसका वह कार्य बड़े ही महत्त्वका होता है ।

अनन्त-करुणासिन्धु भगवान् तो दिन-रात इस चोरी करनेमें ही लगे रहते हैं । अनन्त ब्रह्माण्डके अनन्त प्राणियोंका निरन्तर हित-साधन करते रहते हैं, परंतु अपना कहीं जरा भी पता नहीं लगने देते । सब यही समझते हैं कि हमारे पुरुषार्थसे, हमारी बुद्धिमानी या चातुरीसे, हमारे कर्मफलसे हमारा हित हो गया । भगवान्-का यह छिप-छिपकर हित करना परम आदर्श है ।

भगवान् राघवेन्द्र लड़कपनमें अपने छोटे भाइयोंको हारा खेल जिता देते थे । भगवान्को कौन जीत सकता है, वे तो सदा अजेय हैं, परंतु वे जान-बूझकर हार जाते थे; पर कभी उनको बताते नहीं थे कि 'तुम हार रहे थे—मैंने जान-बूझकर तुम्हें जिता दिया और स्वयं हार स्वीकार कर ली ।' इस प्रकार जताकर हारना तो जीतनेसे भी बढ़कर होता है । इसमें जीतनेवाला अपने-को हारा हुआ ही मानता है । भगवान् सचमुच उन्हें जिताते थे और सचमुच स्वयं हार जाते थे । इसमें न दम्भ था, न दिखौआपन । भगवान्का सहज स्वभाव ही है—भक्तोंके सामने हार जाना । भगवान् श्रीकृष्णके व्रज-सखा भगवान्के हारनेके इसी स्वभावके कारण ही

उन्हें जीतकर उनको घोड़ा बनाया करते थे। कितनी मधुर होती है यह हार!

अपनी हानि स्वीकारकर दूसरेको लाभ पहुँचानेमें जो सुख होता है, उस जातिका सुख दूसरेके सुखकी परवा न करके सुखी होनेवालेको कभी नहीं होता और वह तो इस जातिके सुखसे सदा ही वञ्चित रहता है जो दूसरेको दुखी बनाकर सुखी होना चाहता है।

सेवा करे, हित करे और पता भी न लगे कि यह कौन कर रहा है। अपनी बड़ी-से-बड़ी हानि करके भी दूसरेको लाभ पहुँचा दे और अपने इस कृत्यको सदा छिपाकर ही रक्खे—कभी किसीपर भी प्रकट न होने दे। ऐसा परार्थसाधक निज-स्वार्थचोर पुरुष ही सचमुच सत्पुरुष है और ऐसे ही पुरुषसे जगत्का यथार्थ उपकार होता है।

जो पुरुष सेवा करता है, सच्चे हृदयसे लाभ पहुँचाता है पर बतानेका लोभ संवरण नहीं कर सकता, वह अपने इस सत्कर्मका मूल्य घटा देता है; जो बतानेके लिये ही सेवा-हित या उपकार करता है, उसकी भावना बहुत नीची होती है और जो करता कम है और अहसान ज्यादा करता है, वह तो अपने कर्मका मूल्य ही खो देता है। एवं वे लोग तो बहुत ही निम्न श्रेणीके हैं कि जो करते नहीं, पर विज्ञापन करते हैं; तथा दूसरेके स्वार्थकी चोरी करके, दूसरेके हितके साथ बेईमानी करके स्वयं लाभ उठाना चाहते हैं वे तो महान् नीच हैं।

परोपकार करो—पर कभी जताओ मत!

त्याग करो—पर कभी बताओ मत।

सेवा करो—पर सेव्यको पता न लगने दो कि कौन कर गया।

हित करो—पर उसका हक समझकर चुपकेसे करो। चोरी करो, अपने स्वार्थकी, दूसरोंके हितके लिये। बेईमानी करो, अपने नीच स्वार्थके साथ, दूसरोंका हित-साधन करनेके लिये।

मुसल्मान कवियोंकी श्रीकृष्ण-भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमा, उदारता तथा रूपमाधुरीका वर्णन अगणित मुसल्मान कवियोंने किया है। परंतु प्रकाशित साहित्यमें कुछ ही मुस्लिम कवियोंकी भक्तिमयी कविता उपलब्ध होती है। वे सब श्रीकृष्णके प्रेममें पागल हुए हैं। पुरुषोंने ही नहीं, कुछ इस्लामी देवियोंने भी, दिल खोलकर श्रीकृष्ण-भक्तिको अपनाया है। श्रीकृष्ण-प्रेममें एक मुस्लिम महिला तो इतनी दीवानी हो गयी थी कि उसके प्रेमके सामने मीराँका प्रेम भी धुँधला-सा दिखायी देता है। उसका नाम था 'ताजबीबी'! वह थी बादशाह शाहजहाँकी प्राणप्यारी वह बेगम जिसकी कब्रके लिये आगरेमें 'ताजरोज़ा' बनवाया गया था। वह विश्वविख्यात प्रासाद तीस सालमें, तीस करोड़की लागतसे, तीस हजार मजदूरोंके दैनिक कामसे बना था। 'ताज'का एक उद्गार नमूनेके लिये उपस्थित किया जाता है। आप देखें कि कितना प्रेम है और कितनी श्रद्धा है—

सुनो दिलजाँनी मॉंड़े दिलदी कहानी,
तुव दस्तहू बिकाँनी बदनामी हू सहूँगी मैं।
देव-पूजा ठाँनी, मैं निवाज हू भुलाँनी,
तजे-कलमा-कुरान, ताँड़े गुनन गहूँगी मैं॥
साँवला सलोना सिर'ताज' सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह-दाग में, निदाघ हो दहूँगी मैं।
नंदके फरजंद, कुरबाँन ताँड़ी सूरत पर,
तेरे नाल प्यारे, हिन्दुवाँनी बन रहूँगी मैं॥

'ताज' जैसा हृदय आज किसके पास है?

× × ×

हजरत 'नफ़ीस'को तो श्रीमुरलीमनोहर इतने प्यारे

हैं कि वे उनको देखते-देखते थकते ही नहीं। आप फरमाते हैं—

कन्हइयाकी आँखें, हिरन-सी नसीली।
कन्हइयाकी शोखी, कली-सी रसीली॥

× × ×

एक मुसल्मान फकीर 'कारे खाँ'का श्रीकृष्णप्रेम उन्हींके शब्दोंमें देखिये—

'कारे' के करार माँहि, क्यों दिलदार हुए?
ऐरे नँदलाल क्यों हमारी वार वार की?'

× × ×

मौलाना 'आजाद' अजीमाबादीकी कृष्ण-भक्ति देखिये। वे मुरलीमनोहरकी मुरलीके लिये फरमाते हैं—

बजानेवालेके हैं करिश्मे
जो आप हैं महव-देखुदी में।
न राग में है, न रंग में है
जो आग है उनकी बाँसुरी में॥
हुआ न गाफ़िल, रही तलाशी
गया न मथुरा, गया न काशी।
मैं क्यों कहीं की खाक़ उड़ाता
मेरा कन्हइया तो है मुझी में॥

× × ×

'रसखान'के श्रीकृष्णप्रेमकी थाह तो मापी ही नहीं जा सकती—

मानुप हौं, तो वही 'रसखान'
बसौं मिलि गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो
चरौं नित नंदकी धेनु मझाँरन॥
पाहन हौं, तो वही गिरिको
जो धर्‍यो सिर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं
मिलि कालिंदी कूल कदंबकी डारन॥

× × ×

'लाला मूसा' को सर्वत्र श्रीकृष्ण-दर्शन हो रहा था, फरमाते हैं आप—

'जहाँ देखा वहाँ मौजूद, मेरा कृष्ण प्यारा है!
उसीका सारा जल्वा इस जहाँमें आशकारा है।'

× × ×

मियाँ वाहिदअली तो श्रीकृष्णके लिये सारा संसार त्यागनेपर उतारू हैं। आपकी बात आपके ही शब्दोंमें सुनिये—

सुंदर सुजानपर मंद मुसकानपर
बाँसुरीकी तानपर ठौरन ठगी रहै।
मूरति बिसालपर कंचनकी मालपर
खंजन-सी चालपर खौरन सजी रहैं॥
भौंहें धनु मैनपर लोनें जुग नैनपर
प्रेम भरे बैनपर 'वाहिद' पगी रहैं।
चंचलसे तनपर साँवरे बदनपर
नंदके ललनपर लगन लगी रहैं॥

× × ×

आलम खाँ देख रहे हैं—श्यामसुन्दरका— गायें चराकर शामको गोकुलको लौटना—

'मुकता मनि पीत, हरी बनमाल
नभमें 'सुर-चाप' प्रकास कियो जनु।
भूषन दामिनि-से दीपित हैं
धुर वासित चंदन खौर कियो तनु॥
'आलम' धार सुधा मुरली
बरसा पपिहा, ब्रजनारिनको पनु।
आवत हैं बन तें, जसुधा-धन
री सजनी घनस्याम सदा धनु॥

× × ×

आगरेके प्रसिद्ध कवि मियाँ 'नजीर'का बेनजीर कृष्णप्रेम उन्हींके द्वारा सुन लीजिये—

कितने तो मुरलीकी धुनसे हो गये धुनी।
कितनोंकी सुधि बिसर गयी, जिस जिसने धुन सुनी।
क्या नरसे लेकर नारियाँ, क्या रिसी औ मुनी॥
तब कहनेवाले कह उठे, जय जय हरी हरी।
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हइयाने बाँसुरी॥

× × ×

'महबूब' द्वारा गोपालके गोपालनका दृश्य देखिये—

'आगे धाय, धेनु घेरी बृन्दावन में हरि ने !
टेर टेर बेर बेर लागे गाय गिनने !
चूम पुचकार अंगोछेसे पोंछ-पोंछ !
छूते हैं गौके चरन
बुलावें सु बचन ते ॥

× × ×

बिलग्रामनिवासी सैयद अब्दुल जलील जब चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देखते हैं तब कातर स्वरसे मनमोहनको पुकारकर कहते हैं—

'अधन उधारन-नमवाँ सुनकर तोर।
अधम कानकी पटियाँ गहि मन मोर॥
मन बच कायिक निसि दिन अधमी काज।
करत करत मन मरिगा हो महराज॥
बिलगरामका बासी मीर 'जलील'।
तुम्हरि सरन गहि आयो हे गुन सील॥

× × ×

अकबर बादशाहके एक मन्त्री, अब्दुलरहीम खानखाना 'रहीम'—श्रीकृष्णके 'कमलनयन' पर मोहित होकर कहते हैं—

'कमलदल नैननकी उनमानि।
बिसरत नाहिं मदनमोहनकी मंद-मंद मुसिकानि॥
ये दसनन दुति चपला हू ते चारु चपल चमकानि।
बसुधाकी बसकरी मधुरता, सुधा-पगी बतरानि॥
चढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकत माल पैहरानि।
नृत्त समैं पीतांबर हू की फैंहैरि फैहैरि फैहरानि॥
अनुदिन श्रीवृंदावन में ते आवन-जावन जानि।
अब 'रहीम' चित ते न टरति हैं, सकल स्यामकी बानि॥

रहीम साहब फिर फरमाते हैं—

'कवि 'रहीम' मन आपुनों, हमने कियो चकोर।
निसि बासर लागो रहै, कृष्न चंद्रकी ओर॥'

जब कट्टरपंथी मुसल्मानोंने रहीमके ऊपर संकटका पहाड़ गिराया था, तब वे पुकार उठे थे—

'रहिमन कोई क्या करै,. ज्वारी-चोर-लबार।
जौ पत राखनहार है, माखन-चाखन हार॥'

रहीमजीकी दृष्टिमें श्याम और राममें कोई अन्तर न था। वे दोनों रूपोंके समान पुजारी थे। जब आगरेसे रहीमको भिखारी बनाकर निकाल दिया गया था (क्योंकि उन्होंने शाहजादा दाराको हिंदूधर्म-प्रेमी बनाया था) तब वे चित्रकूट पहुँचे और उन्होंने एक दोहा कहा—

'चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जा पै बिपता परत है, सो आवै येहि देस॥'

तब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने—प्रेरणा करके—रीवाँ-नरेशद्वारा रहीमके पास एक लाख रुपये भिजवाये थे।

आधुनिक मुस्लिम कवियोंमें भी अनेक ऐसे कवि हैं कि जिनको श्रीकृष्णके प्रति अथाह प्रेम है।

बिहारके 'मीर साहब' ने श्रीकृष्ण-प्रेमपर अनेक कविताएँ रची हैं। प्रसिद्ध हिंदी लेखक मौलवी जहूर-बख्शने राम और श्यामकी तारीफमें अनेक सफे रँगे हैं।

दतियानिवासी श्रीनबीबख्स 'फलक'जी तो अपने जीवनको एकमात्र श्रीराधारानीके भरोसेपर ही कायम रखते हैं—

राजके भरोसे कोऊ, काजके भरोसे कोऊ,
साजके भरोसे कोऊ, कोऊ बर बानीके।
देहके भरोसे कोऊ, गेहके भरोसे कोऊ,
नेहके भरोसे कोऊ, कोऊ गुरु ग्यानीके॥
नामके भरोसे कोऊ, ग्रामके भरोसे कोऊ,
दामके भरोसे कोऊ, कीरत कहानीके।
व्रज है भरोसे सदाँ स्याम व्रजराजके तौ
'फलक' भरोसे एक राधा-व्रजरानीके॥

अनेक मुसल्मान गायक, वादक और अभिनेता बिना किसी भेदके श्रीकृष्णके पुजारी हैं।

और तो और—पंजाब मुस्लिमलीगके लीडर मौलाना जफ़रअली साहब फरमाते हैं—

'अगर कृष्णकी तालीम आम हो जाए।
तो काम फितनागरोंका तमाम हो जाए॥

मिट जाए ब्रह्मन और शेखका झगड़ा।
जमाना दोनों घरका गुलाम हो जाए॥
विदेशीकी लड़ाईकी धज्जी उड़ जाए।
जहाँ यह तेग हुक्मका तमाम हो जाए॥
वतनकी खाकसे ज़र्रा बन जाए चाँद।
बुलंद इस कदर उसका मुकाम हो जाए॥
है इस तरानेमें बाँसुरीकी गूँज।
खुदा करे वह मकबूल आम हो जाए॥

× × ×

मुसल्मानोंने बड़े प्रेमसे श्रीकृष्णको अपनाया है और साथ ही हिंदी-साहित्यको भी अपनाया है। ऐसे मुसल्मानोंपर हम गर्व कर सकते हैं और उनको धन्यवाद दे सकते हैं।

आधुनिक हिंदीके जन्मदाता बाबू हरिश्चन्द्रने ठीक ही कहा है—

'इन्ह मुसलमान हरिजनन पै,
कोटिन हिंदू वारिये।'

सच है—

'जाति पाँति पूँछै नहिं कोई।
हरिको भजै सो हरिका होई॥'

दानवीर जगड़ू शाह

(लेखक—श्रीअमथालाल जगजीवनदास शाह)

दान किये धन ना घटै बाढ़े बहुविध सोद।
पाहन सों हीरा मिले लोहा सोना होय॥

कच्छदेशमें भद्रेश्वर एक गाँव है। वहाँ एक सेठ-सेठानी रहते थे। सेठका नाम सोलक और सेठानीका नाम था लक्ष्मी। उनके तीन लड़के हुए। एकका नाम जगड़ू, दूसरेका नाम राज और तीसरेका नाम था पद्म। तीनों भाई साहसी, बहादुर और होशियार थे। परंतु उनमें जगड़ू सबसे बढ़ा-चढ़ा था।

सोलक सेठका व्यापार खूब धड़ल्लेसे चलता था। क्या देश और क्या परदेश। इससे बहुत-से आढ़तिये उनके यहाँ आते-जाते थे; जगड़ू उन सबको देखकर प्रसन्न होता था। उनसे नयी-नयी बातें सुनता था। बहुधा वह अपनी माँसे कहता कि 'माँ! मैं बड़ा हो जाऊँगा तब सौ जहाज लेकर यात्रा करूँगा और बहुत-सा पैसा कमा लाऊँगा।'

माँ यह सुनकर उसको छातीसे लगा लेती।

इस प्रकार तीनों भाई जवान हुए। तब तीनोंका व्याह अच्छे घरकी कन्याओंके साथ कर दिया गया। जगड़ूको यशोमति मिली; राजको राजल्लदेवी और पद्मको पद्मा।

लड़के अभी पहली वीरीमें ही थे कि सोलक शाह मर गये। तीनों भाइयोंको खूब शोक हुआ। पर शोक करनेसे क्या होता है? जगड़ूने धैर्य धारण कर घरका सारा कारोबार सँभाल लिया।

तीनों भाइयोंमें जगड़ू खूब होशियार था। उसका मन बड़ा विशाल था और उसका दिल स्नेहसे छलाछल भरा था। दानमें तो उसकी जोड़ी ही नहीं थी, कोई भी गरीब-गुरबा या भिखमंगा जगड़ूके द्वारसे खाली हाथ नहीं लौटता।

जगड़ू समझता था कि धन तो आज है और कल नहीं। इसलिये उससे जितना हो सके, लाभ उठा लेना चाहिये। इसलिये दान करनेमें जगड़ू कभी मुँह फेरकर नहीं देखता।

धन धीरे-धीरे घटने लगा। जगड़ूको ऐश-आरामकी चिन्ता नहीं हुई; क्योंकि धनको विलासितामें तो वह खर्च करता ही नहीं था। उसको बड़ी चिन्ता यह होने लगी कि 'हाय! क्या ऐसा समय भी आनेवाला है, जब मेरे द्वारसे भी कोई खाली हाथ चला जायगा? हे भगवन्! ऐसा समय मत लाना।'

जगड़ू इस चिन्तामें था कि एक दिन उसके भाग्यने जोर पकड़ा। गाँवके सिवानेमें उसने बकरोंका एक झुंड देखा। उस झुंडमें एक बकरीके गलेमें मणि बँधी थी। वह बहुत ही कीमती थी; परंतु चरवाहेको इसका पता न था। उसने तो काँच समझकर उसे बकरीके गले बाँध दिया था।

जगड़ूने बहुमूल्य मणिको पहचानकर सोचा कि यह मणि मिल जाय तो संसारका बहुत काम सधे। इसलिये चलो इस बकरीको ही खरीद लें। उसने चरवाहेको धनसे राजी करके उस बकरीको खरीद लिया। अब उसके धनकी कमी न रही।

वे देश-देशान्तरमें व्यापार करने लगे। क्या जमीनपर और क्या समुद्रमें। जमीनकी अपेक्षा समुद्रसे जगडू शाहका व्यापार अधिक चला। दूर-दूरके देशोंमें भी जगडू शाहके जहाज जाते और वहाँसे क्रय-विक्रय करके लौटते।

एक बार जगडू शाहका जयन्तसिंह नामक एक गुमाश्ता ईरान देशके हुर्मुज बन्दरगाहमें गया था। वहाँ समुद्रके किनारे उसने एक बड़ी गोदाम बनायी, उसके पड़ोसमें एक गोदाम खम्भातके एक मुसल्मान व्यापारीकी थी।

वहाँ एक समय ऐसा हुआ कि दोनों गोदामोंके बीचमें एक सुन्दर पत्थर निकला। जयन्तसिंहने कहा कि 'यह पत्थर मेरा है' और मुसल्मान व्यापारी कहता था कि 'यह पत्थर मेरा है।' यह कहते-कहते झगड़ा बढ़ गया।

मुसल्मान बोला—इस पत्थरके लिये मैं यहाँके राजाको हजार दीनार दूँगा।

जयन्तसिंह—मैं दो हजार दीनार दूँगा।
मुसल्मान—मैं चार हजार दीनार दूँगा।
जयन्तसिंह—मैं एक लाख दीनार दूँगा।
मुसल्मान—मैं दो लाख दीनार दूँगा।
जयन्तसिंह—मैं तीन लाख दीनार दूँगा।

बेचारा मुसल्मान व्यापारी अन्तमें ठंडा पड़ गया, जयन्तसिंहने तीन लाख दीनार देकर पत्थर ले लिया और उसे जहाजपर रखकर वह भद्रेश्वर ले आया। किसीने जाकर जगडू शाहसे कहा कि तुम्हारा गुमाश्ता बहुत धन कमाकर लाया है, तीन लाख दीनार देकर एक पत्थर भी लाया है।

जगडूने कहा—'धन्य है इसको, जो इसने मेरी प्रतिष्ठा बढ़ायी। पश्चात् धूमधामसे जयन्तसिंह तथा उस पत्थरको घर लाया गया। जयन्तसिंहने सब बातें सुनाकर कहा—'आपकी प्रतिष्ठाके लिये मैंने इतने पैसे खर्च कर डाले, इसके लिये आप जो चाहें मुझे दण्ड दें।' जगडू बोले—'जयन्तसिंह! पागल हुए हो क्या? तुमने तो मेरी प्रतिष्ठा बढ़ायी है, इसके लिये तुमको पुरस्कार देना चाहिये।' इतना कहकर एक सोनेकी जरीदार पगड़ी और मोतियोंका एक हार पुरस्कार दिया। उस पत्थरको घरके आँगनमें जड़ा दिया। एक समय एक साधु भिक्षा लेने आया। उसने जगडू शाहसे कहा—'बच्चा! इस पत्थरमें कीमती रत्न हैं, इसलिये इसे तोड़ डालो।' जगडूने ऐसा ही किया और उनके धनका पार न रहा।

एक बार पारदेशके राजा पीठदेवने भद्रेश्वरपर चढ़ाई की। गाँवको बर्बाद कर दिया और बहुत-सा मालमत्ता लूट लिया। उसके बाद वह अपने देशको लौट गया। यह देखकर जगडू शाह भद्रेश्वरके किलेको फिरसे तैयार कराने लगे।

अभिमानी राजा पीठदेवने यह समाचार सुनकर जगडूको कहला भेजा—'यदि गधेके सींग उग जाय तभी तुम इस किलेको बनवा सकोगे।'

जगडू शाहने कहा—'गधेके सींग उगाकर भी मैं इस किलेको बनवाऊँगा।' और उन्होंने पीठदेवकी परवा न करके किलेको बनवाना शुरू कर दिया। किलेकी दीवालमें गधेकी आकृति बनाकर उसके सिरपर सोनेके दो सींग लगवा दिये। अब 'बड़ेसे वैर हो जाय तो सचेत रहना चाहिये'—ऐसा विचारकर वे गुजरातके राजा विमलदेवसे मिले और सब समाचार सुनाकर एक बड़ी सेना ले आये।

पीठदेवको जब यह बात मालूम हुई तब तो वह ठंडा पड़ गया। गुजरातकी सेनाके साथ लड़नेकी उसकी हिम्मत नहीं थी। परंतु उसने सोचा कि 'किला बनवानेका काम तो राजाका है। बनियाके बनाये किलेमें क्या खूबी हो सकती है? इसलिये एक बार उसको अपनी आँखों देखना चाहिये।' यों विचार करके उसने जगडू शाहको संदेशा भिजवाया कि 'पहलेकी बात भूल जाओ, अब मैं तुम्हारे साथ सम्बन्ध रखना चाहता हूँ।'

जगडू शाहने निर्भयतापूर्वक उसे स्वीकार किया और कहा—'आप प्रसन्नतासे पधारिये।' पीठदेव जगडू शाहके ही मेहमान बने। जगडू शाहने उनकी भलीभाँति मेहमानदारी की, पश्चात् पीठदेवने किला देखनेकी इच्छा प्रकट की। जगडू शाह अपने आदमियोंके साथ पीठदेवको किलेमें ले गये। वहाँ घूम-घूमकर सब वस्तुएँ दिखलायीं और उस गधेको भी दिखलाया।

यह देखकर पीठदेवके रोम-रोममें आग लग गयी, पर वह कर ही क्या सकता था? वह वहाँसे लौटनेके बाद बीमार पड़ा और मर गया।

(२)

जगडू शाह पक्के जैन थे। परंतु प्रत्येक धर्मके लोगोंके

साथ प्रेमसे वर्तते थे । उन्होंने शत्रुंजय तथा गिरनारकी बड़ी ठाट-बाटसे यात्रा की । अनेकों मन्दिरों और तालाबोंका जीर्णोद्धार कराया और दूसरोंके मन्दिरोंकी भी योग्य सेवा की । उनके यहाँ देशान्तरसे मुसल्मान व्यापारी आते थे, उनको नमाज पढ़नेमें असुविधा न हो, इस विचारसे उनके लिये खीमली नामकी एक मस्जिद भी बनवा दी थी ।

(३)

एक बार परमदेव सूरि नामके आचार्य भद्रेश्वर पधारे । जगड़ू शाह उनका व्याख्यान सुनने गये । आचार्यने दानके सम्बन्धमें व्याख्यान दिया । लोग उसे सुनकर सिर धुनने लगे । आचार्यने यह देखकर व्याख्यान समाप्त होनेपर जगड़ू शाहको एकान्तमें बुलाकर कहा—'सेठ ! तुम्हारे लिये धन दान करनेका एक यथार्थ अवसर आ रहा है, सेवाका यह बड़ा काम है, बोलो क्या इसे कर सकोगे ?'

जगड़ू शाहने नम्रतासे कहा—'इसमें क्या है ? गुरुदेवकी आज्ञा सिर-माथेपर; मैं इसे करनेके लिये तैयार हूँ, बताइये ।'

'परंतु यह काम लाख-दो-लाख रुपयेका नहीं है ।' आचार्य मूल बातपर आये ।

'काम चाहे जितना बड़ा हो, कोई चिन्ता नहीं । मेरी शक्तिके भीतर तो है न ?' जगड़ू शाहने शान्तिसे उत्तर दिया ।

'हाँ, तुम्हारी शक्तिके भीतर तो अवश्य है ।'

'अच्छा, तब फरमाइये ।'

परमदेव सूरिने उनसे कहा कि संवत् १३१३ से १३१५ तक तीन वर्ष लगातार भयंकर अकाल पड़ेगा, जिससे दुनिया बेहाल हो जायगी । मनुष्य कीड़े-मकोड़ेकी तरह मरने लगेंगे । इसलिये पहलेसे ही तुमसे जितना हो सके अन्न इकट्ठा कर रक्खो और अकालमें उस अन्नसे सबकी प्राणरक्षा करो । जनसेवाका ऐसा महान् लाभ फिर मिलना कठिन है ।

गुरुके ज्योतिष-ज्ञानपर जगड़ूकी अचल श्रद्धा थी । हृदयमें परोपकार करनेकी वृत्ति भी भरपूर थी । 'जिस समय दुनियाके सिरपर दुःख आ पड़े उस समय अपना पैसा काम आ जाय तो इससे बढ़कर सद्भाग्य और क्या हो सकता है ?' यह विचारकर जगड़ू शाहने तुरंत ही अपनी सारी कोठियोंको पत्र लिख दिये कि 'जितना मिल सके, अनाज इकट्ठा करके उसके वहीं कोठार भर दो ।'

उस समय जगड़ू शाहकी कोठी उत्तरमें गजनी, कन्दहारतक, पूर्वमें बंगाल और दक्षिणमें रामेश्वरतक तथा समुद्रके पारके देशोंमें भी जहाँ-तहाँ बहुत-सी थीं । उस समय वे हिंदुस्थानमें एक अजोड़ सौदागर माने जाते थे । उनकी कोठियोंने पत्र पाते ही इस प्रकारकी खरीद शुरू कर दी, लगभग दो वर्षतक लगातार यह काम चलता रहा ।

जगड़ू शाहके अन्नके कोटार भर गये । उन सब कोटारोंमें जगड़ू शाहने एक-एक ताँबेका पत्र रखवा दिया और उसपर केवल इतने ही शब्द लिखे गये—'यह अन्न गरीबोंके लिये है ।'—जगड़ू शाह

संवत् १३१३ की साल आयी । किसान जमीन जोतकर तैयार थे । सब मेघराजकी कृपाकी बाट जोह रहे थे, परंतु आषाढ़का जल नहीं बरसा । सावन और भादों भी खाली गये । सचमुच भयंकर अकाल आरम्भ हो गया । लोग गालोंपर हाथ रखकर निराश बैठ गये और अगले वर्ष भगवान् कृपा करेंगे, ऐसी आशा करके जैसे-तैसे दिन काटने लगे । जगड़ू शाहने उस समय अनेकों सदाव्रत-शालाएँ खोल दीं और सर्वथा असहाय लोगोंको अकालसे उबार लिया । किसी तरह कठिनाईसे यह समय कटा । फिर संवत् १३१४के जेठका महीना आया और अँधियारी शुरू हुई । परंतु आकाशमें वर्षाका लक्षण न दीख पड़ा । लोगोंके प्राण टँग गये । आषाढ़की ओर आशा बँधी, परंतु आषाढ़ भी सूखा निकल गया । श्रावणमें पानीकी दो-चार बूँदें देकर मेघराज रूठ गये और फिर दिखलायीतक न दिये !

अकाल-पर-अकाल पड़नेसे लोग हिम्मत हार गये । एक वर्ष तो बड़ी मुश्किलसे कटा, पर अब कैसे दिन बितावें ! खानेके लिये अन्न न था, और यह अकाल देशके केवल एक ही भागमें नहीं था, बल्कि सारे हिंदुस्थानमें था । इसलिये दूसरे प्रान्तोंसे भी मदद मिलनेकी आशा न थी । अकालके इस प्रकोपसे हजारों गाँव उजड़ गये और चारों ओर लूटपाट होने लगी । अनाजका भाव चारसे पाँच गुना बढ़ गया, फिर भी आवश्यक अन्न कहीं नहीं मिलता था । व्यापारियोंके सारे कोटार खाली हो गये । जगड़ू शाहने इस समय भी लोगोंको बहुत सहायता दी और अनेकों नयी सदाव्रत-शालाएँ खोल दीं । लोग जगड़ू शाहकी यह उदारता देखकर उनकी देवता-जैसी पूजा करने लगे ।

परंतु निरभिमानी जगडूको इसकी आवश्यकता न थी। अभी भयंकर विपत्तिका एक वर्ष बाकी था, इसे वे भलीभाँति जानते थे।

वह भयंकर वर्ष धीरे-धीरे आ पहुँचा। निष्ठुर मेघराजने १३१५ के सालमें भी दगा दिया। पानी एक बूँद भी नहीं बरसा और लोगोंका हृदय भयंकर भविष्यके विचारसे फटने लगा। अनाजका भाव पावलीके तेरह आनेतक जा पहुँचा और खानेके लिये जगह-जगह हुल्लड़ मचने लगे। पेड़ोंके पत्ते और घासतकको इस अकालने सफाचट कर दिया! किसी राजाके कोठारमें भी अनाज नहीं रहा। उस समय सबकी नजर जगडू शाहपर पड़ी और जगडू शाह भी बराबर दाता बने रहे।

गुजरातके राजा वीसलदेवने जगडू शाहको बुलाया और कहा—'जगडू शाह! लोगोंकी तुम जो सेवा करते हो उससे मैं प्रसन्न हूँ। पर अब मेरा भी थोड़ा काम करना पड़ेगा।' जगडू शाहने नम्रतासे कहा—'महाराज! ऐसी क्या बात है, कहिये। सेवकको कोई भी आज्ञा दीजिये।'

वीसलदेवने कहा—'मैंने सुना है कि इस पाटनमें भी तुम्हारे अन्नके ७०० कोठार हैं। इनमेंसे थोड़ा अनाज मुझको भी दो।'

जगडू शाहने कहा—'महाराज! मेरा जरा भी अनाज इस पाटनमें नहीं है। विश्वास न हो तो कोठार खोल-खोलकर देख लीजिये।' महाराज वीसलदेवने एक कोठार खोला तो उसके भीतर ताँबेका एक पत्र मिला, जिसपर लिखा था 'यह अनाज गरीबोंके लिये है।'—जगडू शाह

जगडू शाहने उस अकालमें विभिन्न राजाओंको जो अन्न दिया, उसकी तालिका इस प्रकार है—

गुजरातके राजा वीसलदेवको—	४,००,००० मन
सिंधके राजा हमीरदेवको—	६,००,००० ,,
मेवाड़के राजाको—	१६,००,००० ,,
मालवाके राजा मदनवर्माको—	९,००,००० ,,
काशीके राजा प्रतापसिंहको—	१६,००,००० ,,
दिल्लीके बादशाह नासिरुद्दीनको—	१०,५०,००० ,,
कन्धारके राजाको—	६०,००० ,,
	कुल ६२,१०,००० मन

इसके सिवा दूसरे छोटे-छोटे राजाओंको भी बहुत अन्न दिया था। जगडू शाहकी ओरसे छोटी-छोटी अनेकों सदाव्रत-शालाएँ चलती थीं। परंतु इस अकालका मुकाबला करनेके लिये उन्होंने नीचे लिखे अनुसार बड़ी-बड़ी दानशालाएँ चालू की थीं—

रेवाकांठा, सोरठ और गुजरातमें—	३३
मारवाड़, धार और कच्छमें—	३०
मेवाड़, मालवा और ढावमें—	४०
उत्तर भारतमें—	१२
	११५

इन दानशालाओंमें सब मिलाकर प्रतिदिन पाँच लाख आदमियोंको भोजन दिया जाता था। एक पाटनकी दानशालामें प्रतिदिन बीस हजार आदमियोंका जमाव रहता था। जगडू शाहने इस अकालमें ४,९९,५०,००० (चार करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार) मन अनाज दानशालाओंमें मुफ्त बाँटा और १८ करोड़ माला यानी साढ़े चार करोड़ रुपये नगद दिये। बड़े-बड़े महाराजा भी जगडू शाहकी इस उदारताको देखकर उनकी प्रशंसा करने लगे और उनको 'जगत्‌का पालनहार'की उपाधि दी। आज भी गुजरातमें महान् दानशील पुरुषको जो जगडू शाहकी उपमा देते हैं, उसका यही कारण है।

संवत् १३१६के सालमें वर्षा अच्छी हुई और अकाल मिट गया। इतना धन देनेपर भी जगडू शाहके धनकी कमी न हुई। लक्ष्मी दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही गयी।

(४)

एक बार समुद्री लुटेरोंको मोमसे भरा एक जहाज समुद्रमें मिला। उनकी समझमें न आया कि उसका क्या करें? सब विचार करने लगे। इतनेमें एकको जगडू शाह याद आ गये और वह बोल उठा—'चलो जगडू शाहके पास, इस जहाजको बेचकर धन प्राप्त करें।' सबको यह बात जँच गयी और वे जगडू शाहके पास गये और बोले—'सेठजी! हमको मोमसे भरा यह जहाज मिला है। आपको इसका काम होगा, इसलिये खरीदना हो तो बोलिये।'

जगडू शाहको मोमकी कोई खास जरूरत न थी, परंतु बेचारे उनका नाम पूछते आये हैं इसलिये इनको निराश नहीं करना चाहिये, यों विचारकर वह मोम खरीद लिया। उसमें मोमके पाँच सौ बड़े-बड़े पत्थर थे।

कुछ लोगोंको यह बात पसंद न आयी, परंतु जगडू शाहसे कहनेकी हिम्मत कौन करता? इस बातको हुए तीन

महीने बीत गये। पश्चात् एक समय कामसे सगड़ी सुलगायी गयी और उसमें किसीने खेलमें ही मोमका एक पत्थर फेंक दिया, थोड़ी ही देरमें मोम गल गया और अंदरसे सोना चमक उठा। जगड़ूशाहने पता लगाया तो वह सोना शुद्ध था। इन पाँच सौ पत्थरोंमें उनको अपार धन मिला। जिसको उन्होंने परोपकारके कामोंमें ही खर्च कर दिया।

इस प्रकार जगड़ू शाहको समय-समयपर व्यापारके अतिरिक्त अप्रत्याशित प्रसङ्गोंके द्वारा अनगिनत धन मिला और इससे उनको धनकी कभी कमी हुई ही नहीं। यह उनकी दानशीलताका परिणाम था।

भारतवर्षके इस महान् दानवीरने अच्छे-से-अच्छे कामोंमें धनका सदुपयोग करके पैसेवाले लोगोंको एक और ही रास्ता बतलाया। कुछ वर्षोंके बाद जब वे मर गये तब देशभरमें शोक छा गया। हजारों आदमी फूट-फूटकर रो पड़े।

'जगत्‌का पालनहार' चला जाय तो किसको दुःख न हो। यद्यपि जगड़ू शाहका अपना वंश नहीं चला, परंतु जगत्‌में जबतक दानकी महिमा रहेगी तबतक उनका नाम अमर रहेगा। संसारको ऐसे अनेक जगड़ू शाह प्राप्त हों।

मानसिक द्वन्द्व

(लेखक—प्रो० पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

मनुष्यको दो प्रकारकी लड़ाई लड़ते रहना पड़ता है—एक बाहरी और दूसरी भीतरी। इस लड़ाईके लड़ते रहनेमें ही जीवन है। इसीसे उसकी इच्छाशक्ति, चरित्र अथवा व्यक्तित्वका गठन होता है। जो व्यक्ति इन लड़ाइयोंसे भागता है, वह अपने जीवनको भाररूप बना लेता है। बहादुर बनकर जीना ही जीना है। भययुक्त होकर जीना मृत्यु-तुल्य है।

उपर्युक्त दो प्रकारकी लड़ाइयोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। बाहरी लड़ाईमें विजय कुछ दूरतक मनुष्यको आन्तरिक विजय प्राप्त करनेका सामर्थ्य प्रदान करती है। यूरोपके कुछ विद्वानोंका मत है कि आत्म-विजयका सर्वोत्तम उपाय अपने-आपको त्रास देनेके कार्यमें न लगनेके बदले, किसी काममें एक-मनसे लगना है। ऐसे कामके पूरे करनेमें मनुष्यको अनेक प्रकारका आत्म-संयम करना पड़ता है। इससे उसकी पाशविक प्रवृत्तियाँ अपने-आप ही नियन्त्रित रहती हैं। इस प्रकार उन प्रवृत्तियोंका सदुपयोग अथवा उदात्तीकरण हो जाता है।

हम अपनी बाह्य लड़ाईमें कभी-कभी परमात्माकी सहायताकी अपेक्षा करते हैं। परमात्मा वह तत्त्व है, जो मनुष्यकी बुद्धिकी पहुँचके बाहर है। वह कोई शक्ति हमें सफल करनेके लिये दे देता है। किसी प्रकारकी अनायास सहायता परमात्माकी सहायता मानी गयी है। जडवादी व्यक्ति इस प्रकारकी सहायतामें विश्वास नहीं करते हैं, परंतु वास्तवमें संसारके विधानमें अनेकों बातें इस प्रकारकी होती हैं, जिनका अर्थ मनुष्यकी बुद्धि नहीं लगा सकती। अपनी ही शक्तिमें विश्वास करनेवाले व्यक्तिको निराशामें आशा देनेवाला कोई तत्त्व नहीं रहता। जब ऐसा व्यक्ति जीवन-संग्राममें पराजय देखता है, तब वह अपने जीवनमें मृत्युका आवाहन करने लगता है। वह अपने जीवनको भाररूप बना लेता है। सर्वशक्तिमान् परमात्माके अस्तित्वमें विश्वास मनुष्यके अभिमानको कम करके जीवनकी अनेक गुत्थियोंको सुलझा देता है। जीवनकी बाहरी लड़ाईमें कितने ही लोग बहुत कुछ सफल हो जाते हैं; परंतु भीतरी लड़ाईमें वे असफल रहते हैं। अपने-आपपर काबू प्राप्त करना बाहरी जगत्‌पर काबू प्राप्त करनेसे कहीं दुष्कर कार्य है। कितने ही लोगोंकी बाहरी कठिनाइयोंका कारण उनके मनमें ही होता है। वे अपनी भीतरी कठिनाइयोंको ही बाह्य जगत्‌में प्रकाशित होते देखते हैं। दूसरेके देखनेके लिये वे बाहरी परिस्थितियोंसे लड़ते हैं, परंतु वास्तवमें वे अपने-आपसे ही लड़ते हैं। जो लोग सदा भारी मानसिक संघर्षमें पड़े रहते हैं वे बाह्य जगत्‌में भी अनायास संघर्षकी स्थिति निर्माण कर लेते हैं। इस प्रकारका संघर्ष किये बिना वे जी नहीं सकते। जो लोग भीतरी संघर्षमें विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे बाहरी संघर्षमें भी विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। और जो भीतरी संघर्षमें विफल हो जाते हैं, वे बाहरी संघर्षमें भी विफल हो जाते हैं। नेपोलियन, हिटलर, मुसोलनी आदिका जीवन भी इसी प्रकारका था। वे कुछ दिनोंतक सफल रहे, फिर उन्होंने अपना जीवन निराशा और दुःखमें बिताया। मरते समय जो व्यक्ति अपने-आपको कृतकृत्य माने और जो सफलताके विचारोंको जगत्‌को दे जाय, वही

सफल-जीवन कहा जा सकता है। यह तभी सम्भव है, जब कि मनुष्य अपने आन्तरिक शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है।

यह विजय कैसे प्राप्त होती है? इसके लिये लड़ाईके दोनों पक्षोंको जानना आवश्यक है। यह लड़ाई मनुष्यके व्यक्तित्व और प्राकृतिक इच्छाओंमें होती है। मनुष्य अपने व्यक्तित्वमें आदर्शवादका समावेश करता है और अपनी प्राकृतिक इच्छाओंका दमन करता है। जबतक मनुष्यका यह द्वन्द्व उसके चेतन मनके स्तरपर चलता है, तबतक वह उसके व्यक्तित्वके लिये हानिकारक नहीं होता, परंतु जब यह द्वन्द्व उसके अचेतन मनमें चलने लगता है, तब वह हानिकारक हो जाता है। अन्ततोगत्वा आदर्शवादी और भोगवादी प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण व्यक्तित्वके अङ्ग हैं। जबतक मनुष्य इन दोनों अङ्गोंको स्वीकार करके उन्हें निश्चित स्थान देता है, तबतक जीवनमें कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती; परंतु कभी-कभी मनुष्य अपने भोगमय स्वत्वसे एकत्व स्थापित कर लेता है और फिर उसका आदर्शवादी स्वत्व उसकी भर्त्सना करता है। साधारणतः मनुष्य अपने-आपका एकत्व आदर्शवादितासे करता है। इसके कारण भोगवादी प्रवृत्तियाँ दमित-अवस्थामें रहती हैं। यदि इन प्रवृत्तियोंकी शक्तिका सदुपयोग हो तो वे मनुष्यके व्यक्तित्वका बल बढ़ाती हैं, अन्यथा वे शत्रु बनकर मनुष्यके व्यक्तित्वको छिन्न-भिन्न करनेका प्रयत्न करती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियोंके कारण मनुष्य भयानक स्वप्न देखता है। वह अकारण चिन्ता और भयमें पड़ जाता है। उसे अनेक प्रकारके हठी विचार सताते हैं। और उसे हिस्टीरिया, उन्माद आदि रोगोंको सहना पड़ता है। ये मानसिक रोग कभी-कभी शारीरिक रूप धारण कर लेते हैं। अथवा किसी ऐसी दुर्घटनाको उत्पन्न कर देते हैं, जिससे मनुष्यके जीवनका अन्त हो जाता है।

अपनी दमित आन्तरिक प्रवृत्तियोंको वशमें करनेका उपाय उन्हें और भी दबाने लग जाना नहीं है; क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ वास्तवमें मनुष्यकी इच्छाशक्तिके परे हो जाती हैं। हम अपनी उन्हीं प्रवृत्तियोंको जीतनेमें सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, जिन्हें हम जानते हैं। जिस शत्रुका हमें ज्ञान नहीं होता, उसे हम कैसे जीतेंगे? कभी-कभी मनुष्य अपने अन्तर्द्वन्द्वको भुलानेके लिये ऐसा कोई काम हाथमें लेता है, जिनमें उसे भारी परिश्रम करना पड़े। वह फिर बिना सोये, खाये-पीये, अथक परिश्रम करता है। इस प्रकार वह कुछ कालतक सफल-सा दिखायी देता है; परंतु उसका परिश्रम सम्यक् और सहजात्मक न होनेके कारण उसकी मानसिक शक्तिको समाप्त कर देता है। ऐसे व्यक्तिको फिर न्यूरेस्थेनिया, ऐंग्जाइटी और हिस्टीरियाका रोग हो जाता है। फिर कई लोग कहते हैं कि उसके परिश्रमने उसका मानसिक रोग अथवा स्नायुओंका रोग उत्पन्न किया है। वास्तवमें उसके परिश्रमका कारण ही उसका मानसिक रोग था। पहले वह अप्रकट था, अब वह प्रकट हो गया।

अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियोंपर विजय उनसे शत्रुता स्थापित करनेसे नहीं, उनसे मित्रता स्थापित करनेसे होती है। इसके लिये इन प्रवृत्तियोंको चेतनाकी सतहपर आनेकी सुविधा देना आवश्यक है। इनकी शत्रुभावसे खोज करनेसे न तो पता चलता है और न वे वशमें आती हैं। यही कारण है कि मनोविश्लेषण-विधि मानसिक चिकित्सामें असफल हो रही है। जितना ही व्यक्तित्वका गुप्तचर विभाग अपराधियोंकी खोजमें प्रवीण होता जाता है, प्रवृत्तियाँ भी उतनी ही अपने-आपको छिपाये रखनेमें कुशल होती जाती हैं। इनके प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तित किये बिना वे कभी भी वशमें नहीं होतीं।

अपनी गुप्त दमित प्रवृत्तियोंको चेतनाकी सतहपर लानेका उपाय मानसिक शैथिलीकरणका अभ्यास है। जो मनुष्य अपने अभिमानको जितना कम करता है, उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ उतनी ही उसकी मित्र बन जाती हैं। फिर वह मनुष्यकी आदर्शवादिताके विकासमें बाधक न होकर साधक होती हैं। जो व्यक्ति अपने-आपको महान् समझता है, उसके शत्रु भी अनेक होते हैं। वह दूसरे लोगोंमें अपनत्वका भाव स्थापित करनेमें असमर्थ रहता है। ऐसे व्यक्तिके दिनों-दिन शत्रु बढ़ते जाते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्तिका अहं बढ़ा हुआ है, वह अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियोंको वशमें करनेमें असमर्थ रहता है। बाहरी शत्रुओंपर स्थायी विजय प्राप्त करनेके लिये, उनके प्रति मैत्रीभाव स्थापित करना आवश्यक है। इसी प्रकार आन्तरिक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये मैत्रीभाव स्थापित करना आवश्यक है। जिस प्रकार परमात्मा संसारके सभी प्राणियोंकी रक्षा करता है, चाहे वे हमारे शत्रु हों अथवा मित्र, और परमात्माके ध्यानसे शत्रुताका भाव भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार आत्मभाव आनेपर हमारी पाशविक प्रवृत्तियाँ हमारे व्यक्तित्वकी विरोधी न बनकर उसकी सहायक बन जाती हैं।

आत्मभावका अभ्यास सहजावस्था अथवा मानसिक शैथिलीकरणका अभ्यास है। इस अभ्याससे विरोधी तत्त्वोंसे एकत्व स्थापित हो जाता है। आत्मभावके अभ्यासीको अपने-आपसे छिपानेकी कोई बात ही नहीं रहती। अतएव ऐसे व्यक्तियोंकी सभी प्रवृत्तियाँ चेतनाके समक्ष आकर शान्त हो जाती हैं। इस अभ्यासके करनेवाले व्यक्तिको यह विश्वास रखना आवश्यक है कि सभी प्रकारकी क्रियाओंका अन्तिम लक्ष्य भलाईकी प्राप्ति करना है। हम अपने-आप ही भलाईकी ओर जा रहे हैं। इस भलाईके विचारको ध्यानमें रखते हुए दबी वासनाओंको प्रकाशित होनेकी छूट देनेसे और उन्हें वैध साधनोंके द्वारा सफल होने देनेसे उनका अन्त भलेमें ही होता है। मनुष्य जब अपनी दबी भावनाओंको साक्षीरूपसे देखता है, तो वे उसके व्यक्तित्वका उपयोगी अङ्ग बन जाती हैं और उसे शक्ति प्रदान करती हैं।

अपने-आपको आन्तरिक कठिनाईमें पानेपर उससे मुक्त होनेका एक उपाय उस परम तत्त्वका चिन्तन करना है, जो देश और कालके परे है। जिस प्रकार शत्रु-मित्रभावमें रहते हुए संसारमें नियन्ताकी कल्पना मनुष्यको बल प्रदान करती है। इसी प्रकार भली और बुरी प्रवृत्तियोंकी कल्पना रखते हुए मनुष्यका निर्गुण तत्त्वका विचार उसे बल प्रदान करता है। अहंभाव मात्र अपनी क्लेशकर प्रवृत्तियोंको वशमें करनेमें असमर्थ है। अपने अहंभावको आत्मभावमें विलीन कर देनेपर क्लेशकर प्रवृत्तियाँ अपने-आप ही शान्त हो जाती हैं। यह 'शिव भावना' का अभ्यास है। शिवके लिये विष भी अमृत हो जाता है और सर्प उनका आभूषण बन जाता है। इस शिव-भावनाके जो देश-कालके परे तत्त्वका भाव है, चिन्तनसे मनुष्यके मनमें अपूर्व शान्ति उत्पन्न होती है और उसका मानसिक द्वन्द्व अपने आप ही नष्ट हो जाता है। इस प्रसङ्गमें डा० विलियम ब्राउनका आत्म-विजय-सम्बन्धी विचार जो उन्होंने अपनी 'साइकोलॉजी एण्ड साइकोथेरेपी' नामक पुस्तकमें दिया है, उल्लेखनीय है—'सत्य जो कि मनुष्यकी आत्मा है, कालकी परिधिके बाहर है और कालके ऊपर है। यह समयके बाहर नहीं, वरं समयके परे है। तत्त्वके समयके परे होनेके कारण हमें स्वतन्त्रता रहती है और इसी स्वतन्त्रताके कारण हम अपनी मूल-प्रवृत्तियोंको वशमें रखते हैं। यदि हम भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे अपनी मूल प्रवृत्तियोंको वशमें करनेके प्रयत्नकी बात करें, तो हम आगे न बढ़ सकेंगे। भौतिक विज्ञानमें नियतवाद ही ठीक है; परंतु तत्त्व देश-कालके परे है। तत्त्वका स्वरूप ज्ञानमय है। इसलिये मैं भी तत्त्वका अङ्ग हूँ। मेरे ज्ञानमें जगत्‌के अङ्ग होनेके कारण मैं स्वतन्त्र भी हूँ। इच्छा-शक्ति स्वतन्त्र अवश्य है, परंतु यह स्वतन्त्रता कैसे सम्भव है, इसे हम भौतिक ज्ञानकी पद्धतिसे समझा नहीं सकते।' कांट महाशयका कथन है कि—मनुष्यका गहनतम भाग प्रपञ्चके परे है। यह भाव निर्गुण तत्त्व है। मनुष्य सचमुचमें परिवर्तनशीलताके परे है। जब मनुष्य काम करता है तो उसकी क्रियाएँ वैज्ञानिक विचार-पद्धतिमें आती हैं। इससे मनुष्य परतन्त्र दिखायी देता है। परंतु सचमुचमें उसका सार समयके परे है। वह देश और कारण-कार्य-भावके परे है। मनुष्यका बौद्धिक ज्ञान प्रपञ्चतक ही जाता है, परंतु हममें बुद्धिसे परे दूसरी बड़ी और गम्भीर शक्ति भी ज्ञान प्राप्त करनेकी है। इस शक्तिको अन्तर्दृष्टि कहा जाता है। अन्तर्दृष्टि बौद्धिक ज्ञानके बदलेकी वस्तु नहीं है, बल्कि एक विस्तीर्ण और सम्पूर्ण ज्ञानकी शक्ति है। मनुष्य जैसे-जैसे अपने-आपका ज्ञान देश और कालके परे आत्म-तत्त्वके रूपमें करता है, वैसे-वैसे वह आत्म-विजयमें समर्थ होता है। मनुष्यके अभिमानमें वह शक्ति नहीं है कि वह मनमें स्थित प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त कर सके। मनुष्यका सामान्य व्यक्तित्व अहङ्कारमें रहता है। इस अहङ्कारके बढ़नेपर मनुष्यकी मानसिक शक्ति कम हो जाती है। बढ़े हुए अहङ्कारकी अवस्थामें मानसिक विभाजनकी उपस्थिति और समन्वयकी अवस्थाका अभाव रहता है। जब मनुष्य अपने-आपको अहङ्कारसे अहङ्काररूप न जानकर आत्मारूप जानता है तो अहङ्कारसे विरोध करनेवाली शक्तियाँ अपने-आप ही उसके काबूमें आ जाती हैं। मानो यह राजा इन्द्रकी मोहनीकी सहायतासे दानवपर विजय है। राजा इन्द्र मनुष्यका अहङ्कार है और मोहनी बाह्य-शक्ति है और दानव मनुष्यकी वे प्रवृत्तियाँ हैं, जिनपर वह विजय प्राप्त करनेकी सदा आकाङ्क्षा रखता है। जबतक मनुष्य अपने-आपको निर्गुणात्माके रूपमें नहीं जानता, तबतक वह अपने मानसिक द्वन्द्वका अन्त करनेमें सफल नहीं होता। अपने-आपको सर्वशक्तिमान् परमात्माके रूपमें जाननेसे मनुष्यकी पारस्परिक विरोधी भावनाएँ अपने-आप ही शान्त हो जाती हैं और मानसिक द्वन्द्वका अन्त हो जाता है।

प्रार्थनाका प्रभाव

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'भगवान् याकशायरमें हैं और दक्षिण ध्रुवमें नहीं हैं ?' वह खुलकर हँस पड़ा। 'जो यहाँ हमारी रक्षा करता है वह सब कहीं कर सकता है।'

इस तर्कका किसीके पास भला क्या उत्तर हो सकता है। श्रीमती विल्सन जानती हैं कि उनके पति जब कोई निश्चय कर लेते हैं, उन्हें रोका नहीं जा सकता।

मनुष्य भगवान्‌की सृष्टिका बड़ा अद्भुत प्राणी है। इस दो पैरसे चलनेवाले पुतलेके भीतर क्या-क्या है—कदाचित् इसके निर्माता ब्रह्माजी भी नहीं जानते। यह देवता बन सकता है, दानव बन सकता है, पशु बन सकता है और पिशाचतक बन सकता है। जब इसे कोई सनक सवार हो जाती है तो देवता और दानव दोनों चकित रह जाते हैं। जो कार्य दोनोंके वशका न हो—मनुष्यके लिये दुर्गम, असम्भव जैसे कुछ नहीं है। वह नर जो है। उसका नित्य सखा नारायण उसका साथ देगा ही—यह दूसरी बात कि नर ही अपने सखाकी उपेक्षा किये निर्बल बना रहे।

मि० विल्सन पक्के निरामिषभोजी हैं। उनके लिये उबाले आलू, उबाली पत्तियाँ, थोड़ा अंजीर या कोई सूखा मेवा और दूध—बस, यह सदा पर्याप्त होता है। चावल, दाल, रोटी—अन्न छोड़कर फलाहारी वे कभी बने नहीं, बननेकी बात भी नहीं सोची; किंतु अन्नकी अपेक्षा उन्हें कभी नहीं रहती। यदा-कदा ही वे उसका उपयोग करते हैं।

लंबा दुबला शरीर, नीली आँखें, सुनहले केश—लेकिन इस फलाहारीप्राय अंग्रेजकी रुचि बड़ी विचित्र है। इसे गुमसुम बैठना पसंद नहीं। आतङ्कपूर्ण स्थितियोंमें इसे आनन्द आता है। भयको आमन्त्रण देगा और जब चारों ओरसे प्राणघातक आशङ्काएँ इसे घेर लेंगी—बड़े आनन्दसे उछलेगा, कूदेगा और ताली बजा-बजाकर हँसेगा—'भगवान्! मेरे भगवान्! मैं तुझे देख रहा हूँ।' जैसे भगवान् इसे शान्त, सौम्य परिस्थितिमें दीखते ही नहीं।

श्रीमती विल्सन—बेचारी सुशील नारी—पतिकी मङ्गलकामनाके अतिरिक्त वह और क्या कर सकती है। बड़ा सनकी है उसका पति—जब हिमपात प्रारम्भ होगा, वह प्रायः संध्याका अन्धकार फैलनेके बाद अकेला मोटर लेकर घूमने निकल जायगा। नगरकी पुलिस तंग है, इस फक्कड़से। रात्रिके हिममें किसी भी राजपथपर कोई मोटर रुक गयी है, प्रातः मार्ग स्वच्छ करनेवाला दल दूरसे ही कहेगा—'बहुत करके विल्सन होना चाहिये।' उसकी मोटर प्रायः पथपर वर्फमें जमी मिलती है। आप उस समय जब बरफ हटाकर मोटरकी खिड़कियाँ खुलनेयोग्य कर दी जायँगी, बड़े आनन्दसे खिड़की खोलकर कहेंगे—'अच्छा, इतनी बरफ पड़ी? तभी तो रातमें थोड़ी सर्दी लग रही थी। रातभर मोटरके भीतर अकड़े पड़े रहनेपर भी जो थोड़ी सर्दी लगनेकी बात करे—पागल नहीं तो और क्या कहा जाय उसे?

एक उपद्रव हो तो गिनाया जाय। जब तूफानके वेगसे समुद्र हाहाकार करने लगेगा, बड़े-बड़े ज़हाज लंगर डालकर बंदरगाहोंमें शरण लेंगे, खतरेकी सूचना बंदरगाहका अधिकारी यन्त्रोंसे दूर-दूर भेजता होगा, एक छोटी सफेद रंगकी नौका गर्जन-तर्जन करते महासागरके वक्षपर हंसिनी-सी तैरती दीख सकती है। बड़े साहसी नाविक तक नेत्रोंसे दूरवीक्षण लगाये चकित

स्तम्भित देखते रहते हैं—'मि० विल्सन नौका-विहारका आनन्द लेने निकले हैं !'

यह सब तो नित्यकी बातें हैं; किंतु इस बार श्रीमती विल्सन हताश हो गयी हैं। उनके पतिको एक नयी धुन चढ़ी है। दक्षिण अमेरिकासे कोई दल दक्षिण ध्रुवका पता लगाने जा रहा है। विल्सन उस दलके साथ जायँगे। कैसे जायँगे ? कैसे रहेंगे ? ये प्रश्न कभी विल्सनके मनमें उठे हों तो आज उठें। उन्होंने तो लिखा-पढ़ी की उस दलके नायकसे और अनुमति प्राप्त कर ली। पासपोर्ट ले लिया और जहाजमें स्थानतक निश्चित करा लिया। यह सब करके तब पत्नीको सूचना दी इस भले आदमीने।

'मैं आपको अपने महान् निश्चयसे विचलित नहीं करूँगी।' श्रीमती विल्सनको कोई आश्चर्य नहीं हुआ। अपने पतिके स्वभावको वे जानती हैं। 'मुझे इसका गर्व है कि मेरे पति विश्वके उन थोड़ेसे लोगोंमें एक हैं जो अकल्पनीय साहस कर सकते हैं।'

'कितनी अच्छी हो तुम !' विल्सन तो बच्चोंकी भाँति हैं। वे बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं।

'तुम मेरी एक बात मान लो ! भोजन-सम्बन्धी अपना नियम अब यहीं रहने दो।' श्रीमती विल्सनका अनुरोध सहज स्वाभाविक है। किसी हिमप्रदेशमें कोई शाकाहारी बने रहनेका हठ करे, बोतलको न छूनेकी शपथका निर्वाह करे—कैसे जीवित रहेगा वह।

'तुम क्यों चिन्ता करती हो ?' यही उत्तर ऐसे किसी भी अवसरपर देता है। 'चिन्ता करनेवाला है न। वह सारे संसारकी चिन्ता करता है। तुम विश्वास रक्खो—जबतक मैं होशमें रहूँगा, उसकी नित्य प्रार्थना करूँगा। उसे भूलूँगा नहीं।'

'उसे भूलूँगा नहीं।' इससे बड़ा आश्वासन भला और क्या दिया जा सकता है।

× × ×

[२]

'मैं शाकाहारी हूँ। किसी प्रकारकी कोई शराब न छूनेकी मैंने प्रतिज्ञा की है।' दक्षिण अमेरिकासे जहाज छूटनेके पश्चात् पहले ही दिन विल्सनको दल-नायकको स्पष्ट सूचित करना पड़ा। स्थलपर इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी। उनकी पत्नी उनके साथ आयी थीं इंग्लैंडसे और जहाजके छूटनेके समयतक विदा देने उनके साथ रहीं। दलके सदस्योंने भूमिपर रहते समय एक साथ भोजन करनेका कभी कोई आग्रह किया नहीं था।

'आप निरामिषभोजी हैं और शराब छूनेतक नहीं ?' दलनायक हर्बर्ट अपनी कुर्सीसे उठ खड़े हुए। 'आप होशमें भी हैं या नहीं ? दक्षिण ध्रुवकी यात्रा करने चल रहे हैं आप।'

'मेरे बेहोश होनेकी तो कोई बात नहीं है।' विल्सन शान्त बैठे रहे—'मैं जानता हूँ कि मैं कहाँ जा रहा हूँ।'

'हम आपको समीपके द्वीपपर छोड़ देंगे। अमेरिका लौट जानेके लिये एक सप्ताहके भीतर ही आप जहाज पा सकते हैं।' दलनायकको खेद हो रहा था—क्यों वह इस व्यक्तिको साथ ले आया।

'यात्रामें साथ ले चलनेकी स्वीकृति आपने दी है और वह पत्र मेरी जेबमें है।' विल्सनने दृढ़ स्वरमें कहा—'मैंने यात्राके नियमोंमें किसीको तोड़ा नहीं है।'

'आप चाहेंगे तो लौटनेपर आपको इंग्लैंडसे यहाँ बुलानेका हर्जाना और मार्गव्यय मैं चुका दूँगा।' हर्बर्टने भी दृढ़ स्वरमें ही कहा—'जान-बूझकर किसीकी हत्या करनेके लिये मैं उसे साथ नहीं ले जा सकता।'

'मैं लौटनेके लिये नहीं आया हूँ।' विल्सन ज्यों-के-त्यों दृढ़ रहे। 'सब सदस्य अपने उत्तरदायित्वपर आये हैं। किसीकी मृत्युके लिये कोई उत्तरदायी नहीं है।'

'तुम समझनेका प्रयत्न करो मेरे मित्र ।' हर्बर्ट बैठ गया और विल्सनका हाथ पकड़कर बड़ी नम्रतासे उसने कहा—'जहाँ बहुत तेज शराब भी गलेके नीचे जाकर रक्तमें साधारण उष्णता बनाये रखनेमें किसी भाँति सफल होती है, वहाँ कोई शराब न छूनेका व्रत रक्खे—कैसे जीवित रहेगा ? हमारा जहाज बहुत दूरतक नहीं जा सकता । अन्तमें हमें स्लेजपर ही यात्रा करनी है । हमारे एकमात्र भोजन वहाँ साथ चलनेवाले बारहसिंगे ही हो सकते हैं । कोई भी भोजनका पदार्थ वहाँ प्राप्य नहीं और न उसे ले जानेके साधन हैं ।'

'मैं आपकी सहानुभूति एवं सलाहका कृतज्ञ हूँ ।' विल्सनने भी स्वरको पर्याप्त प्रेमपूर्ण बना लिया—'ये सब कठिनाइयाँ मेरे ध्यानसे बाहर नहीं हैं । लेकिन तुम क्या नहीं मानते कि भगवान् सर्वसमर्थ हैं ? वे सर्वत्र हैं तो हमें क्यों भय करना चाहिये और क्यों चिन्ता करनी चाहिये ? मैं तो इस यात्रापर आया ही इसलिये हूँ कि निर्जन हिमप्रदेशमें भी परमात्मा है और वहाँ भी वह उस प्रार्थनाको सुननेके लिये उपस्थित रहता है जो केवल उसके लिये की जाती है—यह अनुभव करूँ ।'

'मैं नास्तिक नहीं हूँ । लेकिन इतना आशावादी बननेका भय भी नहीं उठा सकता ।' हर्बर्ट ठीक कह रहा था । एक सामान्य मनुष्य जैसे सोच सकता है, वैसे ही सोच रहा था वह—'मैं कृतज्ञ रहूँगा, यदि तुम मेरी सलाह मान लो ।'

'हम पहले प्रार्थना करेंगे ।' विल्सनने दूसरा ही प्रस्ताव किया—'प्रार्थनाके बाद भोजन करके तब इस बातपर चर्चा करना अच्छा रहेगा ।'

'परमात्मा ! मेरे परमात्मा ! तू सब कहीं है । तू उस हिम-प्रदेशमें भी है जहाँ मैं तुझे प्रणाम करने आ रहा हूँ ।' विल्सनका कण्ठ प्रार्थना करते समय गद्गद हो रहा था । उसके बंद नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें टपक रही थीं—'जगदीश्वर ! एकमात्र ही सबका रक्षक और पालक है । तू यहाँ है और सब कहीं है । हम क्यों डरें ? क्यों चिन्ता करें ? तू है न ! हमें शक्ति दे कि हम तेरा ही भरोसा करें ! तुझे ही स्मरण करें !'

सभी यात्री, सेवक और वे नाविक भी जो प्रार्थनामें आ सकते थे—आये थे । सबके नेत्र गीले हो गये थे, सब यात्रियोंको लग रहा था विल्सन इस भयंकर यात्रामें उनके लिये बहुत आवश्यक है । उसका विश्वास—उसकी प्रार्थना उन्हें जो आत्म-बल दे रही है, वह उस समस्त सामग्रीसे, जो आवश्यक मानकर साथ ली गयी है, अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

सबकी सहानुभूति विल्सनके साथ हो गयी थी । दलनायक हर्बर्टने लौटनेकी बात फिर नहीं छेड़ी । उसने सोच लिया—'परिस्थिति जब विवश करेगी, आहार-सम्बन्धी नियम अपने-आप लुप्त हो जायँगे । अभी आग्रह करनेका अर्थ उस आग्रहको पुष्ट करना ही होगा ।'

× × ×

[२]

'विल्सन ! हम प्रार्थना करेंगे ।' दलनायक हर्बर्ट और दलके दूसरे साथी प्रार्थनाके अद्भुत प्रभावको देखते-देखते अब अभ्यस्त हो गये हैं । वे अब विल्सनको परिहासमें संत विल्सन कह लेते हैं; किंतु यह केवल परिहास नहीं है । प्रायः सभी अनुभव करते हैं कि विल्सन संत हैं । अब जहाज छोड़कर दल स्लेज-गाड़ियोंपर यात्रा कर रहा है । बर्फीले तूफान, बर्फकी दल-दल, मार्गमें पड़ी पचीस-पचास गज चौड़ीतक दरारें और मार्ग खो जाना—सच बात तो यह कि कोई मार्ग है ही नहीं । दिग्दर्शक यन्त्र और अनुमान—पद-पदपर विपत्तियाँ आती हैं । किसी भी दारुण विपत्तिके समय दल एकत्र हो जाता है और प्रार्थना होने लगती है । है अद्भुत बात—प्रत्येक बार प्रार्थनाके पश्चात् सभी अनुभव

करते हैं कि विपत्ति भाग गयी—भगा दी गयी है और उनका मार्ग सुगम हो गया है।

हिम—अनन्त अपार हिम है चारों ओर। वृक्ष, तृण, हरियालीकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। बारहसिंगोंके झुंड और कुत्तोंका दल—कुत्ते न हों तो स्लेज खींचे कौन ? लेकिन ये हिम-प्रान्तीय भयानक कुत्ते—बार-बार विगड़ उठते हैं। बार-बार बारहसिंगोंके झुंडपर आक्रमण करते हैं और बारहसिंगोंमें भगदड़ मचती है। कुत्ते मनुष्यके समान बुद्धिमान् तो नहीं कि सोच-समझकर क्षुधापर नियन्त्रण रक्खें। बेचारे स्लेज खींचते-खींचते थके जाते हैं, भूख लगती है और बारहसिंगोंको छोड़कर उन्हें मिल भी क्या सकता है। बड़ा कठिन है उनको नियन्त्रित करना। समय-समयपर वर्फके नीचे जमी काई चरनेके लिये बारहसिंगोंको भी छोड़ना ही पड़ता है।

विश्राम—नाममात्र है विश्रामका। ऐसी दारुण यात्रामें विश्राम कैसा ? साथमें एक तम्बू है—नीचे हिमकी चट्टान और ऊपर अनवरत धुनी रूई-जैसी गिरती उज्ज्वल हिम—अपने-अपने थैलोंमें जूते पहिने ही घुसकर कुछ घंटे पड़े रहनेको आप विश्राम कहना चाहें तो कह सकते हैं।

विल्सन—सबका सहारा, सबको उत्साहित रखनेवाला नित्य प्रसन्न विल्सन, और पूरे दलमें विल्सन ही हैं जिनका दलपर कोई भार नहीं। साथ कुछ मेवे, कुछ पनीर और जमे दूधके डब्बे, कुछ फल बंद डब्बोंमें आया था। वह सब विल्सनके लिये पहले सुरक्षित हो गया। लेकिन उसका क्या अर्थ है ? दूसरेके लिये तो केवल वह स्वाद बदलनेका साधनमात्र हो सकता था। जब दूसरे शराबकी बोतल मुखसे लगाते हैं, विल्सन स्पिरिटके स्टोवपर बरफको पिघलाकर उबालता है और गरम पानीकी घूँटें पीकर सबसे अधिक स्फूर्ति पा [illegible] है।

'मैं चरने जाता हूँ।' प्रायः वह सबको हँसा देता है। अद्भुत है यह अंग्रेज। उसके अमेरिकन साथी इस बातकी कल्पना ही नहीं कर सकते कि बारहसिंगोंके साथ बरफके नीचे जमी यत्र-तत्र काई-जैसी घासको मनुष्य भोजन बना सकता है। लेकिन विल्सन मजेमें पर्याप्त मात्रामें उसे खा लेता है।

'हमें लौटना चाहिये।' सहसा एक दिन कुत्तोंने स्लेजको लौटानेकी हठ ठान ली। वे किसी प्रकार आगे बढ़ना ही नहीं चाहते थे। बारहसिंगोंका झुंड चरनेको छोड़ा गया और अदृश्य हो गया। विल्सनने सलाह दी—'लक्षण अच्छे नहीं हैं। इस वर्ष शीत शीघ्र प्रारम्भ होता दीखता है। भयंकर वर्फीले तूफान कुछ दिनोंमें ही चलने लगेंगे। हमलोग जहाजतक लौट चलें तो ठीक।'

'बारहसिंगे भाग चुके और उनको पानेका कोई मार्ग नहीं है।' दलनायक हर्बर्टने सहमति व्यक्त की—'अब लौटनेको हम सब विवश हैं। जहाज यदि समुद्रके जम जानेसे पहले न निकल सका तो हिमसमाधि निश्चित समझनी चाहिये।'

'हम फिर अगले वर्ष आ सकते हैं।' एक यात्रीने कहा। सभी श्रान्त थे और लौटनेको उत्सुक थे।

'हम फिर आ सकें या न आ सकें, हमारी यात्रा दूसरोंका मार्ग-दर्शन करेगी।' विल्सनने तटस्थ भावसे कहा। 'प्रयत्न करना हमारे हाथमें था। परमात्माकी इच्छा सर्वोपरि है और हमें उसके संकेतोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।'

कुत्ते लौटते समय गाड़ियोंको पूरी शक्तिसे खींच रहे थे। जैसे उन्हें भी लगता था कि इस हिमप्रदेशसे जितनी शीघ्र निकला जा सके—उतनी शीघ्र निकल चलनेमें ही कुशल है।

× × ×

[४]

'हम प्रार्थना करेंगे।' विल्सनके प्रस्तावको कोई समर्थन नहीं मिला। सच यह है कि समर्थन या विरोध करने जितनी शक्ति अब जहाजके यात्रियोंमें नहीं थी। कितने दिन कोई उपवास कर सकता है? अब उठने और बोलनेकी क्रिया जहाजके सारे यात्रियोंके लिये अत्यन्त कष्टसाध्य होती जा रही थी। जीवनसे वे प्रायः निराश हो चुके थे।

जहाजपर उसके यात्री आये और समुद्रका जमना प्रारम्भ हुआ। बहुत थोड़ी दूर जाकर जहाज रुक गया। पृथ्वी और जलका भेद मिट चुका था। एक श्वेत चद्दर—यात्रियोंको लगता था कि बूढ़ी पृथ्वी मर गयी है और उसे श्वेत वस्त्रसे ढक दिया गया है। मृत्यु—केवल मृत्यु दीखती थी उन्हें। मृत्युकी छाया काली होती है; किंतु उनके यहाँ तो उजली—असीम उजली, कोमल और शीतल रूप धारण करके मृत्यु आयी थी।

पूरा जहाज ढक गया हिमके अपार अम्बारमें। बाहरसे उसका कोई अंश दीखता भी है या नहीं—जहाजके यात्रियोंमें साहस नहीं था कि जहाजसे बाहर आकर यह देखें! बेचारे कुत्ते मर गये थे। स्लेज खींचनेमें उन्होंने प्राण होम दिये। मार्गमें ही हिमपात प्रारम्भ हो गया था। यात्री किसी प्रकार भागते-दौड़ते जहाजपर पहुँच गये, यही बहुत था। लेकिन अब इस सुरक्षाका क्या अर्थ? इतना ही कि अगली ऋतुमें कहीं कोई पता लगाने आया तो जहाजके भीतर उनके सिकुड़े शव उसे मिल जायँगे।

जल—केवल जल पीकर रहना था उन्हें और अन्तमें वह भी अलभ्य हो गया। भोजनका सामान और शराबकी बोतलें कबकी समाप्त हो चुकी थीं। बहुत-सा उनका भाग स्लेज-गाड़ियोंके ऊपर मार्गमें ही छूट गया था। जहाजमें जो कुछ था—कितने दिन चल सकता वह? शीत असह्य हो गया। भोजन समाप्त होनेपर बार-बार जलकी आवश्यकता पड़ी। उष्णताकी प्राप्ति, बरफ गलाकर जल बनाना—सबका साधन था स्पिरिट लैम्प और अन्तमें स्पिरिट भी समाप्त हो गया।

'परमात्मा! मेरे परमात्मा! मैं जानता हूँ कि तू यहाँ भी है और मेरी प्रार्थना सुनता है।' विल्सनकी प्रार्थनामें अब वह अकेला रह गया है। अनाहार और मृत्युकी स्पष्ट मूर्तिने सबको निराश कर दिया है। किसीमें अब आशा नहीं कि प्रार्थनासे कुछ होगा—सच तो यह है कि अब कोई कुछ सोचता नहीं—सोचने योग्य नहीं। मृत्यु—मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे हैं सब। केवल विल्सन है जो नित्य दोनों समय—प्रार्थना कर लेता है। समयका अनुमान भी वहाँ घड़ीसे ही होता है। वह ठीक घड़ीकी भाँति समयपर हाथ जोड़कर घुटनोंके बल बैठकर बोलने लगता है—'मेरे प्रभु! मैं कुछ नहीं चाहता। केवल इतना—इतना ही कि मैं तुझे भूलूँ नहीं।'

अद्भुत जीव है यह विल्सन भी। इसका अनाहार सबसे पहले प्रारम्भ हुआ। सबसे दुबला यही है। स्पिरिट समाप्त होनेको आया—यह देखते ही इसने पानी पीना भी बंद कर दिया। बरफके टुकड़े मुखमें रखकर चूस लेनेका अभ्यास सबसे पहले इसने किया। जिन्हें मांसाहार करना था, जिनकी नाड़ियोंका रक्त शराबकी उष्णतासे उष्ण बनता रहा, जो बहुत पीछेतक कुछ-न-कुछ छीन-झपटकर पेटमें पहुँचा देते थे, वे सब मूर्छित-प्राय पड़े हैं और यह शाकाहारी, खौलाये पानीपर जीवित रहनेवाला विल्सन—यह अब भी उठ-बैठ लेता है, प्रार्थना कर लेता है।

साठ दिन—पूरे साठ दिन बीत चुके। आज विल्सनको लगा, वह अन्तिम बार प्रार्थना करने बैठा है। उसका सिर घूम रहा है। उसके नेत्रोंके आगे

अन्धकार फैल रहा है। उसका कण्ठ सूख गया है। 'परमात्मा !' केवल एक शब्द कह पाया वह। उसे लगा। अब गिरेगा—मूर्छा और मृत्यु वहाँ पर्याय-वाची ही थे।

'कोई है ? कोई जीवित है भाई ?' जहाजके ऊपर डैकपरसे नीचे उतरनेके बंद द्वारको कोई पीट रहा है। बार-बार पुकार रहा है—'परमात्माके लिये बोलो ! एक बार बोलो !'

'कौन आवेगा यहाँ ? भ्रम—भ्रम है मेरा।' विल्सन अर्धमूर्छित हो रहा था। लेकिन द्वार बराबर पीटा जा रहा था। बराबर कोई पुकार रहा था। अन्तमें लेटे-लेटे पेटके बल किसी प्रकार विल्सन खिसका।

'परमात्माके लिये शराब नहीं—गरम पानी।' द्वार खोलकर विल्सन गिरा और क्षणभरको मूर्छित हो गया; किंतु आगतोंमेंसे जब एकने उसके मुखसे बोतल लगाना चाहा—उसकी चेतना लौट आयी। उसने बोतल हटा दी मुखसे।

'जहाज जम गया है। हम साठ यात्री मृत्युकी घड़ियाँ गिन रहे हैं। भोजन और स्पिरिट समाप्त हो गया है। जहाजमें लगे बेतार-के-तारसे यह अन्तिम संदेश अमेरिकामें सुना गया था। शीतके प्रारम्भमें जब हिमपात प्रारम्भ हो गया हो अंटारकटिकाकी यात्राकी बात सोचना ही अकल्पनीय है। सरकारी अधिकारी भी यात्रियोंके प्रति सहानुभूति ही प्रकट कर सकते थे।

समाचारपत्रोंमें यह दारुण समाचार छपा और एक तरुणने संकल्प किया उन हिम-समाधि लेते मनुष्योंके उद्धारका। बाधाओंकी गणना ही व्यर्थ है। जो सहायता दे सकते थे—उन्होंने भी रोकनेका ही प्रयास किया। लेकिन उसे यात्रा करनी थी। एक नहीं तो दूसरा—जो प्राण देकर परोपकार करनेको प्रस्तुत है, उसके सहायक संसारमें निकल ही आते हैं।

कुत्तों, स्लेज-गाड़ियों, बारहसिंगोंकी पूरी सेना मिल गयी उसे अंटारकटिकामें पहुँचनेपर भोले हिमग्रामके वासियोंसे। उसे गणना नहीं करनी थी कि कितने यूथ कुत्तों और बारहसिंगोंके हिमकी भेंट हो गये। उसे तो लक्ष्यपर पहुँचना था—ठीक समयपर पहुँच गया वह।

'हमारे यूथमें कुछ मादा बारहसिंगे हैं। तीन-चारने मार्गमें बच्चे दिये हैं। आपको हम दूध पिला सकते हैं।' जब जहाजके यात्री होशमें आये, कुछ पेटमें पहुँच जानेसे बोलने योग्य हुए, तरुणने विल्सनके सामने एक प्याला गरम दूध रख दिया। मूर्छित दशामें भी विल्सनको दूध पिला चुका था वह।

'हम प्रार्थना करेंगे।' दूध पीनेसे पहले विल्सन घुटनोंके बल वहीं बैठ गया। उसके पीछे पूरा समुदाय बैठ गया। 'यह उसकी प्रार्थनाका ही प्रभाव तो है जो वे आज उसके साथ प्रार्थना करने बैठ सकते हैं।'

भारतसे गोवधका कलङ्क शीघ्र दूर हो

पवित्र भारतभूमिमें अबतक गोवध हो रहा है, इतना ही नहीं, वह उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। यह भारतवासियोंके लिये बड़े ही कलङ्क और दुःखकी बात है। अमेरिका, इंगलैंड आदि गोमांसभोजी देशोंमें भी ऐसी अच्छी गायोंका वध नहीं होता, जैसी अच्छी जवान दुधारू गायोंका वध हमारे देशमें हो रहा है। कसाईको वृद्ध और अपंग गौके वधसे जहाँ चालीस-पचास प्रतिशत होता है, वहाँ अच्छी नौजवान गौके वधसे शत-प्रति-शत लाभ होता है, अतः कसाई अच्छे पशुको ही वध करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार उत्तम-से-उत्तम गो-वंशका विनाश हो रहा है और यह तबतक रुक नहीं सकता, जबतक कि कानूनके द्वारा सर्वथा गोवध बंद न हो जाय।

इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी राज्यमें गोवध प्रायः कसाईखानोंमें होता था, उसकी गिनती हो सकती थी; पर आज कसाई निर्भय होकर घरों, खेतों और जंगलोंमें

गोवध करता है। अत: आज कितना गोवध होता है इसका अनुमान लगानेका एक ही प्रमाणित साधन है और वह है खालोंके निर्यातकी संख्या। भारत-सरकारकी निर्यात-विकास-कमेटी १९४८ तथा केन्द्रिय कृषि-मन्त्रालयके २० दिसम्बर १९५० के पत्रद्वारा खालोंके निर्यातके लिये गोहत्या जारी रखनेकी सम्मति दी गयी है, अत: यह मानना चाहिये कि जिन खालोंका निर्यात होता है वे अधिकांश गोवधसे ही प्राप्त होती हैं। कहा जाता है कि पहलेकी अपेक्षा आज गोवध बहुत कम होता है और जबतक आँकड़े नहीं देखे थे तबतक हमारा भी यही विश्वास था; परंतु अब सरकारी रिपोर्टोंके अनुसार जो आँकड़े प्राप्त हुए हैं, उनको देखनेसे तो गोवधकी संख्या बहुत बढ़ी हुई सिद्ध होती है।

सरकारी खाल तथा निर्यात रिपोर्टके अनुसार सम्मिलित भारतसे १९४६ में २,२९,५०० बछड़ोंकी खालें, १,४०,००० गायोंकी कच्ची खालें, १७,३०,००० गायोंकी पक्की खालें तथा दस हजार तैयार चमड़े—कुल २१,०९,५०० गायोंकी खालें विदेश भेजी गयी थीं। पशु-संख्याके अनुमानसे पाकिस्तानकी एक चौथाई खालें बाद देनेपर खंडित भारतकी १९४५,४६ तथा १९५२,५३ निर्यातके अङ्क इस प्रकार हैं—

साल	बछड़ोंकी खालें	गायोंकी कच्ची खालें	गायकी टैंड खालें	तैयार खालें	कुल जोड़
१९४५,४६	१,७२,०००	१,०५,०००	१३,००,०००	७,५००	१५,८४,५००
१९५२,५३	२०,०७,९५१	१०,०००	४६,०९,१७३	१,५०,०००	६७,७७,१२४

पिछले छ: वर्षोंमें वध किये हुए चमड़ेकी चीजोंका व्यापार और व्यवहार भी बहुत बढ़ावपर है। उसके अङ्क माल्रम नहीं हो सके। पर यह संख्या तीस-पैंतीस लाखसे कम नहीं। यदि केवलमात्र खालोंके निर्यातसे अनुमान किया जाय तो भी १९४६ की अपेक्षा चार गुनासे अधिक गोवध बढ़ा है। अंग्रेजी राज्यके समय १५, १६ लाख रुपये वार्षिक बूढ़े पशुओंका विशेषतया भैंसों, बछड़ोंका सूखा मांस वमा आदि सुदूर पूर्वके देशोंको जाता था। पर १ जुलाई १९५२ से ३० जून १९५३ तक सरकारी कस्टम विभागकी रिपोर्टके अनुसार ५.६ लाख रुपयेका गोमांस, गौकी आँतें, जिह्वा आदि विदेशोंको बम्बई, कलकत्ता, मद्रास—केवल तीन बंदरगाहोंसे भेजी गयी हैं। दिसम्बर १९५३ में तो बम्बई बंदरगाहसे ही सात लाख तैंतीस हजारकी यानी गत वर्षके मासिक हिसाबसे तीन गुना अधिक ये चीजें गयी हैं। भारतमें कुल २२ बंदरगाह हैं, अन्य १९ के अङ्क अभी नहीं मिले हैं। मछलियोंके साथ और जहाज़-राशनके नामसे जो गोमांस ले जाया जाता है, वह इससे अलग है। ठीक तौरपर तो नहीं कहा जा सकता, पर अनुमान एक करोड़ रुपयेसे कम नहीं, वरं अधिक रुपयेका गोमांस आदि भारतसे निर्यात होता है।

इससे सहज ही अनुमान हो जाता है कि आज भारतमें कितना अधिक गोवध हो रहा है। इसीसे गत कुम्भ महापर्वके अवसरपर प्रयागमें सर्वसाधारणने चारों ओरसे रोते हुए हृदयसे गोवध बंद करनेके लिये पुकार की। बाहरसे पधारे हुए तथा स्थानीय विभिन्न महात्माओं, संतों, मण्डलेश्वरोंकी तथा अनेक संस्थाओंकी ओरसे बहुत-से 'गोरक्षा-सम्मेलन' हुए। सम्मेलनोंमें साधु-महात्मा, विद्वान्-पण्डित, धनी-गरीब—सभी मत-मतान्तरोंके साथ सभी श्रेणीके लोगोंने पूर्णरूपसे भाग लिया और सभीने एक मतसे शीघ्र-से-शीघ्र कानूनीरूपसे सर्वथा 'गोवध-बंदी' की माँग की तथा विविध उपायोंसे गोरक्षण, गो-संवर्धन और गोपालनके विषयमें विचार तथा निश्चय किया। गत माघ शुक्ल प्रतिपदा ता० ४ फरवरीको विभिन्न शिविरोंमें गोरक्षार्थ 'भगवत्प्रार्थना' की गयी और

संध्याके चार बजेतक उपवास-व्रतका पालन किया गया। सभी अन्नसत्र उस दिन चार बजेतक बंद रहे।

गोवध शीघ्र-से-शीघ्र बंद करनेके लिये एक प्रस्ताव-पर १११ प्रसिद्ध संत-महात्मा, साधु-संन्यासी, शंकराचार्य, मण्डलेश्वर-महंत, वैष्णवाचार्य तथा अन्यान्य सभी सम्प्रदायोंके संतों-विद्वानोंने हस्ताक्षर किये और प्रधान-मन्त्री माननीय पं० श्रीनेहरूजीसे एक प्रतिनिधिमण्डलने मिलकर उनके सामने यह हस्ताक्षरयुक्त प्रस्ताव तथा सारी परिस्थिति रक्खी। वर्तमान समयमें कितना अधिक गोवध हो रहा है तथा खाल एवं गोमांसका निर्यात किस तेजीसे बढ़ा है, इसके आँकड़े भी माननीय पं० श्रीनेहरूजीको दिये गये।

उत्तरप्रदेशके मुख्य मन्त्री माननीय पं० श्री-गोविन्दवल्लभजी पन्त तथा केन्द्रिय गृहमन्त्री माननीय डा० श्रीकैलाशनाथजी काटजूसे भी प्रतिनिधिमण्डल मिला।

हमें आशा है कि यदि हमारा यह शान्तिपूर्ण और अत्यावश्यक आन्दोलन जारी रहा और क्रमशः जोर पकड़ता गया तो भगवत्कृपासे वह दिन शीघ्र ही देखनेको मिलेगा जब कि भारत गोवधके कलङ्कसे छूट जायगा।

इस प्रयत्नको जारी रखनेके लिये स्थान-स्थानपर जोरोंसे प्रचार होना चाहिये, सम्मेलन होने चाहिये, गो-रक्षाके अन्य विविध उपायोंको भी सोचना चाहिये। अतः सब महानुभावोंसे अनुरोध है कि वे अपने यहाँ गो-सम्मेलन करें। होनेवाले सम्मेलनोंमें तन-मन-धनसे सहायता करें। गोरक्षा-आन्दोलनमें सब प्रकारसे योग दें और गो-माताके प्राण बचानेमें सहायक होकर अपने कर्तव्यका पालन करें। साथ ही इस सम्बन्धमें अपने सुझाव भेजनेकी कृपा करें।

समितिने निर्णय किया है कि शीघ्र ही पाँच लाख प्रतिज्ञा-पत्र भरवाये जायँ। प्रतिज्ञा-पत्र दो प्रकारके हैं जिनका नमूना नीचे दिया जाता है। जो सज्जन गौसे प्रेम रखते हैं वे कृपया १८ वर्षसे बड़ी आयुके बहिन-भाइयोंसे उन प्रतिज्ञा-पत्रोंपर हस्ताक्षर कराकर नीचे लिखे पतेपर भेजनेकी कृपा करें। प्रतिज्ञा-पत्रके छपे फार्म भी इसी पत्र लिखकर मँगवा लें।

पता—लाला हरदेवसहाय, संयोजक—'गोहत्या-निरोध-समिति, ३ सदर थाना रोड, दिल्ली ६'

(१)

सक्रिय गोसेवकके लिये प्रतिज्ञापत्र—

मैं गो-रक्षाके लिये निम्नलिखित प्रतिज्ञाएँ करता हूँ।

१. जबतक देशभरमें सम्पूर्ण गो-हत्या बंद न होगी, महीनेमें कम-से-कम एक दिन (सुदी अष्टमी) गोरक्षा-प्रचार तथा प्रत्यक्ष गोसेवाके लिये दूँगा।

२. गो-हत्या-निषेधके लिये जो आन्दोलन होंगे, उनमें सहयोग और सहायता दूँगा।

३. गो-हत्या बंद करानेके लिये बड़े-से-बड़ा बलिदान देनेको तैयार रहूँगा।

४. संसद्, एसेम्बली, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड आदिके चुनावोंमें अपना मत या वोट सम्पूर्ण गोवध-बंदी करवाने तथा गोपालनकी लिखित प्रतिज्ञा करने-वाले पक्ष, पार्टी या उम्मीदवारको ही दूँगा।

५. गो-सेवाका रचनात्मक कार्य करूँगा।

६. कसाई या अनजान ग्राहकके हाथ गाय न बेचूँगा।

७. गोदुग्धका ही व्यवहार करूँगा।

८. वध किये हुए गोवंशके चमड़े तथा इससे बनी चीजोंका व्यापार एवं व्यवहार न करूँगा।

९. वनस्पति घी, निर्घृत दुग्ध, चूर्ण, मूँगफलीका दूध, रासायनिक खाद, ट्रैक्टर आदि जिन चीजोंसे गोवंशको हानि पहुँचती है, उनका व्यवहार तथा व्यापार न करूँगा।

१०. अपने इष्ट तथा श्रद्धाके अनुसार नित्य भगवान्से गोरक्षाके लिये प्रार्थना करूँगा।

हस्ताक्षर

नाम पिताका नाम आयु

पूरा पता:—

(जो भाई-बहिन उपर्युक्त १० प्रतिज्ञा न कर सकें, वे निम्नलिखित आठ प्रतिज्ञाएँ करें—)

(२)

गोसेवकके लिये प्रतिज्ञापत्र—

मैं गोरक्षाके लिये निम्नलिखित प्रतिज्ञाएँ करता हूँ।

१. जबतक देशभरमें सम्पूर्ण गोहत्या बंद नहीं होगी, महीनेमें कम-से-कम एक दिन (सुदी अष्टमी) गोरक्षा-प्रचार तथा प्रत्यक्ष गोसेवाके लिये दूँगा।
२. गोहत्या-निषेधके लिये जो आन्दोलन होंगे, उनमें सहयोग और सहायता दूँगा।
३. संसद्, एसेम्बली, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड आदिके चुनावोंमें अपना मत या वोट सम्पूर्ण गोवध बंदी कराने एवं गोपालनकी लिखित प्रतिज्ञा करनेवाले पक्ष, पार्टी या उम्मीदवारको ही दूँगा।
४. गोसेवाका रचनात्मक कार्य करूँगा।
५. कसाई या अनजान ग्राहकके हाथ गाय न बेचूँगा।
६. वध किये हुए गोवंशके चमड़ेसे बनी चीजोंका व्यापार एवं व्यवहार न करूँगा।
७. अपने इष्ट तथा श्रद्धाके अनुसार नित्य भगवान्‌से गोरक्षाके लिये प्रार्थना करूँगा।
८. समय आनेपर बड़े-से-बड़ा बलिदान देनेको तैयार रहूँगा (जो सज्जन इसका पालन न कर सकें वे इसपर लकीर फेर दें)।

हस्ताक्षर

नाम पिताका नाम आयु

पूरा पता:—

गो-भक्त सज्जनों तथा देवियोंसे नम्र निवेदन है कि वे इन प्रतिज्ञापत्रोंके भरने-भरानेमें सहयोग दें तथा अन्य उचित और सम्भव सभी साधनोंसे गोमाताके प्राण बचानेमें यथासाध्य सब तरहकी सहायता करें*।

अनामी मानव

(लेखक—श्रीहरिनारायणजी व्यास)

गाड़ीकी घण्टी बजते ही सब अपना-अपना सामान सँभालने लगे। कोई अपने सामानको और बच्चोंको लेकर अच्छी जगह प्राप्त करनेके लिये आगे जाने लगे, तो कोई कुली ढूँढ़ने लगे। इसी शोरगुलमें धम-धम ध्वनिसे धरतीको धुजाती हुई एक्सप्रेसने स्टेशनमें प्रवेश किया। सभी अच्छी जगह पानेके लिये दौड़ने लगे। भीतरके मुसाफिर बाहर निकलने तथा बाहरके मुसाफिर भीतर घुसनेके लिये अपनी-अपनी शक्ति आजमा रहे थे। इस धूमधाम और भीड़-भाड़में उलझे हुए लोगोंके सामने एक बेंचपर बैठा एक मनुष्य दम फेंकता हुआ निर्निमेष नेत्रोंसे शान्तिपूर्वक देख रहा था।

कुछ समय यों बीता। इतनेमें 'टनन-टन' दो बार आवाज हुई और तुरंत गार्डकी सीटीने हाँफकर साँस लेती हुई गाड़ीको सावधान कर दिया। धीरे-धीरे गाड़ीने पुनः चाल पकड़ी और दौड़ने लगी। दौड़ती गाड़ीके पीछेसे दीखनेवाले चीतेकी आँख-जैसे लाल सिग्नलको वह मनुष्य देखता रह गया। गाड़ीके दूर निकल जानेपर उसकी नजर वापस लौटी और उसने श्वास छोड़ते हुए 'हूँ' कहकर उठनेका प्रयत्न किया। स्टेशनपर अब फिर सन्नाटा छा गया था। स्टेशनकी बत्तियाँ धीमी-धीमी जल रही थीं। बेंचपर पैर हिलाते ही उसने कुछ देखा और देखते ही वह स्तब्ध रह गया।

नीचे झुककर उसने उस वस्तुको उठा लिया। प्रकाशमें ले जाकर हाथ-बैगको देखते ही वह विचारमें पड़ गया। बड़ी कठिनतासे उसने बैगको खोला और देखते ही वह दंग रह गया। थोड़े-से कागजोंके बीचमें

* 'गोवध भारतका कलङ्क' नामक एक ३२ पृष्ठकी पुस्तक गीताप्रेससे प्रकाशित हुई है। इससे सम्पूर्ण जानकारी हो जाती है। इस पुस्तकको हजारों-लाखोंकी संख्यामें मँगवाकर पढ़ना और वितरण करना चाहिये। मूल्य केवल दो पैसा है।

सौ-सौ रुपयेके नोट थे। विचारोंमें कुछ चेतनता आते ही वह बोला—'अरे, यह स्वप्न तो नहीं है ?' नोट गिननेपर पूरे सत्रह हजार थे। 'सत्रह हजार' कहते उसका श्वास अटक गया। उसने फिर वैसे ही बंडल बाँधकर नोटोंको बैगमें रख दिया। उसका मन फूला नहीं समा रहा था। चञ्चल मन झूलेपर चढ़कर कुछ मीठी-मीठी कल्पना करने लगा। परंतु अचानक उसके अन्तरसे आवाज आयी—'जिसके खोये हैं, उस बेचारेको कितना दुःख हो रहा होगा।' बस, इस आवाजने उसको जाग्रत् कर दिया। उसने आस-पास देखा। वहाँ कोई नहीं था। वह तुरंत पुलिस-आफिसकी तरफ दौड़ा। परंतु फोन किसे किया जाय? और पुलिसका भी क्या भरोसा? किसीपर भी विश्वास-भरोसा न आनेपर वह दूसरी गाड़ीकी बाट देखने लगा। दूसरी गाड़ी रातको बड़ी देरमें आयी। उसने दरवाजोंके समीप जा-जाकर बड़ी बारीकीसे मुसाफिरोंके मुँह देखे। अन्तमें वह लॉजमें लौट आया। दूसरे दिन उसे घर जाना था, काम भी पूरा हो गया था। परंतु 'बेचारेको कितना दुःख हो रहा होगा' इस विचारने उसका घर जाना स्थगित कर दिया। दूसरे दिन भी वह दिनभर स्टेशनपर भटकता रहा। रातको भी हरेक गाड़ीके मुसाफिरोंको देखता रहा, परंतु किसीका पता नहीं लगा। दूसरा दिन भी बीत गया।

उसके पास खर्चके लिये आवश्यक पैसे नहीं थे। रुपयेकी बड़ी भारी तंगी थी। सिरपर दस हजारका ऋण था। प्रतिवर्ष पाँच सौ रुपये ब्याजके देने पड़ते थे और बहिन-भाइयोंके विवाह करने थे। इस आर्थिक स्थितिने उसे घरकी ओर जानेके लिये प्रेरित किया। पर 'वह बेचारा' याद आते ही उसका चञ्चल मन रुक जाता। इस कठिन परिस्थितिमें उसने तीसरा दिन भी बड़ौदामें बिताया। प्रत्येक गाड़ीको खूब बारीकीसे देखकर उलटे-सीधे भटककर दम छोड़ता हुआ वह उसी बेंचपर आकर बैठ गया। मुसाफिरोंकी ओर बार-बार देखता हुआ वह धीरज तथा विश्वासके साथ वहीं बैठा रहा। उसके मनमें विश्वास था कि जिसकी बैग यहाँ छूटी है, वह वहाँ आयेगा ही।

सुनसान रात्रि आगे बढ़ी चली जा रही थी। धीमी रोशनीमें मुसाफिर लोग गाड़ीकी राह देखते इधर-उधर फिर रहे थे। इसी समय एक मुसाफिर 'हे राम' कहकर उस बेंचपर आ बैठा। उसके शब्दोंमें घोर निराशा और निरा निरुत्साह भरा था। मुखका तेज भी उड़ गया था। सिरके बाल अस्तव्यस्त होकर कपालको चूम रहे थे और पुनः स्फूर्ति लानेके लिये मानो यत्न कर रहे थे। कपालपर पसीनेकी बूँदें झलक रही थीं। हाथसे पसीना पोंछता हुआ 'हे राम' कहकर उसने दूसरी करवट ली। वह मनुष्य यह सब सजग नेत्रोंसे देख रहा था। कदाचित् यही न हो ?'

कुछ देर विचार करके उसने उस मुसाफिरसे पूछा—'क्यों भाई, क्या बीमार हो ? पेटमें कुछ हो रहा है ?

यह सुनकर उस निराश पथिकने अपनेको 'भाई' कहकर सहानुभूति दिखानेवाले मनुष्यकी ओर सिर उठाकर देखा।

'क्यों भाई! सिर दुखता है ?' यों कहकर वह मनुष्य मुसाफिरके समीप आ गया। उसने माथेपर हाथ रक्खा। उसका हाथ तप गया। ज्वरसे मुसाफिर-का शरीर अकल-विकल हो चुका था।

'भाई, जल पीना है ? लो, मैं लाता हूँ·······' यों कहकर वह मनुष्य जल लानेको उठा; इतनेमें हाथ बढ़ाकर—

'ना, ना, भाई! अब जल पीने-जैसा यहाँ क्या बच रहा है ? अब तो भगवान्‌के घर ही पीना है।'

'अरे मेरे भाई! यों क्या बोल रहे हो ? तुम-जैसे बीमारी भोगते हुए पुरुषकी सेवा करना तो सभीका

कर्तव्य है। इतनी बुखारमें तुम बाहर क्यों निकले? चलो, घोड़ागाड़ी भाड़े कर दूँ?'

'भाई! तुम इतना प्रेम दिखला रहे हो, यही क्या कम है? अब मेरे लिये तो घर जाने-जैसा कुछ रह ही नहीं गया। फिर घर जाकर क्या करूँ?' 'हे राम' यों कहकर उसने लंबी साँस ली।

उस मनुष्यने मुसाफिरकी ओर देखा तो उसकी आँखोंमें आँसू उमड़ रहे थे। मुखपर दुःखकी रेखाएँ उमड़ आयी थीं।

'परंतु भाई! इन लंबी साँसोंसे क्या होगा? सबके कर्ता-हर्ता तो ईश्वर हैं। वे सब अच्छा ही करेंगे। तुम उनपर श्रद्धा रक्खो। कोई भारी दुःख तो नहीं आ पड़ा है न?'

मुसाफिरने इधर-उधर देखकर दृष्टि स्थिर की और बेंचपर हाथ टेककर कहा—'भले आदमी! तुमको बतानेसे क्या लाभ है? अब तो मेरी इज्जत धूलमें मिलनेवाली है! भगवान् छुटकारा कर दें, तभी ठीक है।'

'परंतु भाई! यों व्याकुल होनेसे ही क्या मिलनेवाला है? भगवान्में विश्वास रक्खो, वही सबके भीर-भंजन हैं।'

'भाई! तुम इतनी बात पूछ रहे हो और सहानुभूति दिखा रहे हो, इससे मुझे बताना पड़ता है·······'

'हाँ, हाँ····शान्तिसे बताओ····मुझसे बनेगी तो मैं भी मदद करूँगा।'

जरा खँखारकर और स्वस्थ होकर मुसाफिरने बात आरम्भ की—'देखो, बात ऐसी है कि दो दिन पहले मैं इसी बेंचपर बैठा था। मेरे साथ कुछ सामान था। मैं सामान गाड़ीमें रखाने गया। अपने हाथ-बैगको इसी बेंचपर भूल गया। सामानकी व्यवस्था करनेमें बैगकी याद नहीं रही। दो दिनसे खोज रहा हूँ, परंतु कहीं पता नहीं चलता। मेरे मालिकके सत्रह हजार रुपये उसमें थे। अब बताओ भाई! मेरे लिये जल पीनेको क्या बाकी रह गया है?'

'बात तो आपने बड़ी कही भाई, पर खोजते रहो, सच्चे पैसे होंगे तो दरवाजा खटखटाते हुए आ जायँगे। भगवान्में श्रद्धा रक्खो।'

'अरे भले आदमी! श्रद्धा क्या रक्खूँ! दो दिन तो बीत गये, कहीं पता नहीं चला। रुपयोंसे मेरा कोई लेन-देन नहीं है, परंतु यदि मालिकके रुपये खो गये तो मेरे लिये तो मौत आ ही गयी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पैर दुखने लगे। अब कहाँ मिलनेको हैं? जिसको मिले होंगे उसका तो दरिद्र कट गया, परंतु मेरी दुर्दशा हो गयी! हृदयमें राम होगा तो वापस लौटा देगा, नहीं तो····' इतना कहकर 'हे राम!' यों लंबी साँस लेकर वह बेंचकी पीठपर फिसक गया।

कुछ समय यों बीता। वह मनुष्य उठकर मुसाफिरके पास गया और उसके सिरपर हाथ फेरता हुआ बोला—'और भाई, वापस मिल जायँ तो?'

'हैं, हैं! क्या कहा? वापस मिल जायँ तो? तो भगवान्की दयाके सिवा और क्या है?' यों कहकर 'हे राम' बोलकर फिर बेंचकी पीठपर पड़ गया।

'अच्छा तो तुम कुछ देर यहीं बैठो। मैं आध घंटेमें लौटकर आता हूँ।' यों कहकर वह मनुष्य चला गया।

वह लाँजमें जाकर बैग लेकर लौटा। मुसाफिर निराश और खिन्न मुखसे ज्यों-का-त्यों वहीं बैठा था। बीच-बीचमें उसके मुखसे 'हे राम' शब्द सुनायी दे जाता था।

बेंचके पास आकर वह मनुष्य कुछ क्षण रुक गया और फिर बोला—'लो भाई! यह तुम्हारी·······'

'हैं, हैं! क्या कहा? हाथ-बैग····'यों उसने एक ही साथ प्रश्नोंकी झड़ी-सी लगा दी। वह आदमी बेंचपर बैठ गया और सत्रह हजारके नोट देते हुए बोला—'लो भाई, गिनकर देख लो। सत्रह हजार हैं न?'

मुसाफिरने रुपये गिन लिये और बैगमें रखकर वह मुग्ध-नेत्रसे उस मनुष्यकी ओर ताकता रह गया, फिर बोला—

'रुपये तो पूरे हैं परंतु तुम कौन हो?' यों कहकर उत्तरकी प्रतीक्षामें वह उसकी ओर ताकता रहा।

'मैं ! मैं कोई नहीं, केवल एक मानव हूँ ।'

'अरे भले आदमी ! मैं यह पूछ रहा हूँ कि तुम्हारा नाम क्या है ?'

'नाम जानकर क्या करोगे ? मैं 'मनुष्य' हूँ, इतना ही बस है ।'

'पर तुम्हारा नाम-गाँव बता दो तो ठीक'

'मेरा नाम-ग्राम ?' यों प्रश्न करके उसने कहा—'सारा विश्व ही मेरा ग्राम है ।'

'भले आदमी ! तुम बड़े विचित्र मालूम होते हो। अच्छा, नाम न बताना हो तो कोई बात नहीं, परंतु लो ये हजार रुपये ईनामके ।'

इतना सुनते ही उस आदमीकी आँखें फिर गयीं। चक्राकार गोल फिरती हुई आँखोंको स्थिर करके उसने कहा—

'अरे भाई ! तुमने मेरी इतनी ही कीमत आँकी ? केवल एक हजार ? ये सत्रह हजार रुपये कुछ ही मिनटों पहले तुम्हारे कहाँ थे ? लेने ही होते तो पूरे न लेता ? देनेवाला तो मेरा भगवान् है । कोई क्या देगा ? सच्चा पैसा ही टिक सकता है, विना पसीनेका पैसा घड़ीभर भी नहीं टिकता । अच्छा तो लो···· अब राम-राम····' इतना कहकर वह 'अनामी मानव' कहीं चल दिया । उसके पैरोंकी धमकसे निकलनेवाला मानवताका मधुर स्वर भीषण अन्धकारका भेदन करता हुआ दूर-दूरतक फैल गया । मुसाफिरने ऊपरकी ओर देखा तो आकाशमें तारे मृदु मुसकरा रहे थे । इसके हृदयने पुकारा—'हे राम········'

(अखण्ड आनन्द)

समाजमें धर्मके नामपर पाप

एक पत्र मिला है । लेखक शिक्षित पुरुष हैं । वे अपने एक मित्रके सम्बन्धमें लिखते हैं कि 'मेरे एक मित्र एक हरिभक्त एवं आदरणीय महात्माके शिष्य हैं । उनके गुरु वस्तुतः बड़े ही हरिभक्त एवं आदरणीय हैं । उन महात्माके नियम वास्तवमें इस कलिकालमें बड़े ही कठोर हैं, जो कतिपय महात्माद्वारा ही पूरे हो सकते हैं—जैसे द्रव्य न छूना, किसी भी व्यक्तिके यहाँ जबतक कम-से-कम छः घंटे हरिकीर्तन न हो, भोजन ग्रहण न करना आदि । ××× महात्मा गुरु मेरे मित्रके घर आये हैं । हमारे धर्म-ग्रन्थोंके अनुसार शिष्यका तन-मन-धन—सर्वस्व गुरुका होता है । गुरु स्वयं भगवान्का स्वरूप है । गुरुकी आज्ञा सब प्रकारसे शिरोधार्य करनी चाहिये ।'

पत्रमें आगे चलकर वे सज्जन लिखते हैं कि 'गुरुकी इच्छा हमारे मित्रकी पत्नीके साथ········करनेकी है । ××× मेरे मित्रने ऐसे शब्द कहे जिससे इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता ।'

तदनन्तर उन सज्जनने कुछ प्रश्न किये हैं, उन प्रश्नोंको उत्तरसहित नीचे दिया जाता है—

प्रश्न (१) 'ऐसी कौन-सी वजह है जिसके कारण इतने ऊँचे महात्माकी बुद्धि इस ओर अग्रसर हो रही है ?'

उत्तर (१) ऐसी बुद्धिवाले व्यक्तियोंको महात्मा मानना ही भूल है । किसी सच्चे महात्मामें ऐसी दुर्मति हो ही नहीं सकती । इसकी वजह तो मनकी दुर्वासना ही है ।

प्रश्न (२-३) 'मेरे मित्रको क्या करना चाहिये, क्या उन्हें अपनी पत्नीको महात्माजीके साथ············ करनेकी आज्ञा दे देनी चाहिये ?' 'उनकी पत्नी भी महात्माजीकी शिष्या है । उसे महात्माकी आज्ञा माननी चाहिये या नहीं ?'

उत्तर (२-३) ऐसी आज्ञा कभी नहीं माननी चाहिये । वरं जो व्यक्ति अपनी शिष्याके प्रति इस प्रकार दुर्भाव रखता हो, उसके साथ कोई भी सम्पर्क नहीं रखना चाहिये । आपके मित्रको चाहिये कि वे इस भ्रमको छोड़ दें कि ऐसे गुरुको तन-मन-धन—सर्वस्व अर्पण करना चाहिये या ऐसे गुरु भगवान्के स्वरूप हैं । भोले-भाले लोगोंके धन-धर्मको हरनेके लिये ही इस

प्रकारका विश्वास धूर्तलोग उनके मनोंमें बैठा देते हैं और फिर उनकी श्रद्धाका अनुचित लाभ उठाकर अपनी दुर्वासनाकी पूर्ति करते हैं। उन्हें अपनी पत्नीको समझा देना चाहिये कि वे इन गुरुके साथ तो किसी भी प्रकार-का सम्पर्क रक्खें ही नहीं, भविष्यमें भी पतिको या परमात्माको छोड़कर न किसीको भी गुरु बनावें और न किसी भी परपुरुषसे एकान्तमें कभी मिलें ही! चाहे वे कितने ही बड़े महात्मा या महापुरुष कहे जाते हों।

प्रश्न (४-५-६-७-८) 'महात्माजीका और मेरे मित्र-का सम्बन्ध आगेके लिये क्या रह जाता है?' 'धर्मशास्त्र इस विषयमें क्या कहते हैं?' 'आपकी व्यक्तिगत राय क्या है?' 'अन्य महात्माओंका क्या आदेश है?' 'क्या इस प्रकारका प्रश्न पहले किसी शिष्यके सामने आ चुका है?'

उत्तर (४ से ८) महात्माजीसे वही सम्बन्ध रहेगा, जो मनुष्यसे मनुष्यका रहना चाहिये। उनका बुरा न चाहना, द्वेष न करना, बल्कि हित चाहना तथा भूखे हों तो भोजन देना। हो सके तो उन्हें सन्मार्ग-पर लानेका प्रयत्न भी करना, परंतु जैसे छूतके रोगसे आदमी डरता है और अपनेको अलग रखता है, वैसे ही उनसे सर्वथा अलग रहना।

धर्मशास्त्रकी राय तो यह है कि ऐसे गुरु-महात्मा स्वयं भीषण नरकमें जाते हैं और इनकी आज्ञा मानने-वाले नर-नारियोंको भी नरकोंकी भयानक यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। ऐसे लोगोंको महात्मा मानना और उनके महात्मापनका प्रचार करना भी पापके प्रचार-प्रसारमें सहायक होता है।

यही मेरी व्यक्तिगत राय है।

कोई भी सच्चा-महात्मा इस प्रकारके महापापके प्रतिकूल ही आदेश देगा। पापका समर्थन और पापमें प्रवृत्ति तो महात्माओंके द्वारा होती ही नहीं।

इस प्रकारके प्रश्न बहुत जगह आये हैं, आ सकते हैं। ज भोले लोग मिथ्या श्रद्धाके वशमें होकर इन लोगोंके चंगुलमें फँस जाते हैं, उनका जीवन तथा लोक-परलोक नष्ट हो जाता है। जो सावधानीसे बच जाते हैं उनका सद्भाग्य तथा सत्पुरुषार्थ मानना चाहिये।

प्रश्न (९-१०) 'गुरु बनाते समय सच्चे गुरुकी पहचान कैसे करनी चाहिये?' 'गुरु बिना क्या भगवान् प्रसन्न नहीं होते?'

उत्तर (९-१०) इस प्रकार गुरु बनानेकी आवश्यकता ही नहीं है। गुरु भगवान्को बनाना चाहिये और आजकलके युगमें तो गुरु बनाना बड़े धोखेकी चीज हो गया है। भगवान्की प्रसन्नताके लिये भक्ति, सदाचार, सद्गुणकी आवश्यकता है। किसी गुरुकी नहीं। वरं ऐसे गुरु तो भगवत्प्राप्ति या भगवान्की प्रसन्नताप्राप्तिमें उलटे बाधक ही होते हैं।

प्रश्न (११-१२) 'यदि मेरे मित्र एवं उनकी पत्नी महात्माजीकी आज्ञाका पालन न करें तो उन्हें क्या करना चाहिये.........?' 'आज्ञा-पालन न करनेपर महात्माजी नाराज हो जायँ तो क्या करना चाहिये; क्योंकि गुरुकी नाराजगी भगवान् भी दूर नहीं कर सकते?'

उत्तर (११-१२) आपके मित्र और उनकी पत्नीको महात्माजीसे साफ कह देना चाहिये कि हम इसे पाप समझते हैं और आपको भी यही राय देते हैं कि इस प्रकारकी दुष्प्रवृत्तिको आप छोड़ दें। इन महात्माजीको घरमें नहीं ठहराना चाहिये। पापकी आज्ञा न पालन करनेमें भगवान् प्रसन्न होते हैं, नाराज नहीं और बात न माननेपर ऐसे महात्माकी नाराजीसे कोई डरकी बात नहीं है, वस्तुतः डरकी बात तो इनकी ऐसी आज्ञा माननेमें ही है।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर इसीलिये छापे गये हैं जिसमें और लोग भी सावधान हो जायँ। इसका यह अभिप्राय कभी नहीं है कि सभी साधु-महात्मा धूर्त, दुराचारी और पापी हैं। बहुत-से सच्चे-सदाचारी महात्मा हैं, बड़े ऊँचे महापुरुष हैं, जिनका सङ्ग हमलोगोंके लिये परम लाभ-की वस्तु है और भगवान्की कृपासे ही वैसे महात्माओं-का सङ्ग मिलता है। ऐसे अनेक संत साधक भी हैं जो

बड़े सदाचारी, तपस्वी और आध्यात्मिक उन्नतिमें संलग्न हैं। वस्तुतः आज समाजके आचारका स्तर ही बहुत गिर गया है। साधु, महात्मा, भक्त या साधक कहलानेवाले लोग भी समाजमेंसे ही आते हैं। जैसा समाज होता है वैसे ही व्यक्ति भी होते हैं। आज सारे समाजकी ही दुर्दशा है। इसीलिये इस युगमें गुरु बनानेका, खास करके स्त्रियोंके लिये, इतना विरोध करना आवश्यक हो गया है। किसीके वेषको, आँसुओंको, नाच-गानको, द्रव्य न छूनेको तथा बाहरके तपस्वी-रूपको देखकर उसे महात्मा मानकर अपनेको नहीं सौंप देना चाहिये। आजकल धोखा अधिक है, सचाई कम है।

अभी एक पत्र और मिला है—जिसमें लिखा है 'एक आदमी अपनेको भगवान्‌का तुच्छ सेवक बतलाता था, अपने-आपको सिद्ध-महात्मा साबित करता था। लोगोंके सामने बड़ी नम्रता और अदबसे पेश आता था, बहुत कम बोलता था, जगह-जगह सत्सङ्गोंमें जाता—कीर्तन करता। हारमोनियम और तालपर बड़े रोचक ढंगसे भजन गाता था। अपनेको स्वामी·······महाराजका सहपाठी बतलाता था। × × × उसको अच्छा पढ़ा-लिखा और महात्मा समझकर·······ठाकुर साहेबने अपने बड़े मन्दिरकी पूजाका भार उसपरकी जमीन-जीविकासहित दे दिया।···········वही उसी स्थानकी एक पुरोहितकी लड़कीको लेकर कहीं चला गया·······।'

बड़े-बड़े तपस्वी मुनि भी सङ्ग-दोषसे पतित हो जाते थे तो आजकलके इन्द्रियोंके वशवर्ती रहनेवाले दुर्बल-हृदय प्राणियोंका पतित हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। कुछ लोग सचमुच साधना करते हैं, परंतु साधनकी स्थितिमें ही अपनेको सिद्ध-महात्मा घोषित कर देते हैं और अबाधरूपसे स्त्रियोंके समुदायमें रहने लगते हैं तथा सङ्ग-दोषसे उनके दबे दोष उभड़ पड़ते हैं जो उनका पतन कर देते हैं। अतएव साधु-साधकोंसे तथा साधक भक्तोंसे भी हमारा यह नम्र अनुरोध है कि वे कुसङ्गसे सर्वथा बचें। धन और स्त्रीका सङ्ग उनके लिये बहुत ही बुरा है, इस बातको सदा याद रक्खें और जो माता-बहिनें उनके पास अपनी इच्छासे जाती हैं अथवा जो गृहस्थ सज्जन हरेक साधु-संत या भक्तके पास अपने घरकी युवती बहू-बेटियोंको एकान्तमें जाने देते हैं वे तो बड़ी भारी भूल करते हैं और अपने तथा उन साधु-संत या भक्तके पतनमें कारण बनकर दोनोंका अनिष्ट-साधन करते हैं!

इस तरहकी गंदी बातें प्रकाशित करनेयोग्य नहीं हैं, परंतु लोगोंको सावधान करनेके लिये प्रकाशित करनी पड़ीं।

कामके पत्र

(१)

भगवान्‌में सब कुछ मौजूद है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपने लिखा, कुछ साल पहले हम कामान्ध हो गये थे, उससे शरीर बहुत क्षीण हो गया है और स्मृति बिल्कुल नष्ट हो गयी है·····'आदि। यह कटु अनुभव आपको प्रत्यक्ष हुआ, जिसके लिये शास्त्र युगोंसे सावधान करते आ रहे हैं। पर इतने कटु अनुभवके बाद भी आपका मन विषय-चिन्तनकी ओरसे हटना नहीं चाहता, एकाग्र नहीं होता—यही है कामकी दुर्जय शक्ति और यही है भुवनमोहिनी मायाकी विचित्र लीला। आजसे हजारों वर्ष पूर्व महाराज ययातिने भी ऐसा ही अनुभव प्राप्त किया था। वे विषयभोगसे विषय-तृष्णाका दमन करना चाहते थे। जीवनमें यह प्रयोग करके उन्होंने देखा, किंतु अन्तमें निराशा ही हाथ लगी। वे इस परिणामपर पहुँचे कि विषयोंका उपभोग विषयेच्छारूपी अग्निको प्रज्वलित करनेमें घीका काम करता है। इस अनुभवके बाद वे उधरसे हट गये। शेष जीवन उन्होंने भगवान्‌की आराधनामें बिताया। इससे वे परम कल्याणके भागी हुए। आपको भी मैं यही सलाह दूँगा। भगवान्‌के प्रति अपने मनमें आकर्षण पैदा कीजिये। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—ये सभी विषय अनन्त और दिव्यातिदिव्य रूपमें भगवान्‌में मौजूद हैं। आप अपने मनसे कहिये, वह भगवान्‌की ओर लगे, उन्हींका चिन्तन करे। वहाँ एक ही जगह उसे सब कुछ मिल जायगा। सब कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी। आजकलका समय देखते हुए तो यही मार्ग निरापद जान पड़ता है।

आप चाहते हैं वीर्यकी ऊर्ध्वगति हो, आपके मनमें

ऊर्ध्वरेता बननेकी साध है; किंतु आप समयपर चूक गये हैं। योग-साधनका सबसे बड़ा सहारा है—ब्रह्मचर्य—वीर्यका संरक्षण। किंतु उसीपर आपने तुषारपात कर दिया है। पता नहीं, आपकी अवस्था अब क्या है और आपने जीवनका कितना समय कामान्धतामें बर्बाद किया है। यह जाननेपर ही कोई उपयोगी सलाह दी जा सकती थी। ऊपर जो परामर्श दिया गया है, वह सबके लिये सभी अवस्थाओंमें परम मङ्गलदायक है। भगवान् कहते हैं, पहलेका कितना ही दुराचारी क्यों न हो, जो अनन्यभाक् होकर भजन करता है, वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसने उत्तम निश्चय कर लिया है। अब उसके राहपर आनेमें—धर्मात्मा बननेमें देर नहीं है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।'

योग-विद्या और कुण्डलिनी-शक्तिको जगानेकी विधि मुझे मालूम नहीं है। न मैं किसी अनुभवी योगी अथवा प्रामाणिक योगाश्रमका ही पता जानता हूँ। अतः इस विषयमें आपको कोई राय नहीं दे सकता। आप संसारमें रहकर निवृत्तिमय जीवन बिताना चाहते हैं तो भगवान्‌की शरण ग्रहण कीजिये। यही मङ्गलमय और निष्कण्टक मार्ग है।

शेष भगवत्कृपा।

(२)

कुछ महत्त्वके प्रश्नोत्तर

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः निम्नलिखित है—

रावण भगवान् शङ्करका भक्त था। अहंकार छोड़कर उनकी शरणमें गया था, इससे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उसे अतुलित शक्ति प्रदान की थी। उसी शक्तिसे वह सर्वत्र विजयी हुआ तथा कैलास पर्वतको भी उठानेमें समर्थ हो सका। परंतु जब उसके मनमें अपने बलका अभिमान हो आया, तब भगवान् शिवकी अहैतुकी करुणाको वह भूल गया। इससे उसकी सारी शक्ति जाती रही। भगवान्‌ने तनिक-सा अँगूठा दबाया और वह धँसकर पातालमें चला गया। महिम्नःस्तोत्रमें भी इस प्रसङ्गका उल्लेख हुआ है—

'अलभ्या पातालेऽप्यलस चलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः।'

इससे यह सिद्ध होता है कि रावणमें स्वतः कोई शक्ति नहीं थी, भगवान्‌ने ही कृपा करके वह शक्ति दी और जब-जब जहाँ-जहाँ उचित समझा, तब-तब तहाँ-तहाँ रावणमें उस शक्तिको प्रकट किया और जहाँ नहीं उचित समझा, वहाँ उसकी शक्तिको तिरोहित कर दिया। राजा जनकका धनुष भगवान् शङ्करका ही धनुष था। रावण जगज्जननी जानकीसे विवाहकी इच्छा लेकर धनुष उठाने और तोड़ने आया था। अपने आराध्यदेवकी आह्लादिनी शक्ति सीताके प्रति उसका ऐसा अनुचित भाव देखकर भगवान् शिवने उस समय उसकी शक्तिको तिरोहित कर दिया, इसलिये वह उस धनुषको तोड़ना तो दूर रहा, उठा भी नहीं सका।

दक्षिणकी ओर पैर और उत्तरकी ओर सिरहाना करके सोनेसे मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका ध्रुवकी ओर आकर्षण होता है, इससे आयु क्षीण होती है, शरीरमें निर्बलता आती है और शिरोरोग आदिका भी डर रहता है। असाधारण रोगकी अवस्थामें जब जीवनकी आशा नहीं रहती, तब रोगीको उत्तरकी ओर सिर करके इस उद्देश्यसे सुलाते हैं कि उसका आकर्षण ऊर्ध्वलोककी ओर हो। उस समय ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है।

आप पूछते हैं, 'क्या आजकल भारतकी स्त्रियाँ पाँच पति बना सकती हैं?' इस तरहका प्रश्न आजकलके मन-चले लोगोंके मस्तिष्ककी उपज है। आजकल ही नहीं, कभी भी भारतकी स्त्रियोंमें एकसे अधिक पति बनानेकी दूषित प्रथा नहीं देखी जाती। आदिशक्ति जगन्माता लक्ष्मी, ब्रह्माणी तथा पार्वतीने एक ही पतिको आत्म-समर्पण किया। भारतकी नारीने जिसे एक बार हृदयमें स्थान दिया, उसीपर सदाके लिये वह निछावर हो गयी। दूसरा कोई कितना ही उत्कृष्ट पुरुष क्यों न हो, उसकी ओर आँख उठाकर—उसने देखातक नहीं। उसकी तो यह अटल प्रतिज्ञा रही—

'बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।'

सावित्रीने सत्यवान्‌को हृदय प्रदान किया था, फिर यह ज्ञात होनेपर भी कि उनकी आयु केवल एक वर्ष ही शेष है, उसने दूसरे पतिसे विवाह करना अस्वीकार कर दिया। प्राचीन कालमें जहाँ द्रौपदी-जैसे एक-आध उदाहरण ऐसे मिलते हैं, वहाँ उस समयकी परिस्थितिपर दृष्टिपात करनेपर शङ्काके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। ये उदाहरण अपवादमात्र बनकर रह जाते हैं। द्रौपदीके विवाहकी घटना जो महाभारतमें वर्णित है, उसे पढ़नेसे पता लगता है कि तत्कालीन जन-समाजमें इस विवाहका बड़ा विरोध हुआ,

स्वयं महाराज द्रुपद भी इस तरहके विवाहके बड़े विरोधी थे, किंतु व्यासजीने जब प्रबल कारण दिखलाये तो भावीके सामने उन्हें नतमस्तक होना पड़ा । मार्कण्डेयपुराणमें स्पष्ट बताया गया है कि द्रौपदी शचीके अंशसे अवतीर्ण हुई थीं और पाँचों पाण्डव इन्द्रके ही अंशविशेषसे प्रकट हुए थे; अतः इनका पूर्व सम्बन्ध ही उस समय भी स्थिर हुआ । इतना होनेपर भी यह अपवादमात्र घटना है । भारतकी अन्य स्त्रियोंने कभी इस प्रकारके विवाहको प्रोत्साहन नहीं दिया । धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे तो एकाधिक पतिका वरण नारीके लिये महान् पाप है ।

मनुष्यकी जिस विषयमें अधिक रुचि है, जिसको देखने-सुनने या पानेके लिये वह अधिक उत्सुक रहता है, वह विषय सामने आनेपर वह बड़ी चाह और उत्साहसे उसको ग्रहण करता है, ऐसा करनेमें उसे रस मिलता है, अतएव उसे वहाँ नींद नहीं आती । किंतु जिस ओर हृदयका आकर्षण नहीं है अथवा जिसमें उसे रस नहीं आता, ऐसा प्रसङ्ग सामने आनेपर उसे नींद सताने लगती है । इसके सिवा आलस्य, तमोगुणी वस्तुओंके सेवन तथा अधिक श्रम या जागरणके कारण भी नींद आती है । जिन्हें सिनेमामें नींद नहीं आती और रामायण-कथा सुननेमें नींद आती है, उनके लिये ऊपर बताया हुआ कारण ही लागू होता है, ऐसा समझना चाहिये ।

लहसुन-प्याज आदि वस्तुएँ सभीके लिये निषिद्ध हैं, विद्यार्थियोंको तो विशेषरूपसे इनका त्याग करना चाहिये । जैसे शुद्ध स्वच्छ दर्पणमें ही स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें ही ज्ञानका अधिक प्रकाश होता है । विद्यार्थी ज्ञानका उपार्जन करता है । इसमें सफल होनेके लिये यह आवश्यक है कि उसका हृदय—उसकी बुद्धि शुद्ध हो । तन-मन और बुद्धिपर आहारका बहुत प्रभाव होता है । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होता है । इसलिये विद्यार्थीके ब्रह्मचर्य-पालनपर अधिक जोर दिया गया है । ब्रह्म शब्द वीर्य, वेद तथा परमात्माका वाचक है । इन तीनोंका क्रमशः धारण, मनन तथा चिन्तन ही ब्रह्मचर्य है । वीर्यधारणसे मस्तिष्क शुद्ध एवं पुष्ट होता है, जिससे सूक्ष्म एवं दुर्बोध विषय भी सरलतासे हृदयङ्गम हो जाता है । सात्त्विक आहारके सेवन, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन तथा साधु पुरुषोंके सङ्गसे ही मनमें त्त्विकभाव उदय होता है । इससे चित्तमें शान्ति एवं आनन्द रहता है । सात्त्विक हृदयसे ही ज्ञानोपार्जन एवं सात्त्विक कर्ममें सफलता मिलती है । लहसुन, प्याज आदि वस्तुएँ तामसिक हैं, इनके सेवनसे आलस्य, निद्रा, प्रमाद आदि तमोगुणी भावोंका उदय होता है । इतना ही नहीं, ये वासनाको उद्दीप्त करनेवाले पदार्थ हैं । इनके द्वारा मनमें विकार पैदा होता है, जिससे मनुष्यका पतन हो जाता है । गीता अध्याय १७ के श्लोक ९, १० के अनुसार लहसुन, प्याज आदि तामस तथा मिर्चा आदि राजस भोजन हैं । ये अज्ञान और दुःख-क्लेश आदिकी वृद्धि करनेवाले हैं, अतः आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले सभी लोगोंको इनसे बचना चाहिये ।

हनुमान्‌जी अखण्ड ब्रह्मचारी थे । उनके कोई पुत्र नहीं था, परंतु उनके विषयमें यह किंवदन्ती प्रचलित है कि जब हनुमान्‌जी लङ्का जलाकर लौट रहे थे तो उन्होंने अपने शरीरके पसीनेको पोंछा, वह पसीना समुद्रमें गिरा और उसे एक मछली चाट गयी, उस मछलीके पेटसे एक बलवान् वीर पुरुष प्रकट हुआ, जो पातालवासी महिरावणके यहाँ द्वारपालका कार्य करता था । उसका नाम मकरध्वज था । सम्भव है कल्पान्तरमें ऐसा हुआ हो और सच्ची बात हो ।

द्रौपदी दिव्य शक्तिसम्पन्ना देवी थीं, उनमें आद्या शक्तिका आवेश हुआ करता था, उन्हें साक्षात् लक्ष्मीके तुल्य बतलाया गया है । ऐसे समयमें युधिष्ठिरके द्वारा उनकी सेवा होना अस्वाभाविक नहीं है ।

शिखण्डी पहले स्त्री ही था । एक दिन वह वनमें चला गया । वहाँ एक यक्षसे उसकी भेंट हुई । यक्षने अपना पुरुषत्व उसे देकर उसका स्त्रीत्व स्वयं ले लिया । दिव्य शक्तिसम्पन्न पुरुषोंके द्वारा ऐसा कार्य होना असम्भव नहीं है ।

जो जन्मसे ब्राह्मण हैं, उन्हें ब्राह्मण ही कहा जायगा । यदि उनमें ब्राह्मणोचित कर्म नहीं है तो अथवा वे अब्राह्मणोचित कर्म करते हैं तो उनको कर्मभ्रष्ट ब्राह्मण कह सकते हैं । उन्हें वह सम्मान नहीं मिल सकता, जो कर्मनिष्ठ ब्राह्मणको प्राप्त होना चाहिये ।

अर्जुन भगवान् नारायणके नित्य सखा 'नर' के अवतार थे । उनकी मैत्री नित्य सिद्ध थी । वे भगवान्‌की आज्ञामें अपनेको निछावर कर चुके थे, इसीलिये उन्हें इतना गौरव प्राप्त हुआ ।

महारथी कर्ण बलवान् तो थे ही, कुछ दिव्य अस्त्रोंके द्वारा अजेय भी थे। परंतु जिसके रक्षक भगवान् श्रीकृष्ण थे, उस अर्जुनसे तो स्वयं काल भी परास्त हो सकता था, कर्णकी तो बात ही क्या है? भगवान्‌की चातुरीसे कर्णके दिव्यास्त्र उनके पाससे हट गये। गुरुके शापसे अन्तमें उनकी पढ़ी हुई विद्या भूल गयी और अर्जुन-जैसे वीरसे उनको सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी बात यह है कि स्वयं भगवान् उन्हें परास्त कराना चाहते थे। इन्हीं सब कारणोंसे उनकी पराजय हुई।

गाँधीजी कब, क्या, किस उद्देश्यसे कहते थे। इस बातको उनके सिवा दूसरा कोई कैसे बता सकता है। हम और आप तो अपनी बुद्धिके अनुसार अनुमान ही कर सकते हैं। किसी भी श्रेष्ठ पुरुषका यही कर्तव्य है कि अपना प्राण देकर भी दूसरेके प्राणोंकी रक्षा करे। अतः गाँधीजीका यह कथन कि 'पहले मुझे मारकर ही कोई किसी मुसल्मानपर हाथ उठा सकता है।' सर्वथा उचित ही है।

मनुष्यके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। सबसे बड़ी बात है संसारके बन्धनोंसे मुक्त होना, परमानन्दमय प्रभुको प्राप्त कर लेना। यह भी मनुष्यके लिये असाध्य नहीं है। फिर नारदजीके समान भक्त होना क्या बड़ी बात है। नारदजीसे बढ़कर भक्त तो व्रजकी गोपियाँ ही मानी जाती हैं, जिन्हें उन्होंने अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिशास्त्रका आचार्य माना है—'यथा व्रजगोपिकानाम्।'

धर्मराज युधिष्ठिर कभी झूठ नहीं बोलते थे, यह सत्य है। उन्हें युद्ध-कालमें एक बार असत्य कहनेके लिये बाध्य होना पड़ा था, यह भी उल्लेख मिलता है; किंतु हमें तो उनके सत्यवादितारूप गुणको ही देखना चाहिये।

'साध्नोति परकार्यमिति साधुः'—जो दूसरोंके हितका साधन करे वही साधु है। भर्तृहरिजी कहते हैं—'एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः'—दूसरोंके कार्य-साधन करनेवाले साधु पुरुष थोड़े ही होते हैं। गीता अध्याय १२ के श्लोक १३, १४ में जो भक्त पुरुषका लक्षण बताया गया है, वही सच्चे साधुका लक्षण है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

'जिसका किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं है, जो निःस्वार्थ भावसे सबका सुहृद्, अहेतुक मित्र है, जिसके हृदयमें सबके प्रति दया है, जो ममता और अहंकारसे ऊपर उठ चुका है, सुख और दुःख दोनोंकी प्राप्तिमें जो समानभावसे रहता है, जिसके मनमें स्वभावसे ही क्षमा है—जो बुरा करनेवालेका भी भला करता है। जो नित्य संतुष्ट, ध्यानपरायण, मन इन्द्रिय एवं शरीरको वशमें रखनेवाला, दृढ़निश्चयी तथा मुझमें अपने मन, बुद्धिको समर्पित करनेवाला है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।' जो भगवान्‌को भी प्रिय हो, वही वास्तवमें साधु है।

भगवान् अपने साधु भक्तोंके अधीन उसी प्रकार रहते हैं जैसे सती पतिव्रता पत्नीके अधीन उसका धार्मिक पति। श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।'
(श्रीमद्भा० ९।४।६६)

नारदकी भक्ति देखकर ही भगवान् उनका अधिक आदर करते थे।

माता-पिताको सदा सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, समयपर उनकी शारीरिक सेवा करते हुए उन्हें उत्तम अन्न, वस्त्र, आसन आदि प्रस्तुत करना तथा उनकी प्रत्येक शास्त्रसम्मत आज्ञाको भगवान्‌का वाक्य समझकर प्रसन्नतापूर्वक पालन करना ही माता-पिताकी सच्ची सेवा है।

जीविते वाक्यस्वीकारात् क्षयाहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

पिता-माताके जीवित रहनेपर उनकी आज्ञाका पालन करना, मरनेपर उनकी क्षयाह-तिथिको अधिक ब्राह्मण-अतिथियोंको भोजन कराना और गयामें उनके निमित्त पिण्डदान करना—इन तीन प्रकारकी सेवाओंसे पुत्रका पुत्रत्व प्रतिष्ठित होता है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

श्रद्धा-प्रेम कैसे हो?

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला। अन्य कार्योंमें संलग्न रहनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हुआ। कृपया क्षमा करेंगे। आपकी शङ्काओंका उत्तर इस प्रकार है।

किसी वस्तुमें श्रद्धा अथवा प्रेम तभी होता है, जब हमें उसकी लोकोत्तर महत्ताका ज्ञान हो। भगवान्‌के प्रति श्रद्धा और प्रेमकी कमी इसलिये है कि अभी उनके महत्त्वको पहचाना नहीं गया। आजका संसार जो 'अर्थ' और

'भोग'के पीछे पागल हो रहा है, इसका क्या कारण है, यही कि उसकी दृष्टिमें अर्थ और भोग ही जीवनमें महत्त्वकी वस्तुएँ हैं। ऐसे लोगोंने इतना भी महत्त्व भगवान्‌को नहीं दिया। हम भगवान्‌को पाना चाहते हैं, उनमें श्रद्धा और प्रेम करना चाहते हैं, यह सब केवल कहनेकी बातें रह गयी हैं। यदि हम वास्तवमें इस बातको जान लें कि भगवान्‌को पाना ही जीवनका चरम उद्देश्य है, उनसे विलग या विमुख होनेके ही कारण हमें नाना प्रकारके दुःख-क्लेश घेरे रहते हैं। एकमात्र भगवान् ही अक्षय सुखके भण्डार हैं। वे ही जीवकी चरम और परम गति हैं, तो हम भगवान्‌से मिले बिना एक क्षण भी चैनसे नहीं बैठ सकते। अनादिकालसे विषय-भोगोंमें ही रमते रहनेके कारण हमारे अन्तःकरणमें उन्हींके संस्कार जमे हुए हैं, उसमें भगवान्‌के भजनकी बात बैठती ही नहीं है। इसके लिये हमें सत्सङ्गरूपी गङ्गाकी पवित्र धारामें अवगाहन करना चाहिये। तभी अन्तःकरणकी मलिनता धुल सकेगी। गीता, रामायण, श्रीमद्भागवत तथा भक्तिप्रधान ग्रन्थोंका स्वाध्याय, भगवन्नामजप और नाम-कीर्तन आदि भी भगवान्‌के प्रति श्रद्धा और प्रेम बढ़ानेमें बड़े सहायक हैं।

चर्मदृष्टि समान होनेपर भी भगवान् जिसको दर्शन देना चाहते हैं, वही उनके दर्शन कर पाते हैं, दूसरा नहीं। भगवान् प्रत्येक स्थानमें और प्रत्येक समय विराजमान हैं, किंतु सबके सामने प्रकाशित नहीं हैं; क्योंकि योगमायासे समावृत हैं। वे स्वयं कहते हैं—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः'। यह योगमायाका आवरण भगवान्‌को नहीं ढँकता, जीवोंकी दृष्टिपर ही पर्दा डालता है। भगवान्‌पर तो कभी कोई आवरण हो ही नहीं सकता। जो भगवान्‌के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित, उनके विरहसे अतिशय पीड़ित और उनके दर्शन पानेके लिये अत्यधिक व्याकुल होता है उसे अधिकारी मानकर दयालु प्रभु उसकी दृष्टिके सामनेका पर्दा हटा देते हैं। फिर तो वह प्रभुकी भुवनमोहिनी झाँकी देखकर कृतकृत्य हो जाता है। योगमायाका पर्दा हटनेपर वह दृष्टि चर्मदृष्टि न रहकर दिव्य दृष्टि बन जाती है। अर्जुनको इसी प्रकार दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई थी। दूसरा व्यक्ति वहीं खड़ा रहनेपर भी वैसी दृष्टि न पा सकनेके कारण प्रभु-दर्शनसे वञ्चित रह जाता है।

भजन-ध्यानकी ओर रुचि न होनेका कारण भी वही है जो श्रद्धा और प्रेमकी कमीमें बताया गया है। सत्पुरुषोंके सङ्ग और सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे भजन-साधनमें उन्नति हो सकती है। भगवान्‌के नामोंका जप और कीर्तन बराबर करते रहना चाहिये। इससे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर स्वयं भजन-ध्यानकी ओर रुचि बढ़ने लगेगी। गीता अध्याय ६ श्लोक १० से १४ तकके अर्थपर विचार करें। उसमें ध्यानकी विधिका ही वर्णन है।

भगवान्‌का साक्षात्कार कब और किस अवस्थामें हो सकता है? इसका निश्चित माप नहीं है। जब साधक भगवद्दर्शनका पात्र हो जायगा, तभी भगवान् दर्शन दे देंगे। अतः यह कार्य शीघ्र-से-शीघ्र भी हो सकता है और इसमें बहुत विलम्ब होना भी सम्भव है। दर्शन किसी साधनका फल नहीं, भगवान्‌की कृपाका ही फल है। वे अपनी अहैतुकी कृपासे ही दर्शन देते हैं। बड़े-बड़े यज्ञ-तप आदि भी भगवान्‌को दर्शन देनेके लिये विवश नहीं कर सकते। अपने हृदयमें भगवान्‌के लिये सच्ची उत्कण्ठा, तीव्र व्याकुलता होनी चाहिये। जिस दिन भगवान्‌के दर्शन बिना जीना असम्भव हो जायगा, उस दिन भगवान् कहीं रुक नहीं सकते। वे प्रेमके मूल्यपर बिक जाते हैं।

भजन और साधनकी ओर स्वाभाविक प्रवृत्तिमें पूर्वजन्मके पुण्यसंचयको भी कारण माना जा सकता है, किंतु पूर्वजन्मका ऐसा कोई संचय न होनेपर भी केवल इसी जन्मके प्रबल पुरुषार्थसे भी भजन-ध्यान बन सकते हैं।

विश्वास न होनेमें अपना मोहजनित अज्ञान ही कारण है। यह अज्ञान सच्चे साधु-महात्माओंके सत्सङ्ग तथा भगवान्‌की कृपासे दूर हो जाता है। भगवान्‌की कृपा सबपर है। जो भगवान्‌को आर्तभावसे पुकारता है, उसको उनकी कृपाकी अनुभूति शीघ्र होती है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

यह सत्य है कि अनुरागके बिना भगवान्‌का मिलना असम्भव है—'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।'

जो भगवान्‌के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं चाहता, स्वराज्य, वैराग्य तथा ब्रह्मपद एवं मोक्षसुखकी उपेक्षा कर देता है, वह भगवत्प्रेमी पुरुष ही भक्त है। (शेष आगे)

प्रेमी ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

(१) 'नारद-विष्णुपुराणाङ्क' ही जनवरी मासका २८ वें वर्षका पहला अङ्क है।

(२) जिन ग्राहकोंके रुपये मनीआर्डरसे आ गये थे, उनको रजिस्टर्ड पोस्टसे जनवरीका विशेषाङ्क नारद-विष्णुपुराणाङ्क तथा फरवरी मासका दूसरा अङ्क भी भेजा जा चुका है। जिनको अबतक न मिला हो, वे तुरंत पत्र लिखनेकी कृपा करें।

(३) जिनके रुपये नहीं आये थे, उनको नारद-विष्णुपुराणाङ्क वी० पी० से भेज दिया गया था और उनमेंसे वी० पी० छूटकर जिनका रुपया हमें मिल गया, उन सब ग्राहकोंको फरवरी मासका दूसरा अङ्क भी भेज दिया गया है। जिनको अभीतक न मिला हो, तुरंत सूचना देनेकी कृपा करें।

जनवरी १९५४ का नया विशेषाङ्क संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क

—अभीतक मिलता है। ग्राहक बनने-बनानेवालोंसे प्रार्थना है कि वार्षिक चन्दा ७।।) मनीआर्डरसे भेज दें अथवा वी० पी० द्वारा विशेषाङ्क भेजनेकी आज्ञा देनेकी कृपा करें। सजिल्दका मूल्य ८।।।) है।

कल्याणके प्राप्य पाँच पुराने विशेषाङ्क

(१) मानसाङ्क (पूरे चित्रोंसहित)—पृष्ठ ९४४, चित्र बहुरंगे सुनहरी ८, दुरंगे सुनहरी ४, तिरंगे ४६, दुरंगे ४, इकरंगे १२०, मूल्य ६।।), सजिल्द ७।।)।

(२) संक्षिप्त महाभारताङ्क—१७ वें वर्षकी पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द) पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन-चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका केवल १०)।

(३) हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६।।), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य, ५ प्रतियाँ एक साथ लेनेपर १५) प्रतिशत कमीशन।

(४) भक्त-चरिताङ्क—(पूरी फाइल)—पृष्ठ १५१२, लेख-संख्या ७३९, तिरंगे चित्र ३६ तथा इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७।।) मात्र।

(५) जनवरी सन् १९५३ का विशेषाङ्क—बालक-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, डाकखर्चसहित मूल्य ७।।) मात्र।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकानें

एक दूकान दिल्लीमें खुल गयी है। पता—नं० १५४ डी०, कमलानगर, सब्जीमंडी।

पुस्तक-विक्रेताओंको रेलसे माल पहुँचनेमें आजकल बहुत विलम्ब होता है। इसलिये दिल्ली, राजस्थान, पंजाब तथा उत्तर-प्रदेशके दिल्लीके आसपासके स्थानोंके विक्रेताओंकी सुविधाके लिये यह दूकान खोली गयी है। पुस्तक-विक्रेताओंको यहाँसे प्रायः वे सभी सुविधाएँ मिलेंगी, जो गोरखपुरसे मँगवानेपर मिलती हैं। दीपावली सं० २०१० से दीपावली सं० २०११ तककी कुल खरीदीपर मिलनेवाले अतिरिक्त कमीशनमें उनकी गोरखपुर तथा दिल्ली दोनों जगहकी रकमें एक साथ जोड़ ली जायँगी।

पटनेमें भी एक दूकान खुलनेवाली है—

गीताप्रेसकी एक पुस्तक-दूकान पटनेमें भी अशोक राजपथपर बड़े अस्पतालके मुख्य फाटकके सामने शीघ्र ही खुलनेवाली है। आशा है कि ग्राहकगण इससे लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—पुस्तक-विक्रय-विभाग, गीताप्रेस, गोरखपुर

रजि० सं० ए० १७५

कल्याण
वर्ष २८
अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०११, अप्रैल १९५४

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण [illegible] भारतमें [illegible] विदेशमें [illegible] (१० पैंस

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

मैयासे विनोद

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतीर्थं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०११, अप्रैल १९५४ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ३२९

मैयासे विनोद

मैया सुनौ, हाँ लाल ! कहा कहौ ?, प्याली चहौं, कहा काज है वाको ?
छीर पिऊँगो, न छीर अभी, कब ह्वैहै कहो ?, जब वेरो निसा को ॥
काको निसा कहिये ?, तम कौ, दृग मूदि कह्यौ—तम आयो निसा को ।
दै, कहि आँचर खींचत जो करै पालन लालन वा जसुदा को ॥

याद रक्खो—तुम दूसरोंको जो कुछ दोगे, वही तुम्हें मिलेगा और मिलेगा अनन्तगुना होकर। घृणा, द्वेष, वैर, द्रोह, ईर्ष्या, बुराई अथवा प्रेम, सद्भाव, मैत्री, सहानुभूति, आत्मीयता, भलाई—इनमेंसे कुछ भी देकर देख लो।

याद रक्खो—तुम यदि यह सोचोगे कि 'अमुक मनुष्यमें यह बुराई है, इतनी बुराई है।' तो वह और उतनी ही बुराई तुम उसे दोगे। जिसमें बुराई है, वह दुर्बल है; क्योंकि वह बुराईका नाश करनेमें असमर्थ हो रहा है। और दुर्बलपर ही दूसरेके विचारोंका अधिक प्रभाव पड़ता है। अतएव यदि तुम किसी विकारग्रस्त मनुष्यके साथ घृणा करते हो, उसे बुरा समझते हो, तो वह तुम्हारी दी हुई इन चीजोंको अपनाकर तुमसे और भी घृणा, तुम्हारे साथ और भी बुराई करने लगेगा। यों उसमें बुराई बढ़ जायगी और जिसके पास जो चीज होती है, वह उसीको देता है, इस न्यायसे जो भी उसके सम्पर्कमें आयेगा, उसको उससे वही वस्तु मिलेगी। इससे बुराईका विस्तार हो जायगा।

याद रक्खो—यदि तुम यह मानते हो कि 'दूसरे किसीमें कोई भी गुण नहीं है, दोष-ही-दोष है' तो तुम भूल करते हो। गुणकी तो बात ही क्या है, वस्तुतः सबमें एकमात्र ईश्वर ही वर्तमान हैं; परंतु तुम्हारी आँखें ईश्वरको न देखकर बुराई और दोष ही देखती हैं, इससे तुम्हें वही चीजें मिलती हैं, ईश्वर नहीं मिलते।

याद रक्खो—तुम जितना ही दूसरोंको बुरा समझते हो, उतना ही उनके प्रति बुराईके भागी होते हो और उतना ही बुराईका विष बढ़कर तुम्हारे पास लौटता है और वह शूलकी तरह तुम्हारे हृदयमें चुभकर तुम्हारी बुराइयोंको और भी बढ़ा देता है।

याद रक्खो—यदि तुम अपने मनमें किसीकी बुराई नहीं देखोगे, किसीको अपना वैरी नहीं मानोगे तो शायद ही तुम्हारा कोई वैरी रहेगा; परंतु यदि इसपर भी तुम्हारे प्रति कोई शत्रुता रक्खे—जिसकी सम्भावना बहुत कम है—बहुत बार तो तुम्हें अपने ही मनके दूषित भावसे दूसरेमें शत्रुपना दिखायी देता है—तो तुम उस शत्रुताका बदला प्रेम, हित और भलाईसे दो। तुम्हारा यह प्रेम, हित और भलाईका व्यवहार उसकी शत्रुताके प्रयत्नको निष्फल कर देगा और परिणाममें उसके मनका शत्रुभाव मित्रभावमें परिणत हो जायगा। यों उसको तुम एक बड़ी विपत्तिसे बचा लोगे और स्वयं तो बचोगे ही।

याद रक्खो—यदि एक भी मनुष्यको तुमने उसे प्रेम देकर घृणा तथा बुराईके विषसे बचा लिया, उसके मनमें प्रेम भर दिया तो उसके द्वारा समाजमें घृणा तथा बुराईका विष फैलना बंद हो जायगा। प्रेमके अमृतका प्रसार होगा और इस प्रकार तुम समाजकी बड़ी सेवा कर सकोगे।

याद रक्खो—यदि तुमने बुराईका बदला बुराईसे दिया तो तुमने बुराईकी जलती हुई आगमें घी और ईंधन झोंक दिया। उससे बुराईकी अग्नि और भी भड़क जायगी और चारों ओर फैलकर उसको, तुमको और पास-पड़ोसियोंको ही नहीं; ग्राम, नगर और देशको भी जलानेमें कारण बन जायगी।

याद रक्खो—यदि तुम प्रेम करोगे—प्रचुर प्रेम करोगे—तो बुराईकी, द्वेषकी आगमें पानीकी वर्षा कर दोगे। बुराईकी आग बुझ जायगी। तुम्हारे पास बिखरी हुई—बढ़ी हुई पवित्र प्रेमकी सरिता आयेगी जो तुम्हारे जीवनको निर्भय, सुखी और शान्त बना देगी।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(१३)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

किसी भी कर्मके फलरूपमें प्राप्त परिस्थिति और भोगसमुदायमें राग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जिस प्राप्त पदार्थमें मनुष्यका राग होता है, उसी जातिके अप्राप्त पदार्थोंका चिन्तन होता है तथा उनके संस्कार अङ्कित होकर वासनाका रूप धारण कर लेते हैं। उससे अन्तःकरण मलिन होता रहता है।

राग यानी आसक्ति, द्वेष यानी वैर-भाव—इन दोनों-का समूल नाश करनेके लिये साधकको चाहिये कि इन्द्रिय-ज्ञानके अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल प्रतीत होनेवाली परिस्थितियोंकी प्राप्तिमें जो सुख और दुःख होता है, उनमें किसी दूसरेको कारण न समझे। दूसरे व्यक्तियोंको, जीवोंको या पदार्थोंको सुख-दुःखका कारण मान लेनेपर उनमें आसक्ति और वैर-भाव होना अनिवार्य है। जबतक मनुष्यका किसी व्यक्तिमें या पदार्थमें राग-द्वेष विद्यमान रहता है, तबतक चित्त शुद्ध नहीं होता। उससे अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ-चिन्तन होता रहता है।

वास्तवमें यदि देखा जाय तो सुख-दुःखमें दूसरा व्यक्ति, प्राणी, पदार्थ हेतु हैं भी नहीं। कोई पूछे कि कौन हेतु है, तो इस विषयकी मान्यता तीन भागोंमें बाँटी जा सकती है—

(१) यह कि पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्मोंके फलरूपमें ही समस्त प्राणियोंको अनुकूल और प्रतिकूल भोग प्राप्त होते हैं। दूसरा कोई कारण नहीं है। यह मान्यता तो उन मनुष्योंकी होती है जो देहाभिमानी और कर्मासक्त हैं। अपनी इस मान्यताके अनुसार उनका बुरे कार्मोंको छोड़कर, अच्छे कार्मोंमें प्रवृत्त होनेका निश्चय दृढ़ होता है जो कि उनको उन्नतिशील बनाने-में सहायक होता है। इसलिये यह मान्यता भी एक प्रकारसे अच्छी है।

(२) सुख और दुःखकी प्राप्तिका कारण एक-मात्र मनुष्यका प्रमाद अर्थात् प्राप्त-विवेकका आदर न करना यानी उसका सदुपयोग न करना ही है, दूसरा कुछ नहीं; क्योंकि विचारवान् साधकको जब किसी प्रकारकी शारीरिक या मानसिक प्रतिकूलता प्राप्त होती है तो वह उससे दुखी नहीं होता, बल्कि यह समझकर प्रसन्न रहता है कि प्रतिकूलता ही मनुष्यके जीवनको उन्नत करनेवाली है। जिसके जीवनमें प्रति-कूलताका अनुभव नहीं होता, उसकी उन्नतिकी ओर प्रगति नहीं होती। यदि प्रतिकूल परिस्थिति पैदा न होती तो शरीर और संसारसे अहंता-ममताका दूर होना प्रायः सम्भव ही नहीं था। अतः प्रतिकूल परिस्थिति तो शरीर और संसारसे अलग करनेवाली है। जब शरीरमें अहं-भाव और उससे सम्बन्धित जगत्‌में मेरापन न रहे, तो कोई भी परिस्थिति मनुष्यको सुख या दुःख देनेवाली हो ही नहीं सकती। यह मान्यता उन विचारशील साधकोंकी होती है जो एकमात्र प्रमादको ही अहंता-ममताका हेतु समझकर अपने प्राप्त विवेकका आदर करनेवाले हैं।

(३) तीसरी मान्यता हर-एक परिस्थितिमें सर्वत्र और सर्वदा भगवान्‌की कृपाका दर्शन करनेवाले, भगवान्-पर निर्भर परम विश्वासी भक्तोंकी होती है। वे अनुकूल परिस्थितिमें तो इस भावनासे भगवान्‌की अहैतुकी कृपा-का अनुभव करके उनके प्रेममें विभोर हो जाते हैं कि वे परम सुहृद् प्रभु मेरी हर-एक आवश्यकताका कितना

अधिक ध्यान रखते हैं । मुझ-जैसे अधम प्राणीपर भगवान्‌की इतनी दया है । एवं प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर वे यह सोचते हैं कि इस शरीरमें और संसारमें जो मैंने प्रमादवश सुख मान लिया था, जिसके कारण मैं अपने परम सुहृद् प्रभुसे विमुख हो रहा था, उसे शरीर और संसारसे विमुख करके अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये भगवान्‌ने कृपापूर्वक यह परिस्थिति दी है । भगवान्‌की कैसी अनुपम दया है जो कि वे अपने दासको हर समय हर-एक प्रकारसे अपना प्रेम प्रदान करनेके लिये उत्सुक रहते हैं । इस प्रकार प्रभुकी कृपाका अनुभव करता हुआ उनके प्रेममें विभोर होता जाता है ।

उपर्युक्त तीनों प्रकारकी ही मान्यता अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्राणीको उन्नतिशील बनाती है । इसके विपरीत जो दूसरे प्राणियोंको या पदार्थोंको अपने सुख और दु:खका हेतु मानता है,उसका सब प्रकारसे पतन होता है; क्योंकि जिस प्राणी या पदार्थको मनुष्य अपने सुखमें हेतु मान लेता है, उसमें उसका राग हो जाता है । और जिसको दु:खका हेतु मानता है, उससे द्वेष हो जाता है । ये राग और द्वेष मनुष्यको उन प्राणी-पदार्थोंके चिन्तनमें लगाकर मनको मलिन और विक्षिप्त कर देते हैं । अत: उसको किसी भी समय शान्ति नहीं मिलती ।

जब साधकका किसी प्राणीमें वैरभाव—द्वेष नहीं रहता तब सबमें समान भावसे प्रेम हो जाता है । आसक्ति और स्वार्थको लेकर जो प्राणियोंमें प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, वह तो मोह है । अत: वह जिस-जिस व्यक्ति या पदार्थमें ममता होती है, वहीं होता है । विभु नहीं होता । उसमें द्वेषका अभाव नहीं होता । परंतु जो द्वेषका समूल नाश होनेपर समभावसे सबमें प्रेम होता है, वह विशुद्ध प्रेम है । उसमें किसीसे कुछ लेना नहीं रहता । अत: वह प्रेम देखनेमें प्राणियोंके साथ होनेपर भी वास्तवमें भगवान्‌में ही है ।

शास्त्रोंमें जो सुख-दु:खको समान समझनेकी बात कही जाती है, उसका भी यही भाव मालूम होता है कि दोनोंका एक ही नतीजा हो । परिणाममें भेद न हो । उपर्युक्त प्रकारसे जब साधक सुख-दु:खका कारण दूसरे-को न मानकर प्रारब्धको या प्रमादको अथवा भगवान्‌की अहैतुकी कृपाको मान लेता है तब उसका दोनों प्रकारकी परिस्थितियोंमें भेद-भाव नहीं रहता । अनुकूल परिस्थितिके समान ही प्रतिकूल परिस्थिति भी प्रसन्नता और विकासका कारण बन जाती है । साधक भोगसे योगकी ओर, मृत्युसे अमरताकी ओर तथा राग-द्वेषसे त्याग और प्रेमकी ओर आकर्षित हो जाता है ।

उपर्युक्त भावनासे सुख 'उदार' बनानेमें और दु:ख 'विरक्त' बनानेमें समर्थ है, जिससे प्राणीका हित ही होता है । जो प्राणी सुखको प्राप्त होकर उसके उपभोग-में लोलुप और दु:ख आनेपर भयभीत हो जाता है वह बेचारा सुख-दु:खका सदुपयोग नहीं कर पाता, जिसका न करना वास्तवमें नाशका मूल है ।

सुख-दु:खमें साधन-बुद्धि करके उनका उपर्युक्त प्रकारसे उपयोग करना परम अनिवार्य है । सुख-दु:खके उपभोगयुक्त जीवनको जीवन मान लेना भूल है । जीवन तो वास्तवमें वह है, जिसका अनुभव सुख-दु:खसे रहित होनेपर होता है ।

(१४)

साधकको चाहिये कि वह पर-दोष-दर्शनको सर्वथा त्याग दे; क्योंकि दोष करनेकी अपेक्षा दोषोंका चिन्तन अधिक पतन करनेवाला है । दोषको क्रियारूपमें करने-में तो बहुत कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, परंतु दोषोंके चिन्तनमें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं प्रतीत होती । इस कारण उनके चिन्तनमें रस लेनेकी आदत स्वाभाविक-सी हो जाती है ।

इस आदतका त्याग करनेके लिये साधकको अपने

दोष देखनेकी आदत डालनी चाहिये । जितनी गहराईसे वह अपने दोष देखेगा, उतना ही उसको अपने दोषोंका अधिक भास होगा । एवं जैसे-जैसे वह उन दोषोंको सचमुच दोष मानता जायगा—वे उससे दूर होते चले जायँगे । मनुष्य यह समझकर भी कि मुझमें अमुक दोष हैं, किसी-न-किसी अंशमें उसमें रस लेता रहता है और उसमें गुण-बुद्धि कर लेता है । यही कारण है कि अपनेमें जिस दोषको मनुष्य स्वीकार करता है, उसे भी छोड़ता नहीं । उससे चिपका रहता है । अतः साधकको अपने दोष गहराईसे देखना चाहिये और विचारपूर्वक उसे छोड़नेका दृढ़ संकल्प करना चाहिये । जो भूल अपनी समझमें आ जाय, उसको पुनः नहीं दोहराना चाहिये । ऐसा करनेसे साधकका जीवन बहुत शीघ्र परिवर्तित हो सकता है । अपने दोषोंको देखकर उनका त्याग कर देना ही लाभप्रद है । उनका चिन्तन भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि चिन्तन करनेसे उनका राग नहीं मिटता । मनुष्यका जीवन सर्वथा दोषयुक्त नहीं होता, उसमें गुण भी रहता ही है । परंतु उस गुणमें जो अभिमान है वह भी दोष ही है । अतः साधकको गुणोंका सङ्ग और उनके अभिमानको भी त्याग देना चाहिये । दोषोंकी उत्पत्ति नहीं हो और गुणोंका अभिमान न हो, यही वास्तविक निर्दोषता है ।

(१५)

प्राणीके अन्तःकरणमें जिन दोषोंके कारण अशुद्धि या मलिनता है, वे दोष कहीं बाहरसे आये हुए नहीं हैं, स्वयं उसीके बनाये हुए हैं । अतः उनको निकालकर अन्तःकरणको शुद्ध बनानेमें यह सर्वथा स्वतन्त्र है ।

मनुष्य सोचता है और कहता है कि 'मेरे प्रारब्ध ही कुछ ऐसे हैं कि मुझे भगवान्की ओर नहीं लगने देते, मुझपर भगवान्की कृपा नहीं है । आजकल समय बहुत खराब है । सत्सङ्ग नहीं है । आस-पासका वातावरण अच्छा नहीं है । शरीर ठीक नहीं रहता । परिवारका सहयोग नहीं है । अच्छा गुरु नहीं मिला । परिस्थिति अनुकूल नहीं है । एकान्त नहीं मिलता । समय नहीं मिलता, आदि' इसी प्रकारके अनेक कारणोंको वह ढूँढ़ लेता है, जो उसे अपने आध्यात्मिक विकासमें रुकावट डालनेवाले प्रतीत होते हैं । और इस मिथ्या धारणासे या तो वह अपनी उन्नतिसे निराश हो जाता है या इस प्रकारका संतोष कर लेता है कि भगवान्की जैसी इच्छा, वे जब कृपा करेंगे, तभी उन्नति होगी । परंतु वह अपनी असावधानी और भूलकी ओर नहीं देखता ।

साधकको सोचना चाहिये कि जिन महापुरुषोंने भगवान्की इच्छापर अपनेको छोड़ दिया है, उनके जीवनमें क्या कभी निरुत्साह और निराशा आती है ? क्या वे किसी भी परिस्थितिमें भगवान्के सिवा अन्य किसी व्यक्ति या पदार्थको अपना मानते हैं ? उनके मनमें क्या किसी प्रकारकी भोग-वासना शेष रहती है ? यदि नहीं, तो फिर अपने बनाये हुए दोषोंके रहते भगवान्की इच्छाका बहाना करके अपने मनमें झूठा संतोष मानना या आध्यात्मिक उन्नतिमें दूसरे व्यक्ति, परिस्थिति आदिको बाधक समझना, अपने-आपको और दूसरोंको धोखा देनेके सिवा और क्या है ?

यह सोचकर साधकको यह निश्चय करना चाहिये कि भगवान्की प्रकृति जो कि जगत्-माता है, उसका विधान सदैव हितकर ही होता है । वह किसीके विकासमें रुकावट नहीं डालती । वरं सहायता ही करती रहती है । कोई भी व्यक्ति या समाज किसीके साधनमें बाधा नहीं डाल सकता । कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसका सदुपयोग करनेपर वह साधनमें सहायक न हो । भगवान्की कृपाशक्ति तो सदैव सब प्राणियोंके हितमें लगी हुई है । जब कभी मनुष्य उसके सम्मुख हो जाता है, उसी समय उसका हृदय भगवान्की कृपासे भर जाता है ।

साधकको चाहिये कि उसका बनाया हुआ जो यह महान् दोष है कि जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, जो किसी प्रकार भी अपने नहीं हो सकते, उन मन-बुद्धि-इन्द्रिय, इन्द्रियके संघातरूप शरीर और उससे सम्बन्धित पदार्थोंको अपना मान लिया है और जिनपर किसी प्रकार भी विश्वास नहीं करना चाहिये, उनपर विश्वास कर लिया है। तथा जिन परम सुहृद् परमेश्वरपर विश्वास करना चाहिये, जो सब प्रकारसे विश्वासके योग्य हैं और सजातीय होनेके नाते जो सचमुच सब प्रकारसे अपने हैं, उनपर न तो विश्वास करता है और न उन्हें अपना ही मानता है एवं न वर्तमानमें उनकी आवश्यकताका ही अनुभव करता है। यही एक ऐसा महान् दोष है जिससे सब प्रकारके बड़े-से-बड़े दोष उत्पन्न हुए हैं और होते रहते हैं।

यह दोष मनुष्यका अपना बनाया हुआ है। इसलिये स्वयं ही इसे दूर करना पड़ेगा। अपने बनाये हुए दोषको दूर करनेमें कोई भी साधक असमर्थ नहीं हो सकता। इसपर भी यदि उसे अपनी कमजोरीका भान हो, यदि वह अपनेको सचमुच असमर्थ समझता हो तो उसे निर्बलताके दुःखसे दुखी होकर उस सर्व-समर्थ प्रभुकी शरणमें जाना चाहिये जो निर्बलोंके बल हैं, पतितोंको पवित्र बनानेवाले और दीनबन्धु हैं। निर्बलताके दुःखसे दुखी साधकको उस निर्बलताका नाश होनेसे पहले चैन कैसे पड़ सकती है।

दूसरोंकी आलोचना करते समय प्राणीके मनमें ऐसे भाव उठा करते हैं कि 'अमुक आचार्यने अमुक भूल की, जिससे उनके अनुयायियोंका विकास नहीं हुआ। अमुक नेतामें यह गलती है, अमुक समाजमें यह दोष है, अमुक साधक यह भूल करता है। अमुक समुदायके लोग इस अंशमें भूल करते हैं। हिंदुओंकी अमुक गलती है। अंग्रेजोंकी अमुक भूल है। मुसल्मानोंने अमुक गलती की।' इस प्रकार सबके दोषोंका बड़ी चतुराईके साथ वह निरीक्षण करता है। उस समय सारे जगत्‌की बुद्धि एकत्र होकर उसमें आ जाती है। पर वही मनुष्य अपनी उस बुद्धिको अपने दोषोंके देखनेमें नहीं लगाता। यदि वह दूसरोंके उन दोषोंको देखना छोड़ दे जो कि वास्तवमें उन लोगोंमें हैं कि नहीं, कहा नहीं जा सकता एवं उस स्वभावको छोड़कर अपने दोषोंको देखनेमें अपनी बुद्धिका प्रयोग करे और जो दोष समझमें आ जायँ उनको छोड़ता चला जाय। जो कुछ अपना नहीं है, जो विश्वास योग्य नहीं है—उसको अपना मानना, उसपर विश्वास करना छोड़ दे। जो अपनेको अनेक बार धोखा दे चुके हैं, उनका फिर कभी विश्वास न करे। कभी किसी भी परिस्थितिमें उनको अपना न समझे। एवं जो प्रभु अनादिकालसे अपने साथी हैं, जो सदा ही अपने हितमें लगे हैं, जिनके साथ साधकका नित्य सम्बन्ध है। जिन्होंने कभी किसीको धोखा नहीं दिया। वेद-शास्त्र और संतलोग तथा अपना अनुभव ही जिसका साक्षी है, उन परम सुहृद् प्रभुपर विकल्परहित विश्वास करके उनको *अपना मान ले—यही साधकका परम* पुरुषार्थ है।

जो दोष अपने बनाये हुए हैं, उनको कोई दूसरा मिटा देगा, ऐसी आशा करना तथा उनको मिटानेसे निराश होना—ये दोनों ही बातें उचित नहीं हैं; क्योंकि ये स्वाभाविक नियमके विरुद्ध हैं।

लोग कहते हैं कि भगवान् न्यायकारी हैं, परंतु साधकको तो यही समझना चाहिये कि 'वे तो सदैव दया करनेवाले हैं।' यही कारण है कि वे अपनी दी हुई शक्तियोंका दुरुपयोग करनेवालोंको दण्ड नहीं देते। यदि न्याय करते तो झूठ बोलनेवालोंकी जीभ उसी समय काट डालते। चोरी करनेवालोंके हाथ काट डालते; परंतु ऐसा नहीं करते। वे तो सदा प्राणीपर कृपा करते हैं और इस बातके लिये उत्सुक रहते है

कि यह किसी प्रकार मुझपर विश्वास करके एक बार ऐसा मान ले कि 'मैं तेरा हूँ ।'

जिनका चरित्र सुननेमात्रसे कामका सर्वथा नाश हो जाता है, जिनके कृपा-कटाक्षसे प्रेम प्राप्त होता है, जिनकी चरण-रजके लिये उद्धव-सरीखे तत्त्ववेत्ता भी चाह करते हैं—उन गोपीजनोंके चरित्रसे साधकको यही शिक्षा मिलती है कि वे एकमात्र श्यामसुन्दरको ही अपना मानती थीं। उन्होंने अपने-आपको भगवान्के समर्पण कर दिया था। उनका मन भगवान्का मन हो गया था। उनकी आँखें भगवान्की हो गयी थीं। उनकी वाणी, प्राण और शरीर सब भगवान्के थे। वे अपने सम्बन्धियों और गायोंको तथा समस्त पदार्थोंको भगवान्का ही समझती थीं। वे जो कुछ भी करती थीं, भगवान्की प्रसन्नताके लिये, भगवान्को सुख पहुँचानेके लिये ही करती थीं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें भगवान्की प्रसन्नताका उद्देश्य रहता था।

अतएव साधकको चाहिये कि वह जो कुछ करे, अपने प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके लिये ही करे। और तो क्या, भोजन करे तो इसीलिये कि मेरे न खानेसे मेरे प्रेमास्पदको कष्ट न हो जाय। भूखा रहे तो इसीलिये कि आज मेरे प्रेमास्पद इसीमें प्रसन्न हैं, इसीलिये उन्होंने मुझे भोजन करनेका मौका नहीं दिया। इसी प्रकार हर-एक प्रवृत्तिमें भगवान्की प्रसन्नताका अनुभव करता हुआ सदा उनसे प्रेम बढ़ाता रहे या उनके प्रेमकी प्राप्तिकी बाट जोहता रहे।

साधकको अपना जीवन सर्वथा भगवान्के समर्पण कर देना चाहिये। उसकी ऐसी सद्भावना होनी चाहिये कि 'मेरा जीवन भगवान्के लिये है। मुझे उनका न होकर एक क्षणभर भी नहीं जीना है। भगवान् मुझे अपना मानें चाहे न मानें, पर मैं कभी किसी दूसरेका होकर नहीं रहूँगा।'

यदि साधकके मनमें यह भाव आये कि भगवान्को मैं जानता नहीं, मैंने उनको कभी देखा नहीं तो बिना देखे और बिना जानकारीके उनपर कैसे विश्वास किया जाय और उनको कैसे अपना माना जाय तो अपने मनको समझाना चाहिये कि तू जिन-जिनपर विश्वास करता है और जिनको अपना मानता है उन सबको क्या जानता है ? विचार करनेपर माळूम होगा कि नहीं जानता तो भी विश्वास करता है और उनको अपना मानता है। जिनको भलीभाँति जान लेनेके बाद, न तो वे विश्वास करनेयोग्य हैं और न वे किसी प्रकार भी अपने हैं, उनमें जो विश्वास तथा अपनापन है, वह तभीतक है जबतक उनकी वास्तविकताका ज्ञान नहीं है; परंतु भगवान् ऐसे नहीं हैं। उनको अपना माननेवाला और उनपर विश्वास करनेवाला मनुष्य जैसे-जैसे उनकी महिमाको जानता है, वैसे-ही-वैसे उसका विश्वास और प्रेम नित्य नया बढ़ता जाता है; क्योंकि वे विश्वास करनेयोग्य हैं और सचमुचमें अपने हैं।

जिस साधकका ऐसा निश्चय हो कि 'मैं तो पहले जानकर ही मानूँगा, बिना जाने नहीं मानूँगा' तो उसे चाहिये कि जिन-जिनपर उसने बिना जाने विश्वास कर लिया है और उन्हें अपना मान रक्खा है, उन सबकी मान्यताको सर्वथा निकाल दे। किसीको भी बिना जाने न माने। ऐसा करनेसे उसका भी अपना बनाया हुआ दोष नाश होकर चित्त शुद्ध हो जायगा। तब उस प्राप्त करने योग्य तत्त्वको जाननेकी सामर्थ्य उसमें आ जायगी और उसे पहले जानकर वह पीछे मान लेगा। इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। यह भी उनको पानेका एक उपाय है।

जिन्हें मनुष्य अपना मान लेता है और जिनपर विश्वास करता है, क्या उनमें स्वाभाविक प्रेम नहीं होता ? क्या उनमें प्रेम करनेके लिये मनुष्यको पाठ पढ़ना पड़ता है ? क्या किसी प्रकारका कोई अनुष्ठान करना पड़ता है या कहीं एकान्तमें आसन लगाकर चिन्तन करना पड़ता है ? क्या यह सबका अनुभव नहीं है कि ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता, बल्कि अपने-आप अनायास

ही प्रत्येक अवस्थामें स्वतः प्रेम हो जाता है ।

साधकको चाहिये कि प्रतिदिन शयनके पूर्व भली-भाँति अपने सारे दिनके जीवनका प्राप्त विवेकके द्वारा निरीक्षण करे अर्थात् किन-किन दोषोंका किन-किन कारणोंसे कितने बार दिनभरमें मुझपर आक्रमण हुआ। उस निरीक्षणसे जो असावधानी समझमें आये, उसे त्यागनेका दृढ़ संकल्प करे और उस दोषके विपरीत भावकी अपनेमें स्थापना करे । यदि मिथ्या बोल दिया हो तो जिस प्रलोभनसे वह दोष हुआ है उसकी तुलना सत्यभाषणकी महिमाके साथ करके अपने मनको समझाये ताकि पुनः वह किसी प्रकारके प्रलोभनसे आकर्षित न हो तथा यह संकल्प करे कि 'मैं मिथ्यावादी नहीं हूँ । अब कभी भी मैं झूठ नहीं बोलूँगा ।' इसी प्रकार काम, क्रोध आदि हर-एक दोषोंके विषयमें समझना चाहिये।

प्रातः उठनेके पश्चात् जिस-जिस कार्यमें प्रवृत्त हो, उससे पूर्व विवेकपूर्वक भलीभाँति निर्णय कर ले कि मेरे द्वारा जो कार्य होने जा रहा है, उससे किसीका अहित या किसीके अधिकारका अपहरण तो नहीं हो रहा है । जिन कार्योंमें दूसरोंका हित, उनके अधिकार-की रक्षा निहित हो, उन कार्योंसे कर्तामें शुद्धि आती है और परस्परमें स्नेहकी एकता सुदृढ़ होती जाती है । उससे हृदय प्रीतिसे भर जाता है । साधक किसीका ऋणी नहीं रहता । उससे फिर स्वाधीनता आ जाती है । उसे प्रेम, विवेक और योगकी प्राप्ति होती है जो मानव-जीवनका लक्ष्य है; क्योंकि प्रेमसे भक्ति, विवेकसे मुक्ति, योगसे शक्ति स्वतः प्राप्त होती है ।

यदि सम्भव हो तो सात दिनमें एक बार, जिनसे स्वभाव मिलता हो—ऐसे सत्सङ्गी भाइयोंके साथ बैठकर आपसमें विचार-विनिमय करे और उनके सामने अपने दोषोंको बिना किसी संकोच तथा छिपावके स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट कर दे तथा उनको हटानेके लिये उनसे परामर्श ले । ऐसा करनेसे साधकके दोष शीघ्र ही मिट सकते हैं ।

प्रभुमय संसार

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-एट्-ला)

सृष्टि सकल मंगलमय प्रभुकी लीलाका संभार ।
यह जग है आनंद-सरोवर, जीवन एक बहार ॥ १ ॥
काननकी कुंजोंमें कर ली, कोकिल कल-किलकार ।
कलरव सरिताका सुन करता, मधुप मधुर गुंजार ॥ २ ॥
नाच नाच कर केकी करता, मेघोंकी मनुहार ।
पी पी रट-रत चातक मुखमें, देता जलधर धार ॥ ३ ॥
धरा धारती वसन विरंगे, पहन पुहुपका हार ।
दिग् दिगन्तसे पंछी आकर, गाते मँगलाचार ॥ ४ ॥
घटा छटा छा जाती नभमें, चलती सरस बयार ।
कर कल्लोल लोल मन हरते, पशु-पक्षी-परिवार ॥ ५ ॥
चारु चंद्रिका जगतीतलपर, तनु तनको विस्तार ।
करती कण-कणको किरणोंसे, दिव्य प्रभा-आगार ॥ ६ ॥
वारिधि-वीचि-विलास प्रभंजन, भूधर भीमाकार ।
रवि शशि अगणित तारे करते, हरि-महिमा साकार ॥ ७ ॥
वन उपवनके सुमन मनोहर, भव-सुषमाके सार ।
सरस दरस पत्ते पत्तेमें, यह प्रभुमय संसार ॥ ८ ॥

अर्थात् प्रणवमात्रके चिन्तनसे अपर और पर ब्रह्ममेंसे किसी एकका (अपनी श्रद्धाके अनुसार) अनुसरण करता है ।'

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।

(५ । ५)

'जो तीन मात्राओंवाले ॐकाररूप इस अक्षरके द्वारा ही इस परम पुरुषका निरन्तर ध्यान करता है, वह तेजोमय सूर्यलोकमें जाता है तथा जिस प्रकार सर्प केंचुलीसे अलग हो जाता है, ठीक उसी तरह वह पापोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है । इसके बाद वह सामवेदकी श्रुतियोंद्वारा ऊपर ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है, वह इस जीव-समुदायरूप पर-तत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ अन्तर्यामी परम पुरुष परमात्माको साक्षात् कर लेता है ।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(८ । १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मके नामका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग करता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ।'

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

(१७ । २३)

'ॐ तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये ।'

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

(१७ । २४)

'इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ।'

महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनके प्रथम पादमें बतलाया है कि ईश्वर-प्रणिधानसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोधरूप समाधि हो जाती है । तदनन्तर, ईश्वरका स्वरूप बतलाकर उसका नाम 'प्रणव' बतलाया है तथा प्रणवके जप और अर्थकी भावनासे सारे विघ्नोंका नाश और आत्माका साक्षात्कार होना बतलाया है । श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा । (१ । २३)

'ईश्वरकी शरणागति यानी भक्तिसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है ।'

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

(१ । २४)

'जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशयके सम्बन्धसे रहित तथा समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह ईश्वर है ।'

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । (१ । २५)

'उस (ईश्वर) में सर्वज्ञताका कारण (ज्ञान) निरतिशय है ।'

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । (१ । २६)

'वह (ईश्वर सबके) पूर्वजोंका भी गुरु है; क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है अर्थात् वह कालकी सीमासे सर्वथा अतीत है ।'

तस्य वाचकः प्रणवः । (१ । २७)

'उस ईश्वरका वाचक (नाम) प्रणव (ॐकार) है ।'

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (१ । २८)

'उस ॐकारका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये ।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।
(१ । २९)

'उस साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है ।'

गोस्वामी तुलसीदासजीके द्वारा रचित श्रीरामचरितमानसमें श्रीराम-नामकी महिमा प्रसिद्ध ही है, क्योंकि श्रीतुलसीदासजी श्रीरामके उपासक थे । एवं श्रीसूरदासजी श्रीकृष्णनामके भक्त थे । इसी प्रकार भक्त ध्रुवजी भगवान् विष्णुके भक्त थे । ध्रुवजीके वन जाते समय श्रीनारदजीने 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रके जप-ध्यानका आदेश दिया था और उसीके अनुसार उन्होंने मधुवनमें जाकर उपासना की थी । श्रीनारदजीने कहा—

जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज ।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ॥
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
(श्रीमद्भा० ४ । ८ । ५३)

'राजकुमार ! जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना चाहिये, वह तुम्हें बतलाता हूँ, सुन । इसका सात रात्रि जप करनेसे मनुष्य आकाशमें विचरनेवाले सिद्धोंका दर्शन कर सकता है । वह मन्त्र है—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।'

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम् ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ८ । ७१)

'ध्रुवजीने मधुवनमें पहुँचकर यमुनाजीमें स्नान किया और उस रात पवित्रतापूर्वक उपवास करके श्रीनारदजीके उपदेशानुसार एकाग्रचित्तसे परम पुरुष श्रीवासुदेवकी उपासना आरम्भ कर दी अर्थात् वासुदेवनामका जप और स्वरूपका ध्यान करना आरम्भ कर दिया ।'

श्रीनारदपुराणमें श्रीसनक मुनिने नारदजीसे हरिभक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है—

स्वपन् भुञ्जन् व्रजंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठंश्च वदंस्तथा ।
चिन्तयेद्यो हरेर्नाम तस्मै नित्यं नमो नमः ॥
(पूर्व० ३९ । ७)

'जो सोते, खाते, चलते, ठहरते, उठते और बोलते हुए भी भगवान् विष्णुके नामका चिन्तन करता है, उसे प्रतिदिन वारंवार नमस्कार है ।'

श्रीभगवन्नाम-कीर्तनकी महिमा बतलाते हुए श्रीसनकजी फिर भी कहते हैं—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय ।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान्बाधते कलिः ॥
(नारद० पूर्व० ४१ । १००)

'जो लोग प्रतिदिन 'हरे ! केशव ! गोविन्द ! वासुदेव ! जगन्मय !' इस प्रकार कीर्तन करते हैं, उन्हें कलियुग बाधा नहीं पहुँचाता ।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(नारद० पूर्व० ४१ । ११५)

'भगवान् विष्णुका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है । कलियुगमें दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है ।'

कहाँतक कहें, विश्वमें जितने धर्मके अनुयायी हैं, उन सभी सम्प्रदायवालोंने नामके जप और कीर्तनकी महिमा भूरि-भूरि गायी है । लोग कहा करते हैं कि हम नामका जप करते हैं, किंतु उसका विशेष लाभ देखनेमें नहीं आता । इसका कारण यही माळूम होता है कि वे नाम तो जपते हैं, परंतु विधिपूर्वक नहीं जपते । यदि विधिपूर्वक नामका जप किया जाय तो तुरंत पूर्ण लाभ होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है । नाम-जपकी विधि इस प्रकार है—

१–नामका जप मनसे करना चाहिये; क्योंकि

मानसिक जपका यज्ञकी अपेक्षा सहस्रगुना फल होता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(२।८५)

'विधिपूर्वक अग्निहोत्र आदि क्रियायज्ञकी अपेक्षा जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

मनसे जप करनेका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई 'राम' नामका जप करता है तो उसे उचित है कि मनसे 'रा' और 'म'—इन अक्षरोंका चिन्तन (स्मरण) करे। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसीको मनसे याद करता है, उसी प्रकार नामको मनसे याद करना ही मानसिक जप है।

२—नामका जप गुप्तरूपसे होना चाहिये। अपनी ओरसे तो किसीको कहना ही नहीं चाहिये, किंतु यदि अनुमानसे कोई जान जाय तो मनमें लज्जा होनी चाहिये। जैसे स्त्री अपने पतिके प्रेमको छिपाती है, इसी प्रकार नाम-जपको गुप्त रखना चाहिये। कोई पूछे तो भी लज्जित और मौन हो जाना चाहिये। कोई भी हमारा संकेत ऐसा नहीं होना चाहिये, जिससे दूसरोंपर यह प्रभाव पड़े कि यह भगवान्‌के नामका स्मरण करता है। इस विषयमें एक कहानी है—

एक मनुष्य गुप्त-भावसे राम-नामका जप किया करता था। उसके सभी लड़के भगवान्‌के भक्त थे और भगवान्‌का भजन किया करते थे। वे समझते थे कि हमारे पिताजी भजन नहीं करते हैं। अतः समय-समयपर वे पिताजीसे भगवान्‌का नाम जपनेके लिये विनयपूर्वक प्रार्थना किया करते, किंतु वे मौन हो जाते, कोई उत्तर न देकर हँस देते थे। एक दिन रात्रिके समय जब वे सो रहे थे तो निद्रामें उनके मुखसे 'राम-राम' ऐसे शब्द निकले। यह सुनकर उनके लड़कोंने प्रातःकाल बड़ा उत्सव मनाया और यज्ञ, दान आदि पुण्य कर्म किये। यह देखकर पिताजीने पूछा कि आज कौन-सा पर्व है। पुत्रोंने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'बड़े ही हर्षकी बात है कि आज रात्रिमें निद्राके समय आपके मुँहसे 'राम-राम' का उच्चारण हुआ जो कि जाग्रत्-अवस्थामें भी कभी आपके मुँहसे नहीं सुना गया। इसी बातको लेकर हमलोग आज प्रसन्नतासे हर्षपूर्वक यह उत्सव मना रहे हैं।' यह सुनकर पिताजी-ने कहा—'मेरे मुखसे 'राम-राम' निकल गया? सबको यह बात प्रकट हो गयी, अब मेरा यहाँ रहना व्यर्थ है।' ऐसा कहकर वे अपने प्राण छोड़कर भगवान्‌के परम धामको चले गये। इसे कहते हैं गुप्तरूपसे जप करना।

३—नामका जप श्रद्धासे करना चाहिये। प्रायः लोग श्रद्धासे नहीं करते। श्रद्धा न होनेके कारण जप करते-करते उनको आलस्य आ जाता है, जिससे कभी-कभी माला हाथसे गिर पड़ती है और यह भी मालूम नहीं रहता कि कितना जप किया। श्रद्धापूर्वक जप करनेसे ये सब दोष नहीं आते तथा भजन धैर्य, उत्साह, प्रसन्नता और सत्कारपूर्वक होता है।

४—नामका जप प्रेमपूर्वक करना चाहिये। प्रायः लोग जप प्रेमपूर्वक नहीं करते हैं; क्योंकि भजन करते समय उनका मन संसारमें आसक्तिके कारण इधर-उधर संसारकी ओर भाग जाता है। किंतु जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करता है, उसके भजनका तार नहीं टूटता, उसका मन कभी इधर-उधर नहीं भागता, अपितु निरन्तर भजन होता रहता है। उसे भजन करना नहीं पड़ता, वह अनायास ही होता रहता है। जहाँ भजनके लिये प्रयत्न करना पड़ता है, वहाँ प्रेमकी कमी है। जहाँ सच्चा प्रेम होगा, वहाँ जप स्वतः ही होगा। बल्कि यदि कभी नामका विस्मरण हो जाता है तो वह

बहुत ही व्याकुल हो जाना है। नारदभक्तिसूत्रमें बतलाया है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। (सूत्र १९)

'देवर्षि नारदके मनसे तो अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।'

परंतु यह तभी होगा, जब भजन किया जायगा। भजन करना नहीं पड़ता, होता है—इसका अर्थ यह नहीं कि भजनका अभ्यास न करे और उसके अपने-आप होनेकी प्रतीक्षा करता रहे तथा अपनेको सर्वथा असमर्थ मान ले। इसका अभिप्राय तो यह है कि प्रेम होनेपर भजन स्वयमेव होता है, परंतु आरम्भमें तो प्रेम होनेके लिये भजन करना ही चाहिये।

५—नामका जप निष्कामभावसे करना चाहिये। प्रायः लोग निष्कामभावसे नहीं करते। कोई कञ्चन-कामिनीके लिये और कोई मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठाके लिये तथा कोई अन्य स्वार्थकी कामनासे करते हैं; किंतु जब निष्कामभाव हो जाता है तो ये सब बातें विषके तुल्य लगती हैं। भक्त प्रह्लादके विषयमें वर्णन है कि जब भगवान्‌ने प्रकट होकर प्रह्लादसे वर माँगनेके लिये कहा, तब प्रह्लादने उत्तर दिया कि—

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥
(श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

'जगद्गुरो! परीक्षाके सिवा ऐसा कहनेका और कोई कारण नहीं दीखता; क्योंकि आप परम दयालु हैं। आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया ही है।'

इस प्रकार कोई कामना न रखकर भजन करना ही निष्कामभावसे भजन करना है।

६—साधनकालके समय एकान्त और पवित्र स्थानमें आसनसे बैठकर इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे और मनको भीतरके विषयोंसे रहित करके अपनेको जो प्रिय लगे, उसी नामका उपर्युक्त विधिसे अर्थ और भावसहित जप करना चाहिये।

७—रात्रिमें शयनके समय भगवान्‌के नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर निरन्तर नाम-जप करते हुए ही शयन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकारसे नामका जप करनेपर मनुष्य भगवान्‌के नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझ जाता है, जिसे समझनेके साथ ही तत्काल भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

अब भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका समझना क्या है, यह बात बतलायी जाती है।

१. भगवान्‌के नामके गुण—जैसे बीजके अंदर वृक्ष है, पर वह दीखता नहीं, वैसे ही भगवान्‌के नामके अंदर भगवान्‌के सारे गुण हैं पर वे दीखते नहीं; किंतु बीजको भूमिमें बोकर पानी डालनेसे वह अङ्कुरित हो जाता है और फिर उसमें शनैः-शनैः स्कन्ध, शाखाएँ, पत्ते, मञ्जरी, फल आदि लग जाते हैं तथा वह वृद्धिको प्राप्त होकर पूर्ण रूपसे वृक्ष हो जाता है, इसी प्रकार जो नामका जपरूप बीज है, उसे हृदयरूपी भूमिमें बोकर ध्यानरूपी जलसे सींचनेपर भगवान्‌के क्षमा, दया, समता, संतोष, शान्ति, सत्य, सरलता, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त गुण उस नाम-जापकमें अङ्कुरित होकर विकसित हो जाते हैं, जिससे वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। भगवन्नाममें अपरिमित गुण हैं, उसकी महिमा शेष, महेश, गणेश, दिनेश भी नहीं गा सकते। श्रीतुलसीदासजीने नाम-महिमा कहते हुए यहाँतक कह दिया कि—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

२. भगवान्‌के नामका प्रभाव—भगवन्नामके जपके

प्रभावसे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार, आलस्य, प्रमाद, दुर्व्यसन एवं समस्त दु:ख और विकारोंका अभाव हो जाता है। नाम-जपके प्रभावसे बड़े भारी पापी और नीचका भी उद्धार हो सकता है (देखिये गीता अ० ९ श्लोक ३०-३१) तथा इसके सिवा, भगवान् उसके अनुकूल हो जाते हैं एवं वह भगवान्‌को तत्त्वसे जान जाता है और भगवान्‌को प्राप्त होकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है।

श्रीतुलसीदासजीने तो भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के नामका प्रभाव बताया है—

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

३—भगवान्‌के नामका तत्त्व—जिस प्रकार आकाशमें निराकाररूपसे स्थित जल सूक्ष्म होनेके कारण दीखता नहीं, किंतु वही जल जब बादलके रूपमें आकर बूँदोंके रूपमें बरसता है और फिर वही जल बर्फ और ओलोंके रूपमें बरसता है, तब वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाता है; उसी प्रकार निर्गुण-निराकाररूपसे स्थित परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण नहीं दीखता, किंतु वही परमात्मा जब सगुण-निराकाररूपसे प्रकट होकर संसारकी रचना करते हैं और फिर वही सर्वव्यापी परमात्मा महान् प्रकाशमय तेजके पुञ्जरूपमें प्रकट होकर सगुण-साकाररूपमें आते हैं तब वे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाते हैं। गम्भीरतासे विचार करनेपर तत्त्वसे यही सिद्ध होता है कि आकाशमें जो निराकाररूपसे अप्रकट जल है और जो बादल, बूँद, बर्फ तथा ओलोंके रूपमें जल है, वह वस्तुत: तात्त्विक दृष्टिसे विचार करके देखा जाय तो एक जलसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं। इसी प्रकार तात्त्विक दृष्टिसे विचारकर देखा जाय तो सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त सभी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, वे सब भगवान्‌से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं, एक भगवान् ही हैं।

जो भगवान्‌को अनन्य और निष्कामभावसे भजता है, वह भगवान्‌को तत्त्वत: जानकर उन्हें प्राप्त हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

४—भगवान्‌के नामका रहस्य—जो भगवान्‌के नामके रहस्यको जानता है, वह भगवान्‌के नामकी ओटमें कभी पाप नहीं करता। 'नामका जप करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं—जब नामकी ऐसी महिमा है तो मैं पापसे क्यों डरूँ, भजन करके पापोंका नाश कर दूँगा।' ऐसा समझना नामकी ओटमें पाप करना है। इसी प्रकार नामके जो दस अपराध हैं, उनको नाम-जपका रहस्य जाननेवाला कभी नहीं करता। दस अपराध ये हैं—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

१ सत्पुरुष—ईश्वरके भजन-ध्यान करनेवालोंकी निन्दा, २ अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, ३ विष्णु और शिवके नाम-रूपमें भेद-बुद्धि, ४-५-६ वेद, शास्त्र और गुरुके द्वारा कहे हुए नाम-माहात्म्यमें अविश्वास, ७ हरिनाममें अर्थवादका भ्रम अर्थात् केवल स्तुतिमात्र है ऐसी मान्यता, ८-९ नामके बलपर विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण तथा १० अन्य धर्मों-

से नामकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—ये सब भगवान् शिव और विष्णुके नामजपमें नामके दस अपराध हैं ।'

नामका जप करनेसे पापोंका नाश होता है, न कि वृद्धि । अतः जो व्यक्ति नाम-जपसे पापोंको धो डालनेकी बात सोचकर पाप करता है, वह तो नामकी ओटमें पापोंकी वृद्धि करता है । नाम-जपके माहात्म्यका तो यह रहस्य है कि उसके पहलेके किये हुए पापोंका नाश हो जाता है और नये पाप उससे बनते नहीं । यदि किसी भी कारणसे उससे नये पाप बनते हैं यानी समझ-बूझकर पाप होते हैं तो उसने नाम-जपके रहस्यको नहीं समझा । जो नामजपके रहस्यको समझ लेता है, उससे किसी भी हालतमें पाप नहीं बनते तथा उसके द्वारा नामजप गुप्त और निष्कामभावसे निरन्तर होता है ।

इस प्रकार भगवान्का भजन श्रद्धाभक्तिपूर्वक सदा-सर्वदा सकामभावसे करनेपर भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है । जैसे द्रौपदीने वनमें दुर्वासा ऋषिकी कोपाग्निसे अपने कुटुम्बको बचानेकी कामनासे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवन्नामकी पुकार लगायी, तो भगवान् तुरंत उसके पास आ गये । उस समय द्रौपदीने भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना की—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन ।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर ।

× × ×

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥

(महा० वन० २६३ । ८, ९, १०, १६)

'हे कृष्ण ! हे महाबाहो श्रीकृष्ण ! हे देवकीनन्दन ! हे अविनाशी वासुदेव ! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर ! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हो । इस विश्वको बनाना और बिगाड़ना तुम्हारे ही हाथोंका खेल है । प्रभो ! तुम अविनाशी हो । शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल ! तुम्हीं सम्पूर्ण प्रजाके रक्षक परात्पर परमेश्वर हो । पहले भी सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो ।'

इस प्रकार सकामभावसे पुकारनेपर भी उसे भगवान्की प्राप्ति हो गयी तो फिर निष्कामभावसे भजन करनेपर भगवान्की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ?

अतएव हमलोगोंको भगवान्के नामका जप और कीर्तन श्रद्धाप्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे मनुष्य भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझकर परम शान्ति और परम आनन्दरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

दूसरोंकी निन्दा किसी हालतमें न करो

शेखसादी लड़कपनमें अपने पिताके साथ मक्का जा रहे थे । वे जिस दलके साथ जा रहे थे, उसकी प्रथा थी, आधी रातको उठकर प्रार्थना करना । एक आधी रातके समय सादी और उनके पिता उठे । प्रार्थना की । परंतु दूसरे लोगोंको सोते देख सादीने पितासे कहा—'देखिये, ये लोग कितने आलसी हैं, न उठते हैं, न प्रार्थना करते हैं ।'

पिताने कड़े शब्दोंमें कहा—'अरे सादी ! बेटा ! तू भी न उठता तो अच्छा होता, जल्दी उठकर दूसरोंकी निन्दा करनेसे तो न तो उठना ही ठीक था ।'

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(६७)

मानो ऊँचे आकाशमें उड़ता हुआ अत्यन्त वेगशील मत्स्यरङ्क (मछरलोका) पक्षी जलके अन्तरालमें संतरण करते हुए अपने लक्ष्यभूत मत्स्यको देख ले तथा उसे अपनी चोंचमें भर लेनेके उद्देश्यसे झप-से कूद पड़े—इसी प्रकार सर्वथा भयशून्य होकर श्रीकृष्णचन्द्र कदम्बतरुकी तुङ्गशाखासे उछलकर नीचे—कालियह्रदके जलमें समा गये—

दूरतरमुड्डीय झषं जिघृक्षन्नतितरस्वी मत्स्यरङ्क इव तरसा रसादम्भसि निपपात । (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

साथ ही ह्रदके ऊपर चारों ओर चार सौ हाथतक विषमय जलका प्रवाह बह चला । एक तो पहलेसे ही वहाँ, उस जलराशिमें कालियविषजनित लाल-लाल, पीली-पीली-सी विविध वर्णोंकी ऊँची लहरें उठ रही थीं, सब ओरसे वह ह्रद अपने-आप क्षुब्ध हो ही रहा था और फिर उसपर अतिशय वेगसे कूद पड़े परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र! अतः ऊपर और भी चार सौ हाथ परिमित स्थानमें सहसा जल फैल जाय, उनके पतनके वेगसे जल इतना उछल जाय—इसमें आश्चर्य ही क्या है । बाल्यलीलाविहारी जिस समय व्रजेन्द्रगेहिनीके अङ्कमें विराजित होते हैं, सखाओंकी मनोहर क्रीड़ामें योगदान करते हुए किसी शिशुके स्कन्धपर आरोहण करते हैं, उस समय उनका वह महामरकत नील कलेवर अतिशय सुकोमल कुसुमदलोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त मृदुल, मृदुलतर रहता है; एक लघु तूलपुञ्जमें जितना भार होता है, उससे भी कम भार नील-सुन्दरके श्रीविग्रहमें प्रतीत होता है, पर वे ही श्यामल-कोमल-स्निग्ध लघुभारसमन्वित श्रीअङ्ग जब असुरोंके सम्पर्कमें आते हैं, व्रजराजनन्दनकी जब असुरदमन-लीला आरम्भ होती है, तब फिर तो, देखनेमें ज्यों-के-त्यों रहनेपर भी, उन्हीं अवयवोंके अन्तरालमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड-की गुरुता कोटि-कोटि वज्रसारकी रुक्षता भी व्यक्त हो ही जाती है । अनन्त बलनिधान व्रजराजतनयका बल यथापेक्षित रूपमें प्रकाशित होकर ही रहता है । उनकी अपरिसीम ऐश्वर्य-शक्ति आवश्यक मात्रामें क्रियाशील हुए बिना नहीं रहती । यहाँ भी जब लीला-विहारी कालियदमनलीलाकी अवतारणा करने चले हैं तो तदनुरूप ही मङ्गलाचरण भी होना ही चाहिये । इसलिये ही जल उनके कूदनेसे इतनी दूर उछल आया है । इसमें कुछ भी नवीनता नहीं । अपितु विस्मययोग्य यदि कुछ है तो यह है कि अनन्त-ब्रह्माण्डभाण्डोदरके अतिशय वेगसे कूदनेपर भी जल इतना-सा ही प्रसरित हुआ ! सो भी बाह्य-दृष्टिसे ही ! अन्यथा स्पष्ट इसका समाधान दीख रहा है, वह देखो—इधर तो वे असंख्य गोपशिशु विस्फारित नेत्र हुए अपने कोटि-कोटि प्राणधन नीलसुन्दरकी ओर देख रहे हैं, उनकी पङ्क्तियाँ खड़ी हैं, उन्होंने सीमा जो बाँध दी है। उनके पार तो क्या, उन्हें भी यह विषोर्मि स्पर्श नहीं कर सकती; उनके इस ओर ही कुछ हाथ दूर रहकर ही, स्थलपर लोट रही है—नहीं-नहीं कालियकी भावी विकलताकी मानो सूचना दे रही है। तथा उस ओर कलिन्दकन्याका मञ्जुल प्रवाह है, वह अब क्षणभरके लिये भी इससे अधिक सीमामें विषसिक्त क्यों हो ! यह चार सौ हाथका विषप्लावन भी हुआ है उद्देश्य-विशेषसे ही, यह तो आवश्यक है । उन विचरण करती हुई कालिय-पत्नियोंको श्रीकृष्णचन्द्र इसी मिससे एकत्र जो कर लेना चाहते हैं । इन नागवधुओंके हृदयमें अपने अनन्त ऐश्वर्य, *अपनी सम्पूर्ण भगवत्ताकी भावना* उदय हो जानेसे पूर्व वे उन्हें विशुद्ध लीलारसका दान देना चाहते हैं । महा-महेश्वर व्रजराजनन्दनकी मुग्धता-सम्पुटित भङ्गिमाओंका रस—सुख निराला ही होता है। अतिशय महान् भाग्यशाली कतिपय जन ही एकमात्र उनकी कृपासे इसकी कदाचित् कोई झाँकी पाकर कृतार्थ होते हैं । अत्यन्त क्रूर-हृदय कालिय तो इसका सर्वथा अनधिकारी है, उसका तो यह सौभाग्य ही नहीं कि वह अनन्तैश्वर्य-निकेतन गोकुलेन्द्रनन्दनके ऐश्वर्य-विहीन मधुर बाल्यलीला-रसका आस्वादन ले सके । हाँ, उन नागवधुओंके अन्तस्तलमें एक ऐसी चिरसंचित लालसा अवश्य है और उसके पूर्ण होनेका अवसर भी उपस्थित है। अतएव नागमन्थन होनेसे पूर्व भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभु श्रीकृष्ण-चन्द्र पहले उनका ही मनोरथ पूर्ण करने चलते हैं । और इसीलिये अकस्मात् ह्रदमें एक विशाल हिण्डन उत्पन्न कर, इसके द्वारा 'कालिय (उनका पति) निद्रासे जाग उठा है' यह भ्रम उत्पन्न कर उन्हें अपने पतिके शयनागारमें ही बुला लेनेके उद्देश्यसे यह जल इतना आलोडित कर दिया गया है—

सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-
संक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।

पर्यङ्क् प्लुतो विपकपायविभीषणोर्मि-
धींवन् धनुःशतमनन्तवलस्य किं तत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ७)

नल अनंत है जासु, त्रिभुवन पति भगवंत हरि ।
अचरज अहै न तासु, सत धनु जल गो चारि दिसि ॥

× × ×

वर बारन ज्यों जल मैं धसरै । सत सत धनु चहुँ दिसि पय पसरै ॥

अस्तु, क्षण भी न लगा, श्रीकृष्णचन्द्र कालियके उस शयनगृहमे जा पहुँचे । नागवधुओंकी दृष्टि भी उनके श्यामल-कोमल श्रीअङ्गोंपर जा पड़ी । फिर तो ऐसे सौन्दर्यनिधि शिशुको देखकर वे कुछ क्षणोंके लिये हतप्रभ हो गयीं । सुन्दरता तो उन वधुओंके अङ्गोंसे भी झरती थी, अपने रूपका उन्हें ग र्व भी था, स्वर्बालाएँ अपनी तुलनामें उन्हें हेय प्रतीत होती थीं; किंतु नील-सुन्दरके विश्वविमोहन-सौन्दर्यके दर्शन तो उन्हें आज ही हुए हैं ! अपलक नेत्रोंसे वे इस त्रैलोक्य-मनोरम रूपको देख रही थीं, किंतु देखते-देखते ही सहसा उनके प्राण स्पन्दित होने लग गये—'हाय रे ! इस बालकका भविष्य ! क्रूर पतिके सम्पर्कमें इस अप्रतिम सुन्दर शिशुकी क्या दशा होगी ?'—

अति कोमल तनु धरयौ कन्हाई ।
गये तहाँ जहँ काली सोवत, उरग नारि देखत अकुलाई ॥

उन नागवधुओंका हृदय भर आया । सौन्दर्यका आकर्षण तो उन्हें बाध्य कर रहा था नील-सुन्दरका परिचय प्राप्त कर लेनेके लिये; गद्गद पर अतिशय धीमे कण्ठसे एक प्रश्न उन सबोंने श्रीकृष्णचन्द्रसे कर भी दिया, किंतु उत्तर पानेका धैर्य वे न रख सकीं । अपनी कल्पनाके अनुसार इस सुन्दर बालककी आसन्न दुरवस्थाका चित्र उनकी आँखोंमें नाच उठा । आतुर होकर वे श्रीकृष्णचन्द्रको उस स्थानसे शीघ्रातिशीघ्र भाग जानेके लिये संकेत करने लगीं, स्पष्ट रूपसे भी कह बैठीं—

कहयौ कौन कौ बालक है तू, बार-बार कही, भागि न जाई ।
छनकहि मैं जरि भस्म होइगौ, जब देखै उठि जाग जम्हाई ॥

किंतु श्रीकृष्णचन्द्र तो भागना दूर, हँस रहे हैं । हँस-हँसकर कह रहे हैं—

उरग-नारि की बानी सुनि कै, आपु हँसे मन मैं मुसुकाई ।
मोकौं कंस पठायौ देखन, तू याकौं अब देहि जगाई ॥

लीलासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी अनादि-अनन्त लीलाओंमें किसी एक लीलाका भी—उसके किसी स्वल्पतम अंश-का भी 'अथ' 'इति' निर्देश कर देना, यहाँ इसका आरम्भ है, यहाँ इसकी परिसमाप्ति हुई,—इस प्रकार इत्थम्भूतरूप निर्धारित कर देना आजतक किसीके लिये भी सम्भव नहीं हुआ, अनन्त कालतक किसीके लिये होगा भी नहीं । इस अपरिसीम सिन्धुमें कहाँ किस समय कौन-सी ऊर्मि उठी, कहाँ कितने कालके अनन्तर वह विलीन हुई—यह आजतक किसीने नहीं जाना । वहाँ, उनके स्वरूपभूत वृन्दाकाननमें प्राकृत अवच्छेद नहीं, प्राकृत कालमान नहीं । लीला-निर्वाह-के लिये वहाँ सब कुछ वस्तुएँ एवं अभिनव प्रतीयमान काल-नियन्त्रण है अवश्य पर वे सब-के-सब सर्वथा सच्चिदानन्दमय हैं—इन्हीं शब्दोंमें यत्किंचित् उस अप्राकृत सत्ताको हम शाखा-चन्द्रन्यायसे हृदयङ्गम कर सकें तो भले कर लें । अन्यथा सर्वथा अनिर्वचनीय, अचिन्त्य है वह । इसीलिये किसी भी लीलाका ओर-छोर पा लेना सम्भव नहीं । व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला-महाशक्ति जहाँसे जिस लीलास्रोतको मोड़ देती है, अन्तर्हित कर देती है, एवं पुनः उसे उद्बुद्ध कर प्रसरित कर देती है—इसे तो हम उनकी कृपाशक्तिसे अनुप्राणित होकर किसी अंशमें जान सकते हैं, पर उस स्रोत-का मूल एवं उसका पर्यवसान कहाँ है, कहाँ होगा—यह सदा अज्ञात ही रहता है। अभी पाँच प्रहर पूर्वकी ही तो बात है—व्रजेन्द्रसदनमें इस कालियमन्थन-लीलाकी पृष्ठभूमिके रूपमें न जाने कितनी घटनाएँ घटित हो चुकी हैं । पर यह कौन जानता है कि वास्तवमें इनका आरम्भ कहाँ हुआ एवं इनके अवसान-विन्दुकी उपलब्धि कहाँ होगी । जिसे हम इनके मूल-के रूपमें अनुभव करते हैं, जिसका हमें प्रसरित होते रहनेका भान होता है और जिसे हम समापकविन्दु निर्धारित करते हैं, वह तो सचमुच लीलाशक्तिके नियन्त्रणमें अत्यन्त सुदूर—नहीं-नहीं अनादि अनन्त प्रवाहके वे बिन्दु हैं—जहाँ व्रजराज-नन्दनका आनन्दवर्द्धन करनेके लिये, विश्वको उनके स्वरूप-भूत निराविल चिन्मय आनन्दरसका दान करनेके लिये लीला-की धारा अपेक्षित विन्दुके पास मुड़कर व्यक्त हो गयी है, गन्तव्य दिशाकी ओर निर्धारित विन्दुतक प्रवाहित हो रही है और फिर वहाँसे उद्देश्य-विशेषके लिये—रसपोषणके लिये अन्तर्हित कर दी गयी है तथा अवसर आते ही फिर व्यक्त हो जायगी । इसे और भी स्पष्टरूपसे हम इन घटनाओंमें देख लें—

इस क्षणसे लगभग साढ़े पाँच प्रहर पूर्व श्रीकृष्णचन्द्र जननीके द्वारा आस्तृत शय्यापर शयन कर रहे थे—

सिव सनकादि अंत नहिं पावत, ध्यावत अह-निसि-जामहिं।
सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन, सो सोवत नँदधामहिं॥

प्रेमविवश व्रजदम्पति भी वहीं सो रहे थे—तममें नहीं, स्नेह-समाधिमें उनका मन विलीन हो रहा था—

सेज मँगाइ लई तहँ अपनी, जहाँ स्याम-बलराम।
सूरदास प्रभु कैं ढिग सोए, सँग पौढ़ी नँद-बाम॥

सहसा नीलसुन्दर चौंक उठे। व्रजरानी एवं व्रजेन्द्रने भी दीपकका प्रकाश और भी दीप्त किया और अपने प्राणधनके झिझक उठनेका कारण—वह अशुभ स्वप्न भी उन्होंने जान लिया—

जाग उठे तब कुँवर कन्हाई।
मैया कहाँ गई मो ढिग तें, सँग सोवति बल भाई॥
जागे नंद, जसोदा जागी, बोलि लिये हरि पास।
सोवत झिझकि उठे काहे तें, दीपक कियौ प्रकास॥
सपनें कूदि परयौ जमुना-दह; काहूँ दियौ गिराइ।
सूर स्याम सौं कहति जसोदा, जनि हो लाल डराइ॥

अपने नीलमणिको तो मैयाने हेतु बताकर आश्वासन दे दिया; नीलमणि सुखकी नींद सो भी गये—

मैं बरज्यौ जमुना-तट जात।
सुधि रहि गई न्हात की तेरैं, जनि डरपौ मेरे तात॥

× × ×

अब जनि जैहौ गाइ चरावन, कहूँ को रहति चलाइ।
सूर स्याम दंपति बिच सोए, नींद गई तब आइ॥

पर स्वयं नन्दगेहिनीका हृदय दुर्-दुर् कर उठा—

सपनौ सुनि जननी अकुलानी।

जैसे-तैसे इस चिन्तनमें ही निशाका अवसान हो गया। व्रजरानीके हृदयकी टीस भी किसी अचिन्त्य शक्तिने हर ली। अतिशय उमङ्गमें भरकर वे आज पुनः स्वयं ही अपने नीलमणिके लिये नवनीत प्रस्तुत करने चलीं—

रहि अंतर भिनुसार भयौ।
तारागन सब गगन छपाने, अरुन उदित अँधकार गयौ॥
जागी महरि, काज-गृह लागी, निसि कौ सब दुख भूलि गयौ।

× × ×

ग्वालनहारि सब ग्वालि बुलाईं, भोर भयौ उठि मथौ दह्यौ।
सूर नंद घरनी अतुराइ, मथन मथानी-नेति गह्यौ॥

इधर तो यह सब हो रहा है। उधर परब्रह्म पुरुषोत्तमके इस स्वप्नकी सुन्दर-सी भूमिका भी ठीक उसी समय प्रस्तुत हो चुकी है। नराकृति परब्रह्म स्वप्न देख रहे थे तथा उसी समय उन्हींके ही परम भक्त देवर्षि नारदकी वीणा मधुपुरीके सम्राट् कंसके एकान्त कोष्ठमें झङ्कृत हो रही थी, प्रभुके हृदय-स्वरूप देवर्षि उस नृशंसको परामर्श-दान कर रहे थे—

नारद ऋषि नृप सौं यौं भाषत।
वै हैं काल तुम्हारे प्रगटे, काहैं उनकौं राखत॥
काली उरग रहै जमुना मैं, तहँ तें कमल मँगावहु।
दूत पठाइ देहु ब्रज ऊपर नंदहि अति डरपावहु॥
यह सुनि कै ब्रज लोग डरैंगे, वैं सुनि हैं यह बात।
पुहुप लैन जैहैं नँद-ढोटा, उरग करै तहँ घात॥
यह सुनि कंस बहुत सुख पायौ, भली कही यह मोहि।
सूरदास प्रभु कौं मुनि जानत, ध्यान धरत मन जोहि॥

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके यन्त्रभूत देवर्षिकी वह प्रेरणा तुरंत ही क्रियामें भी परिणत हो गयी—

पुनि-पुनि कंस मुदित मन कीन्हौ।
दूतहिं प्रगट कही यह बानी, पत्र नंद कौं दीन्हौ॥
कालीदह के कमल पठावहु, तुरत देखि यह पाती।
जैसैं कालिह कमल ह्याँ पहुँचैं, तू कहियौ इहिं भाँती॥
यह सुनि दूत तुरत हीं धायौ, तब पहुँच्यौ ब्रज जाइ।
सूर नंद-कर पाती दीन्हीं, दूत कह्यौ समुझाइ॥

व्रजेश उस समय तोरणके समीप अवस्थित थे। अंशुमालीकी किरणें व्रजपुरको उद्भासित कर रही थीं। प्रातःका शीतल मन्द सुगन्ध समीर द्रुमवल्लरियोंकी ओटसे छुर-छुरकर व्रजेशको स्पर्श कर रहा था, किंतु उनकी आँखोंके आगे तो अँधेरा छा गया। अपने नीलमणिकी अनिष्टाशङ्कासे वे काँप उठे। शूलकी-सी वेदना होने लगी। शरीर दुःखभारसे जल-सा उठा। दूत तो चला गया और व्रजेश किसीसे कुछ भी न कहकर अपने शयनागारमें व्रजरानीकी शय्यापर कटे वृक्षकी भाँति आकर गिर पड़े। परिस्थितिकी गम्भीरताका अनुमान कर प्रमुख गोप आ पहुँचे। व्रजेश्वर अत्यन्त विह्वल होकर कहने लगे—

आपु चढ़े ब्रज-ऊपर काल।
कहाँ निकसि जैये को राखै, नंद कहत बेहाल॥
मोहि नहीं जियकी डर नैंकहु दोउ सुतकौं डर पाउँ।
गाउँ तजौं, कहुँ जाउँ निकसि कै, इनहीं काज पराउँ॥
अब उबार नहिं दीसत कतहूँ, सरन राखि को लेइ।

और व्रजरानी व्रजपुर-वनिताओंसे आवृत होकर सोच कर रही थीं। उनकी आँखोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह झर रहा था—

नंद-घरनि व्रज-नारि विचारति ।
व्रजहिँ बसत सब जनम सिरानौ, ऐसी करी न आरति ॥
कालीदहके फूल मँगाए, को आनैं धौं जाइ ।
व्रजवासी नातरु सब मारैं, बाँधे बलऽरु कन्हाइ ॥
यहै कहत दोउ नैन ढगने, नंद-घरनि दुख पाइ ।

अब आये नीलसुन्दर। उनके सुमधुर कण्ठकी सुधा-धारासे वहाँका जलता हुआ वातावरण शीतल हो गया—

सूर स्याम चितवत माता-मुख, बूझत बात बनाइ ॥

जननी भी उनके बिम्बविडम्बि अधरोंपर आतुर स्नेहका चुम्बन अङ्कित कर बोल उठीं—

पूछौ जाइ तात सौं बात ।
मैं बलि जाउँ मुखारविंद की, तुमहीं काज कंस अकुलात ॥

मैयाकी बात सुन लेनेके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र बाबाके पास चले, किंतु वहाँ पहुँचनेसे पूर्व ही उनके अपरिसीम ऐश्वर्यकी एक क्षीण रेखा प्रकाशित हो उठी, बाल्यलीला-विहारीकी वह मुग्धता बाहरसे अक्षुण्ण रहनेपर भी भीतर उसका आलोक परिव्याप्त हो उठा और तदनुरूप मन-ही-मन अग्रिम कार्यक्रमका निश्चय हो गया। बाबाने भी स्थिति स्पष्ट कर दी—

आए स्याम नंद पै धाए, जान्यौ मातु-पिता बिलखात ।
अबहीं दूरि करौं दुख इनकौ, कंसहिँ पठै देउँ जलजात ॥
मोसौं कहौ बात बाबा यह, बहुत करत तुम सोच बिचार ।
कहा कहौं तुम सौं मैं प्यारे, कंस करत तुमसौं कछु झार ॥
जब तैं जनम भयौ है तुम्हरौ, केते करवर टरे कन्हाइ ।
सूर स्याम कुल देवनि तुमकौं जहाँ तहाँ करि लियौ सहाइ ॥

फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रका दिया हुआ मधुरातिमधुर आश्वासन एक साथ सबके कानोंमें गूँज उठा—

तुमहिँ कहत कोउ करै सहाइ ।
सो देवता संग हीं मेरैं, व्रज तैं अनत कहूँ नहिँ जाइ ॥
वह देवता कंस मारैगौ, केस धरे धरनी घिसियाइ ।
वह देवता मनावहु सब मिलि तुरत कमल जो देइ पठाइ ॥

और अन्तमें व्रजराजदुलारेके होठोंपर नित्य विराजित स्मित मानो किंचित् और भी विकसित हो उठा हो, इस प्रकार तनिक-सा हँसकर उन्होंने कुछ और भी कह दिया। पर सच तो यह है कि वे नहीं हँसे, उन्होंने यह बात नहीं कही, यह तो उनकी अघटनघटनापटीयसी योगमाया ही अधरोंके अन्तरालमें हँस पड़ीं और साथ ही अन्तर्हित होनेसे पूर्व व्रजरानी, व्रजेन्द्र, व्रजपुरवासी, व्रजवनिताएँ—सबके स्मृति-पथसे उन्होंने इस घटनाकी सम्पूर्ण स्मृतिको पोंछकर अपने अञ्चलमें भर लिया—

बाबा नंद झखत किहिँ कारन, यह कहि मया मोह अरुझाइ ।
सूरदास प्रभु मातु-पिता कौ, तुरतहिं दुख डार्‌यौ बिसराइ ॥

सभी इस समय तो सर्वथा भूल गये—'नृशंस कंसका कोई दूत आया था, कमल भेजनेका आदेश है !' और तो क्या, स्वयं अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रने भी पहलेकी भाँति मुग्धताकी चादर ओढ़ ली। सर्वज्ञ सर्ववित् प्रभु भी इसे सर्वथा भूले-से होकर गोसंचारणके लिये वनमें पधार गये।

इस प्रकार लीलामहाशक्तिकी योजनाके अनुसार व्रजेन्द्र-नन्दनके अनादि, अन्तविहीन चित्रपटमें यह दृश्य उद्भासित हुआ और फिर मानो ऐसा कुछ भी हुआ ही नहीं—इस रूपमें विस्मृतिका एक घन आवरण इसपर डाल दिया गया। अथवा ऐसे कहें—लीलाप्रवाह अनिर्देश्य-विन्दुसे प्रसरित होकर दो मार्गोंमें विभाजित हो गया। एक स्रोत मधुपुरीके कंसप्रासादकी ओरसे होकर आया, अन्य नीलसुन्दरके स्वप्नको छूकर व्रजेश्वरीके वात्सल्यसिन्धुमें एक क्षीण कम्पनका सृजन कर अन्तर्हित हो गया—सदाके लिये नहीं अपितु समयपर व्रज-दम्पतिकी वात्सल्यमन्थन-लीलामें उस वेदनाके मन्थनदण्डको अत्यधिक गतिशील बना देनेके उद्देश्यसे व्यक्त होनेके लिये। ऐसे ही मधुपुरीकी ओरसे प्रवाहित स्रोत भी कुछ देर तो प्रसरित होता रहा, पर सहसा यह भी अन्तर्हित हो गया। उसीकी भाँति यह भी उचित अवसरपर पुनः व्यक्त अवश्य होगा; किंतु यह होगा व्रजवासियोंको, व्रजेन्द्र-दम्पतिको परम उल्लासमें भर देनेके लिये और उससे पूर्व नागवधुओंके हृदयमें करुण भावका संचार करनेके लिये यह अभी-अभी यहाँ पुनः व्यक्त हो रहा है। श्रीकृष्णचन्द्र इसीलिये तो उस लीलास्रोतसे परिचालित—भावित होकर ही तो नागवधुओंसे कह बैठे हैं—'री ! कंसने मुझे कालियके दर्शनके लिये ही तो भेजा है ! तुम इसे जगा दो !'

अस्तु, नागवधुएँ कातर होकर बारंबार आग्रह करने लगती हैं—'रे बालक ! तूं भाग जा !'—

दोनों पक्षोंमें उनके स्वजनवर्ग हैं । उन्होंने देखा—जिनको मारकर उन्हें विजय प्राप्त करना है, उन्हीं लोगोंमें उनके पूज्यपाद पितामह भीष्मदेव और आचार्य द्रोण एवं इनके अतिरिक्त उनके पूज्यपाद प्रेमास्पद और स्नेहास्पद अनेकों आत्मीय वहींपर प्राण-विसर्जनके लिये सशस्त्र और संत्रस्तभावसे खड़े हैं। 'दुर्बुद्धि' दुर्योधनके राज्यलोभ और जिघांसावृत्तिको चरितार्थ करनेके यन्त्ररूप वे लोग स्वेच्छासे या अनिच्छासे प्राणाशा, धनाशा और सुखाशाको विसर्जन करके युद्धके लिये एकत्रित हुए हैं। उनके अपने पक्षमें भी सभी आत्मीय बन्धु-बान्धव हैं। ये लोग भी उनके स्वार्थ-साधनका आनुकूल्य करनेके लिये ही अपने सम्पूर्ण स्वार्थका बलिदान करनेके लिये उपनीत हैं। दोनों पक्षोंमें ही स्वजन हैं एवं इस युद्धमें जय-पराजय चाहे जिस पक्षका हो—उनके अपने पक्षकी ही विजय होगी, इस सम्बन्धमें अवश्य उनके मनमें कोई संदेह नहीं है—स्वजनवर्गका निधन अवश्यम्भावी है, कुरुवंशका विनाश और क्षत्रकुलका ध्वंस अवश्यम्भावी है। एक ही परिवारके अन्तर्भुक्त धृतराष्ट्रपुत्र और पाण्डु-पुत्रोंकी प्रतिद्वन्द्वितासे आज भारतकी क्षात्रशक्ति समूल ध्वंस होने चली है, समृद्ध राज्यसमूह श्मशानमें परिणत होनेको उपस्थित हैं, वंशपरम्परागत सनातन साधन-धाराका स्वच्छन्द प्रवाह अवरुद्ध होकर नैतिक और आध्यात्मिक मरुभूमिमें पर्यवसित होनेको अग्रसर हो रहा है !

अर्जुनका हृदय निधनोन्मुख क्षत्रियोंके प्रति करुणासे उद्वेलित हो उठा, स्वजनवर्गोंके प्रति सहानुभूतिसे उनका अन्तःकरण आप्लुत हो गया, ज्ञातिनाश और कुलक्षयकी चिन्तासे उनका चित्त विषादसे भर गया, युद्धके अवश्यम्भावी परिणामका भयावह चित्र मन-ही-मन अङ्कित करके उसकी भीषण ज्वाला उपस्थित हो गयी, आतङ्कसे उनका सर्वाङ्ग अवसन्न होकर काँपने लगा। उनका पूर्वसंकल्प कहीं मानो बह गया, क्षात्रभाव विलुप्त हो गया, आरब्धकर्म घोरतम अधर्मके रूपमें उनकी बुद्धिमें प्रतीयमान होने लगा, उनके न्याय-धर्म-परायण मनीषिगण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरके नेतृत्वमें इस अमानुषिक महापापमें कैसे विचारसे सम्मत और प्रवृत्त हुए, यही उनकी बुद्धिमें अब आश्चर्य जान पड़ने लगा। वे किंकर्तव्यविमूढ हो गये। एक ओर आरब्ध कर्म और दूसरी ओर उस कर्मके प्रति घोर वितृष्णा। एक ओर सबकी समवेत मन्त्रणासे निर्धारित क्षत्रियोचित कर्तव्य, दूसरी ओर ठीक कर्मारम्भके समय अकस्मात् अपने विचारसे उसकी घोर पापके रूपमें अनुभूति। कर्मक्षेत्रसे दूर अवस्थान कालमें जो कर्म धर्मसङ्गत और अवश्यकर्तव्य जान पड़ता था, जिस सुमहान् कर्मके सुचारु सम्पादनमें आत्मनियोग करके जीवनको धन्य करनेके लिये उत्साहकी सीमा न थी, जिस वीरोचित कर्ममें शक्ति-प्रदर्शनके लिये आग्रहके साथ दिन गिने जाते थे, उसी कर्मका बाहरी स्वरूप जब मूर्तिमान् होकर आँखोंके सामने आया, तब कर्मका उत्साह मिट गया। उस कर्मकी सम्यक् सिद्धि—जिन सब लोगोंके दैहिक क्लेश, मानसिक दुःख—धन-नाश और प्राण-नाशके द्वारा प्राप्त करनी होगी, उन लोगोंको जब आँखोंके सामने देखा, तब उनका मुख देखकर हृदय स्नेहसे विगलित हो गया, उन लोगोंके प्रति आत्मीयताका बोध नूतन भावमें जाग्रत् हो उठा और उस आत्मीयभावने उनके सब अपराधोंको भुला दिया, उन लोगोंके क्लेश-उत्पादनकी कठोर निष्ठुरताकी सुतीव्र अनुभूतिने चिरजीवनपोषित आदर्शको निष्प्रभ और मलिन कर डाला। उपायकी कठोरता और अवान्तर आनु-षङ्गिक फलकी अनभीप्सताके कारण समस्त कर्म और उसका चरम फल भी जघन्य रूपमें बोध होने लगा।

जिन धृतराष्ट्र-पुत्रोंके न्यायधर्मविगर्हित अमानुषिक अत्याचार बाल्यकालसेही पाण्डुपुत्रोंके मर्मस्थानोंमें तीरके समान चुभ गये थे, जिनकी जघन्य जिघांसावृत्तिकी मर्म-भेदिनी स्मृति प्रतिक्षण उनके अन्तःकरणको जला रही थी, जिनके असंख्य प्रकारके षड्यन्त्रोंके फलस्वरूप जीवनके आरम्भसे ही वे कभी निश्चिन्त मनसे कुछ कालके लिये भी सुखभोग नहीं कर सके थे, माता, पत्नी, पुत्र आदिको सुखी न कर सके थे, केवल तीव्र दुःखसे तीव्रतर दुःखमें ही गिरते चले गये थे—आज इस सम्मुख युद्धमें उपस्थित होकर उन्हीं लोगोंके मुखोंको देखकर वही अर्जुन सोचते हैं कि इन सब बन्धुओंको खोकर राज्यभोग-सुखका क्या प्रयोजन होगा ? जिन लोगोंके लिये इन सब लौकिक भोगसम्पत्तियोंकी आकाङ्क्षा की जाती है, वे आत्मीय ही यदि मर जायँगे तो इन सबको लेकर क्या होगा ? धृतराष्ट्रपुत्रोंके जितने अन्याय, अपराध थे, आज उनको ध्वंसोन्मुख देखकर अर्जुन मानो उन सबको भूल गये। ये जो 'स्वजन' हैं, ये जो पूज्यचरण स्नेहमय ताऊ धृतराष्ट्रके पुत्र हैं। इनके जीवनके साथ हमारा जीवन जो एकसूत्रमें बँधा है, इस अनुभूतिने इस समय अर्जुनके हृदयको सम्यक् रूपसे अधिकार जमा लिया था।

दुर्योधनादिने अनेक प्रकारके अन्याय और पापकार्य किये

थे। विष दिया, घरमें अग्नि लगाकर जलाना चाहा, कुलवधू द्रौपदीकी भरी सभामें लाञ्छना की, कपटके जूएमें समस्त राज्यका अपहरण कर लिया इत्यादि—बड़े-से-बड़ा पाप करनेमें वे कभी नहीं हिचके। इस समय भी घोरतर पाप करनेके लिये उत्साहके साथ अग्रसर हो रहे हैं; यह सत्य है, किंतु वे अज्ञ उद्दण्ड बालकके समान 'दुर्बुद्धि' हैं, वे अपना हिताहित सोचनेमें असमर्थ हैं, वे धर्माधर्म-विचारके सम्बन्धमें अन्धे हैं, उनका चित्त लोभसे अभिभूत होकर विवेकहीन और आत्मविस्मृत हो गया है। वे तो दयाके पात्र हैं। उनके प्रति क्या क्रोध करना उचित है? विज्ञ पुरुष क्या मूर्ख बालकोंकी दुर्बुद्धिसे आत्मविस्मृत होकर स्वयं भी दुर्बुद्धिको सहारा देंगे? धर्मज्ञ और धर्मनिष्ठ लोग क्या धर्मज्ञानवञ्चित विकल-हृदय अधर्माचारियोंके अत्याचारसे आत्मरक्षा करनेके लिये भी उनके पापपथका अनुसरण कर सकते हैं? धर्मपरायण महात्मा यदि समर्थ हों, तो इन सब पापियोंको पापसे निवृत्त करनेका प्रयास करें; असमर्थ हों तो दूर रहकर उनके बुद्धि-परिवर्तन और कल्याणके लिये आन्तरिक प्रार्थना करें, अथवा यदि प्रयोजन हो, तो उनकी कल्याण-कामनाको हृदयमें रखकर उनके पापरत जिघांसाप्रणोदित हिंसाप्रेरित नृशंस हाथोंसे अपने जीवनका बलिदान करनेके लिये प्रस्तुत हो जायँ। मृत्युके द्वारपर खड़े दुर्योधन-दुःशासनादिको देखते-देखते अर्जुनका चित्त आज ऐसी करुणासे विगलित हो गया। उनकी सहानुभूतिसम्पन्न दृष्टिमें आज दुर्योधनादिके अपराध अज्ञ उद्दण्ड पुत्र-कन्या या कनिष्ठ भ्रातादिके अपराधके समान क्षमाके योग्य प्रतीत होने लगे। वे निजजन हैं,—इस अनुभूतिसे उनके सारे अपराधोंकी स्मृति अकिंचित्कर हो गयी। निश्चेष्ट निरस्त्र-अवस्थामें रहकर अर्जुन आज उनके अस्त्राघातसे जीवन विसर्जन करनेको प्रस्तुत हैं, किंतु उनके अङ्गोंपर प्रतिघात करनेको प्रस्तुत नहीं!

स्वपक्षमें और विपक्षमें मृत्युके सामने उपस्थित स्वजन बन्धु-बान्धव और सम्पूर्ण देशके क्षत्रिय वीरको प्रत्यक्ष देखकर ही अर्जुनके मनमें जो भावान्तर हो गया, उस आगन्तुक भावके द्वारा उनकी विचार-बुद्धि भी प्रभावित होकर नवीन धारामें प्रवाहित होने लगी। उद्योगपर्वमें सब लोग सम्मिलित-रूपसे सभी ओरसे इष्टानिष्टका विचार करके जिस सिद्धान्तपर पहुँचे थे, वह सिद्धान्त इस समय नितान्त ही भ्रान्त दिखायी देने लगा। उनके वर्तमान विचारके तुलादण्डपर एक ओर तो स्थापित हुआ 'राज्यं भोगाः सुखानि च' और दूसरी ओर स्थापित हुआ स्वजनहत्या, 'कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्'। उनकी दृष्टिमें इस समय यही बात आयी कि इस युद्धका उद्देश्य उन लोगोंके पक्षमें अपने राज्य और सम्पत्तिका लाभ छोड़कर और कुछ नहीं है, एवं इतनेसे स्वार्थसाधनके लिये ही हमलोग आज स्वजनवर्गका निधन, स्ववंशनाश और भारतके क्षत्रियकुलका क्षय करनेको उद्यत हैं। थोड़ी सावधानीके साथ विचार करनेपर हृदयङ्गम हो जायगा कि उद्देश्यके यथार्थतः सफल होनेकी कोई सम्भावना नहीं, युद्धमें विजय-लाभ सुनिश्चित होनेपर भी, राज्यसुख-सम्भोगकी आशा सुदूरपराहत है; क्योंकि—

> येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
> त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥

केवल इतना ही नहीं, इनको मारकर जीवित रहना भी तो विडम्बनामात्र है—

'यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।'

यदि ऐसे उद्देश्यके सफल होनेकी सम्भावना भी रहती, तथापि उसके लिये ऐसे भीषण अनर्थकारी कर्ममें प्रवृत्त होना किसी धर्मप्राण व्यक्तिके पक्षमें सङ्गत नहीं। पृथ्वीका राज्य तो दूरकी बात, त्रैलोक्यके राज्यके मूल्य-स्वरूप भी इस स्वजन-हत्या, कुलक्षय, मित्रद्रोह आदि पापको स्वीकार करना विवेकी पुरुषके लिये असम्भव है।

अर्जुनकी इस युद्ध-विमुखताके मूलमें क्या केवल स्वजन-प्रीति है? आत्मीय बन्धु-बान्धवोंकी ममताने ही क्या उनके इस अप्रीतिकर कर्तव्यसाधनमें विघ्न उपस्थित किया है? पितामह, आचार्य, पितृव्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, श्वशुर, साले आदि भक्तिभाजन, प्रेमास्पद और स्नेहास्पद आत्मीयोंके मरणकी आशङ्कासे शोकाकुल होकर ही क्या वे श्रेयके मार्गसे विच्युत होकर प्रेयके निकट आत्मसमर्पण कर रहे हैं? अर्जुन-के सदृश दृढ़-संकल्प स्वधर्मनिष्ठ विचारशील वीर पुरुषके लिये वह तो सर्वथा कलंककी बात होगी। अर्जुनको अपने मनमें भी कदाचित् अपने सम्बन्धमें यह संदेह उत्पन्न हो गया हो। इसीलिये अपने देहेन्द्रिय-मनके स्वभावविरुद्ध लक्षणों ('विपरीतानि निमित्तानि') का उल्लेख करके वे धर्माधर्म-विचारमें प्रवृत्त हुए हैं। उन्होंने कहा—

'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।'

युद्धमें स्वजनोंका वध करके मैं कोई श्रेय भी नहीं देख पाता। इस हत्याव्यापारमें कोई 'प्रीति' नहीं होगी, इतना ही

नहीं है। श्रेयके लिये वे प्रेयका परित्याग कर देनेको प्रस्तुत हैं, एवं जीवनभर वे यही करते आये हैं। किंतु यह तो श्रेय नहीं है, यह तो घोर अधर्म है। इसके सम्पादनमें अधर्म एवं परिणाममें भी गुरुतर अधर्म है। इस महायुद्धके परिणाममें यह क्षत्रियकुल एवं समग्र जाति धर्मशून्य हो जायगी; कुलधर्म, जातिधर्म सब नष्ट हो जायँगे, अपने स्वयं नरकमें डूबेंगे और पिता-पितामह भी स्वर्गभ्रष्ट होकर नरकगामी होंगे।

महाप्राण अर्जुन जाति और कुलके लौकिक और आध्यात्मिक कल्याणके तुलादण्डपर इस युद्धके औचित्यानौचित्यके विचारमें प्रवृत्त हुए। प्रत्येक मनुष्य ही किसी एक कुलमें जन्म ग्रहण करता है, एवं उस कुलके विराट् शरीरका वह एक अङ्ग-विशेष है। समष्टिके अङ्गीभूत-भावमें ही व्यष्टिकी स्थिति है, एवं समष्टिके कल्याणके लिये ही व्यष्टिका जीवन है। समष्टिके कल्याणमें ही व्यष्टिका यथार्थ कल्याण साधित होता है। कुलके समष्टिगत जीवनके एक-एक विशेष प्रकाशरूपमें ही प्रत्येक नर-नारीका जन्म-कर्म होता है। वर्तमानमें इस परिवारमें, कुलमें या वंशमें जो बचे हैं उन्हींकी समष्टि परिवार, कुल या वंश नहीं है; वरं अनिर्दिष्ट ऊर्ध्वतन पूर्वपुरुषसे आरम्भ करके पुरुषपरम्परा-क्रमसे अनिर्दिष्ट अधस्तन वंशधरोंतक एक वंशसम्भूत अतीत वर्तमान भविष्यत् सब नर-नारियोंकी समष्टि ही एक कुल है। प्रत्येक कुलकी एक विशिष्ट जीवनी शक्ति है, विशिष्ट साधन-धारा है, समग्र जातिके विशाल कर्मक्षेत्रमें एक-एक विशेष विधिनिर्दिष्ट कार्य है। मानवीय साधनाकी जो विशिष्ट धारा किसी कुलके प्राक्तन महाजनोंसे विशेष आकार ग्रहण करके वंशपरम्पराक्रमसे देशकालावस्थानुसार आकृति-प्रकृति और गतिके यथोचित परिवर्तनके द्वारा भावी वंशधरोंके अभिमुख प्रवाहित होकर चलती है, वही उस कुलका कुलधर्म है। इस कुलधर्मको निराविल, सजीव और क्रमविकाशमान रखनेके लिये; कुलका प्रत्येक नर-नारी वर्तमान जातिवर्गके सामने पूर्वगत पितृपुरुषोंके सामने एवं अनागत संतान-संततिके सामने उत्तरदायी है। प्रत्येक व्यक्तिकी कुलोचित साधनाके सामर्थ्यानुयायी अभ्यासके साथ अतीत युगके, वर्तमान युगके और भावी युगके असंख्य नर-नारियोंका कल्याण अविच्छिन्नभावसे जुड़ा हुआ है। इस कुलधर्ममें जो आघात करता है, वह नराधम इन असंख्य नर-नारियोंके स्वार्थपर आघात करता है। वे सभी लोग अलक्षितरूपसे मानो हमारे जीवनकी ओर ताकते रहते हैं। हमलोगोंका पाप उनके दुःखका और हमारा पुण्य उनके सुखका कारण होता है। इस कुल-धर्मकी ओर एवं कुलके वर्तमान, अतीत और भविष्यके अगणित नर-नारियोंके कल्याणकी ओर लक्ष्य रखते हुए हमलोगोंके लिये दायित्वपूर्ण जीवनका सद्व्यवहार करना उचित है। अपने निजकी किसी ऐहिक सुखसम्पत्ति या यश-मान, ऐश्वर्यके लोभसे किंवा किसी बुरा करनेवालेका बदला लेने अथवा अपराधीको दण्ड देनेके उद्देश्यसे कुलधर्मको कलुषित करना—कुलक्रमागत साधन-धाराकी निराविल गतिमें रुकावट डालना उचित नहीं है। ऐसा करना महापाप ही गिना जाता है।

व्यक्ति जैसे कुलका अङ्ग है, वैसे ही कुल-समूह जातिके अङ्ग हैं। जातिका प्राण कुलके प्राणके भीतरसे प्रवाहित होता है; जातिकी साधना-धारा ही सम्पूर्ण कुलकी साधनाके द्वारा विशेष-विशेष आकार लेकर प्रवाहित होती है,—विशेष-विशेष आदर्श, नीति, आचारानुष्ठान-रूपमें आत्मप्रकाश करती है। कुलके अंदर जैसे प्रत्येक व्यक्तिका उसकी शक्ति-ज्ञान-भाव आदिके तारतम्यानुसार विशेष-विशेष कर्मसम्पादनका अधिकार और दायित्व है, जातिमें भी वैसे ही प्रत्येक कुलका स्वधर्मानुसार विशेष-विशेष अधिकार और दायित्व स्वीकार करना एवं तदनुसार विभिन्न कुलके नर-नारियोंका जातिके कल्याणके लिये अपनी शक्ति-सामर्थ्य और सुयोग-सुविधाके नियोग करनेपर अपना धर्म, कुलोचित धर्म और जातिधर्म सुरक्षित और सुविकसित होता है। फिर प्रत्येक जाति समग्र मानव-समाजका एक-एक अङ्ग है। विश्वमानवका सनातन धर्म ही जाति-विशेषमें विशेष रूपको प्राप्त होता है, कुलमें और विशिष्ट आकारमें आकारित होता है। प्रत्येक कुलके स्वधर्ममें प्रतिष्ठित होनेपर जैसे जातिका धर्म ही समुज्ज्वल हो उठता है, प्रत्येक जातिके स्वधर्ममें अधिष्ठित होनेपर ही, उसी प्रकार विश्वमानव-धर्म सर्वाङ्गसुन्दर रूपमें अभिव्यक्त होता रहता है। कुलधर्म और जाति-धर्मके नष्ट होनेपर या कलुषित होनेपर समग्र मानव-धर्मकी ही ग्लानि उपस्थित होती है, अधर्मका प्रभाव बढ़ता है, अनाचार-अत्याचार और व्यभिचारके अप्रतिहत प्रादुर्भावसे मनुष्य ऐहिक और पारत्रिक सर्वविध कल्याणसे भ्रष्ट होनेके मार्गपर अग्रसर होता है।

इस प्रकारके परस्परके अङ्गाङ्गि-भावमें सम्बद्ध व्यक्ति-धर्म, कुलधर्म और जातिधर्मका गौरव महामति अर्जुन भूले नहीं। इस धर्मके तुलादण्डपर वे अपने आरब्ध कार्यको तौलने लगे। उनके विचारमें यह निर्धारित हुआ कि इस

युद्धके फलस्वरूप केवल वर्तमान स्वजनवर्गका विनाश और उसके कारण दुःखकी सृष्टि ही नहीं होगी, वरं इसके परिणाममें—

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।

एवं 'उत्सन्नकुलधर्माणां–नरकेऽनियतं वासः' होगा। इस महासमरमें क्षत्रियकुलके श्रेष्ठ व्यक्ति प्रायः सभी मारे जायँगे। कुलधर्मकी, मर्यादाकी अप्रतिहतभावसे रक्षा करनेमें जो समर्थ हैं, उन सबका विनाश हो जायगा। बच रहेंगी शायद कुछ विधवा नारियाँ और छोटे बच्चे एवं अक्षम अपदार्थ पुरुष। सुतरां धर्ममर्यादाका आदर्श दिखानेके लिये, दुर्वृत्तको शासनमें रखनेके लिये एवं पापके आक्रमणका अवरोध करनेके लिये कोई नहीं बचेगा। तब स्वभावतः ही समस्त क्षत्रियकुल अधर्मसे अभिभूत हो जायगा। इसके फलस्वरूप कुलनारियाँ चरित्रहीना और व्यभिचारिणी हो जायँगी, कामान्ध नर-नारियोंका अबाध सम्मिलन होता रहेगा, उच्चकुलकी रमणियाँ नीच कुलके पापिष्ठ पुरुषोंकी प्ररोचनासे अपनेको भूलकर देहविक्रय करती रहेंगी। इस प्रकारकी संकरताके फलस्वरूप संतान-संतति भी उच्चादर्शविहीन अधर्मपरायण शिक्षा-संस्कारवर्जित होकर देश और जातिके पाप-स्रोतको ही बढ़ायेंगी। कुलमें धर्म-कर्म, याग-यज्ञ, दान-ध्यान, श्राद्ध-तर्पणादिका प्रचलन नहीं रहेगा, इसके फलस्वरूप पितृ-पितामह स्वर्ग-भ्रष्ट होकर नरकमें जा गिरेंगे। कुलधर्मके विनाशसे जाति-धर्मका भी नाश हो जायगा। विशाल भरतकुल, समग्र आर्यजाति स्वधर्म-भ्रष्ट होकर पशुत्वमें परिणत हो जायगी!

जिन कुलघ्नोंके कर्मोंके फलस्वरूप ऐसी भीषण अवस्था होगी, उन लोगोंको क्या मनुष्य कहा जा सकता है? जिस कर्मका यह बीभत्स परिणाम होगा, वह क्या कभी कर्तव्य हो सकता है?

'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।'

इस प्रकारके कर्मसे निवृत्त होनेके लिये यदि मृत्युको—अक्षत्रियोचित मृत्युको भी वरण करना पड़े तो वह भी श्रेयस्कर है।

अर्जुनके विशाल हृदयके इस उद्वेग, शोकावेग और अवसादके मूलमें, मृत्युके पणसे भी युद्धसे विरत होनेके दृढ़ संकल्पके मूलमें, केवलमात्र वर्तमान ज्ञाति-बन्धुवर्गके प्रति ममता ही नहीं, इसके मूलमें अतीत और अनागत स्वजनवर्गके प्रति ममता है, कुल और जातिके प्रति ममता है, कुलधर्म और जातिधर्मके प्रति अनुराग है और विश्वमानवके कल्याणके लिये आग्रह है। यह सुस्पष्ट भावसे प्रतिभात हो रहा है। उनका हृदय जैसा विशाल है, उनकी अनुभूति भी वैसी ही गम्भीर है और वैसी ही तीव्र वेदना भी है। तो भी 'योत्स्यमान' (युद्धके लिये प्रस्तुत) स्वजनवर्गके मुखावलोकनके पूर्व धीरभावसे सबके साथ मिलित होकर युद्धकी इतिकर्तव्यता निर्धारण करनेके समय इस प्रकारकी दृष्टिसे उन्होंने इस व्यापारको नहीं देखा था, इस प्रकारके धर्माधर्म-विचारने उनकी बुद्धिको आलोडित नहीं किया था, इस प्रकारकी करुणा और सहानुभूतिके द्वारा उनका चित्त आविष्ट नहीं हुआ था और इस प्रकारकी वेदना और अवसादसे भी वे अभिभूत नहीं हुए थे। रथपर स्थित होकर उभय पक्षकी सेनाओंको देखनेके समय, वस्तुतः नवीन कोई तथ्य उनके सम्मुख उपस्थित नहीं हुआ, सभी कुछ उन्हें सुविदित था। उनके पक्षमें तथा विपक्षमें कौन लड़ेगा एवं किसके अङ्गों-पर अस्त्राघात करना होगा, किनका निधन करके जयलाभ करना होगा, यह सब उन्हें परिज्ञात था। युद्धमें जो 'मित्रद्रोह' और 'कुलक्षय' होगा, यह भी कोई नवीन तथ्य नहीं था। किंतु ये समस्त तथ्य ऐसे भावमें तो पहले उनकी दृष्टिमें प्रतिभासित नहीं हुए थे, इस प्रकारकी धारामें पहले उनकी विचारप्रणाली प्रवाहित नहीं हुई थी, यह कुलक्षयकर संग्राम इस प्रकारका महापातक है, ऐसी धारणा कभी नहीं हुई थी। वस्तुतः मृत्युद्वारपर उपस्थित स्वजनोंके मुख देखनेमात्रसे ही उनका दृष्टिकेन्द्र बदल गया, सभी पुराने तथ्य नवीन आकारमें उनके मनश्चक्षुके सम्मुख उपस्थित हो गये, नूतन भावधाराके अनुवर्तनसे विचार करनेके फलस्वरूप एक ही प्रकारका तथ्य संवलित कारणोंसे विपरीत सिद्धान्त उनके हृदयमें आ गया।

अपने रथपर सारथिरूपसे विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण-के सामने अर्जुनने जब अपने वर्तमान आन्तरिक भाव और विचारमूलक सिद्धान्तको उपस्थित किया, तब भगवान्ने उनकी इस अवस्थाको 'अनार्यजुष्ट', 'अस्वर्ग्य', 'अकीर्तिकर', 'कश्मल' कहकर उसकी निन्दा की और अर्जुनको उनके अयोग्य इस 'क्लैब्य' और 'क्षुद्रहृदयदौर्बल्य' को छोड़कर स्वस्थ और युद्धोद्यत होनेके लिये उन्हें आदेश दिया! उनके इस धर्माधर्म-विचारको प्रज्ञावादमात्र बतलाकर उपहास करते हुए उनको प्रज्ञाहीन बतलाया और उनके प्रज्ञानेत्रको खोलकर

धर्मका यथार्थ स्वरूप दिखलानेके लिये गीतोपदेशका प्रारम्भ किया। भगवन्मुखनिःसृत गीताशास्त्र सुननेके पश्चात् अन्तमें अर्जुनने भी यह स्वीकार किया कि उन्हें मोह और स्मृतिभ्रंश हो गया था। गीताश्रवणसे उस मोहका नाश और स्मृति लौट आयी। तदनन्तर वे स्वस्थचित्तसे युद्धमें अग्रसर हुए।

इसके द्वारा यह समझमें आता है कि अर्जुनका हृदय चाहे कितना भी निर्मल, उदार और सत्त्वगुणान्वित हो, उनकी यह करुणा, सहानुभूति, अहिंसा और क्षमा हमलोगोंके विचारमें चाहे जितनी महिमामण्डित रूपमें प्रतिभात होती हो; कुलधर्म, जातिधर्म और मानवधर्मके प्रति उनका यह अनुराग हमारे भक्तिनत चित्तको चाहे जितना आकर्षण करे, उनका यह धर्माधर्म-विचार हमें चाहे जितना समीचीन जान पड़े, एवं आत्मीयवर्ग, स्वकुल और स्वजातिके मङ्गलके लिये, धर्मकी सुप्रतिष्ठाके लिये शत्रुके हाथों अहिंसाभावसे अपने जीवनदानका संकल्प चाहे कितनी भी महानुभावताका परिचायक जान पड़े, उनके दृष्टिकेन्द्रोंमें ऐसी कोई भूल अवश्य आ गयी थी, जिससे उनकी अनुभूति कलुषित और विचार विभ्रान्त हो गया, एवं वे धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म समझने लगे। उनके दृष्टिकेन्द्रकी यह भूल कहाँ थी, और यह 'विषादयोग' कैसे हुआ इसके विषयकी आलोचना भविष्यके लिये रही।

'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।'

श्रीमद्भगवद्गीताका जर्मन-अनुवाद

(लेखक—श्रीप्रेमकिशोरजी)

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

श्रीमद्भगवद्गीताके भारतवर्षकी लगभग सब भाषाओंमें अनेक अनुवाद, भाष्य, टीकाएँ और विवेचन हो चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानोंको १८वीं शताब्दीसे संस्कृत-भाषाका ज्ञान होने लगा, तबसे ग्रीक, लेटिन, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी आदि भाषाओंमें भी इसके कितने ही अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह अद्वितीय ग्रन्थ सारे संसारमें प्रसिद्ध और मान्य है। इस लेखमें हमारा अभिप्राय केवल गीताके जर्मन-अनुवादपर प्रकाश डालनेका है। इस अनुवादका नाम 'भगवद्गीता' है और उसमें प्रस्तावना-स्वरूप जो लेख है वह इस नाते अधिक महत्त्वपूर्ण है कि हम उस लेखको पढ़कर यूरोपमें गीताकी महत्ता भलीप्रकार समझ सकते हैं। अतः उस लेखका हिंदी रूपान्तर नीचे दिया जाता है।

"सैकड़ों वर्षोंसे ही नहीं, वरं हजारों वर्षोंसे गीता भारतवर्षमें परम विख्यात तथा अति मान्य पुस्तक रही है। फिर भी यह प्राचीन भारतीय साहित्यकी वह सर्वप्रथम रचना है जिसका यूरोपमें प्रचार हो चुका है। सन् १७८५ ई० में ही इस परम उत्कृष्ट काव्यका अनुवाद इंगलिस्तान-निवासी विल्किन्स महोदयने प्रस्तुत किया था, जिसके फलस्वरूप केवल इतना ही प्रभाव उत्पन्न हो सका कि यूरोपवालोंका ध्यान प्राचीन संस्कृत-साहित्यकी ओर आकृष्ट हुआ। रोमांटिक कवि-गण जो भारतवर्षको इतना सधर्मी समझते थे और जिन्हें ऐसा समझना आवश्यक है; क्योंकि भारतवर्ष रोमांटिक-काव्यका देश है—उन कवियोंके प्रवर्त्तक कवि ऑगुस्ट विलहेल्म फॉन श्लेगेलने जो जर्मनीमें संस्कृतके सर्वप्रथम अध्यापक थे, सन् १८२३ ई० में इस काव्यके जर्मन-मूलांशको प्रकाशित किया और साथ ही लेटिन-भाषामें प्रामाणिक अनुवाद भी प्रस्तुत किया। और विलहेल्म फ़ॉन हुम्बोल्ड्ट तो इस ग्रन्थसे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपने मित्र प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ गेंट्ज़को लिखा, 'मैं परमात्माको धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझे इतना अधिक जीवन प्रदान किया कि मैं इस काव्य-ग्रन्थको पढ़ना सीख सका।' इन्हीं शब्दोंका उसने प्रयोग किया था और यहाँपर भी इनका उद्धरण उपयुक्त है, इनको भूलना नहीं चाहिये। हुम्बोल्ड्टने इस काव्यके निमित्त ऐसा पूर्ण एवं उत्कृष्ट स्वाध्याय और विचार-विमर्श अर्पित किया जो पूर्णतया भगवद्गीताके विषय-विवरणसे सम्बन्धित था।

"यदि भगवद्गीताको दार्शनिक काव्य कहा जाय तो वास्तवमें इतना कहना पर्याप्त नहीं, ऐसा निर्देश तो अपूर्ण ही है। इसमें दर्शन, काव्य और नैतिक-धर्मका पूर्ण समावेश है। यदि कोई यह कहना चाहे कि ये बातें आपसमें इतनी संनिकट एवं अभिन्न हैं और एक दूसरेसे ऐसे अक्षय रूपमें मिली हुई हैं कि यहाँपर इनकी अभिन्नता और एकरसताका प्रश्न ही नहीं उठता—काश, इतना ही कहना पर्याप्त होता! ये सब बातें एक हैं, ये सब बातें पूर्ण हैं—इस प्रकार

एक ऐसे चेतनापूर्ण क्रममें पल्लवित, पुष्पित तथा फलित और फिर भी अभिन्न। किसी अनुसंधानकको सदैव सारे तत्त्वोंकी विशेष इच्छा रहती है, जैसे-जैसे वह वृक्षों अथवा पशुओंके अङ्गोंकी चीर-फाड़ करता है, किंतु सत्य-निरूपणके बाद वह अङ्गोंकी क्रमवत् रचनाका विवरण प्रस्तुत करता है, वैसे ही भारतीय-आत्मासे जो कुछ अपने पूर्णरूपमें पल्लवित हुआ है, वह है यही धार्मिक दार्शनिक काव्य, जिसपर नीति-शास्त्रका मोटा खोल चढ़ा है और जो भारतवर्षकी महान् देन है; क्योंकि उनका दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र, और इनके साथ ही उच्चतम काव्य-प्रतिभाकी महत्ता हमें इस देशमें भी इतना प्रभावित करती है कि यह कहना अनुपयुक्त होगा कि भारतवासी गम्भीर विश्लेषणात्मक दार्शनिक विचार-धारासे अनभिज्ञ रहे हैं। भगवद्गीतामें जो प्रश्न अपने वास्तविक रूपमें उपस्थित होता है, वह एक ऐसे दर्शनके विषयमें है, जिसकी प्रशंसा शिक्षणभवनके व्याख्यानोंमें नहीं की जा सकती, वरं जो सारी मनुष्य-जातिके प्राणोंका तार बनकर धर्मका एक नवीनतम आदर्श उपस्थित करता है, जिसकी आवश्यकता मनुष्यको जीवनपर्यन्त रहती है।

"बहिरंग दृष्टिकोणसे भगवद्गीता महाभारत नामक महाकाव्यकी प्रासङ्गिक वार्ताके रूपमें उपकथा है, जो अपनी मौलिकताके कारण भारतीय ढंगमें कथा-प्रसङ्गका एक यथार्थ रूप प्रस्तुत करती है।

"श्रीकृष्ण भगवद्गीतामें केन्द्रस्थ मूर्तिमान् महापुरुष हैं—वे आपरूप भगवान् हैं और उनका प्रवचन ही 'गीता' नामक काव्य है। वे प्राचीन अद्वैतवादी भागवत-धर्मके आदर्शचरित्र हैं और उन्हींके ज्ञानोपदेशोंका संकलन भगवद्गीता-जैसी महान् रचनामें प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक सम्भाव्य रूपमें वे इस सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं। सारे संकलनकी इति इन्हींके साथ है और सत्यतः इस गीतामें एक विशेष प्रभाव निहित है। श्रीकृष्ण वसुदेव और देवकीके पुत्र हैं, जिनका वर्णन छान्दोग्योपनिषद्में भी मिलता है। यहाँ वे पूर्वनिश्चित नीतिशास्त्रके शिक्षकरूपमें संयोग तो पाते ही हैं, साथ ही वे महाभारतके प्रमुख योद्धा, विशेषतया यादववंशके राष्ट्रीय योद्धा-नायकके रूपमें भी परम प्रसिद्ध हैं। किंतु वे केवल एक पौराणिक पुरुष ही नहीं, वरं वास्तविक मानव हैं—एक ऐतिहासिक व्यक्ति, वीर योद्धा और इनके साथ-साथ एक धर्म-विशेषके प्रवर्त्तक —; जिन्होंने उस जाति तथा परवर्ती परिवर्तित वंशजों और धर्मावलम्बियोंमें आस्तिक अद्वैतवादी धर्मकी नींव डाली; फलस्वरूप इस धर्ममें कर्मकी प्रधानता बरती जाती रही। ईसाके पश्चात् १२ वीं शताब्दीमें रामानुजने इसी धर्ममें सुधार-संशोधन करके इसका वर्त्तमान रूप प्रचलित किया है। आरम्भिकरूपमें यह धर्म सर्वप्रिय था। इस धर्मकी उत्पत्ति वेदों तथा प्रामाणिक ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी मान्यता होनेपर भी स्वतन्त्र ही मानी जाती है। सम्भवतः इसमें सदाचारके नैतिक अङ्गपर काफी जोर दिया गया है। अतः यह धर्म सशक्त नैतिक क्षत्रियधर्मके रूपमें उसी कालसे अपना प्रभाव अक्षुण्ण बनाये चला आ रहा है जब कि भारतवर्षमें योद्धा और राजा पुरोहितोंकी ओरसे आत्मिक उन्नति-प्राप्तिके विषयमें उदासीन हो गये थे। महात्मा बुद्धसे कुछेक शताब्दियोंपूर्व इसी योद्धा नायकने श्लेषात्मक भाषामें अपने प्रवचन प्रस्तुत किये थे; अपने अन्तर्धानके उपरान्त वे भगवान्के रूपमें अमरपदको प्राप्त हुए और फिर उनके प्रवचन भगवान्के वचनोंके समान ही माने जाने लगे।"

इस अन्तिम वाक्यकी व्याख्या लोकमान्य तिलकके शब्दोंमें इस प्रकार है (श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, पृष्ठ ८)—

'भगवद्गीता' अर्थात् 'भगवान्से गाया गया उपनिषत्' इस नामसेही बोध होता है कि गीतामें अर्जुनको उपदेश दिया गया है, वह प्रधान रूपसे भागवत-धर्म—भगवान्के चलाये हुए धर्म—के विषयमें होगा; क्योंकि श्रीकृष्णको 'श्रीभगवान्' का नाम प्रायः भागवतधर्ममें दिया जाता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरिलिखित अनूदित लेख अधिक सारगर्भित है; क्योंकि उसमें जिन सूचनाओंका उल्लेख किया गया है उनका पूरा ब्यौरा नहीं दिया गया, वरं सभी प्रामाणिक बातोंको संक्षेपमें लिपिबद्ध ही किया गया है। इन सभी बातोंका सविस्तर वर्णन हमें महात्मा तिलकके 'श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य' नामक ग्रन्थसे प्राप्त हो सकता है। चूँकि इस लेखमें केवल गीताके जर्मन-अनुवादपर परिचयात्मक सूचना अभीष्ट थी, अतः उपरिलिखित अनुवादित अंशको सविस्तर समझाना उपयुक्त नहीं समझा।

जर्मन-अनुवाद कैसा है इसका नमूना नीचे दिया है। इस उद्धरणमें लिपि देवनागरी ही रक्खी है, किंतु भाषा जर्मन है और यह गीताके दूसरे अध्यायके प्रथम सात श्लोकोंका अनुवाद है—

ड्वैटर गेज़ाङ्क

सञ्जय स्प्राख

अल्स सो फॉन निटर्न्ट जेन्रनष्ट
उण्ट ट्रैनन्जेन्स्ट्रूमेन वीगेस ।
अर्जुन इन वेदुवनिस साङ्क, स्प्राख
कृष्ण जु इह्म डॅवेस वार्ट॥ १ ॥

डेर एहॉवेने स्प्राख

वॅहिर कोम्ट डैवेर क्लैननुट डीर
इन ऑगेनब्लीके डेर गेफ़ाह्र !
टनरह्रन्लिख उण्ट टनवूर्डिक गाञ्ज
ईस एडेल नन्स, ओ अर्जुन ! ॥ २ ॥
फेर्लैन्ने डी टनमेन्लिखकट ! सी
वीम्ट डीर निख्ट । ओ पृथ सोह्न !
डी द्वेवे, डी पर्वनेलिख इस्ट,
निव औफ़ ! महे डीख, डू हेल्ट ! ॥ ३ ॥

अर्जुन स्प्राख

वी सोल ईख़ हीर इन डॅजिम काम्फ
डेन भीष्म उण्ट द्रोण औख़ ।
डी वैडे ईख फ़ेरएहंन मुस
मिट शार्फ़ेन फ़ेलेन ग्रेफ़न आन ? ॥ ४ ॥
वट वेस्सेर, डी होखवूर्डिगेन लेहरेर शोनेन
उण्ट वेटलेर ब्रोट औफ़ डीज़र एर्डे एस्सेन ।
डेन टूट ईख सी, ओब सी औख़ शेट्शेन्लटेर्न ।
मिट ब्लूट वेफ्लेक्ट फोर्टान वेर मने स्पेवे ! ॥ ५ ॥
वीर विस्सेन एस निख्ट, वास मेह उन्स वुड फ्रोम्मेन—
वेन वीर डी सीगेर—वेन वीर डी वेवीग्टेन !
वास सोल डास लेवेन उन्स, वेन वीर गेटूटेट
डी कुरु सूह्ने, डी डॉर्ट फोर उन्स स्टेहेन ? ॥ ६ ॥
डी यम्मरफ़ोल्लेः लागे ब्रीख्ट मेन केवेन,
डी फ्लिख्ट फेरविर्ट सीख मीर—
ईख मुस डीख फ्रागेन ।
वास वेरे डी वेस्सेरे एण्ट्श्लीस्सुङ्ग ? साक मीर एस ।
डन ट्रेउएर शूलेर वीन ईख—लेह्रे डू मीख ॥ ७ ॥

उत्तर-दाता स्वयं ही

(लेखक—श्रीवैजनाथजी अग्निहोत्री)

घटना प्राचीन कालकी है, आजसे सहस्रों वर्ष पूर्वकी । वृद्धा गौतमी संलग्न थी शान्तिकी साधनामें । उसका सर्वस्व था एकमात्र पुत्र । गौतमीके हृदयमें पतिका प्रतीक, वंशका मुखोज्ज्वल करनेवाला और स्वयंका अवलम्ब था वह, अभी प्रवेश भी न हुआ था युवावस्थामें कि विषधर सर्पने डँस लिया उसे, भाग्य-चक्र प्रबल जो था । बालककी मृत्यु हो गयी तत्क्षण ही ।

'देवि ! शीघ्र आज्ञा दो, प्रज्वलित अग्निमें भस्म कर दूँ या शरीरके खण्ड-खण्ड कर डालूँ इसके ।' अर्जुनक व्याध सर्पको पकड़े हुए कह रहा था वहीं—'ऐसा नीच प्राणी अधिक समयतक जीवित रहनेके योग्य नहीं ।'

'तुम्हें ज्ञान नहीं है अर्जुनक ! छोड़ दो इसे । कोई भी टाल नहीं सकता भाग्यको । पुत्र तो जीवित न हो सकेगा इसे मारनेपर भी । फिर व्यर्थ पापका बोझ लादनेसे लाभ ही क्या ? सृष्टिमें जीवित रहनेका अधिकार है प्रत्येक प्राणीको ।' शान्त भावसे कहा वृद्धा गौतमीने ।

'वृद्ध पुरुषोंको कष्ट होता है, किसी भी प्राणीको कष्टमें देखकर उन्हें दया आती है, यह मैं जानता हूँ । उपदेश तो स्वस्थ पुरुषोंके लिये है । किंतु मैं हूँ अत्यन्त दुखी, सर्पको बिना मारे रह न सकूँगा । देवि ! तुम्हारा पुत्र-शोक भी शमन होगा इससे ।'

'मुझे किंचित् भी नहीं है पुत्र-शोक । सज्जन पुरुष कभी धर्मका त्याग नहीं करते, मृत्यु आनेपर भी । सर्पवधसे मैं सहमत नहीं । पुत्रकी मृत्युका विधान ही ऐसा था । तुम दयाका आचरण करो और सर्पको छोड़ दो ।' गौतमीने समझानेका प्रयत्न किया । पुनः बोली—'शत्रुको मारनेमें ही लाभ है' ऐसा तुम कह सकते हो, किंतु

शत्रु-वधसे क्या लाभ? और उसे छोड़ देनेसे क्या हानि? मोक्षकामी पुरुषके लिये 'क्षमा' परम धर्म है।'

'अनेक मनुष्योंका जीवन नष्ट कर देगा यदि जीवित रहा यह। अनेकोंका जीवन नाश करके एककी रक्षा करना धर्म नहीं है देवि!' तर्कपूर्ण उत्तर था व्याधका।

'तुम व्यावहारिक धर्मकी बात कर रहे हो अर्जुनक! किंतु मैं पथिक हूँ मोक्ष-धर्मकी। किसी भी प्राणीकी हिंसाका मैं समर्थन नहीं कर सकती।' धर्मशीला ब्राह्मणीने उत्तर दिया।

'अल्पमति व्याध! मैं तो सर्वथा पराधीन हूँ, इसमें मेरा किंचित् भी अपराध नहीं।' सहसा बन्धनकी पीड़ासे कराहते हुए सर्पने कहा।

मानुषी भाषामें सर्पने बात की। भले ही कोई विश्वास न करे इस युगमें। पर सत्य तो यह है कि उस समय पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मानव, दानव सभीका परस्पर सम्बन्ध रहता था। एक दूसरेकी भाषा जानते थे, बातचीत भी होती थी। देवलोकसे देवताओंका आना, यहाँसे मनुष्योंका जाना और परस्पर साहाय्य सम्बन्ध था नित्य-प्रतिका। बात भी उसी युगकी है। सर्प धीरे-धीरे कहने लगा—'मैं तो केवल हूँ निमित्त कारण। मृत्युने प्रेरित किया और बालकको डँस लिया मैंने। क्रोध या इच्छासे मैंने कुछ नहीं किया। इसमें मेरा क्या अपराध? यदि अपराध है तो मृत्युका।'

'यह मान भी लें कि तू पराधीन है, पर है तो कारण अवश्य। इसलिये अपराधसे तू बच नहीं सकता।' उत्तेजित होकर व्याधने उत्तर दिया।

'घट बनानेमें दण्ड, चक्र आदि कारण अवश्य हैं। पर वे स्वतन्त्र नहीं, अधीन हैं कुम्भकारके ही। इसी प्रकार मैं भी अधीन हूँ मृत्युके।' तार्किक शैलीसे समझानेका प्रयत्न किया सर्पने।

'अपराधका कारण या कर्ता न सही, किंतु बालककी मृत्यु तो तेरे ही कारण हुई। नीच! तू क्रूर है और बालहत्यारा भी। व्यर्थकी बातें बनाकर तू निरपराध नहीं बन सकता।' तर्करहित उत्तर दे रहा था व्याध।

'व्याध! मुझे मार सकते हो, तुम्हारे वशमें हूँ। पर निरपराधके वधके पापके फलसे तुम भी बच नहीं सकते। यजमानके यहाँ ऋत्विज् अग्निमें आहुति डालते हैं, किंतु उसका फल उन्हें नहीं मिलता। इसी प्रकार इस अपराधका दण्ड भी मुझे नहीं मिल सकता। वास्तविक अपराधी तो मृत्यु है।' सर्पने पुनः न्याय-सङ्गत बात कही।

'मुझपर दोषारोपण करना उचित नहीं, सर्प! मेघमण्डलको वायु उड़ाकर इधर-उधर ले जाती है, इसमें मेघोंका क्या वश? वैसे ही मैं भी कालके अधीन आती हूँ, मेरा क्या अपराध?' मृत्यु भी आकर अपनी सफाई दे रही थी। मृत्युने पुनः कहा—'पृथ्वी हो या स्वर्ग—समस्त विश्वके स्थावर, जङ्गम पदार्थ कालके ही अधीन हैं। प्राणियोंके स्वभाव, धर्म तथा उनके फलका नियन्ता भी काल है। सर्प! तू इन सब बातोंको जानता है। जानकर भी मुझपर दोषारोपण करनेसे तू भी निर्दोष नहीं रह सकता।'

'मृत्यो! मैं तुम्हें न दोषी मानता हूँ न निर्दोष। मेरा अभिप्राय केवल इतनामात्र है कि बालकको काटनेके लिये तुमने मुझे प्रेरित किया। इसमें कालका भी दोष है या नहीं? मैं नहीं जानता। इसमें मेरा कोई स्वार्थ नहीं। अपनेको निर्दोष सिद्ध करना ही मुझे इष्ट था।' सर्पने स्थिति स्पष्ट की। पुनः व्याधसे बोला—'अर्जुनक! तुमने सुन लीं मृत्युकी बातें। मैं सर्वथा निर्दोष हूँ। अब मुझे कष्ट मत दो बन्धनमें बाँधकर।'

'सर्प! न मैं तुझे निर्दोष मानता हूँ न मृत्युको। तुम दोनों ही अपराधी हो। सज्जनोंको दुःखमें डालनेवाली इस क्रूर एवं दुरात्मा मृत्युको धिक्कार है।' प्रतिहिंसाकी अग्निमें जल जो रहा था व्याध।

'व्याध ! हम दोनों परतन्त्र हैं । कालके विवश हैं और हैं उसके आज्ञापालक । हमें तुम भी निर्दोष पाओगे यदि कुछ भी विचार करोगे । संसारमें जो भी हो रहा है सब कालकी प्रेरणासे ही ।' मृत्युने समझाना चाहा ।

'मैं, मृत्यु तथा सर्प कोई भी अपराधी नहीं हैं । प्राणियोंकी मृत्युमें हम लोग प्रेरक नहीं ।' काल पुरुषने वहीं प्रकट होकर कहना प्रारम्भ किया—'बालककी मृत्यु हुई है इसके कर्मोंसे ही । इसके विनाशमें कारण हैं स्वयं इसके कर्म । मनुष्य अपने ही कर्मके अनुसार अनेक प्रकारके फल भोगता है । कर्म और कर्ता एक दूसरेसे सम्बद्ध रहते हैं छाया और आतपके समान । इसलिये मैं, तू, मृत्यु, सर्प तथा वृद्धा ब्राह्मणी—कोई भी बालककी मृत्युमें कारण नहीं । मृत्युमें कारण है स्वयं बालक ।'

'निश्चय ही मनुष्य अपने सुख-दुःख, जीवन-मरणका-निर्माता है और है स्वयं उत्तरदायी ।'

मैं कौन हूँ ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः ।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥

हनुमन्नाटकके एक प्रसङ्गमें श्रीलक्ष्मणजी हनुमान्‌जीसे पूछते हैं कि तुम कौन हो ? उत्तरमें हनुमान्‌जी कहते हैं कि देहदृष्टिसे कहूँ तो मैं आपका दास हूँ, अर्थात् इस शरीरसे आपकी सेवा करनेका अधिकारी हूँ । जीवदृष्टिसे आपका सनातन अंश हूँ और परमार्थदृष्टिसे तो जो आप हैं वही मैं हूँ, स्वरूप-दृष्टिसे आपमें और मुझमें कोई भेद नहीं, अर्थात् मैं ब्रह्मरूप ही हूँ, ऐसा मेरा अविचल निश्चय है ।

मनुष्य तथा दूसरे प्राणियोंमें इतना ही अन्तर है कि मनुष्यको प्रभुने विवेक-बुद्धि दी है, जिसके द्वारा वह मनुष्यसे देवता बन सकता है, नरसे नारायण बन सकता है । दूसरी सारी बातोंमें मनुष्यमें दूसरे प्राणियोंकी अपेक्षा कोई विलक्षणता नहीं है । अनुकूल विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर सुखकी अनुभूति प्राणियोंको समान ही होती है । इसी प्रकार प्रतिकूल विषयोंसे दुःखका अनुभव भी समान ही होता है । इस बातको समझाते हुए महाभारतमें एक छोटा-सा प्रसङ्ग आता है—व्यासजी एक दिन रास्ते पकड़े कहीं जा रहे थे, उसी रास्तेसे वेगसे दौड़ते हुए कीड़ेके ऊपर उनकी नजर पड़ी, वे कुतूहलवश खड़े हो गये । जब वह कीड़ा पास आया तो उसे बोली आयी । व्यासजीने उससे पूछा, 'भाई ! तेरे-जैसे क्षुद्र कीटको ऐसा क्या उतावलीका काम था जो इतने अधिक वेगसे दौड़ रहा था ?' कीड़ेने उत्तर दिया 'महाराज ! आपको नहीं सुनायी पड़ा होगा, परंतु मुझको सुनायी देता है कि एक रथ इस रास्तेसे अत्यन्त वेगसे दौड़ता हुआ आ रहा है, यदि मैं रास्तेपर पड़ गया तो शायद कुचलकर मर जाऊँगा, इसी कारण मैं जल्दीसे दौड़कर रास्ता पार कर गया ।' एक छोटे-से कीड़ेको भी जीवन इतना अधिक प्रिय है, यह देखकर व्यासजीको जरा हँसी आ गयी, पर उसे रोककर उन्होंने पूछा—'अरे तुच्छ कीट ! तेरे इस जीवनमें ऐसा कौन बड़ा सुख है जो तू जीनेकी इतनी बड़ी आशा रखता है ?' कीड़ेने उत्तर दिया, 'महाराज ! आपकी दृष्टिमें मैं तुच्छ और अति अल्प आयुवाला हूँ, परंतु अपने मनसे तो मैं महान् हूँ । जिस सुख-दुःखका भोग एक मनुष्य सौ वर्षमें भोगता है, उतना भोग मैं अपने अल्पजीवनकालमें भोग लेता हूँ । जैसा स्नेह आपको अपने शरीर और कुटुम्बियोंके प्रति है, उससे अधिक स्नेह मुझे भी होता है । खाने-पीने, आनन्द-विहार करनेमें हमें आप मनुष्योंकी अपेक्षा तनिक भी कम नहीं हैं । सारांश यह है कि मुझे अपने जीवन-सुखकी अपेक्षा मनुष्य तो क्या, इन्द्रादि देवताके सुख भी कुछ विशेष नहीं लगते ।' इस दृष्टान्तसे सहज ही समझा जा सकता है कि संसारमें विषय भोगनेमें सभी प्राणी समान हैं । सब प्राणियोंको अपने शरीरसे समान ही प्रेम होता है तथा जीनेकी आशा और मरनेका डर भी समान ही होता है । मनुष्यकी दृष्टिमें दूसरे प्राणी भले ही तुच्छ दीख पड़ें, पर देवताओंकी दृष्टिमें भी मनुष्यका जीवन उतना ही तुच्छ दीखता होगा । इसी प्रकार एक प्राणीका जीवन दूसरे प्राणीको भले ही तुच्छ जान पड़े, परंतु प्रत्येक प्राणीको अपना

जीवन सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है; क्योंकि प्राणिमात्रमें आत्मा एक ही है और विषयोंमें जो सुख या आनन्द दिखलायी देता है, वह आत्माके कारण ही है। इससे सुखभोगमें कोई तारतम्य नहीं है, यह बात इस श्लोकसे समझमें आ सकती है—

यत्सुखाय भवेत्तत्तद् ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात्।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम्॥

भाव यह है कि किसी भी इच्छित वस्तुकी प्राप्तिसे जो सुखकी अनुभूति होती है, वह सुख उस पदार्थमेंसे नहीं आता, बल्कि इष्ट वस्तुके मिलनेपर चित्त शान्त—तरङ्गरहित हो जाता है, इससे उसमें आत्माका प्रतिबिम्ब निर्विघ्न पड़ता है और आत्माका सुख उस पदार्थके सुखके रूपमें दीख पड़ता है।

अब हमने जान लिया कि एक ही परमात्मा प्राणिमात्रमें आत्मरूपसे विद्यमान है और इससे एक आत्माका प्रतिबिम्ब सभीके अन्तःकरणमें पड़ता है। इस कारण प्राणिमात्रको सुखका अनुभव समान ही होता है। स्थूल शरीरके भेदसे आत्माके आनन्द-स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता और इससे प्राणिमात्रको सुखकी अनुभूति समान ही होती है। अतएव मनुष्यमें दूसरे प्राणियोंकी अपेक्षा विवेक-बुद्धिके सिवा और कोई विशेषता नहीं है। इसलिये जिस मनुष्यमें विवेक-बुद्धि जाग्रत् न हो, उसे क्या कहेंगे, इस बातको स्वयं ही सोच लें। श्रीशङ्कराचार्य तो कहते हैं—

येषां चित्ते नैव विवेकस्ते पच्यन्ते नरकमनेकम्।

अर्थात् जिस मनुष्यमें विवेक जाग्रत् नहीं हुआ, वह अन्य प्राणियोंके समान जन्म-मरणके चक्करसे नहीं छूट सकता, बल्कि 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' के क्रमसे घूमता ही रहता है।

परंतु जिसकी विवेक-बुद्धि जाग्रत् हो गयी है, उस मनुष्यको केवल खाने-पीनेमें ही जीवन बिताना अच्छा नहीं लगता। उसके मनमें—मैं कौन हूँ? यह शरीर क्या होगा? इसके अंदर मैं कैसे प्रवेश कर गया हूँ? माता-पिता, स्त्री-पुत्रादिके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? ये सब जिस जगत्में हैं, उस जगत्के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है?—इत्यादि। विवेकी मनुष्यके मनमें इस प्रकारके प्रश्न आये बिना नहीं रहते। इन प्रश्नोंके समाधानके लिये आज 'मैं कौन हूँ?'—इसके सम्बन्धमें विचार करना है।

श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः?
का मे जननी को मे तातः?

अर्थात् तुम कौन हो? मैं कौन हूँ? और कहाँसे आया हूँ? और मेरे माता-पिता कौन हैं? इत्यादि विचार विवेकशील पुरुषको करना चाहिये।

मैं कौन हूँ?—इसका उत्तर श्रीशङ्कराचार्यने बहुत ही सुन्दर दिया है। आठ वर्षकी छोटी-सी उम्रमें गुरुके समीप जाकर जब खड़े हुए तो गुरुने पूछा—'बालक! बता, तू कौन है?' तब श्रीशङ्कराचार्यने उत्तर दिया—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥

'हे भगवन्! मैं मनुष्य, देव या यक्ष आदि कुछ भी नहीं हूँ, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र आदि वर्णवाला भी नहीं हूँ तथा ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ या संन्यासी भी नहीं हूँ। यह तो सभी देहके धर्म हैं और मैं तो देहसे भिन्न बोधरूप यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ।'

यहाँ केवल स्थूल शरीरसे अपने स्वरूपको भिन्न बतलाया; क्योंकि मनुष्यादि योनि, ब्राह्मणादि वर्ण तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रम केवल स्थूल देहके धर्म हैं। एक दूसरे प्रसङ्गमें वे कहते हैं—

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गं
नाहङ्कारः प्राणवर्गो न बुद्धिः।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः
साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम्॥

'मैं देह नहीं हूँ, मैं ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय भी नहीं हूँ, मैं अहङ्कार, पञ्चप्राण या बुद्धि आदि अन्तःकरण-चतुष्टय भी नहीं हूँ, फिर भला स्त्री-पुत्रादि, क्षेत्र-वित्तादिके साथ मेरा क्या सम्बन्ध हो सकता है? क्योंकि मैं नित्य और शिवस्वरूप आत्मा हूँ और उपर्युक्त सबका साक्षी तथा नियन्ता हूँ।'

व्यवहारमें एक विद्यार्थीको जब कोई प्रयोग करनेके लिये प्रयोगशालामें जाना पड़ता है, तब उसमें इतनी योग्यता तो होनी ही चाहिये कि जिससे वह प्रयोग कर सके तथा उसको यह भी जानना चाहिये कि उस प्रयोगमें किन-किन साधनोंकी आवश्यकता है। जिसको कालेजमें पढ़ने जाना है, उसे मैट्रिककी परीक्षा पास कर लेनी चाहिये। इतनी योग्यताके बिना

उसे कालेजमें प्रवेश ही नहीं मिल सकता, पढ़नेकी तो फिर बात ही क्या !

इसी प्रकार 'मैं कौन हूँ ?' इस प्रश्नका उत्तर ढूँढ़नेके लिये कुछ योग्यताकी आवश्यकता है। इन दो श्लोकोंको या इसी प्रकारके दूसरे दो-चार श्लोकोंको कण्ठस्थ कर लेनेसे ही, 'मैं कौन हूँ'—इसका रहस्य समझमें नहीं आ सकता। मैं ब्रह्म हूँ—यह केवल मुँहसे बोल देनेसे जैसे कोई ब्रह्मरूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार श्लोक कण्ठस्थ कर लेनेसे ही 'मैं क्या हूँ'—यह नहीं समझा जा सकता। श्लोक कण्ठस्थ करनेसे उस विषयका परिचयमात्र होता है, विषयका रहस्य नहीं समझा जाता और न उसका अनुभव होता है। पञ्चदशीमें एक श्लोक है—

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते॥

भाव यह है कि ब्रह्म है और यह सब ब्रह्मरूप है, यह जानना केवल परिचयमात्र है, जिसको शास्त्रीय भाषामें परोक्षज्ञान कहते हैं। परंतु साधन-सम्पत्तिके द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारका जब संशय-विपर्ययरहित निश्चय हो जाता है तो उसको साक्षात्कार कहते हैं; ऐसे ज्ञानको अपरोक्षज्ञान या प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार 'मैं कौन हूँ'—इसके उत्तरस्वरूप श्रीशङ्कराचार्यके श्लोकोंको मुखस्थ कर लेना—परोक्षज्ञान कहलायगा, परंतु उसका साक्षात्कार करनेके लिये तो कुछ अधिकार प्राप्त करना होगा। इस अधिकारका स्वरूप श्रीशङ्कराचार्यके शब्दोंमें देखिये—

कामं क्रोधं लोभं मोहं त्यक्त्वाऽऽत्मानं भावय कोऽहम्॥

पहले तो काम-क्रोध-लोभ-मोहकी वृत्तियोंको छोड़ना चाहिये। काम ही क्रोधरूपमें परिणत होता है। कामकी सिद्धिमें अन्तराय आनेपर वही क्रोधके रूपमें भभक उठता है और कामकी प्राप्ति होनेपर अधिक-अधिक प्राप्त करनेका लोभ होता है। अतः क्रोध और लोभ कामके अनुगामीमात्र हैं। कामका यदि नाश कर दिया जाय तो फिर क्रोधके जाग्रत् होनेका कोई कारण ही न रहे और जिसके क्रोध और काम नहीं, उसे लोभ किस बातका हो, इसलिये प्रथम तो इच्छामात्रका त्याग करना चाहिये। इच्छाके त्यागसे चित्त शुद्ध हो जानेपर मोह अपने-आप दूर हो जायगा। मोहका अर्थ है विपरीत ज्ञान या विपर्यय-बुद्धि; मोहका दूसरा अर्थ है आसक्ति; और आसक्ति होनेका मूल कारण अज्ञान ही है। इसलिये परम्परासे मोहका अर्थ आसक्ति ही होता है। चित्तके विशुद्ध हो जानेपर ज्ञानका उदय स्वाभाविक होता है और इससे उस चित्तमें मोह नहीं टिक सकता। गीतामें भी भगवान्ने तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये यही उपाय बतलाया है। भगवान् कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके द्वार हैं, अतएव इन तीनों द्वारोंको पहले ही बंद कर देना चाहिये अर्थात् पहले काम, क्रोध और लोभको छोड़ना चाहिये और तब—

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।

अर्थात् इतनी योग्यता प्राप्त करनेके बाद आत्मकल्याणकी साधना करे तो मनुष्य अवश्य परमगतिको प्राप्त होता है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति ही आत्माका श्रेय है, और भवबन्धनसे मुक्ति है—यही परमगति है।

'मैं कौन हूँ ?'—इसका उत्तर प्राप्त करना अर्थात् स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना—यही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है, तथा इसका फल है भवबन्धनकी निवृत्ति। सारांश यह है कि 'मैं कौन हूँ' इसको जाननेके लिये पहले इच्छामात्रका त्याग करके चित्तको शुद्ध करना चाहिये, फिर श्रीशङ्कराचार्यके बताये हुए मार्गसे 'मैं' का अनुसंधान करना चाहिये।

मान लीजिये एक आदमी अपना नाम चतुरलाल बतलाता है। चतुरलाल नाम तो देहका है, 'मैं' कहनेवालेका नहीं। बोलनेवाली वस्तु चेतन होनी चाहिये, और शरीर है जड। शरीर यदि चेतनस्वरूप होता तो उसमेंसे प्राण निकल जानेके बाद भी उसमें चेतना दीखती, परंतु वह दीख नहीं पड़ती। इसीसे हम उसे जला या गाड़ देते हैं। 'मैं' कहनेवाला आत्मा है, यह बात समझाते हुए श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

या तिर्यङ्नरदेवताभिरहमि-
त्यन्तःस्फुरा गृह्यते
यद्भासा हृदयाक्षदेहविषया
भान्ति स्वतोऽचेतना।

भाव यह है कि देवता, मनुष्य या इतर प्राणी जो 'मैं' कहते हैं वह 'मैं' अन्तरात्मा ही है, जिसके प्रकाशसे अन्तःकरण, इन्द्रियाँ तथा शरीर, जो स्वभावसे जड हैं तथापि चेतनवन्त बनते हैं। ये स्वभावसे जड तो हैं परंतु अन्तःकरण आत्माका प्रकाश लेकर पहले चेतनवन्त बनता है और तब इन्द्रियों और शरीरको चेतनवन्त बनाता है। इसी भावको व्यक्त करते हुए एक गुजराती संतने कहा है—

बोलू ई बीजो नहिं परमेश्वर पोते ।
अणसमजीने आँधळा दूर दूर मोते ॥

इस शरीरसे 'मैं' बोलनेवाला परमेश्वरके सिवा दूसरा कोई नहीं है। इसलिये परमेश्वरको अपने भीतर न ढूँढ़कर जो दूर-दूर खोजता फिरता है, वह मूर्ख और अन्धा है।

अथवा इस प्रकार विचार करना चाहिये—मैंने अंग्रेजी पढ़ी, गुजराती पढ़ी और संस्कृत पढ़ी। साथ ही मैंने अङ्कगणित, बीजगणित और भूमिति आदि भी पढ़ा। पढ़ते-पढ़ते बी० ए० हुआ, एम्० ए० हुआ और एल्-एल्० बी० भी हो गया। इस प्रकार विद्या पढ़ते-पढ़ते जीवनका अमूल्य समय बीत गया। इस सारी विद्याका उपयोग केवल पेट भरनेका साधनमात्र होता है, इसका दूसरा कोई उपयोग नहीं दीखता। पशु-पक्षी विना पढ़े ही अपना पेट तो भर ही लेते हैं और वह भी विना किसी चिन्ताके। इधर मैं तो चिन्तामें ही जला करता हूँ, मैंने इतना अधिक पढ़ा, पर यही नहीं जानता कि मैं स्वयं कौन हूँ। और जब अपने-आपको नहीं जानता, तब यह सारी विद्या व्यर्थ है। इसलिये मुझे अपना स्वरूप जानना चाहिये। तो क्या मैं शरीर हूँ?—नहीं, क्योंकि शरीरका तो मैं जाननेवाला हूँ। मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ कि मेरा शरीर दुबला है या मोटा है, रोगी है या नीरोग है—इत्यादि। ज्ञाता अपने ज्ञेयसे अलग होना चाहिये। इसलिये मैं शरीरसे अलग होनेके कारण शरीर नहीं हूँ। तब क्या मैं प्राण हूँ?—नहीं, क्योंकि प्राणका भी मैं ज्ञाता हूँ। मैं यह अनुभव करता हूँ कि मेरा प्राण व्याकुल है या नहीं, अथवा जोरसे चलता है या धीरे-धीरे। इसलिये मैं प्राणसे भिन्न होनेके कारण प्राण नहीं हो सकता। तब, क्या मैं इन्द्रियाँ हूँ?—नहीं; क्योंकि इन्द्रियोंको तो मैं प्रत्यक्ष उनके-उनके कामोंमें लगाता हूँ, इसलिये मैं इन्द्रिय नहीं हूँ। तब, क्या मैं मन हूँ?—नहीं; क्योंकि अपने मनके ऊपर मेरा काबू है या नहीं इसे मैं जानता हूँ, इसलिये मन भी नहीं हूँ। इसी प्रकार मैं चित्त, बुद्धि और अहङ्कार भी नहीं हूँ, क्योंकि ये सभी अपना-अपना व्यापार करते हैं या नहीं, इसका मैं देखनेवाला हूँ। इस समस्त विचारका सार यह हुआ कि मैं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कार आदि कुछ नहीं हूँ। बल्कि इनका द्रष्टा और नियन्ता चेतनस्वरूप आत्मा हूँ। देहादि सब जड हैं और मेरे चैतन्यसे चेतनवन्त बनकर अपना-अपना व्यापार करनेमें समर्थ होते हैं। श्रीशङ्कराचार्यजी भी कहते हैं—

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः ।
स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः ॥

सूर्यका प्रकाश होनेपर प्राणी जिस प्रकार अपने-अपने व्यापारमें लग जाते हैं, उसी प्रकार आत्माके चैतन्यका आश्रय लेकर देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि अपना-अपना व्यापार करनेमें समर्थ होते हैं।

मैं आत्मा हूँ, यह निश्चय हुआ। इसलिये अब आत्माका स्वभाव जानना चाहिये।

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता ।
स्वभावः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलतात्मनः ॥

जिस प्रकार सूर्यका स्वभाव प्रकाश है, जलका शीतलता है, अग्निका स्वभाव उष्णता है, उसी प्रकार आत्माका स्वभाव सत्-चित्-आनन्द तथा नित्य और निर्मलता है।

इसलिये शरीरके धर्म जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि, आत्माको स्पर्श नहीं कर सकते। क्षुधा और तृष्णा प्राणके धर्म हैं, आत्माको पीड़ित नहीं कर सकते। जन्म और मरण शरीरके धर्म हैं, आत्मामें नहीं घटते; क्योंकि आत्मा अजन्मा है, उसका जन्म सम्भव नहीं है, और जिसका जन्म नहीं, उसकी मृत्यु कैसे हो सकती है? चित्तके धर्म शोक-मोह आदि आत्मापर असर नहीं डाल सकते; क्योंकि आत्मा असङ्ग है। इसी प्रकार बन्धन और मोक्ष कर्तृत्वके धर्म हैं; आत्माके अकर्ता होनेके कारण आत्माका बन्धन नहीं हो सकता। इसलिये बन्धनकी निवृत्तिरूपी मोक्षकी भी अपेक्षा आत्माको नहीं होती।

अतएव अनुभव करो——

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

मैं देव हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, शोक-मोह मुझमें कहाँ ?
सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ मैं नित्य मुक्त स्वभाव हूँ।

परमात्माको वशमें करनेका तरीका

चोरी मत करो, किसीकी हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, क्रोध मत करो, किसीपर अधीर होकर अपनी अप्रसन्नता व्यक्त मत करो, अपनी प्रशंसा मत करो, दूसरोंकी निन्दा मत करो। यही अन्तरङ्ग शुद्धि है और यही बहिरङ्ग शुद्धि है। यही परमात्माको वशमें करनेका तरीका है। —संत बसवेश्वर

सात्त्विकता विजयिनी है

[कहानी]

(लेखक—'श्रीचक्र')

'जय महाकाल !' लेकिन पुरुष कण्ठका गम्भीर जयघोष दीवारोंमें प्रतिध्वनित होकर भी जैसे शून्य रह गया । इतनी उदासीनता तो भगवान् महाकालके मन्दिरमें कभी नहीं रही है । मन्दिर और मन्दिरका प्राङ्गण मालव-गणनायकोंसे भरा है—उन मालव-गणनायकोंसे, जिनकी पराक्रम-परम्परा भारतीय वन्दियोंके कण्ठ अहर्निश गान करते हैं । किन्तु आज तो जैसे सबपर एक अद्भुत उदासी छायी है । तप्ताङ्गार-से तेजोमय मुख मानो भस्माच्छादित हो रहे हैं । सबने मस्तक झुका रक्खे हैं । आगत तरुणने एक बार चारों ओर देखा । मुख्य द्वारसे वह बिना किसी ओर देखे सीढ़ियोंसे उतरा था और मन्दिर तकके लिये भीड़ने जो मार्ग छोड़ रक्खा है, उससे गर्भगृह तक आ गया था । भगवान् महाकालको प्रणिपात करके उसने जयध्वनि की । 'क्यों एक कण्ठ भी उसका साथ नहीं दे रहा है ?' उसे आश्चर्य हुआ ।

'जय महाकाल' घंटेको हाथ ऊपर करके उसने बजाया, फिर जयनाद; किंतु वही शून्यता मिली उसे । वह प्रणिपात करके गर्भ-गृहसे बाहर आया । 'आज क्या मालव-गणनायकोंमें भगवान्‌का जयघोष करने जितनी भी श्रद्धा नहीं !' झुँझलाकर बिना किसी व्यक्ति-विशेषको लक्ष्य किये उसने पूछा ।

'उज्जयिनीसे बाहरसे लौटते हो भाई !' एक वृद्ध गणनायकने कहा—'आज इस उत्साहका क्या अर्थ है ? मिहिरकुलकी सेनाएँ मथुरासे आगे बढ़ चुकी हैं । मालव-गणनायक भगवान् महाकालकी शरणमें श्रद्धासे ही एकत्र हुए हैं, लेकिन हूणोंके उद्धत आक्रमणके इस घोर कालमें मन्दिरोंमें और कितने समय यह श्रद्धा-गद्गद जयघोष गूँजेगा—कौन कह सकता है ।'

'मिहिरकुल शिवभक्त है न ?' तरुणने आश्चर्यसे वृद्धकी ओर देखा ।

'सो तो है !' वृद्धके स्वरमें जैसे वेदना एवं व्यङ्गका तीक्ष्ण विष उतर आया—'पर दुःखभञ्जक मालव-मुकुटमणि महाराज विक्रमने जिनके चरणोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की—वे भगवान् महाकाल म्लेच्छकी दयासे अछूते रहेंगे, यही तो तुम कहना चाहते हो ? हम जानते हैं, वह शैव है । शिव-मन्दिरोंको वह ध्वस्त नहीं करता । लेकिन मथुराके मन्दिरोंका वहाँ खँडहर पड़ा है । मार्गके ग्रामतक खँडहर हो गये । सतियोंको सतीत्वकी रक्षाके लिये कुएँ, सरोवरों और चिताकी शरण लेनी पड़ी । अबोध शिशु पिशाचोंके भालोंपर उछाले गये । नृशंस आततायियोंका अपार समुदाय उमड़ा आ रहा है अवन्तीकी ओर और उनका अग्रणी शैव है—इतना कहकर तुम संतोष करना चाहते हो । मालवाकी पीठस्थ मूर्तियाँ अपने पावन पीठोंपर प्रतिष्ठित न रहें, मालव सतियों-का सतीत्व सुरक्षाके लिये चिता या कूपोंकी शरण देखे—मालव-नगर-ग्राम खँडहर बने पड़े हों तो ये मालव-सम्राट् महाकाल यहाँ क्या करेंगे ? हम तो इनकी शरण आये हैं । इन्हींसे पूछने आये हैं । ये रहेंगे—पर इनका जयघोष भी होगा या बंद किया जाय ?'

'जयघोष तो होगा !' तरुणके नेत्र जैसे अङ्गार हो उठे—'महाकालका जयघोष न बंद हुआ है न होना है । भगवान् तो हमारे साथ हैं । हमारी भुजाएँ शिथिल हो जायँ—इस कायरता-का दोष...... ।'

'मालव-योधा कायर हैं !' एक साथ क्रुद्ध शतशः कण्ठ गूँजे ।

'मैं किसी शूरका अपमान नहीं करना चाहता !' तरुणने उसी निर्भय स्वरमें उत्तर दिया—'मालव-भूमि आज पुकार रही है । भगवान् महाकाल कदाचित् अपनी मुण्डमाल पूर्ण करना चाहते हैं । म्लेच्छवाहिनीको उसकी धृष्टताका उत्तर देना ही है । शूर कायर नहीं हो तो संग्रामके लिये उसे सहायकों-की अपेक्षा भी नहीं होती । सिंह कभी नहीं गिनता कि गीदड़ोंका दल कितना बड़ा है ।'

'तुम्हारा परिचय भाई ?' वृद्धने बड़े सौम्य, स्नेहपूर्ण कण्ठसे पूछा ।

'मेरा नाम यशोधर्मा और मैं मालव हूँ !' तरुणने स्थिर धीर-भावसे कहा—'शत्रु जब सीमान्त पदाक्रान्त करता हो, परिचयका अधिक अवकाश नहीं हुआ करता । मैं चलता हूँ । मुण्डमाली प्रभु मेरे साथ हैं—कोई और न भी हो तो । जय महाकाल !'

'जय महाकाल !' शतशः कण्ठ गूँजे और खड्गोंने अपनी

चमकसे दिशाओंको उज्ज्वल कर दिया। 'हम सब तुम्हारे साथ चलते हैं।'

जहाँ आत्मबलिका अदम्य उत्साह है, जहाँ निष्कलुष, निःस्वार्थ गौरवमय त्याग है, वहाँ अनुयायियोंकी अपेक्षा हो या न हो, उनका अभाव नहीं हुआ करता।

'जय महाकाल!' यशोधर्माका अश्व उड़ा जा रहा था। उड़े जा रहे थे उसके पीछे शतशः अश्व और उनकी संख्या बढ़ती जाती थी—बढ़ती ही जा रही थी।

'जय महाकाल!' किसानोंने खेतोंमें हल पटक दिये और खड्ग सम्हाल लिया। कारीगरोंने अपने कला-कौशलको स्थगित कर दिया। मालव-माताओं एवं कुलवधुओंने बिना पूछे पुत्रों एवं पतियोंके भालपर कुंकुमका तिलक करके उनके हाथोंमें तलवार पकड़ा दी। नगर-के-नगर, गाँव-के-गाँव सैनिक-शिविर बन गये।

'जय महाकाल!' यूथ-के-यूथ घुड़सवार, दल-के-दल पैदल आते हैं—आते-जाते हैं। कोई नहीं पूछता—'कहाँ जाना है? क्या करना है?' सैन्यदल बढ़ता जा रहा है—बढ़ता ही जा रहा है। सहस्र-सहस्र बलिदानी शूरोंका वह सैन्यदल। सम्पूर्ण मालवा सैनिकोंका शिविर—ग्राम-ग्रामसे मूँछें उमेठते, भाले उछालते खिले मुख उमड़ते चले आते मालव-योधा—'महाकालकी मुण्डमालामें अपना मस्तक सम्मिलित होगा क्या?' बड़ा अद्भुत उत्साह है।

'जय महाकाल!' गूँज रही हैं दिशाएँ। धूलसे दिवस भी संध्या-सा म्लान बनता जा रहा है। म्लेच्छ-वाहिनीने इसे देखा और उसके पैर उखड़ गये। मगधके सम्राट् जिसके भयसे निद्रा नहीं ले पाते वह मिहरकुल—लेकिन मिहरकुल कोई भी हो, वह मनुष्य ही है। वह सम्राटोंके साम्राज्य ध्वस्त कर सकता है; किंतु यदि भगवान् महाकाल पृथ्वीके प्रत्येक तृणको सैनिक बनाकर खड़ा कर दें—मिहरकुलको लगा कि मालवाका तृण-तृण मनुष्य बन गया है और उसके विरुद्ध शस्त्र लेकर दौड़ पड़ा है।

'जादू! जादू है यह!' मिहरकुलने चिल्लाकर कहा—'किसी जादूगरने करामात की है, लौटो! पूरी गतिसे पीछे लौट चलो!' म्लेच्छ-वाहिनी लौट नहीं रही थी—भाग रही थी!

× × ×

[२]

'जादू! जादूगर यशोधर्मा!' मिहरकुल जबसे पराजित होकर मालव-सीमान्तसे लौटा है, पागल-सा हो गया है। वह एकान्तमें भी बार-बार पैर पटकता है, मुट्ठियाँ बाँधता है और अपने होंठ दाँतोंसे काट लेता है। वह निसर्ग-क्रूर—किसी कर्मचारीको कोड़े लगाने या गर्दन उड़ा देनेकी आज्ञा दे देना उसके लिये सदा साधारण बात रही है और इन दिनों तो वह उन्मत्त हो रहा है। 'मुझसे भी वह जादूगर विजय छीन ले गया!'

'महेश्वरकी जय!' महामन्त्रीने प्रवेश किया। किसी प्रकार मिहरकुलका क्रोध शान्त न हुआ तो किसी भी दिन उनका मस्तक धड़से पृथक् कर देनेकी वह आज्ञा दे बैठेगा। कोई उपाय होना चाहिये मिहरकुलके मनकी दिशा बदलनेका। हूण-महामन्त्रीने उपाय सोच लिया है, बड़े परिश्रमसे साधन एकत्र करके वे स्वीकृति लेने आये हैं। हाथ जोड़कर बड़ी नम्रतासे उन्होंने कहा—'काश्मीर विश्वकी सौन्दर्य-भूमि है। श्रीमान्‌की सेवामें इस सौन्दर्यभूमिकी कुछ सर्व-श्रेष्ठ सुन्दरियाँ······।'

'क्या बकते हो?' चिल्लाया मिहरकुल। 'गंदी नालीके कीड़ोंके साथ तुम मिहरकुलकी गिनती करना चाहते हो?' उसने इतने जोरसे घूसा पटक दिया कि सामने रक्खी हाथी-दाँतकी रत्न-जटित चौकी टूट गयी।

'मैं······।' महामन्त्री थर-थर काँपने लगे। उनके मुखसे शब्द निकल नहीं पा रहा था।

'फूलोंसे खेलना बच्चोंका काम है और फूलोंको खाकर नष्ट कर देना गंदे कीड़ोंका काम।' मिहरकुल गम्भीर बना बोल रहा था—'तुमने कभी मुझे विलासी देखा है? मैं महेश्वरका आराधक—प्रलयङ्कर महारुद्रका दास। ध्वंस-विनाश मेरी उपासना है। भव्य नगरोंके खँडहर मेरा यशोगान करते हैं। मैं महेश्वरके श्रीअङ्गमें जनपदोंको श्मशान करके उनकी विभूति अर्पित करनेकी महती कामना हृदयमें सेवित करता हूँ। वीणाकी पिन्-पिन् और छुई-मुई-सी लड़कियोंकी चें-चें, पें-पें मेरा मनोरञ्जन करेगी? मेरा मनोरञ्जन!'

'श्रीमान्!' जैसे मन्त्रप्रेरित कोई कार्य हो रहा हो, मिहरकुलकी दैत्याकार भयंकर आकृति। उपसचिव हाथ जोड़े कक्षमें आ खड़ा हुआ। केवल नेत्रोंके संकेतसे ही उसे अपनी बात कह देनेकी आज्ञा मिल गयी। उसने निवेदन किया—'सामनेके शिखरपर पूरे सत्ताईस महागज चढ़ाये जा चुके

हैं। नीचे जनसमूह श्रीमान्‌की प्रतीक्षा कर रहा है।'

'ठीक!' मिहरकुल उठ खड़ा हुआ। 'मन्त्रि-श्रेष्ठ! मिहरकुलका मनोरञ्जन आपका मनोरञ्जन कर सके तो साथ चल सकते हैं।'

मिहरकुलका मनोरञ्जन—कदाचित् ही संसारमें कोई इतना क्रूर आयोजन कभी करे। एक पर्वतकी एक दिशा मिट्टी एकत्र करके ढालू बना दी गयी है और उस ढालके सहारे किसी प्रकार चलते-फिरते पर्वतों-जैसे हाथी पर्वतके शिखरपर पहुँचा दिये गये हैं। शिखरपर पहुँचाकर उनकी सूँड़ और पैर जंजीरोंसे जकड़ दिये गये हैं। बेचारे हाथी हिल-तक नहीं सकते।

हूण सैनिकोंने खड्ग उठाकर जयघोष किया और मिहर-कुल उनके मध्य होता आगे आ खड़ा हुआ। उसे तड़क-भड़क स्वीकार नहीं। साज-सज्जा वह सदा अनावश्यक मानता है। मैदान साधारण स्वच्छ भर किया गया है। लेकिन मैदानसे मिहरकुलको करना भी क्या है। दोनों पैर फैलाकर दोनों हाथ कमरपर रखकर वह खड़ा हो गया पर्वत-शिखरकी ओर मुख करके।

शिखरपर हूण-सैनिकोंने मोटे-मोटे लट्ठोंके सहारे एक हाथीको धक्का दिया। बेचारा हाथी गिरा और लुढ़क पड़ा। चिग्घाड़ मारता पर्वतसे गिरिशृंगके समान लुढ़क चला वह दीर्घकाय गज। उसकी क्षण-क्षण बढ़ती करुण चिग्घाड़—स्थान-स्थानसे टकराता, लुढ़कता, चिथड़े बनता शरीर—मांस, रक्त, मेदका लुढ़कता लोथड़ा—और 'हाँ; हाँ' करके अट्टहास करके नीचे उसे देख-देखकर प्रसन्न होता मिहरकुल।

एक, दो, तीन—एकके बाद एक गज लुढ़काया जा रहा है। नीचे सैनिकों तकके भालपर स्वेद आ गया है। उनके पैर काँप रहे हैं। उन्होंने नेत्र बंद कर लिये हैं; किंतु मिहरकुल—वह क्या मनुष्य है? वह तो पिशाच है पिशाच। चल रहा है उसका पैशाचिक मनोरञ्जन! उच्चस्वरसे वह बार-बार पुकार रहा है—'एक और! एक और लुढ़कने दो!!'

'श्रीमान्!' सहसा प्रधान सेनापतिका घोड़ा दौड़ता आया। स्वेदसे लथ-पथ, हाँफते हुए अस्त-व्यस्त सेनापतिने मर्यादा-नुसार 'महेश्वरकी जय!' का जो घोष किया, वह भी थके, भयाकुल कण्ठसे और घोड़ेसे कूदकर मिहरकुलके पास आ खड़ा हुआ।

'रुको दो क्षण!' मिहरकुल अपने मनोरञ्जनमें बाधा पड़ने नहीं देना चाहता था। उसने सेनापतिकी ओर देखातक नहीं।

'श्रीमान्! समय नहीं है।' सेनापतिने आतुरतासे कहा—'यशोधर्माकी अपार सेनाने चारों ओरसे नगर घेर लिया है। अपने सैनिक गिरते जा रहे हैं।'

'यशोधर्मा!' चौंककर मिहरकुल घूम पड़ा—'कहाँ है यशोधर्मा?'

'ठीक कहाँ है यह कैसे कहा जा सकता है। लगता है कि नगरके सभी मोर्चोंपर वही है।' हूण-सेनापति ठीक कह रहा था। यशोधर्माका अश्व इतनी त्वरासे अपनी सेनाके समस्त अग्रिम मोर्चोंपर घूम रहा था कि स्वयं उसके सैनिक समझते थे कि उनका प्रधान सेनापति उनकी टुकड़ीके ही साथ है। हूण-सेनापति इससे और भी अस्त-व्यस्त हो उठा था। उसने कहा—'बहुत सम्भव है—कुछ क्षणोंमें वह यहीं दिखायी पड़े। इस पर्वतपर होकर ही निकल जानेका मार्ग रहा है।'

'जय महाकाल!' दिशाएँ गूँज रही थीं। नगरद्वार लगता था टूट चुके। कोलाहल पास आता जा रहा था। मिहरकुलके लिये भाग जानेको छोड़कर दूसरा कोई मार्ग रहा ही नहीं था।

× × ×

[३]

'सम्राट् यशोधर्माकी जय!' बहुत चाहा यशोधर्माने जय-घोषको अटकानेका; किंतु जनताके उत्साहको कोई आबद्ध कर सका है?

'सम्राट्!' जयघोष समाप्त होनेपर जब मालव-गणनायकोंके प्रतिनिधियोंकी ओरसे वृद्ध महासेन खड़े हुए, उन्हें यशोधर्माने रोक दिया—'यशोधर्मा न राजा है और न सम्राट् है, वह मालवका एक सैनिक है, एक नागरिक है, एक सेवक है और एक सेवक ही रहना चाहता है।'

'कोई माताके उदरसे राजा या सम्राट् होकर जन्म नहीं लेता श्रीमान्!' वृद्धने हँसते हुए कहा—'मालव-भूमिमें तो गणनायक जिसे सम्राट् बना दें वही सम्राट् होता है और गणसभाकी अवज्ञा करनेका अधिकार किसीको नहीं है। यशोधर्माको भी नहीं।'

'मैं गणसभाका विनम्र सैनिक हूँ।' यशोधर्माने हाथ

जोड़ लिये ! 'लेकिन पवित्र मालवभूमिके सम्राट् एकमात्र भगवान् महाकाल हैं। यशोधर्मा उनका तुच्छ सेवक होनेमें ही अपना गौरव मानता है।'

'ब्रह्मपुत्रसे महेन्द्र पर्वततक और हिमालयसे पश्चिम—समुद्रतक जिसकी भुजाओंके शौर्यने मालव-गणकी विजयध्वजा फहरायी है, मालव-भूमि उसे अपनी कृतज्ञताका उपहार देगी।' वृद्धने हाथ पकड़कर यशोधर्माको सिंहासनपर बैठा दिया।

'आजके इस महोत्सवके समय पड़ोसियोंको भी कुछ उपहार मिलना चाहिये सम्राट् !' जयघोष एवं अभिषेक-समारोह समाप्त होनेपर जब मालव-गणनायक मर्यादानुसार अपने उपहार अर्पित कर चुके, वाकाटक-नरेश हरिषेण उठ खड़े हुए।

'मालव कृतघ्न नहीं होते।' यशोधर्माने हरिषेणको अपने पार्श्वके आसनपर बैठानेकी व्यवस्थाका संकेत सचिवको करते हुए घोषणा की—'संकटके समय वाकाटकनरेशने अपनी सीमावृद्धिके प्रयत्नके स्थानपर अवन्तीको सहायता देनेकी उदारता दिखायी, इसे हम भूल नहीं सकते।'

'मेरी माँग बहुत बड़ी नहीं है !' हरिषेणने निर्दिष्ट आसन-पर बैठनेके लिये कोई उत्सुकता नहीं व्यक्त की। वे अपने आवाससे समारोहके अन्तमें आये थे और अभी खड़े ही थे। अपनी बातसे उन्होंने सबको चौंका दिया—'भगवान् महाकाल-का जयघोष करने और उनकी अभय-छाया पानेका अधिकार वाकाटकको भी है, इसके प्रतीककी भाँति महाकालके प्रतिनिधिके अभिषेकका अधिकार मिलना चाहिये।'

'वाकाटकप्रदेश मालव-सम्राट्को सम्राट् मानेगा ?' मालव-गणनायकोंने एक दूसरेकी ओर बड़ी उत्सुकतासे देखा।

'हम तो आपके सदाके मित्र हैं।' यशोधर्माने बड़े संकोचसे कहा।

'लेकिन मैं सम्राट्का मित्र नहीं, पार्श्वचर होनेका गौरव चाहता हूँ।' हरिषेण स्थिर खड़े रहे। उनके सेवकने उनके करोंमें अभिषेकका मङ्गल स्वर्णथाल दे दिया।

'भगवान् महाकाल निखिल ब्रह्माण्डनायक हैं।' यशो-धर्माने बाधा नहीं दी। 'उनके पार्श्वमें आनेसे हम किसीको कैसे वारित कर सकते हैं।'

'भगवान् महाकालकी जय !' जन-समूह आनन्दसे उल्लसित हो उठा। कोई सशक्त, समृद्ध नरेश इस प्रकार किसीको सम्राट् स्वीकार कर ले—बड़ी अद्भुत और बड़ी ही गौरवमय बात थी मालवगणके लिये।

'लेकिन आजके उपहार इन चमकते पदार्थोंसे पूर्ण नहीं होते !' समारोह समाप्त होने जा रहा था कि यशोधर्माने उठ-कर एक नवीन संदेश सुनाया—'अब भी मातृभूमिका भय दूर नहीं हुआ है। ये स्वर्ण एवं रत्न; किंतु अभी तो देशको शूरोंकी आवश्यकता है।'

'वाकाटककी वाहिनीको इस बार विजय-गौरव मिले।' हरिषेण फिर उठकर खड़े हुए—'मालव-योधा शान्त नहीं हुआ करते, यह मैं जानता हूँ, किंतु यशमें अपने सहयोगियोंको भाग देनेका औदार्य भी उनमें होना चाहिये।'

'मालव और वाकाटक पर्याप्त नहीं हैं, महाराज !' यशो-धर्मा कह रहे थे—'युद्धसे युद्धको दबाया जा सकता है, मिटाया नहीं जा सकता। मिहरकुल भाग गया है। कोई नहीं जानता कहाँ है वह। और कब उसके नृशंस आक्रमण देशको ध्वस्त करने लगेंगे।'

'वह अभी साहस करेगा ?' अनेक मालव-शूरोंने एक साथ पूछा।

'वह पराजित होनेवाला शूर नहीं है।' यशोधर्माने कहा—'जबतक मैं उससे प्रत्यक्ष मिल न लूँ, उसके सम्बन्धमें कुछ कह नहीं सकता। लेकिन इतना निश्चित है कि वह चुप नहीं बैठेगा। उसे ढूँढ़ना पड़ेगा, यदि देशको निर्भय करना है।'

'उसे ढूँढ़ना पड़ेगा ?' हरिषेण और वृद्ध मालव-गण-नायकतक चौंके—'क्या काश्मीरसे असम-प्रदेश (आसाम) तकका पर्वतीय प्रान्त इतना क्षुद्र और सुगम है कि उसमें किसी सौ-दो सौ सैनिकोंके दलको ढूँढ़ा जा सके ?'

'कार्य चाहे जितना कठिन हो, जिसे करना ही है, उसे अस्वीकार करनेसे लाभ ?' यशोधर्माने दृढ़ निश्चय सुना दिया—'मैं कल ही प्रस्थान करूँगा और देशके इस महाभय-को समाप्त कर देनेके लिये उन सब शूरोंका आह्वान करूँगा जो भगवान् महाकालकी विजयमें विश्वास करते हैं।'

'जय महाकाल !' मालव तरुणोंने एक साथ उद्घोष किया। भारतके गौरवप्राण तरुणोंने कब धर्मयुद्धके आवाहन-को अस्वीकार किया है ? जो आज कर देते।

× × ×

[४]

'जय महाकाल !' मिहरकुल स्वप्नमें भी चौंक पड़ता है।

'जादूगर यशोधर्मा!' मिहरकुल इस जादूगरसे संत्रस्त हो गया है। कैसा है उसका जादू? जंगलकी घास, खेतोंके पौधे और कदाचित् पर्वतोंके पत्थर भी उसके जादूसे सैनिक बनकर उठ खड़े होते हैं और युद्ध करने दौड़ पड़ते हैं।

पर्वतोंके मार्गसे वन-वन भटकता बेचारा मिहरकुल! उसके सैनिकोंकी संख्या घटती जा रही है। कोई भूखों मरता है, कोई पर्वतसे लुढ़ककर गिरता है और कोई कच्ची हिममें धँस हो जाता है। पहाड़ी जड़ें, पत्ते, कड़वे-कसैले फल—किसी प्रकार पेट भरना पड़ता है। आखेट भी कभी-कभी हो पाता है। घोड़े हों तो आखेट प्राप्त हो और घोड़े या तो छोड़ने पड़े या हिममें लुढ़क गये। अब तो दो-चार बच रहे हैं।

हूण-सैनिक—ये पर्वतीय युद्धके अभ्यस्त, कठोर-देह, विकटाकार, धैर्यशाली क्रूर सैनिक भी हिमालयकी शीत, हिम और निरन्तर भटकते रहना कहाँतक सह सकते हैं? बहुतोंने चुपचाप अपना मार्ग लिया। कुछ वन-पशुओंकी भेंट हो गये। जो बचे हैं—कब तक बचे रहेंगे?

'यशोधर्मा आ रहा है!' दुर्बल, क्षीण-काय मिहरकुल—वह जिधर भटकता निकलता है, जिस दिशासे जनपदोंके पास पहुँचना चाहता है, उसे एक ही समाचार मिलता है—'यशोधर्माकी असंख्य सेना चढ़ी आ रही है।'

'यशोधर्मा! काश्मीरमें, नेपालमें, असममें—जिधर जाओ उधर यशोधर्मा! यशोधर्माकी असंख्य सेना!' मिहरकुल ठीक समझ नहीं पाता कि कितने यशोधर्मा हैं। कितनी सेना है उनकी। जादूके अतिरिक्त यह सब कैसे हो सकता है, यह उसकी समझमें नहीं आता—नहीं आ सकता।

'महाकालकी जय!' स्वप्नसे चौंका मिहरकुल और उठकर बैठ गया—'मैं भी तो उसी महाकाल-महेश्वरका उपासक हूँ। क्या अपराध किया है मैंने महाकालका? मैंने रुद्रकी अर्चनाके लिये ही इतने ध्वंस किये और वही प्रलयङ्कर मुझसे अप्रसन्न हो गया?'

उसने उठकर हाथ-पैर धोये, आचमन किया और बैठ गया नेत्र बंद करके—'महेश्वर! प्रलयङ्कर महारुद्र! तूने क्यों एक जादूगर मेरे पीछे लगा दिया है? क्या दोष है मेरी आराधनामें? मिहरकुलने कहाँ अपना स्वार्थ सिद्ध किया है?' उस पाषाण-जैसे दीखनेवाले मिहरकुलके नेत्रोंसे भी धाराएँ चल रही थीं उस दिन।

'जय महाकाल!' जब हिम-शिखर अरुणोदयकी अरुणिमा लेकर सिंदूरारुण हो रहे थे, ध्यानस्थ मिहरकुलने चौंककर नेत्र खोल दिये। एक गौर-वर्ण शस्त्र-सज्ज कान्तिमान् पुरुष उसके सामने खड़ा था। मिहरकुलने स्थिरभावसे पूछा—'कौन?'

'यशोधर्मा!' बड़े शान्त स्वरमें उत्तर मिला।

'यशोधर्मा?' मिहरकुलको विश्वास नहीं हुआ।

'हाँ!' बहुत छोटा उत्तर था।

'यशोधर्मा! तब तू मेरे प्राण छोड़ दे!' मिहरकुलने दीनतासे कहा—'मैं मानता हूँ—महेश्वरकी तुझपर कृपा है। महेश्वरको छोड़कर किसीके आगे न झुकनेवाला मिहरकुलका सिर तेरे चरणोंपर झुकता है!' सचमुच चरणोंपर मस्तक रख दिया उसने।

'तुम महेश्वरको ही मस्तक झुकाओ भाई!' यशोधर्माने झुककर उठा लिया मिहरकुलको—'मैं तुम्हारे प्राण लेने नहीं आया। तुम्हें महेश्वरका संदेश देने आया हूँ।'

'क्या?' फटे नेत्रोंसे देखता रह गया वह हूण-सम्राट्।

'महेश्वर केवल प्रलयके समय प्रलयङ्कर होते हैं!' यशोधर्माने शान्तस्वरमें कहा—'देखते नहीं उन महाकालका यह सुविस्तृत श्वेत स्वरूप! वे महाकाल आशुतोष शिव हैं। जगत्की रक्षा—प्राणियोंका पालन उनका व्रत है। क्रूरता नहीं बन्धु! सात्त्विकता उनकी सच्ची सेवा है। उठो! चीन-हिंदसे पश्चिमोत्तर प्रदेशतकका तुम्हारा समस्त प्रदेश तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। तुम शक्तिशाली हो, महान् हो, विश्वको महेश्वरका यह पावन संदेश दो।'

'तुम सचमुच विजयी हो यशोधर्मा!' मिहरकुलके नेत्र भर आये। 'सचमुच सात्त्विकता विजयी है। लेकिन मुझे अब राज्य नहीं चाहिये। मैं तो महेश्वरकी उन उत्तुङ्ग विभु सात्त्विकताकी उपासना करने जा रहा हूँ।'

सैनिक उस छोटे-से पर्वतीय शिविरको घेरे खड़े थे। जब यशोधर्मा बाहर आये—हूण-सैनिक मस्तक झुकाये उनके पीछे चले आये। स्वयं यशोधर्माने मस्तक झुका रक्खा था। मिहरकुल चला जा रहा था दूसरी ओर हिमश्रेणियोंमें दूर-दूर—और उसकी वह धुँधली छाया धीरे-धीरे नेत्रोंसे अदृश्य हो गयी!

आत्म-निवेदन

और कहूँ क्या प्रियतम प्यारे ?
जब तक जीवन दीप जले यह,
जब निज ज्योति समेट चले यह,
जहाँ जहाँ फिर जाए, होना प्राणनाथ बस तुम्हीं हमारे ॥ और कहूँ० ॥
चरणकमलमें देव ! तुम्हारे,
बसे भ्रमरसे प्राण हमारे,
कसे प्रेमकी डोरीमें ये, जायँ कहाँ अन्यत्र विचारे ॥ और कहूँ० ॥
सब कुछ तुमपर वार चुकी हूँ,
अविचल निश्चय धार चुकी हूँ,
दासी हूँ मैं जन्म-जन्मकी, एक तुम्हारी हृदय-दुलारे ॥ और कहूँ० ॥
चारों ओर निहार लिया है,
भली प्रकार विचार लिया है,
नहीं समस्त त्रिलोकीमें है, मेरा कोई, सिवा तुम्हारे ॥ और कहूँ० ॥
'राधा' 'राधा' कौन पुकारे,
सुधि ले मेरी बिना तुम्हारे,
तुमको छोड़ खड़ी होऊँगी किसके साथ, समीप, सहारे ॥ और कहूँ० ॥
अपना कहकर जिसे बुलाऊँ,
ऐसा नहीं किसीको पाऊँ,
इस कुलमें, उस कुलमें, दोनों ही कुलमें, गोकुलमें सारे ॥ और कहूँ० ॥
शीतल चरण सरोज जानकर,
आयी उन्हें शरण्य मानकर,
उनसे ही बुझ सकते मेरे तप्त उरस्थलके अंगारे ॥ और कहूँ० ॥
यही तुम्हें भी उचित प्राणधन,
अबला एक बिना अवलंबन,
जान मुझे मत ठुकरा देना, कर देना मत कहीं किनारे ॥ और कहूँ० ॥
सब कुछ सोच समझ परखा है,
मेरा केवल एक सखा है,
तुम्हीं प्राणपतिसे मेरी गति, और कौन जो मुझे सँभारे ॥ और कहूँ० ॥
कहीं हुए जो एक आध पल-
को भी इन आँखोंसे ओझल,
बिना नीर ज्यों मीन तड़पती, लगता अब ये प्राण सिधारे ॥ और कहूँ० ॥
दुख दारिद्र्य सकल जो टारे,
वह पारस मणि तुम्हीं हमारे,
कण्ठहार निज जिसे बनाकर, रहती सदा हृदयपर धारे ॥
और कहूँ क्या प्रियतम प्यारे ??

मनकी स्थिरतासे ही कल्याण

(लेखक—वेदान्ताचार्य श्रीस्वामी संतसिंहजी महाराज)

मानव-जीवन कालकी प्रवहमान अबाध गतिमें जन्मता है और मरता है। इसी जन्म-मरणके चक्करमें प्राणियोंको न शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, न जीवनपर्यन्त लौकिक सुखसे ही वह सुखी होता है। ऐसे व्यक्ति अपने पार्श्ववर्ती प्राणियोंका भी कल्याण-साधन नहीं कर पाते, न अपना ही। कीड़े-मकोड़ोंकी तरह मनुष्य निरन्तर जन्मता-मरता रहता है। परंतु यदि मानव शान्त चित्तसे सोच-विचारकर कुछ अपनेको संयमित कर ले तो अपना और जगत्का—दोनोंका कल्याण कर सकता है। बहुत दूर ज्ञान-विज्ञानकी वार्तोकी ओर न जाकर अपने शरीरस्थ तत्त्वोंपर ही विचार करें तो आपको मालूम होगा कि अन्तःकरण-चतुष्टयमें संकल्प-विकल्पात्मक मन है। मनकी गति अत्यन्त चञ्चल मानी जाती है, जैसे हाथीका सूँड़ हिलता ही रहता है, बंदर निरन्तर चेष्टारत ही रहते हैं, छोटे शिशु जैसे स्थिर नहीं बैठते, ठीक उसी तरह मनका स्वाभाविक गुण है चञ्चलता। यही प्रश्न अर्जुनने भगवान्से किया था—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्जुन-जैसा पराक्रमी योद्धा भी मनके निग्रहमें हताश-सा मालूम होता है। प्रथम पादमें 'हि' शब्दका प्रयोग किया गया है, जो निश्चयका बोधक होता है; अतः अर्जुनकी दृष्टिमें भी मन दुर्जय है। सद्गुरु श्रीतेगबहादुरजी महाराजने भी अपनी अनुभूतियोंके आधारपर लिखा है—

> साधो! इह मन गहियो न जाई।
> चंचल तृष्णा संग बसत है, याते थिर न रहाई॥

गुरुजीने उन कारणोंका दिग्दर्शन भी कराया है, जिससे मन वशमें नहीं होता। भाई! सच जानो तो चञ्चल मन ही सभी अनर्थोंका एकमात्र कारण है। मनके सहयोगसे ही सारी इन्द्रियाँ भी प्रवृत्त होती हैं। स्वतन्त्र इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति किसी भी विषयमें हो ही नहीं सकती। जिस इन्द्रियकी मनके साथ एकरूपता होती है, वही इन्द्रिय स्वग्राह्य विषयकी ग्राहक हो जाती है, जिस इन्द्रियका मनके साथ सम्बन्ध नहीं होता वह इन्द्रिय विषय-संनिहित होनेपर भी ग्रहण नहीं कर सकती। इन्द्रियोंके द्वारा ही मन लौकिक ग्राह्य पदार्थोंको जानता है—ज्ञान प्राप्त करता है, फिर कल्पना करता है, तत्पश्चात् उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है। प्राप्त करनेमें अत्यन्त अनर्थ तथा क्लेशादि होने लगते हैं। मनुष्य विवेक-विचारहीन होकर अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशादि पञ्च क्लेशोंमें आबद्ध हो भयानक विपत्तियों एवं आधि-व्याधियोंसे पीड़ित होता हुआ मृत्युको प्राप्त हो जाता है। फिर मनुष्य जीवनमें कुछ कर ही नहीं पाता। अतः निष्कर्ष यही निकला कि मनको संयमित रखनेसे ही इन्द्रियाँ स्वयं वशवर्तिनी हो जाती हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण भी मनकी चञ्चलता स्वीकार करते हुए नीचे लिखे श्लोकमें उसका उपाय भी बतलाते हैं—

> असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अतएव उसका उपाय है—

> अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

अभ्यास और वैराग्यसे ही मन संगृहीत हो सकता है। इसकी पुष्टि महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें भी की है—

> 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'

परंतु नये रंगरूट इसकी तहमें न जाकर तुरंत घर-द्वार छोड़ हाथ-पर-हाथ रख बैठ जाने, निष्क्रिय हो जानेको ही परम वैराग्य समझ बैठते हैं। यह उनकी

भूल है। भाई! शीघ्रता न करो, धैर्यके साथ पृष्ठभूमि तैयार करो—जैसा कि लिखा है—

'स च दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः'

अर्थात् अधिक समयतक श्रद्धा, विश्वास और उत्साहके साथ विघ्नरहित अभ्यास करनेसे ही पृष्ठभूमि दृढ और उर्वरा होती है। यह सब साधना है, शनैः-शनैः साधन-तत्पर रहते-रहते सिद्धि-सफलताकी प्राप्ति होती है। इसीलिये कहा है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

अर्थात् अनेक जन्मोंके बाद सिद्धि मिलती है, तब परमपदकी प्राप्ति होती है। अतएव जीवनमें सफलताकी प्राप्ति करना चाहे तो शान्तचित्त हो प्रयत्नपूर्वक नित्य अभ्यासमें तत्पर हो जाय, तब फिर मनुष्य पूर्णकाम हो सकता है।

हाँ, यह भी ध्यान देनेकी बात अवश्य है कि मनको वशमें करनेके लिये इन्द्रियोंका नियन्त्रण भी परम आवश्यक माना जाता है, क्योंकि इन्द्रियाँ प्रमथनशील स्वभावतः होती हैं, अतः वह मनको भी खींचती हैं—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

—इत्यादि। इसीलिये तो कहा है कि असंयत इन्द्रियाँ विषयोंकी स्फुरणा करती हैं। स्फुरण होनेसे मन बलपूर्वक विषय-चिन्तनमें लग जाता है, फिर क्रमशः भ्रंशता प्रारम्भ हो जाती है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

अतः इन्द्रियोंसे और मनकी प्रवृत्तिसे सदा सावधान रहना चाहिये।

अभ्यासकी प्रक्रियामें कुछ आचारपर भी भगवान् श्रीकृष्ण ध्यानाकृष्ट करते हुए लिखते हैं कि तुम्हारे अभ्यासका क्रम कैसा हो? इस विषयमें थोड़ा यौगिक मार्गका अवलम्बन लेना उचित बतलाया है। गीता अध्याय ६ में—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥१०॥

अर्थात् एकान्त स्थानमें मन और इन्द्रियोंको संयत कर परम तत्त्वमें लगे—फिर आगे निश्चित कार्यक्रम भी बता देते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥

अर्थात् अत्यन्त ऊँचा-नीचा न हो, स्थिर आसनपर कुशा बिछाकर मृगचर्म बिछाओ, उसपर वस्त्र बिछाकर मन एकाग्रकर आत्म-शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करो। इस प्रकार पूर्ण अभ्यस्त होनेपर ही मनकी चञ्चलता मिट जाती है और क्रमशः आत्मानन्दकी अनुभूति होती है। जीवनमें शान्तिकी प्राप्ति होती है, द्वैतताके भावोंसे मन निवृत्त हो जाता है, क्योंकि मनकी स्थितिमें ही द्वैत, दुःख, अशान्ति और क्लेश है। मनके लय होनेपर द्वैतभावका भी लय हो जाता है, फिर अनर्थोंका अभाव स्वाभाविक है। अतएव प्राणियोंको चाहिये कि मनको लय करनेमें सदा तत्पर रहें, और इन्द्रियोंको संयमित करनेके लिये निरन्तर अभ्यासरत रहें, जिससे इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण हो—बस, यही कल्याणका प्रशस्त पथ है। संसारके दुःखोंसे दुखी प्राणियो! आओ! इस प्रशस्त राजपथपर चलने लग जाओ। तुम्हारा भी कल्याण और जगत्‌का कल्याण।

ॐ शिवं भूयात्

मन अति चंचल और बड़ा भारी दुर्निग्रह निःसंशय।
पर अभ्यास तथा विरागसे वशमें हो सकता निश्चय॥

आत्मनियन्त्रण

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी पाठक)

एक सेनापति अपने शौर्यके लिये बड़ा प्रसिद्ध था। युद्धभूमिमें अनेक गौरवपूर्ण विजय प्राप्त करनेके कारण उसके देशवासी उसपर अभिमान करते थे। एक बार एक प्रबल शत्रुको हराकर जब वह नगरको लौटा तो लोगोंने एक विशाल जुलूस निकालकर उसका अभिनन्दन किया, उस जुलूसमें एक सुन्दरी स्त्रीसे उसकी चार आँखें हुईं और उसे दो आँखोंसे परास्त होते देर न लगी। वस्तुतः वीर वही होता है जो अपने-पर (अपने मन-इन्द्रियोंपर) विजय प्राप्त करता है, अपनेपर अधिकार न रखनेवाला बड़े-से-बड़ा योद्धा और शूरवीर भी कायर और गुलाम होता है।

आर्यसमाजके प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वतीको महाराणा उदयपुरद्वारा एकलिंग मन्दिरके महन्तकी गद्दी आग्रहपूर्वक भेंट की जाती है, जिसकी आय लाखों रुपये वार्षिककी थी। महर्षि इस भेंटको अस्वीकार कर देते हैं। महाराणा आग्रह करते और अपनी इस प्रबल इच्छाकी पूर्तिके लिये महर्षिसे विशेष अनुरोध करते हैं। महर्षि पूछते हैं—'महाराणा! मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँ या परमात्माकी, जिसके लिये मैंने सर्वमेध यज्ञ किया है?' यह सुनकर महाराणा निरुत्तर हो जाते हैं। अपने विशुद्ध अन्तरात्मा और परमात्माकी आज्ञाका पालन करनेसे मनुष्यको अपने ऊपर अधिकार प्राप्त हो जाता है।

मनुष्यके व्यक्तित्वमें आकर्षण, वाणीमें प्रभाव, कर्ममें सौष्ठव और चरित्रमें बल और सौन्दर्य होना चाहिये। ऐसी अवस्थाकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको बड़ा तप और त्याग करना पड़ता है, अपनी वासनाओंपर विजय प्राप्त करनी होती है, अपने शरीरको आत्माके अधीन करना पड़ता है, अपने स्वार्थको परमार्थपर न्योछावर करना होता है, अपने-आपको माया, मोह और प्रलोभनोंसे ऊपर रखना आवश्यक होता है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोहके मोहक कुत्सित प्रभावोंसे अपनेको बचाना पड़ता है। संसारमें उच्च जीवनकी ओर ले जाने-वाली जो अव्यक्त प्रगति होती है उसमें सर्वाधिक योग आत्मसंयमी, ज्ञानवान् और सत्कर्मियोंका ही होता है। आत्मसंयमी और आत्मविजयी पुरुष ही प्रत्येक पापपूर्ण कर्मसे लोहा लेता है। वह प्रत्येक बुरे विचारको मनमें उठनेसे और प्रत्येक बुरे शब्दको वाणीपर आनेसे रोक देता है, एवं निरन्तर प्रत्येक पवित्र और उच्च भावनाको प्रोत्साहित करता रहता है।

भगवान् राम राज्याभिषेककी तैयारीमें थे। उसी समय वे महाराज दशरथके महलमें बुला लिये जाते हैं और कैकेयीद्वारा उन्हें वनगमनका आदेश सुना दिया जाता है; परंतु रामने अपने आत्मामें जिस साम्राज्यकी सृष्टि कर रक्खी थी, उसकी तुलनामें अयोध्याका पार्थिव साम्राज्य नगण्य था। उन्होंने धैर्य और शान्तिके साथ उस आज्ञाको सुना। भाइयोंको रोष आया, माताओंने विलाप किया, राजमहल और नगरमें शोक छा गया। दशरथ और कैकेयीको बुरा-भला कहा गया, परंतु महात्मा राम अविचल रहे, सबको सान्त्वना देते हुए प्रसन्न मनसे वनको चले गये। रामने अपने आचरणसे यह दिखला दिया कि वे वासनाओं और मनोविकारोंके दास न थे। अपने ऊपर उनका पूर्ण अधिकार था। उनकी इच्छाएँ बुद्धिके अधीन थीं। दुःखको हँसते हुए सहन करने, आपत्तिपर विजय प्राप्त करने, हर्ष और शोकमें एकरस रहने, भय, आतंक और घृणासे ऊपर रहकर अपने शुभ संकल्पोंपर डटे रहने, तूफानों और बवंडरोंमें अविचल खड़े रहनेसे वे बिना मुकुट पहने

हुए भी सम्राटोंके सम्राट् थे। जब सिकंदरने समस्त संसारको जीतकर अपने वशमें कर लिया और उसके पशुबलका सामना करनेवाला कोई न बचा तो वह रोने लगा। उसके आँसू क्या थे ? उस साम्राज्यके प्रति मूक श्रद्धाञ्जलि थी, जिसे वह जानता न था। वह साम्राज्य आन्तरिक साम्राज्य था। अभिमान और वैषयिक महत्त्वाकाङ्क्षा इस आन्तरिक साम्राज्यके प्रबल शत्रु होते हैं।

एक भारतीय रानी अपनी वीरता, युद्धकौशल और सौन्दर्यके लिये प्रसिद्ध थी। एक बार वह किसी युद्धमें सहायता माँगनेके लिये अपने सैनिकोंके साथ एक यूरोपियन राज्याधिकारीसे मिलनेके लिये गयी। जब रानी उस अधिकारीके कमरेमें पहुँचकर अपने सैनिकोंके साथ उचित स्थानपर बैठ गयी, तब वह अधिकारी अपने कमरेसे निकलकर आया और मेजपर बैठकर कागज देखने लगा। कागज देखते हुए वह बीच-बीचमें रानीकी ओर दृष्टि डालने लगा। रानी बैठी हुई उसको देखकर मन्द-मन्द मुसकराती थी। उस समय वह अधिकारी अधिक शराब पिये हुए था। रानीके रूप-लावण्यपर मुग्ध हो कागज छोड़कर उठा और रानीकी ओर बढ़कर और उसको अपने बाहुपाशमें कसकर उसका चुम्बन करने लगा, रानीके साथी इस कुचेष्टाको देखकर आगबबूला और उस अधिकारीको मार डालनेके लिये उद्यत हो गये। रानीने मन्द-मन्द मुसकराते हुए अपने सैनिकोंको संकेतसे मना किया और कहा—'मित्रो! यह ईसाई पादरी मेरा पिता है और अपनी बेटीको पाप-मुक्त करनेकी प्रार्थना कर रहा है।' यह सुनते ही वह कामी लज्जित हो रानीको अपने बाहुपाश-से मुक्त कर देता है, बादमें उन दोनोंमें चिरकाल-पर्यन्त भाई-बहिनके सम्बन्ध स्थिर रहते हैं। यदि यह रानी उस भीषण अवसरपर अपनेपर काबू न रखती तो न जाने कितना भयंकर काण्ड हो गया होता। उसने [illegible] क्रोधपर असाधारण अधिकार रखनेका परिचय दिया। पुरानी कहावत है कि जो आवेशमें नहीं आता वह मूर्ख होता है, परंतु जो क्रोधकी परिस्थितिमें भी क्रोध नहीं करता, वह बुद्धिमान् होता है।

इन्द्रकी भेजी हुई उर्वशी नामकी एक परम सुन्दरी अप्सरा अर्जुनको विचलित करनेके लिये उनके पास जाती है और अपने हावभाव और संकेतोंसे उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करनेका यत्न करती है, परंतु तपके धनी महात्मा अर्जुनपर उसका कोई असर नहीं होता और वे अविचलित भावसे अपनी निष्ठामें निमग्न रहते हैं। अपने समस्त मूक उपायोंको आजमा लेनेके पश्चात् अन्तमें उर्वशी अर्जुनसे कहती है—'अर्जुन! क्या तुम मुझको नहीं देख रहे हो ?' अर्जुन उत्तर देते हैं—'देवि! मैं तुम्हें देख रहा हूँ, तुम मुझे माँ कुन्ती और माद्रीके रूपमें दीख पड़ रही हो।' मनकी ऐसी उच्चावस्था निरन्तर तप और आत्मसंयमके अभ्याससे उत्पन्न होती है, भोगोंके अमर्यादित भोगसे वासनाओंकी वृद्धि, दुःख और बन्धन होता है। भोगोंका वास्तविक आनन्द उनमें लिप्त होनेसे नहीं, अपितु त्याग और संयमपूर्वक उनका मर्यादित उपभोग करनेसे प्राप्त होता है।

गीतामें कहा गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(२। ६४-६५)

'जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, ऐसा राग-द्वेषसे रहित पुरुष अपने अधीन की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता) को प्राप्त होता है। और उस प्रसाद—प्रसन्नता (निर्मलता) से सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है।'

महात्मा चैतन्यकी पुण्यभूमि नवद्वीपमें जगाई-मधाई नामके दो भाई रहते थे। वे बड़े ही दुष्ट और

आततायी थे। एक बार कीर्तनमें श्रीनित्यानन्दजीको, जो महात्मा चैतन्यके प्रधान साथी थे, शराबके नशेमें चूर मधाईने टूटे घड़ेके टुकड़ेसे मार दिया। यह खपड़ा बड़े जोरसे उनके सिरमें लगा। सिरमें लगते ही उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। एक टुकड़ा नित्यानन्दजीके माथेमें गड़ गया। खूनकी धारा बहने लगी। इसपर भी उन्हें क्रोध नहीं आया और उन्होंने भगवान्‌से उन दोनों भाइयोंके जीवनको पवित्र बना देनेके लिये प्रार्थना की। उन्होंने चैतन्यसे भी यही निवेदन किया। अन्तमें दोनों भाइयोंका मन पलट गया। श्रीनित्यानन्दजीके अप्रत्याशित सद्व्यवहारसे मधाई बड़ा प्रभावित हुआ। उसकी आँखोंमें आँसू आ गये और उसने चैतन्य महाप्रभुसे अपने अपराधको हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। इस घटनाने दोनों भाइयोंकी काया-पलट कर दी और वे सत्कर्मी बन गये। जो व्यक्ति आत्मनियन्त्रणके इस प्रकारके उदाहरण हमारे सामने रखता है जिनसे हमारा जीवन उत्कृष्ट बन सके और हम विकारोंसे ऊँचे उठ सकें, वह वस्तुतः वर्तमान पीढ़ीको ही नहीं अपितु आनेवाली पीढ़ीको भी उपकृत करता है।

बनवीर हाथमें नंगी तलवार लिये बालक उदयसिंह-को मारनेके लिये राजमहलमें घुसता है। पन्ना धायसे पूछता है—'उदयसिंह कहाँ है?' पन्ना अपने हृदयको हाथमें लेकर अपने प्यारे पुत्रकी ओर इशारा कर देती है। बनवीरकी तलवार बालककी गर्दनपर पड़ती और माँके सामने ही बेटेका काम तमाम हो जाता है। आत्मत्याग और मोह-त्यागका ऐसा अनूठा उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलता है?

बहुत-से व्यक्ति संयम और आत्मनियन्त्रणकी कमीके कारण अपनी कठिनाइयों और अमित्रोंकी सृष्टि तथा वृद्धि करते रहते एवं जीवनपर्यन्त उनसे छुटकारा पानेके क्लेशमय संघर्षमें लगे रहते हैं, परंतु उन लोगोंसे कम बुद्धि और अनुकूल परिस्थितियोंवाले व्यक्ति अपने संतोष और मनकी शान्तिके बलपर अधिक सुखी पाये जाते हैं। मनुष्यको सुख-प्राप्तिके लिये बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है, अपितु अपने भीतर ही सुखकी खोज करनी चाहिये। हमारे पास जो कुछ हो, उससे तो संतुष्ट रहना चाहिये और जो कुछ हम हैं उससे संतुष्ट न रहकर अपनेको अधिकाधिक योग्य बनाना चाहिये।

निःसंदेह आत्मनियन्त्रणका कार्य कठिन होता है। ज्ञानवान् और कर्तव्यपालनमें लगे हुए व्यक्तियोंके लिये यह सरल होता है। काम, क्रोध, लोभ और मोहसे ऊपर उठे हुए व्यक्तियोंसे इसकी सिद्धिका उपाय और इसके प्रसादोंको पूछिये। काम, क्रोध आदि जब मर्यादासे बाहर जाकर मनुष्यके विवेकपर हावी हो जाते हैं, तब ये अत्यन्त हेय बन जाते हैं। केशवचन्द्र सेन महर्षि दयानन्दसे पूछते हैं कि 'क्या कभी आपके मनमें काम-का विकार उत्पन्न ही नहीं होता?' महर्षिसे वे इस प्रकारके अनेक प्रश्न करते और स्वामीजी उनका उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर देते हैं। और अन्तमें कहते हैं 'केशव बाबू! मैं अपने प्रचार-कार्यमें इतना निमग्न रहता हूँ कि मेरे मनमें इस प्रकारका विचार ही नहीं उठ पाता।'

राजा सुधन्वा अभिमानपूर्वक कहा करते थे कि 'मेरे राज्यमें न कोई चोर है, न जुआरी है, न शराबी है और न व्यभिचारी है।' सुशासन वही होता है जो प्रजाको आत्मसंयममें रहना सिखावे। क्या विलासिता, ऐयाशी, फैशनपरस्ती, आरामतलबी, नशाखोरी और उच्छृङ्खलता आदिको उनके विविध अभिशापोंके साथ प्रोत्साहित करनेवाले शासक राजा सुधन्वाकी तरह अपने-पर अभिमान कर सकते हैं? आज अपराधोंको कम करनेके लिये नाना प्रकारके कानून-कायदे बनाये जाते हैं, फिर भी अपराधोंमें कमी नहीं आती अपितु उनमें वृद्धि ही होती जाती है? क्यों? इसलिये कि लोगोंके कमजोर मन प्रकृतिकी भूल-भुलैयामें फँसकर कानूनकी परवा नहीं करते। जिस शासनमें बहुत कम कानून-

कायदे बने होते हैं, वह उत्तम समझा जाता है। उस शासनद्वारा शासितोंको कानूनमें बाँधनेकी बहुत कम आवश्यकता होती है। संयमी और सदाचारी प्रजाजनोंका उत्तम जीवन स्वयं ही कानून होता है।

वे आत्मविजयी महापुरुष धन्य हैं जो संसारके सुधार और सेवामें निरत रहते और न केवल अपने सत्प्रयत्नोंसे समाजको स्वस्थ बनाते हैं अपितु उसकी विचारधारामें मूल-भूत परिवर्तन करके समयके प्रवाहको बदलनेमें भी उल्लेखनीय योग देते हैं, परंतु प्रत्येक व्यक्तिके वशका यह कार्य नहीं है। समयके प्रवाहपर उसका अधिकार नहीं होता और न वह संसारके सुधारका ठेका लेकर ही आता है। उसका एकमात्र अधिकार एक व्यक्तिपर होता है, और वह स्वयं होता है, यदि प्रत्येक मनुष्य दूसरोंका सुधार करनेका ढोंग न करके अपना सुधार करे और अपनेको ईमानदार और सदाचारी बना ले तो सारा समाज अच्छा और सदाचारी बन सकता है।

आनन्द एवं प्रसन्नताकी बाधाओंको दूर कीजिये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०)

साधारण जनताका कुछ ऐसा विश्वास है कि उनका आनन्द एवं प्रसन्नता किसी दूरस्थ ध्येयकी प्राप्तिमें निहित है। वे प्रायः कहते हैं, 'मैं जब अधिक वेतन पाने लगूँगा, तब आनन्दित रहूँगा' 'जब मेरे पुत्रकी नौकरी लग जायगी, अथवा पुत्रीका विवाह हो जायगा तब मुझे सुख प्राप्त होगा' 'जब मेरी पेंशन हो जायगी अथवा मेरी बीमा-पालिसी मुझे प्राप्त हो जायगी; जब मेरा मकान तैयार हो जायगा अथवा मैं मोटर खरीद लूँगा, तब सुखी होऊँगा' इत्यादि-इत्यादि।

इस प्रकारके अनेक छोटे-बड़े प्रश्न हमारे दिमागमें चक्कर लगाया करते हैं और हम किसी बाहरी पदार्थ या उद्देश्यकी प्राप्तिमें अपने सुख तथा आनन्द निहित होना समझनेकी भूल करते हैं। हम अपने जीवनके आनन्दको आगे टालते या किसी दूरकी वस्तुमें होना समझते रहते हैं। हमारे जीवन तथा उस दूरके उद्देश्यके मध्यमें एक गहरी खाई या खाली जगह छूट जाती है। प्रसन्नता मृगतृष्णाकी तरह निरन्तर आगे बढ़ती जाती है और हमारा वर्तमान जीवन खाली-खाली-सा एक शून्यमय रिक्ततासे परिपूर्ण हो जाता है। यही हमारी भूल है।

आनन्द या प्रसन्नता जीवनका चरम उद्देश्य नहीं, एक क्रिया है, जीवन-यापन करते हुए सदा-सर्वदा मिलनेवाला एक मिठास या प्रकाश है। राबर्ट लुई स्टीवनसन कहा करते थे—'आनन्द किसी गन्तव्य स्थानपर पहुँच जानेमें नहीं है, वरं वह तो चलनेकी, जीनेकी क्रियामें, कठिनाइयों अथवा संघर्ष पार करनेमें, सतत उद्योगमें है। प्रसन्नता और हमारा आनन्द प्रतिदिन, प्रतिपल बिखरा पड़ा है। यदि हम आज आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते, आज जीवनका रस-पान नहीं कर सकते, तो चाहे हमारा वेतन दुगुना क्यों न हो जाय, चाहे हम बहुमूल्य वस्त्र क्यों न धारण कर लें, भविष्यमें हमें आनन्द उपलब्ध होनेवाला नहीं है।

जीवनका आनन्द लूटना एक कला है। यह उत्साह, संतोष और आन्तरिक आनन्दपूर्वक जीवनको स्थान-स्थानपर मोड़नेपर निर्भर है। जिसे जीवनका सर्वप्रिय कार्य प्राप्त हो गया है और जो उसे पूर्ण तन्मयताके साथ सम्पन्न करता है वह आनन्द लूटता है। अपनी रुचि एवं स्वभावके अनुकूल कार्य ढूँढ़िये और उसे सरसता-पूर्ण ढंगसे सम्पन्न कीजिये। आपकी परिस्थितियाँ सदा ऐसी ही रहनेवाली हैं; उनके परिवर्तित होनेकी लंबी प्रतीक्षा मत देखिये वरं आप जिस स्थिति, वय, आयमें हैं, उन्हींमें

रहकर आनन्दको प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये। यदि आप विवेकपूर्वक योजना बनायेंगे तो, निश्चय जानिये, इसी परिस्थितिमें आपको आनन्द प्राप्त हो सकता है।

एक पुरानी कहानी है—एक राजा था, जिसे नैराश्यके दौरे-से उठते थे। उसने मानस चिकित्सकोंकी सलाह ली, तो उसे सूचित किया गया कि राजा तभी आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकेंगे, जब वे किसी प्रसन्न और सदा सुखी, संतुष्ट रहनेवाले व्यक्तिका कमीज पहनेंगे। अतः सारे राज्यमें ऐसे व्यक्तिकी खोज की गयी। चारों ओर राज्यभरमें तलाश की गयी, किंतु कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्तमें उन्हें एक ऐसा व्यक्ति प्राप्त हुआ, जिसका मुख लाल था और जिसका जीवन संगीतमय था। वे जल्दी-जल्दी इस प्रसन्नव्यक्तिको राजधानीमें लाये। वह राजाके सम्मुख लाया गया। राजाने उस निर्धन व्यक्तिसे उसका कमीज खरीदनेकी माँग की, किंतु उस व्यक्तिने कहा कि मेरे पास कमीज है ही नहीं। उसने एक फटी हुई वास्कट-सी पहन रक्खी थी और उसका पेट नंगा दीख रहा था।

आनन्दका वास्तविक उद्गम हमारा हृदय है। प्रसन्नताकी जड़ हमारे अन्तःस्थलमें है। बाह्य जगत्की नाना विलास या आरामकी वस्तुओंमें आनन्द नहीं है। वह तो हमारे अन्तर्जगत्की क्रिया है। आनन्दका उद्रेक हमारे आन्तरिक प्रदेशसे होता है। आनन्द किसी सुदूर उद्देश्यमें निहित नहीं है। आनन्दमें सीमाबन्धनका क्रम नहीं है। अमुक सीमा पार कर हम आनन्दित हो सकेंगे—यह एक भ्रमात्मक धारणा है। आनन्द तो स्वयं हमारे जीवनके प्रति दृष्टिकोणपर निर्भर है। जीवनमें हमें जो थोड़ी-सी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उन्हींको ठीक प्रकारसे सजा-सँवारकर हम आनन्दकी उपलब्धि कर सकते हैं। यह हमारी भ्रमात्मक धारणा है कि अमुक वस्तु, स्थिति, आधार या दूसरेकी सहायता प्राप्त होनेपर हमें पूर्ण आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

मनुष्योंके मनमें एक भ्रम यह है कि हम दूसरोंको कुछ नहीं दे सकते जबतक स्वयं हमारे पास उस वस्तुको खरीदनेके लिये रुपया न हो। जीवनमें अनेक ऐसी बहुमूल्य वस्तुएँ हैं जो रुपये-पैसेसे नहीं खरीदी जा सकतीं; धन जिन्हें खरीदनेमें बहुत छोटा पड़ जाता है। प्रेम, सहानुभूति, दया, करुणा, सौहार्द इत्यादि वे दैवी सद्गुण हैं, जिनको आप किसी भी मूल्यपर नहीं खरीद सकते। ये सब आपके हृदयमें निवास करते हैं और आप प्रचुरतासे इन्हें दूसरोंको दान कर सकते हैं। निश्चय जानिये, दूसरोंको अपना प्रेम, सहानुभूति, सच्ची प्रशंसा देनेमें आपको सच्ची प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। जो दूसरेको जितना अधिक प्रेम, सहानुभूति, सचाई, ईमानदारी वितरित करता है, वह दूसरोंसे उतना ही अधिक पाता भी है। इस आदान-प्रदानमें सुख है। जब दो सच्चे हृदय एक दूसरेसे मिलकर एक हो जाते हैं; प्यारसे छलछला उठते हैं, या करुणा एवं सहानुभूतिसे विभोर हो उठते हैं, तब मनुष्यके आनन्दका पारावार नहीं मिलता।

हममेंसे गरीब-से-गरीब व्यक्ति इन बहुमूल्य दैवी विभूतियोंको दे-लेकर आनन्दका लाभ उठा सकता है। हम गरीबों, निःसहायों, पीड़ितोंपर दया करें, दूसरोंके सच्चे कार्योंकी सच्ची प्रशंसा करें, दूसरोंकी कलामें दिलचस्पी लें, उनका जीवन प्रेममय संगीतसे परिपूर्ण कर दें, तो हम दुखी, निराश व्यक्तियोंको ऊँचा उठा सकते हैं, नवीन आशाकी रश्मिका संचार कर सकते हैं और संघर्ष करते हुए व्यक्तियोंमें आत्मविश्वास जाग्रत् कर सकते हैं।

बड़े-बड़े व्यक्ति भी अपने मनमें दूसरोंकी सहानुभूति, प्रशंसा, प्यार, दाद पानेकी आकाङ्क्षा करते हैं। उनके पास रुपये-पैसेकी कोई कमी नहीं होती; रुपयेसे खरीदी जानेवाली वस्तुएँ प्रचुरतासे होती हैं; पर वे मनुष्यके हृदयमें बसनेवाली सहानुभूति एवं प्रशंसाकी तीव्र इच्छा

रखते हैं। डेल कार्नेगीने एक स्थानपर लिखा है कि 'एक बार इंग्लैंडके रोज़ैटी नामक कविकी प्रशंसामें एक लोहारके लड़केने एक पत्र लिखा था। इस अनजान व्यक्तिकी प्रशंसासे रोज़ैटी-जैसे प्रसिद्ध कविका क्या लाभ हो सकता था? किंतु नहीं, रोज़ैटीने उसे उत्तरमें पत्र लिखा और उसकी प्रशंसाका आभार माना। उसने उसे अपने पास बुला लिया, सेक्रेट्रीका पद दिया; वह लड़का प्रसिद्ध बना और हालकेन नामसे प्रसिद्ध उपन्यासकार बना।

आपके आनन्दको खा जानेवाली महाराक्षसी—ईर्ष्या है। जिस सुखी संतुष्ट व्यक्तिके हृदयमें यह दुष्ट स्वार्थी मनोविकार प्रविष्ट हो जाता है, वह दूसरोंकी वृद्धि, बढ़ोतरी अथवा उन्नति देखकर एक प्रकारके आन्तरिक अग्निसे दग्ध हुआ करता है। ईर्ष्याके आते ही मन असंतोष और स्वार्थसे परिपूर्ण हो जाता है। 'हाय! अमुक व्यक्ति तो ऊँचा उठता जाता है, अमीर बनता जाता है, समाजमें प्रतिष्ठा पाता जाता है, हम यों ही पड़े हैं—' जहाँ अपने प्रति हानि होती है, हम मन-ही-मन चाहते हैं कि 'किसी प्रकार दूसरेका भी क्षय हो, विधि-का प्रकोप हो, कोई बीमारी, चोरी, मुकदमा या पाप उसे लग जाय, जिससे वह हमारी-जैसी स्थितिमें आ जाय—' ये दुर्भावनाएँ और कुविचार स्वयं दुगुने वेगसे हमारे आन्तरिक प्रदेशमें लौट आते हैं और हमें बड़ी हानि पहुँचाते हैं। हमारी आन्तरिक शान्ति, मानसिक संतुलन, भावनात्मक समस्वरता, शीतलता, संतोष नष्ट हो जाते हैं और हम ईर्ष्याकी आगमें जलते रहते हैं।

ईर्ष्या आनन्दमें बाधक है। आप अपनेसे ऊँचे अधिक समृद्धिशील, अमीर व्यक्तियोंसे अपने आपको मिलाकर न देखें वरं उनसे अपना जीवन-मार्ग पृथक् ही मानें। हममेंसे अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो हमसे भी गिरे हुए, दुखी, अभावग्रस्त जीवनमें पड़े हैं। उनकी अपेक्षा हम कितने भाग्यशाली हैं—इस प्रकार तर्क-द्वारा मनमें संतोष और तृप्तिकी भावनाओंको प्रचुरतासे प्रविष्ट होने दीजिये। इससे ईर्ष्या दूर होकर शान्ति प्राप्त होगी, मन आह्लादित रहेगा और आप मानस तृप्तिका अमृत प्राप्त कर सकेंगे।

इसी प्रकार उत्तेजना, आवेश, क्रोध, काम, लोभ आदि दुष्ट मनोविकार हमारे सौख्यको नष्ट कर देते हैं। जो व्यक्ति इनके विपरीत सद्गुणों, शुभ भावनाओं, पवित्र विचारों, तृप्ति और शान्तिके विचारोंसे मनको *परिपूर्ण रखता है, वह शरद्-चन्द्रिकाके चन्द्रमाके समान* अक्षय आनन्दका सुख प्राप्त करता है। सद्विचार, शुभचिन्तन, पवित्र भावनाएँ हमारे चारों ओर एक ऐसा शुभ वातावरण निर्मित करते हैं, जिससे न केवल हम प्रत्युत हमारे सम्पर्कमें आनेवाले सभी व्यक्ति लाभ उठाते हैं।

आपके आनन्दकी एक बड़ी रुकावट नास्तिकता है—नास्तिक ऐसा व्यक्ति होता है जो भौतिकवादके छोटे से दायरेमें अपना सीमित आनन्द ढूँढ़ा करता है। सुस्वादु भोजन, आकर्षक वस्त्र, आलीशान मकान, वासनापूर्ति, धन, सामाजिक प्रतिष्ठाके आनन्द सीमित हैं। वासनाजन्य सुखोंमें आनन्दका केवल आभासमात्र है। इन पार्थिव आनन्दोंमें अधिक रमण करनेसे मनुष्यको स्वयं इनका थोथापन कुरूपता और असमर्थता दृष्टिगोचर होने लगती है। नास्तिक इन्हीं क्षुद्र आनन्दोंमें डूबता-उतराता रहता है।

आस्तिकता वह सुदृढ़ आधार है, जो मनुष्यको उच्चतर आनन्दकी ओर अग्रसर करता है। जो व्यक्ति भगवान्‌को अपने आनन्दका आधार मानता है; निरन्तर दैवी विचार, भजन, पूजन, प्रार्थनाद्वारा उच्च दैवी सत्तासे सम्बन्ध स्थापित करता है, वह अक्षय दैवी आनन्दका स्रोत खोलता है। भगवान्‌की कोई मूर्ति ले लीजिये, किसी स्वरूपमें रमण कीजिये, किसी प्रकार

भी (सखा, बन्धु, पिता, विधाता, पथप्रदर्शक) सम्बन्ध जोड़कर अपने जीवनमें प्रविष्ट कीजिये । आप दैवी आनन्दसे सदा परिपूर्ण रहेंगे ।

वेदमें उचित ही कहा गया है, 'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्' इस जगत्में जो कुछ भी जीवन है, वह सब ईश्वरका वासस्थल है ।

ईश्वरमें अपने आनन्द ढूँढ़नेवाला व्यक्ति कभी धोखा नहीं खाता । उसे जीवनके समस्त सुख-आनन्द एवं सौख्यका सुदृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है, जो संकट और विपत्तिमें उसे उबारता और प्रसन्न रखता है । निरन्तर अबाधगतिसे परमात्मासे प्रेम कीजिये । ध्रुव-प्रह्लादकी भाँति हम भगवान्, उनके भक्तों, भगवत्स्मृति, उच्च धार्मिक साहित्य एवं सत्सङ्गद्वारा चिर स्थायी आनन्दकी उपलब्धि कर सकते हैं ।

भगवद्भक्ति और नवग्रह

(लेखक—श्रीगोपेशकुमारजी ओझा)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीभगवान्‌के चरणारविन्दोंमें प्राणिमात्रकी स्वाभाविक भक्ति हो—(ऐसा उस परमपुरुषसे उद्भव होने तथा समस्त जीवोंमें उसीका प्रकाश प्रतिभासित होनेके कारण) नैसर्गिक प्रतीत होता है, परंतु उस जगन्नियन्ताकी महामायासे वितत सत्त्व, रज, तमका वितान उस प्रकाश-केन्द्रकी ओर अग्रसर होनेमें हम जीव पतंगोंके मार्गमें एक व्यवधान हो जाता है और बहुत कम सौभाग्यशाली ऐसे नर और नारी हैं जिनके हृदयमें पूर्वजन्मार्जित पुण्यके उदयसे किंवा मन और बुद्धिके अथक पुरुषार्थसे उस सच्चिदानन्द-स्रोतके पीयूष-प्रवाहमें परिप्लावन करनेकी प्रेरणा होती है ।

अहैतुकी हो या हैतुकी हो, किसी भी प्रकारकी भक्ति, अभक्तिसे लाख गुनी अच्छी है । भागवत मत तो यह है कि 'प्रभुकी उपेक्षा या अनपेक्षाकी बजाय प्रभुपर क्रोध करके भी यदि तादात्म्य हो जाय तो श्रेयस्कर है ।'

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

अतः सात्त्विक, राजसिक, तामसिक किसी प्रकारकी भक्ति प्रभुमें हो । परंतु किस प्रकारकी भक्ति मनुष्यमें होती है और कब होती है और क्यों होती है इसका कुछ विवेचन यहाँ किया जाता है ।

ज्यौतिष-शास्त्रके अनुसार समस्त ब्रह्माण्डकी वस्तुएँ बारह राशि तथा नव ग्रहोंमें परिगणित हैं । इस राशिचक्रके भागों तथा ग्रहोंद्वारा ही समस्त धातु, मूल, जीव, नर-नारी, पशु-पक्षी, सरीसृप, देश, काल, पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु, आकाशका विचार किया जाता है । पृथ्वी, गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, प्राणान्नमय कोषका स्वामी बुध है । जल, रसनेन्द्रिय, अपायु, अपान, प्राणमय कोषका स्वामी शुक्र है । वह्नि, रूप, चक्षुरिन्द्रिय, पाद, व्यान, मनोमय कोषका स्वामी मङ्गल है । वायु, स्पर्श, त्वगिन्द्रिय, पाणि, उदान, विज्ञानमय कोषका स्वामी शनि है । आकाश, शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, वाक्, समान, आनन्दमय कोषका स्वामी बृहस्पति है । सूर्य अग्नि-तत्त्व तथा चन्द्र जल-तत्त्वका अधिष्ठाता है । इन विविध ग्रहोंसे मनमें तरंग उठते रहते हैं । जन्मके समय जैसी ग्रहोंकी स्थिति हो उसी प्रकारकी मनुष्यकी प्रकृति होती है । प्रकृति ही क्या—शरीर, आकृति, सौभाग्य, विद्या, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, संतति, शत्रुता, मित्रता, स्त्री किंवा पतिसुख, आयु, धन, कर्म, उत्कर्ष तथा अपकर्ष, व्यय, बन्धन, यात्रा, उपासना, धार्मिक भावना, तपस्या, मन्त्र, तन्त्र, अनुष्ठान आदि सभी विषय जन्मके समयके ग्रहोंके बलाबल तथा स्थितिपर निर्भर हैं ।

एक ही ग्रहके बलाबलसे कितना अन्तर पड़ जाता है, इसका अनुमान इससे हो सकता है कि यदि मनुष्य-

की कुण्डलीमें सूर्य बलवान् है तथा भगवद्भक्तिमें सहायक है तो प्रातःकाल देववन्दना आदिमें मनुष्य संलग्न रहता है अन्यथा हीन-बल होनेसे वह प्रातःकालका समय इधर-उधर भटकनेमें ही व्यतीत करता है—

तत्र प्रातःकालस्य सूर्यः, तेन तदानीं देववन्दनादिकं सम्भवति हीनबलेऽध्वगमनं च ॥

इसी प्रकार जिनकी कुण्डलीमें शनि बलवान् होता है, वे ब्राह्ममुहूर्तमें (रात्रिके अन्तिम प्रहरमें शनिके विशेष बलवान् होनेके कारण) उपासना, शास्त्रार्थ-विचिन्तन करते रहते हैं और जिनकी कुण्डलीमें शनि निर्बल होता है, वे उस समयको घोर निद्रामें व्यतीत करते हैं।

अन्त्यभागस्य शनैश्चरः। तस्मिन् बलवति सति तदानीमुपासनाशास्त्रार्थविचिन्तादिकं च सम्भवति। हीनबले तदानीमतिनिद्रा।

इसी प्रकार बुधके बलवान् होनेपर मनुष्य सदैव विद्याभ्यासमें प्रयत्नशील रहता है, परंतु हीनबल बुधसे बुद्धि-गाम्भीर्यके स्थानमें बुद्धिमें आपात चातुरीमात्र दृष्टिगोचर होती है और द्यूत तथा हास-परिहासमें ही इस बुद्धि-का व्यय होता रहता है—

बुधे बलवति सति विद्याभ्यासश्चिन्तनीयः। अन्यथा सर्वदा परिहासशीलो द्यूतादिभिर्वा।

यह निदर्शनमात्र है। इसी प्रकार अन्य ग्रहोंको समझना चाहिये।

कहनेका तात्पर्य यह है कि बलवान् ग्रह उस विषय-की अन्तिम कक्षापर अर्थात् भक्ति, वैराग्य, आत्मचिन्तन आदिपर मनुष्यको पहुँचा देता है; किंतु दुर्बल ग्रह वहाँतक ले जानेमें असमर्थ होनेके कारण केवल बुद्धि-वैकल्य उत्पन्न कर देते हैं; कैवल्य-प्रदान नहीं करते। जो मङ्गल शुभ स्थानका स्वामी होकर शुभ वर्गोंमें स्थित, उच्च किंवा मूल, त्रिकोण आदि बलसे युक्त होता हुआ प्रचण्ड योद्धा तथा सेनापति बना देता वह निर्बल होकर दुःस्थानस्थित होता हुआ, पाप-ग्रहोंसे पीड़ित होता हुआ, केवल कलहका अजस्र कारण बनता हुआ 'कुंजड़ोंकी लड़ाई' जैसी क्षुद्र साहसका हेतु होता है।

वैसे तो सबके नियन्ता प्रभु एक ही हैं—परंतु उनको नाना नाम तथा रूपोंसे उनके भक्त पुकारते हैं। किसीकी बालगोपालके वात्सल्यमें विशेष प्रीति है तो कोई उन्हींके द्वारकाधीश-रूपका विशेष उपासक है। कोई उनके द्वापरयुगके किसी भी रूपमें उतनी तन्मयता-का अनुभव नहीं करता जितना उनके त्रेतायुगके धनुर्धारी रूपमें—

कहा कहौं छबि आजकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै धनुष बाण ल्यो हाथ ॥
कित मुरली कित चन्द्रिका, कित गुपियनको साथ।
अपने जनके कारणे नाथ भये रघुनाथ ॥

यह पद्य तो सुप्रसिद्ध ही है। श्रीभगवान्के वैष्णव-रूपोंमें किसीकी किसी अवतारमें, किसीकी किसी अवतार-में—अपने-अपने मनकी प्रवृत्तिके कारण भक्ति होती है। कोई भगवान् शंकरकी अनन्यचित्त हो आराधना करते हैं, तो कोई जगज्जननी महामायाके अनेक रूपोंमेंसे किसी एक विशेषको अपना उपास्य बनाते हैं। यद्यपि शक्तिके उपासक शिवको और शिवके उपासक शक्ति-को उसी एकान्त श्रद्धासे उपास्य मानते हैं; परंतु तार-तम्य-भेदसे कोई विशेषरूपसे शैव और कोई शाक्त हैं। अभेद माननेपर क्यों किसीकी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति, नैसर्गिकी निष्ठा शिवमें होती है और किसीकी शक्तिमें ? केवल ग्रहोंके कारण जिनकी स्थिति इस जन्ममें पूर्वजन्मोंके संस्कारानुसार होती है। 'शक्ति' के उपासकोंमें भी कोई 'आद्या', कोई 'तारा', कोई 'बगलामुखी', कोई किसी रूप-का तो कोई किसी रूपका ध्यान करते हैं, यद्यपि इन सबमें अभेद हैं, इसमें सहमत हैं। अथवा भगवान् रामकी ही उपासनाको लीजिये। भगवान् रामको साक्षात् विष्णुका पुरुषरूप मानते हुए भी कोटि-कोटि मनुष्योंकी उपासना

'राम' की हुई है। विष्णुके चतुर्भुज रूपमें वह हृदयको आर्द्र करनेवाली तन्मयता उन्हें प्राप्त नहीं हुई—नहीं होती जो नररूपधारी प्रभुके 'राम' रूपमें होती है। ज्ञान, हेतुवाद, बुद्धि, तर्क आदिका विषय यह नहीं है। सभी बड़े भक्तों, ज्ञानी, ध्यानी, उपासकोंने, विरक्त, अनुरक्त प्रभुके अनन्य दासोंने उन्हें परब्रह्मरूपसें पहचाना है, जाना है, माना है तथापि उपासना किसी एक विशेष रूपकी की है। क्यों? केवल ग्रहोंके प्रभावसे। भक्तवर सूरदासजी श्रीकृष्णके एकान्त उपासक क्यों हुए। गोस्वामी तुलसीदासजी 'रामायण' की भव्य भागीरथी उत्तर भारतमें क्यों प्रवाहित कर सके। इसका उत्तर उनकी जन्मकुण्डलियोंके अध्ययनसे मिल सकता है।

इसी प्रकार बहुतसे लोग श्रीहनुमान्‌को भगवान् श्रीरामका दास मानते हुए भी अञ्जनीनन्दन महावीरकी उपासनामें जितने प्रेमसे संलग्न होते हैं उतने स्वयं भगवान् रामकी उपासनामें भी नहीं। एक प्रकारसे दोनोंमें अभेद है—परंतु उपासककी चित्तवृत्ति ही इस प्रकारकी भिन्नतामें कारण है।

इन पंक्तियोंके क्षुद्र लेखकके विचारसे जो भगवान्‌के किसी भी अवतारका, किसी भी देवताका या गणका उपासक है वह भगवान्‌का ही उपासक है। और कोई देवता बड़ा है, कोई छोटा है ऐसी कल्पना भी नहीं करनी चाहिये। मार्गभेद होनेपर भी ध्येय सबका एक ही है। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदिसे सनातनधर्ममें विशेषता यही है कि अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल उपास्यदेवके नाम-रूपकी उपासनाद्वारा मनुष्य भक्तिमार्गका अवलम्बन कर सकता है। पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजी महाराज कहा करते हैं कि जिस देवताके ध्यानमें, जिसकी कथामें, पूजामें, वार्तामें मन विशेष प्रसन्न हो, आह्लादित हो, स्वप्नमें जिसके दर्शन हों, जिसकी चर्चा कानोंको मधुर तथा मनको प्रिय लगे उसीकी उपासना करनी चाहिये—

अर्थात् मनका रुझान जिधर हो उधर लगन लगानेसे भक्ति विशेष दृढ होती है अतः सफल होती है। किस देवताकी उपासनामें आभ्यन्तरिक प्रवृत्ति शीघ्र होगी, इसका ज्ञान जन्मकुण्डलीके ग्रहोंसे भी हो सकता है। वैसे तो जन्मकुण्डलीके प्रथम भावसे मनुष्यके व्यक्तित्वका तथा 'चन्द्रलग्न' से मनका विशेष विचार किया जाता है, परंतु पञ्चम स्थानसे उपासना तथा नवमसे 'तप' किंवा 'धर्म' का विचार होता है। पञ्चमसे 'मन्त्र उपासना' आदिका विचार होनेके कारण तथा इसी भावसे विद्या-बुद्धिका सम्बन्ध होनेके कारण जैसा ग्रह पञ्चममें पड़ा होगा या जैसे ग्रहकी दृष्टि इसपर होगी या इसके स्वामीका जैसे ग्रहोंसे सम्बन्ध होगा वैसी ही उपासना तथा मन्त्रकी प्रवृत्ति मनुष्यकी होगी। परंतु पञ्चमकी अपेक्षा नवम स्थान इन बातोंकी व्यवस्थाके लिये विशेष महत्त्वका है। इसका ज्यौतिषकी परिभाषामें नाम ही 'तप' किंवा 'धर्म' है।

दानं धर्मसुतीर्थसेवनतपोगुर्वादिभक्त्यौषधा—
चाराश्चित्तविशुद्धिदेवभजने विद्याश्रमो वैभवः।
यानं भाग्यनयप्रतापसुकथायात्राभिषेकादयः
पुष्टिः सज्जनसंगतिः शुभपितृत्वं पुत्रपुत्र्यस्तथा।
अष्टैश्वर्यतुरंगनागमहिषाः पट्टाभिषेकालय-
ब्रह्मस्थापनवैदिकक्रतुर्धनक्षेपाः स्युरङ्कर्क्षतः॥

अर्थात् दान, धर्म, तीर्थसेवन, तप, गुरु-भक्ति, आचार, चित्तविशुद्धि, देवभजन, कथा, अभिषेक, अष्टैश्वर्य, ब्रह्मस्थापन, वैदिक क्रतु आदिका विचार नवम भावसे करना चाहिये। किस ग्रहके कारण किस उपास्यदेवकी ओर विशेष प्रवृत्ति होगी इसका विचार निम्नलिखित ग्रहोंके कारकत्वसे होगा—

सूर्य—शिवोपासना, वनगिरिसंचार, नदीतीर, श्रीरामोपासना।

चन्द्र—गौरीभक्ति, तपस्विता, श्रीकृष्णोपासना।

मङ्गल—स्कन्द, हनूमान्, वनचर।

बुध—तीर्थयात्रा, देवालय, वेदान्त, वैराग्य, भक्ति-नर्तन, विष्णुकी उपासना, पुराण, मन्त्र, यन्त्र, महातन्त्र।

बृहस्पति—मीमांसा, तर्क, वेदान्त, देवता, तप, दान, धर्म, परोपकार, मन्त्र, तीर्थ, ब्रह्म, शिव, नैष्ठिकत्व।

शुक्र—गौरी तथा श्रीमें भक्ति।

शनि—क्रौर्य, तमस, यम, आद्याशक्ति।

राहु—दुर्गोपासना।

केतु—चण्डी, शिव, गणेश आदिकी उपासना।

आत्मकारकांशके सम्बन्धसे क्या प्रभाव होता है इस विषयमें महर्षि जैमिनि लिखते हैं—

'शुक्रदृष्टे दीक्षितः।' 'शनिदृष्टे तपस्वी प्रेष्यो वा' 'शनिमात्रदृष्टे संन्यासाभासः'।

अर्थात् कारकांश शुक्रसे देखा जाय तो दीक्षित होता है। शनिसे दृष्ट हो तो तपस्वी किंवा भृत्य। केवल शनिसे दृष्ट होनेसे संन्यासाभास मात्र होता है। इसी प्रकार आगे चलकर जैमिनि महामुनि कहते हैं कि कारकांशसे नवम (अर्थात् धर्मस्थान किंवा तप-स्थान) में यदि शुभ योग हो तो—

'समे शुभयोगाद्धर्मनित्यः सत्यवादी गुरु-भक्तश्च।' 'अन्यथा पापैः' 'शनिराहुभ्यां गुरुद्रोहः'।

(शनि-राहु होनेसे गुरुद्रोह होता है) **'रविगुरूभ्यां गुरावविश्वासः'** आदि।

उसी प्रकार कारकांशसे द्वादशमें विविध ग्रहोंके योगका फल लिखते हैं—

'उच्चैः शुभे शुभलोकः। केतौ कैवल्यम्। क्रियचाप-योर्विशेषेण पापैरन्यथा। रविकेतूभ्यां शिवे भक्तिः। चन्द्रेण गौर्याम्। शुक्रेण लक्ष्म्याम्। कुजेन स्कन्दे। बुधशनीभ्यां विष्णौ। गुरुणा साम्बशिवे। राहुणा तामस्यां दुर्गायां च। केतुना गणेशे स्कन्दे च। पापर्क्षे मन्दक्षुद्रदेवतासु शुक्रे च। अमात्यदासे चैवम्। त्रिकोणे पापद्वये मान्त्रिकः। पापदृष्टे निग्राहकः। ... ऽनुग्राहकः।'

अर्थात् कारकांशसे द्वादशमें शुभ ग्रह होनेसे शुभ-लोककी प्राप्ति होती है।

'य एतद्बृहज्जाबालं नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स स्वर्लोकं जयति महर्लोकं जयति स तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स सर्वाल्लोकाञ्जयति।'

कारकांशसे द्वादशमें केतु होनेसे कैवल्य प्राप्त होता है—यदि मीन तथा कर्कमें केतु हो तो विशेषरूपसे। यदि उक्त स्थानमें पापग्रह हों तो विरुद्ध फल होता है। परमेश्वरके लीला-विग्रहोंमें उपासनैकहेतुकी भक्ति किस ग्रहसे कैसी होती है इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि कहते हैं कि रवि-केतुसे शिवभक्ति, चन्द्रसे गौरीमें, शुक्रसे लक्ष्मीमें, कुजसे स्कन्दमें, बुध-शनिसे विष्णुमें, गुरुसे अम्बासहित शिवमें (कलासहित ब्रह्ममें), राहुसे दुर्गामें तथा तमोगुणप्रधान देवतामें (देवताओंमें तो सत्त्वगुण प्रधान होता है परंतु विग्रहविशेषमें आपातदृष्टिसे तामसी रूप धारण करना पड़ता है), केतुसे गणेश-स्कन्द आदिमें भक्ति होती है। इसी प्रकार पापर्क्षमें मन्द किंवा शुक्र होनेसे अन्य गौण देवताओंमें। इसी प्रकार अमात्यकारकसे छठे स्थानमें विचार करना चाहिये।

एक ही परमेश्वरकी उपासनाके ये विविध रूप हैं—

'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' 'यो देवानां नामधा एक एव' 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'

त्रिकोणमें पापद्वय होनेसे मान्त्रिक होता है। पाप-दृष्ट हों तो निग्राहक और शुभदृष्ट हो तो अनुग्राहक। महर्षि पतञ्जलिने कहा भी है—

'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः'

सबसे उत्तम तो निष्काम अहैतुकी भक्ति ही है यह ऊपर कहा जा चुका है। यदि वह सम्भव न हो तो हैतुकी भक्ति भी श्रेयस्कर है। ग्रहोंकी पीड़ा मिटानेमें भी भक्ति बड़ी साधक होती है। ग्रहोंके अधिष्ठाता

देवता हैं। यथा सूर्यके 'वह्नि'। वह्निसे अग्नि तथा रुद्र दोनों समझना चाहिये। चन्द्रमाके 'अंबु'। इसलिये चन्द्रकी पीड़ा-निवृत्तिके लिये श्रीसत्यनारायणव्रत (प्रत्येक मास पूर्णिमाको) तथा क्रूरक्षेत्रमें चन्द्रमा हो तो धाराशंखाभिषेकादिसे शिवकी, यदि सौम्य क्षेत्रमें हो तो विष्णुकी, युग्मराशिमें हो तो दुर्गाकी पूजा करनी चाहिये। मङ्गलका अधिष्ठाता देवता स्कन्द हैं। यदि स्थिर-राशिमें मङ्गल पीड़ाकारक हों तो गृहमें षष्ठ्यादि पूजा, यदि चरमें हो तो स्कन्दके मन्दिरमें; बुधकी पीड़ाके लिये विष्णुसहस्रनाम-पाठ करना चाहिये। बृहस्पतिके अधिष्ठाता इन्द्र हैं। क्रूरक्षेत्रमें बृहस्पति पीड़ा कर रहे हों तो हर-पूजा, शुभ क्षेत्रमें विष्णुपूजा, युग्ममें दुर्गा पूजा, क्रूर युग्ममें काली पूजा विहित है। शुक्रकी अधिष्ठात्री देवी शची हैं। शचीसे अभिप्राय शक्ति-विशेषवाचक, शक्तिसामान्य लक्षणमाया मूल प्रकृतिसे है। शनिकी पीड़ा-शान्तिके लिये शिव-रुद्राभिषेक तथा हनुमान्चालीसाका सौ बार नित्य पाठ श्रेयस्कर है।*

यह तो हुई ग्रहपीड़ाकी शान्तिके लिये, किंवा ग्रहपीड़ा हो ही नहीं, इस उद्देश्यसे पहलेसे ही सम्भावित कष्ट-निवृत्तिके लिये भगवदाराधना। किंतु किनकी उपासनामें कौनसे ग्रह किस प्रकार शीघ्र सहायक होंगे इसका ज्ञान जन्मकुण्डलीसे ही हो सकता है।†

किसी मनुष्यके वासस्थानसे चारों ओर मन्दिर हैं,

* भिन्न-भिन्न ग्रहोंसे विविध अवतारोंका सम्बन्ध भी है जिसका विस्तारभयसे यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता है। एक देवताके भी भिन्न-भिन्न रूप विविध ग्रहोंसे सम्बन्धित हैं—यहाँ जो शक्ति हैं, वह भी भिन्न-भिन्न ग्रहोंकी युतिदृष्टि वर्गाधिपत्य आदिके सम्बन्धसे शक्तिके विविध रूपोंकी उपासना की जाती हैं—ग्रहों तथा शक्तिके रूपोंके नामोल्लेख नीचे किये जाते हैं—

सूर्य=तारा; बुध=भुवनेश्वरी; शनि=काली;
चन्द्र=महेश्वरी; बृहस्पति=सिद्धेश्वरी; राहु=छिन्नमस्ता;
मंगल=धूमावती; शुक्र=कमलेश्वरी; केतु=छिन्नमस्ता

शक्तियोंका और अवतारोंका सम्बन्ध तो विदित ही है।
कृष्णस्तु कालिका साक्षाद् रामसूर्तिश्च तारिणी······

† बहुत बार ग्रहविशेष पूर्वजन्मके कर्मोंके परिपाकमें निमित्तमात्र होते हुए संतान-सुखमें प्रतिबन्धक होते हैं। संतान होती ही नहीं, किंवा होकर नष्ट हो जाती है; किंवा केवल कन्या संतति होती है—इन सब ग्रहोंके कष्टकी निवृत्ति भी देवाराधनसे होती है—

विष्टिः स्थिरं वा करणं यदि स्यात्
कृष्णं यजेत् पौरुषसूक्तमन्त्रैः।
षष्ठ्यां गुहाराधनमत्रकार्यं
यजेच्चतुर्थ्यां किल नागराजम्॥
रामायणस्य श्रवणं नवम्यां
यद्यष्टमी चेच्छ्रवणव्रतं च।
चतुर्दशी चेद्यदि रुद्रपूजां
स्याद् द्वादशी चेत्स्मृतमन्नदानम्॥
तृप्तिं पितॄणामिह पञ्चदश्यां
कृष्णे दशम्याः परतोऽतियत्नात्।
पक्षत्रिभागेष्वपि नागराजं
स्कन्दं च सेवेत हरिक्रमेण॥

यदि छिद्रतिथिके दोषसे किंवा विष्टिकरण या स्थिरकरणके दोषसे संतान-सुखमें बाधा हो तो भगवान् श्रीकृष्णकी पुरुष-सूक्तके मन्त्रोंसे आराधना करनी चाहिये, षष्ठी तिथिके दोषसे कार्तिकस्वामीकी, चतुर्थीके लिये नागराजकी उपासना, नवमी-की शान्ति रामायण-पाठ-श्रवण-द्वारा; अष्टमीकी दोष-शान्तिके लिये श्रवण-व्रत, चतुर्दशीकी शान्तिके लिये रुद्रपूजा, रुद्र-पारायण; द्वादशीके लिये अन्नदान, अमावास्या तथा पूर्णिमाकी शान्ति पितरोंके श्राद्ध आदिद्वारा, सामान्यतः कृष्णपक्षमें प्रति-पदासे पञ्चमीतक तिथियोंके लिये नागराज, पञ्चमीसे दशमीतक स्कन्द और दशमीसे अमावास्या तक हरिका आराधन।

किस ग्रहके दोषसे संतान-कष्ट किंवा संतान-सुखमें बाधा हो रही है, यह ज्ञात होनेपर उपाय निम्नलिखित हैं—

सूर्यके दोषसे हो तो भगवान् शंकर तथा गरुडका पूजन, तथा पितरोंकी तुष्टि; चन्द्रके दोषसे अम्बाका आराधन; मंगलके दोषसे हो तो हनुमान्जी तथा स्कन्दका पूजा-व्रत आदि; बुधके दोषसे भगवान् विष्णुका आराधन-पूजन

तो सिद्धपीठोंके अतिरिक्त सभी मन्दिरोंमें एकरूपसे साधना किंवा उपासना शीघ्र सफल होगी। किंवा ग्रहोंके प्रभावसे किसीको अपने वास-स्थानसे पूर्वके मन्दिरमें, किसीको दक्षिणके देवालयमें, किसीको पश्चिमके देवतायतनमें, किसीको उत्तरके पुण्यक्षेत्रमें, यह सब भी बहुत अधिक मात्रामें ग्रहोंकी स्थिति तथा बलाबलपर निर्भर करता है।

महात्मा गांधीजीकी मानवता

(लेखक—श्रीपरशुरामजी मेहरोत्रा)

अपने जीवनके अन्तिम ३३ वर्षोंमें गांधीजीने (द० अफ्रीकासे भारत लौटनेके दिनसे देह-त्यागके क्षणतक) जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अपने प्रभावशाली और सात्त्विक व्यक्तित्वका गहरा असर डाला, उथल-पुथल-सी मचा दी; जिस दिशामें उन्होंने दृष्टि डाली, उसीमें शान्तिमय क्रान्ति उत्पन्न कर दी। उनके पुनीत जीवनका दिव्य प्रभाव भारतवासियोंके रहन-सहनको बदलने लगा, उनमें विचार-शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ, निडरता आयी, साहस आया और आयी बलिदानकी भावना। आतङ्कके वातावरणका मूलोच्छेदन हो गया; आत्म-निर्भरता उत्पन्न हुई और स्त्रियों, हरिजनों, श्रमिक जीवन व्यतीत करनेवालों तथा शोषित वर्गमें नवीन आशाओंका संचार हुआ; नैतिकताकी लहर दौड़ गयी, शुद्ध सेवा-भावसे प्रेरित होकर रचनात्मक कार्यक्रमको आगे बढ़ानेके लिये लाखों नर-नारी कर्तव्यक्षेत्रमें उतर आये।

उनके द्वारा सम्पादित समाचारपत्रोंको, जिनमें किसी प्रकारका बाहरी विज्ञापन कभी न छपता था, जिनमें उच्च कोटिकी पाठ्यसामग्री रहा करती थी, और जो अपनी नीतिको, बाधाओंकी परवा न करते हुए, स्थिर रखकर सम्पादन-कलाकी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले समाचारपत्र माने जाते थे, पढ़नेके लिये करोड़ों स्त्री-पुरुष साप्ताहिक डाककी बाट ताकने लगे। उनसे उनके कार्यक्रमके सम्बन्धमें शुरू-शुरूमें मतभेद रखनेवाले परमयोग्य प्रभावशाली और अनुभवी व्यक्ति जैसे सर्वश्रीटैगोर, शास्त्री, सप्रू, जयकर, केलकर, मालवीय, चिन्तामणि क्रमशः उनकी दूरदर्शिताका लोहा मानने लगे।

उनकी सेवाओंके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंका गहराईसे अवलोकन करनेपर हम अचंभेमें पड़ जाते हैं। वे एक सम्पादकाचार्य थे या एक उच्च कोटिके चिकित्सक। वे पत्र-लेखन-कलामें अग्रगण्य थे या अच्छा भोजन बनाने और सेवा-शुश्रूषामें सिद्धहस्त थे; वे चर्खे और तकलीके अद्वितीय प्रचारक थे, या हिंदीको प्रोत्साहन देनेमें सर्वश्रेष्ठ थे। वे वालंटियरों, कार्यकर्ताओं और नेताओंको क्रमबद्ध हिदायतें देनेमें परम निपुण थे, या भाई-भाईके पारस्परिक मनोमालिन्यको दूर करनेमें अति कुशल थे; वे भारतीय हरिजनोंकी दशा सुधारनेमें तल्लीन रहते थे या अज्ञानता, अन्धविश्वास, भय और अस्वच्छताके वायुमण्डलमें पलनेवाली भारतीय स्त्रियोंकी दशा सुधारना उनका मुख्य लक्ष्य था। वे सार्वजनिक संस्थाओंके हिसाब-किताब पाई-पाईतक शुद्ध रखने और रखवानेमें दक्ष थे या मितव्ययता, सादगी, किफायतसारी इत्यादि गुणोंके कट्टर प्रचारक थे। अनुशासन और आत्मनियन्त्रण उनके जीवनभरकी कमाई थी—या क्रोधी, अविवेकी

बृहस्पतिके दोषसे हो तो फलद्वारा वृक्ष लगवाने तथा ब्राह्मणोंको संतुष्ट करना, शुक्रके दोषसे हो तो गो-सेवा, शनिके दोषसे हो तो पीपलके पूजन और ऊपर जिन-जिन ग्रहोंके जो देवता, अवतार, शक्तिका उल्लेख किया गया है, उनकी भक्ति, पूजन, आदि अपनी शारीरिक, पारिवारिक तथा आर्थिक क्षमताके अनुसार करना चाहिये।

और क्रूर लोगोंपर शान्ति, धैर्य और विवेकसे विजय प्राप्त करना। उनकी सफलता हमें विस्मयमें डाल दिया करती थी।

उनकी योग्यता पण्डित मोतीलाल नेहरू, श्रीचितरञ्जन दास, श्रीमजहरुल हक, श्रीराजगोपालाचार्य, लाला लाजपतराय, श्री एम० एस० अणे, श्रीवल्लभभाई पटेल, श्रीमहादेव देसाई, श्रीविट्ठलभाई पटेल, श्रीकोण्डा वेंकटप्पैया, डा० सीतारमैया, पण्डित जवाहरलाल, डाक्टर सैफुद्दीन किचलू, डा० श्रीराजेन्द्रप्रसाद, डाक्टर अनसारी इत्यादि बड़े-बड़े नेताओंको अपनी वाक्चातुरीके जोरसे तथा लक्ष्यकी उच्चताके कारण असहयोग-आन्दोलनमें शीघ्र घसीट लानेसे प्रकट होती है या भारतके वायसरायोंको लंबे-लंबे और सारगर्भित पत्र लिखकर ब्रिटिश सरकारकी प्रणालीके थोथेपनका भंडाफोड़ करनेसे—अथवा उन्हें प्रभावशाली वाक्योंमें समय-समयपर सख्त चेतावनियाँ देनेसे, उनको बच्चोंसे बातचीत करनेमें अधिक आनन्द मिलता या आलपीनों, दफ्तियों, एक तरफके कोरे कागजों, रद्दी लिफाफों तकका पूरा-पूरा उपयोग करनेकी धुनमें, वे उपवास-विज्ञानके धुरन्धर ज्ञाता थे या सत्याग्रहरूपी प्रबल अस्त्रके सफलतापूर्वक चलानेकी शर्तोंके पण्डित थे। सभी गुण उनमें समान रूपसे विद्यमान थे और एक-एक दिशामें उन्होंने व्यस्त रहते हुए भी जितना ठोस काम कर दिखाया, उतना एक-एक पुरुष सारे जीवनमें न कर पाता।

वे सच्चे अर्थमें महारथी थे, नरपुङ्गव थे; स्वयं चलती-फिरती संस्था थे। प्रत्येक कलाका आदमी उन्हें अपनी कलाका सच्चा जानकार बतलाया करता था। वे अपने ज्ञान, अनुभव और सम्भाषणकलाके द्वारा यूरोप और अमेरिकाके समाचारपत्रोंके संवाददाताओंके प्रश्नोंके ऐसे उत्तर दिया करते कि वे वाह-वाह कर पड़ते। साथ ही वे पाकशालामें भी पारंगत थे और जूते तैयार करनेमें भी निपुण थे। लोग उनकी गहराईकी थाह कभी न लगा पाये।

कोने-कोनेमें

भारतवर्षमें ही नहीं, महात्मा गांधीके दिव्य गुणोंकी प्रशंसा संसारके कोने-कोनेमें की जा रही है; कवि, विचारक, तत्त्वदर्शी, राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक, धर्मगुरु, जनतन्त्रोंके प्रेसीडेंट और मन्त्री, राजदूत, वैज्ञानिक, उपन्यास-लेखक, चित्रकार, अध्यापकवर्ग, उद्योगपति इत्यादि सभीने गांधीजीके असाधारण गुणोंकी सराहना मुक्तकण्ठसे की है। भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियोंने गांधीजीको अपने-अपने धर्मोंके प्रवर्तकोंके अद्भुत गुणोंसे विभूषित पाया है।

कोई उनकी तुलना क्राइस्टसे, कोई हजरत मुहम्मद, कोई भगवान् बुद्ध और कोई भगवान् महावीरसे करता है; कोई स्वामी दयानन्दसे; कोई उन्हें गुरु नानकके समकक्ष बताता है; कोई उन्हें ऋषियोंकी श्रेणीमें डालता है तो कोई उन्हें अवतार मानता है। उनमें सभी धर्मोंके प्रति आदर था। उनमें न्यायप्रियता, वक्तकी पाबंदी, मितव्ययिता, कर्मशीलता, धर्मपरायणता कूट-कूट कर भरी थी। उनके दृढ़ संकल्प, देशप्रेम, शील-सौजन्य, अपरिग्रह, धैर्य और संयमका सारा संसार कायल था। उनकी निःस्पृहता, निर्लेपता, परोपकार-प्रवृत्ति, दूरदर्शिता, कार्यशीलता, जागरूकता, सहृदयता, निर्भीकता, मातृभक्ति, सच्ची लगन, सहनशीलता और गुणग्राहकतासे भारतवर्षके ही नहीं, अन्य देशोंके भी निवासी भलीभाँति परिचित हैं।

उनमें ओज था, वे व्यावहारिक भी थे और आदर्शवादी भी; वे गम्भीर भी थे और विनोदप्रिय भी; वे अनुशासनके एक अद्वितीय पुजारी थे, वे राजनीतिमें निपुण थे और आस्तिकतामें तो उनसे बढ़कर भारतवर्षमें इने-गिने ही साधु-संत होंगे।

हमारे प्रधानमन्त्री श्रीनेहरूजीके शब्दोंमें उनके अंदर राजसी रोब इतना था कि दूसरे उनके सामने नतमस्तक हो जाते थे। स्वभाव और विवेक दोनों ही दृष्टियोंसे वे शान्त और विनम्र थे, किंतु वे शक्ति और अधिकारसे परिपूर्ण थे और यह वे जानते थे।

कभी-कभी ऐसा समय भी आता जब वे राजसी ठाटसे हुक्म जारी करते थे और उनकी तामील करनी ही पड़ती थी। उनकी शान्त, गम्भीर आँखें लोगोंको गिरफ्तार करके सौम्यभावसे उनके अन्तस्तलतक प्रवेश कर जाती थीं। उनकी वाणी स्पष्ट और निर्मल, सीधे हृदयतक पहुँचती थी और तत्काल वैसी ही प्रतिध्वनि हृदयसे निकल पड़ती थी। उनका श्रोता एक हो या सहस्र, वक्ताका सौन्दर्य और आकर्षण सबपर एक समान पड़ता था।

अमेरिकाके प्रतिष्ठित विचारक डाक्टर होम्सके शब्दोंमें 'उनकी मुसक्यान अत्यन्त मोहक थी, जैसी किसी विशाल उद्यानमें या हरी घास और रंग-बिरंगे फूलोंसे आच्छादित मैदानमें प्रातःकाल उदय होनेवाले सूर्यकी सुन्दर किरणें। उनकी आन्तरिक ईमानदारी, दिलका सच्चापन, उनकी सादगी और उनका बच्चोंकी तरह स्वाभाविक सीधापन, उनकी निर्दोषता—ये बातें हमारे दिलोंपर गहरा असर डालती थीं।'

मि० नेपोलियन हिलके अनुसार 'म० गांधीका आत्म-विश्वास, उनका ईश्वरकी सत्तामें अटूट विश्वास अत्यन्त आश्चर्यजनक सीमातक पहुँच चुका था; जैसा कि सभ्य संसारमें आजतक देखनेमें नहीं आया। यद्यपि उनके पास धन न था, तथापि जितनी शक्ति उनके पास थी, उतनी किसी दूसरे व्यक्तिमें न थी।'

फ्रांसका सुपरिचित विद्वान् रोमा रोलाँ गांधीजीके बारेमें यह लिखता है—'उनके स्पर्शतकमें पवित्रता थी; जब वे मुझसे आकर मिले और उनका शरीर मेरे शरीरसे लगा, तब मुझे ऐसा लगा कि वह संत डोमिनी और संत फ्रांसिसका स्पर्श था।' वे कहते हैं—'उन्होंने ईसामसीहके संदेशको फिरसे सिखाया है। उनके व्यक्तित्वकी प्रतिभा सर्वत्र व्याप्त हो गयी है।'

प्रसिद्ध लेखक लुई फिशर लिखता है कि 'उनमें जीवन था; उन्होंने लोगोंमें सदा अच्छाई ही खोजनेका प्रयत्न किया।'

पाश्चात्त्य देशकी रहनेवाली एक धर्मशीला विदुषी डा० मिस रायडन लिखती है कि 'ईसाइयोंका यह महसूस करना कि आज दुनियाँमें सबसे अच्छा ईसाई यदि कोई है तो वह एक हिंदू है, एक अजीब बात है, परंतु बात सच्ची है।'

कनाडाके प्रसिद्ध लेखक मिस्टर एल० डब्ल्यू ब्राकिंग्टनका कथन है कि 'गांधीजी भौतिकताके युगमें अध्यात्मकी ओर लोगोंको ले जानेकी चेष्टामें लीन थे; आज जब कि समस्त संसार घृणाके वातावरणसे होकर गुजर रहा है, गांधी लोगोंको प्रेमका पाठ पढ़ाता था और स्वयं अमल करता था; क्योंकि वह निर्भय और निःस्पृह था; और उसके दिलमें सचाई थी।'

पश्चिमके एक बहुत बड़े आचार्य ईन्स्टिनकी धारणा है कि 'आगे आनेवाली संतति शायद ही यह विश्वास करे कि ऐसा कोई व्यक्ति कभी पृथ्वी-तलपर आया होगा या उसपर चला-फिरा होगा।'

इसी प्रकार अन्य पाश्चात्त्य विद्वान् उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए अपनी-अपनी पुष्पाञ्जलि अर्पित करते हैं।

सबसे ऊँची प्रेम सगाई

वास्तविकता यह है कि उनके चरित्रका सबसे उज्ज्वल गुण था—उनकी मानवता और प्रेममयता। इस दिव्य गुणके उदाहरणोंसे गांधीजीका जीवन भरा पड़ा है।

यह एक परम दुर्लभ गुण है। बड़े-बड़े प्रोफेसर, बैरिस्टर, वकील, इंजीनियर, डाक्टर और लीडर प्रायः अपने मदमें चूर रहा करते हैं। वे उत्कृष्टोपासना जानते ही नहीं और न वे ईश्वरकी भक्ति करना ही जीवनका आवश्यक अङ्ग मानते हैं। वे अपने सहायकों या नौकरोंसे कुछ देरतक बातचीत करने या उनके पास-वाली सीटपर बैठनेतकमें अपना अपमान समझते हैं—दुःख-दर्दमें शरीक होना या उन्हें पढ़ाना-लिखाना या उनपर क्या बीत रही है, यह जानना तो बहुत दूर रहा।

दीनोंकी चिन्ता पहले करना तब समृद्धकी, गांधीजीका यह अटल नियम था। गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान्‌के श्रीमुखसे कहलाया है—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।
जिमि बालक राखै महतारी॥

शान्त और मौन होकर जो सेवक गांधीजीसे दूर रहता हुआ भी दत्तचित्त हो काम करता था, वह उन्हें अत्यन्त प्रिय था। भगवान् कृष्णचन्द्रके द्वारा दिये गये इस वचनको—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

वे अपने जीवनमें उतार लाये थे।

जो सबकी सेवा मौन होकर स्थिरतासे विवेक और निष्ठाके साथ करनेमें सुखका अनुभव करता, वह उन्हें अत्यन्त प्रिय था; क्योंकि उनकी दृष्टिमें श्रीसूरदासजीके अनुसार 'सबसे ऊँची प्रेम सगाई' थी। वे यद्यपि प्रकटरूपसे सबसे मिठास और ममत्वके साथ बोलते थे, तथापि उनके अन्तस्तलमें तो दिन-रात गो० तुलसीदासजीकी यह ध्वनि गुञ्जारित होती रहती थी—

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहा लौं?

जुलाई सन् १९४५में महात्मा गांधी शिमला जा रहे थे। दिल्लीसे शिमलाके लिये गाड़ी मिलनेमें तीन घंटेका समय शेष था। रात्रिके दस बजनेवाले थे, लंबा सफर कर चुके थे, थके हुए थे; परंतु दिल्लीमें रोग-शय्यापर पड़ी हुई दिल्लीकी वीर रमणी श्रीमती सत्यवती देवीको देखना वे कैसे भूल सकते थे? वे हरिजन-निवासके समीप एक अस्पतालमें भर्ती होकर अपना इलाज करा रही थीं। म० गांधीने उनसे मिलकर उनका हाल पूछा। सत्यवती देवीको इस अचानक दर्शनसे बहुत सुख मिला। सत्यवती देवीका देशके प्रति सेवाक्षेत्रमें बहुत ऊँचा स्थान है, यह गांधीजीको मालूम था। वे ठहरे दासानुदास। अतः इस बार उनसे मिले सो तो था ही, शिमलासे लौटते समय भी उनका हाल-चाल पूछने उसी अस्पतालमें गये।

सत्यवतीजीकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा।

महात्मा गांधी एक बार फिर शिमला जा रहे थे; दिल्लीसे होकर जाना था; वहाँ उन्होंने सुना कि मौलाना मुहम्मद अलीकी धर्मपत्नी अस्वस्थ हैं। उन्हें २० वर्षके पहलेकी उन मधुर घड़ियोंकी याद आ गयी, जब हिंदू-मुस्लिम-एकतापर भारत गर्व कर रहा था; वे बेगम मुहम्मद अलीके पास उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछनेके लिये गये और लगभग एक घंटा वहाँ बैठे। बेगम मुहम्मद अलीने सोचा होगा कि मेरे पति असहयोग-आन्दोलनके कुछ वर्ष पश्चात् गांधीजीसे मतभेद रखने लगे थे; कदाचित् वे मुझे देखने न आवें। परंतु रामायणमें वर्णित रामके उज्ज्वल चरित्रको भक्तिभावसे पढ़नेवाला और ममत्वकी भावनाका पोषण करनेवाला गांधी अपनी मानवताको कैसे भूल सकता था? उसे याद था कि—

'प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥'

बेगमने अपने भाग्यको सराहा। इसी प्रकार उनकी सहृदयता और आत्मीयताको देखकर उनके साथी और सेवक उनके बेदामके गुलाम बन जाते थे।

सन् १९२७की बात है। कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा था; गांधीजी सुबह ४ बजे रेलगाड़ीसे दिल्ली स्टेशन पहुँचे। उन्हें एक ही घंटे बाद उसी स्टेशनसे अहमदाबाद जाना था। श्रीघनश्यामदास बिड़ला उनसे मिलनेके लिये स्टेशनपर आये हुए थे, उन्होंने गांधीजीसे कहा कि 'क्या आप आज दिल्ली ठहर नहीं सकते हैं?' गांधीजी बोले 'क्यों क्या बात है? मुझे जरूरी कामसे अहमदाबाद जाना है।' श्रीघनश्यामदासने संकोचके साथ कहा—'मेरी स्त्री मृत्यु-शय्यापर है, वह स्थान यहाँसे १४-१५ मील दूर है, आपके दर्शनोंकी अभिलाषिणी है; परंतु मैं इतने जाड़ेमें आपको

कष्ट देना नहीं चाहता । आप ठहर जाते तो उन्हें दर्शन मिल जाते ।' गांधीजीने कहा 'अभी चलता हूँ' बिड़लाजी गद्गद हो गये ।

भक्तवत्सलता

सन् १९३३ के दिसम्बर मासमें वे जबलपुर गये। यहाँ उनकी यह दूसरी यात्रा थी । यहाँ इस बार वे चार रोज ठहरे । उस समय उनका आतिथ्य-सत्कार जबलपुरके प्रसिद्ध नागरिक व्योहार राजेन्द्रसिंहने किया । एक दिन उन्हें नर्मदा नदीको नावसे पार करके किसी गाँवमें प्रवेश करना था । जिस स्थलसे वे नदी पार करना चाहते थे, उसका नाम था बरमघाट । वहाँ एक विचित्र घटना घटी । केवटने गांधीजीसे, अपने पूर्वजोंकी बात स्मरण करके, यह प्रार्थना की कि पहले आपके पैर धो लेंगे, तब नावपर चढ़ने देंगे । बड़ी ही मार्मिक बातचीत थी उस केवटकी !

गांधीजी कभी ऐसा कोई काम नहीं करते थे कि जिससे अभिमानकी बू आती हो, या जिसमें उन्हें ईश्वरके दिव्य गुणोंसे विभूषित करके उनकी शरीर-पूजा की जाती हो । कई बार उन्होंने अपनी आरती उतरवानेसे इन्कार कर दिया था; एक बार भयंकर रोगोंसे पीड़ित कुछ लोगोंने उनके अंगूठेको धोकर धोये हुए जलको दवा मानकर पीना चाहा; किसी तपेदिकके रोगीने उनका स्पर्श किया हुआ गङ्गाजल माँगा, परंतु उन्होंने इन्कार कर दिया । सन् १९३०में कानपुरके चित्रविक्रेताओंने चित्रकारोंसे कुछ ऐसे चित्र बनवाये जिसमें वे मोतीलाल नेहरू, श्री सी० आर० दास, श्रीजवाहरलाल नेहरू इत्यादिको पाण्डवबंधु बनाया और गांधीजीको कृष्ण । इसी प्रकार गोवर्द्धन पर्वतके नीचे व्रजवासियोंके स्थानपर कांग्रेसमैनोंको चित्रित किया और कृष्ण भगवान्‌के स्थानपर गांधीजीको । मैंने इन चित्रोंकी एक-एक प्रति गांधीजीके पास भेजी; उन्होंने लिखा कि 'ये सब चित्र जला देने योग्य हैं ।' वे नम्रता और हलीमतके अवतार ऐसी स्थिति कैसे कबूल कर सकते थे ? परंतु उनके पास दूसरेके भावोंको नापनेका एक अनोखा मापदण्ड था । उस केवटकी बात उन्हें माननी ही पड़ी । वे भक्तवत्सल थे ।

इसी प्रकार सन् १९२१के सिंधप्रान्तके भ्रमणके दिनोंमें एक मुसल्मान वृद्धाने बड़े प्रेम और आग्रहसे अपने हाथके कते सूतका बनवाया हुआ चादरा, जिसे वह माता अपनी मक्का-मदीनाकी यात्राके अवसरपर 'आबे जमजम' के पवित्र जलमें भिगोकर लाई थी और जिसे वह एक बहुत मूल्यवान् वस्तु मानती थी, गांधीजीके हाथपर रखकर कहा 'क्या तू इसे स्वीकार करेगा ?' गांधीजीने उसके सजल नेत्रोंकी ओर देखा और उसके काँपते हुए हाथोंसे चादर ले ली । वह चादर लेकर मुझे दी । मैं उसे 'बा' को दे आया ।

म० गांधी इलाहाबादकी वीर बाला श्रीमती कमला नेहरूके स्वार्थ-त्यागसे तथा उनकी सेवाओंसे प्रसन्न थे; वे उनमें सात्त्विकताका अलौकिक सौन्दर्य पाते थे । उनके जीवनकालमें ही उनसे उन्होंने वादा कर दिया था कि तुम्हारे कार्यको (रोगियोंकी सेवाको) अधूरा न छोड़ा जायगा । फलतः उनकी मृत्युके तीन वर्ष पश्चात् सन् १९३९ में उनकी स्मृतिमें एक बड़े-से अस्पतालका श्रीगणेश किया और उसकी प्रबन्ध-समितिमें देशके योग्यतम व्यक्ति रख दिये ।

सन् १९२५में मैं उनके आदेशानुसार कानपुरमें कार्य कर रहा था; दिसंबरके अन्तिम सप्ताहमें कानपुर-कांग्रेसके अधिवेशनमें भाग लेनेके लिये जब वे वर्धासे चले, तब सवाल उठा कि कौन-कौन साथ जायगा ? उन्होंने तीनकी जगह केवल दो व्यक्ति साथ लिये और तीसरेसे यह कह दिया कि कानपुर पहुँचते ही मेरा, सन् १९२० में मेरे पास आया हुआ सेवक मुझे मिल जायगा । मैं व्यर्थका रेल-किराया क्यों दूँ ? एक आदमीका समय व्यर्थमें नष्ट क्यों करूँ ? और परसरामका जी क्यों तोड़ूँ ?

संतके सङ्गकी महिमा

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

संसारमें यदि किसीको बन्धनोंसे—दु:खोंसे मुक्त रहना हो तो सर्वोपरि एक ही उपाय है कि वह किसीका भी सङ्ग न करे। सर्वसाधारण जन सङ्गजनित बन्धनोंसे सर्वत्र बद्ध दीखते हैं; इस प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होनेका उपाय सर्वसङ्गमुक्त संतकी सुसङ्ग-प्राप्ति है। वह जीव बहुत सुन्दर—भाग्यवान् है जो अल्पावस्थामें ही बुद्धि जाग्रत् होनेके साथ—कुछ भी सुनने-समझनेके साथ संतका सुसङ्गी हो जाता है। वे नर-नारी बहुत पुण्यशील हैं जो गृहस्थीमें प्रवेश करनेके पहले ही, संतकी सुसङ्गतिमें, उससे निकलने और पापसे बचनेका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जीवनमें गति तथा सद्गति अन्य साधनोंसे होती है, पर परम गति तो संतके सुसङ्गसे ही सुलभ है। जो पुरुष अपने जीवनको तथा जो कुछ भी जीवनमें प्राप्त है उसको सार्थक करना चाहता है, उसे विरक्त ज्ञानी गुरुजनका श्रद्धापूर्वक मानरहित होकर सुसङ्ग करना चाहिये। ऐसा करनेसे परम गति—परम शान्ति मिलती है।

परम पावन ज्ञानस्वरूप संत सद्गुरुका दर्शन बाहरी नेत्रोंसे नहीं होता। इसके लिये श्रद्धाकी दृष्टि चाहिये। जितनी ही शुद्ध एवं सात्त्विक श्रद्धा होगी, उतना ही प्रगाढ़ तथा निकट सम्बन्ध होगा। पूर्ण श्रद्धालु ही संत सद्गुरुकी आज्ञाके पालनमें तत्पर रह सकता है। पूर्ण श्रद्धा ही गुरुमुखता है, इसकी प्रतिकूलता मनमुखता है। जिस गृहस्थको विरक्त संतका सङ्ग सुलभ नहीं है, जिस गृहस्थके घरमें संतकी चरणधूलि नहीं पड़ती है, वह ज्ञानीकी दृष्टिमें पुण्यहीन ही है। विरक्त संतकी सुसङ्गतिसे ही मनुष्यको स्वकर्तव्य—स्वधर्म और सत्य-आधारका ज्ञान होता है। ज्ञान होनेपर ही मनुष्य परमात्मा—सत्यका भक्त होता है और असत्य पदार्थकी आसक्ति—बन्धनसे विरक्त होता है।

सद् ज्ञान एवं सत्यका ध्यान दृढ़ हुए बिना सभी शुभकर्मी मानव कामी, क्रोधी, लोभी और मोही बने रहते हैं। केवल कमाने-खाने, संतान पैदा करने और उनके पालन-पोषण करनेमें ही अपने कर्तव्यका अन्त कर देते हैं, सत्य-शान्तिकी ओर आगे नहीं बढ़ पाते हैं। मानव-जीवन स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण शरीरोंसे पूर्ण होता है, ये चारों शरीर विभिन्न लोकोंके द्रव्योंके बने होते हैं। जो शरीर जितना ही अधिक शक्तिशाली होता है, उतना ही अधिक वह अपने लोकमें क्रियाशील होता है। जिस प्रकार बलवान् स्थूल-देह इस भूलोकमें काम करती रहती है उसी प्रकार बलवान् सूक्ष्म, मनस् और विज्ञानमय शरीर क्रमशः भुवर्लोक, मनस् लोक और विज्ञानलोकमें कार्य करनेकी क्षमता रखते हैं। अपने जीवनमें आध्यात्मिक शरीरको सत्सङ्गतिसे बलवान् बनानेपर ही आध्यात्मिक जगत्में पहुँच सम्भव है। जगत्की वास्तविकता तथा जगदाधार—सत्य तत्त्वके ज्ञानकी पूर्णताके लिये ही संत-सद्गुरुके सुसङ्गकी परम आवश्यकता है। संत-सद्गुरुदेवके सुसङ्गमें दोषोंका पूर्ण त्याग हो जाता है; सत्य—परमात्माका पूर्ण ज्ञान और उसी परात्पर तत्त्वसे ही पूर्ण प्रेम होनेके लिये संतके सुसङ्गमें आना होता है। जिस स्तरसे संतका सुसङ्ग किया जाता है उसी स्तरमें उसका प्रभाव पड़ता है। यदि शरीर संतके समीप हो और मन घर, परिवार और व्यापारमें घूमता है, बुद्धि प्रपञ्चमें अटकती है तो सुसङ्गका प्रभाव मन और बुद्धिपर नहीं पड़ सकता है। संत-सद्गुरुकी सुसङ्गति-प्राप्ति होनेपर देहमें गुरुभावना नहीं सीमित करनी चाहिये; उनके ज्ञान-स्वरूपमें श्रद्धापूर्वक उपासनाका भाव दृढ़ करना चाहिये। यदि गिलासमें अमृत पीनेको मिल जाय तो अमृतको ही महत्त्व देना चाहिये, गिलासकी पूजा-स्तुति बुद्धिशीलका काम नहीं है। जिस

देह-संघातद्वारा ज्ञानामृतका पान होता है उसका उसी प्रकार आदर करना है जिस प्रकार अमृतके पात्रका आदर किया जाता है, पर अमृत और पात्रके अन्तरका स्मरण सदा रखना चाहिये। देहमें गुरुभावना अथवा गुरुमें देह-भावनाने अनेक श्रद्धालुओंको धोखा दिया है; परम ज्ञान और शान्तिसे वञ्चित रक्खा है। संत-सद्गुरु-का ज्ञान सदा साथ रहता है, उसकी प्राप्तिके लिये जीव स्वतन्त्र है, गुरुका शरीर सदा साथ नहीं रह सकता है और उसकी प्राप्तिके लिये जीव स्वतन्त्र भी नहीं है। संतके शरीरसे मोह होना भूल है, संतकी शरणमें तो सबसे पहले मोहकी ही निवृत्ति होनी चाहिये। प्रकाश-को देखना और उसकी स्तुति करते रहना विवेकका पथ नहीं है, प्रकाशमें देखना ही संतके सङ्गकी परम उपयोगिता है।

कामके पत्र

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

जीव चेतन है, वह ईश्वरका ही अंश है—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता) 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।' (रामायण) अपने अज्ञानके कारण ही वह ईश्वरसे बिछुड़ा हुआ है। भगवान् श्रीराम कहते हैं—'माया ईस न आप कहुँ जान कहिअ सो जीव।' जो माया, ईश्वर, अपने स्वरूपको भी नहीं जानता, वही जीव है। इन सबको जान लेनेपर उसका जीवत्व निवृत्त हो जाता है। फिर तो वह शुद्ध आत्मा रह जाता है।

ईश्वर कहते हैं अखिल-ब्रह्माण्ड-नायकको। वह इस सृष्टिका स्वतन्त्र कर्ता है। वह करने, न करने और अन्यथा करनेमें समर्थ है—'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरः'। अविद्या आदि क्लेश उसे छू नहीं सकते। कर्मोंका परिणाम उसे बन्धनमें नहीं डाल सकता, उसपर वासनाओंका प्रभुत्व नहीं है। वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'। (योगदर्शन) ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है और जीव अल्पज्ञ एवं अल्पशक्तिमान् है। गीता ९। १० में ईश्वरको सृष्टिकर्ता बताया गया है। गीता १८। ६१ में यह कहा गया है कि ईश्वर सब प्राणियोंके भीतर अन्तर्यामी-रूपसे रहता और सबको अपनी मायासे भ्रमाता रहता है।

माया क्या है? इसका वर्णन भगवान् श्रीरामके मुखसे सुनिये—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह दोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥

अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' 'तू और तेरा' यही माया है। जिसने समस्त जीवोंको वशमें कर रक्खा है। इन्द्रियोंके विषयोंको और जहाँतक मन जाता है, उन सबको माया जानना। उसके भी एक विद्या और दूसरी अविद्या—इन दोनों भेदोंको सुनो। एक अविद्या दोष-युक्त एवं अत्यन्त दुःखरूपा है। जिसके वशमें होकर जीव संसाररूपी कुएँमें पड़ा हुआ है। दूसरी विद्या है जिसके वशमें गुण हैं और जो जगत्‌की रचना करती है। वह भगवान्‌की प्रेरणासे ही सब कुछ करती है, उसके अपना बल कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य यह कि ममता और अहंता ही माया है। 'यह मेरा वह तेरा, यह मैं, वह तू' आदि भेद मायाके ही विविध रूप हैं। सम्पूर्ण जगत् ही मायामय है। आचार्य शङ्कर कहते हैं—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥

जो अव्यक्त नामसे पुकारी जाती है, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण जिसके स्वरूप हैं, वह अनादि अविद्या ही परमेश्वरकी पराशक्ति माया है। जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान् पुरुष इसके कार्यसे ही इसका अनुमान करते हैं।

भूत, प्रेत, पिशाच आदि रुद्रके गण हैं। उनका मुँह नीचेकी ओर लटका या ऊपरकी ओर उठा हुआ भी माना जाता है। ये बालकोंको पीड़ा देनेवाले ग्रह भी कहे जाते हैं। मृत प्राणियोंके जिन आत्माओंको मुक्ति नहीं मिलती, वे अपने पापविशेषके कारण यातनामय शरीर धारण करके इधर-उधर विचरते हैं। उनकी उस योनिको भी भूत-प्रेत और पिशाचकी योनि कहते हैं। यह बड़ी कष्टप्रद योनि है।

जो शुद्ध सदाचारी, सुपरिचित, सजातीय और उत्तम कुलके व्यक्ति हों, उनके यहाँ अन्न-जल ग्राह्य है औरके यहाँ नहीं। वास्तवमें तो अपनी ही शुद्ध कमाई-का अन्न ग्रहण करना चाहिये। दूसरोंके यहाँ अन्न-जल ग्रहण करनेका अवसर जितना ही कम आवे, उतना ही अच्छा है।

लहसुन-प्याज आदि वस्तुएँ गीता १७। १० के अनुसार तामस भोजन हैं, उनके भोजनसे तमोगुण बढ़ता है, जिससे आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा आती है। अतः इनका सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

साधकके लिये सात्त्विक वस्तुएँ खाद्य हैं और राजस एवं तामस त्याज्य। गीताके सतरहवें अध्यायमें सात्त्विक, राजस और तामस भोजनका सुन्दर विवेचन है। उसको पढ़कर सात्त्विक अन्नका ग्रहण और तामस आदिका त्याग करें। उदाहरणके लिये साधारणतः रोटी, चावल, दाल, साग आदि खाद्य वस्तुएँ हैं और लहसुन-प्याज, मांस-मछली, शराब आदि निषिद्ध वस्तुएँ त्याज्य हैं।

अपनी माता केवल अपने पुत्रोंका लालन-पालन करती और उन्हें दूध पिलाती है, अतः वह केवल अपने ही पुत्रोंकी माता है और गोमाता अपने पुत्र बछड़े-का लालन-पालन करती हुई जगत्के अन्य लोगोंको भी दूध पिलाती है, बड़े-बूढ़े एवं बच्चे स्त्री-पुरुष सभी गो-माताका दूध पीकर पुष्ट होते हैं। इसके अलावा उसके बछड़े बैल होकर हल चलाते हैं, जिससे अन्न पैदा होता और उसे खाकर जगत्के मनुष्य जीवन धारण करते हैं। इस प्रकार गो-माता केवल दूध ही नहीं हमारे लिये अन्न भी देती है, अतः उससे बढ़कर दूसरी कौन माता हो सकती है?

अपना सब कुछ भगवान्के चरणोंमें समर्पित करके सर्वथा उनकी शरणमें हो जानेसे अभिमानका तुरंत अन्त हो सकता है।

भगवान्की उपासना उनकी शक्तिके साथ भी की जा सकती है और पृथक् भी। पर जहाँ भगवान् हैं, वहाँ उनकी शक्ति भी है ही, चाहे वह प्रकटमें न हो।

भगवान् शिव, विष्णु, ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदि जिन स्वरूपोंकी भक्त उपासना करता है, उसी रूपमें भगवान् उसे प्राप्त होते हैं। उस भावनाके अनुरूप ही लोकमें वह भगवान्का अन्तरङ्ग पार्षद बनकर रहता है। वे सभी लोक एक ही भगवान्के हैं। सर्वत्र एक-सा ही सुख है; किंतु उसकी अभिव्यक्ति भगवान्की भावनाके अनुसार होती है।

जब आपके मनमें कोई संशय, कोई जिज्ञासा बाकी न रह जाय और सदा एकरस शान्ति और आनन्द रहे, तब समझ लीजिये बोध हो गया। बोध हो जानेपर वह छिपा नहीं रहता। 'सूर्योदय हो गया' यह देखनेके लिये कोई लक्षण नहीं देखना पड़ता। सूर्योदयका प्रकाश ही इसका निश्चय करा देता है। जब चित्तमें परम शान्ति, परम आनन्दका उद्रेक हो, बाहर-भीतर दिव्य प्रकाश जान पड़े, कुछ जानना या पाना शेष न रह जाय, सर्वत्र समता हो, प्रवृत्ति-निवृत्तिमें समभाव हो तो स्वतः ही, बोध हो गया, इसका निश्चय हो जायगा।

सत्सङ्ग अमृत है और कुसङ्ग विष। कुसङ्ग पतनके गर्तमें गिरानेवाला है और सत्सङ्ग उद्धार करनेवाला। सत्सङ्ग प्रकाश है और कुसङ्ग अन्धकार। दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। सत्सङ्ग जीवन है और कुसङ्ग भयंकर मृत्यु। सत्सङ्ग भगवान्‌से मिलाता है और कुसङ्ग नरकमें ढकेलता है।

भगवान्‌की भक्ति जिस भावसे भी की जाय सब अच्छी है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर सभी भावोंमें भगवान्‌का भजन होता है। मधुर भाव सबसे उत्कृष्ट है, किंतु इसके अधिकारी सभी नहीं हैं। आरम्भमें दास्य और सख्यभाव ही उत्तम हैं। फिर अपनी बढ़ती हुई निष्ठा स्वयं ही भगवान्‌के हृदयमें अपने लिये यथायोग्य स्थान बनायेगी।

भगवान्‌के ऊपर विश्वास रखकर कार्य करते रहें और यदि कार्य सिद्ध न हुआ तो विचलित होनेकी आवश्यकता नहीं है। जब हमने भगवान्‌पर ही छोड़ दिया तो यह समझना चाहिये भगवान् जो कुछ करेंगे, मङ्गलके ही लिये करेंगे। क्या होनेसे हमारा हित है, इसको हमारी अपेक्षा भगवान् ही ठीक जानते हैं। होगा तो वही, जो भगवान् चाहेंगे और जो भगवान् चाहेंगे वही ठीक होगा। फिर भी मनुष्य अपने अहंकार और आसक्तिवश सिद्धि-असिद्धिके प्रश्नको लेकर व्यर्थ सुख-दुःखका अनुभव करता है। हमारे लिये तो यही उचित है कि सिद्धि-असिद्धि सब भगवान्‌पर छोड़कर कर्तव्य-बुद्धिसे प्रयत्न करें। भगवान् जो ठीक समझेंगे, वही परिणाम होगा और वही मङ्गलमय होगा। अपनेको सभी अवस्थाओंमें संतुष्ट रहना चाहिये और उसमें भगवान्‌का हाथ समझना चाहिये।

दुष्ट मनुष्यको सुमार्गपर लानेके लिये सुगम उपाय यही है कि उसे कुछ कालतक सत्सङ्गका अवसर प्राप्त कराया जाय और उसके साथ उत्तम-से-उत्तम साधु तथा सद्-व्यवहार किया जाय विशेषरूपसे। फिर उसके लिये कोई औषध मिल जायगी।

आपके प्रश्न अधिक थे, अतः सबपर थोड़ेमें ही विचार किया गया। इससे आपको कुछ संतोष हो सके तो प्रसन्नताकी बात है। शेष भगवत्कृपा।

(१)

कर्मफलका नियामक ईश्वर

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। आपकी शङ्काओंके उत्तरमें इस प्रकार निवेदन है—

१—आप पूछते हैं 'ईश्वर कर्मफलका नियामक क्यों? कर्म क्यों नहीं?'

'यों तो 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' सब कुछ परमात्मा ही है, इस सिद्धान्तके अनुसार कोई ऐसी वस्तु नहीं जो ईश्वरसे भिन्न हो। सम्पूर्ण जड-चेतन प्रपञ्च, कार्य-कारण, कर्ता-करण, कर्म और उसका फल तथा उस कर्मफलके नियामक सभी ईश्वर हैं। सर्वत्र ईश्वर हैं, सदा ईश्वर हैं और सब ईश्वर हैं। फिर भी वे सबसे विलक्षण हैं, उनका वैलक्षण्य क्या है। इसका विवेचन आरम्भ-होनेपर हम ईश्वरकी उन्हीं विशेषताओंपर दृष्टि रखेंगे जो अन्यत्र नहीं उपलब्ध होती। सामान्यतः सम्पूर्ण सृष्टिको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है, जड और चेतन। जड दृश्य है, चेतन द्रष्टा। जड नियम्य है और चेतन नियामक, जड परतन्त्र है और चेतन स्वतन्त्र। जड नाशवान्, परिवर्तनशील और अनेकरूप है। चेतन अमर, अपरिणामी और एकरस है। इस प्रकारके विश्लेषणको द्रष्टा-दृश्य-विवेक कहते हैं। अब आप स्वयं ही देखें—कर्म जड कोटिमें है या चेतन कोटिमें। कर्मका आरम्भ होता है, उसकी समाप्ति होती है, अतः वह अनित्य है। ईश्वर अनादि, अनन्त और नित्य है। फिर कर्म ईश्वर कैसे हो सकता है? कर्म होनेके बाद नष्ट हो जाता है, अतः स्वयं कुछ कर नहीं सकता, उसका संस्कार शेष रह जाता है। अथवा अदृष्टरूपसे वह शेष रहता है, ऐसा कहें तो भी संस्कार या अदृष्ट भी जड ही हैं। कौन कर्म कैसा है? किसका कैसा कर्मफल होगा और वह कब मिलेगा?

इसका ज्ञान सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ईश्वरके सिवा किसको रह सकता है ? इसलिये यही मानना ठीक है कि ईश्वर ही कर्मफलका नियामक है ।

२—गणेशजीके हाथीका सिर और मूषककी सवारी ! पर आपको शङ्का क्यों हुई ! एक छोटेसे धड़पर इतने बड़े सिरका होना और तिसपर भी चूहेकी सवारी कैसे सम्भव है । क्या आपने गणेशजीके छोटेसे धड़को देखा है, उनके बड़े मस्तक और चूहेकी सवारीको प्रत्यक्ष किया है ? फिर आश्चर्य क्यों हुआ ? आपने यही समझा है कि यहाँके मनुष्य-जैसा उनका धड़ होगा, यहाँके हाथी-जैसा उनका मस्तक होगा और यहाँके छोटेसे चूहे-जैसी उनकी सवारी होगी । आपने अपने कल्पित अनुमानको सत्य मानकर ही यह शङ्का उठायी है । यदि इस बातको ठीक-ठीक जानना हो तो भक्ति-भावसे श्रीगणेशजीकी आराधना कीजिये, वे ही आपको अपने धड़, मस्तक और सवारीका यथार्थ रहस्य बतायेंगे। उस समय आपको कोई शङ्का नहीं रह जायगी । आपको सोचना चाहिये कि जब गणेशजी साक्षात् महेश्वरके पुत्र हैं तो उनका शरीर कैसा होगा । भगवान् शंकरको 'कृत्तिवासा' कहा गया है । वे हाथीका चमड़ा लंगोटकी तरह धारण करते हैं । इससे हाथीकी अपेक्षा उनके शरीरका बड़ा होना स्वतः सिद्ध है । इसी प्रकार गणेशजीका शरीर भी होगा । उनके मस्तकपर हाथीके बच्चेका ही मस्तक जोड़ा गया था । जब गणेशजीने सोच-समझकर चूहेको अपना वाहन बनाया है, अतः वह चूहा भी वैसा होगा जो उनका भार वहन कर सके।

भगवान् विष्णुका वाहन गरुड़ है। गरुड़ एक पक्षीका नाम है । क्या जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले भगवान् विष्णुका वाहन एक पक्षी हो सकता है ? किंतु नहीं, गरुड़ साधारण पक्षी नहीं हैं । वे ऐरावत-जैसे बड़े-बड़े गजराजोंको अपने पंजेमें दबाकर हजारों योजन उड़नेकी शक्ति रखते हैं । हनुमान्जी वानर ही कहे जाते हैं । जिनके एक मुक्केकी मारसे त्रिभुवन-विजयी रावणको भी मूर्छा आ गयी थी । क्या आज कलके साधारण वानरोंसे उनकी तुलना की जायगी ?

गणेशजीका आधिदैविक रूप विशाल है, उसके अनुरूप ही उनका धड़, मस्तक और वाहन आदि सभी वस्तुएँ हैं ।

आध्यात्मिक भावमें वे सबके आत्मा हैं, अन्तर्यामी हैं और सर्वत्र व्यापक हैं । इन्द्रियोंके स्वामी होनेसे गणेश हैं । मूषकका अर्थ है चोरी करनेवाला । मनुष्यके भीतर जो चोरी आदि पापकी वृत्तियाँ हैं उनका प्रतीक है मूषक । गणेशजी उस मूषकपर चढ़ते हैं अर्थात् उसपर चरण-प्रहार करके उसे दबाये रहते हैं । गणेशजीके चिन्तन और स्मरणसे भीतरके दुर्गुण दब जाते हैं । गणेशका अर्थ सभी प्रकारके गणोंका स्वामी भी होता है । किसी भी संघके सभापति या राजा भी गणेशके स्वरूप हैं । वहाँ भी मूषक वाहनका अर्थ दुष्टों एवं दुर्वृत्तियोंका दमन ही है । गजमुख होना भी रहस्यसे शून्य नहीं है । गजके मानी होता है आठ । जो आठों दिशाओंकी ओर मुख रक्खे, वह गजमुख है । यह गुण प्रत्येक स्वामी या राजामें होना अभीष्ट है । गणेशजी विभु एवं सर्वज्ञ होनेसे आठों पहरकी और आठों दिशाओंकी खबर रखते हैं, इसलिये गजमुख हैं । जो उन्हींकी भाँति गजमुख और मूषकवाहन होगा, वह ऋद्धि-सिद्धियोंका स्वामी बन सकता है । यह प्रसिद्धि है कि ऋद्धि और सिद्धि दोनों गणेशजीकी सेवामें खड़ी होकर उन्हें चँवर डुलाती रहती हैं ।

३—शिव-निर्माल्यके निषेधक वचन जो शास्त्रोंमें मिलते हैं उनपर विचार करनेसे इस निर्णयपर पहुँचा जाता है कि, नर्मदेश्वरलिंग, धातुमयलिंग, रत्नलिंग, स्वयम्भू-लिंग, ज्योतिर्लिंग तथा सिद्धलिंग (जो पुराण-प्रसिद्ध हैं)—इनके ऊपर चढ़ाये हुए निर्माल्य तथा नैवेद्य सभीके भक्ष्य तथा ग्राह्य हैं । जो वस्तुएँ शिवलिंगपर

चढ़ायी नहीं गयी हों किंतु किसी भी लिंगको निवेदित की गयी हों, वे वस्तुएँ शैवीदीक्षा लिये हुए मनुष्योंके लिये ग्राह्य हैं। जिन्हें शैवीदीक्षा नहीं मिली है, उनके लिये पार्थिवलिंगको निवेदित वस्तु या प्रसादमात्र ही अग्राह्य है। उसके सिवा और सभी लिंगोंको निवेदित की हुई वस्तुएँ तथा शिव-प्रतिमाके निवेदन किया हुआ प्रसाद उनके लिये भी ग्राह्य है। जिन शिवनिर्माल्योंके लिये निषेध है, वे भी शालग्राम-शिलाके संसर्गसे ग्राह्य हो जाते हैं; यह शास्त्र-मर्यादा है।

ऊपर जिन परिगणित लिंगोंकी चर्चा की गयी है, उनको छोड़कर अन्य किसी भी लिंगके ऊपर जो वस्तु चढ़ा दी गयी हो, वह ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। पर जो पदार्थ अलग रखकर निवेदन किया गया है, वह अग्राह्य नहीं है।

जो अग्राह्य बताया गया है, वह चण्डेशका भाग है। भगवान् शिवने ही उसे अपने चण्डेश नामक गणको दे रक्खा है। अतः उसको ग्रहण करनेसे दोषका भागी होना पड़ता है। अन्य देवताओंके नैवेद्यमें किसी अन्यका नियत भाग नहीं है, अतः वह त्याज्य नहीं है।

४—जिसके इष्ट भगवान् श्रीकृष्ण हों और वह पूर्वाभ्यासवश श्रीरामका जप और ध्यान भी करता है तो कोई भी हानि नहीं है। उसे यही समझना चाहिये कि यह नाम और यह रूप भी मेरे ही इष्टदेवका है। शेष भगवत्कृपा।

वर्तमान संकटसे बचनेके लिये प्रार्थना कीजिये

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

समाचारपत्र पढ़नेवाले सभी लोग जानते हैं कि अभी उस दिन अमेरिकाने प्रशान्त महासागरके एक छोटे-से टापूपर परीक्षाके लिये हाइड्रोजन बम गिराया था। कहा जाता है कि सन् १९४५ में हीरोशीमा तथा नागाशाकी नामक जापानके दो बड़े औद्योगिक नगरोंपर जो अणुबम गिराये गये थे, उनसे यह बम ७०० गुना अधिक विनाशक है। उक्त अणुबमसे अमेरिकाके हिसाबसे चालीस हजार मनुष्य मरे थे और जापानके हिसाबसे लगभग ढाई लाख। इसका सात सौ गुना किया जाय तो सोलह-सतरह करोड़की संख्या होती है। यदि अमेरिकाका हिसाब ही सत्य माना जाय तो भी तीन करोड़ संख्या हो जाती है। यह भी मालूम हुआ है कि इस बमका असर सत्तर मीलकी दूरीपर मछली पकड़नेवाले मल्लाहोंपर पड़ा और वे झुलस गये तथा घायल हो गये। इस प्रकार हम देख रहे हैं कि इस समय जो भयानक शस्त्रास्त्र तैयार किये जा रहे हैं, वह एक महान् विनाशकी तैयारी है।

पाकिस्तान-अमेरिकाके गठबन्धनसे गिलगिटमें—जो रूस, चीन, काश्मीर तथा पाकिस्तानकी सरहद है, अमेरिकाके हवाई जहाज पहुँच रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि भारतकी सीमापर छिट-पुट हमले होंगे। इससे यह सिद्ध है कि आजतक हम जो युद्धक्षेत्रसे बहुत दूर थे, वह अब हमारे दरवाजेपर आकर खड़ा हो गया है। और कौन कह सकता है कि रूस, चीन और अमेरिकाका बढ़ता हुआ वैमनस्य भारतकी सीमापर विनाशकारी युद्धके रूपमें न परिणत हो जाय।

हमारा देश वर्तमान समयके शस्त्रास्त्रोंसे रहित है और बाहरी देशोंसे शस्त्रास्त्र मँगानेपर उनकी दासता स्वीकार करनी पड़ती है, जिसको सहन करनेके लिये जनता तैयार नहीं है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण पूर्व पाकिस्तानका चुनाव है। हम इन

राक्षसी बमोंका मुकाबला नहीं कर सकते । हमारे देशकी प्राचीन परम्परासे तथा अभी-अभी विश्ववन्द्य पूज्य बापूजीने हमें जो अहिंसाका दिव्य पाठ पढ़ाया है, उससे भी हमारी मनःस्थिति भी ऐसी नहीं है कि हम निरपराध, वृद्ध, अबोध बालक, अबला और गर्भवती स्त्रियों आदिपर बम गिराकर अपनी अमानवी और घोर राक्षसीवृत्तिका परिचय दे सकें ।

ऐसी अवस्थामें इस सम्भावित विपत्तिसे बचनेके लिये हमें अपना कर्तव्य निश्चय करना ही पड़ेगा । अब हम चाहें तो भी, युद्धसे पृथक् नहीं रह सकते, क्योंकि आज हम उसमें भाग लेनेवाले उसके एक अङ्ग बन गये हैं ।

इधर हमारी जो आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति है, उसको देखते यह कहना पड़ता है कि हममें आज परस्पर सद्भावना, सहयोग और विश्वासकी कमी है । हमारे पास आधुनिक भौतिक शस्त्रास्त्र भले ही न हों, पर यदि हमारी आन्तरिक एकता होगी, जीवनमें अत्यन्त आवश्यक अन्न-वस्त्रोंके लिये हम परावलम्बी नहीं होंगे, तो बड़े-से-बड़े संकटका भी मुकाबला उत्साहके साथ कर सकेंगे । पर इसके लिये हमें कुछ करना पड़ेगा ।

प्राचीन तथा मध्यकालमें, जब-जब हमारे राष्ट्रपर विपत्ति आयी है, तब-तब महापुरुषोंने—संतोंने विश्वास-भरी भगवत्-प्रार्थनासे, नाम-स्मरणसे, नाम-कीर्तनसे हममें सद्भावना तथा शक्तिका अद्भुत संचार किया था और हमको संकटोंसे बचा लिया था । आजकी स्थितिमें भी उसीका अनुसरण करना हमारे लिये कल्याणप्रद होगा ।

संकटमें हिम्मत हारना तो कायरता है,—महापाप है । कभी-न-कभी शरीर छोड़ना ही पड़ेगा, हमें मृत्यु-का शिकार होना ही पड़ेगा, तब हम क्यों न अत्यन्त धैर्यके साथ, बहादुरीके साथ भगवान्का नाम-स्मरण करते हुए मृत्युका आलिङ्गन करें ? 'आत्मा अमर है, शरीर नश्वर है' यह पावन संदेश तो संतोंने हमारे घर-घर पहुँचा रक्खा है । हमारे घरोंकी स्त्रियाँ, छोटे-छोटे बच्चे तथा गाँवोंके अपढ़ कहे जानेवाले किसान भी इस सिद्धान्तकी चर्चा किया करते हैं । हमारे इस परम्परागत पाठको अमलमें लानेका यह बहुत ही अच्छा अवसर है । भारतके सभी प्रदेशोंमें इसके लिये आग्रहपूर्वक प्रयत्न करना पड़ेगा ।

हमने देखा है—महात्मा गाँधीके आदेशपर हजारों स्त्री-पुरुष-बालकोंने जेलकी यात्रा स्वीकार की, और भी अनेकों यातनाएँ प्रसन्नताके साथ सहन कीं । आज संत विनोबाजीके कहनेपर प्राणोंसे भी प्यारी कही जाने-वाली जमीन हम भूदान-यज्ञमें दे रहे हैं । हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि इसमें जो कार्य हो रहा है, वह बहुत उत्साहपूर्वक हो रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । पर उत्साह है, इच्छा है, लोगोंके पास जानेपर लोग जमीन देते हैं । यह प्रत्यक्ष अनुभव है । इसीलिये हमारा राष्ट्र चाहेगा तो इस संकटका भी सामना अपने ढंगसे कर सकेगा ।

इसीलिये मेरा यह नम्र निवेदन है कि आन्तरिक एकतामें सहायक 'सक्रिय सद्भावना' तथा 'प्रार्थना'—इन दोनोंको हमें शीघ्र अपनाना चाहिये । इनमें भी 'प्रार्थना' का महत्त्व सबसे अधिक है । यह सद्भाव तथा सद्व्यवहारका अखण्ड स्रोत है । मुझे आशा है कि मेरे इस नम्र निवेदनपर भारतकी तमाम जनता ध्यान देगी, और अपने-अपने विश्वासके अनुसार इस संकट-नाशके लिये तथा सबको सुबुद्धि तथा सद्भावकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना करेगी ।

[पूज्य श्रीबाबाजीका यह संदेश सर्वथा सामयिक और अत्यन्त उपयोगी है । 'साक्षरा' को उलटकर पढ़ने-

से 'राक्षसा' हो जाता है, इसी प्रकार साक्षर—(पढ़े-लिखे, विद्वान्, बुद्धिमान्, विज्ञानवान्) पुरुषोंकी बुद्धि जब विपरीत हो जाती है, तब उसका बड़ा भीषण परिणाम हुआ करता है। इसीका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान अणुबम, हाइड्रोजनबम और क्षणमात्रमें जगत्का विनाश करनेवाली राक्षसी गैसोंका आविष्कार और परीक्षण है। अपनेको दयामय ईसामसीहका अनुयायी बतानेवाले लोग इस प्रकार भयानक-से-भयानक विनाशकारी शस्त्रास्त्रोंके निर्माणमें अपने बुद्धि-कौशल, विज्ञान-विवेक तथा प्रचुर अर्थका प्रयोग कर रहे हैं, इससे प्रत्यक्ष सिद्ध है कि उनकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो गयी है। इसीसे मानवको भयानक दानवके रूपमें परिणत करने जाकर वे अपनी सफलतापर अट्टहास कर रहे हैं! कौन जानता है, ये महाध्वंसकारी साधन स्वयं निर्माण-कर्ताओंके देशोंको ही कभी भस्म न कर देंगे।

इन आसुरी प्रयत्नोंकी प्रलयकारी विपत्तिसे बचनेके लिये 'प्रार्थना' निश्चय ही अमोघ अस्त्र है, परंतु 'प्रार्थना' विश्वासके बिना नहीं होती। प्रार्थना एक जगह एकत्र होकर बहुमतसे प्रस्ताव पास करना नहीं है, यह तो अन्तरकी वेदनाको विश्वासपूर्वक प्रभुके सामने प्रकट करना और उनकी अमोघशक्तिके संरक्षणमें अपनेको श्रद्धापूर्वक बिना किसी शर्तके सौंप देना है। ऋषियों तथा संतोंकी भगवत्प्रार्थनाका यही स्वरूप था और तभी भगवान् उनकी स्तुति सुनकर तुरंत उनकी रक्षा करते थे। आज भी हम सभी विश्वासपूर्वक भगवान्के शरणापन्न होकर भगवान्से प्रार्थना करें तो हम अपने प्रत्येक सात्त्विक प्रयत्नमें सफल हो सकते हैं। बापूजीके संदेशको पढ़कर देशवासी 'प्रार्थना' को ही साध्य और साधन मानकर विश्वासपूर्वक प्रार्थनाका प्रयोग प्रारम्भ कर दें, यह मेरी सबसे प्रार्थना है।

साथ ही सरकारसे यह प्रार्थना है कि वह इस समय ऐसे किसी भी कानून बनानेका प्रयत्न न करे, ऐसे किसी कानूनके बनानेमें देर न करे, या ऐसा कोई भी बर्ताव न करे जिससे जनताके मनमें क्षोभ हो और जनता भी ऐसा कोई कार्य किसी भी पार्टी, वाद या सिद्धान्तके नामपर न करे, जिससे सरकारके सत्प्रयत्नमें रुकावट हो, परस्परके प्रेममें बाधा उत्पन्न हो और क्षुद्र स्वार्थवश होनेवाले आपसके कलहके कारण भारी विपत्तिसे देशकी रक्षाका महान् उद्देश्य विस्मृत हो जाय।

भगवान्पर अटल विश्वास हो, सबके हितकी भावना हो, प्रार्थना श्रद्धापूर्वक बिना शर्तके हो तथा अनीति-अधर्मका जरा भी आश्रय न हो तो लोक-परलोकमें सफलता, सिद्धि अनिवार्य है।

—सम्पादक]

है नहीं आसान

बातें बनाना है बहुत आसान।
उपदेश देना और भी आसान॥
पर निभाना आन अपनेको मिटा।
औ, उफ़ न करना है नहीं आसान॥

—बालकृष्ण बलदुवा

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१-श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी-'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिन्दी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ... ४)
२-श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य-[हिन्दी-अनुवादसहित] पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य ... २।।।)
३-श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य-[हिन्दी-अनुवादसहित] पृष्ठ ६०८, तिरंगे चित्र ३, सजिल्द मूल्य ... २।।)
४-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' नामक लेखसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रंगीन चित्र ४, १।)
५-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित (सटीक) मोटे अक्षरोंमें, ढंग लाहोरी, पृष्ठ ४२४, मूल्य ।।।=)
सजिल्द ... ... १।)
६-श्रीमद्भगवद्गीता-[मझली] पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अ० ।।≶), सजि० ... १)
७-श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप,पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।), स० ।।।=)
८-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द ।-), सजिल्द ... ।।-)
९-श्रीमद्भगवद्गीता-केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, चित्र १, पृष्ठ १९२, मूल्य ... ।)
१०- श्रीपञ्चरत्न-गीता-सचित्र, इसमें श्रीगीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्र-मोक्ष, पृष्ठ १८४, ≶)
११-श्रीमद्भगवद्गीता-साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिल्द =)।। सजिल्द ... ।)।।
१२-श्रीमद्भगवद्गीता-तावीजी, मूल, पृष्ठ २९६, मूल्य ... ... =)
१३-श्रीमद्भगवद्गीता-विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य ... ... -)।।
१४-ईशादि नौ उपनिषद्-अन्वय, हिन्दी व्याख्यासहित पृष्ठ ४४८, सजिल्द मूल्य ... २)
१५-ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य ... ... ≶)
१६-केनोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १४२, मूल्य ... ... ।।)
१७-कठोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ... ।।-)
१८-प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य ... ।≶)
१९-मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य ... ... ।≶)
२०-माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य ... १)
२१-ऐतरेयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य ... ... ।=)
२२-तैत्तिरीयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य ... ।।।-)
२३-श्वेताश्वतरोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य ... ।।।=)
२४-ईशावास्योपनिषद्-अन्वय तथा सरल हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ १६, मूल्य ... -)
२५-वेदान्तदर्शन-हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४१६, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ... ... २)
२६-पातञ्जलयोगदर्शन-सटीक, व्याख्याकार-श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, पृष्ठ १७६, दो चित्र, मूल्य ।।।) सजिल्द १)
२७-लघुसिद्धान्तकौमुदी-सटिप्पण-संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये विशेष उपयोगी, मूल्य ... ।।।)
२८-श्रीमद्भागवतमहापुराण-(दो खण्डोंमें) हिंदी व्याख्यासहित, पृष्ठ २०३२, चित्र तिरंगे २६, स० ... १५)
२९-श्रीभागवत-सुधा-सागर-सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, पृष्ठ १०१६, चित्र तिरंगे २६, मूल्य ... ८।।)
३०-श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द, मूल्य ... ६)
३१-श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल गुटका, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य ... ३)
३२-श्रीप्रेम-सुधा-सागर-श्रीमद्भागवतके केवल दशम स्कन्धका भाषानुवाद, पृष्ठ ३१६, चित्र १५ ... ३।।)
३३-श्रीविष्णुपुराण-सानुवाद, चित्र ८, पृष्ठ ६२४, सजिल्द मूल्य ... ... ४)
३४-अध्यात्मरामायण-हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ... ३)
३५-श्रीरामचरितमानस-मोटा टाइप, भाषाटीकासहित, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य ... ७।।)
३६- ,, -बड़े अक्षरोंमे केवल मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य ... ४)
३७- ,, -सटीक-[मझला साइज] महीन टाइप, रंगीन चित्र ८,पृष्ठ १००८, स० मू० ३।।)
३८- ,, -मूल मझला साइज, सचित्र, पृष्ठ ६०८, मूल्य ... ... २)

३९–श्रीरामचरितमानस–मूल गुटका, पृष्ठ ६८०, रंगीन चित्र १ और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द, मूल्य ॥)

४०–बालकाण्ड–मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य ॥=)
४१– ,, –सटीक, पृष्ठ ३१२, सचित्र, मूल्य ... १=)
४२–अयोध्याकाण्ड–मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मू० ॥)
४३– ,, सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य ॥।–)
४४–अरण्यकाण्ड–मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य ... ≋)
४५– ,, –सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य ... ।)
४६–किष्किन्धाकाण्ड–मूल, पृष्ठ २४, मूल्य ... =)
४७–किष्किन्धाकाण्ड–सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य ... =)
४८–सुन्दरकाण्ड–मूल, पृष्ठ ३८, मूल्य ... ≋)
४९– ,, –सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य ... ।)
५०–लङ्काकाण्ड–मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य ... ।)
५१– ,, –सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य ... ॥)
५२–उत्तरकाण्ड–मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य ... ।)
५३– ,, –सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य ... ॥)

५४–मानस-रहस्य–चित्र रंगीन १, पृष्ठ-संख्या ५१२, मूल्य १।), सजिल्द ... ... १॥=)
५५–मानस-शंका-समाधान–पृष्ठ १८४, चित्र रंगीन १, मूल्य ... ... ॥)
५६–विनय-पत्रिका–सरल हिंदी-भावार्थसहित, पृष्ठ ४७२, सुनहरा चित्र १, मूल्य १), सजिल्द ... १।=)
५७–गीतावली–गो० श्रीतुलसीदासकृत, सरल हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४४४, मूल्य अजिल्द १), सजिल्द ... १।=)
५८–कवितावली–गोस्वामी श्रीतुलसीदासकृत, सटीक, चित्र १, पृष्ठ २२४, मूल्य ... ... ॥–)
५९–दोहावली–सानुवाद, अनुवादक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, रंगीन चित्र १, पृष्ठ १९६, मूल्य ... ॥)
६०–ईश्वरकी सत्ता और महत्ता–सम्पादक–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ-सं० ४८०, मूल्य १।), स० १॥=)
६१–शरणागति-रहस्य–पृष्ठ-संख्या ३६०, सचित्र, मूल्य ... ... ॥।=)
६२–प्रेम-योग–लेखक–श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य ... ... १॥)
६३–श्रीतुकाराम-चरित्र–सचित्र, पृष्ठ ५९२ मूल्य १।=), सजिल्द ... ... १॥।)
६४–विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य–पृष्ठ २८०, सचित्र, मूल्य ... ... ॥।=)
६५–दुर्गासप्तशती–सानुवाद, पाठविधि तथा अनेक उपयोगी स्तोत्र भी दिये गये हैं। सचित्र, पृष्ठ २४०, मूल्य ॥।), सजिल्द ... ... १)
६६–दुर्गासप्तशती–मूल, इसमें पाठविधि तथा वे सभी स्तोत्रादि दिये हैं जो सानुवाद प्रतिमें हैं, सचित्र, पृष्ठ १५२, मूल्य ॥), सजिल्द ... ... ॥।)
६७–स्वर्ण-पथ–सुन्दर टाइटल, पृष्ठ २१६, मूल्य ... ... ॥।)
६८–सत्सङ्गके बिखरे मोती–पृष्ठ २४४, ग्यारह मालाएँ, मूल्य ... ... ॥।)
६९–तत्त्व-चिन्तामणि–(भाग १)–सचित्र, लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५२, मूल्य ॥=), स० ... १)

७०–(भाग २) सचित्र, पृष्ठ ५९२, मूल्य ॥।=), सजि० १।)
७१–(भाग ३) सचित्र, पृष्ठ ४२४, मू० ॥≋) सजि० १–)
७२–(भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ५२८, मू० ॥।–), सजि० १≋)
७३– (भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ४९६, मू० ॥।–) सजि० १≋)
७४– (भाग ६) सचित्र, पृष्ठ ४५६, मू० १), सजिल्द १।=)
७५– (भाग ७) सचित्र, पृष्ठ ५३०, मू० १=) सजि० १॥)

७६–(भाग ४) (छोटे आकारका गुटका संस्करण) सचित्र, पृष्ठ ६८४, मूल्य ।=), सजिल्द ... ॥=)
७७–श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली–(खण्ड १) पृष्ठ २८८ मूल्य ॥।=), सजिल्द ... १)

७८– ,, (खण्ड २) पृष्ठ ३६८, मूल्य १=), सजि० १॥)
७९– (खण्ड ३) पृष्ठ ३८४, मूल्य १) सजि० १।=)
८०– ,, (खण्ड ४) पृष्ठ २२४, मूल्य ॥=), सजिल्द १)
८१– (खण्ड ५) पृष्ठ २८०, मूल्य ॥।) सजि० १=)

८२–(संत-वाणी) ढाई हजार अनमोल बोल–सं०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ३२४, सचित्र, ॥=), सजि० ॥।=)
८३–सूक्ति-सुधाकर–सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य ... ... ॥=)

८४–स्तोत्ररत्नावली–सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३१६, मू० ॥)
८५–सत्सङ्ग-सुधा–पृष्ठ २२४, मूल्य ... ॥)
८६–सती द्रौपदी–चित्र रंगीन ४, पृष्ठ १६४, मू० ॥)
८७–सुखी जीवन–लेखिका–श्रीमैत्रीदेवी, पृष्ठ २०८, ॥)
८८–भगवच्चर्चा भाग १ (तुलसीदल)–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ २८४, मू० ॥) सजि० ॥।=)
८९–भगवच्चर्चा भाग २ (नैवेद्य)–श्रीपोद्दारजीके २८ लेख और ६ कविता, सचित्र, पृष्ठ २६४, मूल्य ॥) सजिल्द ... ... ॥।=)
९०–भगवच्चर्चा भाग ३–श्रीपोद्दारजीके ५० लेखोंका अनूठा संग्रह, तिरंगा चित्र, पृष्ठ ४०८, मू० ॥।) सजि० १=)
९१–भगवच्चर्चा भाग ४–श्रीपोद्दारजीके ४३ लेखोंका अनूठा संग्रह, तिरंगा चित्र, पृष्ठ ३३६, मू० ॥।–), स० १≋)
९२–भगवच्चर्चा भाग ५–श्रीपोद्दारजीके ४८ लेखोंका अनूठा संग्रह, तिरंगा चित्र, पृष्ठ ४००, मू० ॥।), सजि० १=)
९३–भगवच्चर्चा भाग ६–श्रीपोद्दारजीके ४४ लेखोंका अनूठा संग्रह, तिरंगा चित्र, पृष्ठ ४००, मू० ॥।), स० १=)

१४५-भगवान राम भाग १-पृष्ठ ५२, मूल्य ... ।)
१४६- ,, ,, भाग२-पृष्ठ ५२, मूल्य ... ।)
१४७-बाल-चित्र-रामायण भाग १- मूल्य ... ।)
१४८- ,, ,, भाग २- मूल्य ... ।)
१४९-भगवान श्रीकृष्ण भाग १-पृष्ठ ६८, मूल्य ।-)
१५०- ,, ,, भाग २-पृष्ठ ६८, मूल्य ।-)
१५१-सत्सङ्ग-माला-पृष्ठ १००, मूल्य ... ।)
१५२-बालकोंकी बातें-पृष्ठ १५२, मूल्य ... ।)
१५३-हिंदी बाल-पोथी-शिशु-पाठ (भाग १) पृष्ठ ४०, मूल्य ... ≋)
१५४- ,, -शिशुपाठ (भाग २) मू० ≋)
१५५- ,, -पहली पोथी (कक्षा १ के लिये) मू० ।-)
१५६- ,, -दूसरी पोथी (कक्षा २ के लिये) मू० ।=)
१५७-प्रार्थना-पृष्ठ ५६, मूल्य ... ≋)
१५८-आरती-संग्रह-पृष्ठ ७२, मूल्य ... ≋)
१५९-आदर्श नारी सुशीला-पृष्ठ ५६, मूल्य ... ≋)
१६०-आदर्श भ्रातृ-प्रेम-पृष्ठ १०४, मूल्य ... ≋)
१६१-मानव-धर्म-पृष्ठ ९६, मूल्य ... ≋)
१६२-गीता-निबन्धावली-पृष्ठ ८० मूल्य ... =)॥
१६३-साधन-पथ-पृष्ठ ६८, मूल्य ... =)॥
१६४-अपरोक्षानुभूति-पृष्ठ ४०, मूल्य ... =)॥
१६५-मनन-माला-पृष्ठ ५४, मूल्य ... =)॥
१६६-नवधा भक्ति-पृष्ठ ६०, मूल्य ... =)
१६७-बाल-शिक्षा-पृष्ठ ६४, मूल्य ... =)
१६८-श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति-पृष्ठ ४८, मूल्य =)
१६९-गीताभवन-दोहा-संग्रह- पृष्ठ ४८, मूल्य ... =)
१७०-वैराग्य-संदीपनी-सटीक-पृष्ठ २४, मू० ... =)
१७१-भजन-संग्रह-भाग १, पृष्ठ १८०, मूल्य ... =)
१७२- ,, -भाग २ पृष्ठ १६८, मूल्य ... =)
१७३- ,, -भाग ३ पृ० २२८, मूल्य ... =)
१७४- ,, -भाग ४ पृ० १६०, मूल्य ... =)
१७५-भजन-संग्रह-भाग ५ पृ० १४०, मूल्य ... =)
१७६-बालप्रश्नोत्तरी-मूल्य ... -)॥
१७७-स्वास्थ्य-सम्मान और सुख-मूल्य ... -)॥
१७८-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी-पृष्ठ ५६, मूल्य ... -)॥
१७९-नारीधर्म-पृष्ठ ४८, मूल्य ... -)॥
१८०-गोपी-प्रेम-पृष्ठ ५२, मूल्य ... -)॥
१८१-मनुस्मृति-द्वितीय अध्याय मूल्य ... -)॥
१८२-ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप-पृष्ठ ३६, मू०-)॥
१८३-श्रीविष्णुसहस्रनाम सटीक-मूल्य ... -)॥
१८४-हनुमानबाहुक-पृष्ठ ४०, मू० ... -)॥
१८५-शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र-पृष्ठ ६४, मूल्य ... -)॥
१८६-श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा-पृष्ठ ४०, मूल्य ... -)।
१८७-मनको वश करनेके कुछ उपाय-पृष्ठ २४, -)।
१८८-ईश्वर-पृष्ठ ३२, मूल्य ... -)।
१८९-मूलरामायण-पृष्ठ २४, मूल्य ... -)।
१९०-रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक-मू० -)।
१९१-विनय-पत्रिकाके बीस पद-पृष्ठ २४, मूल्य ... -)
१९२-सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन-मूल्य ... -)
१९३-दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य-मूल्य ... -)
१९४-बाल-अमृत-वचन-मूल्य ... -)
१९५-हरेरामभजन १४ माला-मूल्य ... ।-)
१९६-हरेरामभजन ६४ माला-मूल्य ... १)
१९७- शारीरकमीमांसादर्शन ...)॥।
१९८-बलिवैश्वदेवविधि-मूल्य ...)॥
१९९-संध्या विधिसहित-पृष्ठ १६, मूल्य ...)॥
२००-गोवध भारतका कलङ्क-मू० ...)॥
२०१-बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश-मूल्य ...)॥
२०२-नारदभक्ति-सूत्र-पृष्ठ २४, मूल्य ...)।

Our English Publications

203. The Philosophy of Love (*By Hanumanprasad Poddar*) 1-0-0
204. Gems of Truth (First Series) (*By Jayadayal Goyandka*) 0-12-0
205. Bhagavadgita [with Sanskrit text and an English translation] 0-4-0 Bound 0-6-0
206. Gopis' Love for Sri Krishna (*By Hanumanprasad Poddar*) 0-4-0
207. Way to God-Realization (*By Hanumanprasad Poddar*) 0-1-0
208. The Divine Name and Its Practice—(*By Hanumanprasad Poddar*) 0-3-0
209. Wavelets of Bliss-(*By Hanumanprasad Poddar*) 0-2-0
210. The Immanence of God (*By Madan Mohan Malviya.*) 0-2-0
211. What is God ?-(*By Jayadayal Goyandka*) 0-2-0
2 The Divine Message (*By Hanumanprasad Poddar*) 0-0-9
What is Dharma ?-(*By Jayadayal Goyandka*) 0-0-9

पैकेट नं० १, पुस्तक-संख्या १३, मूल्य ।।।)

१-सामयिक चेतावनी-पृष्ठ २४, मूल्य -)
२-आनन्दकी लहरें-पृष्ठ २४, मूल्य -)
३-गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र-सार्थ, पृष्ठ ३२, मूल्य -)
४-श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश-पृष्ठ १६, मूल्य -)
५-ब्रह्मचर्य-पृष्ठ ३२, मूल्य -)
६-हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप-पृष्ठ २४, मूल्य -)
७-सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय-पृष्ठ ३२, -)
८-श्रीभगवन्नाम-पृष्ठ ७२, मूल्य -)
९-श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन-पृष्ठ ६४, -)
१०-भगवत्तत्त्व-पृष्ठ ६४, मूल्य -)
११-सन्ध्योपासनविधि अर्थसहित-पृष्ठ २४, मूल्य -)
१२-हरेरामभजन दो माला-पृष्ठ ३२, मूल्य)।।।
१३-पातञ्जलयोगदर्शन मूल-पृष्ठ २०, मूल्य)।

।।।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-संख्या ५, मूल्य ।)

१-संत-महिमा-पृष्ठ ४०, मूल्य)।।।
२-श्रीरामगीता-पृष्ठ ४०, मूल्य)।।।
३-विष्णुसहस्रनाम मूल-पृष्ठ ४८, मूल्य)।।।
४-वैराग्य-पृष्ठ ४०, मूल्य)।।।
५-रामायण सुन्दरकाण्ड-पृष्ठ ६४, मूल्य -)

।)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-संख्या १६, मूल्य ।।)

१-विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद-(सार्थ) पृष्ठ १६, मूल्य)।।
२-सीतारामभजन-पृष्ठ ६४, मूल्य)।।
३-भगवान् क्या हैं ?-पृष्ठ ४०, मूल्य)।।
४-भगवान्‌की दया-पृष्ठ ४०, मूल्य)।।
५-गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग, पृष्ठ४८,)।।
६-सेवाके मन्त्र-पृष्ठ ३२, मूल्य)।।
७-प्रश्नोत्तरी-पृष्ठ ३२, मूल्य)।।
८-विवाहमें दहेज-पृष्ठ १६, मूल्य)।।
९-सत्यकी शरणसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मूल्य)।।
१०-भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय-पृष्ठ ४०, मूल्य)।।
११-व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति-पृष्ठ ३२, मूल्य)।।
१२-स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग-पृष्ठ २०,)।।
१३-परलोक और पुनर्जन्म-पृष्ठ ४०, मूल्य)।।
१४-ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन-पृष्ठ ३२,)।।
१५-अवतारका सिद्धान्त-पृष्ठ २८, मूल्य)।।
१६-सत्संगकी कुछ सार बातें-पृष्ठ २४, मूल्य)।।

।।)

पैकेट नं० ४, पुस्तक-संख्या १८, मूल्य ।)

१-धर्म क्या है ?-पृष्ठ १६, मूल्य)।
२-श्रीहरिसंकीर्तन-धुन-पृष्ठ ८, मूल्य)।
३-दिव्य सन्देश-पृष्ठ १६, मूल्य)।
४-तीर्थोंमें पालन करनेयोग्य कुछ सार बातें-मूल्य)।
५-महात्मा किसे कहते हैं ?-पृष्ठ २४, मूल्य)।
६-ईश्वर दयालु और न्यायकारी है-पृष्ठ २४, मूल्य)।
७-प्रेमका सच्चा स्वरूप-पृष्ठ २४, मूल्य)।
८-हमारा कर्तव्य-पृष्ठ २४, मूल्य)।
९-कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ-पृष्ठ ३२, मूल्य)।
१०-शोक-नाशके उपाय-पृष्ठ २४, मूल्य)।
११-ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है-पृष्ठ २४, मूल्य)।
१२-चेतावनी-पृष्ठ २४, मूल्य)।
१३-त्यागसे भगवत्प्राप्ति-पृष्ठ २४, मूल्य)।
१४-श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव-पृष्ठ २०, मूल्य)।
१५-लोभमें पाप-पृष्ठ ८, मूल्य आधा पैसा
१६-सप्तश्लोकी गीता-पृष्ठ ८, मूल्य आधा पैसा
१७-१८-गजल गीता-पृष्ठ ८, २ प्रति, मूल्य)।

।)

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

जनवरी १९५४ का नया विशेषाङ्क 'संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क'

—अभीतक मिलता है। ग्राहक बनने-बनानेवालोंको चाहिये कि वार्षिक मूल्य ७।।) M. O. से भेजें अथवा V. P. द्वारा भेजनेकी आज्ञा दें। सजिल्दका मूल्य ८।।।) है।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीताप्रेसकी दो दूकानें और खुल गयी हैं—(१) दिल्ली—१५४ D. कमलानगर। (२) पटना—अशोक राजपथ।

रजि० सं० ए० १७५

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दका चैत्र शुक्ला १५ तारीख १८ अप्रैलके लगभग ऋषिकेश, गीता-भवनमें पहुँचनेवाले हैं। सदाकी भाँति उनका आषाढ़तक वहाँ ठहरनेका विचार है। सत्सङ्गके लिये आनेवाली स्त्रियोंको ससुराल या पीहरके आदमीको साथ लिये बिना अकेले नहीं आना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी कोई चीज साथ नहीं लानी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ लावें, जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना बहुत कठिन है।

नयी पुस्तक ! *प्रकाशित हो गयी !!*

बाल-चित्र-रामायण (दो भागोंमें)

भगवान् श्रीराम भारतीय संस्कृतिके प्राण हैं। छोटे बच्चे रामकी जीवन-लीलाओंको जान लें तथा बोलचालकी बोलीमें लीलाकी तुकबंदी याद कर लें तो उनको सहज ही रामके जीवनकी जानकारी हो सकती है और वे स्वयं पदोंको बोलकर तथा दूसरोंको सुनाकर आनन्द पा सकते हैं। उनके जीवन-निर्माणमें भी इससे बड़ी सहायता मिल सकती है। इसी उद्देश्यसे यह चित्रोंमें रामचरित्र दो भागोंमें छापा गया है।

प्रत्येक भागमें लीलाके ४८ सादे और एक-एक सुन्दर सुनहरी चित्र हैं। प्रथम भागमें श्रीरामके आविर्भावसे लेकर चित्रकूटतककी लीला दी गयी है और दूसरेमें आगेकी राजतिलकतककी है। प्रत्येक चित्रका परिचय पदोंमें दिया गया है। १०×७॥ आकारमें आर्टपेपरपर छपी प्रत्येक पुस्तकका दाम केवल ।) है। दोनों भागोंका एक साथ दाम ॥) है। पैकिङ्ग तथा डाकखर्च ।), रजिस्ट्रीखर्च ।=), कुल १=)

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

Third Edition ! Just Out !!

Gems of Truth (First Series)

By Shri Jayadayal Goyandka

The book contains an English rendering of fifteen articles from the pen of Shri Jayadayal Goyandka originally appearing in Hindi 'Kalyan'. It deals with the subjects of God and God-Realization from the points of view of both Jñāna and Bhakti and is thus an extremely helpful guide to seekers of spiritual knowledge following different paths of discipline. Starting with the proposition that God is not a mere concept, but an indubitable Reality, it proceeds to discuss subjects like God and His Creation, Prakṛti and Puruṣa, Divine Grace, Delusion, Dispassion, Surrender and ends with Offering of Self to God. The process of reasoning followed in the book will bring conviction even to confirmed unbelievers. Clothbound, pp. 224, Price Annas Twelve only. *Postage Extra.*

The Gita Press, P. O. Gita Press (Gorakhpur)

वर्ष २८ * अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०११, मई १९५४

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीमहालक्ष्मी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०११, मई १९५४ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ३३०

भगवती श्री (महालक्ष्मी) की झाँकी

कमलासन-आसीन देवि 'श्री' अद्भुत श्री-सुषमासे युक्त ।
पद्म-चक्र-वर-अभय चतुर्भुज दिव्य भूषणोंसे संयुक्त ॥
सुमन-माल गल, रत्न मुकुट सिर, सकल विभूति विश्वकी टेक ।
चारु स्वर्णकलशोंसे करिवर चार कर रहे शुभ अभिषेक ॥

याद रक्खो—जबतक तुम शरीरको तथा नामको 'मैं' मानते हो, अपना 'स्वरूप' मानते हो, तबतक राग-द्वेषसे बच नहीं सकते और जबतक तुम्हारी पारमार्थिक दैवी सम्पत्तिको लूटनेवाले राग-द्वेष हैं, तब-तक तुम विषय-कामनासे रहित नहीं हो सकते; और जबतक विषयासक्ति तथा विषयकामना है; तबतक पापाचरणसे, निषिद्ध कर्मसे, दूसरोंका अहित करनेवाली प्रवृत्तिसे बचे नहीं रह सकते और जबतक ऐसे दुष्कर्म होते रहेंगे, तबतक जीवनमें असली सुख-शान्तिके दर्शन नहीं हो सकते और जन्म-मृत्युके चक्रसे छुटकारा नहीं मिल सकता।

याद रक्खो—जन्म-मृत्युके चक्रसे छुटकारा पाना ही असली सुख-शान्तिको प्राप्त करना है। यही मानव-जीवनका एकमात्र ध्येय है। अतएव 'शरीर' और 'नाम'से मैंपनको दूर करो। विचारके द्वारा यह दूर हो सकता है। शरीर माताके गर्भमें बना है और एक दिन नष्ट हो जायगा तथा नाम जन्मके बाद रक्खा गया और बार-बार बदला गया; परंतु इस शरीरमें 'मैं' बोलनेवाले तथा 'नाम'को मैं बतानेवाले तुम इससे अलग सदा एक-से हो। मृत्यु होनेपर जब बोलनेवाला 'मैं' निकल जायगा, तब भी शरीर तो रहेगा। 'नाम' कुछ समय बादतक भी रहेगा। पर शरीर तथा नामको 'मैं' कहने-वाला नहीं रहेगा। अतएव यह सिद्ध है कि वही 'मैं' तुम हो, जो इस शरीर और नामसे पृथक् हो—वही तुम चेतन आत्मा हो, जो तीनों कालोंमें, चारों अवस्थाओंमें रहते हो। इस अपने स्वरूपको समझकर 'शरीर' तथा 'नाम'से 'मैं'को अलग कर दो। जहाँ 'मैं' अलग हुआ वहाँ 'शरीर' और 'नाम'से सम्बन्ध रखनेवाला 'मेरा' भी सबसे निकल जायगा। बस, फिर कहीं राग-द्वेष नहीं रह जायगा और राग-द्वेषके अभावमें उससे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका अपने-आप ही अभाव हो जायगा।

याद रक्खो—एक अखण्ड नित्य सत्य आनन्दमय आत्मस्वरूपकी उपलब्धि होनेपर तुम जन्म-मृत्युके चक्रसे अवश्य छूट जाओगे; पर यदि यह तुम्हें कठिन जान पड़ता हो तो कोई आपत्ति नहीं। अपने 'मैं' को बनाये रक्खो, पर उसे श्रीभगवान्‌का बना दो। संसारमें तुम और किसीके भी न रहकर भगवान्‌के हो जाओ। तुम्हारी प्रत्येक क्रियासे, तुम्हारी प्रत्येक चेष्टासे, तुम्हारे प्रत्येक संकल्पसे, तुम्हारे प्रत्येक विचारसे सदा एक ही निश्चयात्मक ध्वनि निकले—मैं भगवान्‌का हूँ, मैं भगवान्‌का हूँ—इस प्रकार 'मैं'को भगवान्‌का बना दो और 'मेरा' भगवान्‌के श्रीचरणोंको बना लो। सारी 'ममता' सब जगहसे सिमटकर एकमात्र भगवान्‌के चरणारविन्दमें ही आकर केन्द्रित हो जाय। सदा यही निश्चय रहे कि एकमात्र भगवान्‌के श्रीचरणारविन्द ही मेरे हैं और कुछ भी मेरा नहीं है। यों अपनी 'अहंता-ममता'को बनाये रक्खो, पर उन्हें समर्पण कर दो केवल श्रीभगवान्‌के ही। तुम भगवान्‌के हो जाओ और श्रीभगवान्‌के चरण-कमल-युगल तुम्हारे हो जायँ। 'मैं' केवल भगवान्‌के अधिकारमें रहे और 'मेरा' माननेको केवल श्रीभगवान्‌के चरणारविन्दरूप अतुलनीय धन रहे।

याद रक्खो—यों कर पाओगे तो तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा, तुम धन्य हो जाओगे। फिर 'जन्म-मृत्यु' यदि रहेंगे तो वे भगवान्‌की नित्य नूतन लीलामाधुरीका रसा-स्वादन करानेके पवित्र और नित्य वाञ्छनीय साधन बनकर रहेंगे। वे भी धन्य हो जायँगे, शरीर भी धन्य हो जायगा और नाम भी धन्य हो जायगा।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

(१६)

जबतक मनुष्यका चित्त शुद्ध नहीं होता, तबतक वह जिसका चिन्तन करना चाहता है, उसका नहीं कर पाता और जिसका नहीं करना चाहता, उसका चिन्तन होता रहता है। जो काम उसे करना चाहिये, उसे नहीं करता और जो नहीं करना चाहिये, उसे करता है।

इसलिये साधकको चाहिये कि जिस समय जो काम उसे कर्तव्यरूपमें प्राप्त हो, उसके करनेमें अपनी विवेक-शक्ति और क्रिया-शक्तिको पूर्णरूपसे लगाकर, पूर्ण धैर्य, उत्साह और सावधानीके साथ जिस ढंगसे उसे करना चाहिये, वैसे ही करे। उसके करनेमें न तो आलस्य करे और न जल्दबाजी करे। हर एक प्रवृत्तिके आरम्भमें यह विचार कर ले कि जो काम मैं करना चाहता हूँ, उससे किसीके अधिकारका अपहरण तो नहीं होता है? वह किसीके अहितका कारण तो नहीं है? यह सोचकर अपने प्रभुकी सेवाके नाते उस कामको कुशलतापूर्वक पूरा करे। ऐसा कोई काम न करे जिससे भगवान्‌का सम्बन्ध न हो, जो भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके विरुद्ध हो।

प्रवृत्तिके बाद निवृत्तिका आना अनिवार्य है। अतः जो काम कर्तव्यरूपसे प्राप्त हो, उसे उपर्युक्त प्रकारसे पूरा कर देनेपर निवृत्तिकालमें साधकके चित्तकी स्थिरता और अपने प्रेमास्पदके प्रेमकी लालसाकी जागृति अवश्य होती है। अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन अपने-आप शान्त हो जाते हैं।

कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं है। जिस कामको लोग साधारण और छोटा कहते हैं, वह कुशलतापूर्वक ठीक—जैसे, जिस भावसे करना चाहिये, वैसे किया जानेपर वह साधकके लिये किसी भी उत्तम-से-उत्तम माने जानेवाले कामसे कम नहीं रहता; क्योंकि कर्म करनेकी आवश्यकता किसी प्रकारके फलकी कामनाके लिये नहीं, किंतु कर्तामें जो क्रियाशक्तिका वेग है, उसे पूरा करनेके लिये है।

इस प्रकार करनेपर कर्तापन और भोक्तापन अपने-आप विलीन हो जाते हैं। जो उद्देश्य बड़े-बड़े साधनोंसे कठिनाईके साथ बहुत कालमें पूरा नहीं होता, उसकी सिद्धि अनायास थोड़े ही समयमें अपने-आप हो जाती है।

कर्मके रहस्यको न जाननेके कारण साधारण मनुष्य, जो काम जिस समय करना चाहिये, उसे उस समय नहीं करते एवं जब करते हैं तब उसे भाररूप समझकर, जैसे-तैसे पूरा कर देनेके भावसे करते हैं। पूरी शक्ति लगाकर नहीं करते। अतः उनका राग नष्ट नहीं होता। इससे जिस कालमें वे कर्मसे निवृत्त होते हैं, उस कालमें भी उनके अन्तःकरणमें नाना प्रकारके व्यर्थ संकल्पोंकी स्फुरणा होती रहती है; क्योंकि उनमें क्रियाशक्तिका वेग बना रहता है अथवा वह काल आलस्य या निद्रामें चला जाता है।

मनुष्य-जीवनका समय सब-का-सब अमूल्य है, अतः उसका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। उसमें भी जो निवृत्तिकाल है, जिस समय मनुष्यके सामने कोई करने योग्य कर्म नहीं रहता, वह समय तो खास तौरपर अपने परम प्रेमास्पद प्रभुका स्मरण-चिन्तन करते हुए उनके प्रेममें डूबे रहनेका ही है। ऐसे मौकेमें यदि साधकके चित्तमें अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन होता रहे या तमोगुणकी वृद्धि होकर वह समय जडतामें व्यतीत हो जाय तो इससे बढ़कर दुःख देनेवाली भूल क्या हो सकती है? इसलिये

साधकको चाहिये कि वह जो कर्म कर्तव्यरूपसे प्राप्त हो, उसे पहले बताये हुए प्रकारसे भगवान्‌के नाते, उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी दी हुई शक्तिका कुशलतापूर्वक प्रयोग करके पूरा करता जाय। जैसे-जैसे साधक प्राप्त-कर्तव्यको ठीक-ठीक पूरा करता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ निवृत्तिमें बदल जाती हैं।

जो काम जिस प्रकार करना चाहिये, उस प्रकार धैर्य और उत्साहपूर्वक, सावधानीसे न किया जानेपर, उसका परिणाम स्वास्थ्यके लिये तथा समाज और देशके लिये हितकर नहीं होता। इस दृष्टिसे भी साधकको हरेक काम, चाहे वह खान-पान-सम्बन्धी साधारण हो, चाहे परिवार, समाज, देशसे सम्बन्ध रखनेवाला हो—ठीक-ठीक करना चाहिये।

जिस समय साधक बिना कर्म किये रह सके। अर्थात् उसे न तो कोई काम कर्तव्यरूपसे प्राप्त हो, और न किसी कामको करनेके लिये किसी प्रकारकी क्रियाशक्तिका वेग हो, उस समय कर्मका करना आवश्यक नहीं है। कर्म करनेकी बात तो उसी समयके लिये कही जाती है, जब साधकको कर्म करना आवश्यक हो जाय।

सही प्रवृत्ति होनेपर सहज निवृत्ति स्वतः प्राप्त होती है। सहज निवृत्ति ज्यों-ज्यों स्थायी और स्थिर होती जाती है—त्यों-ही-त्यों मनमें स्थिरता, हृदयमें प्रीति और विचारका उदय अपने-आप होता जाता है। जो कि मानवकी माँग है।

(१७)

प्रश्न—जीते हुए मर जाना किसे कहते हैं?

उत्तर—प्राणोंके रहते हुए जो शरीर और संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना है—यही जीते हुए मर जाना है।

प्रश्न—प्रेमको चाहते हुए भी ऐसा प्रेम जो नित्य-नया बढ़ता रहे नहीं होता, इसके लिये क्या करें?

उत्तर—साधकको भगवत्प्रेममें कभी निराश नहीं होना चाहिये। जिसको प्रेमकी चाह होती है, उसे प्रेम अवश्य मिलता है। प्रेमकी भूमिका अनेक प्रकारकी होती है। प्रेमकी कभी पूर्णता नहीं होती। इस कारण प्रेमीको हरेक अवस्थामें प्रेमकी कमीका बोध होता है। अतः यदि साधक इस भावसे अपनेमें प्रेमकी कमीका अनुभव करता है तब तो ऐसी बात नहीं है कि उसको सदैव नित्य-नया रहनेवाला प्रेम प्राप्त नहीं हुआ; क्योंकि प्रेमका यह स्वभाव ही है। प्रेम अनन्त है। प्रेमास्पद भी वास्तवमें अनन्त प्रभु ही हैं। प्रेमकी लालसा भी अनन्त है। फिर जहाँ तीनों अनन्त हों, तो वहाँ पूर्णता कैसे हो।

यदि प्रेमकी इच्छा रहते हुए सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है, तो उसके न मिलनेकी गहरी वेदना होनी चाहिये। वह वेदना अवश्य ही प्रेम चाहनेवालेको प्रेमकी प्राप्ति करा देगी। यदि प्रेमकी चाह भी है और उसके प्राप्त न होनेकी तीव्र वेदना भी नहीं है तो साधकको समझना चाहिये कि मेरे जीवनमें किसी-न-किसी प्रकारका रस है, जो मुझे प्रेमसे वञ्चित करनेवाला है। विचार करनेपर या तो किसी प्रकारके सद्गुणका रस, या किसी प्रकारके सदाचारका रस, दिखलायी देगा; क्योंकि प्रेम चाहनेवालेके मनमें भोगवासना और भोगोंका रस तो पहले ही मिट जाना चाहिये। जबतक भोगोंमें रस प्रतीत होता है, तबतक तो प्रेमकी सच्ची चाह ही नहीं होती।

भगवत्प्रेमका मूल्य सद्गुण या सदाचार नहीं है। अतः उसमें सभीका अधिकार है। पतित-से-पतित भी भगवान्‌का प्रेम प्राप्त कर सकता है; क्योंकि जिस प्रकार भक्तवत्सल होनेके नाते श्रीहरि अपने भक्तसे

स्नेह करते हैं, वैसे ही वे पतितपावन प्रभु अधमोद्धारक और दीनबन्धु भी तो हैं ही । अतः दीन, हीन पतितसे भी वे प्यार करते हैं । उसे भी वे अपने प्रेमका पात्र समझते हैं । वे मनुष्यसे किसी सौन्दर्य या गुणके कारण प्रेम नहीं करते; क्योंकि अनन्त दिव्य सौन्दर्य, अनन्त दिव्य सद्गुणोंके वे केन्द्र हैं । किसी ऐश्वर्यके कारण प्रभु प्रेम करते हों, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनके समान ऐश्वर्य किसीके पास है ही नहीं । वे तो एकमात्र उसीसे प्रेम करते हैं, जो उनपर विश्वास करके यह मान लेता है कि मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं । बस, इसके अतिरिक्त भगवान् और कुछ नहीं चाहते, इसलिये हरेक मनुष्य उनके प्रेमका अधिकारी है ।

प्रेम प्रदान करना या न करना प्रभुके हाथकी बात है । वे जब चाहें, जिसको चाहें, अपना प्रेम प्रदान करें अथवा न करें, इसमें साधकके वशकी बात नहीं है, किंतु उनका प्रेम न मिलनेसे व्याकुलता और बेचैनी तो होनी ही चाहिये । छोटी-से-छोटी चाह पूरी न होनेसे मनुष्य दुखी हो जाता है, व्याकुल हो जाता है । फिर जिसको भगवान्के प्रेमकी चाह है और प्रेम मिलता नहीं, वह चैनसे कैसे रह सकता है ! उसकी वेदनाको किसी भी भोगका, सद्गुणका, सदाचारका अथवा सद्गतिका सुख भी कैसे शान्त कर सकता है ?

जो साधक उत्कृष्ट भोगोंकी इच्छा रखते हुए भगवान्को अपनाते हैं, उनके मनकी बात भगवान्से छिपी नहीं है । वे उनको उत्कृष्ट भोग प्रदान करनेके द्वारा उनसे प्यार करते हैं । जो सद्गुण-सदाचार चाहते हैं, उनको सद्गुण-सदाचार देते हैं । जो सद्गति चाहते हैं, उन्हें सद्गति देते हैं । पर जो केवल उन्हींको चाहते हैं, उनके प्रेमके भूखे हैं, जिन्हें किसी प्रकारके भोग, गुण, गतिसे रस नहीं मिलता; जिन्होंने उन सबके रसका भी परित्याग कर दिया है—उनको भगवान् अवश्य ही अपना प्रेम प्रदान करते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

प्रेमी अपने प्रेमास्पदसे किसी प्रकारका सुख नहीं चाहता । वह तो सदा उनके सुखमें ही सुखी रहता है । उनको सुख प्रदान करनेमें, उनको रस देनेमें ही उसको रस मिलता है । इस कारण उसको जो कुछ भी शक्ति और ऐश्वर्य प्राप्त है, जो कि वास्तवमें उन्हींका दिया हुआ है । उन सबके द्वारा प्रेमी वही काम करता है जो प्रेमास्पद प्रभुको प्रसन्न करनेवाला हो । प्रेमी अपने-आपको भगवान्की प्रसन्नताके लिये—उनको सुख देनेके लिये ही समर्पण करता है । उसका दूसरा कोई भी लक्ष्य या उद्देश्य नहीं होता ।

सब प्रकारके सुखोंकी इच्छाका त्याग करनेसे प्रेमीको अपने प्रेमास्पदसे वह प्रेम-रस, जो नित्य नया रहता है, जिसका कभी अन्त नहीं होता और जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती, अनवरत मिलता रहता है ।

(१८)

पहले यह बात कही गयी थी कि कर्तव्यरूपसे प्राप्त कार्यको धैर्य और उत्साहपूर्वक पूरा कर देनेसे करनेकी वासना मिटकर स्वतः ही सहज निवृत्ति प्राप्त होती है और साधकका चित्त शुद्ध होता चला जाता है ।

अब यह विचार करना चाहिये कि मनुष्यका हरेक कार्य, उसकी हरेक प्रवृत्ति, शुद्ध और सही अर्थात् जैसी होनी चाहिये, ठीक वैसी कैसे हो ? विचार करनेपर मालूम होगा, हरेक प्रवृत्तिके पहले कर्ताके मनमें उसमें प्रवृत्त होनेका संकल्प उत्पन्न होता है । अतः प्रवृत्तिकी शुद्धिके लिये संकल्पकी शुद्धि अनिवार्य है ।

बुरे संकल्प और भावनाका त्याग करके, अच्छे संकल्प और अच्छी भावनाको स्वीकार करनेसे संकल्पकी शुद्धि होती है । बुरे संकल्प और बुरी भावना उसको कहते हैं, जिसमें किसीका अहित निहित हो तथा अच्छे संकल्प और अच्छी भावना वे हैं, जिनमें हित

योग, बोध और प्रेम किसी क्रियाका फल नहीं है । इनका सम्बन्ध साधककी चित्त-शुद्धिसे है । चित्त शुद्ध होनेपर योगीको योग, विचारशीलको बोध और प्रेमीको प्रेम स्वतः प्राप्त होता है । चित्तकी शुद्धि जिन महापुरुषोंका भाव शुद्ध हो गया है, उनके सत्सङ्गसे होती है । अतः साधकको चाहिये कि सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त करके अपने साधनका निर्माण करे और उनके आज्ञानुसार तत्परतासे साधनमें लग जाय । अपने प्राणोंसे भी साधनका महत्त्व अधिक समझे ।

सत्पुरुषोंका सङ्ग मिलनेमें प्रारब्धको हेतु नहीं मानना चाहिये । सत्पुरुषोंका सङ्ग भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मिलता है । और हरेक परिस्थितिमें उनकी कृपाका दर्शन करनेसे और उसका आदर करनेसे भगवान्‌की कृपा फलीभूत होती है । अतएव साधकको भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके प्राप्त शक्ति और परिस्थितिके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गकी प्राप्तिके लिये सच्ची अभिलाषाके साथ चेष्टा करते रहना चाहिये । ऐसा करनेसे उसे सत्सङ्गकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है । इसमें कोई संदेह नहीं है ।

अशुभ संकल्पोंके त्यागसे शुभ संकल्पोंकी पूर्ति स्वतः होने लगती है । उससे उत्कृष्ट भोगोंकी प्राप्ति हो जाती है । पर जो साधक अपनेको शुभ संकल्पोंकी पूर्तिके सुखमें आबद्ध नहीं करते, उन्हें सब संकल्पोंकी निवृत्ति-द्वारा योगके रसकी प्राप्ति होती है । जो साधक योगके रसमें भी आबद्ध नहीं होते, उन्हें विवेकपूर्वक सद्गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है । पर जो साधक मोक्षकी भी उपेक्षा कर देता है, उसे परम प्रेमकी प्राप्ति होती है । जो कि वास्तवमें पाँचवाँ पुरुषार्थ है । जिसके प्रभावसे पूर्णब्रह्म, सच्चिदानन्दघन अपनी महिमामें नित्य ज्यों-का-त्यों स्थित रहता हुआ ही जीव-भावको स्वीकार करता है । सम्पूर्ण संसार जिसके एक अंशमें है, वह अनन्त ब्रह्म प्रेमियोंकी गोदमें खेलता है ।

भगवान्‌में जिस प्रकार ऐश्वर्यकी पराकाष्ठा है । उसी प्रकार उनका माधुर्य भी अनन्त है । वे छः दिनकी अवस्थामें पूतनाके प्राण चूसकर ऐश्वर्यकी लीला करते हुए ही, अपनी अहैतुकी कृपासे उसे वह गति भी प्रदान कर देते हैं जो कि बड़े-बड़े तपस्वी, योगियोंको भी बड़ी कठिनाईसे मिलती है। उन्होंने ब्रह्माके अभिमानका नाश करनेके लिये और गौओं तथा गोप-गोपियोंके वात्सल्य-प्रेमकी लालसाको पूर्ण करनेके लिये स्वयं वत्स और वत्सपाल बनकर अपने ऐश्वर्य और माधुर्यको प्रकट करनेवाली कैसी अद्भुत लीला की ।

जो प्रभु अपने प्रेमीके लिये अपनी ऐश्वर्य-शक्तिको भूलकर उसके वशमें हो जाते हैं; अपने प्रेमीको प्रेमास्पद बनाकर स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं । उस प्रेमीके द्वारा प्रेमपूर्वक दिये हुए पत्र-पुष्प, फल-जल आदि साधारण-से-साधारण पदार्थोंके लिये लालायित रहते हैं । उन प्रभुके साथ प्रेम न करके, यह मनुष्य उनसे प्रेम करता है, जो इससे प्रेम करना नहीं चाहते । यह उनको चाहता है, जो इसे नहीं चाहते । उनको अपना मानता है, जो कभी इसके नहीं हुए । इससे बड़ा प्रमाद और क्या होगा ?

हम दूसरोंको किस प्रकार सुधारें—केवल कहकर नहीं प्रत्युत कार्य करके, केवल उपदेश देकर नहीं प्रत्युत उस उपदेशको कार्यान्वित करके, स्वयं उसी प्रकारका जीवन बनाकर, सिद्धान्तकी बात कहकर नहीं । हम जैसा बोवेंगे, वैसा ही काटेंगे । जो बीज बोयी जाती है, वह उसी प्रकारकी चीज पैदा करती है ।—राल्फ वाल्डोट्राइन

अनन्य भक्ति

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानके आधारपर)

भक्तिकी महिमा अतुलनीय है। भक्तिका लक्षण बताते हुए मुनिवर शाण्डिल्यने कहा है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (१ । २) अर्थात् 'ईश्वरे परानुरक्तिः भक्तिः'—ईश्वरमें जो परम अनुराग है, उसका नाम भक्ति है। कोई कहते हैं कि 'भज्' धातुसे भक्ति शब्द बनता है, 'भज् सेवायाम्'—'भज्' धातुका सेवाके अर्थमें प्रयोग होता है, इसलिये भगवान्‌की जो सेवा है उसका नाम भक्ति है। भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना, भगवान्‌की सेवा-पूजा करना, इसका नाम भक्ति है। कोई कहते हैं कि भक्ति वह है जिसका स्वरूप भक्त प्रह्लादजीने बताया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७ । ५ । २३)

श्रीभगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातोंका कानोंसे श्रवण करना यह श्रवण-भक्ति है; वाणीसे उनका कथन करना कीर्तन-भक्ति है तथा मनसे मनन करना स्मरण-भक्ति है। भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपकी पादुकाकी सेवा, चरणोंकी सेवा, चरणामृत लेना, चरणधूलि लेना—यह पादसेवन-भक्ति है। यह पादसेवन-भक्ति मन्दिरोंमें जाकर भी की जा सकती है और घरमें भी कर सकते हैं। घरकी अपेक्षा हृदयरूपी मन्दिरमें या आकाशमें भगवान्‌के स्वरूपकी स्थापना करके मानसिक भावसे भगवान्‌की चरण-सेवा आदि करना और भी उत्तम है। अथवा भगवान्‌को सब जगह व्यापक समझकर या सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबके चरणोंकी सेवा करना सर्वोत्तम पादसेवन है। मन्दिरोंमें या घरमें पूजा करनेकी अपेक्षा हृदयरूपी मन्दिरमें भगवान्‌की स्थापना करके पूजा करना या नेत्रोंको बंद करके आकाशमें—भगवान्‌के स्वरूपकी स्थापना करके मनसे भगवान्‌की पूजा करना बहुत ही उत्तम है। उससे भी उत्तम है गीताके अठारहवें अध्यायके ४६ वें श्लोकके आधारपर समस्त ब्रह्माण्डमें भगवान् विराजमान हो रहे हैं—यों समझकर अपने मानसिक भावोंसे या कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा-पूजा करना, यह अर्चन-भक्ति है। मन्दिरोंमें जाकर भगवान्‌को नमस्कार करना, घरमें भगवान्‌की मूर्तिको नमस्कार करना या भगवान्‌के स्वरूपको मनसे स्थापना करके नमस्कार करना या सारी दुनियाको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको मनसे नमस्कार करना—यह वन्दन-भक्ति है। ये छहों क्रियारूप हैं और दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन—ये तीनों भावरूप हैं। भगवान् हमारे स्वामी और हम उनके सेवक—यह दास्यभाव है। प्रभु हमारे मित्र और हम उनके मित्र—यह सख्यभाव है। तथा प्रभुको सर्वत्र समझकर अपना तन, मन, धन—सर्वस्व प्रभुके समर्पण कर देना—यह आत्मनिवेदन-भाव है।

ये जो भक्तिके नौ प्रकार बताये हैं, इनमेंसे एक प्रकारकी भक्ति भी निष्कामभावसे अच्छी प्रकार की जानेपर कल्याण करनेवाली है, फिर जिसमें भक्तिके नवों प्रकार हों, उसका तो कहना ही क्या है। जैसे प्रह्लादजीमें नौ प्रकारकी भक्ति थी, वैसे ही भरतजीमें भी थी। यह 'श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति' नामक एक लेखके द्वारा बताया गया है।

वस्तुतः ये बहुत ही उत्तम साधन हैं। इन सबका फल है—भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना। भगवान्‌में अनन्य प्रेम होना बहुत उच्चकोटिकी भक्ति है। भक्तिके

विषयमें जितनी बातें बतलायी गयीं, ये सभी ठीक हैं। इनमेंसे जिसकी जिसमें रुचि और इच्छा हो, उसीको वह कर सकता है और उसीमें उसके लिये विशेष शुभ है। भगवान्‌ने अनन्य भक्तिका माहात्म्य और स्वरूप बताते हुए गीताके ग्यारहवें अध्यायके ५४ वें और ५५ वें श्लोकोंमें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार (चतुर्भुज रूपवाला) मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

रामायणमें श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

'वह मेरा अनन्य भक्त है, जिसकी मति यानी बुद्धि इस सिद्धान्तसे कभी हटती नहीं कि जो कुछ चराचर है, सब मेरे स्वामी भगवान्‌का ही स्वरूप है और मैं उनका सेवक हूँ।'

यदि कहा जाय कि इसमें किसका कथन ठीक है तो इसका उत्तर यह है कि सभी ठीक है। जिसको जो अच्छा लगे, वह उसीका अधिकारी है। जिसमें जिसकी श्रद्धा और रुचि आदि हो, वही उसके लिये विशेष लाभप्रद है।

ये सब बातें संक्षेपसे भक्तिके विषयमें कही गयीं। भक्तिका प्रकरण बहुत बड़ा है। यह तो अत्यन्त संक्षेपसे बताया गया है। वास्तवमें भक्तिके सभी साधनोंका फल भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम होना है। यही असली भक्ति और यही अनन्य शरण है। इसकी कसौटी यह है कि वह फिर भगवान्‌को भूल नहीं सकता। वास्तवमें भगवान्‌का वियोग उसके लिये मरणके समान असह्य है। श्रीनारदजीने कहा है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। (नारदभक्ति-सूत्र १९)

'देवर्षि नारदके मतसे तो अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।'

यही असली प्रेम है। जैसे लक्ष्मणजीका भगवान्‌में अनन्य प्रेम था तो लक्ष्मणजी भगवान्‌के वियोगको सहन नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार भरतजी, शत्रुघ्नजी, सीताजी, हनुमान्‌जीका भी ऐसा ही प्रेम था कि वे भगवान्‌से अलग होना नहीं चाहते थे और न होते थे। कभी अलग रहनेका काम पड़ा है तो परम श्रद्धाके कारण भगवान्‌की आज्ञाको मानकर निरुपाय होकर रहना पड़ा है। लक्ष्मणजी और सीताजीने तो आज्ञा-पालनके विषयमें प्रतीकार भी किया है। भगवान्‌ने लक्ष्मणजीसे कहा—'भैया! तू यहीं रह। यहाँ भरत और शत्रुघ्न नहीं हैं, मैं भी यहाँ नहीं रहता हूँ। ऐसी परिस्थितिमें पिताजीके लिये कोई आधार नहीं है, इसलिये तेरा यहाँ राज्यमें ही रहना उचित है।' इसपर लक्ष्मणजी बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥

'हे नाथ! आपने ठीक बात कही कि तू यहीं रह। सो मैं यहाँ ही रहनेलायक हूँ; क्योंकि इस विषयमें मुझे अपनी कायरता प्रतीत होती है। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ वियोग हो नहीं सकता। यदि आपके वियोगमें मेरे प्राण चले जाते तो आप मुझे कभी छोड़कर नहीं जाते। आप छोड़कर जायँगे और मैं

जीता रहूँगा—यही समझकर आप मुझे छोड़ रहे हैं। वास्तवमें मेरा प्रेम होता, आपके वियोगमें मेरे प्राण न रहनेकी सम्भावना होती तो मुझे यहाँ रहनेके लिये आप कभी नहीं कहते। मैं आपके बालकके समान हूँ, आपके प्रेमसे पला हुआ हूँ, मुझे आप अलग न करें।'

भगवान्‌ने सोचा कि वास्तवमें हमारे वियोगमें यह प्राणोंका त्याग कर देगा; इसलिये उन्होंने कहा—'भैया! माता सुमित्राकी आज्ञा लेकर चले आओ।' इसपर लक्ष्मणजीने जाकर मातासे आज्ञा माँगी। माताने हर्षके साथ आज्ञा दी और कहा—'मैं आज धन्य हूँ, आज पुत्रवती हूँ।'

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥

'वही नारी पुत्रवती है, जिसका पुत्र भगवान्‌का भक्त है। तू भगवान्‌की सेवाके लिये जाता है, अतः मैं धन्य हूँ।' और कहती है—

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

'हे प्यारे! तेरे ही भाग्य खुले हैं, तेरे ही लिये राम वनमें जाते हैं और दूसरा कोई कारण नहीं है। मन्थरा और कैकेयी आदिका जो कारण है, वह तो एक निमित्तमात्र है। वास्तवमें रामके वन जानेमें तू ही कारण है। तुझको वहाँ सेवाका अवसर अधिक मिलेगा। बेटा! मैं आज्ञा देती हूँ। मेरा यही आशीर्वाद है, मेरा यही उपदेश और आदेश है कि तू वनमें जाकर उनकी सेवा कर। सीताको मेरे समान अर्थात् माँके समान और रामको पिताके समान समझकर सेवा करना, जिससे उन्हें वनमें क्लेश न हो। बेटा! जहाँ राम हैं, वहीं अयोध्या है; जहाँ सूर्य हैं, वहीं दिन है।' इस प्रकार माता सुमित्राने लक्ष्मणजीको उपदेश देकर वन जानेकी आज्ञा दी। तब लक्ष्मणजी हर्षपूर्वक श्रीरामके साथ वनमें चले गये।

यदि कहें कि लक्ष्मणजी बादमें भी दूसरी जगह गये हैं, उस समय उनके प्राण क्यों नहीं गये तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌में परम श्रद्धा होनेके कारण उस समय वे भगवान्‌की आज्ञा मानकर गये हैं, इसलिये कोई दोष नहीं है; किंतु वास्तवमें भगवान्‌ने जब लक्ष्मणजीका त्याग कर दिया तो लक्ष्मणजीने तुरंत अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। वाल्मीकीय रामायणके उत्तर-काण्डमें कथा आती है कि जब काल भगवान् श्रीरामके पास आये, उस समय उन्होंने भगवान्‌से यह स्वीकार करा लिया था कि 'हमारी बातचीत एकान्तमें होगी। उसके बीचमें कोई नहीं आयेगा और यदि आयेगा तो उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा।' पर लक्ष्मणजी दुर्वासाजीके कोपके कारण यह निश्चय करके कि, ये कुटुम्बको भस्म कर डालेंगे, भगवान्‌के पास चले गये। भगवान् श्रीरामने सोचा कि अब क्या किया जाय। भगवान्‌ने वशिष्ठजीसे पूछा तो उन्होंने कहा कि 'भाईका त्याग करना वधके समान है।' इसलिये श्रीरामने लक्ष्मणजीका त्याग कर दिया। इसपर लक्ष्मणजीने सरयूके किनारे जाकर अपने प्राणोंको छोड़ दिया। याद रखना चाहिये कि महान् पुरुषके द्वारा जिसका त्याग हो जाता है, वह उसके लिये मरनेसे भी बढ़कर है।

इसी प्रकारकी भक्ति थी श्रीसीताजीकी। भगवान् श्रीरामने वन जाते समय सीताको वनके भयंकर कष्टोंको बतलाकर सास-ससुरकी सेवाके लिये अयोध्यामें रहनेका अनुरोध किया, किंतु सीताने कहा—'प्रभो! आपने जो ये वनके बहुत क्लेश बताये, ये आपके वियोगके सामने कुछ भी नहीं हैं। बल्कि—

भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

'हे नाथ! संसारके भोग रोगके समान हैं, गहने भाररूप हैं और संसार यम-यातनाके समान प्रतीत होता है।'

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

'आप मुझे बार-बार यहाँ रहनेके लिये कहते हैं, इन वचनोंको सुनकर मेरा हृदय नहीं फटता है तो मैं समझती हूँ कि मेरा हृदय वज्रके समान कठोर है। मुझे प्रतीत होता है कि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे और मैं संसारमें जीती रहूँगी, आपके वियोगमें मरूँगी नहीं। यदि आपको यह विश्वास होता कि सीता मेरे वियोगको नहीं सह सकेगी तो आप मेरा कभी त्याग नहीं करते।' इससे महाराज प्रसन्न हो गये और वनमें साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

ध्यान दीजिये श्रीसीताजीका कैसा आदर्श व्यवहार है। यदि कहें कि सीताजी रावणके यहाँ सालभर रहीं, तब उनके प्राण क्यों नहीं चले गये? प्रेम था तो श्रीरामके वियोगमें जीवित कैसे रहीं? तो इस विषयमें श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें लिखा है कि उस समय उनके जीनेका कारण यह था कि वे भगवान्‌का ध्यान कर रही थीं, प्राण मानो कारागारमें बंद हो गये थे। वह ध्यान ही उस कारागारका कपाट था और भगवान्‌के नामका निरन्तर जप चौकीदार (पहरेदार) था। फिर प्राण किधरसे निकलें? प्राणोंके जानेके लिये कोई रास्ता ही नहीं रहा। इसपर यदि कोई कहे कि यहाँकी बात तो ठीक है, किंतु वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डमें लिखा है कि लोकापवादके कारण श्रीरामने सीताजीका त्याग कर दिया था। उस समय वे कैसे जीवित रहीं? इसका उत्तर यही है कि भगवान्‌में परम श्रद्धा होनेके कारण भगवान्‌की आज्ञा मानकर ही उन्होंने प्राणोंको रक्खा। जैसे परम श्रद्धाके कारण भरतजी श्रीरामके वियोगमें चौदह वर्ष नन्दिग्राममें भगवान्‌की आज्ञा मानकर रहे, इसी प्रकार सीताजी भी भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवान्‌के वंशकी रक्षाके लिये वाल्मीकि-आश्रममें रहीं। सीताजीने लक्ष्मणजीसे स्पष्ट कह दिया था कि 'लक्ष्मण! मैं अपने शरीरका त्याग कर देती, पर मेरे उदरमें श्रीरामका अंश है। मैं मर जाऊँगी तो श्रीरामचन्द्रजीका वंश नहीं चलेगा। अतएव वंशकी रक्षाके लिये मैं अपने प्राणोंको रक्खूँगी। मेरी ओरसे महाराजको कुशल कहना। पतिकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है। मेरे त्यागसे यदि महाराजका लोकापवाद दूर होता है तो मुझे उसीमें संतोष करना चाहिये। स्त्रीके लिये पति ही परम देवता है, पति ही परम बन्धु है और पति ही परम गुरु है। पतिका प्रिय कार्य करना और उसीमें प्रसन्न रहना स्त्रीका परम धर्म है।' इस प्रकारके भावको रखकर सीताजीने जीवन बिताया था।

इसी प्रकार भरतजी और शत्रुघ्नजीके विषयमें भी यही समझना चाहिये। भरतजी अयोध्यामें गये तो भगवान्‌की आज्ञा मानकर गये। फिर भी भरतजीने कहा—'चौदह वर्षके आधारके लिये अपनी चरण-पादुका दे दीजिये।' तब भगवान्‌ने चरणपादुका दे दी। उस चरण-पादुकाको सिरपर धारण करके भरतजीने कहा—'चौदह वर्षकी अवधिके शेष होनेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन यदि आप अयोध्यामें न पहुँचेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा।'

ध्यान देना चाहिये—भरतजीकी कितनी उत्तम श्रद्धा और प्रेम है। यह प्रेमकी उत्तम पराकाष्ठा है। हम-लोगोंका भी भगवान्‌में वैसा ही प्रेम होना चाहिये, जैसा कि भरतजी, शत्रुघ्नजी, लक्ष्मणजी और सीताजीका था। हनुमान्‌जी तो सर्वदा भगवान्‌के साथ रहते ही थे। हनुमान्‌जी आदिका दास्यभाव था। सीताजीका माधुर्यभाव था। सभी भाव उत्तम हैं। किसी भी भावसे भगवान्‌की भक्ति करे, अन्तमें वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

श्रीशत्रुघ्नजीके भावको श्रीभरतजीके समान ही समझना चाहिये। भरतजीकी कथा जो रामायणमें आती है, उसके साथ-साथ शत्रुघ्नजी तो रहते ही हैं। वाल्मीकीय रामायणमें शत्रुघ्नजीकी कहीं-कहीं अलग भी कथा आयी है। जिस समय लवणासुरके विजयका

प्रसङ्ग आया, उस समय भगवान् श्रीरामने कहा—'लवणासुरपर विजय प्राप्त करने कौन जाता है ?' इसपर भरतजी बोले—'लवणको मैं मारूँगा, कृपया मुझे यह काम सौंपा जाय।' भरतजीके ये वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने कहा—'रघुनन्दन ! मँझले भैया तो अनेकों कार्य कर चुके हैं, नन्दिग्राममें कष्ट भी बहुत उठा चुके हैं। अब इन्हें और कष्ट न दिया जाय।' भगवान्ने कहा—'बहुत अच्छी बात है। शत्रुघ्न ! तुम जाओ और लवणासुरको मारकर तुम वहीं राज्य करो। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसके विरोधमें कोई उत्तर न देना।' शत्रुघ्नजीने जब यह बात सुनी तो वे बड़े लज्जित हुए और बोले—'नाथ ! यद्यपि बड़े भाइयोंके रहते छोटेका अभिषेक युक्त नहीं है, तथापि मुझे तो आपकी आज्ञाका पालन अवश्य करना है। वास्तवमें मँझले भैया भरतजीके प्रतिज्ञा कर चुकनेपर मुझे कुछ बोलना ही नहीं चाहिये था, पर मेरे मुँहसे 'लवणको मैं मारूँगा' ये अनुचित शब्द निकल गये, इसीसे मेरी यह (आपके वियोगरूप) दुर्गति हो रही है।' फिर दुःखित हृदयसे शत्रुघ्नजी वहाँ गये और लवणासुरको मारकर वहाँका शासन करते रहे। जब भगवान् श्रीराम परम धाम पधारनेको तैयार हुए, तब इस बातको सुनकर शत्रुघ्नजी भगवान्के पास आये और हाथ जोड़कर बोले—'महाराज ! मैं आपके साथ चलनेका दृढ़ निश्चय करके यहाँ आया हूँ, आज इसके विपरीत आप कुछ न कहियेगा; क्योंकि इससे बढ़कर मेरे लिये कोई दूसरा दण्ड न होगा। मैं नहीं चाहता कि मेरे द्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन हो।'

विचार कीजिये, शत्रुघ्नजीका भगवान् श्रीरामके साथ रहनेका कितना प्रबल आग्रह था। इसी प्रकार अन्य सब भाइयोंका और सीताजीका भी यही आग्रह था कि हम भगवान्के साथ ही रहें। श्रीहनुमान्जीका भी यही भाव था; किंतु महाराजने हनुमान्को संसारका हित करनेके लिये विशेष आज्ञा दे दी कि 'हनुमान् ! तुम यहीं रहना।' जिसका उच्चकोटिका प्रेम होता है, वह अपने प्रेमास्पदसे अलग नहीं रहना चाहता; और प्रेमास्पदसे अलग रहना हो भी कैसे सकता है तथा भगवान्के बिना वह जी भी कैसे सकता है ?

अब पुनः भरतजीकी ओर ध्यान देकर देखिये। जब भगवान् श्रीरामके अयोध्या लौटनेमें विलम्ब हो रहा है तो उस समय भरतजी विरहमें व्याकुल होकर मन-ही-मन कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

'प्रभु अपने दासोंके दोषकी ओर नहीं देखते, वे दीनोंके बन्धु हैं; मैं दीन हूँ, वे कोमल हृदयवाले हैं; इसलिये वे अपनी ओर देखेंगे।'

मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

'मेरे मनमें दृढ़ विश्वास है कि मुझे भगवान् अवश्य मिलेंगे और शकुन भी शुभ होते हैं।'

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

'अवधि बीत जाय और भगवान् न पहुँचें तो मेरे देहमें प्राण नहीं रहेंगे। यदि रह जायँ तो फिर मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं है।' इस प्रकार मन-ही-मन विचार कर रहे थे और उनकी ऐसी दशा हो गयी कि—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

रामका जो विरह है, यही सागर है, भरतका मन उसमें निमग्न हो गया। उस समय जैसे डूबते हुएके लिये नौका आ जाती है, इसी प्रकार हनुमान्जी ब्राह्मणका रूप धारण करके भरतके लिये आ पहुँचे और सूचना दी कि 'भगवान् श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजीसहित पधार रहे हैं।' इस बातको सुनकर भरतजीकी प्रसन्नताकी कोई सीमा नहीं रही। जैसे कोई

मछली तड़फती हो और उसे जलमें डाल देनेसे उसके प्राण बच जाते हैं, वैसी ही दशा भरतजीकी हुई। समझना चाहिये कि भरतजीका कितना उच्च कोटिका प्रेम था कि भगवान्के वियोगमें एक क्षण भी उन्हें युगके समान प्रतीत होता था। यह है प्रेमकी पराकाष्ठा।

अब गीतोक्त भक्तिके विषयमें कुछ समझिये। गीतामें जो भक्तिकी बातें आयी हैं, वे सभी बहुत ही उत्तम हैं। उनमेंसे किसी भी अंशको आप धारण कर लें तो आपका कल्याण होना सम्भव है। गीतामें ऐसे बहुत-से श्लोक हैं, उनमेंसे एक भी श्लोक धारण कर लें तो कल्याणमें शङ्का नहीं है।

केवल 'मन्मना' भावसे परमात्माकी प्राप्ति

एक श्लोक ही नहीं, एक चरण भी धारण कर लें, एक पद भी धारण कर लें तो भी कल्याण हो सकता है। जैसे—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसे करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

इन चार बातोंको धारण करनेसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु इस श्लोकके एक पादको धारण करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; जैसे 'मन्मना भव'—'मुझमें मनवाला हो।' यह गीतामें और अन्य शास्त्रोंमें भी जगह-जगह बताया है।

केवल स्मरणमात्रसे परमात्माकी प्राप्ति

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

केवल पूजासे परमात्माकी प्राप्ति

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

केवल नमस्कारसे परमात्माकी प्राप्ति

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महा० शान्ति० ४७। ९१)

'एक बार भी श्रीकृष्ण भगवान्को नमस्कार किया जाता है, वह दस अश्वमेध यज्ञोंके अवभृथ-स्नानके समान है। दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाला तो उसके फलको भोगकर पुनः वापस आता है, किंतु जो भगवान्को नमस्कार करनेवाला है, वह लौटकर वापस नहीं आता।'

केवल भक्तिसे परमात्माकी प्राप्ति

फिर भगवान्की भक्ति करनेवाला भक्त भक्तिसे भगवान्को प्राप्त हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। गीतामें बताया है—

'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(७। २३)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इससे यह सिद्ध है कि भक्तिके एक अङ्ग तथा शरणागतिके एक अङ्गसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌की शरणका जहाँ प्रकरण आता है, वहाँ भक्तिका भी उसमें अन्तर्भाव है (गीता ९ । ३४) और जहाँ भक्तिका प्रकरण है, वहाँ शरणका उसमें अन्तर्भाव है (गीता ११ । ५५) । समझना चाहिये कि भक्तिके जो लक्षण हैं, प्रायः वे ही शरणागतिके हैं और जो शरणागतिके लक्षण हैं, वे ही प्रायः भक्तिके हैं। शरणागतिके और भक्तिके लक्षण—दोनों लगभग एक-से ही प्रतीत होते हैं। इसलिये हमें भगवान्‌के शरण होकर—भगवान्‌का भजन-ध्यान करके अपना जीवन बिताना चाहिये। इससे हमारे आत्माका कल्याण बहुत शीघ्र हो सकता है । और कुछ भी न बने तो निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को निरन्तर स्मरण रखना चाहिये तथा भगवान्‌के स्वरूपको याद रखकर पुनः-पुनः मुग्ध होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के स्वरूपका जो ध्यान और स्मृति है, वह अमृतके समान रसमय, आनन्दमय और प्रेममय है । इसी प्रकार भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप आदि भी अमृतके समान रसमय, आनन्दमय और प्रेममय हैं। इस प्रकार हमलोगोंको हर समय उनका रसास्वाद करते रहना चाहिये। उन्हें कभी नहीं भूलना चाहिये। यह जो भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनकी बात कही गयी, सो सब मानसिक है, अतएव मनसे ऐसा करना चाहिये। मनसे जो ऐसा करना है, वह मनसे भगवान्‌में रमण करना है। इस रमणका फल भगवान्‌की प्राप्ति है। भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर जो भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप आदि प्रत्यक्ष होते हैं, वे तो अत्यन्त अलौकिक हैं। इसलिये साधकको साधनकालमें भगवान्‌के स्वरूपमें मनसे रमण करना चाहिये। जब मनुष्य इस प्रकार ध्यान करके मनसे भी भगवान्‌में रमण करता है, तो उसको अद्भुत अलौकिक आनन्द होता है । ऐसा आनन्द कहीं भी नहीं हो सकता। भगवान्‌का जो प्रत्यक्ष सगुण-साकार स्वरूप है, वह बहुत ही मधुर है। इसलिये उन्हें माधुर्य-मूर्ति कहते है । उन माधुर्य-मूर्तिका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन—ये सभी आनन्दमय और अमृतमय हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर अपना सारा जीवन भगवान्‌की अनन्य भक्तिमें बिताना चाहिये। जो मनुष्य इस बातको समझकर भी विषयभोगोंमें रमण करते हैं, वे मूर्ख, गये-बीते और पामर हैं, वे संसारके विषयभोगरूपी धूल चाट रहे हैं, वे धिक्कार देनेयोग्य और निन्दा करनेयोग्य हैं। ऐसा अवसर पाकर भी—इस प्रकार भगवान्‌की कृपा (दया) होकर भी यदि हम मुक्तिसे वञ्चित रह जायँ तो हमारे लिये बहुत ही शोक, दुःख और लज्जाकी बात है; क्योंकि आगे जाकर इसके लिये हमें घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

कामना

वाणीमें हो सत्य हमारे मनमें भी हित सबका हो।
जन्म-जन्मके जटिल कर्मका बंधन सब ही हलका हो॥
सात्त्विक भोजन, संयत जीवन, हरि-गुण-गणकी चर्चा हो।
पत्र, पुष्प, फल, जल आदिकसे दिव्य रूपकी अर्चा हो॥

—कृष्णदत्त भारद्वाज

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(६८)

नागवधुओंकी उस स्नेहपूरित भर्त्सनाका भी श्रीकृष्णचन्द्र-पर कोई प्रभाव न हुआ, अपितु हँस-हँसकर वे अब अपने चञ्चल कर-कमलोंसे जल बिखेरने लगे। इतना ही नहीं, पलक गिरते-गिरते वे ह्रदके वक्षःस्थलपर उठ आये और मानो संतरण करने जा रहे हों, इस भावसे भुजा फैलाकर जलको थपथपाने लगे। और फिर उनका वह श्यामल कलेवर उस विशाल ह्रदमें सर्वत्र घूमने लगा। वे यथेच्छ विचरण करने लगे। मत्त गजेन्द्रकी भाँति उनका जलविहार आरम्भ हुआ। भुजाओंसे एवं पद-संचालनके द्वारा जल अत्यधिक आलोडित हो गया; एक साथ ही अगणित आवर्त बन गये; तलदेशका जल ऊपर एवं ऊपरका प्रवाह तलदेशकी ओर प्रसरित होने लगा। कालिय-आवासको अस्त-व्यस्त बनाती हुई सहस्रों धाराएँ परस्पर नीचे-ऊपर टकराने लगीं। उनकी चपेटमें आकर सर्पावास सब ओरसे उलटने-सा लगा; कालियके कुटुम्बी सर्पगण अर्धमृत-से होने लगे। तथा लीलाविहारी व्रजेन्द्रनन्दनकी तो यह क्रीड़ा थी, वे जलको पीट-पीटकर जल-वाद्यका स्वर निकाल रहे थे। किंतु कालिय-शयनागारमें यह ध्वनि भीषण वज्रपातके रूपमें व्यक्त हो रही थी, सबके कान फटे जा रहे थे।

अचानक एक उठे हुए आवर्तने निद्रित कालियको स्पर्श किया—ऐसे प्रचण्ड वेगसे कि उसे सर्वथा बाहरकी ओर फेंक दे। और फिर इस झकझोरसे जैसे ही उसकी कराल आँखें खुलीं कि वह अत्यन्त भयावह वज्रनाद-सा शब्द भी उसके कर्णछिद्रोंमें पूरित हो गया। नेत्र तो उसके खुले थे ही एवं उसी पथसे जलताड़नकी ध्वनि भी प्रविष्ट हो रही थी। पर वह कुछ भी निर्णय न कर सका कि यह जलीय झंझावात क्यों, कैसे उत्थित हुआ। साथ ही विविध आशङ्काओंसे अभिभूत होकर वह उद्विग्न हो उठा। 'गरुड़ तो नहीं आ गये? नहीं, वे नहीं आ सकते। सौभरिके शापका वे अतिक्रमण कर सकें, यह सम्भव नहीं! हाँ, गरुड़की अपेक्षा भी अत्यधिक पराक्रमशाली ही कोई यहाँ आनेका साहस कर सकता है! पर वह है कौन?'—इस चिन्तामें कालियके प्राण चञ्चल हो उठे। मनमें रोष भी भरने लगा; क्योंकि वह स्पष्ट देख रहा है—'इस उद्वेलनमें पड़कर सम्पूर्ण सर्पावास ही छिन्न-भिन्न जो होने जा रहा है। असह्य है यह। तथा क्षणभरका विलम्ब भी न जाने क्या परिणाम उपस्थित कर दे!'—इस प्रकार अधीर होकर कालिय अपने आवासगर्तसे चलकर आखिर बाहर निकल आया। ह्रदके ऊपर आकर उसने अपने फण विस्तारित कर लिये और तब उसकी कराल दृष्टि अपने प्रतिद्वन्द्वीपर पड़ी। फिर तो वह उस ओर ही लपक पड़ा—

अति ऊधम सुनि काली डरयौ, वज्र परयौ कि गरुर बल करयौ।
अरग अरग आयौ रिस भरयौ, कोमल कुँवर दिष्टि-पथ परयौ॥

> तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्ण-
> वार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य।
> आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य
> चक्षुःश्रवाः समसरत्तदमृष्यमाणः॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।१६।८)

विष कषाय जल घोर तरंगा। ता महँ कृष्न खेल बहु रंगा॥
हरि भुज दंड पात जल घोषा। जनु गज मत्त खेल सह रोषा॥
सो निज सदन सुन्यो अहिराजू। सहि नहि सक्यो पराभव काजू॥
रोष सहित धायो खल आसू। सीघ्र आइगो कृष्न सुपासू॥

किंतु—'अरे! यह तो एक शिशु है। सौन्दर्यका निर्झर झर रहा है इसके अङ्गोंसे! कैसा नयन-सुखद सुकुमार है यह! नवजलधरकी श्यामलता भरी है इसकी अङ्गकान्तिमें! वह नीलिमा प्रतिबिम्बित हो रही है ह्रदकी ऊर्मियोंमें। सम्पूर्ण ह्रद ही उस श्याम द्युतिसे उद्भासित हो रहा है। कहाँ गयी इसकी वह विषज्वाला! अब यहाँ तो सर्वत्र सुधाका प्रसरण है; शिशुके अङ्गोंसे प्रसरित आनन्दका प्रवाह है। शिशुके श्याम कलेवरके कटिदेशमें पीताम्बर परिशोभित है। सुविस्तीर्ण वक्षःस्थलपर कैसी शोभा है, स्वर्णाभ दक्षिणावर्त सूक्ष्म रोमराजि (श्रीवत्सचिह्न) की। वेगपूर्ण संतरणके आवेशमें श्रीवत्ससे सटे हुए पीताभ उत्तरीयकी। मृदु-हास्य-समन्वित कितना सुन्दर इसका मुखकमल है। कमलकोशसे भी अधिक सुकोमल कैसे इसके अरुण चरण हैं!'—कालिय एक बार तो विथकित-सा रह गया। आगे बढ़नेकी उसकी गति रुक-सी गयी। पर आसुरी सम्पदासे पूरित हृत्तलमें शुभ भावनाएँ स्थिर होतीं जो नहीं। वैसे निमित्त पाकर वस्तुशक्तिके प्रभावसे विद्युत्-रेखा-सी एक ज्योति जग

उठती है, सत्यके प्रकाशसे हृत्तल आलोकित हो उठता है। किंतु पुनः तिमिरका घन आवरण पूर्वकी भाँति ही छा लेता है और प्राणी प्राकृत प्रवाहमें ही बहने लगता है। यही दशा कालियकी हुई। लीलाशक्तिकी अचिन्त्य प्रेरणासे क्षणभरके लिये सर्पके तमोमय हृदयमें एक, अत्यधिक छोटा-सा छिद्र बन गया; नीलसुन्दरके अप्रतिम सौन्दर्यकी एक रेखा उस छिद्रसे झलमल कर उठी। किंतु पुनः कालियने उस द्वारको रुद्ध कर लिया। पात्रके अनुरूप ही तो परिणाम होना चाहिये और हुआ ही। कालियने देखा—'इतना कर लेनेपर भी शिशुकी आँखोंमें भयका लेश नहीं; सर्वथा निर्भय रहकर वह उद्दाम क्रीड़ामें तन्मय हो रहा है।' बस, उसके रोषमें आहुति पड़ गयी, क्रोधकी अग्नि धक्-धक् कर जल उठी। अपने-आप उसके सभी फण ऊपर उठ गये; उसके जलते हुए श्वाससे ह्रद धूमिल हो उठा; मुखसे प्राणहारी विषकी धारा बह चली और इस भयङ्कर वेशमें वह श्रीकृष्णचन्द्रको काट खानेके लिये दौड़ चला। वह नहीं जानता—किसकी ओर, किसे भस्म करनेके उद्देश्यसे जा रहा है। वह जान ही कैसे सकता है—

नाकौं कह जानें यह नीच। लोचन मेरे महा तम कीच॥

वह तो क्या; कोई भी इस वेशमें नीलसुन्दरको देखकर पहचान ही नहीं सकता। वे अपने अनन्त ऐश्वर्यको सर्वथा किनारे रखकर मुग्ध बाल्यलीला-विहारमें तन्मय जो हो रहे हैं—

विहरत विभु अपने रस-रंग। ईस्वरता कछु नाहिंन संग॥

अस्तु, अब कालियको देखते ही बाल्यलीलाविहारी तो भाग चले—भयसे नहीं, उसे और भी कुपित कर देनेके लिये। बायें, दाहिने मुड़ते हुए हँस-हँसकर जल पीटते हुए वे भागे जा रहे हैं तथा उनके पीछे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर कालिय दौड़ रहा है। पद-पदपर उन्हें छू लेनेकी सम्भावना नागको हो जाती है, पर पुनः तिलमात्रकी दूरी बचाकर नीलसुन्दर बच निकलते हैं। भला, युग-युगके साधनश्रमसे पूत हुए अपने समाधि-सिद्ध चित्तमें अगणित योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी क्षणभरको जिनका साक्षात्कार कर लेनेके लिये लालायित रहते हैं, उन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रको काट खानेके लिये कालिय उनके पीछे प्रत्यक्ष भागा जा रहा है—यह कितनी आश्चर्यमयी घटना है। बलिहारी है बाल्यलीलाविहारीके इस कृपादानकी। और वह देखो, वहाँ उनके चरणसरोजके स्पर्शका सौभाग्य भी उस नीचको मिल ही गया—उन अरुण चरण-सरोरुहमें अपने प्राणोंको अनन्तकालके लिये न्यौछावर कर देनेके लिये नहीं, अपितु उसमें अपने विषमय दन्त चुभो देनेके लिये। लीला-महाशक्तिकी योजना भी कैसी विचित्र है। नीलसुन्दर हँसते हुए अपनी बङ्किम चितवनसे, मुड़-मुड़कर कालियकी ओर देखते हुए—मानो श्रान्त हो गये हों; इस प्रकार—मन्द-गतिसे वे संतरण करने लगते हैं और कालिय लपककर उनके पाद-पल्लवमें दंशन कर लेता है, विष उगल देता है।

'अयँ! यह शिशु मेरे दंशनसे भस्म तो नहीं हुआ, यह तो और भी उल्लासमें भरकर पुनः वेगसे वैसे ही ह्रदके जलको क्षुब्ध करने लग गया!'—कालियके विस्मयकी सीमा नहीं रही। पर प्रतीक्षाका अवकाश भी नहीं। जलती हुई आँखोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देख-देखकर उनके सर्वाङ्गमें ही क्रमशः बारंबार उसने दन्तप्रहार करने आरम्भ किये; जानुको क्षत-विक्षत कर देनेकी चेष्टा की, कटिदेशको खण्डित कर देनेका अथक प्रयास किया, नीलसुन्दरके वक्षःस्थलपर न जाने कितनी बार उसने विषमय दन्तके भरपूर आघात किये। पर सभी निष्फल; श्रीकृष्णचन्द्रके श्यामल श्रीअङ्गोंमें कहीं कोई तनिक-सा चिह्न भी अङ्कित न हो सका। नीलसुन्दर सर्वथा क्षत-शून्य बने रहे—मानो कालियके विषदन्तोंका स्पर्श ही उनके श्रीअङ्गोंसे न हो सका हो।

'इस शिशुमें कोई अद्भुत सामर्थ्य अवश्य है।'—कालियकी लाल-लाल आँखोंमें निराशाकी एक छाया-सी आयी। पर अभी तो उसका हृदय शत-सहस्र गर्व-पर्वतोंसे परिपूर्ण है। इतनेसे ही वह हार स्वीकार कर ले, यह तो असम्भव है। इसीलिये इस बार क्रोधकी भट्ठी-सी फूट पड़ी। बड़े वेगसे कालिय झपटा और अपनी अतिशय लंबी देहसे व्रजेन्द्रनन्दनके अङ्गोंको लपेटकर उन्हें चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके उद्देश्यसे भिड़ पड़ा तथा देखते-देखते सचमुच इस बार श्रीकृष्णचन्द्र कालियके उस अत्यन्त विशाल देहसे स्वयं ही पैरसे ग्रीवातक वेष्टित हो गये। उन्हें अपनी कुण्डलीमें लपेटकर कालिय—नीलसुन्दरके मुख-सरोजसे किञ्चित् दूर—अपने फण फैलाये हुए, रोषभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख रहा है और वे कुछ भी प्रतीकार नहीं कर रहे हैं—

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं
श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं
संदश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद॥

(श्रीमद्भा० १०।१६।९)

विहरत देख्यो कृष्न कृपाला । मेघ स्याम तन जनु छबिसाला ॥
दरसनीय सुकुमार सुहावन । पीतबसन जन-मन अति भावन ॥
है धौं कौन संक नहिं नेकू । विहरै मम मंदिर यह एकू ॥
अस बिचारि आवा ढिग आपू । काट्यो पग महँ करि अति दापू ॥
प्रभु तन लपटि गयो सब अंगा । महा क्रूर मद मत्त भुअंगा ॥

इधर मानो क्षणोंमें ही इतनी घटना घटित हो गयी—तटपर अवस्थित गोप-शिशुओंने यही अनुभव किया । 'हमारे कन्नू भैया, उत्तुङ्ग कदम्बसे कूदे, एक बार आधे क्षणके लिये पतनके वेगवश जलके भीतर चले गये, पर तुरंत ही ऊपर उठ आये, उद्दाम जल-विहारमें संलग्न हो गये, वह अत्यन्त भयंकर कालिय भी बाहर निकला, उनके पीछे वह भी दौड़ने लगा, अरे ! हाय रे ! वह फनोंसे हमारे कन्नूको मार रहा है । पर नहीं, हमारा कन्नू तो हँस रहा है । नहीं, हाय रे हाय ! कन्नू भैयाको तो उसने कुण्डलीमें लपेट लिया !'—इतनी बातें वे बालक कुछ क्षणोंमें ही देख गये । किंतु जब नीलसुन्दर कालिय-कुण्डलीमें वेष्टित हो गये, तब उनके प्राण स्थिर रह सकें, यह भी कभी सम्भव है ? इसीलिये एक साथ अगणित कण्ठोंके चीत्कारसे समस्त तट नादित हो उठा, 'हाय रे ...मेरा कन्नू ...!' का अत्यन्त करुण आर्तनाद सुदूर वन-प्रान्तरोंके कण-कणमें गूँज उठा और फिर सर्वत्र ही एक क्षणिक गम्भीर नीरवता छा गयी; क्योंकि उन शिशुओंके बाहर आते हुए प्राणोंने जब यह देख लिया कि नीलसुन्दर कुण्डलीबन्धनमें निश्चेष्ट हो गये हैं, तो वे भी सदाके लिये सो जानेके उद्देश्यसे तत्क्षण ही मूर्च्छामें विलीन हो गये । वहीं, तटपर ही—जहाँ अवस्थित थे—वे असंख्य शिशु भी गिरकर निष्पन्द हो गये । केवल वे ही नहीं, संनिकटवर्ती, व्रजपुरके वयस्क गोप, जो चीत्कार सुनकर दौड़ आये थे, वे भी व्रजेन्द्रनन्दनको नागबन्धनमें बँधे देखकर एक साथ गिर पड़े । आँखें फाड़कर वे एक क्षण तो नन्दनन्दनको उस अवस्थामें देख सके, किंतु वह वेदना उनके हृदयके लिये असह्य हो गयी; उस चिन्ताका भार उनका मस्तिष्क वहन न कर सका । 'नन्दनन्दनके बिना हमें जीवित रहना होगा'—इस भयसे प्राण अभिभूत हो गये, और इन सबोंने मिलकर उनकी बुद्धिका संतुलन नष्ट कर दिया । बस, सँभलनेकी शक्ति समाप्त हो गयी; और समयोचित कर्तव्यकी ओर बढ़नेसे पूर्व वे वयस्क गोप भी शिशुओंके समान ही अचेत हो गये । तथा यह सर्वथा स्वाभाविक ही है । श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त इनकी अन्य कोई साध जो नहीं । इनका सर्वस्व समर्पित है एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रके लिये । श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही इनकी समस्त चेष्टाएँ हैं । इनका सौहार्द है एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति; इनके अन्य सुहृदोंके प्रति भी जो इनका स्नेह है, वह है सर्वथा श्रीकृष्णचन्द्रके निमित्तसे । इनके धन हैं केवल श्रीकृष्णचन्द्र; इनका लौकिक धन भी है केवल श्रीकृष्ण-सेवाकी सामग्री । और जो वयस्क हैं, उन्होंने भी दार-परिग्रह अपने ऐन्द्रिय-सुखके लिये नहीं किया, यह तो एकमात्र श्रीकृष्णकी सेवाके उपकरण एकत्र किये हैं उन्होंने । इनमें अन्य कोई इच्छा नहीं, वासना नहीं; वहाँ उन सबके मनमें केवल विशुद्ध अभिलाषा है—'नीलसुन्दर सुखी हों ।' किंतु जब वे व्रजराजनन्दन ही उनकी दृष्टिके सामने महाघोर विषधर कालियके बन्धनमें आकर स्पन्दहीन, निमीलित नेत्र, शान्त हो गये हैं, उन्हें छोड़कर चले गये दीख रहे हैं तो फिर वे क्यों रहें ?—

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-
मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः ।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा
दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । १०)

सकल अंग अहि लपट्यो देखी । भयो सखन हिय सोच बिसेखी ॥
जिनके कृष्न प्रान-धन-गेहा । सुत-कलत्र सोइ परिजन देहा ॥
अपर न प्रिय जिन कहँ संसारू । एक कृष्न बिनु सकल असारू ॥

भये मूढ बुद्धी बिकल, तन मन सुधि गइ भूलि ।
गिरे भूमिपर तुरित सब, को तिनके सम तूलि ॥

× × × ×

मुरझि परे ठाँ ठाँ सब पैसे । सुन्दर तरु बिन मूलहि जैसे ॥

और उन मूक पशुओंकी—गो-गोवत्स, वृष-महिषोंकी क्या दशा हुई इसे वास्तवमें कौन जान सकता है । उनके पास वैसी वाणी नहीं, जिसके द्वारा वे अपने हृदयकी पीड़ा यथावत् व्यक्त कर सकें । पर वे जिस आर्त स्वरमें डकारने लगते हैं, वह प्राणोंकी व्यथासे पूर्णतया सनकर बाहर आया है—यह तो नितान्त स्पष्ट है ही । निश्चित रूपसे, अपने पालक नीलसुन्दरको इस विपन्न अवस्थामें देखकर उनके प्राण भी रो रहे हैं, इसके प्रमाण हैं उनके नेत्र । उनकी भीतिभरी आँखें लगी हैं नागबन्धनमें बँधे हुए व्रजेन्द्रनन्दनकी ओर तथा उनसे अनर्गल अश्रुप्रवाह बहता जा रहा है !

और तो क्या, इस करुण चीत्कारको सुनकर अरण्यके

पशु—मृग, मृगी आदि भी एकत्रित हो गये हैं; वे भी रो रहे हैं। विहङ्गमोंका समूहतक आर्तस्वरमें कोलाहल कर रहा है। मानो सचमुच ही व्रजपुरके स्थावर-जङ्गम जीवोंके समस्त सुखोंका अवसान हो गया हो—

> गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः।
> कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदत्य इव तस्थिरे॥
> (श्रीमद्भा० १०।१६।११)

> धेनु बच्छ वृष जाति, करहिं सब्द करुना सहित।
> जनु रोवहिं बहु भाँति, देखि नाथ क्रीडा रहित॥
> × × × ×
> जुरे धेनुके वृन्द संवट आवैं।
> करें नाद कौ फेरि हुंकारि धावैं॥
> मृगी आदि पक्षी भये सोककारी।
> लखैं जीव संसार के बेसुधारी॥

देहसिद्धि और पूर्णत्वका अभियान

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०)

मनुष्यकी ज्ञानशक्तिके विकासके साथ-साथ उसके जीवनका चरम आदर्श अस्पष्टरूपमें उसके हृदयमें कभी-कभी भासित हो उठता है। यह आदर्श क्या है, इसे भाषामें व्यक्त करना हो तो अनेकों दिशाओंसे अनेकों नामोंका निर्देश किया जा सकता है। परंतु वस्तुतः कोई भी नाम उस महान् आदर्शको पूर्णतया द्योतन करनेमें समर्थ नहीं है। दुःखनिवृत्ति अथवा आनन्दकी अभिव्यक्ति—ये दो दार्शनिक समाजमें सुपरिचित हैं। बहुतेरे इन्हींको परम पुरुषार्थके रूपमें निःसंकोच स्वीकार करते हैं। परंतु मेरे विचारसे, पूर्णत्वकी प्राप्तिको ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य समझना अधिक युक्तियुक्त है। मनुष्यका जीवन पहलेसे ही नाना प्रकारके बन्धनोंमें बँधा हुआ और आवरणोंसे आच्छन्न है, इसीसे इसकी स्वाधीन स्फूर्ति कभी नहीं हो पाती। इन सारे बन्धनों और आवरणोंसे जबतक मनुष्य मुक्त नहीं हो जाता, वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकता; तथा जबतक इस स्वाधीनताका आविर्भाव नहीं होता तबतक मनुष्यके लिये पूर्णत्वकी प्राप्ति तो दूर रही, पूर्णत्वके मार्गमें पदार्पण भी नहीं होता। पूर्णत्व अत्यन्त दुर्लभ अवस्था है—इसे आजतक किसी मनुष्यने प्राप्त किया है या नहीं, कहा नहीं जा सकता। परंतु उस मार्गमें न्यूनाधिक परिमाणमें कुछ लोग अग्रसर हुए हैं, इसका प्रमाण इतिहाससे मिलता है।

बहुतोंकी यह धारणा है कि जीव जन्म लेकर कर्ममार्गसे चलते-चलते इस जन्ममें हो या भविष्यके किसी दूसरे जन्ममें, किसी-न-किसी समय पूर्णत्वको प्राप्त कर लेता है। यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है, फिर भी इसमें आंशिक सत्य रहस्यसे छिपे हुए रूपमें निहित है। कर्म, अकर्म और विकर्मका सहज ही विभेद करना नहीं बनता। यथार्थ कर्मपथको प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, इसमें संदेह नहीं। परंतु एक बार इस मार्गको प्राप्त करनेपर कर्मके द्वारा ही ज्ञानका विकास होता है। ज्ञानको पृथक्‌रूपसे आहरण नहीं करना पड़ता; वस्तुतः दीक्षाकालमें गुरुदत्त ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-साथ कर्मपथ खुल जाता है। और उसके पश्चात् कर्मका निर्दिष्ट परिमाणमें विकास होनेपर, गुरुदत्त अव्यक्त ज्ञान या ज्ञानशक्ति ज्ञानचक्षु-के रूपमें उन्मीलित हो जाती है, इसीका नाम है—लक्ष्यका उन्मेष। साधारण जीवके लिये लक्ष्यरूपी इस ज्ञानचक्षुके उन्मेषके प्रभावसे निम्नस्तरके समस्त कर्म, जिनके द्वारा चित्त विक्षिप्त और आच्छन्न होता है, नष्ट हो जाते हैं। तब दो अवस्थाओंकी अभिव्यक्ति विकल्परूपसे सम्भव होती है। दुर्बल अधिकारीके लिये पूर्ववर्णित ज्ञानोदयके साथ-साथ एक स्थिति अवस्थाका उदय होता है। इस अवस्थामें साधक प्रकाशघनस्य महाज्योतिमें निष्क्रिय स्वसत्ताको लेकर अचलभावसे अवस्थान करता है। परंतु प्रबल अधिकारीके लिये इस ज्योतिमें क्रमशः अग्रसर होनेका मार्ग मिल जाता है, इसीको योगमार्गमें 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं।

साधारणतः निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञानके उदयके पश्चात् देहमें अवस्थान करना सम्भव नहीं होता। अतएव महाप्रस्थान या महायोगके मार्गमें चलना बनता नहीं। विदेह कैवल्यकी अवस्था प्राप्त करनेके पश्चात् केवली आत्माके लिये किसी प्रकारकी अग्रगति या अवस्थान्तरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। देहसम्बन्धके बिना यथार्थ कर्मका विकास सम्भव नहीं।

जागतिक साधक जिन आध्यात्मिक स्तरों या अनुभूतिके क्षेत्रोंको उपलब्ध करता है, वे सब अज्ञानभूमिके अन्तर्गत

होनेके कारण न्यूनाधिक परिमाणमें जडताके द्वारा आच्छन्न रहते हैं।

इससे यह समझा जा सकता है कि योगीको यथार्थ कर्मपथ ज्ञानचक्षुके खुलनेके बाद ही प्राप्त होता है, उसके पहले नहीं। इस विराट् पथमें चलनेके लिये देहको सुरक्षित-रूपमें अपने अधीन रखना आवश्यक है, क्योंकि यही आद्य धर्म-साधन है अर्थात् रोग, जरा, अकालमृत्यु आदि समस्त विघ्नोंसे देहको मुक्त करके पूर्णत्वके मार्गमें चलना होगा। यह अधिकांश मनुष्योंके लिये अप्राप्य अथवा दुष्प्राप्य है अतएव यथार्थ जीवन्मुक्ति संसारमें इतनी दुर्लभ हो गयी है। साधारणतः जिस अवस्थाको जीवन्मुक्त कहा जाता है उसमें अज्ञानकी आवरणशक्ति न होनेपर भी विक्षेपशक्ति रहती है, यह मानना पड़ता है। विक्षेपशक्तिके रहनेके कारण ही वेदान्तादि अनेकों प्रस्थानोंमें इस प्रकारका एक मत प्रचलित है कि तत्त्वज्ञानके द्वारा प्रारब्धकर्म नष्ट नहीं होते, केवल भोगके द्वारा ही नष्ट होते हैं। इस प्रकारकी जीवन्मुक्ति-अवस्था नित्य नहीं होती; क्योंकि प्रारब्ध भोगका अन्त हो जानेपर देहपात अवश्यम्भावी है। देहान्त होनेपर विदेह कैवल्य उपस्थित होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वह जीवन्मुक्त-अवस्थासे बिल्कुल ही भिन्न है। उस अवस्थामें देह या इन्द्रियाँ आदि नहीं रहतीं।

अतएव योगियोंका सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ उद्यम देहको स्थिर करनेमें ही लगता है। देहस्थैर्यका उद्देश्य होता है देहको जरारहित करके अमरत्व प्रदान करना। देहको स्थिर कर लेनेपर वह फिर चञ्चल नहीं होता और न कभी विकारग्रस्त होता है अथवा मृत्युमुखमें जाता है। संसारके सभी देशोंमें इसी कारण प्राचीन कालमें सम्प्रदायविशेषमें अत्यन्त गुप्तभावसे देह-सिद्धिकी क्रिया साधित होती थी। ईसाई-मतमें सेंट जान तथा चीन देशमें आचार्य ल्याओत्से इस मार्गमें दीक्षित होकर कुछ अंशमें चरम सत्यकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो सके थे। भारतवर्षमें हठयोगियों तथा बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव प्रभृति उपासकोंमें कोई-कोई देह-सिद्धिके रहस्यसे अवगत थे। मध्ययुगके तिब्बतमें कुछ विशिष्ट योगिजनोंको यह ज्ञात था। वायु अथवा मनको स्तम्भित करके अथवा अष्टदश संस्कारके द्वारा संस्कृत पारेके द्वारा देहशुद्धि की जा सकती है। हठयोगकी कुछ मुद्राएँ भी इस क्रियाके लिये उपयोगी होती हैं। यह प्रसिद्ध है कि शङ्कराचार्य-के गुरु गोविन्द-भगवत्पादने रस-प्रक्रियाके द्वारा निज सिद्ध देहको प्राप्त किया था। चौरासी सिद्धोंका इतिहास भारतीय और तिब्बती साहित्यमें सुप्रसिद्ध है। माधवाचार्यने अपने सर्वदर्शनसंग्रहमें 'रसेश्वर दर्शन'पर लिखते हुए प्राचीन कारिकाओंका उद्धरण देते हुए बहुतेरे सिद्धदेहसम्पन्न योगियोंका नामोल्लेख किया है। वे समस्त योगी आज भी अक्षत देहमें विद्यमान रहकर जगत्में सर्वत्र विचरण करते हैं।

आचार्यगण कहा करते हैं कि सिद्धदेहकी प्राप्ति होनेपर वास्तविक जीवन्मुक्ति होती है; क्योंकि उस देहका पतन नहीं होता, अतएव जीवन्मुक्त-अवस्था चिरस्थायी होती है। जीवन्मुक्त-अवस्थाके बाद देहान्त होनेपर कैवल्यके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। जिस देहको प्राप्त करनेपर कभी देह-त्याग नहीं होता, वही यदि जीवन्मुक्ति हो तो कैवल्य या निर्वाणके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। सिद्धमतसे कायसिद्धिके अभावके कारण निर्वाणको स्वीकार किया जाता है। कायसिद्धि प्राप्त हो जानेपर निर्वाण चिरकालके लिये अतिक्रान्त हो जाता है तथा योगी सिद्धतनु-अवस्थासे प्रणव-तनुकी अवस्थामें जा पहुँचता है। सिद्धोंका यह मत है कि सिद्धदेहके प्राप्त किये बिना ब्रह्मज्ञानका लाभ नहीं होता। ब्रह्मज्ञानको उपलब्ध करनेके लिये जिस कठोर साधना, तपस्या और सहनशीलताकी आवश्यकता होती है वह मनुष्यके अपक्व देहमें सम्भव नहीं होती। अतएव उनका उपदेश है कि पहले देह, इन्द्रिय आदिका कालके कवलसे उद्धार करके अमृतरसके द्वारा सञ्जीवित कर लेनेके बाद महाज्ञानकी साधनाका व्रत लेना होगा। इतना न कर सकनेपर पूर्णत्वके मार्गकी यात्रा सिद्ध तो होती ही नहीं और सच पूछिये तो उसका प्रारम्भ ही नहीं होता।

एक प्रकारसे विशुद्ध सत्त्वमय भागवती-तनुका ही दूसरा नाम है सिद्धदेह। वैष्णवलोग अन्तरङ्ग साधनाके पथमें अग्रसर होकर सिद्धदेहकी प्राप्ति करके रागमार्गके द्वारा भजन करते-करते रससाधनामें चरम उत्कर्षको प्राप्त करते हैं। उनके मतसे भावदेह ही सिद्धदेह है। भावदेहकी प्राप्तिके बाद सुदीर्घकालतक साधना करनेपर अन्तमें भगवत्प्रेम प्राप्त होता है तब रसस्वरूपमें स्थिति होती है। उस समय भावदेह ही प्रेमके द्वारा परिणत होते-होते रसमय कायामें पर्यवसित होता है। रससिद्धिके पहले नित्यलीलाका आविर्भाव नहीं हो सकता।

इससे समझमें आ जाता है कि पूर्ण ब्रह्मज्ञानके मार्गमें अथवा रस-साधनाके चरमोत्कर्षकी सिद्धिके पथमें सिद्धदेह

एक अत्यन्त आवश्यक उपकरण है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में जो 'योगाग्निमय शरीर'का उल्लेख हुआ है, वह सिद्धदेहका ही प्रकारभेद मात्र है। योगबीज अमनस्क आदि योगसम्प्रदायों-के ग्रन्थोंमें योगदेहका स्पष्ट तथा अस्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है।

(२)

प्रश्न हो सकता है कि, 'देह प्राकृतिक गुणोंसे उत्पन्न पञ्चभूतोंके द्वारा रचित है, यह सर्वदा परिणामशील और अनित्य है। आत्मा कूटस्थ नित्य तथा अपरिणामी है; ऐसी अवस्थामें देहका स्थैर्य किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? आत्मा स्थिर है और देह अस्थिर है, यही चिरन्तन सत्य है। इसे जानकर ही अनित्यके प्रति वैराग्य होता है तथा नित्य और अनित्यका पारस्परिक विवेक प्राप्त करनेके लिये अध्यात्म-पथमें अग्रसर होना पड़ता है।' इस प्रश्नके उत्तरमें बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। परंतु उन सब बातोंकी आलोचना विस्तारपूर्वक करके गम्भीर देहतत्त्वकी मीमांसा सामयिक पत्रके कलेवरमें सम्भव नहीं। तथापि प्रसङ्गवश कुछ-कुछ तत्त्वा-लोचन किये बिना मुख्य सिद्धान्तका स्पष्टीकरण नहीं होगा, अतएव यहाँ दो-एक बात कही जा रही है—

उपनिषद्के विभिन्न स्थानोंमें वर्णित हुआ है कि पुरुष षोडशकला है, अर्थात् देहावच्छिन्न आत्माकी सोलह कलाएँ या अवयव हैं। आगम-शास्त्रमें तथा तदनुयायी अनेकों ग्रन्थोंमें आत्माकी षोडशकलाका उल्लेख देखनेमें आता है। इन सोलह कलाओंमें पंद्रह कलाएँ धर्मशास्त्र तथा ज्योतिष-शास्त्रमें तिथिरूपमें कालचक्रके अङ्गस्वरूपमें वर्णित हुई हैं। सोलह कलाविशिष्ट चन्द्रमाकी पंद्रह कलाएँ आविर्भाव-तिरोभावविशिष्ट और अनित्य हैं। ये मृत्युकला, कालकी कला अथवा नश्वर कला नामसे प्रसिद्ध हैं। परंतु सोलहवीं कला कालचक्रकी नाभिस्वरूप है। वही विन्दुरूप अमृतकला है—

'पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलाम्।'

अतएव देहपुराधिष्ठाता पुरुषकी पंद्रह कला उसका देह है और सोलहवीं कला अथवा अमृतकला उसका आत्मा है। जीव पितृयानमार्गसे संचरण करके इन पञ्चदश कलाओंके साथ ही परिचित होता है। देवयानमार्गमें गये बिना षोडशीकलाका पता नहीं लगता। पञ्चदशकला और षोडशीकलाके बीच जो सम्बन्ध रहता है, वह मृत्युकालमें छिन्न हो जाता है। वस्तुतः साधारण मनुष्यकी षोडशीकला जागनेका अवसर ही नहीं पाती। जबतक पञ्चदश कलात्मक देहमें षोडशीकलाकी सम्यक् पूर्णताके द्वारा यथाविधि अमृत-क्षरण नहीं होगा, तबतक पञ्चदश कला अपने नश्वर स्वभावका त्याग कर अमरत्वसम्पन्न नहीं हो सकेगी, तबतक देहको मृत्युके अधीन रहना ही होगा। षोडशीकला मृत्युकालमें देहसे वियुक्त होकर सूर्यमण्डल भेदकर उससे ऊर्ध्व नित्य चन्द्रमण्डलमें लौट जाती है; परंतु देहके ऊपर अमृत-किरणें नहीं गिरतीं।

श्रुति कहती है—

'अपाम सोममममृता अभूम।'

यह वेदवाक्य सोमपानके फलस्वरूप अमृतत्व-प्राप्तिका निदर्शन करता है। यह अमृतत्व, देह-सिद्धि-जनित अमरत्व है, आत्माका स्वभावसिद्ध अमरत्व नहीं है; क्योंकि आत्माके स्वभावसिद्ध अमरत्वमें सोमपानकी आवश्यकता नहीं होती। सोम शब्दसे सोमलता या ओषधीश चन्द्र अथवा विशुद्ध मन—चाहे जिसको ग्रहण करें, मूलमें कोई भेद नहीं आता। सोमरस सर्वत्र एक ही वस्तु है। जो लोग हठयोगका आश्रय लेकर साधन-पथमें चलते हैं, वे लोग खेचरीमुद्राकी सिद्धिके समय इस षोडशीकलारूप चन्द्रविन्दुके अमृतस्रवणके साथ न्यूनाधिकरूपमें परिचित हो जाते हैं। तालु-मूलके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधारण अवस्थामें चित्तकी एकाग्रताके अभावमें यह सोमधारा नित्य विगलित होकर कालरूपी अग्निकुण्डमें नाभिस्थलमें नियमितरूपमें गिरती रहती है। एक लक्ष्यके उन्मीलित हुए बिना अर्थात् ज्ञान-चक्षुके खुले बिना यह अमृतपान नहीं किया जाता। इसीलिये निरन्तर अमृत-क्षरणके प्रभावसे चन्द्रकलामय देहमें सर्वदा रसका शोषण हो रहा है। कालरूपी अग्नि सर्वदा ही रसको शोषण कर देहमें जरा आदि विकार तथा मृत्युकी उद्भावना करती है। हठयोगी बन्ध आदि प्रक्रियाके साथ वायु-निरोध करके और राजयोगी सीधे-सीधे चित्तके निरोधके द्वारा पूर्वोक्त विन्दु-क्षरणको रोकनेमें समर्थ होते हैं। मन्त्रयोगी मन्त्रके उद्बोधनके पश्चात् जप-क्रिया अथवा अजपा-क्रियाके द्वारा इसी एक उद्देश्यकी पूर्तिकी चेष्टा करते हैं। तान्त्रिक उपासक लोग जब भूत-शुद्धि करके उपासनाके लिये विशुद्ध भूतमय अभिनव देहकी सृष्टि करते हैं तो उनको भी यही एक उद्देश्य प्रेरणा प्रदान करता है। चन्द्रबीज (ठं) के बिना देह-रचना नहीं होती, यह एक अत्यन्त परिचित सत्य है। जो लोग रस-साधनामें निष्णात हैं, वे भी इसी एक लक्ष्यके द्वारा ही प्रणोदित होते हैं। रस अथवा पारद स्वरूपतः शिववीर्य है। परंतु यह बहुत मलसे आच्छन्न है, अतएव अपना

कार्य सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता। विभिन्न संस्कारोंके द्वारा इस मलके दूर करनेपर विशुद्ध शिव-विन्दु प्राप्त होता है। इस विन्दुसे उत्पन्न देह ही 'वैन्दव देह' कहलाता है। वह नित्य निर्मल और जरा आदि विकारोंसे वर्जित होता है। वही एक प्रकारसे भागवती तनु है। वज्रयान और सहजयानके साधक तथा वैष्णव सहजियागण प्रकारान्तरसे इसी एक तत्त्वको अङ्गीकार करते हैं। वे लोग जीव-विन्दुको शुद्ध और अटल शिव-विन्दुमें परिणत करनेके पक्षपाती हैं। मलिन विन्दु जबतक कठोर ब्रह्मचर्यकी साधनाके द्वारा विशुद्ध और स्थिर नहीं हो जाता, तबतक उसके साथ प्रकृतिका योग नीति-विरुद्ध है। इस विन्दुके द्वारा राग-मार्गकी साधना नहीं चलती। चण्डीदासकी रागात्मिका कविताका रहस्य जो लोग समझते हैं, वे इसको हृदयङ्गम कर सकेंगे। कहना न होगा कि यह विन्दु ही वज्रयानियोंका बोधिचित्त है, इसको निर्मल और स्थिर किये विना बुद्धत्वकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर नहीं हुआ जाता। शुद्ध विन्दु जब प्रकृतिके सङ्गसे लीलायित होता है तब ऊर्ध्वगतिका विकाश होता है, वही आदि रस अथवा शृङ्गार रसकी साधना है, वही नित्य लीलामें प्रवेश करनेका द्वारस्वरूप है। विन्दुके सिद्ध हुए विना स्खलन या कालके मुँहमें पड़ना अवश्यम्भावी है। उसके लिये पूर्णत्वके मार्गमें चलनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती। सिद्ध देह प्राप्त करना और कामजय करना एक ही बात है।

साधारण जीव-देह चाहे कितना ही पवित्र क्यों न हो, वह फिर भी अपवित्र और अशुचि होता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि काम ही जीव-देहकी सृष्टिका मूल है। कामातीत अवस्थामें पहुँचे विना शुद्ध देह प्राप्त करना दुष्कर है। बहुतेरे समझते हैं कि कामको ध्वंस करना ही अध्यात्म-पथका मुख्य उपदेश या उद्देश्य है, परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं। कामका नाश करके पूर्णत्वके मार्गमें कौन चलेगा? कामका नाश न करके, उसे विशुद्ध प्रेममें परिणत करना होगा, तब वह प्रेम ही आगे चलकर रसमें परिणत होकर पूर्णत्वका द्वार खोल देगा। जो लोग महायान-सम्प्रदायके बौद्धोंके साधन-रहस्यसे अवगत हैं, उनको इस प्रसङ्गमें 'आश्रय-परवृत्ति'का स्मरण करना चाहिये। देह तथा देहस्थित प्रत्येक शक्ति पूर्णताकी अभिव्यक्तिके लिये आवश्यक हैं, इनमें जो मलिनता और जडता लक्षित होती है उसे दूर करनेपर, उसीसे परम पथका निर्देश और सहायता प्राप्त हो जाती है। इसीलिये श्रीरूपगोस्वामी प्रभु कहते हैं कि भगवान्‌को प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, सकाम साधकके लिये भगवत्प्राप्तिकी आशा सुदूरकी वस्तु है; क्योंकि वह भोगार्थी है और जहाँ भोगकी आकाङ्क्षा होती है वहाँ भगवान् नहीं रहते। इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा है कि निष्काम मुमुक्षुके लिये भी भगवत्प्राप्ति अत्यन्त कठिन है; क्योंकि जिसे आकाङ्क्षा ही नहीं, जिसने शुद्ध वासनाका भी त्याग किया है, जिसे भगवान्‌के लिये विरहानुभूति नहीं होती, उसके लिये एकमात्र निर्वाणके सिवा और कोई गति नहीं है। उसके लिये भगवत्प्राप्ति नहीं है। जो सकाम होते हुए भी निष्काम है और निष्काम होते हुए भी सकाम है, अर्थात् जो कामको प्रेममें परिणत करनेमें समर्थ हुए हैं, भगवान्‌का दर्शन केवल उन्हींके भाग्यमें बदा होता है—

'विना प्रेमके ना मिलें कबहूँ श्रीनँदलाल।'

प्रोत्साहन

(रचयिता—श्रीकेदारनाथजी बेकल, एम्० ए०, एल्० टी०)

सिया-रामसे लौ लगाये चला जा,
युँही अपनी हस्ती मिटाये चला जा।
प्रबल मोहकी आँधियोंमें यतनसे,
निराशाका दीपक जलाये चला जा॥

कभी तो उन्हें भी खबर हो रहेगी,
करुण-राग अपना सुनाये चला जा।
ये आशा निराशा स्वयं मर मिटेंगी,
चपल-मनको मरना सिखाये चला जा॥

मिलेंगे हरी मेरे जीवनके दीपक,
प्रतीक्षा किये झिलमिलाये चला जा।
सफलता है यदि लक्ष्य जीवनका बेकल,
किसीके लिये तिलमिलाये चला जा॥

वेदकी अपौरुषेयता

(लेखक—श्रीजयनारायण मल्लिक, एम्० ए०, डिप्०एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

वेद अपौरुषेय है। अपौरुषेय शब्दका अर्थ होता है—पुरुषके द्वारा अर्थात् किसी भी मनुष्यके द्वारा जिसकी रचना नहीं की गयी हो। वेदको किसीने भी नहीं बनाया है। वह अनादि है। देव, गन्धर्व, किन्नर, नर और दानव आदि सभीकी उत्पत्ति और नाश होता है, किंतु वेदकी न उत्पत्ति है और न नाश। अतः उसका रचयिता कोई नहीं हो सकता। ऋषिगण वेद-मन्त्रोंके द्रष्टा हैं, स्रष्टा नहीं। ब्रह्मा भी वेदके रचयिता नहीं हैं। उनके हृदयमें भी वेदका प्रकाश परमात्माकी कृपासे अपने-आप होता है और परमात्मा भी वेदका उपदेश हृदयसे ही ब्रह्माको देते हैं।

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।

—श्रीमद्भागवतकी यह पंक्ति इसका प्रमाण है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै

—इत्यादि शतशः प्रमाण इस बातको सिद्ध करते हैं कि नारायण ब्रह्माको उत्पन्न कर उन्हें वेदका उपदेश देते हैं। उपदेश देनेका अर्थ रचना करना या बनाना नहीं होता है। रामायण, महाभारत तथा गीताके श्लोकोंका उपदेश जनताको बहुत-से पण्डित देते रहते हैं। परंतु वे पण्डित उपदेश देनेमात्रसे उन ग्रन्थोंके बनानेवाले नहीं कहे जा सकते। परमात्मा उपदेश देते हैं। इस वाक्यसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे भी उसके निर्माता नहीं हैं, किंतु वह अनादि है—स्वतःसिद्ध है।

परमात्मा ही वेद हैं और वेद ही परमात्मा हैं। वेद और परमात्मा पर्याय-शब्द हैं। वेद शब्द विद् धातुसे बना है। इसका अर्थ है—ज्ञान।

गिरा-अरथ जल-बीचि-सम कहिअत भिन्न न भिन्न।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

—यह श्लोक भी शब्द और उससे होनेवाले ज्ञानको अभिन्न बतलाता है। पाणिनीय व्याकरण केवल शब्दोंको सिद्ध करनेका साधनमात्र नहीं है, वह भी एक दर्शन है।

उक्त व्याकरणमें सिद्ध कर दिया गया है कि शब्दकी न उत्पत्ति होती है न नाश। शब्द ब्रह्म है। पतञ्जलिने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस वार्त्तिककी व्याख्यामें सिद्ध कर दिखाया है कि शब्द, अर्थ और इन दोनोंका सम्बन्ध—ये सभी नित्य हैं। न्याय-दर्शन शब्दको नित्य नहीं मानता। वह उसकी उत्पत्ति और नाश मानता है और वेदको वह अनादि नहीं मानता, वह वेदको आप्तवाक्य कहता है। वह कहता है कि वेद शब्दमय है और शब्दोंकी रचना किसी रचयिताके बिना नहीं हो सकती। अतएव वेद किसीका बनाया हुआ है अवश्य, किंतु वह है—निष्पक्ष, रागद्वेषरहित तथा यथार्थवक्ता। पाणिनीय व्याकरणमें इस मतका खण्डन किया गया है और सिद्ध कर दिया गया है कि शब्द अनादि है, नित्य है, उत्पत्ति तथा नाशसे रहित है।

शब्द ही ब्रह्म है। शब्द और उससे भासित होनेवाला ज्ञान, दोनों अभिन्न हैं—एक हैं। शब्दमय होनेपर भी वेद किसीका बनाया हुआ नहीं है। वही ब्रह्म है। सारा संसार उसीसे बनता है और उसीमें लीन हो जाता है।

मञ्जूषा तथा वैयाकरण-भूषण आदि ग्रन्थोंमें पूरा प्रकाश डालकर शब्दस्फोट अर्थात् शब्दब्रह्मकी सिद्धि की गयी है।

यहाँ संक्षेपमें इसपर प्रकाश डालना उचित समझता हूँ।

कानसे जो सुन पड़ता है, वह शब्द कुछ देरके लिये लुप्त-सा हो जाता है; किंतु वस्तुतः उसका लोप नहीं होता है। वह तिरोहित होकर अपने मूलरूपमें रहता ही है। शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती है; किंतु अभिव्यक्ति होती है। उत्पत्तिका अर्थ होता है—जिस वस्तुका पहले अस्तित्व नहीं था, उसका होना। और छिपी हुई वस्तुके प्रकट होनेका नाम अभिव्यक्ति है।

लकड़ियोंमें पहलेसे ही आग छिपी हुई रहती है। दो काष्ठोंके संघर्षसे आगकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं।

शब्दके विषयमें भी ऐसी ही बात है। शब्द सर्वत्र व्याप्त है। वह निराकार ब्रह्म है। सभी प्राणियोंके भीतर और बाहर सर्वत्र वह तिरोहित-रूपमें है।

शरीरके भीतर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये चार स्थान ऐसे हैं, जहाँ क्रमशः वायुका आघात पड़ता है और इसीसे शब्द प्रकट होता है—उसकी अभिव्यक्ति होती है। शब्द पहलेसे ही अपने मूल रूपमें रहता है, अर्थात् छिपा हुआ रहता है और आघात पड़नेपर वह प्रकट होता है न कि उत्पन्न होता है।

शब्द उत्पन्न होकर यदि नष्ट हो जाता तो रेडियोके द्वारा पटनेमें उच्चरित शब्दको दरभंगेके लोग कैसे सुनते?

शब्द और ज्ञान यदि अभिन्न नहीं होते तो किसी बातका ज्ञान शब्दके बिना भी क्यों नहीं होता? संकेतके द्वारा भी जो ज्ञान होता है, वहाँ भी मन-ही-मन शब्दका उच्चारण हो ही जाता है। यदि ये दोनों वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हों तो एक क्षणके लिये भी शब्दसे ज्ञान अलग रह सकता था? परंतु ऐसा क्यों नहीं होता? जैसे सूर्यसे गरमी क्षणभरके लिये भी अलग नहीं हो सकती, वैसे शब्दसे क्षणभरके लिये भी ज्ञान अलग नहीं हो सकता है। जैसे मननशीलोंको सूर्य और उसकी उष्णतामें भेद नहीं दीख पड़ता और ब्रह्म तथा प्रकृतिमें भिन्नता नहीं प्रतीत होती और अल्पज्ञ लोग समझकी कमीसे दोनोंमें भिन्नता पाते हैं। वैसे ही शब्द और अर्थमें भिन्नताका देखना अल्पज्ञताका द्योतक है।

अब यह सिद्ध हो चुका कि वेदके शब्द और अर्थ (ज्ञान) एक ही हैं। ज्ञान सृष्टिसे पहले भी था और संसारके नाश होनेपर भी रहेगा और जबतक संसार है, तबतक भी है; क्योंकि वह त्रिसत्य है, नित्य है, अविनाशी है और वही ब्रह्म है।

जिसे दिग्भ्रम होता है, वह कहता है कि सूर्यका उदय पश्चिम दिशामें हुआ है—

जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा॥

जो वेदको अपौरुषेय नहीं मानते हैं, वे ज्ञानके सम्बन्धमें भी भिन्न मत रखते हैं। उनका कहना है कि पहले मनुष्योंकी सृष्टि हुई, तब उनमें ज्ञानकी उत्पत्ति हुई। पहले मनुष्य असभ्य थे, नग्न थे, पशुतुल्य थे। धीरे-धीरे उनका ज्ञान बढ़ा तो उन्हें वनमें धधकती हुई आग और वृक्षोंको उखाड़ फेंकनेवाले ववंडरसे परिचय हुआ और वे डर गये। इसी कारण वे अग्नि, वायु आदिको देवता समझने लगे।

ऐसे लोगोंसे मैं यह पूछता हूँ कि पहले ज्ञान था, तब मनुष्य हुआ या पहले मनुष्य हुआ तब ज्ञान हुआ?

यदि कहें कि पहले मनुष्यकी सृष्टि हुई, तब ज्ञान हुआ तो इसका अर्थ होता है कि मनुष्यकी सृष्टि होनेके पहले ज्ञान था ही नहीं, अर्थात् मनुष्य-सृष्टिके पहले ज्ञानका सर्वथा अभाव था। अस्तु, यदि ज्ञान पहलेसे था ही नहीं तो मनुष्यकी सृष्टि होनेपर आया कहाँसे और कैसे?

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

यह सांख्यका सिद्धान्त है। इसका अर्थ है कि जो असत् था, अर्थात् पहले नहीं था, उसका भाव अर्थात् अस्तित्व नहीं हो सकता और जो पहलेसे था—सत् था, उसका एकदम नाश नहीं हो सकता, वह सूक्ष्मरूपमें अवश्य रहेगा।

इस सिद्धान्तको कोई नहीं काट सकता है। नास्तिक चार्वाक-मतमें कहा गया है कि पञ्च-तत्त्वोंके मिश्रणसे शरीरमें चेतना उत्पन्न होती है और पाँचों तत्त्व जब पाँचों तत्त्वोंमें मिल जाते हैं तो चेतनाका—आत्माका नाश हो जाता है। सांख्यके उक्त सिद्धान्तके आधारपर उपर्युक्त नास्तिक-मतका खण्डन कर इसकी दृढ़ता सिद्ध हो चुकी है। खेद है कि वैज्ञानिक कहलानेका दावा करनेवाले संस्कृत-शास्त्र तो पढ़ते ही नहीं, तो फिर वे नास्तिक क्यों न हों?

अब मानना पड़ेगा कि मनुष्यकी सृष्टिके होनेसे पहलेसे ही ज्ञान था। मनुष्य-सृष्टि क्या, सभी प्राणियोंकी सृष्टिसे पहलेसे ही ज्ञान था, तभी तो सृष्टि होनेपर मनुष्योंमें आया? अन्यथा वह आता कैसे? यदि कहें कि सृष्टिसे पहले ज्ञानका अस्तित्व कैसे माना जाय; क्योंकि ज्ञाताके और ज्ञेयके बिना ज्ञानका होना या रहना कैसे सम्भव है?

मनन करनेपर समझमें आ जाता है कि सृष्टिके नाश होनेपर ज्ञाता और ज्ञेयका अस्तित्व अलग नहीं रहता है। ज्ञाता और ज्ञेय—इन दोनोंको अपनेमें मिलाकर ज्ञान अकेला ही रह जाता है। ज्ञानहीका दूसरा नाम ब्रह्म है। उसका नाश नहीं होता और फिर उसीसे सृष्टि होती है तथा वही ज्ञान 'वेद' है।

सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थामें मायाका आवरण पतला रहता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष तथा कटुता आदिकी गंदगी मायाके आवरणको गंदा बनाकर मोटा नहीं बना पाती है। लोग निश्छल, शुद्ध, निःस्वार्थ, तेजस्वी,

बलिष्ठ, मेधावी, श्रुतधर तथा प्रतिभाशाली होते हैं।

छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष तथा अहङ्कार आदिसे ज्ञानका पर्दा बहुत मोटा होता जाता है। लोगोंके ज्ञान, मेधा, बल, शक्ति तथा स्मृतिका क्रमशः ह्रास होने लगता है। धीरे-धीरे श्रुतधरत्वको खोकर अपने ज्ञानको लोग लिपिबद्ध करने लगते हैं।

आवश्यकताओंमें, विविध वासनाओंमें आसक्त होकर लोग द्वेषी और कपटी हो चलते हैं।

इस प्रकार सृष्टिकी प्राथमिक अवस्थामें जो मनुष्यका उत्थान रहता है, उसका पतन होने लगता है। परंतु यह पतन एकरूपसे जारी नहीं रहता। फिर लोग उत्थानकी दशामें आते हैं। पत्तेपरसे लोग कागजपर लिखने लगते हैं और फिर छापाखानोंका आविष्कार होता है। यह उत्थान भी लगातार जारी नहीं रह पाता। लड़ाइयाँ होती हैं, अकाल पड़ते हैं और अराजकता आदि दुर्घटनाएँ होती हैं और शताब्दियोंका विकास अपने समयको छोड़कर लाखों, करोड़ों वर्ष पीछे पड़ जाता है। हो सकता है कि लोग असभ्य और नग्नतक रहनेकी दशामें पहुँच जाते हों।

आजकल पाश्चात्त्य रंगमें रँगे हुए लोग विकास-क्रमके बीच-बीचमें ह्रास-क्रमकी ओर ध्यान ही नहीं देते। अतएव उन्हें वेदकी अपौरुषेयता समझमें नहीं आती और वेदमें कहे गये अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्र आदि देवताओंके सम्बन्धमें पूर्वोक्त धारणा बनाते और संस्कृतिके रहस्यको न समझनेके कारण उसपर कुठाराघात करनेके लिये तुले दीख पड़ते हैं। अब प्रश्न उठ सकता है कि 'सभी पुस्तकोंमें तो शब्द ही हैं और उन शब्दोंसे भी तो ज्ञान ही होता है तो सभी पुस्तकें अपौरुषेय क्यों न मानी जायँ?' इसके उत्तरमें कहना है कि जो वेदको अपौरुषेय नहीं मानते, वे भी इस बातको तो अवश्य मानते हैं कि संसारमें वेदकी अपेक्षा पुराना ग्रन्थ नहीं मिलता। वेद ही प्राचीनतम ग्रन्थ है। इससे सिद्ध होता है कि पहले वेदकी रचना हुई तब और-और ग्रन्थोंकी?

एक रचना हो चुकनेके बाद यदि कोई दूसरी रचना करता है तो चाहे उसका खण्डन करे या मण्डन वा किसी भिन्न ही विषयपर लिखे, कम-से-कम शैलीमें भी या भावको व्यक्तकर क्रमबद्ध बनानेके ढंगमें भी तो अवश्य पहलेकी रचनासे कुछ आधार ग्रहण करता है।

भले ही पहले होनेवाली रचनासे भी उसकी रचना सुन्दरतर हो, फिर भी उसे प्रेरणा मिलती है। और ईर्ष्या, द्वेष आदिके कारण स्वार्थ सिद्ध करनेका वह प्रयास करता है।

जिसने पहले-पहल रचना की, उसने किससे आधार ग्रहण किया। उससे पहले तो मनुष्योंमें रचना करनेका ढंग रहा नहीं होगा तो वह कैसे किसी मनुष्यसे कुछ सीखता? यदि आप किसी रचनाको मान लेते हैं कि सबसे पहले यही रचना हुई तो साथ-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि इससे पूर्व मनुष्य रचना करना जानते नहीं थे तो जिसने यह रचना की है, उसने किसी मनुष्यसे कुछ नहीं सीखा है। यदि सीखा है तो परमात्माकी प्रेरणासे!

वेदको अपौरुषेय माननेवाले भी यही कहते हैं कि परमात्माकी प्रेरणासे वेदकी अभिव्यक्ति हुई।

अब यों कहिये कि ज्ञानका प्रकाश अपने-आप ब्रह्माके हृदयमें तथा उनके हृदयसे ऋषियोंके हृदयमें हुआ, जिसका नाम 'वेद' है। जैसे भात या रोटी अथवा कोई वस्तु धीरे-धीरे विकृत होती है, वैसे ज्ञान भी मनुष्योंके स्वार्थ, ईर्ष्या तथा द्वेषके मिलनेसे विकारपूर्ण हो जाता है। जैसे ज्ञान ही परमात्मा है, वैसे जीव भी तो ज्ञान ही है। फिर जीव और परमात्मामें इतना अन्तर क्यों हुआ? मानना पड़ेगा कि मायामें पड़कर अर्थात् अहंकार, काम, क्रोध आदिसे विकृत होकर जीवकी यह दशा है।

परमात्मा और जीवमें जितना अन्तर है उतना ही अन्तर वेद और उसके बाद होनेवाली रचनाओंमें भी है। वेदकी ही भाँति सभी पुस्तकोंमें शब्द ही हैं और उनका ज्ञान भी होता है सही, किंतु वह ज्ञान मनुष्योंके स्वार्थमें विकृत होता गया है। वेदमन्त्रोंके द्रष्टा ऋषि-मुनि जैसे शान्त, धीर, गम्भीर, निश्छल, शुद्ध, सदाचारी और निःस्वार्थ थे, वैसे लोग समय बीतनेपर नहीं रहे। महापुरुष होते हुए भी कोई अपने समयके प्रभावसे एकदम अछूता नहीं रह सकता। जैसे जीवसे मायाका पर्दा, अज्ञानताका आवरण तथा काम-क्रोधादि भाव हट जायँ तो वह परमात्माका रूप हो जाता है, वैसे ही वेदसे भिन्न रचनाओंमें रचयिताओंके द्वेष आदिसे जो दुर्गन्ध आ गयी है, वह यदि हट जाय तो वे रचनाएँ भी वेदवत् मान्य हो जायँगी। अतएव अन्यान्य ग्रन्थोंकी बातोंमें यदि वेदसे विरोध नहीं रहता है तो वे बातें धर्मशास्त्रोंकी हों, पुराणोंकी हों, कुरान या बाइबिलकी हों, विद्वानोंके लिये वेदवत् मान्य होती हैं। पूर्वमीमांसामें वेदकी अपौरुषेयतापर बहुतसे प्रमाण दिये गये हैं। उनका उल्लेख विस्तारभयसे यहाँ नहीं किया गया।

जीवनका मितव्यय

(लेखक— प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०)

यदि आप रात्रिमें दस बजे सोकर प्रातः सात बजे उठते हैं तो एक बार जरा पाँच बजे भी उठकर देखिये। अर्थात् व्यर्थकी निद्रा एवं आलस्यसे दो घंटे बचा लीजिये। चालीस वर्षकी आयुतक भी यदि आप सात बजेके स्थानपर पाँच बजे उठते रहें तो निश्चय जानिये दो घंटेके इस साधारण-से अन्तरसे आपकी आयुके दस वर्ष और जीनेके लिये मिल जायँगे।

नित्य प्रति हमारा कितना जीवन व्यर्थके कार्यों, गपशप, निद्रा तथा आलस्यमें अनजाने ही विनष्ट हो जाता है, हम कभी इसकी गिनती नहीं करते। आजकल आप जिससे कोई कार्य करनेको कहें, वही कहेगा, 'जी, अवकाश नहीं मिलता। कामका इतना आधिक्य है कि दम मारनेकी फुरसत नहीं है। प्रातःसे सायंतक गधेकी तरह जुते रहते हैं कि स्वाध्याय, भजन, कीर्तन, पूजन, सद्ग्रन्थावलोकन इत्यादिके लिये समय ही नहीं बचता।'

इन्हीं महोदयके जीवनके क्षणोंका यदि लेखा-जोखा तैयार किया जाय तो उसमें कई घंटे आत्मसुधार एवं व्यक्तित्वके विकासके हेतु निकल सकते हैं। आठ घंटे जीविकाके साधन जुटाने तथा सात घंटे निद्रा-आराम इत्यादिके निकाल देनेपर भी नौ घंटे शेष रहते हैं। इसमेंसे एक-दो घंटा मनोरञ्जन, व्यायाम, टहलने इत्यादिके लिये निकाल देनेपर छः घंटेका समय ऐसा शेष रहता है जिसमें मनुष्य परिश्रम कर पर्याप्त आत्म-विकास कर सकता है, कहीं-से-कहीं पहुँच सकता है।

यदि हम सतर्कतापूर्वक यह ध्यान रक्खें कि हमारा जीवन व्यर्थके कार्यों या आलस्यमें नष्ट हो रहा है और हम उसका उचित सदुपयोग कर सकते हैं तो निश्चय जानिये हमें अनेक उपयोगी कार्योंके लिये खुला समय प्राप्त हो सकता है।

आजके मनुष्यका एक प्रधान शत्रु आलस्य है। तनिक-सा कार्य करनेपर ही वह ऐसी मनोभावना बना लेता है कि 'अब मैं थक गया हूँ; मैंने बहुत काम कर लिया है। अब थोड़ी देर विश्राम या मनोरञ्जन कर लूँ।' ऐसी मानसिक निर्बलताका विचार मनमें आते ही वह शय्यापर लेट जाता है अथवा सिनेमामें जा पहुँचता है या सैरको निकल जाता है और मित्र-मण्डलीमें व्यर्थकी गपशप करता है।

यदि आधुनिक मानव अपनी कुशाग्रता, तीव्रता, कुशलता और विकासका घमंड करता है तो उसे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि समयकी इतनी बरबादी पहले कभी नहीं की गयी। कठोर एकाग्रतावाले कार्योंसे वह दूर भागता है। विद्यार्थी-समुदाय कठिन और गम्भीर विषयोंसे भागते हैं। यह भी आलस्य-जन्य विकारका एक रूप है। वे श्रम कम करते हैं, विश्राम और मनोरञ्जन अधिक चाहते हैं। स्कूल-कॉलिजमें पाँच घंटे रहेंगे तो उसकी चर्चा सर्वत्र करते फिरेंगे; किंतु उन्नीस घंटे जो समय नष्ट करेंगे, उसका कहीं जिक्रतक न करेंगे। यह जीवनका अपव्यय है।

व्यापारियोंको लीजिये। बड़े-बड़े शहरोंके उन दूकानदारोंको छोड़ दीजिये, जो वास्तवमें व्यस्त हैं। अधिकांश व्यापारी बैठे रहते हैं और चाहें तो सोकर समय नष्ट करनेके स्थानपर कोई पुस्तक पढ़ सकते हैं और ज्ञान-वर्धन कर सकते हैं; रात्रि-स्कूलोंमें सम्मिलित हो सकते हैं; मन्दिरोंमें पूजन-भजनके लिये जा सकते हैं, सत्सङ्ग-स्वाध्याय कर सकते हैं। प्राइवेट परीक्षाओंमें बैठ सकते हैं। निरर्थक कार्यों—जैसे व्यर्थकी गपशप, मित्रोंके साथ इधर-उधर घूमना-फिरना, सिनेमा, अधिक सोना, देरसे जागना, हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना—से बच सकते हैं।

दिन-रातके चौबीस घंटे रोज बीतते हैं, आगे भी बीतते जायँगे। असंख्य व्यक्तियोंके जीवन बीतते जाते हैं। यदि हम मनमें दृढ़तापूर्वक यह ठान लें कि हमें अपने दिनसे सबसे अधिक लाभ उठाना है, प्रत्येक क्षणका सर्वाधिक सुन्दर तरीकेसे उपभोग करना है तो कई गुना लाभ उठा सकते हैं।

जो व्यक्ति अपनी आयका प्रारम्भिक बजट बनाकर खर्च करता है; वह प्रत्येक रुपये, इकन्नी और पैसेसे अधिकतम लाभ निकालता है। इसी प्रकार दैनिक कार्यक्रम बनाकर समयको व्यय करनेवाला जीवनके प्रत्येक क्षणका अधिकतम लाभ उठाता और आत्म-विकास करता है।

प्रत्येक क्षण जो आप व्यय करते हैं, अन्तिमरूपसे

व्यय कर डालते हैं, वह वापस लौटकर आनेवाला नहीं है। जब मृत्यु समीप आती है तो हमें जीवनके दो-चार क्षणोंका ही बड़ा मूल्य लगता है। यदि हम विवेकपूर्ण रीतिसे अपने उत्तरदायित्व और जिम्मेदारियोंको धीरे-धीरे समाप्त करते चलें तो हम जीवनमें इतना कार्य कर सकते हैं कि हमें उसपर गर्व हो।

क्या आप जीन जेक रूसो नामक विद्वान्‌के जीवनके सदुपयोगकी कहानी जानते हैं। वह कहारका कार्य करते-करते फालतू समयके परिश्रमसे विद्वान् बना था। दिनभर रोटीके लिये परिश्रम करता और रात्रिमें पढ़ता था। एक व्यक्तिने उससे पूछा—'आपने किस स्कूलमें शिक्षा पायी है?' रूसोने कहा—'मैंने विपत्तिकी पाठशालामें सब कुछ सीखा है।' यह कहार दिनभर सख्त मेहनतकी रोटी कमाता और बचे हुए समयमें पढ़कर धुरन्धर शास्त्रकार हुआ है। हम भी यह कर सकते हैं।

समयके अपव्ययके पश्चात् भाव, विचार, वासना, उत्तेजना आदि अनेक रूपोंसे जीवनका अपव्यय किया करते हैं। दुर्भाव न केवल दूसरोंके लिये हानिकर हैं वरं स्वयं हमें बड़ी हानि पहुँचा जाते हैं। एक बारका किया हुआ क्रोध दूसरोंपर तो बादमें प्रभाव डालता है, पहले तो हमारे रक्तको विषैला और स्वभावको चिड़चिड़ा बना डालता है, पाचन-क्रियाको शिथिल कर डालता है, बहुत देरतक सम्पूर्ण शरीर थरथराता रहता है। यदि हम वासनाको नियन्त्रणमें रखकर वीर्यसंचय करें, तो जीवनमें जीवाणुतत्त्वों, पौरुष, बल, बुद्धिकी वृद्धि हो सकती है। व्यर्थ जो वीर्य नष्ट किया जाता है, वह जीवनका अपव्यय ही है।

घृणित विचार, क्षणिक उत्तेजना, आवेश हमारी जीवनी शक्तिके अपव्ययके अनेक रूप हैं। जिस प्रकार काले धुएँसे मकान काला पड़ जाता है, उसी प्रकार स्वार्थ, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मत्सरके कुत्सित विचारोंसे मनोमन्दिर काला पड़ जाता है। हमें चाहिये कि इन घातक मनोविकारोंसे अपनेको सदा सुरक्षित रक्खें। गंदे, ओछे विचार रखनेवाले व्यक्तियोंसे बचते रहें। वासनाको उत्तेजित करनेवाले स्थानोंपर कदापि न जायँ, गंदा साहित्य कदापि न पढ़ें। अभक्ष्य पदार्थोंका उपयोग सर्वथा त्याग दें।

शान्त चित्तसे एकान्त स्थानपर बैठकर ब्रह्म-चिन्तन, प्रार्थना, पूजा इत्यादि नियमपूर्वक किया करें। आत्माके गुणोंका विकास करें। सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तिमें प्रेम, ईमानदारी, सत्यता, उदारता, दया, श्रद्धा, भक्ति और उत्साह आदि स्थायी रूपसे होने चाहिये। दीर्घकालीन अभ्यास तथा सतत शुभचिन्तन एवं सत्सङ्गसे इन दिव्य गुणोंकी अभिवृद्धि होती है।

अपने जीवनका सदुपयोग कीजिये। स्वयं विकसित होइये तथा दूसरोंको अपनी सेवा, प्रेम, ज्ञानसे आत्म-पथपर अग्रसर कीजिये। दूसरोंको देनेसे आपके ज्ञानकी संचित पूँजीमें अभिवृद्धि होती है।

हमारे जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति या मुक्ति-प्राप्ति है। परमेश्वर बीजरूपसे हमारे अन्तरात्मामें स्थित हैं। हृदयको राग-द्वेष आदि मानसिक शत्रुओं, सांसारिक प्रपंचों, व्यर्थके वितण्डावाद, उद्वेगकारक बातोंसे बचाकर ईश्वर-चिन्तनमें लगाना चाहिये। दैनिक जीवनको उत्तरदायित्वपूर्ण करनेके उपरान्त भी हममेंसे प्रायः सभी ईश्वरको प्राप्तकर ब्रह्मानन्द लूट सकते हैं—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥

मानवकी कुशलता, बुद्धिमत्ता सांसारिक क्षणिक नश्वर भोगोंके एकत्रित करनेमें न होकर अविनाशी और अमृत-स्वरूप ब्रह्मकी प्राप्तिमें है।

सब ओरसे समय बचाइये; व्यर्थके कार्योंमें जीवन-जैसी अमूल्य निधिको नष्ट न कीजिये, वरं उच्च चिन्तन, मनन, ईशपूजनमें लगाइये। सदैव परोपकारमें निरत रहिये। दूसरोंकी सेवा, सहायता एवं उपकारसे हम परमेश्वरको प्रसन्न करते हैं।

हम किसी व्यक्तिको शस्त्रसे प्रहार करके ही नहीं मार सकते, बल्कि शत्रुतापूर्ण विचारोंसे उसे मारते हैं। शत्रुतापूर्ण विचारोंसे हम केवल शत्रुको ही नहीं मारते, अपनी भी हत्या करते हैं।

कलि धन्य, शूद्र धन्य, नारी धन्य

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

शास्त्रोंमें एक पुरातन प्रवङ्ग प्रसिद्ध है कि एक समय मुनिसमाजमें एक वितर्क उपस्थित हुआ—जिसके तीन विषय थे—(१) चारों युगोंमें कौन युग श्रेष्ठ है ? (२) चारों वर्णोंमें कौन वर्ण श्रेष्ठ है ? तथा (३) नारी और पुरुष-में कौन श्रेष्ठ है ? यह वितर्क उठा था कलियुग और द्वापरके युगसन्धिकालमें । कलियुगके आगमनका उपक्रम चल रहा था । मुनिसमाज आशङ्कित हो गया था । कलियुगके अग्रदूत नवीन भावधाराका प्रचार आरम्भ कर रहे थे । समाजमें विप्लवके लक्षण प्रकट हो रहे थे । मुनियोंमें भी परस्पर मत-भेद दृष्टिगोचर होने लगा था । प्राचीन युगके समुन्नत समाजके प्रचलित मतवादकी विरोधी शक्तियाँ क्रमशः मानो प्रबलतर होती जा रही थीं । मानव जगत्के कल्याणके लिये आगामी युगका सुनियन्त्रण करनेके उद्देश्यसे एक सुमीमांसा आवश्यक थी ।

उस समय हमारे श्रेष्ठ समाजमें महर्षि कृष्णद्वैपायन वेद-व्यास सर्वशास्त्रमर्मार्थदर्शी तथा सर्वकालतत्त्वज्ञ श्रेष्ठ आचार्यके रूपमें सर्वमान्य थे । उन्होंने समग्र वेदको संग्रथित और सुसज्जित करके तथा उसके अध्ययन-अध्यापनकी सुनिपुण व्यवस्था करके हमारे समाजकी भित्तिको सुदृढ़ कर दिया था; वेदके कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डके सम्बन्धका निरूपण एवं मानवके व्यष्टिगत और समष्टिगत साधनाके क्षेत्रमें उनका यथायोग्य स्थान निर्देश करके वेदवादी और उपनिषद्वादियोंके अवान्तर कलहकी भलीभाँति मीमांसा कर दी थी । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके लिये अपने-अपने अधिकारानुरूप धर्मसाधनका निर्दोष पथ दिखलाकर एवं प्रत्येक वर्णके लिये अपने-अपने धर्मकी मर्यादा स्थापन करके उन्होंने सम्पूर्ण जातिको आत्मकलहसे बचा दिया था; महाभारत-पुराणादिकी रचना और प्रचार करके जाति और समाजके शीर्षस्थानीय ऋषि-मुनि-योगि-तपस्वियोंके साधनलब्ध तत्त्वोंको काव्य-इतिहास-गल्प-उपन्यासादिकी सहायतासे जाति और समाजके अशिक्षित अर्धशिक्षित निम्न-निम्नतर-निम्नतम स्तरतक पहुँचा देनेकी व्यवस्था कर दी थी; वेदान्तसूत्रोंकी रचनाके द्वारा आर्यसाधनाकी निगूढ चरम वस्तुको व्यक्त करके सम्पूर्ण जातिको अध्यात्मभावसे सम्पन्न कर दिया था । भारतमें महर्षि कृष्णद्वैपायनका आचार्यत्व अनन्यसाधारण है । भारतीय साधनामें उनका गुरुपद सदाके लिये सुप्रतिष्ठित है ।

मुनि अपने वितर्ककी मीमांसाके लिये महर्षिके आश्रमपर पहुँचे । उस समय महर्षि सरस्वती नदीके जलमें अर्धनिमज्जित होकर परमात्माके ध्यानमें चित्तको सुसमाहित कर परमानन्दमें प्रतिष्ठित थे । ध्यानके कुछ शिथिल होनेपर उनके प्रशान्त चित्तमें मुनिगणोंकी जिज्ञासाकी प्रतिक्रिया हुई । अपने-आप ही उनके मुखसे तीन वाक्य उच्चारित हुए—(१) कलि धन्य है, (२) शूद्र धन्य है, (३) नारी धन्य है । इन तीनों वाक्योंको जिज्ञासु मुनियोंने सुना । उन लोगोंको इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहा कि यह उनके वितर्ककी ही मीमांसा थी । पर बात क्या है ? ये तीनों ही वाक्य सुदीर्घ-कालसे प्रचलित सिद्धान्तके सम्पूर्ण विपरीत हैं । जिस कलियुग-में धर्मका केवल एक पादमात्र बच रहता है यही शास्त्रोंमें वर्णित है, जिस युगमें धर्मकी ग्लानि पूर्णमात्रामें हो जाती है और अधर्मका प्रादुर्भाव क्रमशः वर्धमान रहता है, उसी युगको महर्षिने धन्य कहकर प्रणाम किया ! जो शूद्र और नारी वैदिक ज्ञान और कर्ममें पूर्णतया अनधिकारी हैं, केवल सेवा करना ही जिसका एकमात्र धर्म है—उसी शूद्र और नारीको धन्य कहकर उन्होंने श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया । यह तो एक भीषण विप्लवकी वाणी है ! क्या यही नूतन युगकी वाणी है ? क्या कलियुग यही आदर्श लेकर आ रहा है ? मानवीय साधनाके क्षेत्रमें इस आदर्शका यथार्थ स्वरूप क्या होगा ? मुनियोंमें कुछ तो अवश्य ही इन वाक्योंको सुनकर पुलकित हो उठे और कुछ उदास हो गये । सभी आग्रहके साथ महर्षिके ध्यानभंग और आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे ।

कुछ देर बाद महर्षि नदीसे निकलकर आये और प्रसन्नतापूर्वक मुनियोंके बीचमें बैठ गये तथा उनकी यथोचित अभ्यर्थना करके उनके आगमनका कारण पूछने लगे । मुनियोंने अपने वितर्कका विषय निवेदन किया एवं यह भी सूचित किया कि वितर्ककी मीमांसा भी उन्हींके मुखसे मिल चुकी थी; किंतु वह मीमांसा इतनी अद्भुत और अप्रत्याशित थी कि उसका तात्पर्य समझनेके लिये वे लोग उत्कण्ठित चित्तसे प्रतीक्षा कर रहे थे । मुनियोंने व्यासजीके श्रीमुखसे निकले हुए तीनों वाक्योंका तात्पर्य समझा देनेके लिये उनसे विनीत भावसे अनुरोध किया ।

महर्षि वेदव्यासजीने मुसकराते हुए मुनियोंका निवेदन सुना और वे उनके संशयभञ्जनमें प्रवृत्त हुए । वे बोले, करुणामय भगवान्‌ने मेरे मुखको यन्त्र बनाकर आपलोगोंके सामने जिस महती वाणीकी घोषणा की, वह यद्यपि विप्लवकी वाणी-सी प्रतीत होती है, किंतु भागवती वाणी तो सदा सत्य होती है । प्रचलित संस्कारका विरोधी जब भी कोई भाव प्रकट होता है तो वह विप्लवात्मक ही जान पड़ता है । प्रत्येक भाव, प्रत्येक मतवाद, सत्यका प्रत्येक रूप ही प्रथम आविर्भावके समय विप्लवके ही आकारमें उपस्थित होता है । वही जब समाजको प्रभावित करके स्थायीरूपसे जम जाता है तब प्रचलित संस्कारके रूपमें परिणत हो जाता है । मानवसमाजमें आपात-विप्लवके द्वारा ही सत्यके नूतन-नूतन रूपोंका प्राकट्य होता है, नूतन-नूतन भावधाराएँ प्रवाहित होती हैं, नर-नारियों-के चित्तमें नूतन-नूतन संस्कार उत्पन्न होते हैं । भगवान् इसी प्रकार प्रत्येक युगमें मनुष्यके सामने नवीन-नवीन वाणी प्रेरित करते हैं, सत्यकी नयी-नयी मूर्तियोंके साथ मनुष्यका परिचय कराते हैं । अतएव विप्लवके नामसे ही भीत-चकित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

जो तीन वाक्य सम्प्रति उच्चारित हुए हैं, सम्भव है वे एक नवीन भावप्रवाहकी सूचना दे रहे हों । सम्भव है कालक्रमसे धीरे-धीरे उसका तात्पर्य समाजजीवनमें अभिव्यक्त हो जाय; किंतु यह सनातन सत्य और धर्मका विरोधी नहीं है, बल्कि सनातन सत्य और सनातन आर्यसंस्कृतिका ही एक नवीनरूपमें आत्मप्रकाश है । मुनिलोग यदि अपने विचारोंपर एक और गभीरतर विचारका प्रकाश डालेंगे तो उनका संदेह और विवाद स्वयं ही निवृत्त हो जायगा ।

भगवद्विधानसे युगपरम्परा प्रवाहित हो रही है, वर्ण-विभाग संघटित हो रहा है, पुरुष-नारी-विभाग तो चिरकालसे है ही; इसमें कौन युग श्रेष्ठ है और कौन युग निकृष्ट है, कौन वर्ण श्रेष्ठ और कौन निकृष्ट है, पुरुषका स्थान ऊँचा है या नारीका—ऐसे प्रश्न ही कहाँसे उठते हैं ? तात्त्विक दृष्टिसे विचार करनेपर इन सब प्रश्नोंकी क्या कोई सार्थकता है ? सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्यानन्दमय, सत्य-शिव-सुन्दर श्रीभगवान्‌ने स्वयं इस विश्व-संसारकी रचना की है, आप ही इस संसारका लालन-पालन कर रहे हैं, अपने ही लीला-विधानके अनुसार इसका परिचालन कर रहे हैं, अपने ही अन्तर्निहित आनन्दकी प्रेरणासे अनवरत इसके अंदर कितने वैचित्र्यकी सृष्टि करते हैं, कितना संहार करते हैं और कितना संस्कार-विकार करते हैं । वस्तुतः वे अपने आनन्दमें आप ही सब कुछ हो रहे हैं, स्वयं ही विचित्र नामरूप-उपाधि धारण करके अपने साथ आप ही विचित्र भावोंके, विचित्र रसोंके खेल खेलते हैं; और फिर अपने ही भीतर सबका संहरण कर लेते हैं । यहाँ श्रेष्ठ-कनिष्ठका भेद ही कहाँ है ? सबके अंदर सत्य-शिव-सुन्दरका ही तो आत्मप्रकाश है, सब कुछ वे ही तो हैं । वे ही सब युग हैं, वे ही सभी मनुष्य हैं और वे ही देश-कालमें नये-नये रूप धारण करते हैं। किसको बड़ा कहें किसको छोटा ?

काल-प्रवाहमें युगका आवर्तन हो रहा है; प्रत्येक युगकी प्रकृतिमें कुछ विशेषता रहती है । असंख्य प्रकारकी जीव-जातियोंका उद्भव और विलय हो रहा है; प्रत्येक जातिकी, प्रत्येक श्रेणीकी, प्रत्येक व्यक्तिकी कुछ-न-कुछ विशेषता होती है । मानव-समाजमें भी कितने प्रकारकी आकृति, कितने प्रकारकी प्रकृति, कितने प्रकारका शक्तितारतम्य, बुद्धितारतम्य रहता है । अविशेषमें विचित्र वैशिष्ट्यकी उत्पत्ति—इसीका तो नाम सृष्टि है, यही तो संसार है । इन सब विशेषताओंको लेकर ही तो भगवान्‌की लीला होती है । उनके लीला-विधानमें सभी वैशिष्ट्योंका स्थान है, सार्थकता है, उनका निजी गौरव है । प्रत्येक युग, प्रत्येक जाति, प्रत्येक वर्ण, यहाँतक कि प्रत्येक व्यक्ति ही अपने निज वैशिष्ट्यसे गौरवान्वित है । प्रत्येक ही अपने वैशिष्ट्यको लेकर भगवान्‌की लीलाका पुष्टि-साधन करता है, भगवान्‌के रस-सम्भोगमें उपकरण जुटाता है ।

तात्त्विक दृष्टिसे समस्त वैचित्र्योंमें भगवान्‌के आत्मप्रकाश-का दर्शन करनेसे, समस्त वैशिष्ट्योंमें उनके लीलाविलासका दर्शन करनेसे, सब भेदोंमें अभेदका दर्शन करनेसे श्रेष्ठत्वके विषयमें विवाद क्या नितान्त ही अप्रासङ्गिक नहीं जान पड़ता ? यथार्थ सत्यदर्शीके विचारमें उच्च-नीच, श्रेष्ठ-निकृष्ट, महान्-क्षुद्र—इन सबका कोई भेद नहीं रहता । रहता है केवल अनन्त वैचित्र्यमें एकका लीला-विलास, सभी द्वन्द्वोंमें द्वन्द्वातीतका आत्म-प्रकाश ।

मनुष्य व्यावहारिक दृष्टिसे प्रयोजनके तुलादण्डपर, उच्च-नीच, भले-बुरे, श्रेष्ठ-निकृष्ट आदि भेदका विचार करता है । अवश्य ही व्यवहारके क्षेत्रमें इस विचारका मूल्य स्वीकार करना होगा, किंतु मानव-बुद्धि जितना ही तत्त्वकी भूमिपर आरोहण करती है, उतना ही इन सब भेदोंका विचार अकिंचित्कर बोध होने लगता है । व्यावहारिक जगत्‌में सभी प्रयोजनोंके केन्द्रमें रहता है मनुष्यका अहङ्कार और वासना; भेदका विचार भी तदनुयायी होता है । युग-युगमें, देश-

देशमें, जाति-जातिमें मनुष्यके अहंकार और वासना नये-नये रूप धारण करते हैं, प्रयोजन-बोधके बहुत परिवर्तन होते हैं, और मूल्य-निरूपणका मानदण्ड भी विभिन्न प्रकारका हो जाता है । एक युगमें, एक देशमें अथवा एक जातिमें जिनका स्थान सबके ऊपर होता है, दूसरे युगमें या दूसरे देशमें, अथवा दूसरी जातिमें उन्हींका समादर कम देखनेसे आश्चर्यका कोई कारण नहीं है । अभ्यासकी दासताके कारण जो विप्लव जान पड़ता है, वह भी भगवान्‌के विधान तथा प्राकृतिक नियमके अनुसार ही होता है । समग्र मानवजातिके लिये व्यावहारिक क्षेत्रमें कौन-सी वस्तु सर्वापेक्षा अधिक प्रयोजनीय या सबसे अधिक मूल्यवान् है, इसका निर्धारण करना बहुत ही कठिन है, असम्भव भी कह सकते हैं । मनुष्यके देहेन्द्रिय-मन-बुद्धिके विचित्र प्रयोजनोंमें जब जिस वस्तुका अभाव तीव्ररूपसे अनुभूत होता है, तब वही सबसे अधिक मूल्यवान् हो जाती है । जो लोग उस अभावकी पूर्ति करनेमें विशेषरूपसे अग्रणी होते हैं, समाजमें उस समय उन्हींका सम्मान तथा आदर अधिक होता है ।

मानव-समाजके प्रयोजनपर दृष्टि डालनेसे सहज ही ज्ञात होता है कि मनुष्यके जीवन-धारणके लिये अन्न-वस्त्र-गृहादिकी आवश्यकता अवश्य स्वीकार्य है एवं उसके लिये जो लोग परिश्रम करते हैं उनके परिश्रमका यथेष्ट मूल्य है । समाजके लिये इस परिश्रम तथा श्रमिक वर्गको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखना अवश्य कर्तव्य है । सभ्य मनुष्यके संघबद्ध जीवनमें पार्थिव सम्पत्ति-वृद्धिकी प्रयोजनीयता कोई अस्वीकार नहीं कर सकता । जो लोग कृषि-वाणिज्य-शिल्पादिके उत्कर्ष-साधनद्वारा जाति और समाजकी ऐश्वर्यवृद्धिके कार्यमें संलग्न हैं, समाजके लिये उनका यथोचित सम्मान करना समुचित है । जातिमें शान्ति-शृङ्खलाकी रक्षा करना, विभिन्न प्रकारके स्वार्थोंका समन्वय-साधन करना, विभिन्न श्रेणी और विभिन्न व्यक्तियोंके बीच सब प्रकारके विरोधोंका समाधान करके उन सबको एक सूत्रमें ग्रथित करना, सबको अपनी-अपनी मर्यादामें सुप्रतिष्ठित रखना, देश-जाति-समाजको बाहरी शत्रुओंके आक्रमणसे मुक्त रखना,—ये भी आवश्यक कार्य हैं । जो लोग इन कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, उनके लिये जिस प्रकार शौर्य, वीर्य, धैर्य और संगठन-शक्तिकी आवश्यकता है, उसी प्रकार न्यायनिष्ठा, धर्मपरायणता, मानवप्रेम और स्वार्थत्याग भी आवश्यक है । मानव-समाजमें उन लोगोंके प्रति भी यथेष्ट श्रद्धा और सम्मान होना चाहिये । मनुष्यको जिस प्रकार बहिर्जीवनकी आवश्यकता है उसी प्रकार अन्तर्जीवनकी भी प्रयोजनीयता है । विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला, विद्या, धर्मशास्त्र आदि सभी उन्नतिशील मानव-समाजके लिये आवश्यक हैं । जो लोग इन सबकी गवेषणामें निरत हैं, वे भी समाजकी बहुत बड़ी सेवामें नियोजित हैं तथा सबके सम्मानार्ह हैं । जो लोग मानवजातिके अन्तर्जीवनका उत्कर्ष-साधन करनेके उपायानुसन्धानमें डूबे रहते हैं, उनके बहिर्जीवनके प्रयोजनोंकी पूर्तिका दायित्व समाज और राष्ट्रको ग्रहण करना चाहिये । अतएव शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण सभी समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं, अतएव सभी समादरणीय हैं ।

इस प्रकार मानव-समाजके प्रयोजनकी दृष्टिसे विचार करनेपर भी एक श्रेणीको श्रेष्ठ और दूसरीको निकृष्ट कहनेका कोई कारण नहीं है । सभी लोग अपनी-अपनी सामर्थ्यके अनुसार समष्टि-जीवनके प्रयोजनकी पूर्ति कर रहे हैं । जीवित समाजदेहके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही श्रद्धाके योग्य हैं—कोई बड़ा या छोटा नहीं । किसी भी एक अङ्गके विकल होनेसे ही समाजकी स्वास्थ्य-हानि होती है, धर्महानि होती है और अभ्युदयके मार्गमें विघ्न उपस्थित होता है । प्रयोजनके मानदण्डसे भी सब श्रेणियोंका एक दूसरेके प्रति समदर्शिताका अनुशीलन करना आवश्यक है । समाजमें पुरुष और नारीके श्रेष्ठाश्रेष्ठ विचारका क्या कोई अर्थ है ? पुरुषके विना जिस प्रकार नारीके नारीत्वका विकास असम्भव है, उसी प्रकार नारीके विना पुरुषके पुरुषत्वका विकास भी सम्भव नहीं है । पुरुष और नारीकी मिलित सत्तासे ही मानवताका विकास होता है । मुनियोंके लिये सर्वतोभावेन समदर्शिताका अभ्यास ही वाञ्छनीय है ।

अब प्रश्न यह रहा कि कलि, शूद्र, नारीको जो धन्य कहा गया, उसका तात्पर्य क्या है ? मानव-जीवनके चरम लक्ष्यका विचार करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि भगवान्‌को प्राप्त करना ही—जीवनके सभी क्षेत्रोंमें भगवान्‌के सत्य-शिव-सुन्दर-स्वरूपका अनुभव करना ही—चरम और परम लक्ष्य है । तत्त्वविचारसे निरूपित हो चुका है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म', ब्रह्म ही जीव-जगत् रूपसे अपनेको लीलायित करके विचित्र प्रकारसे अपनेको आप ही सम्भोग कर रहा है । भगवान्‌के इस विश्वरूपके अंदर मनुष्यका ही अनन्यसाधारण अधिकार है भगवान्‌को प्राप्त करनेका, भगवान्‌को अपने भीतर और विश्वके भीतर

विश्वके परमकारण भगवान्, सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और न्यायवान् भगवान्के साथ ही उनका परिचय था।

युगपरिवर्तनसे मनुष्यका शक्ति-सामर्थ्य यदि घटता जाता है तो उसके साथ मनुष्यका अहङ्कार भी दुर्बल हो जाता है, आत्मशक्तिमें विश्वास भी शिथिल हो जाता है और अपने पुरुषकारके ऊपर भगवान्की करुणाको स्थान देना मनुष्य सीखता है। यह तो हानि नहीं है, दुर्भाग्यका सूचक नहीं है; अपितु यह तो एक महान् लाभ है, महासौभाग्य है। अहङ्कारका शमन होनेपर तो मनुष्यका भगवान्के साथ विशेषतर और घनिष्ठतर परिचय होता है। मनुष्य अपने अहङ्कारको जिस परिमाणमें भगवत्करुणाके सामने बलिदान करना सीखता है, उसी परिमाणमें भगवान् अपनी करुणाघन प्रेमघन सुकोमल, सुमधुरमूर्ति प्रकट करके मनुष्यके सामने उतर आते हैं; मनुष्यके निजजन हो जाते हैं, मनुष्यके लिये सहज लभ्य हो जाते हैं। पूर्वकालके पुरुषकार—प्रधान युगोंकी अपेक्षा कलियुगके दुर्बल आत्मप्रत्ययविहीन मनुष्यके लिये भगवान्के प्रति आत्म-समर्पण करना अतिशय सहज और स्वाभाविक है। उसका आत्मविश्वास जितना ही कम होता है, चित्त जितना ही दीनभावापन्न होता है, उतना ही भगवद्विश्वास बढ़ता है, भगवान्में आत्म-समर्पण करके भगवत्प्राप्तिके लिये भगवान्की ही करुणापर निर्भर रहना उतना ही सहज हो जाता है। पुराने युगोंमें मनुष्य साधन करता था भगवान्के उस स्वरूपके पास पहुँचनेके लिये, जो संसारसे बहुत ऊँचा था। वह संसारको पीछे छोड़कर भगवान्के नित्य निर्विकार निष्क्रिय स्वरूपके साथ मिलित होनेके लिये प्रयास करता था; परंतु कलियुगमें मनुष्य अपने पुरुषकार-सामर्थ्यमें आस्थाहीन होकर संसारमें ही भगवान्से मिलनेके लिये भगवान्की करुणाकी ओर ही एकटक ताकता रहता है (तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः)। भगवान्के प्रति देहेन्द्रिय-मन-बुद्धिका निवेदन करके प्रतीक्षा करता रहता है एवं करुणाघनतनुधारी भगवान् स्वयं उतर आते हैं इस निरभिमान दीनातिदीन भक्तसे मिलनेके लिये। कलियुगके मनुष्यके लिये यह कितने बड़े सौभाग्यकी बात है।

क्या ऐसी कल्पना करना असमीचीन होगा कि विश्व-विधाता भगवान् सम्भवतः मनुष्यके अहङ्कारको विचित्र अभिज्ञता और विचित्र घात-प्रतिघातके द्वारा क्रमशः प्रशमित करके, क्रमशः शुद्ध, स्वच्छ, दीनभावापन्न और आत्मानुगत करके मनुष्यके सामने अपना करुणाघन, प्रेमघनस्वरूप प्रकट करनेके एवं अपने और मनुष्यके बीचका व्यवधान मिटानेके उद्देश्यसे ही इस युगावर्तनका विधान करते हों ? क्या इस बातकी सम्भावना नहीं है कि युगावर्तका इतिहास—मनुष्यके सामने भगवान्के क्रमशः उतर आनेका इतिहास है ? मनुष्य और भगवान्के बीच अहङ्कारघटित व्यवधानके क्रम-संकोचका ही इतिहास है ? सत्ययुगका अनुसंधेय भगवत्तत्त्व कलियुगमें मनुष्यके चक्षुके सम्मुख समुपस्थित प्रेमघनमूर्ति नरलीलामय प्रत्यक्ष भगवान् हैं।

किसी-किसी शास्त्रमें जो यह वर्णन है कि कलियुगमें धर्मका केवल एक पाद ही अवशिष्ट रहता है, वह भी निरर्थक नहीं है। कलियुगके जन-साधारणमें ज्ञान-तपस्यामय साधन, योग-तपस्यामय साधन और यागयज्ञादि-कर्मबाहुल्यमय साधन लुप्तप्राय हो रहा है और होगा। शेष बची है—एकपाद भक्ति-साधना। कलियुगका धर्म पूर्वयुगानुयायी मानव-धर्म नहीं है, कलियुगका धर्म है भागवत-धर्म। भागवत-धर्मकी मुख्य साधना ही है—मानवीय अहङ्कारको भगवान्के प्रति सम्पूर्णरूपसे समर्पण कर देना। इस धर्ममें भगवान् मनुष्यके ध्येय, ज्ञेय, अनुसंधेय नहीं हैं। सम्पूर्ण मन-प्राण-हृदयके द्वारा भगवान्को सर्वतोभावेन स्वीकार कर लेना ही इस धर्मका प्रारम्भ है। भगवान्को कहींसे खोजकर नहीं निकालना है। भगवान् सामने उपस्थित हैं, उनके प्रति हृदय-मन-बुद्धि-देह सब निवेदन कर देना है, धर्मके इस एक पादका ही माहात्म्य है कि इससे मनुष्य और भगवान्के बीचका सारा व्यवधान मिट जाता है। भगवान्को लेकर ही साधनाका आरम्भ, भगवान्को लेकर ही साधनाकी प्रगति और भगवान्को लेकर ही साधनाकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। साधक तो भगवान्की करुणापर अपनेको सम्पूर्णरूपसे छोड़कर ही निश्चिन्त हो जाता है। उसको और कुछ करना नहीं पड़ता। उसके अहङ्कारको निःशेषरूपसे अपने भीतर विलीन करके उसको अपने स्वरूपगत पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण सौन्दर्य-माधुर्यसे भरपूर करनेके लिये जो कुछ आवश्यक होता है, वह सब भगवान् ही उससे करवा लेते हैं। धर्मके इस एक पादके गौरवसे ही कलिका मनुष्य धन्य-धन्य हो जाता है।

इस भागवतधर्मके गौरवसे कलियुगके मनुष्यका और भी कितना सौभाग्य है यह विवेचनीय है। उसके लिये भगवान् न केवल निर्विकार चैतन्यस्वरूप ही हैं, न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सृष्टि-स्थिति-प्रलयविधाता ही हैं, और न परम-

न्यायवान् कर्मफलदाता हैं। यहाँतक कि अनुपम महिमा-मण्डित उच्चासनपर समासीन करुणावितरणकारी भी नहीं हैं। उसके लिये तो भगवान् हैं स्नेहमय पिता, स्नेहमयी जननी, सौहार्दमय सखा और क्रीडासहचर, आनन्दघन पुत्र और कन्या, प्रेममय स्वामी अथवा प्रेममयी पत्नी। संसारमें जितने प्रकारके भी सुमधुर सम्बन्ध हैं, भगवान् सभी सम्बन्धोंमें सुशोभित होकर कलिके आत्म-निवेदनकारी भक्तके सामने उपस्थित होते हैं एवं सब प्रकारके आनन्दास्वादनके द्वारा उसको सम्पूर्णरूपसे अपना बना लेते हैं। और इस धर्ममें अनधिकारी भी कोई नहीं है। आत्म-समर्पण करनेमें आब्राह्मण-चाण्डाल सभी समान अधिकारी हैं। अतएव सर्वाराध्य भगवान् सभीके द्वारपर उपस्थित हैं, सबके साथ समान होकर उपस्थित हैं। तभी तो कलि धन्य है।

जिस दृष्टिकोणसे विचार करके कलियुगको धन्य कहा गया है, उसी दृष्टिकोणसे शूद्र और नारीको सत्य घोषित किया गया है। ज्ञानबल, तपोबल, वीर्यबल, धनबल, कर्म-बल इत्यादिके प्राधान्यसे समाजमें शूद्र और नारीका स्थान नीचे रहा है। वैदिक कर्मकाण्डादिके अनुष्ठानमें शूद्र और नारीका अधिकार नहीं है। वे अनेक सामाजिक व्यापारोंमें अधिकार-वञ्चित हैं। किंतु भगवान्के अचिन्त्य करुणा-विधानसे जागतिक उच्चाधिकारसे वञ्चित होकर ही शूद्र और नारीने भगवान्के सान्निध्यलाभका अधिकार सहज ही प्राप्त कर लिया है। संसारमें अभिमान करनेके लिये उनके पास कोई विशेष वस्तु ही नहीं है। ज्ञानकर्ममूलक धर्मशास्त्र एवं समाजविधानने उन्हें सदासे पृथक् रखकर उनके अहङ्कारको कभी मस्तक ऊँचा नहीं करने दिया है। आत्मसमर्पणयोग उनके लिये प्रायः स्वभावसिद्ध हो गया है। शूद्र ब्राह्मणादि तीन वर्णोंके प्रति आत्मसमर्पण करनेमें एवं निरभिमानभावसे उनकी सेवा करनेमें अभ्यस्त हैं। नारी स्नेह-प्रेमभक्तिनिष्ठाके साथ पुरुषकी सेवा करनेमें एवं पुरुषके प्रति आत्मसमर्पण करके जीवन-यात्रा-निर्वाह करनेमें युगयुगान्तरसे अभ्यस्त है। अतएव अहङ्कारका शमन करनेमें तथा आत्म-समर्पणका अभ्यास करनेमें उसको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। जागतिक जीवनमें जो भावसाधना उसकी सिद्ध रहती है, उसी भावको भगवान्के प्रति प्रवाहित कर देनेमात्रसे ही वह अति सहजरूपसे ही भगवान्को प्राप्त करनेमें, भगवान्के साथ ऐकान्तिक भावसे मिलित होनेमें समर्थ हो जाती है।

भागवतशास्त्रने भी शूद्र और नारीके उन्नत अधिकारको स्वीकार किया है। कर्मके साधनमें, ज्ञानके साधनमें, याग-यज्ञ-योग-तपस्याके साधनमें वे अपेक्षाकृत अपटु होते हैं, यह सत्य है। इसीलिये प्रेमकी, भक्तिकी, विश्वासकी, सेवाकी और आत्म-समर्पणकी साधना उनके लिये सहज होती है एवं यही साधना उन्हें सहज ही भगवान्के निकट पहुँचा देती है, सहज ही भगवान्को प्राणप्रिय, मनमोहन तथा नितान्त निजजन बना देती है। भगवान्का करुणामय, प्रेममधुर स्निग्धस्वरूप इन निरभिमान सेवाव्रती एकान्त शरणागत भक्तोंके सामने सहज ही प्रतिभात होता है। भागवतशास्त्रने वृन्दावनके गोप-बालक और गोप-बालिकाओंको ही मानव-समाजमें आदर्शरूपसे उपस्थित किया है। उन्होंने भगवान्को सम्पूर्णरूपसे, भगवान्को निजजनके रूपमें स्वीकार किया और वे ही हैं, जो इसी स्थूल देहसे, स्थूल जगत्में सम्यक्‌रूपसे भगवान्को प्राप्त करके उनसे मिलनेमें समर्थ हुए। हिंदू-समाजके श्रेष्ठ मुनि-ऋषि-तपस्वी—सभीने इन गोप-गोपियोंको आदर्श माना है। कलियुग इस भागवतधर्मका ही युग है—यह मनुष्य और भगवान्में घनिष्ठ मेल-मिलापका युग है एवं श्रीकृष्ण और गोप-गोपियोंका निराविल प्रेम-सम्बन्ध और प्रेमलीला इस धर्मका चिरन्तन आदर्श है। इसीलिये कलि, शूद्र और नारी धन्य हैं।

अभिमानका यह एक स्वभाव है कि वह अपने गौरवसे गौरवान्वित होकर ही तृप्त नहीं होता; अपितु दूसरेको छोटा देखना चाहता है, उसे छोटा ही बनाये रखना चाहता है। अपनी संकीर्ण दृष्टिसे जिसको वह छोटा देखता आ रहा है, वह यदि कभी गौरव-अर्जन करना चाहे, समाजमें यदि किसी ओरसे उसके गौरवकी स्वीकृति होने लगे तो अभिमानकी अन्तर्ज्वाला आरम्भ हो जाती है, वह तब समाजमें विप्लवके लक्षण देखकर भीत—चकित हो जाता है। भागवतशास्त्र घोषणा करता है—

'चाण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठो हरिभक्तिपरायणः।'

जो अन्त्यज जातियाँ अस्पृश्य मानकर समाजमें वर्जित होती आ रही हैं, भागवतधर्म उनके लिये भी भगवान्को प्राप्त करनेके, भगवान्का लीलासहचर बननेके मनुष्योचित अधिकारकी घोषणा करता है। भागवतधर्मके अनुशीलनमें कोई जातिगत, वर्णगत, सम्प्रदायगत अधिकार-भेद नहीं है, वीर्यैश्वर्यगत और ज्ञानशक्तिगत कोई अधिकार-भेद नहीं है, मानवमात्रका ही इसमें समान अधिकार है। इस दृष्टिसे

सभी मनुष्य एक जातिके हैं। भगवान्की भक्ति करनेमें एवं भगवान्के साथ सम्पूर्णरूपसे मिलित होकर मानव-जीवनकी चरम सार्थकता प्राप्त करनेमें मनुष्यमात्र ही अधिकारी है।

भागवतधर्मकी इस महती वाणीको हृदयमें धारण करके कलियुगका आगमन हुआ है। उच्च जातिके अभिमानी लोग संस्कारवश इस वाणीको विप्लवकी वाणी और इस युगको विप्लवका युग मानकर वर्तमानमें भयभीत हो सकते हैं; किंतु कालक्रमसे वे भी इसी वाणीको हृदयसे वरण कर लेंगे, वे भी भगवान्का सान्निध्य अनुभव करनेके लिये याग-योग-ज्ञान-तपस्याकी अपेक्षा भगवान्की करुणापर विश्वास और भगवच्चरणोंमें आत्मसमर्पणको प्रकृष्टतर उपाय मानकर ग्रहण करेंगे, वे भी आत्मसमर्पणयोग सीखनेके लिये शूद्र और नारीके प्रति- उपदेश-प्रार्थना करनेमें कुण्ठित न होंगे। भागवतधर्मका सुमधुर आस्वादन मिलनेपर वे भी जात्य-भिमान, ज्ञानाभिमान, वीर्याभिमान, ध[न]भिमान त्याग करके शूद्र-चाण्डालादि स[ब]समान समझना सीखेंगे एवं प्रेमसे उनका आलिङ्गन करके तृप्तिका अनुभव करेंगे। भागवतधर्म समस्त मानव-जातिको एक जातिमें परिणत कर देगा एवं मनुष्य और भगवान्के बीचका अविद्याजनित और अहङ्कारपोषित समस्त व्यवधान लुप्त कर देगा। मनुष्य मनुष्यके भीतर भगवान्को देखकर, मनुष्यके भीतर ही भगवान्की पूजा करने सीखेगा, जागतिक सकल कर्तव्य-कर्मोंको भगवत्कर्म समझकर भक्तिपूत देह-मनसे सम्पादन करनेमें अभ्यस्त होगा एवं विश्वके सभी स्थानोंमें भगवान्का मधुर लीला-विलास देखकर भगवान्में ही अपनी सत्ता निमज्जित कर देगा। तभी कलियुगका यथार्थ स्वरूप प्रकट होगा, कलियुग सार्थक होगा, मनुष्य कृतार्थ हो जायगा।

शोकपर विजय पाना सीख लिया

[कठिनाइयोंमें अनुभव करनेयोग्य विचार]

(लेखक—प्रो० श्री पी० रामेश्वरम्)

तामिलभाषाकी एक सुप्रसिद्ध कहावत है कि 'निरन्तर कठिनाइयाँ पड़नेपर इंसान चमकता है और कठिनाई सरलतामें बदल जाती है।' स्त्रीकी मृत्यु, पुत्रका युद्धभूमिमें वीरगति पाना, चिरसंचित सम्पदाका क्षणोंमें पलायन एवं सभी मित्र और सम्बन्धियोंका एक साथ शत्रु बन जाना—ऐसी बातें थीं, जिनसे मेरा मानसिक संतुलन खो-सा गया था। मस्तिष्क काँप गया था और भयसे मेरा हृदय भर गया था। सम्पूर्ण विश्व मुझे शोक और अन्धकार उगलता प्रतीत होता था। निराशाने मेरी आत्मापर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, किंतु 'नैराश्यं परमं सुखम्' मुझे निराशामें सुखकी झलक दिखायी पड़ी। क्यों न उसे सच्चिदानन्द परमात्माकी झलक कहूँ? जिसने मेरे जीवनका प्रवाह ही बदल दिया, दृष्टिकोणमें युगान्तरकारी परिवर्तन कर दिया।

यदि कोई व्यक्ति मुझे कष्ट या चोट पहुँचाता है तो अब मैं दुखी नहीं होता। समझता हूँ कि भूतकालमें किये गये किसी मेरे ही कुकर्मका परिणाम है। मेरे मस्तिष्क-में यह विचार अब नहीं घुस पाते कि कोई व्यक्ति मुझे हानि भी पहुँचा सकता है; क्योंकि परमात्माके राज्यमें अन्याय कदापि नहीं हो सकता। यदि किसीने मुझे चोट पहुँचायी, अथवा कोई दुर्घटना मेरे साथ होती है तो निश्चय ही वह मेरे भूतकालमें किये गये कार्योंका परिणाम मात्र है।

उपनिषद्का यह वाक्य इस सम्बन्धमें स्मरणीय है—'वास्तवमें बिना कारणके कोई भी व्यक्ति तुम्हें कष्ट नहीं दे सकता।' न यह सम्भव है कि कारणके अभावमें

न्याय-
ओई कार्य हो सके । अतः जो कुछ आपत्ति तुम्हारे ऊपर आती है, वह निःसंदेह तुम्हारे कर्मोंका परिणाम है । परमात्मा न्याय करता है और तुम्हारे लिये, तुम्हारे भलेके लिये—तुम्हारे पाप नष्ट करनेके लिये तुम्हें 'विपत्ति' देता है । कष्ट-प्रदायक व्यक्ति तो केवल, निमित्तमात्र है ।

शत्रुपर दया

यथार्थमें कष्टदायक व्यक्तिपर मुझे अब घृणा नहीं होती । वह बेचारा स्वयं अन्धकारमें पड़ा हुआ है । उसकी अज्ञानता एवं मूर्खताने उसे, 'दूसरोंको कष्ट देनेका अभिनय' करनेपर विवश कर दिया है । मुझे यन्त्रणा देकर उसने अपना विनाश किया है और आपत्तियोंको स्वयं अपने ऊपर आमन्त्रित किया है । कोई भी व्यक्ति, जो अपने ऊपर विपत्तियोंको आमन्त्रित करता है, बुद्धिमान् नहीं माना जा सकता । अतः वह मेरी भी दयाका पात्र है । मैं अब उसपर क्रुद्ध नहीं होता । वरं भगवान्‌से प्रार्थना करता हूँ कि उस भूले-भटके प्राणीको शुभ-मार्गपर डाल दिया जाय । उसे क्षमा किया जाय । ऐसा करनेसे, प्रत्युत्तरमें मुझे भी अत्यन्त शान्ति प्राप्त होती है ।

जो बीत गया है

पुरानी असफलताएँ, कटु अनुभव तथा आर्थिक परिवर्तन (विशेषतः हानि) अब मुझे डावाँडोल नहीं कर पाते । जो बीत चुका, वह बीत चुका । अब उसपर अश्रु बहाने, उद्विग्न होनेसे क्या लाभ ? आवश्यकता इस बातकी है कि जो शेष है, वर्तमान है, भविष्य है, इसे भलीभाँति सँभाला जाय । जीवनका शेष भाग शुभ-कार्योंमें प्रयुक्त हो । बीती बातोंका आश्रय लेकर क्रोध, कुविचार, घृणा, ईर्ष्या, गर्व, अहंकार और मद-जैसे प्रबल शत्रु कभी आक्रमण न कर दें । और इनके छुट-पुट हमलोंसे अपनी रक्षा की जाय ।

आनन्दके पथपर

शेक्सपीयरका यह कथन कि 'यह संसार एक रङ्ग-मञ्च है और हम सब अभिनेता हैं'—मुझे अत्यन्त प्रिय है । जब हम अभिनेता हैं तो अपना अभिनय क्यों न सफलतापूर्वक करें ? सम्पत्ति, धन और मानका अभाव और विनाश क्यों हमें दुखी करे, जब कि निश्चित है कि यह संसार एक सरायकी भाँति है । यहाँ हम एक घुमक्कड़ यात्रीकी भाँति आते हैं, थोड़ी देर ठहरते हैं और फिर विदा हो जाते हैं । फिर शोक किस बातका ? क्यों न दृष्टिकोण ही बदल दिया जाय ? फिर तो सारा संसार प्रभुकी चेतनासे पूर्ण दृष्टिगोचर होने लगेगा । चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द दृष्टिगोचर होगा । मुझे भी और आपको भी शोक करनेका कोई ठोस बहाना नहीं मिलेगा । मनुष्यकी वास्तविक प्रकृति आनन्दमय है । अतः प्रत्येक अवस्थामें हमें आनन्दमें तन्मय रहनेका अधिकार है ।

मुसकानके लिये

मेरे विषयमें अनेक मित्रोंकी राय यह है कि मैं सदैव मुसकराता रहता हूँ, सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता हूँ और कदापि मुँह लटकाये नजर नहीं आता । यह यथार्थ ही है । मेरा विश्वास है कि जहाँतक मेरा प्रश्न है, मेरे लिये दुःख और शोक नामक कोई अवस्था विद्यमान ही नहीं है । चिन्ता एवं उद्विग्नताकी कोई सम्भावना नहीं । प्रभुके राज्यमें हर्ष और आनन्दकी तरङ्गें बह रही हैं । कोई भी व्यक्ति उनसे दूर नहीं । पहचाननेकी देर है । आवश्यकता है कि व्यक्ति अपने और सच्चिदानन्दके सम्बन्धको पहचाने और आनन्दमें—परमानन्दमें तन्मय रहनेका स्वभाव बना ले ।

इन्हीं आधारोंपर, मैं फिर कहता हूँ कि मैंने दुःखको जीत लिया है ।

मैंने तुमको कब पहचाना

(लेः—श्रीवेदान्ती महर्षि)

बचपनकी नादानीमें एक दिन मैं जूता पहने पूजा-गृहमें, जहाँ माँने एक सुन्दर-सी मूर्तिको सजाकर सुन्दर सिंहासनपर विराजित कर रक्खा था, घुस गया—माँने चिल्लाकर कहा—'अरे तुझे दिखायी नहीं देता, वहाँ भगवान् हैं ।' भगवान् क्या इस छोटी-सी कोठरीमें रहते हैं । मैंने मूर्तिके आगे मस्तक झुका दिया और मन-ही-मन उनसे क्षमा माँगी—'मुझे माफ करना भगवान् ।' और उस दिनसे जहाँ कहीं भी मैं वैसी मूर्ति देखता, मेरा मस्तक अपने-आप झुक जाता । मैं अनुभव करता—ऐसे आनन्दका, जिसे मुखसे कहा नहीं जा सकता । बचपनकी यह छाप मेरे हृदयपर ऐसी बैठी कि मैं तुम्हारी उस सुन्दर छविका लोभी बन गया । उस समय माँने मुझे यदि कहा होता—'जो तुम मूर्तिमें हो, वही तुम सबमें सदा व्याप रहे हो, हर-वस्तुमें तुम्हारा निवास है' तो मैं इस तरह न भटकता । हर वस्तुमें, हर जगह, हर मनुष्यमें तुम्हें देखता और आदर करता । तुम्हें रोते देखकर रोता, तुम्हें हँसते देखकर हँसता । पर मेरे भाग्यमें यह अनुपम सुख कहाँ था, मैं तो रास्तेसे भटका हुआ प्राणी था । मैंने तो केवल मूर्तिमें तुम्हें देखा-पहचाना और बस, उसी रूपका मैं पुजारी बन गया ।

एक बार जो भटका तो फिर सँभल न पाया—सँभलता भी कैसे ? जवानीकी मस्तानी राहमें भटकानेवाले जो बहुत-से और मिल गये । तेरी चर्चा जब होती तो कोई कहता—'यह सब मूर्खोंका ढकोसला है', कोई कहता—'ये सब बातें बुढ़ापेमें करना, इस समय तो विलासकी बहती गङ्गामें नहाओ ।' कोई बड़े गम्भीर पुरुष मिलते तो बताते कि 'तुम बनोंमें, घने जंगलोंमें—मिलते हो ।' किसीने कहा 'तुम बड़े-बड़े तीर्थोंमें निवास करते हो ।' मैंने तीर्थ किये, वनोंमें ढूँढ़ा, पर तुम न मिले । मिलते भी कैसे । मेरी आँखें सुन्दरताकी लोभी जो थीं, वह तुम्हारे लिये नहीं, वह तो सुन्दरताके लिये बेचैन थीं । तुम सदा मेरे पास थे, अपनेको पहचाननेके लिये तुमने मुझे कितने ही मौके दिये । पर मेरी अभागी आँखें तो रूपकी प्यासी थीं, उन्होंने कभी मेरे हृदयके अंदर नहीं झाँका और दूसरे रूपोंको देखना भी न चाहा । यह तो उसी रूपकी लोभी बनी रहीं, जिन्हें कलाकारोंने तरह-तरहके रंगोंसे रँगकर संसारको बावला बना दिया है । उन रंगोंकी चकाचौंधसे मेरी आँखें भी वह छोटा-सा सीधा-सादा रूप भूल गयीं जो समय-समयपर मेरी आँखोंके सामने आता रहा । केवल एक ही रूपके पीछे बावला बना मैं यह भूल गया कि जड-चेतन सबमें तुम बसे हो । तुम्हें देखनेवाली आँखें चाहिये ।

दिन-पर-दिन जब तुम्हें देखनेकी लालसा बढ़ने लगी तो तुम मेरी परख करने आये । तरह-तरहके रूप धरकर तुमने मुझसे आँख-मिचौनी खेली । तुम्हें पकड़ना तो दूर, मैंने तुम्हें पास भी नहीं फटकने दिया । एक ही तो गिनाऊँ । तुम अपंगका भेष धरे मेरे पास आये और दयाकी भीख माँगी, मैंने तुम्हें दुतकारा तो आँखोंमें आँसू भरे तुमने मुझे ऊपरसे नीचेतक देखा और 'भगवान् तुम्हारा भला करे'—कहकर चले गये ।

तुम फिर आये—चिथड़ोंसे लिपटे, धूलसे भरे, भूखसे व्याकुल । मुझसे खानेको माँगा । 'यहाँ कुछ नहीं है, भाग यहाँसे ।' और तुम्हारे जानेके थोड़ी देर बाद ही तरह-तरहकी मिठाइयोंसे भरा थाल मैंने तुम्हारी सुन्दर मूर्तिके सामने रख तुमसे खानेका अनुरोध किया । मेरी इस अज्ञानतापर तुम उसी तरह मुसकराते खड़े रहे ।

बार-बार लौटकर भी तुमने मुझे नहीं छोड़ा—छोड़ते भी कैसे । भक्तोंको तुम सहज ही थोड़े छोड़ते हो ! तुमने सोचा, शायद भक्तको मेरे ये गंदे रूप न भाये हों । तुम फिर आये, इस बार तुम वस्त्रोंमें थे,

चेहरेपर सज्जनताकी छाप लिये तुम अतिथि बनकर मेरे दरवाजेपर आकर खड़े हो गये। 'दो दिन आपके यहाँ ठहरना चाहता हूँ।' तुमने मुझसे विनम्र प्रार्थना की। 'अतिथि बनकर घर लूटना चाहते हो ? जाओ यह उल्लू किसी औरको बनाना।' मेरी यह बात सुनकर तुम्हारा मुँह उतर गया—'बड़ी आशा लेकर तुम्हारे पास आया था'—यह कहकर तुम चले गये। हाय ! उस समय मेरी आँखोंने तुम्हें लुटेरेके रूपमें क्यों देखा, भगवान्‌के रूपमें क्यों नहीं देखा।

तुम निराश होनेवाले नहीं थे। तुमने फिर एक रूप धरा। ऐसा रूप, जिसमें तुमने मेरे सम्बन्धका सहारा लिया। तुमने सोचा होगा, इस रूपमें तुम्हारा भक्त तुम्हें पहचान लेगा। कैसे भोले हो तुम भी। तुम क्या नहीं देखते कि बुरे समयमें कोई भी नाते-रिश्तेका खयाल नहीं करता। ऐसे समयमें तो अपनोंको अपना कहनेमें भी मन हिचकता है। एक दिन तुम मेरे निकट-सम्बन्धीका रूप धरकर ही चले आये और अपनी मुसीबतें मेरे सामने रखकर मुझसे सहायता करनेकी प्रार्थना की। मैंने अपनी मजबूरी जताते हुए दुःख प्रकट किया—'मेरे पास कुछ नहीं है, यदि होता तो अवश्य तुम्हारी सहायता करता।' तुम जानते थे मेरे पास सब कुछ है। इसलिये तुमने फिर एक बार मुझे चेतावनी दी। तुमने जो कुछ कहा था, वह मुझे आज भी याद है। काश, उस समय मैंने समझा होता। तुमने कहा—'आप तो दिन-रात पूजा-पाठ करते हैं, नियमसे मन्दिर जाते हैं। सोचा था, आपके दिलमें दया होगी। इसी आशापर आपके पास आया था। समय सबका एक-सा नहीं रहता। बादमें आपका सब लौटा दूँगा।'—तुमने मुझसे गिड़गिड़ाकर कहा था।

पर मेरी 'ना' 'हाँ' में नहीं बदली। बहुत सहा तुमने। पर मेरी इस निठुराईको तुम न सह सके। क्रोधसे काँपती हुई तुम्हारी वह आवाज मैंने अपने सम्बन्धीके मुखसे सुनी। 'भगवान्‌ने चाहा तो अब आपके दरवाजेपर कभी नहीं आऊँगा।' और सचमुच फिर तुम कभी नहीं आये। कैसे आते, तुम जान गये थे कि मैं ढोंगी हूँ, भक्तिका ढोंग रचकर मैं दूसरोंको और अपनेको धोखा दे रहा हूँ। जिसके दिलमें दया नहीं, वहाँ भक्ति कहाँ रह सकती है ?

जिसके हृदयमें भक्ति होती है, वह हर मनुष्यमें, हर वस्तुमें तुम्हें खोज लेता है। हर समय तुम उसके पास रहते हो। यही सब समझानेके लिये तुम बार-बार मनुष्य-रूपमें अवतार लेते हो। और हम जबतक तुम मूक बने, धातु-पाषाण बने हमारे सामने खड़े रहते हो, तभीतक तुम्हारी पूजा करते हैं। लेकिन जब तुम सजीव हमारे सामने होते हो, तब हम घृणासे मुख फेर लेते हैं। हमारी आत्मामें बैठे तुम जो आदेश हमें देते हो, उसे हम सुना-अनसुना कर जाते हैं। यही है हमारी भक्ति !

आज जब मेरी आँखें खुलीं तो जमाना बदल गया था। जो मौके तुमने मुझे दिये, वह अब इस जीवनमें कभी नहीं आयेंगे। आये भी तो मैं कुछ कर नहीं सकूँगा। न मुझमें वह मस्ती रही, न शक्ति। लम्बी सफरकी थकानने मेरे हाथ-पाँव ढीले कर दिये हैं। आँखोंकी ज्योति मंद पड़ गयी है। आज मेरी दुर्बलतापर वही झुँझला पड़ते हैं जिनके लिये मैंने तुमसे झूठ बोला था, तुम्हें धोखा दिया था। काश, मैं उस समय जान पाता कि जो आज मेरा है, कल उसपर दूसरेका अधिकार होगा। आज मुझे उन बेबसोंके दुःखका अनुभव हो रहा है, जो कभी मेरे द्वारसे ठुकराये गये थे !

सब कहते हैं—'बुढ़ापा है, भगवान्‌का नाम लो।' पर मैं किस मुखसे तुम्हें पुकारूँ। तुमसे तो कुछ छिपा नहीं है। तुम आज भी मेरे पास हो, तभी तो तुम्हें पहचान पाया हूँ। मेरे पश्चात्तापके आँसूसे पिघलकर तुम्हीं तो किसी-न-किसी रूपमें, आज मेरी सेवा कर रहे हो, जब कि मैंने तुम्हारी कोई सेवा नहीं की। कितने दयालु हो तुम !

सहजता यानी सहजपना

(लेखक—सेठ मोतीलाल मणिकचन्द [प्रताप सेठ])

जिस समय जो क्रिया होती है, उस समय वह क्रिया परमात्मस्वरूप ही रहती है। क्रिया होते समय न तो क्रियामें क्रियाका स्वरूप रहता है और न कालमें कालका स्वरूप ही रहता है। वह क्रिया हस्त-पादादि कर्मेन्द्रियोंकी हो अथवा चक्षु-कर्णादि ज्ञानेन्द्रियोंकी हो या मन-बुद्ध्यादि अन्तरिन्द्रियोंकी हो। क्रिया होते समय तो वह सहज-स्वरूप यानी परमात्मस्वरूप ही रहती है, उसमें भेद नहीं रहता। शङ्का भी बुद्धिकी एक क्रिया ही है। इतर क्रियाओंकी भाँति शङ्का भी सहज ही उत्पन्न होती है। बुद्धि जब उसको विषय करेगी तभी यानी विषय करनेमें ही शङ्कामें शङ्काका स्वरूप और अर्थ आयेगा। शङ्का-समाधान-प्रश्नोत्तर आदि सहज होते ही रहते हैं, परंतु उस समय 'यह शङ्का है' ऐसा हम उसको विषय नहीं करते। इसलिये उसमें शङ्काका स्वरूप नहीं रहता, वह तो दूसरी सारी क्रियाएँ विषय किये बिना जैसे परमात्मस्वरूप रहती हैं, वैसे ही शङ्का भी परमात्मस्वरूप ही रहती है। सहजतामें उसमें कोई स्वरूप और अर्थ नहीं रहता। इस सहजताकी क्रियाओंको अनुभवकी दृष्टिसे ही देखना चाहिये। विषयकी दृष्टिसे यानी बुद्धिकी दृष्टिसे देखनेपर सहज क्रियाओंमें सहजपना नहीं रहता। हमारे सभी व्यवहार यानी खाना-पीना, लेना-देना, उठना-बैठना इत्यादि व्यवहार सहज ही होते हैं। सहजतामें क्रियाएँ हमारा विषय नहीं होतीं, इसलिये उन क्रियाओंमें क्रियाका स्वरूप नहीं रहता और वहाँ क्रियाओंका ज्ञान भी नहीं रहता। सहजतामें ज्ञान न होनेसे वहाँकी क्रियाओंमें भेद भी नहीं रहते। भेद तो ज्ञानमें ही यानी विषय करनेमें ही बुद्धिमें ही पैदा होते हैं। सहजतामें केवल इन्द्रियोंकी क्रिया तो सदा होती ही रहती हैं; परंतु उनमेंसे जितनी क्रियाओंको बुद्धि विषय करती है यानी ज्ञानमें लाती है, उतनी ही क्रियाओंमें क्रियाका रूप और अर्थ आता है। शेष इन्द्रियोंकी लाखों क्रियाएँ तो परमात्मस्वरूप ही रहती हैं। उन परमात्मस्वरूपी क्रियाओंमें क्रियाका स्वरूप न होनेसे—वे क्रियाएँ होती हैं, ऐसा नहीं कहा जाता और नहीं होती हैं ऐसा भी नहीं कहा जाता; क्योंकि वहाँ क्रियाका अभाव भी नहीं है। वह तो करनेपर भी अकर्तापनकी स्थिति है

इन्द्रियाँ हमेशा शुद्ध सत्ताको ही ग्रहण करती हैं। उनका रूप-रसादि विषयोंसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यदि सम्बन्ध होता तो इन्द्रियोंको भी बुद्धिके सदृश टेबल-कुर्सीके रूप वगैरह विषयोंका ज्ञान होना चाहिये था; परंतु कुर्सी आदि विषयोंका ज्ञान केवल इन्द्रियोंको तो कभी होता ही नहीं; क्योंकि—'केवल इन्द्रियाँ' अनुभव-स्वरूप होनेसे केवल अनुभवको ही यानी सत्ताको ही पहचानती हैं। वे ज्ञानको नहीं पहचानतीं। ज्ञान तो बुद्धिमें होता है। वह बुद्धिका ही क्षेत्र है; इन्द्रियोंका नहीं। इस बातकी परीक्षा करनी हो तो बुद्धिको कुछ देरके लिये जरा एक ओर रख दीजिये और इन्द्रियोंके सामने गौ, टेबल, कुर्सी आदि वस्तुओंको लाइये और फिर देखिये तो इन्द्रियोंको किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं होगा। केवल अनुभवमात्र रहेगा; क्योंकि ज्ञान होना बुद्धिका क्षेत्र है और अनुभव रहना इन्द्रियोंका क्षेत्र है। ज्ञान तो भेदोंका ही होता है; परंतु सहजतामें भेद रहते ही नहीं। इसलिये सहजताकी क्रियाओंका ज्ञान बुद्धिको नहीं होता। रूप और अर्थ आदि भेद तो विषय करनेमें ही यानी बुद्धिमें ही उत्पन्न होते हैं। विषय करनेका नाम ही ज्ञान है।

वस्तुका ज्ञान होना यानी अपनेको केवल वस्तुकी

प्रतीति होना, इतना ही ज्ञानका अर्थ हम समझते हैं; परंतु वस्तुतः ऐसी बात न होकर जो वस्तुके स्थानपर नहीं है, ऐसे रूप और अर्थ आदि अर्थ तो ज्ञानमें ही सापेक्षतासे उत्पन्न होते हैं। यह बात क्रियाएँ होते समय उनका क्या स्वरूप रहता है और क्रियाएँ ज्ञानमें आनेके बाद उनका स्वरूप कैसा बदल जाता है, यह बात अच्छी तरहसे जाननेपर अपने ध्यानमें आ सकती है; क्योंकि क्रियाएँ अपनी ही होनेसे उन क्रियाओंका ज्ञानके पूर्वका स्वरूप और ज्ञानके बादका स्वरूप भी हम स्पष्ट जान सकते हैं। यह बात हमने स्पष्ट जान ली तो क्रिया होते समय क्रियामें रूप और अर्थ नहीं थे वे परमात्मस्वरूप ही थीं। परंतु दूसरे ही क्षण ज्ञानमें आनेके बाद क्रियाएँ क्रियाओंके स्वरूपमें दीख पड़ती हैं—यह बात सिद्ध होती है।

पथिक

[कहानी]

(लेखिका—कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

स्मृति लौटी। सिर चकराने लगा। ऊपर देखा तो कोई हाथ फैलाये संकेत कर रहा था। क्या, चेतना लौटी, विचारोंने विजय पायी, बुद्धि लौट आयी। राज-पथ पुनः चालित हुआ। एक आता था और एक जाता था। कोई त्यागी-वैरागी था, कोई उदासीन मृतवत् था, परंतु सब सबसे पृथक् थे। कोई किसीसे बोलता तक न था। क्यों ?

विलम्ब हो जानेका भय था। दृष्टि तो कहीं दूर क्षितिजका भेदन करके कुछ ढूँढ़ रही थी। वह चौंक-चौंक पड़ता था। क्यों ?

किसीका मधुर सुखद स्पर्श पाकर, और यही था उसके पगोंमें गति प्रदान करनेवाला और निरन्तर चलाने-वाला !

एकाएक वह ठिठक गया। आगे मार्ग न मिलता था। चढ़ाई ऊँची थी। स्वतः प्रयत्न निष्फल होते थे। गति जवाब दे चुकी थी।

परंतु यह क्या !

एकाएक मार्ग दृष्टिगोचर हुआ। वही मधुर स्पर्श शीशपर था। पगोंमें गति आ गयी और वे आगे बढ़ने लगे। देखा, वहाँ प्रेमका सुखद सिन्धु लहरा रहा था। वह प्यासा था ही, मुँह लगा दिया और देखते-ही-देखते वह गट कर गया। बिन्दुमें सिन्धु समा गया; परंतु अभी विश्राम कहाँ। प्यास बढ़ी। वह एक-एक स्थान देखकर चलने लगा; क्योंकि चढ़ाई ऊँची थी।

पहली ही सीढ़ी चढ़ पाया था, कितने आनन्दका साम्राज्य था। मन विभोर हो-हो उठता था, फिर भी हाय खाये लेती थी। वह बड़बड़ा उठता था।

> **पकरि करे जो आपनो हाय खाय ले बीर।**
> **बिन प्रीतम क्यों जीवना घुन गौ सकल सरीर ॥**

सम्भव है इसीलिये वह आगे बढ़ता जाता था।

एकाएक गति पुनः क्षीण हुई।

किंतु मधुर स्पर्श।

वह पुनः अग्रसर होने लगा। दूसरी सीढ़ी पार कर रहा था। किसीने करुणावश दिया तो खा लिया, किंतु होश न था। मुँहमें कौर था, किंतु ज्ञान न था कि चबाये, थूके या मुखमें ही रहने दे। सम्भव है अवधूतावस्थाके वस्त्रसे ही शरीर ढका हुआ था, फिर भी प्रभुकी कृपा पूर्णचेतना लुप्त होनेसे रक्षा करती थी। अब देखते-ही-देखते तीसरी सीढ़ी आ गयी, उसी-पर वह चल रहा था। ऐसे सोपानसे बेचारा जा रहा

था कि जिसकी एक सीढ़ी दूसरी सीढ़ीसे दुगुनी चौड़ी मिलती थी। परंतु वह तो बाह्य नेत्रोंको प्राय: बंदकर आन्तरिक—नेत्रोंकी निर्मल ज्योतिके आधारपर चलता ही चला जाता था। क्यों?

उसे पहुँचना जो था। अब न किसी सार्वजनिकसे पर्दा ही था और न पृथक्ता ही थी, मानो मुर्दा भी मर चुका था।

वह सीढ़ी भी पार कर चुका था, बैठकर सुस्ताने लगा कि कुछ आँख लग गयी। अचानक किसीकी कृपाशक्तिका झटका लगा। आँख खोलकर देखा तो पाया सादगीसे भी सरल और शुद्धतासे भी शुद्ध मैदान सामने था। ऐसा लगता था कि मानो वह प्रभुके हल्के तथा शुद्धताके हृदयमें तैरता चला जा रहा था और उसीके हृदयरूपी मैदानमें खेलता-खाता चला जाता था। मस्त था। कोई फिक्र न थी; क्योंकि मैदान पार करते ही अपना देश दिखायी पड़ रहा था। एकदमसे वह बोल उठा। 'अरे! वह देखो चटियल मैदान आ गया।' किसीने पूछा 'यह चटियल मैदान क्या है?'

अच्छा सुनो! कदाचित् तुमने आध्यात्मिकताका नाम सुना होगा, यह उसीका साम्राज्य था। अब तो झाड़-झंकार साफ हो चुके थे, इसलिये पग सँभालकर रखनेकी आवश्यकता न थी। न माळूम किसीकी सुमधुर स्मृतिमें वह भागने लगा कि एक ध्वनि सुनायी पड़ी—'इतनी शीघ्रतासे क्यों जा रहे हो पथिक?'

'अपना सौदा करने।'

'ऐसा सौदा कौन करेगा?'

'जो ग्राहककी बाट जोह रहा है।' वह पुन: अग्रसर होने लगा। पाँच सीढ़ी चढ़ चुका था किंतु चैन न पड़ता था। विकल हो-हो उठता था।

किसीने पुन: प्रश्न किया—'पथिक! कहाँ चले?'

उत्तर मिला 'साक्षात्कारके हेतु।' परंतु बेचारा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जा रहा है, स्मरणशक्ति क्षीण पड़ती जा रही है। नेत्रोंकी ज्योति धुँधली होती जा रही है। हाथको हाथ नहीं सूझ रहा है। बरबस मुखसे निकल पड़ता है। अब तो प्रभु!—

बिना भक्ति तारो तो तारिबो तिहारो है।

रोम-रोमसे अनहदके बजाय अब यही ध्वनि सुनायी पड़ती है कि 'प्रभु! बिना भक्ति तारो तो तारिबो तिहारो है।'

परंतु गतिमें स्फूर्ति आती जा रही है।

क्यों?

क्योंकि मनके बन्धन बहुत-कुछ शिथिल पड़ चले हैं। मधुर स्पर्शकी स्मृति आगे बढ़ाती जाती है।

एकाएक किसीने पुन: वही प्रश्न किया—

'पथिक! कहाँ चले?'

परंतु उत्तर न मिला।

'क्या चाहते हो?'

'माळूम नहीं।'

'तुम तो साक्षात्कार चाहते थे!'

एक छोटा-सा 'हाँ' उत्तर मिला।

'किसका?'

'पता नहीं ईश्वरका, अपना या सद्गुरुका।'

'तो फिर?'

'भाई! पथिक स्वयं विस्मित है कि कहाँ जाना है, क्यों जाना है? किंतु जाना है; क्योंकि अनन्तके पार भी कोई शक्ति, कोई आकर्षण मुझे खींच रहा है।'

'कैसे जाओगे? आगे न प्रकाश दिखलायी पड़ता है, न मार्ग। फिर कैसे जाओगे?'

'जाऊँगा! उसी आकर्षणके सहारे। वही प्रकाश है और वही उससे प्रकाशित सहज-मार्ग और वही है मेरे नेत्रोंकी ज्योति।'

'पथिक! कैसे इतनी दूरी पार कर सकोगे?'

'क्या कहते हो? दूरी! तुम्हें दूरी दिखलायी पड़ती है, परंतु मेरे तो वह सन्निकट ही है। अपनी श्वासकी

गति मुझे अनुभव नहीं हो पाती कदाचित् वह दूर है इसलिये। किंतु वह दूर नहीं। भाई क्या कहते हो, उसी आकर्षणके सहारे सिन्धुमें बिन्दु समाया, फिर बिन्दुमें सिन्धु समाया। कभी रोया, आतुर हुआ और कभी आनन्दके स्रोतमें डुबकियाँ लगायीं। कभी राजा हुआ, कभी अलमस्त योगी। मैदानोंको पार किया। हरेभरे ऐसे कि मनने उन्हें छोड़ना न चाहा।'

परंतु किसीकी सुमधुर ध्वनि सुनायी पड़ी कि 'भाई! कदम आगे ही बढ़ना चाहिये।' बस, चल पड़ा। रिक्त मैदानोंको पार किया; परंतु अब प्रकाश मिला है, चलता चला जाऊँगा तो पहुँच ही जाऊँगा। कई बार दशासे अनुमान लगाया कि अब पहुँचा, परंतु किसीने कहा—'यह तो केवल उसके साम्राज्यकी झलक-मात्र है। अभी दिल्ली दूर है, बस चल पड़ा।'

'पथिक! इतनी उतावली क्यों है?'

'याद आती है।'

'किसकी?'

'घरकी।'

'भाई! घर तो पीछे छोड़ आये?'

'नहीं, नहीं, सुनो कोई कह रहा है कि घरसे मेरा मतलब कोठीसे नहीं, बल्कि उस देशसे है कि जहाँसे हम सब आये हैं।'

'बस, अब विदा। राजपथसे शीघ्र ही पहुँच जाऊँगा।'

कीर्तन ही क्यों ?

(लेखक—आयुर्वेदाचार्य डा० दुर्गाप्रसादजी त्रिपाठी बी० ए०, एम्० बी० बी० एस्०)

अखिल भूमण्डलमें यदि मानवका एकमात्र कोई सहायक है तो वह केवल 'ईश्वर-भक्ति' ही है। 'ईश्वर-भक्ति' ही वस्तुतः धर्म एवं सांस्कृतिक निष्ठा है। धर्म-हीन किंवा सांस्कृतिक-निष्ठाविहीन राष्ट्रप्रेम एक निरर्थक प्रयास है, जो कि राष्ट्रोत्थान-हेतु कदापि प्रशस्त नहीं हो सकता। दैनिक जीवन-चर्यासे लेकर सुविशाल राष्ट्र-सेवा-व्रतपर्यन्त सर्वत्र धर्मनिष्ठा अथवा प्रभु-भक्ति ही एकमात्र आधारस्तम्भ है। स्थूल दृष्टिसे यद्यपि वर्तमान वातावरणमें हम समस्त जगत्‌में (भारत-सदृश धर्मप्राण देशमें भी) जन-समुदायको धार्मिक भावनासे विमुख होकर विज्ञानके भौतिक मायावादी विषाक्त प्रपञ्चमें फँसते देख रहे हैं, यद्यपि आजका मानव कम्युनिस्ट विचारधारामें विलीन होकर धर्मको मिथ्याडम्बर एवं अफीमतक कहने लगा है, यद्यपि इस भौतिकवादी वैज्ञानिक युगमें धर्मको राष्ट्रिय समृद्धिमें बाधक, संकुचित मनोवृत्तिका साक्षात् स्वरूप, एवं धनिकोंका शोषणकारी शस्त्र इत्यादिके रूपमें निर्धारित किया जाने लगा है; किंतु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर हमें ज्ञात होता है कि वस्तु-स्थितिकी वास्तविकता कुछ और ही है। जो लोग धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं, सांस्कृतिक-रहस्य-ज्ञानसे शून्य हैं, ऐसे व्यक्तियोंके विचारोंकी यह एक निर्मूल मनोवृत्ति है। इस मादक मनोवृत्तिके प्रादुर्भावका एकमेव कारण है व्यक्तिका भ्रमोन्माद, जिसके आश्रित होकर उसने विपरीत तर्कबुद्धिसे धर्मको अधर्म, एवं अधर्मको धर्मके रूपमें ग्रहण किया है। आज उसने ईश्वरकी सत्तापर अविश्वास करना प्रारम्भ कर दिया है। 'ईश्वर-भक्ति'का परित्याग कर दिया है, जिसके कारण उसकी स्थिति भी विपर्ययको प्राप्त हो गयी है। उसको इस विपरीत एवं भ्रमात्मक बुद्धिके फलस्वरूप दैन्य, क्लेश, भय, अत्याचार एवं पापाचार इत्यादि आसुरी प्रवृत्तियोंका मलिन परिधान प्राप्त हुआ है। अतएव हमें सौख्य, विश्राम, निर्भयता

शिष्टाचार एवं सदाचारकी सुन्दर स्थिति प्राप्त करनेके लिये दैवी प्रवृत्तियोंका आश्रय ग्रहण करना ही पड़ेगा, यही प्राणिसमुदायके हितार्थ एकमात्र कल्पवृक्षस्वरूप है।

भक्तिके साधनकी अनेक विधियाँ हैं। श्रीसच्चिदानन्द भगवान्‌के अतिशय प्रियजनोंका विवेचन करते हुए महात्मा तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें 'नवधा भक्ति'का रूप प्रदर्शित किया है। भक्तिके नौ साधनोंकी पृथक्-पृथक् व्याख्या करते हुए, गोस्वामीजीने कहा है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

एतदर्थ नवधा भक्ति-साधनोंमें भजन-कीर्तन ही एक ऐसा सर्वोत्कृष्ट एवं शीघ्र सिद्धिप्रद साधन है, जिसे सभी वर्ग, समुदाय, श्रेणी तथा जातिके लोग अति सुगमतापूर्वक कर सकते हैं। 'प्रभु-भजन' करनेकी सरलता विद्वान्-मूढ़, राजा-रंक, पवित्र-अपवित्र—सभी प्रकारके लोगोंके लिये समानरूपसे सुलभ है। और पापनाशके लिये तो यह धधकती अग्नि ही है।

जबहिं नाम हिरदै धरयो, भयो पापको नास।
जैसे चिनगी आग की, परी पुराने घास॥

—इस प्रकारकी श्रीहरिनामकी महिमा किसीसे भी छिपी नहीं है। मनुष्य केवल 'कीर्तन-भक्ति'के सोपानपर आरूढ़ होकर ही अन्य साधनोंकी अपेक्षा बहुत शीघ्र श्रीप्रभुके पावन चरणोंतक पहुँच सकता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९। ३०-३१)

'यदि कोई दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि प्रभुके भजनसे बढ़कर जगत्‌में कुछ भी नहीं है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है तथा सनातनी परमशान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! यह निश्चयपूर्वक स्मरण रक्खो कि मेरा भक्त कभी नष्ट (पतित) नहीं होता।'

रामायण, महाभारत इत्यादि सभी भक्तिप्रधान ग्रन्थोंमें यही विशेषरूपसे बतलाया गया है कि केवल कीर्तन-भक्ति अर्थात् श्रीभगवान् नित्य शुद्ध, बुद्ध, परिपूर्ण श्रीसच्चिदानन्दघन प्रभुके नाम और गुणोंके बखानसे ही समस्त पापोंका नाश होकर उनकी प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको एवं भयंकर तथा घनघोर बादलोंको वायु छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार श्रीहरि-कीर्तन भी हृदयमें प्रविष्ट होनेपर सम्पूर्ण प्राचीन-नवीन पाप-समूहोंको भी पूर्णतया नष्ट कर देता है। पाप-पुञ्जसे मुक्ति मिलते ही मनुष्यमें सद्भावना, सद्वृत्ति एवं सत्सङ्गकी प्रबलता आ जाती है, जो कि जीवन्मुक्तिका परम पुनीत द्वार है।

सत्सङ्गसे निःसङ्गताकी उत्पत्ति होती है, निःसङ्गसे निर्मोहत्व अर्थात् मोहादिसे विमुखता बढ़ती है, तदुपरान्त उससे निश्चलता आती है, फिर सत्यके निश्चल ज्ञानसे मानव भवसागरके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें कहा है—

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥

कहौं कहाँ लगि नामु बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

श्रीनारदपुराणमें भी कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(१।४१।११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे छोड़कर कोई दूसरा उपाय है ही नहीं।'

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥
कलिजुग केवल नामु अधारा। सुमिरि सुमिरि नर उतरहिं पारा॥

इसी नामकीर्तनके प्रभावसे ही केवल धर्मात्मा ही नहीं, वरं पापात्मा पुरुष भी भगवान् विष्णुके लोकको प्राप्त कर चुके हैं, जिसके अनेक उदाहरण पुराणोंमें मिलते हैं। प्राचीनकालमें महात्मा नारद श्रीहरिके नाम-गुणोंके कीर्तनमात्रसे ही परम पदको प्राप्त कर सके, महात्मा वाल्मीकिके सम्बन्धमें, जैसा कि पुराणेतिहासमें वर्णित है, सभी जानते हैं कि प्रारम्भमें वे एक महान् पापाचारी, दुराचारी एवं दस्युकर्मा थे, किंतु इसी श्रीहरिनामके प्रतापसे वे एक महान् धर्मात्मा, शास्त्रज्ञ एवं आदिकवि ब्रह्मज्ञके रूपमें सकल विश्वके सम्मुख आये। वे महात्मा वाल्मीकि ही थे, जिन्होंने भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रोंका सर्वप्रथम वर्णन संस्कृतके पद्योंमें करके एक 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' साहित्य—रामायणकी रचना की थी, जिसे आजतक केवल आर्योंके ही द्वारा नहीं, वरं पाश्चात्त्य विद्वानोंके द्वारा भी सम्मान प्राप्त है। इसी रचनाके कारण महात्मा वाल्मीकिको हम समस्त विश्वका 'आदि महाकवि' कहते हैं। यह एकमात्र श्रीहरिके नाम-कीर्तनका ही प्रभाव था, जिसने एक महान् दुराचारी-को महान् सदाचारी बना दिया। इसके अतिरिक्त नाम-कीर्तनके प्रतापके अनेकों उदाहरण अन्यत्र भी मिलते हैं। अब उन पापात्मा, दुराचारी एवं निज कर्मगा नीच व्यक्तियोंके विषयमें देखिये, जो एक बारकी ही आन्तरिक एवं सच्ची पुकार (श्रीहरिके नामोंकी पुकार) करने-मात्रसे उसी परम पदको प्राप्त हो चुके हैं। जिनमें अजामिल, गणिका, गज आदि प्रमुखतया उल्लेखनीय हैं, यथा—

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

अर्वाचीनकालमें भी उसी नाम-कीर्तनके प्रभावने ही श्री-गौराङ्गमहाप्रभु, श्रीतुलसीदासजी, श्रीसूरदासजी, श्रीनानक-जी, श्रीतुकारामजी, श्रीनरसीजी, श्रीमीराबाईजी इत्यादि अनेक नामकीर्तनकारी भक्तोंको जगत्में सुप्रसिद्ध एवं सुप्रतिष्ठित करके श्रीहरिके परम धामका पथिक बनाया है। इस प्रकार श्रीहरिके परम धामकी प्राप्तिका मार्ग एकमात्र श्रीहरिके नाम-गुणोंका कीर्तन ही है। अतएव अभ्युदय और कल्याणकी इच्छा रखनेवालोंको इसी पथका पथिक बनना चाहिये; क्योंकि मानव-जीवनका चरम लक्ष्य भगवान् श्रीहरिकी प्राप्ति अथवा मोक्ष ही तो है।

सीताके रामसे

सूर्य-चन्द्रके बहु रूपोंमें
स्वयं प्रकाशित, शोभा-धाम;
ओ, मानसके अन्तरालमें
बसनेवाले तुम्हें प्रणाम।
जीवन-नौकाके कैवर्त्तक,
दिव्य रूप, लोचन अभिराम;
कविकी कविता, प्रकृति नटीके
नाट्यकार हे! पूरणकाम।

भक्तोंके भगवान, मान,
अभिमान, ज्ञान, सीताके राम;
दीनों-दुखियोंके उद्धारक,
परम विलक्षण, सुखके धाम।
हे! अनन्त, अविनाशी, अक्षय,
अद्भुत तेरे सारे काम;
दो सुबुद्धि वह, अष्टयाम
रसना ले राम तुम्हारा नाम।

—गौरीशंकर गुप्त

प्रायश्चित्त

[कहानी]

(लेखक—साहित्यभूषण श्रीशिवप्रसादजी शुक्ल शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

'मैंने संसारमें कुछ भी नहीं किया, किया केवल पाप, परपीड़न, परद्रोह, द्वेष, क्रूरता, परनिन्दा। हाय! नारकीय जीवन व्यतीत करते-करते आज मेरी आँखें खुलीं; परंतु अब क्या होगा? प्रायश्चित्तके प्रचण्ड पावकमें यदि इस नश्वर शरीरको होम भी कर देना पड़े तो मैं सहर्ष उसके लिये प्रस्तुत हूँ।' युवकने विषादके आवेगमें अपने चिन्ताग्रस्त मानसके हार्दिक उद्गारोंको निर्जन नीरव वनमें प्रकट कर दिया।

'परंतु तुमको उनके यहाँसे क्षमा नहीं मिलेगी तरुण! तुमने वे जघन्य अमानुषिक कृत्य किये हैं, जिनके लिये सर्वान्तर्यामी जगन्नियन्ता तुम्हें कैसे क्षमा करेंगे?' हः हः हः हः अट्टहास करता हुआ एक पुरुष तरुणकी बायीं ओरकी झाड़ियोंसे बोला।

तरुण अरुणका शरीर काँप गया, उसे ऐसी पीड़ा हुई मानो हजारों बिच्छुओंने एक ही साथ उसके शरीरपर डंक मार दिये हों। वह उठकर खड़ा हो गया। उसके पैर काँप रहे थे। ललाटपर पसीना बहने लगा। उसकी भयभीत आँखें निर्निमेष दृष्टिसे झाड़ियोंकी ओर देखती रह गयीं। 'कौ····न········'—हकलाते हुए भयमिश्रित स्वरसे उसने कहा।

'मैं हूँ, तुम मुझसे मिलनेके लिये लालायित थे न? लो मैं आ गया।' झाड़ियोंके झुंडसे निकलकर एक पुरुष युवकके सामने खड़ा हो गया। उसकी लंबी सफेद दाढ़ी, उन्नत ललाट, घुटनोंतक फैली हुई भुजाएँ, विशाल चौड़ी छाती—ऋषिमूर्ति-सी देखकर युवकको एक बार तो बड़ा आश्वासन मिला। उसका भय दूर हो गया। परंतु उस पुरुषके हाथमें नंगी चमचमाती तलवार और आगकी चिनगारियाँ फेंकते हुए उसके लाल-लाल नेत्रोंको देखकर वह भयभीत हो उठा।

'दयामय! मुझ अधमका इस पाप-जीवनसे उद्धार कर दो'—उसने भयसे काँपती हुई वाणीमें कहा। 'अच्छा ले, अभी ले, तुझे अभी यमराजका अतिथि बनाकर भेजता हूँ।' और इतना कह उसने बिजलीकी भाँति लपककर युवकका गला पकड़ लिया। उसके वज्रके समान कठोर कर-स्पर्श एवं कर्कश वाणीने युवकको विचलित कर दिया, उसे अपने अतीत जीवनके अगणित अमानुषी और पैशाचिक घृणित कृत्य याद आने लगे। इसी प्रकार वह भी तो निर्दोष असहाय मनुष्योंको पकड़कर, उनके पास जो कुछ मिलता था उसे लेकर उन्हें मृत्युके घाट उतार देता था। अबलाओंपर किये हुए अत्याचार स्मरण करके वह चिल्ला उठा—'मारो-मारो, रुक क्यों गये? मेरे इस घृणित, पापकलुषित पिशाच-जीवनको तुरंत समाप्त कर दो।' उसकी आँखोंसे अश्रु-धारा बह चली।

वृद्धकी आँखें भी गीली हो गयीं, उसने रुँधे कण्ठसे कहा—'परंतु मरकर तुम कहाँ जाओगे?' अरुणकी मुखाकृति बदल गयी, उसे यह आवाज और शब्दावली चिरपरिचित-सी प्रतीत हुई। वह शीघ्रतासे पीछेको मुड़ा। वृद्धका हाथ अबतक उठा-का-उठा ही रह गया था। उसने पुकारा 'बच्चा अरुण!' अरुणको दस वर्षपूर्वकी बात याद आ गयी। सगे बड़े भाई वरुणकी मुखाकृति उसकी आँखोंमें नाचने लगी। ये शब्द उन्होंने ही तो कहे थे। जब अरुणके माता-पिता उसे बचपनमें ही त्यागकर परलोकगामी हो गये थे, तब वरुणने पुत्रवत् पालन-पोषण करके अरुणको इतना बड़ा बनाया था। लाड़-प्यारसे पला हुआ अरुण उद्दण्ड होनेके साथ ही कृतघ्न भी होता जा रहा था। अरुण कुसङ्गतिमें बैठ-बैठकर वरुणको उल्टा-सीधा प्रत्युत्तर भी देने लगा था और

एक दिन तो अपनी पूजनीया भाभीको इसीलिये अकाल-में ही उसने कालकवलित करा दिया; क्योंकि हाला-बालामें रमनेके लिये वह अपने पूर्वजोंके द्वारा संगृहीत आभूषण देना नहीं चाहती थी। वरुण इतनेपर भी शान्त गम्भीर रहा। पत्नीका यह दुःखद वियोग भी हृदयपर पत्थर रखकर अपने बन्धुके लिये उसने सहन किया। अरुण-की उद्दण्डता दिनों-दिन बढ़ती ही गयी और एक दिन वह आया, जब वह संसारका सबसे निकृष्ट, अमानवीय जीवन व्यतीत करने लगा। वरुणसे न देखा गया तो उसने समझाया, किंतु प्रभाव पड़ा उल्टा 'तो मर जाऊँ?' अरुणने कहा। 'मरकर तुम कहाँ जाओगे?' 'जहाँ भी वह ले जायगा।' पूर्वसंस्कारोंने उसके मुखसे ये शब्द निकलवा दिये थे। 'परंतु तुमको उनके यहाँ क्षमा नहीं मिलेगी।' अरुणकी आँखोंके सामने सारा दृश्य घूम गया। केवल अरुण 'शब्द' के स्थानपर तरुण था, बस, उसने ध्यानसे वृद्धकी ओर देखा। वृद्धने कहा—'अरुण!' अरुणने पहचान लिया, उसीके कारण तो उसके भैयाको घर त्याग देना पड़ा था। आज पुनर्मिलन एवं दोनोंका पुनर्जन्म हुआ। भाईके चरणकमलोंमें गिरकर अरुण सिसकियाँ भरकर रोने लगा। वरुणने उठाकर उसे हृदयसे लगा लिया।

इस पुनर्मिलनको, हृदय-परिवर्तनको देखकर धीरे-धीरे अपनी काली छायाका विस्तार करती हुई संध्यादेवी भी आश्चर्यचकित रह गयी। भगवान् भास्कर अस्ताचलकी ओर विश्रामार्थ जाते हुए, अपनी अन्तिम लालिमा दिखाकर मानो कुछ क्षणोंके लिये इस दृश्यको देखनेके कुतूहलसे रुक-से गये। खगकुल कलरव करते हुए अपने-अपने नीड़ों-की ओर यह शुभ संदेश बताने जा रहे थे। नीरव विपिन कुछ क्षणोंमें ही तमिस्रासे परिपूर्ण हो जायगा, यह समझकर कि कहीं, फिर हम परस्पर एक दूसरेसे पृथक् न हो जायँ, भाई-भाई गले लगे हुए थे। दोनों भाई रो रहे थे। स्वरलहरी विकम्पित हो रही थी। वायु पार्श्वस्थित सुगन्धित वृक्षोंको प्रकम्पित करके पुष्पोपहार प्रदान कर रही थी। यह थी मनोरम संध्या।

'क्षमा करो इस नीचको भैया!' वनप्रान्त गूँज उठा इन करुणापूर्ण शब्दोंसे।

'क्षमा? मैं क्षमा करूँ? मैं भी तो उतना ही दण्डनीय हूँ अरुण! तुम्हारी स्वर्गस्थित भाभी याद कर रही होगी।' अरुणके तीर-सा लगा। 'भाभी?' वह मूर्च्छित हो गया। 'भैया! मैं प्रायश्चित्त करूँगा।' वह उठकर इधर-उधर दौड़ने लगा। वरुण उसे सान्त्वना देनेका प्रयत्न करता रहा, किंतु व्यर्थ। उसे मार्गच्युतको सत्पथपर लानेके लिये एक उपाय सूझा। उसने कहा—'अरुण! तुम्हारी भाभी घरमें प्रतीक्षा कर रही है, 'चलो-चलो' फिर, 'शीघ्रतासे चलो'—कहकर अपने पग पूर्व दिशाकी ओर मोड़ दिये। अरुणने बिना कुछ कहे सहज ही उसका अनुसरण किया।

निशीथ, घन अन्धकार। गिरते-पड़ते चले जा रहे थे दोनों भाई! दूर, बहुत दूर देखा प्रकाश, 'अवश्य ही यह कोई गाँव है अरुण?' वरुणने कहा। तन्मय अरुण निरुत्तर चला जा रहा था लक्ष्यकी ओर। प्रकाशस्थानतक पहुँचते-पहुँचते प्रातःकाल हो गया। दृष्टिगत हुई एक कुटिया, जिसमें समाविष्ट एक तपस्वी, पार्श्वस्थित निर्निमेष दृष्टिवाली एक षोडशवर्षीया कन्या। अरुण-वरुण-ने बिना किसी भेदभावके कुटीके अंदर प्रवेश किया।

कन्याने उठकर विनयपूर्वक कहा—'स्वागत है अतिथि! आज मेरी तपस्या सफल हुई।' उसकी पवित्र अमृतसिक्त साधु वाणी सुनकर अतिथि अपनेको भूल गये। कुटीके अंदर एक अन्य द्वार था, कन्याने उसके अंदर ले जाकर उन्हें बैठा दिया। अतिथि आत्मविस्मृत थे। कन्याके द्वारा दिये हुए वनीय फल-मूलोंका आहार करनेके बाद वरुणने उस कन्यासे पूछा—'यदि आप कुछ अनुचित न समझें तो मुझे बतलानेकी कृपा करें

कि आप यहाँ इस निर्जन वनमें क्यों रहती हैं और ये तपस्वी कौन हैं, जो ईश्वरकी उपासना एवं ध्यानमें इतने दत्तचित्त हैं ?'

कन्याने एक बार अरुणकी ओर लालसापूर्ण दृष्टिसे देखा और फिर बोली—'महानुभाव ! मैं उज्जैन नगरीके बलभद्र मिश्रकी लड़की हूँ । और इस…………' कन्याका मुख लज्जासे लाल-सा हो गया और वह आगे कुछ न बोल सकी । उसने सिर झुका लिया ।

दोनों भाई सहम उठे,—'तुम बलभद्रकी पुत्री ? विमला ? आश्चर्य, क्या देख रहा-हूँ, ये महानुभाव कौन हैं ?' अरुणकी वाणीमें व्यंग्य था । 'हाँ, मुझे भी उत्सुकता है', वरुणने भी जिज्ञासा प्रकट की ।

'किंतु मैं क्षमा चाहूँगी, मेरी धृष्टता मुझे प्रेरित कर रही है कि अपनी पूरी कहानी सुनानेसे पहले मैं आपका संक्षिप्त परिचय सुन लूँ ।' क्षणभर वातावरण स्तब्ध रहा । तदनन्तर अपनी हंसकी-सी सफेद दाढ़ीको हिलाते हुए वरुणने कहा—'हम दोनों तुम्हारे अतिथि हैं । बस, इतना ही परिचय पर्याप्त है ।' 'किंतु महानुभाव ! मेरी अतृप्त जिज्ञासा शान्त नहीं हुई ?' 'तो फिर सुनो, हम दोनों वरुण-अरुण हैं, याद आया ?' बाला किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गयी, अरुणकी ओर देखकर वह वरुणके चरणोंपर गिर पड़ी । वरुणने उठाकर अपना दाहिना वरद हस्त उसके सिरपर रख दिया ।

'विमला ! विमला !'—'समाधिसे जाग्रत् ऋषिने पुकारा । विमला टस्-से-मस् न हुई । वरुण उठकर ऋषिकी कुटीमें जा, प्रणामकर बैठ गये, आगन्तुकका देदीप्यमान मुखकमल देखकर ऋषिने आश्चर्यचकित होकर पूछा—'आपका शुभ परिचय महानुभाव ?'

वरुणने कहा—'मै संसार-चक्रमें भ्रमित एक क्षुद्र प्राणी हूँ । इस विश्वनाट्यशालाका एक अकिञ्चन अभिनेता हूँ, मुने ! आपसे और लौकिक क्या परिचय दिया जाय ।' ऋषिकी आँखें लज्जासे झुक गयीं,—'मैं ऋषि नहीं, एक अशिष्ट, घृणित, नीच तथा उपेक्षणीय प्राणी हूँ । मुनि कहकर इस पदको कलंकित न कीजिये उदार अतिथि !'

अरुण और विमलाने भी अपने कान इस ओर लगा दिये ।

ऋषिने कहा—'मैं पापी हूँ, मैंने इस बालिकाको लेकर भागनेका कलुषित प्रयास किया था, परंतु वह अन्तर्यामी परमात्मा सब कुछ देखता है, सबका सम्मान रखता है । मैं नास्तिक था । ईश्वरको, मैं स्वार्थियोंका बनाया एक ढकोसला समझता था । हाँ तो, सायंकाल जब मैं इसे अपने घोड़ेपर चढ़ाकर भगा और पर्याप्त मार्ग पार भी कर लिया, फिर भी मुझे शान्ति न मिली, मेरी कलुषित वासनाएँ मुझे बाध्य कर रही थीं, किंतु भयने मुझे इस निरीह निर्जन प्रान्तमें ला पटका ।

'इस निर्जन प्रदेशमें मैं स्वच्छन्द विचरण एवं कर्मके उद्देश्यसे प्रेरित हुआ, किंतु ईश्वर ! तेरी महिमा बड़ी विचित्र है । विमला चीख रही थी, रास्तेभर मैंने इसके मुखमें कपड़ा ठूँस रक्खा, जिससे रहस्य प्रकट न हो जाय । किंतु उसके आगे, किसका रहस्य गुप्त है, चीखती, विलखती, अपने सतीत्वकी रक्षा करती हुई अबलाकी रक्षा भगवान्‌ने कर दी । आप आश्चर्य करेंगे, इसी वृक्षके नीचे, जहाँ यह कुटिया बनी है, एक सर्पने आकर मेरे हाथ एवं गलेमें इस प्रकार लौह-की-सी शृंखलाएँ जकड़ दीं कि मैं कुछ भी करनेसे·······,' ऋषिराजका सिर लज्जासे अवनत हो गया । फिर बोले—'मुझे ज्ञानका प्रकाश मिला, मैंने विमलाको मन-ही-मन अपनी सगी बहिन समझ लिया, मेरी भावनाओंमें तुरंत विचित्र परिवर्तन हो गया । विमला भयभीत खड़ी थी, मैंने कहा—'बहिन विमला ! मुझे क्षमा करो' बस, सर्प मुझे छोड़कर समीपस्थ इस वृक्षकोटरमें घुस गया । उसने वृक्षकी ओर जाकर मानो मुझे सावधान कर दिया ।

'मेरे हाथ छूटते ही विमला 'अरुण-अरुण' चिल्लाती हुई दौड़ी। मैं भी पीछे-पीछे भागा, 'सुन लो विमला!' मैंने कहा किंतु वह रुकी नहीं, अन्तमें यह सुकोमल बालिका एक स्थानपर गिरकर मूर्छित हो गयी। मैंने ज्ञानमें लाकर इसे सान्त्वना दी और तभीसे इस प्रकार उसकी उपासनामें निरत हूँ। मेरी इस पवित्रहृदया बहिनके पवित्र सतीत्वने मुझ महान् नीचाशयको उपासक बना दिया। परंतु मेरी वह पापमयी वृत्ति—उसकी स्मृति मुझे सर्पदंशनकी भाँति सदा जलाती रहती है। मैं अब इस घृणित जीवनका अन्त चाहता हूँ।'

'खेद न करो, ईश्वरकी इच्छा बलवती है। उसकी इच्छाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मैं इस विषयको पूर्णरूपेण जानता हूँ। फिर किसी समय सुनाऊँगा।' सभीके मनमें जिज्ञासा थी।

प्राचीमें बाल दिवाकरने अपने आगमनका अरुण चिह्न प्रकट कर दिया। मन्द-मन्द वायुके झोंके हृदयमें प्रेमोन्माद करने लगे। समीपके तड़ागमें सरसिज विकसित हो उठे। भ्रमर-दलने अपनी मनोहर गुंजारसे वनप्रान्त-को भर दिया। पक्षिकुल अपने नीड़ोंको छोड़कर आकाशमें चूँ-चूँ करते हुए उड़ने लगे। अन्धकारका साम्राज्य समाप्त होकर धर्मराज्यकी भाँति प्रकाशका राज्य स्थापित हो गया। वनस्थित जीव-जन्तु इधर-उधर प्रत्यक्ष दिखायी देने लगे।

सभीने नित्यकर्म—संध्योपासनादिसे निवृत्त हो वरुणके पास आकर कथा सुनानेकी प्रार्थना की, उन्होंने कहा—'यदि उत्कण्ठा है तो सुनो—

'उज्जैन-निवासी हम दोनों अरुण एवं वरुण सहोदर भ्राता हैं। मेरे पिता श्रीरामनाथसे श्रीबलभद्रजीकी मित्रता थी। अपनी पुत्री विमलाका सम्बन्ध वे अरुणके साथ करना चाहते थे, किंतु असमयमें ही दोनों पूज्य प्रातः-स्मरणीय कराल कालके चंगुलमें फँस गये। अरुण अपने व्यवहारोंसे इस प्रकारकी धर्मपत्नी पानेका अधिकारी न रहा, किंतु अब उसमें भी तुम्हारे-जैसा ही परिवर्तन है।' विमलाने अरुणकी ओर देखा, रामदेव नामधारी ऋषिको संतोष हुआ। वरुण एक बार अपनी चमकती आँखें सबकी ओर घुमाकर चुप हो गया।

× × ×

'मैं प्रायश्चित्त करूँगा भैया? भाभी स्वर्गमें·······।' बात पूरी भी न हो पायी थी कि वरुणने कहा—'प्रायश्चित्त यही है कि तुम अपनी भाभीकी बहिन विमलाके साथ उत्तम व्यवहार करके अपनी भाभीको सुख दो। वह प्रसन्न हो जायगी। उसने तुम्हारी भलाईके लिये ही अपने प्राणोंकी बलि दी थी। विवाह दो हृदयोंके मेलका नाम है, स्वच्छन्द विचरणका नहीं। अब हम दोनों स्वतन्त्र हुए। भगवान्‌का ध्यान करते हुए गृहस्थ-जीवनको सुखमय बनाना।' यह कहकर वरुणजी रामदेवका हाथ पकड़कर उठ खड़े हुए। अरुण और विमला भी खड़े हो गये। उनकी आँखोंसे मोती टपक रहे थे।

वरुण और रामदेव अपने पैरोंको बीहड़ वनकी ओर बढ़ा रहे थे और ये दोनों अपलक नेत्रोंसे उनके चञ्चल चरणोंकी ओर श्रद्धासे देख रहे थे।

मन-मारीच

(रचयिता—काव्यरत्न 'प्रेमी' साहित्यरत्न)

जिन बाननि रावन हन्यौ, मारि ताड़का नीच।
उन बाननि तैं बेँधियौ, मेरो मन-मारीच॥

ईश्वर-भजन कौन कर सकता है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

इस प्रश्नको सुनकर सब लोग कहेंगे कि 'ईश्वरका भजन तो सभी कर सकते हैं और इसमें अधिकारका कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(९ । ३०)

अर्थात् कैसा भी दुराचारी मनुष्य हो; परंतु वह ईश्वर-भजन कर सकता है। फिर दूसरे मनुष्यके भजन करनेमें शङ्का ही क्या हो सकती है ?' उत्तरमें निवेदन यह है कि यह श्लोक बहुत ही समझने योग्य है। भगवान् कहते हैं कि हरेक आदमीको मेरा भजन करनेका जन्म-सिद्ध अधिकार है, तथापि कोई भजन नहीं कर सकता, इसका कारण यह है कि भजन करनेके लिये मनुष्यको पहले अनन्यभाक् होना चाहिये। अर्थात् ईश्वरके भजनके सिवा उसके अन्तःकरणमें दूसरी कोई कामना नहीं होनी चाहिये। जब अन्तःकरण निष्काम हो जाता है, तभी मनुष्य अनन्यभावसे ईश्वरका भजन कर सकता है। इससे पहले तो विषयोंका ही भजन होता है अथवा विषयोंकी प्राप्तिके लिये साधनके रूपमें ईश्वर-भजन होता है। एक तो यह बात जरूरी है—यह बतलाया। पश्चात् कहते हैं कि चाहे जितना दुराचारी हो, यदि मेरा भजन अनन्यभावसे करता हो तो उसे साधु ही समझना चाहिये, उसका फिर दुराचारी नाम नहीं रहता; क्योंकि उसने अपना व्यवसाय—जीवन-प्रवाह सम्यक् अर्थात् ठीक या यथायोग्य बना लिया है। तात्पर्य यह कि भजनमें लगनेसे पहले उसका जो जीवन-प्रवाह दुराचारकी ओर बहता था, उसको घुमाकर उसने सदाचारकी ओर बहनेवाला बना दिया है और उसने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि चाहे कैसा भी कष्ट क्यों न भोगना पड़े, पर सदाचारयुक्त जीवन बिताना है; क्योंकि इसके बिना ईश्वरका भजन अनन्यभावसे नहीं हो सकता। अनन्यका भाव यह है कि एक मियानमें दो तलवार नहीं रह सकती। अपने पास अन्तःकरण एक है, या तो उसमें विषय रहे या ईश्वरका भजन हो। अन्यका—विषयोंका भजन करते रहनेसे भगवान्‌का भजन नहीं बनता।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रवि रजनी इक ठाम ॥

यहाँ भी यही बतलाया है कि एक मियानमें दो तलवार नहीं रह सकती। अन्तःकरण एक है, अतएव जबतक उसमें विषयोंकी कामना है, तबतक ईश्वर-भजन नहीं हो सकता और यदि ईश्वर-भजन करना ही है तो कामना-मात्रका त्याग करना चाहिये; क्योंकि विषय-कामना और ईश्वर-भजन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले होनेके कारण एक समयमें एक ही स्थानमें नहीं रह सकते। जैसे सूर्य और रात्रि एक साथ नहीं रह सकते। सार यह है कि यदि ईश्वर-भजन करना हो तो भोग-पदार्थोंके चिन्तनका त्याग करना चाहिये।

दूसरे स्थलमें वही महात्मा कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥

यहाँ कहते हैं कि जबतक भोग-पदार्थोंमें आसक्ति है, तबतक विषय-प्राप्तिकी इच्छाएँ अन्तःकरणमें उठेंगी ही और अन्तःकरणमें जबतक विषय-कामनाएँ उठती हैं, तबतक ईश्वरके प्रति अनुराग नहीं होता तथा अनुराग हुए बिना भजन कैसे हो ? उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि विषयोंसे मोहकी निवृत्तिका उपाय है सत्सङ्ग—सत्सङ्गमें हरिके रहस्यको समझकर विषयोंसे आसक्ति हटा लेनी चाहिये। आसक्ति दूर होनेपर अन्तःकरण निर्मल हो जायगा और तब ईश्वरमें अनुराग होगा और ईश्वरमें प्रेम जाग्रत् होनेपर ही यथार्थ भजन हो सकेगा।

इस विषयमें गीता क्या कहती है ?—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

(७ । २७-२८)

ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं। सारा मोक्षशास्त्र इन दो श्लोकोंमें आ गया है। एक अवधूत इन दो श्लोकोंको गीताकी धुरी बतलाते थे, इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति

नहीं जान पड़ती। इनमें पहले श्लोकमें भगवान्‌ने यह समझाया है कि जन्म-मरणका चक्र कैसे चलता है और दूसरे श्लोकमें बतलाते हैं कि उसकी निवृत्ति कैसे करनी चाहिये। मोहका अर्थ अज्ञान है या विपरीत ज्ञान। यह बात पहले समझनी चाहिये। अज्ञानको निर्मूल करना सहज है; परंतु विपरीत ज्ञानको निर्मूल करनेमें देर लगती है। उदाहरणार्थ—एक गोल छल्ला पड़ा है। एक भाई कहता है कि मुझे मालूम नहीं, यह किस चीजका बना है। दूसरा भाई कहता है कि लकड़ीका बना है, जब वस्तुतः वह लोहेका बना है। अब यदि पहले भाईको कोई आप्त पुरुष कहे कि भाई, यह छल्ला लोहेका है तो वह तुरंत समझ जायगा; क्योंकि उसको आप्त वाक्यमें विश्वास है और इससे उसका अज्ञान तुरंत दूर हो जाता है। परंतु दूसरा भाई जिसने लोहेके छल्लेको लकड़ीका मान लिया है, उसका तो विपरीत ज्ञान है, इसलिये उसको तो प्रत्यक्ष विश्वास कराना होगा कि वह लकड़ी नहीं है, उसके बाद बतलाना होगा कि वह लोहेका है। अब उसे समझाना होगा कि भाई, यदि वह लकड़ीका होता तो आगमें डालनेसे जल जायगा। लो, इसे अग्निमें डालो। थोड़ी देरमें छल्ला तपकर लाल आगके रंगका हो गया, और वह भाई एकदम बोल उठा—देखो, लकड़ी जल गयी और यह उसका अंगारा बन गया। तब उत्तरमें कहना होगा कि जरा धैर्य रक्खो, लकड़ी नहीं जली, बल्कि लोहा तप गया है, इससे अग्नि-जैसा लगता है। तुरंत उसको बाहर निकालकर उसपर पानी डाला गया। तब वह छल्ला अपने असली रूपमें आ गया। उसके बाद वह लोहेका ही है, इसका विश्वास दिलानेके लिये छल्लेको चुम्बक दिखलाना पड़ता है और वह चुम्बकसे सट जाता है तब विश्वास हो जाता है कि वह लोहेका ही है। इस प्रकार मोहका मूल अर्थ अज्ञान या विपरीत ज्ञान दोनों ही है। विपरीत ज्ञानका शास्त्रीय नाम विपर्यय है और वह अन्तःकरणकी एक वृत्ति है।

श्लोकका भाव यह है कि राग और द्वेषसे सारे द्वन्द्व जैसे—सुख-दुःख, लाभ-हानि, स्तुति-निन्दा आदि उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष उत्पन्न होनेका कारण मोह है। इस मोहके कारण ही सारे प्राणी सम्मोह—परवशतासे या बलात्कारसे जन्म-मरणके चक्रमें भ्रमते रहते हैं। सारांश यह कि अज्ञानके कारण राग-द्वेष उत्पन्न होता है और उससे संसारका पसारा होता है और इससे सारे प्राणी जन्म-मरणके चक्रमें विवश होकर भटकते रहते हैं।

अब इस चक्रसे छूटनेका उपाय बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—जो भाग्यशाली पुरुष पुण्य-कर्मके द्वारा अपने पापका नाश कर डालते हैं, अर्थात् निष्कामभावसे पुण्य-कर्म करनेके कारण जिनके अन्तःकरणका मल-दोष निवृत्त हो गया है, उनके मोहसे उत्पन्न राग-द्वेष निवृत्त हो जाते हैं। इससे उनका अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है और तब इस प्रकारके भाग्यशाली पुरुष दृढ़ निश्चयसे मेरा भजन कर सकते हैं और भजन करके संसार-चक्रसे छूट जाते हैं। इसीलिये भगवान् यहाँ कहते हैं कि भजन करनेके लिये अन्तःकरणको निर्मल बनाना आवश्यक है। जबतक विषयोंमें अनुराग रहता है, तबतक यथार्थ भजन हो ही नहीं सकता। दिखानेके लिये भले ही हो। दूसरी जगह भगवान् कहते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २१-२२)

प्रस्तुत प्रसङ्ग समझनेके लिये तो पिछला एक ही श्लोक काफी है। परंतु पहले श्लोकके अनुसंधानके बिना अर्थ समझनेमें आसानी नहीं है। इसलिये दोनों श्लोक दिये गये हैं। यहाँ भगवान् कहते हैं कि मनुष्यको नरकमें ले जानेवाले काम, क्रोध और लोभ—ये तीन दरवाजे हैं, इसलिये इन तीनोंको निवृत्त करना चाहिये। नरकके तीनों दरवाजोंको बंद करनेके बाद भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! जो मनुष्य आत्मकल्याणके लिये प्रयत्न करता है वह अवश्य परम गतिको पाता है, इसमें संदेह नहीं। आत्मकल्याणके लिये प्रयत्नका अर्थ है—भगवद्भजन और परम गतिका अर्थ है—जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो काम, क्रोध और लोभको सर्वथा छोड़कर मेरा भजन करता है वही यथार्थ भजन है और इस प्रकारके भजनसे निश्चय ही भव-बन्धन निवृत्त हो जाता है। इसलिये यहाँ भी भगवान्‌ने यह समझाया कि भजन करनेके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि आवश्यक बतलायी है।

अन्य प्रसंगमें भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
(गीता ७। १३)

अर्थात् मायाके तीन गुणोंसे उत्पन्न हुए भोग-पदार्थोंसे सारा जगत् मोहमें पड़ा हुआ है, अतः मैं जो उन तीनों गुणोंसे परे हूँ, उसका महत्त्व मनुष्य नहीं समझ पाता। तात्पर्य यह है कि तीनों गुणोंसे परे जो अविनाशी भगवान् है, उसका महत्त्व यदि समझना है तो हमें भी तीन गुणोंसे परे जाना पड़ेगा। गुणोंके कार्य, जगत्के भोग-पदार्थोंमें फँसे रहेंगे तो गुणातीतका स्वरूप समझमें नहीं आयेगा। और जबतक भगवान्का महत्त्व समझमें नहीं आता है, तबतक भला उनका भजन कैसे होगा? अतएव ईश्वरका भजन करनेके लिये यह आवश्यक है कि अन्तःकरणसे भोगकी कामना मात्रको दूर करे। तभी भगवान्का महत्त्व समझमें आयेगा। और जिस वस्तुका महत्त्व समझमें आ गया, उसका भजन तो अपने-आप होने लगेगा। मनुष्य रुपये कमानेका महत्त्व समझता है, इसलिये उसे रुपया कमानेके लिये किसीको कहना नहीं पड़ता।

जगत्के भोग-पदार्थोंमें मोहको प्राप्त होकर भगवान्को भूल जानेसे क्या परिणाम होता है, यह बतलाते हुए श्रुति भगवती कहती है—

> पराचः कामाननुयन्ति बाला-
> स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
> अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
> ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

भाव यह है कि 'पराचः कामान्'–पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय 'अनुयन्ति'—पीछे-पीछे दौड़ते हैं। 'बालाः'–अबोध बालक यानी नासमझ मूर्ख मनुष्य। सारांश यह है कि केवल मूर्ख और नासमझ लोग ही विषयोंको प्राप्त करनेके लिये उसके पीछे दौड़ा करते हैं। इसका परिणाम क्या होता है, यह बतलाते हुए कहते हैं—'ते'–वे मनुष्य 'मृत्योः'–मृत्युके 'विततस्य'–चारों ओर फैले हुए 'पाशम्'–जालमें 'यन्ति'–जा पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि वे सर्वत्र फैले हुए मृत्युके जालमें जा पड़ते हैं। अर्थात् जो मूर्ख मनुष्य विषयोंको प्राप्त करनेके लिये अन्धेके समान दौड़ा करते हैं, वे मृत्युके जालमें जा पड़ते हैं; क्योंकि यह जाल सर्वत्र फैला हुआ है। अतः विषयोंके पीछे दौड़नेसे जन्म-मृत्युके चक्रमें ही भरमना पड़ता है। 'अथ'–इसलिये 'धीराः'–चतुर या ज्ञानी मनुष्य 'ध्रुवममृतत्वं विदित्वा'–निश्चल और अविनाशी अमरपदको जानकर 'इह अध्रुवेषु न प्रार्थयन्ते'—इस लोकके नाशमान पदार्थोंकी इच्छा नहीं करते। अर्थात् समझदार मनुष्य अविनाशी और अविचल अमरपदको जानकर इस जगत्के क्षुद्र भोगोंकी कामना नहीं करते। सारे श्लोकका तात्पर्य यह है कि विषयोंके पीछे तो मूर्ख मनुष्य ही भटका करते हैं; क्योंकि उसका परिणाम जन्म-मरणका बन्धन है। ऐसा समझकर बुद्धिमान् मनुष्य अविनाशी अमरपदको जानकर उसकी प्राप्तिके लिये तत्पर होते हैं और तुच्छ विषयोंकी ओर देखते भी नहीं।

इस विषयमें श्रीशंकराचार्य तो यहाँतक कहते हैं कि जबतक मनुष्य अपने शरीररूपी 'शव'का भजन करता है, तबतक उसको 'शिव'का भजन नहीं सूझता। तात्पर्य यह है कि जबतक 'देह'को सुख पहुँचानेसे मनुष्यको अवकाश नहीं मिलता, तबतक उसके ध्यानमें आता ही नहीं कि 'देव'का भजन करना ही मनुष्य-जीवनका कर्तव्य है। अतएव उससे ईश्वरका भजन हो कैसे?

भजन करनेकी योग्यता बताते हुए दूसरे प्रसङ्गमें श्रीभगवान् शङ्कर कहते हैं—

> तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्।
> मुमुक्षूणामलक्ष्योऽयमात्मबोधो विधीयते॥

यहाँ इस श्लोकपर विचार करनेसे पहले एक बात समझ लेनी आवश्यक है। वह यह कि एक ही चेतन सत्ताके तीन विभिन्न स्वरूपोंमें मनुष्य अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार भजन करता है। (१) निर्गुण-निराकारस्वरूपमें—यहाँ साधक 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—यह प्रत्यक्ष करता है। अर्थात् ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप जाननेके कारण साधक ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है। (२) सगुण निराकारस्वरूपमें—भजन करते हुए साधक महावाक्यके अनुशीलनसे जीवात्मा और परमात्माका ऐक्य—साधन करता है और स्वयं परमात्म-रूप हो जाता है। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'—का अनुभव करता है। (३) सगुण साकाररूपमें भजन करके, भक्त अपने इष्टका साक्षात्कार करके चार प्रकारकी मुक्ति प्राप्त करता है। ये तीनों स्वरूप एक ही चेतन-तत्त्वके हैं, यह बतलाते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।' अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्–ये तीन शब्द हैं, परंतु ये एक ही चेतन-तत्त्वके वाचक होनेके कारण अभिन्न हैं। और भी अधिक स्पष्टरूपसे समझना हो तो कह सकते हैं कि ये तीनों एक ही वृक्षकी तीन विभिन्न शाखाएँ हैं और इससे तीनोंके ऊपर 'मुक्ति' नामका एक ही फल उगता है, फिर चाहे उसको पृथक्-पृथक् नामोंसे

पुकारा जाय। सौराष्ट्रके रहनेवाले जिसे 'केरी' कहते हैं, बम्बईवाले 'आम्बा' कहते हैं, उत्तरप्रदेशके लोग जिसे 'आम' कहते हैं तथा संस्कृतके पण्डित जिसे 'आम्रफल' कहते हैं— वह एक ही फल है। इसलिये भक्त जिस बातको भजनसे भगवान्‌की प्राप्ति करना कहते हैं, उसी बातको ज्ञानका साधन करनेवाले ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्त करना कहते हैं। इसलिये ज्ञान सम्पादन करना या ईश्वर-भजन करना—ये दोनों एक ही फलकी प्राप्तिके साधन हुए, अतः दोनोंके लिये समान योग्यताकी आवश्यकता है।

अब श्लोकको देखिये। वहाँ 'भजन' शब्द नहीं है, परंतु आत्मबोध यानी आत्माका ज्ञान—यह शब्द है। इसलिये यह स्पष्ट करना पड़ा। प्रस्तुत श्लोकमें श्रीशङ्कराचार्य यह कहते हैं कि पहले तो तपसे पापका नाश करना चाहिये और पश्चात् चित्तको शान्त करना चाहिये, अर्थात् चित्तमें भोगपदार्थोंकी कामना न रहनी चाहिये, और इसके लिये विषयोंसे आसक्ति दूर होनी चाहिये। ऐसा होनेपर ईश्वर-प्राप्तिकी तीव्र इच्छा जाग्रत् होती है और उसके बाद मनुष्य भजन करनेमें प्रवृत्त होता है। जबतक विषयोंके सेवनमें ही मन भटकता रहता है, तबतक भजन करनेकी याद भी नहीं आती, फिर भजन हो तो कैसे? इस विषयमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

अर्थात् जिस साधकने अपना मन निर्मल कर लिया है— जिस मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र है, वही मेरा भजन करके मुझे प्राप्त कर सकता है। कपटी, छली और दूसरोंका छिद्रान्वेषण करनेवाले मनुष्य मुझे पसंद नहीं हैं, इसलिये ऐसे मनुष्य मेरा भजन नहीं कर सकते। सारांश यह है कि जो मनुष्य दैवी सम्पत्तिवाला है, उसीको मेरा भजन सूझता है और जो आसुरी सम्पत्तिवाले हैं, वे नरकके रास्ते जाते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं—

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता॥

यहाँ योगका अर्थ है ईश्वर-प्राप्तिका कोई भी साधन, जैसे भक्ति, ज्ञान या अष्टाङ्गयोग आदि। कहते हैं कि इस प्रकारके किसी भी साधनमें प्रवृत्त होनेसे पहले इतनी तैयारी आवश्यक है। इनमें पहली तैयारी है—वाणीका निरोध—। जरूरत हो उतना ही बोलना, और वह भी सत्य, प्रिय और हितकर होना चाहिये। यह न हो सके तो मौन रहना अधिक अच्छा है। दूसरा है अपरिग्रह—अर्थात् किसी भी वस्तुका संग्रह न करना। संग्रह करनेसे प्राणी और पदार्थोंमें आसक्ति बढ़ती है, और संसारमें आसक्त पुरुषसे कदापि ईश्वरका भजन नहीं हो सकता। तीसरे, इहलोक या परलोकके किसी भी भोगकी इच्छा नहीं होनी चाहिये। यदि भोगके पदार्थोंमें मन भटकता रहा तो ईश्वरका भजन कैसे होगा? चौथा है—एकान्त-सेवन, अर्थात् जहाँतक हो सके जनसंसर्गसे दूर रहना। अर्थात् विषयी मनुष्योंमें मिलना-जुलना जरूरतसे अधिक न रखे। प्रवृत्तिको न बढ़ावे।

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि 'मनुष्यको सदा ही ईश्वरका भजन करना चाहिये; परंतु इतने पथ्य-परहेजका पालन करके योग्यता प्राप्त करनेपर ही भजन हो सकता है। पहले तो इतना निरभिमानी हो कि अपनेको एक तृणसे भी तुच्छ माने। जबतक देहमें अहङ्कार रहता है, तबतक सच्चा भजन नहीं हो सकता, इसलिये दीनता ग्रहण करनी चाहिये जिससे यथार्थ भजन हो सके। वृक्षके समान सहनशीलता सीखनी चाहिये। शीत-घाम सहन करना सीखना चाहिये। तितिक्षा धारण करनी चाहिये और जैसे वृक्ष पत्थर मारनेवालेको फल देता है, काटनेवालेका घर बना देता है, तथा स्वयं जलकर उसका भोजन बना देता है, ऐसी उपकारकारिणी सहनशीलता होनी चाहिये। अपने लिये मान पानेकी इच्छा न करके, भूतमात्रमें मेरे भगवान् विराजते हैं, ऐसा भाव रखकर प्राणीमात्रको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये। सबको सम्मान देना चाहिये। इतनी योग्यता प्राप्त करनेके बाद, श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि, मनुष्य यथार्थ भजन कर सकता है। यह जबतक नहीं होता है, तबतक प्रायः संसारका ही भजन होता है, और यदि कदाचित् भगवान्‌का भजन दीख पड़े तो समझना चाहिये कि वह ईश्वरकी प्राप्तिके लिये नहीं, बल्कि संसारके पदार्थोंको प्राप्त करनेके एक साधनके रूपमें ही है।

श्रुति कहती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

अर्थात् जबतक मनुष्य दुराचार छोड़कर, सदाचारमें

प्रवृत्त नहीं होता, जबतक चित्तको शान्त और क्षोभरहित नहीं बनाया जाता और जबतक मनका विषयोंमें भटकना बंद नहीं होता, तबतक किसी भी उपायसे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये भक्तको भजन करना हो तो भी इतनी सामग्री चाहिये और ज्ञानीको ज्ञान प्राप्त करना हो तो भी यही सामग्री चाहिये। इन साधनोंके बिना भजन या ज्ञानका कोई साधन नहीं हो सकता।

ईश्वरका भजन करना हरेक मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार है; क्योंकि मनुष्यका जन्म मिला है, ईश्वरका भजन करनेके लिये ही। तो भी मनुष्यसे भजन नहीं हो सकता। इसी प्रकार मनुष्य भजन नहीं करता, इसका भी कारण यही है कि जबतक मनुष्य देहकी सेवामें लगा रहता है, तबतक देवकी सेवाका कर्तव्य उसके ध्यानमें आता ही नहीं। देहकी सेवासे हटे, तब न कहीं देवका भजन करनेका अवकाश मिले ? देहको दिनमें चार बार खाना दो तो भी वह भूखा ही रहता है और दो बार दो तो भी भूखा रहता है। जितनी बारकी आदत डालोगे उतनी बार प्रतिदिन उसको खाना देना ही चाहिये। और आज यदि इसको मल-धोकर साफ करो तो कल फिर जैसा-का-तैसा मैला-गंदा हो जायगा, और चार दिनतक साफ न करो तो दुर्गन्ध करने लगेगा। इसलिये प्रतिदिन इसको साफ-सुथरा करना पड़ता है। बल्कि आज इसको स्वच्छ-धुला कपड़ा पहनाओ तो कल उसे मैला कर डालता है, और दो दिन उसे न बदलो तो कपड़ेसे दुर्गन्ध आने लगती है। इसलिये इसके कपड़े भी प्रतिदिन बदलने पड़ते हैं। इस प्रकार इसकी सेवामें तथा सेवाके लिये उपयोगी साधनोंको जुटानेमें ही सारा समय चला जाता है, फिर देवका भजन कैसे सूझे ?

अतएव ईश्वरका भजन कौन कर सकता है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जो जिसके बिना काम न चले, केवल उतनी ही देहकी सेवा करता है यानी जो आदमी अपनी जरूरतको एकदम कम कर देता है, वही आदमी ईश्वरका भजन कर सकता है। देहका भजन और देवका भजन—दोनों एक साथ नहीं हो सकते, एक मियानमें दो तलवार नहीं रह सकती। श्रीशङ्कराचार्यके कथनानुसार शवका भजन छोड़कर पवित्र होनेपर ही शिवका भजन हो सकता है।

इस बातको शास्त्रमें इस प्रकार समझाया है—

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति॥

जिस मनुष्यको शरीरके पोषणकी चिन्ता है और जिसका सारा समय शरीरको सुख पहुँचानेमें ही चला जाता है, वह यदि आत्मदर्शनकी इच्छा करता है तो उसकी यह इच्छा लकड़ी समझकर मगरके ऊपर सवारी करके नदी पार होनेकी इच्छाके समान है। अर्थात् देहका भजन छोड़े बिना देवका भजन नहीं हो सकता।

कुन्तीजीने श्रीभगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥

जो जन्म, ऐश्वर्य, विद्या, धन आदिके मदसे युक्त है वह तुम्हारा भजन करनेयोग्य नहीं, परंतु जो अकिञ्चन है, अर्थात् जिसके सर्वस्व तुम्हीं हो, और जिसे संसारके विषयोंमें प्रीति नहीं है, वही तुम्हारा भजन कर सकता है।

इस छोटे-से निबन्धमें आपने देख लिया कि भजन करनेका अधिकार तो सबको है, तथापि इसके लिये कुछ योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है, उसके बिना यथार्थ भजन नहीं हो सकता। तथापि योग्यता प्राप्त करनेका एक साधन भी भजन ही है। इसलिये भाव-कुभावसे भजन चालू रखते हुए योग्यता प्राप्त करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। ध्येय दृष्टिके सामने हो, तभी ध्येयतक मनुष्य पहुँच सकता है।

अब जो मनुष्य भजन नहीं करता, उसके लिये शास्त्र क्या कहते हैं, यह दिखलाकर निबन्ध पूरा किया जाता है। शास्त्र कहते हैं—

यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः।
न करोति हरेः पूजां स नरो गोवृषः स्मृतः॥

'जो मनुष्य सारा जीवन देहकी पूजामें ही लगाता है, विषयसेवनमें ही जिसकी आयु समाप्त हो जाती है और देवका भजन नहीं करता, ऐसे मनुष्यको बैल ही समझना चाहिये।'

प्रिय पाठक! ये दोनों मार्ग तुम्हारे सामने खुले पड़े हैं। चाहो तो केवल पेट भरकर पशुका जीवन बिताओ और चाहो तो भजन करके ईश्वरकी प्राप्ति कर लो—'येनेष्टं तेन गम्यताम्'। जो रुचे उसके अनुसार करनेके लिये तुम स्वतन्त्र हो, कोई तुम्हारा हाथ पकड़नेवाला नहीं है। हाँ, भजन करनेमें श्रम तो है, क्योंकि पशुका जीवन बिताना तो

स्वाभाविक है। परंतु मनुष्यका मनुष्यत्व पशु होनेमें है या नरसे नारायण होनेमें—पुरुषसे पुरुषोत्तम होनेमें है—इसका विचार करना आवश्यक है।

श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभतरं नरजन्म जन्तु-
स्तत्रापि पौरुषमतः सदसद्विवेकम्।
सम्प्राप्य चैहिकसुखाभिरतो यदि स्याद्
धिक् तस्य जन्म कुमतेः पुरुषाधमस्य॥

देवदुर्लभ मनुष्यशरीर प्रभुने दिया है, साथ ही विवेक-बुद्धिका अमोघ दान भी दिया है। विवेकसे नित्यानित्य तथा आत्मा-अनात्माका भेद समझकर, अनित्य और अनात्माको छोड़कर, नित्य आत्मस्वरूपकी प्राप्ति कर लेनेमें ही मानव-शरीरकी चरितार्थता है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य ऐसी उत्तम सुविधा प्राप्त करके भी पशुके समान केवल विषयभोगमें ही जीवनका उपयोग करता है, उसके जन्मको धिक्कार है; क्योंकि जो बुद्धि प्रभुने उसे नरसे नारायण बननेके लिये दी थी, उसका उपयोग उसने क्षुद्र विषयोंके भोगनेमें ही किया। इस अमूल्य साधनका दुरुपयोग करनेवाला मानव नहीं, बल्कि दानव ही है!

परमात्मा सबको सन्मति प्रदान करें। हरिः ॐ तत्सत्।

हिंदू-संस्कृतिके प्रतीक

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

मनुष्यके लिये सब समय पूरी बात कहना या लिखना शक्य नहीं होता। हमारे लिये जीवनमें बहुत-से भाव इस प्रकार सूचित करने आवश्यक होते हैं, जिन्हें दूरसे देखकर समझा जा सके। बहुत समय और स्थल ऐसे होते हैं जहाँ अपने और दूसरोंके लिये पहचाननेका चिह्न निश्चित करना पड़ता है। यही चिह्न उस भाव या वस्तुके प्रतीक कहलाते हैं, जिसके लिये निश्चित किये गये हों। जैसे व्यक्तिका नाम उस व्यक्तिका प्रतीक है। नामके द्वारा उसका सम्मान या अपमान होता है। नामके कारण ही उसका भेद समझा जाता है।

प्राचीन कालमें प्रत्येक योद्धा अपने-अपने पृथक् ध्वज रखता था। महाभारतमें श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, कर्ण, धर्मराज, अर्जुन, भीम, अभिमन्यु आदि सभीके विभिन्न आकृतियोंवाले रथध्वजोंका वर्णन मिलता है। ये ध्वज दूरसे उसको सूचित कर देते थे। प्रत्येक भवनपर उसके कुलका ध्वज होता था। भारतवर्षके निवास ध्वजोंसे सुशोभित होते थे। मन्दिरोंपर पंडोंके स्थानोंपर आज भी ध्वज होते हैं। संस्थाओंके ध्वज तथा राष्ट्रध्वजका विश्वमें जो सम्मान है, वह सब जानते हैं। प्रत्येक राष्ट्रमें भी जलसेना, वायुसेना आदिके पृथक्-पृथक् ध्वज होते हैं जो उनके भेदको सूचित करते हैं। ध्वज जिसका हो, उसका प्रतीक– प्रतिनिधि होता है और ध्वजका सम्मान या अपमान उसीका होता है।

व्यक्ति या संस्थाओंके अतिरिक्त भावों, क्रियाओं तथा ... सूचक प्रतीक भी आज व्यवहृत होते हैं और वे कबसे व्यवहारमें आ रहे हैं, यह कोई इतिहासकार कह नहीं सकता। इस प्रकारके सभी प्रतीक दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ नित्य प्रतीक हैं। वे अपने भाव या पदार्थसे नित्य सम्बन्ध रखते हैं। उस भावको दूसरे प्रकारसे सूचित नहीं किया जा सकता। जैसे आकाशका प्रतीक शून्य है। दूसरे प्रतीक कल्पित होते हैं। व्यक्तियोंके नाम, राष्ट्रोंकी ध्वजाएँ तथा दूसरे चिह्न कल्पित होते हैं। जैसे अमेरिकाके राष्ट्रध्वजमें तारकचिह्न हैं। संयुक्तराष्ट्र अमेरिकामें जितने राज्य सम्मिलित हैं, उनमेंसे प्रत्येकके लिये ध्वजमें एक तारक-चिह्न है। राज्यका चिह्न तारक हो, यह कल्पित किया गया। ऐसे कल्पित प्रतीक तभी समझे जाते हैं, जब कि उनकी व्याख्या हमें ज्ञात हो।

पाश्चात्त्य विद्वानों तथा उनके अनुयायियोंकी मान्यता है कि 'मनुष्य पहले अपना काम चिह्नों और संकेतोंके द्वारा ही चलाता था। उसके पास भाषा नहीं थी।' इस सम्बन्धमें भूल यहीं की जाती है कि भाषाकी अपेक्षा संकेत निश्चित करना सरल मान लिया जाता है। हम एक भी मनुष्यको नहीं जानते जो भाषाहीन विचार कर सकता हो। गूँगे व्यक्ति भी दूसरोंसे ही संकेत सीखते हैं। आजतक किसी गूँगेने उन नित्य संकेतोंका उपयोग अपने भावोंको सूचित करनेके लिये नहीं किया, जिन्हें विश्वकी पूरी मानव-जाति एक ही अर्थमें उपयोग करती है। आपने किसी गूँगेको विवादकी शान्तिके लिये श्वेत रंगकी ओर संकेत करते कभी देखा है? जब किसी राष्ट्रको कोई पदक या विशेष चिह्न निश्चित करना पड़ता है,

तो उसको निश्चित करनेके लिये विशेषज्ञोंकी बैठकें होती हैं। यह चिह्नोंके विशेषज्ञ जानते हैं कि ऐसा चिह्न निश्चित करना जो भावको ठीक-ठीक सूचित करे और उससे भ्रम न हो, बहुत सरल नहीं है। मनुष्य यदि पहले सुसभ्य और बुद्धिमान् नहीं था तो उसने किस प्रकार ऐसे चिह्न निश्चित कर लिये कि आजके बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी नये चिह्नोंके लिये उन्हींका सहारा लेते हैं। जैसे मनुष्य कोई नया शब्द मूलतः नहीं बना पाता, वह पुराने शब्दोंका ही पर्याय निश्चित करता है या संयुक्त शब्द बनाता है, वैसे ही कोई नया प्रतीक भी आज हम बना नहीं पाते हैं। हमारे सब कल्पित प्रतीक पुराने नित्य प्रतीकोंके आधारपर ही निश्चित होते हैं।

विश्वकी सम्पूर्ण मानवजाति नित्य प्रतीकोंको एक ही अर्थमें व्यवहार करती है। श्वेत ध्वज सब कहीं शान्तिका सूचक है। जैसे किसी अज्ञात शक्तिने सबको उन प्रतीकोंके अर्थ बतला दिये हों। यह प्रतीकोंके अर्थोंकी एकता यह स्पष्ट सिद्ध करती है कि मनुष्य-जाति किसी एक ही देशसे विश्वमें फैली है और वह देश वही हो सकता है, जहाँ नित्य प्रतीक अब भी अपने अविकृत रूपमें उपलब्ध हो सकें और जहाँ विश्वके समस्त नित्य प्रतीकोंकी उसी रूपमें मान्यता हो। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय प्रतीक ही विश्वव्यापी हो गये हैं।

कल्पित प्रतीक

अनादिकालसे हम पदार्थोंके नाम निश्चित करते आ रहे हैं और ध्वज आदि प्रतीक चुनते आ रहे हैं। आज प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति अपने ध्वज रखती है। सेनामें, स्वयंसेवकोंमें, पुलिसमें उनकी पहचानके चिह्न होते हैं। पुरस्कारके लिये विशेष प्रकारके पदक दिये जाते हैं। इसी प्रकार जाति या राष्ट्र अपने विशेष चिह्न मानते हैं, जैसे ईसाई जातिका चिह्न क्रॉस है। प्रत्येक देश अपना एक राष्ट्रिय पुष्प मानता है। इंग्लैंडका राष्ट्रिय पुष्प गुलाब, फ्रान्सका लिली, भारतका कमल है। रूसी भालू, अमेरिकन साँड़ आदि कहते समय हम जानते हैं कि इन देशोंके ये पशु प्रतीक हैं।

इस प्रकारके सब कल्पित प्रतीक किसी भावको, घटनाको या बहुलताको सूचित करते हैं। जब कोई देश, संस्था या व्यक्ति अपने ध्वज, पदक, चिह्न निश्चित करता है तो उस चिह्नमें वह अपने भाव सूचित करना चाहता है। भावसूचक जो नित्य प्रतीक हैं; उन्हींको वह अपने ढंगसे सजाता है। जैसे हमारे देशके तिरंगे राष्ट्रिय ध्वजके रंगोंकी व्याख्या है। ये रंग अपनी व्याख्याके अनुसार नित्य प्रतीक हैं। अनेक बार यह प्रतीक-कल्पना गूढ़ रहती है। जैसे तारकचिह्न आशाका नित्य प्रतीक है। अमेरिकाके राष्ट्रिय ध्वजपर प्रत्येक राज्यका प्रतीक तारक है। वे राज्य ही अमेरिकाकी आशा हैं। इस प्रकार वहाँ भाव लिया गया। ईसाई क्रॉसचिह्न ईसामसीहकी शूलीका स्मारक है। इसी प्रकार रूसको भालू, अमेरिकाको साँड़का सम्बोधन इसलिये दिया गया कि ये पशु वहाँ अधिकतासे होते हैं।

भाषाके विवेचनके समय यह बताया गया है कि किस प्रकार मूल शब्दोंका उच्चारण-भेदसे असावधानीसे रूप बदलता गया है। किस प्रकार शब्दोंके लाक्षणिक अर्थ होते गये हैं, ठीक वही बात प्रतीकोंके सम्बन्धमें है। प्रतीकोंकी धारणामें भी बराबर विकृति और लाक्षणिकता आती गयी और फलतः कल्पित प्रतीकोंकी बहुलता हो गयी। उदाहरणके लिये देवताका प्रतीक लीजिये। मनुष्यकी आकृतिके साथ मुखके चारों ओर तेजोमण्डल बना देना देवत्वका प्रतीक है। देवताओंके शरीर तेजस् तत्त्वसे बने हैं, वे पार्थिव नहीं हैं, यह बात वह तेजोमण्डल सूचित करता है। भारतसे बाहर जानेपर मनुष्य जब परिस्थितिवश शिक्षासे दूर होकर असभ्य हो गया तो वह देवशक्तिको ही भूल गया। जब दूसरोंके संसर्गसे उसने देवताओंका वर्णन पाया तो देवताओंके वाहन और देवताओंमें भेद न कर सका। देवताओंकी आकृतियोंमें वाहनोंके आकार भी मिल गये। साथ ही देवत्वको सूचित करनेके लिये उड़नेके प्रतीक पक्ष आकृतियोंमें लगाये गये। पाश्चात्त्य देशोंकी परियों और फरिश्तोंकी यही आकृति धारणा है। जैसे उनके शरीर भी स्थूल हैं हमारी भाँति और उन्हें उड़नेके लिये पंख चाहिये।

आज भी प्रतीककी कल्पना करते समय नित्य प्रतीकोंका ध्यान रक्खा जाता है। हम या तो अपने प्रतीकमें वे गुण मानते हैं या उनकी आशा करते हैं, जो उस प्रतीकमें प्रकट हुए हैं। यह बात दूसरी है कि किसीने अपने बच्चेका नाम महावीर रक्खा और वह लड़का आगे दुर्बल हो गया। नाम रखनेवालेकी यह इच्छा तो नामके साथ थी ही कि लड़का महावीर हो। इसी प्रकार ईसामसीहके बलिदानका स्मारक अपने ध्वजपर निश्चित करनेवालोंका भाव तो यह था ही कि वह जाति दयालु तथा दूसरोंके लिये आत्म-बलिदान करनेवाली हो। अब वह जाति शक्तिशाली होकर दूसरोंपर अत्याचार करनेवाली हो जाय तो प्रतीक कैसे रोके।

जैसे एक ही शब्द उपयोग-भेदसे अनेक अर्थ रखता है—'राम-राम'का अर्थ प्रणाम भी है और घृणा भी, वैसे ही प्रतीकोंसे भी अनेक भाव सूचित होते हैं। जब कोई जाति किसी श्रेष्ठ प्रतीकको अपना चिह्न बनाकर अत्याचार करती है तो वह प्रतीक उसके अत्याचारका द्योतक हो जाता है। वह अपने नित्य अर्थमें नहीं रह जाता। जैसे हिटलरके अत्याचारसे स्वस्तिक चिह्न नाजीवादके अत्याचारका स्मारक हो गया। अग्निकी लपटोंके समान लाल महावीरी झंडा जो प्रेम, शौर्य दोनोंका प्रतीक है, वैदिक हिंदूध्वज होकर भी रूसके लाल ध्वजके रूपमें नास्तिकता तथा जड साम्यवादका प्रतीक हो गया।

विकार चाहे शब्दमें हो या प्रतीकमें, वह प्रमाद एवं अज्ञानसे होता है। यदि हम जान सकें कि कौन-सा शिशु अपने आगेके जीवनमें कैसा होगा, तो हम उसका नाम उसके गुणके अनुरूप ही रखें। भाषाके प्रसंगमें बताया गया है कि हिंदू-जातिमें किस प्रकार नामकरण ज्योतिषके द्वारा बालकका अग्रिम जीवन जानकर ही होता था, इसी प्रकार संस्कृत-भाषाके शब्द अपने नित्य अर्थसे किस प्रकार सम्बन्धित हैं। अव्यक्त नित्य शब्दोंके अनुसार ही संस्कृतकी शब्दयोजना तथा देवमूर्तियोंका वर्णन है, यहाँतक कि आदिलिपि ब्राह्मीके अक्षरोंके आकार भी अक्षरोंकी ध्वनिके अर्थसूचक तथा ध्वनिकी उस आकृतिके अनुरूप हैं जो उस ध्वनिसे आकाशमें बनती है। हिंदू-समाजने जब शब्द, नाम एवं अक्षरोंकी आकृतिके सम्बन्धमें कल्पित प्रतीक स्वीकार नहीं किये और उन नित्य प्रतीकोंकी रक्षाके लिये व्याकरण, वेदपाठकी विभिन्न प्रणालियाँ निश्चित कीं जिसमें कहीं कभी विकृति न आवे, तो उस समाजको दूसरी कल्पित आकृतियाँ कैसे स्वीकार हो सकती थीं। जैसे वेदपाठमें अनध्यायोंका विस्तार इसलिये है कि मनकी चञ्चलताका कोई अवसर ऐसा न हो, जिसमें पाठमें स्वरादिका दोष हो, वैसे ही चिह्नोंके निर्माणके सम्बन्धमें समय, आकृति, प्रत्येक आकृतिके अङ्गोंका माप निर्धारित है।

हिंदू-समाजमे जैसे सर्वज्ञ ऋषियोंने शब्द, उसके अर्थ एवं आकृतिका साक्षात् करके, फिर पदार्थोंके नामकरणमें उन पदार्थों, व्यक्तियोंके स्वरूप, गुण, जीवनका सार निहित किया, वैसे ही उस समय ध्वज तथा दूसरे प्रतीक आजकी भाँति कल्पित नहीं होते थे। हमें एक गुण अभीष्ट है, अतः हम उसे अपना प्रतीक बना लें, ऐसी बात नहीं थी। उस समयके प्रतीक नित्य प्रतीक हैं। किसीका ध्वज उसके पराक्रम, स्वभाव आदिका पूरा सूचक है। आज जैसे प्रतीकोंको जातिके अनाचार, अत्याचारसे अपने वास्तविक अर्थसे भिन्न अर्थमें अपमानित होना पड़ता है, ऐसा हिंदू-समाजमें शक्य नहीं था। प्रतीक वास्तविक प्रतीक (चिह्न-लक्षण) थे। वे केवल आदर्श सूचक या धोखा देनेके लिये कल्पित नहीं थे।

नित्य-प्रतीक

नित्य-प्रतीकका अर्थ क्या? प्रतीक या चिह्न अपने सूचक भाव या पदार्थसे कैसे नित्य-सम्बन्ध रखते हैं? इन प्रश्नोंके समाधानमें हमें बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। नित्य-प्रतीकोंमें कुछ प्रतीक ऐसे हैं जो विशेषताके कारण निश्चित होते हैं। किसी जाति, देश या पदार्थकी वह विशेषता, जो दूसरोंमें न हो, उसका प्रतीक हो जाता है। जैसे हाथीका प्रतीक सूँड़। इसी प्रकार जिन देशोंमें कोई विशेष पशु या पदार्थ होते हैं, उन देशोंको उन पदार्थोंसे लक्षित किया जाता है। दूसरे प्रतीक वे हैं जो भाव-जगत्से सम्बन्ध रखते हैं। कौन-सा भाव किस पदार्थसे सम्बन्धित है, यह बात वही जान सकता है, जिसने स्थूलके बन्धनसे मनको पृथक् करके जाग्रत् दशामें ही भावजगत्का साक्षात् कर लिया हो। जो बाजीगर किसी पदार्थको कुछ क्षणके लिये भी प्रतीत कर सकता है, वह बता सकेगा कि उस पदार्थकी भावना करते समय मनकी क्या स्थिति होती है। इस प्रकार जिस पदार्थका जिस भावसे सम्बन्ध है, वे पदार्थ उसी भावके नित्य प्रतीक हैं; क्योंकि मनमें उस पदार्थसे वही भाव स्फुरित होगा।

नित्य-प्रतीकोंका श्रेणी-विभाजन करते समय हमें कई प्रकारके प्रतीक मिलते हैं। १—चिह्न-प्रतीक, जैसे अक्षराकृतियाँ, स्वस्तिक, त्रिभुज, चतुर्भुज, यन्त्र आदि। २—रंगोंके प्रतीक, जैसे—श्वेत, लाल आदि रंग भावसूचक हैं। ३-पदार्थ-प्रतीक, जैसे शंख, स्वर्ण, पाषाणादि। ४—प्राणी प्रतीक—गाय, वृषभ, मयूर, हंस आदि। ५—पुष्प-प्रतीक-कमल आदि। ६—शस्त्र-प्रतीक—चक्र, त्रिशूल, गदादि ७—वाद्य-प्रतीक—शंख, डमरू, भेरी, वंशी आदि। ८—वृक्ष प्रतीक—आँवला, पीपल, तुलसी आदि। ९—वेश-प्रतीक—शिखा, यज्ञोपवीत, कण्ठी, माला, गैरिकवस्त्र, दण्ड, तिलक आदि। १०—संकेत-प्रतीक—मुद्राएँ।

चिह्न-प्रतीक

तन्त्रोंके अनुसार उपासनामें यन्त्रका अत्यन्त महत्त्व है।

देवता यन्त्रमूर्ति होते हैं। प्रत्येक उपासनामें उसका वज्र तथा चक्रका चिह्न होता है। इन चिह्नोंमें कुछ अन्तर देवता और उपासनापद्धतिके अनुसार आता है। चिह्नोंके रंग और उनकी आकृतिका परिमाण शास्त्र निर्देश करता है। हम जानते हैं कि आजके यन्त्रोंमें रूप एवं शब्द दोनोंका रेखाङ्कन हो जाता है। ग्रामोफोन तथा चलचित्रोंमें रेखाएँ ही फिर शब्द या रूप बनकर प्रकट होती हैं। रेडियोपर जब हम चित्र भी भेज सकते हैं तो यह सिद्ध ही हो गया कि अव्यक्त आकाशमें रूप एवं शब्दकी रेखाएँ व्यापक होती हैं। यन्त्रके द्वारा उन्हें व्यक्त किया जा सकता है।

विश्वमें जितनी आकृतियाँ या शब्द हैं, वे सब रेखाओंमें अङ्कित हो सकते हैं और सबकी रेखाएँ अव्यक्त आकाशमें हैं, यह जान लेनेके पश्चात् प्रश्न रहता है उन रेखाओंसे पदार्थोंको प्रभावित करनेका। वैज्ञानिक जानते हैं कि समान यन्त्र परस्पर प्रभाव विनिमय कर लेते हैं। अव्यक्तमें व्यापक शब्द रेडियोके यन्त्रद्वारा ही प्रकट होते हैं। यही नियम यन्त्रोंके सम्बन्धमें भी है। पूजामें प्रयुक्त होनेवाले रेखाचित्र यन्त्र ही कहे जाते हैं। यन्त्रका अर्थ है, अव्यक्त शक्तिको व्यक्त करनेवाला आधार। आप एक यन्त्र बनाते हैं, स्थूल यन्त्र। वह यन्त्र शब्द या विद्युत् प्रकट करता है। ऐसे ही पूजाके यन्त्र देवशक्तिके लिये आधार हैं। वे देवशक्तिको व्यक्त करते हैं, यदि उनका सविधि उपयोग हो। जैसे यन्त्रके द्वारा अविधिपूर्वक मशीनके उपयोगसे उसकी तथा दूसरोंकी हानि सम्भव है, वैसे ही यन्त्रका उपयोग भी अनधिकारीके द्वारा अविधिपूर्वक होनेपर अनिष्टकर होता है।

त्रिभुज, चतुर्भुज तथा दूसरी रेखाएँ अपने नित्य प्रभावसे कैसे युक्त हैं, यह बात सामुद्रिकशास्त्र भली प्रकार स्पष्ट करता है। हस्तरेखाओंसे मानवके जीवनका अभिन्न सम्बन्ध है, इसे अब पाश्चात्त्य ज्योतिषी भी मानने लगे हैं। इसके अतिरिक्त विद्युत्की धाराएँ रेखात्मक होती हैं, यह भी सब जानते हैं। एक रेखा जब दूसरीके समानान्तर जाती है तो एक प्रभाव और एक दूसरेको काटनेपर दूसरा प्रभाव सूचित करती है। इसी प्रकार बिन्दु स्थानका वृत्त पूर्णता और शून्यका तथा वृत्तके मध्यका बिन्दु केन्द्रका सूचक है। इन चिह्नोंका उनके दार्शनिक भावोंसे नित्य सम्बन्ध है।

बिन्दु—बस है, इतना कह सकते हैं। उसमें लम्बाई, चौड़ाई कुछ भी नहीं। ऐसा बिन्दु बनना भले शक्य न हो, किंतु सत्ताका वही सूचक है। मूल सत्ताका दूसरा कोई निर्देश सम्भव नहीं। बिन्दुका चलना रेखा होता है। उस सत्ताकी गति ही रेखा-आकृतियाँ हैं। इसी प्रकार दूसरे चिह्न भी प्रकृतिके मूल अर्थसे समन्वित हैं। उदाहरणके लिये वज्रको ले लीजिये। इसकी दो आकृति शास्त्र बतलाते हैं। एक तो त्रिभुज और दूसरे गुणकका चिह्न। विद्युत्की दो धाराओं या दो विद्युत्से युक्त तारोंको इनमेंसे किसी आकृतिमें रखकर देख लीजिये कि आकाशसे गिरनेवाले वज्रके समान शब्द और ज्योति प्रकट हो जाती है। तन्त्रमें वज्र चिह्न शक्तिका अभिव्यक्त चिह्न माना जाता है। व्यापक शक्ति इस आकृतिके आधारसे व्यक्त होती है, यह विद्युत्के उदाहरणसे सिद्ध है।

जैसे वज्रका चिह्न है, वैसे ही ग्रहोंके चिह्न भी हैं। प्रत्येक ग्रहका प्रभाव जिन आकारोंसे व्यक्त हो सकता है, वे रेखाचित्र उन ग्रहोंके प्रतीक माने जाते हैं। उन आकृतियोंके द्वारा उन ग्रहोंकी आराधना होती है। वृत्त, अर्द्धचन्द्र, षट्कोण, अष्टकोण आदि प्रतीकचिह्न अपनी शक्तियोंके द्योतक हैं।

चिह्न-प्रतीकोंमें हिंदू-समाजमें 'स्वस्तिक' सर्वप्रधान चिह्न है। जैसे समस्त अक्षर अकारसे उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही समस्त रेखाकृतियाँ स्वस्तिकके ही अन्तर्गत आ जाती हैं। प्रणवकी आकृति नादरहित होनेपर स्वस्तिक ही मानी जाती है। प्रणवके सब अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि प्रणवका प्लुत नाद सबके कण्ठसे शुद्धरूपमें उच्चरित नहीं हो सकता। नाभिसे उठकर सहस्रारतक कमलतन्तु-सा अविच्छिन्न नाद तभी उठेगा, जब नाड़ियाँ शुद्ध हों और उनकी रचना पूर्णताको प्राप्त हो। स्त्री-शरीर तथा बहुत-सी पुरुष जातियाँ रक्त-भेदसे उस नादको शुद्धरूपमें नहीं बोल सकते। नाद न होनेपर प्रणवका रूप उच्चारणमय न होकर आकृतिमय हो जाता है। यही रूप स्वस्तिक है।

केन्द्रसे चारों ओर प्रगति, चारों ओर रक्षा एवं चारों ओर उन्मुक्तद्वार—यह स्वस्तिकमें स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। स्वस्ति—कल्याणके लिये यही आवश्यक है। स्वस्तिक प्रथम पूज्य श्रीगणेशजीका यन्त्र है। वही उसके देवता हैं। इसका अर्थ है कि स्वस्तिकके द्वारा गणेशजीकी शक्तिका हम लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रधान मङ्गल चिह्नको ही पारसी समाजने उलटा कर लिया और उनके यहाँ वह अपस्तिक कहलाया। इसी प्रकार ईसाइयोंका क्रास भी इसीका संक्षिप्त रूप है। प्रणवका यह रूप न लेकर जिन्होंने नादको प्रतीक माना, उनकी परम्परामें काल-क्रमसे वह मुस्लिम धर्म चाँद

और तारेके रूपमें आ गया। ये सब विकृतियाँ अपने उद्गम-का संकेत तो करती ही हैं।

रंग-प्रतीक

सर्वतोभद्र, नवग्रह आदिमें चिह्नोंके रंग निश्चित हैं। इसी प्रकार स्वस्तिक भी किस कार्यमें किस रंगसे बनाया जाय, यह निर्देश है। रंग केवल पदार्थोंके ही नहीं, भावोंके भी होते हैं, यह बात आज विवादकी नहीं रही है। क्रोध तथा अनुरागमें शरीरके रंगमें ललाई बढ़ जाती है। शोकमें—चिन्तामें पीलापन बढ़ जाता है। इसी प्रकार दूसरे रंग भी भावोंसे सम्बन्धित हैं। जो लोग शरीरसे निकलनेवाले सूक्ष्म तेजो-मण्डल (औरा) को देख सकते हैं, या वे जो उसके सम्बन्धमें कुछ भी जानते हैं, उन्हें पता है कि प्रत्येक मनुष्यके शरीरसे कुछ दूरतक एक तेज निकलता रहता है। वह मध्यम अन्धकारमें ध्यानसे देखनेपर देखा जा सकता है। मनुष्य जिस स्वभावका होता है, उसी स्वभावके रंग उस तेजमें होते हैं। उन रंगोंसे मनुष्यके विचार और प्रकृतिका वर्णन किया जा सकता है।

सूर्य-किरण चिकित्सा-विज्ञानका कहना है कि सूर्यकी किरणोंके सातों रंग हमारे शरीरमें स्थित हैं। उनमेंसे किसी-की मात्रा कम होनेपर या बढ़नेपर रोग होते हैं। रंगीन शीशेसे सूर्यका प्रकाश रोगीपर डालकर या रंगीन शीशेकी बोतलोंमें भरे जलको धूपमें रखकर उस जलके द्वारा रोगीकी चिकित्सा की जाती है। सभी रोगोंकी चिकित्सा रंगोंके भेदसे जल या धूपके द्वारा ही होती है। यह विज्ञान सिद्ध करता है कि पदार्थोंकी स्थितिका रंगोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हिंदू-समाजमें रंग अपने प्रभावके लिये पूजामें तो प्रयुक्त होते ही हैं, उनके प्रभावोंका सर्वत्र लाभ उठाया गया है। साथ ही उन्हें प्रतीकके रूपमें भी व्यक्त किया गया है। थोड़े ही भेदसे लाल रंग उष्णता, अनुराग या क्रोधका सूचक है। वह रजोगुण क्रियाका रंग है। क्रियासे उष्णता और उसका रंग लाल होगा, यह समझना कठिन नहीं है। क्रोधके समय लाल रंग नीललोहित और अनुरागके समय सिन्दूर वर्ण हो-कर प्रतीक बनता है। इसी प्रकार कुछ अन्तरसे श्वेत रंग सात्त्विकता, प्रतिभा, यश, शान्ति, सत्य, धर्म—इनका प्रतीक है। अर्थात् रजोगुणके जो विशुद्ध कार्य हैं, उन्हें लाल रंग और सत्त्वगुणके जो विशुद्ध कार्य हैं, उन्हें श्वेत रंग सूचित करता है। तमोगुणका सूचक काला रंग है। वह अभाव, अन्धकार, मृत्यु आदिका सूचक है जो तमोगुणके स्वरूप हैं।

जो कार्य दो या अधिक गुणोंसे मिलकर होते हैं। उनके रंग भी मिश्रित होते हैं। क्रोध राजस एवं तामसके मिश्रणका भाव है, परंतु उसमें रजोगुण विशेष है। अतएव उसका रंग कालिमा लिये लाल—नीललोहित माना गया है। इसी प्रकार दूसरे रंग भी प्रतीककी भाँति साहित्य एवं चित्रकलामें भारतमें प्रयुक्त होते आ रहे हैं। प्रतीककी यह भावना भारतसे ही दूसरों देशोंमें गयी, इसका प्रमाण यही है कि रंगोंके प्रतीक माने जानेका दार्शनिक कारण भारतके अतिरिक्त और कहीं जाना नहीं जाता। श्वेत रंग शान्तिका सूचक है, यह जानते और व्यवहारमें लाते तो सब देश हैं, परंतु क्यों ऐसा है, यह वे बता नहीं सकते।

समष्टिके भावसे हमारे भाव भिन्न नहीं हैं। रजस्के अधिष्ठाता ब्रह्माजीका जो रंग है, वही रंग उनके भावका होगा, जैसे मनुष्यका और उसके भावके रंगका होता है। उस भावसे व्यक्त सभी कार्य एवं पदार्थ उसी रंगके होंगे। हमारा मन जब उस रंगको देखेगा, वह उसके भावस्तरमें जायगा ही। फलतः लाल रंगसे हमारे मनमें रजोगुणके ही किसी भाव या पदार्थका उदय होगा। यह प्रतीकका विवेचन भारतने ही पाया है। इसी आधारपर प्रतीककी नित्यता स्थिर हुई है। प्रतीक हमें अपने भावजगत् तक ले जाकर तब पदार्थपर लाता है। जैसे नेत्रकी ज्योति पहले पदार्थपर पड़कर जब लौट आती है, तब पदार्थका दर्शन होता है।

पदार्थ-प्रतीक

जैसे रेखाएँ और रंग भावों तथा क्रियाओंके नित्य प्रतीक होते हैं और केवल अपने मूल-पदार्थका संकेत ही नहीं करते, उनका प्रभाव भी रखते हैं; वैसे ही पदार्थ भी प्रतीक होते हैं। जैसे लाल रंग रजोगुणका प्रतीक है तो वह केवल क्रोध-में शरीरसे व्यक्त हो, इतनी ही बात नहीं है; लाल प्रकाशमें क्रियाशक्तिको उत्तेजना मिलती है। रंगके प्रभावोंका अन्वेषण करनेवालोंने विभिन्न रंगोंके प्रभावपर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। प्रयोग करनेपर ये प्रभाव ठीक सिद्ध हुए हैं। इसी प्रकार बहुत-से पदार्थ भी अनेक प्रकारके प्रभाव रखते हैं।

हिंदू-समाजमें शङ्ख मङ्गल-प्रतीक है। वह पवित्रताका सूचक है। उसके बाह्यरूपपर फिर विचार करेंगे; यहाँ तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि शङ्खमें जो शक्ति है, वह हममें पवित्रता संचारित करती है। ध्यान रखना

चाहिये कि मानसिक लाभ स्थूल शारीरिक लाभसे बहुत मूल्यवान् है। हमें प्रत्येक पदार्थमें शारीरिक लाभ मिले ही; यह आवश्यक नहीं। परंतु प्रत्येक पदार्थसे निकलनेवाले परमाणु उसके अनुरूप होते हैं और उस पदार्थके सामीप्यसे वे हममें आते हैं। पदार्थ केवल भावका मूर्तरूप है। भावरूप पदार्थ हमारे भावोंको प्रभावित करेगा ही। यह तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हम किसीके सम्बन्धमें कोई विचार करें तो शब्दों या चेष्टाओंसे व्यक्त किये बिना भी उस व्यक्तिपर उन विचारोंका प्रभाव पड़ता है। समष्टिकर्ताके भाव ही पदार्थरूपमें व्यक्त हैं तो उन व्यक्त भावोंके सान्निध्यका प्रभाव हमारे ऊपर पड़ेगा ही। जिस पदार्थका जैसा भाव मूल कारण है, वह पदार्थ हमारे ऊपर वैसा ही प्रभाव डालता है। उस पदार्थको उसी भावका प्रतीक कहा जाता है। शङ्ख हमारे मनमें पवित्रताका संचार करता है, इसीसे उसको पवित्रता, आनन्द एवं मङ्गलका प्रतीक माना गया है।

किसी पदार्थको किस भावका प्रतीक होना चाहिये, वह क्या प्रभाव डालता है, यह निर्णय विशुद्ध, निरपेक्ष मनके द्वारा ही हो सकता है। जैसे ओषधिका वास्तविक रूप पूर्ण स्वस्थ शरीरमें ही जाना जाता है। अन्यथा मनकी स्थितिके अनुसार प्रभावका ग्रहण होगा। राग-द्वेष या विभिन्न इच्छा-शिक्षाके संस्कारोंसे युक्त मन किसी वस्तुके प्रभावको अपने अनुरूप परिवर्तित कर देता है। अतएव ऐसे मनपर पड़नेवाले प्रभावसे प्रतीकका निश्चय नहीं हो सकता।

शङ्खकी भाँति ही स्वर्ण दृढ़ता, बहुमूल्यता और परीक्षणमें स्थिरताका प्रतीक माना जाता है। जहाँ स्वर्णमें ये गुण हैं, वहीं उससे यह प्रभाव भी पड़ता है। इसीसे स्वर्ण-धारण पवित्र माना गया है। इसी प्रकार अस्थिको अपवित्रताका प्रतीक बताया गया है। उसके स्पर्शसे अपवित्रताका संचार होता है।

प्राणी-प्रतीक

गौ, पृथ्वी क्षमाका प्रतीक है। वृषभ धर्मका प्रतीक है। हंस प्रतीक है ज्ञान एवं निर्णयका तथा सर्प बल और प्राणका प्रतीक है। इनमेंसे या ऐसे प्रतीकोंमेंसे कुछको समझना तो सरल है, पर कुछको समझना सरल नहीं है। हंसकी शुभ्रता, तीव्र गति, नीर-क्षीर-विवेक धर्मसे परिचित होनेके कारण यह तो समझमें आता है कि हंस ज्ञान एवं यथार्थ निर्णयका प्रतीक है। यह बात भी समझी जा सकती है कि जिसमें जो गुण प्रत्यक्ष है, वह उसी भावका मूर्तरूप है। उसके सान्निध्य या स्मरणसे मनमें उस भावका उदय होगा, वह मनपर अपने गुणका प्रभाव डालेगा; परंतु गायका पृथ्वीसे या साँड़का धर्मसे सम्बन्ध बहुत विचित्र लगता है।

पृथ्वीके अधिदेवताकी आकृति गोरूप और धर्मकी वृषभरूप है, यह बात तो शास्त्र कहते ही हैं। प्रत्येक पदार्थ एवं भाव दिव्य जगत्से ही स्थूल जगत्में आता है, यह बात भी है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वीमें सम्पूर्ण तीर्थ, दिव्य धाम, देवस्थान हैं और वहीं देवताओंकी आराधना होती है, वैसे ही शास्त्र गौके शरीरमें सारे देवताओंकी स्थिति बतलाते हैं। देवताओंकी स्थितिमें तो दोनों स्थानोंमें शास्त्र ही प्रमाण हैं। गोवंशपर ही समाजका धारण है, यह बात भी प्रत्यक्ष है। पृथ्वीके समान धारक होनेके साथ गौ क्षमाकी मूर्ति और पालक भी है।

वृषभ धर्मका प्रतीक है। भगवान् शिव—कल्याणका वहन वृषभ (धर्म) ही करता है। नन्दीका यह प्रतीक भारतमें इतना प्राचीन एवं मान्य रहा है कि हिंदू राजाओंके अतिरिक्त भारतीय देशोंके जो ग्रीक या मुगलकालसे पूर्व मुसल्मान शासक हुए हैं, उनके सिक्कोंपर भी बहुधा नन्दीकी मूर्ति अंकित मिलती है। नवीन भारतीय टिकटोंके चित्रोंमें भारतसरकारने मोहन-जो-दड़ोमें प्राप्त एक नन्दीकी मूर्तिका चित्र देना स्वीकार किया है। वह मूर्ति देखने परही धर्मकी पूर्ण एवं सर्वाङ्ग भव्यभावना व्यक्त होती है।

धर्म प्रतिपालक है और उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो वह विनाश भी कर देता है। धर्ममें दुर्बलताको स्थान नहीं। सौम्य, सुपुष्ट; किंतु अधर्मके प्रति दुर्धर्ष भी। वृषभ—साँड़में ये सब गुण हैं। सब भाव हैं। वृषोत्सर्ग हिंदूधर्मका एक मुख्य भाग रहा है। वृषभ—साँड़ भारतमें सदा धर्म-

भावनासे ही छोड़े जाते थे। यही धर्मभावनासे छूटे साँड़ गोवंशका वर्धन करते थे। साँड़ोंको पालकर उनसे व्यवसाय चलाना हिंदू-समाजमें अबतक हेय कर्म है। साँड़—वह तो धर्मका प्रतीक है। उसके लिये कहीं प्रतिबन्ध नहीं। वह खुला घूमता और चरता था। धर्ममें लोभने प्रवेश किया; लोगोंने सस्ते, दूषित बछड़े छोड़ने प्रारम्भ किये। फलतः गायोंकी नस्ल गिर गयीं। धर्मकी उपेक्षासे होनेवाली हानि समाज भोग रहा है।

वृषभ धर्मका प्रतीक है, यह शास्त्रीय नियम स्मरण आते ही एक भाव उठता है। सम्भव है, हमारी धारणा भ्रान्त हो; परंतु उसे व्यक्त करनेका लोभ छोड़ा नहीं जा सकता। हमें लगता है कि रद्दी कोटिके साँड़ोंको छोड़ना, समर्थ होकर भी वृषोत्सर्ग न करना, छूटे साँड़ोंको मारना, बाँधना, सताना, उनकी स्वतन्त्रतामें बाधा देना, यह सब अधर्म है। इस अधर्मके प्रभावसे हमारे धर्मपर बहुत अधिक विपत्तियाँ आयी हैं और अनर्थ हुए हैं। यदि यह अधर्म दूर हो जाय, धर्मका प्रतीक वृषभ निर्द्वन्द्व, निर्बाध, स्वच्छन्द, सुपूजित देशमें घूमने लगे, हम उसके द्वारा खाये खेतको हानि न मानकर सौभाग्य समझने लगें तो 'धर्मो रक्षति रक्षितः' हमारे धर्मपर आयी बहुत-सी आपत्तियाँ दूर हो जायँगी। धर्मके प्रतीककी रक्षासे धर्म स्वतः रक्षित होकर हमारी रक्षा कर लेगा।

पशु-पक्षियोंमें और भी बहुत-से प्रतीक हैं। उनका विस्तृत वर्णन तो शक्य नहीं है; पर वृषभकी भाँति वे भी जिस प्रभाव या शक्तिके प्रतीक हैं वैसा प्रभाव उनमें है और उस देव-शक्तिसे उनका सम्बन्ध है, यह समझ लेना ही पर्याप्त है। उन प्रतीकोंके द्वारा विधिवत् उपासनासे हम उस देवताका प्रसाद प्राप्त कर सकते हैं। उपासना न करनेपर भी उन प्रतीकोंके सान्निध्यसे उस देवताका स्थूल जगत्में जो कार्य है, वह हमें प्रभावित करता है। चाहे वह प्रतीक हंसके समान उन गुणों या शक्तियोंको सहजरूपमें रखता हो, जिनका प्रतीक है या वृषभके समान उसमें अप्रत्यक्ष प्रभाव हों।

(शेष अगले अङ्कमें)

निष्काम कर्म जीवन है

(रचयिता—श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

भौतिक देह अचिर-अस्थिर है,
आत्मतत्त्व ही अजर-अमर है,
सत्ता, बल, वैभव नश्वर है
सत्यधर्म ध्रुव धन है—
निष्काम कर्म जीवन है।

लौकिक माया-ममतामें पड़
स्वार्थ-साधनाके रणमें अड़,
क्यों कर्तव्य-विमुख है तू जड़,
अति कुत्सित चिन्तन है—
निष्काम कर्म जीवन है।

जो आया है, वह जायेगा,
काल-व्याल सबको खायेगा,
गुण-गौरव ही रह जायेगा,
यही विश्व-वन्दन है—
निष्काम कर्म जीवन है।

जुग-जुग जिओ, अभी मर जाओ,
सुख भोगो या दुःख उठाओ,
पर, न भीरुता भाव दिखाओ,
स्वस्थ देह, शुचि मन है—
निष्काम कर्म जीवन है।

मानवताका त्राण करो तुम,
देश-जाति-कल्याण करो तुम,
नव जीवन-निर्माण करो तुम,
गीता-ज्ञान गहन है—
निष्काम कर्म जीवन है।

कामके पत्र

जन्म और कर्म दोनोंसे जाति

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद । आपकी शङ्काका उत्तर निम्नलिखित है—

'चातुर्वर्ण्यं'—गीताके इस चतुर्थ अध्यायके १३ वें श्लोकका अर्थ गीताप्रेससे प्रकाशित गीतामें इस आशयका किया गया है—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है । इस प्रकार इस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ।' इस श्लोकका भाष्य 'गीतातत्त्वविवेचनी'में इस प्रकार किया गया है—'अनादिकालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फल-भोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है । भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मण आदि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं । अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है, उन्हें ब्राह्मण बनाते हैं, जिनमें सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी अधिकता होती है, उन्हें क्षत्रिय, जिनमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, उन्हें वैश्य और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान होते हैं, उन्हें शूद्र बनाते हैं । इस प्रकार रचे हुए वर्णोंके लिये उनके स्वभावके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान भी भगवान् स्वयं ही कर देते हैं । अर्थात् ब्राह्मण शम-दम आदि कर्मोंमें रत रहें, क्षत्रियमें शौर्य-तेज आदि हों, वैश्य कृषि-गोरक्षामें लगें और शूद्र सेवा-परायण हों—ऐसा कहा गया है (१८ । ४१—४४) । इस प्रकार गुणकर्मविभागपूर्वक भगवान्के द्वारा चतुर्वर्णकी रचना होती है । यही व्यवस्था जगत्में बराबर चलती है ।'

कर्मसे जाति माननेवालोंको इन पङ्क्तियोंपर विचार करना चाहिये । हम भी कर्मसे जाति मानते हैं, परंतु किस प्रकार ? इस जन्ममें जो कुछ कर्म होता है, उसीके अनुसार अगले जन्ममें जाति प्राप्त होगी । इस प्रकार जातिमें जन्मकी ही प्रधानता सिद्ध होती है । कर्म तो भावी जन्ममें कारणमात्र है । यही बात उपनिषदोंमें भी कही गयी है । छान्दोग्योपनिषद्में जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन करते हुए यह स्पष्ट लिखा गया है कि—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।' (५ । १० । ७)

अर्थात्—उन जीवोंमेंसे जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले (पुण्यात्मा) होते हैं, वे निश्चय ही उत्तम योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले (पापात्मा) होते हैं, वे अधमयोनि—कुत्ते, सूकर अथवा चाण्डालकी योनिको प्राप्त होते हैं ।

स्मरण रहे—यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और चाण्डाल आदि सबको 'योनि' कहा है । कर्मके अनुसार जाति माननेपर ब्राह्मण आदिकी कोई नियत योनि नहीं रह सकती । प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न कर्मोंको अपनाकर प्रतिदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता रहेगा ।

इसीलिये 'ब्राह्मण आदि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे ?' यह प्रश्न करनेपर गीतातत्त्वविवेचनीमें कहा गया है—

'यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अङ्ग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता तो दोनोंसे ही होती है; परंतु

प्रधानता जन्मकी ही है। इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी ही है। यदि माता-पिता एक वर्णके हों; और किसी प्रकारसे भी जन्ममें संकरता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्रायः संकरता नहीं आती। परंतु सङ्ग-दोष, आहार-दोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि कारणोंसे कर्ममें कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्ण-रक्षा हो सकती है। तथापि कर्मशुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है। कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है। अतः जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं, तो उसका कल्याण नहीं हो सकता; तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका साधन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है।'

यदि मनुष्यके आचरण और कर्म देखकर उसके अनुसार उसकी जाति मान ली जाय तो क्या हानि है? इस प्रश्नके उत्तरमें वहाँ कहा गया है—

'जीवोंका कर्मफल भुगतानेके लिये ईश्वर ही उनके पूर्वकर्मानुसार उन्हें विभिन्न वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। ईश्वरके विधानको बदलनेमें मनुष्यका अधिकार नहीं है। आचरण देखकर वर्णकी कल्पना करना भी असम्भव ही है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न बालकोंके आचरणोंमें बड़ी विभिन्नता देखी जाती है। एक ही मनुष्य दिनभरमें कभी ब्राह्मणका-सा तो कभी शूद्रका-सा कर्म करता है। ऐसी अवस्थामें वर्णका निश्चय कैसे होगा? फिर ऐसा होनेपर नीचा कौन बनना चाहेगा? खान-और विवाहादिमें अड़चनें पैदा होंगी। फलतः वर्ण-विप्लव हो जायगा और वर्ण-व्यवस्थाकी स्थितिमें बड़ी भारी बाधा उपस्थित हो जायगी। अतएव केवल कर्मसे वर्ण नहीं मानना चाहिये।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि वर्णका मूल है जन्म, और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। वर्तमान वर्णकी प्राप्तिमें पूर्व-जन्मका कर्म कारण बनता है। इस प्रकार वर्ण या जातिमें जन्म और कर्म दोनों आवश्यक हैं। परंतु प्रधानता जन्मकी है। केवल कर्मसे वर्ण या जाति माननेवाले वास्तवमें जाति या वर्णको मानते ही नहीं।

अब मैं आपके पत्रपर विचार करता हूँ। आपने भविष्यपुराण ब्राह्मपर्वके दो श्लोकोंको अशुद्ध रूपमें उद्धृत करके जातिभेदका खण्डन किया है। आपके विचारसे मानवमात्रकी एक ही जाति है—मनुष्य-जाति। इसके सिवा, जो जाति-कल्पना है, वह व्यर्थ है। जात-पाँतका विरोध करनेवाले लोग प्रायः पुराणोंको मानते ही नहीं; परंतु आपने अपने मतकी सिद्धिके लिये पुराणका आश्रय लिया है, यह प्रसन्नताकी बात है। आप अच्छी तरह जानते हैं पौराणिक मत 'जन्मसे जाति' माननेके पक्षमें हैं। भविष्यपुराणको ही आपने रक्षा-कवचकी भाँति अपना सहायक बनाया है; अतः उसीके प्रमाणसे आपके मतका निराकरण हो जाय तो आपको अधिक संतोष हो सकता है।

भविष्यपुराणमें कार्तिकेय षष्ठी-व्रतके माहात्म्यका प्रसङ्ग लेकर कार्तिकेयजीकी उत्पत्तिका वृत्तान्त आया है। वे छः माताओंके पुत्र हैं, इस बातपर आश्चर्य करते हुए प्रश्न उठाया गया है कि—

जातिः श्रेष्ठा भवेद् वीर उत कर्म भवेद् वरम्।
(भविष्य० ब्राह्म० ४०। ३)

अर्थात् जाति श्रेष्ठ है या कर्म?

इस प्रश्नपर विचार करते हुए पहले उन लोगोंकी भर्त्सना की गयी है, जो जातिके अभिमानमें आकर

कर्मकी अवहेलना करते हैं। वहाँ कहा गया है कि 'कर्मसे ही मनुष्यमें उत्कर्ष आता है, केवल जातिका अभिमान व्यर्थ है। सब एक ही पिता—परमात्माके पुत्र हैं; अतः कोई ऊँचा कोई नीचा नहीं। सबकी एक जाति है।'

इस विषयपर बड़े विस्तारके साथ विवेचन हुआ है। ये सारी बातें केवल इस उद्देश्यसे कही गयी हैं कि लोग कर्मका महत्त्व समझें। कर्म करें। कर्मकी ओरसे उदासीन होकर केवल जातिके अभिमानमें ऐंठे न रहें। जहाँ सबकी एक जाति बतायी गयी है; वहाँ 'आकृति' रूपा जाति है। अर्थात् आकार तो चारों वर्णोंका एक-सा है; आकृतिरूपा जाति उनकी एक है। सनातन धर्मका यही सिद्धान्त है कि जन्मसे तो सभी एक आकार-प्रकारके होते हैं, फिर वर्णके अनुसार जब बालकका संस्कार कर दिया जाता है और वह स्वधर्म-पालनमें लग जाता है तो उसमें वर्णगत उत्कर्ष जाग उठता है।

इसका तात्पर्य यही है तीनों वर्णोंको अपने संस्कार कभी नहीं छोड़ने चाहिये—'संस्काराद् द्विज उच्यते।' संस्कारसे ही उनमें द्विजत्व जाग्रत् होता है। अतः प्रत्येक मनुष्यको अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार विहित कर्मका पालन करना चाहिये। यही गीताका स्वधर्म है।

भविष्यपुराणमें भी गीताकी ही भाँति प्रत्येक वर्णके स्वाभाविक कर्म बताये गये हैं। वहाँ गीता अठारहवें अध्यायके श्लोक ही ज्यों-के-त्यों उपलब्ध होते हैं। स्वभाव प्रकृतिको कहते हैं। प्रकृति जन्मसे ही होती है। जन्मसिद्ध कर्म ही वहाँ स्वाभाविक कर्म हैं।

इतना ही नहीं, आगे चलकर प्रकरणका उपसंहार करते हुए भविष्यपुराणमें जन्म और कर्मके समुच्चयको आदर दिया गया है। अर्थात् वर्णकी रक्षाके लिये जन्म और कर्म दोनों आवश्यक हैं। जैसे दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे ही कार्यसिद्धि होती है, उसी प्रकार पुरुष जन्म और कर्म—दोनोंसे सिद्धिको प्राप्त होता है। जिस जातिमें जन्म हो, उसीके अनुसार कर्म करनेसे वह उन्नतिको प्राप्त हो सकता है। इसी अभिप्रायसे ब्रह्माजीने कहा है—

इदं शृणु मयाख्यातं तर्कपूर्वमिदं वचः।
युष्माकं संशये जाते कृते वै जातिकर्मणोः॥
पुनर्वच्मि निबोधध्वं समासान्न तु विस्तरात्।
संसिद्धिं यान्ति मनुजा जातिकर्मसमुच्चयात्॥
सिद्धिं गच्छेद् यथा कार्यं दैवकार्यसमुच्चयात्।
एवं संसिद्धिमायाति पुरुषो जातिकर्मणोः॥
(भविष्य० ब्राह्मपर्व ४५। १–३)

आशा है कि अब इसे पढ़कर आप पुनर्विचार करेंगे तो आपको संतोष होगा। शेष भगवत्कृपा।

पश्चात्ताप

किते दिन हरि-सुमिरन बिनु खोए!
परनिंदा रसनाके रस करि केतिक जनम बिगोए॥
तेल लगाइ कियौ रुचि-मर्दन वस्तर मलि मलि धोए।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै विषयिनिके मुख जोए॥
काल बली तें सब जग काँप्यौ ब्रह्मादिक हूँ रोए।
सूर अधमकी कहौ कौन गति, उदर भरे, परि सोए॥
—सूरदासजी

बारह आने

(लेखक—श्रीमोरेश्वर तपस्वी 'अयक')

सायंकालका समय था। आकाश अभी भी बादलोंसे घिरा था। वर्षा हो चुकी थी। बादलोंके पटल चीरकर सांध्यसूर्यकी किरणें भीनी सृष्टिपर छा गयी थीं। ठंडी हवाके झकोरोंके साथ ही वृक्षलताओंकी भीनी डालें सिहर उठती थीं। मानो कोई भीना पंछी पंख फड़फड़ाकर पानी झाड़ देता हो।

ऐसे सुहावने मौसममें दो-चार मित्रोंको साथ लिये मैं सैर करने निकला था। इधर-उधरकी गप्पें लड़ाते हमलोग आगे बढ़ते जा रहे थे कि अकस्मात् मेरा ध्यान सड़ककी एक ओर पगडंडीपर पड़ी एक मानव-देहकी ओर गया। मनकी मानवता जाग उठी। लपककर हम सभी वहाँ पहुँच गये।

वह एक स्त्री थी, काली लेकिन जवान। उसका वस्त्र पूरा भीग चुका था और शायद किसी पीड़ासे आकुल सुध-बुध खोकर वह वहाँ अचेत पड़ी थी।

'ऐ, बाई!' हमने उसे जगानेका प्रयास प्रारम्भ किया, वह टस-से-मस न हुई। एक भीषण कल्पना मेरे मनको छू गयी। कहीं इसे चिरनिद्रा तो नहीं आ गयी? उस कल्पनामात्रसे मन काँप उठा और तुरंत मैंने उसकी बाँहका स्पर्श किया, लेकिन मेरा हाथ उसी दम पीछे आ गया मानो मैंने कोई बिजलीका तार छू लिया हो। जी हाँ, उसका बदन जल रहा था। क्या ही विचित्र बात थी। वर्षासे लथपथ बदनमें तेज ज्वर!!

आखिर हमारा प्रयास सफल हुआ। वह चेती। कराहते हुए उसने आँखें खोलीं। मैंने पूछा 'यहाँ कैसे पड़ी हो बाई? तुम्हें तो तेज बुखार हो आया है।'

'हाँ भैया!' उसने जैसे-तैसे उठते हुए कहा।

'इधर कहाँ गयी थी?' मेरे एक मित्रने पूछा।

'तालाबपर काम करने गयी थी, भैया!' उसका क्षीण उत्तर!

'रहती कहाँ हो?' दूसरे मित्रका प्रश्न।

'राजा-मुहल्लेमें।'

'ओफ! तो इतनी दूर कैसे जाओगी?' मेरी व्याकुलता, क्योंकि उस स्थानसे राजा-मोहल्ला लगभग पाँच मील दूर था।

'चली जाऊँगी भैया!' एक बार उठनेका असफल प्रयास करती हुई वह बोली।

अबतक इर्द-गिर्दके बहुत-से लोग इकट्ठे हो गये थे—सभी दर्शक! मैं कुछ विचार-मग्न था।····मजदूरी करनेवाली यह स्त्री····इतने तेज बुखारमें होशहवाश खोये न जाने····हम तो कैसे पड़ रहते····किंतु वह जानेको खड़ी हो गयी थी····लड़खड़ाती····काँपती हुई!!····

'रिक्शा कर लो बाई! राजा-मोहल्ला बहुत दूर है।' दर्शकोंमेंसे किसीने अपनी मानवतापूर्ण सहानुभूति प्रकट की थी।

'नहीं भैया! रिक्शावालेको पैसे कहाँसे दूँगी? मेरे पास कौड़ी नहीं है।' इच्छा न होते हुए भी उसे सत्य कहना पड़ा था।

'घर पहुँचनेपर दे देना।' किसी दूसरे दर्शकने समस्याको सुलझाना चाहा।

'नहीं, नहीं!' उसने क्षीण-सी हँसी हँसते हुए डगमगाते कदम आगे बढ़ाये।

उस एक क्षीण हास्यमें कितना सूचक अर्थ भरा था। इन बाबुओंकी बुद्धिपर मानो उसे तरस आया था! रिक्शावालेको देनेके लिये घरमें पैसे होते तो वह यहाँ इस प्रकार क्यों पड़ रहती····पाँच-पाँच मील दूरीपर काम करने क्यों आती····अपनी कमजोरीके कारण इतनी भीड़ क्यों इकट्ठी कर लेती····? पैसा! मानो उसके लिये वह एक देवदुर्लभ चीज थी, नियतिका कैसा व्यंग था!!

केवल सैर करनेके लिये निकले थे हम! फिर भी

हमारे पास खाने-पीनेमें उड़ानेके लिये रुपये थे....और वह....? मुझसे यह विरोध न सहा गया। भीड़ देखकर वहाँ आये एक रिक्शावालेसे मैंने कहा—'क्या लोगे भाई! राजा-मोहल्लेका ?'

'एक रुपया देना बाबूजी !'

'बारह आने देंगे !' व्यवहारने वहाँ भी सौदा करना चाहा।

'अच्छा चलिये! कितनी सवारी ?'

'एक !'

'बैठिये जी !'

'मैं नहीं, वह बाई जा रही है न ?' उसे ले जाओ !' दो चार डग भरकर ही हम उसके पास पहुँचे। 'बैठ जाओ बाई रिक्शामें। पैसोंकी चिन्ता न करना।' मैंने उससे कहा और तुरंत रिक्शावालेके हाथमें बारह आने रख दिये।

'बाबूजी !' उसकी आँखोंमें कृतज्ञता साकार हो उठी! मैंने सहारा देकर उसे रिक्शामें बिठा दिया। रिक्शावालेसे उसे ठीक पतेपर पहुँचानेको कहकर मैंने उसे विदा किया।

दर्शक कबके चले गये थे। रिक्शा दूर-दूर जा रहा था। मैं एकाग्र होकर उसकी ओर देख रहा था। राजा-मोहल्लेके ये कंगाल! वह उपहास मेरे मनमें जा चुभा! 'चलो भाई चलें!' साथियोंने मुझे संकेत किया और हमलोग चल दिये।

प्रायः दो माह बादकी बात है, तालाबके पास रहनेवाले मेरे एक मित्र मेरे यहाँ आये। गाँवकी सभी हलचलोंका इन्हें पता रहता था। अतः हमारी मित्र-मंडलीमें इन्हें 'नारद महाराज' कहा जाता था। इधर-उधरके समाचार सुननेके बाद यों ही मैंने पूछा—'और क्या नयी-पुरानी खबर है नारदजी ?'

'अजी हाँ भाई साहब! आजकल हमारे घरके पासके चौराहेपर एक औरत बैठी रहती है।' एकाएक किसी विस्मृत बातकी यादकर उन्होंने कहा।

'औरत ? अच्छा, तो फिर ?'

'फिर क्या ? सफेद धोती और फीके पीले रंगका कुर्ता पहने कोई यदि उस चौराहेसे निकलता है तो वह लपककर उसके पास पहुँच जाती है, उसका हाथ पकड़कर उसको सरसे पाँवतक निहारती है और कुछ निराश होकर फिर अपने स्थानपर जा बैठती है।'

'अच्छा जी! तो क्या वह दिनभर बैठी रहती है ?' नारदजीने मेरी उत्सुकताको बराबर बढ़ा दिया था।

'नहीं, नहीं। वह तो मजदूरनी प्रतीत होती है। शामके पाँच बजेसे दियाबत्ती लगनेतक वह वहाँ बैठी रहती है। फिर न जाने कहाँ चली जाती है। लोग उसे पगली कहते हैं।'

अकस्मात् मेरे मनका पटल दूर हो गया और दो माह पूर्वकी उस घटनाका मुझे स्मरण हुआ। हो न हो, वह वही औरत होनी चाहिये—जिसे मैंने रिक्शामें विदा किया था—राजा-मोहल्लेकी कंगाल। बस, मैं चल पड़ा तालाबकी ओर। नारदजीने भी विदा ली।

फिर वही सायंकालका समय था। प्राकृतिक सौन्दर्यकी ओर मेरा ध्यान न था। तालाब—मोहल्लेके चौराहेपर पहुँचकर मैंने देखा कि मेरा अनुमान सही है।

'बाबूजी !' चिल्लाती हुई वह मेरे पास दौड़ती आ गयी, वह वही थी। तुरंत उसने आनन्द-विभोर होकर मेरा हाथ पकड़ा और मेरे हाथमें एक छोटी-सी पुड़िया थमाकर उसने मेरी मुट्ठी बंद कर दी। फिर गद्गद होकर बोली—'बाबूजी! आज मेरी मंशा पूरी हो गयी। आज चार दिन हो गये, मैं आपको ढूँढ़ रही हूँ। आज आप मिल गये। इस पुड़ियामें आपके बारह आने हैं बाबूजी! मैं गरीब हूँ, लेकिन किसीका उपकार रखना नहीं चाहती। दो माह मजदूरी कर मैंने ये बारह आने बचाये हैं। उस समय भगवान्‌की तरह आपने मेरी मदद की थी। भगवान् सदा आपका भला करे !'

'अरी सुन तो! मुझे नहीं चाहिये ये पैसे।' मैंने कहा, लेकिन वह भाग खड़ी हुई। मैं अवाक् रह गया। वह चली गयी! मुझे खुदपर ही क्रोध आ गया। उसके स्वास्थ्यकी पूछताछ तक मैं कर न सका। अपने-आपको कोसता हुआ बारह आनोंकी वह पुड़िया जेबमें डालकर मुँह लटकाये मंद-गतिसे मैं घरकी ओर लौट गया।

मनमें विचारोंका तूफान खड़ा था कि वह राजा-मोहल्लेके कंगाल नहीं, हम ही मानवताके कंगाल हैं। मुझे बारह आने वापस कर मानवताकी अमीरीका परिचय दिया।

वे बारह आने अभीतक मैंने खर्च नहीं किये हैं और न उन्हें खर्च करनेकी मेरी इच्छा ही है। आज भी उसी मटमैली पुड़ियामें वे मेरी टेबिलके सामनेके आलेमें सुरक्षित हैं। जीवनकी एक संस्मरणीय घटना और उससे मिले अविस्मरणीय पाठका वह एक प्रतीक है। उस पुड़ियाको देखते ही आज भी मेरे मनमें प्रश्न खड़ा हो जाता है कि मैंने उसे बारह आने दिये वह मानवता थी या दो माहतक पसीना बहाकर, पेट काटकर उसने वे बारह आने वापस कर दिये, वह मानवता है?

(प्रतिभा)

गोमाताके भक्तोंसे

स्थान-स्थानपर गोहत्या-निरोध-समितियाँ बनावें

(लेखक—श्रीब्रह्मचारी प्रभुदत्तजी)

गोरक्षाके नामपर जो अबतक प्रयत्न हुए उनमें सरकारकी ओरसे प्राय: यही कहा गया कि गोरक्षा तो सरकार भी चाहती है, किंतु पहले गोवंशकी वृद्धि तो करो, सबसे पहला काम है गोसंवर्धन। गौओंके वंशका सुधार करो, अच्छे साँड़ पैदा करो, गौओंका दूध बढ़ाओ। अनुपयोगी गौओंके लिये गोसदन बनाओ, तब गोरक्षाकी बात सोची जाय।

किंतु यह बात वैसी ही है कि पहले तैरना सीख लो तब पानीमें उतरना, पहले सवारी सीख लो तब घोड़ेपर चढ़ना। अंग्रेज भी तो यही कहते थे पहले स्वराज्यकी योग्यता पैदा कर लो तब स्वराज्य माँगना। यथार्थमें यह एक प्रकारका भुलावा है। आज उपयोगी-अनुपयोगीका भेद डालकर कसाइयोंको प्रकारान्तरसे गोहत्याके लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है। कसाइयोंको अधिक लाभ जवान, स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट तथा गर्भिणी गौओंकी हत्यामें है। कलकत्ता, बम्बई और दूसरी जगह सबसे अधिक स्वस्थ और जवान गौएँ ही काटी जाती हैं। जबतक कानूनसे गोहत्यापर सर्वथा प्रतिबन्ध न लगेगा, तबतक न तो गोसंवर्धन ही हो सकता है, न गोरक्षा ही हो सकती है। यही सब सोचकर तीर्थराज प्रयागमें महाकुम्भके अवसरपर सभी दलके गोरक्षकोंने एक गोहत्या-निरोध-समितिकी स्थापना की। इसमें सभी दलोंके लोग सम्मिलित हैं। जो संस्थाएँ गोरक्षाका प्रयत्न कर रही हैं, वे अपने ढंगसे करती रहें, किंतु सम्मिलित रूपसे सरकारसे सीधी गोहत्या-निरोधकी माँग की जाय। इसके लिये सभी प्रान्तोंमें, सभी नगर तथा ग्रामोंमें गोहत्या-निरोध-समितियाँ बनें। वे गोसेवक-प्रतिज्ञापत्र भरें। गोहत्या-निवारण सप्ताह मनावें, गोप्रदर्शनी करें, गोसाहित्यका प्रचार—प्रसार करें। जन्माष्टमीतक सरकारके सर्वथा गोहत्या-निरोधके लिये कानून बना देनेपर पूरा जोर डालें। इस प्रकार अब हमें स्पष्ट रूपसे गोहत्या-बंदीकी माँग सम्मिलित रूपसे करनी चाहिये। यह तभी सम्भव है जब सभी देशवासी एक स्वरसे प्रबल माँग करें। अत: मेरी समस्त गोभक्तोंसे पुन: प्रार्थना है कि वे स्थान-स्थानपर गोहत्या-निरोध-समितिकी स्थापना करें और उसकी सूचना संयोजक गोहत्या-निवारण-समिति, ३ सदर थाना रोड, दिल्लीके पतेसे भेज दें।

दो नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयीं !!

वीर बालक

आकार ५×७॥, पृष्ठ-सं० ८८, आर्टपेपरपर छपा सुन्दर दोरंगा टाइटल, मूल्य ।) मात्र । डाकखर्च अलग ।

'कल्याण'के 'बालक-अङ्क'में प्रकाशित वीर बालक लव-कुश, वीर राजकुमार कुवलयाश्व, वीर असुर-बालक बर्बरीक, वीर बालक अभिमन्यु, वीर बालक भरत, वीर बालक स्कन्दगुप्त, वीर बालक चण्ड, प्रणवीर बालक प्रताप, वीर बालक बादल, वीर बालक प्रताप, वीर बालक रामसिंह, वीर निर्भीक बालक शिवाजी, वीर बालक छत्रसाल, वीर बालक दुर्गादास राठौर, वीर बालक पुत्त, वीर बालक अजीतसिंह और जुझारसिंह, वीर बालक पृथ्वीसिंह, वीर बालक जालिमसिंह और वीर बालक जेरापुर-नरेश—इन २० बालकोंके छोटे-छोटे सचित्र चरित इस पुस्तिकामें बालकोंके लिये ही प्रकाशित किये गये हैं।
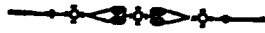
दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ

आकार ५×७॥, पृष्ठ-सं० ६८, आर्टपेपरपर छपा सुन्दर दोरंगा टाइटल, मूल्य ≡) मात्र । डाकखर्च अलग ।

इसमें शतमन्यु, सिद्धार्थकुमार, दयालु मूलराज, इब्राहिम लिंकन, टामस फिप, अन्सारुल हक, विट्ठल, ग्रेस, रामराव आदि २३ परोपकारी और दयालु बालक-बालिकाओंके छोटे-छोटे सचित्र चरित्र 'कल्याण'के 'बालक-अङ्क'से प्रकाशित किये गये हैं। बच्चोंके लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

Just out ! Second edition !!

Gita-Tattva-Number—I

(Kalyana-Kalpataru, January 1946)

The volume was published about eight years back and had been out of stock for long. It contains a detailed commentary in English on the first six Adhyāyas of the Gītā closely adhering to the line of thought followed in the Gītā-Tattva-Number of Hindi 'Kalyan'. As Gītā-Tattva-Numbers—II and III, containing Chapters seventh to twelfth and thirteenth to eighteenth respectively are available in stock, there was a pressing demand for the first volume from the lovers of the Gītā; but due to certain difficulties, it could not be brought out earlier.

The Gītā-Tattva-Number—I contains 352 pages reading matter and four tri-coloured illustrations. Price Rs. 2-8-0 including postage. Foreign 10 sh.

Manager,
Kalyana-Kalpataru
P. O. Gita Press (Gorakhpur)

आवश्यक सूचना

'गुडिवाडा-विशाखापट्टम'से एक सज्जनका पत्र मिला है। वे लिखते हैं कि एक ब्रह्मचारी उनके यहाँ गीताभवन, ऋषिकेशके लिये चंदा माँगने गये थे। उन्होंने नाम-पता बताया— 'रामप्रसादजी, भारत-हिंदू-होटल, नर्मदापारा (रेलवे-स्टेशनके पास) जिला रायपुर।' अतएव सबको यह सूचित किया जाता है कि हमारे यहाँ न तो इस नामके कोई व्यक्ति ही हैं और न कोई गीताप्रेस या गीताभवनकी ओरसे कहीं चंदा माँगने ही गया है। वरं गीताप्रेस और गीताभवनमें तो चंदा लिया ही नहीं जाता। अतएव इन संस्थाओंकी ओरसे यदि कोई चंदा माँगे तो उसे कुछ भी न दें तथा कृपया पुलिसको एवं गीताप्रेसको इसकी सूचना दें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

पत्रलेखकोंसे निवेदन

इन दिनों मेरे पास ऐसे बहुत-से पत्र एकत्र हो गये हैं, जिनमें पत्रके लेखक या लेखिकाका नाम-पता नहीं है और वे सभी 'कल्याण' के द्वारा उत्तर चाहते हैं। उनमें कई पत्र तो ऐसे हैं, जिनका उन्हें शीघ्र उत्तर मिलना चाहिये; पर वे सभी पत्र प्रायः इस प्रकारके हैं या व्यक्तिगत जीवनसे सम्बन्धित हैं कि उनका उत्तर 'कल्याण'में प्रकाशित नहीं किया जा सकता। पहले भी कई बार यह प्रार्थना की गयी थी। अतएव जिनको अपने पत्रका उत्तर प्राप्त करनेकी इच्छा हो, वे कृपया अपने-अपने नाम-पते तुरंत लिख दें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—कल्याण-सम्पादक

वर्ष २८
अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
जयति शिवा-शिव जानकि-राम जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०११, जून १९५४

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

जरासन्धके कारागारसे राजाओंकी मुक्ति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्धयै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर आषाढ २०११, जून १९५४ { संख्या ६
पूर्ण संख्या ३३१

जरासन्धके कारागारसे राजाओंकी मुक्ति

बीस सहस्र आठ सत भूपा । गहि बाँधे निज बल सुखरूपा ॥
गिरि द्रोणीमँह ते सब रोके । प्रभु छाँड़े तेहि कीन्ह बिसोके ॥
गिरि द्रोणी ते निकसे राजन । देखेउ प्रभुहि सकल सुख भाजन ॥
दुति तन स्याम सुभग सब अंगा । पीत बास दामिनि दुतिभंगा ॥
उर बिसाल श्रीरेख सुहावनि । कोटि बितन-छबि छुअहि न छाहिनि ॥
ललित प्रलंब भुजा बर चारी । कंठ सुभग मनि मुनि-मन-हारी ॥
जलरुह-नयन अरुन सुखकारे । चारु प्रसन्न बदन अति प्यारे ॥
मकराकृत कुंडल श्रुति राजत । कर सरोज संखादिक भ्राजत ॥
सीस किरीट हार उर सोहत । देखि मार अगनित मन मोहत ॥
कटि किंकिनि अंगद भुज चारू । उर बनमाल ललित सुखसारू ॥
नयनद्वार पीवत इव रूपा । परे चरन पर ते सब भूपा ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ७३)

कल्याण

याद रक्खो—तुम संसारमें इच्छानुसार भोगसुख पानेमें सदा परतन्त्र हो। इच्छा कितनी ही कर लो, प्रारब्धमें नहीं होगा तो वह भोग कदापि नहीं मिलेगा। परंतु भगवान्‌को प्राप्त करनेमें सदा स्वतन्त्र हो; क्योंकि भगवान् अनन्य इच्छा होनेपर ही मिल जाते हैं। याद रक्खो, भोगोंकी प्राप्तिमें कर्म कारण हैं और भगवान्‌की प्राप्तिमें केवल इच्छा।

याद रक्खो—भोगोंकी प्राप्ति कर्म करनेपर भी अनिश्चित है और भगवान्‌की प्राप्ति अनिवार्य इच्छा होनेपर निश्चित है।

याद रक्खो—इच्छा करनेपर ही इच्छानुसार भोग-पदार्थ नहीं मिलते, पर यदि कहीं मिल भी गये तो उनसे दुःखकी निवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि कोई भी भोगपदार्थ या लौकिक स्थिति पूर्ण नहीं है, सबमें अभाव है और जहाँ अभाव है, वहीं प्रतिकूलता है तथा जहाँ प्रतिकूलता है, वहीं दुःख है। पर भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर सारे दुःखोंका सर्वथा अभाव हो जायगा; क्योंकि भगवान् अभावरहित तथा सर्वथा पूर्णतम हैं। उनकी प्राप्ति होनेपर न अपूर्णताका अनुभव होगा, न अभाव दीखेगा, न प्रतिकूलता रहेगी। सर्वत्र अनुकूलता तथा सर्वत्र केवल सुख ही रहेगा।

याद रक्खो—भोगोंकी प्राप्ति होनेपर भी भोगोंका वियोग या नाश होगा ही, अतः परिणाममें वे दुःखदायी होंगे; परंतु भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर फिर कभी भगवान्‌का वियोग नहीं होगा, अतः नित्य सुख रहेगा।

याद रक्खो—भोगोंकी कामनासे ज्ञान हरा जाता है और मनुष्य पाप करनेको बाध्य होता है। कामना ही पापोंकी जननी है, अतएव भोगप्राप्तिकी कामना और प्रयत्नमें पाप होते हैं तथा पापका फल निश्चित ताप है ही। पर भगवान्‌की कामनासे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, ज्ञानका प्रकाश होता है और भगवत्प्राप्तिके समस्त साधन ही पुण्यमय, पवित्र और दैवीसम्पत्तिके स्वरूप हैं, अतएव भगवान्‌की कामना और उनकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही पुण्य और सुख होता है।

याद रक्खो—भोगोंकी कामना तथा भोगसुखोंमें निमग्न-चित्तवाला पुरुष जीवनभर अशान्त रहता है तथा मृत्युके समय नाना प्रकारकी असंख्य चिन्ताओंसे ग्रस्त तथा अपूर्णकाम और प्राप्त भोगोंके वियोगकी सम्भावनासे सर्वथा अशान्त तथा अत्यन्त दुखी रहता है। पर भगवान्‌की कामना तथा भगवद्भक्तिमें निमग्न-चित्तवाला पुरुष जीवनभर शान्त-सुखी रहता है और मृत्युके समय एकमात्र सत्-चित्-आनन्दमय श्रीभगवान्‌का चिन्तन करता हुआ परम शान्ति और परमानन्दकी दशाको प्राप्त होता है।

याद रक्खो—मृत्युके समय मनुष्यका जहाँ मन रहता है, उसी गतिको वह प्राप्त होता है—इस सिद्धान्तके अनुसार भोगकामी प्राणी दुःखमय योनि या लोकोंको प्राप्त करता है तथा भगवान्‌का भक्त भगवान्‌को या भगवान्‌के नित्य दिव्य धामोंको प्राप्त करता है।

याद रक्खो—भोगकामनाकी पूर्तिमें तुम सदा-सर्वदा पराधीन हो, पर कामनाका त्याग करके भगवान्‌का भजन करनेमें सर्वथा स्वाधीन हो; अतः भोगकामनाका त्याग करके भगवान्‌में चित्तवृत्तिको लगाओ।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

(१९)

अब विचार यह करना है कि सुख-भोगकी इच्छा उत्पन्न कैसे होती है और इसका त्याग कैसे हो सकता है ? विचार करनेपर पता लगता है कि इसके त्यागके दो उपाय हैं—एक विचार, दूसरा प्रेम; क्योंकि अविचारके कारण शरीरमें अहंभाव हो जानेसे और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें मेरापन हो जानेके कारण ही भोगेच्छाओंकी उत्पत्ति होती है ।

यह हरेक मनुष्यके अनुभवकी बात है कि जब उसका किसीके प्रति क्षणिक प्रेम भी होता है तो उस समय वह अनायास प्रसन्नतापूर्वक अपने प्रेमास्पद-को सुख देनेकी भावनासे अपने सुखका त्याग कर देता है । उस समय उपभोगकी स्मृति लुप्त हो जाती है और उसे अपने प्रेमास्पदको सुख देनेमें ही रस मिलता है । उस रसके सामने उपभोगका रस फीका पड़ जाता है । जब कि साधारण प्रेमकी यह बात है, तब जो प्रेमके तत्त्वको जाननेवाले हैं; हरेक प्राणीके साथ सदा ही प्रेम करते हैं; प्रेम ही जिनका स्वरूप है; ऐसे परम प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमकी जिसको लालसा है, उस प्रेमी-की सब प्रकारके सुखभोग-सम्बन्धी इच्छाओंका त्याग, अपने-आप बिना प्रयत्नके हो जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या है । इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेमसे इच्छाओंका त्याग अनायास ही हो सकता है ।

जितनी भी उपभोगकी इच्छाएँ हैं, वे सब शरीरमें अहंभाव हो जानेके कारण उत्पन्न होती हैं । शरीरके साथ एकता न होनेपर किसीके मनमें उपभोगकी इच्छा नहीं होती । अतः विचारके द्वारा जब मनुष्य यह समझ लेता है कि 'शरीर मैं नहीं हूँ' तब भोगेच्छाओंका त्याग भी अपने-आप हो जाता है और इच्छाओंका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है । त्याग और प्रेमका घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्रेमसे त्याग होता है और त्यागसे प्रेम पुष्ट होता है । अतः साधक-को चाहिये कि अपने प्रेमास्पद प्रभुके नाते हरेक प्राणीको सुख पहुँचानेकी भावनासे अपने सुख-भोगकी सामग्रीको उनकी सेवामें लगा दे । सेवाभावसे मनुष्यका अन्तः-करण बहुत ही शीघ्र शुद्ध होता है और विशुद्ध अन्तःकरणमें प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमकी लालसा अपने-आप प्रकट हो जाती है ।

साधकको चाहिये कि प्राप्त शक्तिके द्वारा प्रभुके नाते दूसरोंके अधिकारकी पूर्ति करता रहे और किसी-पर अपना कोई अधिकार न समझे । शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक पदार्थोंको भी दूसरोंकी प्रसन्नताके लिये, उनके अधिकारको सुरक्षित रखनेके लिये ही स्वीकार करे जो कि लेनेके रूपमें भी देना ही है; क्योंकि इस शरीरसे जिनके अधिकारकी पूर्ति होती है, उनका ही तो इसपर अधिकार है । जब साधक शरीर और प्राप्त वस्तु तथा सब प्रकारकी शक्तियोंको अपने प्रभुकी मानता है, उनपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता, उनसे किसी प्रकारके उपभोगकी आशा भी नहीं करता, तब उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह त्याग और प्रेम ही है जो कि अन्तःकरणकी शुद्धिका मुख्य साधन है ।

प्रेमका अधिकारी प्रेमी ही होता है, भोगी नहीं; क्योंकि उपभोगसे प्रेममें शिथिलता आ जाती है । यदि गम्भीरतासे विचार किया जाय तो यह समझमें आ जाता है कि जीव और ईश्वर दोनों ही प्रेमी हैं । इनमेंसे कोई भी भोगी नहीं है । जीवमें जो भोगबुद्धि जाग्रत् होती है, वह केवल देहके सम्बन्धसे होती है । स्वाभाविक नहीं है और देहका सम्बन्ध अविचार-सिद्ध है, यह सभी दर्शनकार मानते हैं ।

प्रेमके लिये चाहसे रहित होना अनिवार्य है । अतः ईश्वर और जीव दोनों प्रेमी होते हुए भी, दोनोंके प्रेममें बड़ा अन्तर होता है; क्योंकि ईश्वर चाहसे रहित और समर्थ भी है । जीव चाहसे रहित तो है परंतु समर्थ नहीं है । जीवमें प्रेमकी भूख है । इसलिये वह प्रेम करता है और ईश्वर माधुर्यभावसे प्रेरित होकर जीवको प्रेम प्रदान करनेके लिये उससे प्रेम करता है । ईश्वर सब प्रकारसे पूर्ण और सर्वथा असङ्ग है, अतः उसमें किसी प्रकारकी चाह नहीं होती; किंतु जीव जो भोगोंका और उनकी चाहका त्याग करता है, उसमें कोई महत्त्वकी बात नहीं है; क्योंकि भोगोंको भोगनेका परिणाम तो रोग है । उससे बचनेके लिये उनका त्याग अनिवार्य है । इसके सिवा जीवको जो कुछ वस्तु और कर्मशक्ति प्राप्त है, वह भी ईश्वरकी दी हुई है । अतः उनका त्याग देना भी कोई बड़ी भारी उदारता नहीं है । इसी प्रकार सद्गतिके लालचका त्याग कर देना भी कोई महत्त्वकी बात नहीं है; क्योंकि किसी प्रकारके भोगकी चाहसे रहित होनेपर दुर्गति तो होती ही नहीं । इतनेपर भी जीवकी इस ईमानदारीको अर्थात् उसके नाममात्रके त्यागको भी ईश्वर अपने सहज कृपालु स्वभावसे जीवकी बड़ी भारी उदारता मानते हैं और जीवपर ऐसा प्रेम करते हैं कि स्वयं पूर्णकाम होनेपर भी, जीवमें प्रेम करनेकी कामना, अपनेमें आरोप कर लेते हैं; क्योंकि प्रेम ईश्वरका स्वभाव है और जीवकी माँग है । अतः जो उनसे प्रेम करता है, ईश्वर उसका अपनेको ऋणी मानते हैं । एकमात्र ईश्वर ही प्रेमी हैं; क्योंकि प्रेम प्रदान करनेकी सामर्थ्य अन्य किसीमें नहीं है ।

भोगी मनुष्य प्रेमका अधिकारी नहीं होता । वह तो सेवाका अधिकारी है । प्रेमका अधिकारी तो चाहसे रहित ही होता है; क्योंकि चाहयुक्त व्यक्तिके साथ किया हुआ प्रेम स्थायी नहीं होता । वह उस प्रेमको भी अपनी चाह-पूर्तिका साधन मान लेता है । अतः ... आदर नहीं कर पाता ।

(२०)

प्रश्न—मनुष्य मरनेसे क्यों डरता है ?

उत्तर—शरीरको मैं मान लेनेके कारण और मृत्युकी महिमाको न जाननेके कारण ही मनुष्य मृत्युसे डरता है ।

प्रश्न—मृत्युकी महिमा जानना क्या है ?

उत्तर—उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु अर्थात् लय—ये तीनों अलग-अलग दीखते हैं, परंतु विचार करनेपर मालूम होता है कि इनमें कोई भेद नहीं है । बालक-अवस्थाका विनाश और किशोर-अवस्थाकी उत्पत्तिकी भाँति ही जवानी और बुढ़ापा आदि सभी अवस्थाओंका परिवर्तन हर समय होता रहता है । एक मृत्यु ही दूसरे नवीन जीवनका कारण बनती है । यदि संसारमें कोई न मरे तो जनसंख्या इतनी बढ़ जाय कि उसके रहनेके लिये पृथ्वीपर कोई जगह ही न मिले और इतना दुःख बढ़ जाय कि कोई जीना पसंद न करे । अतः मृत्युकी भी आवश्यकता है और वह बहुत महत्त्वकी चीज है । जो इस बातको समझ लेता है वह मौतसे नहीं डरता; क्योंकि एक शरीरका नाश होकर दूसरा नया शरीर मिलता है । अतः मृत्यु ही नवीन जीवन प्रदान करती है । यह समझनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य कभी मृत्युसे नहीं डरता । वरं उसका स्वागत करता है । जैसे पुराने वस्त्रको उतारकर नया पहननेमें किसी भी समझदारको डर नहीं लगता वरं प्रसन्नता ही होती है; क्योंकि वह उसमें कोई हानि नहीं समझता, बल्कि लाभ ही समझता है । मृत्युका डर उन्हीं प्राणियोंको होता है जो प्राणी वर्तमान स्थितिका सदुपयोग नहीं करते; क्योंकि वर्तमानके सदुपयोगसे ही भविष्य उत्कृष्ट और आशाजनक बनता है । अतः जिन्होंने अपने भविष्यको उज्ज्वल बना लिया है, वे मृत्युसे भयभीत नहीं होते एवं जिन्होंने वर्तमानका दुरुपयोग किया, वे ही मृत्युसे भयभीत होते हैं ।

(२१)

पहले प्रेम और विचारको अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु बताया गया था; क्योंकि विचारसे देहाभिमानका

त्याग और प्रेमसे अपने-आपका समर्पण होनेसे अपने-आप निर्वासना आ जाती है। सब प्रकारकी चाहका अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी परम शुद्धि है।

जबतक मनुष्यके राग-द्वेष समूल नष्ट नहीं हो जाते, तबतक वह चाहसे रहित नहीं हो पाता और जबतक वह अपनी प्रसन्नताका कारण अपनेसे भिन्न किसी व्यक्ति, वस्तु, अवस्था या परिस्थितिको मानता है, तबतक राग-द्वेषका अन्त नहीं होता। इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपने विकासका अर्थात् उन्नति या प्रसन्नताका हेतु किसी दूसरेको न माने।

विचार करनेपर मालूम होता है कि किसी व्यक्ति, सम्पत्ति या परिस्थितिपर मनुष्यकी उन्नति या प्रसन्नता निर्भर नहीं है; क्योंकि अज्ञानवश अपनी प्रसन्नताका हेतु समझकर वह जिसका जितना संग्रह करता है, उतना ही पराधीनताके जालमें फँस जाता है। एवं पराधीनता किसीकी प्रसन्नतामें हेतु नहीं है यह प्राणी-मात्रका अनुभव है। स्वाधीनता, सामर्थ्य, प्रेम—यह मनुष्यकी स्वाभाविक माँग है, जो किसी प्रकारके संगठनसे, संग्रहसे पूरी नहीं हो सकती और स्वाभाविक माँगकी पूर्तिके बिना किसीको वास्तविक प्रसन्नता नहीं मिलती।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि स्वावलम्बी मनुष्य जितना सुखी और प्रसन्न रहता है, पराधीन व्यक्ति कभी वैसा प्रसन्न नहीं रह सकता। मनुष्य अज्ञानसे ऐसा मान लेता है कि मुझे बड़ा भारी अधिकार मिलनेसे या बहुत-सी सम्पत्ति मिलनेसे मैं सुखी हो जाऊँगा, परंतु जैसे-जैसे वैभव बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे उसके जीवनमें पराधीनता, भय, रोग, भोगासक्ति और कठोरता आदि बढ़ते जाते हैं, जो प्रत्यक्ष ही दुःखके कारण हैं।

इसलिये साधकको चाहिये कि उसने संसारसे जो कुछ लिया है, वह वापस लौटाकर अर्थात् प्राप्त की हुई सम्पत्ति और शक्तिके द्वारा उसकी सेवा करके उससे उऋण हो जाय तथा उससे कुछ ले नहीं। एवं अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण करके अर्थात् उनका होकर भगवान्‌से उऋण हो जाय। इस प्रकार जब उसपर किसीका ऋण नहीं रहता, तब अन्तःकरण अपने-आप परम पवित्र हो जाता है।

भगवान्‌से भी यही प्रार्थना करे कि—'भगवन्! मुझे आप अपने किसी भी काममें आने लायक बना लीजिये। मैं आपकी प्रसन्नताके लिये आपका खिलौना बन जाऊँ। या जिस किसी स्थितिमें रहकर आपका कृपापात्र बना रहूँ। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये।'

यदि कोई कहे कि भगवान् तो पूर्णकाम हैं। अपनी महिमामें ही सदा प्रसन्न हैं। उनको अपनी प्रसन्नताके लिये जीवकी क्या आवश्यकता है? तो कहना चाहिये कि भगवान्‌की पूर्णता एकदेशी नहीं होती। वे तो सभी प्रकारसे पूर्ण हैं। अतः जिसकी जैसी माँग होती है, उसे वे उसी प्रकार पूर्ण करते हैं। वे पूर्णकाम हैं तो भी अपने आश्रित प्रेमीकी माँग पूर्ण करनेमें उनको आनन्द मिलता है।

जो सर्वसमर्थ नहीं होता, उस मनुष्यके पास जाकर कोई कहे कि 'आप मुझे किसी कामपर रख लीजिये, छोटे-से-छोटा कोई भी काम करनेमें मुझे आपत्ति नहीं है' तो आवश्यकता न होनेपर वह यही कहेगा कि 'मेरे पास अभी कोई काम नहीं है। मैं तुमको नहीं रख सकता' क्योंकि वह इतना समर्थ नहीं है कि सभीको रख सके। परंतु भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं। उनके पास तो किसी बातकी कोई कमी नहीं है। फिर जो एकमात्र उनका प्रेम ही चाहता है, जिसको अन्य किसी प्रकारके सुखकी चाह नहीं है उसको सर्वसमर्थ प्रभु कैसे निराश कर सकते हैं। वे तो स्वयं उसके प्रेमी बनकर उसे अपना प्रेमास्पद बना लेते हैं। यही उनकी असाधारण महिमा है।

जबतक मनुष्य संसारसे कुछ लेनेकी आशा रखता है, तबतक वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि संसार अनित्य और क्षणभङ्गुर है। उससे जो कुछ

मिलता है, उसका वियोग अवश्यम्भावी है। इस रहस्यको समझकर जो साधक किसीसे कुछ नहीं चाहता, सबकी सब प्रकारसे सेवा करता है और उसके बदलेमें कुछ भी नहीं लेता, वह सदैव प्रसन्न रहता है। उसका किसीमें भी राग नहीं रहता तथा सभी उससे प्रेम करते हैं। इससे उसका कोई विरोधी नहीं रहता। अतः वह सर्वथा क्रोधरहित और निर्भय हो जाता है। किसी प्रकारकी चाहका न रहना, लोभ, क्रोध तथा भयका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी परम शुद्धि है। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर योगीको योग, विचारशीलको बोध और प्रेमीको प्रेमकी स्वतः प्राप्ति हो जाती है। विचार और प्रेमसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरणमें स्वतः विचार और प्रेम प्रकट होता है। इस प्रकार ये एक दूसरेके सहायक हैं।

चित्त-शुद्धिके लिये यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि साधक किसीका ऋणी न रहे। अर्थात् जिसे जो कुछ मिला है वह उसे वापस कर दे और क्षमा माँग ले एवं उसकी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर न रहे। अपनेसे भिन्न वही है जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता नहीं।

प्रेमीकी मस्ती

हैं आशिक़ और माशूक जहाँ वाँ शाह वज़ीरी है बाबा।
ना रोना है ना धोना है ना दर्द-असीरी है बाबा॥
दिन-रात बहारें चुहलें हैं और ऐश सफ़ीरी है बाबा।
जो आशिक़ हैं सो जानें हैं यह भेद फ़क़ीरी है बाबा॥

हर आन हँसी हर आन खुशी हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक़ मस्त फकीर हुए फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥ १॥

कुछ ज़ुल्म नहीं, कुछ ज़ोर नहीं, कुछ दाद नहीं, फ़रियाद नहीं।
कुछ कैद नहीं, कुछ बंद नहीं, कुछ ज़ब्र नहीं, आज़ाद नहीं॥
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं, वीरान नहीं, आबाद नहीं।
हैं जितनी बातें दुनियाँकी सब भूल गए कुछ याद नहीं॥

हर आन हँसी हर आन खुशी हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक़ मस्त फ़क़ीर हुए फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥ २॥

जिस सिम्त नज़र कर देखे हैं, उस दिलबरकी फुलवारी है।
कहीं सब्ज़ीकी हरियाली है कहीं फूलोंकी गुलकारी है॥
दिन-रात मगन खुश बैठे हैं और आस उसीकी भारी है।
बस आप ही वह दातारी है और आप ही वह भंडारी है॥

हर आन हँसी हर आन खुशी हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥ ३॥

हम चाकर जिसके हुस्नके हैं, वह दिलबर सबसे आला है।
उसने ही हमको जी बख्शा उसने ही हमको पाला है॥
दिल अपना भोलाभाला है और इश्क बड़ा मतवाला है।
क्या कहिए और 'नजीर' आगे अब कौन समझनेवाला है॥

हर आन हँसी, हर आन खुशी हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फक़ीर हुए तब क्या दिलगीरी है बाबा॥ ४॥

—नज़ीर

परमात्माकी प्राप्तिके लिये निराश नहीं होना चाहिये

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत-से भाई परमात्माकी प्राप्तिके लिये यथासाध्य साधन करते हैं, पर बहुत समयतक साधन करनेपर भी जब परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तब निराश हो जाते हैं। पर वे सज्जन निराश न होकर यदि परमात्माकी प्राप्ति न होनेका कारण खोजें तो उन्हें पता लगेगा कि श्रद्धा, प्रेम तथा आदरपूर्वक और तत्परताके साथ साधन न करना ही इसमें प्रधान कारण है। जिस प्रकार लोभी मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये पूरी तत्परताके साथ प्रयत्न करता है, अपना सारा समय, समस्त बुद्धिकौशल धनकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही लगाता है तथा नित्य सावधानीके साथ ऐसा कोई भी काम नहीं करता जिससे धनकी तनिक भी क्षति हो। इसी प्रकार यदि श्रद्धा, प्रेम तथा आदरके साथ पूर्ण तत्परतासे साधन किया जाय तो इस युगमें परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है।

आत्माके उद्धार या परमात्माकी प्राप्तिमें अबतक जो विलम्ब हुआ, उसे देखकर कभी निराश नहीं होना चाहिये वरं भगवान्‌के विविध आश्वासनोंपर ध्यान देकर विशेषरूपसे साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है कि यदि मरते समय भी मेरा स्मरण कर ले तो उसे मेरी प्राप्ति हो सकती है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझ (भगवान्) को ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

पापी-से-पापीका तथा मूर्ख-से-मूर्खका भी उद्धार परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे और परमात्माकी भक्तिसे शीघ्र हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा।'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमात्माके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति भी ईश्वर, महात्मा, परलोक और शास्त्रपर विश्वास होनेसे सहज ही हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह

बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

जो मनुष्य ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि कुछ भी नहीं जानता, ऐसे अविवेकी मनुष्यका भी सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनके आज्ञानुसार साधन करनेपर उद्धार हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(गीता १३।२५)

'परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

अतएव परमात्माकी प्राप्तिके न होनेमें श्रद्धा और आदरपूर्वक तत्परताके साथ साधन न करना ही मुख्य कारण है। अतः हमें श्रद्धा और आदरपूर्वक तत्परताके साथ साधन करना चाहिये। भगवान् गीतामें कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६।२३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

हमको कभी निराश नहीं होना चाहिये। निराशासे हानिके अतिरिक्त कोई भी लाभ नहीं है। हमारे परम सुहृद् भगवान्का वरद हस्त जब सदा हमारे सिरपर है तब हम निराश क्यों हों। भगवान्ने स्वयं आश्वासन दिया है कि जो प्रेमपूर्वक मुझे भजता है, उसे मैं स्वयं ज्ञान देता हूँ—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता १०।११)

'हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

हमारा तो केवल इतना ही काम है कि हम नित्य-निरन्तर भगवान्को केवल याद रक्खें। भगवान्का नित्य-निरन्तर स्मरण रखनेसे भगवान्की प्राप्ति सुगमतासे हो जाती है। भगवान्ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

नित्य-निरन्तर स्मरण करनेसे भगवान्में प्रेम हो जाता है। और प्रेम होनेपर भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

जहाँ प्रेम होता है वहाँ चित्तकी वृत्ति लग जाती है, जिन-जिन विषयोंमें प्रेम होता है, उन-उनमें चित्त स्वाभाविक संलग्न हो जाता है। अतः जब भगवान्में

प्रेम हो जायगा तो चित्त भगवान्‌में स्वतः ही लग जायगा। इसलिये संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। संसार और विषयोंमें दोषबुद्धि, अनित्यबुद्धि तथा त्याज्यबुद्धि करनेसे वैराग्य होता है तथा भगवान्‌के नाम, रूप आदिके महान् गुण, प्रभावको समझनेसे उनमें प्रेम होता है।

कलिकालमें तो भगवान्‌की प्राप्ति बहुत ही सुगमतासे और शीघ्रतासे हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
(विष्णुपु० ६।२।१५)

'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
(विष्णुपु० ६।२।१७)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है—वही कलियुगमें केशवका नाम-कीर्तन करनेसे मिल जाता है।'

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥
(विष्णुपु० ६।२।४०)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अतएव कभी निराश न होकर तत्परताके साथ हर समय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌को याद रखते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये। ऐसा करनेपर भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होनेमें कोई संदेह नहीं है।

अन्तिम जीवनकी आर्त पुकार

(लेखक—स्वर्गीय श्रीजनार्दन झा 'जनसीदन')

बड़े भाग्य नर-तन पाकर, नहीं नरोचित कर्म किया।
उच्च वंशमें जन्म ग्रहण कर, नहीं यथोचित धर्म किया॥
व्यसनासक्त कुपथगामी हो, नहीं कृष्ण गुणगान किया।
सुकृत-सुधाको छोड़ मोहवश विवश विषय-विष पान किया॥१॥

हे प्रभु! ऐसी बुद्धि मुझे दो, कभी न कुछ अपकर्म करूँ।
एक घड़ी भी नित्य स्वस्थ हो, मनमें मैं तव ध्यान धरूँ॥
दैहिक सुखको सत्य मानकर, मैंने कितने पाप किये।
कितने जीवोंको अपने सुख हेतु, हाय! बहु दुःख दिये॥२॥

अब अपने कृत पापपुञ्जको सुमिर सुमिर पछताता हूँ।
प्रकृति नियमका उल्लंघन कर अधिक अधिक दुख पाता हूँ॥
विषयवासनाके वश होकर कभी न हरिको याद किया।
मनुज-देह पाकर जीवनको नाहक ही बरबाद किया॥३॥

भूला रहा स्वार्थमें न कभी परमारथपर ध्यान दिया।
क्या पाऊँगा? किसी पात्रको, कभी नहीं कुछ दान किया॥
राहखर्च क्या ले जाऊँगा? कभी नहीं कुछ धर्म किया।
पापभार यह साथ जायगा, कभी न कुछ शुभ कर्म किया॥४॥

कोरे हाथ डुलाता आया, वही डुलाते जाऊँगा।
कर्मभोग जो शेष रहा फिर वही भोगने आऊँगा॥
यह अज्ञानी अधम जीव जो मायामें है फँसा हुआ।
धन-जन-पुत्र-कलत्र मोहके बन्धनसे है कसा हुआ॥५॥

पा सकना कैसे छुटकारा बिना कर्मका अन्त लगे।
मुझ विषयी लोलुपके मनमें कैसे हरि-पद-प्रेम जगे॥
इस असहाय अधम जनपर, जो नाथ करोगे कृपा नहीं।
नरकोंमें भी 'जनसीदनको' नहीं मिलेगी ठौर कहीं॥६॥

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(६९)

व्रजराजमहिषी अपने प्राणधन नीलसुन्दरके लिये रुचिकर भोग-सामग्रीका निर्माण करने चली थीं कि एक ग्वालिन छींक बैठी। तुरंत ही मुहूर्त-परिवर्तनके उद्देश्यसे जननी आँगनमें चली आयीं और कुछ क्षण विश्राम करनेके अनन्तर मङ्गल द्रव्योंका स्पर्श कर पुनः पाकशालाकी ओर लौटीं। पर यह लो, आगेके पथको काटती हुई यह बिल्ली भाग चली। व्रजरानीका हृदय दुर्-दुर् करने लगा। चिन्ताकुल हुई वे भवनसे बाहर आ गयीं, तोरणद्वारके समीप जा पहुँचीं; किंतु कुशकुन वहाँ भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगे। बायीं ओर अशुभ स्वरमें वह काक बोल रहा था और दाहिने गर्दभका रेंकना सुन पड़ा। फिर तो हृदय थामे जननी यशोदा, बाहरसे भीतर, भीतरसे बाहर गमन करती हुई रुँधे कण्ठसे अपने नीलमणिको पुकारने लग गयीं; मनमें शान्तिका लेश भी न रह गया—

जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छींकी।
ठठकि रही द्वारे पर ठाढ़ी, बात नहीं कछु नीकी॥
आइ अजिर निकसी नँदरानी, बहुरी दोष मिटाइ।
मंजारी आगैं ह्वै आई, पुनि फिरि आँगन आइ॥
ब्याकुल भई, निकसि गई बाहिर, कहँ धौं गये कन्हाई।
बाएँ काग दाहिनैं खर-स्वर, ब्याकुल घर फिरि आई॥
खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आँगन इहिं भाँति।
सूर स्याम कौं टेरति जननी, नैंकु नहीं मन साँति॥

इधर प्रासादसे संलग्न गोष्ठमें विराजित व्रजेशका मन भी सहसा उत्साहशून्य हो गया। वे अन्यमनस्क-से हुए अविलम्ब गृहकी ओर चल पड़े तथा द्वारपर पैर रखते-न-रखते अनेक अशुभ शकुन उन्हें भी हो गये—

देखे नंद चले घर आवत।
पैठत पौरि छींक भई बाएँ, दहिनें धाह सुनावत॥
फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करति लराई।
माथे पर ह्वै काग उड़ान्यौ, कुसगुन बहुतक पाई॥

सामने म्लानमुख यशोदारानी दीख पड़ीं। खिन्न-मन हुए व्रजेश उनसे बोले—

नंद घरनि सौं पूछत बात।
बदन झुराइ गयौ क्यों तेरौ, कहाँ गए बल, मोहन तात?

अब तो नन्दगेहिनीकी आँखोंसे झर-झर अश्रु-प्रवाह बहने लगा; साथ ही अस्फुट कण्ठसे उन्होंने अपनी मनोव्यथा भी व्रजेशपर व्यक्त कर दी—

भीतर चली रसोई कारन, छींक परी तब आँगन आई।
पुनि आगैं ह्वै गई मँजारी, और बहुत कुसगुन मैं पाई॥

व्रजदम्पतिकी दशा एक-सी हो गयी। आसन्न अमङ्गलकी प्रतिच्छाया दोनोंके हृत्पटपर झिलमिल कर उठी, दोनों ही पहलेसे भी अधिक चञ्चल हो उठे—

महर-महरि-मन गई जनाइ।
खन भीतर, खन आँगन ठाढ़े, खन बाहिर देखत हैं जाइ॥

इतनेमें व्रजपुरन्ध्रियाँ दौड़ती हुई आयीं। गोप भी आ पहुँचे। कारण स्पष्ट था; अत्यन्त भयंकर अशुभ-सूचक चिह्न समस्त व्रजपुरवासियोंको ही स्पष्ट दीख जो रहे हैं—'ग्रीष्मकालके मध्याह्नमें सूर्यकी ओर मुँह उठाकर उपवनके समीप शृगाल—अशुभकी सूचना देते हुए—बोलते ही जा रहे हैं! वायु-परिचालित धूलि-कणोंसे परिव्याप्त न होनेपर भी दिक्-सुन्दरियाँ—दिशाएँ धूएँसे धूमिल, अत्यन्त म्लान हो गयी हैं; महिष-शृङ्गके वर्णके समान वे काली पड़ गयी हैं! स्वयं दिनमणि सूर्य भी एक निस्तेज मणिके समान प्रतीत हो रहे हैं! सुख-स्पर्शी पवन भी एक झंझावातके रूपमें अनुभूत होने लगा है! व्रजकी धरा अभूतपूर्व रूपसे बारम्बार कम्पित हो रही है! पुरवनिताओंके दक्षिण नेत्र, दक्षिण अङ्गोंमें स्पन्दन हो रहा है एवं व्रजगोपोंके वाम नेत्र वाम अङ्ग स्पन्दित हो रहे हैं!'—

यथा दिनकरमुखाभिमुखमुखरताखरतारध्वनिध्वनिताशिवाभिः शिवाभिः । निर्धूलीधूलीढाभिरपि धूमधूमलतया मलीमसतया सम्वादिगवलाभिर्दिगवलाभिः । विडम्बितनिर्महोमणिनाहोमणिना । खरतरस्पर्शनेन स्पर्शनेन । बभूवे भूवेपथुना पृथुना पृथगेव । पस्पन्दे वामनयनावामनयनादि पुंसां तु वामनयनादि ।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

इस प्रकार गोपावासके अन्तरिक्षमें, भूमिपर, पुरवासियोंके अङ्गोंमें—तीनों प्रकारके ही—अत्यन्त घोर, आसन्न विपत्-सूचक चिह्न व्यक्त हो रहे हैं—

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः ।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । १२)

व्रज मैं त्रिविध भयउ उतपाता । दिवि भू अंतरीछ दुखदाता ॥

व्रजेश्वरका, व्रजगोपोंका धैर्य जाता रहा । इन प्रलयंकरी अपशकुनोंको देख-देखकर उनके प्राण भयसे प्रकम्पित होने लगे । उसी समय वहाँ कन्हैयाके अग्रज बलराम आ पहुँचे । सबकी दृष्टि उनपर पड़ी । फिर तो रही-सही आशा भी समाप्त हो गयी । ओह ! कदाचित् नीलसुन्दरके साथ बलराम होते ! श्रीरोहिणीका परम तेजोमय, मङ्गलमय, यह शिशु नन्दनन्दनकी रक्षाके लिये वहाँ उपस्थित होता तब तो कोई भी अनिष्ट अपने आप निवारित होकर ही रहता !—पुरवासियोंकी अन्तश्चेतनाकी यह भावना, सरलमति व्रजरानी, व्रजराजकी यह प्रेमिल धारणा सदा ही उनके प्राणोंमें शीतलताका संचार करती आयी है; किंतु हाय रे दैवयोग ! आज तो बिना बलरामको साथ लिये ही श्रीकृष्णचन्द्र गौ चराने चले गये हैं—

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । १३)

कहत कि आज राम बिन स्याम,
बन जु गये कछु बिगरयो काम ।

'कुछ ही नहीं, सर्वनाश हो गया दीखता है ! इन दुर्निमित्तोंका और अर्थ ही क्या है ? बस, नीलसुन्दर हम सबोंको छोड़कर चला गया.............. ।'—कृष्णगतप्राण, कृष्णाविष्ट-हृदय समस्त पुरवासियोंका, व्रजदम्पतिका एक-सा ही निर्णय हुआ; क्योंकि अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्रके असमोर्द्ध माहात्म्यकी स्फूर्ति इनके वात्सल्य-परिभावित चित्तमें कभी होती जो नहीं । वहाँ निरन्तर वात्सल्य-सिन्धु ही उद्वेलित होता रहता है । अपना सर्वस्व न्यौछावर कर वे सब-के-सब सतत नीलसुन्दरके सुखकी कामना लिये उस पारावारविहीन सागरकी ऊर्मियोंमें ही अवगाहन करते रहते हैं । इसीलिये जिनके एक नामके उच्चारणमात्रसे ही समस्त अमङ्गलोंका अवसान हो जाता है, उन श्रीकृष्णचन्द्रके लिये भी पद-पदपर उन्हें अमङ्गलका ही भान होने लगता है, उनके प्राणोंमें टीस चलने लगती है और फिर आज जब एक साथ इतने अधिक अमङ्गल-सूचक, घोर उत्पात समस्त व्रजपुरवासियोंको ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब फिर उनके कोटि-प्राण-प्रतिम नीलसुन्दरके सम्बन्धमें अनिष्ट-आशङ्काकी सीमा रहे, यह तो सोचना ही नहीं बनता । यही कारण है कि उनके मनमें नीलसुन्दरके निधनकी कल्पना ही जाग्रत् हुई तथा ऐसी स्फूर्ति होनेके अनन्तर वे पुरवासी एवं व्रजदम्पति प्रकृतिस्थ रह सकें यह कहाँ सम्भव है ! बस, एक साथ दुःख, शोक, भयके अनन्त भारसे अभिभूत हुए उनके प्राण मानो बाहरकी ओर भाग छूटे हों, प्राणतन्तुओंसे संनद्ध शरीर बरबस उस ओर ही खिंचता जा रहा हो—इस प्रकार समस्त व्रजपुरवासी, व्रजदम्पति, सभी नितान्त विक्षिप्त-से हुए, गोकुलसे निकल पड़े । एक बार श्रीकृष्णचन्द्रको देख लेनेकी लालसा, अपने प्राणसारसर्वस्व नीलमणिको मानो अन्तिम बार ही जिस किसी अवस्थामें भी निहार लेनेकी वासनामात्र उनमें अवशिष्ट है, बस, इतना ही उन्हें स्मरण

है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। उनके चिरजीवनकी साधना, उनके स्नेहकी स्रोतस्विनी एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर ही सदा अविराम गतिसे ही प्रसरित होती रही है। प्रतिदानमें नीलसुन्दरकी ओरसे स्नेह पानेकी वासनाका भी उनमें अत्यन्त अभाव रहा है। मानव-वात्सल्यमें तो फिर भी अपनी संततिके प्रति कर्तव्यकी भावना, कर्तव्यपालनसे उद्भूत आत्मतोषकी अनुभूति और भविष्यके गर्भमें संचित, उस अपनी संततिके द्वारा स्नेह-प्रतिदानकी आशा न्यूनाधिकरूपमें परिव्याप्त रहती ही है; किंतु एक पशु अपने नवजात शावकको जिस निराविल अन्ध-स्नेहका दान करता है—उस पशुमें इतिकर्तव्यताका भान नहीं, कर्तव्यपूर्तिजन्य आत्मतोषको हृदयङ्गम करनेकी शक्ति नहीं; काल-प्रवाहमें अपने उस शावकके द्वारा उपकृत होनेकी सुप्त वासनाकी छायातक नहीं, फिर भी प्राणोंकी जिस उत्कण्ठासे वह दूर गये नवजात शावककी ओर धावित होता है,—ठीक उसी प्रकार ये व्रजपुरवासी, व्रजदम्पति नितान्त अन्धवात्सल्य-स्नेहकी धारामें बहते हुए—स्नेहदानमें उस पशुके शावक-वात्सल्यकी समता धारण किये हुए 'पशुवृत्तयः'—दौड़े जा रहे हैं। कहाँ जाना है, किस स्थलपर जानेसे उन्हें अपने प्राणधन नीलसुन्दरके दर्शन होंगे, यह भी उन्हें पता नहीं। पर एक सूत्रमें बँधे हुए-से, आबाल-वृद्ध, सभी अत्यन्त द्रुतगतिसे एक ओर ही अग्रसर हो रहे हैं। पुर-सुन्दरियोंका केश-बन्धन उन्मुक्त हो चुका है, आवरक वस्त्र अस्त-व्यस्त हो चुके हैं, गोपोंकी शिखाएँ खुल गयी हैं—पद-पदपर स्खलित होते, भूमिपर गिरते-उठते वे सब चले जा रहे हैं। और उन अगणित कण्ठोंसे निःसृत 'हाय रे! कृष्ण रे!' का करुणनाद वन-प्रान्तरको प्रतिनादित कर दे रहा है—

> नैर्दुर्लिमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः।
> तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः॥
> आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः।
> निर्जग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः॥
> (श्रीमद्भा० १० । १६ । १४-१५)

> देखि बड़ो उतपात कठोरा। निधन मानि मन संक न थोरा॥
> बाल वृद्ध नर नारि समेता। व्याकुल तजि तजि चले निकेता॥
> कृष्ण प्रानधन जीवन जासू। घर किमि रहँ दरस हरि प्यासू॥
> जानत नहिं प्रभाव हरि केरा। एहि तें मन दुख भएउ घनेरा॥
>
> × × ×
>
> अति कलमले विरह दलमले, बाल-बिरध सब कानन चले।
>
> × × ×
>
> देखि यहाँ उतपात तहाँ व्रजनंद जहाँ उरमें दुख ल्याइकैं।
> राम बिना वन स्याम गये छबिधाम कहाँ फिरि हैं भय पाइकैं॥
> सो सुनि गोपवधू जसुधा फिरि रोहिनि ग्वाल उठैं अकुलाइकैं।
> संक भरे सब धाइ परे कब देखिबी मोहन मूरति जाइकैं॥

उनके साथ रोहिणीनन्दन श्रीबलराम भी हैं। अवश्य ही, उनके श्रीमुखपर क्लान्ति नहीं, व्यथा नहीं, चिन्ताकी छायातक नहीं, अपितु उनके अधरोंपर तो स्फुट हास्य भरा है। क्यों न हो? श्रीरोहिणी, व्रजरानी, व्रजेश, व्रजपुरवासियोंकी दृष्टिमें भले ही वे बलराम शिशु हों, पर वास्तवमें वे हैं भगवान् पुरुषोत्तमके द्वितीय व्यूह, मूल 'सङ्कर्षण' ही तो। उन सर्वशक्तिमान् सर्वविद्याधिपतिसे क्या छिपा है? अपने अनुजकी समस्त योजनाओंसे, उनके अनन्त अपरिसीम ऐश्वर्यसे वे चिरपरिचित हैं। उनके लिये भय, विस्मय, चिन्ताके लिये अवसर ही कहाँ है? हाँ, जननी यशोदा एवं नन्दबाबाका म्लान मुख देखकर रोहिणीनन्दन शान्त स्थिर रह सकें, उनके कण्ठदेशमें अपनी भुजाएँ डालकर उनके प्राणोंको शीतल न करें, यह अबतक नहीं हुआ था; किंतु आज अपनी प्राणप्रिय मैयाको, बाबाको, स्वजनोंको, समस्त व्रजपुरवासियोंको श्रीकृष्ण-वियोगकी सम्भावनासे अत्यधिक व्यथित—व्याकुल देखकर भी वे कुछ नहीं बोले, केवल मृदु हँसी हँसकर रह गये। कौन जाने व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके अग्रज सङ्कर्षणदेवकी अभिसन्धिको।

तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः ।
प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । १६)

तिन सौं कछु न कहत बलदेव, जानत हरि भैया कौ भेव ॥

अस्तु, गोपावाससे बाहर आते ही पुरवासियोंकी दृष्टि नील-सुन्दरके मनोहर पद-चिह्नोंपर जा पड़ी। वृन्दाकाननकी धरापर अङ्कित वे चिह्न मानो स्पष्ट ही संकेत कर रहे थे—'आओ, आओ, अपने नीलमणिको हमारे सहारे ढूँढ़ लो।' उनमें संशयके लिये स्थान ही नहीं था, स्पष्ट ही उन पदचिह्नोंमें श्रीकृष्णचन्द्रके चरणतलके चिह्न व्यक्त हो रहे थे। साथ ही रविनन्दिनी श्रीयमुनाके तटकी ओर जानेवाले मार्गमें ही वे अङ्कित थे। फिर तो यह प्रत्यक्ष हो ही गया कि आज श्रीकृष्णचन्द्र गिरिराजकी ओर न जाकर कलिन्दतनयाकी ओर गोसंचारण करने गये हैं। पुरवासियोंने उन चिह्नोंका ही अनुसरण किया और उसके सहारे ही देखते-देखते वे यमुना-तटपर आ पहुँचे। यह बात नहीं कि केवल श्रीकृष्णचरण-चिह्न ही वहाँ व्यक्त हुए हों। असंख्य गोपशिशुओंके, एवं उनसे परिचालित असंख्य धेनुसमूहोंके पदचिह्न भी वहाँ अङ्कित थे; और उनके अन्तरालमें सम्पृक्त हो रहे थे अब्ज, यव, अङ्कुश, वज्र, ध्वज आदि चिह्नोंसे विभूषित श्रीकृष्णचन्द्रके चरणचिह्न। इस प्रकार गोसंचारणका वह वन-पथ असंख्य चिह्नोंसे परिव्याप्त था। किंतु समस्त पुरवासियोंकी, व्रजदम्पतिकी आँखें केन्द्रित हो रही थीं—एकमात्र गोपसमाजके उन अनोखे अध्यक्षके अब्ज-यवादि-परिशोभित ललित पदचिह्नोंपर ही; उनके प्राण स्पर्श कर रहे थे एकमात्र उनको ही। इसके अतिरिक्त, असंख्य गोधन भी इस मार्गसे ही अग्रसर हो चुका है, अन्य गोपशिशु भी इस पथसे ही गये हैं; उनके चिह्न भी यहाँ स्पष्ट व्यक्त हो रहे हैं—इसे वे देखकर भी न देख सके। कहीं भी वे भ्रमित न हुए। हो ही कैसे सकते, श्रीकृष्णचरण-चिह्नोंका प्रभाव ही निराला है, उनपर अपनी दृष्टि लगाये चलनेवालेके मार्गमें कहीं कदापि भ्रम होता जो नहीं। उन चिह्नोंको कोई भी प्राणी आच्छादित नहीं कर सकता, करना भी नहीं चाहता, सबके प्राणोंकी निधि हैं वे। और तो क्या, जडभावापन्न पवनसे संचालित रजःकण भी उनकी स्पष्टताको लुप्त नहीं कर सकते। वे तो जहाँ जिस स्थलपर एक बार अङ्कित हो उठते हैं वहाँ उनकी प्रतिष्ठा हो जाती है। अलंकार हैं वे उस स्थलके, भूमिके! तथा उनके सहारे, एकमात्र उन्हींका निरीक्षण करते हुए चलनेवालोंके लिये श्रीकृष्णचन्द्रको ढूँढ़ लेना सदा ही सहज है। इसीलिये वे गोप, गोपसुन्दरियाँ, व्रजराज, व्रजरानी—सभी केवल उन्हें ही देखते हुए, शीघ्र-से-शीघ्र यमुना-तीरपर चले आये—

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः ।
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥
ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनि-
ध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे
निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । १७-१८)

धुज जव अब्ज गदादि तहँ, मत्स्य धनुष की रेख।
इन चिन्हन चिन्हित धरा, चले सकल अवरेख ॥

× × ×

चरन-सरोज-खोज ही लगे,
जिन में सुभ लच्छन जगमगे।
अरि, दर, मीन, कमल, जव जहाँ,
अंकुस, कुलिस, धुजा छवि तहाँ ॥
जा रज कहुँ सिव, अज नित बंछत,
अनुदिन सनक, सनंदन इंछत।
तिहि सिर धारत अतिसय आरत,
कृष्न कृष्न गोविंद पुकारत ॥

× × ×

इमि खोजत पहुँचे सरि तीरा। रवितनया जेहि जल गंभीरा ॥

किंतु यहाँ आनेपर, तटपर स्थित उस विशाल वटकी छायासे आगे होते ही—'हाय रे ! यह मार्ग तो एकमात्र कालियह्रदकी ओर ही गया है !'—सबके प्राण एक साथ ही मानो ह्रदके उस विषम विषकी स्मृतिमात्रसे भस्म हो उठे। इसके अनन्तर उस सघन वनकी सीमाको श्रीकृष्णचरणचिह्नोंके सहारे ही उन सबने पार तो अवश्य किया और फिर इस पार आकर निर्वृक्ष स्थलपर भी अग्रसर होने लगे; किंतु अब उनके शरीरमें स्पन्दनकी शक्ति स्वाभाविक थी या सर्वथा किसी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा देहके उन स्नायुजालोंमें प्राणका संचार हो रहा था और उससे अनुप्राणित हुए वे दौड़े जा रहे थे—यह निर्णय कर लेना अत्यन्त कठिन है। कुछ भी हो, ह्रदके परिसरमें तो वे आ ही पहुँचे और दूरसे ही क्रमशः उनकी फटी-सी आँखोंमें वह कराल दृश्य भर गया—चारों ओर प्राणशून्य-से असंख्य गोपशिशु, मृतवत् अगणित तरुण गोप तथा सर्वथा ह्रदके जलके समीप प्रतिमा-सी अचल, अपलक असंख्य गायें, जिनमें जीवनका चिह्न इतना-सा ही अवशिष्ट है कि रह-रहकर वे अत्यन्त करुण स्वरमें डकार उठती हैं—

गोपांश्च मूढधिषणान् परितः
पशूंश्च संक्रन्दतः········।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । १९)

सुर उच्च राम्हतीं धेनुजाल।
छिति परे मूर्छि गोपाल बाल॥

इसके पश्चात् तो सचमुच ही किसी अचिन्त्य शक्तिने ही उन पुरवासियोंके, व्रजदम्पतिके शरीरोंको आकर्षित कर ह्रदके कुछ और समीप पहुँचाया, जहाँसे हृदयविदारक घटनाका मुख्य अंश भी व्यक्त होकर ही रहा। नेत्र-कोयोंमें सबकी पुतलियाँ तो ऊपर टँग ही चुकी थीं, पर निर्वाणसे पूर्व मानो दीपकी ज्योति उद्दीप्त हो उठी हो, इस प्रकार ज्योतिकी एक क्षीण रेखा उन सबके दृग्गोलकोंमें अपने-आप झिल-मिल कर उठी और सबने यह भी देख ही लिया—'उस ह्रदमें कालियके विशाल शरीरसे आकण्ठ लपेटे हुए, आवृत हुए नील-सुन्दर चेष्टाशून्य हो चुके हैं।'

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात्
कृष्णं निरीहमुपलभ्य······।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । १९)

दह मैं दिष्टि परे बनमाली, लपटि रह्यौ तन कारौ काली।

और अब—ओह ! तटपर सबसे प्रथम गिर पड़े व्रजेश ! गिरनेसे पूर्व उनके रुद्ध कण्ठकी वह आर्त्तध्वनि वहाँ बिखर उठी—

हा तात ! तातवत्सल ! किं कृतमतिसाहसं सहसा······।
(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'हाय ! मेरे लाल ! तू तो मुझे अतिशय प्यार करता था रे ! तू सहसा ऐसा दुःसाहस कैसे कर बैठा—तू मुझसे पहले कैसे चला गया ?'

फिर एक क्षणमें ही लुढ़क पड़े वे सब-के-सब गोप—

व्रजजनप्रिय ! वत्स ! विपद्यते
व्रजजनस्तव दर्शय सन्निधिम्।
अहह ! हा ! बत ! हेत्यनुलापिन-
स्तमभितः पतिता भुवि गोदुहः॥
(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो ! व्रजवासी तुझे कितने प्रिय थे। किंतु वत्स नीलमणि ! तेरे वे प्रिय व्रजजन मृत्युके मुखमें, यह लो, चल पड़े ! तू बता दे मेरे लाल ! अब तेरा सङ्ग कहाँ मिलेगा ? आह ! अरे ! हाय रे !·······।'—इस प्रकार विलाप करते हुए वे व्रजेशको घेरकर धराशायी हो गये।'

तथा व्रजरानी ? ओह ! मूर्छाके लिये भी उनकी अपरिसीम वेदनाका भार सर्वथा असह्य है। वे तो ह्रदके परिसरमें आकर न जाने कितनी बार गिर चुकी हैं, पर उनको स्पर्श करते ही वेदनाकी ज्वालामें मूर्छा स्वयं जलने लगती है, छोड़कर भाग खड़ी होती है। इसीलिये व्रजरानी कुछ क्षण विलम्बसे भी आयीं। पर आकर, अपने नीलमणिको उस स्थितिमें देख लेनेपर उनकी

क्या दशा हुई—ओह! वाग्वादिनीमें कहाँ सामर्थ्य है कि संकेत तक कर दें। और यही दशा उनकी अनुगामिनी उन समस्त पुरसुन्दरियोंकी हुई। हाँ, किसीके श्रीकृष्ण-रस-भावित, पर अत्यन्त आकुल प्राण व्रजरानी एवं व्रजसुन्दरियोंकी करुण-दशाकी छायाकी प्रतिच्छायाको किसी नगण्यतम अंशमें इतना भर भले छू लें—'क्षणभरके लिये एक तुमुल आर्तनाद सर्वत्र गूँज उठता है और फिर एक अत्यन्त भयावह नीरवता छा जाती है।'

और यह सत्य है—कदाचित् अचिन्त्य लीलामहाशक्तिकी योजनासे नाग-परिवेष्टित नीलसुन्दरके उन मनोहर कर्णकुण्डलोंमें रह-रहकर पर्याप्त कम्पन न होने लगता, सर्प-कुण्डलीका आवरण रहनेपर भी—न जाने कैसे—नीलसुन्दरकी वनमाला, उनके पीतपटकी आभा व्यक्त न होने लगती, तथा प्राणतन्तुओंके सहारे इनसे जुड़े हुए पुरवासियोंके, व्रजदम्पतिके हृत्पटपर ये प्रतिबिम्बित न होने लगते तो ह्रदके तटपर छायी हुई यह नीरवता समस्त व्रजपुरके महानिर्वाणमें परिणत हो जाती। किंतु यह लीला-क्रम है जो नहीं। इसीलिये सबके हृत्तलमें अमृत, विष—दोनोंका ही युगपत् संचार हो रहा है। एक ओरसे प्रवाहित हो रही है नीलसुन्दरकी रूप-सुधा तथा दूसरी ओरसे भरी जा रही है कालियकी करालता!—

झुकि रह्यौ मुकुट मंजुल अमोल।
कच बिथरि श्रवन कुंडल बिलोल॥
सुभ वक्षमाल उरझी दिखाइ।
कटि कस्यौ पीत पट दृढ सुभाइ॥
सब अंग नाग लपट्यौ प्रचंड।
जनु सघन घटा मिलि घन घुमंड॥

समझका फेर

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वास्तवमें प्राणी चाहे सकाम हो या निष्काम, उसकी साधनाएँ एकमात्र प्रभुके चरणोंकी सपर्या, भजन तथा उनकी कृपासे ही भली प्रकार सिद्ध हो पाती हैं[1]। साथ ही एकमात्र प्रभु ही सर्वसमर्थ, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र तथा सर्वेश्वर हैं[2]। अन्यान्य जन तो उनकी ही कृपासे प्राण-धारण, जीवनोपयोगी भोग-ग्रहण तथा किंचित् परानुग्रह-निग्रहमें सक्षम हो पाते हैं[1]। ऐसी दशामें शुद्ध बुद्धिमें बार-बार भगवदाश्रय, भगवद्भजनकी ही बात आती है। फिर जिनके पास यौवन, धन, प्रभुत्वादि नहीं[2], सारा उत्साह ठंडा है, पौरुषका अभाव है अथवा रुधिरकी उष्णता समाप्त हो चुकी है, उनके लिये तो कोई दूसरा मार्ग ही क्या हो सकता है? फिर मृत्यु तो बाघिनकी भाँति

१. (क) अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० २।३।१०)
(गरुडपु० पूर्व०)

(ख) धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥
(श्रीमद्भा० ४।८।४१)

२. अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
(गीता ९।२४)

१. (क) येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥
(कठ० २।१।३)

(ख) हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जिन दई।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई॥

२. यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

सर्वदा प्राणीको घूर रही हैं[1] । सिद्धशिरोमणि पूज्यपाद गोस्वामीजीका तो यहाँतक कहना है कि हमारी मृत्यु प्रतिक्षण हो ही रही हैं—'चपटि चपेटे देत नित केस गहे कर मीच ।' ऐसी दशामें युवक, धनीका प्रश्न भी व्यर्थ है, अतएव संत-महात्माओंने सर्वथा जागरूक होकर धर्माचरण न करनेवाले प्रमादी पुरुषको अत्यन्त दयनीय तथा चिन्त्य कहा है[2] ।

इसपर आज आग्रह किया जाता है कि प्रतिपल मृत्युको स्मरण कराना ही तो भारतीय दर्शनका भयंकर दोष है ? क्या हमें इस लोकमें बिल्कुल नहीं रहना है और यहाँसे कोई सम्बन्ध नहीं, जो हम सौ वर्षतक हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहें ? यह तो ऋषियोंका हमारे ऊपर घोर अन्याय है, जिसे हम कभी भी सहन नहीं कर सकते । पर यह 'चोर' कोतवालको डाँटना मात्र है । न तो इससे मृत्युकी विभीषिका ही दूर हो सकती है और न हम अमर ही हो सकते हैं । मृत्युके बाद क्या होगा, यह कौन जानता है । ऐसी दशामें अपनेको घोर अज्ञानावस्थामें समर्पण कर देना बुद्धिमानीका कार्य नहीं कहा जा सकता । मृत्युके पूर्व ही प्रभुको जानकर कृतार्थ होकर ही प्राणी मरे तो भले ही कोई निश्चिन्तता समझमें आ सकती है, पर जबतक ऐसी बात नहीं हुई और मरण भी नहीं टला, तबतक तो दशा बड़ी ही शोचनीय है । यह सर्वथा सत्य है कि तत्त्वको बिना जाने, अपना काम बिना बनाये मर जाना सर्वोपरि हानि या घोर विनाश है[1] ।

कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि यदि 'धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः' को थोड़ी देरके लिये हम मान भी लें तो भी क्या सनातनधर्मके धर्माधर्मको समझा जा सकता है । कहीं तो 'धन्यो गृहस्थाश्रमः[2]' कहा जाता है और कहीं 'धिग् धिग् गृहस्थाश्रमम्[3]' भी । कहीं 'अहिंसा परमो धर्मः' कहा जाता है, तो कहीं 'नास्ति सत्यात् परो धर्मः ।' कहीं 'क्षमा हि परमो धर्मः क्षमा हि परमं तपः' कहा जाता है, तो कहीं 'यज्ञो वै विष्णुः ।' एक गीतामें ही 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।' 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः[4]' और 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' ऐसा उपदेश किया गया है । इसी प्रकार अत्यन्त छोटे विष्णुसहस्रनाममें 'को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः' इस प्रश्नके उत्तरमें—'एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।' 'मद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा[5] ।' तथा 'आचारः परमो धर्मः' एवं 'सर्वागमानामाचारः

१. (क) व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥
(भर्तृ० वैराग्यशतक १०९)

(ख) आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पाः घनसमयतडिद्विभ्रमाभोगपूराः ।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥
(वै० श० ८२)

(ग) त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गमरणं ह्वयसे कदा नु ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । १६)

२. अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं
आयुष्यं जललोलबिन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम् ।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥

१. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
(केन० २ । ५)

२. गृहस्थाश्रम धन्य है ।

३. गृहस्थाश्रमको धिक्कार है । (वास्तवमें यहाँ दुरवस्थाग्रस्त पापपरायण आश्रमीको लक्ष्यमें रखकर ऐसा कहा गया है । द्रष्टव्य—सुभा० रत्न० भाण्डा०)

४. योगी ज्ञानीसे भी बड़ा है ।

५. श्रद्धा-भक्तिसे भगवान् कमलदलनयनकी स्तुतियोंसे पूजा करना ही मेरे मतसे सर्वोपरि धर्म है ।

प्रथमं परिकल्प्यते'[1] जैसा उत्तर दिया गया है। एक तुलसी-रामायणमें ही—

धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम प्रसिद्ध पुराना॥
परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा। परनिंदा सम अघ न गरीसा॥
एहि ते अधिक धर्म नहिं दूजा। सादर सास ससुर पद पूजा॥
नारि धर्म पतिदेव न दूजा। करेउ सदा संकर पद पूजा॥
धर्म एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥
तब मैं हृदय बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जेहि नित करिअ सो पाइअ धर्म न एहि सम आन॥

—आदि बीसों सर्वोपरि, सर्वोत्तम धर्म बतलाये गये हैं। इसीलिये बेचारे युधिष्ठिरको—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां[2]......

—कहकर संतोष करना पड़ा। ऐसी दशामें जब धर्मका कोई निर्णय ही नहीं, तब उसके आचरणसे क्या लाभ ?'

पर वास्तवमें ये सभी तर्क आपातरमणीय तथा अवैध अध्ययनके परिणाम हैं। गुरुद्वारा विधिपूर्वक अध्ययनमें ये वहीं समाहित कर दिये जाते हैं। देश, काल, जाति, आश्रम, वय और प्रकृति-भेदसे साधन-भेदोंका उपदेश किया जाता है। जो स्त्रीका सर्वोपरि धर्म होगा, वही भला एक संन्यासीका कैसे हो सकता है ? 'नारि-धर्म पतिदेव न दूजा' स्त्रीके लिये है, 'धर्म न दूसर सत्य समाना' सर्वसाधारण वर्णाश्रमियोंके लिये है और 'जेहि नित करिअ सो पाइअ धर्म न एहि सम आन' एक अतिवर्णाश्रमी, हरिचरणसर्वस्व भगवद्भक्तका कथन है। फिर रामचरितमानसमें तो अनेक पात्र हैं, उनके वे कथन देशकालोचित हैं, जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्रका वन-गमनके समय सास-ससुरकी सेवाका उपदेश। इसी प्रकार गीतामें—'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' स्वयं भगवान्ने सांख्य और योग—इन दो निष्ठाओंका भिन्न-भिन्न प्रकृतिके पुरुषों तथा अधिकारियोंको उपदेश करनेकी बात कही है। एक बली पुरुषके लिये 'परम धर्म श्रुतिविदित अहिंसा'का ठीक ही है, पर वही जब मरणासन्न हो रहा तो 'भजिअ राम सब काम बिसारी' का उपदेश कौन गलत होगा ? और ठीक इसी तरह जिस महाभागकी दृष्टिमें 'चपरि चपेटे देत नित केस गहे कर मीच' या 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'[1] न्यायसे प्रतिपल मृत्यु ही उपस्थित दीखे, उस महामहिमको अन्य कर्तव्य ही क्या अवशेष रह जायगा ?

वास्तवमें तो 'नाथ सकल जग काल कलेवा' त्रिकाल-बाधित सत्य है। इसीलिये जब यक्षने पूछा कि तत्त्व क्या है ? तो युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि इस महामोहमय कटाहरूपी विश्वमें रात्रि-दिनरूपी ईंधनोंको सूर्यरूपी अग्निमें जला-जलाकर मास, ऋतु, वर्ष आदि कलछीसे चलाता हुआ काल जीवोंको पकाता चला जा रहा है, यही रहस्य है[2]। और इसी रहस्यको जानकर मनुष्य सर्वदा सावधान रह सकता है। लोमशजीकी आयु अनन्त कही जाती है, पर वे इसी रहस्यको ध्यानमें रखकर सर्वथा भजन करते तथा योगक्षेमसे निश्चिन्त रहते हैं[3]। ऐसी दशामें भारतीय दर्शनको ठीक-ठीक

---

१. सभी शास्त्रोंमें आचारको प्रथम स्थान दिया गया है। (वास्तवमें यहाँ भी मतभेद नहीं, क्योंकि 'धर्मस्य प्रभुरच्युतः' इसका शेष पाद है, जिसमें भगवान्को ही धर्मका स्वामी कहा गया है।)

२. तर्ककी कोई स्थिरता नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न हैं, ऋषि भी एक नहीं, जिसका मत प्रामाणिक माना जाय, धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है, अतएव बहुजनसम्मत, शिष्टपरिगृहीत मार्ग ही अनुसरण करने योग्य है।

१. मृत्युने केश पकड़ लिये हैं, यों समझकर धर्मा-चरणमें दीर्घसूत्रता या प्रमाद कदापि न करे।

२. अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥
(महा० वन० ३१३। ११६)

३. उ० ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड, सिद्धान्त ९। अखिलगर्व-भंजन भगवान्।

समझकर प्रत्येक क्षणको भगवत्सेवा, भगवत्पूजा, स्तुति, नामजपमें लगाना ही बुद्धिमत्ता है और 'एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः। यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥' के अनुसार लीला-गुणात्मक उनके नामोंके प्रेमपूर्वक उच्चारण करनेमें ही नरजीवनकी कृतकृत्यता है। अतएव 'श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काम बिसारी ॥' या 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' के उपदेशपर तनिक भी संदेहका कोई कारण नहीं।

आचार-विचार

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

माता-पुत्रि-भगिनि सँग भी करना न कभी एकान्त निवास।
प्रबल इन्द्रियाँ विद्वानोंकी मतिका भी कर देतीं नाश॥

श्रीव्यासजीका यह नियम था कि वे स्वयं जो कुछ लिखते, उसे अपने शिष्य जैमिनिको देखनेके लिये देते। एक बार उपर्युक्त श्लोक जैमिनिने व्यासजीके लेखोंमें देखा। उन्होंने दूसरे दिन विनयपूर्वक व्यासजीसे कहा—'महाराज! इस श्लोकको निकाल देना चाहिये। मनुष्य कोई मोमका पुतला तो है ही नहीं कि जरा-सी गरमी लगते ही पिघल जायगा। मनुष्य-प्राणी तो ईश्वरकी सर्वोत्कृष्ट रचना है और नर तो नारायणका सखा है, अतः इस श्लोकको आपकी रचनामें रखना मानवजातिका मानो तिरस्कार करना है।'

व्यासजीने कहा—'तुम्हें ऐसा लगता हो तो इस श्लोकपर चाहे हरताल लगा दो'—जैमिनिजीने तुरंत हरताल लगा दी।*

चौमासेकी ऋतु थी। बादलोंसे घिरी रातका घटाटोप बढ़ता जा रहा था। झिरमिर-झिरमिर वर्षा हो रही थी। इसी समय किसीने आश्रमका द्वार खटखटाया। जैमिनिने जाकर देखा तो एक युवती स्त्री बिल्कुल भीगी और सर्दीके मारे काँपती हुई दिखायी दी। मुनिको देखकर उसने कहा—'महाराज! मैं रास्ता भूल गयी हूँ। अँधेरेमें कहीं रास्ता सूझता नहीं, बरसातसे एकदम भीग गयी हूँ और इससे सर्दीसे ठिठुर रही हूँ। आप कृपा करके रात्रिभर आश्रममें रहने दें तो मैं सबेरे चली जाऊँगी।'

मुनिको उस युवतीकी दशापर दया आ गयी। वे उसे रात्रिभर वहाँ रहने देनेके लिये भीतर ले आये। उसके म... तो मुनिका आश्रम मानो माताकी गोद ही था। वह तुरंत ऊपरका कपड़ा उतारकर उसे निचोड़ने लगी। मुनि इस दृश्यको देखकर विह्वल होने लगे। निचोड़े हुए कपड़ेको कमरमें लपेटकर वह नीचेका वस्त्र भी निचोड़ने लगी। यह सब देख-देखकर मुनिकी बुद्धिमें भी लहरें उठने लगीं। वे उठे और एक वल्कल उसे देकर बोले—'इस वल्कलसे शरीर ढककर अपने कपड़े एक ओर सुखा दे।' उसने यही किया। इस बीचमें मुनिने अपनी चटाईसे दूर उसके लिये चटाई बिछा दी और कहा—'अब वहाँ सो रह।' युवती करवट फेरकर सो गयी। मुनिकी विह्वलता बढ़ने लगी और उन्होंने अपनी चटाई जरा उसकी ओर खींच ली। चटाई सरकनेकी खड़खड़ाहट सुनकर उसने करवट फिराकर देखा। मुनिने पूछा—'क्यों, तुझे नींद नहीं आती?' युवतीने कहा—'हमलोग बस्तियोंमें रहनेवाले हैं। यहाँ जंगलमें डर लगता है, इसलिये नींद कैसे आती; आप अनुमति दें तो मैं अपनी चटाई जरा आपके नजदीक ले आऊँ!' मुनिने सिर हिलाकर स्वीकृति दे दी। अतएव युवती अपनी चटाईको सरकाकर मुनिके समीप ले आयी और करवट फेरकर सो गयी। मुनिने अपनी चटाई सरकाकर उसकी चटाईसे सटा दी और उसके शरीरपर हाथ लगाया। युवती एकदम उठ बैठी और बोली—'यदि तुम घोड़े बनकर मुझे पीठपर चढ़ाओ और इस झोंपड़ीमें सात चक्कर लगाओ तो फिर मैं तुम जो कहोगे, वही करूँगी।' मुनि घोड़ा बन गये। युवती उनकी पीठपर बैठी हुई कभी उनके कूल्हेपर लकड़ी मारने लगी, तो कभी पीठपर और कभी जटापर। 'कामातुराणां न भयं न लज्जा।' इस वचनको चरितार्थ करते हुए मुनि अपनी सुध-बुध भूल गये और घोड़ेकी तरह चक्कर

* उस समय किसी वाक्यको रद्द करना होता तो उसपर हरताल लगा दी जाती थी और कोई वाक्य यदि बहुत ही उपयोगी होता तो उसपर कुंकुम लगायी जाती। हरताल एक पीला खनिज पदार्थ है, उसकी भस्म औषधरूपमें काममें ली जाती है।

लगाने लगे। सात चक्कर पूरे होनेपर मुनिने उससे नीचे उतरनेको कहा। वह नीचे उतर गयी। मुनिने खड़े होकर देखा तो सामने श्रीव्यासदेवजी खड़े हँस रहे हैं। जैमिनि तुरंत उनके चरणोंमें पड़ गये और अपनी उद्धताके लिये क्षमा माँगने लगे। फिर बोले—'प्रभो! मैंने अपने तपके अभिमानमें आपके वचनोंकी अवज्ञा की। अब मैं समझा कि उस श्लोकपर हरताल न लगाकर कुङ्कुम लगाना चाहिये; क्योंकि वही सच्चा बोध है। इन्द्रियाँ कितनी बड़ी बलवान् हैं, इसका मुझे आज ही अनुभव हुआ। यदि उनके भरोसे रहा जाय तो परिणाममें विनाश निश्चित है।'

जैमिनिको उठाकर श्रीव्यासजीने कहा—'इसीलिये तो मैंने सभी पुराणोंमें जहाँ-तहाँ कनक और कामिनीसे दूर रहनेके प्रसङ्ग गूँथे हैं। कनककी तो प्राप्ति होनेपर भ्रम होता है परंतु स्त्रीके तो स्मरण और दर्शनमात्रसे ही मनुष्य भान भूल जाता है। देखो—एक श्लोक सुनो—

पीतं हि मद्यं मनुजेन नाथ
करोति मोहं सुविचक्षणस्य।
स्मृता च दृष्टा युवती नरेण
विमोहयेदेव सुराधिका हि॥

मोहित करता मद्य विचक्षण मानवको पीनेके बाद।
'नारि' मद्यसे प्रबल स्मरण-दर्शनसे कर देती बरबाद॥

ब्रह्माजीने स्त्रीको उत्पन्न किया और फिर उससे पूछा कि 'तेरा स्वरूप क्या है बता?' प्रत्युत्तरमें स्त्रीने कहा—'नाथ! शराब तो पीनेपर मनुष्यको मोहित करता है पर स्त्री तो स्मरण और दर्शनमात्रसे ही मनुष्यको विमोहित कर डालती है।'

अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको कनक और कामिनीके सङ्गसे दूर रहना चाहिये।

× × ×

यह नियम चारों आश्रमोंके लिये है, उनमें भी चतुर्थाश्रमीके लिये तो विशेषरूपसे पालन करने योग्य है; नहीं तो, पतन हुए बिना नहीं रह सकता। संत-महंत, त्यागी-वैरागी, साधु-संन्यासी और परमहंस-अवधूत आदि सभीने संसारका त्याग किया है—आत्मकल्याणके लिये, मुक्ति प्राप्त करनेके लिये, अथवा भगवान्के दर्शनके लिये। अब प्रारब्ध-प्राप्त संसारका त्याग करके फिर पुनः यदि वे यथेच्छ भोग भोगने लगें तो इससे बढ़कर हानि और क्या होगी? भोग तो प्राप्त थे ही और वे तो प्रत्येक योनिमें अनायास मिला ही करते हैं। उनके लिये किसी पुरुषार्थकी आवश्यकता नहीं है। पुरुषार्थकी आवश्यकता तो है भोगमात्रका त्याग करनेमें और इस प्रकार करते हुए वासनाओंका क्षय करके मुक्ति प्राप्त करनेमें। अतएव त्यागियोंको तो सङ्गका बहुत ही ध्यान रखना चाहिये और असङ्ग रहना सीखना चाहिये। श्रीशङ्कराचार्यजी 'आत्मबोध'में कहते हैं—

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः॥
आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत् सदा॥

इन्द्रिय-जयी विरागी जन एकान्त देशमें करके वास।
करता ध्यान अनन्त आत्मका नित्य अनन्य बुद्धिसे खास॥
अखिल दृश्यका धीके द्वारा प्राज्ञ आत्ममें करके लय।
सदा निर्मलाकाश सदृश एकात्म-ध्यान करता निश्चय॥

इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्यके मतानुसार जिसे मुक्ति प्राप्त करनी हो, उसे वैराग्ययुक्त और इन्द्रियविजयी होकर एकान्तमें ही रहना चाहिये और अपना सारा समय आत्म-चिन्तनमें लगाना चाहिये। जन-संसर्गमें आनेसे आत्मनिष्ठा शिथिल हो जाती है।

गीतामें श्रीकृष्णचन्द्रजीने भी कहा है—

'विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।'
'विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥'

साधक और सिद्ध—दोनोंको ही एकान्त-सेवन करना चाहिये। केवल आवश्यकमात्र शुद्ध, सात्त्विक आहार ग्रहण करना चाहिये। यों करनेसे ही मन, वाणी और कायाका संयम रह सकता है।' 'ज्ञानी साधकको एकान्तदेशका सेवन करना और जन-समुदायमें प्रीति नहीं रखनी चाहिये।'

यहाँ कुछ लोग कह सकते हैं कि 'हम तो साक्षात्कार कर चुके हैं, इसलिये हम विधि-निषेधसे परे हैं और इसलिये हमें सङ्गका ध्यान रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि विधि-निषेधका ध्यान रखनेके सम्बन्धमें शास्त्र तो इस प्रकार कहते हैं—

यावत् स्वखिन्नविद्योत्थं जीवत्वं नापनीयते।
तावद् विधिनिषेधानां शङ्करोऽप्यस्ति किङ्करः॥

जबतक अविद्या जनित यह जीवत्व टल जाता नहीं।
विधि, अविधिके त्यागका अधिकार नर पाता नहीं॥

भाव यह है कि जबतक जीवभाव अत्यन्त निर्मूल नहीं हो जाता, तबतक विधि निषेधके पालनकी आवश्यकता है, अतएव सङ्गका बहुत ही ध्यान रखना आवश्यक है। विश्वामित्र-जैसे तपस्वीका भी पतन हो सकता है, तब आजके कलियुगका प्राणी किस गिनतीमें है।

फिर जबतक शरीर विद्यमान रहता है, तबतक जैसे उसके खान-पानका ध्यान रखना पड़ता है, सर्दी-गरमीसे बचनेका ध्यान रखना पड़ता है और भी शरीर-सम्बन्धी बहुत-सी बातोंपर ध्यान रक्खा जाता है, वैसे ही सङ्गका भी ध्यान रखना चाहिये। विष्णुपुराणमें कहा गया है—

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

असंगतासे यति मुक्ति पाता,
पर संगसे सारे दोष आते।
गिरता अधः भी आरूढ़ योगी
संसर्गसे, बात अल्पज्ञ की क्या ?

यों सङ्गदोषसे योगारूढ यानी सिद्धिप्राप्त योगीका भी पतन हो सकता है, तब फिर जो साधक-दशामें हो, उसका पतन कौन बड़ी बात है।

× × ×

गृहस्थोंके प्रति हमारी प्रार्थना है कि उनको साधु-संतोंका सत्कार अवश्य करना चाहिये। इसीमें उनका कल्याण है और इससे उनको निश्चय ही पुण्यलाभ होता है, परंतु साधु-संतोंकी सेवामें विवेक रखना आवश्यक है। विवेकहीन सेवा हानिकर हुआ करती है। उदाहरणके लिये साधु-संतोंको भोजन कराना हो, तब उन्हें शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र भोजन ही कराना चाहिये। तुम्हारी दृष्टि जहाँ भोजनकी विविधता, स्वाद और पुष्टिकारकताकी ओर रहती है, वहाँ साधुकी दृष्टि केवल प्राणको पोषणभर मिल जाय, इतने परिमित आहारपर रहती है। अतएव तुम खाते हो, वैसे ही राजसिक, तामसिक पदार्थ अथवा विकार पैदा करनेवाले मेवा-मिष्टान्न उन्हें नहीं देने चाहिये। राजसिक, तामसिक आहारसे उनका शरीर बिगड़ेगा तथा इन्द्रियाँ उद्धत होंगी और ऐसा होनेपर जिस उद्देश्यसे उन्होंने संसारका त्याग किया, वह उद्देश्य सिद्ध होगा। अतएव इस विषयमें पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। नहीं तो, उनके पतनसे तुम्हें पाप होगा। इसी प्रकार उन्हें वस्त्र देना हो तब तुम्हें *अपनी दृष्टिसे नहीं देखना* चाहिये कि वस्त्र कितना सुन्दर और कैसा मुलायम है। देखना यह चाहिये कि वह वस्त्र सर्दी-गरमीसे रक्षा करेगा या नहीं। घरमें ठहराना हो तब भी उनका आसन ऐसे अलग स्थानमें रखना चाहिये, जहाँ उनके एकान्तकी रक्षा हो सके, जहाँ स्त्री-पुरुषों और बालकोंका व्यर्थ आना-जाना न हो।

तुम्हारी दृष्टि अपने शरीरके प्रति जैसी होती है, वैसी साधुओंकी दृष्टि अपने शरीरपर नहीं होती। इस विषयमें श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—

त्यक्तां त्वचमहिर्यद्वदात्मत्वेन न मन्यते।
आत्मत्वेन सदा ज्ञानी त्यक्तदेहत्रयं तथा॥
अहेर्निल्वयनीनाशादहेर्नाशो यथा न हि।
देहत्रयविनाशेन नात्मनाशस्तथा भवेत्॥

साँप काँचलीको तज, उसको नहीं मानता अपना रूप।
वैसे ही तन तीन देहको, ज्ञानी रहता आत्मस्वरूप॥
जैसे काँचलिके विनाशसे होता नहीं सर्पका नाश।
तीनों देह नष्ट होनेपर भी नहिं होता आत्मविनाश॥

तुम्हारी दृष्टि शरीरपर है और इसलिये तुम उसे सुख पहुँचानेको भोग भोगते हो। ज्ञानीकी दृष्टि आत्मापर है, इसलिये उसे शरीरको सुख पहुँचानेकी जरा भी आवश्यकता नहीं दिखायी देती; इसीसे उसको भोगपदार्थोंकी इच्छा नहीं होती। अतएव कभी साधु-सेवा करनेका सुअवसर मिले तो इस बातको जरूर ध्यानमें रखना चाहिये। साधुका स्वार्थ बिगड़े ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिये। करोगे तो तुम भी पापके भागी होओगे।

× × ×

बहिनों, पुत्रियों और माताओंसे दोनों हाथ जोड़कर हमारी नम्र प्रार्थना है कि उन्हें साधु-संतोंके प्रति भाव अवश्य रखना चाहिये; परंतु निकट सम्पर्कमें कभी आना ही नहीं चाहिये। आप तो व्यवहारमें रहती हैं, अतः समझती ही हैं कि बारूद और अग्नि एक साथ नहीं रह सकती। अतः आप अपना और साधुका कल्याण चाहती हैं तो जहाँतक बने, उनसे दूर रहिये। उनके शरीरका स्पर्श तो कभी करना ही नहीं, चरण-स्पर्श भी नहीं करना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि 'चरण-स्पर्शसे साधुके शरीरकी बिजली हमारे शरीरमें आती है और उससे लाभ होता है।'

इसके उत्तरमें निवेदन है कि ४६० ही नहीं, २००० वोल्टका बिजलीका प्रवाह भी चलता हो, पर उससे काठ सटा दिया जाय तो वह लेशमात्र भी बिजली ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार जबतक तुम अपने जीवनको तप और त्यागसे पवित्र नहीं बना लेते, तबतक चरण-स्पर्शसे कोई लाभ होगा, ऐसी बात नहीं है। स्पर्शसे हानि होना तो बहुत सम्भव है। तुम अपने अन्तःकरणको निर्मल और उज्ज्वल बना लोगे तो अन्तरिक्षसे अपने-आप ही बिजली तुम्हारे अंदर आवेगी। जैसे रेडियोमें तारका स्पर्श किये बिना ही बिजली आती है, वैसे ही साधु-संतोंके आशीर्वाद, शुभेच्छा आदि विशुद्ध अन्तःकरणमें अपने-आप ही उतर आते हैं। अतः साधु-संतोंका प्रभाव प्राप्त करनेके लिये शरीर-स्पर्शकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है अपने अन्तःकरणको स्फटिकके सदृश स्वच्छ बनानेकी और ऐसा करनेपर साधु-पुरुषोंके आन्दोलन बिना ही स्पर्शके तुमको मिलते रहेंगे।

एक दूसरी ऐसी मान्यता प्रचलित है 'कि गुरुकी या साधुकी सेवा तन-मन-धनसे करनी चाहिये।' यह बात है भी सत्य, परंतु कुछ बेसमझ लोग इसका अर्थ उलटा करते हैं और उससे सावधान रहनेकी आवश्यकता है। धनसे सेवाका अर्थ यह है कि उनके लिये यथाशक्ति कितने भी पैसे खर्च करने पड़ें तो भी उसमें संकोच नहीं करना चाहिये; नहीं तो, उसका फल नहीं मिलता। मनसे सेवाका अर्थ है उनके प्रति सद्भाव रखना—गुरु हों तो ईश्वरभाव रखना और उनके स्वरूपके अनुरूप आचार-विचारको जरा भी हानि न पहुँचे, इसका ध्यान रखना। तनसे सेवाका अर्थ है उनके लिये जितना भी शारीरिक श्रम करना पड़े, सहर्ष करना। उदाहरणार्थ गाँव या शहरमें दूर जाकर कोई चीज लानी हो, अनाज साफ करना हो, आँटा पीसना हो, उनके स्थानमें झाड़ू देना हो, कपड़े धोने हों आदि जो भी शारीरिक परिश्रम हो सहर्ष करना चाहिये। तनसे सेवाका इतना ही अर्थ है। इससे दूसरा अर्थ बन ही नहीं सकता। तुम्हारे शरीरपर जब तुम्हारा अपना ही हक नहीं है, तब तुम उसे दूसरेको कैसे सौंप सकती हो? तुम पूछ सकती हो कि 'हमारे शरीरपर हमारा अपना हक क्यों नहीं है?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि तुम्हारे शरीरको तो तुम्हारे माता-पिताने तुम्हारे पतिको दान कर दिया है। हमारी बात-पर विश्वास न हो तो माता-पितासे पूछ देखो। अतएव यह शरीर किसीको नहीं सौंपा जा सकता। इसके मालिक तो केवल तुम्हारे पति ही हैं और इसके द्वारा तुम्हें उनकी तथा उनके सगे-सम्बन्धियोंकी और संतानोंकी यथायोग्य सेवा करनी है। अतः भूल-चूककर भी 'तनसे सेवा' का इससे विपरीत अर्थ नहीं करना चाहिये।

कुछ ऐसा प्रचार किया जाता है कि 'तुम्हारा शरीर हमें सौंप दो तो हम तुम्हें भगवान्‌के दर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार करा देंगे।' यह प्रचार भी बहुत भोले मनुष्योंको बहकानेके लिये ही होता है। मोक्ष या भगवान् कोई फल नहीं है जो वृक्षसे तोड़कर कोई तुम्हें दे सके। जो बीमार हो, जैसे उसीको दवा पीनी चाहिये, जिसे किसी गाँव जाना हो, जैसे स्वयं उसीको यात्रा करनी चाहिये, अथवा जिसे भूख लगी हो, उसीको भोजन करना चाहिये, वैसे ही जिसे साक्षात्कार या दर्शन करना हो, उसीको साधन करना चाहिये। साधन किये बिना किसीको कभी साक्षात्कार नहीं होता।

पूज्य संत-साधुओंके प्रति नम्र निवेदन है कि हमलोगोंने जिस प्रयोजनके लिये संसारका त्याग किया है, उसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समस्त समयका उपयोग करना चाहिये। ऐसा न करके यदि शरीरके निर्वाह या आरामके लिये हम भोग-परायण हो जायँगे तो वह त्याग किये हुएको फिरसे ग्रहण करना ही कहलायेगा। लौकिक भाषामें कहें तो अपने ही वमन किये हुएको फिरसे खाना कहा जायगा। उलटी चाटनेका ऐसा नीच काम तो कुत्ते ही करते हैं। मनुष्यको तो वमन देखते ही घृणा होती है, फिर उसके खानेकी तो बात ही कैसे हो! आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने ऐसे भोग भोगनेवाले ज्ञानीको इसीलिये श्वानकी उपमा दी है, जो यथार्थ ही है—

प्रबुद्धाद्वैततत्त्वस्य यथेच्छाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥

'अद्वैततत्त्वका जाननेवाला पुरुष यदि यथेच्छाचार करता है—निषिद्ध या अशुभ आचरण करता है तो फिर अखाद्य खानेमें एक कुत्तेमें और उस तत्त्वज्ञानीमें क्या भेद है?'

× × ×

सुन्दर मधुर कथा बाँचनेवाले तथा कीर्तन करनेवाले सज्जनोंसे भी हमारा निवेदन है कि आपलोग भगवान्‌की रसीली लीला-कथाएँ तथा मधुर नाम-कीर्तन सुनाकर जगत्‌का उपकार कर रहे हैं, यह बहुत ही अच्छी बात है,

पर याद रखिये—आपपर बड़ा दायित्व है । आपके आचरणोंमें कहीं दोष आता है, कथा-कीर्तन सुननेवालोंके प्रति यदि आपका कोई अशुभ आचरण होता है तो उनका विश्वास कथा और कीर्तनसे उठ जाता है और इसका सारा दोष आपके ऊपर आता है, अतः आप बड़ी ही सावधानीके साथ अपने जीवनको त्याग-वैराग्ययुक्त और भगवत्प्रेमसे सराबोर करके केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही कथा-कीर्तन करें । कथा-कीर्तन सुननेवालोंके द्वारा भोगवासना-पूर्तिकी कल्पना भी आपके मनमें कभी नहीं आनी चाहिये ।

× × ×

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'अपना कल्याण-साधन करके बैठ जाना तो केवल स्वार्थीपन है । अतः जगत्के उद्धारके लिये कटिबद्ध होना चाहिये ।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि 'जगत्की चिन्ता करनेवाला और उसका उद्धार करनेवाला तो सहस्र-भुजाधारी बैठा हुआ है । जिसने सृष्टिका निर्माण किया है, उसीसे इसकी रक्षा होती है और इसका उद्धार करना भी उसीका काम है । अतः ईश्वरके कामका उत्तरदायित्व अपने मत्थे लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।' 'ज्ञानीके द्वारा निषिद्ध होनेपर भी उसको कोई क्षति नहीं पहुँचती' इस भावके वचन उपनिषदादि ग्रन्थोंमें देखे जाते हैं, तथापि उनका यह अर्थ कभी नहीं है कि ज्ञानी निषिद्ध आचरण करे । ऐसे वाक्य तो केवल ज्ञानीकी लोकोत्तर स्थिति समझाने भरके लिये आलङ्कारिक प्रयोग-मात्र हैं । हमलोग व्यवहारमें भी कई बार ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया करते हैं, उदाहरणार्थ—बालूके पेरनेसे कदाचित् तेल निकल जाय पर इस कंजूसके हाथसे पैसा नहीं छूट सकता ।' 'इसके अक्षर तो भाई मोतीके दाने ही हैं ।' ऐसे वाक्य आलङ्कारिक भाषाका प्रयोग है, इनके शब्दार्थको ग्रहण नहीं किया जाता, इनका केवल भावार्थ ही लिया जाता है ।

विहित कर्म तो निष्कामभावसे हो सकते हैं और बहुत-से ज्ञानी वैसा करते हुए देखे भी जाते हैं, परंतु कामना—भोग-लालसाके बिना, इस कर्मसे मुझे सुख मिलेगा, ऐसे संकल्पके बिना निषिद्ध कर्म कभी होते ही नहीं ।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुतेऽकर्म तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ॥

इस जगत्में ब्रह्मज्ञानीके द्वारा आसक्तिपूर्वक कर्मोंका होना कहीं देखनेमें नहीं आता । यदि कोई ज्ञानी आसक्ति-पूर्वक कर्म करते देखा जाय तो समझना चाहिये कि उसके अन्तःकरणमें कहीं भोग-कामना छिपी बैठी है । इसलिये वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है किंतु भ्रमज्ञानी है । अर्थात् उसे ज्ञानी होनेका भ्रम हो गया है । जिस ज्ञानीको अपने आनन्द-स्वरूपका निश्चय हो गया है, वह तो नश्वर भोगपदार्थोंसे सुख-प्राप्तिकी आशा कभी भी नहीं करेगा ।

'हम तो विधि-निषेधसे परे हैं अतः निषिद्ध आचरणसे हमारा कोई नुकसान नहीं हो सकता ।' ऐसा भी कोई कह सकते हैं । इसपर विचार करनेसे मालूम होता है कि ज्ञानीके तो इस प्रकारका विचार आता ही नहीं; क्योंकि उसे कोई कामना ही नहीं होती । उसने तो ज्ञान होनेसे पूर्व ही, अन्तःकरणकी शुद्धिके समय ही, कामनामात्रको तिलाञ्जलि दे दी थी; और कामनाके बिना निषिद्ध आचरण हो सकता ही नहीं, ऐसा गीताके तीसरे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है । शुभकर्म निष्काम भावसे हो सकते हैं, परंतु अशुभ कर्म तो कामनाकी प्रेरणा—भोगकी इच्छाके बिना बन ही नहीं सकते । यदि किसीमें अशुभ आचरण होता दीख पड़े तो समझना चाहिये वह मनुष्य तत्त्वज्ञानी नहीं है, परंतु ज्ञानका आडम्बरमात्र है ।

फिर, एक मनुष्य मुक्त होता है तो उससे केवल उस अकेलेको ही लाभ नहीं होता । शास्त्र तो कहते हैं कि एकके मुक्त होनेसे उसकी सात पीढ़ी ऊपरकी और सात पीढ़ी नीचेकी—यों चौदह पीढ़ी तर जाती हैं । इतना ही नहीं, उसकी जीवन्मुक्त दशामें वातावरणमें जो पवित्र आन्दोलन चलते रहते हैं, उसका लाभ भी सच्चे साधकमात्रको सहज ही मिल जाता है । अतएव किसी मुक्त पुरुषको स्वार्थी कहना भी सत्यकी अवज्ञा है । इस सिद्धान्तकी साक्षी देते हुए भक्त कवि नरसिंह मेहताने गाया है—कुल एकोतर (७१) तार्या रे (उसने इकहत्तर कुल तार दिये) । एक-एक पीढ़ीके पाँच-पाँच गिनें तो १४ पीढ़ीके ७० कुल होते हैं—और एक कुल अपना—यों इकहत्तर कुल तारनेका हिसाब बैठ जाता है ।

साधुओंकी जीवनपद्धति कैसी होनी चाहिये, उसे श्रीशङ्कराचार्यके शब्दोंमें बतलाकर इस निबन्धको समाप्त करेंगे:—

अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद् यः
कुणपमिव सुनारीं त्यक्तकामो विरागी।
विषमिव विषयान् यो मन्यमानो दुरन्तान्
जयति परमहंसो मुक्तिभावं समेति ॥

भुजग सम जनोंके संगसे भागता जो,
मृतक सम सुनारी त्यागता जो विरागी।
विषसम विषयोंको जानता दुःखरूप,
जयति परमहंस मुक्तिको प्राप्त होता ॥

इस प्रकार अपनी मुक्तिके लिये जो स्वार्थ है, वही सच्चा परमार्थ है। और जगत् जिसको परमार्थ कहता है, वह तो अनर्थ है; क्योंकि वह जन्म-मरण प्रदान करता है। प्रभु सबको सन्मति दें।

भारतीय संस्कृतिकी अमर-धार गङ्गा

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

भगवती जह्नुनन्दिनी गङ्गाकी महिमा अपार है। विभिन्न पुण्य नदियोंके माहात्म्य भिन्न-भिन्न पुराणोंमें पाये जाते हैं; परंतु भगवती गङ्गाकी महिमा वेदोंमें, विशेषतः ऋग्वेदमें पायी जाती है। गङ्गाकी महिमा कितनी अधिक है, इसीसे इसका अनुमान लगाया जा सकता है। काशीक्षेत्र, जिसे भगवान् विश्वनाथने अपनी राजधानी बनाया तथा जिसकी महिमा 'बृहज्जाबालोपनिषद्' आदि उपनिषद् ग्रन्थोंमें पायी जाती है, उस काशी नगरीका गौरव भगवती गङ्गाके सांनिध्यसे लोकातीत हो गया है।

काशी-परिसर-वाहिनी इसी गङ्गाके तटपर अनादि कालसे प्रायः प्रसिद्ध सभी ऋषि-मुनियोंने घोर तपस्याएँ कीं। इसी गङ्गाके दशाश्वमेधघाटपर स्वयं ब्रह्माने दस अश्वमेध यज्ञ किये, जिनका वर्णन पुराणोंमें पाया जाता है।

ऐतिहासिक कालमें भी भगवान् शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि सम्प्रदाय-प्रवर्तक महात्माओंने अपने-अपने समुदायोंका प्रवर्तन इसी पुण्य नगरी काशीके गङ्गातटोंपर बैठकर किया।

गङ्गावतरण

'बृहद्धर्मपुराण'के अनुसार भगवान् विष्णु शिवजीके ताण्डवनृत्य एवं सामगानसे आनन्दमग्नावस्थामें जलमय हो गये। उनके दाहिने पैरके अंगूठेसे जल-धारा बह निकली। जब ब्रह्माजीने यह देखा तो उन्होंने उस जलको अपने कमण्डलुमें भर लिया। विष्णु-चरणसे उत्पन्न हुई यही धारा गङ्गाके नामसे प्रसिद्ध है।

चिरकालके पश्चात् जब कपिल मुनिके शापसे राजा सगरके साठ हजार पुत्र भस्म हो गये, तब अनुनय-विनय करनेपर मुनिवरने उनके उद्धारका उपाय राजाको बताते हुए कहा कि यदि गङ्गाजी मृत्युलोकमें आवें तो उनके पावन जलसे उन सबका सहज ही उद्धार हो सकता है। मृत्युलोकमें गङ्गाजीको लानेके हेतु राजा सगर और उनके वंशजोंने घोर तप किया; किंतु सफलता नहीं मिली। अन्ततोगत्वा राजा भगीरथने अपने घोर तपद्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न करके, ब्रह्माजीके कमण्डलुमें निवास कर रही गङ्गाजीको पितरोंकी सद्गतिके लिये भू-लोकमें भेजनेका वरदान माँगा। ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति प्रदान कर दी। गङ्गाजीने भगीरथको पृथ्वीपर आनेका वचन प्रदान करते हुए कहा कि 'मेरा अत्यन्त तीव्र वेग होनेके कारण मैं पृथ्वीको पारकर पाताललोकमें चली जाऊँगी। भगवान् शिवजी ही मेरा वेग रोकनेकी शक्ति-सामर्थ्य रखते हैं। अतः वेग रोकनेके लिये तुम पहले उन्हें प्रसन्न करो, वे अपने मस्तक-बलसे रोक सकते हैं।'

वेगं तु मम दुर्धार्षं पतन्त्या गगनाद् भुवम्।
न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद्धारयितुं नृप ॥
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात्।
तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम् ॥
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति।

गङ्गाजीकी आज्ञासे महाराज भगीरथ भगवान् शिवको प्रसन्न करनेके अभिप्रायसे कैलास पर्वतपर जाकर घोर तप करने लगे। उनके तपसे शिवजी प्रसन्न हुए और वरदानद्वारा गङ्गाजीके वेगको रोक लेनेका उन्होंने वचन दिया। शिवजीसे वरदान पाकर जब भगीरथने गङ्गाजीसे मृत्युलोकमें पदार्पण करनेके लिये प्रार्थना की तो गङ्गाजीने अपने वेगसे भगवान् शिवको भी पाताल ले चलनेका विचार किया। शिवजीने गङ्गाके अभिप्रायको समझ लिया और जब गङ्गाजी अत्यन्त प्रबल वेगसे उनके शीशपर गिरीं तब शिवजीने योग-

शक्तिसे वेगको रोककर जटा-जूटमें विलीन कर दिया । चिरकालतक शिवजी वेगकी शान्तिके निमित्त गङ्गाजीको जटा-जूटमें ही रोके रहे, पृथ्वीपर एक भी बूँद नहीं गिर सकी । 'हरमौलिविहारिणी' गङ्गाका नाम इसी कारण पड़ा ।

जटा-जूटमें ही गङ्गा-विलयनके दृश्यसे व्याकुल होकर राजा भगीरथने पुनः शिवस्तुति की । शिवजी प्रसन्न हो गये और उन्होंने गङ्गाकी एक बूँद छोड़ दी जो 'बिन्दु-सरोवर'के नामसे विख्यात है । नगराज हिमालयकी 'गोमुखी' नामक विशाल कन्दराके भीतरसे होकर आर्यावर्त भारतकी भूमिमें गङ्गाजीने भगीरथके बताये मार्गसे प्रवेश किया ।

गङ्गावतरणका दृश्य

मार्गमें राजा भगीरथके पीछे-पीछे गङ्गाजी चल रही थीं । रास्तेमें पड़नेवाले विशाल वृक्षों और पर्वतोंको अपने प्रबल वेगसे गङ्गाजी बहाकर ले जा रही थीं । उसी मार्गमें उग्रतपा जह्नु मुनिका आश्रम पड़ा । वे यज्ञ कर रहे थे । उनके यज्ञकी सम्पूर्ण सामग्री गङ्गाजीकी वेगवती धारामें बह चली । इससे मुनि जह्नु अत्यन्त क्रुद्ध हुए और अपने तपोबलसे उन्होंने गङ्गाजीको अपनी गोदमें समा लिया । जब भगीरथ-ने मुनिवरसे काफी अनुनय-विनय की तो उन्होंने अपने जानु-देशद्वारा गङ्गाजीको पुनः प्रकट किया । इसी कारण जाह्नवी और जह्नुनन्दिनी भी गङ्गाजीके नाम हैं ।

तत्पश्चात् गङ्गाजी अनेक तीर्थोंमें होती हुई पुण्य मही भारतवर्षको पवित्र करती हुई अन्तमें गङ्गासागर तीर्थमे जा मिलीं । यहींपर राजा सगरके साठ हजार पुत्र भस्मीभूत हुए थे ।

महाराज भगीरथद्वारा पृथ्वी-लोकमें आनेके कारण ही भागीरथी गङ्गा कही जाती हैं । गङ्गातटके पर्वतोंपर सभी स्थान तीर्थ हैं । पहाड़से उतरकर गङ्गाजीकी परम पावन धारा जिस समय मायापुरी क्षेत्रमें प्रकट हुई, उस समय उस स्थानका नाम गङ्गाद्वार पड़ा, जो आजकल हरिद्वार या हरद्वारके नामसे प्रसिद्ध है । 'गोमुखी'से लेकर गङ्गासागरतक इसके किनारे अनेक तीर्थ हैं; किंतु मनोहर अभूतपूर्व दृश्य-की दृष्टिसे हरिद्वार अपना सानी नहीं रखता ।

गङ्गा-स्नानका धार्मिक महत्त्व

पुण्यतोया गङ्गाका अनिर्वचनीय माहात्म्य है । भवके जीवोंको भवसागरसे पार करनेकी अद्भुत शक्ति गङ्गामें भरी पड़ी है । तापत्रयविनाशिनी गङ्गा मोक्षदायिनी भी हैं । इनके दर्शन, स्पर्श, पान, नामोच्चारण तथा स्मरणमात्रसे ही प्राणी सर्वपापोंसे तत्काल मुक्त हो जाते हैं । दैहिक, दैविक और भौतिक ताप तत्क्षण उपशमको प्राप्त होते हैं ।

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात् तथा गङ्गेति कीर्तनात् ।
स्मरणादेव गङ्गायाः सद्यः पापात् प्रमुच्यते ॥

गङ्गास्नानकी महिमा सचमुच विलक्षण ही प्रतीत होती है । भव-बन्धनादि संकटोंसे तो निवृत्तिका यह अत्यन्त सुगम साधन है । सिंह-दर्शनसे जिस प्रकार मृग भागते हैं, उसी प्रकार गङ्गा-तटवासी तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गङ्गामें अवगाहन-का आनन्द लूटनेवाले प्राणीसे पाप भी डरकर भाग जाते हैं । भावार्थ यह कि वह वैकुण्ठधाम-वासी होता है ।

धन्य वह जगदम्बा, जिसका अपनी भव-कूपमें पड़ी हुई संतानोंपर अटूट प्रेम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । प्राकृत माताएँ गोदसे कूपमें गिरी हुई अपनी संतानोंको देखकर कुएँके ऊपर ही आक्रन्दन करती हैं; परंतु कुएँमें बालकके साथ कूदतीं नहीं । परम करुणामयी जगन्माता गङ्गा भव-कूपमें गिरे हुए अपने बालकोंको देख, ऊर्ध्वलोकसे तत्काल कूद पड़ीं, जिसने तनिक भी आघातकी परवा नहीं की ।

दुराचार, असत्यभाषण, अभक्ष्य-भक्षण, अस्पृश्य-स्पर्शनसे होनेवाले तथा ज्ञाताज्ञात अवस्थामें किये गये समस्त पातक भी गङ्गास्नानमात्रसे तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं ।

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादिकृतं च यत् ।
अभक्ष्य भक्षजं दोषं दोषमस्पर्शजं तथा ॥
ज्ञाताज्ञातकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत् ।
तत्सर्वं नाशमायाति गङ्गास्नानेन तत्क्षणात् ॥

(मत्स्यपुराण)

जितने क्षणोंतक मानवकी अस्थियाँ गङ्गाजलमें रहती हैं, उतने सहस्र वर्षोंतक वह स्वर्गलोकमें सानन्द निवास करता है । मृतककी अस्थियोंको गङ्गाजलमें प्रवाहित करनेका यही प्रयोजन है ।

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गातोयेषु तिष्ठति ।
तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥

(स्कन्दपुराण)

सहस्र योजन अर्थात् चार सहस्र क्रोश (कोस) की दूरीपर रहनेवाले पापी मनुष्य भी गङ्गास्मरणसे परम-पदको प्राप्त होते हैं ।

योजनानां सहस्रेषु यो गङ्गाः स्मरते नरः ।
अपि दुष्कृतकर्मासौ लभते परमं पदम् ॥

इस संसारके समस्त प्राणियोंके चित्त तापत्रयसे बारम्बार अभिघातको प्राप्त होते हैं । यदि वे उन दुःखोंसे मुक्ति एवं सद्गतिकी कामना करते हैं तो उनके लिये भगवती गङ्गाके समान सद्गति देनेवाला अन्य कोई सुलभ साधन नहीं है ।

भूतानामिह सर्वेषां दुःखोपहतचेतसाम् ।
गतिमन्वेषमाणानां न गङ्गासदृशी गतिः ॥

चतुर्मुखसम्पन्न ब्रह्माजी भी गङ्गास्नानके माहात्म्यका वर्णन नहीं कर सकते, मानवकी तो बात ही क्या है !

गङ्गायां स्नानमाहात्म्यं नालं वक्तुं चतुर्मुखः ।

कवियोंकी गङ्गा

प्रायः सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियोंने गङ्गाकी महिमाका गुण-गानकर अपनी आत्माको शान्ति प्रदान की है । महर्षि वाल्मीकिकी गङ्गा-स्तुति; पण्डितराज जगन्नाथकृत 'गङ्गा-लहरी', कविवर पद्माकररचित 'गङ्गा-महिमा' एवं आधुनिक हिंदी-साहित्यके जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रलिखित गङ्गाकी झाँकी महत्त्वपूर्ण हैं । भारतेन्दुजीके हृदयाह्लादक कुछ छन्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहति ।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति ॥
लोल-लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ।
जिमि नर-गन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत ॥ १ ॥
सुभग स्वर्ग-सोपान सरिस सबके मन भावत ।
दरसन-मज्जन-पान त्रिबिध भय दूर मिटावत ॥
श्रीहरि-पद-नख-चन्द्रकान्त-मणि-द्रवित सुधारस ।
ब्रह्म-कमण्डल मण्डन, भव-खण्डन सुर सरबस ॥ २ ॥
शिव-सिर-मालतिमाल, भगीरथ नृपति-पुन्यफल ।
ऐरावत गज गिरि-पति हिमनग कंठहार कल ॥
सगर-सुवन सठसहस परस जल मात्र उधारन ।
अगनित धारारूप धारि सागर संचारन ॥ ३ ॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई ।
सपनेहूँ नहिं तजी, रही अंकम लपटाई ॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत-जोहत ॥ ४ ॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका ।
घहरत घण्टा-धुनि धमकत धौंसा करि साका ॥
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी नर गावत ।
बेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत ॥ ५ ॥
कहुँ सुंदरी नहात नीर कर जुगल उछारत ।
जुग अम्बुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत ॥
धोवति सुन्दरि बदन करन अति ही छबि पावत ।
बारिध नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत ॥ ६ ॥
सुंदरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुंदर सोहत ।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितहीं ठहराई ।
गंगा छबि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई ॥ ७ ॥

आरोग्यप्रदायिनी गङ्गा

हमारे प्राचीन ऋषियोंने गङ्गाको 'सुधा' कहा है । सुधा शब्दका विवेचन करनेपर प्रतीत होता है कि सुधा उसी परम उपयोगी वस्तुकी संज्ञा है, जिसे मानव सुखपूर्वक ग्रहण करे अथवा व्यवहारमें लावे । प्राणियोंकी प्रकृति, मन और आत्माके सर्वथा अनुकूल होनेके कारण इसकी 'सुधा' संज्ञा सर्वथा सार्थक है; क्योंकि मानव-शरीरके लिये परम पथ्य एवं प्रकृतिके यह अनुकूल है ।

आयुर्वेदके मतानुसार गङ्गाजल शीतल, स्वच्छ, स्वादु, अत्यन्त रोचक, पथ्य, पाचक, पवित्र, तृष्णा एवं मोहनाशक जठराग्नि तथा बुद्धिवर्धक है ।

शीतं स्वच्छं स्वादु अतिरोचकं पथ्यं पाचकं पावनं तृष्णामोहघ्नं दीपनं प्रज्ञाकरं च । —राजनिघण्टु

गङ्गा-स्नानका वैज्ञानिक महत्त्व

यों तो किसी भी जलमें मनुष्य स्नान कर सकता है, किंतु सम्पूर्ण रात्रिभर मोह-जननी निद्राकी गोदमें पड़े रहने तथा नाना प्रकारके सुख-दुःखमय स्वप्नोंको देखनेके पश्चात् अपनी चित्तवृत्तिको वशीभूत न रख सकनेके कारण ही प्रातः गङ्गा-स्नानका विधान है । स्नानके अनेकानेक गुण होनेपर भी यदि केवल गङ्गामें अवगाहनका सुयोग प्राप्त हो तो मल-मोह-नाशिनी, बुद्धिवर्धिनी तथा जठराग्निको दीप्त करनेकी गङ्गाकी अनुपम प्रतिभा एवं शक्तिका सहज ही अनुभव हो सकता है ।

वैज्ञानिक दृष्टिसे गङ्गाजल

स्नानका स्वाभाविक गुण गङ्गाजलमें विद्यमान है । यदि आप स्नान न भी करें, केवल पीनेमें प्रयोग करें तो भी स्नानके गुण आपके शरीरमें उत्पन्न हो जायँगे । गङ्गाजल, मानव-स्वास्थ्यके हेतु परमोपयोगी एवं आरोग्यदायक है ।

स्वच्छ, रोचक एवं स्वादु होनेके कारण ही मानव-रसना इसे सुगमतासे ग्रहण कर लेती है। शीतल तथा तृष्णा एवं मोहनाशक होनेके कारण ही गङ्गोदक शारीरिक रक्त-गतिको अधिक उत्तेजित करनेमें समर्थ होता है।

हिमालयकी धातुओं, मणियों तथा दिव्य ओषधियोंके मिश्रणसे लम्बी धारामें प्रवाहित होनेके कारण गङ्गाजल विपनाशक, पुष्टिकर तथा आरोग्यदायक है; क्योंकि लम्बे प्रवाहके कारण गङ्गाजल अत्यधिक गुणमय हो जाता है। सारांश यह कि जलके सर्व गुण गङ्गाजलमें पूर्णतया विद्यमान हैं। बुद्धिजीवियोंके लिये गङ्गाजल वस्तुतः अमृत है।

वर्षाऋतु और गङ्गाजल

वर्षाऋतुमें नदियोंके जलका प्रयोग वर्जित है, किंतु गङ्गाको छोड़कर। यद्यपि 'वर्जयित्वा सुरापगाम्' ऐसा आदेश है, परंतु अन्य ऋतुओंकी अपेक्षा वर्षामें गङ्गाजल भी कुछ गुरु, वायुवर्द्धक एवं मन्दाग्निकारक हो जाता है। अतः व्यवहार करनेके पूर्व उसे निर्मली आदिसे स्वच्छ कर लेना चाहिये। वर्षाऋतुमें अन्य प्रकारके जलप्रयोगसे कुष्ठादि रक्तदोष, चित्तविभ्रम तथा मन्दाग्नि प्रभृति व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, किंतु गङ्गाजलमें इतने अधिक गुण विद्यमान हैं कि वर्षाऋतुके कारण जल दूषित होनेपर भी चित्तविभ्रमके रोगी केवल गङ्गास्नानमात्रसे रोगमुक्त हो जाते हैं।

भारतीय नदियोंकी विशेषताएँ

भारतकी सभी नदियोंमें भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं। प्रयाग-संगमपर गङ्गा-यमुनाके परस्पर मिलनके साथ ही दोनों धाराओंकी दो दिशाओंमें विभक्तता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। दुग्ध एवं जलकी भाँति मिलकर जलमें एकरूपता नहीं होने पायी है। गङ्गाजलमें स्वच्छता है तो यमुनाजलमें श्यामलता। इसी प्रकार गङ्गोत्तरीकी अपनी महत्त्वपूर्ण रासायनिक एवं वैज्ञानिक विशेषता है। गङ्गोत्तरीके जलमें, अग्निमें तप्त करके छोड़ी जानेवाली कोई भी धातु ठंढी पड़ जायगी। जल नहीं सूख सकता, तौल भी कम नहीं होगा। साधारण जलमें गरम धातु छोड़नेसे अवश्य ही जल सूखेगा। गङ्गोत्तरीकी यह एक विलक्षणतायुक्त विशेषता है। कभी भी इसकी परीक्षा की जा सकती है। जय गङ्गे!

वृन्दावनवासके लिये स्थिर मनकी आवश्यकता

महापुरुषोंके दिव्य भाव

श्रीगौड़ेश्वरसम्प्रदायके विश्वविख्यात आचार्य श्रीरूप गोस्वामी महाशय श्रीवृन्दावनमें एक निर्जन स्थानमें वृक्षकी छायामें बैठे ग्रन्थ लिख रहे थे। गरमीके दिन थे। अतः उनके भतीजे और शिष्य महान् विद्वान् युवक श्रीजीव गोस्वामी एक ओर बैठे श्रीगुरुदेवके पसीनेसे भरे वदनपर पंखा झल रहे थे। श्रीरूप गोस्वामीके आदर्श स्वभाव-सौन्दर्य और माधुर्यने सभीका चित्त खींच लिया था। उनके दर्शनार्थ आनेवाले लोगोंका ताँता बँधा रहता था। एक बहुत बड़े विद्वान् उनके दर्शनार्थ आये और श्रीरूपजीके द्वारा रचित 'भक्तिरसामृत' ग्रन्थके मङ्गलाचरणका श्लोक पढ़कर बोले, 'इसमें कुछ भूल है, मैं उसका संशोधन कर दूँगा।' इतना कहकर वे श्रीयमुना-स्नानको चले गये। श्रीजीवको एक अपरिचित आगन्तुकके द्वारा गुरुदेवके श्लोकमें भूल निकालनेकी बात सुनकर कुछ क्षोभ हो गया। उनसे यह बात सही नहीं गयी। वे भी उसी समय जल लानेके निमित्तसे यमुनातटपर जा पहुँचे। वहाँ वे पण्डितजी थे ही। उनसे मङ्गलाचरणके श्लोककी चर्चा छेड़ दी और पण्डितजीसे उनके संदेहकी सारी बातें भलीभाँति पूछकर अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ताके द्वारा उनके समस्त संदेहोंको दूर कर दिया। उन्हें मानना पड़ा कि श्लोकमें भूल नहीं थी। इस शास्त्रार्थके प्रसङ्गमें अनेकों शास्त्रोंपर विचार हुआ था और इसमें श्रीजीव गोस्वामीके एक भी वाक्यका खण्डन पण्डितजी नहीं कर सके। शास्त्रार्थमें श्रीजीवकी विलक्षण प्रतिभा देखकर पण्डितजी बहुत प्रभावित हुए और श्रीमद्रूप गोस्वामीके पास आकर सरल और निर्मत्सरभावसे उन्होंने कहा कि 'आपके पास जो युवक थे, मैं उल्लासके साथ यह जाननेको आया हूँ कि वे कौन हैं?' श्रीरूप गोस्वामीने

कहा कि 'वह मेरा भतीजा है और शिष्य भी' अभी उस दिन देशसे आया है ।'

यह सुनकर उन्होंने सब वृत्तान्त बतलाया और श्रीजीवकी विद्वत्ताकी प्रशंसा करते हुए श्रीरूप गोस्वामीके द्वारा समादर प्राप्त करके वे लौट गये । इसी समय श्रीजीव यमुनाजीसे जल लेकर आये और उन्होंने गुरुदेवके चरणकमलोंमें प्रणाम किया । श्रीरूप गोस्वामीजीने अत्यन्त मृदु वचनोंमें श्रीजीवसे कहा—'भैया ! भट्टजी कृपा करके मेरे समीप आये थे और उन्होंने मेरे हितके लिये ही ग्रन्थके संशोधनकी बात कही थी । यह छोटी-सी बात तुम सहन नहीं कर सके । इसलिये तुम तुरंत पूर्व देशको चले जाओ । मन स्थिर होनेपर वृन्दावन लौट आना ।'

व्रज-रसके सच्चे रसिक, व्रजभावमें पारङ्गत श्रीरूपके मुखकमलसे बड़ी मृदु भाषामें ये शासनवाक्य निकले । इनमें मृदुता है, दैन्य है, शिष्यके प्रति उपदेश है और कृपासे पूर्ण शासन है । 'मन स्थिर होनेपर वृन्दावन आना ।' अर्थात् वृन्दावनवास करनेके वे ही अधिकारी हैं, जिनका मन स्थिर है । अस्थिर मनवाले लोगोंका वृन्दावनवास सम्भवतः अनर्थोत्पादक हो सकता है । और स्थिर मनका स्वरूप है—परम दैन्य, आत्यन्तिक सहिष्णुता, नित्य श्रीकृष्णगत चित्त होनेके कारण अन्यान्य लौकिक व्यवहारोंकी ओर उपेक्षा । भट्टजीने श्रीरूप गोस्वामीजीकी भूल बतायी थी, इससे उन्हें क्षोभ होना तो दूर रहा, उन्हें लगा कि सचमुच मेरी कोई भूल होगी, भट्टजी उसे सुधार देंगे । श्रीजीव गोस्वामीने शास्त्रार्थमें पण्डितजीको हरा दिया, इससे श्रीरूप गोस्वामीको सुख नहीं मिला । उन्हें संकोच हुआ और अपने प्रियतम शिष्यको शासन करना पड़ा । वे श्रीजीव गोस्वामीके पाण्डित्यको जानते थे, पर श्रीजीवमें जरा भी पाण्डित्यका अभिमान न रह जाय, पूर्ण दैन्य आ जाय—वे यह चाहते थे और इसीसे उन्होंने श्रीजीवको चले जानेकी आज्ञा दी । यह उनका महान् शिष्यवात्सल्य था और इसी रूपमें बिना किसी क्षोभके अत्यन्त अनुकूलभावसे श्रीजीवने गुरुदेवकी इस आज्ञाको शिरोधार्य किया । वे बिना एक शब्द कहे तुरंत पूर्वकी ओर चल दिये तथा यमुनाके नन्दघाटपर, जहाँ स्नान करते समय नन्दबाबाको वरुण देवताके दूत वरुणालयमें ले गये थे, जाकर निर्जन वास करने लगे । वे कभी कुछ खा लेते, कभी उपवास करते और भजनमें लगे रहते । उन्होंने एक बार श्रीगुरुमुखसे सुना था कि 'सुख-दुःख—दोनोंमें ही परमानन्दका आस्वादन हुआ करता है ।' यहाँ श्रीजीवको गुरुदेवके वियोगका दुःख था; परंतु इस दुःखमें भी वे श्रीगुरुदेवके पादपद्ममें तन्मयता प्राप्त करके परमानन्द प्राप्त कर रहे थे । विरहमें ही मिलनकी पूर्णता हुआ करती है ।

श्रीजीव इस प्रकार जब निर्जन वास कर रहे थे, तब एक समय अकस्मात् श्रीसनातन गोस्वामी (श्रीरूपके बड़े भाई) वहाँ जा पहुँचे । श्रीसनातनके प्रति व्रजवासियोंका बड़ा प्रेम था । व्रजवासी भक्तोंने श्रीसनातनको बताया कि 'आजकल यहाँ नन्दघाटपर एक अत्यन्त सुन्दर तरुण तपस्वी निर्जन वनमें निवास कर रहे हैं । बड़ा प्रयत्न करनेपर भी वे कभी-कभी निराहार रह जाते हैं, कभी फल-मूल खा लेते हैं और कभी सत्तू ही जलमें सानकर खाते हैं ।' सनातन समझ गये कि ये तपस्वी हमारे श्रीजीव ही हैं । वे अत्यन्त स्नेहार्द्रचित्त होकर वहाँ गये । उनको देखते ही श्रीजीव अधीर होकर उनके चरणोंपर गिर पड़े । वे अपने ताऊके चरणोंमें लुट पड़े और आँसू बहाने लगे । व्रजवासी बड़े आश्चर्यसे इस दृश्यको देख रहे थे । श्रीजीवसे बातचीत करके तथा व्रजवासियोंको समझाकर श्रीसनातनजी श्रीवृन्दावन चले गये ।

श्रीवृन्दावनमें वे श्रीरूप गोस्वामीके पास पहुँचे । श्रीरूप गोस्वामीने उनके चरणोंमें प्रणाम किया ।

श्रीसनातनके पूछनेपर श्रीरूपने बतलाया कि उनका भक्तिग्रन्थ-लेखन प्रायः समाप्त हो गया है। श्रीजीव होते तो शीघ्र संशोधन हो जाता। प्रसङ्ग पाकर श्रीसनातनने कहा—'श्रीजीव केवल जी रहा है, मैंने देखा, जरा-सी हवासे उसका शरीर काँप जाता है।' इतना सुनते ही श्रीरूपका हृदय द्रवित हो गया। श्रीजीव-का पता लगाकर उन्होंने तुरंत उन्हें अपने पास बुला लिया और उनकी ऐसी दशा देखकर परम कृपार्द्रहृदयसे उनकी उचित सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें स्वस्थ किया। फिर तो श्रीरूप-सनातन दोनोंका सारा भार श्रीजीवने अपने ऊपर ले लिया। श्रीजीव श्रीरूपकी परिभाषाके अनुसार अब पूर्ण स्थिरचित्त थे।

शङ्कराचार्य

[प्रथम अङ्क]

(लेखक—श्रीबृहस्पतिजी)

(प्रथम दृश्य)

स्थान—केरलके राजमन्दिरका एक कक्ष

(केरलनरेश राजशेखर तथा कुछ सभासद् यथास्थान बैठे हैं)

प्रथम सभासद्—श्रीशंकर पण्डित कब पधार रहे हैं देव ?

राजशेखर—महामात्य सुमतिको आज लौट आना चाहिये। बाल पण्डित श्रीशंकरके दर्शनके लिये हम अतीव उत्सुक हैं। सुना है, वे उत्कृष्ट कवि भी हैं।

द्वितीय सभासद्—देवचरणोंकी उत्सुकता यथास्थान है। शंकर पण्डित केरलके अलंकार हैं।

राज०—उन्हें प्रदेशविशेषके साथ सम्बद्ध करना उचित नहीं। केवल सात वर्षकी अवस्थामें जो व्यक्ति सकल शास्त्र-निष्णात, यशस्वी आचार्य एवं रससिद्ध महाकवि हो, उसके द्वारा किसी महत्तम कार्यका साधन विधाताको अभीष्ट प्रतीत होता है। ऐसे संस्कारी व्यक्तित्व समग्र विश्वके लिये होते हैं।

प्र० स०—उन्हें ले अवश्य आयेंगे महामात्य !

राज०—यह कैसे कहा जा सकता है। ज्ञानघन आचार्योंके लिये राजमन्दिरोंमें कोई आकर्षण नहीं होता। वे पधारें, तो हमारा परम सौभाग्य है। हमारी इच्छा है कि आचार्यके समक्ष अपने रूपकोंका अभिनय करायें।

द्वि० स०—महाराज गुणग्राहक हैं।

राज०—(हँसकर) गुणग्राहकताका प्रदर्शन तो 'राजा' लोग किया करते हैं। हम 'कवि'के रूपमें आत्मपरीक्षाके लिये अपनी कृतियाँ आचार्यचरणोंमें प्रस्तुत करनेके लिये उत्कण्ठित हैं।

(महामात्य सुमतिका प्रवेश)

सुमति—जय जीव देव !

राज०—आ गये महामात्य ! आचार्यके निवासकी उपयुक्त व्यवस्था तो हो गयी होगी ?

सु०—महाराज······(सिर झुका लेते हैं)

राज०—चुप क्यों हो गये महामात्य ! क्या आचार्य नहीं पधारे ?

सु०—(संकोचपूर्वक) नहीं, देव !

राज०—भेंट तो ले ली होगी ?

सु०—नहीं देव ! सभी स्वर्णमुद्राएँ लौटा दीं। भोज्य पदार्थोंमेंसे सात्त्विक वस्तुओंका वितरण छात्रोंमें कर दिया।

राज०—कारण ?

सु०—वे संन्यास लेना चाहते हैं।

राज०—संन्यास इसी आयुमें ?

सु०—इस जन्मकी आयुका उनकी दृष्टिमें कोई महत्त्व नहीं। जन्म-जन्मान्तरके अनुभव उनके स्मृतिपटलपर अंकित हैं देव ! वे केवल शास्त्रनिष्णात नहीं, अनुपम व्यवहारकुशल भी हैं।

राज०—(हँसकर) केरलके वयोवृद्ध महामात्यकी व्यवहार-बुद्धि एक बालकके समक्ष कुण्ठित हो गयी ?

सु०—आचार्य विधाताकी अनुपम सृष्टि हैं। उनकी वाणीमें मोहिनी है और मन्दस्मितिमें हृदयको स्वच्छता। यह सेवक तो अतृप्त श्रवणेन्द्रियसे सरस्वतीके उस अपूर्व पुत्रकी अमृतवाणीका पान करता रहा देव !

राज०—तो वैयक्तिक सुखके लिये केरलके स्वामिभक्त महामात्यने राजकार्यको विस्मृत कर दिया ?

(सब हँसते हैं, महामात्य सिर झुका लेते हैं)

राज०—हमने आपसे पहले ही कहा था महामात्य ! उनकी सेवामें स्वयं उपस्थित होना ही उचित था ।

सु०—मैं लज्जित हूँ, देव ! महाराजका विचार उपयुक्त था।

प्र० स०—आचार्यने क्या कहकर प्रत्याख्यान किया ?

राज०—यह चर्चा व्यर्थ है । हमारे मनमें यह दृढ़ विश्वास था कि वे नहीं आयेंगे । यदि वे आ जाते, तो हमें हर्षके स्थानपर कुछ और होता ।

द्वि० स०—तो फिर आचार्यका दर्शन.............

राज०—हम स्वयं आचार्यकी सेवामें उपस्थित होंगे ।

प्र० स०—इस अवस्थामें आचार्यका संन्यास........

राज०—नियम हम-जैसे साधारण मानवोंके लिये होते हैं। युगप्रवर्तक महापुरुषोंका कार्य नियमोंका निर्माण है। हम अनुभव कर रहे हैं कि आचार्यका जीवन राष्ट्रको किसी विशिष्ट दिशाकी ओर प्रेरित करेगा ।

सु०—मुझे भी यही प्रतीत होता है देव ! आचार्य असाधारण हैं, उनके जीवनमें घटित होनेवाली घटनाएँ भी असाधारण ही होंगी ।

राज०—निस्संदेह । यात्राका प्रबन्ध कीजिये महामात्य, हम कल ही आचार्यकी सेवामें प्रस्थान करना चाहते हैं।

सु०—जो आज्ञा, देव !

(नेपथ्यमें मन्दिरका घण्टा-दुन्दुभिवाद्यवादन)

राज०—संध्योपासनका समय हो चुका । आपलोग भी संध्योपासनसे निवृत्त हों ।

सु०—जो आज्ञा ।

(महामात्य और सभासद् जाते हैं)

राज०—द्वारपर कौन है ?

(द्वारपालका प्रवेश)

द्वारपाल—आज्ञा, देव !

राज०—स्नानगृहका मार्ग दिखाओ ।

द्वा०—इस ओर पधारें देव !

(दोनों जाते हैं)

(द्वितीय दृश्य)

स्थान—शंकर पण्डितकी कुटी

(राजशेखर, सुमति और शंकर)

शंकर—आपने बड़ा कष्ट किया, केरल-नरेश !

राजशेखर—आचार्य मुझे लज्जित कर रहे हैं। मैंने आचार्यको निमन्त्रण देनेका दुस्साहस किया था, उसी अपराधके परिमार्जनार्थ सेवामें उपस्थित हुआ हूँ ।

शं०—(हँसकर) हमें तो आशङ्का थी कि हमारा न आना कहीं केरलनरेशकी अप्रसन्नताका कारण न हो ।

सु०—आचार्यचरणोंका अपराधी यह सेवक है ।

शं०—(हँसकर) राजाकी रक्षाके लिये निरन्तर चिन्ताशील होना महामात्यका तो कर्तव्य ही है । अपरिचित स्थानपर राजनीतिक दृष्टिसे राजाओंका पदार्पण...।

राज०—आचार्यचरणोंमें राजा नहीं, राजशेखर उपस्थित हुआ है ।

शं०—केरलनरेशको शालीनता शोभा देती है । इस कुटीमें राजोचित आतिथ्य...।

राज०—आचार्यचरणोंका दर्शन लाभ ही इस कुटीके अतिथियोंका सर्वाधिक सत्कार है ।

शं०—शिष्टाचार तो हो चुका । कहिये, किस प्रयोजनसे आपने कष्ट किया ?

राज०—आचार्यचरणोंका धवल यश ही मेरी उपस्थितिका कारण है । पुष्पका सौरभ चंचरीकके लिये सहज निमन्त्रण हुआ करता है ।

शं०—कवि-हृदय पाया है केरलनरेशने । (मुस्कराकर) हम और आप सभी इस लोकके समान घटक हैं, हममें कौन छोटा और कौन बड़ा । किसी महान् लक्ष्यकी पूर्तिके साधनमात्र हैं हमलोग ।

राज०—सत्य है । फिर भी आचार्य संन्यास ले रहे हैं ?

शं०—संसार-त्यागके लिये संन्यास लेना हमें अभीष्ट नहीं है । जर्जर मानवताके कल्याणके लिये आज संसारको लोकसंग्रही सेवकोंकी आवश्यकता है । हम उसी आवश्यकतापूर्तिके निमित्तमात्र बनना चाहते हैं ।

सु०—हमलोगोंको भी तो सेवाका अवसर दीजिये ।

शं०—अवसर आनेपर यह भी होगा महामात्य ! वैसे तो आज ऐसे भिक्षुओंका अभाव नहीं, जो अपने विशिष्ट मतोंके प्रचारके लिये राजाओंके अन्तःपुरतकमें प्रविष्ट हो जाते हैं और श्रमण गृहस्थोंको राजशासनका अङ्ग बना डालते हैं । उसके पश्चात् संसारसे कहते हैं—'राजा हमारा है, उसका आँगन हमारा है । हमारे मतका आदर करो, वैदिक मतका नहीं ।'

(राजशेखर और सुमति हँसते हैं)

सु०—तो आचार्य इसीलिये राजधानीमें नहीं पधारे ?

शं०—यही कारण था । हमें राजाश्रय लेकर किसी मतका तो प्रचार नहीं करना है ।

राज०—मेरा निमन्त्रण तो सरल था, आचार्य !

शं०—यह सत्य है; परंतु हम अपने जीवनकी भूमिकाको सन्दिग्धरूपमें चित्रित नहीं करना चाहते । सम्भव था कि

प्रचार-पटु बौद्ध राजधानीमें हमारे आगमनको राजनीतिक रूप दे डालते ।

राज०—सर्वथा सम्भव था ।

शं०—भगवान् तथागतने आत्मा-परमात्मा-जैसे विषयोंपर मौनका अवलम्बन किया था। उनके समयका समाज आचार-शून्य होकर इन्द्रिय-गोचर विषयोंपर पाण्डित्य-प्रदर्शनके लिये तर्कमात्र करता था। समाजको व्यावहारिक आचार-धर्मकी आवश्यकता थी, तथागतने इसकी पूर्ति की।

सु०—परंतु बौद्धोंने तो·····।

शं०—तथागतके मौनको विरोध मानकर वैदिक विचार-परम्परापर ही कुठाराघात कर डाला। यही नहीं, राज्यत्यागी गौतमके अनुयायी राज्यलिप्सामें पड़कर बर्बर विदेशी आक्रान्ताओंके गुप्तचर भी बने।

राज०—यह सर्वथा सत्य है, आचार्य !

शं०—इन विकट-बुद्धि बौद्धोंके मायाजालका उच्छेदन मानवताकी आवश्यकता है, हम इसीलिये संन्यासग्रहणके इच्छुक हैं। भारतभूमिकी सांस्कृतिक एवं राष्ट्रिय एकतामें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा करना है।

राज०—आचार्यका संकल्प क्या है ?

शं०—इच्छा है कि भगवान् गोविन्दपादके चरणोंमें बैठकर उपनिषदोंके अद्वैतज्ञानका अनुशीलन करें। संदेहोंकी निवृत्ति ही मनुष्यको कर्मठ बनाती है।

राज०—कहाँ हैं भगवान् गोविन्दपादाचार्य ?

शं०—नर्मदाके तीरपर कहीं समाधिमग्न हैं। उन्होंने व्यासदेवके ब्रह्मसूत्रोंका अध्ययन श्रीगौडपादाचार्यसे किया है। अद्वैतवादका प्रचार ही निरन्तर संघर्षमें आकण्ठमग्न वर्गोंमें एकता स्थापित करेगा।

राज०—आचार्य केरलका परित्याग कब कर रहे हैं ?

शं०—माँसे अनुमति मिल जानेपर ही संन्यास-धर्म अङ्गीकृत किया जा सकेगा।

सु०—मिल जायेगी अनुमति ?

शं०—(हँसकर) ईश्वरेच्छामें कौन बाधा डाल सकता है। (राजशेखरसे) आज तो आप आतिथ्य स्वीकृत करेंगे ही। निश्चिन्त होकर सायंकालको आपके रूपक सुने जायँगे।

सु०—आचार्यको रूपकोंकी चर्चाका स्मरण रहा।

शं०—दो दिन पूर्व ही तो आपने चर्चा की थी। आइये चलें, आपलोगोंके विश्रामकी व्यवस्था उस ओर है। माँ आपका आतिथ्य करेंगी।

राज०—जो आज्ञा।

(सब जाते हैं)

(तृतीय दृश्य)

स्थान—शंकराचार्यका निवास

(शंकर और उनकी जननी आर्यम्बा)

शंकर—अब तो तुम मुझे संन्यास लेनेकी अनुमति दे चुकीं, माँ !

आर्यम्बा—(रुष्ट होकर) फिर तुझे वही धुन सूझी ?

शं०—तुम तो जानती हो माँ ! कि मेरा मन अब इन विद्यार्थियोंके पढ़ानेमें नहीं लगता।

आ०—ब्राह्मणका पुत्र होकर यदि तू अध्यापन-कार्य न करेगा, तो क्या करेगा ?

शं०—अध्यापन तो जीवनभर करूँगा, परंतु संन्यासी होकर। संन्यासके लिये तुम्हारी अनुमति भी मिल गयी है।

आ०—(दुखी होकर) उसे अनुमति कहते हैं ?

शं०—और कैसी होती है अनुमति ?

आ०—जब तू आलवाई नदीमें ग्राहका ग्रास बन रहा था, तब उद्वेगमें न जाने मैं क्या कह गयी।

शं०—यही तो कहा था—'तू मोक्षका अधिकारी हो सके, अतएव संन्यास-ग्रहणके लिये तुझे मेरी अनुमति है।'

आ०—अच्छा छोड़ यह चर्चा। तूने अबतक दूध नहीं पिया, अब क्या वह उष्ण रहा होगा ?

शं०—दूध तो जन्मसे ही पिया है माँ ! अब तो संन्यास चाहिये। तुम अपने बालकका मन नहीं रख सकतीं ?

आ०—तू तो बच्चा भी है और बूढ़ा भी। जब मन होता है, मचलने लगता है और जब इच्छा होती है, पाण्डित्य बघारता है।

शं०—(गद्गद होकर) बचपन और पाण्डित्य सब तुम्हारा ही तो प्रसाद है माँ ! इस शरीरकी सृष्टि तो तुमने ही की है।

आ०—(प्रसन्न होकर) बस, अब बन गया मातृभक्त। जब घर छोड़नेकी बात करता है, तब तेरी मातृभक्ति कहाँ चली जाती है ?

शं०—घर छोड़नेपर क्या तुम्हारी मूर्ति मेरे मानससे दूर हो जायगी माँ ? माता और पुत्रके सम्बन्धको भी क्या स्थानकी निकटता अपेक्षित है ?

आ०—(उच्छ्वास लेकर) तू माँके हृदयको क्या जाने। वर्षों देवाधिदेव शंकरकी उपासना करके मैंने तुझे पाया है और तू संन्यासके पीछे पड़ा है।

शं०—और 'वह 'सर्वज्ञ' अथवा 'मूर्ख' पुत्रवाली बात क्या थी !

आ०—शान्तं पापम् ! क्यों अमङ्गलकी चर्चा करता है ?

शं०—(मचलकर) नहीं माँ, बताओ।

आ०—अनेक बार तो बता चुकी हूँ, छेड़ता है मुझे।

शं०—बालक हूँ, भूल जाता हूँ। तुम्हें मेरी सौगन्ध…

आ०—(डाँटकर) फिर सौगन्ध दिलायी।

शं०—(हँसकर) अब तो बताओगी, बताओगी। मेरी सौगन्ध……

आ०—अच्छा बताती हूँ बाबा ! तेरे पिताने एक दिन स्वप्नमें देखा……

शं०—क्या देखा ?

आ०—कह तो रही हूँ। यह देखा कि भगवान् पिनाकपाणि कह रहे हैं—'मूर्ख पुत्र चाहते हो या सर्वज्ञ ? यदि मूर्ख चाहो तो दीर्घायु होगा और सर्वज्ञकी इच्छा हो तो अल्पायु रहेगा।'

शं०—फिर ?

आ०—तेरे स्वर्गीय पिताने कहा—'देवाधिदेव ! मूर्ख पुत्रका मैं क्या करूँगा ? अल्पायु ही सही; मुझे सर्वज्ञ पुत्र चाहिये।'

शं०—अहा ! कैसे पुण्यचरित्र थे आर्यचरण। मुझे तो उनका लेशमात्र भी स्मरण नहीं।

आ०—(साश्रुनयन होकर) जीवन्मुक्त थे आर्यपुत्र। उनके गोलोकवासके समय तू केवल तीन वर्षका ही तो था।

शं०—तो पितृचरण मुझे सर्वज्ञ देखना चाहते थे ?

आ०—यह उनकी उत्कट अभिलाषा थी।

शं०—और तुम्हारी ?

आ०—मेरी इच्छा उनकी इच्छासे भिन्न कब है ?

शं०—तो फिर मुझे संन्यास लेने दो। संन्यासी होकर ही मैं सर्वज्ञ हो सकूँगा।

आ०—संन्यास लेना वृद्धोंका कार्य है।

शं०—और जो अल्पायु हो ?

आ०—शंकर ! तू मेरा हृदय न दुखा।

शं०—मैं तुम्हें दुखी नहीं करता माँ ! परंतु मृत्युपर विजय प्राप्त करना चाहता हूँ ! कालके लिये भी हमारे वंशका यश अविनाश्य रहे, यह तो तुम्हारी इच्छा होगी ?

आ०—वेदपाठीका पुत्र होकर तू वर्णाश्रमधर्मका उल्लङ्घन करेगा ?

शं०—वर्णाश्रमधर्मका पालन तो मनकी परिपक्वताका साधनमात्र है। जिसके मनमें जन्मसे ही सत्यके लिये तीव्र पिपासा हो, उसके लिये ये सर्वसामान्य नियम नहीं।

आ०—गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हुए बिना ही तू संन्यासी कैसे बनेगा ?

शं०—जैसे बालयोगी शुकदेव हुए थे।

आ०—तुझसे तर्कमें कौन पार पाये ? आर्य माता-पिता यह चाहते हैं कि उनके संतान हो, जिसकी गोदमें सिर रखकर वे कृष्णनामोच्चारण करते हुए अन्तिम श्वास लें और जो अपने हाथों उनकी अन्त्येष्टि करे, श्राद्धोदक क्रियाका कर्ता हो।

शं०—इतनी-सी बात है। संन्यास लेनेपर भी मैं तुम्हारे वैकुण्ठवासके समय तुम्हारे चरणोंमें रहूँगा, अन्त्येष्टि करूँगा; श्राद्धोदक क्रियाका निर्वाह करूँगा।

आ०—(हँसकर) क्यों बहकाता है मुझे ? कहीं संन्यासीने भी कभी माता-पिताकी अन्त्येष्टि की है ?

शं०—न की हो; शंकर करेगा।

आ०—तेरे लिये शास्त्रोंके बन्धन……

शं०—शास्त्रोंके ऐसे बन्धन उन संन्यासियोंके लिये हैं, जो संन्यस्त जीवनसे उद्विग्न होकर गृहस्थ-जीवनकी ओर भागते हैं। सत्यधर्म संन्यासियोंके लिये शास्त्रोंके ये बन्धन नहीं।

आ०—तू सत्य कह रहा है, शंकर !

शं०—(माँके चरणोंका स्पर्श करते हुए) मैं चरण छूकर सौगन्ध खाता हूँ, माँ !

आ०—(गम्भीरतापूर्वक) मैंने तेरे संन्यास लेनेपर विचार किया है, परंतु तेरे पिताका स्वप्न और दैवज्ञोंकी भविष्यवाणी……

शं०—(हँसकर) तुम निश्चिन्त रहो माँ ! तुम्हारी श्राद्धोदक क्रिया किये बिना शंकरकी मृत्यु न होगी। काल मेरे समीप फटकने तकका साहस न करेगा।

आ०—ईश्वर करे, तेरे वचन सत्य हों।

शं०—तुम्हारे आशीर्वादसे। अब तो संन्यास लेनेकी अनुमति है।

आ०—जो ईश्वरेच्छा, तेरा कल्याण हो।

(पटाक्षेप)

दो विभिन्न दृश्योंकी झलक

(रचयिता—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम')

ले गई जो साथ मुझको एक दिन,
कल्पना रस-काव्यके बाजारमें।
रँग-बिरंगे दृश्य थे इतने अधिक,
क्या कहूँ क्या-क्या वहाँ देखा सुना ॥ १ ॥

लालकी माला अधरपर धर इधर,
मुस्कुराहट थी कहीं मन मोहती।
हार हीरोंके दिखाकर दाँत भी,
थे उधर बरबस हृदय हरते कहीं ॥ २ ॥

मोतियोंकी गालपर लड़ियाँ लगा,
आँसुओंने भी धरी दूकान थी।
रत्न कितने ही विलापोंके जहाँ,
सिसकियोंके तारमें थे गुँथ रहे ॥ ३ ॥

पारखी बैठे कहीं थे देखते,
रंग मूँगोंका नखोंमें ध्यानसे।
देखते बारीकियाँ भी थे कहीं,
खुर्दबीनोंसे कमरके जौहरी ॥ ४ ॥

थे कहीं सौदे दिलोंके हो रहे,
भाव थीं आँखें कहीं बतला रहीं।
छुट रही थीं लाजकी गाँठें सभी,
थैलियाँ थीं खुल रही अनुरागकी ॥ ५ ॥

था कहीं शृंगारका सट्टा खुला,
साख थी बैठी जहाँ सौंदर्यकी।
पूँजियाँ थीं नाज़नखरोंकी जहाँ,
मोल होता था दिलोंका थोकमें ॥ ६ ॥

भीड़ भारी थी रसिकताकी यहाँ,
था यहाँ आवेगका घमसान-सा।
भाव थे खुलते इशारोंमें जभी,
धैर्य था अपना दिवाला काढ़ता ॥ ७ ॥

औ' सुकवि प्रतिभा वहीं कागज़ लिये,
खास रोकड़िया बनी रस-काव्यकी।
लिख रही थीं नित्य ब्योरेवार वह,
प्रीतिके व्यापारका लेखा सभी ॥ ८ ॥

ब्याज निंदा औ प्रशंसापर लगा,
थे अलंकारादि रक्खे जा रहे।
भर रही अल्मारियाँ थीं काव्यकी,
था गगन अति गुंजरित झनकारसे ॥ ९ ॥

इस तरह बाज़ार सारा घूमकर,
थक गया मैं चाहता विश्राम था।
दूरपर देखा तपोवन त्यागका,
थी जहाँ मातृत्वकी छाया घनी ॥ १० ॥

बह रही थी स्नेहकी गङ्गा वहाँ,
थी प्रबल धारा बड़ी वात्सल्यकी।
औ, उमंगोंकी तरंगें भी वहीं,
उठ उड़ातीं प्यारकी बौछार थीं ॥ ११ ॥

चढ़ रही थीं भक्ति-मालाएँ मृदुल,
और श्रद्धाकी धरी थी आरती।
पूज्य आदर-भावसे देखा वहाँ,
झुक रहा था शीश मानव-जातिका ॥ १२ ॥

लोक-सेवा भी उसी आदर्शसे,
पाठ पढ़ती थी स्वयं निःस्वार्थका।
औ, कठिन कर्तव्य-पालनकी सभी,
साधनाएँ थी वहीं वह सीखती ॥ १३ ॥

देख यह अभिराम धाम 'ललाम' मैं,
शुद्ध चित्त प्रणाम कर पुलकित हुआ।
दूर कर सारी थकावट फिर वहीं,
मैं वहीं विश्राम फिर करता रहा ॥ १४ ॥

कला

(लेखक—श्रीशिवशङ्करजी अवस्थी शास्त्री, एम्० ए०)

अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥
देशकालपदार्थात्म यद्यद्वस्तु यथा यथा ।
तत्तद्रूपेण या भाति तां श्रये संविदं कलाम् ॥[1]

सम्पूर्ण व्यक्त प्रपञ्च तथा उसके अन्तरालमें निहित सुप्रसिद्ध अव्यक्त स्तरोंकी समग्र स्थूल-सूक्ष्म भाव-राशि, महाशक्ति, महेश्वर अथवा परब्रह्मकी परिच्छिन्न-संकुचित शक्तियोंकी संघटनामात्र है[2]। उस अद्वितीय अखण्ड महासत्ता (परमात्मा) के हृदयरूपी रङ्गमञ्च (अन्तरात्मा) पर अहरह विविधवर्ण वैचित्र्यमय महानाट्य प्रवर्तित होता रहता है। अज्ञात शक्तियाँ गर्भ-गृहमें नर्तक आत्माको विलासमयी सज्जा-सामग्रीसे सम्पन्न करके अभिनय योग्य स्थूल रूप प्रदान करती हैं। जिन महाभाग्यशाली जनोंका सत्त्व शुद्ध हो चुका है, वे मनश्चक्षु धीर पुरुष ही दर्शकोंकी वीथीमें प्रविष्ट होकर लीलामात्र पर्यवसायी कलामय त्रैलोक्य-नाटकसे[3] उत्पन्न अलौकिक रसामृतका आस्वादन कर सकते हैं।

स्वरूप-विश्रान्तिके अनन्तर अद्वितीय एक निष्कल तत्त्वके विबोधरूपी समुद्रमें अगणित जल-कणिकाओंके तुल्य अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंकी बीजावलीको गर्भमें लिये हुए महोर्मिके सदृश अहं-विमर्शरूप परा कलाका उदय होता है। 'अ' से लेकर 'ह' तक सम्पूर्ण वर्ण भट्टारकों एवं कला-मूर्तियोंकी जननी प्रत्याहाररूपिणी परा कला ही पूर्ण अहंताके[1] नामसे प्रसिद्ध है। भगवान् शङ्कराचार्यने 'आनन्द-लहरी' नामक रहस्यमय स्तोत्रमें अहंतारूपिणी कलाकी साकार मूर्ति[2]का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। सूक्ष्म तथा वासनामय रूपोंकी जानकारीके लिये 'आनन्द-लहरी' की विभिन्न टीकाएँ देखी जा सकती हैं।

'विन्दते (विद्लृ लाभे—तुदादि) विसर्ग व्यापारार्थे बीजात्मकसूक्ष्मोपादानतां लभते इति विन्दुः तत्सम्बन्धिनी' इस व्युत्पत्तिद्वारा पूर्वोक्त कला वैन्दवी कलाके नामसे भी कही जाती है। समस्त ज्ञेयांशोंका अतिक्रमण करके ज्ञान-स्वरूपा वैन्दवी कला, चरणोंके आक्रमणको न सहनेवाली उत्तरोत्तरगामिनी सिरकी छायाके सदृश ज्ञेयके अभावमें भी सर्वदा वर्तमान रहती है[3]। जीव और जगत्के अन्तस्तटमें सतत निरिन्धन जाज्वल्यमान तथा अनन्त आश्चर्यमयी मरीचिमालाओंकी विकास-भूमिरूपा वैन्दवी कला ही सुप्रसिद्ध

---

१. (क) अर्थात् संशयरूपी समुद्रसे तारिणी शक्तिके समान पार उतारनेवाली, मातृका-मालिनी आदि शक्तियोंद्वारा प्रसूत, रहस्यपूर्ण विलक्षण अर्थ और पदोंसे संयुक्त, आश्चर्यभूमि उस शाम्भवी अनुग्रह शक्तिकी वाणीको मैं प्रणाम करता हूँ।

—स्पन्दकारिका

(ख) देश, काल और पदार्थस्वरूप विभिन्न वस्तुओंके रूपमें आभासित होनेवाली संवित् कलाका मैं आश्रय लेता हूँ।

—योगिनी हृदयतन्त्र

२. स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्।
(शिवसूत्र, तृतीय उन्मेष, ३०)

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥

—श्रीसर्वमङ्गलातन्त्र

३. विसृष्टाशेषसद्बीजगर्भं त्रैलोक्यनाटकम्।
प्रस्ताव्य हर संहर्तुं त्वत्तः कोऽन्यः कविः क्षमः ॥

—भट्ट श्रीनारायण

नर्तक आत्मा। ९। रङ्गोऽन्तरात्मा। १०। प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि। ११।

—शिवसूत्र

योगिनश्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि हि संसारनाट्यप्रकटनप्रमोद-निर्भरं स्वस्वरूपम् अन्तर्मुखतया साक्षात्कुर्वन्ति तत्प्रयोगप्रसङ्ख्या विगलितविभागं चमत्काररससम्पूर्णतामापादयन्ति।

—श्रीक्षेमराज

१. प्रत्यवमर्शात्मासौ चितिः स्वरसवाहिनी परा वाच्या।
आद्यन्त प्रत्याहृतवर्गगणा सत्यहन्ता सा ॥

—विरूपाक्षपञ्चाशिका

२. क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान्पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहो पुरुषिका ॥

—आनन्दलहरी

३. स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं वैन्दवी कला ॥

—श्रीतन्त्रसार

संविदग्नि है, जिसमें योगीलोग 'पृथ्वी' से लेकर 'शिव' पर्यन्त ३६ तत्त्वमय विश्वका हवन करते रहते हैं—

अन्तर्निरन्तरनिरिन्धनमेधमाने
मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ ।
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूमौ
विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम् ॥

—सौभाग्यभास्कर

कलाका यह सर्वोत्कृष्ट रूप है। सौन्दर्य, गति या क्रिया और भेद ये ही इसके मौलिक अर्थ हैं। शताब्दियोंके अनन्तर आज भी कला वर्गके मूलमें हम इन्हीं अर्थोंको निहित पाते हैं। कलाके ये अर्थ औपचारिक या आरोपित हों ऐसी बात नहीं है; ईश्वरेच्छाद्वारा इङ्गित तत्तत् अर्थोंकी प्रत्यायिका शक्ति कलाके संघटक वर्णोंमें ही विद्यमान है। देखिये—

क—शास्त्रोंमें यह कामाक्षरके नामसे प्रसिद्ध है। काम सौन्दर्यका अभिमानी देवता है अतः कवर्णमें सौन्दर्यार्थ स्वतः निहित है—

'कः कामदेव उद्दिष्टोऽप्यथवा कृष्ण उच्यते ।'

—वरदातन्त्रोक्त मन्त्रार्थाभिधान

'कामाक्षरं धरासंस्थं रतिबिन्दुविभूषितम् ।'

—बीजाभिधान

'कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा ।'

—यास्कीय निरुक्त, दैवतकाण्ड

नन्दिकेश्वर-काशिकामें ककारको प्रकृतिका जनक कहा गया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव सर्वेषामेव सम्मतम् ।
सम्भूतिमिति विज्ञेयं क-प-य् स्यादिति निश्चितम् ॥
ककारपकारजातौ प्रकृतिपुरुषावित्यर्थः[2] ।

—उपमन्यु

स्कन्दपुराणान्तर्गत माहेश्वरखण्डस्थ कुमारिकाखण्डमें ३३ व्यञ्जन वर्णोंको ३३ देवताओंका प्रतीक माना है। ककार द्वादश आदित्योंमेंसे एक है—

ककाराद्या हकारान्तास्त्रयस्त्रिंशच्च देवताः ।
ककाराद्याष्टकारान्ता आदित्या द्वादश स्मृताः ॥

(अध्याय ३ । २५९)

ककार पृथ्वीतत्त्वका भी वाचक है—

पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात्कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥

—परात्रिंशिका ६

कादि हान्तं धरादि नभोऽन्तं भूतपञ्चकम् ।

—आचार्य अभिनवगुप्त

श्रुति भगवती कहती है—

यदीं शृणोति अलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ।

'क्लीं' इस कामबीजके अन्तर्गत ल और क से रहित केवल 'ईं' इस कामकलामात्रको जो सुनता है वह सुकृत अर्थात् पुण्योंद्वारा अर्जित उत्तम भोग लोकोंको नहीं प्राप्त होता किंतु मुक्त हो जाता है[2]।

उपर्युक्त प्रमाणोंके आधारपर ककारका निम्नलिखित अर्थ किया जाना अनुचित न होगा—

'सौन्दर्यात्मक क्रियाशील प्रेरणादायक शक्ति[1] ।'

ल—इसी प्रकार लकारका[3] वर्णन चन्द्र, वसु, पृथ्वी और किञ्चित्कर्तृत्वरूप कलाके अर्थमें पाया जाता है। सच तो

---

१. अर्थवन्तो वर्णाः । धातुप्रातिपदिक प्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् । धातव एकवर्णाः अर्थवन्तो दृश्यन्ते । प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति । निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः ।

—महाभाष्य

२. प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥

—सांख्यकारिका

१. सृ गतौ—भ्वादि, षू प्रेरणे—तुदादि—सरति आकाशे, सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति वा सूर्यः ।

२. ईकारमात्रश्रवणं तु लकारककाररहित्येन श्रवणं अतत्त्वज्ञान् सुकृतस्य सत्कर्मणः पन्थानमुत्तमलोकमन्नायाति किंतु निर्गुणे शानस्यैव लोकं प्राप्नोति । कामबीजमात्रेण त्रिवर्गः ! कामकलामात्रेण तु मोक्ष इति पर्यवसितोऽर्थः ।

—सौभाग्यभास्कर

३. लश्चन्द्रः पूतना पृथ्वी माधवः शक्रवाचकः ।

—तन्त्राभिधान

भकाराद्याः षकारान्ता अष्टौ हि वसवः स्मृताः ।

—स्कन्दपुराण

यादयो वकारान्ता रागविद्याकलामायाख्यानि तत्त्वानि ।

—परात्रिंशिकाविवरण

यह है कि लकारसे सम्पूर्ण स्थूल पार्थिवमण्डलका बोध होता है और ककारसे सूक्ष्म कामात्मक सृष्टिकर्ताका। कादि विद्याके वाग्भव, कामराज और शक्ति इन त्रिकूटोंका गायत्री मन्त्रके साथ समन्वय करते हुए त्रिपुरातापिनी उपनिषद्में कहा गया है—

स एप निरञ्जनोऽकामत्वेनोज्जृम्भते अकचटतपयशान् सृजते। तस्मादीश्वरः कामोऽभिधीयते। तत्परिभाषया कामः ककारं व्याप्नोति। काम एवेदं तत्तदिति ककारो गृह्यते।

काठिन्याढ्यं ससागरं सपर्वतं ससप्तद्वीपं सकाननमुज्ज्वलद्रूपं मण्डलमेवोक्तं लकारेण।

वस्तुतः वाच्य-वाचक अर्थात् अर्थ और शब्दमें तनिक भी विभेद नहीं। शब्दमें सांकेतिक अर्थ पहलेसे ही विद्यमान रहता है—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।

—मीमांसादर्शन

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।

—वाक्यपदीय काण्ड २। ३१

वर्णके जिस रूपको हम देखते या सुनते हैं, वह वर्णाधिष्ठातृ शक्तिका क्रमशः स्थूलतम और स्थूलतर रूप है। इसके पीछे करचरणादिविशिष्ट देवतारूप तदन्तर्गत सूक्ष्म मातृकामय, तदधिष्ठातृ वासनामय रूपकी स्थिति मानी गयी है। इन्हीं शब्द-शक्तियोंद्वारा ही विश्वका निर्माण होता है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते॥

—भर्तृहरि

सर्वा अप्यर्थजातयः सूक्ष्मरूपेण शब्दाधिष्ठानाः ताः किल अभिव्यक्तिमधिष्ठानपरिणामेन प्रतिलभमाना वाच्यवाचकभावरूपेण भेदेन प्रतीयन्ते। एवं ह्याह—वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति वागेवार्थं सन्निहितं सन्तनोति। वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते इति।'

—पुण्यराज

सम्पूर्ण अर्थसमुदाय सूक्ष्मरूपसे शब्दमें ही सन्निहित रहता है। चराचर जगत्रूप अर्थका अधिष्ठान शब्द जब परिणामको प्राप्त होता है, तब नानाविध अर्थोंकी अभिव्यक्ति होती है और यह अभिव्यक्ति नाम और रूपात्मक भावसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। जैसा कि कहा है—'वाणी ही अर्थको देखती है, वाणी ही बोलती है और वही अपनेमें लीन अर्थको प्रसारित भी करती है। नानारूप यह विश्व शब्दसे ही आबद्ध है, वह एक शब्दरूप ब्रह्म ही अपना विभाग करके उपभोग कर रहा है।

वर्ण, जिसे हम सामान्य ध्वनिमात्र समझते हैं, अपने अन्तरालमें शक्तिके महान् स्रोतको समेटे रहता है। इस शक्तिके स्रोतमें अवगाहन करना वर्ण-संस्कारके बिना सर्वथा असम्भव है। तत्त्वदर्शियोंने वर्णके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपोंकी खोज की थी—

१. वासनामय पररूप—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥

—वाक्यपदीय आगमकाण्ड

सोऽयं वाक्समाम्नायो वर्णसमाम्नायः पुष्पितः फलितः
चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः॥

—महाभाष्य

२. इस मन्त्रका अधियज्ञ, अधिदैव तथा अध्यात्मपरक अर्थ प्रसिद्ध है। आचार्य शाकपूणिने अक्षर शब्दसे अविनाशी प्रणवरूप अक्षरका ग्रहण किया है। अधिदैव अर्थमें ऋचासे आदित्यमण्डल, अक्षरसे हिरण्मय पुरुष और देवसे रश्मियोंका बोध होता है। परम व्योम शब्द भी विज्ञानसे भरा हुआ है। आपोमण्डल, क्षीरसागर, भर्ग, तेज, ब्रह्म रन्ध्र, भगवतीशक्ति आदि अर्थ इससे गृहीत हुए हैं। ब्रह्मसूत्रके श्रीकण्ठीय शैवभाष्यपर शिवार्कमणिदीपिका लिखते हुए अप्पय्य दीक्षितने 'आनन्दवल्ली' के अन्तर्गत अन्नमयादि क्रमसे आये हुए आनन्दमय शब्दका परम व्योमरूप चित् शक्तिके अर्थमें व्याख्यान किया है। यह आकाश ही ब्रह्मका शरीर अथवा आयतन है—

'पुराणादिषु परमाकाशशब्देन प्रसिद्धा शैवी चिच्छक्तिरवसीयत इति।' 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।' आकाश शरीरं ब्रह्म, इत्यादौ ब्रह्मणः शरीरानन्दादि रूपायां शक्तौ प्रयोगो दृष्टः। वेदोपबृंहणे च श्रीकूर्मपुराणे—यस्य सा परमा देवी शक्तिराकाशसंज्ञिता। अनन्तैश्वर्ययोगात्मा महेशो दृश्यते किल॥

'ऋचाओंके जिस परम व्योमरूप अक्षर-अक्षरमें देवताओंका निवास रहता है उस देवाधिष्ठित पराकाशरूप अक्षर या वर्ण-तत्त्वको जो नहीं जानता वह ऋचामात्रसे क्या करेगा। और जो लोग इसे जानते हैं वे देवस्वरूप हो जाते हैं।'

(ऋग्वेद १। १६४। ३९)

२. मन्त्रमय सूक्ष्मरूप—

पञ्चाशन्निजदेहजाक्षरमयैर्नानाविधैर्धातुभि-
र्वह्वर्थैः पदवाक्यमानजनकैरर्थाविनाभाविभिः।
साभिप्रायवदर्थकर्मफलदैः ख्यातैरनन्तैरिदं
विश्वं व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे मातृके॥

—शक्तिस्तोत्र (दुर्वासाः)

नानार्थक, पद और वाक्योंकी स्वरूपरचना करनेवाले, अर्थसे सर्वदा मिले-जुले, कर्मके फलरूपमें अभीष्ट अर्थको देनेवाले, स्वदेहसे उत्पन्न पचास अक्षरोंसे निर्मित, नानाविध अनन्त विख्यात धातुओंसे इस विश्वको व्याप्त करके चिदात्मारूपसे मातृके! तू-ही-तू विराजमान है।

३–देवतारूप—

क– जपायावकसिन्दूरसदृशीं कामिनीं पराम्।
चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च बाहुवल्लीविराजिताम्॥
कदम्बकोरकाकारस्तनद्वयविभूषिताम्
रत्नकङ्कणकेयूरै रङ्गदैरुपशोभिताम्।
रत्नहारैः पुष्पहारैः शोभितां परमेश्वरीम्॥
एवं हि कामिनीं ध्यात्वा ककारं दशधा जपेत्॥

—कामधेनुतन्त्र

ल– चतुर्भुजां पीतवस्त्रां रक्तपङ्कजलोचनाम्।
सर्वदा वरदां भीमां सर्वालङ्कारभूषिताम्॥
योगीन्द्रसेवितां नित्यां योगिनीं योगरूपिणीम्।
चतुर्वर्गप्रदां देवीं नागहारोपशोभिताम्।
एवं ध्यात्वा लकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत्॥

—कामधेनु०

उपर्युक्त दो श्लोकोंमें ककार एवं लकारनिष्ठ देवताओंके स्वरूप तथा जपकी चर्चा की गयी है। कितना आश्चर्य है कि हम जिन वर्णों एवं तज्जन्य पदों और वाक्योंको मनुष्यकी भावाभिव्यक्तिका माध्यममात्र समझते हैं, उनमें कितना वैज्ञानिक रहस्य छिपा हुआ है[1]।

सार्थक वर्णोंसे ही धातुओंका निर्माण होता है, जिनके द्वारा विशेष वर्णसंघटना विशेष अर्थोंमें बँध जाती है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें भेद, ज्ञान, गणना, क्रिया और शब्द आदि तत्तद् अर्थोंसे युक्त 'क' और 'ल' इन वर्णोंद्वारा निम्नोक्त धातुओंकी रचनाका संधान किया जा सकता है—

१. कल शब्दसंख्यानयोः—भ्वादिगण
२. कल क्षेपे —चुरादिगण
३. कल गतौ संख्याने च —चुरादिगण

ये धातुएँ कलागत सांकेतिक अर्थोंको अधिक स्पष्ट करके जनसमुदायके बीच प्रचलित करती हैं। यहाँ कलाके विभिन्न अर्थोंको शास्त्रीय परम्पराओंके अनुसार संकलित करना अनुचित न होगा।—

काश्मीरीय षडर्धशासनमें ३६ तत्त्वोंके अन्तर्गत पञ्च कञ्चुकोंमें कलाका निर्देश पाया जाता है। श्रीक्षेमराजने 'योनिवर्गः कला शरीरम्' इस 'शिवसूत्र' की विमर्शिनीमें,

---

'शक्तिः शरीरमधिदैवतमन्तरात्मा ज्ञानं क्रिया करणमासनजालमिच्छा।
ऐश्वर्यमावरणमायतनानि च त्वं किं तन्न यद्भवसि देवि शशाङ्कमौलेः॥'
'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' इति तत्पूर्वमन्त्रप्रकृतां परमव्योमशब्दितां शैवी शक्तिं परामृश्य पञ्चम्या तस्यास्समस्तजगदुपादानत्वप्रतिपादनात् तस्याः मृद इव विकारित्वं सृजत इति…।

—आनन्दलहरीचन्द्रिका (अप्पय्यदीक्षित)

अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वा वाक्क्षयो भवति वाचोऽक्ष इति वा

—निरुक्त

अक्षरं न क्षरं विद्यात् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्।

—महाभाष्य

१. आधुनिक भाषाविज्ञान कितनी ही खोजबीनके पश्चात् भी भाषाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें दृढ़ एवं संशयरहित तथ्योंका संकलन नहीं कर सका है। मेरा यह निश्चित मत है कि हमारे पूर्वज मनीषी भाषाकी उत्पत्तिके प्राकृतिक क्रमको जानते थे और इसीके आधारपर वे इस विश्व-ब्रह्माण्डके मूलमें सतत अनुस्यूत अव्यक्त अनाहत नादसे लेकर श्रुतिगोचर शब्दोंका दार्शनिक एवं व्यावहारिक मान स्थिर करनेमें सफल हो सके थे।

२. ३६ तत्त्व—

शान्त्यतीता कला { १ शिव, २ शक्ति

शान्ति कला { ३ सदाशिव, ४ ईश्वर, ५ शुद्ध विद्या

संसारकी समस्त चराचर वस्तुओंमें प्रविष्ट संकुचितकर्तृत्व-सामर्थ्यमयी क्रियाशक्तिके रूपमें कलाका उल्लेख किया है। यह शक्ति आणव, मायीय और कार्म मलोंमेंसे अन्तिम मल-द्वारा पुरुषके ऐश्वर्यको संकुचित रूपमें प्रकट करती है—

'कलयति स्वस्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापारः।'

—विमर्शिनी

कला कर्तृत्वसामर्थ्यं किञ्चिन्मात्रं प्रकीर्तितम्।

—श्रीमद्भट्ट भास्कराचार्य

विद्या कला:
६ माया
७ काल
८ कला
९ विद्या
१० नियति—
११ राग
१२ पुरुष

प्रतिष्ठा कला:
१३ प्रकृति
१४ बुद्धि
१५ अहङ्कार
१६ मन
१७ श्रोत्र
१८ त्वक्
१९ चक्षु
२० जिह्वा
२१ नासिका
२२ वाक्
२३ पाणि
२४ पाद
२५ पायु
२६ उपस्थ
२७ शब्द
२८ स्पर्श
२९ रूप
३० रस
३१ गन्ध
३२ आकाश
३३ वायु
३४ तेजस्
३५ जल

निवृत्ति कला = ३६ पृथ्वी

सर्वकर्तृताशक्तिः संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम॥

—तत्त्वसन्दोह

पाशुपत सूत्रोंकी व्याख्या करते हुए श्रीकौण्डिन्यने कार्य-कारणरूप द्विविध कलाओंको पाशस्वरूप माना है।

उसी सम्प्रदायके आचार्य भासर्वज्ञने 'गणकारिका' की 'रत्न' नामक टीकामें कलाको चेतनाश्रित निश्चेतन तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया है—

तत्र पाशा नाम कार्यकारणाख्याः कलाः।

—पाशुपतसूत्र, अध्याय १

चेतनाश्रितत्वे सति निश्चेतना कला। सापि द्विविधा कार्याख्या कारणाख्या चेति। तत्र कार्याख्या दशविधा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशगन्धरसरूपस्पर्शशब्दलक्षणा। कारणाख्या तु त्रयोदशविधा पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च-बुद्धीन्द्रियाणि अन्तःकरणत्रयं चेति।

—भासर्वज्ञ

अकारादि वर्णोंको भी कला कहते हैं—

अकारादिक्षपर्यन्ताः कलास्ताः शब्दकारणम्।
मातरः शक्तयो देव्यो रश्मयश्च कलाः स्मृताः॥

—भट्ट भास्कराचार्य

अंश या अंशांशरूपमें कला सर्वत्र प्रख्यात है।

राशेः त्रिंशद्भागोऽंशः तस्य षष्टिभागः कला।

—सूर्यसिद्धान्त

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कलाः।
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥

—भागवत

मांसासृङ्मेदसां तिस्रो यकृत्प्लीहोश्चतुर्थिका।
पञ्चमी च तथान्त्राणां षष्ठी चाग्निधरा स्मृता॥
रेतोधरा सप्तमी स्यादिति सप्त कलाः स्मृताः।

—शार्ङ्गधर

मध्य युगमें कलाको क्रियाकलापके सर्वोच्च शिखरपर बिठाया गया था। सुप्रसिद्ध ६४ कलाएँ[१] इस विषयमें प्रमाण हैं।

१. जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैश्च क्रिया कला।
शक्तो मूकोऽपि यत्कर्तुं कलासंज्ञं तु तत्स्मृतम्॥

६४ कलाएँ—

१ गीतम्, २ वाद्यम्, ३ नृत्यम्, ४ नाट्यम्, ५ आलेख्यम्,

ऊपर परात्पर शक्तिके रूपमें तथा संकुचित क्रियादि शक्तियोंके रूपमें कलाकी चर्चा की गयी है। आगमग्रन्थोंमें कलाके सर्वोत्कृष्ट परात्पररूपकी अन्य निम्नोक्त रहस्यमयी संज्ञाएँ भी पायी जाती हैं—

१—अमृता कला
२—वैसर्गिकी कला
३—सादाख्या कला
४—चित्कला
५—अमा कला

प्रश्नोपनिषद्‌में बताया गया है कि प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम—ये सोलह कलाएँ रथचक्रकी नाभिमें अरोंके सदृश पुरुषमें स्थित रहती हैं। यहाँ पुरुष ही अविनाशी अमृता कला है—

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्।'

यदि सोलह कलामात्रमें ही तात्पर्य हो तो प्राणकी षोडशी अमृता कला समझना चाहिये—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्॥
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

—प्रश्नोपनिषद्

[शेष आगे]

आस्था-संकल्पकी दृढ़ टेक दे

डगमगाये नींव; जीवनका भवन।
धूँज जाये; दरारें उसमें पड़ें॥
दिखे गिरता, पर न गिरने दो उसे।
आस्था-संकल्पकी दृढ़ टेक दे॥

—बालकृष्ण बलदुवा

६ विशेषकच्छेद्यम्, ७ तण्डुलकुसुमवलिविकाराः, ८ पुष्पास्तरणम्, ९ दशनवसनाङ्गरागाः, १० मणिभूमिकाकर्म, ११ शयनरचनम्, १२ उदकवाद्यम्, १३ उदकघातः, १४ अद्भुतदर्शनवेदिता, १५ माल्य-ग्रथनविकल्पः, १६ शेखरापीडयोजनम्, १७ नेपथ्ययोगः, १८ कर्णपत्रभङ्गाः, १९ गन्धयुक्तिः, २० भूषणयोजनम्, २१ इन्द्रजालम्, २२ कौचुमारयोगाः, २३ हस्तलाघवम्, २४ चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रियाः, २५ पानकरसरागासवयोजनम्, २६ सूचीवायकर्म, २७ सूत्रक्रीडा, २८ वीणाडमरुकवाद्यानि, २९ प्रहेलिकाप्रतिमाला, ३० दुर्वचकयोगाः, ३१ पुस्तकवाचनम्, ३२ नाटिकाख्यायिकादर्शनम्, ३३ काव्यसमस्यापूरणम्, ३४ पट्टिकावेत्रवाणविकल्पाः, ३५ तर्ककर्माणि, ३६ तक्षणम्, ३७ वास्तुविद्या, ३८ रूप्यरत्नपरीक्षा, ३९ धातुवादः, ४० मणिरागज्ञानम्, ४१ आकरज्ञानम्, ४२ वृक्षायुर्वेदयोगाः, ४३ मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, ४४ शुकसारिकाप्रलापनम्, ४५ उत्सादनम्, ४६ केशमार्जनकौशलम्, ४७ अक्षरमुष्टिकाकथनम्, ४८ म्लेच्छितकुतर्कविकल्पाः, ४९ देशभाषाज्ञानम्, ५० पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम्, ५१ यन्त्रमातृका, ५२ धारणमातृका, ५३ असंवाच्यसंपाठ्यम्, मानसीकाव्यक्रियाविकल्पाः, ५४ छलितकयोगाः, ५५ अभिधान-कोशच्छन्दोज्ञानम्, ५६ क्रियाविकल्पाः, ५७ छलितविकल्पाः, ५८ वस्त्रगोपनानि, ५९ द्यूतविशेषः, ६० आकर्षक्रीडा, ६१ बालक्रीडनकानि, ६२ वैनायिकीविद्याज्ञानम्, ६३ वैजयिकी, ६४ वैतालिकीविद्याज्ञानम्।

१. स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च।
अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिता। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परि व्यथा इति॥

२. षोडशानामपि कलानां आप्यायकारित्वात् नित्योदितत्वेन चानस्तमितत्वाद् अमृतामिति।

—प्रश्नोपनिषद्

आस्था

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'नृमुण्डमालिनीकी जय !' जयध्वनि उच्चस्वरसे नहीं की गयी। उसने ओष्ठके भीतर ही कह लिया और मन-ही-मन खड्गहस्ता, खप्परधारिणी, आलीढासना मुण्डमालिनी महाकालीके पावन चरणोंमें प्रणाम करके पूर्णतः प्रस्तुत हो गया।

'सावधान ! घोर वन, तीन हजार सत्रह फुट, सत्तासी ! सत्तासी ! सत्तासी !' हवाई जहाजकी सूचना-नलिकासे आदेश मिला। एक खटका हुआ, एक हलका झटका लगा और वह आकाशमें पत्थरकी भाँति नीचे गिर रहा था।

'एक दो, तीन, चार' हाथ पैराशूटकी रस्सी पकड़े हुए थे। यदि गिननेमें तनिक भी गड़बड़ हुई—शीघ्रतासे या अधिक रुक-रुककर गिना गया तो प्राण बचेंगे, इसका कोई ठिकाना नहीं। 'पाँच, छः, सात, आठ' वह सहज स्वाभाविक ढंगसे गिन रहा था। तीन हजार सत्रह फुट ऊपर आकाशसे फेंक दिये जानेपर भी मस्तिष्क व्यवस्थित रखकर ठीक-ठीक गिनना था। गिननेकी गतिमें विलम्ब हो तो पृथ्वीपर टकराकर हड्डियाँ चूर-चूर हो रहेंगी और शीघ्रता हो जाय—पैराशूट वायुके प्रवाहमें कहाँ ले जायगा, इसका क्या ठिकाना। नीचे चारों ओर शत्रुकी ही छावनियाँ हैं। कोई पैराशूटसे उतरा शत्रु सैनिक वहाँ पकड़ा जाय तो उसका स्वागत कैसे होगा—कोई भी समझ सकता है।

'नौ, दस, ग्यारह·········'गिनता जा रहा है वह। 'पचासी, छियासी, सत्तासी' अभ्यस्त हाथने रस्सी खींच दी। एक अच्छा झटका लगा। पीठपर गठरीके समान बँधा पैराशूट खुलकर आकाशमें हंसके समान तैरता धीरे-धीरे उतरने लगा।

कृष्णपक्षकी त्रयोदशीकी रात्रि है। नीचे कहीं किसी दीपककी एक रश्मितक नहीं दीखती। युद्धकालमें सर्वत्र व्यवस्थित अन्धकार रखनेकी सजगता तो दिखायी ही जायगी। वह जानता है कि उसे जहाँ गिराया गया है, वहाँ नीचे घोर वन है। यह तो प्रारब्धपर ही निर्भर है कि पैराशूट उसे कहाँ पटकता है। कँटीली झाड़ी, किसी क्रूर वन-पशुकी माँद, कोई घड़ियालोंसे भरी नदी, कोई बड़ा वृक्ष या थोड़ी समतल भूमि—सभी कुछ सम्भव है। गिरनेवाला वन-पशुओं या घड़ियालोंके पेटमें भी चला जा सकता है, काँटोंसे उसके शरीरका भरपूर बिंध जाना, गहरी चोट लगना या सकुशल उतर जाना, यह सब उतरनेवालेके लिये सम्भव है। सब उसके प्रारब्धपर है।

'माँ ! जगदम्बा !' गिनती बंद होते ही मन-ही-मन वह अपनी आराध्य मूर्तिका ध्यान और उनका स्मरण करने लगा। नीचे कुछ देखनेका प्रयत्न उस घोर अन्धकारमें व्यर्थ था। उसे मृत्युका भय नहीं है। मृत्युको तो उसने जान-बूझकर आमन्त्रित किया है। लेकिन उसे विश्वास है—मृत्युमें इस प्रकार उसका तिरस्कार करनेका साहस हो नहीं सकता। वह 'माँ' का पुत्र है—जगद्धात्री माँ कालीका पुत्र। कलकत्तेमें माँको प्रणिपात किये बिना वह मर नहीं सकता।

'माँ ! मातृभूमिकी—तुम्हारी पावन पीठ भारत-धराकी थोड़ी-सी सेवा यह शिशु कर सके ! दयामयी जगज्जननीने जैसे उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके पैरोंका स्पर्श किसी वृक्षकी ऊपरी टहनीसे हुआ। एक क्षणमें पैरोंकी पकड़में एक डाली आ गयी। उसने दोनों पैर डालमें लपेट दिये। पैराशूटने पूरा झटका

दिया । शरीरकी नस-नस उखड़ जायगी, ऐसा उसे लगा और पैराशूट उलट गया ।

पैराशूटको टहनियोंकी उलझनसे अलग करके तह करनेमें दो मिनट लगे । पेड़से नीचे उतर आया वह । चारों ओर घोर वन है, यह अनुमान करते ही उसने समझ लिया कि उसे ठीक स्थानपर ही गिराया गया है । अब प्रातःकालतक यहीं प्रतीक्षा करना है । उसके दूसरे चार साथी भी कहीं आस-पास उतरे हो सकते हैं । तनिक झुटपुटा हो जाय तो निश्चय करे कि किधर जाना चाहिये ।

सैनिक जब युद्धक्षेत्रमें होता है—'उसका प्रत्येक क्षण बहुमूल्य होता है और जब कोई सैनिक पैराशूटसे शत्रु-प्रदेशमें उतार दिया जाता है—उसका प्रत्येक क्षण कितनी सावधानीसे काममें लिया गया, इसीपर उसका जीवन निर्भर करता है । प्रातःकाल होनेसे पूर्व उसे बहुत कुछ कर लेना है । बिना आधे क्षण रुके वह अपने काममें लग गया । पैरके पास ही कमरसे छुरा निकालकर उसने गड्ढा खोदना प्रारम्भ किया । पैराशूट छिपा देना चाहिये और अग्नि जलायी नहीं जा सकती । उससे तो आस-पासके लोग चौंकेंगे । बड़ी सावधानीसे पैराशूटको उसने मिट्टीमें दबाया । बूटोंसे मिट्टी कुचल-कर उसपर थोड़े सूखे पत्ते समेटकर डाल दिये, जिसमें कोई उधरसे दिनमें निकले तो नयी खोदी मिट्टी देखनेसे उसे संदेह न हो ।

× × ×

[२]

'तुम्हारा नाम ?'

'अनिलकुमार !'

'तुम बंगाली हो ?'

'बंगाली तो मैं पीछे हूँ, पहले भारतवासी हूँ ।'

'[illegible] घर है तुम्हारा ?' उस धूर्त सैनिक अफसरने बँगला बोलना प्रारम्भ कर दिया । अंग्रेज होते हुए भी बंगालमें रहकर उसने बँगला सीख ली है । 'हम तुम्हारे घर तुम्हारे स्वस्थ और सुरक्षित होनेका समाचार भेज देंगे । तुम सैनिक सेनामें हो, यह कह दिया जायगा और पाँच हजार रुपये तुम्हारे वेतनके बताकर तुम्हारे घरके लोगोंको दे दिये जायँगे ।'

'मेरा घर है महाकालीके चरणोंमें ।' वह खुलकर हँस पड़ा । 'वहाँ रुपये नहीं, मस्तक भेंटमें दिये जाते हैं । तुम्हारे-जैसे अपवित्र लोगोंके मस्तक वहाँ नहीं चढ़ा करते ।'

'तुम घरका पता न देना चाहो तो कोई बात नहीं !' अफसरने पूरी कूटनीतिकी परीक्षा करनेका निर्णय कर लिया था । 'तुम्हें सेनामें ले लिया जायगा । कैप्टन बनाया जाय—यह मैं लिख दूँगा और प्रयत्न करूँगा कि चार महीनेकी छुट्टी देकर घर जानेकी सुविधा दी जाय तुम्हें ! उसके बाद भी तुम मोर्चेपर न आना चाहो तो पीछेके दलोंमें रक्खे जा सकते हो । मैं तुम्हारे लिये पूरा प्रयत्न करूँगा ।'

'मैं सेनामें हूँ । अवकाश लेनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है ।' अनिलने गम्भीरतासे कहा—'मैं अपनी मातृभूमिका सैनिक हूँ । स्वतन्त्रताके संघर्षमें अगले मोर्चेपर रहनेकी कामना रखता है प्रत्येक देश-सेवक ।'

'यह तो मैंने तुम्हारे सुभीतेके लिये कहा था ।' अफसरने जान-बूझकर अनिलकी बातका उलटा अर्थ लिया—'तुम अगले मोर्चेपर रहना चाहोगे तो बड़ी प्रसन्नतासे रह सकोगे !'

'लेकिन भारतको पराधीन रखनेवालोंका विनाश करनेके लिये मैं सैनिक बना हूँ ।' अनिलने अब स्वर कठोर कर लिया—'उनकी दासता करना स्वीकार होता तो मातृभूमिसे बाहर भटकता न फिरता ।'

'अभी तुम युवक हो। जापानियोंने तुम्हें भड़का दिया है।' अफसर शान्त बना रहा—'कदाचित् तुम नहीं जानते कि अंग्रेजोंने भारतको स्वराज्य देना निश्चित कर लिया है और उसके लिये योजनाएँ बनायी जा रही हैं।'

'बहुत खूब!' अनिलने हँसकर व्यंग किया—'बड़े दयालु हैं आपलोग! भला योजना बनानेकी बात क्या है? आपलोग कल भारत और बर्मा छोड़ दें। हमलोग जापानियोंसे निपट लेंगे और अपने घरोंको सम्हाल भी लेंगे।'

'अभी तुम परिस्थितिसे परिचित नहीं हो।' अफसरको बुरा लगा, पर शान्त ही रहा वह—'कुछ दिनोंमें ही तुम्हें सब बातोंका पता लग जायगा। अभी तो तुम इतना करो कि मैं जो पूछता हूँ उसे ठीक-ठीक बता दो। केवल जापानियोंके सम्बन्धमें तुम्हें बतलाना है। अपने देशकी सेवा ही करोगे इससे तुम।'

'मैंने आपको स्पष्ट बता दिया है कि मैं कुछ नहीं बताऊँगा।' अनिलने चौथी बार कहा—'भारतीय विश्वासघाती नहीं हुआ करते। मुझे आप फुसला नहीं सकते और न डरा सकते हैं।'

'तुम जानते हो कि क्या परिणाम होगा?' अफसरने भी रुख बदल दिया—'तुम शत्रुके जासूस हो, युद्धबंदी बनानेका तुम्हारे लिये प्रश्न ही नहीं उठता। एक बार और सोच लो! सेनामें कैप्टन हो सकते हो और घर जा सकते हो परसों। वैसे तुम्हारे तीन साथी और पकड़े गये हैं। उन्होंने वह सब बता दिया है, जो वे जानते हैं। तुम उनके नायक हो, उनसे कुछ अधिक बता सकते हो, उनकी बतायी बातें तुमसे पुष्ट हो जायँ, इतना ही हम चाहते हैं। तुम कुछ न भी कहोगे, तो भी हमारी कोई हानि नहीं होनी है।'

'तीन साथी और पकड़े गये हैं। उन्होंने सब कुछ बता दिया है।' अनिलने मस्तक झुकाकर सोचा। 'इसका केवल यह अर्थ है कि कोई एक साथी पकड़ा नहीं गया है। किसीने कुछ बताया नहीं है। यह धूर्त केवल धोखा देना चाहता है भेदनीतिसे।'

'तुम सोचना चाहो तो आधे घंटे पीछे मैं आ सकता हूँ।' अफसरने कहा—'इससे अधिक प्रतीक्षा करनेको सेनानायक प्रस्तुत नहीं हैं।'

'मैं सोच चुका हूँ और जो कुछ कहना था, कह चुका हूँ।' अनिल स्थिर रहा।

'परिणाम नहीं सोचा तुमने!' अफसरने चेतावनी दी।

'तुमसे अधिक मैं जानता हूँ।' अनिलने उपेक्षासे कहा—'मैं महाकालीका पुत्र हूँ। मेरा परिणाम तुम्हारे हाथमें नहीं, मेरी दयामयी माँके हाथमें है।'

'आज शामको ही तुम्हें गोलीसे उड़ा दिया जायगा!' अफसर मुड़ा—'मैं एक बार और आऊँगा!'

'तुम न आओ तो धन्यवाद दूँगा!' अनिल हँसा—'सिंहवाहिनीके पुत्रको गीदड़ोंके बच्चे गोलीसे उड़ा सकते हैं, इस कल्पनाका आनन्द तुमलोग लेना चाहो तो कुछ देर ले सकते हो।'

× × ×

[२]

जापानकी सेनाएँ ब्रह्मामें बढ़ती जा रही थीं। बार-बार अंग्रेजी सेनाको 'बड़ी वीरताके साथ' पीछे हटनेको विवश होना पड़ता था। टोकियोमें श्रीरासबिहारी बोसके यहाँ भारतीय देशभक्तोंकी बैठकें प्रायः नित्य होती थीं। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस उस समय बर्लिनमें थे। उन्हें ब्रह्मा लाना है—यह योजना कुछ गिने-चुने उच्च अधिकारियोंतक ही सीमित थी।

'ब्रह्मामें पर्याप्त भारतीय हैं। वे अपनी मातृभूमिकी

स्वतन्त्रताके लिये किसीसे कम उत्सुक नहीं हैं। लेकिन अंग्रेजोंके प्रचारने बहुतोंको भ्रान्त कर दिया है। जापानके प्रति वे सन्दिग्ध हो गये हैं। साथ ही उन्हें प्रोत्साहित एवं संगठित करनेके सूत्र भी वहाँ नहीं हैं। कुछ जापानी अधिकारियों और रासविहारी बोसमें पहले ही यह मन्त्रणा हो चुकी थी।

'परिणामका कुछ पता नहीं है। मातृभूमिके लिये मस्तक देना है।' बिना किसी भूमिका और आश्वासनके स्पष्ट स्थिति जापानस्थित भारतीय देशभक्तोंके आगे स्पष्ट कर दी गयी।

'देशके निमित्त प्राण देनेवाला धन्य है।' जापानमें रहकर देशके लिये आत्मबलिकी जाग्रत् भावनाका नित्य आदर्श देखा जा सकता है। भारतीयोंके रक्तमें त्यागका स्रोत निहित है। जापानी बलिदानी वीरोंने उसे प्रदीप्त कर दिया था। सभी भारतीय युवकों एवं तरुणोंने अपने रक्तसे हस्ताक्षर किये प्रतिज्ञा-पत्रपर।

कुछ उपयुक्त व्यक्ति चुन लिये गये। सामान्य सैनिक शिक्षा तो सबके लिये आवश्यक थी; किंतु कुछ लोगोंको पैराशूटसे नीचे उतरना सिखलाया गया। उन्हें सब आवश्यक बातें बतला दी गयीं। केवल सप्ताहकी शिक्षा—अधिकके लिये अवकाश ही नहीं था। एक जापानी हवाई जहाज पाँच भारतीय तरुणोंको एक रात्रि ब्रह्माकी वन-भूमिपर आकाशसे उतार आया।

पासमें नक्शे नहीं थे। वे स्मृतिमें रहें यही निरापद माना गया था। कहाँ कौन-सी बस्तियाँ हैं, किन बस्तियोंमें जाना चाहिये, किन स्थानोंमें एवं बस्तियोंसे सावधान रहना चाहिये, यह सब बतला दिया गया था। टोकियोमें सोचा यही गया था कि पाँच-मेंसे एक भी बच सका तो सफल समझना चाहिये इस प्रयत्नको। सचमुच केवल एक शत्रुओंकी आँखोंसे ५ सका। चार पकड़ लिये गये।

पैराशूट ठीक बिन्दुपर किसीको गिरा सके, यह शक्य नहीं है। मील आधमील इधर-उधर हो जाना साधारण बात है। अपरिचित भूमिमें—वनमें कोई कहाँतक रटे हुए नक्शोंके आधारपर मार्ग पा सकता है। इधर-उधर भटकना पड़ा। सावधान शत्रुके जासूसोंने देख लिया। पकड़ लिये गये चार देशभक्त भारतीय सूर्योदय होनेके कुछ देरके भीतर।

'वन्दे मातरम्!' चारों अलग-अलग रक्खे गये। उन्हें प्रलोभन दिये गये। धमकाया गया और जहाँतक बना, यातनाएँ दी गयीं। चारों ही अडिग थे। जापानी सेना बढ़ी आ रही थी। अंग्रेजी सेनाके सेनापतिने वीरतापूर्वक हट जानेमें कुशल समझ ली। प्रातः पकड़े गये चारों भारतीय एक छोटे मैदानमें एकत्र हुए। उन्होंने हवाई जहाजसे गिराये जानेके बाद पहले-पहले एक दूसरे-को देखा। जयध्वनि की उन्होंने।

'नृमुण्डमालिनीकी जय!' अनिलकुमारने दूसरी जय-ध्वनि भी की। उसने कहा—'मित्रो! यह नाटक बहुत देर नहीं चलेगा। डरनेकी कोई बात नहीं है।'

'भारतीय मृत्युसे नहीं डरा करते। हमारे ऋषियोंने कहा है—जीवन शाश्वत है।' दूसरे तरुणने कहा—'शरीर तो मिट्टी है। जिस मातृभूमिने यह मिट्टी हमें दी, उसीकी सेवामें इसे विसर्जित करनेका भला अवसर तो मिला।'

'अभी वह अवसर नहीं आया!' अनिलकी बात इस बार कोई समझ नहीं सका। वह कह रहा था—'मुण्डमालिनीके पुत्रोंको छूनेका साहस मृत्यु करे तो उसे भी मरना पड़ सकता है। मातृभूमिका दिया शरीर तो उसकी गोदमें भगवती जाह्नवीके तटपर ही विसर्जित होगा।'

'यह विश्वासघात करेगा?' दूसरे तरुणोंने एक दूसरेकी ओर देखा। दूसरा क्या अर्थ हो सकता है

इसकी बातका ?' लेकिन संदेह व्यर्थ था। सैनिक अफसर अन्तिम प्रयत्न करने आया अवश्य; किंतु दूसरोंकी भाँति अनिलसे भी निराशा ही उसके हाथ लगी।

'बड़ा सुन्दर खेल है!' सामने अंग्रेजी सेनाके अफ्रिकन सैनिकोंने भरी बंदूकें छातीसे लगा रक्खी थीं। उन्हें अफसरके मुखसे निकले केवल एक शब्द-की प्रतीक्षा थी। चार भारतीय, जिनके हाथ हथकड़ियों-से पीछे जकड़े थे; उनके सामने खड़े थे। बड़ा आश्चर्य हो रहा था उन सैनिकोंको मृत्युकी इस अन्तिम घड़ीमें भी ये परिहास करनेवाले—कैसे हैं ये लोग?

'वन्देमातरम्!' एक तरुणने कहा।

'नृमुण्डमालिनीकी जय!' पहले जय—नादके बाद अनिलकुमारने अकेले जयनाद किया। 'माता जन्मभूमि-की वन्दना और उसकी सेवाके लिये तो अभी पूरा जीवन पड़ा है। यह अवसर तो महाकालीकी मनोहर क्रीड़ा देखनेका है।'

'क्रूर उत्पीडनने इसे उन्मत्त कर दिया।' साथियोंके नेत्र सहानुभूतिसे भर आये।

'क्या बकता है?' सैनिक टुकड़ीके नायक अंग्रेजने आश्चर्यसे पूछा।

'तू अपना काम कर!' अनिलने उसे झिड़क दिया। 'मैं तेरी मूर्खता देख रहा हूँ।'

'तुझे मरनेसे डर नहीं लगता?' अफसरने फिर पूछा।

'मरनेवाला मैं हूँ या तुम सब हो, यह अभी निर्णय हुआ जाता है!' अनिल बराबर हँस रहा था—'कुत्तोंकी मौत आती है तो वे सिंहनीके शावकको भूँककर डराना चाहते हैं। तुम सबने सिंहवाहिनीके पुत्रको डरानेका प्रयत्न किया है।'

'पागल!' मृत्युके भयने पागल कर दिया अनिलको। इसके अतिरिक्त उस अंग्रेजके मस्तिष्कमें और कुछ कैसे आ सकता था, जब कि अनिलके साथी ही उसे पागल समझ रहे थे।

'फाय....' शब्द पूरा नहीं हो सका था, इतनेमें बड़ा भारी धमाका हुआ। एक, दो, चार—लगातार धमाके होते चले गये। धुएँसे दिशाएँ भर गयीं। सैनिकोंने बन्दूकोंका उपयोग किया भी हो तो उन धमाकोंमें कुछ पता नहीं लगा। वृक्षोंके ऊपर या पीछे ठीक अनुमान करना कठिन था कि शत्रु कहाँ है, कितना बड़ा दल है। धमाके होते ही जा रहे थे।

'वन्दे मातरम्!' धुएँके पीछेसे किसी कण्ठने पुकारा।

'वन्देमातरम्!' मैदानमें खड़े चारों बंदियोंने उत्तर दिया।

'नृमुण्डमालिनीकी जय!' अनिलने भूमिपर मस्तक रख दिया वहीं।

अंग्रेज अफसर और हब्शी सैनिकोंके शरीर छिन्न-भिन्न हुए पड़े थे। अंग्रेजी सेना लारियोंमें बड़ी उतावलीसे भरती जा रही थी। 'वीरतापूर्वक' पीछे हट जानेके लिये तम्बू, शस्त्रागारके शस्त्र और भोजनतक साथ लेने या नष्ट करनेका अवकाश उसके पास नहीं था।

सेनापतिको जब पीछे हट जानेके दो दिन बाद पता लगा कि केवल कुछ पासकी बस्तीके लोगों और एक भारतीयने हाथसे फेंके जानेवाले बम फेंककर उसे डरा दिया—बहुत पछताया वह। समाचारको दबा देनेमें ही कुशल थी। उसके प्रकट होनेपर स्वयं उसे मरना पड़ सकता था और खोया स्थान तो खो ही गया। वहाँ तो अब जापानी अग्रिम दल पहुँच भी चुका था।

× × ×

[४]

'नृमुण्डमालिनीकी जय!' नेताजीकी सेनामें अनिल-कुमार ही ऐसा था जो प्रत्येक जयध्वनिके पश्चात् यह

अपनी जयध्वनि कर लिया करता था। उसे कभी किसीने छेड़ा नहीं। उसके-जैसा निर्भीक, साहसी, कष्टसहिष्णु—वैसे तो स्वतन्त्रताके सेवकोंकी सेना थी। नेताजीकी पूरी सेना और उसका प्रत्येक वीर अपने त्याग, सहिष्णुता एवं धैर्यमें अद्वितीय था; किंतु अनिल कुछ दूसरी ही मिट्टीसे बना था। उसे कहीं भय दीखता ही नहीं था।

'माँ! माँ! दयामयी माँ!' एकान्तमें वह प्रायः उच्च स्वरसे पुकारता और रोया करता था और जब मृत्युके भयंकर पंजे प्रत्यक्ष-से दीखते थे—वह निर्भय था। अनेक बार लोगोंको भ्रम हुआ करता था कि वह पागल है।

'नृमुण्डमालिनीकी जय!' उसे तो उस दिन भी हताश होते नहीं देखा गया, जब नेताजीने जापान लौट जानेका निश्चय किया। आजाद हिंद सेनाके वीर रो रहे थे और वह चुपचाप खड़ा था। उसने केवल इतना कहा—'मैं स्वदेश जाऊँगा।'

'अकेले?' किसीने मना नहीं किया। मना करनेका कुछ अर्थ भी नहीं था। प्रारब्धने सारे प्रयत्नको कुचल-कर धर दिया था। जापान हथियार डाल चुका—अब तो भाग्यके विधानके सम्मुख मस्तक झुकाना था। उसे अनुमति मिल गयी थी। एक साथीने पूछा भी बड़े खेदसे। 'इस प्रकार मरनेसे क्या हम सबके साथ भाग्यकी प्रतीक्षा करना अच्छा नहीं?'

'मुझे मारेगा कौन?' उसे भयका कारण नहीं जान पड़ता था। यों वह इस बातसे अनजान नहीं था कि मार्ग बहुत लंबा है। वन हिंस्र पशुओं और उनसे भी हिंस्र नरभक्षी जातियोंसे भरा है। अंग्रेजी सेनाने सब पगडण्डियाँ घेर रक्खी हैं। लेकिन उसकी आस्था यह सब देखने नहीं देती। 'महाकालीके पुत्रको मारनेके लिये हाथ उठानेवाला मरे बिना रह नहीं सकता।'

'नृमुण्डमालिनीकी जय!' पैरोंमें छाले पड़ गये थे वस्त्र चिथड़े हो गये थे। दाढ़ी और नख बढ़ गये थे। वन-पशु तो उसके मित्र थे। नरभक्षी लोगोंने उसका आखेट करनेके बदले उसे फल और कन्द खिलाये। यह आप विश्वास न करें तो मेरे पास कोई उपाय नहीं। लेकिन नरभक्षियोंने पता नहीं क्यों, उसे देखते ही साधु समझ लिया था। उसकी सेवा—उन लोगोंके लिये पुण्य बन गयी थी।

'तू मुझे जाने देगा या मारेगा?' सैनिक प्रहरियोंसे सीधा प्रश्न करता था वह।

'अबे जा!' एक निःशस्त्र, फटेहाल भिखारी किसी सैनिकसे इस प्रकार पूछे तो सैनिक उसे पागल न समझे तो समझे क्या। गोली तो दूर, उसे गाली भी किसीने नहीं दी।

'नृमुण्डमालिनीकी जय!' कलकत्ते पहुँचकर तो वह सचमुच पागल-सा हो गया। वह नाचने लगा, कूदने लगा, हँसने लगा और बीच-बीचमें रोने भी लगा—'माँ! माँ! दयामयी माँ! तूने मुझे पुकारा! मैं तुझे प्रणाम करने आ गया माँ!'

कलकत्तेके काली-मन्दिरमें पुजारीके लिये उस दिन एक समस्या हो गयी। एक पागल नाचने लगा मन्दिरमें और मूर्तिके सामने दण्डवत् पड़ा तो घंटेभर पड़ा रहा। फिर उठा और फिर पड़ गया। फाटकतक जा-जाकर लौट आता था। पता नहीं क्यों, उसे हटाने या रोकनेका साहस ही किसीको नहीं होता था।

राजर्षि मधुकरशाह और उनकी भक्त रानी गणेशदेवी

(लेखक—श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)

भारतीचंदके कोई पुत्र न था अतः उनकी मृत्युके उपरान्त ओरछाके राजसिंहासनपर संवत् १६११में उनके अनुज मधुकरशाह आसीन हुए। विदेहकी भाँति शासनकार्य संचालित करते हुए भी इनका मन-मधुकर सदा भगवान्‌के चरण-पङ्कजमें लगा रहता था। साधुओंकी सेवा इनका व्रत था।[1] भगवान् श्रीकृष्णमें जैसी इनकी अनन्य भक्ति थी, उसी प्रकारकी रामोपासिका थीं इनकी रानी गणेशदेवीजी। राजा और रानीकी इन धार्मिक भावनाओंके फलस्वरूप ओरछामें वृन्दावन और अयोध्याकी सम्मिलित छटा दिखायी देने लगी। वेत्रवतीमें यमुना और सरयूकी-सी लहरें उल्लास भरने लगीं। राजा और रानीमें जब अपने-अपने उपास्य-देवोंकी महत्ताको लेकर प्रेमालाप चलता तो उसे सुननेमें सौभाग्यशाली पुरवासियोंको भी बड़ा आनन्द मिलता।

एक रात्रि महारानी गणेशदेवीको स्वप्न हुआ कि वे तीर्थयात्रा करती हुई अयोध्या पहुँचीं। वहाँ सरयूकी धारामें स्नान करते समय उन्हें श्रीरामकी एक सुन्दर मूर्ति हाथ लगी। श्रीविग्रहको पाकर उन्हें अपार हर्ष हुआ। उन्होंने वात्सल्य-भावसे उन श्रीविग्रहसे वार्तालाप कर उन्हें ओरछा चलनेके लिये निमन्त्रण दिया। स्वीकृति प्रदान करते हुए श्रीविग्रहने केवल एक ही शर्त लगायी और वह यह कि पुष्य नक्षत्रमें ही यात्रा हो। रानीने शर्त स्वीकार की।

रानीकी आँखें खुलीं तो वे ओरछाके महलमें थीं। न वहाँ सरयूकी धारा और न वह छबीली मूर्ति। नींद न आयी। जैसे-तैसे सवेरा हुआ। उन्होंने राजा मधुकरशाहको स्वप्नकी बातें बतायीं। अनुमति पाकर वे श्रीरामजीकी उस स्वप्नप्राप्त मूर्तिको लेनेके लिये अयोध्या चल दीं और वहाँसे वे जिस सलोनी मूर्तिको लेकर आयीं, वह आज ओरछाके श्रीरामराजा नामके एक विशाल मन्दिरमें विराजमान हैं। स्वप्नमें प्राप्त आदेशके अनुसार रानीने उस मूर्तिको लाते समय केवल पुष्य नक्षत्रमें ही यात्रा की। इसलिये जब वह बीत जाता तो मार्गमें ही डेरा डालकर पुनः उस नक्षत्रके आगमनकी वहीं प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। इस कारण उस सिद्ध मूर्तिको लानेके लिये यात्रामें समय भी बहुत लगा। ओरछाकी नगरी भले ही आज वीरान हो गयी है, किंतु श्रीरामराजाके दर्शनार्थ रामनवमी और व्याहपञ्चमीको भक्तोंकी भीड़ उसे वर्षमें कम-से-कम दो बार तो सघन बना ही देती है।

इस भक्त-दम्पतिने उन सभीका आदर किया जो साधुओंका वेश ही बनाकर उनके सामने उपस्थित हुए। भक्त-नारियोंका नामोल्लेख श्रीनाभादासजीने अपने भक्तमालके जिस छप्पयमें किया है, उसमें गणेशदेवी रानीकी भक्तिकी भी उन्होंने सराहना की है—

> सीता झाली सुमति सोभा प्रभुता उमा भटियानी।
> गङ्गा गौरी कुँवरि उबीठा गोपाली गनेसदे रानी॥
> कला लखा कृतगढ़ौ मानमति सुचि सतिभामा।
> जमुना केली रामा मृगा देवा दे भक्तन विश्रामा॥
> जुगजीवाकी कमला देवकी हीरा हरिचेरी पोषै, भगत।
> कलिजुग जुवती जन भक्तराज महिमा सब जाने जगत॥

भक्तमालके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीप्रियादासजीने उक्त छप्पयका विस्तार करते हुए दो कवित्त लिखे हैं[1], जिनमेंसे एक है—

१. श्रीनाभादासजीने भी अपने भक्तमालमें लिखा है—
'ईश्वर अखैराज रायमल्ल (कन्हर) मधुकर नृप सरवसु दियौ।'
भक्तनिकौ आदर अधिक राजबंस में इन कियौ॥
(छप्पय ११६)

१. रचनाकाल संवत् १७६९ विक्रमी।

मधुकरसाह भूप भयौ देश ओडछे कौ,
रानी सो राने सदैव काम वाकौ कियौ है।
आवै बहु संत सेवा करत अनंत भाँति,
रह्यौ एक साधु खान-पान सुख लियौ है॥
निपट अकेली देखि बोल्यो धन-थैली कहाँ,
होय तौ बताऊँ सब तुम जानौं हियौ है।
मारी जाँघ छुरी, लखि लोहू, वेगि भागि गयौ,
भयौ सो जचाने निज राजा वैद दियौ है॥

इससे प्रकट है कि साधुवेशमें आनेके कारण रानीने उस ठगका आदर किया और उससे आहत होनेपर भी साधु-वेशके सम्मान-रक्षार्थ उसे दण्ड नहीं दिलवाया।

महात्मा गाँधीके जीवन-चरित्रमें भी हमें ऐसी अनेक घटनाएँ उपलब्ध हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि उन्होंने भी अपने ऊपर आक्रमण करनेवालेको दण्ड पानेसे अपने जीवनमें यथाशक्ति बचाया ही। साधु-स्वभावकी ऐसी उदारताका एक उदाहरण हम महाराजा मधुकर-शाहके चरित्रसे भी उपस्थित करेंगे। राजा मधुकरशाह-का यह नियम हो गया था कि जो भी कंठी-मालाधारी चन्दन लगाये हुए उन्हें दिखायी देता, उसका वे भक्त मानकर सम्मान करते। इससे एक ओर जहाँ ओरछामें साधुओंका आदर हुआ, वहाँ कपटी भक्तोंकी भी वृद्धि होने लगी। राजाके अन्य बन्धुओंको ऐसी अन्ध भक्ति नापसंद थी; किंतु उसका उनके पास कोई उपाय न था। अन्तमें उन्होंने राजाकी भक्तिका उपहास करनेके लिये एक गधेको बहुत-सी बड़ी-बड़ी कंठी और मालाएँ पहिनाकर मोटे-मोटे तिलक लगाकर राजमहलमें हँका दिया।[1] राजा मधुकरशाहने जब उस गधेको माला-चन्दनयुक्त देखा तो उसके पैर धोकर उन्होंने साधु-वेशका सम्मान करते हुए कहा कि 'हम आज कृतकृत्य हो गये जब कि हमारी नगरीके गधोंने भी चन्दन और मालाके महत्त्वको समझ लिया।' इस उत्तरसे षड्यन्त्रकारियोंको मुँहकी खानी पड़ी।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने भी उक्त घटनाका वर्णन इस कवित्तमें किया है—

मधुकर शाह नाम कियौ है सफल जातें,
भेष गुन सार गहैं तजत असगर हैं।
ओडछेकौ भूप भक्त भूप सुख रूप भयौ,
लयो पन भरी जाके औरन विचार है॥
कंठी घर आवै कोय धोय पग सेवै सदा,
भाई दुःख खर गर डार्यो माल भार है।
पाँय परछाल कही आज जू निहाल कियै,
हिये दूये दुष्ट पाव गहे दग धार है॥४७८॥

माला और तिलकका यह सम्मान ओरछाके महलों-तक ही सीमित नहीं था। इसके लिये मुगल-सम्राट् अकबरने भी राजाकी कठिन परीक्षा उस समय ली, जब उसने एक समय यह आज्ञा की थी—उसके दरबार-में जो कोई भी कंठी और तिलक धारण करके आवेगा, वह प्राण-दण्ड पावेगा। इसपर मुगल-दरबारके सभी हिंदू-नरेश भयके मारे कंठी-तिलक छोड़ गये, किंतु राजा मधुकरशाहने प्रतिदिनसे दूनी मालाएँ पहनीं और पूरी नासिकासे बड़ा तिलक लगाया। मधुकरशाहके इस रूपको देखकर अकबर लज्जित हुआ। उसने राजाकी धर्मनिष्ठाकी सराहना करते हुए अपने आदेशको परीक्षार्थ बतलाकर अपने गौरवको भी न गिरने दिया। किसी कविने उक्त घटनाका वर्णन इस कवित्तमें बड़े ही सुन्दर ढंगसे किया है—

हुकम दियौ है बादशाहने महीपनकौं,
मानौं राव राजन प्रमान लेखियतु है।
चंदन चढ़ायो कहूँ देव पद बंदन कौं,
दैहौं सिर दाग जहाँ रेखा रेखियतु है॥
सूनौं कर गये भाल छोड़ छोड़ कंठ माल,
दूसरौ दिनेस तहाँ कौन पेखियतु है।
सोहत टिकैंत मधुसाह अनियारौ जिम,
नागनके बीच मनियारे देखियतु है॥

[1] द्रष्टव्य—दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्तामें राजा मधुकरसाहका प्रसंग।

महाराज मधुकरशाहके सम्बन्धमें कितनी ही चमत्कार-पूर्ण लोक-कथाएँ प्रचलित हैं। जिनमें १. वेतवाके कंचना घाटपर रासोत्सवके समय सुमनवृष्टि। २. अश्वारोहणके समय मानसी पूजन करनेके कारण ऊँघते-से प्रतीत होनेपर अकबर बादशाहद्वारा टोके जानेसे पृथ्वी-पर अमनियाँकी कढ़ीका वेसन फैलना। ३. शाही दरबारमें बैठे-बैठे श्रीजगदीशजीके जामाकी आग बुझाना, आदि ऐसी हैं जिनका उल्लेख उनके महात्मा होनेमें किया जाता रहा है। हमें इन घटनाओंमें ऐतिहासिक तथ्यको न ढूँढ़कर यहाँ केवल इतना प्रकट कर देना भर अभिप्रेत है कि महाराजा मधुकरशाहकी भक्ति और धार्मिक दृढ़ताके साथ-ही-साथ उनकी सिद्धिकी चर्चा भी लोकमें प्रसिद्धि पा चुकी थी और तत्कालीन महात्मा-ओंने उन्हें सदा ही एक आदर्श भक्तके रूपमें देखा था। श्रीनाभादासजीकी भक्तमाल, दो सौ बावन वैष्णव-वनकी वार्ता, श्रीप्रियादासजीकी भक्तमालपर रसबोधिनी टीका आदि भक्त-चरित्रोंमें उनका वर्णन होना इसके प्रबल प्रमाण हैं।

धार्मिक दृढ़ताके कारण महाराज मधुकरशाहका पराक्रम लोकप्रियता और दैवी विश्वासके कारण बहुत प्रबल था। कई बार उन्होंने अकबरकी शाही सेनाओंको परास्त किया। इन युद्धोंमें उनके दो पुत्र होरल राव और १६ वर्षीय रतनसेन भी खेत रहे। किंतु मुगल-सेनाओंको बुंदेलोंका लोहा मानना पड़ा। आचार्य केशवदासजीने कविप्रियामें जो दोहे इनके परिचयमें लिखे हैं उनसे भी प्रकट होता है कि मधुकर-शाह अकबर बादशाहको एक साधारण खान (सरदार) की भाँति ही मानते रहे थे। और लौकिक तथा पारलौकिक साधनाको उन्होंने सफलतापूर्वक निबाहा था।

उपजि न पायो पुत्र तिहि गयो सु प्रभु सुरलोक।
सोदर मधुकरशाह तब भूप भये भुवलोक॥
जिनके राज रसा बसे केशव कुशल किसान।
सिंधु दिशा नहिं बार ही पार बजाय निसान॥
तिनपर चढ़ि आये जु रिपु केशव गये ते हार।
जिनपर चढ़ि आपुन गये आये तिन्हैं संहार॥
सबलशाह अकबर अवनि जीति लई दिशि चारि।
मधुकरशाह नरेश गढ़ तिनके लीन्हें मारि॥
खान गनैं सुलतानको राजा रावत बादि।
हारे मधुकरशाह सौं आपुन शाह मुरादि॥
साध्यो स्वारथ साथ ही परमारथ सौं नेह।
गयो सो प्रभु बैकुंठ मग ब्रह्मरंध्र तजि देह॥

विरक्तिके अधिक बढ़ जानेके कारण अपने जीवन-कालमें ही वैशाख शुक्ला ३ सं० १६५० को इन्होंने अपने जेष्ठ पुत्र रामशाहको ओरछाका राज्याभिषेक कर एकाग्ररूपसे भगवत्-चरणोंमें ध्यान लगाया। उसी वर्ष आश्विन सुदी ११ को उनका स्वर्गवास हो गया।

येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाभिहतः सदा।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात् क्षान्तिः परा मता॥

(महा० वन० २९। ४४)

'जिन मनुष्योंका क्रोध क्षमासे दबा रहता है, उन्हींको श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति होती है। अतएव क्षमा सबसे उत्तम है।'

हिंदू-संस्कृतिके प्रतीक

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

(गताङ्कसे आगे)

पुष्प-प्रतीक

कमल हिंदू-समाजका मुख्य प्रतीक पुष्प है। रंग-भेद तथा बंद होने और खिलनेके क्रमसे उसके कई नाम हैं और वे अनेक भावोंके द्योतक हैं। कमल ऐश्वर्यस्थान तथा सुखका सूचक है। कमलकी शास्त्रोंमें बड़ी महत्ता है। भगवान् ब्रह्मा और श्रीलक्ष्मीजी, दोनों कमलसे उत्पन्न हुए, दोनोंका आसन कमल ही है। भगवती सरस्वती भी श्वेत कमलपर ही विराजमान होती हैं। भगवान्‌के तथा लक्ष्मीजीके भी एक हाथमें कमल शोभित होता है। लोकोंकी सृष्टि ब्रह्माजीने कमलाकार की है। हमारी पृथ्वीकी आकृति भी कमलके समान बतायी गयी है और साधनाके क्षेत्रमें शरीरमें जो षट्चक्र निर्दिष्ट हैं, वे सब कमलके ही समान हैं।

भारतमें कमल शृङ्गार, शोभा और क्रीड़ाके लिये बराबर प्रयुक्त होता रहा है। साहित्यमें कर, चरण, मुख, नेत्र आदिकी उपमाओंके लिये बार-बार इस पुष्पको स्मरण किया गया है। इसके बिना उपमाकी सांगता ही नहीं होती। देवताओंका आसन कमलपर ही होता है, फलतः मूर्तियों, मन्दिरोंमें कमलाकृति सर्वत्र मिलेगी।

कमल अपनी शोभा और शृङ्गारके लिये प्रख्यात है। इस पुष्पमें जो प्रकाशमें खिलना और अन्धकारमें संकुचित होना, यह स्वभाव है, वह भी हमें प्रेरणा देता है—प्रकाशकी ओर जानेकी। आनन्द तो प्रकाशमें ही है। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकताके नियमसे शरीरके योगचक्र बतला देते हैं कि ब्रह्माण्डके भिन्न-भिन्न लोकोंकी आकृति कमलके समान हैं, अवश्य ही उनमें दलोंकी संख्या समान नहीं है। विश्वकी जो आकृति है, योगमार्गमें हमें जिन कमलचक्रोंसे सदा काम पड़ता है, उनको छोड़कर हम दूसरे पुष्पको अपना प्रतीक मान लें तो क्या लाभ उठावेंगे?

तुलसीकाननं यत्र यत्र पद्मवनानि च।
धेनूनां पूजनं यत्र तत्र संनिहितो हरिः॥

यहाँ बतलाया गया है कि कमलवन जहाँ हो, वहाँ भगवान् नित्य संनिहित रहते हैं। कमलमें लक्ष्मीजीका नित्य माना गया है। श्वेत कमल श्रीसरस्वतीजीका निवास है। कमलका अलक्ष्य प्रभाव जो हमें प्राप्त होता है, उसकी चर्चा यहाँ नहीं करनी है; किंतु जिसने कमल न देखा हो, उसे हृदय-कमलका ध्यान करनेमें कितनी कठिनता होगी, यह समझा जा सकता है। दिव्य शक्तियाँ तो लोकोंकी अधिष्ठाता शक्तियाँ हैं। लोक ही उनके आसन हैं। जब लोकोंकी आकृति कमलके समान है तो देव-मूर्तियोंके पीठ उस प्रकारके बनेंगे ही। जैसे देव-विग्रह वास्तविक है, दिव्य जगत्‌में नित्य स्थित है, वैसे ही उनका पीठ भी है। कमल देव-पीठ है। उसमें अन्तर्मुखताकी प्रेरणा है—प्रकाशकी आराधना है। अन्तर्मुख होनेमें वह आधार होता है, अतः वह भारतका मुख्य प्रतीक पुष्प है। आनन्दका प्रतीक है वह इसलिये कि आनन्द प्रकाशमें, अन्तर्मुखतामें है।

भारतीय मन्दिरोंके शिखरोंके दो प्रकार मिलते हैं, एक तो एकके ऊपर एक मण्डल छोटे होते जाते हैं, सप्त लोकोंके क्रमसे और दूसरे बंद कमलके समान। मस्जिदका शिखर गुम्बद होता है और गिरजाघरका सीधा तिरछे जाता है, ये दोनों आकृतियाँ कमलाकृतिसे ही व्यक्त हुई हैं। बंद कमलके आकारको कुछ और गोलाई देनेपर गुम्बद और तिरछे करनेपर गिरजे-जैसा शिखर हो जायगा; परंतु मन्दिरका शिखर अपने भीतर अर्थ रखता है। शरीरके भीतर जो चक्र हैं, उनमें देवताओंका जैसे निवास है और वे चक्र बंद होते हैं, वैसी ही आकृति मन्दिर-शिखरोंकी होती है।

शस्त्र-प्रतीक

बाण लक्ष्यका संकेत करनेवाला प्रतीक है और समूचा संसार उसे इसी रूपमें आज भी काम लेता है। सब जानते हैं कि धनुष-बाण भारतीय शस्त्र है। बाण लक्ष्यका संकेत करनेवाला है—यह धारणा विश्वमें भारतसे न गयी हो तो उसका दूसरा उद्गम ही नहीं है। इसी प्रकार गदा शक्तिका प्रतीक है और तलवार शस्त्रबलका। इस परमाणु बम और तोपोंके कालमें भी जहाँ शस्त्रबलसे अधिकारकी बात आती है, वहाँ तलवार शब्द ही प्रतीकके रूपमें उपयोगमें आता है। चक्र निरन्तर घूमनेवाली गतिका और त्रिशूल वेधन करनेका सूचक है और आज भी इन्हीं अर्थोंमें प्रयुक्त होता है।

वैष्णव-मन्दिरोंके शिखरपर चक्र तथा शैव-मन्दिरोंके शिखरपर त्रिशूल लगानेकी प्राचीन प्रथा है। ये प्रतीक सूचित कर देते हैं कि मन्दिरमें किस प्रकारके श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठा है। इन शस्त्रोंको जिन भावोंका प्रतीक माना जाता है, वे बहुत स्पष्ट हैं। अबतक शस्त्र उन्हीं भावोंके प्रतीक हैं।

वाद्य-प्रतीक

शंख तो मङ्गल प्रतीक है ही। उसकी ध्वनि प्रणवनाद है। सभी कर्मोका प्रारम्भ हिंदू-समाज मन्त्रोच्चारणपूर्वक करता है और मन्त्रोंका मूल प्रणव है। अतः प्रणवनाद व्यक्त करनेवाला शंख सभी कार्योंमें मुख्य वाद्य है। मङ्गल-कार्योंमें वह मङ्गलका प्रतीक और युद्धमें विजयका प्रतीक है। इन्हीं उद्देश्योंसे उसका उपयोग होता है। देवाराधनसे लेकर संग्रामभूमितक वह सर्वत्र उपयोगमें आता है। जैसे प्रणव पवित्र है, वैसे ही शंखनाद तथा शंख भी। श्मशानादिमें उसका उपयोग नहीं होता।

किसी पाश्चात्त्य डॉक्टरने परीक्षण करके देखा था कि शंखनादसे प्लेग, इन्फ्लुएञ्जा तथा दूसरे संक्रामक रोगोंके कीटाणु मर जाते हैं। चूहे गिरते समय एक बार इसका प्रयोग किया गया और फिर बहुत थोड़े चूहे गिरे। दो-तीन दिनमें ही उनका गिरना बंद हो गया। जो चूहे पीछे गिरे वे प्रयोगसे पूर्व रोगी हो चुके होंगे, ऐसा उस समय अनुमान किया गया। शंखनाद जहाँतक गूँजता है वहाँतक भूत-प्रेतादि बाधक योनियोंके सूक्ष्म शरीरी प्राणी रह नहीं पाते, वे वहाँसे भाग जाते हैं ऐसा शास्त्रोंका कहना है। शंखनादमें एक झंकृति होती है। यह झंकृति हम देखते हैं कि कुत्तेको उद्विग्न कर देती है। वह शान्त नहीं रह पाता। शब्दको सह न पानेके कारण शंखनाद होनेतक उसी प्रकार चिल्लाता रहता है। इसी प्रकार वायु-शरीरी प्रेतादिकोंके शरीरके लिये भी शंखनादकी झंकृति असह्य होती है। इस प्रकार बाधक तत्त्वोंको दूर करके भी यह नाद मङ्गलको प्रशस्त करता है।

वाद्योंमें भेरी रणका प्रतीक है, वंशीका कोमल नाद अपने सम्मोहनके लिये प्रसिद्ध है ही। वीणा स्वयं वाद्य एवं गायनका प्रतीक है और मृदंग नृत्यका। डमरू उद्दाम नृत्यका प्रतीक है। इन वाद्योंको ठीक-ठीक बजाया जाय तो वे जिस भावके प्रतीक हैं, वे भाव हृदयमें प्रबलतासे उठते हैं, यह सभी जानते हैं। वाद्योंका शरीर और मनपर व्यापक प्रभाव पड़ता है, यह विवादका विषय नहीं है।

वृक्ष-प्रतीक

तुलसी, अश्वत्थ, वट, आँवला, अशोक, बिल्व आदि कुछ वृक्ष हिंदू-समाजमें नित्य या विभिन्न अवसरोंपर पूजित होते हैं। इनको विभिन्न देवताओंका प्रतीक माना जाता है। अनेक देवताओंकी प्रसन्नता इनके माध्यमसे प्राप्त होती है। यों तो सभी पदार्थोंके अधिष्ठाता देवता माननेसे हिंदू-समाजमें पूजा सबकी होती है; किंतु प्रतीक वृक्ष अपनी विशेषता रखते हैं। पीपल या तुलसीकी पूजा सामान्य वृक्षकी पूजासे भिन्न है। आजके आलोचक इन प्रथाओंको जब समझ नहीं पाते तो असभ्य युगके अवशेष संस्कार कहकर इनका उपहास करते हैं।

तुलसी, पीपल, आँवला, निम्बादिके भौतिक-शारीरिक लाभ बहुत हैं और आयुर्वेदशास्त्रमें उनका विस्तार है। उनके बहुत-से उपयोग सर्वसाधारण जानते भी हैं। यह सब होकर भी प्रत्येक आध्यात्मिक प्रतीकसे भौतिक लाभ ढूँढ़नेकी वृत्ति श्रेष्ठ नहीं है। दूर्वा और कुशके जो उपयोग पूजादिमें पावन प्रतीकके रूपमें हैं। पञ्चपल्लव, पञ्च समिधाएँ, शमी, आक आदिके जो उपयोग पूजामें वर्णित हैं, सबके लिये शारीरिक लाभकी कल्पना करनेकी प्रवृत्ति ही अच्छी नहीं है। पाश्चात्त्य सभ्यता जिस प्रकार शरीरको ही सब कुछ मानकर विचार करती है, हिंदू-संस्कृतिकी विचारधारा वैसी नहीं है। हमारे यहाँ शारीरिक लाभ तुच्छ वस्तु है। शरीरको सुखाकर, निर्बल करके ही तपस्या होती है और तपका जो महत्त्व शास्त्रोंमें है, वह सर्वविदित है। इसी प्रकार पूजा, उपासना आदिके धार्मिक प्रतीकोंका मुख्य प्रभाव मनसे सम्बन्ध रखता है। इसी दृष्टिसे ऋषियोंने पदार्थोंका तारतम्य निश्चित किया है।

तुलसीका वीरुध मलेरिया-नाशके लिये उपयोगी है, यह सिद्ध होनेपर भी उससे इसी कार्यके लिये अधिक उपयोगी दूसरी ओषधि अप्राप्य नहीं है, यह मानना पड़ेगा। यही बात सभी आध्यात्मिक प्रतीकोंके सम्बन्धमें तब कही जा सकती है, जब हम उसके भौतिक लाभका प्रतिपादन करके उसका महत्त्व सिद्ध करना चाहते हैं। वैसे जो व्यक्ति केवल भौतिक लाभतक ही विचार कर सकते हैं, उनके लिये भौतिक लाभका वर्णन भी ठीक ही है; क्योंकि जो भौतिक लाभके लिये तुलसीकी सेवा करेगा, उन्हें अपने गृहमें लगावेगा, वह उनके आध्यात्मिक लाभको भी कुछ-न-कुछ पावेगा ही। यों पूरा मानसिक लाभ तो श्रद्धाकी अपेक्षा

करता है। इतना होनेपर भी तुलसीका वास्तविक महत्त्व लाभकारी ओषधि होनेमें नहीं है। उनका महत्त्व तो पावनकारी प्रभावमें है। वट, पीपल, कुश, दूर्वादिके सम्बन्धमें भी यही बात है।

अन्नोंका सात्त्विक, राजस, तामस भेद जिस प्रकार मनके प्रभावकी दृष्टिसे निर्धारित है, वैसे ही वृक्षादि प्रतीकोंकी बात है। आयुर्वेदकी दृष्टिसे प्याज और लहसुन बहुत लाभकारी है। अनेक अवस्थाओंमें इनकी दुर्गन्ध भी दूर हो जाती है। इनमें हिंसादि दोष भी नहीं; किंतु ये तामसिक पदार्थ माने गये हैं। इनका सेवन शास्त्रवर्जित है। यह प्रभाव स्थूल विवेचनसे नहीं जाना जा सकता। अवश्य ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इसी प्रकार तुलसी आदिके दिव्य प्रभाव भी श्रद्धापूर्वक उनके सेवनसे अनुभवमें आते हैं। उनका स्थूल विवेचन शक्य नहीं है।

भाव-जगत्के स्थूल जगत्में मूर्त होने तथा प्रत्येक क्रिया एवं पदार्थके अधिष्ठाता देवता तथा उन दिव्य शक्तियोंका उन पदार्थोंसे सम्बन्धित होनेकी बात हिंदूशास्त्रोंमें स्पष्ट है। कौन-सा पदार्थ, कौन-सी क्रिया, किस दिव्य शक्तिसे सम्बन्धित है, वह सम्बन्ध कैसा है, यह हम चाहे न जान सकें; परंतु सर्वज्ञ ऋषियोंके वर्णनोंपर हमें श्रद्धा करनी चाहिये। लोकमें हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। कोई गुलाबके पुष्प और अमरूद पसंद करता है और कोई कमल और आम। इसी प्रकार पशु, पक्षी, स्थानादिके सम्बन्धमें भी सबकी रुचिमें भेद होता है। देवता भी चेतन हैं, अतः रुचि-भेद उनमें भी स्वाभाविक है। किस देवताकी कैसी रुचि है, कौन किस वस्तु या स्थानसे विशेष प्रेम रखता है, यह शास्त्रोंने निर्देश किया है। हम उन प्रतीकोंसे देवताको प्रसन्न करते हैं।

बहुतसे लोग मिर्चाके बिना भोजन नहीं कर पाते, ऐसे ही तुलसीदल पड़े बिना भगवान्को नैवेद्य नहीं रुचता। भगवती लक्ष्मीकी तृप्ति बिल्वकी समिधाओंमें दी गयी आहुतिसे अधिक होती है। पीपल देवताओंको इतना प्रिय है कि सब उसके विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हैं। जैसे गौके शरीरमें। इसी प्रकार अनेक देवशक्तियोंका अनेक तरुओंमें निवास है। कुश और दूर्वामें मनको शान्त करनेकी शक्ति है, कुछ उसी प्रकारकी प्रभाव-शक्ति जैसी किसी महापुरुषके समीप चुपचाप बैठनेसे प्रतीत होती है। —इस प्रकार सभी प्रतीक अपना आध्यात्मिक महत्त्व रखते हैं।

वेश-प्रतीक

शिखा, यज्ञोपवीत, मेखला, तिलक, माला, गैरिकादि वस्त्र, दण्ड—ये वेश-प्रतीक हैं। आजकलके सुशिक्षित इन सब चिह्नोंका परिहास करने लगे हैं। आज समाजमें ये हीनताके द्योतक हो गये हैं। एक सज्जनसे पूछा गया—'आपने चोटी क्यों कटवा दी?' उत्तर मिला—'टोपीसे बाहर निकल जाती थी।' इस अपराधपर चोटीको सफाचट होनेका दण्ड देनेकी भावना जहाँ व्याप्त हो गयी हो, वहाँ यह कैसे समझा जा सकेगा कि चोटीके बदले मस्तक कटवा देनेवाले धर्मशूरोंमें चोटीके प्रति कितना भाव था। समाजमें गौरवके लिये प्राण देनेकी प्रवृत्ति सदा रही है। जब धर्मके लिये प्राण देना गौरवकी बात थी, तो धर्मपर चाहे जितने संकट आये हों, वह सुरक्षित था; परंतु आज तो धर्मके चिह्न रखना भी अपमानका कारण होता है। अपमान, तिरस्कार सहकर कोई काम करना सहज नहीं। धर्मपर वास्तविक संकट तो पाश्चात्त्य विचार-धाराके रूपमें इस समय आया है। इस समय जो विवेकको स्थिर रख सके, वही धर्मात्मा है। धर्मके इन प्रतीकोंपर पृथक्-पृथक् थोड़ा-थोड़ा विचार करते चलना ठीक होगा; क्योंकि आजके तर्कयुगमें इनकी उपयोगिता जान लेना बहुत आवश्यक हो गया है।

शिखा—हिंदू-समाजकी आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार मुण्डन-संस्कारके साथ ही शिखा रख दी जानी चाहिये। वैसे ब्रह्मचारी और वानप्रस्थोंके लिये तो जटा रखनेका आदेश है और संन्यासी या तो जटा रक्खे या पूरा सिर मुँड़ा दे, ऐसा आदेश है। उसके लिये शिखा-न्यास हो चुका है। शिखा गृहस्थोंमें ही रक्खी जाती है। उनमें भी जो चाहें, पूरे सिरके बाल रक्खें, इसमें बाधा नहीं है। पूरे मस्तकमें बाल रखनेवाले गृहस्थ और जटा रखनेवाले ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थ भी शिखा-न्यास करते तथा शिखाका ग्रन्थिबन्धन करते हैं। जो शिखा रखते हैं, उनको गोखुरके आकारकी शिखा रखनी चाहिये, ऐसा आदेश शास्त्रका है।

शिखा रखनेका अधिकार चारों वर्णोंको है। इसका अर्थ है कि हिंदू-शास्त्र मनुष्यमात्रको शिखा रखनेका अधिकारी मानते हैं। अवश्य ही यह आवश्यकता पुरुषोंके लिये ही है। पुराणोंके अनुसार महाराज सगरने जिन हूण, किरातादिकोंको पराजित किया, उनको धर्मच्युत करनेके लिये उनकी शिखाएँ या तो मुँड़वा दीं या उनकी ठीक स्थानकी शिखा मूड़कर सिरमें अन्यत्र दो या तीन शिखाएँ रखवा दीं। प्राचीन

कालमें किसीका पूरा सिर घुटवा देना प्राणदण्डके बराबरका दण्ड माना जाता था। पूरे सिरके घुटवानेमें शिखा घुटवाना ही मुख्य है, क्योंकि शेष मस्तक घुटवानेकी तो समाजमें प्रथा थी ही। इससे सूचित होता है कि शिखाका सम्बन्ध धर्मसे है और धर्मच्युति तो धर्मप्राण हिंदूके लिये प्राणदण्डके समान दण्ड है ही।

संध्या नित्य-कर्म है। संध्याके त्यागसे व्यक्ति धर्मच्युत हो जाता है, यह शास्त्रोंने बार-बार आदेश दिया है। संध्यामें शिखाबन्धन आवश्यक है। इसी प्रकार सभी संस्कारोंमें न्यास होते हैं। अंगन्यासमें एक न्यास शिखामें होता है। दूसरे अंग तो शरीरमें रहेंगे; परंतु यदि शिखा मुड़वा दी जाय तो शिखान्यास कैसे होगा? न्यासकी अपूर्णतासे संस्कार अपूर्ण रहता है। संस्कारहीन व्यक्ति धर्मच्युत है, इसमें तो कुछ कहना ही नहीं है।

विश्वमें मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो आकाशकी ओर सीधे मस्तक करके चलता है। केवल मनुष्यके बालोंके रंग जीवनमें बदलते हैं। शेष सभी प्राणियोंके बाल एक ही रंगके जीवनपर्यन्त रहते हैं। पशुओं और मनुष्यमें मुख्य अन्तर क्या है? 'धर्मो हि एकोऽधिको विशेषः।' केवल धर्मकी भावना। बुद्धि तो बहुतसे पशुओंमें भी बहुत है। धर्म-धारणकी शक्ति, मनुष्यको जो सिखलाया जाय, उसे सीखनेकी उसमें शक्ति है। वह ईश्वरीय ज्ञानको धारण करनेवाला है। इस विशेषताके साथ मनुष्यके बालोंमें जो विशेषता आयी, वह बालोंका सम्बन्ध इस विशेषतासे सूचित करती है। शिखाका स्थान सिरका केन्द्रभाग है। वहाँके बाल दिव्य-जगत्के आध्यात्मिक प्रभावको ग्रहण करते हैं। शिखा-ग्रन्थि उस प्रभावको व्यवस्थितरूपमें प्राप्त करनेके लिये है। मनुष्यमात्र इस प्रभावसे लाभ उठावें, इसीसे उसमें सबका अधिकार माना गया है। जो पूर्णज्ञानकी परिपक्वावस्थामें पहुँच गये हैं, वे लोग यदि शिखा रक्खें तो फिर उस माध्यमसे उनका प्रभाव बाहर जायगा; क्योंकि पात्रके पूर्ण होनेपर द्वार बंद न हो तो उसके पदार्थके गिरनेका भय होता है। इसीसे संन्यासियोंके लिये शिखा-न्यासकी विधि है। स्त्रियाँ भावप्रधान होती हैं। अतः उन्हें भावके द्वारा ही आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिये। ज्ञानात्मक प्रभाव बौद्धिक विकारका उनके लिये कारण हो सकता है। उनके लिये शिखा, न्यासादि किसी कर्मकी आवश्यकता मानी नहीं गयी।

जो अनधिकारी हैं, व्यसनी हैं वे ज्ञानका दुरुपयोग करते हैं। वे धर्मको दम्भ बना लेते हैं। उनकी बुद्धिमें जितना तत्त्वज्ञान विकसित होगा, वे उसका उतना ही दुरुपयोग करेंगे। इसीलिये ऐसे उच्छृंखल लोगोंकी शिखा मुण्डित कर दी जाती थी और वे आगे शिखा न रक्खें, यह आदेश दे दिया जाता था। उनको ज्ञानका अधिक दुरुपयोग करने देना अभीष्ट नहीं था। धर्मकी धारिका शक्तिको प्राप्त करके वे उसका दुरुपयोग ही करते।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग समाजमें दम्भ एवं बुद्धिका दुरुपयोग करें, समाजको चाहिये कि उन्हें शिखाहीन कर दे। शेष समस्त मनुष्योंको शिखा रखना चाहिये। शिखाका त्याग जहाँ भी हुआ है, विचारपूर्वक नहीं हुआ है।

यज्ञोपवीत—यज्ञोपवीत पहले वर्णभेदसे ऊन, रेशम और सूतके होते थे। ब्रह्मचारी मूँजका यज्ञोपवीत धारण करते थे। यज्ञोपवीतका अधिकार द्विजातियोंको ही है। उपनयन-संस्कारसे यज्ञोपवीत प्राप्त होता है। यह इस बातका चिह्न होता कि व्यक्ति द्विजाति है। उसे वेदोंके श्रवण एवं पठनका अधिकार है। अनधिकारीके वेद श्रवण करनेसे सुननेवालेकी ही हानि होती है। यदि वह पढ़नेका प्रयत्न करे तो उसकी हानि होगी और पाठ विकृत होगा। अनधिकारीको देखते ही ज्ञान होनेके लिये यज्ञोपवीत उत्तम प्रतीक था।

यज्ञोपवीतसे कोई शारीरिक लाभ ढूँढ़ना व्यर्थ है। ऐसा होता तो उसमें मनुष्यमात्रका अधिकार होता। यज्ञोपवीत स्मारक प्रतीक है। वह नित्य स्मरण दिलाता है कि वेदकी त्रयी पद्धति कर्म, ज्ञान एवं उपासनाके द्वारा देव, पितृ तथा ऋषि-ऋणसे उऋण होना है। इन ऋणोंसे छूटनेपर संन्यासी यज्ञोपवीतका त्याग कर देता है। जिन वर्णोंको वेदत्रयी तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमोंमें प्रविष्ट होकर चलना है, उन्हींके लिये यज्ञोपवीत है। चतुर्थ-वर्णका तो एक ही आश्रम है गृहस्थ, एक ही धर्म है—सेवा। उसपर जो ऋण है, वह एकाकार है। सेवासे ही वह दूर हो जाता है। उसे इस स्मारक-प्रतीककी आवश्यकता नहीं है।

शरीरके अनेक अंगोंमें अनेक देवताओंके स्थान हैं। व्यष्टिमें भी समष्टिकी पूरी सत्ता संक्षिप्तरूपसे है। यज्ञोपवीत

अनेक कर्मोंमें सव्य, अनेकमें अपसव्य तथा कुछमें कण्ठीकी भाँति करके वे कर्म किये जाते हैं। जैसे पूजनके यन्त्र देव-शक्तिको व्यक्त करनेके पीठ होनेसे देवविग्रह माने जाते हैं, वैसे ही यज्ञोपवीत भी तीन व्याहृतियोंवाली गायत्रीका स्वरूप है। वह गायत्री पीठ है। यज्ञोपवीतके साथ गायत्रीका अधिकार प्राप्त होता है, उसका नित्य जप अनिवार्य होता है और यज्ञोपवीतके न्यासके साथ गायत्रीका न्यास हो जाता है। यज्ञोपवीतके तार गायत्रीकी व्याहृतियोंके पीठ हैं। मेधाले जैसे गायत्रीका सम्बन्ध है, वैसे ही गायत्रीका भी है। यज्ञोपवीतको अपसव्य या कण्ठी वहीं करना पड़ता है, जहाँ किसी ऐसी शक्तिको तुष्ट करनेकी बात है, जो गायत्रीकी पवित्रतासे दूर रहनेवाली है। यज्ञोपवीतके द्वारा गायत्रीकी शब्द-शक्ति एवं दिव्य शक्ति हमें प्रभावित करती है, इसीसे उसका यह व्यक्त पीठ उसीके समान पवित्र माना जाता है। यन्त्रों एवं मूर्तिपीठोंकी भाँति इसकी पवित्रता, रक्षा, धारण-विधि आदिकी भी निश्चित मर्यादाएँ हैं। यन्त्रोंके समान ही इसके निर्माणकी विधि एवं माप है। गायत्री व्यापक तत्त्वका मन्त्र है और यज्ञोपवीतकी ब्रह्मग्रन्थि इसे ही सूचित करती है। उसमें ग्रन्थित्रय, ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि वही हैं जो साधनामें जीवको भेदन करनी पड़ती है। तन्त्रशास्त्रमें इन ग्रन्थियोंके भेदन एवं स्वरूपका विशद वर्णन है। व्याहृतित्रयीसे ग्रन्थिभेद पूर्ण होनेपर चतुर्थाश्रय तथा तुरीय स्थितिमें यज्ञोपवीत एवं व्याहृतिका न्यास होकर प्रणवमात्र अवशिष्ट रहता है। संन्यासीका मन्त्र प्रणव ही है।

मेखला—मूँजका प्रभाव भी मनपर कुशके समान ही पड़ता है। मूँजकी मेखला ब्रह्मचारी धारण करता है। गृहस्थ कटिसूत्र सूत या रेशमका धारण करते हैं। अब कटिसूत्रकी प्रथा उठती जा रही है। कटिसूत्र संयमका सहायक है। मेखला और उसकी कटिके पृष्ठकी ग्रन्थि व्यक्तिको चित (पीठके बल) सोनेमें बाधा देती है। इससे ब्रह्मचर्यकी रक्षामें सहायता मिलती है। स्वप्नदोषका भय नहीं रहता। कटिसूत्र इतनी प्रबल सहायता तो नहीं देता, परंतु वह कटिकी स्नायुओंको प्रभावित, संयत किये रहता है। इसी शारीरिक लाभके कारण कटिसूत्रके मानवमात्र अधिकारी माने गये हैं। सभीको इसे धारण करना ही चाहिये।

तिलक—तिलकके मुख्य भेद दो हैं—ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा त्रिपुण्ड्र। ऊर्ध्वपुण्ड्र वैष्णव लगाते हैं और त्रिपुण्ड्र शैव। शक्तिका तिलक है और इसे दोनों ही किसी-न-किसी रूपमें लगाते हैं। चन्दन, भस्म आदि पदार्थके भेदसे, रेखाओंके स्थान, परिमाण, स्वरूप, रंग आदिके भेदसे तिलकके बहुत भेद होते हैं। तिलक लगानेकी परिपाटी हिंदू समाजमें अनादि कालसे है। तिलक निष्ठा, शोभा, शृङ्गार एवं विभूतिका प्रतीक है।

आकृति, पदार्थ रंगादिके भेदके कारण तथा उनके प्रभावपर सम्प्रदायोंके तिलक-माहात्म्य एवं स्वरूप-वर्णनमें विभिन्न ग्रन्थोंमें बहुत कुछ कहा गया है। यहाँ उसका विस्तार शक्य नहीं। तिलक लगानेका मुख्य स्थान ललाट है; परंतु और भी ग्यारह स्थान तिलक करनेके हैं। बारह स्थानोंपर तिलक किया जाता है। पदार्थोंके प्रभाव, रंगके प्रभाव तथा शरीरके स्थानोंकी विशेषताका ध्यान रक्खें तो तिलकका प्रभाव समझमें आ सकता है। अपनी निष्ठा एवं साधनके अनुकूल प्रभावकी प्राप्तिके लिये तिलकके पदार्थ, आकृति आदिमें भेदका विधान होता है।

माला—मालाके पदार्थ बहुत माने गये हैं—रुद्राक्ष, तुलसी, पद्मकाष्ठ, स्फटिक, कमलगट्टा, शंख, सूत, स्वर्णादि। मालाका उपयोग जपके लिये, कण्ठादिमें धारणके लिये और शृङ्गारके लिये होता है। शृङ्गारके सम्बन्धमें कुछ कहना नहीं है। निष्ठाके भेदसे, साधन-प्रकार एवं उद्देश्य-भेदसे शास्त्रोंने विभिन्न वस्तुओंकी मालाका विधान किया है। तिलकके समान मालाके धारणके भी अंग हैं। मालाके पवित्र पदार्थोंका प्रभाव उसे धारण करनेवालेपर पड़ेगा ही। मालाकी मणियोंकी संख्या, माला गूँथनेकी विधि आदि सब प्रभावको दृष्टिमें रखकर निर्धारित हैं।

गैरिक वस्त्र—ऐसा कहीं कोई विधान देखनेमें नहीं आया कि गृहस्थ गैरिक वस्त्र न पहिनें; किंतु यह विधान अवश्य है कि संन्यासी वल्कल, मंजिष्ठमें रँगे वस्त्र या गेरूमें रंगे वस्त्र ही पहिनें। गैरिक रंग वैराग्यका सूचक है। उसका प्रभाव मनपर उदासीनताजनक होता है। इस रंगमें जो रासायनिक गुण हैं, वे व्यक्तिकी चञ्चलता एवं असंयमको बहुत कुछ रोकते हैं—प्रभावित करते हैं। इसीसे यह रंग त्यागका प्रतीक माना गया।

दण्ड—'दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्' सलिङ्ग संन्यास लेनेका अधिकार केवल ब्राह्मणको है। अतएव ब्राह्मण ही दण्ड ग्रहण करके संन्यासी होता है।

क्षत्रिय तथा वैश्य अलिङ्ग संन्यासी हो सकते हैं। भगवान्ने बताया है कि मन, वाणी तथा शरीरसे उत्पीड़ित होनेपर भी किसीको दण्ड न देना ही दण्ड ग्रहण है। दण्ड इस बातका प्रतीक है कि 'मैं किसी प्रकार किसीको दण्ड न दूँगा। मैंने दण्ड देनेकी वृत्ति मुट्ठीमें ले ली है।' जैसे रेडक्रॉसका चिह्न निरपेक्ष चिकित्साका परिचायक है। इसी प्रकार सचमुच जिसने दण्ड ग्रहण कर लिया है, वह तो भगवत्स्वरूप है ही; अन्यथा तो वही श्रीभगवान् भागवतमें कहते हैं 'वेणुभिर्न भवेद् यतिः।' बाँसका दण्ड लेनेसे कोई यति नहीं हो जाता।

ब्रह्मचारी पलाशदण्ड धारण करते हैं। उनका दण्ड संन्यासीके दण्डसे भिन्न प्रतीक है। ब्रह्मचारीका दण्ड तो व्रतस्थका परिचायक है; पर संन्यासीका दण्ड तो समस्त दण्ड एवं कर्मके न्यासका प्रतीक है। इसीसे संन्यासीके लिये तीर्थमें केवल दण्डको स्नान कराने तथा प्रतिमाका दण्डसे स्पर्श करनेकी विधि है।

संकेत प्रतीक

हिंदू समाजमें मुद्राओंका बहुत अधिक महत्त्व है। वेद-पाठमें तो शरीर ही वीणा मान लिया जाता है। मुद्राएँ शरीरको इस प्रकार प्रभावित करती रहती हैं, जिससे मन्त्रोंका स्वर शुद्ध उच्चरित हो। इसी प्रकार योगकी मुद्राएँ भी शरीरपर विशेष प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये ही निश्चित हैं। इनके अतिरिक्त कुछ मुद्राएँ संकेत हैं। इन्हीं मुद्राओंको संकेत प्रतीक कहा जाता है। नृत्य, गान, चित्र एवं मूर्तिकलामें इन मुद्राओंके द्वारा भावोंकी अभिव्यक्ति होती है।

इन संकेत प्रतीकों या मुद्राओंके द्वारा जिन भावोंकी अभिव्यक्ति होती है, वे भाव इन मुद्राओंसे नित्य सम्बन्धित हैं। जैसे संस्कृतके शब्द या ब्राह्मी लिपिकी अक्षराकृतियाँ और रंगोंके प्रतीक अपने भावोंके नित्य प्रतीक हैं, वैसे ही ये मुद्राएँ हैं। इनके द्वारा जो भाव व्यक्त होते हैं, वे बिना व्याख्याके भी सहज विचारसे समझे जा सकते हैं। मौन मुद्रा, तर्जन मुद्रा, ज्ञान मुद्रा आदिके स्वरूपपर विचार करते ही उनका भाव स्पष्ट हो जाता है। दोनों ओष्ठोंको बंद करके उनपर एक अंगुली रख देनेसे चुप रहनेकी मौन मुद्रा हो जाती है। तर्जनी तथा अङ्गुष्ठको मिलाकर शून्य बनाते हुए शेष तीनों अंगुलियोंको सीधी कर देना ज्ञान मुद्रा है। शून्य-पूर्ण और उससे त्रिगुणात्मिका प्रकृति, इनका संकेत ही तो ज्ञान है। इसी प्रकार दूसरी मुद्राएँ भी अपने भावोंसे नित्य सम्बन्धित हैं।

प्रतीक—इस शब्दका अर्थ है प्रतिमा। प्रतिमा ऐसी होनी चाहिये जो मुख्य वस्तुको पूर्णतः सूचित करे। भारतका प्रतीक—भारतकी प्रतिमा या मानचित्र वही उपयुक्त होगा जो भारतके स्वरूप, गुण, आदर्शादिको सूचित कर सके। इस दृष्टिसे कल्पित प्रतीक किसी कामके नहीं रह जाते। नित्य प्रतीक ही किसीके प्रतीक हो सकते हैं। हिंदू-शास्त्र एवं समाजने जीवनके प्रत्येक अंशमें नित्य प्रतीकोंका आयोजन किया, उन्हें समझा और अपनाया। विश्वमें प्रतीक-भावनाका विस्तार हिंदुओंसे ही हुआ। आज चाहे कुछ जातियाँ अपनेको मूर्ति-पूजाकी विरोधी बतलावें, पर प्रतीककी मान्यताके बिना उनका काम भी नहीं चलता। प्रतीककी धारणा विश्वमें हिंदू-धारणासे ही ग्रहण की गयी है और अब विकृत होते-होते वह कल्पित गूढ़ प्रतीकोंतक जा पहुँची है। यह प्रतीककी गूढ़ता यहाँतक बढ़ गयी कि कलाके क्षेत्रमें वस्तु गौण होकर प्रतीक ही प्रधान हो गये। प्रतीकवाद (छायावाद) इस प्रकारसे पाश्चात्य होकर भी भारतीय प्रतीकवादकी प्रतिच्छाया ही है।

मीरा-गिरधर-मिलन

(रचयिता—श्री'प्रेमी' साहित्यरत्न)

घम घमाक घमकति रही, घूँघरु गिरे खिसाइ।
खिस न जाइ मीरा कहीं, गिरधर हिये छिपाइ॥
घट-घट मैं गिरधर छिपै, कोउ गिरधर-घट नाहिं।
धन-धन मीरा तू छिपी, गिरधरके घट माहिं॥

विश्वासी जीवन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

विश्वासके साथ विवेक न होनेके कारण सहस्रों मनुष्य हानि उठाते हैं, दुःख पाते हैं। विश्वास मनसे होता है, विवेक बुद्धिके स्तरसे होता है । विश्वाससे मार्गमें चलना होता है और विवेकसे उसे देखते रहना होता है । सुननेसे विश्वास होता है, देखकर श्रद्धापूर्वक ज्ञान होता है ।

यदि यह विश्वास है कि अमुक पुरुष धर्मात्मा है, सदाचारी है तो बुद्धिपूर्वक यह भी देखना उचित है कि वह किस सीमातक सदाचारी और धर्मात्मा है । यद्यपि किसीको पहलेसे ही अपराधी, अधर्मी, अभक्त और अज्ञानी मान लेनेकी अपेक्षा सदाचारी, धर्मात्मा, भक्त और ज्ञानी मानना लाभकी बात है, अति शुभ और सुखद है तो भी माननेके आगे बुद्धि-विवेकद्वारा किसीके सदाचार, त्याग, तप, ज्ञान और प्रेमको उसके अन्तर्जीवनमें देखना भी परमावश्यक है । विश्वास करनेवाले ऐसे अनेक श्रद्धालु हैं जो किसीको सदाचारी मानकर व्यभिचारी बननेका मार्ग सुलभ कर देते हैं, त्यागी मानकर अपनी सेवाओंसे रागी बना देते हैं, परम तपस्वी मानकर भोगी बना देते हैं और भक्त मानकर भक्तिकी साधनासे भी नीचे गिरा देते हैं । जिसमें कुछ गुरुता और दैवी गुणोंकी विशेषता नहीं है, उसे संत-महात्मा मानकर विश्वास करते हैं और पूर्णरूपसे उसपर निर्भर होकर एक दिन उसकी लघुतासे आकस्मिक हानि उठाते हैं ।

जिसके हृदयमें केवल आत्मकल्याण तथा भगवद्भक्ति और दोषोंसे मुक्ति पानेकी ही अभिलाषा है, वह पुरुष किसीपर भी विश्वास रखकर भगवान्की कृपासे कल्याण-काम करता है, पर रागी, लोभी और मोही व्यक्ति धोखा खाता है । भ्रमतिहीन व्यक्तियोंको स्वयं बनने और दूसरोंको मनमाने ढंगसे बनानेका अभ्यास पड़ जाता है । कोई शिष्य बननेके लिये किसीको गुरु बनाता है तो कोई गुरु बननेके लिये किसीको शिष्य बनाता है । सच तो यह है कि सत्यज्ञानकी जिज्ञासा जाग्रत् होते ही कोई शिष्य हो जाता है और उस जिज्ञासाकी पूर्ति करनेवाला गुरु हो जाता है । गुरुका सङ्ग सुलभ होते ही गुरुता ग्रहण करनी चाहिये । ज्ञानीकी स्तुति नहीं करनी चाहिये, उसके ज्ञानको पाना चाहिये । त्यागी, तपस्वी और प्रेमीके मोह, पूजा और आसक्तिमें न रुककर उनके त्याग, तप और प्रेमको अपनाना चाहिये । व्यक्तित्वकी उपासना-आराधना न कर सत्य-ज्ञान, सत्य-प्रेम, सत्य-त्याग और सत्य-तपके प्रेमी, उपासक और सुयोगी होकर रहना कल्याणप्रद है । असत्-दर्शी व्यक्ति असत्की उपासना और आराधना करते हैं । सत्यके खोजी सत्यदर्शी हो जाते हैं, सत्यकी उपासना करते हैं और कभी धोखा नहीं खाते हैं ।

परमेश्वरको दयालु और न्यायी मानकर कहीं भयातुर होना, दुखी होना और दूसरोंको दोष देना बहुत बड़ा अपराध है, इससे तो अपरिमित प्रेममय, न्यायी और दयालु ईश्वरको न मानना ही सिद्ध होता है । परम प्रभुके विधानमें कोई भूल ही नहीं हो सकती है, ऐसा कुछ हो ही नहीं सकता है जो न होना चाहिये,—यही विश्वास है । विश्वासी भक्त जानता है कि जितने दुःख-दण्ड हैं वे दोषपूर्ण कर्मोंके फल हैं और जितने समृद्धिजनित सुख हैं वे पुण्योंके फल हैं; ऐसा सोचकर वह विवेकी मौन होकर सब कुछ देखता-चलता है ।

सत्य-तत्त्वका ज्ञानी वह है जो संसारके देहादि पदार्थोंसे विरक्त होकर प्रत्येक दशामें निर्भय, निश्चिन्त,

बन्धनमुक्त और शान्त रहता है।········परम शान्तिकी प्रगतिका सरल साधन त्याग है। त्याग करनेमें जब देहासक्ति, सुखासक्ति और सम्बन्धासक्ति बाधा डालती है तब त्यागका बल प्राप्त करनेके लिये जो कुछ संयम, निरोध और अभ्यास करना पड़ता है, वही तप है। वास्तवमें स्वधर्म-पालन ही तप है। ईश्वरकी आराधना, गुरुकी उपासना, सुपात्रोंकी सेवा करते हुए शीत, उष्णता और वर्षाके कष्टोंको धैर्यपूर्वक सहना तथा सदाचार-ब्रह्मचर्य-अहिंसा-व्रतका पालन करना शारीरिक तप है। वाणीमें संयम रखना, असत्य न बोलना, किसीकी निन्दा न करना, कठोर वचन न बोलना और मितभाषी तथा अधिकतर मौन रहना वाणीका तप है। सद्भावोंको ही हृदयमें स्थान देना निरन्तर परमात्माका ही मनन-चिन्तन-स्मरण करना और विषय-वृत्तियोंका त्याग करते हुए रहना मनका तप है। परमार्थ-पथमें बढ़ते हुए कष्टोंको धैर्यपूर्वक सहते रहना आन्तरिक तप है। इस प्रकारके तपसे शक्ति बढ़ती है।

भक्तिका सर्वोच्च साधन भगवान्‌का विरह है। यह विरह तभी जाग्रत् होता है जब जीवनके लिये भगवान्‌के योगानुभवकी परमावश्यकता—भूख प्रतीत होती है। परमाधार चिन्मय परमात्माके सम्मुख हो जाना ही विश्वासी जीवन है। अपने आपको सर्वत्र उन्हींमें अनुभव करना चाहिये। उन्हींसे अपनी उत्पत्ति है इसलिये उन्हींको देखते रहना चाहिये। जो अपनेसे उत्पन्न हुआ है और अपने आगे है, उसीको ही नहीं देखते रहना चाहिये। अपने आगे नामरूपमय संसार है; पीछे नामरूपमय जगत्‌के प्रकाशक सत्याधार परमात्मा हैं, उन्हींका हृदयमें चिन्तन करना चाहिये। निज स्वरूप 'अहम्' को परमात्मामें लीनकर अहंमें परमात्माकी सत्ताका अनुभव करना ही विश्वासका कल्याणकारी पथ है।

द्रौपदी-लज्जा-रक्षण*

चौपाई—दूसासन कर पकर्‌यो चीर। भीमसैनि थरहर्‌यो सरीर॥
कही जुधिष्ठिरसौं अकुलाय। आयस दै त्रिय लैहुँ छुड़ाय॥
राजा ऊतर कछू न दीनौं। तब उद्दिम दूसासन कीनौं॥
पंचाली सुमिरे अकुलाय। दीनबंध किनि करौ सहाय॥

छन्द—जिनि की पतिनी तिनि पतीन की तुम्हें पति, खोवत पतित पति गति कै कसाई की।
राँनी अकुलाय कही फाटि हू न जात मही, कैसैं जाती सही दुष्ट दूसासन दाई की॥
कीनी कर्न काँनि नहीं, द्रोन न गिलानि करी, तजी पहिचाँनि वाँनि भीषम भलाई की।
जैसें पहलाद काज कीनैं हे इलाज त्यौं ही, कीजै महाराज आज लाज सरनाई की॥

सवैया—काहू की बार सह्यो गिरि भार-सु, काहूकी बार अमादे ही धाए।
काहू की वार बिदारि अदेव सु, काहू की वार पयादे ही धाए॥
काहू की वार कौं पाहन फारि कढे नरसिंह के रूप ही आए।
दीन के नाथ कहाइ कैं वे तुम, वार हमारी कहाँ बिसराए॥

* गीताप्रेसके प्राचीन ग्रन्थ-संग्रहालयमें संगृहीत 'विजयमुक्तावलि' नामक ग्रन्थसे उद्धृत। यह ग्रन्थ महाभारतके अठारहों पर्वोंके आधारपर रचित है। अधिकतर युद्ध-प्रसङ्ग है। इसके रचयिता हैं भदावर ग्राम अटेरी-निवासी श्रीछत्रसिंह श्रीवास्तव। रचनाकाल संवत् १७५७ है।

छन्द दण्डक—मेटि कुल काँनि मानौं जाँनि-पहिचाँनि नहीं, द्रोपदी सभामें आँनि गह्यो छोर चीर कौ।
राँनि अकुलाय कही, फाटहू न जाय मही, हूजिये सहाय धरयो ध्याँन जदुवीर कौ ॥
दीननिकी लाज, राखि लीजै महाराज आज, और कहीं का सौं कोऊ हीर कौ न पीर कौ।
जोरैं साथ दूसासन हाथ थके पाथर-से, छूटयो नहीं क्यौं हूँ पट रंचक सरीर कौ ॥

साहस सहित वल वाहस विलाय गए, भीषम समेति कोऊ वोलत न तट कौ।
ब्याल-से विसाल कालदंड तैं कराल वाहु, ऐंचि ऐंचि थाको वर दूसासन भट कौ ॥
आस छाँडि पति की, निरास वाँम टेरयो हरि, करुनाँनिधाँन सवद सुन्यौ दीन रट कौ।
देह तैं कढ्यो है पट कोटि न मढ्यो है छत्र, द्रोपदी दुकूल वढ्यो जैसे सूत नट कौ ॥

भीमसैंनि भीर तजी, पारथ हू पीर तजी, धीर सजी धर्मपुत्र सत्त मैं दिढाइ कैं।
भीषम हू वाँनि तजी, द्रोन पहिचाँनि तजी, कर्न तजी काँनि, रह्यो विदुर वराइ कैं ॥
बुद्धि कुरराज तजी, दूसासन लाज तजी, ऐंचि ऐंचि हारयो पट खरोई खिसाइ कैं।
वार न लगाई, करी द्रोपदी की भाई, तहाँ साँकरे सहाई जदुराय भयौ आइ कैं ॥

दोहा—ऐंचि ऐंचि हारयो पट हि, दूसासन अकुलाय।
थाकि रह्यो करि वर घनो रही सभा अरगाय ॥

भीमसैंनि उवाच—

मारि डारौं रन मैं निकारि डारौं गर्व सर्व, मूल तैं उखारि डारौं वाहु दूसासन के।
तोरि डारौं जानु-जंघ दुष्ट दुर्योधन के, तनक तनक करौं दुष्ट निकेतन के ॥
चाहि मुख नृपति जुधिष्ठिर कौ भीम कहै, आयस जो देहु सवै सारौं काज मनके।
हम हिं अछित खल चीर गह्यो द्रोपदीकौ, धमकत हिये माँझ जैसें घाय घन के ॥

दोहा—द्रुपद सुता कौ इन गह्यो जिहि कर दुष्ट दुकूल।
हौं वर वाहु उखारि हौं तेई भुजा समूल ॥
द्रुपदसुता हि न्हवाइ हौं ताँके रुधिर मँझार।
भीम पैज वोली तहाँ इहि विधि वारंवार ॥

भीषम उवाच—

दोहा—साँचै हू जाये अंधके अछित द्रगनि जे अंध।
चले कहाई एक की ऐसे ही सव वंध ॥
महिमाँ करुनासिंधकी देखत है खल नैन।
भए लटपटे मूढ भुज ऐंचत पट निवरै न ॥
श्राप देहि त्रिय क्रोध करि सभा भस्म ह्वै जाइ।
हौंनी है सो क्यों मिटै, देखि देखि पछिताइ ॥

सुनी सकल धृतराष्ट्र यह तत छिन ही अकुलाय।
धर्मपुत्रजुत द्रौपदी लये निकेत वुलाय ॥
समाधाँन संतोष करि दीनै ग्रेह पठाइ।
पहुँचे त्रिय जुत इंद्रपथ पाँचौं वांधव आइ ॥

हमारा नैतिक पतन

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

आवश्यकताओंकी पूर्ति न होना और धनको अत्यधिक महत्त्व मिलना—ये दोनों अनैतिकताके प्रधान कारण हैं। 'अभावसे स्वभाव नष्ट' और 'मरता क्या न करता'—ये कहावतें इसी दीर्घकालीन अनुभवको व्यक्त करती हैं। विपत्तिके समय भी नीतिमें दृढ़ रहनेवाले विरले ही होते हैं, ऐसे व्यक्तियोंको ही आदर्श पुरुष बताकर धार्मिक ग्रन्थोंमें उनका गुणगान करते हुए जनताको वैसे बननेकी प्रेरणा की गयी है।

अनैतिकताका जो दूसरा कारण है—वह तो सर्वथा हेय है। मध्ययुगमें धनको बहुत महत्त्व दिया गया। समाजमें सर्वाधिक प्रतिष्ठा उसीको मिली जिसके पास अधिक संग्रह है। विद्वानों एवं गुणीजनोंका निर्वाह भी उन्हींके द्वारा होनेसे विद्वान्‌की प्रतिष्ठा फीकी पड़ गयी। मुद्राके द्वारा वस्तुओंके लेने-देनेका व्यवहार बढ़नेपर सब आवश्यकताओंकी पूर्तिका माध्यम मुद्रा बन गयी। फलतः उसके अधिकाधिक संग्रहका प्रयत्न होना स्वाभाविक था। ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, मनुष्यका लोभ उसी अनुपातसे बढ़ता जाता है और उस लोभ तथा तृष्णाके कारण मानव नीति-अनीतिका विचार भूलकर, जिस-किसी भी प्रकारसे हो, मुद्रा एवं अन्यान्य वस्तुओंके अधिकाधिक संग्रहमें जुट जाता है। इस वृत्तिके परिहारके लिये तत्त्व-चिन्तकोंने संतोषको ही परम सुखका कारण तथा जीवनके लिये आवश्यक बतलाया है; क्योंकि तृष्णाका कहीं अन्त नहीं, वह द्रौपदीके चीरकी भाँति बढ़ती ही चली जाती है।

जीवनके प्रत्येक व्यवहारमें स्वार्थवश अनैतिकता घुस गयी है। भारतमें इस कलुषित वृत्तिको हटानेके लिये बड़े-बड़े धर्मग्रन्थोंका निर्माण हुआ। विधि, नियम बनाये गये। हजारों कथाओंका निर्माण किया गया। धर्मप्रचारकोंने जोरोंसे धार्मिक या नैतिक नियमोंको प्रचारित किया। फलतः दया, परोपकार, स्वधर्मपालन-दृढ़ता, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोषी-संयमित जीवनके अनेक आदर्श दृष्टान्त मिलते हैं। उनको बतलाकर इन गुणोंके अधिकाधिक विकासपर जोर दिया गया है। इसी प्रकार आश्रमोंकी व्यवस्थाद्वारा मनुष्यके नैतिक स्तरको ऊँचा उठानेका प्रयत्न किया गया।

लाखों व्यक्तियोंने संन्यास ग्रहणकर पूर्णतया नियमबद्ध तथा धार्मिक जीवन बिताना प्रारम्भ किया। इसीसे भारतवर्ष आध्यात्मिक एवं धर्म-प्रधान देश कहा गया है, पर धर्मोंमें नित्य नये सम्प्रदाय खड़े होने लगे। उनमें पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। नैतिक नियमोंके प्रचारमें शिथिलता आने लगी और धर्मके नामसे हिंसा, छल-कपटादि अनैतिक कार्य भी होने लगे। इससे जन-जीवनमें सद्‌गुणोंकी प्रतिष्ठा कम हो गयी तथा वे दुर्गुण और अधिक पनपने लगे। युद्ध-कालीन स्थितिने अनैतिकताको बहुत बड़ा बल दिया, जिसका परिणाम आज प्रत्यक्षरूपसे अनुभव किया जा रहा है। स्वराज्य मिला तो अवश्य पर नियन्त्रित कठोर शासनके अभावमें अनीति और भी बढ़ गयी तथा दिनोंदिन उसकी मात्रा बढ़ती ही जा रही है, घटनेका कोई आसार अभी दिखलायी नहीं देता।

भारतमें आज सर्वतोमुखी अनीति बढ़ रही है। पहले लोग व्यापारियोंको अधिक दोष देते थे, पर अब तो कोई बचा हुआ नहीं रहा। 'कुएँ भाँग पड़ी' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। सरकारी किसी भी विभागमें चले जाइये, सर्वत्र घूसखोरीका बोलबाला है। पैसेकी मोहिनीने सबपर अपना जादू फेर दिया है, कोई विरला ही बचा होगा। रेलवे-विभागको देखिये, अदालतोंको देखिये, सप्लाई-विभागमें जाइये, पुलिस तो सदाकी बदनाम है। इस प्रकार प्रायः सभी कर्मचारी घूसके आदी हो गये हैं। कहीं माल भेजना हो तो बिना पैसे दिये (Wagon) गाड़ी नहीं मिलती और पैसे देनेपर असम्भव कार्य सम्भव तथा तत्काल हो जाते हैं। कानून या नियमके भरोसे बैठे ही रहिये, कचहरीमें रजिस्ट्री ऑफिसमें जाइये, पद-पदपर चपरासी और क्लर्कतक सभीका टैक्स चुकाइये, जैसे बँधा-बँधाया पड़ा है—बोलनेकी आवश्यकता नहीं। पैसा देते हैं तो दस्तावेजकी तुरंत रजिस्ट्री हो जाती है, नहीं तो कोई-न-कोई नुक्स निकालकर रख दिया जाता है; क्योंकि वे ऐसा न करें तो उनको भेंट दे कौन ? हरेक व्यक्ति अपने-अपने काममें रास्ता निकालनेकी होशियारी या अक्लमन्दी रखता ही है। सेलटेक्समें जाइये चाहे इन्कमटैक्समें, ट्रेजरीमें चाहे एकाउंट ऑफिसमें, किसी भी विभागमें जाइये, सर्वत्र घूसखोरी और अनीतिका साम्राज्य है। अब तो किसान और मजदूर भी उनकी

देखादेखी अनीति सीख गये हैं। और तो और, भीख माँगकर खानेवाले भी ठगी और धोखा करते नजर आते हैं, उसीके कुछ उदाहरण प्रस्तुत लेखमें उपस्थित किये जा रहे हैं—

भारतवर्षमें भिक्षावृत्ति साधु-संन्यासीके जीवन-निर्वाहके लिये आदर्श वृत्ति थी। वे लोग वस्तुओंके संग्रह एवं उन्हें उपभोगके योग्य बनानेकी खटपटमें नहीं पड़ते थे; क्योंकि इससे उनकी साधना एवं उपदेश आदि लोक-कल्याणकी प्रवृत्तियोंमें बाधा उपस्थित होती थी। वे शरीरको जब भी आवश्यकता हुई, मधुकरी-वृत्तिसे इधर-उधरसे कुछ गृहस्थोंके यहाँ जाकर थोड़ा-थोड़ा आहार-वस्त्रादि लेकर अपना काम चला लेते थे। गृहस्थ भी अहोभाग्य समझकर बड़े चाव तथा भावसे उन्हें देते थे और इसमें वस्तुका साफल्य मानते थे। अर्थात् उक्त भिक्षावृत्ति दोनोंके लिये लाभदायक सिद्ध होती थी। पर वह तबतक ही आदर्श रही या रह सकती है, जबतक भिक्षु आवश्यकतासे अधिक संग्रहकी ओर न झुके। भिक्षु पेटमें समाये उतना ही आहार ले। सुबहकी भिक्षाको संध्याके लिये भी संग्रह न करे। संन्यासीके अतिरिक्त अन्य भिक्षुक जो अन्धे, लूले, लँगड़े, अनाथ अर्थात् काम करनेमें अशक्त होते, वे भी भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करते। लोग उन्हें दया-करुणाकी भावनासे देते। अतः संन्यासी भिक्षुको श्रद्धासे एवं अशक्त भिक्षुओंको करुणासे देनेवाला भी लाभमें ही रहता तथा लेनेवालेका भी निर्वाह हो जाता। पर जब कई लोगोंने भिक्षावृत्तिको कमाईका या धन-संग्रहका साधन (पेशा) ही मान लिया और उसके द्वारा संग्रह करना प्रारम्भ किया, तब इसमें सहज ही अनैतिकताका प्रवेश हो गया। जनताकी भावना भी बदल गयी और उभयदृष्टिसे वह लाभके बदले हानिकारक सिद्ध होने लगी।

आवश्यकतावश किसीसे कोई चीज माँगकर जीवन-निर्वाह करना भिक्षा है। प्राचीन कालकी भिक्षावृत्ति सात्त्विक थी। उसमें लेनेवाला साधक अपने सहायक-शरीरको टिकाये रखनेमात्रके लिये ही लेता और देनेवाला श्रद्धाभावसे देता। अतः दोनोंमें सात्त्विकता थी।

भारतमें मध्यकालमें कई लोगोंका तो देनेवालोंका कुछ काम करके अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिस्वरूप उनसे कुछ द्रव्य या वस्तुएँ लेनेका पेशा हो गया था। यह विशुद्ध वृत्ति तो नहीं थी, पर कुछ-न-कुछ काम करके लेनेसे वह निभाने योग्य रही। जैसे ब्राह्मणलोग क्रियाकाण्डादि अनुष्ठान कराते; इनका जीवन-निर्वाह यजमानीपर चलता। राजपुरोहित भी इसी श्रेणीके थे। कुलगुरु अपने यजमानोंके वंशोंके इतिहासादि लिखनेका धंधा करके दान पाते थे। चारण, भाट एवं विद्वान् अपनी कवितासे राजाओंको प्रसन्नकर दान और सत्कार पाते थे। इसमें दाताको भावनाका लाभ तो नहीं मिलता, पर कर्तव्यका पालन होता है। ऐसा माँगना और देना राजसी कहा जाता है। नाना प्रकारके काम करके याचना करनेवालोंकी माँगको 'व्यावसायिक भिक्षा' कह सकते हैं।

तीसरी श्रेणी तामसी भिक्षाकी है, जिसमें दाताको बाध्य होकर देना पड़ता है। लेनेवाला ऐसी परिस्थिति पैदा कर दे कि अनिच्छापूर्वक उसकी माँग पूरी की जाय। क्रोधसे और लोक-लाजके भयसे दिया हुआ और लिया हुआ दान तामसी है। ऐसा दान या भिक्षा दोनोंके लिये हानिकारक है। भिक्षा जहाँतक आवश्यकताकी पूर्तितक सीमित हो, उसमें छल-कपट या संग्रहवृत्ति न हो, और दान जहाँतक सद्भावना एवं कर्तव्य समझकर दिया जाता हो, वहींतक ठीक कहा जा सकता है। इसके विपरीत असंग्रह वृत्तिसे न लिया हुआ या कर्तव्यबुद्धिसे न दिया दान अनैतिक है, समाजका पतन करनेवाला है।

इधर कई वर्षोंसे भिक्षावृत्तिमें अनैतिकता खूब बढ़ रही है। बहुत बार तो यह घृणित व्यवसाय-सा नजर आता है। अतः अब लोगोंमें धार्मिक या करुणाकी भावनाका बहुत बड़ा ह्रास हो गया है, जो स्वाभाविक ही है। इधर मँहगाईके जमानेमें अपना निर्वाह भी दुष्कर, उधर श्रम करके कमा-खा सकनेवाले हट्टे-कट्टे जवान स्त्री-पुरुष भिक्षाको ही अपना धंधा बना लें तो मानव-हृदयका आन्दोलित होना स्वाभाविक है। आज तो भिक्षुओंको, जहाँ जाते हैं, दुत्कार मिलती है। कहा जाता है कि 'मजूरी करके पेट क्यों नहीं भरते? क्या तुम श्रम करनेके लायक नहीं हो? अपंग हो, अंधे, लूले, लँगड़े हो?' आज भिखमंगोंकी अनीतिके किस्से जगह-जगह देखने-सुननेको मिलते हैं। भिक्षाके नामसे वे धोखा देते हैं। दो-चार अनुभूत घटनाएँ बतलाऊँ—

जिन्होंने भिक्षाके बहाने धोखा देनेका धंधा स्वीकार किया है, वे अपनी ऐसी दयनीय स्थिति उपस्थित करते हैं कि एक बार तो उनके दुःख-दर्दसे पाषाणहृदय भी पिघल जाता है। कोई आकर कहते हैं कि 'हम शरणार्थी हैं।

अमुक स्थानोंके रहनेवाले हैं। बहुत ही दयनीय स्थिति हो जानेसे सब छोड़-छाड़कर इधर आनेको बाध्य हुए हैं। हमारे अमुकको मार डाला गया, धनादि वस्तुएँ लूट ली गयीं, क्या करें ? पेट भरनेके लिये माँगना पड़ता है।' वे भिक्षाकी कलामें बड़े निपुण होते हैं। ऐसा पार्ट अदा करते हैं कि अविश्वास सहज नहीं होता। वे सब भाषा एवं धूर्तताकी कलाएँ जानते हैं। जैनोंके पास माँगेंगे तो अपनेको जैन बतलायेंगे, वैष्णवके सामने वैष्णव। जिस किसी प्रकारसे जिस व्यक्तिको प्रभावित करके पटाया जा सकता है, वैसे ही उससे बर्तते हैं। इस पेशेमें बड़ी ही निपुण कई बहिनें मैंने देखीं। दो-तीन बार उनसे काम पड़ा। वे अंग्रेजी, गुजराती, हिंदी आदि कई भाषाएँ जानती हैं। अपनेको जैन बतलाती हैं। किसी सज्जनको प्रभावित कर उससे सहायता देनेके लिये विज्ञप्ति-पत्र दिखाकर घर-घरसे चंदा वसूल करती हैं। आप चार आना देना चाहते हैं तो वे आठ आना देनेको मजबूर कर देती हैं। ऐसी करुणाजनक स्थिति शब्दोंसे व्यक्त करती हैं कि दिल पसीजे बिना नहीं रह सकता।

कई पुरुष और स्त्री यह कहकर माँगते हुए नजर आते हैं कि हमारे अमुकको बच्चा हुआ है, उस बच्चे और माताके लिये सामान तथा पैसा इकट्ठा करते हैं या कई तो हमारे अमुक मर गया है; कफनादिके लिये पैसा या वस्त्रादि चाहिये, ऐसे झूठे फरेबोंसे पैसा इकट्ठा करते हैं।

कलकत्ता आदि शहरोंमें कई व्यक्ति मैले-फटे, थोड़ेसे चिथड़े लपेटे हुए सड़कोंमें दौड़ते-पीटते चीत्कार करते हुए माँगते नजर आते हैं। सुना गया है कि उनमें अधिकांशने तो पैसे माँगनेके लिये ही अपने हाथ-पैरोंको विकृत कर डाला है। कई गुंडे लोगोंने इधर-उधरसे अनाथ बच्चोंको लाकर उनकी ऐसी दयनीय स्थिति कर दी है और उनसे कमाई करनेका धंधा करानेके भी संवाद मिले हैं। ऐसे भिखमंगोंमेंसे कइयोंके पास तो हजारों रुपये हैं, पर वे अब इस कुत्सित वृत्तिके ऐसे अभ्यस्त हो गये हैं कि सुबहसे शामतक यही करते रहते हैं। इस धंधेको वे छोड़ नहीं पाते।

अभी कुछ दिन पहलेकी एक घटना सुनिये। मैं कलकत्तेसे बीकानेर जा रहा था। रास्तेमें एक व्यक्ति मध्यवर्ती स्टेशनपर आया और बोला कि 'हम बड़ी मुसीबतमें हैं, हमारे टिकट खो गये या यहींतकके टिकटके पैसे पास हैं, अतिरिक्त पैसे खो गये हैं। हमें जाना अमुक जगह है, सहायता कीजिये।' ऐसी स्थितिमें मानव-सुलभ दया आना स्वाभाविक ही है। हमारे पासवालोंने कहा 'कुछ नहीं जी, ढोंगी है, इसका यही धंधा है; क्योंकि हम इसी प्रकार पहले धोखा खा चुके हैं और ऐसी घटनाएँ सुन चुके हैं।' मुझे और अन्य एक पासमें बैठे हुए व्यक्तिको यह व्यक्ति भी वैसा ही ठग होगा, यह जँचा नहीं। अतः उसने जितने पैसे माँगे थे हम दोनोंने उसे दे दिये। वह उन्हें लेकर दूसरे डिब्बेमें घुसकर वहाँ भी ठीक वही माँग करने लगा। तब मेरे पासवाले व्यक्तिसे नहीं रहा गया। वे उठकर उसके पास तत्काल गये और दुत्कारते हुए उससे पैसा वापस ले आये और उससे कहा कि 'जितने पैसे तुम्हें आवश्यक थे, हमने पूरे-के-पूरे दे दिये, फिर भी तुम दूसरोंसे टिकटके पैसेकी माँग करते ही रहे तो मालूम होता है तुमने यही कमाई खोल रक्खी है।'

प्रश्न पैसेका नहीं है। मुझे यह देख बड़ा दुःख हुआ कि ऐसे ठग व्यक्तियोंके कारण ही वास्तविक आवश्यकतावालोंके लिये भी द्वार बंद हो जाता है, लोग सभीको ढोंगी समझने लग जाते हैं। सच्चे जरूरतमंद या सहायता योग्य व्यक्ति भी ऐसे धोखा देनेवालोंके कारण कष्ट उठाते हैं तथा सहायतासे वञ्चित रह जाते हैं। इसीलिये सरकारको भिक्षुवृत्ति-प्रतिबन्धक कानून बनाना पड़ रहा है। कैसी दयनीय स्थिति है ? अनैतिकताका कितना बोलबाला हो गया है ? जीवनके हर क्षेत्रमें उसने कितने लंबे पैर पसार दिये हैं। न मालूम कैसे और कब उसका अन्त होगा। भिक्षुवृत्ति-जैसा सात्त्विक कर्म भी इन ठगोंके कारण गर्हित हो गया है।

इस दूषित वृत्तिका नाश हो, लोगोंका नैतिक स्तर ऊँचा हो, इसके लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये तथा ऐसे लोगोंको विविध उद्योगोंकी शिक्षा दी जानी चाहिये और कुछ नये उद्योग-धंधे या काम चालूकर उनमें इनको लगाना चाहिये। आशा है विचारशील व्यक्ति इस अनैतिकताको शीघ्र समाप्त करनेके उपायोंको सोचेंगे तथा व्यक्त करेंगे और सरकार भी उन्हें अपनाकर देशके नैतिक स्तरको ऊँचा उठानेका भरसक प्रयत्न करेगी।

कामके पत्र

(१)

संत-महापुरुषकी महिमा

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपका लिखना सर्वथा सत्य है—जगत्की भीषण ज्वालाका शमन संत-महापुरुष ही करते हैं। भगवान्के अस्तित्वकी प्रत्यक्ष साक्षीके रूपमें घोषणा करनेवाले महापुरुष ही हैं। दुःख-दैन्य-दावानल-विदग्ध जनसमूहको शान्ति-सुधाकी समतामयी शुभ वर्षासे स्निग्ध-शीतल करनेवाले, नरकानलसे निकालकर सच्चिदानन्दमय प्रभुके पादपद्मोंकी ओर लगानेवाले, निराशा-पिशाचिनीके द्वारा ग्रस्त शोक-विषादमग्न जीवोंको अपनी सुधावर्षिणी आश्वासवाणीसे धैर्य, आशा और उत्साह प्रदान करनेवाले अभाव-भावनाके भीषण हाहाकारसे मुक्त करके अनन्त शान्ति-सुखमय परमात्माका संधान बतानेवाले और शङ्का-संदेहोंके शत-सहस्र वृश्चिक-दंशनकी ज्वालासे यातना भोगते हुए जीवोंको श्रद्धा-विश्वासका जीवनदायक अमृतपान करानेवाले ये संत-महापुरुष ही हैं। ये न होते तो पता नहीं, हमलोगोंकी आज क्या दशा होती; युग-युगमें भगवान्के साथ तन्मयताको प्राप्त ये महापुरुष प्रकट होते रहते हैं। बिना किसी भेद-भावके त्रितापदग्ध जीवोंको भगवान्के सुधा-मङ्गलमय मार्गपर लगाते रहते हैं। भवाटवीमें भटकते हुए पथभ्रष्ट पथिकोंको उनके गन्तव्य पथपर पहुँचा देते हैं। निःसंदेह ये संत-महापुरुष ही हम-सरीखे दीन-आर्तोंकी आशा हैं—ये ही अन्धेकी लकड़ी हैं और निर्बलके बल हैं। ये जगत्की अमूल्य निधि हैं, अतुलनीय सम्पत्ति हैं। इनका दर्शन-भाषण तो मङ्गलमय है ही, जगत्में इनका अस्तित्वमात्र ही जगत्के लिये परम कल्याणकारी है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है। परंतु ऐसे महापुरुष जगत्में बहुत थोड़े ही होते हैं और भगवत्कृपासे ही जीवको उनके दर्शन या मिलनका सौभाग्य प्राप्त हुआ करता है।

आप इतने बड़े विद्वान् होनेपर भी, मालूम होता है, बड़े ही सरल-साधुहृदय हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि हम-सरीखे लोगोंको 'साधु' समझनेवाले आप सरल हृदयके विश्वासी लोग ही वस्तुतः सच्चे साधु हैं। आपके हृदयमें न छल-कपट है, न दिखौआपन है, न संत-महात्मा कहलानेकी कल्पना है और न पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी लालसा है। आप-सरीखे सरल-साधुहृदय नर-नारियोंको जब देखते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है मानो हममें तो साधुताका लेश भी नहीं है। हम तो कपटसाधु बनकर नाना प्रकारसे अच्छी-अच्छी बातें कहकर आप-सरीखे सरलहृदय व्यक्तियोंकी वञ्चना करते हैं। पता नहीं—परमार्थ तथा परमात्माकी बातोंके आवरणमें धन-मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी कितनी वासनाएँ छिपी हैं। अवश्य ही इतनी आशा होती है कि आपलोगोंकी जब इतनी सद्भावना है, तब उस सद्भावनाके प्रतापसे हम भी कभी यथार्थ साधु हो जायँगे। हम तो प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामीजी महाराजके शब्दोंमें भगवान्से विनीत प्रार्थना करते हैं; परंतु पता नहीं, यह प्रार्थना भी सरल हृदयकी सच्ची है या नहीं। अन्तर्यामी प्रभु ही जानते हैं—

> कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
> श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥
> जथालाभ-संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
> परहित-निरत निरंतर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो॥
> परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
> बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥
> परिहरि देह-जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
> तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि भगति लहौंगो॥

निश्चय ही मैं संत-महापुरुष तो नहीं हूँ। परंतु आप जब मुझसे कुछ पूछना ही चाहते हैं तब,—अपने पास तो कुछ है ही नहीं, और जो दोष-दुर्गुण

हैं, उन्हें देकर आपका नुकसान करना उचित नहीं, मैं श्रीतुलसीदासजीकी एक महान् वाणी सुना देता हूँ। यदि सच्चे सरल हृदयसे भगवान्‌से ऐसी आर्त प्रार्थना की जायगी—आप, मैं या कोई भी करें—तो अवश्य ही सदा दयार्द्र-हृदय पतितपावन प्रभुकी कृपा प्राप्त होगी। और वे चाहेंगे तो किसी महापुरुषका भी दर्शन करा देंगे।

कहु केहि कहिय कृपानिधे! भवजनित बिपति अति।
इंद्रिय सकल बिकल सदा, निज-निज सुभाउ रति॥
जे सुख-संपति, सरग-नरक संतत सुख लागी।
हरि! परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी॥
मैं अति दीन, दयालु देव सुनि मन अनुरागे।
जौ न द्रवहु रघुबीर धीर दुख काहे न लागे॥
जद्यपि मैं अपराध-भवन दुख समन मुरारे।
तुलसिदास कहँ आस यहै बहु पतित उधारे॥

'हे कृपानिधान! इस संसारजनित आत्यन्तिक विपत्तिकी बात आपके सिवा, कहिये और किसको सुनाऊँ? इन्द्रियाँ तो सब अपने-अपने विषयोंमें आसक्त होकर सदा उनके लिये व्याकुल रहती हैं। ये तो निरन्तर सुख-सम्पत्ति और स्वर्ग-नरकमें ही उलझी रहती हैं और हे हरि! मेरा यह अभागा मन भी आपको छोड़कर इन इन्द्रियोंका ही साथ दे रहा है। देव! मैं अत्यन्त दीन हूँ, आपका दयालु नाम सुनकर मन आपकी ओर आसक्त होता है। इतनेपर भी हे रघुवीर, धीर! यदि आप मुझपर द्रवित नहीं होंगे तो मुझे कैसे दुःख नहीं होगा? अवश्य ही मैं अपराधोंका घर हूँ; परंतु मुरारे! आप तो अपराधका विचार न करके दुःखोंका नाश ही करनेवाले हैं। मुझ तुलसीदासको आपसे यही आशा है; क्योंकि आप अबतक मुझ-सरीखे अनेक पतितोंका उद्धार कर चुके हैं।'

बस, अधिक क्या लिखूँ। मेरे पास बस, एक यही रोनेका बल है—वह भी सच्चे हृदयसे हो तब! शेष भगवत्कृपा।

(२)

इस युगमें नाम-जप ही प्रधान साधन है

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद! संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये कलियुगमें श्रीहरि-नामसे बढ़कर और कोई भी सरल साधन नहीं है। भगवन्नामसे लोक-परलोकके सारे अभावोंकी पूर्ति तथा दुःखोंका नाश हो सकता है। अतएव संसारके दुःख-सुख, हानि-लाभ, अपमान-मान, अभाव-भाव, विपत्ति-सम्पत्ति सभी अवस्थाओंमें प्रतिक्षण भगवान्‌का नाम लेते रहना चाहिये। विश्वासपूर्वक लेते रहना चाहिये। नाम साक्षात् भगवान् ही हैं, ऐसा मानना चाहिये। नाम-जप इस युगमें सबसे बढ़कर भजन है। नाम-जप करनेवालेको बुरे आचरण और बुरे भावोंसे यथासाध्य बचना चाहिये। झूठ-कपट, धोखा-विश्वासघात, छल-चोरी, निर्दयता-हिंसा, द्वेष-क्रोध, ईर्ष्या-मत्सरता, दूषित आचार, व्यभिचार आदि दोषोंसे अवश्य बचना चाहिये। एक बातसे तो पूरा ख्याल रखकर बचना चाहिये, वह यह कि भजनका बाहरी स्वाँग बनाकर इन्द्रियतृप्ति या किसी भी प्रकारके नीच स्वार्थका साधन कभी नहीं करना चाहिये। नामसे पाप नाश करना चाहिये, परंतु नामको पाप करनेमें सहायक कभी नहीं बनाना चाहिये। नाम जपते-जपते ऐसी भावना करनी चाहिये कि प्रत्येक नामके साथ भगवान्‌के दिव्य गुण—अहिंसा, सत्य, दया, प्रेम, सरलता, साधुता, परोपकार, सहृदयता, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, संतोष, शौच, श्रद्धा, विश्वास आदि मेरे अंदर उतर रहे हैं और भरे जा रहे हैं। मेरा जीवन इन दैवी गुणोंसे तथा भगवान्‌के प्रेमसे ओतप्रोत हो रहा है। अहा! नामके उच्चारणके साथ ही मेरे इष्टदेव प्रभुका ध्यान हो रहा है, उनके मधुर मनोहर स्वरूपके दर्शन हो

रहे हैं, उनकी सौन्दर्य-माधुर्य-सुधामयी त्रिभुवन-पावनी ललित लीलाओंकी झाँकी हो रही है। मन-बुद्धि उनमें तदाकारताको प्राप्त हो रहे हैं।

मन न लगे तो नामभगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये—'हे नामभगवान्! तुम दया करो, तुम्हीं साक्षात् मेरे प्रभु हो; अपने दिव्य प्रकाशसे मेरे अन्तःकरणके अन्धकारका नाश कर दो। मेरे मनके सारे मलको जला दो। तुम सदा मेरी जिह्वापर नाचते रहो और नित्य-निरन्तर मेरे मनमें विहार करते रहो। तुम्हारे जीभपर आते ही मैं प्रेमसागरमें डूब जाऊँ; सारे जगत्‌को, जगत्‌के सारे सम्बन्धोंको, तन-मनको, लोक-परलोकको, स्वर्ग-मोक्षको भूलकर केवल प्रभुके प्रेममें ही निमग्न हो रहूँ। लाखों जिह्वाओंसे तुम्हारा उच्चारण करूँ, लाखों-करोड़ों कानोंसे मधुर नाम-ध्वनिको सुनूँ और करोड़ों-अरबों मनोंसे दिव्य नामानन्दका पान करूँ। तृप्त होऊँ ही नहीं। पीता ही रहूँ नामसुधाको और उसीमें समाया रहूँ!'

यदि मन विशेष चञ्चल हो तो फिर जिह्वा और ओठोंको चलाकर नामका स्पष्ट उच्चारण करते हुए उसे सुननेका प्रयत्न कीजिये। तन्द्रा आती हो तो आँखें खोलकर वाणीसे स्पष्ट जप कीजिये। मनकी चञ्चलताका नाश करनेके लिये इन्द्रियोंका संयम आवश्यक है और उसके लिये स्पष्ट उच्चारणपूर्वक वाचिक जप करना चाहिये। वाचिक जपसे मन-इन्द्रियोंकी चञ्चलताका शमन होता है, फिर उपांशु जपके द्वारा नामकी रसमाधुरीकी ओर चित्तकी गति की जाती है। तदनन्तर मानसिक जपके द्वारा मधुर नाम-रसका पान किया जाता है।

भगवान्‌के सभी नाम एक-से हैं, सबमें समान शक्ति है, सभी पूर्ण हैं, तथापि जिस नाममें अपनी रुचि हो, मन लगता हो और सद्गुरु अथवा संतने जिस नामका उपदेश किया हो, उसीका जप करना उत्तम है। दो-तीन नामोंका, जैसे राम, कृष्ण, हरि—जप एक ही भावनासे, एक साथ भी चले तो भी हानि नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

पाप छोड़कर पश्चात्ताप कीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। पढ़कर दुःख हुआ। आप पापका प्रायश्चित्त करना चाहते हैं, यह तो बहुत अच्छी बात है, परंतु पापका प्रायश्चित्त तबतक कैसे होगा, जबतक वासनाके वशमें होकर आप लगातार पाप कर रहे हैं और उसे समय-समयपर पाप न मानकर पूर्वजन्मका ऋणानुबन्ध मान लेते हैं। यह तो अपने-आपको सरासर धोखा देना है। पापका प्रायश्चित्त तो तभी हो सकता है, जब आपको अपने दुष्कर्मका महान् पश्चात्ताप हो और भविष्यमें उस प्रकारके किसी भी पापकी कल्पना भी न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा हो। पश्चात्तापकी भीषण अग्नि ही पापको जला सकती है। आपके पत्रसे न तो पश्चात्ताप प्रतीत होता है और न इस महान् पापको पूर्णरूपसे आप पाप ही मानते हैं। आपने जो बातें लिखी हैं, वे यदि सत्य हैं तो आप भीषण पाप कर रहे हैं, जो सर्वथा आपकी नीच कामनाका परिणाम है और इसका फल आपके लिये अत्यन्त ही दुःखद हो सकता है। आप पुनः इस प्रकारके पाप-संकल्प भी न करनेकी प्रतिज्ञा करें तथा अबतकके बने हुए पापके लिये महान् पश्चात्तापकी अग्नि आपके हृदयमें जल उठे, तभी जपादि अनुष्ठान भी पाप-नाशमें सफल होंगे। भगवान् आपको सुबुद्धि दें, जिससे आपका गुरुपना कलङ्कित न हो। शास्त्रोंमें तो इस प्रकारके पापका प्रायश्चित्त बड़ा ही कठिन और भयानक बताया गया है सो भी एक बारके पापका। आप तो महान् पश्चात्ताप करते

हुए रोकर पतितपावन करुणासिन्धुसे प्रार्थना कीजिये जिससे आपकी बुद्धि शुद्ध हो और आपके द्वारा यह महान् अपराध बनना बंद हो जाय । तब प्रायश्चित्तकी बात होगी । शेष भगवत्कृपा ।

(४)

अजेय और अमोघ शस्त्र

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । धन्यवाद । संसारमें मनुष्यके सिवा जितने और प्राणी हैं वे सब मिलकर भी उतना पाप नहीं कर सकते, जितना अपनी बुद्धिको बुराईमें लगाकर मनुष्य कर सकता है । हिंस्र पशु-पक्षी उतने ही और उन्हीं जीवोंको मार सकते हैं जो उनके सामने होते हैं परंतु मनुष्य तो अपनी बुद्धिके कौशलसे ऐसे-ऐसे कार्य करता है कि जिससे लाखों-करोड़ों प्राणी पीढ़ियोंतक मरते रहते हैं । 'साक्षरा' को उल्टा पढ़नेसे 'राक्षसा' हो जाता है, अतएव जब बुद्धिमान् मनुष्यकी बुद्धि विपरीत कार्योंमें लगती है तो वह उसे राक्षस बना देती है । आज हमारी इस पृथ्वीके महान् विज्ञानवेत्ताओंकी यही स्थिति है । अणुबम बना, फिर हाइड्रोजन बना और अब उससे भी महान् भयंकर कबाल्ट बम बननेकी बात सुनी जाती है । ये महासंहारके राक्षसी साधन मनुष्यकी विपरीत बुद्धिके ही परिणाम हैं । ऐसी चीजें बनाकर और इनका प्रयोग करके जब मनुष्य अभिमान करता है, तब तो उसका अत्यन्त क्रूर स्वरूप सर्वथा प्रकट हो जाता है ।

जले घावपर नमक छिड़कनेकी या किसीको मारकर उसे तड़फते देखकर हँसनेकी भाँति, अब अमेरिकाने जापानसे कहा है कि 'हाइड्रोजन बमके परीक्षणके समय जो जापानी मछुए घायल हो गये हैं उनके परिवारको अमेरिका क्षतिपूर्ति देनेके लिये तैयार है ।' पहले तो निरपराध नर-नारियोंको बम-परीक्षणके बहाने घायल करना और जब कभी भी अवसर आ जाय, उनको मार भी डालना और पीछे क्षतिपूर्ति देनेकी बात कहना—असुरकी गर्वोक्तिके सिवा और क्या है ? मामूली मनुष्य किसी भी निरपराधको मारता है तो वह दण्डका पात्र होता है पर ये बड़े-बड़े राष्ट्र लाखों-करोड़ों निरपराध नर-नारियोंको तथा अन्यान्य निर्दोष प्राणियोंको बुरी तरह भून डालनेका गर्वपूर्वक प्रत्यक्ष आयोजन करते हैं, पर इन्हें कोई कुछ भी कहनेका साहस नहीं करता । मनुष्यका यह आसुरी भावोंसे प्रभावित होकर महान् पापमें सहायक होना नहीं है तो और क्या है ?

आप लिखते हैं, भारतवर्षको भी इस प्रकारके शस्त्र बनाने चाहिये । बात ठीक है, समय देखते और जगत्के बड़े-बड़े विज्ञानकुशल, समृद्धिशाली—ऐश्वर्यवान्, बुद्धिमान् और विद्वान् देश,—जहाँ बड़ी उत्सुकताके साथ संसारके लोग विविध विषयोंकी शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं,—जिस कामको करते हैं, उसका अनुकरण करनेकी इच्छा स्वाभाविक ही होती है और यह भी किसी अंशमें सत्य है कि आत्मरक्षाके लिये भी इसकी आवश्यकता मानी जा सकती है; क्योंकि जिसके पास ऐसे भयानक शस्त्र होंगे, उसपर आक्रमण करनेका साहस सहजमें नहीं होगा । अमेरिकाने प्रतीकार करनेमें अथवा प्रतिशोध लेनेमें असमर्थ जापानपर अणुबमसे आक्रमण किया, परंतु वही इस समय रूसपर सहसा नहीं करना चाहता; क्योंकि वह जानता है कि रूसके पास भी ऐसे ही शस्त्र हैं जो बदलेमें अमेरिकाका भी नाश कर सकते हैं । तथापि, न तो भारतवर्षके पास इतनी धनराशि और आसुरी विज्ञान-सम्पत्ति है कि वह ऐसे

शस्त्र बनानेमें समर्थ हो और न उसका यह ध्येय ही होना चाहिये । महावीर अर्जुनने राक्षसी शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करनेसे भी मय दानवके प्रति इनकार कर दिया था । हमारे पास तो सच्चा बल होना चाहिये— भगवान्में विश्वासका और भगवान्को प्रसन्न करनेवाले सद्गुण—सत्य, अहिंसा आदिका । यह बल यदि हमने सचमुच अर्जन कर लिया और भगवान्पर विश्वास करके भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्के ही बलपर वीरकी भाँति कुशलतापूर्वक इस प्रलयंकरी आसुरी आँधीका सामना करनेको प्रस्तुत हो सके तो जगत्की किसी भी आसुरी शक्तिकी यह सामर्थ्य नहीं कि वह हमारा कुछ भी अनिष्ट कर सके । लंकाके समराङ्गणमें भगवान् श्रीरामचन्द्रको रथरहित और नंगे पैर देखकर जब विभीषणने अधीर होकर प्रेमातिरेकसे अनिष्ट-शंका की, तब कृपालु भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा था—

× × × × × × । जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल बिबेक दम पर-हित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर ।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर ॥

बस, भारतको तो ऐसे ही रथ और इन्हीं शस्त्रास्त्रोंकी आवश्यकता है, जो उसकी परम्परागत सम्पत्ति है । और याद रखना चाहिये—जगत्में यदि कभी सच्ची सुख-शान्ति होगी तो वह हाइड्रोजन बम आदि राक्षसी साधनोंसे कभी नहीं होगी, वह होगी केवल अध्यात्म-बुद्धिसे, भगवद्-विश्वाससे, सर्वात्मभावसे और दैवीसम्पत्तिके उपर्युक्त गुणोंसे ही । हमें इस अपनी अजेय और अमोघ शक्तिका संग्रह और संरक्षण करना चाहिये और विश्वासपूर्वक भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे सबको सद्बुद्धि दें, जिससे सबका लक्ष्य जगत्का यथार्थ हित हो जाय और परिणाममें सभी सुखी हों । शेष भगवत्कृपा ।

साधुका कर्तव्य

(गिरधर कविकी कुण्डलिया)

(१)

बहता पानी निर्मला पड़ा गंध सो होय ।
त्यों साधू रमता भला दाग न लागे कोय ॥

दाग न लागे कोय जगतसे रहे अलहदा ।
रागद्वेष युग प्रेत न चितको करें बिछेदा ॥
कह गिरधर कविराय, सीत उष्नादिक सहता ।
होय न कहुँ आसक्त यथा गंगाजल बहता ॥

(२)

रहनो सदा इकंतको पुनि भजनो भगवंत ।
कथन श्रवण अद्वैतको यही मतो है संत ॥

यही मतो है संत तत्त्वको चिंतन करनो ।
प्रत्यक् ब्रह्म अभिन्न सदा उर अंतर धरनो ॥
कह गिरधर कविराय वचन दुर्जनको सहनो ।
तजके जनसमुदाय देस निर्जनमें रहनो ॥

रजि० सं० ए० १७५

प्रकाशित हो गयी !!

तीन नयी पुस्तकें !

श्रीभागवतामृत (सटीक)

(संकलनकर्ता—श्रीईश्वरीप्रसादजी गोयनका)

आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ३०४, तिरंगे चित्र ८, हाथकर्घेके बने कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द, मूल्य १॥।) मात्र । डाकखर्च अलग ।

प्रस्तुत ग्रन्थमें श्रीमङ्गलाचरण और नमस्कार, चतुःश्लोकी भागवत एवं श्रीमद्भागवत-माहात्म्य, भगवान्‌का प्रभाव, भगवान्‌के पृथक्-पृथक् स्वरूपोंका ध्यान, भगवान्‌की प्रार्थना या स्तुति, भगवान्‌के दिव्य उपदेश, भक्तिका माहात्म्य एवं भक्तिका प्रभाव, श्रीगोपी-प्रेम-सुधा, अक्रूरकी भक्ति, सत्पुरुष और उनके सङ्गका प्रभाव, सत्पुरुषोंके सदुपदेश, श्रीगङ्गाजीका माहात्म्य, ब्राह्मणोंका महत्त्व, कलियुगका माहात्म्य, धनसे लाभ और हानि, भारतवर्षकी महिमा, भगवत्स्तुति और प्रकीर्ण—इन अठारह विषयोंमें विभाजित करके श्रीमद्भागवतके अठारह सहस्र श्लोकरूपी अमृत-फलभण्डारमेंसे विशेष-विशेष सुस्वादु फलोंका स्थान-स्थानसे चयन और उनका वर्गीकरण करके सम्मान्य लेखकने भक्तवृन्दोंके आनन्दवर्द्धनार्थ यह बड़ी ही सुन्दर फलोंकी डलिया सजा दी है । श्लोकोंका अनुवाद गीताप्रेससे प्रकाशित सटीक श्रीमद्भागवतसे ही लिया गया है ।

उपयोगी कहानियाँ

आकार ५×७॥, पृष्ठ-संख्या १०४, सुन्दर दोरंगा टाइटल, मूल्य ।-) मात्र । डाकखर्च अलग ।

इस पुस्तिकामें ३५ छोटी-छोटी बालकोपयोगी कहानियाँ हैं । कहानियाँ प्रायः सभी प्रचलित हैं । हमारे विद्वान् लेखकने उनका नये ढंगसे सरल भाषामें संकलन कर दिया है । ये कहानियाँ बालक-बालिकाओंके जीवन-निर्माणके लिये उत्तम प्रेरणा-दायक हैं ।

वीर बालिकाएँ

आकार ५×७॥, पृष्ठ-संख्या ६८, सुन्दर दोरंगा टाइटल, मूल्य ≈) मात्र । डाकखर्च अलग ।

'कल्याण' के 'बालक-अङ्क' में प्रकाशित १७ वीर बालिकाओंके छोटे-छोटे आदर्श चरित्र इस पुस्तिकामें प्रकाशित किये गये हैं । ये चरित्र अपूर्व आत्म-त्याग और बलिदानके सजीव चित्र हैं । इन्हें पढ़नेपर हमारी बालिकाओंमें बलिदान और त्यागकी भावना जाग्रत् होगी ।

विशेष सूचना—पुस्तकें यहाँसे मँगवानेके पहिले अपने स्थानके पुस्तकविक्रेतासे माँगिये । इससे आप भारी डाकखर्चसे बच सकेंगे । गीताप्रेसकी पुस्तकें देशके लगभग १५०० पुस्तक-विक्रेतागण प्रायः पुस्तकोंमें छपे मूल्यपर ही बेचते हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण
वर्ष २८
अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

कल्याण, सौर श्रावण २०११, जुलाई १९५४

विषय-सूची

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

[वर्ष] २८ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०११, जुलाई १९५४ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ३३२

श्रीहंसवाहिनी

कान्ति धवल कपूर-कुंद सम पूर्ण-चन्द्र-उज्ज्वल आनन ।
वीणा-पुस्तक-माला-धारिणि, परम सुशोभित दिव्य वसन ॥
षोडशदल-कमलासन सुन्दर हंसवाहिनी कल्याणी ।
तम-नाशिनि सद्बुद्धि-प्रदायिनि जय जय जयति देवि वाणी ॥

याद रक्खो—इस जगत्‌में जो कुछ है, सबमें भगवान् विराजमान हैं, सब भगवान्‌के शरीर हैं अथवा सब स्वयं भगवान् ही हैं। यह समझकर सबका सम्मान करो, सबका हित करो, सबकी सेवा करो। किसीका भी कभी अपमान न करो, किसीका कभी अहित मत करो, किसीको भी कभी दुःख मत पहुँचाओ। इस सत्यको सदा स्मरण रक्खो। केवल साधनाके समय ही नहीं, व्यवहारके समय भी। फिर तुम्हारा प्रत्येक व्यवहार साधन बन जायगा, प्रत्येक कर्मसे तुम भगवान्‌की पूजा करोगे; क्योंकि प्रत्येक प्राणी-पदार्थ जिससे तुम्हारा सम्पर्क होगा, तुम्हें अपने इष्ट भगवान्‌के रूपमें ही दिखायी देगा।

याद रक्खो—व्यवहारमें अपने-अपने वेशके अनुसार (वर्णाश्रम, व्यक्ति, सम्बन्ध तथा कर्मके अनुसार नाटकके अभिनयकी भाँति) भेद होगा, पर उस भेदमें भी तुम्हारी दृष्टिमें एक भगवान् ही रहने चाहिये। इस अभ्यासका आरम्भ पहले अपने घरसे करो। नौकर सामने आया, उसे देखते ही पहचान लो—इस नौकरके रूपमें मेरे आराध्य देव भगवान् सामने खड़े हैं—मन-ही-मन उन्हें प्रणाम कर लो, फिर मन-ही-मन उनसे आज्ञा माँगो, कहो—'भगवन्! आप नौकरके स्वाँगमें हैं और मैं मालिकके। अब आप मुझे आज्ञा दें कि मैं स्वाँगके अनुसार आपके साथ बर्ताव-व्यवहार करूँ, परंतु मेरी प्रार्थना है, नाथ! मैं व्यवहार करते समय यह कभी न भूलूँ कि मेरे सामने नौकरके रूपमें मेरे प्रभु खड़े हैं और मैं अपने प्रत्येक व्यवहारसे उनकी प्रीतिके लिये उनकी पूजा कर रहा हूँ। इसी प्रकार भंगिनसे भेंट हो तो उस भंगिन मैयामें भी भगवान्‌को पहचानकर मन-ही-मन प्रणाम करो और फिर प्रार्थना करके उसके साथ व्यवहार करो। इसी तरह पत्नी, पति, पुत्र, कन्या, माता, पिता, भाई—सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए प्रभुके दर्शन करो और उनकी पूजा करो।

याद रक्खो—तुम अपने प्रत्येक कर्मसे इस प्रकार दिनभर भगवान्‌की प्रत्यक्ष पूजा कर सकते हो। वकील मवक्किलको, मवक्किल वकीलको; डाक्टर-वैद्य रोगीको और रोगी डाक्टर-वैद्यको; दूकानदार ग्राहकको और ग्राहक दूकानदारको; धनी गरीबको और गरीब धनीको भगवान्‌के रूपमें देखें और उन्हें पहचानकर मन-ही-मन प्रणाम कर लें और प्रार्थना करके व्यवहार करें एवं व्यवहार करते समय यह भूलें नहीं कि मैं भगवान्‌के साथ व्यवहार कर रहा हूँ।

याद रक्खो—भगवान्‌की प्रार्थनाके लिये किसी अमुक मन्त्र, श्लोक, छन्द या वाक्योंकी आवश्यकता नहीं है। न नपे-तुले शब्दोंकी जरूरत है। अपनी सरल भाषामें, अपने शब्दोंमें, अपने मनकी वाणीमें दिल खोलकर मनकी बात अपने प्रभुके सामने रखनी चाहिये। हाँ, प्रभुको पहचाननेमें भूल नहीं होनी चाहिये। निरन्तर सबमें प्रभुके दर्शन और सब कार्योंके द्वारा, प्रत्येक व्यवहारके द्वारा प्रभुका पूजन होते रहना चाहिये। प्रभु तो स्नेहमयी माँ हैं जिसका हृदय स्वभावसे ही अपने बच्चेके प्रति स्नेहसे भरा रहता है, वह शिशुकी उस भाषाको सुनकर और भी प्रसन्न होती है, जिसमें व्याकरणकी अशुद्धि ही नहीं, उच्चारणमें भी अपूर्णता होती है तथा वह माँ बच्चेकी प्रत्येक बातको समझ लेती है। इसी प्रकार भगवान् हमारी विद्वत्ताभरी बाहरी वाणीसे प्रसन्न नहीं होते। वे तो हृदयकी सरलता तथा सचाईसे भरी अटपटी वाणीपर ही रीझते हैं। इसलिये भगवान्‌को निःसंकोच होकर अपनी भाषामें अपनी बात कह दो। कहना तो इतना ही है कि वे ऐसी शक्ति दें, ऐसी कृपा करें, जिससे किसीके भी साथ व्यवहार करते समय यह स्मरण रहे कि 'इस रूपमें मेरे प्रभु हैं और मैं प्रभुके साथ ही व्यवहार कर रहा हूँ।'

याद रक्खो—ऐसा कर सके तो तुम्हारा जीवन पूजामय जीवन बन जायगा और तुम प्रतिक्षण भगवान्‌के दर्शन-पूजनका सौभाग्य प्राप्त करके शीघ्र ही सर्वत्र तथा सर्वरूपमें एकमात्र भगवान्‌की उपलब्धि कर लोगे और यों जीवनके परम साध्यको सहज ही प्राप्त कर लोगे।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(२२)

प्रश्न—जीव स्वाधीन है या पराधीन ?

उत्तर—ईश्वरके द्वारा दिये हुए विवेकका आदर करके प्राप्त शक्तिका सदुपयोग करनेमें जीव सर्वथा स्वतन्त्र है। यह स्वतन्त्रता ईश्वरकी दी हुई है। इसके सिवा जीव सर्वथा परतन्त्र है। अतः वास्तवमें स्वाधीन उसीको कहा जा सकता है जो अपने प्राप्त विवेकका आदर करके सब प्रकारकी चाहसे रहित हो गया है; क्योंकि किसी प्रकारकी चाहके रहते हुए कोई भी प्राणी अपनेको स्वतन्त्र नहीं कह सकता। जबतक मनुष्यका अन्तःकरण अपवित्र है, उसमें राग-द्वेष और भोगवासना वर्तमान है, तबतक वह स्वाधीन नहीं है। जबतक वह जिस कामको करना उचित नहीं समझता, उसे भी करता है और जिसे करना उचित समझता है, उसे नहीं कर पाता, तबतक वह स्वाधीन कैसा।

जबतक मनुष्य अपनी प्रसन्नताका हेतु किसी दूसरे व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति और आवश्यकताको मानता रहता है, तबतक वह अपने जीवनमें दीन-हीन और पराधीन ही बना रहता है। कभी भी स्वाधीनताका अनुभव नहीं कर सकता। प्राप्त विवेकका सदुपयोग करके अपने बनाये हुए दोषोंको हटाकर अन्तःकरणको शुद्ध कर लेनेमें प्राणी सदैव स्वाधीन है। अतएव ऐसा करके वह प्रभुकी कृपासे सब प्रकारकी स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है; क्योंकि फिर उसकी प्रसन्नता किसी दूसरेपर निर्भर नहीं रहती।

साधकको मानना चाहिये कि मनुष्यमें जो विवेक-शक्ति है, यह किसी कर्मका फल नहीं है। यह तो उस ईश्वरकी देन है, जो बिना ही कारण अपने मधुर स्वभावसे प्रेरित होकर सबपर कृपा करता रहता है। अर्थात् जो प्राणिमात्रका सुहृद् है। शरीर, इन्द्रिय और सम्पत्ति आदिको कर्मफल माना जा सकता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है; किंतु विवेक किसी क्रिया-द्वारा उत्पन्न होनेवाला नहीं है। यह तो मनुष्यको प्रभुकी कृपासे ही मिला है।

अतएव ईश्वरके दिये हुए विवेकका आदर करते हुए उसका सदुपयोग करना चाहिये। अर्थात् अविचारपूर्वक बनाये हुए अपने दोषोंका निरीक्षण करके उनको हटाना चाहिये और चित्तकी शुद्धि करके अपने प्रभुपर विश्वास करना चाहिये और अपने-आपको उनके समर्पण करके उनके विशुद्ध प्रेमको प्राप्त करना चाहिये।

(२३)

पहले यह बात कही गयी थी कि सब प्रकारकी चाहका अभाव विचार और प्रेमसे होता है। उनमेंसे प्रेमकी बात तो पहले कही गयी थी; परंतु विचारके बारेमें विशेष बात नहीं हुई। अतः अब वही कही जाती है।

वास्तवमें विवेक, विश्वास और योग—इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, ये एक दूसरेके सहयोगी हैं। विवेकी पहले जानता है और पीछे मानता है अर्थात् उसपर विश्वास करता है एवं विश्वास करनेवाला पहले मानता है और पीछे जानता है।

यदि मनुष्य बुद्धिसे विचार करके अपने दोषोंको जान ले परंतु उनका त्याग न करे, तो केवल जाननेसे काम नहीं चलता। वैसे ही केवल माननेसे भी काम नहीं चलता। अपनी मान्यताके अनुसार प्रेम होना आवश्यक है।

विवेक, विश्वास और प्रेम—ये सभी मनुष्योंको प्राप्त हैं। परंतु प्राप्त-विवेकका आदर न करनेके

कारण मनुष्य जिनका विश्वास नहीं करना चाहिये, जो विश्वास करनेके योग्य नहीं हैं, अपने जीवनमें जिनपर विश्वास करके बार-बार धोखा खाया है, उनपर तो विश्वास करता है, उनको अपना मानकर उनसे प्रेम करता है और जिनपर विश्वास करना चाहिये, उनपर नहीं करता। जो इसका सचमुच अपना है, उसको अपना नहीं मानता और उससे प्रेम नहीं करता।

जो कुछ भी दृश्य है, जिसको मनुष्य इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा देखता है, वह चाहे व्यक्तिके रूपमें हो, चाहे देश, काल और वस्तुके रूपमें, सब-का-सब अनित्य है, इससे इसका सम्बन्ध सदा नहीं रहता।

अज्ञानवश मनुष्य इनके संयोगको सुखका हेतु मान लेता है; परंतु विचार करनेपर मालूम होता है किसीका भी संयोग नित्य सुख देनेवाला नहीं है, क्योंकि अपने प्रिय-से-प्रिय मित्रसे भी मनुष्य अलग होना चाहता है। कोई भी वस्तु कितनी भी प्रिय क्यों न हो, उससे भी अलग होता है। यदि सचमुच कोई व्यक्ति, वस्तु और देश, काल सुखप्रद होता तो प्राणी उसे कभी नहीं छोड़ता। परंतु ऐसा नहीं होता। जाग्रत्में जिनके सम्बन्धसे अपनेको सुखी समझता है, स्वप्नमें उनके सम्बन्धका त्याग कर देता है। सुषुप्ति कालमें जाग्रत् और स्वप्न दोनोंके ही दृश्योंसे सम्बन्ध नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी संयोग वियोगसे युक्त हैं और संयोगकी अपेक्षा संयोगका अभाव ही अधिक सुखप्रद है। यह सभीके अनुभवमें आता है।

अतः साधकको चाहिये कि संयोगकालमें ही उसके वियोगका दर्शन करके किसी भी व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल या परिस्थितिमें आसक्त न हो एवं किसीको अपने सुखका आधार न माने। दृश्य-मात्रसे सर्वथा असङ्ग हो जाय।

प्रतिदिन मनुष्य सुषुप्तिकालमें सब प्रकारके सम्बन्धोंका त्याग करता है; परंतु उसके अन्तःकरणमें राग छिपा रहता है, उसका नाश नहीं होता। इस कारण जगनेपर पूर्ववत् सबके साथ पहलेकी भाँति सम्बन्ध हो जाता है। जबतक शरीर और समस्त दृश्यवर्गसे सम्बन्ध बना रहता है, तबतक यह उसके सम्बन्धसे अपनेको सुख-दुःखका भोक्ता मानता रहता है तथा दृश्यके सम्बन्धकी आसक्तिके कारण बार-बार जन्मता और मरता रहता है।

इसलिये साधकको विचार करके निश्चय करना चाहिये कि 'जो कुछ भी देखने, सुनने और अनुभव करनेमें आता है। शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके सहित किसी भी दृश्य पदार्थसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि न तो मेरी और इनकी जातीय एकता है और न स्वरूपकी ही एकता है। अतः इनका और मेरा सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। अज्ञानसे माना हुआ है। मैं इनसे सर्वथा असङ्ग नित्य चेतन हूँ। ये सब-के-सब अनित्य और पर-प्रकाश हैं।'

मनुष्य अज्ञानवश शरीरमें अहंभाव करके जाति, वर्ण, आश्रम और क्रियाके साथ अपनी एकता करके मानने लगता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अछूत हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं गृहस्थी हूँ इत्यादि; किंतु शरीरसे अलग होकर कोई भी ऐसा अनुभव नहीं करता। अतः विचारशील साधकको सदैव शरीरसे और संसारसे अपनेको सर्वथा असङ्ग कर लेना चाहिये।

जब साधकको यह अनुभव हो जाता है कि 'शरीर मैं नहीं हूँ और दृश्यवर्गसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।' तो उसमें स्वाभाविक असङ्गता और निर्वासनाका उदय हो जाता है। तब अन्तःकरण अपने आप शुद्ध हो जाता है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं रहता। अन्तःकरण शुद्ध होते ही बोध प्रकट हो जाता है और साधकको अपने लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। ध्यान रहे कि किसी-न-किसी प्रकारके सङ्गसे 'अहं' का भास

होता है और उसीसे 'मम'की उत्पत्ति होती है एवं 'अहं' और 'मम'से ही चित्त अशुद्ध होता है। अतः चित्तशुद्धिके लिये 'अहं' और 'मम'का नाश करना अनिवार्य है और वह तभी होगा जब दृश्यमात्रसे विमुखता प्राप्त होगी। विमुखता प्राप्त होते ही मैं और मेरा, तू और तेरेमें बदल जाता है अर्थात् जो वास्तवमें है वह शेष रह जाता है। उसीमें प्रेम हो सकता है। उसीसे योग हो सकता है और उसीका बोध होता है। इन तीनकी एकता ही वास्तविक एकता है और उसीसे प्राणीके सब प्रकारके अभावोंका अभाव हो जाता है जो कि प्राणिमात्रको प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि विचारपूर्वक चित्त शुद्ध करना ही जीवका परम पुरुषार्थ है।

(२४)

प्रश्न—मूर्तिपूजा कबतक करनी चाहिये ?

उत्तर—कोई भी आस्तिक भक्त मूर्तिकी पूजा नहीं करता, वह मूर्तिमें अपने इष्टदेवकी पूजा करता है, इसलिये जबतक अपना भास रहे तबतक अपने इष्टकी पूजा करते रहना चाहिये।

जब मनुष्य किसी पुस्तक या चिट्ठीको पढ़ता है तो कागज या स्याहीको नहीं पढ़ता; किंतु उसमें लिखे हुए संकेतके द्वारा उसके अर्थको पढ़ता है। कागज, स्याही और अक्षर तो उस अर्थको समझानेके लिये चिह्नमात्र हैं। अर्थ तो पढ़नेवालेकी बुद्धिमें परम्परासे विद्यमान है। इसी प्रकार भक्त मूर्तिको संकेत बनाकर अपने इष्टकी पूजा करता है, मूर्तिकी पूजा नहीं करता।

इसी तरह गीता आदिमें समझ लेना चाहिये। पढ़नेवाला उसे भगवान्‌की वाणी समझकर पढ़ता है और उसी भावसे उसका आदर करता है।

श्रीतुलसीदासजी राम-नामका जप करते थे तो उनके भावमें परमेश्वर, पूर्ण ऐश्वर्य, माधुर्य आदि गुण नाममें भरे हुए थे। वे राम और ब्रह्म दोनोंसे नामको बढ़कर मानते थे। उनके विषयमें कोई भी यह नहीं कह सकता कि वे परमेश्वरका स्मरण नहीं कर रहे थे, शब्दमात्र जप कर रहे थे। इससे साधकको यह समझ लेना चाहिये कि कोई भी साधन नीचे दर्जेका नहीं है।

जिस साधकको जो साधन प्रिय हो, अपनी योग्यताके अनुसार जिस साधनको वह सुगमतासे कर सके, जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो, किसी प्रकारका भी संदेह न रहे, वही साधन उसके लिये सर्वश्रेष्ठ है। किसी प्रकारका संदेह न रहनेसे साधककी बुद्धि साधनमें लग जाती है। प्रेम होनेसे हृदय द्रवित हो जाता है। विश्वास होनेके कारण मनमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं उठता। उसमें मन लग जाता है। अतः साधनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

किसी भी साधकको यह नहीं समझना चाहिये कि 'मुझे अमुक प्रकारकी योग्यता प्राप्त नहीं है, इसलिये मुझे भगवान् नहीं मिल सकते।' यह मानना भगवान्‌की महिमाको न जानकर उनकी कृपाका अनादर करना है; क्योंकि भगवान् अपनी कृपासे प्रेरित होकर ही साधकको मिलते हैं। उनकी कृपा प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय उनसे मिलनेकी उत्कण्ठा, उनके प्रेमकी अतिशय लालसा ही है। धन, बल, सुन्दरता या किसी प्रकारके साधनके बलसे भगवान् नहीं मिल सकते। साधन उनका या उनके प्रेमका मूल्य नहीं है। साधन तो अपने बनाये हुए दोषोंको मिटानेके लिये है, जो कि भगवान्‌द्वारा प्राप्त योग्यताका सदुपयोग करने मात्रसे होता है।

मनुष्य चाहे कैसा ही दीन-हीन-मलिन क्यों न हो, कितना ही बड़ा पातकी क्यों न हो, वह जैसे और जिस परिस्थितिमें है, उसीमें यदि विश्वासपूर्वक भगवान्‌का हो जाय और उनको पानेके लिये व्याकुल हो उठे, उनके वियोगमें जिसे किसी प्रकार चैन न पड़े, तो भगवान् उसे अवश्य मिल जाते हैं।

भगवान् उसी पतितको मिलते हैं जो पतित नहीं रहना चाहता। अर्थात् पुनः पाप नहीं करना चाहता। ऐसे साधकको भगवान् परम पवित्र बनाकर अपना लेते हैं। परंतु जिसको अपने पापोंका पश्चात्ताप नहीं है, जो उनको छोड़ना नहीं चाहता, उसे भगवान् नहीं मिलते। वैसे ही जिसको अपने गुणोंका अभिमान होता है उसे भी नहीं मिलते। हाँ, यह बात अवश्य है कि जबतक साधकके मनमें किसी दूसरी वस्तुकी चाह रहती है, तबतक भगवान् नहीं मिलते। उसे उसकी चाहके अनुरूप वस्तु और परिस्थिति, यदि उसके पतनमें हेतु न हो तो, प्रदान कर देते हैं।

भगवान्‌की यह शर्त है कि मुझसे मिलनेके बाद अन्य किसीसे साधक नहीं मिल सकता; परंतु ऐसा साधक कोई बिरला ही होता है जो हर समय एकमात्र उन्हींसे मिलनेके लिये इच्छुक रहता हो, जिसके समस्त काम पूरे हो चुके हों, जिसके मनमें अन्य किसी प्रकारके संयोगकी चाह नहीं रही हो। अधिकांश मनुष्य तो अनेक प्रकारकी चाहोंसे घिरे रहते हैं। आज मुझे अमुक काम करना है, अमुक मित्रसे मिलना है, अमुक स्थानमें जाना है, उसके बाद वह करना है इत्यादि।

जिसमें अधिक योग्यता होती है, उसके लिये साधन भी अधिक कठिन होता है और कम योग्यतावालेके लिये साधन भी सहज सरल होता है। जैसे कोई धनी-मानी मनुष्य पुष्कर स्नान करनेके लिये जाय, तो मोटरसे या फर्स्ट क्लासमें यात्रा करके जाना पड़ता है। उसमें बहुत-सा धन खर्च करना पड़ता है। वहाँ जाकर भी दान आदिमें उसे बहुत-सा धन देना पड़ता है; किंतु एक गरीब भिखारी जाता है तो उल्टा उसे कुछ-न-कुछ मिलता है। खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ता। पुष्कर स्नान दोनोंको ही मिल जाता है। उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

जबतक साधकमें किसी प्रकारके गुण-दोषका अभिमान रहता है, तबतक भगवान् नहीं मिल सकते। इसलिये साधकको चाहिये कि अपनेमें सद्गुणोंके अभिमानको स्थान न दे और दोषोंकी उत्पत्ति न हो, बस, यही साधकका प्रयत्न है।

भगवान्‌को और उनके प्रेमको प्राप्त करनेके लिये केवल मात्र सरल विश्वासपूर्वक उनसे सम्बन्ध होना चाहिये। किसी प्रकारके गुणका अभिमान नहीं हो और किसी प्रकारके दोष उत्पन्न न हों तो उस साधकसे भगवान् छिप नहीं सकते।

कीर्तन

(रचयिता—श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)

भक्तके रक्षक हैं भगवान!
हृदय! दे छोड़ वृथा अभिमान!

बचायी जिसने थी तत्काल
सभामें द्रुपद-सुताकी लाज!
और सुन गजकी करुण पुकार
दौड़ जो आया था व्रजराज!
उसीका कर सदैव गुण-गान!
भक्तके रक्षक हैं भगवान!

नहीं जो यज्ञ-योगसे प्राप्य,
नहीं वशमें कर सकता ध्यान,
नहीं जो वाणीसे उपलब्ध,
नहीं पा सकता जिसको ज्ञान,
प्रेमके लिये वही आसान!
भक्तके रक्षक हैं भगवान!

सब प्रकारकी उन्नति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करे। अतएव पहले यह विचार करना है कि उन्नति क्या वस्तु है और उसका प्राथमिक और अन्तिम स्वरूप क्या है तथा संक्षेपमें उसके कितने प्रकार हैं। हमारे शास्त्रकारोंने यह निर्णय किया है कि एक धर्म ही समस्त उन्नतियोंका केन्द्र है। इसीलिये संक्षेपमें धर्मका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिक दर्शन)

जिससे अभ्युदय (सर्वविध उन्नति) और निःश्रेयस (परम कल्याण—मोक्ष) की सिद्धि हो, वह धर्म है। इससे यह सिद्ध होता है, लौकिक उन्नतिसे लेकर पारमार्थिक उन्नति तक सभी इस धर्मके अन्तर्गत हैं। अब यहाँ संक्षेपसे उसके प्रकारोंपर विचार करें। मेरी समझसे आरम्भसे अन्ततक इसके दस प्रकार बताये जा सकते हैं।

१. शारीरिक उन्नति।
२. भौतिक उन्नति।
३. ऐन्द्रियिक उन्नति।
४. मानसिक उन्नति।
५. बौद्धिक उन्नति।
६. सामाजिक उन्नति।
७. व्यावहारिक उन्नति।
८. नैतिक उन्नति।
९. धार्मिक उन्नति।
१०. आध्यात्मिक उन्नति।

अलग-अलग प्रकार बतलानेपर भी यह तो मानना ही होगा कि इन सबका सम्बन्ध यथार्थ आत्म-कल्याणसे ही होना चाहिये। जिससे आत्माका यथार्थ कल्याण न होकर पतन या अहित होता है, वह तो उन्नति ही नहीं है। अब इनपर अलग-अलग विचार करें।

'शारीरिक उन्नति'का यह अभिप्राय नहीं कि शरीरमें खूब बल हो, शरीर खूब मोटा-ताजा हो और वह विषयोपभोगसे न थकता हो। इस प्रकारकी शारीरिक स्थिति तो असुरों और राक्षसोंको भी प्राप्त थी। वे नित्य भोगपरायण रहते थे और अपने सबल और सुपुष्ट शरीरसे अन्यान्य प्राणियोंके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते, उन्हें कष्ट पहुँचाते और उन्हें मार-काटकर अपने शरीरका पोषण और सुख-सम्पादन करते थे। यह वस्तुतः शारीरिक उन्नति नहीं, यह तो पतन है। शारीरिक उन्नति तो उसको कहते हैं, जिसमें शरीर स्वस्थ हो, नीरोग हो, परिश्रमशील हो, दूसरोंकी सेवा करनेमें सदा तत्पर हो, सेवासे कभी थकता न हो और दुखियोंका दुःख दूर करनेमें समर्थ हो तथा ऐसे सात्त्विक शुद्ध पदार्थोंसे ही जिसका संरक्षण और भरण-पोषण होता हो जो अन्तःकरणकी शुद्धिमें सहायक हों, इन्द्रियोंमें सात्त्विकता पैदा करनेवाले हों, सात्त्विक मन और बुद्धिका निर्माण और वृद्धि करनेवाले हों एवं सात्त्विक तेज, ओज और आरोग्यता बढ़ानेवाले हों। भगवान्‌ने ऐसे सात्त्विक पदार्थोंका गीतामें दिग्दर्शन कराया है। वे कहते हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

इस प्रकार शरीरको उन्नत बनाना चाहिये। वस्तुतः

वही यथार्थ उन्नति है जो परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक हो। शरीरकी जिस उन्नतिमें जीवोंकी हिंसा हो, अपवित्र वस्तुओंका सेवन होता हो, वह तो तामसिक गति है, वह तो हमारा पतन है।

'भौतिक उन्नति' शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति व्यापक है। जैसे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—ये जो पाँच भूत हैं, इनकी हम खूब उन्नति करें तो यह भौतिक उन्नति कहलाती है, वर्तमानमें जिसे 'भौतिक विज्ञान' या 'लौकिक विज्ञान' कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है। इस विज्ञानके जानकार वैज्ञानिक महानुभाव कहते हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं, किंतु वस्तुतः उनकी यह उन्नति आंशिक उन्नति ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी। आजकल हम साधारण-सी ऐसी उन्नतिको देखकर चकाचौंधमें पड़ जाते हैं; किंतु थोड़ी गम्भीरतासे विचार करके देखिये। आज एक छोटे-से वायुयानको देखकर हम आश्चर्य करने लगते हैं कि देखो, ये आकाशमें उड़ने लगे। किंतु वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज लंकाविजय करके जिस पुष्पक विमानसे अयोध्या आये थे; वह इतना विशाल था कि उसमें उनकी करोड़ोंकी संख्यावाली सारी वानरी सेना बैठकर आयी थी। अब आप विचार करें। आज दुनियाके सारे वायुयान इकट्ठे किये जायँ तो भी वानरोंकी उतनी बड़ी सेनाको शायद ही उनमें ले जाया जा सके।

त्रेताकी बात छोड़िये। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व एक राजा थे। उनके 'सौभ' नामक विमान था, जिसे 'सौभनगर' कहते थे। वह कभी आकाशमें उड़ा करता, कभी पृथ्वीपर आ जाता, कभी पहाड़ोंकी चोटियोंपर चढ़ जाता और कभी जलमें तैरने लगता तथा कभी सबमैरीनकी भाँति जलमें प्रवेश कर जाता। उसमें समस्त सेना रहा करती थी, वह बहुत ही बड़ा था। उस वायुयानको लेकर राजा शाल्वने द्वारकापर चढ़ाई की थी और उसने वहाँ वीर यादवोंके छक्के छुड़ा दिये थे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बाणों और गदाके द्वारा उसको छिन्न-भिन्न करके समुद्रमें गिराया था। सोचिये, कितनी भारी शक्ति उस एक वायुयानमें थी। एक ही वायुयानमें वहीं न्यायालय हो, वहीं युद्धकी सारी सामग्री हो, आरामके सारे सामान मौजूद हों और प्रजा भी उसमें बसती हो—यह कितने आश्चर्यकी बात है। ऐसा वायुयान आज संसारमें देखनेमें नहीं आता।

दूसरी बात लीजिये। आज एटम या हाइड्रोजन बमकी बात देख-सुनकर लोग चकित हो रहे हैं, एटम बम आदिके द्वारा हजारों-लाखों निर्दोष प्राणियोंको एक साथ मार दिया जाता है। किंतु आप हमारे इतिहासकी ओर थोड़ा ध्यान दें। महाभारतके वनपर्वमें लिखा है कि एक समय अर्जुनके साथ शिवजीका युद्ध हुआ था, उस युद्धसे शिवजी प्रसन्न हो गये। शिवजीने अर्जुनसे कहा कि 'तुम वरदान माँगो।' अर्जुनने कहा कि 'आप पाशुपत-अस्त्र मुझे दे दें।' शिवजीने पाशुपतास्त्र दे दिया और कहा कि 'इसे सहसा तुम चलाना मत। तुम इसे अपने पास रखना अपनी आत्माकी रक्षाके लिये। यदि इसे चला दोगे तो तीनों लोक भस्म हो जायँगे।'

कला-कौशल भी उस समय उच्च शिखरपर पहुँचा था। त्रिपुरासुर नामके तीन असुर थे। उन्होंने तीन पुर बसाये थे—एक पृथ्वीपर, एक स्वर्गमें और एक आकाशमें। उन तीनों पुरोंका कोई एक बाणसे नाश करे, तब वे असुर मरें—यह वरदान उन्हें मिला हुआ था। शिवजीने पाशुपतास्त्र चलाकर उन तीनों पुरोंका नाश किया था। एक तो आकाशमें पुर बसाना आश्चर्यकी बात है और दूसरी एक ही बाणसे तीनों-को नष्ट कर डालना यह और आश्चर्यकी बात है।

महाभारतके द्रोणपर्वमें लिखा है कि जब द्रोणाचार्य मर गये थे तो उनका पुत्र अश्वत्थामा बहुत भयंकर क्रोध करके पाण्डवोंपर टूट पड़ा था। उस समय उसने 'नारायणास्त्र' चलाया था। नारायणास्त्रकी बड़ी भारी शक्ति है। उसका प्रयोग करते ही आकाशसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगी। पाण्डव एकदम घबरा गये। पाण्डवोंके नाकमें दम आ गया। पाण्डवोंकी सेनाका बुरी तरह संहार होने लगा। भगवान् श्रीकृष्णजी जानते थे कि यह नारायणास्त्र है। बिना मारे नहीं छोड़ेगा। सारी सेनाको नष्ट कर डालेगा। पर वे उसके निवारणका उपाय भी जानते थे। उन्होंने कहा—'इसका एक ही उपाय है—आत्मसमर्पण कर देना। हथियार छोड़-कर जमीनपर खड़े हो हाथ जोड़कर स्थित हो जाना। फिर इसका असर तुमलोगोंपर नहीं होगा।' पाण्डवोंने ऐसा ही किया। अस्त्र तुरंत शान्त हो गया। दुर्योधनने अश्वत्थामासे कहा—'अश्वत्थामा! तुमने बड़ा प्रभाव-शाली अस्त्र चलाया। एक बार इसको फिर चलाओ।' अश्वत्थामा बोला—'मैं अब इसे दुबारा नहीं चला सकता। नारायणास्त्रका प्रतीकार है आत्म-समर्पण। जो आत्म-समर्पण कर देता है, उसपर इसका प्रभाव नहीं होता। आत्मसमर्पण करनेवालेपर यदि कोई इस अस्त्रका पुनः प्रयोग करता है तो उस प्रयोग करनेवाले-को ही यह अस्त्र मार डालता है।' आप विचार कीजिये, अस्त्रोंमें कितना बड़ा विज्ञान था। एक अस्त्रको चलानेसे चाहे पाँच करोड़ सेना हो, चाहे दस करोड़, सब नष्ट हो जाती थी। पर ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग होता था, युद्ध करनेवाली सेनापर, न कि निरीह नर-नारियों और बाल-वृद्धोंपर। हमारे देशकी ओर ध्यान दीजिये। नारायणास्त्र किसका? श्रीविष्णुका। पाशुपतास्त्र किसका? शिवजीका। ब्रह्मास्त्र किसका? ब्रह्माजीका। ऐसे महान् अस्त्र थे हमारे देशमें।

हमारे यहाँ पाँच भूतोंकी बड़ी भारी उन्नति हो गयी थी। आठ प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन मिलता है, जिनमें चार मनसे सम्बन्ध रखनेवाली मानसिक सिद्धियाँ हैं और चार भूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली भौतिक सिद्धियाँ हैं। इन भौतिक सिद्धियोंके नाम हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा। मानसिक सिद्धियोंके नाम हैं—प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। अणिमाका अभिप्राय है—अणुके समान छोटा बन जाना। हनुमान्‌जी जब लंकामें प्रवेश करते हैं तो मच्छर-जैसा रूप बना लेते हैं; यह 'अणिमा' सिद्धिका प्रभाव था। और जब हनुमान्‌जी लंकाको जा रहे थे तो समुद्रको लाँघनेके समय उन्होंने महान् स्वरूप धारण कर लिया था। यह 'महिमा' सिद्धि केवल हनुमान्‌जीमें ही नहीं थी, सिंहिका नामकी राक्षसीमें भी थी। और भी राक्षसोंमें थी। घटोत्कचमें भी थी। जब घटोत्कच मरने लगा तो वह अपने शरीरको बढ़ाने लगा। उसने सोचा कि जब मैं मरूँगा तो जितनी कौरवोंकी सेना है, सबको दबाकर मरूँगा। उस समय उसने इतना बड़ा शरीर धारण किया कि उसके गिरनेपर एक अक्षौहिणी कौरव-सेना उसके नीचे दबकर मर गयी। ऐसी-ऐसी विद्याएँ तो राक्षसोंमें थीं। मेघनादके युद्धमें देखा जाता है कि एक समय मेघनाद आकाशमें शिलाकी वर्षा कर रहा है। वह दीखता नहीं, अन्तर्धान हो रहा है। एक समय देखा जाता है कि चारों तरफ मेघनाद-ही-मेघनाद हैं। यह भी एक अद्भुत सिद्धि ही थी। ऐसी-ऐसी सिद्धियाँ थीं। इस प्रकार, अणुके समान शरीर बना लेना 'अणिमा', महान् रूप धारण कर लेना 'महिमा', भारी रूप धारण कर लेना 'गरिमा', और हल्का रूप धारण कर लेना 'लघिमा' सिद्धि है। ये चारों भौतिक सिद्धियाँ हैं। मानसिक सिद्धियाँ चार हैं—जिस चीजकी इच्छा करे, वही प्राप्त हो जाय, यह 'प्राप्ति' सिद्धि है। जिस समय कामना करे कि अमुक शत्रु मर जाय, उसी समय उसका मर जाना, यह 'प्राकाम्य' सिद्धि है। ईश्वरके

समान सृष्टिकी रचना कर लेना 'ईशित्व' है, जैसे विश्वामित्रजीने अपने तपके बलसे रचना करना आरम्भ कर दिया था। किसीको अपने वशमें कर लेना, अधीन कर लेना 'वशित्व' सिद्धि है। इसके सिवा और भी अनेकों सिद्धियोंकी बात आती है।

आप श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें देखिये। जब भरतजी महाराज चित्रकूट जा रहे थे और रास्तेमें उन्हें भरद्वाज ऋषिके यहाँ ठहरना पड़ा, तब श्रीभरद्वाज ऋषिने सिद्धियोंको बुलाकर क्षणमात्रमें सबके खाने-पीनेके लिये सारी सामग्री और रहनेके लिये मकान रच दिये। उनका पूरा आतिथ्य सिद्धियोंके द्वारा करवाया। आज संसारमें ऐसी सिद्धियाँ देखनेमें नहीं आतीं।

ध्यान दीजिये, युद्ध हो रहा है कुरुक्षेत्रमें और हस्तिनापुरमें भी बैठा हुआ सञ्जय अपनी दिव्यदृष्टिसे युद्धकी क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनाको प्रत्यक्षवत् देख-सुनकर धृतराष्ट्रको सारी बातें बता रहा है। उसे वहाँकी सारी चीजें दीख रही हैं। वहाँ आपसमें जो बातें करते हैं, उन्हें भी सञ्जय सुन रहा है और किसीके मनमें भी जो बात आती है, उसे भी सञ्जय जान लेता है। उसका मन दिव्य हो गया, इन्द्रियाँ दिव्य हो गयीं। आप सोचिये, कैसी एक अद्भुत विद्या थी। इससे माळूम होता है कि उस समय भौतिक उन्नति बहुत चढ़ी-बढ़ी थी।

हमलोगोंको भौतिक उन्नति भी वही करनी चाहिये, जिसमें किसीकी हिंसा न हो, किसीका अहित न हो। बम चलाकर निरपराध मनुष्योंको मार डालना यह कोई भौतिक उन्नतिकी महिमा नहीं है। भौतिक उन्नति वह होनी चाहिये, जिस उन्नतिसे सबकी सेवा बने। सबका हित हो, सबको सुख मिले। जैसे भरद्वाज ऋषिने भौतिक उन्नतिसे सबकी सेवा की, इसी प्रकार भौतिक उन्नतिको काममे लाना चाहिये।

हमारी इन्द्रियोंमें अनेकों दोष भरे हुए हैं जैसे वाणीमें कठोरता, मिथ्या-भाषण, व्यर्थ बकवाद, अप्रिय-वचन, अहितकर वचन आदि। इसी प्रकार कानोंमें परनिन्दा सुनना, व्यर्थ वचन सुनना। जिह्वामें स्वादकी और त्वचामें स्पर्शकी लोलुपता। नेत्रोंमें परस्त्रीको देखना, दूसरेके दोष देखना एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें रागद्वेष आदि दोष भरे पड़े हैं—उनसे इन्द्रियोंको रहित करना, विषयोंसे इन्द्रियोंका संयम करना, उन्हें शुद्ध और दिव्य बनाना, विषयोंसे इन्द्रियोंकी वृत्ति हटाकर अपने वशमें करना—यह 'ऐन्द्रियिक उन्नति' है।

अब 'मानसिक उन्नति'के विषयमें विचार करें। मानसिक उन्नतिका अर्थ है—मनको उन्नत करना। सिद्धिके द्वारा दूसरेके मनकी बात जान लेना, यहाँ बैठे हुए ही सारे संसारकी बातोंको सिद्धियोंके द्वारा समझ लेना, दूरसे आग बुझा देना, मनोबलके द्वारा दूर बैठे ही रोग नाश कर देना, विष उतार देना, शत्रुता मिटा देना, मैत्री उत्पन्न कर लेना, मनके संकल्पका सत्य हो जाना, मनको अपने वशमें करना, मनको एकाग्र करना तथा संसारके पदार्थोंसे रोकना, मनके भीतर जो बहुत-से पाप हैं उनको धो डालना, दया, करुणा, मैत्री, प्रेम, विराग, शान्ति आदि सद्भावों और सद्विचारोंसे युक्त होना, मनका विषय-चिन्तनसे रहित होकर आत्मचिन्तन या भगवच्चिन्तनपरायण होना आदि यह सब मानसिक उन्नति है। इस प्रकार हमें मानसिक उन्नति करनी चाहिये। मानसिक उन्नति वस्तुतः हमें यहाँतक करनी चाहिये कि जिससे हमारी वास्तविक उन्नति होकर हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। जिसमें आत्माकी महान् उन्नति हो, जो परमात्माकी प्राप्तिमें परम सहायक हो, वही वास्तविक मानसिक उन्नति है। जो मानसिक उन्नति लोगोंको कष्ट देनेवाली हो, दूसरेके हितका नाश करनेवाली हो, जिसमें आत्माका पतन हो, वह मानसिक उन्नति नहीं, अवनति है। वह तो हमारा पतन है।

इसी प्रकार हमें 'बौद्धिक उन्नति' करनी चाहिये। हमारी बुद्धि तीक्ष्ण होनी चाहिये। हमारी बुद्धि शुद्ध

और स्थिर होनी चाहिये। बुद्धिपर जो आवरण है, वह दूर होना चाहिये। हमारी बुद्धिमें ज्ञानका इतना प्रकाश होना चाहिये कि जिससे हम परमात्माके स्वरूपको यथार्थतः समझ जायँ। बुद्धिके द्वारा जानने योग्य तत्त्व-पदार्थको जान जायँ। यह बौद्धिक उन्नति है। बौद्धिक उन्नति असली वही है जिससे परमात्माके विषयका निर्भ्रान्त बोध हो, जिससे हमारे आत्माका कल्याण हो। आत्माके कल्याणमें सहायता देनेवाली बौद्धिक उन्नति ही यथार्थ बौद्धिक उन्नति है। जिस बौद्धिक उन्नतिसे संसारके पदार्थोंको जानकर लोगोंको कष्ट दें, जिस बुद्धिके द्वारा लोगोंपर अनुचित शासन करें और स्वयं ऐश-आराम करें, वह बुद्धिकी उन्नति नहीं, अवनति है। वह तो वस्तुतः पतन है। इसलिये हमें बुद्धिको सूक्ष्म और तीक्ष्ण बनाना चाहिये, जिससे हम परमात्माको जान सकें—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

'सूक्ष्मदृष्टिवाले पुरुषोंद्वारा सूक्ष्म और तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा परमात्मा देखा जाता है।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(६। २१)

'परमात्माका वह स्वरूप आनन्दरूप है, अत्यन्त आनन्दरूप है। वहाँ इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है। बुद्धिकी पहुँच है। ऐसा वह परमात्माका स्वरूप है, जिसको जानकर फिर उससे विचलित नहीं होता।' ऐसी जो हमारी बौद्धिक उन्नति है, वह कल्याण करनेवाली है। इस प्रकार हमें बौद्धिक उन्नति करनी चाहिये।

इसी प्रकार हमलोगोंको अपनी 'सामाजिक उन्नति' करनी चाहिये। हमारे समाजका पतन होता जा रहा है। आज यदि किसीके तीन-चार लड़कियाँ हो जाती हैं, तो उनका विवाह होना कठिन हो जाता है। कलकत्तेके हंसपुखरियामें एक लड़की सोलह वर्षकी हो गयी, उसके माता-पिताके पास दहेजके लिये रुपये नहीं थे, इस कारण लड़कीका विवाह न हो सका, अतः वे लड़कीके साथ ही विष खाकर मर गये। ऐसी हत्याओंका पाप लगता है दहेज लेकर लड़केका विवाह करनेवालोंको। हमारे देशमें दहेजकी प्रथा इस समय इतनी बुरी हो गयी है कि जिनके दो-चार लड़कियाँ होती हैं, वे रात-दिन रोते रहते हैं और लड़की भी माता-पिताके दुःखको देखकर रोती है। कोई-कोई लड़की तो माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्या तक कर लेती है। कितनी लज्जा और दुःखकी बात है। आजकल हम जो रुपये लेकर लड़केको ब्याहते हैं, इसका मतलब यह कि हम लड़केको बेचते हैं।

हमारे यहाँ एक दिखावा होता है, उससे बड़ी हानि होती है। दूसरे लोग उसको देखकर उससे अधिक रुपया लगाते हैं, इससे खर्च बढ़ जाता है। लड़का पैदा होता है, उस समय भी लोग बहुत फजूल खर्च कर देते हैं। विवाह-शादीमें जो बुरे गीत गाये जाते हैं, अनुचित दावतें दी जाती हैं, होटलोंमें पार्टी दी जाती है, आडम्बरपूर्ण सजावट की जाती है, हजारों रुपये व्यर्थ खर्च किये जाते हैं, अपवित्र तथा हिंसायुक्त वस्तुओंका व्यवहार किया जाता है—यह सभी सामाजिक पतन है। इस तरहकी बहुत-सी और कुरीतियाँ हैं, जिनका सुधार करना परम आवश्यक है।

इसी प्रकार हमलोगोंको 'व्यावहारिक उन्नति' करनी चाहिये। व्यवहारमें—व्यापारमें जो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी करते हैं, लोगोंको धोखा देते हैं, यह हमारा 'व्यावहारिक पतन' है। हमें सचाईके साथ न्याययुक्त व्यवहार करना चाहिये। समताके साथ तथा त्यागपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। इससे हमारे व्यवहारकी उन्नति होती है। दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें हमें स्वार्थका त्याग करना चाहिये। त्यागसे हमारी यथार्थ व्यावहारिक उन्नति होगी और सच्चा सुधार होगा।

पराये धन, परायी स्त्री, परायी यश-कीर्तिको हड़पनेका विचार तथा प्रयत्न करना, अपनी सुख-सुविधाके लिये अन्यायपूर्वक दूसरेकी सुख-सुविधाको नष्ट करना—यह सब 'नैतिक पतन' है। इससे हटकर हमें न्यायपूर्वक अपनी वस्तुपर ही दृष्टि रखनी चाहिये। हमारा नैतिक स्तर इतना ऊँचा होना चाहिये कि जिसमें अनैतिकताको कहीं जरा-सा भी स्थान हो ही नहीं। वरं हमारा न्याय वही हो, जिसमें दूसरेके अधिकारकी तथा हितकी रक्षा सावधानीसे होती हो। यही 'नैतिक उन्नति' है। हम अपनी चीज दूसरोंको दें नहीं और दूसरेकी चीज लें नहीं, ठीक अपने न्यायपर रहें, तो भी दोष नहीं है।

'धार्मिक उन्नति' इससे भी उच्चकोटिकी है। श्रीमनुजी-ने ये साधारण धर्मके दस लक्षण वतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

१. धैर्य रखना, भारी आपत्ति आनेपर भी धैर्यका त्याग न करना। २. क्षमा करना, दूसरेके अपराधका बदला नहीं लेना। ३. मनको वशमें रखना। ४. चोरी नहीं करना। ५. हृदयको शुद्ध बनानेके लिये बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना। ६. इन्द्रियोंको वशमें रखना। ७. सात्त्विक बुद्धि। ८. सात्त्विक ज्ञान। ९. सत्य वचन बोलना। १०. क्रोध न करना। ये सामान्य धर्मके दस लक्षण हैं। यह सामान्य धर्म है। यह मनुष्यमात्रमें होना चाहिये। और विशेष धर्मकी बातें शास्त्रोंमें वतलायी हैं, उन्हें देख लेना चाहिये। इस प्रकार अपने धर्मकी उन्नति करना धार्मिक उन्नति है। इस धार्मिक उन्नतिको निष्कामभावसे करनेपर आत्माका कल्याण हो सकता है।

इसी प्रकार हमें 'आध्यात्मिक उन्नति' करनी चाहिये। आध्यात्मिक उन्नति वह है, जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो, जिससे हमें परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो, हम यह समझ जायँ कि परमात्मा क्या वस्तु है। ईश्वरकी भक्ति अध्यात्मविषयका एक खास अङ्ग है। इसलिये हमको ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। जैसे धर्मके दस लक्षण वतलाये, वैसे ही भक्तिके भी नौ भेद वतलाये गये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, गुण, प्रभाव, तत्त्वकी वातोंको श्रवण करना श्रवणभक्ति, वर्णन करना कीर्तन-भक्ति और उनको मनसे चिन्तन करना स्मरणभक्ति है। भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करना पाद-सेवनभक्ति, भगवान्‌के मानसिक या मूर्त विग्रहकी पूजा करना अर्चनभक्ति और भगवान्‌को नमस्कार करना वन्दनभक्ति है। प्रभु हमारे स्वामी, हम प्रभुके सेवक—यह दास्यभाव है। प्रभु हमारे सखा—यह सख्यभाव है और अपने आत्माको सर्वस्व-सहित उनके समर्पण कर देना—यह आत्मनिवेदन है।

इस प्रकार आत्माके कल्याणके लिये जो ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि अनेक प्रकारके साधन वतलाये गये हैं, उनका अनुष्ठान करना—आध्यात्मिक उन्नति है। आध्यात्मिक उन्नतिके विषयमें परमात्माकी प्राप्तितक हमें प्रयत्न करना चाहिये। जिसने परमात्माकी प्राप्ति कर ली, उसीने वस्तुतः अपने अध्यात्मविषयकी उन्नति की।

अतः हमलोगोंको धार्मिक उन्नति भी परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही करनी चाहिये। फिर वह धार्मिक उन्नति भी आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक हो जाती है। वास्तवमें तो अध्यात्म-विषयमें जो सहायक हो, वही धार्मिक उन्नति है। जो इसमें सहायक नहीं है, वह तो उन्नति ही नहीं है। ऊपर जितनी बातें बतायी गयीं—वे यदि आध्यात्मिक विषयमें सहायक हैं, तभी उन्नति है।

अब व्यावहारिक उन्नतिके विषयमें फिर संक्षेपसे कुछ विचार किया जाता है। हमारा व्यवहार यदि सात्त्विक हो जाय तो केवल व्यवहारसे ही हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे तुलाधार वैश्य थे और उनका व्यवहार बहुत उच्चकोटिका था। उस व्यावहारिक उन्नतिसे ही वे परमधामको चले गये। पद्मपुराणमें लिखा है कि तुलाधार वैश्य जो व्यापार करते थे, उसमें उनके स्वार्थका त्याग था, सचाईका व्यवहार था, सबके साथ सम-बर्ताव था। इसीके प्रतापसे उन्हें भगवान् स्वयं आकर परमधाममें ले गये। इसी प्रकार शौचाचार-सदाचार है। उसे निष्कामभावसे संसारके हितके लिये करें, तो उससे भी हमारा कल्याण हो सकता है। सबके हितका व्यवहार करें, सबके साथ अच्छा बर्ताव करें तो केवल हमारे उस बर्तावसे आत्मा शुद्ध होकर कल्याण हो सकता है। अतः केवल स्वार्थका त्याग होना चाहिये। स्वार्थका त्याग ही वास्तवमें मुक्ति देनेवाला है। भगवदर्थ अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेसेभी कल्याण हो सकता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

'जो संसार परमात्मासे पैदा हुआ है और जिसमें परमात्मा व्याप्त है, उस परमात्माको मनुष्य अपने कर्मोंद्वारा पूजकर परम सिद्धिको यानी परम गतिको प्राप्त हो सकता है।' पूजा कैसी? सबमें भगवद्बुद्धि करके सबका हित करना। सबका सब प्रकारसे हित हो, इस प्रकारका भाव हृदयमें रखकर निष्काम प्रेम भावसे उनकी सेवा करना—यही कर्मोंके द्वारा उनकी पूजा करना है। इस प्रकारकी पूजासे मनुष्यका उद्धार हो सकता है।

भगवान्‌ने गीताके अठारहवें अध्यायके ४२ वें श्लोकमें ब्राह्मणका, ४३वेंमें क्षत्रियका और ४४वेंमें वैश्य और शूद्रका स्वाभाविक धर्म बतलाया है। ऊपर जो ४६वाँ श्लोक लिखा है, इसमें भगवान्‌ने कहा है कि ये लोग अपने-अपने धर्मका पालन करें तो उससे इनका कल्याण हो सकता है।

इसी प्रकार हमारी धार्मिक क्रिया भी मुक्ति देनेवाली हो सकती है। पर वह मुक्ति देती है निष्कामभावसे करनेपर। हम जो यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हैं, उससे भी हमारी मुक्ति हो सकती है, यदि सकाम भाव हटकर उसमें हमारा निष्कामभाव हो। उसमें स्वार्थका तथा आसक्ति, अहंकार, ममता और वासनाका त्याग होना चाहिये, जैसा कि भगवान्‌ने बतलाया है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सारी कामनाओंको, स्पृहाको, ममता और अहंकारको त्यागकर संसारमें विचरता है, वह पुरुष शान्तिको प्राप्त होता है।'

इसका अभिप्राय यही है कि हमारी सारी क्रिया स्वार्थरहित हो, हमारी क्रियाओंमें किसी प्रकारका अहंकार, स्वार्थ, ममता और आसक्ति न हो। वह क्रिया हमें मुक्ति देनेवाली हो जाती है। इसीका नाम 'निष्काम कर्मयोग' है। निष्काम भाव आ जानेसे यह अध्यात्म-विषयका खास साधन बन जाता है।

हम जो यज्ञ, दान, तप, सेवा करते हैं और सकाम भावसे करते हैं, तो वे सब राजसी हो जाते हैं। वह धर्म तो है पर सकाम धर्म है और सकाम धर्मके पालनसे कामनाकी पूर्ति होती है, स्वर्गादि मिलते हैं; किंतु उससे मुक्ति नहीं होती। इसलिये हमें धर्मका पालन निष्काम-भावसे करना चाहिये। आध्यात्मिक विषय तो स्वरूपसे

ही निष्काम है। यदि उसमें सकामभाव हो तो उसका नाम ही अध्यात्मविषय नहीं हो सकता। असली अध्यात्मविषय वही है कि जिसमें अपने आत्माका ज्ञान हो जाय, परमात्माका ज्ञान हो जाय। उससे निश्चय ही कल्याण हो जाता है।

अध्यात्मज्ञानके लिये हमको नित्य भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये, भगवान्‌का भजन-ध्यान करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके लिये दूसरा उपाय यह है कि वास्तवमें परमात्मा क्या वस्तु है—इसके लिये हमको परमात्माके विषयका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उस ज्ञानको हम महात्माओंके पास जाकर, सत्सङ्ग करके भी प्राप्त कर सकते हैं। गीतामें बतलाया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४। ३४)

'इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जानो। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यह ज्ञानयोगका साधन है। इसके आगे ३५वें श्लोकमें इसका फल बतलाया है। अतएव हमें ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर ज्ञानकी शिक्षा लेनी चाहिये। इस प्रकार ज्ञानयोगसे भी हमारे आत्माका उद्धार हो जाता है।

श्रद्धासे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर परमात्मा मिल जाते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

'हे अर्जुन! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। ज्ञानको प्राप्त होकर वह तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति करनेसे भी ज्ञानकी प्राप्ति होकर मुक्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०। १०)

'जो प्रेमपूर्वक नित्य निरन्तर मुझको भजते हैं, उन पुरुषोंको मैं वह ज्ञान देता हूँ, जिसके द्वारा उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।'

इस प्रकार भक्तिके द्वारा, कर्मयोगके द्वारा, सत्सङ्गके द्वारा परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है। और स्वाध्यायके द्वारा भी हो जाता है

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥
(गीता ४। २८)

'बहुत बड़े भारी व्रतको धारण करनेवाले बहुत-से ऋषिलोग स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञको करनेवाले हैं। इससे वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

इसी प्रकार बहुत-से उपाय परमात्माकी प्राप्तिके लिये बतलाये हैं। उनमेंसे एकका भी साधन करके हम परमात्माको प्राप्त कर लें तो हमारा जीवन सफल हो सकता है। यह अध्यात्म-विषय है।

अध्यात्मविषयमें प्रधान बात है—पात्र बनना। वास्तवमें पात्र बननेमें ही विलम्ब होता है, परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। जिस प्रकार बिजली जब फिट हो जाती है और शक्तिकेन्द्रसे उसका सम्पर्क हो जाता है तो स्विच दबानेके साथ ही रोशनी हो जाती है; जो कुछ विलम्ब है वह बिजलीके फिट करनेमें तथा सम्पर्क जोड़नेमें ही है, स्विच दबानेमें नहीं। इसी प्रकार मनुष्य जब परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है तो उसे तुरंत परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

पात्र बननेके लिये सबसे उत्तम उपाय है—हम सारे संसारको परमात्मस्वरूप समझें और सारी चेष्टाको

परमात्माकी लीला समझें । अर्थात् पदार्थमात्रको परमात्माका स्वरूप और चेष्टामात्रको परमात्माकी लीला समझें । इससे बहुत शीघ्र भाव सुधरकर कल्याण हो जाता है । हमको ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि जहाँ हमारे मन और नेत्र जायँ, वहीं हम परमात्माका दर्शन करें । जैसे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६ । ३०)

'जो पुरुष सर्वत्र मुझ (परमात्मा) को देखता है और सबको मुझमें देखता है, भगवान् कहते हैं कि उससे मैं कभी अलग नहीं होता और वह मुझसे कभी अलग नहीं होता ।'

इस प्रकार अभ्यास करते-करते सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है । जैसा कि भगवान्ने गीताके सातवें अध्यायके १९ वें श्लोकमें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें 'जो कुछ है सो सब वासुदेव है' इस प्रकार जो ज्ञानवान् पुरुष मुझको भजता है, वह अति दुर्लभ महात्मा है ।'

इसीके अनुसार हमको साधन करना चाहिये । सिद्ध महात्मा पुरुषोंकी यह जो वास्तविक स्थिति है, उसको लक्ष्यमें रखकर उसके अनुसार हमको साधन करना चाहिये । सबमें भगवद्बुद्धि करके सबमें भगवद्-दर्शन करना चाहिये । जहाँ हमारी बुद्धि जाय, जहाँ मन जाय, जहाँ नेत्र जायँ, वहीं हम भगवान्के स्वरूपका दर्शन करें और चेष्टामात्रको भगवान्की लीला समझें तो आत्माकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है ।

जैसे कोई मनुष्य जब नेत्रोंपर हरे रंगका चश्मा चढ़ा लेता है तब सारा संसार उसे हरे रंगका दीखने लगता है, इसी प्रकार हमें हरिके रंगका चश्मा अपनी बुद्धिपर चढ़ा लेना चाहिये । अपने अन्तःकरणपर हरिके रंगका यानी हरिके भावका चश्मा चढ़ा लेना चाहिये । हम इस प्रकार परमात्मभाव करें कि सब परमात्माका स्वरूप है । यह एक प्रकारका उत्तम भाव है । हृदयमें हम इस भावको दृढ़ कर लें, यह चश्मा चढ़ा लें, फिर सर्वत्र यह भाव करें कि सर्वत्र भगवान् विराजमान हो रहे हैं तो बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और सर्वत्र भगवद्दर्शन होने लगते हैं । सब जगह एक परमात्माके सिवा फिर उसकी दृष्टिमें और कोई पदार्थ रहता ही नहीं । यह सबसे बढ़कर साधन है ।

मनुष्य-देह

सुंदर मनुषा देह यह, पायौ रतन अमोल ।
कौड़ी साटे न खोइए, मानि हमारौ बोल ॥
बार-बार नहिं पाइए, सुंदर मनुषा देह ।
रामभजन सेवा सुकृत, यह सोदो करि लेह ॥
सुंदर साँची कहतु है, मति आनै मन रोस ।
जौ तैं खोयो रतन यह, तौ तोहीकौं दोस ॥
सुंदर साँची कहतु है, जौ मानै तो मानि ।
यहै देह अति निन्द्य है, यहै रतनकी खानि ॥

—श्रीसुन्दरदासजी

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(७०)

'भुवनभास्करके बिना दिन कैसा, चन्द्रदेवके बिना रजनी कैसी ? नीलसुन्दरके बिना व्रजमें रक्खा ही क्या है ! उन्हें साथ लिये बिना ही हम सब गोकुलमें लौट जायँ—यह भी कभी सम्भव है ? वारिहीन, सौन्दर्यविरहित सरोवरके समीप कौन जाता है ?'—

दिवसः को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा ।
.........विना कृष्णेन को व्रजः ॥
विनाकृता न यास्यामः कृष्णेनानेन गोकुलम् ।
अरम्यं नातिसेव्यं च वारिहीनं यथा सरः ॥

(श्रीविष्णुपु० ५ । ७ । २७-२८)

'बस चलो, यशोदारानीके साथ हम सभी इस विशाल ह्रदमें डूब जायँ !'—

सर्वा यशोदया सार्द्धं विशामोऽत्र महाह्रदम् ।

(श्रीविष्णुपु० ५ । ७ । २६)

—इस प्रकार मूर्च्छामें लीन वात्सल्यवती व्रजपुरन्ध्रियोंके प्राणोंपर स्पन्दित होती हुई ये भावनाएँ उन्हें बाह्य चेतनाकी ओर ले चलीं ।

इधर वे गोपबालिकाएँ, जिनका अभी-अभी नवविवाह हुआ था, विवाहके अवसरपर, अन्य किसीकी दृष्टिमें कुछ भी नवीनता संघटित न होनेपर भी जिन अधिकांश दुलहिन बनी बालिकाओंने ही एक अत्यन्त आश्चर्यमयी घटनाके दर्शन किये थे; विवाह-संस्कार विधिवत् सम्पन्न होते हुए, भाँवर फिरते समय आदिसे अन्ततक जो स्पष्ट अनुभव कर चुकी थीं कि वरके—उस भावी पतिके अणु-अणुमें नीलसुन्दर भरे हुए हैं, उनके साथ भाँवरें, नीलसुन्दरने ही दीं; सर्वथा उनका पाणिग्रहण नीलसुन्दरने ही किया; क्षणभरके लिये भी वह वर उनकी दृष्टिमें न आया, जिसके साथ सगाईकी बात सुनी गयी थी; और इस प्रकार अनुभव करके जो भ्रान्त-सी बन गयी थीं; जिनका जीवन ही कुछ और-सा बन गया था—कभी तो वे इस घटनाको स्मरण करतीं और कभी उन्हें सर्वथा इसकी विस्मृति हो जाती; पर निरन्तर एक विचित्र-सी वेदना जिनके प्राणोंमें भरी रहती; नीलसुन्दरको देखकर विथकित रह जातीं; और आज व्याकुल गोपगोपी-समाजके साथ जो यहाँ दौड़ी आयी थीं; तथा ठीक जो इनकी छायाकी भाँति ही श्रीकृष्णचन्द्रकी समवयस्का वे गोपकुमारिकाएँ भी—जिनके प्राण मानो सदा श्रीकृष्णचन्द्रमें ही समाये रहते थे, न जाने क्यों जिनकी आँखें नीलसुन्दरको देखते ही सजल हो उठतीं—आज इस कालियह्रदपर आ पहुँची थीं;—ये दोनों ही नवविवाहिता गोपसुन्दरियाँ एवं नीलसुन्दरकी समवयस्का गोपकुमारिकाएँ सहसा मूर्च्छासे जगकर करुण चीत्कार कर उठीं—

भोगेनावेष्टितस्यापि सर्पराजस्य पश्यत ।
स्मितशोभि मुखं गोप्यः कृष्णस्यास्मद्विलोकने ॥

(श्रीविष्णुपु० ५ । ७ । ३२)

'अरी गोपिकाओ ! देखो तो सही, इस विशाल सर्पके शरीरसे वेष्टित रहनेपर भी नीलसुन्दरके मुखपर हम सबोंको देखकर स्मित आ ही गया री ! मन्द मुसकानसे परिशोभित इस मुखका दर्शन तो करो !'

इससे पूर्व ये नववधुएँ, ये कुमारिकाएँ एक शब्द भी न बोल सकी थीं; ह्रदके तटपर आते ही नीलसुन्दरको कालिय-कुण्डलीसे आवृत देखते ही इनके लिये श्रीकृष्णविरहित त्रिलोक सचमुच ही शून्य बन चुका था—

ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १६ । २०)

—छिन्न हुई नन्ही-सी द्रुमलताकी भाँति वे गिर पड़ी थीं; करुण क्रन्दनकी एक भी 'हाय' व्यक्त होनेसे पूर्व ही, हृत्कोश सर्वथा विदीर्ण न हो जाय, इस भयसे मूर्च्छा-सखीने सान्त्वना देनेके लिये उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया था—

स्खलिता भुवि मूर्च्छयैव सख्या कृतसान्त्वा इव नो तदा विलेपुः ।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अस्तु, इनके इसी 'स्मितशोभि मुखं पश्यत' चीत्कारकी ध्वनिको व्रजरानीके मूर्च्छित प्राणोंने ग्रहण कर लिया और वे आँखें फाड़कर अपने नीलमणिको ओर देखने लगीं ।

'नहीं रे ! निश्चेष्ट होनेपर भी मेरा नीलमणि जीवित है अन्यथा अधरोंपर यह स्मित कहाँ ......!'—मैया प्रबलवेगसे अपने वक्षःस्थलको पीटकर आर्तनाद करती हुई ह्रदकी ओर

दौड़ी और अपना वामपद ह्रदके जलमें डाल ही दिया, किंतु —आह ! बलरामने पीछेसे दौड़कर उन्हें अपने भुजपाशमें बाँध लिया; जननी आगे न बढ़ सकीं—

यह दसा देखि जसुधा मलीन । करि रुदन हृदय ताड़न सु कीन ॥
सब गोप रहे कैसे डराइ । नहिं लेत धाइ लालन छुड़ाइ ॥
इमि व्याकुल है चलि धसीं नीर । तहँ धाइ धरी बलवीर वीर ॥

किंतु इसी समय व्रजरानीका यह करुण आह्वान संज्ञाशून्य व्रजेन्द्रके प्राणोंमें सञ्जीवन मन्त्र-सा बनकर गूँज उठा; उनके नेत्र उन्मीलित हो उठे । फिर तो उन्होंने छलाँग-सी मारी ह्रदके जलकी ओर । पर तुरंत ही श्रीअनन्तदेव बलरामने मानो द्वितीय प्रकाश स्वीकार कर लिया और बाबा भी उनकी भुजाओंमें ही रुद्ध हो गये । अवश्य ही शेषस्वरूप रोहिणीनन्दनका अपरिसीम बल सचमुच यहाँ कुण्ठित-सा होने लगा; अत्यन्त कठिनतासे ही वे व्रजेशको पीछेकी ओर खींच सके—

फिरि नंद चले जमुना सम्हाइ । बलिदेव रोकियौ करि उपाइ ॥

गोपसुन्दरियाँ, गोपगण—कोई भी ह्रदमें प्रविष्ट न हो सका; सबके आगे बलराम खड़े हैं, किसीको संकेतसे, किसीके कंधे छूकर, किसीको भुजाओंमें भरकर वे दूर कर देते हैं । और यह लो, अब एक अद्भुत अलौकिक तेजोमण्डल उनके मुखको आवृत कर लेता है और मेघगम्भीर स्वरसे वे पुकार उठते हैं—

हंहो तात ! तातप्यमानमानसतया समेधमानेन मानेन शोकेन स्वदेहः खेदयितव्यो दयितव्योऽयं कृष्णस्य ।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे ! बाबा ! अहो ! प्रतिक्षण वेगसे बढ़ते हुए इस अतिशय चित्तसंतापी शोकसे अपने शरीरको व्यथित मत करो । तुम्हारी यह देह श्रीकृष्णचन्द्रके प्यारकी वस्तु जो है, बाबा !'

भो मातर्मातः परं विलप लपनं मे निर्द्धारय धारय धृतिं भोः ।　(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरी मैया ! अब तू विलाप मत कर ! मेरी बात सुन ले, धीरज रख री !'

भोः पौरजानपदाः ! विपदाविष्करणेन मापरं परं संतापमाप्तुमर्हत ।　(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे ओ पुरवासियो ! अपनी अविचारपूर्वक चेष्टासे नयी विपत्तिका सृजन कर किसी अन्य महान् दुःखके भागी मत बन जाओ ।'

रोहिणीनन्दनकी वाणीमें उत्तरोत्तर ओज बढ़ता ही जा रहा है । अब वे कालियबन्धनमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर—अपनी भुजाओंसे संकेत करते हुए कहने लगते हैं—

अस्य हि मदवरजस्य मदवरजस्य शौर्य्यस्य महिमानं हि माऽऽनन्दवर्द्धनं भवन्तो जानन्ति जानाम्यहमेव केवलं केऽवलम्बन्तामपरिवृढा अपि यल्लवावबोधम् ।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'व्रजपुरवासियो ! मेरे इस कनिष्ठ भ्राताके शौर्यकी महिमाको आपलोग निश्चय ही नहीं जानते । जब किसीके अहङ्कारको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये इसमें भी एक महान् अहङ्कार जाग्रत् हो उठता है, और फिर अहङ्कारजनित जिस शौर्यकी इसमें अभिव्यक्ति होती है, उसकी उस आनन्दवर्द्धिनी महिमासे आप सब सर्वथा परिचित नहीं हैं । केवलमात्र मैं जानता हूँ । औरोंकी तो बात ही क्या, ऐसे देवश्रेष्ठ भी कौन हैं जो मेरे इस भाईकी उस महिमाके लवमात्रका भी ज्ञान प्राप्त कर सके हों ?'

खल्वयमनेन पुन्नागेन नागेनस्य पराभवः ।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो ! निश्चय समझो, अभी-अभी इस पुरुषकुञ्जर मेरे भाई श्रीकृष्णके द्वारा नागप्रमुख कालियका पराभव बस, होने ही जा रहा है !'

नागेन पराभवः पवनेन कर्तुं शक्यते ।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे ! महान् बलशाली कालियके बलकी चिन्ता मत करो । इसका बल श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति व्यर्थ है । पवन अत्यन्त बलवान् होनेपर भी गिरिराजको पराजित करनेमें कदापि समर्थ नहीं है ।'

न मयूखमालिमालिन्यं तमसा कर्तुं प्रभूयते ।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अहो ! किरणमाली सूर्यमें मलिनताका संचार कर देना तमके लिये सम्भव ही नहीं है । तम तो सूर्यके सान्निध्यसे ही विनष्ट हो जायगा । परम तेजस्वी श्रीकृष्णके समक्ष प्रतिपक्षी, तमरूप इस कालियका विनाश अवश्यम्भावी है ।'

किमस्य मकरकुण्डलिनः कुण्डलिनः क्षुद्रतमाद्भयसम्भावनम् । तदधुना संतापमुपस्यत पश्यत भुजङ्गापसदममुमुक्तशौर्यो मुक्तप्राणमिव कृत्वा समुत्थितप्रायोऽयम्……।

(आनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'अरे ! मेरे इस मकरकुण्डलधारी भाई श्रीकृष्णके लिये ऐसे क्षुद्र सर्पसे भयकी बात क्या सोचनी है ! अतः अब तो दुःख दूर कर दो; अरे, देखो, इस अधम सर्प कालियको प्राणहीन-सा बनाकर मेरा यह अखण्ड प्रतापवान् भाई श्रीकृष्णचन्द्र बस, उठ ही चला है ।'

इतना कह लेनेके अनन्तर श्रीबलरामके गम्भीरनेत्र—गौर मुखारविन्दके वे सलोने दृग पुनः फिर गये श्रीयशोदा-नन्द आदिकी ओर ही । उनका वह श्वेतसुन्दर शरीर झुक-सा पड़ा व्रजदम्पतिके चरणोंमें । और अभी भी वाणी यद्यपि लोकोत्तर तेजोमय पुटसे वैसी ही रञ्जित रही, किंतु नेत्र किञ्चित् अश्रुपूरित हो गये, इसमें संदेह नहीं; एवं गद्‌गद कण्ठसे हुए वे इतना और कह गये—

सत्यं वः पदपङ्कजाश्रयरुचां
कुर्याममुष्य क्वचि-
न्नैकस्मिन्नपि मूर्द्धजे क्षतिलवो
भावी . यथा गर्गगीः ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

'व्रजेश ! बाबा ! व्रजरानी ! मैया ! अरी रोहिणी मैया ! मैं तुम सबोंके समुज्ज्वल चरणोंकी शपथ कर रहा हूँ—श्रीकृष्णके एक केशतककी लवमात्र क्षति भी न होगी । और गर्गाचार्य भी तो यही कह गये हैं !'

अस्तु, रोहिणीनन्दनके उस आश्वासनका प्रभाव इतना अवश्य हुआ कि कृष्णगतप्राण व्रजेश, व्रजरानी, व्रजपुरवासी कालिय ह्रदमें प्रविष्ट न हुए; सबको रोक लिया बलरामने । किंतु यह भी वे कर सके अपनी भगवत्तामें अवस्थित होनेपर ही, ऐश्वर्यका बल लेकर ही । जो हो, व्रजरसकी यह विशुद्ध निराविल धारा सामने अनन्तदेवके लोकोत्तर तेजसमन्वित मुखमण्डलसे निःसृत आश्वासनको—ऐश्वर्य-पर्वतको लाँघ न सकी, एक बार रुद्ध हो गयी, यह सत्य है—

कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २२)

नंद आदि जे गोप घनेरे । धसत नीर बलजू गहि फेरे ॥
जानत प्रभु कौतुक भलि रीती । सुंदर बचन कहे करि प्रीती ॥

—फिर भी उसका प्रवाह शिथिल हो गया हो, यह कहाँ सम्भव है ! वह देखो—जननी यशोदाकी आँखें लगी हैं अपने नीलमणिकी ओर ही; उनकी अतिशय आकुल नेत्रभङ्गिमाको देखते हुए कौन कह सकता है कि मैया पुन ह्रदमें कूद पड़नेका प्रयास न करेंगी । इसीलिये तो उन व्रजपुरन्ध्रियोंने उन्हें घेर रक्खा है, पकड़ रक्खा है । उन पुरसुन्दरियोंके प्राणोंमें भी जननीके समान ही व्यथाका भार अवश्य है, उनकी आँखें भी निरन्तर बरस रही हैं । पर मैयाके आकुल प्राणोंमें यत्किञ्चित् सान्त्वनाका संचार करनेके उद्देश्यसे वे पूतनाघटित घटनासे नीलमणिकी रक्षा होनेकी, तृणावर्त्तसे अक्षत बच जानेकी, बकके कराल कण्ठसे सकुशल बाहर निकल आनेकी बातका वर्णन कर रही हैं, ऐसे विविध प्रसङ्गोंका विवरण सुनाकर मैयामें आशाका संचार कर रही हैं । स्वयं भी उनके नेत्र तो समाये हुए हैं नाग-बन्धनमें आवृत हुए नीलसुन्दरके मुखसरोजमें ही, पर वाणी अपने-आप अचिन्त्यलीलामहाशक्तिकी प्रेरणासे—उन घटनाओंका वर्णन करती जा रही है; तथा मैया आशा-निराशाके झूलेमें झूल रही हैं । और सच तो यह है कि ये कहनेभरको ही जीवित हैं । क्षण-क्षणमें इनका शरीर मृतवत् निष्पन्द हो जाता है । इन्हें वास्तवमें अपनी देहका भान है, यह कहना बनता नहीं !—

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां
तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन्
कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २१)

कृष्न मुखारबिंद दृग दीने । रोवहि बिह्वल बदन मलीने ॥
बारिज लोचन मोचहि वारी । संतत हिय जेहि बसत मुरारी ॥
कहि कहि ललित गोपाल गुन ब्रज कीने जे ख्याल ।
भूली तन सुधि मनहुँ सब भई सकल ब्रजबाल ॥

वे गोपगण भी श्रीबलभद्रके द्वारा रोक अवश्य लिये गये; कालियह्रदके विषमय जलका स्पर्श कर जल मरनेसे उनकी रक्षा हो गयी, किंतु उनके अन्तस्तलकी ज्वाला ह्रदकी प्राणहारी ज्वालासे कहीं अधिक विषम है । उसकी कराल लपटोंमें उनका शरीर, मन, प्राण—सब कुछ झुलसता जा रहा है । क्या गोप और क्या गोपी—सभीका जीवनदीप मानो अब कुछ ही क्षणोंमें निर्वापित होने जा रहा है—

नर-नारि मोह पीड़ा अधीन । जल तें बिहाति ज्यों बिकल मीन ॥

और वे अनन्तैश्वर्यनिकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र !

क्या वे नहीं देख पा रहे हैं अपने निज जनोंकी यह परम दयनीय दशा ? नहीं सुन पा रहे हैं वे उनका वह अत्यन्त करुण-क्रन्दन ? नहीं-नहीं, वे करुणावरुणालय सब कुछ देख-सुन रहे हैं ! यह तो व्रजजनके हृत्सिन्धुकी, उनके भावसागरकी मन्थनलीला है। त्रितापसे नित्य जलते हुए असंख्य प्राणियोंके लिये महौषधिरूप बनकर इस सागरकी कुछ बूँदें, मन्थनजात अमृतकी कुछ कणिकाएँ प्रपञ्चके तटपर बिखर जायँगी। अनन्तकालतक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्कमें आ सकेंगे, उनकी त्रिताप ज्वाला सदाके लिये प्रशमित होगी। इसी अभिसन्धिसे—साथ ही अपने स्वजनोंके रसपोषण, रससंवर्धनके उद्देश्यसे—व्रजेन्द्रनन्दन कालिय-बन्धनमें विश्राम-सा करने लगे थे। पर यह तो हो चुका। अब आगे क्षणभरका भी विलम्ब, उरगबन्धनका यह विश्राम व्रजपुरवासियोंके जीवनतन्तुको छिन्न किये बिना न रहेगा, यह भी परम करुणामय प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। या तो ये सब विषमय ह्रदमें अपने शरीर होमकर उनसे आ मिलें, या विरहकी ज्वाला उनके कलेवरको भस्म कर दे और फिर निरावरण वे अपने प्राणाधारको प्राप्त कर लें—जैसे हो, ये सभी उनसे मिलकर ही रहेंगे, उनका सान्निध्य पा लेनेके अतिरिक्त उनके लिये अन्य गति नहीं, यह 'सर्वज्ञ सर्ववित्' प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रसे छिपा नहीं है। साथ ही जिनका नित्य स्नेहार्द्र हृदय अपने स्वजनोंकी तनिक-सी आर्ति सहनेमें भी सर्वथा असमर्थ बन जाता है;—यह प्रश्न नहीं कि उस आर्तिका क्या लक्ष्य है; बस, अपने निजजनकी वह आर्ति है, यह भावना उन्हें परिव्याप्त कर लेती है और अनन्त करुणार्णव अन्य सब कुछ भूलकर सम्पूर्ण आर्ति हर लेनेके उद्देश्यसे दौड़ पड़ते हैं—वे सर्वसुहृद् परम स्नेही भला स्वयं उनके लिये ही, एकमात्र उन्हें ही सुप्रसन्न देख लेनेकी वासनासे अत्यन्त दुःखित, व्यथित हुए निज जनोंको कबतक इस अवस्थामें देख सकते। अनन्त शक्तिसम्पन्न श्रीकृष्णचन्द्रके भी धैर्यकी ऐसे अवसरोंपर सीमा आये बिना नहीं रहती। गायें वेदनाभारसे डकार रही हैं; वे उनके चिर सहचर शिशु सुबक-सुबककर रो रहे हैं; गोप करुण-क्रन्दन कर रहे हैं; मातृस्थानीया पुरन्ध्रियोंके प्राण उड़कर उनसे जा मिलनेके लिये अतिशय चञ्चल हो गये हैं; कुमारिकाएँ चिरनिद्रामें लीन होने चलीं; गोपसुन्दरियोंके दृगञ्चलपर अखण्ड समाधिकी शान्त रेखा अङ्कित-सी हो उठी—अब भी नीलसुन्दर कालिय-बन्धनमें निश्चेष्ट रहनेकी लीला कर सकेंगे ? सदा सर्वसमर्थ रहनेपर भी व्रजेन्द्रकुल-चन्द्रमें इतना धैर्य है ? नहीं-नहीं, कदापि नहीं ! दो घड़ीका कालमान, नागबन्धनमें उनके वेष्टित रहनेकी वह अवधि—आगे त्रुटिमात्र भी बढ़नेका अर्थ है अपने स्वरूपभूत गोकुलका सम्पूर्ण ध्वंस—असमयमें ही तिरोधान ! तथा सर्वेश्वरके द्वारा मनुष्यरीतिका अवलम्बन भी, 'दण्डनीय, अपराधीके अपराध सबके लिये प्रत्यक्ष हो जायँ'—इस प्राकृत प्रथाका पालन भी तो इतनी देरमें सम्यक् रूपसे हो ही चुका, कालियकी क्रूरता सबपर व्यक्त हो गयी, रीति सम्पन्न हो चुकी। अतएव अब विलम्ब नहीं। वह लो; वहाँ देखो,—जय हो गोकुल-चन्द्रमाकी ! जय हो नीलसुन्दरकी !—वे उस सर्पके बन्धनको फेंककर उठ खड़े हुए !—

> इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य
> सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
> आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः
> स्थित्वा मुहूर्त्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥
> (श्रीमद्भा० १० । १६ । २३)

> प्रभु देखे व्रजके नर नारी । बाल वृद्ध सब भए दुखारी ॥
> मम हित इनकों दुख अति भारी । करुनाकर निज हृदय विचारी ॥
> दंड एक नर कौतुक कीना । अहि-बंधन तें कढ्यो प्रवीना ॥
>
> × × ×
>
> जगनाह सकल जन दुखिय देखि । मन मोहि लगे इनके विसेखि ॥
> इहराइ अंग डारयो फनिन्द । बल तोर जोर छूटे गुविन्द ॥

कालियके लिये यह सम्भव ही नहीं था कि अब वह श्रीकृष्णचन्द्रको अपने कुण्डलीबन्धनमें रख सके। कैसे हुआ, यह तो उसकी जडबुद्धि समाधान न कर सकी। पर हुआ यह कि देखते-देखते ही श्रीकृष्णचन्द्रका वह नील कलेवर, आकृतिमें पूर्वकी भाँति ही परिदृष्ट होनेपर भी, व्यवहारमें महत्-महत्तर हो चला, अत्यधिक विस्तृत हो गया; ज्यों-केत्यों दृढ़ बन्धनमें बँधे रहनेपर भी एक विचित्र-सी बृहत्ताका प्रकाश उसमें हो गया—ऐसी बृहत्ता कि कालियका शरीर फटने लगा, दृढ़बन्धन शिथिल होते देर न लगी, कुण्डलीका एक-एक आवरण अपने-आप खुलने लगा। क्षणार्धके सहस्र-सहस्रांश समयमें ही यह आश्चर्यमयी घटना संघटित हो गयी और कालियकी आँखोंने अविलम्ब स्पष्ट अनुभव कर लिया—अकेला वह तो क्या,

उसके जैसे कोटि-कोटि कालिय अपने सुविस्तृत देहको परस्पर सम्मिलित करके भी इस अनोखे शिशुके चरणाङ्गुलितकको भी वेष्टित करनेमें असमर्थ ही रहेंगे। इस प्रकार निरुपाय कालिय उन्हें छोड़ देनेके लिये बाध्य था, छोड़ ही दिया उसने। किंतु अनादि, भगवद्विमुखजन-मोहिनी मायाका आवरण इतना झीना नहीं कि जीव सहजमें ही चिदानन्दमय, अनन्तैश्वर्यमय प्रभुके प्रकाशके दर्शन कर ले। इसीलिये महामूढ़ कालिय परब्रह्म पुरुषोत्तम व्रजेन्द्रनन्दनके असमोर्द्ध ऐश्वर्यका यत्किञ्चित् अनुसन्धान प्रत्यक्ष पा लेनेपर भी अन्धा ही बना रहा, उसकी आँखें न खुलीं। अपितु वह क्रोधसे अधीर हो उठा। पुनः अपने फण उठा लिये उसने। वह अत्यन्त दीर्घ श्वास फेंकने लग गया। उसके नासाविवरसे राशि-राशि विषका प्रवाह वह चला। कराल आँखें प्रज्वलित विषमय भाण्डकी भाँति स्तब्ध बन गयीं। मुख जलते हुए अङ्गारोंका आकर बन गया। और इस प्रकार मानो तमकी सम्पूर्ण परिणति उसमें एक साथ एक समय अभिव्यक्त हो गयी हो—इतना भयङ्कर बनकर, एक दृष्टिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते हुए, स्थिर भावसे वह स्थित हो गया—अगले दावकी प्रतीक्षामें !

तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोग-
स्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीष-
स्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। २४)

बढ्यो कृष्न तन अति बरु जोरू। तज्यो सर्प बंधन अति घोरू॥
फन उठाइ प्रभु ओर निहारू। रोष मानि रह खरो गवारू॥
नासा बिवर श्वास अति घोरा। बिष भाजन जनु पाक कठोरा॥
नैन कराऊ अनल जनु बरई। मुख उल्मूक रासि जनु जरई॥
एहि बिधि ठाढो अहि लसत कालो काऊ कराल।
तरु तमाल साखा मनहुँ लसत फननिको जाल॥

× × ×

उमंडे घुमंडे घनै सीस छाये। घटा टोप हैं कैं मनो मेघ आये॥
लसै तेज आरक्ता नैन बाढ़े। मनो अग्निके कुंड ते ताइ काढ़े॥
तहाँ तर्कि कैं उग्रता वक्त्र बायौ। किधौं भूरि भंडार भैकौ बतायौ॥
कढी वक्रकी कील-सी काल डाढैं। बसै मीचु तामें हसैं नीच गाढैं॥
चले जोर जीहा महा दुःखदानी। किधौं म्यान ते काल खैंची कृपानी॥
भरे स्वाँस छाँडे खरे रोस राती। किधौं सूरके पुत्रकी कोह कानी॥
छुटै ज्वाल बिसजालकी झार झूकैं। चहूँ ओर दिग्दाह सौं ब्रह्म सूकैं॥
रिसैं आनिकैं घ्रानके रन्ध्र बाजैं। किधौं काल तंत्रानली ताल साजैं॥
मदोन्मत्त है युद्धकी रोपि पाली। न जाने परब्रह्म ऐसौ कुचाली॥

जो हो, ह्रदके तटपर अवस्थित समस्त व्रजपुरवासियोंके जीवनशून्य-से हुए शरीरमें तो प्राण संचारित होने लगे हैं, सबके हाहाकारका विराम हो गया है। नीलसुन्दरकी अग्रिम योजनासे वे यद्यपि परिचित नहीं, फिर भी रोहिणीनन्दनकी बात सत्य होनेमें अब किसीको संदेह नहीं रह गया है।

एक ओर श्यामवर्णा कलिन्दनन्दिनीकी कल-कल नीली धारा प्रसरित हो रही है, दूसरी ओर अत्यन्त काले रंगका वह महासर्प कालिय फुफकार मार रहा है; सामने नवजलधर-वर्ण श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र अवस्थित हैं। भला, नीलसुन्दर-की भावी रंगशालाका क्या ही सुन्दर सुयोग लगा है !—

कारौ नीर कलिन्दजा कारौ अंग भुजंग।
कारे सुंदर स्याम घन भलौ बन्यौ यह संग॥

पुकार

हे करुणा के धाम, ललाम !
हे मेरे सन्तोष, अकाम !!
कहो, तुम्हारा वास कहाँ ?
ढूँढ़ रहा हूँ आठों याम !
भटक रहा हूँ, मिली न थाह !
जीवन की कुछ रही न राह !!
दया करो हे दयानिधान !
शरणागत की राखो चाह !
हे जीवनधन, तन, मन, प्राण !
हे मेरे सुख-शांति-निधान !!
कहाँ छिपे मेरे सर्वस्व ?
सुधि लो मेरी दीनसुजान !

—गौरीशंकर गुप्त

विज्ञान

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

कति नाम सुता न लालिताः
कति वा नेह वधूरभुञ्ज्महि ।
क्व नु ते क्व नु ताः क्व वा वयं
भवसङ्गः खलु पान्थसङ्गमः ॥

चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते न जाने कितनी स्त्रियोंका सङ्ग प्राप्त हुआ होगा और न जाने कितने पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न हुए होंगे—क्या इसका कोई अनुमान लगा सकता है ? परंतु हाय ! वे सारे पुत्र-पौत्रादि आज कहाँ हैं ? वे सारी स्त्रियाँ आज कहाँ होंगी ? और हम स्वयं कहाँ आ पड़े हैं और नये-नये संसार रच रहे हैं । बीते हुए जन्मोंके असंख्य स्त्री-पुत्रादिकी आज स्मृति भी नहीं है, फिर उनको आँखोंसे देखनेकी तो बात ही कहाँ ? यह सब स्पष्ट दीखता है, विवेक-बुद्धिसे समझमें भी आता है, तथापि यह बात गले नहीं उतरती कि संसारमें कुटुम्बका मेला तो केवल धर्मशालामें इकट्ठा हुए यात्रियोंके मेलेके समान है । यह यात्रियोंका मेला रोज शामको लगता है और सवेरा होते ही बिखर जाता है । इसी प्रकार यह कौटुम्बिक मेला भी एक देहमें लगता है और उस देहके छूटते ही यह मेला बिखर जाता है । पिछले देहमें लगे मेलेकी स्मृति भी दूसरे देहके मेलेके समय नहीं रहती ।

एकवृक्षसमारूढा नानावर्णा विहङ्गमाः ।
प्रभाते दिक्षु दशसु यान्ति का परिदेवना ॥

शाम होते ही चारों दिशाओंसे पक्षी आकर एक पेड़पर इकट्ठे होते हैं, रात वहाँ बिताते हैं और सवेरा होते ही अपनी-अपनी दिशामें रोज वापस उड़ जाते हैं । इसमें शामको पक्षी आते हैं, उस समय हर्षित होने-जैसी कौन-सी बात है और सवेरे उनके फिर उड़ जानेके समय शोक भी क्यों करना चाहिये ? ऐसा नीतिकार जो कहते हैं, वह यथार्थ ही है ।

इस प्रकार चौरासीका चक्र चलता रहता है और जीव परवशता या विवशतासे भाँति-भाँतिके और जाति-जातिके देहोंमें भ्रमण किया करता है । इस चरखीका वर्णन आत्मपुराणमें बहुत ही सुन्दर रीतिसे यों किया गया है—

जातो बालो युवा वृद्धो मृतो जातः पुनः पुनः ।
भ्रमतीत्येष संसारे घटीयन्त्रसमोऽवशः ॥

चरखीमें जैसे घड़े परवश होकर ऊपर आते हैं और नीचे जाते हैं । नीचे जाकर पानीसे भर जाते हैं और ऊपर आकर फिर खाली हो जाते हैं । इस प्रकार ऊपर आना और नीचे जाना; भरना और खाली होना—यह चक्र निरन्तर चला ही करता है । इसी प्रकार जीव इस संसारमें अनादि कालसे ऊँची-नीची योनियोंमें भ्रमा ही करता है । जब स्वर्गमें जाता है तब 'ऊँचा गया' कहलाता है, और निकृष्ट शरीर धारण करता है तो 'नीचे गिरा' कहलाता है । शरीरसे कर्म करता है और किये कर्मोंका फल भोगनेके लिये फिर शरीर धारण करता है । यही घड़ेके भरने और खाली होनेके समान है । प्रत्येक शरीरमें जन्मादि छः विकारोंका चक्र भी चलता रहता है ।

इस परिभ्रमणसे छुटकारा प्राप्त करना हो तो शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान-विज्ञानका आश्रय लो; क्योंकि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' । ज्ञानके बिना इस विषयचक्रसे छूटनेका कोई दूसरा उपाय ही नहीं है । इसलिये आज हम पहले आध्यात्मिक दृष्टिसे अपने विज्ञानका क्या स्वरूप है, यह देखेंगे और पश्चात् यह देखेंगे कि इस पवित्र शब्दका आज कैसा उलटा अर्थ किया जा रहा है । भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।'

ज्ञान-विज्ञान-जैसी पवित्र वस्तु इस जगत्‌में कोई भी नहीं है । परंतु चाहे कैसी ही पवित्र वस्तु हो, वह जब अयोग्य हाथोंमें पहुँच जाती है तो पवित्र नहीं रह सकती, क्योंकि वह उसका दुरुपयोग किये बिना नहीं रहता ।

श्रीमद्भगवद्गीताके सातवें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान् विज्ञानके साथ ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

'अर्जुन ! मैं तुझको विज्ञानके साथ ज्ञानका सम्पूर्ण रहस्य समझाता हूँ । इस रहस्यको समझ लेनेके बाद इस लोकमें दूसरा कुछ जाननेके लिये शेष नहीं रहता ।' ऐसे अलौकिक

विज्ञानको भगवान्ने केवल तीन ही श्लोकोंमें समझा दिया। पहले अपनी भूत-प्रकृतिका परिचय देते हुए कहते हैं कि पञ्च महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ पदार्थ मेरी भूतप्रकृति हैं। यहाँ चित्तको मनके अन्तर्गत ले लिया है; क्योंकि ये दोनों एक ही सिक्केके दो पहलू-जैसे हैं।

अब इस विषयमें अधिक विचार करनेसे पहले एक जरूरी बात समझ लेनी चाहिये। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—ये चारों एक ही अन्तःकरणकी विभिन्न वृत्तियाँ हैं, अतएव इन चारोंका समावेश अन्तःकरणमें हो जाता है। अन्तःकरण भी पञ्च महाभूतोंका कार्य है; क्योंकि यह उनके सात्त्विक अंशसे बना है। यहाँ मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारको भगवान्ने पञ्चमहाभूतोंसे अलग बतलाया है और ऐसा बतानेमें कारण है; परंतु हैं ये पञ्चमहाभूतरूप ही।

एक और बात भी समझ लें। पूर्णविकसित अन्तःकरण तो केवल मानव-शरीरमें ही होता है और वहीं मन-बुद्धि आदि चारों वृत्तियाँ काम करती हैं। अन्य प्राणियोंके शरीरोंमें केवल अहङ्कार वृत्ति ही काम करती है और इसलिये उनके जीवनका ध्येय केवल शरीरका संरक्षणमात्र होता है, इसके सिवा और कुछ उनको सूझता ही नहीं। इस विषयमें प्रबोध-सुधाकरमें लिखा है—

नरदेहातिक्रमणात् प्राप्तौ पश्वादिदेहानाम्।
स्वतनोरप्यज्ञानं परमार्थस्यात्र का वार्ता॥

विज्ञान होनेके पहले ही यदि मनुष्यका शरीर छूट जाता है तो जीवको अपने कर्मफलके भोगने योग्य पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गादि देह धारण करने पड़ते हैं। इन शरीरोंमें ज्ञान-सम्पादनकी सामग्री न होनेके कारण शरीरसम्बन्धी ज्ञान भी नहीं होता, फिर अन्य विषयोंका ज्ञान तो होता ही कहाँसे? जहाँ लौकिक ज्ञानका ही अभाव हो, वहाँ विज्ञानकी तो फिर बात ही क्या है?

श्रीमद्भागवतकारने इस बातको और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥

जिस देहके द्वारा ज्ञान और विज्ञान सम्पादन करके जन्म-मरणका बन्धन काटा जा सकता है, ऐसा मानव-शरीर तुमको मिला है तो संसारके भोगोंका सङ्ग छोड़कर—उनकी आसक्तिको निर्मूल करके, मेरा भजन करके मेरी प्राप्ति कर लो। इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग मनुष्यके उद्देश्यसे ही है, इसलिये अन्य शरीरोंसे मानव-शरीरकी विलक्षणता बतलानेके लिये भगवान्ने मन, बुद्धि और अहंकारको पञ्चमहाभूतोंसे अलग गिनाया है।

इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंको भगवान्की भूतप्रकृति जानो। फिर भगवान् कहते हैं कि एक दूसरी मेरी चेतन प्रकृति है, जिसे जीव कहते हैं। और फिर तीसरे श्लोकमें कहते हैं कि यह जो कुछ भौतिक-प्रपञ्च दीख पड़ता है, वह इन दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे बना है, और इसलिये मेरे भीतरसे ही यह जगत् उत्पन्न हुआ है। मुझमें ही इसकी स्थिति है और अन्तमें यह मुझमें ही लयको प्राप्त होता है। इसलिये तू मुझको ही जगत्-रूपमें जान। बस, इतना ही है विज्ञानका स्वरूप, और इसको जाननेके बाद, भगवान् कहते हैं कि दूसरा कुछ जाननेके लिये बाकी नहीं रह जाता।

इस बातको और भी स्पष्ट रीतिसे तथा और भी संक्षेपमें इस प्रकार समझा जा सकता है। पञ्चमहाभूत भगवान्की भूतप्रकृति है। अब पञ्चमहाभूतोंसे बने हुए सारे पदार्थ नामरूपवाले हैं। इसी प्रकार परमात्माकी चेतन प्रकृतिका अर्थ है—स्वयं परमात्मा; क्योंकि शक्ति कभी शक्तिमान्से अलग नहीं होती। अग्निकी दाहक शक्ति कभी अग्निसे पृथक् नहीं रहती। सूर्यकी उष्णता तथा प्रकाश-शक्ति कभी सूर्यसे पृथक् नहीं रहती। इसलिये इन्द्रियगोचर सारे प्राणि-पदार्थोंमें नाम, रूप और परमात्मा, ये तीन ही वस्तुएँ होती हैं, इसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं होती। ये नाम-रूप विभिन्न पदार्थोंमें विभिन्न ही होते हैं। परंतु परमात्म-सत्ता सबमें एक ही होती है।

शास्त्रोंमें यह बात इस प्रकार समझायी गयी है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यर्थपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

यह सारा विश्व अस्ति, भाति, प्रिय और नाम तथा रूप—इन पाँच पदार्थोंका बना हुआ है, अर्थात् प्रत्येक प्राणि-पदार्थमें ये पाँच वस्तुएँ होती हैं। इनमें पहले तीन अस्ति, भाति और प्रिय तो सत्, चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्मके रूप हैं; और शेष दो—नाम तथा रूप स्थूल जगद्रूपमें दीख पड़ते हैं। ब्रह्मके सत्, चित् और आनन्द इस जगत्में

'अस्ति' अर्थात् 'है' 'भाति' अर्थात् 'दीखता है', और 'प्रिय' अर्थात् 'आनन्दरूप लगता है'—इन रूपोंमें दीख पड़ते हैं ।

इस प्रकार नाम-रूपयुक्त पदार्थोंमें जानकारीका नाम 'ज्ञान' है और नाम-रूपात्मक अनन्त प्राणि-पदार्थोंमें जो परमात्मसत्ता काम कर रही है, उसके अनुभव करनेका नाम 'विज्ञान' है ।

जहाँ कोई दूसरी विशेष बात कहनेकी न हो, वहाँ तो ज्ञान और विज्ञान एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते हैं, और उस दशामें ज्ञानीका अर्थ होता है वह पुरुष, जिसने परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है ।

गीताके सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने ज्ञानके सहित विज्ञान-को पूर्णतः समझाया है, वहाँ अर्जुनने दूसरे छः-सात प्रश्न पूछे हैं, और वहाँसे उनका उत्तर देनेमें आठवाँ अध्याय समाप्त हो जाता है । इस ज्ञान-विज्ञानके सम्बन्धमें शेष बची हुई बातोंको समझानेके लिये भगवान् नवम अध्याय प्रारम्भ करते हैं और कहते हैं—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

यहाँ भगवान् ज्ञान-विज्ञानको और भी विस्तारपूर्वक समझाते हुए ज्ञानके माहात्म्य, अधिकार तथा फलका भी निर्देश करते हैं । पहले तो ज्ञानको 'गुह्यतमम्' कहकर यह सूचित करते हैं कि संसारमें तथा शास्त्रोंमें गोपनीय रहस्यमय विषय तो अनन्त हैं; परंतु ज्ञान उनमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ होनेके कारण अतिशय गोपनीय है । गोपनीय यानी गुप्त रखने योग्य, अर्थात् ऐसे विषयका रहस्य अधिकारहीन मनुष्यको नहीं समझाया जाता ।

फिर, इस ज्ञानका अधिकारी कौन या कैसा होता है—यह बतलाते हुए भगवान्‌ने 'अनसूयवे' पदका प्रयोग किया है । असूया अर्थात् दूसरेके गुणका आदर न करना—इतना ही नहीं, बल्कि उसमें दोषारोपण करना, इसी प्रकार अपने दोषोंमें भी गुणका आरोप करना । इस प्रकार जिसमें असूया दोषका अभाव है—इतना उपलक्षित करके भगवान् कहते हैं कि जिन्होंने इन सारे आसुरी दुर्गुणोंका त्याग करके दैवी सम्पत्तिका अनुशीलन किया है, वैसे ही मनुष्योंको इस गुह्य-ज्ञानके समझनेका अधिकार है, दूसरेको नहीं ।

इसका कारण यह है कि चित्तशुद्धि किये बिना ही मनुष्य ज्ञानविषयक पोथे पढ़ने लग जाते हैं और केवल मौखिक ज्ञान या शब्दज्ञान या पढ़ने मात्रको ही ज्ञान मानकर स्वयं ज्ञानी बन बैठते हैं । भोले-भाले लोग उनकी विद्वत्ता देखकर मुग्ध हो जाते हैं और उनकी सेवा-पूजा करने लगते हैं । इससे इस प्रकारके शब्द-ज्ञानीके अन्तःकरणमें प्रसुप्त वासनाएँ जाग्रत् हो जाती हैं; और अन्तमें, जैसा कि हम देखते हैं कि, ऐसे शास्त्र-ज्ञानी या पोथी-पण्डित यथेच्छाचार करने लगते हैं । अपनेको विधि-निषेधसे परे समझकर वैसा करनेमें वे लजाते नहीं, इतना ही नहीं बल्कि, युक्ति-प्रति-युक्तिसे अपने बर्ताव-का समर्थन करते हैं । इसलिये ज्ञानसाधनमें अधिकार ही मुख्य वस्तु है और होनी भी चाहिये । जो ऐसा नहीं होता, वह स्वयं तो नरकमें पड़ता ही है और अपने अनुयायियोंको भी साथ-साथ घसीटता ले जाता है । गीतामें ऐसे पुरुषोंको 'मिथ्याचारी' कहा गया है । यानी उनके मनमें एक बात होती है और आचरणमें दूसरी, मनमें तो विषयोंके तरङ्ग उठते हैं और वेष धारण करते हैं त्यागी और वैरागीका ।

अब विज्ञान किस लिये सम्पादन करना चाहिये, यह समझानेके लिये विज्ञानका फल बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—मोक्ष्यसेऽशुभात् । शुभ यानी कल्याणकारी, अर्थात् सुख-रूप । और इससे विपरीत अशुभ अर्थात् दुःखरूप । यानी भगवान् कहते हैं कि विज्ञानकी प्राप्तिसे तुम दुःखमात्रसे छूट जाओगे ।

जगत्‌में बड़े-से-बड़े दुःख चार प्रकारके माने जाते हैं—जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि । इनमें पहले दो दुःखोंके समय तो मनुष्य अचेत जैसा रहता है, यानी जीवनकालमें वे दुःख याद नहीं आते और शेष दो दुःखोंका अनुभव सम्पूर्ण जीवनकालमें होता रहता है, परंतु दुःखमें सुखबुद्धि हो जानेके कारण दुःख दुःखरूप नहीं लगते । कोई एक भाग्यशाली पुरुषको ही इस दुःखका विचार आता है । अपने ही घरमें जब बालकका जन्म होता है, तब बालककी माताकी तथा नवजात शिशुकी दुर्दशा देखकर वह काँप उठता है; और विचार करता है कि मैंने और मेरी माताने भी ऐसी ही असह्य यातना भोगी होगी । फिर जब किसी स्नेही या स्वजनकी मृत्यु देखता है, तब भी उसको यह विचार आये बिना नहीं रहता कि मुझको भी एक दिन इस भयङ्कर विपदका सामना करना पड़ेगा । इससे उसके मनमें विवेक-वैराग्यका उदय होता है और उसी दिनसे उसे फिर ऐसा दुःख देखना न पड़े, इसका वह उपाय करने लगता है ।

साधारण मनुष्य इन सब बातोंको आँखोंसे देखते हैं, थोड़ी देरके लिये श्मशान-वैराग्य भी उनको आता है, परंतु पीछे हस्तिस्नानके समान वे वैसे-के-वैसे हो जाते हैं। श्री-भर्तृहरि महाराजने मनुष्यकी स्थिति समझाते हुए लिखा है—

दृष्ट्वा व्याधिजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

मनुष्य प्रतिदिन व्याधि, वृद्धावस्था, विपत्ति और मृत्युके दृश्य देखा करता है, परंतु उनके विषयमें उसे त्रास नहीं उत्पन्न होता, अर्थात् मेरी भी किसी दिन ऐसी ही स्थिति होने-वाली है, ऐसा विचार भी उसको नहीं आता। यह देखकर वह निर्णय करते हैं कि अज्ञानरूपी मदिरा पीकर सारा जगत् उन्मत्त हो गया है—पागल हो रहा है।

इस प्रकार 'मोक्ष्यसेऽशुभात्' का अर्थ यह हुआ कि जन्म-मरणके बन्धनरूप अशुभ—दुःखदायक स्थितिसे तू सदाके लिये छूट जायगा। तेरा भवबन्धन कट जायगा।

गीतामें जिन शब्दोंका प्रयोग भगवान्ने विज्ञानके लिये किया है, वैसे ही शब्द-प्रयोग श्रीशङ्कराचार्यने ब्रह्मका स्वरूप समझाते हुए, ब्रह्मके लिये किये हैं। उसे देखिये—

यज्ज्ञात्वा न परं ज्ञेयं ··· तद् ब्रह्मेत्यवधारय।

जिसको जानकर पीछे कुछ जाननेके लिये नहीं रहता, उसे तुम ब्रह्म जानो।

यद्भूत्वा न पुनर्भवः ······ तद्ब्रह्मेत्यवधारय॥

जो हो जानेपर फिर पुनर्जन्म नहीं होता ······ उसे तुम ब्रह्म जानो।

अब देखो, श्रीशङ्कराचार्यने 'यज् ज्ञात्वा न परं ज्ञेयं' कहा है, उसी बातको भगवान्ने 'यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते' इस श्लोकार्धद्वारा गीतामें कहा है। और इसका अर्थ यही है कि जिसको जाननेके बाद दूसरा कुछ जानना शेष नहीं रह जाता।

फिर 'यद्भूत्वा न पुनर्भवः'—यह शङ्कराचार्य कहते हैं, जब कि भगवान्ने गीतामें कहा है—'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'—इस प्रसङ्गमें श्रीशङ्कराचार्यने 'ज्ञात्वा'के बदले 'भूत्वा' शब्दका प्रयोग किया है, इसका रहस्य समझने योग्य है। श्रुति कहती है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप हो जाता है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, इसलिये ब्रह्मज्ञानी भी 'ज्ञानस्वरूप' ही होता है। इसका भाव यह है कि 'पहले मैं अज्ञानी था, अब ज्ञानी हो गया हूँ'—इस प्रकारका अहङ्कार भी उसमें नहीं रहता। उसका तो यह निश्चय ही होता है कि 'मैं तो ज्ञानस्वरूप ही था, परंतु बीचमें अविद्याके कारण अज्ञानी होनेकी भ्रान्तिमात्र हो गयी थी। ज्ञानके द्वारा उस भ्रान्तिके दूर होते ही, ज्ञानस्वरूप मैं, ज्ञानस्वरूप ही स्थिर हूँ, मुझमें कोई भी विकार—फेरफार हुआ ही नहीं था।' यह अनुभूति होती है।

इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म है, वह ज्ञान या विज्ञानस्वरूप है और इससे ज्ञान-विज्ञान ब्रह्मका ही स्वरूप है। श्रुति भगवतीने स्पष्ट शब्दोंमें ज्ञान तथा विज्ञानको ब्रह्मस्वरूप ही कहा है—'सत्यं विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म'—ब्रह्म सत्यस्वरूप, विज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है और अनन्त है, 'विज्ञानं ब्रह्म'—विज्ञान ही ब्रह्मका स्वरूप है, ब्रह्म विज्ञानस्वरूप है।

यहाँतक हमने आध्यात्मिक दृष्टिसे श्रुति-स्मृतिके अवतरणोंसे विज्ञानके स्वरूपको देखा और इस निर्णयपर पहुँचे कि 'विज्ञान' परमात्माका ही स्वरूप है और इससे 'विज्ञानी' परमात्मस्वरूप ही हो जाता है।

अब हम यह प्रयत्न करेंगे कि अन्य देशवासी 'विज्ञान' का क्या अर्थ करते हैं, परंतु इसके पहले उनकी संस्कृतिके विषयमें कुछ जान लेना ठीक होगा, तभी हम उनके विज्ञान-के अर्थको ठीक समझ सकेंगे।

उन लोगोंकी संस्कृति आधिभौतिक है, अतएव वे इतना भी नहीं समझ सकते कि भौतिक पदार्थोंके सिवा दूसरे तत्त्व भी हो सकते हैं। अतएव जो आँखसे देखा जा सके, कानसे सुना जा सके तथा अन्य इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान हो सके, उतना ही इस जगत्में है, इसके सिवा कोई अतीन्द्रिय तत्त्व भी हो सकता है' ऐसा वे नहीं मानते। इसलिये वे ईश्वरके अस्तित्वको भी नहीं मानते, इतना ही नहीं—वे निश्चयपूर्वक मानते हैं कि ईश्वर है ही नहीं। जब ईश्वरको ही नहीं मानते तो धर्मको क्यों मानेंगे? जब धर्मको नहीं मानते तब फिर पाप-पुण्यको कहाँसे समझेंगे? जब पाप-पुण्यको नहीं समझेंगे तो फिर न्याय, नीति, सदाचार, परोपकार आदि दैवी गुणोंकी ओर उनका भाव या आदर कैसे होगा? और जिस वस्तुके प्रति भाव या आदर न हो, उसे कोई अपनायेगा भी कैसे?

इस प्रकार शरीरको सुख पहुँचानेके लिये भोग-सामग्री इकट्ठी करनेके सिवा दूसरा कोई जीवनका ध्येय उनके सामने नहीं रहता। इसलिये वे भोगके साधनोंको इकट्ठा करनेमें न्याय-अन्याय, नीति-अनीति या धर्माधर्मका विचार नहीं करते। बस, उनको तो 'येन केन प्रकारेण' यथेच्छ भोग भोगने हैं और उसमें विघ्न आनेपर सगे भाईकी हत्या करनेमें भी वे नहीं हिचकिचाते, फिर भला और क्या नहीं कर सकते? इस प्रकार वे भोगप्रधान जीवन बिताते हैं, यानी भोगपदार्थोंको प्राप्त करनेके लिये धन चाहिये, अतः धन प्राप्त करनेके लिये सतत परिश्रम करते हैं, परंतु मिलता है उतना ही जितना प्रारब्धमें है। भोगसे किसीकी तृप्ति हुई हो, ऐसा आजतक कभी सम्भव नहीं हुआ और न आगे होनेवाला है। यह बात शास्त्रमें बहुत ही स्पष्टरूपसे बतलायी गयी है—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

जब भोग-लालसा अति तीव्र हो जाती है, तब इस जगत्‌में सारा धनधान्य, सारी स्त्रियाँ तथा दूसरे सारे भोगके साधन यदि किसी एक ही मनुष्यको कदाचित् एक साथ प्राप्त भी हो जायँ तो भी उनसे उसको संतोष नहीं होता, बल्कि उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है।

इस प्रकार भोगका साधन इकट्ठा करते-करते जीवन समाप्त हो जाता है और अतृप्तिका निःश्वास छोड़ते हुए उसको शरीर छोड़ना पड़ता है। भोगप्रधान जीवन व्यर्थ चला जाता है और किये हुए पापकर्मोंका फल भोगनेके लिये नरकमें जाना पड़ता है, यही इसकी सार्थकता है।

वे लोग आत्माकी अमरतामें भी विश्वास नहीं करते—समझते ही नहीं तो मानें कहाँसे? इस प्रकारकी स्थितिमें किये कर्मके फल दूसरे जन्म लेकर भोगने ही पड़ते हैं, यह बात उनके ध्यानमें उतरती ही नहीं। वे तो ऐसा मानते हैं कि जैसे यहाँ अच्छा वकील रखकर अपराधी निर्दोष छूट जाता है, उसी प्रकार किये कर्मोंके फल भोगे बिना भी चल सकता है। इससे वे अपराध करनेसे भी नहीं डरते और फिर इतने ढीठ हो जाते हैं कि अपराध करने और युक्तिसे उससे बच जानेमें गौरव मानते हैं। पापकर्मको प्रतिष्ठाका अङ्ग मानकर वैसा करनेमें अपनी महत्ता समझते हैं। दूसरेको धोखेमें डालकर उसके धनको हरण करनेमें चतुराई समझते हैं। इस प्रकार उनकी बुद्धि तमोगुणसे घिर जाती है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'सर्वार्थान् विपरीतान् मन्यते तमसावृता बुद्धिः'—सारी वस्तुएँ उसको उलटी ही जान पड़ती हैं, अधर्मको धर्म, पापको पुण्य तथा छल-कपटको चतुराई मानता है। ऐसे भौतिक स्वभावके मनुष्यका कठोपनिषद्‌में बहुत ही सुन्दर वर्णन है। वहाँ यमराज बालक नचिकेतासे कहते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

धनके मोहसे मूढ़, प्रमादी, अज्ञानी लोग पुनर्जन्म या परलोकको नहीं मानते। प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला यह लोक ही सत्य है, इसके सिवा दूसरा कोई लोक है ही नहीं, ऐसा माननेवाले देहाभिमानी मनुष्य बारंबार मृत्युको प्राप्त होते हैं अर्थात् परवशतासे जन्म-मरणके चक्रमें घूमा करते हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

ऐसे लोग अज्ञानमें ही लोटते रहते हैं, तथापि अपनेको धीर, गम्भीर और ज्ञानी मानते हैं। वे अत्यन्त मूढ़ हैं और इससे ऊँची-नीची योनियोंमें संसारचक्रमें भटका करते हैं और एक गर्त्तसे दूसरे गर्त्तमें पड़ते हैं, जैसे एक अन्धेका हाथ पकड़कर चलनेवाले दूसरे अन्धे गिरते हैं।

फिर श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें भगवान्‌ने आसुरी सम्पत्तिका जो स्पष्ट तथा यथार्थ वर्णन किया है, उसके एक-एक लक्षण उन भोगप्रधान तथा अर्थप्रधान लोगोंमें प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं।

अब उनके वैज्ञानिक आविष्कारोंको देखें। पहले तो यह देखें कि इस विश्वकी रचनाके बारेमें उनकी क्या धारणा है। उनका सिद्धान्त नीहारिकावाद (Nebular Theory) के नामसे प्रसिद्ध है। संक्षेपमें वह सिद्धान्त इस प्रकार है—अन्तरिक्षमें प्रकाशमय तेजका एक दहकता हुआ गोला था। वह अपनी ही धुरीपर असह्य वेगसे घूमा करता था। इसी बीचमें उसमेंसे कुछ पिण्ड टूटकर अलग हो गये और वे भी अपने पूर्वजके समान अन्तरिक्षमें घूमने लगे। घूमते-घूमते

फिर नियमित गतिसे अपने जनककी प्रदक्षिणा भी करने लगे। मूल गोला आज भी प्रकाश और गरमी देता है। और उससे छूटे हुए पिण्ड शान्त होने लगे, परंतु गति तो उनकी बनी ही रही। मूल गोला हमारा सूर्य है और उसमेंसे निकले हुए पिण्डोंमें एक हमारी पृथ्वी है और शेष पिण्ड ग्रहोंके रूपमें अलग-अलग नामोंसे पुकारे जाते हैं। फिर ये पिण्ड घूमते रहे और इनमेंसे भी कितने ही अन्य पिण्ड निकले और वे भी आकाशमें घूमने लगे तथा अपने-अपने जनककी प्रदक्षिणा करने लगे। ये हैं हमारे उपग्रह। इस प्रकार वे विश्वकी उत्पत्ति होना बतलाते हैं।*

अंग्रेज जब हमारे देशमें आये, उस समय अपने देश-जैसी ही दशा यूरोपकी होगी; क्योंकि ऐसा काल्पनिक सिद्धान्त उन्होंने बिना चूँ-चपड़ किये ही स्वीकार कर लिया और संसारभरमें इसका प्रचार कर दिया। आज भी यहाँ हमारी पाठ्यपुस्तकोंद्वारा सृष्टि-रचनाका यही सिद्धान्त छोटे-छोटे बालकोंको सिखलाया जाता है। अब यदि तनिक भी विचार करें तो ज्ञात हो जायगा कि इस सिद्धान्तमें मनोराज्य या कपोल-कल्पनाके सिवा और कुछ भी नहीं है।

पहले तो वह दहकता हुआ प्रवाही तेजका इतना बड़ा गोला किस प्रकार बना? दूसरी बात यह है कि अग्निको प्रकट करनेके लिये किसी जलनेवाली वस्तुका आधार होना चाहिये, जिसके बिना यह विशेषरूपमें रह ही कैसे सकती है? तीसरी बात यह है कि अन्तरिक्षमें यह गोला अपने-आप आया कहाँसे? चौथी बात यह है कि कोई भी पदार्थ जिसको गति देनेवाला दूसरा न हो, तो अपने-आप गतिशील नहीं हो सकता और किसी आधारके बिना उसकी गति टिकी नहीं रह सकती। पाँचवीं बात यह है कि इसमेंसे इतने ही पिण्ड निकल पड़े और अधिक पिण्ड क्यों न निकले; आज इतने वर्ष बीत गये परंतु एक भी दूसरा पिण्ड फिर क्यों नहीं निकला? छठी बात यह है कि निकले हुए पिण्ड किस प्रकार अपने-आप घूमने लगे? और घूमते-घूमते अपने जनकके आस-पास भी अपनी कृतज्ञता दिखलानेके लिये चक्कर लगाने लगे?—इत्यादि अनेकों प्रश्न पूछे जा सकते हैं; परंतु इनका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। फिर भी उस समयके लोगोंने चुपचाप इस सिद्धान्तको मान लिया। हम भी आज अंग्रेजी भाषामें छपी हुई सारी बातोंको बिना चूँ-चपड़ किये मान लेते हैं, वैसे ही उस युगमें भी हुआ।

कहा जाता है कि एक समय नेपोलियनने किसी वैज्ञानिकसे पूछा कि—'भाई! तुम्हारा यह नीहारिकावाद तो ठीक है, परंतु इतनी विशाल रचनामें कहीं ईश्वरका कोई स्थान है या नहीं?' इस प्रश्नका उत्तर देते हुए उस वैज्ञानिकने कहा कि 'ईश्वर है या नहीं; जब इसका निश्चय ही नहीं है तो जबतक यह सिद्ध नहीं हो जाता या आँखसे नहीं दिखायी देता, तबतक एक काल्पनिक ईश्वर नामकी सत्ताको अपने सिद्धान्तमें स्थान देनेसे हमारा सारा सिद्धान्त ही उड़ जायगा। अतएव हमको कोई जरूरत नहीं है कि हम ईश्वरको बीचमें लायें; क्योंकि हम उसके अस्तित्वको मानते ही नहीं।'

अब यह सारी रचना, एक ही सहज, सुगम और सरल तर्कसे समझमें आने योग्य है, परंतु उनकी विपरीत बुद्धि होनेके कारण वे सच्चा तर्क नहीं कर सकते, इसलिये उन्होंने कुतर्ककी परम्पराका आश्रय लिया।'

एक दिन शामको मैं अपने आसनपर बैठा था। गृहस्वामीका पाँच वर्षका बालक पाठशालासे आया, मुझको नमस्कार करके स्लेट-पेन्सिल मेरे पास रख घरमें गया। इस बीचमें मैंने स्लेट उठायी और पेन्सिलसे एक अङ्क लिखकर स्लेट उलट कर रख दी। थोड़ी देरके बाद वह लड़का वापस आया, स्लेटको उलटाया तो उसपर एक अङ्क लिखा हुआ देखा। मैंने उससे पूछा—'भाई! यह अङ्क तुम्हारी स्लेटपर कहाँसे आ गया?' उसने तुरंत जवाब दिया 'कि आपने लिखा होगा? नहीं तो, कहाँसे आता?'

अब देखिये, अङ्क देखकर एक पाँच वर्षके बालकको भी यह तर्क हुए बिना न रहा कि अङ्क है तो उसका कोई लिखनेवाला होना चाहिये। इससे यह समझा जा सकता है कि यह तर्क कितना सहज और स्वाभाविक है। किसी सुन्दर चित्रको देखकर एक अपढ़ आदमी भी कह उठेगा कि यह चित्र किसी चतुर कलाकारकी रचना है। एक मकान या किसी कुर्सी-मेजको देखकर उनके बनानेवालेका विचार आये बिना नहीं रहता।

* इधर वैज्ञानिकोंमें परस्पर मतभेद हो गया है। उनमें एक पक्ष कहता है कि सूर्यका पृथिवीके चारों ओर घूमना अधिक सम्भव जान पड़ता है। इस बारेमें अनुसन्धान आरम्भ हो गया है और यदि उसके परिणामस्वरूप सूर्य ही पृथ्वीके चारों ओर घूमता है यह सिद्ध हो गया तो फिर यह 'नीहारिकावाद'का सिद्धान्त पहले यूरोपमें दफनाया जायगा या अमेरिकामें—इसका निर्णय पहले लेना चाहिये।

इस विश्वकी रचना तो अनन्त और अपार है। अगाध अवकाशमें अगणित तारामण्डल अबाध गतिसे भ्रमण किया करते हैं। सारे ग्रह, नक्षत्र, तारे, धूमकेतु आदि भी एक नियमित गतिसे घूमा करते हैं। अवकाशकी अनन्तताका विचार तो कीजिये। 'हेली' जैसा प्रचण्डकाय धूमकेतु अपनी विशाल पूँछके साथ असह्य वेगसे घूमता है और जहाँ एक बार दिखलायी देता है, वहाँ फिर ७० वर्षके बाद दीख पड़ता है। इस विश्वकी रचना करनेवाली कोई अलौकिक शक्ति होनी चाहिये—यह तर्क स्वाभाविक है। परंतु उनको तो अपनेसे अधिक शक्तिशाली किसीको स्वीकार करनेमें अपनी हेठी जान पड़ती है, इसलिये इस सहज तर्कको छोड़कर वे न मानने योग्य कुतर्कोंकी रचना किया करते हैं।

अब यह देखिये कि अपने यहाँ विश्वरचनाका क्या सिद्धान्त है। पहले तो श्रुति भगवतीकी बालकोचित निर्दोष सरलता, प्रामाणिकता तथा स्पष्टवादिताकी ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता, जगत्के किसी भी देशके साहित्यमें इस प्रकारका वर्णन देखनेमें नहीं आता। नासदीय सूक्तमें मन्त्र है—

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा
को वेद यत आ बभूव॥
(१०।१२९।७)

कौन ठीक-ठीक जानता है तथा कौन निश्चयपूर्वक बतला सकता है कि यह विश्व कहाँसे और किस प्रकार उत्पन्न हुआ। देवताओंकी सृष्टि भी विश्वकी उत्पत्तिके बाद हुई है, अतः यह कौन बता सकता है कि यह विश्व कहाँसे और कैसे उत्पन्न हुआ? सारांश यह है कि जिसने देखा, उसने इस विश्वचक्रको चलते ही देखा, फिर भला निश्चयपूर्वक कौन बता सकता है कि यह विश्व अमुक रीतिसे ही उत्पन्न हुआ है।

हमारी मान्यताके अनुसार विश्वकी उत्पत्तिके पहले ईश्वरके सिवा दूसरा कुछ न था। इसलिये ईश्वरने अपने भीतरसे ही इस विश्वकी रचना की है। 'तत्सृष्ट्वा—तदेवानुप्राविशत्।' इस प्रकार विश्व ईश्वरके भीतरसे ही उत्पन्न हुआ है, इस समय ईश्वरमें ही इसकी स्थिति है और समय आनेपर ईश्वरमें ही इसका लय हो जायगा। यह विश्वकी रचनाका मूलभूत सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्रसङ्गानुसार तथा अधिकारीकी योग्यताके अनुसार विश्वरचनाके ब्यौरेमें सभी जगह अन्तर है, परंतु मूल सिद्धान्त तो एक ही है।

दूसरी रीतिसे देखें तो विश्वकी उत्पत्ति या प्रलय होता ही नहीं, क्योंकि हम तो 'आवर्तवाद'का सिद्धान्त मानते हैं। वह इस प्रकार है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

'ब्रह्माने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोककी रचना पूर्वकल्पके अनुसार की।' इस प्रकार ऊपर जो विश्वकी उत्पत्ति और प्रलय कहा गया है, वह विश्वका आविर्भाव और तिरोधानमात्र है। जब ब्रह्माका दिन आरम्भ होता है, तब विश्वका आविर्भाव होता है, यानी विश्व दीखता है और जब ब्रह्माके दिनका अवसान होता है, तब उसका तिरोधान हो जाता है, यानी विश्वका दीखना बंद हो जाता है। तात्त्विक दृष्टिसे तो न उत्पत्ति होती है और न प्रलय होता है। इसलिये विश्वको शास्त्र अनादि कहते हैं। श्रीकृष्ण भगवान्ने भी गीतामें यही बात कही है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥
(८।१८-१९)

'जब ब्रह्माजीका दिन शुरू होता है, तब समस्त भूतसमुदाय अव्यक्तसे उत्पन्न होता है, अर्थात् आविर्भावको प्राप्त होकर व्यक्त होता है और दिनके अवसानमें फिर अव्यक्तमें अदृश्य हो जाता है, यानी तिरोहित हो जाता है। हे अर्जुन! यह चक्र अनवरत चलता रहता है, यानी वह-का-वही भूतसमुदाय प्रकट होता रहता है और रातके आनेपर परवशतासे लयको प्राप्त होता है, और दिन आनेपर फिर आविर्भावको प्राप्त होता है, प्रकट होता है।'

अब यह देखें कि वे लोग प्राणि-जगत्की उत्पत्तिके विषयमें क्या कहते हैं। इस विषयमें 'डार्विन'के 'क्रमविकासवाद' का सिद्धान्त उनमें मुख्य है। उनका सारांश कुछ इस प्रकारका है। अपना प्रयोजन तो यहाँ भौतिक विज्ञानकी रूपरेखामात्र प्रस्तुत करना है, इस सिद्धान्तका ब्यौरेवार खण्डन करनेका अवकाश यहाँ नहीं है, अतएव दिग्दर्शनमात्रके लिये इसका उल्लेख किया गया है और इसका उत्तर भी सिद्धान्त बतलानेमात्रके लिये दिया गया है।* सूर्यसे

* इस विषयमें विशेष जानकारीके लिये 'कल्याण'का २४ वें

जो पिण्ड निकला, उसे हम पृथ्वी कहते हैं। यह पिण्ड शान्त होने लगनेपर थोड़े परिमाणमें जमीन और अधिक परिमाणमें पानी दीख पड़ने लगा। पहली सजीव वस्तु जो उत्पन्न हुई वह 'अमीबा' नामका एक कोषवाला एक क्षुद्र कीटाणु था। द्रव किये हुए गोंदकी एक बहुत ही सूक्ष्म बूँदके समान यह जन्तु दीख पड़ता है। अकेले रहनेपर उसको हिलने-डुलने तथा खूराक पानेमें बहुत ही परिश्रम करना पड़ता था। इससे उसको ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि दो जन्तु यदि एक साथ जुड़ जायँ तो कुछ अंशोंमें व्यवहारकी सरलता हो जाय। दो जुड़ गये और सचमुच सुविधा बढ़ गयी। फिर तो यह क्रम चलता रहा और उनसे मछलीकी उत्पत्ति हुई। मछलीको ऐसा लगा कि यदि पैर हो तो बहुत सुविधा मिले और इस प्रकार उसको पैर हो गये और ऐसे जन्तु मेढक कहलाये। इस प्रकार विकासक्रम चलते-चलते उनमें पेटसे चलनेवाले, अनेक पैरवाले, चार पैरवाले आदि प्राणी हुए। एक कोषके क्षुद्र जन्तुसे विकास होते-होते हाथी जैसे बड़े तथा उससे भी बड़े प्राणी हुए, इसीमें बंदर भी हुए। बंदरोंमें भी क्रमविकाससे कई जातियाँ हुईं, जिनमें गोरिल्ला और लेमुर ये दो जातियाँ मनुष्यसे बहुत मिलती-जुलती हैं। लेमुर बंदर धीरे-धीरे क्रमविकासके नियमके अनुसार सुधरता गया और वही समय आनेपर मनुष्य कहलाया इत्यादि।

यहाँ पहले विचारनेकी बात यह है कि मनुष्यके सिवा दूसरे किसी भी प्राणीमें मन-बुद्धि विकसित नहीं होते। इसलिये दूसरे प्राणियोंका जीवन-निर्वाह केवल अहङ्कारवृत्तिसे ही चलता है। अहङ्कार यानी देहात्मभाव, अर्थात् मैं प्राणी हूँ और मुझको जीना है। जीनेके लिये वह सतत प्रयत्न करता रहता है और आहार, निद्रा तथा भोगमें जीवन बिताता है। इस प्रकार ये शरीर भोगभूमि कहलाते हैं, क्योंकि यहाँ यथाप्राप्त भोगोंको भोगकर ही शरीर छोड़ना पड़ता है। इसलिये इन प्राणियोंको अधिक अनुकूल स्थिति प्राप्त करनेकी इच्छा हो ही नहीं सकती; क्योंकि जहाँ मन नहीं, वहाँ इच्छा भी नहीं होती।

फिर, यदि इच्छामात्रसे ही परिस्थिति बदलती होती तो हमारी भैंस बेचारी अनादिकालसे जो पीड़ित हो रही है, उसका भी दुःख दूर हो गया होता। उसकी चमड़ी बहुत पतली है और उसके ऊपर रोवें नहीं हैं। इससे न तो वह जाड़ेके शीतसे अपना बचाव कर सकती है और न गरमीकी धूपको सहन कर सकती है। उसमें शक्ति होती तो रोज ईश्वरसे प्रार्थना करती कि 'हे भगवन्! तुम्हारे यहाँ क्या कोई कमी है कि मेरे रक्षणके लिये मोटी चमड़ी और घने रोवें नहीं दे सकते?' परंतु उसके पास अपने दुःख दूर करवानेके लिये उपाय खोजनेवाला मन नहीं है, इसलिये वह परवश हुई सिरपर जो आता है उसे सह लेती है। यदि आवश्यकतानुसार उसे मिलता होता तो भैंस आज दुखी नहीं होती।

इस प्रकारके अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। हिम-प्रदेशमें बसनेवाले 'एस्कीमो' लोगोंको देखिये। शीतसे बचनेके लिये उनको भेड़-जैसी ऊन या भालू-जैसे सफेद घने बालोंकी बड़ी ही आवश्यकता है। वे बेचारे चमड़ा ओढ़कर शरीरका रक्षण करते हैं। यदि आवश्यकतानुसार मिल सकता तो उत्तरध्रुव तथा ग्रीनलैंडके वासी प्रकृतिसे रक्षण प्राप्त कर चुके होते। परंतु आजतक यह नहीं हो सका, इससे आवश्यकतानुसार शरीरमें फेर-फार होता है, ऐसा मानना अपने अज्ञानका प्रदर्शनमात्र है। पुनः, अफ्रिकाके अत्यन्त उष्ण प्रदेशमें बिना बालवाले गैंड़े तथा बहुत ही घने तथा लंबे बालवाले रीछ होते हैं। दोनोंकी आवश्यकताएँ विभिन्न हैं, परंतु एकका भी दुःख दूर नहीं हुआ। इससे भी यह सिद्धान्त निकलता है कि आवश्यकतानुसार प्राणीके शरीरमें परिवर्तन नहीं होता।

एक प्राणीसे दूसरा प्राणी भी उत्पन्न होता ही नहीं। मेढकका शरीर जब अर्द्धविकसित होता है, तब वह सिरवाले एक कील जैसा होता है, फिर उसमें पैर निकलते हैं और सिर अलग दिखलायी देता है। तब मेढक-जैसा उसका आकार हो जाता है। मेढककी बीचकी अवस्थामें मछली-जैसी आकृति होनेके कारण मछलीसे मेढककी उत्पत्ति मानना निरीक्षण-शक्तिकी न्यूनताका ही द्योतक है।

अर्द्धविकसित प्राणीको पहचानना कठिन होता है और इस कारण अमुक प्राणीसे कालान्तरमें दूसरा प्राणी बन गया, यह भ्रम हो जाता है। गौरैया चिड़ियाके एकदम नन्हे बच्चे अण्डोंसे निकलनेके बादकी स्थितिमें हूबहू मेढक-जैसे लगते हैं और इससे यदि कोई कहे कि मेंढकसे ही गौरैया चिड़िया पैदा हुई तो यह हास्यास्पद ही होगा।

वर्षका 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' तथा उसी वर्षके आठवें अङ्कमें प्रकाशित हिंदू-संस्कृति और 'विकासवाद' तथा २५ वें वर्षके अङ्क ८ और ९वेंमें 'संस्कृतियोंकी जननी' तथा वर्ष २३ अङ्क ९वेंमें 'हिंदू-संस्कृतिकी आधारभूमि' शीर्षक लेख पढ़ने चाहिये।

प्रत्येक प्राणीका प्रारम्भ वीर्यके एक बूँदसे ही होता है, और इस कारण प्रारम्भमें समस्त प्राणियोंकी स्थिति बुद्बुद-जैसी होती है, अतएव प्राणि-जगत्की उत्पत्ति 'अमीवा' से हुई है, यह मानना अत्युक्तिपूर्ण ही है। मानव-स्त्रीका गर्भ भी दूसरे महीनेमें कीलके आकारका होता है और उसके बाद तनिक हाथ-पैर स्फुटित होते ही मेढक जैसा लगता है, इन सब कर्मोंको देखकर यह मान लेना कि मानव-प्राणी इन सारी स्थितियोंमेंसे विकसित होते-होते आज मानव-शरीरको प्राप्त हुआ है, दुःसाहस मात्र है।

पतङ्गका अर्द्धविकास एक कीड़े जैसा होता है। वह कीड़ा वृक्षोंमें रहता है और अपना निर्वाह करता है। जब उसके पंख निकलनेका समय होता है, तब उस वृक्षके पत्तेके भीतर सट जाता है, और अपने लारसे अपने शरीरको पत्तोंके बीचमें छिपा देता है। समय आनेपर उसको पंख उगते हैं और तब वह उड़ जाता है। ऐसा प्रयोग कुछ लड़कोंने हमें प्रत्यक्ष करके दिखलाया था। ऐसे एक कीड़ेको एक पारदर्शक काँचके भाँडमें एक पेड़के पत्तोंके बीच रखकर उसके ऊपर एक बहुत ही बारीक पतला कपड़ा बाँध दिया और उस भाँडको मेरी बैठकके दालानमें रख दिया। कुछ दिनोंके बाद देखा तो कीड़ेके स्थानमें पतङ्ग दीख पड़ा और कपड़ा उघाड़ते ही वह उड़ गया। यह देखकर कोई यह कहे कि पतङ्ग कीड़ेसे उत्पन्न होता है तो इसमें निरीक्षण-दोषके सिवा और कुछ नहीं है; क्योंकि सब प्रकारके कीड़ोंसे पतङ्ग नहीं पैदा होते।

जिस समयसे इतिहास प्राप्त है उस समयसे आजतक कोई नया प्राणी उत्पन्न हुआ हो इसकी जानकारी किसीको नहीं है। एक भी मछली मेढक नहीं बनी है तथा एक भी मेढकमेंसे कोई छिपकली भी नहीं पैदा हुई। किसी भी नन्हे बंदरसे गोरिल्ला या लेमुर नहीं हुआ; तब मनुष्य भला कैसे हो सकता है? इसका जवाब इन भौतिक वैज्ञानिकोंके पास नहीं है।

मनुष्य दो वृक्षोंके संयोगसे नयी जातिका कलमी वृक्ष तैयार करते हैं, परंतु उस वृक्षसे फिर वैसा दूसरा वृक्ष नहीं होता। इसी प्रकार घोड़ी और गधेके सङ्गमसे जारज खच्चरकी उत्पत्ति मानते हैं, परंतु खच्चरसे फिर खच्चर नहीं उत्पन्न होता। यदि कदाचित् किसी खच्चरीको गर्भ रह जाय तो इससे उसकी मृत्यु [illegible]ती है, परंतु खच्चरका बछेड़ा नहीं होता। 'गर्भमश्वतरी यथा।' ऐसा केवल दृष्टान्त दिया जाता है, गर्भ रहना ही सम्भव नहीं है।

बाघ और सिंहके संयोगसे नया प्राणी उत्पन्न होता है, परंतु फिर उस प्राणीसे नया प्राणी नहीं होता। इसी प्रकार तरोईकी लताके ऊपर करैलेका अङ्कुर बैठावें तो बिना कड़वेपनका बड़ा करैला पैदा होता है, परंतु उसका बीज बोनेसे या तो वह उगता नहीं और यदि उगता है तो उसमेंसे असल करैला ही पैदा होता है, नवीन जाति नहीं पैदा होती।

इन अनेक दृष्टान्तोंसे यही सिद्ध होता है कि एक जातिसे दूसरी जाति उत्पन्न होती है, ऐसा मानना अपने-आपको धोखा देनेके समान है; क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता।

अब यह देखें कि हमारी आर्यसंस्कृतिमें प्राणिजगत्की उत्पत्ति कैसी मानी गयी है। हमारे यहाँ तो 'आवर्त्तवाद'का सिद्धान्त मौजूद है और जैसे पूर्वकल्पमें चौरासी लाख योनियोंके प्राणी थे, वैसे ही उसके बादके कल्पमें सभी जातिके प्राणी एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। स्थूल बुद्धिवाले भौतिक वैज्ञानिकोंकी बुद्धिमें ही नहीं आया कि इतना विशाल प्राणिजगत् एक साथ उत्पन्न हो कैसे सकता है? जरा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करें तो उनको ज्ञात हुए बिना नहीं रह सकता कि एक बरसातके पड़ते ही करोड़ों क्षुद्र जन्तु कैसे उत्पन्न हो जाते हैं। बल्कि पानीकी एक ही बूँदमें हजारों जीव एक ही साथ कैसे और कहाँसे पैदा हो जाते हैं। एक ही छोटेसे गड्ढेमें करोड़ों जीव कहाँसे एक साथ खदबदाने लगते हैं और भूगर्भसे असंख्य मात्रामें टिड्डीदल एक साथ ही कैसे उड़ने लगता है।

जो विवेकके लिये भी 'ईश्वर' शब्द बोलते हैं, वे तो कहते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ हैं—इत्यादि। यह तो केवल 'विवेक'के लिये है, अथवा मन्दिरमें जानेके समय बोलने, उच्चारण करनेभरके लिये शब्द है। उनका ऐसा निश्चय नहीं होता। यदि निश्चय होता तो ईश्वर चौरासी लाख योनिके प्राणियोंको एक साथ उत्पन्न कर सकता है, यह माननेमें देर न लगती।

हमारे यहाँ चौरासी लाख जातिके प्राणी हैं, यह सभी जानते हैं। एक अशिक्षित भी इस बातको जानता है, यही नहीं, उसको इसमें विश्वास भी होता है; क्योंकि हम विश्वको अनादि मानते हैं। भौतिक वैज्ञानिक आजतक प्राणि

जगत्‌में बीस लाख प्राणी और वनस्पति-जगत्‌में तीनसे चार लाख जातियाँ निश्चय कर सका है।

यहाँतक हमने आधुनिक क्रम-विकासके दो विभाग देखे। पहले विभागमें विश्वकी रचना कैसे होती है, यह देखा और दूसरेमें प्राणिजगत् कैसे विकासको प्राप्त होता है, यह देखा। अब तीसरे विभागमें मनुष्य केवल जंगली मनुष्यसे आजका सुधरा हुआ मनुष्य क्रमशः कैसे हुआ, यह देखना है।

मनुष्य जब पहले-पहल दिखलायी पड़ा, तब उसके पास न तो बोलनेकी कोई भाषा थी और न खाने-पीनेका कोई जरिया था। बहुत दिनों तक भूखों मरनेके बाद यदि कभी कोई छोटा प्राणी हाथ आ जाता तो वह बाघ या भेड़ियेके समान उसको कच्चा ही खा जाता। इस स्थितिमें भी वह रहता था; जोड़ा-जोड़ा ही यानी नर और मादा साथ रहते थे। आपसी विचारोंका लेन-देन करनेके लिये उन दोनोंके पास हाथ और मुँहके सिवा दूसरा कोई साधन न था। अवश्य ही वे भी दूसरे प्राणियोंके समान एक प्रकारकी आवाज निकाल सकते थे।

एक समय दोनों जने एक पेड़के नीचे बैठे थे, इतनेमें पेड़की एक डाल टूट पड़ी और उसके नीचे, एक छोटा हरिणका बच्चा जाता था, डालके गिरते ही उससे दबकर वह मर गया। इस प्रकार दैवयोगसे अचिन्त्य भोजन मिल जानेसे वे बहुत प्रसन्न हुए। खाकर तृप्त होनेके बाद उनके मनमें आया कि इस पेड़की डालीसे जानवर मर जाता है। उन्होंने डालीको सीधाकर एक डंडा-सा बनाया और फिर उससे पशुओंको मारनेका काम चालू हुआ। उसके बाद मांस और चमड़ेको काटनेका कोई साधन हो तो ठीक हो, उनको ऐसा लगा। तब उस डंडेके एक छोरको पत्थरसे घिसकर उन्होंने नोकदार बनाया और उसका उपयोग करने लगे। इस प्रकार क्रमशः जैसे-जैसे आवश्यकता बढ़ती गयी, वैसे-वैसे वे लकड़ीके बदले तेज औजार बनाने लगे। उसके बाद धातु-का उपयोग करने लगे और समय बीतते, क्रमशः विकासको प्राप्त होते-होते आज मनुष्य उन्नतिके शिखरपर खड़ा है। उन लोगोंका इस प्रकारका-सा मानवके क्रमविकासका इतिहास प्राप्त होता है।

अब यहाँ कोई निश्चयपूर्वक नहीं कहता कि उस समय सभी लेमुर बंदर एक साथ मनुष्य हो गये या एक ही जोड़ा हुआ ? या जो योग्यतावाले थे, वे ही मनुष्य हो सके और दूसरे न हुए ? यदि योग्यताके अनुसार मनुष्य बनना स्वीकार करें तो एक जातिके प्राणियोंमें तो सभीमें एक-सी योग्यता होती है, अतएव यह नहीं कह सकते कि योग्यतावाले ही मनुष्य हो सके। यदि कहो कि सभी मनुष्य हो गये, तो आज एक भी लेमुर बंदरका अस्तित्व शेष नहीं रहना चाहिये था, परंतु ऐसा दीखता नहीं। इस प्रकार यह प्रश्न-तो बिना समाधानके ही रह जाता है।

दूसरी बात यह देखनेमें आती है कि सभी बंदर शाकाहारी होते हैं। गोरिल्ला आदि बड़े बंदर यदि छोटे बंदरोंमेंसे ही क्रमशः आये हों तो उनको भी शाकाहारी होना चाहिये। लेमुर बंदर शाकाहारी होता है या मांसाहारी, इसका हमें पता नहीं, परंतु अनुमान तो शाकाहारीका ही होता है। वह शाकाहारी बंदर एकदम मांसाहारी कैसे हो गया, यह सामान्यतः बुद्धिमें उतरनेवाली बात नहीं है।

ये दोनों बातें कोई विशेष महत्त्वकी नहीं हैं, महत्त्वकी बात तो यह है कि मानव-प्राणी दूसरोंके सिखाये बिना अपने आप कुछ सीख नहीं सकता। मानव-शिशुकी ओर जरा बारीकीसे देखें तो इस बातकी सचाई दिखलायी अ[illegible] देगी। वह जब जन्म लेता है तो अबुध दशामें जन्मता है। बहुतसे लड़कोंको तो जन्मके बाद तुरंत रोना भी नहीं आता, यह सबके अनुभवकी बात है। बालक अपने पास सोयी हुई माताको भी नहीं पहचान सकता, इतना ही नहीं—उसके दूध पीनेका साधन कहाँ है, यह भी उसको पता नहीं होता। माता अपना स्तन उसके मुँहमें डालती है, परंतु उसको दूध पीना नहीं आता। अतः माताको उसको दूध पीना भी सिखलाना पड़ता है। इसके बाद बैठना सिखाये बिना उसे बैठना नहीं आता और सिखाये बिना चलना भी नहीं आता। अपनी माताको भी पहचानता नहीं इसलिये जो दूध पिलाती है उसीको माँ मानने लगता है। बड़ा होनेपर उसे कोई यह बताता है कि भाई! तेरी माँ तो तुझको जन्म देकर तुरंत मर गयी और यह तेरी काकी या मौसी है जिसने तुझको दूध पिलाकर बड़ा बनाया है।

कुछ बड़ा होनेपर एक अक्षर उच्चारण करनेमें भी उस-को कितना परिश्रम करना पड़ता है, यह तो सबके अनुभवकी बात है। इस प्रकार दूसरेके द्वारा सीखते-सीखते मनुष्य अपना अभ्यास बढ़ाता जाता है और समझता है कि वह स्वयं अपना विकास कर रहा है। मनुष्यकी दूसरी विशेषता

यह है कि उसका स्वभाव भुलक्कड़ है याद रखनेका नहीं है। यदि पुनरावर्त्तन न होता रहे तो पहलेका पढ़ा हुआ वह भूलता जाता है और नया-नया सीखता जाता है, यह हमारे नित्यके अनुभवकी बात है। तीस वर्षके एक आदमीसे पूछो कि 'उनचास सत्ते कितना होता है ?' तो इसका जवाब वह नहीं दे सकेगा; क्योंकि घोखा हुआ अङ्क दुहराये बिना विस्मृतिके गर्तमें दब जाता है।

मनुष्यने अपने-आप बोलना सीखा, ऐसा कहना जो प्रत्यक्ष दीखता है उसे न देखने-जैसी बात है। जो बालक बहरा पैदा होता है उसको बोलना नहीं आता। जो गूँगे होते हैं वे सब जन्मसे ही बहरे होते हैं, क्योंकि जो आदमी बड़ी उम्रमें बहरा होता है वह बोल सकता है, क्योंकि बचपनमें सुन सकनेके कारण वह बोलना सीखे हुए होता है।

मनुष्यने लिपि भी अपने आप ढूँढ़ निकाली थी, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि हमने देखा है कि एक अङ्कके बनानेमें मनुष्यको कितनी देर लगती है, फिर यह कहना कि सारी लिपि मनुष्यने अपने आप तैयार कर ली, प्रत्यक्षके विरुद्ध है।

परंतु अन्य प्राणी अपने जीवनके जरूरी ज्ञानको एक साथ लेकर ही जन्मते हैं, क्योंकि ईश्वर उनको मनुष्यकी भाँति जाग्रत् मन और बुद्धि नहीं देता। एक बकरीके बच्चेको जन्मते देखो तो तुम विस्मित हो उठोगे। माताके पेटसे बाहर आते ही वह अपने पैरोंके बल खड़ा हो जाता है और माताका थन खोजकर दूध पीने लगता है और सौ बकरियाँ खड़ी हों तो उनमें अपनी माँको पहचान लेता है। दो-चार दिनोंमें तो अपनी खूराक खोजकर चरने-फिरने लगता है और क्या खायें क्या न खायें, इसका ज्ञान भी उसको जन्मसे ही होता है। एक अस्सी बरसके अनुभवी पुरुषके सामने एक अज्ञात फल लाकर पूछो कि वह खाने योग्य है या नहीं, तो वह उत्तर देगा कि 'मैंने इसे कभी देखा नहीं, इसलिये कुछ कह नहीं सकता।' मनुष्यका शिशु तो बिच्छू देखकर उसे भी मुँहमें डालने जायगा, पत्थर हाथमें आवेगा तो उसे ही मुँहमें डाल लेगा, यह सबके देखनेमें आता है। इस तथ्यसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य दूसरोंके सिखाये बिना अपने आप कुछ नहीं जान सकता।

दूसरे प्राणी अपनी जरूरतका सारा ज्ञान साथ लेकर ही जन्म लेते हैं और मनुष्य बिल्कुल ज्ञानके बिना ही पैदा होता है। जैसे प्राणीके साथ उसका पालन-पोषण होता है, वैसा ही वह बन जाता है। कुछ दिनों पूर्व ब्रिटिश म्यूजियममें हरिणके साथ पले हुए एक आदमीको रक्खा गया था। एक बार वह भाग उठा और ४५ मील प्रति घंटेकी गतिसे हरिणके समान चारों पैर चौकड़ी भरता हुआ भागा। उसको पकड़नेके लिये दोनों ओरसे मोटर दौड़ी, तब कहीं पकड़ा गया।

भेड़ियाके साथ पला हुआ आदमी भेड़िया जैसे स्वभावका हो जाता है और उसके ही समान उच्चारण भी कर सकता है। उससे कोई मनुष्योचित व्यवहार नहीं हो सकता। अभी-अभी लखनऊ और प्रयागमें ऐसे दो बालक मौजूद हैं। ऐसे और भी बहुत-से दृष्टान्त मिलते हैं।

इस प्रकार मनुष्य सर्वथा अज्ञानावस्थामें उत्पन्न होता है, इससे सङ्गका असर उसके ऊपर बहुत पड़ता है। पशुके सङ्ग रहनेसे वह पशु-जैसा हो जाता है और विषयीके सङ्गमें विषयी बन जाता है। परंतु यदि उसको साधु-समागममें रक्खो तो वह साधु भी बन सकता है और नरसे नारायण भी हो सकता है। और यदि आसुरी मनुष्यके सङ्ग रक्खो तो वह असुर या पिशाच भी बन सकता है।

अब यह देखें कि मानवविकासके बारेमें हमारी आध्यात्मिक दृष्टि क्या है ? हमारे यहाँ तो केवल 'आवर्त्तवाद' है। पूर्वकल्पके अनुसार ब्रह्माने सम्पूर्ण ज्ञान —भौतिक विषयोंका ज्ञान तथा सम्पूर्ण विज्ञान—ईश्वरको जाननेकी विद्या, समस्त लिपियाँ, सारी भाषाएँ तथा शरीर-निर्वाहके सारे साधनोंको पूर्ण मात्रामें दिया था। किसी भी प्राणीको शरीरका निर्वाह करनेमें कुछ भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। युगभेदसे तथा कालके प्रभावसे वह सब कुछ ह्रास हो गया और आज हम ऐसी दारिद्र्यावस्थामें आ पहुँचे हैं जिसको भौतिक दृष्टिवाले लोग उन्नतिके शिखरपर पहुँचना कहते हैं।

उदाहरणार्थ सत्ययुगमें मानव-शरीर २१ हाथका था, त्रेतामें घटकर १४ हाथका हुआ, द्वापरमें केवल ७ हाथका हुआ और आज कलिमें ३½ हाथका हो गया है। आज-कलके जमानेके हाथका यह परिमाण है। यानी एक हाथ ठीक १८ से २० इंचका समझना चाहिये। इसी प्रमाणमें आयुके मानमें भी कमी समझनी चाहिये। इसी प्रकार मानसिक शक्तिका भी अत्यन्त ह्रास होता आया है और आज हमारे पास मनोबल नहींके बराबर है। भौतिकज्ञानमें भी कमी हुई है, क्योंकि कितनी ही विद्याएँ नष्ट हो गयी हैं।

यौगिक शक्तिका तो बिल्कुल दिवाला ही निकल गया है, ऐसा कहें तो अत्युक्ति न होगी। विज्ञानमें भी तप और त्याग नहींके बराबर होनेके कारण शायद ही कोई परम-पदकी प्राप्तितक पहुँच सकता है।

क्रमविकासवाद तथा जड़विज्ञानवादके माननेवाले यह सुनकर हमारे शास्त्रका मजाक उड़ाते और हँसते हैं। खूब हँसें और प्रसन्न हों; हमारे यहाँ भी चार अक्षर अंग्रेजी पढ़कर लोग उनका अनुकरण तो करने लगे हैं; यह शोचनीय है। हमारे तत्त्वदर्शी ऋषि-मुनियोंको ऐसा कौन-सा स्वार्थ साधन करना था; जो वे असत्य का प्रचार करते। वे तो अकिञ्चन और निःस्पृही थे; अतएव उनका लिखा हुआ असत्य नहीं हो सकता, भले ही उसे हम आज न समझें।

आज जो प्रमाण मिल रहे हैं उनसे यहाँतक तो सिद्ध हो ही चुका है कि आजसे दस लाख वर्ष पूर्व भी मनुष्य थे और वे पूर्ण विकसित स्वरूपमें थे, जंगली नहीं। आज-के मनुष्यके समान वे छाती निकालकर बेधड़क चलते, खेती करते, वस्त्र पहनते, स्त्री-पुत्रादिके साथ घर बनाकर रहते थे और आजके मनुष्यकी अपेक्षा अधिक समृद्ध थे। बहुत जगह ऐसे अस्थिपिञ्जर प्राप्त हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि आजसे लगभग दस हजार वर्ष पूर्व मनुष्यकी ऊँचाई ९ से १० फुट थी। यही माप द्वापर युगके मनुष्यके मापके लगभग मिलता है। प्राचीन कालमें पशु बहुत बड़े कदके होते थे; यह तो भौतिक विज्ञानी भी मानते हैं। वे युगपरिवर्तनके कारण या तो नाशको प्राप्त हो गये या छोटे हो गये। परंतु मनुष्यके विषयमें ऐसा हुआ है; यह वे नहीं मानते; क्योंकि उनकी दृष्टिमें मानवसृष्टि ५००० वर्षसे अधिक पहलेकी न थी। परंतु अब तो प्रत्यक्ष प्रमाणोंद्वारा एक चरण सिद्ध हो गया है, तब दूसरा भी चरण उनको मानना ही पड़ेगा; नहीं मानते हैं तो दुराग्रह ही समझा जायगा, इस प्रकार हमारे शास्त्रोंकी बात सिद्ध हो जाती है।

यहाँतक तो हमने भौतिक विज्ञानपर एक दृष्टि डाली। श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने एक ही श्लोकमें इस विज्ञानका सुन्दर चित्र खींचा है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

इस जगत्‌में जो आँखसे दिखायी पड़ता है; कानसे सुन पड़ता है, उसके सिवा दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। इसलिये यहाँ किसी धर्म या नीतिके किसी नियमका पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है तथा इसको उत्पन्न करनेवाला कोई अदृश्य ईश्वर है; इसको भी माननेकी जरूरत नहीं; क्योंकि यह तो अपने-आप क्रमविकाससे चला ही करता है। और नर-मादाके संयोगसे इसमें वृद्धि भी होती रहती है। अतएव जबतक जगत्‌में रहना है, स्वच्छन्द सुख-भोग भोगनेके सिवा जीवनका दूसरा कोई हेतु ही नहीं है। बस, खाओ, पीओ और मौज करो।

उपर्युक्त श्लोकका अनुवाद लिखते समय एक नया विचार उत्पन्न हुआ है; उसे यहाँ प्रकट किया जाता है। अपने शास्त्रोंमें जगह-जगह ऐसा लेख मिलता है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चार योनियोंके शरीरोंमें अपने कर्मफलको भोगनेके लिये जीव अनेक प्रकारके शरीरोंको धारण करता चला आ रहा है और महापुण्यके प्रतापसे उसको मानव-शरीरकी प्राप्ति हुई है, क्योंकि यह शरीर मुक्तिका द्वार होनेके कारण देवदुर्लभ है।

इस अभिप्रायकी कोई बात, जान पड़ता है, उनको देखनेमें आयी हो। जीव क्या वस्तु है; यह सूक्ष्म तत्त्व तो उनकी समझमें आया नहीं; अतः जीव एक जन्तुविशेष-का नाम होगा, ऐसा सोचकर एक जन्तुसे दूसरा जन्तु बननेकी उन्होंने कल्पना की और उसमें धीरे-धीरे कैसे मनुष्य हुआ; इसकी एक सुन्दर कड़ीबन्ध शृङ्खला बना डाली और जहाँ-जहाँ बिचली कड़ियाँ न मिलीं; वहाँ-वहाँ वे जातियाँ नाशको प्राप्त हो गयी हैं, ऐसा निश्चय कर लिया। मनुष्यके अज्ञान और मायाकी मोहकताके कारण वह इसे सत्य मान बैठा। इस प्रकारकी यदि बात हुई हो तो असम्भव नहीं जान पड़ती।

इस प्रकार दोनों विज्ञानके स्वरूपोंका विवेचन किया गया। मनुष्यको जो अनुकूल जान पड़े उसके अनुसार अपनी राह पसंद करनेकी स्वतन्त्रता है। आध्यात्मिक विज्ञानसे मुक्ति प्राप्त होती है; अर्थात् जन्म-मरणके भयङ्कर दुःखसे सदाके लिये छुट्टी मिल सकती है। गीताके उपदेश-से हमारा तो यह निश्चय है कि मनुष्य यदि श्रद्धापूर्वक तत्परतासे साधनमें लग जाय तो अधिक-से-अधिक तीसरे जन्ममें मुक्त हो जायगा। साधन करनेकी आवश्यकता है, केवल बाँचनेसे या बात करनेसे कुछ नहीं बनता।

भोग-विषयसे प्रीति रखनेवालेके लिये भौतिक विज्ञान

उपस्थित ही है; क्योंकि वह उसीको मानव-जीवनका कर्तव्य मानता है। वहाँ तो बस—

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी॥

यानी मानव-शरीरमें रहकर भी यदि पशु-जीवन व्यतीत करना है तो इसके लिये भी मनुष्य स्वतन्त्र है। विवेकसे विचारकर देखें, इन्द्रियोंके भोग तो सारी योनियोंमें तथा तीनों लोकोंमें समानरूपसे प्राप्त हैं, परंतु मुक्तिकी प्राप्ति केवल मनुष्य-शरीरमें ही हो सकती है।

क्या इन्दर क्या राजवी, क्या शूकर क्या श्वान।
फूले तीनों लोकमें कामी एक समान॥

परमात्मा सबको सद्बुद्धि दें।

एक संन्यासीका नम्र निवेदन

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी)

यह निर्विवाद है कि भोगत्यागमें जो पवित्रता है, मानव-जीवनकी सफलता है और सच्चा सुख है, वह भोगमें कदापि नहीं है। इसीलिये मानव-जीवनकी सफलता चाहनेवाले कल्याणकामी पुरुष भोगोंको विषवत् या मलवत् त्यागकर संन्यास ग्रहण करते हैं। इसी त्यागकी जीवित मूर्तिके रूपमें ही संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है, जो उचित ही है। परंतु जो मनुष्य साधु-संन्यासीका पवित्र तथा त्यागस्वरूप वेश धारण करके भोगोंकी ओर मन चलाते हैं और अपनेको कर्तव्य तथा नियमोंके बन्धनसे परे बतलाकर भोगोंका समर्थन करते हैं, वे तो न इधरके हैं, न उधरके हैं। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

इत कुलकी करनी तजे, उत न भजे भगवान।
तुलसी अधबरके भये ज्यों बघूरको पान॥

जो इधर तो अपने कुलके कर्तव्यका त्याग कर देते हैं और उधर श्रीभगवान्‌को भजते नहीं, वे बवंडरमें पड़े पत्तेकी ज्यों बीचमें ही इधर-उधर भटका करते हैं। संन्यासीका स्वरूप तो मूर्तिमान् वैराग्य है। भगवान् शंकराचार्यजीने मोहमुद्गरमें बताया है—

सुरमन्दिरतरुमूलनिवासः शय्या भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः॥

जो देवताके मन्दिर या वृक्षके नीचे मस्तीसे पड़े रहते हैं, धरती ही जिनका बिछौना है, मृगछाला ही वस्त्र है, समस्त संग्रह-परिग्रहका और भोगोंका जिन्होंने त्याग कर दिया है, ऐसे किन पुरुषोंको सुख नहीं है? मतलब यह कि ऐसे विरक्त पुरुष ही वस्तुतः सुखी हैं। पर जो लोग त्यागका बाना धारण करके विषयोंकी—कञ्चन, कामिनी और मान-बड़ाईकी इच्छा करते हैं, वे उभयभ्रष्ट ही नहीं हैं—महान् पापका आदर्श सामने रखकर दुनियामें पापका प्रचार करते हैं और अपने दुराचरणसे पवित्र त्यागजीवन महापुरुषोंके प्रति भी लोगोंमें अश्रद्धा तथा अविश्वास उत्पन्न करके उनका अनादर कराते तथा उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले महान् लाभसे जनसाधारणको वञ्चित करते हैं। धनसे सदा दूर रहना, स्त्रीसे सर्वथा—तन-मन-वचन तथा दृष्टितकसे अलग रहना—संन्यासीका परम कर्तव्य है। शास्त्र कहते हैं—

सम्भाषयेत् स्त्रियं नैव पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां नो पश्येल्लिखितामपि॥
यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत्तु मैथुनम्।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः॥

संन्यासीको स्त्रीसे कभी बात ही नहीं करनी चाहिये, स्त्रीको देखना भी नहीं चाहिये, यहाँतक कि पहले कभी देखी हुई स्त्रीका स्मरण भी नहीं करना चाहिये; स्त्रियोंकी चर्चा नहीं करनी चाहिये और दीवाल या कागजपर लिखे हुए स्त्रीके चित्रको भी नहीं देखना चाहिये।

संन्यासी होकर भी जो स्त्रीके साथ मैथुन करता है, वह साठ हजार वर्षोंतक विष्ठाका कीड़ा होता है।

इसलिये मैं समस्त संन्यासी महानुभावोंसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने स्वरूपकी रक्षा करें और ऐसी कोई भी चेष्टा किसी प्रकार भी न करें, जिससे उनकी पवित्रतम त्यागमयी मूर्तिको जरा भी कलङ्क लगे। गृहस्थोंसे प्रार्थना है कि वे साधु-संन्यासीके प्रति भक्ति-श्रद्धा अवश्य करें, उनके पवित्र उपदेशों तथा उनके त्यागपूर्ण आदर्शसे लाभ उठावें; परंतु उनके ऐसे किसी कार्यमें सहायक न बनें जिससे उनका स्वरूप बिगड़ता हो और माता-बहिनोंको तो उनसे सदा-सर्वदा सब प्रकारसे पृथक् रहकर उनके स्वरूपका यथार्थ सम्मान करना चाहिये—यह मेरा नम्र निवेदन है।

महात्मा गाँधीका गीता और रामायणके प्रति प्रेम

(लेखक—श्रीपरशुरामजी मेहरोत्रा)

एक विलायतसे लौटा हुआ बैरिस्टर, जो अंग्रेजी भाषाका तेजस्वी और सुप्रसिद्ध लेखक हो, जो ईसाइयों और अन्य मजहबवालोंके बीच बरसों रहा हो और जो नर्स, मोची, भंगी, धोबी, जुलाहा, किसान, बेहना और बावर्चीका काम ब-खूबी जानता हो, इनमेंसे प्रत्येकका अभ्यास महीनों कर चुका हो तथा जिसे देशकी दासता-की बेड़ियाँ काटनेकी लगन भी लगी हो, वह क्या गीता और रामायण पढ़नेमें अपना समय लगावेगा ? दूसरोंको ऐसा करनेके लिये प्रेरित भी करेगा ? जब-जब संकट पड़ेगा, इन्हीं ग्रन्थोंके पास विह्वल होकर दौड़ेगा और इन्हींके द्वारा प्रशस्त मार्ग खोजेगा ? उपवासके दिनोंमें इनकी पंक्तियाँ सुनकर आन्तरिक शान्ति प्राप्त करेगा ?

महात्मा गाँधीने संसारके मुख्य-मुख्य सभी धर्म-ग्रन्थों-का अनुशीलन किया था; वे सब मतों, धर्मों अथवा मजहबोंको आदरकी दृष्टिसे देखते थे; लेकिन गीता और रामायणके बड़े भक्त थे।

इस अद्भुत ग्रन्थ गीताके पाठको उन्होंने अपनी शामकी प्रार्थनाका एक आवश्यक अङ्ग बना लिया था। श्रीगीताजीके दूसरे अध्यायके ५४ वें श्लोकसे ७२ वें श्लोकतकका पाठ जैसा सन् १९२० में होता था, वैसा ही सन् १९४८ में। प्रातःकालकी प्रार्थनामें श्रीगीताजीके कुछ अध्यायोंका नित्य पाठ भी कराया जाने लगा था; लगभग एक सप्ताह-में इस पवित्र ग्रन्थके अठारहों अध्यायोंका पाठ सन् १९३२ में समाप्त हुआ करता था; बहुत-से आश्रम-वासियोंको गीता कण्ठस्थ थी; श्रीगीताजीपर उन्होंने कई लेख और पत्र लिखे, जिनमें उनके अमूल्य विचार संनिहित हैं; उनके वे लेख दो पुस्तिकाओंके रूपमें प्रकाशित हो चुके हैं। एक पुस्तिकाका नाम है 'अनासक्ति-योग' तथा दूसरीका 'गीताबोध'।

वे कहा करते थे कि मैं चाहता हूँ कि गीता प्रत्येक शिक्षण-संस्थामें पढ़ायी जाय और एक हिंदू बालक-के लिये गीताजीका न जानना शर्मकी बात होनी चाहिये। वे गीताको विश्वधर्मका पवित्र ग्रन्थ मानते थे।

महात्मा गाँधी यद्यपि संस्कृतके प्रख्यात विद्वान् नहीं थे और यद्यपि उन्होंने मूल भाषामें उपनिषदों, पुराणों, शास्त्रों और स्मृतियोंका अनुशीलन पृथक्-पृथक् नहीं किया था, तथापि हिंदू-धर्मके इस सर्वमान्य ग्रन्थका उन्होंने ऐसा अच्छा अध्ययन किया था कि जिससे उनको इस विशाल धर्मकी प्रत्येक शिक्षा-दीक्षा, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व-ज्ञान एवं गूढ़-से-गूढ़ रहस्यका पता लग चुका था। समस्त भारतवर्षकी धार्मिक समीक्षा, प्राचीन आर्य-संस्कृतिकी

सर्वोत्कृष्ट किरण और मानवसमाजके कल्याणका सुगम-से-सुगम मार्ग श्रीगीताजीमें निहित है। गाँधीजीका यह आधार-ग्रन्थ था और कुरान, अंजील या बाइबिलके ध्यानपूर्वक अध्ययनसे तथा पैगम्बर और ईसामसीहके जीवनचरित्रों और उपदेशोंसे उन्हें गीताजीके मूल तत्त्व-को व्यापकरूपमें समझनेमें मदद मिली है, ऐसा वे कहा करते थे।

उन्होंने एक दिन अपने एक वक्तव्यमें गीताकी भाषाको चुम्बक शक्तिसे भरा हुआ और अत्यन्त रोचक बतलाया; गीताजीको वे 'Book of life' (जीवनकी पुस्तक) भी कहा करते थे।

सन् १९२६ जुलाई १६ वक्त ६॥ वजे शाम

महात्मा गाँधी गीताजीका ७ वाँ अध्याय पढ़ा रहे हैं; वे इस प्रकार (गुजरातीमें) समझाते थे—

प्रपद्यन्ते—एटले शरणमां आवे छे—आर्त एटले दुखी—जिज्ञासु एटले मुमुक्षार्थी—अर्थार्थी जेने बचां कचां जोइये—ज्ञानी तमे छो मारा सेठ—हूँ तारो वंदो रैयत—काँई आपे के ना आपे—तो पण जपे छे—तेषां ज्ञानी–जे नित्य मुक्त छे—जे मारा माँ तन्मय थई रह्यो छे—विशिष्यते श्रेष्ठ छे—ज्ञानीने हूँ अतिशय प्रिय छूं—खातां पीतां काम करतां वीजु जुए ईज नहिं:—मीराँने हुँ अत्यन्त प्रिय छूँ—प्रेमी अने ऐनी प्रिया। ज्ञानी जेने ईश्वर—लोको ढोंग-धतूरा करे, खोटूँ पण करे—जंतर-मंतर करे भजे तो सारुं; राजाने पासे दरवानने पासे—कहे; रैयतदार आवे छे ते राजा खुश थाय छे—ए राजा राक्षस जेवा छे।

ज्ञानीनां हृदयनी अंदरथी भणकारा वस निकल्याज करे छे, एवो महात्मा दुर्लभ छे, पछी जे वीजा माणसो छे, जेनु ज्ञान हराई गयेलुं छे ते ते कामनाओ छे ते जन्म-मरणनी अंदर पड़े छे। कोई कहेशे खोड़िया छे कोई कहे ढोंगधतूरा नी अंदर पड़ी जाय छे, एने भजवाना जे जे नियमो करी राख्या छे ए नियमोनो पालन करी ने भजन करे छे, स्वभावने ऊपर अंकुश मूके छे। जे जे नियम करी लीधा होय तेना तेना पालन करे। भक्तिनो मार्ग खांडानी धार छे।

इतना वोलनेपर गांधीजीने राधा महाराजकी कहानी सुनायी। वह गीताके ही प्रसंगसे सम्बन्ध रखती थी।

वह कभी नहीं बदली

बनारसमें एक मौकेपर महात्माजीने गीतापर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये थे—

आज गीताजी मेरी वाइबिल या कुरान ही नहीं है, बल्कि वह इनसे भी ज्यादा है, गीता मेरी माता है। कामधेनु है। इस शरीरको जन्म देने और पालने-पोसनेवाली माँका शरीर छूटे बहुत दिन हुए, परंतु इस अविनाशी माताने उस रिक्त स्थानको पूर्णतया भर लिया है। वह कभी नहीं वदली और न उसने कभी मेरी सहायतासे हाथ खींचा। गीता-पाठ मनुष्यको कठिन-से-कठिन परीक्षाके समय हितकर और जीवन-दाता सिद्ध होता है।

जब कभी उनपर कोई संकट पड़ता, तब वे गीताके श्लोकोंका सहारा लेते; प्रायः वार्तालापमें, शंका-समाधान-में, सैनिकोंको आदेश देते समय गीताके एक-दो श्लोक, जो वहाँ उपयुक्त रूपसे बैठते, सुनाते।

जैसे—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'
'निर्मानमोहा जितसंगदोषाः'
'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'
इत्यादि—

गीताके इस श्लोकका अर्थ मुझे उन्होंने पूर्वी बंगाल-की यात्रासे लौटते समय अगस्त सन् १९२१ में वड़े विस्तारसे समझाया और बोले यह श्लोक हजारों वर्षके अनुभवके बाद लिखा गया होगा।

गीताके मुख्य-मुख्य उपदेशोंको उन्होंने अपने व्यावहारिक जीवनमें ढालकर सिद्ध कर दिया कि इस मशीन-युगमें भी अध्यात्म अपना चमत्कार दिखानेकी क्षमता रखता है। इस छल, कपट और ईर्ष्या-द्वेषसे भरी दुनिया तथा परमाणु-बमके परम विनाशक युगमें भी उन्होंने अध्यात्मका मार्ग अपनाया और सत्य-अहिंसाका अनुपम उपदेशामृत मानव-जातिको पिलाया। अपने आत्मबलसे विश्व-मानवोंके हृदयोंपर उन्होंने अटल राज्य किया। वे 'सर्वभूतहिते रताः' थे, वे 'स्थितप्रज्ञ' थे और थे 'सुदुर्लभः महात्मा', वे सच्चे कर्मयोगी और जीवन्मुक्त थे।

रामायण

गो० तुलसीदासजीकी रामायण भी उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। इसे पढ़ते-पढ़ते वे कभी उकताते न थे। वे इस रामायणकी एक-एक पंक्तिको पसंद करते थे।

गोस्वामी तुलसीदासकृत रामायणके विषयमें गाँधीजी कहा करते थे कि 'यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है' 'श्रद्धाकी खान है' 'यह भक्तिमार्गका सर्वोत्तम ग्रन्थ है'। बहुत दिन हुए, उन्होंने इन पंक्तियोंके लेखकको रामायणके बारेमें जो पत्र लिखा था, उसकी नकल नीचे दी जाती है—

'चि० परसराम, तुम्हारा पोस्टकार्ड मिला; रामायणका अभ्यास खूब ध्यानसे करना; एक बार पढ़नेसे काफी नहीं होगा—बापूके आशीर्वाद। ज्येष्ठ शुक्ल १।'

इस पोस्टकार्डपर डाकखानेकी जो मुहर पड़ी है, उससे यह प्रकट है कि पत्र ४ जून १९२४ को भेजा गया था।

जब सन् १९२६ में उनका हुक्म आनेपर मैं साबरमती-आश्रम पहुँचा, तब मैंने देखा कि वे शामकी प्रार्थनाके बाद रामायण, सब आश्रमवासियोंको नित्य पढ़ाते हैं। उनकी मेजपर तुलसीकृत रामायण तथा स्व० प्रोफेसर रामदासजी गौड़द्वारा लिखी गयी टीका नित्य रहा करती थी; दोपहरके विश्रामके बाद वे गौड़जीकी पुस्तकका अध्ययन करते थे और उसी दिन शामको पढ़ायी जानेवाली पंक्तियोंको अच्छी तरह पढ़ लिया करते थे; रामायण पढ़ाते समय गुजराती भाषाका प्रयोग करते थे। जो स्त्रियाँ उनसे पढ़ने आतीं, प्रायः अपने-अपने घरसे रामायणकी चौपाइयाँ ही लिखकर लातीं।

महासंस्कारी ग्रन्थ

सन् १९३२ में उन्होंने यरवदा मन्दिरसे मुझे इस आशयका एक पत्र लिखा था कि 'साबरमती-आश्रममें सबको, या जो पढ़ना चाहें, उन्हें रामायण पढ़ाया करो; रामायणका शौक सबको हो जाय तो एक पन्थ दो काज-सा होगा।' ५ जुलाई सन् १९३२ को उन्होंने मेरे पत्रके उत्तरमें मुझे एक पत्र गुजरातीमें लिखा; उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है। (उस पत्रमें उन्होंने मेरे प्रस्तावकी पुष्टि की है)

'राधेश्यामजीकी रामायण वगैरहको मैं संस्कारी ग्रन्थ नहीं मानता; तुलसीदासजीकी कृति महासंस्कारी है। हमें तो इस रामायणमें रस पैदा करना है। तुलसीदासजीकी रामायणमेंसे उन्हींकी भाषामें संक्षिप्त रामायण जरूर उत्पन्न की जा सकती है; बालकाण्डके विषयमें मैंने ऐसा प्रयत्न किया भी था; मेरी इस पुस्तककी एक नकल, जहाँतक मेरा ख्याल है, आश्रममें है; (सन् १९१० में उन्होंने यह प्रयास किया था।) अगर आज फिरसे मैं इस कामको हाथमें लूँ, तो कदाचित् दूसरी ही चौपाई-दोहे पसंद करूँगा। चि० प्रभुदासने भी इस दिशामें प्रयत्न किया है·······जो हिंदीवर्ग तुम आश्रममें लेते हो, उनमें रामायणके प्रति रस उत्पन्न किया जा सकता है।" बापू।'

अपने परम प्रिय शिष्य श्रीमगनलाल गाँधीको सन् १९०७ में जो मार्मिक पत्र लिखा था, उसमें

भरतजीके आदर्श चरित्रका अनुकरण करनेका उपदेश दिया था, रामायणमेंसे कुछ छन्द भी दिये थे।

रामायणमें वर्णित परोपकार उनका मूलमन्त्र था; काम, क्रोध और अभिमान, जिनसे बचते रहनेका उपदेश रामायणमें पग-पगपर किया गया है, उनके पास न फटकते। वे रामके सच्चे उपासक थे, रामायणके अनन्य प्रेमी थे और गोस्वामी तुलसीदासजीको एक आदर्श भक्त मानते थे। गोस्वामीजीने अपने रामचरितमानसमें स्थल-स्थलपर 'संत' के गुणोंका जो मनोहर वर्णन किया है, वह महात्मा गाँधीपर पूर्णरूपेण घटित होता है, मानो गाँधी-जैसे संतके आविर्भूत होनेकी सम्भावना वे पहले ही कल्पित कर चुके थे। महात्मा गाँधी-जैसा अनुभवी नेता, अंग्रेजीका धुरन्धर विद्वान्, नेता और ज्ञानी गोस्वामी तुलसीदासजीकी अद्भुत लेखनीका कायल हो गया!

उनके मुखसे यह दोहा प्रायः निकला करता था—

जड़ चेतन गुनदोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं, परिहरि बारि बिकार॥

प्रह्लादको कुम्हारिनने और गाँधीको नौकरानीने राम-नाम मन्त्र दिया, यह कहा जा सकता है। बाल्यावस्थामें ये भूतसे बहुत अधिक डरते थे, अतः समय-कुसमय अँधेरेमें जानेसे इन्हें भय लगता था। एक दिन रम्भा नामकी नौकरानीने इन्हें बताया कि राम-नाममें ऐसी अद्भुत शक्ति है जिसके उच्चारणमात्रसे भूत भागता है। बालक गाँधीको। राम-नामपर अटल विश्वास हो गया और शनैः-शनैः उसपर श्रद्धा बढ़ती गयी।

उनके मुखसे प्रायः यह निकला करता था कि 'मेरा सच्चा डाक्टर राम ही है; अगर राम-नाम मेरे दिलमें पूरी तौरपर बैठ जायगा तो मैं कभी बीमार होकर नहीं मर सकता; संसारमें अगर कोई अचूक दवा है तो वह राम-नाम है; शारीरिक रोगोंको दूर करनेके लिये भी रामनाम सबसे बढ़िया इलाज है। कुदरती इलाजमें अगर कोई अचूक दवा है तो वह है राम-नाम।' मैंने उन्हें यह बात कहते कई बार सुना था कि सभी पवित्र-अपवित्र अवस्थाओंमें राम-नाम लिया जा सकता है। राम-नामके स्मरणने कई विकट प्रसंगोंमें उनकी रक्षा की है। वे प्रायः यह कहा करते थे कि 'सच्चे दिलसे राम-नाम जपना चाहिये। ऐसा करनेसे आदमी अपने ऊपर काबू पा सकता है। शुद्ध-पवित्र हृदयसे राम-नाम जपनेवाला जान सकता है कि राम-नामकी शक्तिका कोई पार नहीं है, वह अमोघ है।' वे राम कहते हुए ही स्वस्थ दशामें परलोकवासी हुए। 'कोटि कोटि मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं।' परंतु वे कोटि मुनियोंसे भी बढ़ गये!

बिना प्रयत्नके कृपा

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषाः परतुष्टिहेतोर्दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति॥

मेरी निन्दासे यदि किसीको संतोष होता है, तब तो बिना प्रयत्नके ही मेरी उनपर कृपा हुई; क्योंकि कल्याण चाहनेवाले पुरुष तो दूसरोंके संतोषके लिये बड़े कष्टसे कमाया हुआ धन भी त्याग दिया करते हैं।

कर्तव्यनिष्ठा

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'हरिहर !'

'गुरुदेव !'

'क्षत्रिय उसे कहते हैं जो आर्तजनोंकी रक्षा करे !'

'हम क्या कर सकते हैं ?'

'मन्दिर ध्वस्त हो रहे हैं। कुलवधुएँ नित्य अपमानित हो रही हैं और क्षत्रिय अपने प्राण बचानेमें ही अपना पराक्रम मान बैठे हैं ।'

'आपकी आज्ञा होनेपर हम दोनों भाई कहीं भी मस्तक उत्सर्ग कर सकते हैं गुरुदेव !'

'इस बातको भूलना मत !'

'गुरुदेवका आदेश विस्मृत हो, इससे पहिले तो मृत्युका वरण श्रेयस्कर है ।'

'तब आज ही विजय मुहूर्त है ।' आकाशकी ओर बड़ी वेधक दृष्टिसे देखते हुए उन विद्याकी साक्षात् मूर्ति तपोधनने आदेश दिया—'यहीं पड़ेगी विजय-नगरकी नीवँ ।'

'विजयनगर ?'

'विजयनगर केवल नगर नहीं रहेगा। विजयनगर राज्यकी स्थापना करनी है तुम्हें ।' त्रिकालदर्शीकी गम्भीरतासे आचार्य माधव आदेश दे रहे थे—'अपने खड्गको कोषसे बाहर करो और तुम स्वतन्त्र नरेश हो। बुक्का ! विजयनगर-नरेश हरिहरको पहला अभिवादन तुम्हारा मिलेगा ।'

कुछ नहीं था वहाँ। एक सपाट भूमि थी निर्जन। होयसळ राज्यके सरदार दो सगे भाई हरिहर और बुक्काको बिना कुछ बताये उनके गुरु—दक्षिण भारतके सर्वज्ञ माने जानेवाले तपोमूर्ति आचार्य माधव अपने साथ वहाँ ले आये थे।

'विजयनगर-नरेशकी जय !' भूमिमेंसे केवल रज उठाकर गुरुदेवने शिष्यके मस्तकपर तिलक कर दिया।

'विजयनगर-नरेशकी जय !' बुक्काने बड़े भाईके पैरोंके पास तलवार रखकर घुटनोंके बल बैठकर अभिवादन किया ।

'सेनापति ! शस्त्र उठा लो ।' आचार्यने आज्ञा दी। उनकी आज्ञाका पालन हो रहा था; किंतु बच्चोंके खेल जैसा था यह आज्ञा-पालन। एक निर्जन स्थानपर तीन व्यक्ति इस प्रकारका नाट्य कर लें, इसका क्या अर्थ हो सकता है। लेकिन शिष्योंको अपने गुरुमें अगाध श्रद्धा थी। शिष्योंकी बात तो दूर—दक्षिणके यवन शासक भी इसका समाचार पा लेते तो उनको रात्रिमें निद्रा नहीं आती। आचार्य माधव जो कहते हैं, वह होता है—यह संदेह कैसा ? वह तो हो चुका माना जाता है दक्षिण भारतमें ।

'राजन् !' आचार्यने गौरवभरे स्वरमें कहा—'मैं वर्षोंसे इस मुहूर्तकी प्रतीक्षा कर रहा था और इस भूमिकी शोधमें था ।'

'गुरुदेवकी कृपा महान् है ।' हरिहरने मस्तक झुका लिया ।

'लेकिन राज्यकी प्रतिष्ठा राज्यके लिये नहीं है। तुम अपनी बात स्मरण रखना ।' गुरुदेवने गम्भीर स्वरमें चेतावनी दी—'विजयनगर तभीतक रहेगा, जबतक वह उत्पीड़ितोंको आश्रय देता रहेगा। धर्मकी रक्षाके लिये मस्तक देनेको उसका शासक समुद्यत रहेगा। वह स्वयं आततायी एवं उत्पीडक न बन जायगा ।'

'आततायी क्रूर विधर्मी अत्यन्त प्रबल हो रहे हैं ।' हरिहरके भालपर चिन्ताकी रेखाएँ आयीं ।

'तुम्हें मस्तक देना है धर्म एवं उत्पीड़ितोंकी रक्षाके लिये ।' गुरुदेव कहते गये—गौओंकी, ब्राह्मणोंकी,

मन्दिरोंकी और सतियोंकी मर्यादा-रक्षाके लिये तुम्हें मस्तक देनेको उद्यत रहना है। मनुष्य उद्योग कर सकता है और तुम्हें उद्योगमें प्रमाद नहीं करना है।'

हरिहरने मस्तक झुकाया। आचार्य माधवने बुक्काकी ओर मुख किया—'सेनापति!'

'अपने नरेशके लिये और अपने गुरुदेवके लिये मेरा मस्तक सदा प्रस्तुत है।' बुक्काने भी सिर झुका दिया।

'अपने नरेशको तुम्हें नरेश बनाना है।' आचार्यने आज्ञा दी—'मत देखो कि तुम्हारे सैनिक संख्यामें कितने कम हैं। माधवका आशीर्वाद ही नहीं, स्वयं माधव तुम्हारे साथ रहेगा।'

कहनेको बहुत कुछ नहीं रह जाता। दक्षिणके यवन शासकोंने कल्पनातक नहीं की थी कि होयसल राज्यके दो सरदारोंकी गिनी-चुनी सैनिक टुकड़ी कोई आक्रमण कर सकती है; किंतु बुक्काके वे मुट्ठीभर सैनिक जिधर निकले, विजयश्री मानो उन्हें वरण करनेको पहले प्रस्तुत थी। शत्रुके सैनिकोंकी कई गुनी संख्या भागती दीखने लगी और अन्तमें कृष्णासे कावेरीके मध्यका प्रदेश विजयनगरनरेशके सिंहासनकी अभय छाया पाकर आततायियोंके अत्याचारसे सुरक्षित हो गया।

'धर्मकी रक्षा! देवमन्दिरोंकी रक्षा! कुलनारियोंके सतीत्वकी रक्षा! आर्त प्रजाकी रक्षा!' विजयनगर राज्यकी प्रतिष्ठा राज्यके लिये हुई होती तो बात समाप्त हो गयी थी; लेकिन आचार्य माधवकी चतुःसूत्री विजय-नगरका प्रेरणा-मन्त्र था। 'मस्तक देना है। मस्तक देनेको उद्यत रहना है!' वहाँ तो कर्तव्य पुकार रहा था अहर्निशि।

× × ×

[२]

'गुरुदेव!'

'मेरा कर्तव्य मुझे पुकार रहा है राजन्!'

'विजयनगरने क्या अपराध किया है? आचार्यके एकान्त एवं त्यागमें कब बाधा दी है इस सेवकने? हम सब किसके चरणोंमें प्रणिपात करके प्रेरणा प्राप्त करेंगे?'

'एकमात्र जगदीश्वर ही प्रणम्य एवं शरण्य हैं राजन्!' आचार्य माधव जब कोई निश्चय कर लेते हैं—हिमालयके समान स्थिर होता है उनका निश्चय। उन्होंने संन्यास-ग्रहणका निश्चय कर लिया है। विजयनगरकी प्रजा—हिंदू और यवन—सब अनाथकी भाँति रो रहे हैं। महाराज हरिहर हाथ जोड़े खड़े हैं। लेकिन जो त्रिलोकीके वैभवके त्यागका संकल्प कर चुका हो, उसे क्या मोह?

'यहाँ गुरुदेवको क्या विघ्न होता है?'

'ब्राह्मण यदि ब्राह्मण हो तो उसे कहीं कोई विघ्न नहीं होता।' आचार्य ही हैं जो इस क्रन्दन करती भीड़के मध्य भी मुसकरा सकते हैं। विजयनगरका वैभव जिसके आशीर्वादसे एकत्र हुआ और जिसके संकेतपर चलता है, वह राजगुरु, महामन्त्री, राज्यका सर्वेसर्वा—लेकिन वह कच्ची दीवारोंसे घिरी, तृणोंसे आच्छादित कुटीरमें गोबरसे लिपी वेदीपर कुशासन बिछाकर ग्रन्थोंके अम्बारमें निमग्न रहनेवाला तपस्वी—भला ऐसे त्यागमय तपोमूर्ति ब्राह्मणके लिये कहीं कोई विघ्न हो कैसे सकता है?

'हम सबका ही कोई अपराध?'

'ब्राह्मण कृपा करना जानता है, अपराध देखना नहीं।' आचार्यने मस्तकपर अभय कर रक्खा—'त्याग ब्राह्मणका सहज स्वरूप है। मेरे-जैसा ब्राह्मण त्याग न करे तो समाज आदर्श किससे प्राप्त करेगा।'

'गुरुदेवने संग्रह तो कभी किया नहीं।'

'तुम जिसे संग्रह कहते हो, वह तो भोग है। ब्राह्मणके लिये भोग तो सदा निषिद्ध हैं।' आचार्य आश्वासन दे रहे थे—'मेरा शरीर जीर्ण हो रहा है। इस झोंपड़ीका मोह मुझे छोड़ना चाहिये। मैं कहीं जाता तो हूँ नहीं। शृंगेरी तुमसे कितनी दूर है। मैंने अबतक तुम्हें सम्मति ही तो दी है। संन्यासी

किसीको भी सत् सम्मति एवं धर्म-प्रेरणा देनेसे कब अस्वीकार करता है ।'

'गुरुदेव !'

'कातर मत बनो !' आचार्य कहते गये—'मैंने अबतक गृहस्थ ब्राह्मणोंके लिये शास्त्रका संकलन किया है; किंतु परम दान है ज्ञानका दान और जो अध्ययनशील होकर ज्ञानका दान नहीं करता, वह ज्ञानखल कहा जाता है ।'

'श्रीचरणोंने अबतक ज्ञानदान ही किया है ।' नरेशने चरण पकड़े—'वह ज्ञानयज्ञ अखण्ड चलता रहे, इस प्रकारकी प्रत्येक सेवा····।'

'ज्ञान सेवा-सम्पत्ति या सहायता नहीं चाहता ।' आचार्यने बीचमें ही रोक दिया । 'अबतक मैंने कर्मशास्त्रके आवश्यक अङ्गोंका संकलन किया है । ज्ञानशास्त्रका संकलन एवं उपदेश वही कर सकता है जो जगत्के मिथ्यात्वका अनुभव करे । जब आचार वाणीसे विपरीत होता है, पुरुष मिथ्यावादी कहलाता है ।'

'हम सब···· !' भावरुद्ध कण्ठ बोल नहीं सका ।

'मुझे मेरा कर्तव्य पुकार रहा है । 'आचार्यने आदेशके स्वरमें कहा—'संन्यास-ग्रहणके निश्चयमें बाधा देना तब अपराध होता है, जब कोई अधिकारी न्यासका निश्चय कर चुका हो ।'

'आशीर्वाद !' बड़ी कातर याचना थी । किसीमें साहस नहीं था अधिक अनुरोध करनेका ।

'कर्तव्यका पालन स्वयं आशीर्वाद है !' आचार्यने निरपेक्षभावसे कहा । संन्यासका निश्चय करके अब जैसे वे संसारसे सर्वथा ऊपर उठ चुके थे—'सफलता होगी या नहीं, यह मत सोचो । शुभके लिये प्रयत्न सफल हो या असफल, वह कर्ताको तो पवित्र करता ही है ।'

इतिहास जानता है कि आचार्य माधव संन्यास लेकर स्वामी विद्यारण्य हुए और उन्होंने संसारको उससे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थावली अपने इस आश्रममें भी दी, जितनी पूर्वाश्रममें दे आये थे । विजयनगरको उनकी प्रेरणा और आशीर्वाद सदा प्राप्त थे । वही आशीर्वाद—वही कर्तव्यनिष्ठा विजयनगर सिंहासनपर प्रतिष्ठित रही—तब भी प्रतिष्ठित रही जब हरिहर द्वितीयने मैसूर, त्रिचनापल्ली और काञ्चीतक विजयगरकी सीमा विस्तृत कर दी ।

राजा आये और गये । देवराय द्वितीयकी प्रचण्ड वाहिनीने विवश किया पीगू (ब्रह्मा) और लंकानरेशको कि वे विजयनगरको वार्षिक कर दें । कृष्णदेवराय सिंहासनासीन हुए और कलिंग (उड़ीसा) नरेशको बार-बार युद्धमें पराजित होकर अपनी कन्याका विवाह उनसे करना पड़ा ।

ग्यारह लाख सैनिकोंकी विशाल वाहिनी, कन्याकुमारीसे वंगीय समुद्रतकका विशाल साम्राज्य; किंतु विजयनगरका विदेशियोंको चकाचौंधमें डाल देनेवाला वैभव क्या वैभवके लिये था ?

'धर्मकी रक्षा ! मन्दिरोंकी रक्षा ! कुल-नारियोंके सतीत्वकी रक्षा ! आर्त प्रजाकी रक्षा !' जाग्रत् मन्त्र था विजयनगरका और वहाँ सिंहासनपर राजदण्ड-ग्रहणके स्थानमें नवीन नरेश खड्ग लेकर दीक्षा ग्रहण करता था—'मस्तक देना है ! मस्तक देनेको उद्यत रहना है !'

× × ×

[३]

'मैंने समझा था मैं बहिश्तमें आ गया हूँ ।' उस दिन फारसका राजदूत अब्दुर्रज्जाक आया था विजयनगरमें । नगरको देखकर वह ऐसा हक्का-बक्का रह गया था कि उसे राजसेवकोंको सँभालना पड़ा । आज भी उसकी लगभग वही दशा है । वह महाराज कृष्णदेवरायका अतिथि होकर आया है राज्य-भ्रमण-यात्रामें और राजशिविरको देखकर आश्चर्यसे दिङ्मूढ़ बन गया है ।

'पाँच-पाँच खण्डोंके तम्बू—पूरा महल, दरबार, घरोंकी कतारें कपड़ेके तम्बूमें बन सकती हैं !

उसने कभी नहीं सोचा था और उसकी कल्पनामें ही यह बात नहीं आयी थी कि ये विशाल वस्त्रगृह आधी घड़ीमें कैसे खड़े कर दिये गये। द्वारोंपर बैठे कृत्रिम केहरी, भेड़िये, व्याघ्र—कक्षोंमें कूदते-से सजीव दीखते मृग, जहाँ-तहाँ उड़नेको पंख फैलाये पक्षी—वह विदेशी नेत्र फाड़-फाड़कर देख रहा था। उसे लगता था—'हिंदू बादशाह जादूगर है।'

'आप प्रसन्न तो हैं!' जब महाराजने उसके कंधेपर हाथ रख दिया, वह चौंक पड़ा। भूमितक झुककर उसने अभिवादन किया।

'हमारे कलाकारोंने ये मूर्तियाँ इसलिये बनायी हैं कि हमें यह स्मरण रहे कि मनुष्य भवनोंमें बंद रहनेके लिये उत्पन्न नहीं हुआ है।' महाराज कृष्णरायने उसे बताया—'मनुष्यको वनमें जाना है। इन पशु-पक्षियोंके साथ मित्रकी भाँति रहना है और समस्त जगत्को बनानेवाले परमात्माकी आराधना करनी है।'

'ये बुत हैं? जानदार नहीं हैं ये?' उस विदेशी राजदूतने महाराजकी बात सुनी ही नहीं। सुननेकी स्थितिमें नहीं था वह।

'आप किसीको छूकर देख सकते हैं।' महाराज मुसकरा उठे।

'सचमुच!' एकको छूकर उसने देखा और भलीभाँति देखकर बोला—'अजीब है। अजीब हैं आपलोग।'

'हमलोग क्या अद्भुत हैं?' महाराज प्रसन्न थे।

'हमारी कौम जहाँ जाती है, कब्रिस्तान बना देती है। खून, तबाही, जुल्म और आखिर कब्रगाह या खाक हुए शहर।' राजदूतके नेत्र सजल हो आये। 'मैंने सुना था विजयनगर हिंदूराज्य है। मुझे लगा—महज शाहीरकीब होनेकी वजह मुझे आनेकी इजाजत मिली है, मगर उस दिन आपके शहरमें आकर मैं हैरान रह गया। मन्दिरोंकी गिनती नहीं। कोई कहता था—विजयनगरमें चार हजार मन्दिर हैं और उन मन्दिरोंके बीच-बीचमें मस्जिदोंकी मीनारें बड़े मजेसे खड़ी हैं।'

'इसमें क्या विचित्र बात है?' महाराज कह रहे थे—'मुसलमान भी मनुष्य हैं। उनका धर्म वे पालन करें, इसमें किसीको क्या बाधा हो सकती है। उनके लिये मस्जिदें राज्यने बनवा दी हैं। प्रजा धर्मात्मा रहे, अपने धर्मका पालन करे, इसे देखना और इसकी सुविधा करना राज्यका कर्तव्य है। मुसलमान हमारी विश्वस्त प्रजाके अङ्ग हैं। हमारी सेनामें उनकी पर्याप्त संख्या है। ऊँचे पदोंपर वे हैं।'

'जब मैंने देखा कि नगरमें राज, बढ़ई और मजदूरतक कानोंमें सोनेके हीरे-मानिक जड़े गहने पहने काम कर रहे हैं, तभी समझ गया कि मैं दुनियाके सबसे खूबसूरत नगरमें नहीं बल्कि फिरिश्तोंकी आबादीमें आ गया हूँ।' राजदूतने भावभरे कण्ठसे कहा—'लेकिन तब भी मैं होशमें नहीं था। आज मैं होशमें हूँ और जानता हूँ कि खुदाने अपने खास मुरीदोंको जमीनपर भेज रक्खा है और वे सब महज विजयनगरमें आबाद हो गये हैं।'

'हम सब मनुष्य हैं। मनुष्यका कर्तव्य है सेवा।' महाराजने बड़े संकोचसे राजदूतके प्रशंसा-वाक्य सुने।

'मैंने सुना है, जैसे राजदूतको कोई भूली बात स्मरण हो आयी—महज मुस्लिम राज्योंका मुकाबला करनेके लिये विजयनगरकी बुनियाद पड़ी है।'

'किसी जातिका विरोध करनेके लिये नहीं।' महाराज गम्भीर हो गये—'अत्याचार और अन्यायका विरोध करके त्रस्त मानवताको परित्राण देनेके लिये।'

'आप यह कर सकेंगे?' राजदूतने प्रश्न स्पष्ट किया—'आज हर कौम खुदगर्ज और जुल्मपरस्त होती जा रही है। आप-जैसे फरिश्ते कितने हैं रूये जमींपर?'

'हम नहीं कर सकेंगे, यह हम जानते हैं। हम जानते हैं हमारा प्रयत्न व्यर्थ होनेके लिये है।' महाराजके स्वरमें तनिक भी निराशा नहीं थी—'हमारे शास्त्र

कहते हैं कि यह कलियुग है। इस युगमें अन्याय, अनाचार, असंयम बढ़ेंगे ही। लेकिन इससे हुआ क्या? हम शुभके लिये प्रयत्न करते हैं, यही पर्याप्त है हमारे लिये। हम अपना कर्तव्य करेंगे।'

'फरिश्ते हैं जनाब!' राजदूतने फिर भूमितक झुककर अभिवादन किया।

'मनुष्य हैं हम। जिसमें कर्तव्यनिष्ठा नहीं, वह तो मनुष्य ही नहीं।' महाराजका स्वर बड़ा गम्भीर था—'भारतीय मनुष्योंने युग-युगसे कर्तव्यपालनका आदेश प्राप्त किया है।'

महाराजके मनमें उनका आदर्श वाक्य घूम रहा था—'मस्तक देना है। मस्तक देनेको उद्यत रहना है।' कर्तव्यपर बलि—जीवनकी इससे बड़ी भी कोई सफलता है?'

चिन्तापर विजय प्राप्त करनेका सुनहरा नियम

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०)

हावर्ड युनिवरसिटिके मनोविज्ञानके प्रोफेसर विलियम जेम्सने कहा है, 'चिन्तापर विजय प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय धार्मिक विश्वास है।'

वास्तवमें आनन्दकन्द परम प्रभु परमात्माकी भक्ति, उनका भजन-कीर्तन, प्रेमसे उनका गुणगान, सत्सङ्ग इत्यादि सत्कर्मोंमें लीन हो जाना सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्तिका सर्वोत्तम उपाय है। भक्ति ही आनन्दका वह मार्ग है, जो स्थायी एवं व्यापक सुख-शान्ति प्रदान करनेवाला उपाय है। भक्त संसारको ईश्वरमय देखता है। जो व्यक्ति संसारको मैत्रीभावसे देखता है; संसारको प्रेमरूप देखता है, उस मनुष्यपर ईश्वर भी प्रेमकी वर्षा करता है। प्रसन्नता, धैर्य, आशा, प्रशान्ति, श्रद्धा, प्रेम और आनन्द—इन लक्षणोंसे युक्त मनुष्यका नैसर्गिक स्वभाव होना चाहिये।

मनुष्यके सारे दुःखोंका कारण यह है कि वह ईश्वरीय आदेशोंके प्रतिकूल चलना पसंद करता है। जगत्की मिथ्या वस्तुओंके प्रति व्यर्थके माया-मोहमें लिप्त हो जानेके कारण ईश्वरीय प्रेम और आनन्दका वह मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। दैवी प्रसन्नता तथा आनन्दके इस स्रोतको खोलनेसे ही उसे शान्ति प्राप्त हो सकती है।

पापग्रसित मनुष्योंको यह संसार अन्धकारमय नैराश्यसे परिपूर्ण प्रतीत होता है। जहाँपर मनोविकार एवं स्वार्थपरता है, वहींपर मानसिक नरक है। जहाँ पवित्रता और प्रेम है, वहींपर मोक्ष है।

आप ईश्वरीय अंश हैं, सतत आनन्दमय हैं। श्रुति भगवतीकी आनन्दमयी वाणीमें—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति।

आनन्दसे ही सब प्राणी जन्मते हैं और उत्पन्न होकर आनन्दसे ही जी रहे हैं। हमारे आत्माका स्वरूप आनन्द ही है। फिर शोक, चिन्ता, निराशामें डूबनेकी क्या आवश्यकता है? यदि हम पारमार्थिक दृष्टि प्राप्त कर सकें, तो अपने गन्तव्य धाम—आनन्दको प्राप्त कर सकेंगे। भक्ति ही आनन्द-प्राप्तिका राजमार्ग है।

ईसा महान् कहा करते थे कि धर्मके केवल दो ही स्वरूप हैं १—ईश्वरको पूरे हृदयसे प्रेम करना तथा २—अपने पड़ोसीके प्रति आत्मभाव रखना। ये दोनों ही तत्त्व बड़े महत्त्वके हैं।

चिन्ताके समय आप प्रार्थना करें। परमपिता परमेश्वरकी गोदमें, शान्ति और प्रेमके समुद्रमें अपने-आपको अनुभव करें। जिसपर परमेश्वरकी कृपा है, जिसे परमेश्वरके प्रति श्रद्धा है, उसे चिन्ता दुखी नहीं कर सकती।

षोडश संस्कार और उनका रहस्य

(लेखक—श्रीदीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

'पुत्र ही पिता होता है', 'आजके बालक कलके भविष्यद् भारतवर्ष हैं' ये उक्तियाँ जहाँ प्रसिद्ध हैं, वहाँ ठीक भी हैं। हम बालकोंमें जैसा संस्कार डालेंगे, हमारे आचार-विचारोंका जो प्रभाव उनपर पड़ेगा, वे वैसे ही बनेंगे; वही आगे भारतवर्षका स्वरूप बनेगा। अंग्रेजी राज्यके समय अंग्रेजियतका प्रभाव जनतापर अधिक पड़ा; उस जनताके वैसे ही आचार-विचार-विहार बने। उसका बालकोंपर गम्भीर प्रभाव पड़ा। उस समयके बालक आज युवा हैं। वे भी अप-टू-डेट अंग्रेज बने हैं। न केवल वेषभूषादि बाह्य व्यापारोंसे, अपितु उनका मन एवं मस्तिष्क भी वैसा बना है। अंग्रेजोंके चले जानेपर भी अंग्रेजियत नहीं गयी। लार्ड मैकालेने भारतीय बालकोंपर अपनी शिक्षा-दीक्षाका संस्कार डालकर उनको इस प्रकार अपना मानसिक दास बना लिया है कि अब वे युवक प्राच्य साहित्यसे घृणा दिलानेवाले विषैले साहित्यकी सृष्टिमें लगे हैं। उनपर प्राच्य-आचार-विचारोंका तथा प्राच्य युक्तियोंका प्रभाव नहीं पड़ता। पूर्वकी दिशा भारतका उदय है, पश्चिम अस्त है—यह वे जानते हुए भी नहीं जान पाते।

अब आगेके भारतीय बालकको नवीन वातावरणके चंगुलसे बचाना चाहिये, उसपर पाश्चात्त्य संस्कारोंका असर न पड़ने देकर प्राच्य संस्कार डालने चाहिये—जिससे यहाँका बालक भारतीय धर्म एवं भारतीय संस्कृतिका उपासक बने, उससे जातीयताकी भावना तथा गौरव न छूटे; अतः बालकपर अपने संस्कार डालने चाहिये। यह उचित भी है; क्योंकि नीति-शास्त्रकी यह उक्ति परम प्रसिद्ध है कि—'नवे हि भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्' नवीन पात्रमें लगा हुआ संस्कार अन्यथा नहीं हुआ करता; उसमें स्थिर रहा करता है। वह नवीन पात्र बालक है। उसपर जो आचार-विचारका संस्कार पड़ेगा, वह परिवर्तित नहीं होगा। बालकपर ही देशका, जातिका, धर्मका तथा संस्कृतिका भविष्य निर्भर है। संस्कारोंसे ही बालक सद्गुणी, सद्विचारसम्पन्न, सदाचारी, सत्कर्म-परायण, आदर्शभूत, अनुशासनप्रिय, सेवापरायण, साहसी एवं संयमी होगा। इसके ऐसा बननेसे समाज तथा देश भी वैसा बनेगा। बालकके संस्कारहीन होनेपर वह बिगड़ेगा; इससे देश एवं समाज भी बिगड़ेगा। इसी बिगड़नेके परिणाम कलह, युद्ध एवं महायुद्ध हैं।

बालककी सीमा क्या है? शिशु, बाल, कुमार, पौगण्ड, किशोर—ये बालकके अवस्था-भेद हैं। बालक इन अवस्थाओंमें सब सीखता है। बालक अनुकरणप्रिय तो होता ही है; हम जो करेंगे, वह वही करेगा। इस कारण हमें उसके सामने आदर्श बनकर रहना पड़ेगा! 'यह अबोध शिशु है' इसपर हमारे असंयम आदिका क्या प्रभाव पड़ेगा—यह सोचना सर्वथा अयुक्त है। उसके मन-बुद्धिका विकास चाहे न हुआ हो तथापि मन एवं बुद्धिकी सत्ता तो उसमें भी होती है; अतः उसपर भी यथा-तथा प्रभाव पड़ता ही है।

पर हमारे ऋषि-मुनि तो और भी दूर गये हैं। वे कहते हैं कि गर्भ भी बालककी एक अवस्था है। बालक गर्भरूप भी सीखा करता है। अभिमन्युने गर्भमें ही चक्रव्यूह-प्रवेश सीखा था। जबसे गर्भमें चैतन्य-संचार हो जाता है, तबसे बालक सीखा करता है। गर्भका ही प्रथम संस्करण बालक है, बालकका ही द्वितीय संस्करण युवा है और तृतीय संस्करण वृद्ध। तभीसे हमें आदर्शरूप बनना चाहिये। केवल बाहरसे ही नहीं; किंतु अन्तरङ्ग भी हमें वैसा बनाना चाहिये; क्योंकि माताके विचारोंका भी गर्भपर प्रभाव पड़ता है।

यह गर्भावस्था भी कुछ दूरकी है। निषेक (गर्भाधान) बालककी सबसे पूर्वकी और सूक्ष्म अवस्था होती है। इसमें भी माता-पिताके जैसे आचार-विचार-विहार होंगे, उनका संस्कार गर्भस्थ बालकपर अवश्य पड़ेगा—यह विज्ञान हमारे दूरदर्शी ऋषि-मुनियोंने ही निकाला था। प्रत्युत वे इससे भी आगे पहुँचे। उन्होंने अनुसंधान करके यह भी बता दिया कि जब स्त्री ऋतुमती हो तब एकान्तमें बैठे। ऋतुस्नान करके फिर पतिके दर्शन करे, अथवा उस समय शीशेमें अपनी आकृति देखे तो संतान वैसी ही होगी।

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः॥

(सुश्रुत० शारी० २। २६)

कितनी दूर पहुँचे हैं वे, फिर इससे भी दूर पहुँचते

हुए उन्होंने स्त्रीको गृहक्षेत्र देकर उसे सुरक्षित किया। बाह्य-संसारसे उसका सम्बन्ध हटवा दिया। विचारनेपर यह उनकी बहुत सूक्ष्मदर्शिता सिद्ध होती है। 'मनुस्मृति'में कहा गया है—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥
(९। ७)

'तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः।'
(९। ९)

इसी दूरदर्शिताका नाम ऋषि-मुनियोंने 'संस्कार' रक्खा था।

पाठकगण जानते होंगे कि हिंदूधर्ममें संस्कारोंका कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कारोंका क्या लाभ है और उसके कौन अधिकारी हैं, संस्कार कितने हैं, संस्कारोंमें किसका क्या मत है, प्रत्येक संस्कारका क्या रहस्य है—इस विषयमें हिंदूमात्रको ज्ञान रखना आवश्यक है। इस आकांक्षाकी पूर्तिके लिये हम प्रयत्न करते हैं। इसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानोंके विचारोंका यथायोग्य मिश्रण किया जायगा।

संस्कार-महत्त्व

संस्कारका लाभ जगत्प्रसिद्ध है। जब सोना खानसे निकलता है तब वह मलिन होता है। जबतक उसका संस्कार नहीं किया जाता, तबतक सुवर्ण सु-वर्ण नहीं बनता। उस समय वर्तमान संस्कृत-अवस्थाके समान उसकी चमक-दमक, आकृति एवं मूल्य आदि नहीं हुआ करता। इस कारण सुवर्णका संस्कार करके उसे सु-वर्ण बनाया जाता है। उसे इस प्रकारका बनानेके लिये पहले उसका मार्जन करना पड़ता है—यह उसका दोष-मार्जक संस्कार होता है। संस्कारके बिना कृत्रिम और अकृत्रिम सुवर्णकी परीक्षा भी सम्भव नहीं होती। संस्कारद्वारा ही सब पदार्थ व्यवहारोपयोगी हो जाते हैं।

किसी पदार्थमें दोष-निराकरणपूर्वक गुणोंको उत्पन्न करना ही उसका संस्कार कहा जाता है। जबतक किसी पदार्थका संस्कार नहीं होता, तबतक वह सदोष और गुणहीन रहता है। संस्कार होनेपर ही उस पदार्थके दोष दूर होते हैं और गुण प्रकट होते हैं। जबतक हीरेको शाणपर संस्कृत नहीं किया जाता, तबतक हीरेका न तो मिट्टीका आवरण ही हटता है, न उसमें चमक ही आती है। इस प्रकार शाणसंस्कारके बिना तलवारकी न तीक्ष्ण धार बनती है, न उसमें छेदनकी शक्ति प्राप्त होती है। जब ये वस्तुएँ शाणमें संस्कार पाती हैं, तभी उक्त दोष दूर होते हैं और गुण प्रकट होते हैं। गुण प्रकट होनेसे ही उनका मूल्याङ्कन होता है। जाति यदि स्वरूपकी सत्ताको देती है तो संस्कार उसका उत्कर्ष-अपकर्ष उत्पन्न करते हैं। एक लोहा जिसकी साधारण-सी जाति है, संस्कारको प्राप्त करके घड़ीके बाल-कमानी आदि पुर्जेके रूपमें आता है; तब वह लोहा रहता हुआ एक घड़ी एवं उसका आत्मा बनकर महामूल्यवान् हो जाता है। कभी-कभी तो विशेष सारंगियोंका तार बनकर सुवर्णसे भी महँगा बिकता है। यह संस्कारकी महिमा है।

संस्करणका नाम 'संस्कार' होता है। सम् उपसर्गसे कृञ् धातुको घञ् प्रत्यय करनेपर और 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' (पा० ६। १। १३७) इस सूत्रसे भूषण-अर्थमें सुट् करनेपर 'संस्कार' शब्द बनता है। सोनेको खानसे निकलनेपर उसका मल हटाना यह उसका पहला दोषमार्जक संस्कार होता है—यह पूर्व कह ही चुके हैं; तब हम यदि उसका भूषण बनाना चाहें तो उसे अग्निमें तपाकर, हथौड़ेसे उसे पीटकर, छेनीसे उसे जहाँ-तहाँ काटकर, यन्त्रविशेषसे उसे घिसकर तब उसका भूषण बनता है—यह उसका अतिशयाधान संस्कार होता है। फिर उसमें हीरा एवं मोती-रत्न आदिको यथास्थान खचित (जड़ना) किया जाय तो यह उसका हीनाङ्गपूरक संस्कार होगा। इससे सोना बहुत सुन्दर, उपादेय तथा बहुमूल्य हो जाता है। लकड़ीमें भी बढ़ईद्वारा संस्कार करनेपर उसकी बहुमूल्यता हो जाती है। जब जड वस्तुओंमें भी संस्कारसे इस प्रकारकी विलक्षणता हो जाती है, तब मनुष्योंका तो क्या कहना ?

फलतः सांसारिक सब पदार्थोंकी यदि उपयोगिता इष्ट हो तो उनका संस्कार अवश्य अपेक्षित होगा। इस प्रकारकी कोई वस्तु नहीं मिलती, जिसका कार्योपयोगके लिये संस्कार न किया जाता हो। इस प्रकार मनुष्यका भी स्वरूप संस्कारसे ही यथार्थतः प्रकाशित होता है। संस्कारसे ही मनुष्यता प्राप्त होती है। संस्कारसे ही मनुष्यका दृष्ट-अदृष्ट मल प्रक्षालित होता है। सोलह संस्कारोंका भी यही लाभ होता है। माता-पिताके रजोवीर्यगत दोषके कारण संतानमें शारीरिक और मानसिक बहुत-सी त्रुटियाँ रह जाती हैं,

उनको दूर करने तथा पापोंको हटानेके लिये संस्कारोंका यथाधिकार उपयोग हुआ करता है। जैसा कि—मनुस्मृतिमें कहा है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
(२।२७)

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
(२।२६)

यहाँपर शारीरिक संस्कारको इस लोक तथा परलोकमें पावन तथा बीजगत एवं गर्भगत दोषोंका दूर करनेवाला माना है। इनमें गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन आदि संस्कार-द्वारा दोषमार्जन होता है। चूड़ाकर्म, उपनयनादि संस्कारों-द्वारा अतिशयाधान होता है। गृहाश्रम, संन्यासाश्रम आदि संस्कारोंके द्वारा हीनाङ्गपूर्ति होती है। पुरुष इनसे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूपको प्राप्त करता है। शरीर, आत्मा एवं मन संस्कृत हो जाते हैं। ऋषियोंने संस्कारोंके सोलह प्रकाशस्तम्भ नियत किये हैं। वे उस मार्गके अधिकारियोंको यथावत् मार्गनिर्देश करते हैं। इन संस्कारोंके प्रकाशमें जो जाता है वह चन्द्रमाकी तरह षोडशकलापूर्ण होकर संसारमें प्रकाशित होता है। ये संस्कार धर्मरूप चावलोंकी रक्षाके लिये उसकी ऊपरकी त्वचा हैं। इसी त्वचासे धर्मरूप चावलोंका परिपोषण एवं वृद्धि होती है।

संस्कारोंके अधिकारी

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥
(१।२।१०)

इस याज्ञवल्क्यके वचनसे द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टितक सभी संस्कार मन्त्रसहित होते हैं। शूद्रोंके सब संस्कार नहीं होते। उनके आश्रम-संस्कार तो होते ही नहीं; केवल गृहाश्रम ही बिना वेदमन्त्रोंके होता है। ब्रह्मचर्याश्रम भी शूद्रोंका वैध नहीं होता; इस प्रकार उनके उपनयन-वेदारम्भ-समावर्तन आदि संस्कार भी नहीं होते। जब कि—श्रीमनुजीके 'योऽनधीत्य द्विजो वेदम्'… स जीवन्नेव शूद्रत्वम्' (२।१६८) 'स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः' (२।१०३) इन वचनोंको वादी-प्रतिवादी सभी अप्रक्षिप्त स्वीकृत करते हैं; तब शूद्रोंके वेदानधिकारवश उसके उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन आदि संस्कार भी नहीं होते। उनके जो कई संस्कार होते हैं वे अमन्त्रक, पौराणिक एवं तान्त्रिक मन्त्रोंसे होते हैं; जैसे कि—'व्यासस्मृति'में भी लिखा है—

न वै ताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः।
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश॥
(१।१६–१७)

वैध ब्रह्मचर्याश्रम स्त्रियोंका भी नहीं होता; विवाह ही उनका द्विजत्वाधायक संस्कार होता है। श्रीमनु महाराजने कहा है—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥
(२।६७)

अर्थात्—स्त्रियोंका विवाह ही उनका उपनयन एवं वेदारम्भ होता है, क्योंकि स्त्रियोंका पतिसे व्यतिरिक्त गुरु न होनेसे पतिके पास विधिपूर्वक नयन तथा उससे उन्हें उपवस्त्र-की प्राप्ति और उसे यज्ञोपवीत सूत्रकी तरह लपेट लेना ही उसका उपनयन और विवाहसम्बन्धी एवं यज्ञोपयुक्त स्त्री-सम्बन्धी कई विशिष्ट मन्त्रोंका पतिरूप गुरुके आश्रयसे उच्चारण ही उनका वेदारम्भ होता है। स्त्रियोंका स्वतन्त्रतासे न तो उपनयनका विधान है, न वेदारम्भका, गुरुस्थानीय पतिके पास निवास और पतिकी सेवा करना ही उनका गुरुकुलवास होता है, घरके काम-काज करके, गृहपतित्व प्राप्त करके, पतिको घरके कामोंसे निश्चिन्त करके उसके विद्या, पठन-पाठन आदि कर्मोंमें असुविधाओंको हटाना, उसकी यज्ञादि सामग्री जुटाना, समिधाओंका परिमाणानुसार काटना, यज्ञमें पतिके साथ बैठना, अपने घरसे लायी गयी वैवाहिक अग्निको कभी भी बुझने न देना, उसीमें ही बलिकर्म तथा पाकक्रिया निष्पादन—यही पत्नीका अग्निहोत्र-विधान है। जब इस प्रकार पत्नी अनायास ही 'द्विज' हो जाती है, पतिकर्तृक यज्ञादि धर्म-कर्मकी और स्वर्गादिक फलकी इच्छाकी अधिकारिणी हो जाती है तो उसे अन्य क्या चाहिये ? 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ?'

वैसे सोचा जाय तो घरके काम-धंधे, पतिके धर्मकर्ममें विघ्न न आने देना—इत्यादि कार्य भी बहुत कठिन हैं। पतिसे यह सम्भव नहीं। पतिके लिये यह कृत्य उसके धर्म-कर्ममें

जब शास्त्रोंके तथा उनके अर्थकार्यमें पक्का पहुँचानेवाले हैं; तब उनमें सहायता पहुँचानेवाली, उसकी अभिन्नताको प्राप्त हुई पत्नी, भला पतिके धर्म-कर्मके फलमें अधिकारिणी हो भी क्यों नहीं ?

वस्तुतः विचारा जाय तो पति-पत्नी एक-दूसरेके पूरक हैं। जिस कार्यको एक नहीं जानता या नहीं कर सकता, उसको दूसरा पूर्ण करता है। पति यदि विदेशमन्त्री है तो पत्नी स्वदेशमन्त्रिणी है। पति बाहरका स्वामी है तो पत्नी घरकी। पति यदि दाहिनी आँख है तो पत्नी बायीं। पति यदि दाहिनी भुजा है तो पत्नी बायीं। पति यदि दाहिनी जाँघ है तो स्त्री बायीं। पति यदि साइकलका अगला पहिया है तो पत्नी पिछला। पति यदि रथका दाहिना पहिया है तो पत्नी बायाँ। पति यदि द्वारका दाहिना किवाड़ है तो पत्नी बायाँ। इस प्रकार पति-पत्नी एक देहके गौरी-शङ्कर हैं; चतुर्भुज लक्ष्मी-नारायण हैं; सीताराम हैं। अपने-अपने अधिकारमें रहना ही; समय-समयपर एक-दूसरेकी सहायता करना ही व्यवस्था-स्थापन है। पति 'पोषक' होता है, पत्नी 'पोषण' होती है। वही पतिकी संतानकी 'पोषक' भी होती है। फलतः पतिको स्वतन्त्र कुछ भी कार्य नहीं होता। पतिका वैकुण्ठवासी होना या स्वर्गवासी होना—वही पत्नीका सम्पन्न होता है—इससे भिन्न नहीं।

संस्कारोंकी संख्या

'गौतमधर्मसूत्र' में ४० संस्कार कहे गये हैं—'चत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः' (१।८।८)। वे संस्कार ये हैं—१ गर्भाधान; २ पुंसवन; ३ सीमन्तोन्नयन; ४ जातकर्म; ५ नामकरण; ६ अन्नप्राशन; ७ चूडाकर्म; ८ उपनयन; ९–१२ चार वेदोंके व्रत; १३ समावर्तन; १४ विवाह; १५ देवयज्ञ; १६ पितृयज्ञ; १७ अतिथियज्ञ; १८ भूतयज्ञ; १९ ब्रह्मयज्ञ (यह पञ्चमहायज्ञ); २० श्रावणीकर्म; २१ आश्विनीकर्म; २२ आग्रहायणी-कर्म; २३ चैत्रकर्म; २४ अग्न्याधान (श्रौत एवं स्मार्त); २५ नित्याग्निहोत्र; २६ दर्श-पौर्णमासयाग; २७ चातुर्मास्ययाग (वैश्वदेव; वरुणप्रघास; साकमेध; शुनासीरीय); २८ आग्रयणेष्टि (नवशेष्टि); २९ निरूढपशुयाग; ३० सौत्रामणीयाग (यह सात हविर्यज्ञ); ३१ अग्निष्टोम; ३२ अत्यग्निष्टोम; ३३ उक्थ्य; ३४ षोडशी; ३५ वाजपेय; ३६ अतिरात्र; ३७ आप्तोर्याम—(यह सात सोमयज्ञ); ३८ पितृमेध (पिण्डपितृयज्ञ); ३९ अष्टकाश्राद्ध; ४० पार्वणश्राद्ध। (गौतम-धर्मसूत्र १।८।१४–२२, गौतम-स्मृति ८।३)। १ दया, २ क्षान्ति; ३ अनसूया, ४ शौच, ५ अनायास; ६ मङ्गल; ७ अकार्पण्य, ८ अस्पृहा—इन आठ आत्म-गुणोंके साथ गौतमने ४८ संस्कार कहे हैं।

अङ्गिराने ये पचीस संस्कार कहे हैं—१ गर्भाधान; २ पुंसवन; ३ सीमन्त; ४ विष्णुबलि-कर्म; ५ जातकर्म; ६ नामकर्म; ७ निष्क्रमण; ८ अन्नप्राशन; ९ चूडाकर्म; १० उपनयन; ११–१४ चारों वेदोंके वेदारम्भ; १५ स्नान (समावर्तन); १६ विवाह; १७ आग्रयण; १८ अष्टका; १९ श्रावणीपर्व; २० आश्विनीपर्व; २१ मार्गशीर्षीपर्व; २२ पार्वण; २३ उपाकर्म; २४ उत्सर्ग; २५ नित्यमहायज्ञ।

'व्यासस्मृति' (१।१३-१४-१५) में ये १६ संस्कार कहे गये हैं—१ गर्भाधान; २ पुंसवन; ३ सीमन्त; ४ जातकर्म; ५ नामकरण; ६ निष्क्रमण; ७ अन्नप्राशन; ८ वपन (चूडाकर्म); ९ कर्णवेध; १० व्रतादेश (उपनयन); ११ वेदारम्भ; १२ केशान्त; १३ स्नान (समावर्तन); १४ विवाह; १५ विवाहाग्निपरिग्रह; १६ त्रेताग्निसंग्रह। कई विद्वान् यहाँपर 'चिताग्निसंग्रह' पाठ मानते हैं। सनातनधर्मके प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० भीमसेन शर्माजीने १५ वें संस्कारका नाम 'आवसथ्याधान' और १६ वें का नाम 'श्रौताधान' कहकर यही १६ संस्कार अपनी 'षोडश-संस्कारविधि' में निरूपित किये हैं।

श्रीजातूकर्ण्यने ये १६ संस्कार गिनाये हैं—१ आधान; २ पुंसवन; ३ सीमन्त; ४ जातकर्म; ५ नाम; ६ अन्नप्राशन; ७ चौलक; ८ मौञ्जी; ९–१२ चतुर्वेद-व्रत; १३ गोदान (केशान्त); १४ समावर्तन; १५ विवाह; १६ अन्त्य। 'शूद्राणां नैव भवति विवाहश्चान्त्यकर्म च' शूद्रोंके उसने दो संस्कार माने हैं—१ विवाह; २ अन्त्यकर्म। ये १६ संस्कार ब्राह्म कहे जाते हैं; पाकयज्ञ आदि दैव कहे जाते हैं।

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीने अपनी 'संस्कारविधि' में १ गर्भाधान; २ पुंसवन; ३ सीमन्तोन्नयन; ४ जातकर्म; ५ नामकरण; ६ निष्क्रमण; ७ अन्नप्राशन; ८ चूडाकर्म; ९ कर्णवेध; १० उपनयन; ११ वेदारम्भ; १२ समावर्तन; १३ विवाह; १४ गृहाश्रम; १५ वानप्रस्थ; १६ संन्यास; १७ अन्त्येष्टि—ये १७ संस्कार कहे हैं। गृहाश्रमको भी उन्होंने पृ० २७६ में 'संस्कार' कहा है,

अन्त्येष्टिको भी २८८ पृष्ठमें 'शरीरके अन्तका संस्कार' कहा है। उक्त पुस्तककी सूची बनानेवालेने 'अन्त्येष्टि' के साथ 'संस्कार' न लिखकर 'अन्त्येष्टिकर्म' शब्द लिख दिया है। पर स्वामीजीने गर्भाधान प्र० (पृ० ३१) में अन्त्येष्टिपर्यन्त १६ संस्कार माने हैं। अथवा गृहाश्रमको विवाहसे पृथक् संस्कार न गिनना चाहिये।

सनातनधर्मके विख्यात व्याख्याता भारतधर्म-महामण्डलके श्रीस्वामी दयानन्दजीने अपने 'धर्मविज्ञान'में १ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ अन्नप्राशन, ७ चूडाकरण, ८ उपनयन, ९ ब्रह्मव्रत, १० वेदव्रत, ११ समावर्तन, १२ विवाह, १३ अग्न्याधान, १४ दीक्षा, १५ महाव्रत, १६ संन्यास—ये संस्कार कहे हैं।

संस्कारोंकी संख्यामें भेदका कारण

उक्त संस्कारोंमें बहुतसे विद्वान् कर्णवेधको नहीं मानते। उपनयन और वेदारम्भको पृथक्-पृथक् संस्कार गिनते हैं। कई विद्वान् केशान्तको पृथक् न गिनकर उसका समावर्तनमें अन्तर्भाव मानते हैं। वे भी उपनयन तथा वेदारम्भको पृथक्-पृथक् गिनते हैं, विवाह तथा गृहाश्रमको एक संस्कार मानते हैं। कई विद्वान् आवसथ्याधान तथा श्रौताधानको पृथक्-पृथक् संस्कार गिनते हैं। वे वानप्रस्थ तथा संन्यास एवं अन्त्येष्टिको संस्कारोंमें नहीं गिनते।

गौतमस्मृतिमें चालीस संस्कार माने गये हैं—यह पहले दिखलाया जा चुका है, उसमें पहला संस्कार 'गर्भाधान' कहा है, पिण्ड-पितृयज्ञको भी संस्कारोंमें गिना है, वही स्पष्ट अन्तिम 'पितृमेध' है। श्रीजातूकर्ण्यने जिसका प्रमाण म० म० पं० नित्यानन्दजीने अपने 'संस्कारदीपक'में उद्धृत किया है—आदिम संस्कारका नाम 'आधान' तथा अन्तिमका नाम 'अन्त्य' कहा है, स्पष्ट है कि यह 'अन्त्येष्टि' है। 'मनुस्मृति' में 'भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीन् अन्त्यकर्मणि' (५। १६८) यहाँपर 'अन्त्यकर्म' कहा है, स्पष्ट है कि यह 'अन्त्येष्टि' है।

'निषेकादिश्मशानान्तो—'(२ । १६) इस मनुके वचनमें आदिम संस्कार निषेक (गर्भाधान) तथा अन्तिम 'श्मशान' कहा है। इसी श्मशानकृत्यका नाम मनुने ५।६५ पद्यमें 'पितृमेध' कहा है। 'निषेकादीनि कर्माणि' (२। १४२) इस 'मनुवचनमें 'निषेक' आदि कर्मका नाम कहा है। 'निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः।' (२। २६) इस मनुपद्यमें निषेकादिको शरीरका संस्कार कहा है। मनुजीको यहाँ आदि पदसे 'श्मशान' ही इष्ट प्रतीत होता है; क्योंकि—अन्तिम कर्म वे २। १६ पद्यमें वही कह चुके हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यने भी—

> ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
> निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥
>
> (१। २। १०)

यहाँपर आदिम गर्भाधानकी तथा अन्तिम क्रिया श्मशानकी मानी गयी है। तब पितृमेधमें भी शरीरका संस्कार ही फलित हुआ। संस्कृत अग्निसे शरीरके दाहसे उसके आत्माकी परलोकमें सद्गति होती है। इसलिये असंस्कृतोंका पितृमेध न होकर पृथ्वीनिखनन ही होता है; मुसल्मानोंका मरनेपर गाड़ा जाना अथवा हिंदू होते हुए भी मल्कानोंका गाड़ा जाना इसका साक्षी है।

सोलह संस्कार

इम मनुस्मृतिके अभिप्रायको लेकर १ निषेक (गर्भाधान), २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूडाकरण, ९ कर्णवेध, १० उपनयन—वेदारम्भ (ब्रह्मचर्य-व्रत), ११ केशान्त, १२ स्नान-समावर्तन (ब्रह्मचर्यसमाप्ति), १३ विवाह, स्मार्त एवं श्रौत अग्न्याधान, १४ वानप्रस्थ, १५ परिव्रज्या, १६ पितृमेध—ये सोलह संस्कार कहेंगे। इनमें विद्वानोंके मतभेद होनेपर भी इनमें पूर्वोक्त सभी संस्कारोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

'मनुस्मृति' में 'गार्भैर्होमैः' (२। २६–२७) इस वचनसे गर्भसंस्कार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन इष्ट हैं, जो कि सर्वसम्मत हैं। चौथा जातकर्म मनुके (२। २९ पद्यमें), पाँचवाँ नामकरण (२। ३० पद्यमें), छठा-सातवाँ निष्क्रमण तथा अन्नप्राशन (२। ३४ पद्यमें); आठवाँ चूडाकरण (२। ३५ पद्यमें) है। नौवाँ कर्णवेध मनुस्मृतिमें पृथक् न होनेपर भी 'शुभे रौक्मे च कुण्डले' (१४। ३६ पद्य) में स्पष्ट है, सुश्रुत-चरकादिमें भी स्पष्ट है। दसवाँ संस्कार उपनयन (मनु २। ३६–६४ पद्यमें) और ब्रह्मारम्भ (२। ७१–१४०–१७३ पद्यमें), ग्यारहवाँ केशान्त (२। ६५ श्लोकमें), बारहवाँ स्नान (समावर्तन) २। १०८–२४५ श्लोकमें तथा ३। ४ पद्यमें, तेरहवाँ विवाह—गृहाश्रम (३। २, ४। १ पद्यमें), चौदहवाँ वनवास (६। १ पद्यमें), पंद्रहवाँ

परिव्रज्या (मनु ६ । ३३ पद्यमें) कहा है । १६ वाँ पितृमेध मनुजीके मतमें पूर्व दिखाया ही जा चुका है ।

परंतु कई विद्वान् पितृमेधकर्मको तो स्वीकार करते हैं; पर उसे संस्कार नहीं मानते । वस्तुतः यह भी शरीर-संस्कार ही है । उसके संस्कृत होनेसे ही वेदादिमें उसके आत्माकी सद्गति मानी जाती है । वेदमें इस प्रकारके मन्त्र आते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मृतक कच्चा न रह जाय, पूरा जल जाय । ईसाई-मुसल्मान आदिका संस्कारोंमें अधिकार न होनेसे ही उनके शरीरको भूमिमें गाड़ा जाता है, अग्नि-संस्कार उनका नहीं किया जाता । 'नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया' (५ । ६९) इस मनुजीके वचनसे संस्कारानर्ह बालकोंका भी अग्निसंस्कार नहीं किया जाता । इस वचनमें अन्त्येष्टिको भी अग्निसंस्कार कहा गया है; अतः वह भी संस्कारोंमें गिना जाने योग्य है ।

वस्तुतः संस्कारोंका वर्गीकरण किया जाय, तो यह स्पष्ट दीखता है कि मोक्ष-धाममें जानेके लिये ब्रह्मचर्याश्रम, गार्हस्थ्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम—यह चार जंकशन स्टेशन हैं । यह शुक्रमें आनेके दिनसे लेकर आगकी लपटोंमें समा जानेतक जीवनको सुसंस्कृत बनानेवाले हैं । इनमें वीर्यमें जानेसे लेकर जन्मतक १ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म संस्कार हैं । फिर उसी जातके साथ सम्बन्ध रखनेवाले ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूडाकरण, ९ कर्णवेध—यह पाँच संस्कार हैं । फिर ब्रह्मचर्याश्रमके १० उपनयन—वेदारम्भ, ११ केशान्त, १२ समावर्तन—यह तीन संस्कार हैं । कुल बारह संस्कार हुए । मनुजीसे कहे केशान्तको 'वेदारम्भ' कहना ठीक नहीं; अन्यथा वेदारम्भ १६ वें वर्षमें करना पड़ेगा—'केशान्तः षोडशे वर्षे' (मनु० २ । ६५) गोभिलके मतमें भी केशान्त समावर्तन है, वेदारम्भ नहीं । उपनयनके पीछे वर्णित होनेसे 'केशान्त' वेदारम्भ नहीं हो जाता ।

फिर गृहस्थाश्रमका संस्कार १३ विवाह एवं अग्न्याधान है । तब ब्रह्मचर्याश्रम एवं गृहस्थाश्रमके सहचारी वानप्रस्थ आश्रम तथा संन्यास आश्रमका होना भी अनिवार्य है । वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रममें प्रविष्ट होनेके लिये जो विधि अवलम्बित की जाती है, वही इन संस्कारोंकी विधि हो जाती है । अतः मनुस्मृतिकी शैलीसे हमने इन अन्तिम दो आश्रमोंको भी संस्कारोंमें स्थान दिया है । इस प्रकार यह अपने स्वतन्त्र संस्कार हुए । अन्तिमका नाम अन्त्य है—इसीको 'पितृमेध' कहते हैं । मृतक शरीरके लिये वेदादि शास्त्रोंमें 'पितृ' शब्द आता है । इस प्रकार संस्कार चार आश्रमोंमें वर्गीकृत हैं । इन्हींसे मोक्षधामकी प्राप्ति होती है ।

संस्कारोंका संक्षिप्त रहस्य

अब १६ संस्कारोंका संक्षिप्त रहस्य बताया जाता है । यद्यपि सनातन धर्मानुसार संस्कारोंका मुख्य प्रयोजन अदृष्ट- (धर्म) प्राप्ति ही है, हिंदू-धर्मका उद्देश्य भी यही है, पर संस्कारोंके कई दृष्ट प्रयोजन भी विद्वानोंने अनुभूत किये हैं; इससे 'सोना और सुगन्ध' तथा 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' यह न्याय चरितार्थ हो जाते हैं । हम उनके वैज्ञानिक एवं लौकिक रहस्य भी लिखनेकी चेष्टा करते हैं । 'स्मृतिसंग्रह'में विवाहान्त संस्कारोंके निम्नलिखित फल लिखे हैं—

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते ।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम् ॥ १ ॥
गर्भाद् भवेच्च पुंसूतेः पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम् ।
निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः ॥ २ ॥
गर्भाम्बुपातजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति ।
आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा ।
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः ॥ ३ ॥
सूर्यावलोकनादायुरभिवृद्धिर्भवेद् ध्रुवा ।
निष्क्रमादायुषो वृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः ॥ ४ ॥
अन्नाशनान्मातृगर्भे मलाशाद्यपि शुद्ध्यति ।
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूडाकर्मफलं स्मृतम् ॥ ५ ॥
उपनीतेः फलं त्वेतद् द्विजतासिद्धिपूर्विका ।
वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धिर्ऋषिभिरीरिता ॥ ६ ॥
ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः ।
विवाहस्य फलं त्वेतद् व्याख्यातं परमर्षिभिः ।
पत्न्या सहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्गः स्फुटं फलम् ॥ ७ ॥

गर्भाधानसे वीर्यसम्बन्धी तथा गर्भसम्बन्धी पापका नाश होता है । तथा क्षेत्रका संस्कार भी गर्भाधानका फल कहा गया है । पुंसवनसे गर्भमें पुरुष-चिह्न प्रकट होता है । सीमन्तोन्नयनका फल गर्भाधानके फलके समान ही जानना चाहिये । जातकर्मसे गर्भस्रावजन्य सारा दोष नष्ट हो जाता है । आयु एवं तेजकी वृद्धि तथा लौकिक व्यवहारकी सिद्धि—विद्वानोंने नामकरणका यह फल वर्णन किया है ।

सूर्यदर्शनसे निश्चय ही आयुकी वृद्धि होती है। निष्क्रमणसे भी विद्वानोंने आयुवृद्धि बतायी है। अन्नप्राशनसे गर्भमें माताका मल खाने आदिका दोष दूर होता है तथा बल, आयु एवं तेजकी वृद्धि चूडाकर्मका फल कहा गया है। द्विजत्वकी प्राप्तिके साथ-साथ वेदाध्ययनके अधिकारकी प्राप्ति ऋषियोंने उपनयनका फल बताया है। ब्राह्म आदि आठ प्रकारके विवाहोंके फलस्वरूप उत्पन्न हुआ पुत्र पितरोंको तारनेवाला होता है। श्रेष्ठ ऋषियोंने विवाहका यही फल व्यक्त किया है। इसी प्रकार विवाहके द्वारा पत्नीके सहयोगसे अग्निहोत्र आदि बन पाता है और उनका स्पष्ट फल स्वर्गकी प्राप्ति है।

इन मूल वचनोंके आधारपर पाठकोंके समक्ष इनपर विवेचना की जाती है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।'
(यजु० वा० सं० ४० । २)

इस प्रकार वेद कर्मोंकी आवश्यकताका निरूपण करता है। तब हमें इनपर ध्यान देना चाहिये। संस्कारोंका फल मनुजीने इस प्रकार कहा है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
(२ । २६)

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
(२ । २७)

इन वचनोंसे संस्कारोंको पापमार्जन करनेवाले होनेसे इहलोकमें अभ्युदयार्थ और परलोकमें निःश्रेयसार्थ अवश्य करना चाहिये। इनसे जीवन कलापूर्ण हो जाता है। इनके रहस्यका प्रतिपादन करनेके लिये हम प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानोंके तथा अपने विचारोंका यथास्थान उपयोग करेंगे।

(क्रमशः)

कला

(गताङ्कसे आगे)

(लेखक—श्रीशिवशङ्कर अवस्थी शास्त्री, एम्० ए०)

अकारादि अङ्गारकल्प वर्णोंका शास्त्रोंमें कलाके नामसे वर्णन किया गया है। 'अ'से लेकर 'अः'—विसर्गतक १६ स्वर ही मूल सोलह कलाएँ हैं। ऊपर जिस प्राणतत्त्वकी चर्चा की गयी है वह विसर्ग शक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—

विसर्ग एवमुत्कृष्ट आश्यानत्वमुपागतः।
हंसः प्राणो व्यञ्जनं च स्पर्शश्च परिभाष्यते॥
—परात्रिंशिका-टिप्पणी

इस प्रकार उत्कृष्ट विसर्ग 'ह' कलाके रूपमें घनीभूत होकर हंस, प्राण, व्यञ्जन और स्पर्श आदि संज्ञाओंद्वारा अभिहित होता है। इडा, पिङ्गलादि नाडीत्रयवाहिनी, सोम-सूर्याग्निरूपा, अतीत, अनागत तथा वर्तमानरूप कालके प्रकाशन एवं अन्तःसंहरणमें सक्षम शक्ति चक्रजननी परा-

१. अकारादि सोलह कलाएँ ही प्रतिपदासे लेकर अथवा दर्शादि पौर्णमास्यन्त १६ तिथियाँ हैं। कर्मकाण्डमें जो दर्शपौर्णमास है वही उपनिषदोंमें अग्नीषोम है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' में केवल अग्नि और सोम ही नहीं, तदन्तर्गत अन्य १४ तिथीश भी संगृहीत समझना चाहिये—

अग्नौ चाकारकाः स्थितिमन्तः प्राणे त्रुटिषोडशकादिस्थित्या पक्षां त्रुटिं सन्धीकृत्यार्द्धार्द्धभागेन प्रलयोदययोर्बहिरपि पञ्चदश-दिनात्मककालरूपतां तन्वते इति तिथयः कलाश्चोक्ताः। 'परात्रिंशिका-विवरण' (पृष्ठ २००)

१६ तिथीश—

कथमग्नेः समुत्पत्तिरश्विनोर्वा महामुने।
गौर्या गणपतेर्वापि नागानां षण्मुखस्य च॥
आदित्यस्य च मातॄणां दुर्गाया वा दिशां तथा।
धनदस्य च विष्णोश्च धर्मस्य परमेष्ठिनः॥
शम्भोर्वाथ पितॄणां वा तथा चन्द्रमसो मुने।
शरीरदेवता ह्येताः कथं मूर्तत्वमागताः॥
—वाराहपुराण

१ तदेवमेताः कला एव छादनामात्रचित्तवृत्त्यनुभावकाः स्वरा इत्युक्ताः स्वरयन्ति (स्वृ शब्दोपतापनयोः) शब्दयन्ति सूचयन्ति चित्तं स्वं च स्वरूपात्मानं रान्ति एवमिति पर प्रमातरि संक्रामयन्तो ददति, स्वं च आत्मीयं कादि योनिरूपं रान्ति बहिः प्रकाशयन्तो ददति इति स्वराः।
—परात्रिंशिकाविवरण

नन्दात्मिका संवित् शक्ति ही सर्वप्रथम प्राणरूपमें परिणत होती है—

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता ।'

—तत्त्वार्थचिन्तामणि

प्राणियोंके हृदय-देशमें स्वतः उच्चरित अनच्क, अनाहत ध्वनिरूप हकार ही देशिक परम्परामें प्राणरूपसे स्मरण किया जाता है—

हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तो हलाकृतिः ।

—स्वच्छन्द-तन्त्र

इस प्रकार 'ह' कलाके रूपमें घनीभूत, पृथ्वीसे लेकर शक्तितत्त्व पर्यन्त कादि-क्षान्त-वर्णरूप, प्राणमयी विसर्ग-शक्ति ही षोडशी कला है—

स एष परमेश्वरो विसृजति विश्वं तच्च धरादिशक्त्यन्तं कादि क्षान्तरूपम्, इति एतावती विसर्गशक्तिः षोडशी कला इति गीयते ।

—अभिनवगुप्त

अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा ।
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम् ॥
सात्र कुण्डलिनी बीजं प्राणभूता चिदात्मिका ।
तज्जं ध्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः ॥
आ इत्यवर्णादित्यादि यावद्वैसर्गिकी कला ।

—सिद्धामृत

परमेश्वरकी आन्तरिक सृष्टिकी इच्छा, जो कि परा कौलिकीके नामसे कही गयी है, क्षुब्ध होकर विसर्गात्मकताको प्राप्त होती है। वह चिदात्मिका विसर्ग-शक्ति ही कुण्डलिनी, बीज तथा प्राणके नामसे प्रख्यात है। उसीसे ध्रुव—अनुत्तर= अ, इच्छा= इ, उन्मेष= उ यह वर्णत्रयी उत्पन्न होती है और उसी त्रिकसे अर्थात् अनुत्तर— अ से आनन्द—आ, इच्छा— इ से ईशित्री—ई, उन्मेष—उ से ऊनता— ऊ, आदि अपरा वैसर्गिकी कलाका उद्भव होता है।

शास्त्रोंमें विसर्ग–विश्लेषद्वारा सत्रहवीं तथा अठारहवीं कलाका भी निर्देश पाया जाता है।

षोडश्येव च कला विसर्गात्मा विश्लिष्यन्ती, सप्तदशी कला श्रीलाद्यादिशास्त्रेषु निरूपिता ।
सा तु सप्तदशी देवी हकारार्द्धार्द्धरूपिणी ।

—परा० विवरण

कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी ।
परापरस्वस्वरूपबिन्दुगत्या विसर्पिता ॥

—विवरण-टिप्पणी

क्वचित्तु मतादिशास्त्रेषु विसर्गविश्लेषस्यैव अनुत्तरपद-सत्तालम्बनेनाष्टादशी कला इत्यभ्युपगमः ।

—विवरण

विद्युल्लेखाओंके समान तन्वी, सूर्याग्निसोममयी षट्चक्रोंके ऊपर स्थित पद्मोंकी महाटवीमें विराजमान इस षोडशी कलाका ध्यान करके महात्मागण परम आह्लादको प्राप्त करते हैं।[1] यह कला ही पञ्चदशाक्षरी अथवा षोडशाक्षरी विद्याकी प्रत्याहार-स्वरूपा है।

पञ्चदशाक्षरी विद्याका स्वरूप—

१ खण्ड— क ए ई ल
२ ,, ह स क ह ल
३ ,, स क ल ।

उपर्युक्त तीनों खण्डोंमें ह्रल्लेखा अर्थात् 'ह्रीं' जोड़नेसे पञ्चदशाक्षरी मन्त्र बनता है। अन्तमें रमा बीज (श्रीं) लगा देनेसे यही मन्त्र षोडशाक्षरी विद्यामें परिणत हो जाता है। इस विद्याके प्रथम और अन्तिम वर्ण 'क' और 'ल'से कलाका निर्माण होता है। ये सोलह बीज या चान्द्रपक्षकी १५ तिथियाँ तथा सोलहवीं चित्कला ही षोडश चन्द्रकलाएँ हैं। त्रिपुरसुन्दरी तथा अन्य नित्याएँ इनकी अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। चन्द्र, सूर्य और अग्नि क्रमशः उपर्युक्त विद्याके तीनों खण्डोंके स्वामी हैं। इनकी क्रमशः १६, २४ और १० कलाओंसे ५० मातृकाकलाएँ निर्मित होती हैं।

षोडशाक्षरी विद्याके १६ बीज उन १६ चन्द्रकलाओं या तिथियोंकी प्रकृतियाँ हैं जो शुक्ल प्रतिपद्से पूर्णिमा तथा कृष्ण प्रतिपद्से अमावास्यातक शुक्ल और कृष्णपक्षके चान्द्रमाससे प्रारम्भ होती हैं। प्रतिपद् नामवाली प्रथम कला शुक्लपक्षमें सूर्यसे प्रकट होती है और चान्द्रमासके कृष्णपक्षमें इसीमें लीन हो जाती है। इसी प्रकार अन्य कलाओंका भी उदय और अस्त होता है।

कौल-सम्प्रदायके लोग नित्यारूपिणी दैनिक कलाओंका पूजन करते हैं तथा समयमार्गी योगिगण दैनिक कलाओंके

---

१. तटिल्लेखातन्वीं तपनशशिवैश्वानरमयीं
निषण्णां षण्णामप्युपरि कमलानां तव कलाम् ।
महापद्माटव्यां मृदितमलमायेन मनसा
महान्तः पश्यन्तो दधति परमाह्लादलहरीम् ॥

—आनन्दलहरी श्लोक २१.

साथ-साथ सोलहवीं कलाका भी अर्चन करते हैं। उनके यहाँ यह सोलहवीं कला चित्कला या त्रिपुरसुन्दरीके नामसे प्रसिद्ध है। यही सादाख्या और अमा[1] कला भी है। तैत्तिरीय ब्राह्मणके अनुसार तिथियाँ या कलाएँ[2]—दर्शा, दृष्टा, दर्शना, विश्वरूपा, सुदर्शना, अप्यायमाना, प्यायमाना, आप्याया, सूनृता, इरा, आपूर्यमाणा, पूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा, पौर्णमसी, चित्कला।

तिथियोंकी अधिष्ठात्री देवियाँ या नित्याएँ—कामेश्वरी, भगमालिनी, नित्यक्लिन्ना, भेरुण्डा, वह्निवासिनी, महाविद्येश्वरी, शिवदूती, त्वरिता, कुलसुन्दरी, नित्या, नीलपताका, विजया, सर्वमङ्गला, ज्वालामालिनिका, चित्रा, त्रिपुरसुन्दरी।

षोडशमातृका-कलाएँ—

(अ) अमृता, (आ) मानदा, (इ) पूषा, (ई) तुष्टि, (उ) पुष्टि, (ऊ) रति, (ऋ) धृति, (ॠ) शशिनी, (ऌ) चन्द्रिका, (ॡ) कान्ति, (ए) ज्योत्स्ना, (ऐ) श्री, (ओ) प्रीति, (औ) अङ्गदा, (अं) पूर्णा, (अः) पूर्णामृता[3]।

अ से लेकर अः तक सम्पूर्ण १६ चान्द्र कलाएँ हैं। ऋ, ॠ, ऌ और ॡको छोड़ दिया जाय तो सूर्यकी[1] १२ कलाएँ शेष रहती हैं। इनमेंसे विसर्ग और विन्दु भी निकाल दिया जाय तो १० आग्नेय[2] कलाएँ बच जाती हैं—

षण्ढवर्जंमहिमद्युतेः कलाः
सर्गविन्दुरहिताश्च ये शुचेः।
सर्व एव शशिनः कलाः शिवे
योनयो विधृतबीजतत्पराः॥

—चिद्गगनचन्द्रिका, द्वितीय विमर्श ४०

ये ही मूल सोलह कलाएँ या अक्षर[3] हैं जिनसे ४२ अक्षरोंकी[4] भूतलिपि, मातृका और मालिनी[5] लिपि क्रम एवं अन्ततः ६४ कलाओंका निर्माण होता है। यहाँ वर्णोंके विकास-क्रमका अत्यन्त संक्षिप्त निर्देश किया जाता है—

---

१. न याति क्षयोदयविशेषं परिच्छिनत्ति—इति अमा।
अमा षोडशभागेन देवि प्रोक्ता महाकला॥
संस्थिता परमा माया देहिनां देहधारिणी॥
—स्कन्दपुराण, प्रभास-खण्ड

२. ये शुक्लपक्षकी रात्रियोंके नाम हैं। जानकारीके लिये पक्षोंके रात्रि-दिवसोंके नाम दे रहा हूँ।

शुक्लपक्ष-दिवस—

संज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, जानत्, अभिजानत्, संकल्पमान, प्रकल्पमान, उपकल्पमान, उपक्लृप्त, क्लृप्त, श्रेयस्, वसीय, आयत्, सम्भूत, भूत।

कृष्णपक्ष-दिवस—प्रस्तुत, विष्टुत, संस्तुत, कल्याण, विश्वरूप, शुक्र, अमृत, तेजस्वि, तेजस्, समृद्ध, अरुण, भानुमत्, मरीचिमत्, अभितपत, तपस्वत्।

कृष्णपक्ष-रात्रि—

सुता, सुन्वती, प्रसुता, सूयमाना, अभिषूयमाणा, प्रीति, प्रपा, सम्पा, तृप्ति, तर्पयन्ती, कान्ता, काम्या, कामजाता, आयुष्मती, कामदुघा।

३. इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे।
वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्॥
—भवभूति

१. सूर्यकी कलाएँ—

तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, रुचि, सुषुम्णा, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी, क्षमा।

२. अग्निकी कलाएँ—

धूम्रार्चि, ऊष्मा, ज्वलिनी, ज्वालिनी, विस्फुलिङ्गिनी, सुश्री, सुरूपा, कपिला, हव्यवहा, कव्यवहा।

३. यजुर्वेदके नवम अध्यायकी ३१-३४ कण्डिकाओंमें १७ मूलाक्षरोंका संकेत पाया जाता है। यथा—

'अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां·······आदि।'

४. भूतलिपि—

पञ्च ह्रस्वाः सन्धिवर्णाः व्योमाराग्निजलान्तराः।
अन्त्यमाद्यं द्वितीयं च चतुर्थं मध्यमं क्रमात्॥
पञ्चवर्गाक्षराणि स्युर्व्वान्तवेत्वेन्दुभिः सह।
एषा भूतलिपिः प्रोक्ता द्विचत्वारिंशदक्षरैः॥

अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, ह, य, व, र, ल, ङ, क, ख, ग, घ, ञ, च, छ, झ, ज, ण, ट, ठ, ढ, ड, न, त, थ, ध, द, म, प, फ, भ, ब, श, ष, स।

५. मातृका प्रसिद्ध है। मालिनी लिपिक्रम—

न, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग, घ, ङ, इ, अ, व, भ, य, ड, ढ, ठ, झ, ञ, ज, र, ट, प, छ, ल, आ, स, अः, ह, ष, क्ष, म, श, अं, त, ए, ऐ, ओ, औ, द, फ।

शब्दकी तुरीयातीत उन्मनी-अवस्था

१. परा— १. समना
मयूराण्डरसोपमा २. व्यापिनी
३. शक्ति
४. नादान्त
५. नाद
६. निरोधिका
७. अर्द्धचन्द्र
८. विन्दु
९. म्
१०. उ
११. अ—
ॐ—ध्रुव पद, अक्षुब्धमातृका, शब्दब्रह्म, कारणविन्दु ।

२. पश्यन्ती—क्षुब्धा, विश्वरूपिणी, शब्द-ब्रह्म—र व, स्फोट, वटधानिकोपमा कार्यविन्दु ।

३. मध्यमा—बुद्‌ध्युपादाना, क्रमरूपा, नाद । माषशमिकोपमा

४. वैखरी[1]— वर्णजननी, श्रुतिगोचरा, बीज ।

ध्वन्यात्मक स्थूल वर्णकी उत्पत्तिके पूर्व आत्मा अर्थात् चिदाभास निस्तरङ्ग ह्रदके सदृश निस्पन्द रहता है । उच्चारण-की इच्छा होते ही आद्य क्षोभके रूपमें बुद्धि उदित होकर आत्मासे आ मिलती है । क्षोभ बढ़ता जाता है । एक लहरके अनन्तर दूसरी लहरका क्रम चलता है । मन उत्पन्न होता है जो कि अ से लेकर क्ष तक सम्पूर्ण वर्णोंके सूक्ष्म रूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं—मनश्चाक्ष-प्रयोक्तृता । मन, वाणीको व्याकृत रूपमें देखनेके लिये व्याकुल हो उठता है । यह व्याकुलता उदान-रूप कायाग्निपर चोट करती है । इस प्रकार आहत कायाग्नि शिखर नामक मरुत्‌को प्रेरणा देती है । यहीं स्वरके परमाणु[1]का जन्म होता है । आगेका क्रम निम्नलिखित है—

१. परमाणु
२. अणु
३. अर्द्धमात्रा
४. मात्रा
५. वर्ण

अवर्णरूप अनुत्तर प्रथम कलासे लेकर क्षकारात्मक कूट बीजके विकास तथा विस्तृत वर्णनके लिये यहाँ अवकाश नहीं है । केवल आदि क्षान्त कलाओंका नाम निर्देश किया जाता है—

१ निवृत्ति	९ परा	१७ सृष्टि
२ प्रतिष्ठा	१० सूक्ष्मा	१८ ऋद्धि
३ विद्या	११ सूक्ष्मामृता	१९ स्मृति
४ शान्ति	१२ ज्ञानामृता	२० मेधा
५ इन्धिका	१३ आप्यायिनी	२१ कान्ति
६ दीपिका	१४ व्यापिनी	२२ लक्ष्मी
७ रेचिका	१५ व्योमरूपा	२३ द्युति
८ मोचिका	१६ अनन्ता	२४ स्थिरा

१. वै निश्चयेन खं कर्णविवरं राति गच्छतीति व्युत्पत्तिः सौभाग्यसुधोदये कथिता—(सौभाग्यभास्कर, पृष्ठ. १००)

२. आकाशस्य यथा भेदस्त्रिविधो दृश्यते महान् ।
जलाशये महाकाशस्तदवच्छिन्न एव हि ॥
प्रतिबिम्बाख्यमपरं दृश्यते त्रिविधं नभः ।
बुद्‌ध्यवच्छिन्नचैतन्यमेकं पूर्णमथापरम् ।
आभासस्त्वपरं विम्बभूतमेवं त्रिधा चितिः ॥
—अध्यात्मरामायण, बालकाण्ड, सर्ग १

अर्थात् जलाशयमें आकाशके तीन भेद दिखायी देते हैं—एक, महाकाश, दूसरा जलावच्छिन्न आकाश और तीसरा प्रतिबिम्बाकाश । जैसे आकाशके ये तीन भेद हैं, उसी प्रकार चेतन भी तीन प्रकारका है—एक तो बुद्‌ध्यवच्छिन्न चेतन (बुद्धिमें व्याप्त) दूसरा जो सर्वत्र परिपूर्ण है और तीसरा जो बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होता है—जिसे चिदाभास कहते हैं ।

१. 'ध्वनीनां चाणुत्वाणुतरत्वाणुतमत्वादिकं गुरूपदेशादधिगन्तव्यम् ।' 'तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः'—इस महिम्न-श्लोककी मधुसूदनी टीका देखिये ।

(१) अमात्रस्वरो ह्रस्वः । सूत्र ५५
अकारमात्रस्वरः इत्यर्थः—भाष्य
(२) मात्रा च । सूत्र ५६
ह्रस्वो मात्रेति पर्यायौ—उव्वटाचार्य
(३) व्यञ्जनमर्द्धमात्रा । सूत्र ५९
(४) तदर्द्धमणु । सूत्र ६०
(५) परमाण्वर्द्धाणुमात्रा । सूत्र ६१
—शुक्लयजुःप्रातिशाख्य अ० ८

२५ स्थिति	३३ वरदा	४१ तन्द्रा
२६ सिद्धि	३४ ह्लादिनी	४२ क्षुधा
२७ जरा	३५ प्रीति	४३ क्रोधिनी
२८ पालिनी	३६ दीर्घा	४४ क्रिया
२९ क्षान्ति	३७ तीक्ष्णा	४५ उत्कारी
३० ऐश्वर्या	३८ रौद्री	४६ मृत्युरूपा
३१ रति	३९ अमया	४७ पीता
३२ कामिका	४० निद्रा	४८ श्वेता

४९ असिता ५० अनन्ता

बीज और योनि-भेदसे द्विधा भिन्न उपर्युक्त शैव तथा शाक्त कलाएँ ८ वर्गोंमें विभक्त होती हैं। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और महालक्ष्मी—ये अष्ट-लोक-माताएँ कादि वर्गोंकी अधिष्ठात्री शक्तियाँ हैं। ये पाशस्वरूपा हैं। ऐश्वर्यको संकुचित करके जीवत्वकी रक्षा करती हैं; इनसे बँधा हुआ जीव पशु कहलाता है—

कवर्गादिषु माहेश्वर्यादिषु पशुमातरः।

—शिवसूत्र १९, तृतीय उन्मेष

काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य, पैशुन्य, असूया—इस अष्टवर्गके रूपमें उपर्युक्त शक्तियाँ या कलाएँ पुरुषके वैभवको विलुप्त करके उसे स्वरूपसे च्युत कर देती हैं—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥४५॥
परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ॥४६॥
स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥४७॥
सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥४८॥

—स्पन्दकारिका

पुराणोंमें सतीके शवसे विभिन्न पीठोंकी रचनाकी कथा प्रसिद्ध है। आश्चर्य है कि शरीरके जिन अङ्गोंमें मातृका-कलाओंका न्यास किया जाता है, उन्हींसे ५२ कलाओंके प्रतीकस्वरूप ५१ या ५२ शक्तिपीठोंका निर्माण हुआ है। ये कलाएँ शरीरके तत्तत् अङ्गोंमें स्थित होकर पीठेश्वरीके नामसे कही जाती हैं। इस प्रकार एक ही चित्कला इस आश्चर्यमय जगत्में अत्यन्त वैषम्यमयी अनन्त कलाओंके रूपमें विलास कर रही है। महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तने इस विश्ववैचित्र्यको लक्ष्य करके कहा है—

लोभस्तु वैष्णवी प्रोक्ता ब्रह्माणी मद एव च।
मोहः स्वयं तु कौमारी मात्सर्यं चैन्द्रजां विदुः ॥
यामी दण्डधरा देवी पैशुन्यं स्वयमेव च।
असूया च वराहाख्या इत्येताः परिकीर्तिताः ॥

—वाराहपुराण

---

१. सर जान उडरफने 'गारलैण्ड आफ लेटर्स' नामक ग्रन्थके तत्त्व नामक परिच्छेदके अन्तर्गत ९८ पृष्ठमें 'सौभाग्यरत्नाकर'से इन्हीं कलाओंको उद्धृत किया है। वहाँ उन्होंने 'जरा'के स्थानपर 'जटा' 'क्षान्ति'के स्थानपर 'शान्ति' तथा 'अमया'के स्थानपर भयाका उल्लेख किया है। शुद्ध पाठ कौन-सा है, यह गवेषणीय है।

मेरे द्वारा उद्धृत पाठका मूल—

(ट) जरा मुकुन्दः सोमेशो.........। २९ मातृका-निघण्टु
,, जरा भूमिः पुनर्भवः.........। तन्त्राभिधान
(ट) नन्दी क्षान्तिर्वारकेश्च.........। ३१ मातृ० नि०
,, क्षान्तिर्नन्दी दारुकेशो.........। वर्णनिघण्टु
(ब) पृष्ठवंशोऽमया माता.........। प्रकारान्तर मन्त्राभिधान
,, भूधरश्चामया पृष्ठम्.........। मातृ० नि०

कामः क्रोधस्तथा लोभो मदो मोहोऽथ पञ्चमः।
मात्सर्यं षष्ठमित्याहुः पैशुन्यं सप्तमं तथा ॥
असूया चाष्टमी ज्ञेया इत्येता अष्ट मातरः।
कामं योगेश्वरीं विद्धि क्रोधं माहेश्वरीं तथा ॥

१. शब्दराशिः अकारादिक्षकारान्तः, तत्समुद्भूतस्य कादिवर्गात्मकस्य ब्राह्मादिशक्तिसमूहस्य भोग्यतां गतः पुरुषो ब्राह्म्यादीनां च कलाभिः ककाराद्यक्षरैः विलुप्तविभवः स्वस्वभावात् प्रच्यावितः पशुरुच्यते ॥ १ ॥

परामृतरसात् स्वरूपाद् अपायः प्रच्युतिः तस्य यः प्रत्ययोद्भवो विषयदर्शनसरणोदयो मतः, तेन पुरुषो अस्वतन्त्रतां असवर्गत्वं च प्राप्नोति स च प्रत्ययः तन्मात्रगोचरो रूपाद्यभिलापात्मकः ॥ २ ॥

स्वरूपस्य स्वभावस्याच्छादने चास्य पुरुषस्य शक्तयो ब्राह्म्याद्याः पूर्वमुक्ता याः। ताः सततं उद्युक्ताः यतः शब्दरहितस्य प्रत्ययस्य ज्ञानस्य नास्त्येव कस्यचिदुद्भवः ॥ ३ ॥

सा चेयं क्रियास्वभावा भगवतः पशुवर्तिनी शक्तिः। यदुक्तम्—

न सा जीवकला काचित् संतानद्वयवर्तिनी।
व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते ॥

सैव च बन्धकारणम् अज्ञाता, ज्ञाता सा च पुनः परापरसिद्धिप्रदा भवति पुंसाम् ॥ ४ ॥ —श्रीकल्लटाचार्य

जलात् स्फूर्जज्ज्वालाजटिलवडवावह्निनिवहः
सुधाधाम्नः पूर्णाद् भयसदनदम्भोलिदलना ।
विकल्पादैश्वर्यप्रसरसरणेः संसृतिदरः
कियच्चित्रं ,चित्रं हत विधिविकासात्प्रसरति ॥

'अहो ! विधिके विकाससे प्रसारित यह संसाररूपी महाप्रपञ्च कितना विलक्षण एवं विस्मयजनक है । कहाँ तो शीतल जल और कहाँ उससे उत्पन्न फुफकारती हुई ज्वालाओंसे जटिल बाड़व वह्निकी महान् राशि, कहाँ तो अमृतका आगार पूर्णचन्द्र और कहाँ उससे उत्पन्न भयङ्कर वज्रकी क्रूर लीला । किसे विश्वास होगा कि यह संसाररूपी महान् भय वस्तुशून्य शब्दमात्रानुपाती मनोराज्यकी कल्पनामात्र है ।

आधुनिक विश्व-साहित्यमें कलाके स्वरूप और उद्देश्यके सम्बन्धमें विशेष चर्चा पायी जाती है । यहाँ इस सम्बन्धमें भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है । यद्यपि कलामें स्वगत कौतूहल या चमत्कारकी प्रवृत्तिको सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता तथापि यही प्रवृत्ति कलाका उद्देश्य भी है यह धारणा अत्यन्त भ्रामक है । जो लोग, निरे कुतूहलको कलाके मत्थे मढ़कर उसके स्थानको गौण करना चाहते हैं वे उसके महान् ऐश्वर्यसे अपरिचित हैं । स्वेच्छासे नहीं; विवश होकर कलाने कुतूहली प्रवृत्तिका आश्रय लिया है । मानवके मटमैले बहिर्मुखी मनका उद्धार करनेके लिये अम्बरसे अवनीपर कला जब पहले-पहल उतरी तो उसे तदनुरूप रूपका आश्रय लेनेके लिये बाध्य होना पड़ा । मनुष्यके मनको सजातीय अवलम्ब मिला । क्रमशः मलिनताको छोड़कर परिष्कृत, शुद्धसत्त्व मानव-मन रस[1]-प्रतिष्ठ हो सका, यह किसीसे छिपा नहीं है । किंतु कलाको विनिमयमें ऐन्द्र-जालिककी कौतुकमयी चमत्कारिणी मायाकी उपाधिका उपहास मिला और इस उपहासको मूक[2]भावसे शिरोधार्य करके वह अपने कर्तव्य और उद्देश्यके प्रति सतत सजग और सचेष्ट है ।

रस-पर्यवसायी कवि-कर्म और रसोद्दिष्ट कलनामें कोई अत्यन्त विजातीय पार्थक्य हो ऐसी बात नहीं है । रस और कलनाके गौण मुख्य भावको लेकर काव्य और कलामें नगण्य भेद भले हो । 'कलितो रसः काव्यम् ।' सौन्दर्यमय, सुगठित, मधुर शब्दारूढ अंशतः अभिव्यक्त रसको काव्य कहा जा सकता है । यहाँ रसकी प्रधानता है ।

'रसोद्दिष्टा कलना कला ।'

अर्थात् रसोद्दिष्ट, सौन्दर्यमय, सुगठित, मधुर शब्दारूढ आंशिक अभिव्यक्ति ही कला है । यहाँ अभिव्यक्ति मुख्य है । कलित या कलनासे यदि शब्दध्वनि दूर की जा सके तो कलाको विश्वव्यापी प्राकृत पदार्थोंमें भी मूर्त देखा जा सकता है और इसमें कोई बाधा भी नहीं है । कलाको अपनी लघुताके आदर्शमें अनन्तताको प्रतिबिम्बित करना पड़ता है और यह सब विन्दुमें सागरकी अपरिसीमताको आबद्ध करने-जैसी बात है । रसराजका सम्पूर्ण सुप्त सौन्दर्य कलाकी परिच्छिन्नतामें करवट लेता है । लगता है जैसे रस किसी एकान्त प्रेमी कृतिका महान् अज्ञात कार्य है और कला उसकी कीर्ति जो नाना रूपोंमें विश्वके प्रत्येक अञ्चलमें फैली हुई देखी जा सकती है । अचिरस्थायी कलाकी चञ्चलतामें सतत धूमायमान अग्निका अपरूप नहीं, क्षण-प्रभ तृणाग्निका ज्वलन्त सौन्दर्य विद्यमान रहता है । उषाकी अरुण आभा अठखेलियाँ करता हुआ पद्म और पाटल, गगनाङ्गनाओंके ग्रीवासे टूटकर गिरी हुई मरकत मणियोंकी मालाके सदृश धरतीपर फैला हुआ दूर्वाङ्कुरोंका हरित जाल, सहकार-मञ्जरीके मादक गन्धसे उन्मत्त कोकिलका कल-कूजन, आकाशमें निर्बन्ध अवलम्बित अमृत-फलसे झरती हुई मधु-चन्द्रिका, किसी कुशल शिल्पीकी लौह-लेखनीके संकेतद्वारा कठोर शिलाखण्डके अन्तरालसे अभिव्यक्त प्रस्तर-कुमारी, मर्मस्पर्शी ललित आलेख्य, चित्तद्रुतिकारिका शब्दार्थमयी काव्यकृति और शब्दमात्र-सहचारी मधुर रागकी प्रत्यक्ष भङ्गुरतापर मनुष्य अपनी आँखोंका सर्वस्व क्षार जल उँड़ेलने लगता है, जब कि उसे तन्वी सौन्दर्य एवं माधुर्यमयी कमनीय कला-मूर्तिके मिट-मिटकर जीवित होनेके उद्देश्यमय रहस्यका भेद न कर पानेपर अपने प्रति ही सकरुण होना चाहिये ।

कलाके मिट-मिटकर पुनरुज्जीवित होनेवाली पवित्र साधनाकी चरम परिणति इस बातमें नहीं है कि वह सहृदयकी रागात्मक मनोवृत्तिको अपने ससीम सौन्दर्यके छायालोकमय सुमधुर इन्द्रजालमें फाँसकर कहाँतक अभिरमण कराती है, किंतु इस बातमें है कि वह अपनी अस्थिर सुषुमाकी कणिकाके सम्मोहन-मन्त्रद्वारा मनको शाश्वत सौन्दर्यके महासागरकी सम्भाव्य सत्ताके प्रति अधिक-अधिक विश्वस्त करके अतीन्द्रिय

---

१. रसो वै सः ।
२. शक्तो मूकोऽपि यत्कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम् ।

एवं बुद्धिग्राह्य चिर-आनन्दकी ओर कितना उन्मुख कर सकती है।

कलाके इस पवित्र कार्य-कौशलके प्रति जो कवि-कर्म-निष्ठावान् है वह धन्य है। जनताके जीवनमें फैली हुई निराशा और दैन्यके निविड़ अन्धकारमें; जन-क्रान्तिके कोलाहलमय निष्ठुर वातावरणमें श्रेष्ठ कला, कृती कविको कभी भी धोखा नहीं दे सकती। जो कला सत्, चित् तथा आनन्दमयी महासत्ताके प्रति जन-जीवनको जागरूक नहीं करती; वह कला नहीं कलाबाजी है। जो लोग कलाके मोहक सौन्दर्यमें पलायनकी प्रवृत्तिके अन्वेषणको प्रोत्साहन देते हैं हम उनकी प्रशंसा नहीं कर सकते।

कलाके सम्पर्कमें आकर मूढ मनकी कठोर भूमिको प्रतिमाकी उर्वरताका अनुपम वरदान मिलता है। जहाँ कल्पनाके सुकुमार एवं वज्रोपम शत-सहस्र अङ्कुर फूट-फूटकर अतलस्पर्शी सिन्धुकी अगाधताको मापनेके लिये फैलते हुए दिखायी देते हैं; रवि-शशिके कर्णाभूषणोंसे प्रदीप्त, अगणित कुन्दकलियोंकी मालासे मण्डित; नील, घन केशराशिवाले उद्ग्रीव अम्बरको भी छत्रच्छाया प्रदान करना चाहते हैं।

संक्षेपमें संसारके विविध वैचित्र्यपूर्ण नद-नदी, वन-उपवन, लता-तरु, पल्लव-पुष्प, मधु-मकरन्द, शुक-पिक, शैल-शिलोच्चय, चन्दन-चाँदनी, साहित्य-सङ्गीत, मानवादि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके आकर्षक एवं कौतूहल-जनक असंख्य रूपोंमें; अनन्त ऐश्वर्यमय परमेश्वरकी अतर्क्य महिमाको खण्डशः अभिव्यक्त करनेके महान् उद्देश्यकी साधनामें निरत कौशलवती क्रियाशक्तिके रूपमें कलाका दर्शन किया जा सकता है। वह चिर-पुरातनी और नित्य नवीना है। वह पुराणी युवती है। अणीयसी कला अपनी महिमामें इतनी विराट् और शक्तिमती है कि कालकी कोई भी कला उसके कमनीय क्रिया-कौशलको अपनी परिधिमें कभी भी आबद्ध कर सकेगी, इसमें संदेह है।

मनोविवेक और उपाय

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

श्रीवाल्मीकि आदि महर्षियोंकी भाँति श्रीगोस्वामीजीने भगवदुपासना करके तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है; यथा—

राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप,
तुलसी सो जग मानियत महामुनी सों ॥
(कवित्त० उत्तर ७२)

इसीसे आपके वचन शास्त्रानुकूल, असंदिग्ध एवं समीके हृदयग्राही होते हैं। आपने मनोविवेक और उसके शोधनपर एक पद्य कहा है, उन्हींके भावोंको मैं पाठकोंके समक्ष रखना चाहता हूँ; यथा—

जौ निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा ॥ १ ॥
सत्रु, मित्र, मध्यस्थ, तीनि ये, मन कीन्हें बरिआई।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय, अहि, हाटक, तृन की नाईं ॥ २ ॥
असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध-बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ॥ ३ ॥
बिटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाए ॥ ४ ॥
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥ ५ ॥
(विनय-पत्रिका १२४)

अर्थ—जो अपना मन विकारोंको छोड़ दे तो फिर द्वैत-भावसे होनेवाले सांसारिक दुःख, आशङ्काएँ और अपार शोक कहाँ (रह जायँ)? ॥ १ ॥ (जगत्‌में) शत्रु, मित्र और उदासीन—इन तीनों भावोंकी कल्पनाएँ मनने ही हठात् कर ली हैं; इसीसे शत्रुको सर्पके समान (अप्रिय मानकर) त्यागनेका, मित्रको सोनेके समान (प्रिय मानकर) ग्रहण करने-का और उदासीनके प्रति तृणके समान उपेक्षा करनेका बर्त्ताव किया जाता है ॥ २ ॥ जैसे (बहुमूल्य) मणिमें भोजनकी सामग्री, वस्त्र, हाथी-घोड़े एवं गौ-बैल आदि पशु और भाँति-भाँतिके पदार्थ सब रहते हैं, वैसे ही स्वर्ग-नरक तथा चर-अचर एवं बहुत-से लोक इस मनमें निवास करते हैं ॥ ३ ॥ जैसे (बनानेके पहले) वृक्षमें कठपुतलियाँ और सूत्रमें चोली आदि वस्त्र बिना बनाये ही रहते हैं (अन्यथा अन्य पदार्थोंसे पुतलियाँ और चोली आदि क्यों नहीं बनाये जाते ?); वैसे ही मनमें भाँति-भाँतिके शरीर लीन (अव्यक्त

भावसे निहित) रहते हैं और समय पा-पाकर प्रकट हुआ करते हैं ॥ ४ ॥ श्रीरघुनाथजीकी भक्तिरूपी जलसे धोये हुए चित्तमें यह सब अनायास ही देख पड़ता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि चित्स्वरूप ईश्वरका क्रीड़ारूप जगत् समझते-समझते समझ पड़ता है ॥ ५ ॥

विशेष—'निज मन'—मन जीवकी निजकी (स्वकीय) वस्तु है। अतः इसे अपने हाथ (वश) में रखना चाहिये। यह मन दसों इन्द्रियोंका नियामक ग्यारहवीं इन्द्रिय है; यथा—

"एकादशेन्द्रियाण्याहु.........एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।"

(मनु० २ । ८९-९२)

अर्थात् इन्द्रियाँ ग्यारह कही गयी हैं.........ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है, वह अपने गुणसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दोनोंका नियामक है।

मनको अन्तःकरण भी कहा गया है; यथा—

'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि'

(अथर्ववेद १९ । ९ । ५)

इन मन आदि इन्द्रियोंका अणुस्वरूप भी माना जाता है; क्योंकि जीवात्माके साथ इनका अन्य शरीरोंमें जाना कहा गया है; यथा—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

(गीता १५ । ८)

इसमें 'एतानि' इस पदमें इसके उद्धृत 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इस वाक्यखण्डका अर्थ है।

'विकाराः'—इस मनके भाँति-भाँतिके परिणामरूप दोष; यथा—

वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च ।
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ॥
तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते ।
तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते ॥
तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् ।
मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः ॥

(विष्णुपुराण २ । ६ । ४५—४७)

अर्थात् जब एक ही वस्तु सुख और दुःख तथा ईर्ष्या और कोपका कारण हो जाती है, तब उसमें वस्तुता (नियत स्वभाव) कहाँ है ? क्योंकि एक ही वस्तु कभी प्रीतिका कारण होकर फिर वही दुःखका कारण भी होती है और फिर वही कभी क्रोधका कारण एवं फिर कभी प्रसन्नताका हेतु भी हो जाती है। अतः पदार्थ कोई भी दुःखमय नहीं है और न कोई सुखमय ही है; ये सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वभाष्य) तो मनके ही परिणाम (विकार) हैं; तथा—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

(विष्णुपुराण ६ । ७ । २८)

अर्थात् मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण केवल मन ही है, विषय-सङ्ग करनेसे यह बन्धनकारी होता है और विषय-रहित होनेसे मोक्षकारी हो जाता है।

इस मनके विकारसे होनेवाले अनर्थोंका आगे ग्रन्थकार वर्णन करते हैं—

'तौ कहाँ द्वइत-जनित'.....'—मनके ही दोषसे एक ईश्वरके शरीररूप जगत्में नानात्व दृष्टि होकर द्वैत भावना एवं भेद-बुद्धि होती है, इसीसे संसारमें जन्म-मरणके दुःख, आशङ्काएँ और अपार शोक होते हैं।

द्वैत-भावनाके उदाहरण—

(क) तैं जनक, जननि, गुरु, बंधु,
सुहृद, पति सब प्रकार हितकारी ।
द्वइत रूप तमकूप परउँ
नहिं से कछु जतन बिचारी ॥

(विनय-पत्रिका ११३)

अर्थात् हे प्रभो ! आप ही मेरे पिता, माता, गुरु, भाई, मित्र और स्वामी आदि सम्बन्धियोंके रूपोंसे सब प्रकारके हित करनेवाले हैं, वही कुछ उपाय विचारें जिससे मैं अब द्वैतभावरूप अन्धकारमय कुएँमें न पड़ूँ।

भाव यह कि इन पिता आदि सभी (चर-जगत्) के द्वारा प्रेरणा करके एक आप ही मेरे सब प्रकारके हित करने-वाले हैं; चर जगत् सभी आपका शरीर एवं नियाम्य है, इस एकत्वके विरुद्ध (नानात्व दृष्टिसे) द्वैतभावरूप अज्ञानान्धकार-पूर्ण भवकूपमें न पड़ूँ, विचारकर ऐसी कृपा करें। इसी विवेककी पुष्टि इन वचनोंसे होती है यथा—

'पितु, मातु, गुरु, स्वामी, अपनपौ, तिय, तनय, सेवक, सखा ।
प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनु हेतु हित तैं नहिं लखा ॥
दूरि न सो हितू हेरि हिये ही है ।'

(विनय-पत्रिका १३५)

'पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः ।'
(गीता ९ । १७)

एक श्रीरामजी ही प्रत्येक जीवके कर्मानुसार उनके जनक आदि रूपोंमें हित करनेवाले हैं, इस विवेकके विरुद्ध प्रत्येक व्यक्तिको पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र हित करनेवाला एवं इसी प्रकार अनेकों अहित करनेवालोंको स्वतन्त्र अहित-कर्त्ता मानना द्वैत-भावना है। इस अज्ञानसे हितैषीमें राग और द्वेषीमें द्वेष होता है और फिर इसी नानात्व-दृष्टिसे काम-क्रोधरत हो जीव तमकूपमें पड़ता है; यथा—

'सीदत तुलसिदास निसिबासर परयो भीम तम-कूप ।'
(विनय-पत्रिका १४४)

काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुख रूप ।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप ॥
(श्रीरामचरितमानस उत्तर० ७३)

(ख) इस व्यापकताकी एकताको न समझनेपर 'मैं, मोर, तैं, तोर' भावरूप अविद्या माया एवं भेद-बुद्धि होती है। यथा—

'अहं ममेत्यविद्येयं व्यवहारस्तथानयोः ।'
(विष्णुपुराण ६ । ७ । १००)

अर्थात् मैं और मेरा—ऐसी बुद्धि और इनके व्यवहार (तैं, तेरा) अविद्या हैं।

विषममतिर्न यत्र नृणां त्वम-
हमिति मम तवेति च यदन्यत्र।
विषमधिया रचितो यः स
ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १६ । ४१)

अर्थात् उस भागवतधर्ममें अन्य सकाम धर्मोंके समान मनुष्योंकी 'मैं, तू, मेरा, तेरा' ऐसी भेदबुद्धि नहीं होती। भेदबुद्धिसे किया हुआ धर्म अशुद्ध, नाशवान् और अधर्म-बहुल होता है। यही भाव श्रीमद्भागवत ६ । २ । ३८ तथा विष्णुपुराण ६ । ७ । १०-२५ में भी समझाया गया है।

(ग) श्रीगोस्वामीजीने इस भेद-बुद्धिको अन्यत्र भी कहा है—

'गई न निज पर बुद्धि······' (विनय-पत्रिका २०१)
'हरहु भेद मति······' (,, ,, ७)
'जाति छूटै भव भेद ज्ञान······' (,, ,, ६४)
'विगत अति स्वपर मति······' (,, ,, ५७)

'मति मोरि विभेद करी हरिये'···' (रामचरितमानस लंका० १०९) इत्यादि ।

मनके द्वारा द्वैतभाव होनेकी वृत्ति आगे श्रीगोस्वामीजी स्वयं कहते हैं—

'सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये······'

जगत् श्रीरामजीका शरीर है। अतः श्रीरामजी ही चराचरके द्वारा प्रत्येक जीवके कर्मानुसार विविध संयोग कर उचित ही बर्ताव कर रहे हैं। अतः हित और अहित करनेवाले उनकी ही प्रेरणासे करते हैं। सब यन्त्रवत् नियाम्य हैं, इससे न कोई मित्र है और न शत्रु है। शत्रु-मित्र आदि भावोंकी कल्पनाएँ अविद्यात्मक नानात्व-दृष्टिसे हठात् मनने ही कर रक्खी है, उसीसे ये त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षणीय भाव बन गये हैं।

'त्यागब ग्रहब उपेच्छनीय······'

इसका अर्थ यथासंख्यालङ्कारकी रीतिसे इस प्रकार है—

१—सत्रु, मित्र, मध्यस्थ
२—त्यागब, ग्रहब, उपेछनीय
३—अहि, हाटक, तृन

तृण आवश्यकतापर ग्रहण कर लिया जाता है; अन्यथा उसपर दृष्टि नहीं रक्खी जाती। ऐसा ही उपेक्षणीय भाव होता है।

द्वैतभावसे संसृति-दुःख होनेकी व्यवस्था आगे कहते हैं—

असन, बसन, पसु, बस्तु······'

अणुस्वरूप मनमें ये 'असन-बसन' आदि कैसे रहते हैं? इसपर मणिके दृष्टान्तसे समझाते हैं कि जैसे बहुमूल्य छोटी-सी मणि बेचकर उससे प्राप्त मूल्यसे 'असन-बसन' आदि प्राप्त किये जाते हैं, वैसे ही अणुस्वरूप मनके द्वारा सकाम कर्म कर इसे संसारके हाथ बेच देनेपर इससे स्वर्ग-नरक आदि बहुत-से लोक वासनानुसार प्राप्त किये जा सकते हैं। जैसे मणिवालेकी बिकी हुई मणि उसके हाथसे चली जाती है, वैसे यह बिका हुआ मन भी संसारका ही होकर रहता है। यथा—

'उदर भर्यो किंकर कहाइ, बेंच्यो विषयनि हाथ हियो है ।'
(विनय-पत्रिका १७१)

संसारासक्त मन जीवको नाना योनियोंका संसृति-दुःख दिया करता है।

यदि इस मनको अपने हाथमें रखकर जीव इसका धनी

बना रहे तो यह इस धनसे परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है, मन ऐसा अमूल्य रत्न है। यथा—

विषयेभ्यः समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुनिः।
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूतं परेश्वरम्॥
आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्मध्यायिनं मुनिम्।
विकार्यमात्मनः शक्त्या लोहमाकर्षको यथा॥
(विष्णुपुराण ६।७।२९-३०)

अर्थात् विज्ञानसम्पन्न मुनि अपने मनको विषयोंसे हटाकर उससे मोक्ष-प्राप्तिके लिये ब्रह्मस्वरूप परमात्माका चिन्तन करे। जिस प्रकार अयस्कान्तमणि अपनी शक्तिसे लोहेको खींचकर अपनेमें संयुक्त कर लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म-चिन्तन करनेवाले मुनिको परमात्मा स्वभावसे ही आत्मभावको प्राप्त करा देता है।

एक मनके द्वारा नाना शरीरोंकी प्राप्ति कैसे होती है? यह आगे कहते हैं—

'बिटप मध्य पुत्रिका, सूत्र महँ कंचुकि......,'

जैसे एक ही वृक्षको काटकर उससे बढ़ई अनेकों कठपुतलियाँ बनाता है, वे पुतलियाँ मानो पहलेसे उस वृक्षमें लीन थीं, बढ़ईके कर्मद्वारा प्रकट हुई हैं; वैसे ही जीवके अनेक जन्मोंके संचित कर्मानुसार अनेकों शरीरोंके संस्कार मनमें लीन रहते हैं। कालरूपी बढ़ईके द्वारा अवसर पाकर प्रकट होते रहते हैं।

सूत्रसे ही कपड़े बनते हैं। अतः वे कपड़े सूत्रमें मानो पहलेसे ही लीन थे; अन्यथा अन्य वस्तुसे क्यों नहीं बन जाते। ऐसे ही सत्त्वादि गुण सूत्र हैं (गुणका अर्थ सूत्र भी होता है), उनके संस्कार मनमें लीन रहते हैं, कालरूपी जोलाहेके द्वारा अवसरपर उससे नाना प्रकारके शरीर प्रकट होते रहते हैं; यथा—

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।'
(गीता १३।२१)

अर्थात् गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके भली-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है; तथा—

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥
(श्रीमद्भा० १२।५।६)

अर्थात् यह मन आत्माके देहों, गुणों और कर्मोंकी सृष्टि करता है और वही मन माया (मैं, मोर आदि) की रचना भी करता है, उसीसे जीवका जन्म-मरण होता है।

तात्पर्य यह कि द्वैत-भाववाला मन काल, कर्म और गुणके साथ नाना शरीरोंकी सृष्टि करता रहता है; यथा—

'तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥'
(श्रीरामचरितमानस उत्तर० १२)

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गीता ८।६)

अर्थात् (यह जीव काल, कर्म और गुण-संस्कार-विशिष्ट मनके द्वारा) अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह सदा (पूर्वसे ही) उस भावसे भावित हुआ उस-उस भावको ही प्राप्त होता है।

इस रीतिसे इस अणु-स्वरूप एक मनमें ही नाना शरीर लीन रहते हैं। आगे इस मनकी शुद्धिका उपाय कहते हैं—

'रघुपति-भगति-बारि-छालित चित'—

यहाँ उसी मनको चित्त कहा गया है; यथा—

'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः।'
(अमरकोष)

मैल धोया जाता है, यहाँ मोह ही मैल है और यह श्रीरामभक्तिसे छूटता भी है; यथा—

मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
....
राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥'
(विनय-पत्रिका ८२)

मोह देहाभिमानको कहते हैं। देह स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन होती हैं। इन तीनोंके अभिमान-रूप मैल क्रमशः नवधा, प्रेम-लक्षणा और परा—इन तीन भक्तियोंसे छूटते हैं। भक्तिके इन तीनों भेदोंसे क्रमशः शोधनका भाव प्रकट करनेके लिये उत्तरार्द्धमें 'बूझत बूझत बूझै' तीन बार समझनेकी प्रक्रिया कही गयी है।

इन तीनों शरीरोंका वर्णन तथा तीनों भक्तियोंके

लक्षण विनय-पत्रिका पद ११५ तथा १६७ में श्रीगोस्वामीजी-ने लिखे हैं।

'बिनु प्रयासहीं'

भक्तिमें इन्द्रियोंका निरोध करनेमें ज्ञानके साधनके समान—

'जिनि पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।'
(श्रीरामचरितमानस किष्किन्धा० ९)

इस प्रकारके कष्ट नहीं झेलने पड़ते; प्रत्युत भगवान्-के रूप और गुणोंके अनुभवसे तृप्त होती हुई इन्द्रियाँ लुभायी रहती हैं और बुद्धि स्वतः अनुरक्त रहती है; इससे विषयोंकी ओर नहीं जाती; यथा—

'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥'
(श्रीरामचरितमानस उत्तर० ४५)

सुमिरि सुमिरि गुन ग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ॥
(विनय-पत्रिका १००)

'सूझै'—

पहले मोहरूपी मैलसे जीव हृदयके नेत्रोंसे अन्धा रहता है; यथा—

'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'
(श्रीरामचरितमानस उत्तर० ६९)

उक्त तीनों भक्तियोंसे मैल शुद्ध होनेपर इसके स्वतः ज्ञान-विराग-रूप नेत्र खुल जाते हैं; क्योंकि जीव ज्ञानस्वरूप होते हुए ज्ञान-धर्मी भी है। ज्ञानदृष्टिसे इसे क्या सूझता है? वह उत्तरार्द्धमें कहते हैं—

'चिद-बिलास जग'—

यह जगत् चिद्रूप ईश्वरकी क्रीड़ा है। अतः जगत्के प्रत्येक जीवोंके सम्बन्धकी काल, कर्म, गुण एवं स्वभावकी व्यवस्थाएँ वह ज्ञानपूर्वक ही करता रहता है। जगत् भगवान्-का शरीर है। अतः अपने विविध अङ्ग-रूप चराचर जीवोंका उनके कर्मानुसार पारस्परिक सम्बन्धोंसे वे ही पालन करते हैं; तथा—

'सिय समेत सोहत सदा छबि अमित अनंग।
....

देसकाल-पूरन सदा बद बेद पुरान।
सबको प्रभु, सबमें बसै सबकी गति जान॥
(विनय-पत्रिका १०७)

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥
(मुण्डक० १।१।९)

जो सर्वज्ञ है तथा सबको जाननेवाला है, जिसका ज्ञानमय तप है; उसी परमेश्वरसे यह ब्रह्म (विराट्स्वरूप जगत्) तथा नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं।

समस्त जगत्का कारणरूप ईश्वर सामान्यरूपसे माया, जीव, काल, कर्म एवं स्वभाव आदिकी व्यवस्थाएँ जानता है तथा विशेषरूपसे वह सभी व्यष्टि-चराचरके कर्म-गुण एवं रक्षण आदिकी व्यवस्थाएँ जानता है। उसका ज्ञान ही तप है। अतः जगत्की उत्पत्तिके लिये उसे कष्ट-सहनरूप तप नहीं करना पड़ता; प्रत्युत उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्मके ज्ञानपूर्वक संकल्पमात्रसे यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विराट्स्वरूप जगत् (जिसे अपर ब्रह्म भी कहा जाता है) स्वतः प्रकट हो जाता है और फिर समस्त प्राणियों तथा लोकोंके नाम, रूप और आहार आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि ईश्वर जगत्को विराट्रूपसे प्रथम अपने शरीररूपमें प्रकट कर उसके व्यष्टि नाम, रूप एवं आहार आदिकी व्यवस्थाएँ करता है। अतः जैसे कोई मनुष्य अपने हस्त-पादादि सभी अङ्गोंकी पालन-पोषण-व्यवस्थाएँ स्वतः अपने ज्ञान एवं प्रत्येक अङ्गको प्रेरित कर करता एवं कराता है, वैसे ही ईश्वर भी जीवोंके कर्मानुसार इनके संयोगोंसे प्रेरणा कर तथा अचरमें रसादि-रूप हो सबका पालन करता है। अतः सारा चराचर जगत् हस्त-पादादिकी भाँति शरीरी ईश्वरका नियाम्य है, ईश्वर इसका नियामक है। जगत्के व्यष्टि रूपोंके शत्रु-मित्र आदि ईश्वरके ही ज्ञानपूर्वक क्रीडाके अङ्ग हैं। वह तो सर्वज्ञ एवं सर्ववित् है, अपने शरीररूप सभी जीवोंसे उचित ही करवाता है।

ईश्वरकी इस चिद्विलासिताका साक्षात्कार होनेसे उपर्युक्त अविद्यासे हुए 'द्वैत जनित' शत्रु-मित्र-मध्यस्थ आदि अनर्थ-वाले भाव निवृत्त हो जाते हैं। 'बूझत बूझत बूझै'—तीनों भक्तियोंसे उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान-प्रकाश बढ़नेके भाव प्रकट करते हुए ऐसा कहा गया है। यों भी बहुत कालमें समझ

पड़नेके योग्य कार्यके प्रति कहा जाता है—'समझते-समझते समझ पड़ेगा।'

भगवान्‌ने उद्धवजीसे भी ऐसा ही कहा है; यथा—

यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥
यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२५-२६)

अर्थात् जैसे अग्निमें तपानेसे सोना मैल त्यागकर अपने स्वच्छ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही मेरे भक्तियोगसे आत्मा भी कर्मवासना छोड़कर अपने स्वरूपको प्राप्त करता है। जैसे-जैसे मेरी पवित्र कथाओंके श्रवण और कीर्तनसे चित्त परिमार्जित होता जाता है, वैसे-वैसे ही वह अञ्जन-रञ्जित नेत्रोंके समान सूक्ष्म वस्तुके दर्शन करता जाता है।

मानवके आँसू

(लेखिका—कु० सरोजनी श्रीमाली)

मानव क्यों अश्रु बहाता है? ये अनमोल मोती, क्या इन्हें छिपा नहीं सकता? नहीं, छिपा सकता है परंतु वह क्यों छिपाये? यदि छिपा ले तो वह सहानुभूतिका पात्र कैसे बनेगा। परंतु क्या तू निश्चय-पूर्वक कह सकता है कि तेरे प्रति संसारको सहानुभूति है? नहीं…………कभी नहीं, तुझे देखकर संसार हँसेगा, उसे हँसनेका अवसर मत दे। तेरी वेदना, तेरे आँसू, उसका मनोरञ्जन है। उसमें इतनी बुद्धि नहीं, भावना नहीं, इच्छा नहीं, क्षमता नहीं कि वह मानवके आँसूका मूल्याङ्कन कर सके……… तो परिहासका साधन न बन। अपने अश्रु छिपा ले, परंतु?—कैसे छिपाये मानव? क्या वह छिपा सकेगा? नहीं…………नहीं, असम्भव है। वेदनाका भार आँसुओंसे ही हल्का होता है। यदि वह इन्हें छिपायेगा तो हृदयमें निर्धूम ज्वाला धधकेगी। ज्वाला,………… ऐसी ज्वाला कि एक दिन उसका विस्फोट होगा। विस्फोट, हाँ ऐसा विस्फोट, जिससे वह स्वयंको न बचा सकेगा।

तो रो मानव! रो, जी भर कर रो, वेदनाके कण-कणपर रो, पर क्या! समाजके सम्मुख? नहीं…………कदापि नहीं, संसारकी आँखोंके समक्ष नहीं। अन्यथा तेरा परिहास होगा, व्यङ्ग्य होंगे। उसे तू कैसे सहन करेगा। कितना विवश है मानव, कितना प्रतिबन्धित? हँस भी नहीं सकता, रो भी नहीं सकता। रोना चाहकर भी रो नहीं सकता, क्योंकि उसका उपहास होगा। परंतु मानव तू रो, अवश्य रो, परंतु समाजके सम्मुख नहीं। उस निर्जन स्थानपर जहाँ समाजके किसी भी व्यक्तिकी छाया न पहुँच सके। उस अव्यक्त, नित्य सुहृद्‌के सामने रो-जो तेरा परिहास न करके हृदयकी सहानुभूति दिखलायेगा, जो तेरे आँसुओंको अपने आँसू बनाकर तुझे ऐसी हँसी दे देगा—जो तेरा जीवन बन जायगी। तू निहाल हो जायगा। परंतु—साथ-ही-साथ समाजके सम्मुख हँस, तितलीके समान हँसनेका प्रयत्न कर, न हो तो फीकी हँसी हँस, पर हँस अवश्य। उपहासका साधन न बन मानव!

कामके पत्र

श्रीबदरीनारायणमें महान् यज्ञ

आपका कृपापत्र मिला। श्रीबदरीनाथधाममें होनेवाले यज्ञके सम्बन्धमें आपका लिखना सत्य है। 'श्रीविशिष्टाद्वैत-प्रचारक संघ' की ओरसे सार्वजनिक कल्याण तथा सर्वत्र सुख-शान्ति एवं सात्त्विक वातावरणके प्रसारके लिये श्रीबदरीनाथधाममें परम कल्याणमय अष्टाक्षरी (ॐ नमो नारायणाय) महामन्त्रका दस करोड़ जप और इसी महामन्त्रकी एक करोड़ आहुतियोंका हवन, उसके अङ्गभूत यथायोग्य तर्पण-मार्जनादिके अतिरिक्त चारों वेद, महाभारत, रामायण तथा अठारह पुराणोंके पाठ; अखण्ड विष्णुसहस्रनामपारायण, अविराम भजन एवं ब्राह्मणभोजनादिकी योजना बनायी गयी है। इसमें लगभग २५० विद्वान् ऋत्विक् होंगे। ता० २१।६।५४ से २।८।५४ तक ४४ दिनोंमें दस करोड़ मन्त्र-जाप तदनन्तर ता० १४।८।५४ तक १२ दिनोंमें एक करोड़ मन्त्रोंसे हवनकी योजना है। इसके लिये एक कमेटी बनी है। श्री एस० वरदाचारी महोदय, फेडरल कोर्ट, दिल्लीके भूतपूर्व जज, इस कमेटीके अध्यक्ष हैं और श्रीमान् नारायणाचार्य स्वामीजी तथा श्रीमान् टी० के० गोपालाचार्य स्वामीजी मन्त्री हैं।

श्री टी० के० गोपालाचार्य स्वामीजीका पत्र मिला है। वे लिखते हैं, वहाँ पण्डालका निर्माण हो चुका है। सुदूर दक्षिण प्रान्तसे चलकर विद्वान् ऋत्विग्गण अपने खर्चसे ऋषिकेश पहुँच रहे हैं। परंतु हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें आने-जानेका पूरा मार्गव्यय दें तथा उनके लिये बदरीनाथधाममें अच्छे भोजन तथा सर्दीसे बचनेके लिये उपयोगी वस्त्रोंकी व्यवस्था करें। यथोचित दक्षिणादि भी दें। यह एक महान् सात्त्विक और परम कल्याणकारी पुण्यमय आयोजन है। इस सुअवसरपर श्रीबदरीनाथ पधारनेवालोंको भगवान् श्रीबदरीनारायणके दर्शन तो होंगे ही, साथ ही उन्हें इस महान् भगवदाराधन-यज्ञके भी अभूतपूर्व विलक्षण दर्शन प्राप्त होंगे। ऐसे सत्कार्यमें यथासाध्य सहयोग देकर इस पवित्र अवसरसे सबको लाभ उठाना तथा भगवत्कृपासे प्राप्त साधनका सदुपयोग करना चाहिये।

'कल्याण' में प्रकाशनार्थ मन्त्री महोदयोंने लंबी सूचना भेजी थी, पर वह प्रकाशित नहीं की जा सकी। इसके लिये मन्त्री महोदय क्षमा करें। 'कल्याण' की स्वीकृत नीतिके अनुसार किसी भी सूचना तथा धनकी अपीलके प्रकाशित न करनेके लिये सम्पादक विवश है।

शेष भगवत्कृपा।

प्रार्थना

(संकलित)

गुणगान करनेको तुम्हारे हे दयासागर प्रभो।
प्रस्तुत हुए हैं हम सभी सम्मुख तुम्हारे हे विभो॥
साहस हमारा किंतु यह निश्चय निराला सर्वथा।
है व्योम छूने हेतु वामनका उठाना कर यथा॥
जिस वस्तुको हैं देखते, पाते उसे अचरज-भरा।
सर्वेश तव कारीगरीसे है भरी सारी धरा॥
संसार यह जल थल अनल नभ वायु ही का मेल है।
यह बल विना ईश्वर तुम्हारे क्या किसीका खेल है॥
करते हुए झर झर मधुर रव झर रहे झरने कहीं।
द्रुम विटप साखा चूमती तटनी कहीं है वह रही॥
कल्लोलमय सागर कहीं, थिर कमल विकसित सर कहीं।
किस वस्तुसे आभा तुम्हारी ईश है छिटकी नहीं॥
होता रचित तव लेश इच्छा मात्रसे संसार है।
फिर फेरते ही दृष्टि सारी सृष्टिका संहार है॥
करते विभो! जिसपर दयाकी दृष्टि तुम अणुमात्र हो।
यह हो नहीं सकता कभी जो वह न पूरण काम हो॥
वर्णन करें किस भाँति हम हे ईस! तव लीला महा।
आँखें न सकतीं देख, जाता है न वाणीसे कहा॥
अतएव करते हैं विनय करुणानिधे! करुणा करो।
उरमें उदय कर ज्ञान-रवि बस, मोह तम क्षणमें हरो॥

नये रूपमें हिंदू-कोड-बिल

जिस हिंदू-कोड-बिलका देशभरमें प्रबल विरोध हुआ और वर्षोंके अनवरत प्रयत्नके बाद भी जनताके प्रबल विरोधके कारण जो अबतक कानूनके रूपमें परिणत नहीं हो सका, उसे बहुमतके बलपर खण्ड-खण्ड करके नये रूपमें लोक-परिषद्में पास किया जा रहा है। विवाह और तलाक विधेयक तो आ चुके हैं, यह हिंदू-कोड-बिलकी तीसरी किस्त स्त्रियोंको सम्पत्तिमें उत्तराधिकारके हकके रूपमें आयी है। इसके द्वारा हिंदुओंमें पिताके वसीयतनामा न करनेपर उत्तराधिकार-सम्बन्धी कानूनका संशोधन करके उसे नया रूप दिया गया है। इस हिंदू-उत्तराधिकार विधेयकका सम्बन्ध केवल वसीयतनामा न की हुई सम्पत्तिसे है। संयुक्त परिवारकी सम्पत्ति तथा अन्य प्रकारकी सम्पत्तिपर यह लागू न होगा। इस विधेयकके द्वारा पुत्रीको पिताकी सम्पत्तिमें आधेका अधिकार दिया गया है।

स्त्रियोंको सम्पत्ति मिले और वे सुखसे रहें, इसमें किसीका विरोध नहीं हो सकता। परंतु पिताके घरमें सम्पत्तिका अधिकार मिलनेसे बहुत तरहकी अड़चनें उपस्थित होंगी और उनके सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है। आज जो नैहरमें लड़कीका प्रेम है, वह तो इससे सर्वथा विलुप्त ही हो जायगा। 'महाराष्ट्र-महिला-संघकी' प्रमुख नेत्री श्रीवासंतिका जोशी देवीने यह बहुत ठीक लिखा है कि 'यह कानून नैहरकी ममतापर तो जलते हुए अँगारे रखने जैसा होगा। कन्याका विवाह करते समय आज किसी भी प्रकारकी समता-विषमताकी या सौदेबाजीकी कल्पना मनमें न लाकर घर-द्वार, खेती-बारी, भूषण-वस्त्र सर्वस्व लगाकर, जीवन भी समर्पित कर जो भाई, पिता या अभिभावक लड़कीको सुखी देखना चाहते हैं—और ऐसा करते ही हैं, वह ममत्व—वह प्रेम इस हिंदूकोड और उत्तराधिकार कानूनसे सदाके लिये नष्ट हो जायगा।' इससे भाई-बहनमें मुकदमेबाजी होगी। मकानों और जमीनोंके बँटवारेमें बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। साले-बहनोइयोंमें भयानक कलह हो जायगी और जब स्वार्थ-बुद्धि अधिक होगी तब नैहरसे मिला हुआ धन पतिसे बचाकर अलग सुरक्षित रखनेकी भावना स्त्रियोंमें प्रकट होगी, जिससे सारा घर नरक बन जायगा।

यह विधेयक सरकारी गजटमें प्रकाशित हो चुका है और जुलाईके अन्ततक जनताकी सम्मति माँगी गयी है। अतएव तमाम हिंदू-जनतासे, पढ़े-लिखे लोगोंसे, कानूनके पण्डितों और हिंदू-संस्थाओंसे, अपना यथार्थ कल्याण चाहने और समझनेवाली महिलाओंसे, महिला-संस्थाओंसे, धर्माचार्यों और पण्डितोंसे तथा तमाम व्यापारी-वर्गसे निवेदन है कि वे अच्छी तरहसे इसकी बुराईपर विचार करके तुरंत 'विधान-मन्त्री'के नाम तार और पत्र भेजकर अपना विरोध प्रकट करें। जगह-जगह सभाएँ करके प्रस्ताव पास करें और उनकी प्रतिलिपि 'विधानमन्त्री' महोदयके पास नयी दिल्ली भेजें तथा समाचार-पत्रोंमें प्रबल आन्दोलन हो, जिससे यह कानून न बने और इस भारी संकटसे रक्षा हो।

गर्व मत करो

दादू गर्व न कीजिये, गर्वैं होइ विनास।
गर्वैं गोविंद ना मिलै, गर्वैं नरकनिवास॥
गर्वैं बहुत विनास है, गर्वैं बहुत विकार।
दादू गर्व न कीजिये, सनमुख सिरजनहार॥

गोरक्षाके लिये

देशमें सम्पूर्ण गो-वध-बंदी-आन्दोलन चलते कई वर्ष हो गये। जबसे पूज्यपाद श्रीकरपात्रीजीने आन्दोलन आरम्भ किया, तबसे तो यह कभी ठंडा पड़ा ही नहीं, अनेकों संस्थाओं और महानुभावोंके द्वारा आन्दोलन चलता रहा। यह आशा की गयी थी कि स्वराज्य होनेपर गो-वधका कलङ्क भारतवर्षसे मिट जायगा; परंतु वह आशा अभीतक तो असफल ही बनी हुई है। गत कुम्भके अवसरपर सभी मतोंद्वारा विशेषरूपसे आवाज उठायी गयी और कुछ दिनों पहले सेठ गोविन्ददासजी (कांग्रेसी सदस्य-) के द्वारा लोक-परिषद्में एक विधेयक उपस्थित किया गया। चारों ओर होनेवाले आन्दोलनके फलस्वरूप जनतामें जागृति आयी। इसे देखकर अपने अटर्नि-जनरल श्रीशीतलवाद महोदयसे कानूनी सम्मति उपस्थित करवायी गयी और जनताको यह बताया गया कि केन्द्रिय सरकार कानूनी आपत्तिके कारण इस विधेयकका समर्थन करनेमें असमर्थ है। इससे केन्द्रिय सरकारकी नीति स्पष्ट हो जाती है कि वह सर्वथा गो-वध-बंदीका कानून बनने देना नहीं चाहती।

आन्दोलनकी प्रबलता जारी रही, इसलिये सरकारने पुनः एक कार्य किया। गत ता० २१। ५। ५४ को कृषिमन्त्री श्रीपञ्जावराव देशमुख महोदयने लोकसभामें एक वक्तव्य देकर बम्बई-कलकत्तामें होनेवाले उपयोगी गायोंके वधको रोकने, फूँका कानूनको प्रभावशाली बनाने, दूधका चूर्ण तैयार करने और पशुओंके अन्तःप्रान्तीय निर्यातके नियन्त्रणपर विचार करनेके लिये एक कमेटी नियुक्त करनेकी घोषणा की। इसके द्वारा भी लोगोंके उत्साहको ठण्डा करनेका प्रयत्न किया गया। यह जानी हुई बात है कि जबतक सम्पूर्णतया गो-वध-बंदीका कानून नहीं बनता, तबतक उपयोगी जानवरोंका वध बंद नहीं हो सकता। कसाई चोरीसे घरमें या पशु-डाक्टरको रिश्वत देकर अथवा पशुका अङ्ग-भङ्ग करके अच्छे-से-अच्छे पशुके वधकी कोशिश करता ही है। बल्कि आज तो यह पाप बहुत अधिक बढ़ रहा है। उपयोगी पशुके वधको रोकनेके लिये सम्पूर्णतया गोवध-बंदी कानून ही अत्यावश्यक है, परंतु ऐसा न करके सरकारने कमेटी बनानेकी सोची। सरकारने एक कमेटी सन् १९४७ई० में पहले भी बनायी थी और उस कमेटीने उपयोगी गायोंका वध तुरंत बंद करने और दो वर्षके अंदर सम्पूर्णतया गो-वध-बंद करनेकी सिफारिश भी की थी, परंतु उसपर आजतक कोई अमल नहीं किया गया।

श्रीकृषिमन्त्री महोदयने अपने वक्तव्यमें अनुपयोगी पशुओंकी बहुत बड़ी संख्या बतायी है। उसका उद्देश्य भी यही प्रतीत होता है कि इतनी बड़ी संख्याके अनुपयोगी पशुओंके चारेका सवाल जनताके सामने रखकर उसे डरा दिया जाय, जिससे जनता सम्पूर्ण गो-वध-बंदीकी माँग न करे। इस सम्बन्धमें लाला हरदेवसहायजी लिखते हैं—'कृषि-मन्त्रालयके आर्थिक तथा संख्या सलाहकारके द्वारा प्रकाशित सरकारी रिपोर्ट १९५२ के अनुसार सन् १९४९ और १९५० में निम्नलिखित पशु-संख्या थी—

	कुल संख्या	अनुपयोगी
गो-वंश	१३३८४१३९६	२२४७४१०
भैंस-वंश	३९५८८९१४	५०८४५१
जोड़	१७,३४,३०,३१०	२७,५५,८६१

इस सरकारी रिपोर्टके अनुसार पशुओंकी कुल संख्या १७३४ लाख है। यदि इसमें घोड़े, गधे, ऊँट, खच्चर सब शामिल कर लिये जायँ तो १७६० लाख हैं, अनुपयोगी कहलानेवाले पशु २७५५ हजार या कुलका अधिक पौने दो प्रतिशत है। परंतु श्रीकृषिमन्त्री महोदयने कुल पशु-संख्या २२ करोड़ और अनुपयोगी संख्या १० से ३० प्रतिशत यानी २ करोड़ २० लाखसे ६ करोड़ ६० लाखतक बतलायी है। लगभग ४॥ करोड़का तो अनुमानमें ही अन्तर है। इससे भी सरकारकी नीतिका पता लगता है।

हिंदुओंके धर्मपर आक्रमण करनेवाले विवाह-विधेयक आदिके लिये अटर्नि-जनरलका मत जाननेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती, पर गो-वध-बंदीका सवाल लेकर मत जानने-की आवश्यकता जान पड़ती है, यह प्रत्यक्ष आश्चर्य है। श्रीहरदेवसहायजी तो कहते हैं कि 'जिन पशुओंको अनुपयोगी कहा जाता है, वे वास्तवमें हानिकारक नहीं, लाभदायक होते हैं। उनपर बहुत कम खर्च करके उनसे बहुत अधिक आमदनी की जा सकती है।

लोगोंको अन्धकारमें रखनेके लिये कृषिमन्त्री महोदयके वक्तव्यमें एक आवश्यक बात छोड़ दी गयी है और वह है चमड़ेके निर्यातका विषय। यह बात सरकारी आँकड़ोंसे बहुत बार सिद्ध की जा चुकी है कि इस देशसे केवल गायोंकी ही नहीं, बछड़ोंकी खालें भी निर्यात होती हैं। स्वराज्य प्राप्त होनेवाले वर्षमें बछड़ोंकी खालोंका निर्यात केवल १,७२,००० हुआ था, वह बढ़कर अब २०,०७,९५१ हो गया है। बछड़ोंके वधका मूल कारण देशसे खालोंका निर्यात ही है और

जबतक कानूनन कतई गो-वध बंद नहीं होता और चमड़ेके निर्यातपर प्रतिबंध नहीं लगता तबतक गाय और बछड़ोंकी हत्या बंद नहीं हो सकती।

सरकारने आन्दोलनके कारणसे 'गो-मांसके निर्यात' पर प्रतिबन्ध लगाया है। जहाँ पहले गो-मांसका निर्यात स्वीकार नहीं किया जाता था, वहाँ अब प्रतिबन्ध लगाया गया, यह तो आशाकी बात है, परंतु केवल गो-मांसके निर्यातपर प्रतिबन्ध लगानेसे काम नहीं चलता। गायोंकी जीभ, आँतें और उनके अन्यान्य अङ्ग बहुतायतसे जाते हैं, उनपर भी प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिये।

जो कुछ भी हो, सरकारने उपयोगी गायोंको बचानेके लिये जो कमेटी बनानेका निश्चय किया, वक्तव्य दिया, गाय-की सुरक्षाको इतनी प्रधानता दी, गो-मांसके निर्यातपर प्रतिबन्ध लगाया, इन सब कार्योंके लिये हम सरकारको धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि वह गायोंकी यथार्थ दशापर और जनताकी विशाल माँगपर विचार करके सम्पूर्ण गो-वध-बंदीका कानून बनायेगी।

पता लगा है कि उत्तरप्रदेशकी सरकारद्वारा निर्मित 'गो-संवर्द्धन-समितिने' सम्पूर्णतया गो-वध-बंदीकी सिफारिश की है। श्रीकृषिमन्त्री महोदयने भी कहा है कि 'उत्तरप्रदेशमें हम प्रश्नको 'गो-संवर्द्धन जाँच-कमेटी' के सुपुर्द कर रखा है।' अतः जब 'गो-संवर्द्धन-जाँच-कमेटी'की सिफारिश सम्पूर्ण-तया गो-वध-बंदीकी हो तो ऐसी अवस्थामें उत्तरप्रदेश सरकारका यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वह शीघ्र-से-शीघ्र सम्पूर्णतया गो-वध-बंदीका कानून बना दे। और हमें आशा है कि माननीय श्रीपंतजी-सरीखे विचारशील, न्यायपरायण गो-भक्त महानुभावकी सरकार जनताकी माँगको पूरा करके अपने कर्तव्यका पालन करनेकी उदारता दिखायेगी। बिहार-में भी शीघ्र बिल उपस्थित होनेवाला है। आशा है कि बिहार सरकार भी उसे शीघ्र पास करके जनताकी प्रतिभाजन बनेगी।

इतना होनेपर भी, जनतासे यह निवेदन है कि वह अपने आन्दोलनको जरा भी शिथिल न होने दे। देशभरमें शान्ति-पूर्ण नीतिसे महान् आन्दोलन चलाना चाहिये और अपने हृदयकी माँग सरकारके सामने लगातार रखते रहना चाहिये, जिससे लोकमतको माननेवाली सरकारको लोकमतका आदर करनेके लिये बाध्य होना पड़े। गो-हत्या-निरोध-समितिने भी गो-रक्षाके हेतु कार्य करनेवाले स्वयंसेवक बनानेके लिये फार्म छपवाये हैं। उन फार्मोंको-गोहत्या निरोध-समिति ३, सदर थाना रोड, देहली, के पतेसे मँगवाकर लाखोंकी संख्यामें भरवाकर भेजना चाहिये, जिससे गो-सेवकोंकी संख्या-वृद्धि हो और पारस्परिक उत्साहकी वृद्धिसे जनतामें गो-रक्षाके लिये विशेष जागृति और उत्साह विशेषरूपसे बढ़ता रहे।

'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क

संत-वाणी-अङ्क

'कल्याण' के अगले वर्षका विशेषाङ्क 'संत-वाणी-अङ्क' होगा। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत-रामायणादि इतिहास तथा पुराणोंमें आये हुए संत-महात्माओं, भक्तों और संत-नारियोंकी चुनी हुई वाणियोंके साथ ही इस युगके प्राचीन संतोंसे लेकर मध्यकालीन तथा अर्वाचीन सभी सम्प्रदायोंके संत-महात्माओंकी चुनी हुई वाणियोंका संक्षिप्त संग्रह रहेगा। विदेशी संतोंकी वाणियाँ भी रहेंगी। संत-वाणियोंके आधारपर बने हुए कलापूर्ण प्राचीन एवं नवीन चित्र रहेंगे। वाणियोंका संग्रह आरम्भ हो गया है और प्रायः सभी प्रसिद्ध संतोंकी वाणियोंका संग्रह हो भी चुका है।

कोई महानुभाव कृपापूर्वक, चाहें तो, किन्हीं परिचित या अपरिचित प्राचीन संतकी थोड़ी वाणियाँ भेज सकते हैं। परंतु यदि उनकी वाणीका चुनाव पहले हो चुका होगा तो वाणी भेजनेवाले महानुभावोंके प्रति हार्दिक समादर और उनके परिश्रम तथा कृपाके लिये पूर्ण सम्मान रखते हुए भी वे वाणियाँ काममें नहीं ली जा सकेंगी और इसके लिये उन्हें कृपापूर्वक हमें क्षमा प्रदान करनी पड़ेगी। हमारे इस विनम्र निवेदन-पर ध्यान देकर ही वाणी भेजनेका कष्ट स्वीकार करना चाहिये।

इस अङ्कमें लेख प्रायः नहीं दिये जायँगे। नयी कविता भी प्रकाशित नहीं होगी। अतः कोई महानुभाव कृपया लेख-कविता भेजनेका कष्ट न करें।

विनीत—सम्पादक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याणका २२ वें वर्षका विशेषाङ्क

नारी-अङ्क (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≥), सजिल्द ७।≥) मात्र ।

बहुत दिनोंसे इसके पुनर्मुद्रणकी माँग थी; परंतु अनेक कठिनाइयोंके कारण अबतक यह कार्य न हो सका । अब जिन्हें आवश्यकता हो, वे मँगवानेकी कृपा करें ।

अन्य प्राप्य विशेषाङ्क

१३ वें वर्षका मानसाङ्क (पूरे चित्रोंसहित)—पृष्ठ ९४४, चित्र बहुरंगे सुनहरी ८, दुरंगे सुनहरी ४, तिरंगे ४६, इकरंगे १२०, मूल्य ६॥), सजिल्द ७॥) ।

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०) ।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य, ५ प्रतियाँ एक साथ लेनेपर १५) प्रतिशत कमीशन ।

२६ वें वर्षका भक्त-चरिताङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ १५१२, लेख-संख्या ७३९, तिरंगे चित्र ३६ तथा इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७॥) मात्र ।

२७ वें वर्षका बालक-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७॥) ।

चालू वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र तिरंगा २०, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), वार्षिक मूल्य ७॥), सजिल्द ८॥) ।

'कल्याण'के प्राप्य साधारण अङ्क

वर्ष १९ वाँ—साधारण अङ्क—२, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १२ मूल्य ।) प्रति
वर्ष २० वाँ— ,, ,,—३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ११ और १२ ,, ।) ,,

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें

वर्ष २१ वेंके साधारण अङ्क—९, १०, ११, १२—कुल ४ अङ्क एक साथ, मूल्य ॥=) रजिस्ट्रीखर्च ।≠)
वर्ष २२ वें के ,, ,,—३, ४, ५, ८, ९, १०, ११—कुल ७, ,, १=) ,, ,, ।≠)
वर्ष २३ वें के ,, ,,—२, ६, ७, ८, ९, १०, ११—कुल ७, ,, १।-) ,, ,, ।≠)
वर्ष २४ वें के ,, ,,—११, १२ —कुल २, ,, ।≥) ,, ,, ।=)
वर्ष २५ वें के ,, ,,—७, ८, १२ —कुल ३, ,, ॥≥) ,, ,, ।≠)

उपर्युक्त कुल २३ अङ्क एक साथ लेनेपर रजिस्ट्रीखर्चसहित मूल्य ४॥-)
डाकखर्च सबमें हमारा ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकानोंके पते

(१) दिल्ली—१५४D, कमलानगर, सब्जीमंडी, (२) पटना—अशोक राजपथ, सदर अस्पतालके सामने, (३) हरिद्वार—मोतीबाजार, सब्जीमंडी, (४) ऋषिकेश—गीताभवन, (५) बनारस—नीचीबाग ।

वर्ष २८] [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीमहाविष्णु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०११, अगस्त १९५४ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ३३३

श्रीमहाविष्णु

नीरद श्यामवर्ण अति शोभित, कंठ कमल-मुक्ता-मणि हार ।
कौस्तुभ मणि, भृगुलता वक्ष श्रीवत्स दिव्य कर रहे विहार ॥
पद्म-गदा-असि-चर्म-चक्र-धनु-बाण-शंख, भुज अष्ट विशाल ।
कुण्डल कर्ण, कटक बाजूबँद, रत्न-मुकुट सिर, तिलक सुभाल ॥
कटि पीताम्बर रत्न मेखला, रुचिर रूप अति मंगलमय ।
भक्तकल्पतरु दीन-दयामय महाविष्णु जय-जय-जय-जय ॥

याद रक्खो—जगत्‌में जो कुछ है, सब केवल भगवान्‌का ही मूर्तरूप है, सभीमें भगवान् विराजमान हैं। केवल मनुष्योंमें ही नहीं—पशु-पक्षी-कीट-पतंग सभीमें, और इन चेतन प्राणियोंमें ही नहीं, समस्त जड-वर्गमें भी भगवान् हैं। श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर कविने बतलाया है कि 'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, वनस्पति, नदी, समुद्र—सभी श्रीहरिके शरीर हैं। ऐसा जानकर चराचरमात्रको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करे। अतएव सबमें भगवान् समझकर सबकी अपने कर्मके द्वारा सेवा करो, सबको यथासाध्य सुख पहुँचाओ और सबका हित-साधन करो।

याद रक्खो—जो दूसरे प्राणियोंका अहित करता है, वह मानो भगवान्‌का ही अहित करता है। इसलिये कभी किसीका भी अहित न तो करो, न चाहो। यह समझो कि तुम्हारे पास जो कुछ भी साधन-सामग्री है, सभी जगत्-रूप भगवान्‌की सेवाके लिये ही है। अपनेको अनन्य सेवक मानो।

याद रक्खो—संसारमें सात प्रकारके मनुष्य हैं—सबसे श्रेष्ठ वे हैं, जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। दूसरे वे हैं, जो अपनी हानि न करके दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। तीसरे वे हैं, जो अपने लाभके लिये ही प्रयत्नवान् रहते हैं, दूसरोंकी चिन्ता नहीं करते। चौथे वे हैं, जो अपने लाभमें दूसरोंकी हानि होती देखते हैं तो उसे सह लेते हैं, कोई परवा नहीं करते। पाँचवें वे हैं, जो दूसरोंकी हानि होती हो और उसमें अपना लाभ दीखता हो तो दूसरोंको हानि पहुँचा देते हैं। छठे वे हैं, जो जान-बूझकर सदा दूसरोंकी हानि ही करते हैं और उसीमें अपना लाभ मानते हैं और सातवें सबसे नीच मनुष्य वे हैं, जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको हानि पहुँचाना चाहते हैं।

याद रक्खो—दूसरोंकी हानिमें जो अपना लाभ मानता है अथवा दूसरोंके लाभमें जो अपनी हानि मानता है, वे दोनों ही भूले हुए हैं। जिससे दूसरोंको लाभ होगा, उसमें तुम्हारी हानि होगी ही नहीं और जिससे दूसरोंकी हानि होगी, उसमें तुम्हारा लाभ होगा ही नहीं।

याद रक्खो—जो मनुष्य दूसरेकी हानिमें अपना लाभ मानता है, वह बड़ा ही अभागा है; क्योंकि उसका जीवन पाप-जीवन बन जाता है और जो दूसरेके लाभमें ही अपना लाभ मानता है और सदा दूसरोंके हितसाधनमें लगा रहता है, वह बड़ा सौभाग्यवान् है, उसपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है।

याद रक्खो—जो सब जीवोंमें भगवान्‌को देखते हैं, उनके द्वारा तो ऐसा कोई काम कभी होगा ही नहीं, जिससे किसीको हानि पहुँचे या किसीका अहित हो। वे तो नित्य-निरन्तर अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा ही करते हैं।

याद रक्खो—जब प्राणिमात्रमें भगवद्भाव निश्चित हो जाता है, तब सर्वत्र भगवान्‌की झाँकी होने लगती है और समस्त क्रियाओंमें भगवान्‌की लीलाके दर्शन होने लगते हैं।

याद रक्खो—जब तुम्हारा सर्वत्र सबमें भगवद्भाव हो जायगा, तब तुम्हारे लिये कोई भी पराया नहीं रह जायगा। इस अवस्थामें क्षुद्र स्वार्थवश होनेवाले वैर-विरोध, कामना-वासना, राग-द्वेष आदि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जायगा, जीवन त्यागमय होगा और हृदयमें प्रेम, आनन्द और शान्तिकी निर्मल सरिता बहने लगेगी।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(२५)

साधकको निश्चयपूर्वक समझना चाहिये कि मनुष्यका शरीर विषयोंका उपभोग करनेके लिये कदापि नहीं मिला है । भोगोंका उपभोग तो पशु-पक्षी आदि हरेक योनिमें यह जीव अनन्तकालसे करता आया है, उसके लिये मनुष्य-शरीरकी कोई विशेपता नहीं है ।

मनुष्य-शरीर मिला है अपनी भूलको मिटानेके लिये अर्थात् जीवने जो अपने प्रमादसे अनेक प्रकारके दोषोंका संग्रह कर लिया है, उनको साधनद्वारा नाश करनेके लिये । यदि कोई कहे कि भगवान्‌ने जीवमें भोगोंकी इच्छा उत्पन्न ही क्यों की ? यदि भोगोंकी वासना न होती तो प्राणी उन भोगोंकी प्राप्तिके लिये चेष्टा ही क्यों करता ? तो इसका यह उत्तर है कि परम्परागत इस भोग-वासनाको मिटानेके लिये ही तो भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्य-शरीर दिया है । यदि इसमें भोग-वासना ही न होती तो शरीर देनेकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती । जब कोई रोग होता है तभी उसको मिटानेके लिये चिकित्साकी जरूरत होती है । अतः भोग-वासनाको मिटानेके लिये ही, भोग-वासनाके साथ-साथ भगवान्‌ने मनुष्यको योगकी, बोधकी और प्रेमकी लालसा भी प्रदान की है । भोगोंका क्षणिक सुख भी किसी-न-किसी प्रकारके संयोगसे अर्थात् विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे मिलता है । यह योगकी ही झलक है । इसी प्रकार रागमें प्रेमकी झलक है । प्रेमका ही दूसरा रूप राग या मोह है । और अविवेकमें विवेककी झलक है, क्योंकि विवेकका सर्वथा अभाव नहीं होता । उसकी कमीमें संदेह उत्पन्न होता है जो कि जिज्ञासाके रूपमें बोधका हेतु हो जाता है । जब साधक प्राप्त विवेकके द्वारा अपने बनाये हुए दोषोंको दूर कर लेता है, तब भोग-वासना योगमें, राग अनुरागमें और अविवेक बोधमें बदल जाता है । दोषोंकी उत्पत्ति और गुणोंका अभिमान—यही चित्तकी अशुद्धि है । इसीको मिटानेके लिये साधन है । अतः साधकमें बोधका, योगका और प्रेमका भी अभिमान नहीं रहना चाहिये । अभिप्राय यह है कि योग हो, परंतु मैं योगी हूँ, ऐसा अभिमान न हो ज्ञान हो, परंतु मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा अभिमान न हो । और प्रेम हो, परंतु मैं प्रेमी हूँ, ऐसा अभिमान न हो ।

भगवान्‌से जीवकी किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है । भगवान् और जीव जातिसे और स्वरूपसे भी एक हैं । दोनों ही नित्य हैं, अतः कालकी भी दूरी नहीं है । दोनों एक ही जगह रहते हैं, अतः देशकी भी दूरी नहीं है । दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य है । इतनी निकटता और एकता होते हुए भी जो दूरीकी प्रतीति होती है, वह केवलमात्र अभिमानके कारण है ।

जब कभी भक्तके मनमें किसी प्रकारके अभिमानकी छाया आ जाती है, तब उसका नाश करनेके लिये भगवान् उसके सामनेसे छिप जाया करते हैं । रासक्रीड़ा करते समय जब गोपियोंके मनमें यह बात आयी कि 'अब तो श्यामसुन्दर हमारे अधीन हो गये, हम जैसा कहती हैं, ये वैसा ही करते हैं ।' बस, यह मनमें आते ही उनके सामनेसे भगवान् अन्तर्धान हो गये । जिनके मनमें अभिमान नहीं आया था, उनको अपने साथ ले गये । आगे चलकर जब उनके मनमें अभिमान आया, वे कहने लगीं कि 'मुझसे अब चला नहीं जाता । मुझे कंधेपर उठा लीजिये ।' तब उनको भी वहीं छोड़कर अन्तर्धान हो गये । तब वे श्यामसुन्दरके विरहसे व्याकुल होकर उनको खोजने लगीं । लता-पता, पशु-पक्षी आदि हरेक प्राणीसे पूछने लगीं कि 'तुमने श्यामसुन्दर-

को देखा होगा। वे किधर गये।' इतनेपर भी जब श्यामसुन्दर नहीं मिले तो जहाँसे लीला आरम्भ हुई थी, वहीं आकर, विरह-व्याकुलतासे उनमें तन्मय हो गयीं और उन्हींकी लीलाका अभिनय करने लगीं। जब उस व्याकुलताके दुःखसे उनका अभिमान गल गया, तब श्यामसुन्दर वहीं प्रकट हो गये। वे जब अन्तर्धान हो गये थे, तब भी वहीं थे। कहीं गये नहीं थे, पर गोपियोंने उनको जान नहीं पाया। प्रकट होनेपर जब गोपियाँ उन्हें उलाहना देने लगीं, तब उन्होंने यही कहा कि 'मेरी प्यारी सखियो! मैं तो सदैव तुम्हारे ही पास था। कहीं दूर नहीं गया था। मैं तो तुम्हारे प्रेम-रसकी वृद्धिके लिये ही छिपा था' इत्यादि। अतः साधकको कभी किसी प्रकारका भी अभिमान नहीं करना चाहिये।

भगवान् जो जगत्‌की रचना करते हैं, उसमें भगवान्‌का जीवोंको नाना भाँतिसे रस-प्रदान करना और स्वयं उनके प्रेम-रसका आस्वादन करना—यही उद्देश्य है। विचारशील साधकका चित्त शुद्ध होनेपर उसको बोध प्राप्त होता है और उसके बाद प्रेमकी प्राप्ति होती है। कोई कहे कि बोधके बाद प्रेमकी प्राप्ति कैसी। उसका तो शरीर-मन आदिसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। फिर प्रेम कौन किससे और कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि प्रेमीका मन, इन्द्रियाँ आदि कोई भी भौतिक नहीं रहते। उसके मन-बुद्धि आदि सभी दिव्य और चिन्मय होते हैं; क्योंकि भगवान् स्वयं जिस चिन्मय प्रेमकी धातुसे बने हैं, उसीसे उनका प्रेमी, उनका दिव्य धाम और सब कुछ बने हैं। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं है। इसलिये बोधके बाद प्रेम होना असंगत नहीं है। इसीमें तो सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म लीलामय परमेश्वरके सगुण-साकार रूपकी सार्थकता है। प्रेमके अतिरिक्त सगुण-ब्रह्मके होनेमें कोई कारण ही नहीं है।

प्रेम अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं होता; क्योंकि प्रेमी और प्रेमीकी लालसा और प्रियतम सभी नित्य और असीम हैं, अतः उनके मिलनमें और वियोगमें सदैव आकर्षण रहता है तथा नित्य नया प्रेम बना रहता है।

भगवान् जीवके नित्य साथी हैं। कभी उससे अलग नहीं होते। तथापि प्राणी उनको जानता नहीं, भूल गया है। जैसे किसीकी जेबमें घड़ी पड़ी हो और वह उसे भूल जाय तो अपने पास होते हुए भी वह उससे दूरीका अनुभव करता है। जबतक उसे यह मालूम नहीं होता कि घड़ी मेरे पास मेरी जेबमें ही है, तबतक वह उसे खोजता रहता है और उसके बिना दुखी होता है, परंतु जब उसको बोध हो जाता है, तब वह घड़ी उसे मिल जाती है। उसी प्रकार यह जीव जबसे भगवान्‌को भूल गया है, तबसे अपनेको उनसे अलग मानकर दुखी हो रहा है।

यह भूल मिटकर जो अपने प्रेमास्पदके सम्बन्धका स्मरण हो जाना है, यही वास्तविक स्मरण है। अतः नाम-जप आदि साधन करते समय भी साधकको यह नहीं भूलना चाहिये कि 'यह नाम मेरे प्रियतमका है।'

चित्तशुद्धिके लिये साधकको चाहिये कि चाहे विकल्परहित विश्वास करके यह माने कि 'मेरी और प्रभुकी जातीय एकता है। अतः वे ही मेरे हैं। अन्य कोई मेरा नहीं है।' और यह मानकर एक-मात्र प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमकी लालसा प्रकट करे अथवा शरीर और संसारमें माना हुआ जो 'मैं, और मेरापन' है, उसे विचारके द्वारा दूर करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अपने स्वरूपकी एकताका बोध प्राप्त करे।

जातीय एकता और स्वरूपकी एकताका विश्वास और बोध होनेपर ही प्रेम तथा बोधकी प्राप्ति सम्भव है। अन्य प्रकारसे नहीं।

(२६)

पहले यह बात कही गयी थी कि चित्त-शुद्धि

के लिये ईश्वरके साथ जातीय एकता मानना अथवा स्वरूपकी एकताको जानना अनिवार्य है। आज उसीपर विचार करना है।

यह नियम है कि प्राणी जिसके साथ 'मैं' को मिला देता है, वही सत्य प्रतीत होने लगता है और अपनेसे भिन्न समझकर जिसके साथ अपनत्वका सम्बन्ध मान लेता है, उसमें आसक्ति हो जाती है; जिसको पराया समझ लेता है, उसमें द्वेष हो जाता है।

मनुष्यका 'मैं' भाव जगत्में अनेक प्रकारसे बँटा हुआ है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं महत्तर हूँ, मैं हिंदू हूँ, मैं मुसल्मान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं हिंदुस्तानी हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं अमेरिकन हूँ—इस प्रकार शरीर, जाति, देश, वर्ण, आश्रम और परिस्थिति आदिके साथ 'मैं' को मिलाकर मनुष्य उनमें सद्बुद्धि कर लेता है। उन्हींको अपना जीवन मानने लगता है। इस कारण उसको यह बोध नहीं होता कि वास्तवमें मेरी और इनकी न तो स्वरूपसे एकता है और न जातीय एकता है तथा यह भी नहीं जानता कि इनकी स्वीकृति मैंने किसी प्रकारके साधनका निर्माण करके इनसे ऊपर उठने और अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये की है।

यद्यपि हरेक प्रकारकी मान्यताके साथ, उससे सम्बन्ध रखनेवाला विधान रहता है। जैसे कोई मानता है कि मैं हिंदू हूँ, तो हिंदू माननेवालेके लिये जो हिंदूधर्ममें उसके वर्ण, आश्रमके अनुसार कर्त्तव्यका विधान किया गया है, उसे भी मानना चाहिये। यदि उसे मान ले तो साधक वर्तमान परिस्थितिकी आसक्तिसे रहित होकर अपने लक्ष्यकी ओर आगे बढ़ जाय। इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि मनुष्यको जो परिस्थिति प्राप्त होती है, वह उसको सदैव अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर करनेके लिये ही होती है; परंतु इस रहस्यको न समझनेके कारण प्राणी उसका सदुपयोग नहीं करता।

यही कारण है कि आज जो अपनेको हिंदू कहता है, वह हिंदूपनका अभिमान करके दूसरोंके साथ राग-द्वेष कर लेता है। अर्थात् मानने लगता है कि जो हिंदू हैं, वे तो अपने हैं। जो हिंदू नहीं हैं, वे पराये हैं। अतः अपनेको हिंदू माननेवालोंमें आसक्ति और दूसरोंमें द्वेष करने लगता है। यदि वह अपनेको हिंदू माननेके साथ-साथ उसके विधानको भी मानता तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुसार सबमें प्रेम करता! किसीसे भी राग-द्वेष नहीं करता। इसी प्रकार सबमें समझ लेना चाहिये।

महापुरुषोंने जब जो सम्प्रदाय चलाया है, वह मनुष्यको उन्नत बनानेके लिये साधनरूप बनाया है। अतः हरेक सम्प्रदाय, हरेक प्रकारकी मान्यता, अपने-अपने अधिकार, अपनी-अपनी योग्यता और प्रीतिके अनुसार उसे साधन मानकर चलनेवालेके लिये हितकर है। इस दृष्टिसे सभी सम्प्रदाय और सभी मान्यता आदर करनेके योग्य हैं।

परंतु जब मनुष्य शरीर, जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, देश और परिस्थितिके साथ एकता मानकर उनमें अभिमान कर लेता है एवं उसके अनुसार अपनेको नाना भावोंमें बाँधकर राग-द्वेष करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है।

इसलिये साधकको चाहिये कि विचार और विश्वास-के द्वारा यह निश्चय करे कि मैं शरीर नहीं हूँ। यह मनुष्य-शरीर मुझे भगवान्‌की कृपासे साधनके लिये मिला है। यह निश्चय करके शरीरमें, या किसी प्रकारकी परिस्थितिमें सद्भाव न करे। उसे अपना जीवन न माने। जो कुछ प्राप्त है, उसका सदुपयोग करे। प्राप्तका सदुपयोग करनेसे, अप्राप्तकी चाह न करनेसे, रागकी निवृत्ति हो जाती है। राग निवृत्त हो जानेपर द्वेष अपने आप मिट जाता है और राग-द्वेषका अभाव हो जानेसे निर्वासना आ जाती है। फिर किसी प्रकार-

की चाहका उदय नहीं होता । यही चित्तकी शुद्धि है। चित्त शुद्ध होनेपर योग, बोध और प्रेम अपने आप प्रकट हो जाते हैं।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनमें मनुष्यको जहाँ कहीं सत्यता और प्रियताकी प्रतीति हो रही है, उसका मूल कारण उपर्युक्त माना हुआ अभेदभावका और भेदभावका सम्बन्ध है। दूसरा कुछ नहीं। यदि शरीर आदिसे अभेदके सम्बन्धका विच्छेद कर दिया जाय तो उसकी सत्यता और जडता चिन्मयतामें बदल जाती है। अर्थात् मैं शरीर हूँ, यह भाव मिट जाता है। इसके मिटते ही देहधर्ममें जो आसक्ति हो गयी है, वह मिट जाती है। उसके मिटते ही शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें सत्यताकी गन्ध-मात्र भी शेष नहीं रहती। उसके मिटते ही राग वैराग्यमें तथा भोग योगमें बदल जाते हैं। फिर जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है, उसका बोध और उससे प्रेम स्वतः हो जाता है। जो प्राणीकी वास्तविक आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति अत्यन्त अनिवार्य और स्वाभाविक है। उससे निराश होना एकमात्र प्रमादके सिवा और कुछ नहीं है; क्योंकि स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति करना ही प्राणीका पुरुषार्थ है।

(२७)

प्रश्न—स्वामीजी! प्रेम तो सब एक ही है न, वह चाहे पुत्रमें हो, चाहे अन्य किसीमें, प्रेम ही तो है?

उत्तर—जो पुत्र और पति आदिमें प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, मोह है। उसीको राग और आसक्ति भी कहते हैं। प्रेममें और मोहमें बड़ा अन्तर है। जिसमें मोह होता है, जो मोहके कारण प्रिय लगता है, उसमें स्वार्थभाव रहता है। उसमें एक दूसरेसे किसी प्रकारका सुख लेनेकी चाह रखता है, किंतु प्रेममें स्वार्थके लिये कोई स्थान नहीं है। प्रेमी तो हर प्रकारसे अपने प्रेमास्पदको सुख देनेके लिये—अर्थात् उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक काम करता है। वह अपने प्रियतमके लिये सर्वस्व समर्पण कर देता है। प्रेमीका जीवन अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके लिये ही होता है। अपने प्रियतमका सुख ही प्रेमीका सुख है। प्रियतमकी प्रसन्नता ही उसकी प्रसन्नता है। प्रेमास्पदका प्रेमरस ही उसका अस्तित्व है, अपने लिये उसे अन्य किसी प्रकारके सुखकी चाह नहीं रहती।

आप किसी भी प्रेमी भक्तकी जीवनी पढ़िये। कहीं भी ऐसी घटना नहीं मिलेगी, जिसमें भक्तने अपने प्रभुसे अपने सुखके लिये कभी किसी प्रकारकी माँग की हो। माँग पेश करनेकी बात तो दूर रही, वह तो देनेपर भी कुछ स्वीकार नहीं करता। केवलमात्र उनका प्रेम-ही-प्रेम चाहता है। अतः भगवान् स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं। फिर भगवान्‌की सब चेष्टा भक्तको रस देनेके लिये और भक्तकी भगवान्‌को रस देनेके लिये हुआ करती है। वियोगकालमें भक्त भगवान्‌के विरहमें व्याकुल रहता है और भगवान् भक्तके विरहमें व्याकुल रहते हैं। इधर सीता रामके वियोगमें व्याकुल है तो उधर राम सीताके वियोगमें व्याकुल हैं। यही भक्त और भगवान्‌की दिव्य प्रेमलीला है।

परवश प्राण

मेरो मन स्यामा स्याम हर्‌यौ।
मृदु मुसकाय गाय मुरली मैं चेटक चतुर कर्‌यौ॥
वा छबि तें मन नैंक न निकसत निसिदिन रहत अर्‌यौ।
'अलीकिसोरी' रूप निहारत परवस प्रान पर्‌यौ॥

भगवान्‌की प्राप्तिके कुछ सरल और निश्चित उपाय

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आस्तिकभाव या भगवान्‌की सत्तामें विश्वास

भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होनेपर भी भगवान्‌की सत्तामें (होनेपनमें) जो विश्वास है, उससे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; किंतु यह विश्वास पूर्णरूपसे होना चाहिये । मनुष्यके मनमें भगवान्‌के अस्तित्वका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों वह भगवान्‌के समीप पहुँचता जाता है । किसीको भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार किसी भी स्वरूपका वास्तविक अनुभव नहीं है; किंतु यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं; वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् , परम प्रेमी और परम दयालु हैं, वे पतित-पावन और अन्तर्यामी हैं । हम जो कुछ कर रहे हैं, उसे भगवान् देख रहे हैं, जो कुछ बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं तथा जो कुछ हमारे हृदयमें है, उसे भी वे जान रहे हैं । इस प्रकार विश्वास हो जानेपर उस साधकके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, हिंसा, व्यभिचार आदि भगवान्‌के विपरीत आचरण नहीं हो सकते । इस विश्वासकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनेपर विरुद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, उसके द्वारा यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि जो कुछ सत्-चेष्टा होगी, वह भगवान्‌के अनुकूल और उनकी प्रसन्नताके लिये ही होगी । उसके हृदयमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि भाव भगवान्‌के अनुकूल और उत्तम-से-उत्तम होंगे । भगवान्‌के अस्तित्वमें जो भक्तिपूर्वक विश्वास है, इसीका नाम 'श्रद्धा' है । भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझनेसे जब साधककी भगवान्‌में परम श्रद्धा हो जाती है तब उसके हृदयमें प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं । कभी-कभी तो शरीरमें रोमाञ्च और नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित हो जाता है । कभी-कभी विरहकी व्याकुलतामें वह अधीर-सा हो जाता है । उसके हृदयमें यह भाव आता है कि जब भगवान् हैं तो हम उनसे वञ्चित क्यों ? भगवान्‌की ओरसे तो कोई कमी है ही नहीं, जो कुछ विलम्ब होता है, वह हमारे साधनकी कमीके कारण ही होता है और उस साधनकी कमीमें हेतु है विश्वासकी कमी तथा विश्वासकी कमीमें हेतु है अज्ञता यानी मूर्खता ।

अतएव हमको यह विश्वास बढ़ाना चाहिये कि भगवान् निश्चय हैं, वे अबतक बहुतोंको मिल चुके हैं, वर्तमानमें मिलते हैं एवं मनुष्यमात्रका उनकी प्राप्तिमें अधिकार है । अपात्र होनेपर भी दयामय भगवान्‌ने मुझको मनुष्य-शरीर देकर अपनी प्राप्तिका अधिकार दिया है । ऐसे अधिकारको पाकर मैं भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित रहूँ तो यह मेरे लिये बहुत ही लज्जा और दुःखकी बात है । बार-बार इस प्रकार सोचने-समझनेपर भगवान्‌के होनेपनमें उत्तरोत्तर भक्तिपूर्वक विश्वास बढ़ता चला जाता है, जिससे उसके मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, तदनन्तर आकाङ्क्षामें तीव्रता आते-आते उसको भगवान्‌का न मिलना असह्य हो जाता है, अतएव वह फिर भगवान्‌की प्राप्तिसे वञ्चित नहीं रहता । तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर भगवान् उससे मिले बिना रह नहीं सकते । जो भगवान्‌से मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाता है, उसके लिये एक क्षणका भी विलम्ब भगवान् कैसे कर सकते हैं । अतएव भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ बढ़ाना चाहिये । इस भक्तिपूर्वक विश्वासकी पूर्णता ही परम श्रद्धा

है। परम श्रद्धाके उदय होनेके साथ ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, फिर एक क्षणका भी विलम्ब नहीं हो सकता। हमारे श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब होनेका एकमात्र कारण है।

शास्त्र और महात्माओंपर श्रद्धा

शास्त्र और महात्माओंपर विश्वास होनेपर भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो सकती है। शास्त्र कहते हैं कि 'भगवान् हैं' और महात्मा भी कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' शास्त्रके वचनोंसे भी महात्माके वचन विशेष बलवान् हैं; क्योंकि महात्मा तो साक्षात् परमात्माका दर्शन करके ही कहते हैं कि 'भगवान् हैं' और महात्मा कभी झूठ कहते नहीं। जो झूठ बोलते हैं, वे तो महात्मा ही नहीं। यदि महात्मा यह कहते हैं कि 'भगवान् हैं और इस विषयमें शास्त्र प्रमाण है' तो इस प्रकारका महात्माका वचन तो शास्त्रके समान ही है, किंतु शास्त्रका प्रमाण न देकर यदि महापुरुष कहें कि 'भगवान् निश्चय हैं' तो यह वचन और भी बलवान् है, शास्त्रके प्रमाणसे भी बढ़कर है; क्योंकि बिना प्रत्यक्ष किये महात्मा ऐसा नहीं कहते।

अतएव महात्माके मनके अनुसार चलनेवालेका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, उनके संकेत (इशारे) और आदेशके अनुसार आचरण करनेपर भी निश्चय ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जब कि शास्त्रके अनुकूल चलनेसे भी कल्याण हो जाता है तो फिर महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे या उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, किंतु महात्माके वचनोंमें परम श्रद्धा होनी चाहिये। मान लीजिये, किसी महात्माने किसी श्रद्धा दिखानेवाले पुरुषसे कहा कि 'अमुक संस्थामें एक बोरा गेहूँ और दस कम्बल भिजवा दो।' इसपर श्रद्धालुने अपनी बुद्धि लगाकर उत्तर दिया कि समय न तो कम्बलका मौसम है, न उनकी माँग है और न आवश्यकता ही है।' तब महात्मा बोले—'अच्छी बात है, गेहूँ ही भिजवा दो।' श्रद्धालुने कहा—'अभी यहाँ गेहूँके दाम महँगे हैं, पाँच दिनों बाद दाम कम हो जायँगे; दूसरे प्रदेशोंमें बाजार गिर गया है और यहाँ भी गिरनेवाला है; अतएव भाव गिरनेपर भेज देंगे।' इसपर महात्माने कहा—'बहुत अच्छा। तुम ठीक समझो, तभी भिजवा सकते हो।' इसका नाम 'श्रद्धा' नहीं है; क्योंकि यहाँ वह श्रद्धालु महात्माके आदेशका श्रद्धापूर्वक ज्यों-का-त्यों पालन न करके अपनी बुद्धिसे काम लेता है और महात्मा अपनी सहज समतासे उसमें सहमत हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितिमें श्रद्धालुकी जो श्रद्धा होती है, उस श्रद्धाका कोई मूल्य नहीं; तथा महात्माकी आज्ञा यदि श्रद्धालुके अनुकूल पड़ती है और श्रद्धालु उसे मान लेता है, यह भी श्रद्धा नहीं है। एवं महात्माकी आज्ञा श्रद्धालुके मनके विपरीत प्रतीत हो, परंतु वह मन मारकर उसे मान ले तो यह भी श्रद्धा नहीं है। मनके विपरीत होनेपर भी महात्माकी आज्ञाको श्रद्धालु प्रसन्नतासे पालन करता है, जैसे राजा युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयोंने द्रौपदीके साथ विवाह करनेके विषयमें माता कुन्तीके वचन शास्त्रके अनुकूल न होनेपर भी प्रसन्नता और आग्रहके साथ उनका अनुसरण किया था—इसका नाम 'श्रद्धा' है।

वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है कि वनगमनके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज माता कौशल्याके पास गये और उन्होंने पिताकी आज्ञासे वनमें जानेकी बात कही। तब माता कौशल्याने कहा—'पिताकी आज्ञा वनमें जानेकी है किंतु मेरी आज्ञा है, तुम वनमें मत जाओ।' यह सुनकर भगवान् रामने कहा—'पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। अतः मैं आपकी अनुमति लेकर वन जाना चाहता हूँ।' भगवान् रामकी दशरथजीमें जो यह श्रद्धा है यह 'परम श्रद्धा' है।

आयोदधौम्य मुनिने एक दिन अपने शिष्य आरुणिसे कहा—'तुम खेतमें जाकर नीचे बहे जानेवाले जलको रोक दो।' उसने वहाँ जाकर उस जलको मिट्टीसे रोकनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उसे सफलता नहीं हुई। वह मिट्टीकी मेंड बनाता और जलका प्रबल प्रवाह उसे बहा देता। जब प्रवाह रुका ही नहीं, तब आरुणि स्वयं वहाँ लेट गया, जिससे जलका बहना बंद हो गया। तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर गुरुजीने शिष्योंसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया?' उन्होंने कहा—'आपने ही तो खेतका पानी रोकनेके लिये उसे भेजा है।' यह सुनकर आयोदधौम्य मुनि बोले—'अभीतक आरुणि लौटकर नहीं आया, अतः चलो, हम सब भी वहीं चलें।' तदनन्तर वे उसी समय शिष्योंको साथ लेकर वहाँ पहुँचे, जहाँ आरुणि स्वयं मेंड बनकर जलको रोके हुए था। मुनिने कहा—'वत्स आरुणि! तुम कहाँ हो, यहाँ आओ।' यह सुनकर आरुणि उठकर गुरुके पास आया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'आपकी आज्ञासे मैंने जल रोकनेका प्रयत्न किया, किंतु जब जल न रुका तो मैंने स्वयं ही लेटकर जलको रोक रक्खा था। आपके वचन सुनकर अब मैं वहाँसे उठकर आ गया हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ, अब आपकी क्या आज्ञा है? जलको रोके रक्खूँ या दूसरा कोई कार्य करूँ?' गुरुजीने कहा—'तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, अतः तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होओगे।' फिर आचार्यने कृपापूर्वक कहा—'तुमने मेरे वचनोंका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणको प्राप्त होओगे और सम्पूर्ण वेद तथा समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारे लिये स्वतः ही प्रकाशित हो जायँगे।' गुरुजीका वरदान पाकर आरुणि अपने देशको लौट गये। श्रद्धाके प्रभावसे उन्हें बिना ही पढ़े सारे वेदोंका ज्ञान हो गया।

श्रीहारिद्रुमत गौतम नामके एक ऋषि थे। उनके पास जबालाका पुत्र सत्यकाम गया और बोला—'मुझे ब्रह्मका उपदेश दीजिये।' गौतमने पूछा—'तुम्हारा गोत्र क्या है?' उसने उत्तर दिया—'मैंने अपनी माँसे पूछा था तो माँने कहा कि 'मैं तुम्हारे पिताकी सेवा किया करती थी, गोत्रका मुझे ज्ञान नहीं है। तेरा नाम सत्यकाम है और मेरा नाम जबाला है।' यह सुनकर गौतम बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम ब्राह्मण हो; क्योंकि तुम सत्य बोल रहे हो। आजसे तुम्हारी माँके नामसे तुम्हारा गोत्र होगा।' तत्पश्चात् उसे शिष्य स्वीकार करके गौतमने कहा—'तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन कर दूँगा।' फिर उन्होंने चार सौ गायें अलग करके कहा—'तुम इनके पीछे-पीछे जाओ।' तब उन्हें ले जाते समय सत्यकाम बोला—'इनकी एक हजार गायें हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' इस प्रकार कहकर वह वनमें चला गया और वहीं वर्षोंतक रहा। जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं तो एक बैलने कहा—'अब हमारी संख्या एक हजार पूरी हो गयी, तुम हमें गुरुके पास ले चलो।' वह गायोंको लेकर गुरुके समीप पहुँचनेके लिये चला। वहाँ रास्तेमें उसको साँडके द्वारा ब्रह्मके प्रथम पादका, अग्निके द्वारा द्वितीय पादका, हंसके द्वारा तृतीय पादका और मद्गुके द्वारा चतुर्थ पादका उपदेश प्राप्त हो गया। इस प्रकार अनायास ब्रह्मका उपदेश प्राप्त कर वह ब्रह्मज्ञानी हो गया। जब वह गायोंको लेकर गुरुके पास पहुँचा तो उसके चेहरेकी चमक और शान्तिको देखकर गौतमने कहा—'सत्यकाम! तुम्हारा चेहरा देखनेसे प्रतीत होता है, मानो तुम्हें ब्रह्मका ज्ञान हो गया है।' सत्यकाम बोला—'ठीक है। किंतु फिर भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ।' तब गुरुने भी उसे उपदेश दिया। यह है उच्चकोटिकी श्रद्धा।

अपने मनके विपरीत भी गुरुके आदेशको प्रसन्नताके साथ काममें लाया जाता है, यह श्रद्धा है और

करनेमें जी चुराना) और सकाम कर्म या शास्त्र-विपरीत कर्म यदि होते हों तो यह समझना चाहिये कि हमारे कर्मोंमें भगवान्‌का हाथ नहीं है, कामका हाथ है; किंतु जहाँ भगवान्‌का हाथ है, वहाँ कर्तव्यकर्मकी अवहेलना नहीं हो सकती और कामनाका अभाव होनेके कारण सकाम कर्म भी नहीं होते; तो फिर पापकर्म तो हो ही कैसे सकते हैं। यदि हों तो समझना चाहिये कि वहाँ कामका हाथ है।

गीतामें अर्जुनने पूछा कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(३ । ३६)

'हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो।'

'भगवान्‌की निर्भरता'का यह अर्थ नहीं कि वह बालककी भाँति सर्वथा कर्मोंका त्याग कर देता है। बालकको ज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये कर्तव्य लागू नहीं पड़ता; किंतु जिसको ज्ञान है, वह सर्वथा कर्म छोड़कर बैठे तो वह भगवान्‌की निर्भरता नहीं, वरं प्रमाद है। जो भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, वह चिन्ता, शोक, भय, ईर्ष्या, उद्वेग आदि दुर्गुणोंसे रहित हो जाता है। उसमें वीरता, धीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि गुण स्वयमेव आ जाते हैं।

अतएव परमात्माकी प्राप्तिके लिये परमात्माके शरण होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करते हुए उसपर सर्वथा निर्भर रहना चाहिये। भगवान् जो कुछ करें, उसको उनकी लीला समझकर देखता रहे और उसीमें आनन्द माने।

संत कौन ?

इतने गुन जामैं सो संत।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत॥
हरिको भजन, साधुकी सेवा, सर्व भूतपर दाया।
हिंसा लोभ दंभ छल त्यागैं, विषसम देखै माया॥
सहनसील आसय उदार अति धीरजसहित विवेकी।
सत्य बचन सबकौं सुखदायक गति अनन्यव्रत एकी॥
इंद्रीजित, अभिमान न जाके, करै जगतकौं पावन।
'भगवतरसिक' तासुकी संगति तीनहुँ ताप नसावन॥

—श्रीभगवतरसिकजी

मानव-जीवनका गौरव

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

मानव-जीवनका यही प्रधान गौरव है कि संसारका कोई भी विषय उसे तृप्त नहीं कर सकता। देश-कालसे परिच्छिन्न वस्तुमात्र उसकी दृष्टिमें क्षुद्र है, उनसे उसकी असीम क्षुधा नहीं मिट सकती। उसका समुन्नत अधिकार उनके द्वारा सार्थक नहीं होता। उसमें होती है—ज्ञान-पिपासा, कर्मप्रवणता और भोगाकाङ्क्षा तथा होता है प्रेमावेग। ये सभी उसके मनुष्योचित स्वभावके अङ्ग हैं; किंतु यह आपात-विशाल संसार मानो उसकी इन स्वाभाविक माँगोंको पूरा करनेमें असमर्थ है। उसकी ज्ञानवृत्ति जागतिक विचित्र विषयोंका परिचय प्राप्त करके आत्मतृप्तिका मार्ग खोजती है; किंतु वह जितनी ही जानकारी प्राप्त करता है, उसकी ज्ञानपिपासा उतनी ही बढ़ती जाती है, उतना ही उसे अनुभव होता है कि जो ज्ञातव्य है, उसकी तो उसे जानकारी हुई नहीं। बाहरी प्रकृति और मनोराज्यके असंख्य विषयोंका परिचय प्राप्त करके भी उसकी ज्ञानकी पिपासा निवृत्त नहीं होती, उसको ऐसी धारणा नहीं होती कि जो कुछ ज्ञातव्य था, वह सब उसने जान लिया, अब और किसी वस्तुका जानना या किसी वस्तुके जाननेका प्रयोजन ही नहीं रह गया। उसके अन्तरमें यही प्रश्न उठता रहता है कि ऐसी कोई वस्तु है, जिसके जाननेसे सब कुछ ज्ञात हो जाता है, ज्ञानवृत्तिका अभाव-बोध मिट जाता है एवं बुद्धि परिपूर्ण ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जाती है। सान्त, नश्वर और विकारशीलको जानकर तो उसकी ज्ञानकी क्षुधा मिटती नहीं। ऐसे खण्ड ज्ञानसे तो उसका अपनेसे भी अपना सम्यक् परिचय नहीं होता। वह चाहता है ऐसा कोई अनन्त अविनश्वर, अविकारी, सत्य, जिसके साथ उसकी ज्ञानवृत्तिका सम्यक् मिलन होनेसे—अर्थात् उसकी ज्ञानवृत्ति-को तद्भावभावित स्थिति प्राप्त हो जानेपर—वह अपनेको ज्ञानसाधनामें सिद्ध होनेका अनुभव कर सके। इस अनन्त, अखण्ड, अविनाशी, अविकारी भूमाका आकर्षण ही मानव-प्राणको ज्ञानतपस्यामें नियोजित करता है। उस भूमाके साथ जबतक युक्त नहीं हो जाता, तबतक मानव-प्राणीमें एक असंतोष, क्षुधाबोध, दौड़-धूप बनी ही रहती है। यही उसका गौरव है, यही उसके उन्नत अधिकारका निदर्शन है।

ऐसा मानव, यद्यपि एक क्षुद्र, दुर्बल, परिवर्तनशील देहको और सीमित इन्द्रियशक्तिको लेकर ही जन्म ग्रहण करता है तथापि उसके अंदर कर्मशक्तिकी एक ऐसी अनुप्रेरणा रहती है, जो कभी यह स्वीकार नहीं करती कि संसारका कोई भी कार्य उसके लिये असाध्य है। वरं वह तो उसकी कर्मशक्तिका उत्कर्ष करके समस्त प्रकृति-राज्यके ऊपर अपना अव्याहत प्रभुत्व स्थापन करनेका प्रयास करती रहती है। भूमि, जल, वायु, अग्नि सब मेरे आज्ञाकारी भृत्य बन जायँ, देवता मेरा श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लें, अपने प्रयोजनानुसार प्राकृतिक पदार्थ और शक्तियोंको नियोजित करके इस प्राकृतिक जगत्में एक नवीन जगत्की सृष्टि करनेके लिये सब प्रकारके बाधा-विघ्नोंको पददलित करके मैं अपने अन्तर-के आदर्शको इस जगत्में एक रूप देकर खड़ा कर दूँ, यही कर्मप्रवण मानव-जीवनकी माँग है। इस कर्मप्रवणताद्वारा प्रेरित होकर अपनी शक्तियोंका विकास करते हुए वह अपने-को बाह्य दृष्टिसे चाहे जितना भी बड़ा कर ले, परंतु उसकी कर्म-क्षुधा कभी निवृत्त नहीं होती।

संसारके उपकरणोंका व्यवहार करके, जागतिक अवस्था-पुंजोंपर निर्भर रहकर, नाना प्रकारके यन्त्रोंका आविष्कार करके मनुष्य अपनी कर्मशक्तिका चाहे जितना ही विकास कर ले एवं नयी-नयी सृष्टिके द्वारा जगत्को चाहे जितना ही समृद्ध बना ले तथापि इससे वह 'स्वराट्' नहीं हो सकता, 'सर्वेषु लोकेषु कामचारः' नहीं हो पाता, 'भूत-प्रकृतिजयी विश्वराट्' नहीं हो सकता, उसकी सृष्टिवासना, अभावबोध और अक्षमताकी अनुभूति तिरोहित नहीं होती और वह अपनी कर्मसाधनाकी परिपूर्ण सिद्धि अनुभव करनेमें समर्थ नहीं होता। दूसरी ओर प्रत्येक कर्मवीर मनुष्य ही संसारके उपकरणोंको प्राप्त करनेमें, संसारमें अपना-अपना प्रभुत्व स्थापन करनेमें, अपने कर्मद्वारा दूसरोंपर प्रभाव डालनेमें प्रयत्नशील होते हैं, जिसके कारण मानव-समाजमें घोर प्रतिद्वन्द्विता और वैरभावकी उत्पत्ति होती है, एककी कर्मशक्ति ही दूसरेकी कर्मशक्तिका व्याघात और संकोच करनेवाली बन जाती है, प्रत्येककी कर्म-साधना ही दूसरेकी कर्म-साधनाकी सिद्धिके मार्गमें विघ्न हो जाती है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्यकी कर्मशक्तिका विकास किस प्रकार किस मार्गसे किया जाय, जिससे एक

ऋषि हैं, उनकी शरणागति ही साधारण मनुष्यके लिये कृतार्थता प्राप्त करनेका उपाय है ।

ऐसे सम्यक् ज्ञानी, सम्यक् कर्मी, सम्यक् भोगी महापुरुष सभी देश और सभी कालोंमें लोकसमाजमें यह घोषणा करते आये हैं कि सब प्रकारका भेदज्ञान ही अज्ञान है, भेदाश्रयी कर्म ही अकृतार्थ हैं एवं भेदावलम्बी सर्वविध भोग ही तृप्ति-विहीन हैं । भेदके ऊपर बिना उठे, प्राणोंको बिना अभेद-भूमिपर प्रतिष्ठित किये, मनुष्य किसी वस्तुसे संतोष प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता, किसीसे अपनेको कृतार्थ नहीं समझ सकता । आपात प्रतीयमान असंख्य प्रकारके भेदोंमें वर्तमान रहकर भी मनुष्यको अभेद-दर्शन करना होगा, अभेद-दृष्टि लेकर कर्म सम्पादन करना होगा, अभेद-भावका सम्भोग करना होगा । यही है मानव-प्राणोंकी चिरन्तन आकाङ्क्षा । इसी अधिकारको लेकर भेदबहुल जगत्में मानव-जीवनका आविर्भाव हुआ है । अनन्तवैषम्य-समाकुल जगत्में परम साम्यमें स्थिति प्राप्त करनेका अधिकार ही यथार्थ मानवीय अधिकार है ।

ज्ञानसाधनाके क्षेत्रमें मानव-जीवन जानमें और अनजानमें सभी प्रकारके ज्ञेय विषयोंके मूलमें एक अभेदभूमिका आविष्कार करनेके लिये ही व्याकुल है । विभिन्न प्रकारके कार्योंमें वह एक कारणका अनुसंधान करता है, विभिन्न प्रकारके प्रत्यक्षगोचर सत्योंमें वह एक व्यापकतम महासत्यका अन्वेषण करता है, परिदृश्यमान विचित्र क्रियाओंके नियामक-रूपमें वह एक महाशक्तिका साक्षात्कार पाता है । यह जो 'बहु' में एककी खोज है, यह मानव-जीवनका स्वाभाविक धर्म है । एकसे बहुतकी उत्पत्ति, एकको आश्रय करके अनेककी संघबद्ध स्थिति, विनाशकालमें एकके अंदर बहुका विलय हो जाना,—यह मानव-जीवनके लिये प्राथमिक सत्य है । इसी कारण जहाँ ही विभिन्न पदार्थोंमें किसी प्रकारका सादृश्य या सहयोगिता, विभिन्न क्रियाओंमें किसी प्रकारका योगसूत्र या सामञ्जस्य, विभिन्न घटनाओंमें किसी प्रकारकी एकतानता या नियतपारम्पर्य दिखायी पड़ता है, वहीं मानवीय बुद्धि उनके मूलगत एक ऐक्य या अभेदभूमिका आविष्कार करनेमें व्यस्त हो जाती है । क्रमशः इस अनन्त वैचित्र्यमय जगत्के साथ जितना ही परिचय होता है, उतना ही उसके सभी पदार्थोंके अंदर एक प्रकृतिगत और क्रियागत ऐक्यसूत्रकी विद्यमानता उपलब्ध होती है, सम्पूर्ण जगत्में एक अङ्गाङ्गियोगकी अनुभूति होती है । तब समग्र जगत्का मूलीभूत, सकल वैचित्र्यकी अभेदभूमि, असंख्य क्रियाओंका मूल उद्गमस्थान, एक महाशक्तिमय स्वप्रकाश सद्वस्तुके साक्षात्कारकी आकाङ्क्षा तीव्र हो जाती है । सर्वकारणकारण सर्वशक्त्याधार समस्त रूपोंमें प्रतीयमान इस अद्वितीय सद्वस्तुका साक्षात्कार होनेके साथ ही सब कुछ ज्ञात हो जाता है—सम्पूर्ण कार्य-कारण-शृङ्खला, सब प्रकारकी क्रिया-परम्परा, सकल जातीय नाम-रूपोंके आभ्यन्तरीण तत्त्वके साथ मानव-जीवनका परिचय संस्थापित हो जाता है । केवल इतना ही नहीं; ज्ञाता और ज्ञेयका भी इस अत्यन्ताभेदभूमिके साथ परिचय होनेसे विश्वके ही साथ जीवनकी ऐक्यानुभूति होने लगती है, विश्वके स्थावर-जङ्गम सभी पदार्थोंको वह अपनेसे अभिन्न जानकर आलिङ्गन करता है, सभी क्रियाओंके अंदर वह अपनी ही अभिव्यक्ति देखने लगता है; मानव-प्राण तब विश्वव्यापक हो जाता है । इस प्रकार देखना ही सम्यक् दर्शन है और यहीं मानव-प्राणकी ज्ञान-साधना सार्थक होती है ।

किंतु मानव-प्राण तो केवल ज्ञानसाधक ही नहीं है, वह तो कर्मसाधक और भोगास्वादक भी है । कर्म और भोगके अंदर उसका ज्ञान मूर्ति धारण करता है । ज्ञानके उत्कर्षके साथ-साथ उसके कर्म और भोगका उत्कर्ष न होनेसे उसे सम्यक् तृप्ति नहीं प्राप्त हो सकती । जिस समय उसका ज्ञान अभेदभूमिपर प्रतिष्ठित हो जाता है, उस समय उसके कर्म और भोग भी उस अभेदभूमिसे ही उत्पन्न होते हैं । विचित्र-क्रियासमन्वित विश्वजगत्में जब वह एकके ही लीलाविलासका दर्शन करता है एवं अपने-आपको भी उसी एकके साथ अभिन्न रूपसे अनुभव करता है, तब उसके लिये और कुछ आकाङ्क्षणीय नहीं रह जाता, उसके कर्म और आनन्द-सम्भोगमें भी किसी क्षेत्रसे बाधा नहीं प्राप्त होती । विश्वके समस्त कर्मोंमें वह जिस प्रकार एकके ही लीलावैचित्र्यका दर्शन करता है, उसी प्रकार अपने निजी कर्मोंका भी उसी एकके ही लीलाभिव्यक्तिके रूपमें आस्वादन करता है । उसके देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिद्वारा जो भी कर्म होते हैं, सभी उस विश्वमूलीभूत एकके ही कर्म होते हैं; उसके अन्तरमें जो कोई संकल्प उदित होता है, वह उस एकका ही संकल्प होता है; उसके कर्मोंसे जो भी फल प्रसूत होता है, वही एक ही उन सब कर्मोंका सम्भोक्ता होता है । उसके समस्त कर्मोंका कर्ता और सभी कर्मफलोंका भोक्ता होता है वही सर्वकर्ता सर्वभोक्ता सर्वशक्त्याधार सर्वान्तर्यामी अद्वितीय परम पुरुष । अपनी

निज महिमामें विराजमान उस परम तत्त्वके साथ उसकी ऐक्यानुभूति हो जानेसे, मानव-जीवनकी स्वाराज्यसिद्धि भूतप्रकृतिजयित्व और विश्वराजत्वकी प्रतिष्ठा स्वभावतः ही हो जाती है। उस परम तत्त्वका स्वरूप ही उसका स्वरूप हो जाता है, उस परम तत्त्वकी विभूति ही उसकी विभूति हो जाती है और उस परम तत्त्वका विश्वराज्य ही उसका साम्राज्य हो जाता है। फिर 'सर्वेषु लोकेषु कामचारः' होनेमें उसे कोई बाधा-विघ्न नहीं रह जाता, किंतु अपने सुखसम्भोग या प्रभाव-प्रतिपत्तिके लिये कोई कामना ही उसके एकतत्त्वानुगत चित्तमें नहीं उत्पन्न होती।

इस प्रकार अद्वैतज्ञान स्वायत्त करके मनुष्य जब उसी अद्वय सर्वान्तर्यामीकी प्रेरणासे कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होता है, तब उसका निजी वैयक्तिक कोई प्राप्तव्य या भोक्तव्य उसकी कर्मधाराका नियामक नहीं होता, विश्वका सहज कल्याण ही उसके सभी प्रकारके कर्मोंका नियामक होता है। साधारणतः उसके देहेन्द्रिय-मन जिस प्रकारकी सामाजिक राष्ट्रिय नैतिक और आध्यात्मिक परिस्थितिमें स्थित होते हैं, उसीके अनुसार उसका स्वकर्म निर्धारित होता है, तदनुकूल आकारमें ही उसके कर्मोंकी बाहरी आकृति निरूपित होती है। बाह्य-दृष्टिसे ये सब कर्म एक क्षुद्र सीमाके भीतर आबद्ध भी रह सकते हैं, किंवा बृहत्तर क्षेत्रमें विस्तृत भी हो सकते हैं। किंतु उसके सभी कर्मोंका उद्गम होता है एक निर्मल विश्वप्रेम। उसका प्राण विश्वप्राणके साथ नित्ययुक्त रहता है, उसके देहेन्द्रिय-मन रहते हैं विश्वप्राणकी सेवामें नियुक्त। विश्वप्राण ही उसके देहेन्द्रिय-मनके कर्मोंमें लीलाविलास करता रहता है। तभी तो वह कर्म करके भी अकर्मा रहता है, कर्ममें रहते हुए भी कर्मके ऊर्ध्व विराजता है।

अभेददृष्टि लेकर कर्मसाधनामें व्रती होनेसे एककी कर्म-सिद्धिके साथ दूसरेकी कर्मसिद्धिका कोई विरोध नहीं होता, एककी प्रभुत्व-प्रतिष्ठा दूसरेके दासत्वका कारण नहीं बनती, एककी कर्मशक्ति दूसरेकी कर्मशक्तिको व्याहत करनेके लिये उद्यत नहीं होती। जब सब-के-सब कर्मोंका ही मूलकर्ता एक होता है, सबके सभी कर्म जब एककी ही सेवामें निवेदित होते हैं, जब एक विश्वप्राण ही सभी कर्मोंका फलभोक्ता होता है, तब फिर विरोधका अवसर ही कहाँ रह जाता है? तब चित्तमें हिंसा, द्वेष, घृणा, भयादिके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। चित्तकी सारी वृत्तियाँ जब एक प्रेमवृत्तिमें ही परिणत हो जाती हैं, प्रेम ही प्राणकी स्वरूपगत एकमात्र वृत्तिके रूपमें अनुभूत होता है, सकल कर्म प्रेमकी ही अभिव्यक्ति बनकर एक निराविल धाराके रूपमें प्रवाहित होते हैं, तब वही विश्वान्तर्यामी एक परम तत्त्व भी प्रेमानन्द स्वरूपसे ही उपलब्ध होता है, समस्त विश्व ही उसके प्रेमानन्दकी लीलारूपमें प्रतीयमान होता है और विश्वके प्रत्येक व्यापारमें उसके प्रेमविलासका ही परिचय प्राप्त होता है। तब मानव-हृदय प्रेममय हो जाता है एवं समस्त जगत् ही उसकी अनुभूतिमें प्रेमद्वारा गठित होनेसे सौन्दर्य-माधुर्य-मण्डित और अनन्त आनन्दका भण्डार हो जाता है।

अभेददृष्टिजनित प्रेमसे हृदय जब भरपूर हो जाता है, तभी मानव-प्राणकी भोगाकाङ्क्षाकी सम्यक् परितृप्ति होती है। तब अन्तरमें प्रेमानन्दस्वरूपकी अविच्छिन्न अनुभूति, एवं बाहर भी उसी अद्वय प्रेमानन्दस्वरूपके ही विचित्र विलासका सम्भोग होता है। तब भीतर-बाहर केवल आनन्द-ही-आनन्द रहता है। विश्वब्रह्माण्डमें कहीं भी कोई आनन्द-विरोधी सत्ता ही नहीं रहती। अतएव अभाव-अभियोग, शोक-ताप, भय-चिन्ता तब मानव-हृदयका स्पर्श नहीं कर सकती। आनन्दविलासके राज्यमें निरानन्दके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इस अमृतास्वादनमें मृत्युकी कोई भावना ही नहीं उदित होती।

अतएव एक अद्वय नित्य सत्य प्रेमानन्दघन परम तत्त्वके साथ अविच्छेद्य मिलन ही मानव-जीवनके लिये चिर-आकाङ्क्षित है, इस महामिलनकी आकाङ्क्षा ही संसारमें उसके चिर असंतोषका कारण है, उसके स्वभावमें चिरकालसे इसी आकाङ्क्षाके निहित रहनेसे उसके इन्द्रिय-मन-बुद्धि-हृदय 'नेति-नेति' 'और चाहिये, और चाहिये' कहते हुए दौड़ते चले जाते हैं एवं सांसारिक परिच्छिन्न बहु-ज्ञान, बहु-कर्म और बहु-भोगमें कहीं शान्ति नहीं पाते हैं। एक अपरिच्छिन्न अद्वय तत्त्वके साथ मिलित होकर नित्य अभेदभूमिमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकनेपर ही मानव-प्राणकी सम्यक् तृप्ति होती है—तभी उसके ज्ञानकी, कर्मकी और भोगकी सार्थकता हो जाती है।
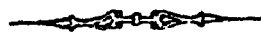
श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(७१)

हँस-हँसकर खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कालियके चारों ओर घूमने लगते हैं— इस प्रकार, मानो खगेन्द्र गरुड़ अपने भक्ष्य किसी क्षुद्र सर्पसे कौतुक करने लगे हों तथा कालिय भी अवसरकी प्रतीक्षामें, पुनः अपने विषदन्तोंके द्वारा भीषण प्रहार करनेके उद्देश्यसे, नीलसुन्दरके समान ही चक्कर काट रहा है—

क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो
बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २५)

ताहि कृष्ण घेरयौ चहुँ ओरा ।
मनहुँ खगेस घेर अहि घोरा ॥
जेहि दिसि प्रभु तेहि दिसि है सोऊ ।
एहि विधि भ्रमत फिरे तहँ दोऊ ॥

× × ×

ऐसैं काली सौं बनमाली । खेलन लगे सकल गुनसाली ॥
वाम भाग दिए तिहि उर मेलत । जैसैं गरुड़ सर्प सौं खेलत ॥

किंतु कालियके बलकी तो एक सीमा है । अनन्त अपरिसीम बलशालीसे होड़ करने जाकर वह कब तक टिक सकता था । देखते-देखते उसकी सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गयी, घूम-घूमकर वह अत्यन्त श्रान्त हो गया । उसमें अब इतनी सामर्थ्य भी न रही कि अतिशय मन्द गतिसे भी नीलसुन्दरका अनुसरण कर सके । आखिर श्रान्त-सा हुआ वह एक ओर खड़ा हो गया । दीर्घ निःश्वास आने लगे । आसन्नमृत्यु-जैसी उसकी दशा हो गयी । हाँ, उसके फण अभी भी ऊपर ही उठे थे, जिनकी ओटसे अभिमान स्पष्ट रूपसे झाँक रहा था । पर अब तो योजना दूसरी ही है । मदोन्मत्त कालिय स्वयं नतमस्तक न हो सका, न सही; करुणा-वरुणालय श्रीकृष्णचन्द्र उसे अपना चरणस्पर्श दान करनेके लिये चञ्चल हो उठे हैं, वे स्वयं उसे अतिशय विनम्र बनाकर ही छोड़ेंगे और यह लो, वे दौड़ चले· द्रुतगतिसे उसके समीप आ गये । उनका वह वाम हस्त-कमल ऊपर उठा; सबसे ऊपर उठे हुए कुछ फणोंपर एक अत्यन्त हल्की थपकी-सी उन्होंने लगा दी । फिर तो न जाने उस किसलय-कोमल करमें कितना भार कालियको प्रतीत हुआ और वे उन्नत फण उस भारसे नमित हो ही गये । इतना ही नहीं, उनका वह पीत दुकूल विद्युत्-रेखा-सा झलमल कर उठा और पलक गिरते-न-गिरते नीलसुन्दर उन्हीं झुके हुए सुविस्तृत फणोंपर अनायास उछलकर चढ़ गये—ठीक ऐसे, मानो उन्हें अपने शेषशायी स्वरूपकी स्मृति हो आयी हो और चिर अभ्यस्त होनेके कारण अपनी शय्यापर ही वे सुखपूर्वक आरोहण कर रहे हों !—

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांस-
मानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २६)

बुझि गयौ ओज उरगकौ ऐसैं ।
नाग दवनके देखत जैसैं ॥

× × ×

फिरि झपटि चढ़े फन पकरि हाथ ।
दै भार भरत गति अमित नाथ ॥

× × ×

सोहैं नंद-सुवन तहँ ऐसैं । सेस उपर नाराइन जैसैं ॥

कालिय अपने इस अचिन्त्य सौभाग्यको अनुभव न कर सका, योगीन्द्रमुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीकृष्णचरण-सरोरुहका स्पर्श प्राप्तकर वह परम कृतार्थ हो चुका है, यह अनुभूति उसे नहीं हुई—यह सत्य है । पर अन्तरिक्ष तो 'जय-जय' नादसे तत्क्षण ही नादित हो उठा । ऐसे अत्यन्त अधम सर्पको भी अपनी कृपाका अयाचित दान व्रजेन्द्रनन्दन दे सकते हैं, यह प्रत्यक्ष देखकर देववृन्दके

आनन्दका पार नहीं रहा है । उन सबके अपलक नेत्र केन्द्रित हो गये हैं—नीलसुन्दरके पदकमलोंपर ही । इस समय उन मृदुल चरणोंकी शोभा भी देखते ही बनती है । कालिय-मस्तकमें स्थित मणिसमूहोंके सम्पर्कमें आकर वे चरणाम्बुज अतिशय अरुणिम प्रतीत हो रहे हैं और अब देखो, नृत्यके तालबन्धका एक विचित्र-सा कम्पन उनमें भर आया है । ओह ! स्पष्ट ही तो है—समस्त कलाओंके आदिगुरु ये व्रजेन्द्रनन्दन कालिय-फणोंपर नृत्य करने जो जा रहे हैं । एक प्राकृत नट भी अपनी कलाका प्रदर्शन करने जाकर, विविध आश्चर्यमय उपकरणोंके सहारे नाचकर अपने कौशलका परिचय देता है, मृत्तिकापात्रोंपर, आकाशमें टँगे रज्जु-खण्डपर, सूक्ष्म तारोंपर विविध तालबन्धोंकी रचना कर दर्शकको मुग्ध कर देता है । फिर अखिलकलाप्रवर्त्तक सकल कलानिधि श्रीकृष्णचन्द्र कालिय-फणकी रङ्गशालामें ही अपनी कलाका दर्शन करायें, निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर ही देखते हुए अपने स्वजन व्रजपुरवासियोंके प्राणोंको शीतल करें, इसमें आश्चर्य ही क्या है । अतिशय चञ्चल कालियफणपर अखण्ड सुमधुर तालबन्धकी रचना एक असाधारण अभूतपूर्व कौशल जो होगी । इसीलिये लीलाविहारी इसीकी अवतारणा करने जा रहे हैं, नहीं-नहीं कर चुके, उनका वह नृत्य आरम्भ हो गया—

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-
पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २६)

पुनि ताके फनपर चढ़ि गये ।
सकल कला गुरु निर्तत भये ॥
फनन तैं निकसि निकसि मनि परै ।
पगन मैं झलमल झलमल करै ॥
तैसिय हरि-नख-मनिकी जोति ।
सब दिसि जगमग जगमग होति ॥

अस्तु, नीलसुन्दरके बिम्बविडम्बि अधरोंपर नित्य व्यक्त स्मितकी वह रेखा सहसा और भी स्फुट हो गयी। सलोने चञ्चल दृग एक बार अन्तरिक्षकी ओर मुड़े और फिर दूसरे ही क्षण श्रीअङ्गोंसे एक विचित्र मनोहर नृत्यकी गतियोंका क्रमशः प्रकाश होने लगा । जिनकी चरणसेविका मायानटीके नियन्त्रणमें अनन्त ब्रह्माण्ड सृष्ट होकर निरन्तर नाच रहे हैं, ब्रह्माण्डके प्रत्येक क्षुद्रतम धूलि-कणसे आरम्भकर अतिशय महान् सुमेरुपर्यन्त जडवर्ग एवं कीटाणुसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त चेतन-समुदाय अनवरत नृत्य कर रहा है, वे मायाधिपति व्रजेन्द्रनन्दन आज स्वयं कालिय-फणपर नृत्य करने चले हैं । और इस समय इन नटवर-नागरको इतनी त्वरा है कि वीणा-झंकृतिकी, मृदङ्ग आदिके तालकी सहायता प्राप्त हुए बिना ही मञ्चपर उतर आये और नृत्य आरम्भ कर दिया है उन्होंने ! वाद्ययन्त्र नहीं है, न सही । उनके मधुमय कण्ठसे निःसृत 'थै थै' का अप्रतिम अभिनव झङ्कार ही पर्याप्त है । बस, दिग्दिगन्त गूँजने लगा है उनके श्रीमुखसे प्रसरित 'थैया तथ तथ थैया थै थै थैया तथ् ....' के मधुर स्वरसे और वे स्वयं अपने मुखसे दिये हुए तालपर ही आनन्दित हुए नृत्य कर रहे हैं । अवश्य ही अन्तरिक्षमें अवस्थित उनके 'तदीय' जन—गन्धर्व, सिद्ध, सुर, चारण, सुरसुन्दरियोंकी आँखें खुलते देर न लगी । सबके प्राणोंमें नादित हो उठा नीलसुन्दरके मधुस्यन्दी कण्ठका 'थै थै' नाद और साथ ही जाग उठी अग्रिम कर्त्तव्यकी स्फूर्ति—

वाद्यं विनैव स्वमुखेनैवोच्चारितैस्थैथैशब्दैः प्रभुर्नृत्यति तद्वयं कं समयं प्रतिस्थिता इति ।
(सारार्थदर्शिनी)

'ओह ! बिना वाद्यके ही, अपने मुखसे उच्चारित 'थै थै' शब्दके तालपर ही प्रभु नृत्य कर रहे हैं; फिर हमलोग किस समयकी बाट देख रहे हैं ।'

अब तो कहना ही क्या है । प्रेममग्न उन गन्धर्वोंने नीलसुन्दरकी ताल एवं लयमें अपनी ताल-लय मिलाकर उनकी गुणावलीकी मधुर तान छेड़ दी । स्नेहपूरित हुए

स्वर्ग-चारणगण मृदङ्ग, पणव, आनक आदि वाद्य-यन्त्रोंकी ताल श्रीकृष्णचन्द्रके चरणविन्याससे एककर ताल देने लगे। मधुर गीत गाते हुए देवगण एवं देववधुओंने नन्दनकाननसे मन्दार, पारिजात आदि पुष्पोंका चयन किया; क्षणभरमें सबने ही राशि-राशि कुसुमोंसे अपने दुकूल, अञ्चल, अञ्जलि भर लिये और श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें कुसुमोंकी अविरल धारा बरसने लगी। सचमुच ही सुरगण एवं सुरसुन्दरियोंके द्वारा प्रक्षिप्त, स्नेहसिक्त प्रसूनसे कलिन्दकन्याका प्रवाह, ह्रदका कूल सम्पूर्णतया आस्तृत होने लगा। व्रजेन्द्रनन्दनका माहात्म्य कीर्तन करते हुए सिद्धगणोंने हरिचन्दन, कुङ्कुम आदि दिव्य सौरभमय विविध चूर्णोंके उपहार बिखेर दिये; समस्त दिशाएँ आमोदित हो उठीं और उधर ऋषिगणोंका स्तवपाठ भी आरम्भ हो गया। सभी अपना सर्वस्व समर्पित कर श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवामें तत्क्षण उपस्थित हो गये—

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय-
गन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीत-
पुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २७)

थैया तथतथ थैया थै थै थैया तथेति गन्धर्वाः ।
तालं पाठं वादनमारेभिर उच्चकैर्मुदिताः ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

प्रभु कहँ नचत देखि सुर चारन ।
आए बनि बनि सेवा कारन ॥
देववधू गावहिं पिकबैनी ।
अप्सर संग मिली मृगनैनी ॥
पनव मृदंग आदि बहु बाजे ।
भिन्न भिन्न नाना बिधि राजे ॥
करि अस्तुति सुरसिद्ध गन सुमन बरषि हरखाइ ।
नचत सु कालीके फननि कृष्न देख सुख पाइ ॥

× × ×

सिर डुलति चंद्रिका सरित माल ।
कुंडलनि गंड मंडत रसाल ॥
जुरि गंध्रप आए समय जान ॥
सुरबधू अपछरा करहिं गान ॥
सुर भरहिं तार दै दै उचार ।
बीनादि जंत्र बाजैं अपार ॥

श्रीकृष्णचन्द्र और भी उत्साहमें भरकर नृत्य करने लगते हैं। गन्धर्वोंका स्तवन जिस क्रमसे चल रहा है, उनकी गद्यपद्यमयी स्तुति जिस प्रवाहमें व्यक्त हो रही है, उसीके अनुरूप ही ताल-संकेतकी व्यञ्जना भी हो रही है तथा अखिल कलानिधि श्रीकृष्णचन्द्र भी उसी ताल एवं वृत्तमें बँधे हुए ही नृत्य कर रहे हैं। कहीं भी स्खलन नहीं, स्वरका व्यतिक्रम नहीं। साथ ही कालियके एक फणसे दूसरे फणपर वे चले गये हैं, यह तो दीख पड़ता है और वे गये हैं ठीक तालके विरामके समय ही; परंतु स्थान परिवर्तन करते समय सिद्ध, चारण, गन्धर्व आदि किसीने भी उन्हें सचमुच देखा हो, यह कहते बनता नहीं। बलिहारी है नीलसुन्दरकी इस कलाकी !—

उद्घाटयन्ति शब्दं तालं
पाठं च ते यथा विरुदम् ।
अयमपि तथैव नृत्यति फणिनः
फणतः फणान्तरं गच्छन् ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

और कुछ ही क्षणोंके अनन्तर गन्धर्व-चारणोंकी कला कुण्ठित होने लगी। नृत्य एक शास्त्र है, उसके निर्धारित नियम हैं। गति-विन्यासका कौशल तो कोई अपेक्षाकृत एक दूसरेसे अधिक प्रदर्शित कर सकता है। दर्शकके हृत्तारोंको झङ्कृत कर देनेकी सामर्थ्य सभी नर्त्तकोंमें समान हो ही नहीं सकती, किंतु प्रत्येक नर्तक ही नृत्य-परम्पराकी सीमामें ही रहता है, कभी उसका अतिक्रमण नहीं करता। नृत्यविशेषमें जो उसकी स्वतन्त्रता रहती है, एक नवीनताका भान जो वह अपने दर्शकोंको करा देता है, वह भी नृत्य-कलाकी एक नियमगत वस्तु ही है; किंतु यहाँ तो व्रजेन्द्रनन्दन देखते-

देखते ही सर्वथा स्वकल्पित गतिसे ही नृत्य करने लगते हैं। परम स्वतन्त्र व्रजेन्द्रनन्दनके द्वारा नृत्यकी यह गति-रचना है तो अत्यधिक मनोहर, अत्यन्त मोहक, पर चारण-गन्धर्वोंने कहाँ शिक्षा पायी है, ऐसी अद्भुत कलाकी ? कब देखा है उन सबने ऐसा प्राणोन्मादी उद्दाम नृत्य ? इसीलिये अब सम्भव ही नहीं रहा कि वे श्रीकृष्ण-चन्द्रके कण्ठमें कण्ठ मिलाकर उनके गीतमें योग दान कर सकें; वाद्ययन्त्रोंको उनके तालमें बाँधे रखकर चल सकें; यहाँतक कि वे ताल-पाठका संकेत भी उच्चारण कर सकें, यह क्षमता भी उनमें न रही—

निजकल्पितया गत्या नृत्यति कृष्णो यथा स्वैरी ।
न तदनुरूपं गातुं पठितुमप्यमी शेकुः ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

कौन बतावे उन चारण-गन्धर्वोंको—'अरे ! कालियके अन्तस्तलके स्पन्दनपर ही तो व्रजेन्द्रनन्दनकी गति निर्भर करती है।' उसकी स्तब्धताको आत्यन्तिक रूपसे हर लेनेके लिये ही तो नीलसुन्दरने उसके फणोंपर अपनी रङ्गशालाका निर्माण किया है । पर कालियकी बहिर्मुखता भी अपनी जातिकी एक ही है । वह न जाने रोष-प्रतिशोधकी किन-किन लहरोंमें बह रहा है । भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु व्रजेन्द्रनन्दनको अपने मस्तकपर अवस्थित अनुभव करके वह आनन्दसिन्धुमें सदाके लिये निमग्न न हो सका; अपितु वह तो यह सोच रहा है कि कहीं, तनिक-सा भी अवसर मिल जाय और वह इस 'शिशु' को तपनतनयाके प्रवाहमें फेंक दे । इसीलिये रह-रह कर उसके फण उठते हैं; जिस फणमें तनिक भी शक्तिका अनुभव उसे होता है, उसे ही वह ऊपर उठाता है तथा उस साँवरे शिशुको दबोच लेनेका स्वप्न देखता है । सहस्र फण उसके हैं । उनमें एक शत मुख्य हैं तथा उन सौमें ही निरन्तर अत्यन्त उग्र विषका कुण्ड धक्-धक् जलता रहता है और इन्हींमेंसे किसी फणको उठाकर उसका समस्त विष व्रजेन्द्र-नन्दनपर उँडेलकर वह उन्हें भस्म कर देना चाहता है; किंतु होता यह है कि जो भी फण नमित नहीं दीखते, ठीक उन्हींपर श्रीकृष्णचन्द्रका पाद-प्रहार होने लगता है । नृत्यके आवेशमें, एक नयी गतिका सृजन करके, अपनी अतिशय मनोरम भङ्गिमाको अक्षुण्ण रखते हुए ही, वे उसी फणको बारम्बार तालका विराम-स्थल बना लेते हैं; वही मस्तक उनकी रङ्गस्थलीमें परिणत हो जाता है और फिर उनके चरण-प्रहारसे टूटकर वह नीचेकी ओर झुक पड़ता है । इस प्रकार एक ओर तो श्रीकृष्णचन्द्र ताण्डवका रस ले रहे हैं, पर साथ ही आनुषङ्गिकरूपसे खल-संयमनकी लीला भी सम्पन्न होती जा रही है । हाँ, कालियके लिये तो अब उसके जीवन-दीप बुझते-से दीख रहे हैं । कितनी देरतक वह सह सकता था उनकी ताड़नाको । बार-बारके पदाघातसे उसका एक-एक फण टूट-टूटकर नीचेकी ओर लटकने लगा है । मुखसे, नासा-विवरसे अनर्गल रक्तकी धारा बहने लगी है । अत्यधिक व्यथाके भारसे वह मूर्च्छित होने लगा है—

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्ण-
स्तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्-
नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २

प्रभु तजत उरग के नमित सीस ।
जे उन्नत तिनपर नचत ईस ॥
निर्तत नंद किसोर जोर पगतल हनि फन फन ।
गावत अंबर चढ़े अमर किन्नर गंध्रप गन ॥
फिरि भरतालनि भनक फनिक फिरि फेनहिं डारतु ।
बमतु रुधिर मुख-धार भारनिहि अंग सम्हारतु ॥
× × ×
जोइ जोइ फन अहि उन्नत करै ।
तहँ तहँ पाँव कान्ह कौ परै ॥
पगन की कूटनि दुखित जु भयौ ।
सर्प कौ दर्प सबै गिरि गयौ ॥

'आकाशसे अभी भी प्रसूनोंकी वृष्टि हो ही रही है। देवद्रोही इस कालियके गर्वको प्रभुने हर लिया—यह दर्शन देव-समाजके कण-कणको आनन्दित कर दे रहा है। उन्हें तृप्ति नहीं हो रही है नीलसुन्दरके चरण-सरोरुहमें कुसुमोंका अभिनन्दन समर्पित करनेसे। और क्या पता—शेषशायी पुराणपुरुषके पादारविन्दमें पाद्य, अर्घ्य, सुमन समपित करनेका अवसर तो उन्हें कितनी वार मिल चुका है, पर वहाँ इन नृत्यपरायण नीलसुन्दर-की बङ्किम झाँकी कहाँ? और इसी उल्लासमें ही उनके पुष्पवर्षण—पुराण-पुरुषके पूजनका विराम नहीं हो रहा हो!—

..............पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । २९)

तेहि तेहि समै देव गंधर्वा। किंनर चारन मुनिगन सर्वा॥
जसुदानंदन कहँ सब आई। पूजहि सुमन सुरभि सुख पाई॥
सेषासन जनु पुरुष पुराना। पूजेउ एहि बिधि करि सनमाना॥

जो हो, अब कालियका गर्व शमित हो चुका था। उसकी शारीरिक शक्ति तो पूर्णतया क्षीण हो ही चुकी थी; निराश मन भी चिर-निद्रामें प्रविष्ट होने चला। किंतु ठीक यही अपेक्षित क्षण जो है, अवसर है श्रीकृष्णचरण-नख-चन्द्रिकाके आलोकसे अन्तस्तल उद्-भासित हो उठनेका। और यही हुआ। कालियके मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं प्राणोंमें एक ज्योति-सी जाग उठी और उसने उसी प्रकाशमें व्रजेन्द्रकुलचन्द्रके स्वरूपको पहचान लिया। 'पर हाय! शरीरमें तो अब शक्ति नहीं कि वह स्पन्दित भी हो सके, श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-सरोजोंमें न्योछावर हो सके! अब क्या हो! बहुत विलम्ब हो गया..............!', फिर भी अन्तिम श्वासकी-सी अवस्थामें कालिय मन-ही-मन पुकार उठा—

सरन-सरन अब मरत हौं, मैं नहिं जान्यौ तोहि॥

स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ३०)

साथ ही उस ओर नाग-वनिताओंपर योगमायाके द्वारा प्रसारित वह आवरण भी सहसा हट गया। युगसे जिन व्रजेन्द्रनन्दनको वे अपना मन-प्राण समर्पित कर चुकी थीं, प्राणोंकी उत्कण्ठा लिये जिनकी प्रतीक्षा कर रही थीं, वे ही जब उनके आवासमें स्वयं पधारे, तब उन सबने—दर्शनसे कृतार्थ होकर भी—उन्हें नहीं पहचाना। हाँ, इस समय अकस्मात् अपने-आप—न जाने कैसे हृत्तल आलोकित हो उठा और उन सबने देख लिया, जान लिया—'हमारे चिरजीवनके आराध्य प्राणाधार ही तो वहाँ विराजित हो रहे हैं।' किंतु पतिदेव—आह! वे तो महाप्रयाणकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। नागवधुएँ तत्क्षण उपस्थित हो जाती हैं श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-प्रान्तमें ही—

गति सबल अबल स्वाँसानि बल, हहरि सुहिय लहरातु घट।
लखि बिकल व्याल काली सिथिल, तब आईं अबला निकट॥

कमलमुख

कमलमुख देखत कौन अघाय।
सुनि री सखी लोचन-अलि मेरे मुदित रहे अरुझाय॥
मुक्तामाल लाल उर ऊपर जनु फूली बन घाय।
गोवर्धनधर अंग-अंगपर कृष्णदास बलि जाय॥

—कृष्णदासजी

अपनी आवश्यकताएँ घटाइये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

आज सर्वत्र पैसेकी तंगीकी ध्वनि आ रही है। प्रायः सभी अपनी आयमें अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर पा रहे हैं। भौतिक आनन्दोंको पानेके लिये रिश्वत, घूस और कालाबाजार चल रहे हैं। आय बढ़ती नहीं तो उनकी व्यग्रता और भी बढ़ती है।

विवेक हमसे कहता है कि इस समस्याको दूसरी तरहसे क्यों नहीं सुलझाते। 'तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर।' आयकी चिन्ता छोड़कर आवश्यकताओंको घटाना प्रारम्भ कर दीजिये, जिससे इसी आयमें काम चल जाय और कुछ शेष भी बच जाय।

हमें परेशान करनेवाली हमारी कृत्रिम आवश्यकताएँ और बनावटी जीवन है। जैसे हम हैं, उससे बढ़ा-चढ़ाकर दिखानेके हम आदी बन गये हैं। हमने पढ़-लिखकर अपने विलास तथा आरामकी नाना वस्तुओंको जन्म दे डाला है। हमारी जीभ तथा वासना अनियन्त्रित हो गयी है। हम दूसरोंका अन्धानुकरण करनेकी मूर्खता कर रहे हैं। फलतः रोगी और दुखी हैं।

आवश्यकताएँ हमारे गुण, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार घटती-बढ़ती रहती हैं। रबरकी तरह, चाहे जितनी बढ़ा लीजिये, चञ्चल मनका नियन्त्रणकर चाहे जितनी सिकोड़ लीजिये। जितनी अधिक आवश्यकताएँ, उनकी पूर्तिके लिये उतना ही श्रम, भाग-दौड़ और संघर्ष। अपूर्ण रहनेपर उसी अनुपातमें मानसिक कष्ट और वेदना।

मोटे रूपसे आपकी आवश्यकताएँ तीन प्रकारकी हैं—(१) जीवन-यापनके लिये जरूरी, (२) सुख-विषयक, (३) विलासविषयक। प्रथम वर्गकी आवश्यकताएँ पूर्णकर अधिक-से-अधिक संतोष हो सकता है। वर्ग २ और वर्ग ३ की अन्तिम सीमाका कोई ठिकाना नहीं।

प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियोंने आवश्यकताओंमें भेद नैतिक आधारपर किया था। उन्होंने मानवके लिये उन्हीं आवश्यकताओंकी योजना रक्खी थी, जो सरल, सादा जीवन और उच्चविचारोंकी पोषक थी। सुख और विलासको उन्होंने मानवकी शक्तियाँ कुण्ठित करनेवाला माना था।

भौतिक सभ्यताके युगमें मनुष्यने सुख और विलासकी आवश्यकताओंको बढ़ाया; और उनके अपूर्ण रहनेपर विक्षोभ, मानसिक कष्ट तथा अभावोंकी भट्ठीमें जलता रहा।

जीवनविषयक आवश्यकताएँ क्या हैं? हम आवश्यक, सुखविषयक एवं विलासकी आवश्यकताओंमें विवेक किस प्रकार करें? आइये, इस प्रश्नपर विचार करें।

जीवन-रक्षक आवश्यकताएँ वे हैं, जिनके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। पौष्टिक भोजन, वायुमय मकान, साधारण वस्त्र, रोगोपचारकी सुविधाएँ तथा शिक्षा—ये ऐसी मौलिक आवश्यकताएँ हैं, जो जीवनधारणके अतिरिक्त मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक तथा शैल्पिक शक्तियोंका विकास करती हैं। प्रत्येक व्यक्तिको इनकी पूर्तिका प्रथम प्रयत्न करना चाहिये।

इनके पश्चात् उन आवश्यकताओंको पूर्ण कीजिये जो आपके सामाजिक यश-प्रतिष्ठाके लिये जरूरी हैं और जिनके लिये आपको कभी-कभी अपनी जीवन-विषयक आवश्यकताओंसे विमुख होना पड़ता है।

यहाँतक आप अपने आपसे उदारताका व्यवहार कर सकते हैं; किंतु आगेका मार्ग बड़ी जागरूकता एवं सावधानीका है। आनन्द एवं विलासके क्षेत्र अनन्त हैं। आजके मानवकी चिन्ताका कारण ये ही वर्ग हैं।

विलास एवं आनन्दका वर्ग बड़ा लंबा है। इसमें बढ़िया-बढ़िया वस्त्र, आलीशान मकान, गहने, मनोरञ्जन-

के कीमती साधन, मिष्टान्न और ऊँची प्रकारके भोजन, मोटर, सिनेमा, क्लबका जीवन, मादक पदार्थोंका सेवन, दान-दहेजकी अधिकता, बहुमूल्य वाहन, कलात्मक वस्तुओंका खरीदना सम्मिलित है ।

अपने पेशे, स्तर तथा वातावरणको देखिये और फिर उपर्युक्त आवश्यकताओंको कम करते जाइये । अपने सामाजिक जीवन, आर्थिक शक्ति, परिवारके सदस्योंकी संख्या, स्थान एवं समयको देखिये ।

जिस वस्तुको रखनेकी आपमें क्षमता नहीं है और जो आपकी किसी स्थायी माँगकी पूर्ति न कर केवल मिथ्या प्रदर्शनमात्रके लिये है, उसे त्याग दीजिये । जिन भोजनोंसे आपकी कार्यक्षमता नहीं बढ़ती, केवल व्यसनके रूपमें वे साथ बँधे हुए हैं, उनसे तुरंत दूर रहने लगिये । पान, सिगरेट, शराब, भाँग, चरस, बीड़ी और इसी प्रकारके दूसरे व्यसन आपकी अज्ञानताके सूचक हैं । इनके पंजेमें बँधे रहना महामूर्खता है ।

मानवको शान्ति तब प्राप्त होती है, जब वह कम-से-कम आवश्यकताओंका बोझ सिरपर रखता है । जिसे तनिक-तनिक-सी वस्तुका मोह होता है, वह उनकी अपूर्तिपर निरन्तर विक्षुब्ध रहता है ।

कम आवश्यकतावाला व्यक्ति अपनी शक्ति क्षुद्र कार्योंसे बचाकर उच्चतर कार्योंमें व्यय कर अपनी आत्मिक उन्नति कर सकता है । देहमें वासना है, वासनासे असंख्य इच्छाएँ और इच्छाओंसे कष्ट उत्पन्न होता है । जैसे हाथीके बाहर निकले हुए दाँत फिर अंदर नहीं जाते, वैसे ही एक बार बढ़ी हुई आवश्यकताएँ कम नहीं हो पातीं । प्रत्येक आवश्यकता एक ऐसा महसूल है, जो चुकाना ही पड़ता है ।

आजके जीवनमें जो समस्याएँ अत्यन्त पेंचीदा हो रही हैं, जिनसे अन्तःकरणमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वे बढ़ी हुई झूठी कृत्रिम आवश्यकताओंसे ही उत्पन्न हैं । हम स्वयं ही इनके जनक हैं ।

देखिये, आपकी प्रवृत्ति किस ओर चल रही है—क्या आप निरन्तर एकके पश्चात् दूसरी अन्धाधुन्ध आवश्यकताएँ बढ़ाते चले जा रहे हैं ? अनाप-शनाप व्यय कर दूसरोंसे ऋण ले-लेकर क्यों व्यर्थ ही अपनेको बन्धनोंमें डाल रहे हैं ? कहीं आपको मिथ्या प्रदर्शन, झूठी शान, जगत्‌को अपना अतिरञ्जित स्वरूप दिखानेकी तो आदत नहीं पड़ गयी है ? विलास, भोग, व्यभिचार, अभक्ष्य वस्तुओंका भोजन, पान करनेकी कुत्सित आदतमें पड़कर आपका चित्त चञ्चल तो नहीं रहता है ? यदि आप इन शत्रुओंसे मुक्त रहना चाहते हैं, तो अपनी आवश्यकताओंको एक-एक करके कम करते जाइये, आप सुखी रहेंगे ।

हमारा सुख हमारी आवश्यकताओंके अनुपातमें रहता है । अधिक आवश्यकताओंवाला व्यक्ति बड़ी कठिनतासे सुख-समृद्धि प्राप्त करता है । कारण, उसकी अन्तिम आवश्यकताकी पूर्ति होते-होते, सुख भोगनेकी शक्ति बिल्कुल क्षीण हो जाती है । प्रत्येक आवश्यकता एक मानसिक बन्धन है । जो इन बन्धनोंमें अधिक-से-अधिक बँधा है, उसके सुखमें उतनी ही बाधाएँ हैं ।

अधिक आवश्यकतावाला व्यक्ति जिस मानसिक रोगसे पीड़ित रहता है, वह है मनका वशमें न रहना, अति चञ्चलता, अति स्वच्छन्दता और इन्द्रियोंको वशमें न कर सकना । यदि ऐसे व्यक्ति कुछ चित्तवृत्ति-निरोध करें, तो बढ़ी हुई आवश्यकताओंसे मुक्ति पा सकते हैं । मनुष्य मनकी वृत्तियोंको ढीला छोड़कर चञ्चल, उन्मत्त और प्रचण्ड बना लेता है । कालान्तरमें आदत बन जानेपर इनसे मुक्ति असम्भव हो जाती है । व्यसन, फैशन, व्यभिचार आदि कुत्सित आदतोंका प्रारम्भ बड़ा साधारण होता है, धीरे-धीरे व्यसन बढ़ते हैं । अन्तमें मनुष्य इन्द्रियोंका दास हो जाता है ।

इसी प्रकार यदि मनुष्य मनमें दृढ़तासे यह प्रण कर

ले कि मुझे मनकी चञ्चलता, व्यर्थके प्रलोभन इत्यादिसे मुक्त रहना है तो वह मनकी प्रलोभन-वृत्तिको नियन्त्रित कर सकता है।

जैसे आपने व्यसनके मायाजालको प्रारम्भसे क्षीण किया था, वैसे ही शुभ भावनाओंका प्रारम्भ कीजिये। शुभका चिन्तन कीजिये, सद्विचारमें लगे रहिये, व्यर्थकी कृत्रिम आवश्यकताओंको काटते जाइये, आप देखेंगे, आपका अन्तर्द्वन्द्व कम हो गया है। मनमें अब दुःखकी लहरें कम उठती हैं। अपनी पूर्णताकी भावना, आत्मशान्तिकी भावना अन्तर्मुखी निश्चयात्मकी भावनामें दृढ़तापूर्वक रमण करनेसे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। मनमें यह भावना जमाइये—

'आवश्यकताओंकी पूर्ति सम्भव नहीं है। एक आवश्यकता पूर्ण होती है, तो चार नयी और आकर खड़ी हो जाती हैं। इनकी पूर्तिपर बीस-पचीस नयी जरूरतें मुँह फैला देती हैं। इस मायाजालमें फँसनेपर आवश्यकताओंका अन्त नहीं। अतः मैं व्यर्थ इन्हें कदापि न बढ़ने दूँगा।'

अज्ञान-निवृत्तिके लिये या मोक्ष-प्राप्तिके लिये दो बातें

(लेखक—श्रीप्रताप सेठजी)

प्रत्येक प्राणीको बिना विचार किये ही इस बातका शंकारहित पूर्ण निश्चय रहता है कि 'अभी तो मैं हूँ ही।' 'मैं हूँ या नहीं' इसको साबित करनेके लिये विचार करनेकी जरूरत नहीं रहती, बिना विचार किये ही 'मैं' स्वतःसिद्ध स्वरूपसे रहता है और उसके स्वतःसिद्ध पदार्थ होनेके कारण न वह ज्ञानमें आ सकता है और न उसे ज्ञानमें लानेकी जरूरत ही है। यदि उसे ज्ञानमें लानेकी कोशिश की, तो मैं 'मैं' न रहकर जड, दृश्य, काल्पनिक पदार्थ बन जायगा। इसलिये उसका विचारमें आना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि 'मैं'के अस्तित्वके बारेमें यह संदेह भी नहीं किया जा सकता कि अभी तो 'मैं' हूँ ही, परंतु भविष्यमें 'मैं' मर न जाऊँगा, यह कैसे माना जाय? इस 'मैं' का स्वरूप इतना निःशंक है कि उसके बारेमें भूतकालमें यानी जन्मके पूर्व और भविष्यकालमें यानी जीवनके अनन्तर वह रहता है या नहीं, यह संदेह जिस तरह उसका अस्तित्व है, उसमें है ही नहीं। इस प्रकारका संदेह व्यक्त करनेवाला ही 'मैं' है और इसे समझना ही उस 'मैं' का ज्ञान है। यह हुई एक बात।

अब दूसरी बात यह है कि किसी भी वस्तुका या क्रियाका रूप और अर्थ तो विचारमें ही सापेक्ष दृष्टिसे आता है। हमारा जितना भी ज्ञान है, फिर वह ब्रह्मज्ञान या परमात्माका ज्ञान ही क्यों न हो, सब सापेक्ष ही रहता है। अपनी किसी भी क्रियामें या वस्तुमें सापेक्षता नहीं है, अतः किसी भी क्रियाको या वस्तुको कोई भी रूप या अर्थ नहीं होता। क्रिया या वस्तु केवल सत्तामात्र रहती है, जब उस क्रिया या वस्तुको हम विषय बनाते हैं अर्थात् विचारमें लाते हैं, उसी समय उस क्रियाको या वस्तुको, विषय बनानेमें या विचारमें लानेमें ही सापेक्षतासे अर्थ या रूप प्राप्त होता है। संसारकी तमाम क्रियाओं और वस्तुओंके लिये यह बात लागू है। संसारकी सब क्रियाएँ तथा सब पदार्थ हमारे विचारमें ही निर्मित होते हैं। वे स्वतः तो केवल सत्तारूप रहते हैं। उस केवल सत्ताको कोई रूप या अर्थ नहीं रहता। ऊपर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विचार किये बिना ही 'मैं' की सत्ता रहती है, उसी 'मैं' की सत्तापर विचारमें सापेक्षतासे संसारकी सब वस्तुओं तथा क्रियाओंको रूप तथा अर्थ प्राप्त होता है, रूप और अर्थ किसी भी क्रिया या

वस्तुमें नहीं रहता, संसारकी सब क्रियाएँ तथा वस्तुएँ परमार्थस्वरूप रहती हैं।

उपर्युक्त केवल दो बातें ही अज्ञान-निवृत्तिके लिये यानी मोक्ष-प्राप्तिके लिये सत्य-ज्ञानके लिये पर्याप्त हैं। यहाँ तर्कशास्त्रके घट-पटादि रूप खटपटकी कोई जरूरत नहीं। इसी प्रकार उपर्युक्त दो बातोंका समुचित ज्ञान होनेके बाद किसी क्रियाके करनेकी जरूरत नहीं रहती। व्यास महर्षिने ब्रह्मसूत्रके चौथे अध्यायमें कहा है कि अज्ञान-निवृत्तिके बाद और कुछ न करके केवल तत्त्व-विचार ही बारम्बार करना चाहिये। उपर्युक्त विचारके दो तत्त्व समझ लेनेपर मनुष्य-जन्मकी इतिकर्तव्यता पूरी हो जाती है।

षोडश संस्कार और उनका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

[गताङ्कसे आगे]

गर्भाधान-रहस्य*

गर्भाधानं प्रथमतः। (व्यासस्मृति १। १६)

यह संस्कार पितृ-ऋणके संशोधनार्थ और धार्मिक संततिके उत्पादनार्थ किया जाता है। इस संस्कारसे बीज एवं गर्भसे सम्बद्ध मलिनता नष्ट हो जाती है तथा क्षेत्रका संस्कार हो जाता है। इसमें काममाव न करके धर्म-भाव किया जाता है। यह बालकका संस्कार नहीं; पर बालक बननेका संस्कार है। इसमें सावधानता न करनेसे बालकका भविष्य नष्ट हो जाता है। काममूलक मैथुनसे संतान कामवाली उत्पन्न होती है; उसमें आगे चलकर व्यभिचारकी भी आशङ्का रहती है। संस्काररूपसे वैध गर्भाधान होनेपर उसमें—

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥
(मनु० ४। १२८)

'स्नातक द्विजको चाहिये कि पत्नीका ऋतुकाल आनेपर भी अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी तिथियोंको सदा ब्रह्मचर्यका ही पालन करे।'

—इन अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी आदिको ब्रह्मचारी रहने आदि नियमोंका पालन अनिवार्य होनेसे धर्मानुकूलता आ जाती है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।
(गीता ७। ११)

'भरतश्रेष्ठ! मैं सम्पूर्ण भूतोंमें धर्मानुकूल काम हूँ।'

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः। (गीता १०। २८)

'मैं शास्त्रोक्तरीतिसे संतानकी उत्पत्तिका हेतुभूत कामदेव हूँ।'

इस प्रकार धर्मसे अविरुद्ध होनेपर वही काम भगवद्रूप हो जाता है। यही समय भावी संतानके जीवनके मूल रखनेका होता है। इस समय माता-पिताकी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति जैसी शुद्ध पवित्र होगी; बालकका मन और शरीर भी उससे वैसा ही प्रभावित होगा।

यदि माता-पिता केवल कामवासना रक्खेंगे तो उनकी संतान भी वैसी ही कामी होगी। अतः गर्भाधानके समय शरीरकी नीरोगताके साथ माता-पिताका मन भी स्वस्थ और धर्मान्वित हो—यह आवश्यक है। तब माता-पिताके विचार गर्भ-समयमें जैसे होंगे—उनका पुत्र भी वैसा ही होगा। जैसे कि सुश्रुतसंहिता शारीरस्थानमें कहा है—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥
(२। ४६। ५०)

'स्त्री और पुरुष जैसे आहार, व्यवहार तथा चेष्टा आदिसे युक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनका पुत्र भी वैसे ही स्वभावका होता है।'

गर्भावस्थामें माता-पिताके खान-पानका, स्थिति-परिस्थितिका, एक-एक शब्दका, जो उनके कानमें पड़ता है, एक-एक दृश्यका जो उनकी आँखोंके सामने उपस्थित होता है, एक-एक संकल्पका जो उनके मनमें उठता है, गर्भस्थ बालकपर प्रभाव पड़ता है; अतः आदिम तीन गर्भके संस्कारोंमें माता-पिताको बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। महाभारत

* सब संस्कारोंकी विधि लेखके अन्तमें दी जायगी—लेखक

अनुसार अभिमन्युने चक्रव्यूहमें प्रवेश तथा उसका भेदन मातृगर्भमें ही सीखा था, जब कि अर्जुनने अपनी गर्भवती पत्नी सुभद्राको सुनाया था। जब अर्जुन चक्रव्यूहसे निर्गमनका प्रकार सुभद्राको सुना रहे थे, उस समय उसे नींद आ गयी थी, सुभद्रा नहीं सुन सकी; इसीसे गर्भस्थ अभिमन्यु भी उसे नहीं सीख सका; अतः वह उससे निकलनेमें सफल न होकर मारा गया। इसीसे समन्त्रक गर्भ-संस्कारकी आवश्यकता सिद्ध होती है।

प्रह्लाद दैत्य-माता-पिताका पुत्र होनेपर भी गर्भावस्थामें नारदजीका उपदेश पानेसे महान् भगवद्भक्त बन गया—यह घटना पुराणोंमें सुप्रसिद्ध है। महाराष्ट्र राष्ट्रपति शिवाजीके इतने प्रतापी होनेका कारण भी यही बताया जाता है कि उनकी माता जीजाबाई सदा उसी प्रकारके विचारोंसे युक्त रहती थी। नेपोलियन बोनापार्टकी अतुल शूरवीरता और अदम्य साहस एवं उत्साहका कारण भी यही था कि उसकी गर्भवती माता रणक्षेत्रमें रहा करती थी और शूरवीरोंकी गाथाएँ प्रतिदिन सुना करती थी।

मातामें भी पहलेसे जैसे संस्कार पड़े होते हैं, उसका गर्भदोहद भी उसी प्रकारका होता है। गर्भका दोहद पूर्ण करनेपर बालकमें भी पूर्णता होती है। सुश्रुतशारीर-स्थानमें दोहदोंके भिन्न-भिन्न फल लिखे हैं। जैसे कि—

राजसंदर्शने यस्या दोहदं जायते स्त्रियाः।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते॥
(३। २२। २५)

'जिस गर्भवती स्त्रीको राजाके दर्शनकी इच्छा होती है, वह परम सौभाग्यशाली और धनवान् पुत्र उत्पन्न करती है।'

देवताप्रतिमायां च [दोहदे] प्रसूते पार्षदोत्तमम्।
दर्शने व्यालजन्तूनां हिंसाशीलः प्रजायते॥
(३। २४। २७-२८)
इत्यादि।

'देवमूर्तियोंके दर्शनकी इच्छा होनेपर वह श्रेष्ठ भगवद्भक्त बालकको जन्म देती है। सर्पों तथा हिंसक जन्तुओंके दर्शनकी इच्छा होनेपर उसके गर्भसे हिंसक स्वभावका बालक पैदा होता है।'

इस प्रकार समक्षस्थित दृश्यके प्रभावका यह उदाहरण प्रसिद्ध है कि एक अमेरिकन रमणीके शयनागारमें एक हब्शीका चित्र सामने दीवालपर टँगा हुआ था। सदा-सर्वदा उसपर दृष्टि पड़ते रहनेसे उसका लड़का भी काला हब्शी-जैसा उत्पन्न हुआ, जिससे उस अमेरिकनको अपनी पत्नीके चरित्रमें भी संदेह उपस्थित हो गया था। पीछे पता लगनेपर संदेह दूर हुआ। किन्हींकी संतान बंदरों-जैसी, किन्हीं भारतीयोंकी संतान चीन आदि भिन्न देशीयों-जैसी हो जाती है; अतः गर्भावस्था बहुत सावधानताका समय है। इस समय गर्भिणी स्त्रीका सिनेमाओं-में जाना तो अत्यन्त ही हानिप्रद है; क्योंकि अच्छे-से-अच्छे चलचित्रमें भी कामवासना-वासित शृङ्गार रक्खा जाता है, जिससे गर्भस्थ बालकपर भी उसका दुष्प्रभाव पड़ना अनिवार्य हो जाता है। फलतः इन आदिम तीन संस्कारोंमें माता-पिताको सदा कुलपरम्परासे चले आते आचार-विचार एवं व्यवहारका पालन अवश्य करना चाहिये। यह संस्कार मनुस्मृति, आश्वलायनगृ०, पारस्करगृ० आदिमें आया है। वेदमें भी स्पष्ट आया है।

पर्वमें गर्भाधान-निषेधका रहस्य

पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्। (मनु० ३। ४५)

पर्वोंको छोड़कर अन्य तिथियोंमें ऋतुस्नाता पत्नीके पास जाय।

इसमें कहा हुआ अमावास्या, पूर्णिमा, अष्टमी आदिमें स्त्रीगमनका निषेध केवल शास्त्रोक्त नहीं, अपितु वैज्ञानिक भी है। समुद्रमें सबसे अधिक ज्वार-भाटा पूर्णिमामें, सबसे कम अमा-वस्यामें हुआ करता है। मध्यम ज्वार-भाटा वह होता है, जहाँ जलका उतार-चढ़ाव मध्यम हो—यह दोनों अष्टमियोंका समय है। यह सूर्य-चन्द्रके आकर्षण-विकर्षणसे नियमानुसार होता है। जैसे—सूर्य-चन्द्र दोनोंका प्रभाव समुद्रपर पड़ता है, वैसे ही प्राणियोंके रक्तपर भी पड़ता है; क्योंकि—रक्त भी जलका ही भाग है। चन्द्रमाका प्रभाव पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीपर अधिक पड़ता है। उक्त तिथियोंमें स्त्री-पुरुषोंकी वीर्य आदि धातुएँ विषम होती हैं; अतः यदि इन पर्वोंकी रात्रियोंमें स्त्री-सम्पर्क किया जाता है तो वैषम्यापन्न शुक्रशोणित विकृत होकर स्वास्थ्यको विकृत कर देते हैं; और इन अवसरोंपर यदि गर्भस्थिति हो जाती है तो भावी संतान रक्तविकार दोषवाली, फोड़े-फुन्सी आदि व्रणोंवाली, प्राणशक्तिमें दुर्बल तथा हृदयदोष (जिससे हार्ट-फेल हो जाता है) आदि बीमारियोंको भोगनेवाली होती है। इसके अतिरिक्त पूर्णिमा देवतिथि है,

अमावास्या पितृतिथि और अष्टमी दोनोंकी सम्बद्ध तिथि है। अतः अपने बड़ोंके इन विशिष्ट दिनोंमें स्त्री-संयोग करना अपनी धृष्टता या निर्लज्जताको भी सिद्ध करनेवाला होता है। यही कारण है कि पहले समयके लोग इस अवसरपर यज्ञ-व्रत-उपवास आदिका अनुष्ठान करते थे; इसी कारण इन दिनोंमें वेदोंका अनध्याय भी हुआ करता था।

दिनमें गर्भाधानका निषेध

यह संस्कार स्त्रीके ऋतुस्नानके समय तथा गर्भाधानकी योग्यता होनेपर करना चाहिये। यह ऋतुप्राकट्यके पाँचवें दिनसे सोलहवें दिनके अंदरतक, क्योंकि इतने ही दिनोंतक स्त्रीमें ऋतु रहता है—अर्धरात्रिके समय करना चाहिये। दिनमें गर्भाधान करना शरीर और मनके लिये हानिकारक है। प्रश्नोपनिषद्में कहा है—

'अहोरात्रो वै प्रजापतिः। तस्य अहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति, ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।

(१ । १३)

'दिन और रातका जोड़ा ही प्रजापति है। उसका दिन ही प्राण है तथा रात्रि ही रयि है। अतः जो दिनमें स्त्री-सहवास करते हैं, वे लोग सचमुच अपने प्राणोंको ही क्षीण करते हैं तथा जो रात्रिमें स्त्री-सहवास करते हैं, उनका वह सहवास भी ब्रह्मचर्य ही है।'

यहाँपर दिनको रति करना प्राणोंका क्षीण करना बताया है, रात्रिकी रतिको ब्रह्मचर्यावलम्बन कहा है। दिनमें सूर्यमूलक ऊष्मा होनेसे किया गया गर्भाधान प्राणोंकी—बलकी हानि करनेवाला होता है। इसका फल संतानको भी भोगना पड़ता है; अतः माता-पिता बननेवालोंको इधर भी अवश्य ध्यान देना चाहिये।

पुत्र या कन्याकी उत्पत्तिका रहस्य

रजस्वलात्वकी विषम रात्रियोंमें ऋतुका वेग बहुत रहता है और सम रात्रियोंमें कम। ऋतुका पहला दिन विषम होता है, इसमें ऋतुका वेग बहुत हो—यह स्वाभाविक ही है। दूसरा दिन सम होता है—इसमें रजका वेग अधिक होनेपर भी अपेक्षाकृत कम होता है। फिर तीसरे विषम दिन रजका पुनः प्राबल्य हो जाता है। इन तीन रात्रियोंमें तो गर्भाधानका सर्वथा निषेध है। फिर चतुर्थ—समरात्रिमें रजका वेग कम होता है। इस प्रकार विषम रात्रियोंमें रजका वेग अधिक और सम रात्रियोंमें कम होता है। सम रात्रिमें स्त्रीगमन करनेसे रजका वेग कम होनेके कारण शुक्र प्रबल बन जाता है; अतः ऋतुकी सम रात्रिमें गर्भ स्थापित होनेसे—

'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे'　　　　(मनु० ३ । ४९)

युग्मासु　　पुत्रा　　जायन्ते ········।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥

(३ । ४८)

'स्त्री-सहवासके समय यदि पुरुषका वीर्य रजकी अपेक्षा अधिक हुआ तो उस समय स्थापित किये हुए गर्भसे पुत्रका जन्म होता है। छठी, आठवीं आदि युग्म या सम रात्रियोंमें ऋतुस्नाता पत्नीके साथ समागम करनेसे पुत्र पैदा होते हैं। इसलिये पुत्रकी इच्छा रखनेवाला पुरुष ऋतुकाल आनेपर युग्म रात्रियोंमें स्त्री-सहवास करे।'

—इस प्रकार पुत्र होता है। विषम रात्रियोंमें पूर्वक्रमवश रजका वेग अधिक होनेसे शुक्रकी कमी हो जानेके कारण लड़की उत्पन्न होती है।

'स्त्री भवत्यधिके (रजसि) स्त्रियाः'

(मनु० ३ । ४९)

'समागमकालमें पुरुषके वीर्यकी अपेक्षा यदि स्त्रीके रजकी अधिकता हो, तो कन्याका जन्म होता है।'

ऋतुकी रात्रियोंमें पहली चार तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ मनुके (३ । ४७) अनुसार निन्दित होती हैं, शेष ६, ८, १०, १२, १४, १६ रात्रियोंमें पुत्रार्थी तथा ५, ७, ९, १५ रात्रियोंमें कन्यार्थी स्त्री-गमन करे। उनमें भी पर्वकी रात्रियों—पूर्णिमा, अमावास्या, अष्टमी तिथियोंमें भी गर्भाधान न करे (मनु० ४ । १२८, ३४५)। ऐसा करनेपर गृहस्थाश्रमी भी ब्रह्मचारी माना जाता है, जैसे कि मनुजीने कहा है—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव　भवति　यत्र तत्राश्रमे　वसन् ॥

(३ । ५०)

'छः निन्दनीय रात्रियोंमें और आठ अनिन्दनीय रात्रियोंमें भी जो स्त्री-सहवासका त्याग करता और शेष दो ही रात्रियोंमें स्त्री-समागम करता है, वह किसी भी आश्रममें रहकर ब्रह्मचारी ही समझा जाता है।'

पुंसवन-संस्कारका रहस्य

'तृतीये मासि पुंसवः' (व्यासस्मृति १ । १६)

गर्भाधानसे तीसरे महीनेमें पुंसवन-संस्कार होना चाहिये। इस संस्कारसे पुरुषका शरीर बनता है।

'पुमान् सूयते येन कर्मणा, तदिदं पुंसवनम्'

जिस कर्मसे पुरुषका प्रसव (पुत्रका जन्म) हो, उस गर्भ-संस्कार कर्मका नाम 'पुंसवन' है।

गर्भसंस्कारकर्म—'आश्वलायनगृह्यसूत्र'के (१।१३। १) सूत्रकी व्याख्यामें भाष्यकार श्रीहरदत्ताचार्यने कहा है—

'येन स गर्भः पुमान् भवति तत् पुंसवनम्।'

जिससे वह गर्भ पुरुष होता है, वह पुंसवन कर्म है।

चार मासतक गर्भमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं होता है, अतः स्त्री-पुरुषके चिह्नकी उत्पत्तिसे पूर्व ही यह संस्कार किया जाता है। अथवा कई वैज्ञानिकोंके मतानुसार उस समयतक पुत्र-पुत्री दोनोंके चिह्न बनते हैं, फिर स्त्रीत्व अथवा पुंस्त्व, जिसको शक्ति प्राप्त होती है, उस चिह्नकी वृद्धि तथा दूसरे चिह्नका ऊपर-नीचेकी मांसोत्पत्तिसे आच्छादन तथा स्थगन हो जाता है। पुंस्त्वको शक्ति प्राप्त करानेके लिये ही पुंसवन-संस्कारमें पहले समयमें ओषधि-विशेषको स्त्रीकी नासिकाके मार्गसे भीतर पहुँचाया जाता था। जैसा कि सुश्रुतसंहितामें लिखा है—

'लब्धगर्भायाश्च एतेषु अहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गासहदेवी-विश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेण अभिषुत्य त्रीन् चतुरो वा बिन्दून् दद्याद् दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्।'

(शारीरस्थान २ । ३४)

'जिसने गर्भ धारण कर लिया हो, उसके लिये इन्हीं दिनोंमें लक्ष्मणा, वटशुंगा, सहदेवी और विश्वदेवा इनमेंसे किसी एक औषधको दूधके साथ खूब महीन पीसकर उसकी तीन या चार बूँदें उस स्त्रीकी दाहिनी नाकके छिद्रमें डाल दे। यदि उसे पुत्रकी इच्छा हो तभी ऐसा करे। स्त्रीको चाहिये कि वह उस औषधको थूके नहीं।'

इसी प्रकार चरकसंहिता (शारीरस्थान ८। ३५-३६) में दाहिने नथुनेद्वारा पीनेसे पुत्र-प्राप्ति और बायेंद्वारा कन्या-प्राप्ति कही है। इससे योनि-दोष दूर होकर पुरुष-संतान उत्पन्न हुआ करती थी। आजकल डाक्टर लोग भी इन्हीं दिनोंमें स्त्रीको कोई ऐसी ओषधि खिलाते हैं और शर्त बाँधते हैं कि अवश्य बालक ही हो।

बालकका महत्त्व सभी जानते-मानते हैं। वह हमारे वंश-कुलकी, हमारी सम्पत्ति तथा वेदादिकी सम्पत्तिकी वृद्धि करता है, हमारे पितरोंकी सद्गति तथा हमारे पितृ-ऋणका शोधन करता है, हमारा उत्तराधिकारी बनता है। इसीलिये वेदमें भी उस पुत्रके लिये ही प्रार्थना आयी है; क्योंकि वेद अपना अधिकार पुरुषको ही देना चाहता है। इसलिये इस संस्कारका नाम भी पुंसवन रक्खा गया है। वेदमें कहा है—

'पुमांसं पुत्रमाधेहि' (अथर्व० ६ । १७ । १०)

'पुरुष-स्वभावके पुत्रको गर्भमें धारण करो।'

'पुमांसं पुत्रं जनय' (अ० सं० ३ । २३ । ३)

'पुरुष-स्वभावके पुत्रको जन्म दो।'

यहाँ पुत्रका 'पुमान्' यह विशेषण पुरुष संतानको बता रहा है। अथर्ववेद—गोपथब्राह्मणमें कहा है—

'पुमांसः श्मश्रुवन्तः, अश्मश्रुवः स्त्रियः' (१ । ३ । ७)

'जिनके दाढ़ी-मूँछ हों वे पुरुष हैं। जिन्हें दाढ़ी-मूँछ नहीं हैं वे स्त्रियाँ हैं।'

यहाँ भविष्यमें होनेवाली दाढ़ी-मूँछको ध्यानमें रखकर पुरुष संतानका यह लक्षण दिया गया है।

'तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व' (अ० ३ । २३ । ४)

'उनके द्वारा तुम पुत्र प्राप्त करो।'

'आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्' (अ० ३ । २३ । २)

'तुम्हारी योनिमें पुरुष-गर्भका आगमन हो।'

पुमान्‌का बलशाली अर्थ भी हो सकता है—वह भी अबला—संततिकी इष्टाभावताको ही द्योतित करता है।

'विन्दस्व पुत्रं नारि' 'दश अस्यां पुत्रान् आधेहि'

(ऋ० सं० १० । ८५ । ४५)

'कृपणं दुहिता' 'ज्योतिर्ह पुत्रः'

(ऐत० ब्रा० ७ । १३)

'पुत्रं ब्राह्मणा इच्छध्वम्' 'स वै लोको वदावदः'

(ऐ० ७ । ३ । ५)

ऋणमस्मिन् सन्नयति अमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥

(ऐ० ३ । १)

'तौ एहि सम्भवाव, सह रेतो दधावहै, पुंसे पुत्राय वेत्तवै,
(तै० ब्रा० ३ । ७ । १ । ९)

'पुमान् गर्भस्तवोदरे' (गोभिलगृ० २ । ६ । ३)

'नारी ! तुम्हें पुत्र प्राप्त हो' 'इस स्त्रीके गर्भमें क्रमशः दस पुत्रोंका आधान करो' 'दुहिता कृपण है' 'पुत्र ही ज्योति है' 'ब्राह्मणो ! पुत्रकी इच्छा करो' 'वही वदावद लोक है', 'यदि पिता उत्पन्न हुए जीवित पुत्रका मुख देख ले, तो वह अपना पैतृक ऋण उतारकर उसीपर रख देता है और स्वयं अमृतत्वको प्राप्त होता है' 'अतः आओ हम दोनों समागम करें, पुरुष-पुत्रकी प्राप्तिके लिये एक साथ रज-वीर्य-का आधान करें' 'तुम्हारे उदरमें पुरुष-गर्भ है ।'

वेद तो यहाँतक कहता है—

'जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्'
(अथर्व० ८ । ६ । २५)

अर्थात् हो रहा हुआ पुरुष स्त्री न बन जाय,' जिसकी पुंसवनकी असफलतामें सम्भावना हो सकती है । 'आग्निवेश्य-गृह्यसूत्र' (१ । ५ । ५) में भी कहा है—

'पुमान् स्त्री जायतां गर्भो अन्तः'

'स्त्री गर्भ अंदरसे पुरुष बन जाय ।'

'पुमांसं गर्भमाधत्स्व, पुमांस्ते पुत्रो नारि ते पुमान् अनुजायताम् ।'

'पुमान् अयं जनिष्यते' (गोभि० २ । ७ । १५)

'पुरुष-गर्भको धारण करो । नारी ! तुम्हारा पुत्र पुरुष-स्वभावका हो । तुमसे बार-बार पुरुषका जन्म हो ।' 'यह पुरुष जन्म लेगा ।'

इसी पुत्रके उत्पादनार्थ अजीता ओषधिको नाकके द्वारा देते थे, जैसे कि आश्वलायनगृ० (१ । १३ । ५) में कहा है । जिसका मूल वेदमें भी मिलता है—

'तास्त्वा पुत्रविद्याय (पुत्रलाभाय) दैवीः प्रावन्तु (सहाया भवन्तु) ओषधयः'
(अथर्व० ३ । २३ । ६)

'तुम्हें पुत्रकी प्राप्तिके लिये दिव्य ओषधियाँ सहायता करें ।'

स्वामी दयानन्दजीकी 'संस्कारविधि' में भी कहा है—'पुंसवन-संस्कार करना चाहिये, जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य-का लाभ होवे' (पृ० ४७) जब ओषधिविशेषसे गर्भा-शयस्थित वीर्यको लाभ अर्थात् सहायता पहुँचेगी, तब वीर्यके प्राबल्यसे रजकी शक्ति कम होकर कन्या उत्पन्न न होकर पुत्र ही उत्पन्न होगा । इसलिये उक्त 'संस्कारविधि' में—

'पुमान् गर्भस्तवोदरे'

'पुमांसं पुत्रं विन्दस्व, ते पुमान् अनुजायताम्'
(मं० ब्रा० १ । ४ । ८-९)

ये मन्त्र पुंसवनमें आये हैं ।

वैदेशिक भी पुत्रका गौरव मानते हैं । भारतीयोंका तो क्या कहना है ? भारतीय विद्वान् उसे 'पुत्' नामक नरकसे बचानेवाला मानते हैं, क्योंकि वह मरणमें पिता-माताको पिण्डदान करके उनकी सद्गति कराता है । जैसे कि निरुक्तमें कहा है—

'पुत्रः—पुरु त्रायते' निपरणाद् वा पुन्नरकं ततस्त्रायते—इति वा'
(२ । ११ । १)

यही बात अथर्ववेदके 'गोपथब्राह्मण' में भी कही गयी है—

'पुन्नाम नरकम् अनेकशततारम्, तस्मात् त्राति पुत्रः, तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्'
(१ । १ । २)

यही बात 'मनुस्मृति' (९ । १३८) में भी कही गयी है । आर्यसमाजी विद्वान् श्रीतुलसीराम स्वामीजीने भी इस पद्यको प्रक्षिप्त नहीं माना । यही-का-यही पद्य 'बोधायनीय गृह्यपरिभाषासूत्र' (१ । २ । ५), 'महाभारत' आदिपर्व (२३१ । १४) तथा 'वाल्मीकिरामायण' (२ । १०७ । १२), 'वैखानसगृह्यसूत्र' (६ । २) आदिमें भी कहा गया है । इससे इस संस्कारकी महत्ता सिद्ध होती है । इससे गर्भको शक्ति भी प्राप्त होती है ।

यह संस्कार 'मनुस्मृति' में स्पष्ट तो नहीं है, पर उसको इष्ट है । आश्वलायनगृ० तथा पारस्करगृ० में आया है । वेदमें तो स्पष्ट ही है । इस संस्कारसे कन्याका अभाव इष्ट नहीं ।

'दशपुत्रसमा कन्या'

'कन्या दस पुत्रोंके समान है' यह भी भारतीय नाद ही है । उसके दान देनेसे जो पुण्य होता है वह और कहाँ मिलेगा । पुत्र हमारे स्वार्थकी सिद्धि करता है, कन्या परार्थकी । पर प्रथम संतान अवश्य ही पुरुष हो—यह इस संस्कारका लक्ष्य है ।

सीमन्तोन्नयनसंस्कारका रहस्य

'सीमन्तश्चाष्टमे मासि' (व्यासस्मृति १ । १७)

'सीमन्तोन्नयन-संस्कार आठवें मासमें होता है' । इस

संस्कारमें सीमन्तका उन्नयन करके यह बताया जाता है कि अब स्त्री शृङ्गार न करे, पति-सहवास न करे; नहीं तो, गर्भपतनकी आशङ्का रहती है तथा संतानके विचार गंदे होते हैं। सीमन्त शब्दके आनेसे स्त्रियोंका केश रखना गर्भहिताधायक सिद्ध होता है। इससे संतानके मस्तिष्कपर प्रभाव पड़ता है। इसीसे कोई भी सधवा स्त्री केशोंको नहीं मुँडवाती। विधवाएँ इसीलिये केशोंको मुँडवाती हैं कि अब हमें संतान उत्पन्न नहीं करनी है। जैसे कि—संन्यासी पुरुष केशोंको मुँडवा देते हैं; स्त्रियोंका वैधव्य ही उनका संन्यास है। केशोंमें बल हुआ करता है। स्त्रीकी अपेक्षा अधिक स्थानोंमें केशवाला होनेसे ही पुरुष 'पुमान्' कहा जाता है। दाढ़ी-मूँछोंवाला होनेसे ही पुरुष स्त्रीकी अपेक्षा बलवान् होता है। मूँछें पुंस्त्वका चिह्न होती हैं।

यह संस्कार छठे-आठवें मासमें करना पड़ता है। इससे देवपूजाद्वारा गर्भकी रक्षा होती है। कइयोंका विचार है कि इससे संतानकी मानसिक शक्ति बढ़ती है; इसलिये इसे मनके देवता चन्द्रमाकी आरम्भिक स्थिति (शुक्लपक्ष) में किया जाता है। सिरमें विभक्त हुई पाँच संधियाँ सीमन्त होती हैं।

पञ्च संधयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ताः।
तत्र आघातेन उन्मादभयचेष्टानाशैर्मरणम्॥

(सुश्रुत० शारीर० ६। ८१)

सीमन्तस्य उन्नयनम् उद्भावनम् इति सीमन्तोन्नयनम्।

इन संधियोंकी उन्नति या प्रकाश होनेसे मस्तिष्क-शक्ति उन्नत होती है। इस समय गर्भ शिक्षण-योग्य होता है। इन्हीं दिनों गर्भस्थ प्रह्लादको नारदका उपदेश और अभिमन्यु-को चक्रव्यूह-प्रवेशका उपदेश मिला था—इसलिये दोनों इस विषयमें अप्रतिभट बने। अतः माता-पिता इन दिनोंमें अपनी मानसिक स्थितिको अच्छी रखें। शास्त्रविरुद्ध व्यवहार न रक्खें। जबसे गर्भमें स्पन्दन एवं अनुभूति प्रवृत्त हो जाते हैं, तबसे बच्चेके मनपर संस्कार प्रारम्भ होने लग जाते हैं और वे उसके समस्त जीवनके भावी निर्माण तथा विकासमें प्रभाव डालते हैं। यदि उस समय माता-पिता कुसंस्कारों तथा शास्त्रविरुद्ध व्यवहारोंको धारण करेंगे तो भीतरी बच्चेपर भी वैसा कुप्रभाव पड़ेगा। अच्छे संस्कारोंसे बच्चेके आगेके संस्कार भी उत्तम बनते हैं।

'नवे हि भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।'

यह संस्कार 'मनुस्मृति' में तो स्पष्ट नहीं; परंतु पारस्कर, आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रोंमें आया है।

जातकर्मसंस्कार-रहस्य

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना
तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः
प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ॥

(रघुवंश ३। १८)

'जैसे खानसे निकली हुई मणि शानपर चढ़ाकर साफ कर देनेके बाद अधिक चमकने लगती है, उसी प्रकार जब तपोवनसे आकर तपस्वी पुरोहित वसिष्ठजीने सम्पूर्ण जातकर्म-संस्कार सम्पन्न कर दिया, तब दिलीपकुमार रघु अपने स्वाभाविक तेजसे अधिक प्रकाशित होने लगा।'

यहाँपर रघुके जातकर्मसंस्कारसे श्रीकालिदासने रघुकी प्रकाशमानता बतायी है।

'जाते जातक्रिया भवेत्' (व्यासस्मृति १। १७)

'बालकके जन्म लेनेपर जातकर्म-संस्कार होता है।' इस संस्कारसे लड़केके गर्भमें माताके रस पीनेका दोष हटता है। यह संस्कार पुत्रके जन्म समय किया जाता है। इसमें सोनेकी शलाकासे बालककी जिह्वापर असम मधु तथा घृत घिसाकर चटाया जाता है। यह बच्चेकी आयु और मेधा बढ़ानेवाली रासायनिक ओषधि बन जाती है। सुवर्ण वातदोषको शान्त करता है, मूत्रको स्वच्छ करता है, रक्तकी ऊर्ध्वगतिके दोषको दूर करता है। वह विषनाशक, स्मृति तथा पवित्रताकारक होता है। छोटे शिशुकी जिह्वापर उस सुवर्णको घिसाकर किये स्पर्शसे ही उस सुवर्णका गुण परमाणु-रूपसे वा विद्युद्रूपसे उसके अंदर पहुँच जाता है, जैसा कि थर्मामीटरको जीभपर रखनेसे भीतरी ऊष्मा व्यतिरेकसे उसमें प्राप्त हो जाती है। यहाँ जिह्वाके स्पर्शसे उसका प्रभाव अंदर पड़ता है; घृत और मधुके परमाणुओंसे मिलकर अपूर्व प्रभावको उत्पन्न करता है।

मधु लालाका संचार करता है, पित्तकोषकी क्रियाको बढ़ाता है। कफ-दोषको दूर करता है। यह रूपसुधारक, बलकारक, रक्तसंशोधक, त्रिदोषका शान्तिकर्ता होता है—(सुश्रुत० सूत्रस्थान ४५ अ०)। घृत वायु तथा पित्तको शान्त करता है; स्मृति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, ओज, तेज तथा आयुको बढ़ाता है—'आयुर्वै घृतम्' (कृष्णयजुर्वेद तै० सं० २। ३। २। २) विषैले परमाणुओंका नाशक

भी होता है (सुश्रुत० सूत्र० ४५ । १ घृतवर्गे) । प्रसवकी यन्त्रणासे सद्योजात शिशुकी रक्तगति ऊपरको हो जाती है, कफदोष बढ़ जाता है। उसकी अँतड़ियोंमें काले रंगका मल इकट्ठा हो जाता है, उसके न निकलनेमें बच्चेको अनेक प्रकारकी पीडाएँ हो जाती हैं । जातकर्ममें की जाती हुई उक्त क्रिया और अभिमन्त्रणका प्रभाव इस समय जादूका काम करता है, शिशुका उपकार करता है, उसे जीवन-प्रदान करता है । जीवनकी बाधाओंको दूर करता है ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि संस्कारोंकी क्रियाएँ स्वयं ही लाभ पहुँचानेवाली होती हैं; पर जब साथ ही अभिमन्त्रेण क्रिया होती है तो उसका विशेष महत्त्व हो जाता है; उससे अभ्युदय होता है । महाभाष्यमें इस विषयमें प्रकाश डाला गया है—

'अग्नौ कपालानि अधिश्रित्य अभिमन्त्र्यते—'भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्' इति । अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि संतापयति, वेदमन्त्रप्रयुक्तसंस्कारेण च धर्मनियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति ।' (पस्पशाह्निक)

'आगपर कपालोंको रखकर अभिमन्त्रित करते हैं । तुम सब भृगु और अङ्गिरा गोत्रवाले महर्षियोंके धर्मकी तपस्यासे तप जाओ । यद्यपि बिना मन्त्रके भी दाहक अग्नि कपालोंको तपा दे सकती है तथापि वेदमन्त्रप्रयुक्त संस्कारद्वारा उसमें धर्मका नियमन किया जाता है । इस प्रकार किया हुआ कर्म अभ्युदयकारक होता है ।

नामकरण-रहस्य

'एकादशेऽह्नि नाम' (व्याससमृति १ । १७)

'ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कार करे । इस संस्कारसे आयु एवं तेजकी वृद्धि एवं व्यवहारकी सिद्धि होती है । नामके बिना भला संसारी व्यवहार कैसे चले ? पहलेकी दस रात्रियाँ अशौचके कारण छोड़ दी जाती हैं—

'अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ।'
(मनु० ५ । ५८)

'यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥
(५ । ६१)

'सूतकमें सभी भाई-बन्धु अशुद्ध होते हैं । जिस प्रकार सपिण्डोंपर यह मरणाशौच लागू होता है उसी प्रकार पूर्णरूपसे शुद्धि चाहनेवाले पुरुषोंके लिये बालकके जन्म होनेपर भी सपिण्डोंको अशौच प्राप्त होता है ।'

इसीके साथ एक अन्य पद्य भी मिलता है—

उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥

'जननाशौच और मरणाशौच दोनोंमें ही दस दिनोंतक अशौचग्रस्त कुलका अन्न नहीं खाया जाता तथा दान, प्रतिग्रह, यज्ञ और स्वाध्याय भी बंद रहते हैं ।'

इस कारण ब्राह्मणका ग्यारहवें दिन नामकरण-संस्कार किया जाता है ।

पारस्करसूत्र (१ । १७ । १) के हरिहरभाष्यमें लिखा है—

'अथ दशम्यामिति सूतकान्तोपलक्षणम् । ततश्च यस्य [वर्णस्य] यावन्ति दिनानि सूतकम्, तदन्तदिने सूतकोत्थापनमित्यर्थः । अपरदिने च नामकरणम् ।'

'यहाँ 'दशम्याम्' यह पद अशौचके अन्तका सूचक है । अतः जिस वर्णके लिये जितने दिन सूतक बताये गये हैं, उतने दिन पूरे होनेपर सूतककी निवृत्ति होती है और दूसरे दिन बालकका नामकरण-संस्कार किया जाता है ।'

मनुस्मृति (२ । ३०) के पद्यके भाष्यमें मेधातिथि भी व्याख्या करते हैं—

'इह केचिद् दशमीग्रहणमशौचनिवृत्तिरिति उपलक्षणार्थं वर्णयन्ति, अतीतायामिति वा अध्याहारः । दशम्यामतीतायां ब्राह्मणस्य, द्वादश्यां क्षत्रियस्य, पञ्चदश्यां वैश्यस्येति । यदि तु ब्राह्मणभोजनं विहितं क्वचित्, तदा लक्षणा, अन्यथा जातकर्मवद् अशौचेऽपि करिष्यते ।'

यहाँ कुछ लोग 'दशमी पदका प्रयोग अशौचकी निवृत्ति सूचित करनेके लिये है' यह कहकर उसे उपलक्षणार्थक बताते हैं । अथवा 'दशम्याम्' पदके आगे 'अतीतायाम्' पदका अध्याहार कर लेना चाहिये । तात्पर्य यह कि दसवीं रात्रि व्यतीत होनेपर ब्राह्मण-बालकका, बारहवीं बीतनेपर क्षत्रिय-बालकका और पंद्रहवीं बीतनेपर वैश्य-बालकका नामकरण-संस्कार करना चाहिये । यदि कहीं उस दिन ब्राह्मण-भोजनका विधान हो, तो इस प्रकार लक्षणाका आश्रय लेकर अर्थ करना चाहिये । अन्यथा जातकर्मसंस्कारकी भाँति नामकरण भी अशौचमें भी किया जा सकेगा ।

यही श्रीकुल्लूकभट्टने भी कहा है—

'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।'

इति शङ्खवचनाद् दशमेऽहनि अतीते एकादशाहे इति।

'अशौच बीतनेपर नामकरण-संस्कार किया जाता है'— इस शङ्खस्मृतिके वचनके अनुसार दसवाँ दिन बीतनेपर ग्यारहवें दिन उसकी विधि सूचित होती है।

यही बात राघवानन्दने भी लिखी है—

'दशम्यामिति पूर्वाशौचनिवृत्तिपरम्। 'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शङ्खोक्तेः।

(सुश्रुत-संहिता)

(शारीरस्थान १० । २४) में भी कहा है—

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां, यद् अभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा।'

'तदनन्तर दसवें दिन माता-पिता माङ्गलिक आचार करके स्वस्तिवाचन कराकर अपनी रुचिके अनुसार बालकका नाम नियत करें अथवा नक्षत्रके अनुसार उसका नाम रक्खें।'

नामकरणका प्रभाव आगे बालकपर भी पड़ता है, इससे उसके व्यक्तित्वका प्रादुर्भाव होता है। अतः उसका उसपर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ता है; अतः उसका व्याकरणसिद्ध शुद्ध एवं सुन्दर नाम रखना चाहिये। यही बात महाभाष्य प्रत्याहाराह्निक 'ऋलृक्'सूत्रके 'न्याय्यभावात् कल्पनं संज्ञादिषु' —इस वार्तिकमें सूचित की गयी है। यदि शब्दोंके अर्थ न होते; तब तो कोई भी बात नहीं थी; जैसा-तैसा नाम रक्खा जा सकता था; पर शब्दोंके अर्थ होते हैं; नहीं तो, 'दुष्ट' कहनेपर हमें क्यों क्रोध चढ़ आता है; 'महोदय' कहनेपर हमें क्यों प्रसन्नता प्राप्त होती है? अतः स्पष्ट है कि नामका मनुष्यपर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ता है। ज्यौतिषशास्त्रानुसार जो नाम आवे, उसे रखकर फिर प्रसिद्ध नाम बालकका संस्कृत तथा सुन्दर रखना चाहिये, जिससे पुरुष नामके लजानेके डरसे दुष्कर्म न कर सके।

ज्यौतिषशास्त्रानुकूल नाम रखनेकी समूलकता

ज्यौतिषशास्त्रानुसार जो नाम रक्खा जाता है, उसे नक्षत्राश्रय कहते हैं। यह निर्मूल भी नहीं है, शास्त्रोंमें उसका वर्णन आता है। जैसे कि उपवेद आयुर्वेद 'सुश्रुत-संहिता' शारीरस्थानमें—

'ततो दशमेऽहनि मातापितरौ तु स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां, यद् अभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा।' (१० । २०)

'मानवगृह्यसूत्र'में भी कहा है—

'यशस्यं नामधेयं देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं च।'

(१ । १८ । २)

'नाम ऐसा रखना चाहिये जो यशोवर्धक या यशका सूचक हो अथवा देवता या नक्षत्रके आश्रित हो।'

'चरकसंहिता'के जातिसूत्रके शारीरस्थानमें भी कहा है—

'कुमारं प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमति—इत्युक्त्वा कुमारस्य पिता नक्षत्रदेवतायुक्तं नाम कारयेत्। द्वे नामनी कारयेत नाक्षत्रिकं नाम, आभिप्रायिकं च।' (८ । ४९)

'बालकको पूर्व या उत्तरकी ओर सिर करके सुलाकर देवताओं और ब्राह्मणोंको प्रणाम करे। फिर कुमारका पिता नक्षत्र-देवतायुक्त नाम रक्खे। दो नाम निश्चित करे—एक नक्षत्र-सम्बन्धी नाम हो और दूसरा अपनी अभिरुचिके अनुसार हो।'

इस प्रकार 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' में भी कहा है—

'नक्षत्रनाम च निर्दिशति तद् रहस्यं भवति।'

(६ । १५ । २-३)

'बोधायनगृह्यशेषसूत्र' में भी ऐसी ही बात कही गयी है—

'नामास्मै दधाति नक्षत्रनामधेयेन'

(१ । ११ । ४)

'गोभिलगृह्यसूत्र'में भी यही बात है—

'अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं वा' (२ । १० । २३)

'द्राह्यायणगृह्यसूत्र'में भी ऐसा ही कहा गया है—

'देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं वा अभिवादनीयं नाम ब्रूयात्।'

(३ । ४ । १२)

'वैखानसगृह्यसूत्र' में भी यही कहा गया है—

'द्वे नामनी तु नक्षत्रनाम रहस्यम्।'

(३ । १९)

'काठकगृह्यसूत्र'में—

'पुत्रे जाते नाम निधीयते' (३४ । १)

यहाँ उत्पन्न मात्रका नामकरण कहा है।

'वीरमित्रोदय' नामकरण-संस्कार २३९ पृष्ठमें कहा है—

'ज्योतिर्विदस्तु जन्मनक्षत्रचरणलक्षितस्वरोदयाभिहितशतपदचक्रान्तर्गताक्षरादिकमेव कार्यम्—इत्याहुः। तथा

चात्र गृह्यपरिशिष्टे 'तदक्षरादिकं नाम यस्मिन् धिष्ण्ये तदक्षरमिति ।'. शतपदचक्रसारोद्धारो 'ज्यौतिषार्केऽभिहितः चू चे चो ला पदेष्वाद्ये' —इत्यादिना ।

'ज्यौतिषशास्त्रके विद्वान् कहते हैं कि जन्म-नक्षत्रके चरणसे लक्षित एवं स्वरोदयसे प्रतिपादित जो शतपद चक्रके अन्तर्गत अक्षर हो, उसीको आदिमें रखकर नाम नियत करना चाहिये । यही बात गृह्यपरिशिष्टमें कही गयी है । जिस नक्षत्रमें जो अक्षर हो, उसीको आदिमें रखकर नाम निश्चित करना चाहिये । ज्यौतिषार्कमें शतपदचक्रसारोद्धारका इस प्रकार वर्णन आया है—आदिनक्षत्र अश्विनीके चारों चरणोंमें क्रमशः चू चे चो ला ये अक्षर हैं—इत्यादि ।'

इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि बच्चेके जन्म होते भी नाक्षत्रिक नाम रक्खा जाता है । नक्षत्राश्रय नाममें दो प्रकार हैं—या तो नक्षत्रके नामसे, अथवा उस नक्षत्रके देवताके नामसे नाम रक्खा जाय, अथवा नक्षत्रके पादोंके चार अक्षरोंमें ज्यौतिषगणितके अनुसार जन्म समयके अनुकूल जो अक्षर आवे, उसे आदिमें रखकर नाम रक्खा जाय । नक्षत्रके नामसे ही पता चल जाता है कि यह पुरुष अमुक वर्षके अमुक मास, अमुक तिथि, अमुक वार तथा अमुक समयमें उत्पन्न हुआ है । जन्म-लग्नकुण्डली उसमें सहायक होती है । केवल ऐच्छिक नाम रखनेपर यह सप्रमाण सिद्ध नहीं किया जा सकता कि यह पुरुष अमुक दिन उत्पन्न हुआ । नामकरणके साथ नक्षत्रोंका सम्बन्ध होनेसे ही आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीने श्रीगोभिलगृह्यसूत्रानुसार अपनी संस्कारविधिमें नामकरणसंस्कारमें नक्षत्र तथा उसके देवता, तिथि तथा उसके देवताके नामसे आहुति दिलवायी है । (पृष्ठ ६४) ।

नक्षत्र-नामसे ही वैद्यको भी लाभ पहुँचता है । वैद्य जब रोगीका जन्म-नक्षत्र जान जाता है, तब उसके सामने रोगीकी प्रकृति मूर्तिमती होकर उपस्थित हो जाती है । वह जानता है कि अमुक नक्षत्रमें उत्पन्न होनेसे सामान्यतया इस शिशुकी प्रकृति यह है । वह तदनुकूल ही चिकित्सा करता है ।

(क्रमशः)

उत्तेजनाके क्षणोंमें

[क्रोध, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'क्रोध पाप कर मूल !'

जानता हूँ कि क्रोध बड़ी बुरी चीज है ।

क्रोधके चलते क्या नहीं होता ?

उत्तेजनाके क्षणोंमें जो न हो जाय सो थोड़ा ?

तुलसीबाबाने कहा है—

'क्रोधके परुष बचन बल !'

परंतु मुझपर जब क्रोध सवारी गाँठता है तब जुबानसे जहर ही उगल कर शान्त नहीं हो जाता, मैं मार-पीटपर भी आमादा हो जाता हूँ । हाथ-पैर भी चला बैठता हूँ ।

और कभी-कभी तो उसका दौरा इतना तेज होता है कि हाथमें छुरा हो तो खून कर बैठूँ, पिस्तौल हो तो क्रोधके पात्रको गोलीसे उड़ा दूँ । बस चले तो उसका अस्तित्व ही पृथ्वीतलसे उठा दूँ !

× × ×

कहावत है—'कम कुवत रिस ज्यादा !'

दुर्बल व्यक्तिको बहुत तेज गुस्सा आता है । बूढ़ों और बीमारोंका चिड़चिड़ापन प्रसिद्ध ही है ।

शायद दुर्बल कायाके कारण ही मुझे क्रोध अधिक आता हो !

पर मैंने देखा है कि मोटे-तगड़े, हट्टे-कट्टे व्यक्ति भी क्रोधके शिकार बनते हैं और कभी-कभी उनका क्रोध चरम सीमापर जा पहुँचता है ।

आपको यदि क्रोध नहीं आता, आप कभी उत्तेजित नहीं होते, उत्तेजनाके क्षणोंमें भी आप शान्त रहते हैं तो आप प्रणम्य हैं, वन्दनीय हैं । आपके चरणोंमें मेरे कोटि-कोटि प्रणाम !

× × ×

मेरा अपना हाल तो बहुत बुरा है ।

दफ्तरसे थका-माँदा लौटूँ, भूखके मारे बुरा हाल हो और देखूँ कि पत्नीने अभी चूल्हेमें आग भी नहीं जलायी,

अथवा दाल-सागमें जरूरतसे ज्यादा नमक-मिर्च छोड़ दी है अथवा रोटी जला दी है तो देखिये मेरे क्रोधका पारा !

उस दिन थाली न टूटे, सेवापरायणा पत्नीका गंदी गालियोंसे समादर न हो तो उसका भाग्य सराहना चाहिये !

× × ×

गरमीके दिन हैं। दफ्तरकी छुट्टी है। दोपहरमें खाना खाकर मजेकी झपकी ले रहा हूँ। इसी समय घरका कोई बच्चा किसी चीजके लिये ठुनकने लगता है अथवा खेलते-खेलते कोई चीज गिरा देता है। मेरी नींद टूट जाती है। अब देखिये मेरा ताव ? बच्चेके कान मैंने गरम न किये, उसकी पीठ लाल न की तो कहिये !

× × ×

जरूरी कामसे पैदल जाना है । रास्तेमें चप्पल खोल गयी। मेरे गुस्सेका पार नहीं है। पासमें कहीं मोची न मिले, अथवा मरम्मतके लिये जेबमें पैसे न हों और श्रीमती चप्पल-को हाथमें लटकाकर ले चलना पड़े तो मेरा क्रोध देखते ही बनता है !

× × ×

रिक्शा पंचर हो गया या 'क्यू'में दूर खड़े होनेसे टिकट मिलनेमें देर हो गयी और प्लेटफार्मपर पहुँचते-पहुँचते सीटी देकर ट्रेन चल पड़ी। मैं सचमुच रेल देखता रह गया। अब देखिये मेरा क्रोध !

× × ×

दिनभरका थका बिस्तरपर पड़ा हूँ। आँखें नींदसे भारी हैं। ऐसे समय नीचेसे खटमल, ऊपरसे मच्छर काटना शुरू कर देते हैं। अब देखिये मेरा ताव !

परंतु कितना ही भारी मत्कुण-यज्ञ करूँ, कैसी भी अच्छी मसहरी लगाऊँ, जान बचनेवाली है ? परंतु चौकीको धूपमें डालकर उसपर गरम पानी छिड़ककर भी भला मेरा क्रोध शान्त होनेवाला है ?

× × ×

बच्चे रोते हैं, बीमार पड़ते हैं, रातमें सोना हराम कर देते हैं। शरीर थकावटसे चूर है परंतु तापमान लेनेके लिये जागना है, दवा वक्तपर देनेके लिये जागना है, डाक्टरका दरवाजा खटखटाना है। अब देखिये, मेरा पल-पलपर बढ़ने-वाला क्रोध !

× × ×

मुझे दुर्बल पाकर कोई गाली दे देता है, पीट देता है। मेरा कसूर हो तब भी मुझे गुस्सा आता है, फिर बिना कसूर यदि कोई मार बैठे तो फिर मेरा क्रोधित होना स्वाभाविक ही है।

× × ×

मतलब, जब मेरे आराममें बाधा पड़ती है, सुखोपभोग-में कोई अड़चन आ जाती है तो मेरा क्रोध भड़क उठता है। फिर वह गरमीमें ऊमस होनेसे हो, बाहर जाते समय तालीका गुच्छा खो जानेसे हो, जरूरतके वक्त जरूरी चीजके न मिलनेसे हो, समयपर बर्तन मलनेके लिये दाईके न आनेसे हो, खाना बननेके पहले ही पत्थरके कोयलेकी आँच चली जानेसे हो, किसी चीजके खो जानेसे हो, बच्चोंके जिद करनेसे हो, समयपर गाढ़ी मेहनतकी कमाई न मिलनेसे हो, परीक्षामें असफल हो जानेसे हो, बरसातमें पैर फिसलकर गिर जानेसे हो, बीमार पड़ जानेसे हो, समयपर उधार गयी चीज या रकम वापस न मिलनेसे हो अथवा और ही किसी कारणसे हो । मेरे स्वार्थमें मेरे आराममें बाधा आयी नहीं कि मेरा क्रोध उबला !

× × ×

लेकिन, यहींतक बस नहीं।

मेरे क्रोधके और भी कितने ही कारण हैं।

मुझमें कूट-कूटकर अनेक दुर्गुण भरे पड़े हैं। मगर मैं यह नहीं चाहता कि मेरी कमजोरियोंका कोई पर्दाफाश करे ! जब कोई व्यक्ति मेरे आत्मसम्मानको ठेस लगाता है, मेरी ख्यातिपर प्रहार करता है, दूसरोंकी दृष्टिमें मुझे गिराने-की चेष्टा करता है, मुझे उचितसे कम आदर देता है अथवा किसी भी प्रकारसे मेरे अहंकारपर ठोकर मारता है तो मेरे तावका ठिकाना नहीं रहता !

× × ×

मेरी पत्नी, मेरे छोटे भाई, बहिन, मेरे बच्चे, मेरे अधीनस्थ कर्मचारी जब मेरी बात नहीं सुनते, मेरे आदेशोंका अक्षरशः पालन नहीं करते अथवा मेरी रुचि और इच्छाके विपरीत कोई काम करते हैं, तो मेरा गुस्सा दर्शनीय बन बैठता है !

× × ×

मेरी झूठी शानमें ठेस लगी नहीं, मेरी कमजोरियोंपर किसीने उँगली उठायी नहीं कि एँडीसे लेकर चोटीतक मेरा सारा शरीर क्रोधसे जल उठता है !

× × ×

निन्दा और अपमान होनेपर, उपेक्षा और तिरस्कार

होनेपर तो मेरा ही क्या, बड़े-बड़ोंका आसन डोल जाता है। चिढ़ानेपर, तिरस्कृत होनेपर मेरे क्रोधका पार नहीं रहता। मेरी शारीरिक अयोग्यतापर, मेरी जाति, वर्ण, कुल, विद्या, बुद्धि आदिपर कोई आक्षेप कर भर दे, मुझे चोट लग जानेपर, मेरे गिर जानेपर कोई हँस भर दे, मुसकरा भर दे, मेरा मखौल भर उड़ाये तब देखिये मेरा लाल होना !

× × ×

कोई व्यक्ति जब मुझपर व्यंग्य कसता है, मुझपर कार्टून बनाता है, मित्रमण्डलीमें, परिचितोंमें, सभा-सोसाइटीमें, क्लब या गोष्ठीमें मेरा निरादर करता है, मजाक उड़ाता है, व्याजसे भी कहीं मेरी निन्दा करता है तो मेरा रोम-रोम क्रोधसे जलने लगता है !

× × ×

यह मत समझ लीजिये कि सिर्फ इतनी ही बातोंपर मेरा क्रोध भड़कता है। मेरे क्रोधके कारणोंकी सूची बहुत लंबी है। जैसे—

मेरा कोई साथी अथवा मेरे अधीन काम कर चुकनेवाला कोई व्यक्ति जब धनसम्पत्तिमें, मान-सम्मानमें मुझसे बाजी मार ले जाता है तो मेरा क्रोध फुफकार उठता है—'हैं, मैं जहाँ-का-तहाँ पड़ा हूँ और यह मुझसे इतना आगे बढ़ गया' !······

× × ×

मुझे अनिद्राका रोग है, नींद नहीं आती, चिन्ताएँ आठ पहर चौंसठ घड़ी घेरे रहती हैं और कोई दूसरा मेरे सामने ही खर्राटेकी नींद लेता है, निश्चिन्त जीवन व्यतीत करता है, मौज-मस्तीसे जिंदगीके दिन काटता है, यह देख मेरे क्रोधका पार नहीं रहता !

× × ×

मैं भले ही झूठ बोलता रहूँ, 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो' की नीति अपनाता रहूँ, पर मुझे यह बर्दाश्त नहीं होता कि कोई दूसरा व्यक्ति झूठ बोले अथवा असलियतपर पर्दा डाले !

× × ×

मैं दुनियाभरकी खुराफातें करता रहूँ परंतु दूसरेसे कोई सामान्य-सा भी अपराध बन पड़े तो मैं उसे क्षमा करनेकी बात भी नहीं सोच सकता! ऐसे मौकोंपर मेरा क्रोध देखते ही बनता है !

× × ×

'धोबीसे बस न चला तो गदहेके कान उमेठ दिये !'—इस तथ्यको मैंने जी-जानसे पकड़ रक्खा है। दफ्तरमें बड़े बाबू जिस दिन मुझपर अपना ताव उतारते हैं, उस दिन मेरी पत्नी और बच्चे उस तावके शिकार न बने तो मैं ही क्या !

× × ×

अपनी बेवकूफियाँ मेरी दृष्टिमें नगण्य रहती हैं, पर दूसरोंकी बेवकूफियोंपर मेरा बिगड़ उठना मेरे लिये स्वाभाविक है।

× × ×

भले ही मेरा दृष्टिकोण गलत हो, वाद-विवादमें कोई मेरे पक्षको चुनौती दे, फिर देखिये मेरा क्रोध !

× × ×

बच्चे पढ़ाईमें यदि मेरी आशाके अनुरूप प्रगति न करें अथवा व्यवहारमें ठीक वैसा न करें जैसा बुजुर्गोंको करना चाहिये, फिर देखिये मेरा ताव । मार-मारकर उन्हें उल्लू बनाये बिना मैं मान नहीं सकता।

× × ×

'टाकाय टाका बाढ़े !' किसीको क्रोधित होते देख मैं भी क्रुद्ध हुए बिना नहीं रह सकता। पत्थरका जवाब पत्थरसे देनेमें मैं माहिर हूँ। ईसाका वह पर्वतवाला उपदेश मुझे फूटी आँख नहीं सुहाता कि 'कोई तुम्हारे दायें गालपर थप्पड़ मारे तो तुम उसके आगे बायाँ गाल भी कर दो !'

× × ×

अमुक व्यक्ति तुम्हारे खिलाफ ऐसा-ऐसा कह रहा था—यह बात कोई मुझसे आकर कह दे, बस, असलियतका कुछ भी पता लगाये बिना मैं क्रोधके हाथका खिलौना बन बैठता हूँ। बातका बतंगड़ बनते देर नहीं लगती।

× × ×

भले ही न्याय और सदाचारसे मैं कोसों दूर रहूँ पर मेरे सामने कोई अन्याय और दुराचार कर तो जाय ! अपराधीको दण्ड देनेके लिये मैं तत्काल कानूनको अपने हाथमें उठा लेता हूँ।

× × ×

तात्पर्य यह कि सुबहसे शामतक और शामसे सुबहतक एक-दो नहीं, कभी-कभी सैकड़ों ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं जब मैं उत्तेजित हो उठता हूँ, मेरी शान्ति मेरा पल्ला छुड़ाकर भाग जाती है और मैं क्रोधके हाथोंकी कठपुतली बन बैठता हूँ।

जहाँ मेरे स्वार्थमें कोई बाधा पड़ी, जहाँ मेरी इच्छाके प्रतिकूल कुछ हुआ, मेरे आराममें खलल पड़ा, जहाँ कोई काम बिगड़ा, जहाँ कोई चीज खराब हुई, जहाँ किसीने मारा-पीटा, गाली बकी, व्यंग्य किया, निन्दा की, मेरे खिलाफ कुछ कहा, कुछ किया—बस, क्रोध देवता हाज़िर !

× × ×

'कामात्क्रोधोऽभिजायते !'

कामसे तो क्रोध आता ही है, लोभसे भी क्रोध आता है।

मोहसे भी क्रोध भड़कता है ।

मद और मात्सर्यसे भी क्रोधका जन्म होता है ।

कहा नहीं जा सकता कि हमारे अन्तसका कौन विकार कब क्रोधका रूप धारण कर लेगा ।

× × ×

उत्तेजनाके ये क्षण रात-दिनमें न जाने कितनी बार उपस्थित होते हैं। रोज हम कितने ही लोगोंके सम्पर्कमें आते हैं। सबके स्वार्थ अलग, सबके स्वभाव अलग, सबकी प्रकृति अलग, सबकी रुचि अलग, सबकी रुझान अलग। हाथकी पाँच अंगुलियाँ जब एक-सी नहीं, तब दूसरे लोगोंकी तो बात ही क्या? एक पेटके जाये चार बेटे चार तरहके होते हैं। फिर यह आशा ही कैसे की जा सकती है कि सारी दुनिया मेरी ही रुचिके अनुसार घूमेगी ?

और जहाँ किसीने कोई बात मेरी रुचिके प्रतिकूल की कि मुझे क्रोध आया ! मेरी इच्छाके विपरीत कुछ हुआ कि मैं उत्तेजित हुआ !

× × ×

क्रोध जब आता है तो मेरा चेहरा लाल हो जाता है, भौंहें तन जाती हैं, आँखें लाल हो उठती हैं, नथुने फूल जाते हैं, नाक लाल हो जाती है, साँस तेजीसे चलने लगती है, जुबान बेलगाम हो जाती है, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं, शरीरका रोम-रोम उत्तेजनासे भर उठता है !

क्रोधके आते ही मेरी शान्ति हवा हो जाती है, विवेक झख मारा करता है, बुद्धिका दिवाला खिसक जाता है, तन-बदनका सारा होश जाता रहता है और उस हालतमें मैं कुछ भी कर सकता हूँ ।

क्रोधके आवेशमें मैं गाली बक सकता हूँ, व्यंग्य कस सकता हूँ। स्त्री-बच्चोंपर ही नहीं, दूसरोंपर भी हाथ उठा सकता हूँ, कोई भी कुकृत्य कर सकता हूँ, भले ही बादमें उसके लिये पछताना पड़े !

उत्तेजनाके क्षणोंमें मैं मार-पीट, खून, कत्लतक कर सकता हूँ । और क्या नहीं कर सकता ?

× × ×

क्रोधका परिणाम किसीसे छिपा नहीं । जेलोंकी आबादी आधी भी न रहती यदि मानव क्रोधपर विजय प्राप्त कर पाता । वहाँ काम, क्रोध और लोभके ही शिकार तो चारों ओर दिखायी पड़ते हैं ।

लखनऊ सेंट्रल जेलमें ४२ में एक सीधे-सादे कैदीसे जब मैंने पूछा—'भाई ! तुम क्यों यहाँ चले आये ? तुम तो बहुत सीधे, ईमानदार और शान्त जान पड़ते हो !' तो वह बहुत शर्माकर बोला—'क्या बताऊँ भाईजी ! ससुरालमें जोरूकी बिदा कराने गया था । उन लोगोंने उस समय उसे भेजनेसे इन्कार किया । मुझे गुस्सा आ गया और मैंने गँड़ासा उठाकर बीवीकी ही गर्दन उड़ा दी ! अब जिंदगीभर जेल काटनी है !'

× × ×

क्रोध अत्यन्त भयंकर मानसिक विकार है। आज घर-घरमें इतना लड़ाई-झगड़ा, द्वेष, घृणा और झिकझिक दीख पड़ती है, उसका मूल कारण यह क्रोध ही है ।

क्रोध प्रकट होता है तो कटुवाणीमें, तू-तू, मैं-मैं, गाली-गलौजमें, मार-पीट और कत्लमें । दबा रहता है तो घृणा और द्वेषका रूप पकड़ लेता है और मौका मिलते ही ज्वालामुखीकी तरह फट पड़ता है !

बीमारियाँ तो क्रोधसे न जाने कितनी पैदा होती हैं । चिन्ता, स्नायुदौर्बल्य, रक्त-चाप, मिरगी, बेहोशी, पागलपन आदि न जाने क्या-क्या हो जाता है क्रोधके कारण ! कहते हैं, क्रोधसे विषाक्त माताका दूध पीनेसे बच्चेकी मृत्युतक होनी सम्भव है ।

× × ×

व्यक्तिका क्रोध समाजमें फैलता है, समाजका राष्ट्रमें और राष्ट्रका सारे संसारमें । विश्व-युद्धोंका जनक क्रोध ही है । एटम बम, हाइड्रोजन बम आदिके भीतर हमारा यह क्रोध ही तो सिमटा-सिकुड़ा बैठा है । इसके फटनेकी देर है कि मीलोंतक सर्वनाशका ताण्डव होने लगता है ।

× × ×

जो क्रोध इतना भयंकर है, जो क्रोध आननफानन लाख-का घर खाक कर देता है, जो क्रोध जेल, कालापानी

और फाँसीतक पड़नेके लिये विवश कर देता है, जिस क्रोधकी परिणति दुःख और हाहाकारमें ही होती है, उसी क्रोधके विषयमें मैंने लोगोंको कहते सुना है—'क्रोधके विना भी भला संसारका काम चल सकता है ?' वे कहते हैं—

अति सीधे मति होइये, कछुक व्यंग मन माहिं ।
सीधी लकड़ी काटि लें, टेढ़ी काटैं नाहिं ॥

× × ×

स्वामी रामतीर्थने इसका बड़ा सटीक उत्तर दिया है—'हम यह पूछते हैं कि क्या यह सच है कि 'टेढ़ी काटैं नाहिं ?' सच तो यह है कि समयपर सब कट जाती हैं, क्या सीधी और क्या टेढ़ी । केवल आगे-पीछेका भेद है । कटनेमें सब बराबर हैं ।

'हाँ, अगर सचमुच अन्तर है तो यह है कि टेढ़ी लकड़ी काटी जाकर प्रायः जलायी जाती है, ईंधनके काम आती है और सीधी लकड़ी काटी जाकर जलायी नहीं जाती, वरं वह रंग-रोगनसे सजकर अमीरों, वृद्धों, महापुरुषों, शौकीनों, सुन्दरियोंके पवित्र कर-कमलोंका दंड (डंडा) बनती है या यदि मोटी और भारी हो तो मन्दिरों, मकानोंमें शहतीरका काम देती है, स्तम्भका पद पाती है ।

'सीधी लकड़ी हर प्रकारसे अपनी पहली अवस्थाकी अपेक्षा उन्नति पाती और विकास-समन्वित होती है, जब कि टेढ़ीको अवनति और विनाश प्राप्त होता है ।'

× × ×

अनुशासनके लिये कुछ लोग क्रोधको आवश्यक मानते हैं । उनका मत है कि क्रोधके बिना नौकर ढीठ हो जायँगे, दफ्तरोंका काम ठीकसे न चलेगा, लड़के बड़ोंका आदर न करेंगे । उनका कहना है कि क्रोध न किया जाय पर उसका स्वाँग तो करना ही चाहिये । कारण—

सीधी उँगली घी जम्यो क्यों हूँ निकसे नाहिं ।

× × ×

परंतु मैं जानता और मानता हूँ कि क्रोधका स्वाँग भी खतरेसे खाली नहीं । एक बार 'अभिमन्यु-वध' का नाटक खेला जा रहा था । बेटा अभिमन्यु बना था, पिताको उसपर गदाका प्रहार करना था । परंतु क्रोधके आवेशमें पिता भूल बैठा कि उसे स्वाँग ही करना है । गदा-प्रहारसे 'अभिमन्यु' की खोपड़ी दरअसल खिल गयी । स्वाँग असलियत बन बैठा । खूनके फव्वारोंसे सारा स्टेज रँग गया ।

× × ×

नौकरों, छात्रों और बालकोंमें, घर-दफ्तरमें अनुशासन लानेके लिये न क्रोधकी जरूरत है, न क्रोधके स्वाँगकी । दूसरोंमें अनुशासन लाना है तो पहले अपने-आपको अनुशासित करिये । आपको देखकर ही दूसरे लोग अनुशासनका पालन करने लगेंगे ।

"Example is better than Precept !"

× × ×

(क्रमशः)

नवनीतोपमा वाणी करुणाकोमलं मनः ।
धर्मबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम् ॥
दयादरिद्रहृदयं वचः क्रकचकर्कशम् ।
पापबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम् ॥

(पद्मपुराण)

धर्मबीजसे उत्पन्न पुरुषकी प्रत्यक्ष पहचान है कि उसकी वाणी नवनीतके समान मृदु है तथा उसका मन दयासे कोमल होता है।

पाप-बीजसे उत्पन्न पुरुषकी प्रत्यक्ष पहचान है कि उसका हृदय दयासे रहित है और उसकी वाणी केवड़ेके पत्तेकी तरह तीखी और कँटीली है ।

आइंस्टीन और भगवान् बुद्ध

(लेखक—श्रीकैलाशनाथजी मेहरोत्रा, एम्० ए०)

एक दिन नाजी-अत्याचारोंका शिकार एक यहूदी इतना संतप्त हुआ कि उसने उसी दिन जर्मनी देशको छोड़ दिया। वह फ्रांस, बेल्जियम, इंग्लैंडमें शरण लेता हुआ अमेरिका पहुँचा, जहाँ न्यू जरसी (यू० एस्० ए०) प्रिन्सटनकी एडवांरड स्टडीके इन्स्टीच्यूटमें उसे गणितके प्राध्यापकका पद मिला।

आज वह कुशल वैज्ञानिक 'एकीकृत क्षेत्र-सिद्धान्त' के विकासमें संलग्न संसारमें एक राष्ट्रकी संस्थापनाके हेतु यत्नवान् है।

उसके सिरके बाल सफेद हो गये हैं। उसकी गहरी धँसी हुई आँखें दूर क्षितिजमें किसी रहस्यपूर्ण प्रश्नको सुलझाती हुई प्रतीत होती हैं। कितने ही नागरिक राहमें उसे देखकर नमस्कार करते हैं और वह उनका नमस्कार ग्रहण करता हुआ, गहन विचारोंमें तल्लीन, वेगसे पद बढ़ाये हुए चला जाता है।

वह व्यक्ति है—अल्बर्ट आइंस्टीन।

आइंस्टीनने—जो कभी पेटेन्ट कार्यालयमें एक क्लर्क था—शोध करके पता चलाया तो विश्वके इतिहासमें एक नये समीकरणने प्रसिद्धि पायी।

शक्ति = पिण्ड × प्रकाशकी गतिका वर्ग। भौतिक विज्ञानमें इसका अर्थ है कि शक्ति जो किसी पिण्डमें अन्तर्हित होती है, बराबर है उस पदार्थके पिण्डके गुणित प्रकाशकी गतिके वर्गके।

उसने सापेक्षवादके सिद्धान्तकी खोज सन् १९१६ में की, परंतु उसे भौतिक विज्ञानपर सन् १९२१ में नोबुल पुरस्कार (लगभग १,९१,२०० रुपये) मिला।

प्रिन्सटन विश्वविद्यालयमें आये हुए उसको २१ वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इन लंबे वर्षोंमें विज्ञानके विभिन्न पहलुओंपर मनन करते हुए, सिद्धान्तोंकी व्याख्या करते हुए उसने वैज्ञानिकोंको कई बार चुनौती दी और सदैव सफलता पायी।

उसके सिद्धान्तोंमें सापेक्षवादका सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे समझानेके लिये अनेकों पुस्तकें और पुस्तिकाएँ लिखी जा चुकी हैं।

प्रसिद्ध अमेरिकन लेखक डेल कार्नेगीने बड़े ढंगसे इस प्रकार लिखा है कि इस सिद्धान्तके प्रतिपादक आइंस्टीनने ही अच्छा उदाहरण दिया है—

'जब आप किसी सुन्दरीके समीप एक घंटे बैठते हैं, तब आप (घंटा बीत जानेपर) यही समझते हैं कि केवल एक मिनट ही हुआ है।'

अब यदि गरम चूल्हेपर आपको एक मिनटतक बैठा दिया जाय तो आप कहने लगते हैं—ओह! घंटाभर हो गया।

'यदि आपको इसकी सत्यतामें संदेह है और आप समझते हैं कि ऐसा नहीं होता है, तो अच्छा है, मैं सुन्दरीके समीप बैठ जाऊँगा और आप गरम चूल्हेपर बैठ जायँ। समय दोनों अवस्थाओंमें बराबर ही रहेगा।'

अब दूसरा उदाहरण लीजिये। आप अपने घनिष्ठ आत्मीयजनके आगमनपर उनसे किसी रुचिकर विषयपर वार्तालाप करने लगे। एक घंटा बीत गया, तब आपको रसोइयाने भोजन जीमनेके लिये बुला भेजा; परंतु वार्तालापमें आप ऐसे संलग्न हुए कि एक घंटा समय बीतते आपको न जान पड़ा और आप कह उठते हैं, 'अरे! अभी तो एक मिनट ही हुआ है।'

बस एक और उदाहरण पर्याप्त होगा।

आपके शरीरके किसी अङ्गमें फोड़ा पक आया है और आप ऑपरेशन हालमें आ बैठे हैं।

जिस समय फोड़ेपर नश्तर लगता है, उस समय लगभग एक मिनट समय लगता है, परंतु नश्तरके एक मिनटके समयको आप ऐसा प्रतीत कर कह उठते हैं—ओह! एक घंटा लग रहा है। किसी तरह बीत जाय।

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि समयकी गति सर्वत्र समान नहीं है।

परंतु आइंस्टीनके इस सिद्धान्तकी खोजके पहले यह ऐसा सर्वमान्य न था। तब यह माना जाता था कि समय संसारके किसी स्थानमें, जब एक मिनट या एक घंटा बीतता है, तो अन्य स्थानोंमें भी उतनी ही गतिसे बीतेगा अर्थात् मापदण्ड सब स्थानोंमें समान होगा।

यह विचारधारा तब बदली जब आइंस्टीनने सापेक्षवादका सिद्धान्त समयपर लागू कर उसे प्रमाणित किया। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि समयकी गति सापेक्ष होती है। समयकी एक निश्चितरूपमें आँकी हुई गति, साधारण क्रियाओंके परे इस लोकमें और अन्य लोकोंमें अधिक या न्यून हो सकती है।

इस भूमण्डलमें जिस समयका मान एक घंटा समझमें
आता है, वह साधारण अवस्थाके परे इस लोकमें और अन्य
लोकोंमें इसी माप-दण्डसे कम या अधिक हो सकता है।
एक घंटा एक मिनट हो सकता है, एक दिन हो सकता है,
एक वर्ष हो सकता है, एक युग हो सकता है।

आइंस्टीनने संसार और ईश्वरके विषयमें अपना मत
प्रकट किया है। उसकी धार्मिक प्रवृत्ति जानने योग्य है।

उसने कहा है—

'मैं यह नहीं मानता हूँ कि ईश्वरने इस असीम जगत्का
निर्माण बिना किसी निश्चित योजनाके ही कर दिया है, जैसे
कोई जुआरी पासा फेंकता है। मैं इसे कभी भी नहीं मान
सकता हूँ कि ईश्वर दुनियाके साथ खिलवाड़ करता है।'

इस असीम जगत्के सम्बन्धमें भगवान् बुद्धने अबसे
२५०० वर्ष पूर्व जो स्पष्टीकरण किया, उससे ज्ञात होता है
कि सापेक्षवादके सिद्धान्तके वे ज्ञाता थे। उन्होंने पदार्थ और
मनःशक्तिके सही लक्षणोंका सही ज्ञान प्राप्त किया था।
दोनोंके यथोचित ज्ञान-लाभके लिये भौतिक विज्ञान और
मनोविज्ञानका गहन अध्ययन आवश्यक है। पदार्थ एवं
मनःशक्ति एक दूसरेसे इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि भीतरसे
दोनों एक रूप हैं।

उनका कथन है कि मनुष्य पदार्थ और मनःशक्तिका
सम्मिश्रण है। इसी भाँति ब्रह्माण्ड भी पदार्थ और मनः-
शक्तिका सम्मिश्रण है, परंतु प्राथमिक उपादान मन है
और उसकी शक्तिकी तुलना नहीं है।

इस सम्बन्धमें यह जानना होगा कि मनमें कम्पन
होते हैं—आकाशकी विद्युत्की एकबारगी झलकके समयमें
लगभग ३,०००,०००,०००,००० बार। और क्या आप
जानते हैं कि एकबारगी झलकमें कितनी शक्ति होती है?

एक बार बिजलीके इंजीनियरोंने वैज्ञानिक रीतिसे
इसकी नाप-तौल की थी। यह पता चला था कि एकबारगी
झलक १५,०००,००० वोल्ट्स् और शक्ति लगभग
२५०० मिलियन किलोवाट होती है। अब आप मनके
एकबारगी कम्पनकी शक्तिका आभास पा गये होंगे। और
मनःशक्ति भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें विभिन्न प्रकारकी होती है।
यह निर्विवाद सत्य है कि मनःशक्ति प्रत्येक प्राणीके पुण्य और
पापके अनुसार प्रबल और दुर्बल होती रहती है।

अब भगवान् बुद्धके कथनानुसार ज्ञानवृद्धि करनी होगी।

पहले अनन्तत्व (Infinity) के गणितको समझ
लेना होगा; किंतु इसको भली प्रकार समझनेमें तभी आसानी
होगी जब सान्तत्व (Definity) के गणितको समझ
लिया जाय।

तो क्या (१+१=२) एक धन एक बराबर दो होते हैं?—

सान्तत्वके गणितमें वे दो होंगे।

इस प्रकार सान्तत्वको 'स' माननेपर

स+स =२ स
स—स =० स
स×स = स २
स÷स =१ स

यह ब्रह्माण्डके नाप-तौल करनेकी रीति अनन्तत्वके
गणितमें लागू नहीं होती। उसमें प्रत्येक दशामें परिणाम
अनन्त आता है।

इस भाँति अनन्तत्वको 'अन' मान लेनेपर

अन+अन =अन
अन—अन =अन
अन×अन =अन
अन÷अन =अन

इस प्रकार देखा जा सकता है कि अनन्तत्वमें रीति
अव्यावहारिक है।

अनन्तत्वका कार्य-क्षेत्र दिक्, काल और सर्वत्र है।
दिक् और कालके सीमातीत होते ही उनमें एकरूपता
आ जाती है।

परंतु असीमता जहाँतक बुद्धिगम्य है, दो दिशाओंमें
काम करती है। संकर्षणकी असीमता और दिक् (विस्तार)
की असीमता। बिन्दु दो हैं—कालका बिन्दु और स्थानका
बिन्दु। दोनों संकर्षणकी असीमताके नियमके अनुसार कार्य
करते हैं।

दिक् (विस्तार) के भी दो रूप हैं—कालका विस्तार
और स्थानका विस्तार। दोनों भूत और भविष्यत्की दिशामें
विस्तारकी असीमताके नियमके अनुसार कार्य करते हैं।

दिक् (स्थान) के दो बिन्दुओंके मध्यमें सतर खींची
जाय तो 'मध्यवर्ती लंबाई' चाहे जितनी छोटी क्यों न हो,
नापी जा सकती है

इसी प्रकार काल (समय) के दो बिन्दुओंके मध्यमें सतर
खींची जाय तो मनके दो कम्पनोंको नापा जा सकता है।

परंतु ब्रह्माण्ड चारों ओर अनन्त है। अतएव दिक्

(स्थान) का कोई विन्दु, ब्रह्माण्डका केन्द्र है। इसी प्रकार काल (समय) का कोई विन्दु कालका केन्द्र है।

अव यह सुनिश्चित है कि अनन्तत्वका गणितका नियम सब मात्राओंपर लागू होता है। जैसा बताया जा चुका है कि नेत्रके दो कम्पनोंके बीचका समय आकाश-विद्युत्की एकबारगी झलकका ३०००,०००,०००,००० भाग होता है। इतने सूक्ष्म समयका विस्तार जाना जा सका है।

इस प्रकार ब्रह्माण्डके स्पष्टीकरणमें सापेक्षवादका सिद्धान्त यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है।

फिर प्राणियोंके पुण्य एवं पापके भारके अनुसार मनःशक्ति विविध प्रकारकी होती है। इसी विभिन्नताके कारण समयकी गति एक मानको नहीं लाती।

पाप अथवा पुण्यके भारसे आसन्न मनःशक्तिके कारण वर्षका मान उसी मापदण्डसे न्यूनाधिक हो सकता है। वह एक मिनट, एक दिन, एक मास, एक वर्ष ... हो सकता है।

अब यह प्रत्यक्ष है कि भगवान् बुद्धके ब्रह्माण्डके स्पष्टीकरणसे पता चल जाता है कि उनको सापेक्षताका सही ज्ञान था और आइंस्टीनने इस सिद्धान्तका शोध कर तथ्यको प्रयोगोंद्वारा सिद्ध कर, दोनों भौतिक विज्ञान और अध्यात्म-ज्ञानका बड़ा उपकार किया है।

आइंस्टीनकी उन्नतिके मूलमें उनके दैवी विचारोंका सिंचन है। एक स्थानपर वे कहते हैं—

'कड़ुआ और मीठा, बाहरसे प्राप्त होता है; सख्त अंदरसे अपने श्रमसे।'

'अधिकतर मैं वही कर्म करता हूँ जिसे करनेके लिये मेरी प्रकृति मुझे प्रेरित करती है। उसके लिये इतना आदर और स्नेह मुझे संकोचमें डाल देता है। द्वेषके बाण भी मुझपर छोड़े गये हैं, परंतु वे मेरे कभी नहीं लगे; क्योंकि वे बाण उस दुनियाके थे जिससे मेरा कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है।'

वह दिन दूर नहीं है जब संसारको ज्ञात होगा कि एक महर्षिने जगत्की रहस्यपूर्ण पहेलीको बूझ दिया और कल्याण-मार्ग प्रशस्त किया।

एक संतके सदुपदेश

[नाम प्रकाशित करनेकी आज्ञा नहीं]

(प्रेषक— भक्त श्रीरामशरणदासजी)

[१]

शिखा-सूत्रकी रक्षा करो

हिंदुओ! याद रक्खो—हमें सिर तो हर जन्ममें मिलता है। इस जन्मसे पहले भी हमें सिर मिल चुका है और इस जन्मके बाद भी यदि मुक्ति नहीं हुई तो हमें सिर मिलेगा, यह निश्चित है; किंतु मरनेके पश्चात् हमारा दूसरा जन्म फिर भी भारतमें हिंदूकेही घर होगा और हिंदू भी ऐसा जो चोटी और यज्ञोपवीत—शिखा-सूत्र रखता होगा यह कोई निश्चित बात नहीं है। इसलिये हमारा सिर भले ही चला जाय, पर हमारी चोटी और यज्ञोपवीत नहीं जाना चाहिये। इस चोटी, तिलक और यज्ञोपवीतकी रक्षाके लिये ही हमारे पूज्य प्रातःस्मरणीय श्रीगुरु तेगबहादुर साहबने अपना सिर हँसते-हँसते दे दिया था। तभी तो श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराजने कहा था—

कीन्हों बड़ो कलूमें साका। तिलक जनेऊ राखा प्रभु ताका॥
साधन हेत इती जिन करी। सीस दिया पर सी न उचरी॥

चोटी रखनेवाला व्यक्ति मनुष्योंमें उसी प्रकार चोटीका यानी ऊँचा मनुष्य है जिस प्रकार पहाड़ोंमें सबसे ऊँची चोटी। विद्वानोंमें चोटीका विद्वान् होता है। जिसके सिरपर चोटी है, वह मन्दिरके कलशके समान होता है।

चोटीवाला हिंदू दुष्ट नहीं होता और न सच्चा हिंदू कभी अनार्योचित कर्म करता है। वह न तो विदूषक होता है, न निन्दक। वह सत्य और धर्मका पालन करता है तथा वेद-मार्गका अनुगामी होता है। चोटीसे हीन प्राणीका शरीर मन्दिरके तुल्य नहीं, वह साधारण भवन हो सकता है, जिसमें अच्छे-बुरे दोनों प्रकारके ही कर्म होने सम्भव हैं। जिसके सिरपर चोटी नहीं है उसमें और चोटीधारीमें वही अन्तर है कि जो एक साधारण गृहमें और एक मन्दिरमें होता है। जिन लोगोंने चोटीकी उच्चताका परित्याग कर दिया है, उन लोगोंने मानो अपने मन्दिरका कलश अपने हाथों उतारकर फेंक दिया है। ऐसे ही अपनी संस्कृति और आचारपर विश्वास न रखनेवाले लोग विदेशी भोगवादी सभ्यतामें रँगे

जाकर होटलोंमें और क्लबोंमें या नाचघरोंमें भोगेच्छाओंकी पूर्तिके लिये मदिरापान, नाच-रंग, अभक्ष्य-भक्षण करते देखे जाते हैं और समाजमें ऐसे व्यक्तियोंकी संख्यावृद्धि होते रहनेके कारण ही आज भारत वह गुण-गौरवमय भारत नहीं रहा है जिसका वर्णन प्राचीन इतिहास और आजसे कुछ ही सदियों पहले बाहरसे आनेवाले यात्रियोंने किया है। उन दिनों प्रत्येक हिंदूके सिरपर चोटी और प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके गलेमें यज्ञोपवीत तथा मस्तकपर तिलक रहता था और इन चिह्नोंकी पवित्रता-रक्षाके लिये प्राणदान करनेवाले किसी हिंदूके लिये दुराचारमय जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं था। इसलिये शिखा-सूत्रका परित्याग कभी न करो और उनके गौरवको समझो।

× × × ×

[२]

नारीका सम्मान करो

हमारे शास्त्रोंमें कहा है कि जहाँ नारीका सत्कार होता है, जहाँ नारीका पूजन होता है वहाँ देवशक्तियाँ निवास किया करती हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

जहाँ नारियोंका तिरस्कार होता है, जहाँ नारियोंका अपमान होता है, वहाँ विनाशकारी आसुरी शक्तियाँ निवास करती हैं। नारीका इसमें अपमान नहीं है कि वह अपने घरका काम-काज करती है, पतिकी सेवा करती है, धर्माचरणपर दृढ़ रहती है। उसका अपमान तो वहाँ है जहाँ उसके पातिव्रत-धर्मको, उसके सतीधर्मको नष्ट करनेका प्रयत्न किया जाता है। रावणने सती सीताका अपमान किया था, जिसके फलस्वरूप रावण अपने सारे कुलका नाश करवा बैठा और अपनी सोनेकी लंकाको फुँकवा बैठा। यह इसीलिये हुआ कि उसने सीताको पाप-पथपर चलनेकी प्रेरणामात्र की थी। यदि कहीं वह सीता-पर हाथ डाल देता तब तो सारी लंका पृथ्वीमें ही धँस जाती। कौरवोंने श्रीद्रौपदीजीका ऐसा ही अपमान किया था और इससे उनकी जो दुर्दशा हुई, वह जगत्-प्रसिद्ध है। जो लोग आज नारी-स्वातन्त्र्य कर देनेके नामपर नारीको भोगसामग्री बनाते हैं वे स्त्रीका घोर अपमान करते हैं। यदि भारतीय हिंदू-नारीका अपमान करनेसे सोनेकी लंका नहीं बच सकी तो यह आजके होटल, क्लब, नाचघर, सिनेमा जहाँ नारीको उसके वास्तविक आदर्श स्वरूपसे हटाकर उसे उसके पवित्र चरित्र और पातिव्रत-धर्मसे पतित करके उसका अपमान किया जाता है, विध्वंससे कैसे बच सकेंगे? वेश्याको लोग इसीलिये तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं कि उसने अपने पवित्र नारीस्वरूपका स्वयं ही अपमान कर डाला है। फिर आज जो सुशिक्षित कहानेवाली हमारी लड़कियाँ भोगवादकी अनुगामिनी होकर परपुरुषोंके सामने नाचती हैं, गाती हैं और अपने सौन्दर्यके लिये भोगकामी पुरुषोंसे प्रमाणपत्र चाहती हैं, उनको क्या कहा जाय? वस्तुतः यह नारीका घोर अपमान है जो बंद होना चाहिये, नहीं तो देश गर्क हो जायगा!

× × × ×

[३]

नारीको सिनेमाकी नर्तकियाँ मत बनाओ

आज चारों ओर जिधर भी जाइये, तरुणी लड़कियोंके नाच कराये जा रहे हैं, स्कूल-कालेजोंमें सबके सामने लड़कियाँ नचायी जाती हैं। माता-पिता भी इतने निर्लज्ज हो रहे हैं कि वे अपने सामने अपनी लड़कियोंको नाचते देखकर प्रसन्न होते हैं। बड़े-बड़े नेताओंके सामने, हजारों लड़कों-के सामने लड़कियाँ नाचती हैं और देशभक्तिका दम्भ भरनेवाले बड़े-बड़े लोग बड़ी दिलचस्पीके साथ उन्हें देखते हैं। फिर उनके नाच-गानकी खूब प्रशंसा की जाती है, उन्हें इनाम दिये जाते हैं और इस प्रकार भारतकी देव-स्वभाव हिंदू लड़कियोंको निर्लज्ज तथा शीलरहित बनाकर उनका जीवन बिगाड़ा जाता है और उन्हें पवित्र पातिव्रतधर्मसे च्युत किया जाता है। बाहरसे आये विदेशी राजदूतोंके सामने भी हिंदू कन्याओंको नचाया जाता है और उनसे वाहवाही ली जाती है। इस प्रकार धर्मप्राण भारतकी प्रतिष्ठाको कलाके नामपर धूलिमें मिलाया जाता है। सिनेमा-की नर्तकी बनकर शौकसे परपुरुषोंका स्पर्श करना, हँसी-मजाक करना, अङ्गोंका प्रदर्शन करना आदि कुमार्गमें प्रीति उपजानेवाले कार्य हमारी हिंदू-ललनाएँ कर रही हैं और इसमें केवल वही नहीं, उसके माता-पिता भी गौरवका अनुभव करते हैं! इस प्रकार भारतका गौरव धूलिमें मिलता जा रहा है। यदि यही क्रम देशमें चलता रहा तो सारा देश रसातलको चला जायगा।

× × × ×

[४]

नारीको होटल जानेसे रोको

क्या कभी आजतक इन होटलोंने, विलासमय क्लबोंने और नाचघरोंने कोई भी संत, महात्मा या वीर पैदा किये हैं?

इन होटलोंमें खानेवालोंमेंसे, जूँठी चायकी प्यालियाँ चाटनेवालोंमेंसे क्या कोई आजतक भी संत, महात्मा, आचार्य निकले हैं ? आज जिस चौके-चूल्हेको बुरा समझा जा रहा है। याद रहे कि इन चौके-चूल्हेवालोंने ही सारे संसारको बड़े-बड़े उच्च कोटिके धर्माचार्य, संत, महात्मा और धर्मवीर दिये हैं, जिनके सामने सारा संसार आज भी नतमस्तक है। और चौके-चूल्हेसे प्रेम रखनेवाली, पतिव्रता माताओंकी पवित्र कोखसे ही भगवान् श्रीराम, कृष्ण, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, तुलसी और सूर, महाराणा प्रताप, शिवाजी-जैसे नर-रत्न उत्पन्न हुए हैं। प्रह्लाद, ध्रुव, श्रवणकुमार, हकीकत, जोरावरसिंह, फतेहसिंह-जैसे पुत्ररत्न इन्हींने उत्पन्न किये हैं। आज बहुत-सी बहिन-बेटियाँ अपने हाथोंसे भोजन बनाकर नहीं खातीं। अपने हाथोंसे भोजन बनाकर खाना वे अपनी शानके विरुद्ध समझती हैं और फैशन बनाकर होटलोंके जूँठे, गंदे और अपवित्र पदार्थ खाने चली जाती हैं, जिससे धन-धर्म दोनोंका नाश होता है। भला, जो बहिन-बेटी होटलोंमें, चाहे जिसके हाथका बना अपवित्र पात्रोंमें और चाहे जैसा भक्ष्य-अभक्ष्य खाती डोलती हो और विलासी तथा उच्छृङ्खल युवकोंके साथ मेज-कुर्सीपर बैठकर स्वयं भी उच्छृङ्खल बन जाती हो, वह अपने मनको पवित्र तथा संयमित कैसे रख सकती है। होटलोंमें युवकोंके बीच बैठकर खाने-पीनेका यह दुष्परिणाम अवश्यम्भावी है। इसलिये बहिन-बेटियोंको होटलोंमें जानेसे रोको, भूलकर भी होटलोंमें न स्वयं जाओ और न उन्हें जाने दो।

× × × ×

[५]

नारीको पाखण्डी गुरुओंसे बचाओ

स्त्रियोंको किसी भी पुरुषको गुरु बनानेका अधिकार नहीं है। शास्त्र उसके लिये गुरु बनानेकी आज्ञा नहीं देते। शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये 'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्'। पति ही गुरु बताया गया है। जो स्त्री अपने पूज्य पतिदेवको छोड़कर किसी परपुरुषको अपना गुरु मानकर उसके चरण छूती और चरणोदक लेती-डोलती है तो वह पाप करती है। और जो पुरुष परस्त्रीसे अपने चरण छुआता है वह भी पाप करता है। कन्याको भी किसीके चरण नहीं छूने चाहिये और न किसी भी साधु-महात्माको कन्यासे अपने चरण छुआने चाहिये। जो कन्यासे अपने चरण छुआते हैं वे बड़ा अनर्थ करते हैं। कन्या साक्षात् श्रीभगवतीका रूप है, छोटी-छोटी कन्याओंको बुलाकर उन्हें साक्षात् भगवती मानकर उनके रोली, अक्षत लगाकर उनका पूजन करना चाहिये, इससे श्रीभगवती दुर्गा प्रसन्न होती हैं और जो विवाहित स्त्री है, उसे भी परपुरुषका चरण नहीं छूना चाहिये और न स्त्रीको अकेले कभी भी किसी भी साधु-महात्माके पास जाना ही चाहिये। अपने पूज्य पतिदेवके साथ ही साधु-महात्माओंके दर्शनार्थ जाना चाहिये। जो सच्चा साधु हो और जो पतिका गुरु हो उसीसे पतिको अपनी स्त्रीके लिये मन्त्र लेना चाहिये और फिर पतिको ही स्त्रीको गुरुका बताया हुआ मन्त्र बतला देना चाहिये। जो लोग किसी स्त्रीको एकान्तमें बैठाकर उसका स्पर्श करते हैं, गुरु बनकर उसे मन्त्र देते हैं, उससे अपने चरण छुआते हैं, वे बड़ा पाप करते हैं। उनसे सावधान रहना चाहिये। और जो पाँच पैसे, पाँच आने, सवा रुपया, पाँच रुपये, पचास रुपये या सौ रुपयेपर मन्त्र बेचते फिरते हैं, चेला-चेली बनाते फिरते हैं वे तो गुरु हैं ही नहीं, वे तो पाखण्डी हैं। गुरु बनना कोई खेल थोड़े ही है। गुरु वह बन सकता है जो शिष्यके सब पापोंको अपने ऊपर ले ले और उसे भवसागरसे पार कर दे। क्या ऐसे आजके गुरु हैं ? आजके पाखण्डी गुरु बड़े खतरनाक हैं। आजके ये नेता भी कम खतरनाक नहीं हैं। ये भी उन्नतिके नामपर भले घरकी स्त्रियोंको रूप-सौन्दर्यकी प्रतियोगितामें भाग लेनेको उकसा-उकसाकर, पब्लिकके सामने उन्हें हाव-भाव दिखाती हुई वेश्याके समान नचाकर नरककी ओर ढकेल रहे हैं, इनसे भी सावधान रहना चाहिये।

× × × ×

[६]

वकीलनिर्मित विधान नहीं, ऋषिनिर्मित विधानसे ही सुख होगा

प्रश्न—आज देशकी अवनति क्यों हो रही है और देशमें सुख-शान्ति क्यों नहीं है ?

उत्तर—देशकी उन्नति हो तो कैसे हो जब कि देशमें धर्मका शासन नहीं है। हमारे शास्त्रोंमें राजाके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

राजा महान् कुलीन हो, उच्च वंशका हो, उसकी देवबुद्धि हो, वह सत्त्वसम्पन्न हो, दूरदर्शी हो, धार्मिक हो, अव्यसनी (व्यसनहीन) हो, विद्वान् हो, शूर-वीर हो, रहस्यवादी मन्त्रणा करनेवाला हो, दण्ड देनेमें समर्थ हो, विनीत भावसे वार्तालाप करनेवाला हो और गौ-ब्राह्मणोंका प्रतिपालक हो।

राजाके दोष इस प्रकार माने गये हैं—

नास्तिक, क्रोधी, प्रमादी, आलसी, दरिद्री, ज्ञानवानोंके दर्शन न करनेवाला, विषयोंका दास, समयपर कार्य न करनेवाला, अनर्थकारी काम करनेवाला, निश्चित समयपर निश्चय न करनेवाला और मन्त्रियोंसे मन्त्रणा न लेकर अपने इच्छानुसार करनेवाला। ये दोष यदि राजामें हों तो वह राजा राजा नहीं होता। जिसमें धर्म विराजमान होता है, उसे ही 'राजा' कहते हैं। जिसका मुख्य उद्देश्य प्रजारंजन होता है। भारतीय संस्कृतिके अनुसार राजाकी नियुक्ति और राजधर्मके लिये राजविधान ऐसे ऋषियोंके हाथोंमें होते हैं कि जिनका किसी दलबंदीसे सम्बन्ध न हो, बल्कि जो प्रजा-कल्याण और प्रजामें सत्य, न्याय, धर्मका उत्थान करनेके हेतु पक्षपातसे रहित होकर अपनी आत्मशक्ति और ज्ञानदृष्टिके द्वारा सभी प्राणियोंको समान भावसे देखते हुए शास्त्रोंके आधारपर विधान बनावें। आजका हमारा विधान तो पाश्चात्त्योंका उच्छिष्ट है, उसे ऋषियोंने नहीं बनाया, उसे वकीलोंने बनाया है। दलबंदी रखनेवालोंका विधान भेदभावको मिटानेवाला कैसे हो सकता है? यही कारण है कि एक पार्टीका राज्य होते ही वह अपनी विरोधी पार्टीवालोंको जेलमें डाल देती है। उन्हें बंदी करनेका कारण यह नहीं होता कि उन्होंने कोई अपराध किया है बल्कि राज्य करनेवाले दलको यह भय होता है कि कहीं वह राज्य ही हमारे हाथोंसे न ले लें! इस प्रकार आजके समाजमें ऋषिनिर्मित शास्त्रीय विधानको हटाकर पक्षपातयुक्त वकीलबुद्धिसे निर्मित विधानकी स्थापना करके राजनीतिक छूत-छातको जन्म दिया जा रहा है। इसका व्यावहारिक भयंकर रूप यह है कि इससे समाजमें कलह, द्वेष और लड़ाई-झगड़े बढ़ रहे हैं। अनैतिक रूपसे व्यक्तिका पतन होता जा रहा है और झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, झूठे मुकदमे करना, झूठे मुकदमेमें फीस लेकर उसे सत्य सिद्ध करना, यह आज साधारण बात हो गयी है। अधिकांश शासकोंमें पवित्र उच्च चरित्र तथा शास्त्रोक्त दैवी गुण न होनेके कारण उनका जीवन विलासी हो गया है और उन्हींकी देखा-देखी समाजमें उच्छृङ्खलता, दुराचार, व्यभिचार, पापाचार, फैल रहा है।

× × × ×

[७]

भारतके ऋषियोंकी अद्भुत देन

आजके भोगवादी और पार्थिव दृष्टिकोण रखनेवाले लोग शरीरपर नियन्त्रण रखनेके लिये कानून बना सकते हैं; किंतु शरीरसे पाप हो ही नहीं, ऐसा विधान बनाना इनके वशकी बात नहीं है। भारतीय ऋषियोंका विधान शरीरपर ही नहीं, बल्कि शरीरके राजा मनपर भी नियन्त्रण करता है। वह सर्वप्रथम मनको ही सुधारता है और जब मन सुधर जाता है तब शरीरसे तो अपने-आप ही पाप नहीं होता। मतलब यह कि भोगवादियोंका विधान शरीरतक ही देखता है। वह उससे आगे नहीं देखता, पर हमारे भारतीय पूज्य ऋषियोंका विधान शरीरका और शरीरके स्वामी मनका दोनोंका नियन्त्रण करते हुए आत्माकी ओर देखता है। सारे संसारको केवल भारतकी और ऋषियोंकी यह अद्भुत देन है और जबतक संसार इसका अनुगामी नहीं होगा, तबतक वह अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त नहीं हो सकता।

× × × ×

[८]

गोमाताकी रक्षा प्राणपणसे करो

जिस पूजनीया गायको वेद भगवान्ने 'गावो विश्वस्य मातरः' विश्वकी माता बताया है। जिस गायको ऋषियोंने परम पूज्य माना है, जिस गायको साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णने नंगे पाँवों जंगल-जंगल चराया है और अपनी इष्टदेवता मानकर जिसका पूजन किया है, जिसमें शास्त्रोंने समस्त देवी-देवताओंका वास बताया है, वही तुम्हारी गाय-माता आज भूखी मारी-मारी डोल रही है और कसाइयोंके हाथों बुरी तरह मारी जा रही है यह कितना घोर पतन है! गायको माता बताते हैं, माता मानते हैं और फिर भी गायको बेचते हैं कसाइयोंके हाथ। यह कितना बड़ा पाप है! जब गाय दूध देती है तो देखा जाता है कि उसे खूब खाना देते हैं पर जब वह दूध देना बंद कर देती है तो उसका खाना कम कर देते हैं और भूखों मारने लगते हैं, क्या यही मनुष्यत्व है? अरे, बुढ़ापेमें गाय माताकी सेवा न कर उसे निकम्मी समझ कसाईके हाथ बेच देना—क्या इससे भी बढ़कर कोई और पाप होगा? भूलकर भी गायको नहीं बेचना चाहिये। बूढ़े गाय-बैलोंकी हमें खूब सेवा करनी चाहिये और उन्हें खूब खिलाना-पिलाना चाहिये, इससे बड़ा पुण्य है। गाय ही तो हमारी ऐसी पूज्या माता है कि जो हमें भवसागरसे पार लगाती है।

विज्ञानके इस युगमें धर्म-भावनाकी आवश्यकता

(लेखक—डा० राजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

अपने दु:खकी निवृत्तिके लिये मानवने जो प्रयत्न किये हैं, उनमें विज्ञान, दर्शन तथा धर्मरूपी साधनोंकी प्राप्ति प्रमुख है । विज्ञान प्रकृतिकी खोज है । वास्तविकताकी खोजके फलस्वरूप उपलब्ध कर्तव्योंके समुच्चयका ही दूसरा नाम धर्म है तथा अन्त:करणके विषयमें चिन्तनका ही नाम दर्शन है ।

व्यावहारिक जीवनमें धर्म और विज्ञानका विशेष महत्त्व है । धर्मका सम्बन्ध हृदयसे है और विश्वास उसका मूलाधार है, विज्ञानका सम्बन्ध मस्तिष्कसे है, विचार और तर्क इसके मूलाधार हैं ।

धर्मकी सामान्य परिभाषा यह है कि 'जो अभ्युदय तथा नि:श्रेयसकी सिद्धि कराये, वह धर्म है' अर्थात् कर्तव्या-कर्तव्यका दूसरा नाम धर्म है, पाप और पुण्यका विचार कर्तव्याकर्तव्य एवं शुभाशुभका निर्णय इसका प्रमुख लक्षण है । पुण्य और पापके बीचमें विभाजन-रेखा खींचना एक दुस्तर कार्य है; क्योंकि उसके अन्तर्गत देश और कालका विचार अनिवार्य है । इस समस्याको सुलझानेके लिये धर्मके दो रूप बताये गये हैं—प्रमाण-धर्म और व्यवहार-धर्म । समयके प्रभावसे हम व्यवहार-धर्ममें अत्यधिक उलझ गये हैं । मत-मतान्तर, बाह्य आडम्बर आदि ही उसके सामान्य रूप रह गये हैं । विज्ञानके इस युगमें रहनेवाला सामाजिक प्राणी आज धर्मके विषयमें उदासीन है । इतना ही नहीं, वह उस-पर भाँति-भाँतिके आक्षेप करने लगा है । उसका सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि 'पाप-पुण्य क्या है ? धर्म सदा बदलता रहता है । धर्म केवल सुविधा और अवसर-वादिताका ही दूसरा नाम है । परमात्माके पास धर्म नापनेके अनेक यन्त्र होंगे·······।' उन लोगोंसे हमारा निवेदन है कि धर्म अखण्ड और एकरस है, उसके नापनेका एक ही थर्मामीटर है । ऋषियोंने उसका प्रामाणिक रूप इस प्रकार बताया है कि 'आत्मन: प्रति-कूलानि परेषां न समाचरेत् ।' अर्थात् जो बात अपनेको बुरी लगती हो, वह दूसरोंके प्रति मत करो । इसीकी व्याख्यारूप गोस्वामीजीने पुण्य और पापका यह लक्षण निर्धारित कर दिया है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीडा सम नहिं अधमाई ॥

हर बातमें क्यों और कैसे करना वैज्ञानिकोंका प्रबलतम अस्त्र है । परिणामस्वरूप मनुष्य प्रत्येक बातको शङ्काकी दृष्टिसे देखने लगा है । यहाँतक कि कभी वह अपनेको पशुओंका वंशज मानने लग जाता है, कभी अपने पिताके पितृत्वको स्वीकार करते हुए संकोच करने लगता है और कभी वह अपने जन्मको माता-पिताके उपकारका हेतु न मानकर उनके कामुक विलासका परिणाममात्र मानने लगता है, आदि । आजका विज्ञान-विशारद प्रत्येक वस्तुका विश्लेषण करना अपना परम कर्तव्य समझता है । फलस्वरूप वह मनुष्यके शरीरको किसी महती शक्तिका आवास न मानकर कैल्शियम्-फॉसफरस आदि पदार्थोंसे निर्मित एक चलता-फिरता पुतलामात्र मानने लगा है । हर बातमें वह आँकड़ोंकी दुहाई देना चाहता है, उनके द्वारा दूसरोंको बहकानेके फेरमें वह कभी-कभी स्वयं अपने-आपको भी धोखा दे बैठता है; आदि । सारांश यह कि हम आज हृदय-पक्षकी उपेक्षा करके बुद्धि-पक्षपर अत्यधिक बल देने लगे हैं । परिणामस्वरूप हम हर-बातको विवादके द्वारा तय करना चाहते हैं और साथ ही अपनी बुद्धिको सबसे बड़ा तथा अपने तर्कको सबसे श्रेष्ठ मानने लगे हैं । विवादका कहीं अन्त नहीं होता है, इसी कारण हमारी बुद्धि कहीं टिक नहीं पाती है । हम भूल जाते हैं कि जहाँ अधिक गहराई

हो, वहाँ बल्ली लगाकर थाह नहीं लेनी चाहिये, वहाँ स्टीमर अथवा जहाजमें होकर पार कर लेना चाहिये—'अतर्क्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' हमें कहीं-न-कहीं तो रुकना ही पड़ेगा। आँतोंको चीरनेके बाद, जो कुछ भी हमारे हाथ लगेगा, उसके द्वारा हमें ग्लानि ही होगी—हमें अपने प्रयत्नोंके प्रति विशेष आस्था न रह जायगी।

आधुनिक विज्ञानका इतिहास अरब देशसे 'एलकैमी'के रूपमें प्रारम्भ हुआ। यूरोपमें उसने 'कैमिस्ट्री'का रूप धारण किया और वहाँसे वह भारतवर्षमें आया। न अरबवाले मसजिदोंको तोड़नेकी बात करते हैं, न यूरोपवाले गिरजाघरोंको गिराना चाहते हैं, परंतु भारतवर्षवालोंको विज्ञानने मन्दिरोंका—धर्मके प्रतिरूपोंका विरोधी बना दिया है। कुछ लोगोंको अपने इन भाइयों-पर क्रोध आता है, कुछ लोग इनपर तरस खाते हैं, हम केवल इतना ही कहते हैं कि हमारी परिस्थितिमें जो भी होगा, उसकी यही दशा हो जायगी; क्योंकि वर्षोंकी दासताने हमें आत्मविस्मृत बना दिया है। धर्म ही हमें यह सोचनेको बाध्य करता है कि इस जीवनके परे भी कुछ है, संसारका प्रत्येक पदार्थ अपने उद्गम स्थानकी ओर चला जा रहा है, हमें भी अपने उद्गम स्थानकी खोज और प्राप्ति करनी चाहिये। इन सब बातोंके लिये दासोंके पास अवकाश नहीं होता है। कहा भी है—'गुलामोंका कोई धर्म नहीं होता है।' (Slaves have no religion.)

विज्ञानकी उन्नति अथवा वैज्ञानिक युगके प्रमुख लक्षण तीन हैं—१—प्रकृतिपर विजय, २—मशीनों अथवा यन्त्रोंकी अत्यधिक उन्नति तथा ३—तर्कवादिताका आधिक्य। इस तृतीय लक्षणका अभिप्राय यह है कि कोई किसीकी मानता नहीं है तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक आचरणको युक्तियुक्त सिद्ध करनेके लिये लंबे-लंबे व्याख्यान देता है। गोस्वामीजीने कलियुगका निरूपण करते समय ठीक ही कहा है—

मारग सोइ जा कहँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥

आप यदि भारतवर्षके इतिहासपर एक दृष्टि निक्षेप करें तो सहज ही इस निष्कर्षपर पहुँच जायँगे कि इस देशमें पहले भी कई बार इस प्रकारकी वैज्ञानिक उन्नति हो चुकी है। आप रावणका ही उदाहरण ले लीजिये। उसके यहाँ वायु आदि पाँचों तत्त्व, कुबेर, मृत्यु आदि बंदी थे। यह थी उसकी प्रकृतिपर महान् विजय। भाँति-भाँतिके अस्त्र उसके पास थे। मायावी वह ऐसा था कि स्वयं अनेक स्वरूप धारण कर सकता था, अपने विरोधी रामका नकली सिर बना सकता था। यह था उसका विज्ञानपर अधिकार। धर्मका वह ऐसा विरोधी बन गया था कि सब कुछ देखकर और सुनकर भी उसे भगवान्‌के प्रति विश्वास नहीं होता था और अन्तमें वह मारा ही गया। बातें ऐसी बनाता था कि उसके भाई, मन्त्री, उसकी पत्नी, उसके विरोधी सभीको उसके सम्मुख चुप हो जाना पड़ता था। आप देखेंगे कि आज भी ठीक वही दशा हो रही है। विध्वंसकारी अस्त्रोंकी प्रगतिका अन्त नहीं है। आज एटम बम निकला है, तो कल हाइड्रोजन बम निकलेगा और परसों ऑक्सीजन बमकी बात सोची जायगी। प्रत्येक सतर्कता बरतनेपर भी नित्य नयी दुर्घटनाएँ होती रहती हैं, परंतु फिर भी हमें विश्वास नहीं होता है कि विश्वका संचालन कोई महती शक्ति करती रहती है। इतना ही नहीं, राजनीतिके कर्णधार व्याख्यान देनेकी कलाके आचार्य हैं, वे बड़ी-से-बड़ी भूलको युक्तिसंगत एवं न्यायसिद्ध कर सकते हैं।

लोक-परलोक और पुनर्जन्मकी चर्चा धर्मभीरुताके आवश्यक अङ्ग हैं। इनके कारण राजा और प्रजा दोनों ही औचित्यानौचित्यका विचार करनेके पश्चात् ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। राजाको धर्मका आदेश था, अथवा राजाको यह विश्वास था कि—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

धर्मभीरु राजाको अपनी प्रजाकी बातका कितना ध्यान रहता था, यह बतानेके लिये सीता-वनवासवाली घटनाकी ओर संकेत कर देना पर्याप्त है, परंतु आज विज्ञान और तर्कके युगमें कुम्भके अवसरपर होनेवाले नरसंहारको भी उपेक्षापूर्ण दृष्टिसे देखा जा सकता है।

विज्ञानके इस युगमें यह एक फैशन-सा बन गया है कि प्रत्येक व्यक्ति तर्कपूर्ण बुद्धिसमन्वित होनेका दावा करता है तथा अपनी अक्लको बहुत ज्यादा समझता है। परिणाम सामने है, आज विनय एवं शीलके दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। कहाँ हैं आज महात्मा सुकरातकी भाँति यह कहनेवाले विनयशील व्यक्ति कि 'मै जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता, तुम नहीं जानते कि तुम नहीं जानते ?'* नैतिक आचरणके लिये यह परम आवश्यक है कि हम अपनेमें लघुत्वका अनुभव करें, किसी महान् शक्तिके महत्त्वकी ओर अग्रसर होनेका प्रयास करें। महत्त्वकी प्रतिष्ठा विश्वासके ही आधारपर हो सकती है, तर्क-बुद्धिके द्वारा वह कदापि सम्भव नहीं है। वीरवर अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने यही कहा था कि 'तू अपने कर्मोंको मुझमें अर्पण कर, संसारके प्रत्येक पदार्थ और कार्यमें मैं उपस्थित हूँ। तू चिन्ता मत कर, मैं तेरा समस्त कष्टोंसे उद्धार कर दूँगा'''।' आदि। स्पष्ट है कि जिसे हम अकेलेमें छिपाकर करना चाहते हैं, वही पाप है। जो काम हम भगवान्‌के नामपर करते हैं, वह पाप हो ही नहीं सकता; क्योंकि पाप करनेवाला साक्षी नहीं चाहता है। अर्जुनने किया भी वही और वह कौरव-जैसे शक्तिशाली दुर्धर्ष शत्रुको परास्त करनेमें समर्थ हुआ।

हमारे शरीरमें मस्तिष्क और हृदय दोनोंका स्थान है। हमारे जीवनमें बुद्धि और भावना दोनोंका ही उपभोग है। बुद्धिविहीन विश्वास अन्धा है और विश्वासविहीन बुद्धि लँगड़ी है। दोनोंके सम्यक् सामञ्जस्यके द्वारा ही जीवनका सुखद पक्ष निखर सकता है।

भगवान्‌के निम्नलिखित वचनोंके प्रति अखण्ड विश्वासके आधारपर ही भारतवासी आजतक जीवित हैं। वे जीवनके प्रति अपनी आस्था बनाये हुए हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
(गीता ४। ७)

हमें भलीभाँति यह समझ लेना चाहिये कि विज्ञान एवं वैज्ञानिक प्रगतिके द्योतक ध्वंसकारी साधन हमारा अस्तित्व कदापि न मिटा सकेंगे। हमें अत्यधिक दुखी देखकर, हमें मरणासन्न देखकर भगवान् अवश्य ही हमारे रक्षार्थ प्रकट होंगे। जबतक हमारे हृदयमें भगवान्‌के प्रति विश्वास न होगा, तबतक हम कष्टोंको क्षण-भङ्गुर समझकर सहन न कर सकेंगे। जबतक हमारे हृदयमें धर्मभीरुताका प्रादुर्भाव न होगा, तबतक हम अपने पड़ोसियोंको सतानेमे संकोच न कर सकेंगे। न डालर सद्भावनाके बीज बो सकेंगे और न एटम बम मैत्रीके भाव ही उत्पन्न कर सकेगा। विश्व-बन्धुत्वके भाव उत्पन्न करनेके लिये, विश्वमें सुख-शान्तिका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये हमें अपनी विचारधाराको एक नवीन साँचेमें ढालना होगा। हमें समझ लेना होगा कि प्राणिमात्रका माता-पिता परमात्मा है, अतः हम सब भाई-भाई हैं। हम केवल प्राकृतिक तत्त्वोंसे बने हुए चलते-फिरते पुतले नहीं हैं, बल्कि भगवान्‌के द्वारा भेजे हुए धर्मसंदेशवाहक जीव हैं। हमें अपने सदाचरण-द्वारा धर्मका स्वरूप प्रतिष्ठित करना है, तभी हम अपने स्रष्टाके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करनेमें समर्थ होंगे। दार्शनिक स्पिनोजाने ठीक ही कहा है कि 'स्वर्गलोकका नक्षत्रपूर्ण नभोमण्डल और हमारे अन्तःकरणकी पुकार, धर्मरूप भगवान्‌के अस्तित्वके स्वयं-सिद्ध प्रमाण हैं।'†

---

* I know that I do not know, You do not know that you do not know.

† Starry heaven above and the voice of the conscience below are proofs positive of the existence of God.

श्रीरामका ग्राम्य-जीवन और ग्रामीण जन-स्नेह

(लेखक—ज्यो० पण्डित श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी)

प्रजावत्सल भगवान् श्रीरामका ग्राम्य-जीवन और ग्रामीण प्रजाके साथ सहवास और स्नेह उनके आनन्द-मय जीवनका सबसे मधुर और सुखदायक प्रसङ्ग है। नगरोंमें या ग्रामोंके समीप या वनोंमें जहाँ भी श्रीराम पहुँचते थे, प्रजाजन अपनी सुध-बुध भूलकर उनपर मोहित हो जाते थे और वे भी प्रेमपूर्वक प्रजामें घुल-मिल जाते थे। उनके जनकपुरमें पहुँचनेका वर्णन है—

जहँ जहँ गवने बंधु दोउ, तहँ तहँ भीर बिसाल।
बाल जुवा अरु बृद्ध सब, डोलहिं संग बिहाल॥
'नर-नारिन्ह मोहत फिरत गली-गली महँ घूम।'

यह राजपुत्रोंका और जनताका सम्पर्क था। ग्राम-वासियोंके प्रेमकी दशा तो और भी अधिक हृदयपर असर डालती है। वनवास-कालमें जब श्रीराम ग्रामोंके पाससे जाते हैं तो ग्रामवासियोंकी प्रीति और रीतिका गोस्वामी तुलसीदासजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि रामु जहाँ जहँ जाहिं॥
गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरव चंदू॥

ग्रामवासी कितने सहज भावसे और स्नेहसे श्रीरामजीसे पूछते हैं—

करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥
जाब जहाँ तहँ लगि पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिरु नाई॥
एहि बिधि पूँछहिं प्रेमबस पुलक गात जलु नैन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहि कहि बिनीत मृदु बैन॥

जिस ग्रामके पाससे श्रीराम जाते थे, गाँवके बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष अपने घरोंके सब काम-काज छोड़कर तुरंत उनके साथ चल देते थे—

सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाजु बिसारी॥
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुर-मनि ढेरी॥

अर्थात् ग्रामवासियोंकी उस समयकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती, मानो दरिद्रीने देवताओंकी मणियों-की ढेरी पा ली हो। भारतीय आदर्शको निभाते हुए ग्रामवासी प्रेम-भरी सेवा श्रीरामचन्द्रजीकी करते हैं—

एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवाँइअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥
एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपाल सुसील बिसेषी॥

ग्रामवासी एक बरगदकी अच्छी छाया देखकर वहाँ कोमल तिनके और पत्ते बिछाकर श्रीरामजीसे प्रेमपूर्वक कहते हैं कि यहाँ क्षणभर बैठकर थकावट दूर कर लीजिये और पूछते हैं कि आप अभी जायँगे या सबेरे जायँगे? एक ग्रामीण कलसा भरकर पानी ले आया और मधुर वाणीसे कहता है कि 'नाथ! मुँह-हाथ धोकर थोड़ा जल पी लीजिये। कृपालु श्रीरामजी भी उनके प्यारे वचन सुनकर अत्यन्त प्रीतिपूर्वक वहाँ बैठकर उन्हें आनन्द देते हैं और बातचीत करते हैं, प्रेमकी मूर्ति श्रीरामजी प्रेमके प्यासे ग्रामवासियोंको अपनी स्नेहभरी बातचीतसे तृप्त कर देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

थके नारि नर प्रेम पिआसे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआ से॥

प्रेमके प्यासे ग्रामवासी स्त्री-पुरुष थककर ऐसे खड़े हो जाते हैं जैसे हिरनी और हिरन वनमें दिया-सा देखकर थक जाते हैं। ग्रामोंकी स्त्रियोंका श्रीजानकीजीके साथ प्रेम-वार्तालाप और व्यवहार तो और भी चित्तको आनन्द देनेवाला होता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसका कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

सीय समीप ग्राम तिय जाहीं। पूँछत अति सनेह सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभायँ कछु पूँछत डरहीं॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी॥

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥

सीताजीके समीप गाँवकी स्त्रियाँ जाती हैं, पर अति स्नेहके कारण पूछते सकुचाती हैं। सब बार-बार पैरों लगती हैं और सहज स्वभावसे मधुर वचन कहती हैं कि 'राजकुमारी! हम सब आपकी विनती करती हैं, पर स्त्री-स्वभावसे कुछ पूछते डरती हैं। हे स्वामिनि! हमारी ढिठाईको क्षमा करना, हमें गँवारिन जानकर बुरा न मानना, करोड़ों कामदेवोंको लजानेवाले ये तुम्हारे कौन हैं?' सीताजीने भी सकुचाकर और मुसकराकर उनको प्रेमपूर्वक ही उत्तर दिया। वे ग्रामवधूटी उनके उत्तरको सुनकर ऐसी प्रसन्न हुईं मानो किसी कंगालने राजाका कोष लूट लिया हो। जब श्रीराम वहाँसे चलने लगे तो ग्रामवासियोंको ऐसा दुःख हुआ, मानो उनका सर्वस्व जा रहा हो। श्रीराम सबको बड़ी कठिनाईसे प्रेमपूर्वक समझाकर लौटाते थे। श्रीरामको छोड़कर गाँवोंमें वापस जानेसे ग्रामवासियोंको भारी दुःख और पछतावा होता था, उनकी आँखोंमें जल भर आता था। श्रीरामके थोड़े समयके सहवाससे ही गाँवके लोग प्रेमवश हो जाते थे, श्रीरामको देखकर गाँव-गाँवमें ऐसा ही प्रेमपूर्ण और आनन्ददायी दृश्य हो जाता था। प्रेमकी मूर्ति श्रीराम सुन्दर ग्रामों और वनोंमें बसनेवाली प्रजासे समान भावसे मिलते-जुलते थे और सभीको अपनी मधुर वाणीसे संतुष्ट करते थे। चित्रकूटपर कोल-किरात, भील सभी सदा उनकी सेवामें लगे रहते थे, उन्होंने केवटपर अनुपम कृपा की, भीलोंके राजा गुहको अपना सखा बनाया, वनोंमें बसनेवाले मुनियों और संतोंके साथ सहवास कर उन्हें संतोष और शान्ति दी। वानरोंके राजासे मित्रता की और वानरोंकी संगठित सेना सजवाकर असुरोंका अन्त किया। इस प्रकार जंगलोंमें १४ वर्ष बिताकर आततायी, छली, कपटी, दुष्ट दैत्योंको मारकर श्रीरामने दीन वनवासी प्रजाकी सब प्रकारसे रक्षा की। महाबली और अभिमानी रावण और उसके दुष्ट साथियोंको समाप्तकर अयोध्यापुरीमें वापस आकर आदर्श रामराज्यकी स्थापना की। राजगद्दीपर बैठनेपर भी महाराज रामचन्द्रने प्रजाकी इच्छा और भावनाको सदा पहला स्थान देकर माना। उनके राज्यमें पुरजनोंकी सभा थी, जिससे वे सदा परामर्श लिया करते थे। एक साधारण धोबीके कहने मात्रपर उन्होंने अपनी जीवन-सङ्गिनी जानकीको त्याग दिया। प्रजाके कष्टकी कानमें भनक पड़ते ही वे अधीर हो जाते थे और उसे तुरंत दूर करते थे। लवणासुरके अत्याचारोंसे दुखी व्रज-प्रदेशकी प्रजाकी पुकारपर श्रीरामने अपने छोटे भाई शत्रुघ्नको भेजकर उसका वध कराया। वहाँकी प्रजाको निर्भय करके मथुरापुरी बसायी। इस प्रकार प्रजाको प्रसन्न रखनेवाले रामका समस्त जीवन प्रजाको निर्भय और सुखी रखनेमें ही बीता है। उन्हीं रामकी और उनके रामराज्यकी यादमें, प्रजाके सदाचार, सद्व्यवहार, सुख-समृद्धि और शान्तिके युगकी यादमें आर्यवीर श्रीरामके समयसे आजतक इस देशमें रामनवमीका शुभ दिन हम मनाते हैं। श्रीरामके जन्मको लाखों वर्ष हो गये पर प्रजाका हित चाहनेवाले लोकोपकारक उनके राज्यकालके सुख-समृद्धिका समय भारतकी प्रजाके हृदयपर अमिट है जो करोड़ों युग बीत जानेपर भी सदा याद रहेगा और प्रजाके प्यारे रामकी पवित्र जन्मतिथि भारतीय प्रजाद्वारा पवित्र भावनासे मनायी जायगी।

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्हके सुनत जिमि पितु बालक बैन ॥

मित्रता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'केवल एक प्रार्थना आप स्वीकार करें !' युवकने कप्तानसे लगभग गिड़गिड़ाकर कहा—'मैं जहाजपर रहूँगा । शर्माको आप नौकापर ले लें ।'

'कप्तान !' शर्माने बड़े दृढ़ स्वरमें कहा—'चिट्ठियोंने जो निर्णय किया है, उसे बदलनेका अधिकार आपको भी नहीं है । शीघ्रता कीजिये । देर करनेसे नौका भी जहाजके साथ जायगी ।'

जहाजका पेंदा फट चुका था । बड़ा भयंकर तूफान आया था समुद्रमें । जहाजको नियन्त्रणमें रख पाना अशक्य हो गया और निश्चित मार्गसे भटकनेका फल जो हो सकता था हुआ । किसी समुद्रमें डूबे पर्वतसे (मूँगेका पर्वत भी हो सकता है) जहाज टकरा गया । पेंदेके मार्गसे समुद्रका पानी शीघ्रतासे भरता जा रहा था । बचनेकी कोई आशा नहीं थी ।

बेतारके यन्त्रने समाचार भेज दिये चारों ओर; किंतु इतनी शीघ्र सहायता पहुँच सके, यह तो अशक्य है । कोई भी अच्छा बंदरगाह पास नहीं । रक्षा-नौकाएँ उतारी गयीं । वृद्ध, बालक एवं महिलाएँ उनपर बैठा दी गयीं । अन्तमें केवल एक नौका रही । उसपर केवल पंद्रह व्यक्ति बैठ सकते थे । 'कौन बैठें ? किसे मरनेको छोड़ दिया जाय ?' कप्तानने चिट्ठियाँ डलवायीं और जो पंद्रह नाम पहले निकले, उन्हें नौकामें बैठाना निश्चित हो गया ।

बड़े विचित्र होते हैं ये भारतीय । एक ओर प्राणोंके लाले पड़े हैं और यह शंकरदत्तजी हैं कि अड़े हैं—'मैं नौकापर नहीं जाऊँगा । मेरे स्थानपर नन्दलाल शर्मा जायेंगे ।'

'शंकर ! बचपन मत करो । चिट्ठी तुम्हारे नाम निकली है ।' नन्दलाल कोई बात सुनना नहीं चाहते । 'जाकर नौकापर बैठो ।'

'कोई चलो, पर चलो !' कप्तानको इससे मतलब नहीं कि कौन चलेगा । उसे शीघ्रता है—'मैं और प्रतीक्षा नहीं कर सकता ।'

'आप नौका खोल दें !' शंकरदत्तने दृढ़ स्वरमें कहा—'हम दोनों साथ मरेंगे ।'

'मि० शर्मा ! आप भी पधारें ।' कप्तान इस मित्रतासे इतना प्रभावित हुआ कि उसने नौकामें एक व्यक्तिका अधिक भार होनेपर कोई भय हो सकता है, इस बातकी उपेक्षा कर दी । 'हम सोलह व्यक्ति लेंगे नौकामें ।'

लेकिन नौकामें बैठ जानेसे ही प्राणरक्षा हो जाय, ऐसी आशा किसीको नहीं थी । तूफान—वह तूफान जिसमें जहाज पथ-भ्रष्ट होकर फट गया था, शान्त नहीं हुआ था । उस तूफानमें रक्षा-नौकाओंकी रक्षाका ही कितना भरोसा ?

जिसकी आशङ्का थी, वही हुआ । रक्षा-नौका लहरोंके प्रवाहमें बह चली—बहती गयी और लहरके थपेड़ेसे, शार्क या अन्य किसी जलजंतुके आघातसे—पता नहीं कैसे सहसा टुकड़े-टुकड़े हो गयी । अभागे यात्री—सागरकी उत्ताल तरंगें और ऊपर खुला आकाश—कोई उनका क्रन्दन सुननेवाला भी वहाँ नहीं था ।

समाचारपत्रोंमें दूसरे दिन उस जहाजके डूबनेका समाचार छपा । एक भारतीय जहाज उस समय समुद्रमें कहीं पास ही था । उसने बेतारके यन्त्रपर सहायताकी पुकार सुनकर दौड़ लगायी । समाचारपत्र तथा देशके शासकों एवं संस्थाओंने भारतीय जहाजके कर्मचारियोंके

साहसको धन्यवाद दिया था। भयंकर तूफानके चलते उस भारतीय जहाजने डूबते जहाज तथा रक्षा-नौकाओं-पर बैठे प्रायः सभी यात्रियोंको बचा लिया था। केवल एक रक्षा-नौका नहीं मिल सकी। उसके कुछ यात्री, जिनमें डूबनेवाले जहाजका कप्तान भी था, समुद्रमें टूटे तख्तोंके सहारे तैरते हुए उठाये गये थे। एक जहाज दुर्घटनामें डूब जाय और पाँच-सात प्राण-हानि हो, यह कोई गिनने-जैसी हानि नहीं थी।

× × ×

[२]

'हम कहाँ हैं?' खुरदरी काली चट्टानपर कोई उसका सिर गोदमें लिये बैठा था। प्रचण्ड धूपने पत्थरको गरम कर दिया था। कितनी देर मूर्च्छित रहा वह, पता नहीं। नेत्र खोलनेपर एक बार उसने इधर-उधर देखना चाहा। समुद्रके किनारे ही पड़ा था वह और उसका मस्तक अपने मित्रकी गोदमें था।

'तुम उठ सकते हो?' नन्दलालने सिरपर हाथ फेरते हुए कहा—'तनिक प्रयत्न करो। थोड़ी दूर खिसकनेसे हम छायामें पहुँच जायँगे।'

उठनेकी उसने चेष्टा की और वह ओ ओ करके वमन करने लगा। समुद्रका जो पानी पेटमें चला गया था, उसका निकल जाना अच्छा ही हुआ। नौका डूबनेपर दोनों भाग्यसे एक ही तख्तेको पकड़ सके थे। उसके बाद क्या हुआ, यह किसीको पता नहीं। लहरोंके थपेड़ोंने श्वास लेना असम्भवप्राय कर दिया। मूर्च्छा आ गयी उन्हें।

नन्दलाल शर्मा कुछ पहले जागे। मूर्च्छासे ही नहीं, महामृत्युसे जगने-जैसा लगा उन्हें। लहरोंने किनारे चट्टानपर पटक दिया था। अङ्ग-अङ्ग जैसे टूट गया था। शरीरके कितने स्थान फटकर घाव बन गये हैं, यह जानने-समझनेकी शक्ति नहीं थी। मस्तक दर्दसे फटा जा रहा था और पेटमें जैसे ज्वालामुखी जाग गया हो। मिचली आयी और सबसे पहले मुखमें अँगुली डालकर वमनकी क्रियाको उन्होंने सहायता दी।

'शंकर कहाँ है?' पेटमें गया समुद्रका जल निकलते ही पीड़ा इतनी कम हुई कि मस्तक हिलाकर इधर-उधर देखा जा सके। उनका मित्र उनसे तीन-चार हाथपर चित पड़ा था। उसके शरीरके घावोंसे निकल-कर रक्त उस काली शिलापर जहाँ-तहाँ जम गया था।

समुद्रका ज्वार उतर गया था। तूफान प्रायः शान्त हो गया था। नन्दलाल शर्माको अपनी पीड़ा भूल गयी, वे पेटके बल धीरे-धीरे खिसकने लगे। वह चार हाथकी दूरी चार योजन-जैसी बन गयी थी। शरीर तवेकी भाँति ज्वरसे जल रहा था और ऊपर धूपमें असह्य तेजी थी। किसी प्रकार खिसकते हुए वे मित्रके पास पहुँचे। शरीर छूते ही यह आश्वासन मिल गया—जीवन है।

'हम कहाँ हैं?' शंकरदत्तने उठनेका प्रयत्न किया और फिर लुढ़क गया। दोनोंकी दशा लगभग एक-जैसी थी।

'कहाँ हैं, यह कौन जाने; किंतु यहाँसे कुछ गजपर वृक्ष है। तुम साहस करो!' नन्दलालजी समझते थे कि चाहे जो हो, वृक्षोंतक खिसक ही चलना चाहिये। यहाँ पड़े रहनेसे तो मृत्यु निश्चित है। पीनेयोग्य पानी कहीं आस-पास है या नहीं, पता नहीं और यहाँ धूप तथा ज्वरके कारण कण्ठ सूख रहा है।

'पानी?' शंकरदत्तने माँग नहीं की। उसने केवल जानना चाहा कि आस-पास कहीं जल है या नहीं?

'तुम छायातक खिसक चलो तो मैं जलकी खोज करनेका प्रयत्न करूँ।' नन्दलाल शर्माने उठनेमें सहायता दी। वैसे स्वयं उनके लिये उठना और खिसकना अत्यन्त कष्टदायक हो रहा था; किंतु वे नहीं चाहते थे कि शंकरदत्तको यह अनुभव हो कि उन्हें भी कुछ पीड़ा है।

'तुम्हें कहाँ चोट लगी है ? बड़ा तीव्र ज्वर है तुम्हें ।' शंकरदत्तने अब नन्दलालका हाथ पकड़ा और उनकी ओर देखना प्रारम्भ किया । उठनेका प्रयत्न करनेके बदले वह उनके मुखकी ओर एकटक देखने लगा । उसके नेत्रोंसे धारा चलने लगी ।

'मुझे कुछ नहीं हुआ ।' नन्दलालजीने उसके नेत्र पोंछ दिये । 'तुम रोओ मत ! जो आपत्ति आ पड़ी है, उसे साहस तथा धैर्यसे ही टाला जा सकता है । उठो तो सही !'

दोनों ही इस योग्य नहीं थे कि उठकर खड़े हो जाते । बैठकर एक दूसरेके सहारे खिसकते, रुकते किसी प्रकार वृक्षकी छायामें पहुँचना था उन्हें ।

× × ×

[३]

'भगवान् ही सबके रक्षक हैं । वे दयामय हमारी भी रक्षा करेंगे !' वृक्षकी छायामें पहुँचकर दोनों प्रायः लुढ़क गये । नेत्र खुलते नहीं थे । नन्दलाल शर्मा नेत्र बंद किये-किये ही मित्रको आश्वासन दे रहे थे ।

'हे बजरंगबली !' शंकरदत्त श्रीहनुमान्‌जीके उपासक हैं । वे अपने आराध्यका इस संकटमें न स्मरण करें तो कब स्मरण करेंगे ।

सहसा एक धमाका हुआ । दोनों चौंककर बैठ गये । दोनोंके मध्य वृक्षके ऊपरसे एक बंदर गिर पड़ा था । वह कूदा नहीं था, गिर ही पड़ा था और थर-थर काँप रहा था । अपने सब अङ्ग उसने समेट लिये थे और सिर दोनों घुटनोंमें दबा रक्खा था ।

'शेर आ रहा है ।' सोचने-समझनेका समय नहीं था । पचास गजसे भी कम दूरी रह गयी थी । वृक्षोंके बीचसे निकलकर वनराज चड़मड़ करता बड़ी धीर गतिसे बढ़ा आ रहा था । बंदर शेरके भयसे ही काँप रहा था और शेरके भयसे ही वृक्षसे लुढ़क भी पड़ा था वह ।

'शरणागत है यह ।' शंकरदत्तको निश्चय करनेमें दो क्षण भी नहीं लगे । वह बंदरको अपने पेटके नीचे दबाकर उसके ऊपर झुक गया ।

'मरना ही है तो हम तीनों साथ मरेंगे ।' नन्दलाल शर्मा अपने मित्रको नीचे करके उसके ऊपर झुक रहे ।

'क्या करते हैं आप ?' लेकिन शंकरदत्तको न हिलनेका समय मिला न बोलनेका । एक हाथसे नन्दलालजीने उसका मुख बंद कर दिया । शेर पास आ गया था ।

शेर सचमुच वनका राजा है । काली धारियोंसे सजा उसका पीला वर्ण, उसकी गम्भीर चाल और सबसे बढ़कर उसका गौरवपूर्ण स्वभाव । वह न गीदड़-जैसा ओछा है, न चीते-जैसा धूर्त । उस वनराजके सम्बन्धमें कोई नहीं कह सकता कि कब वह क्रोध करेगा, कब कृपा करेगा और कब क्षमा कर देगा ।

शेर पास आया । दो क्षण रुका रहा । कुतूहलसे देखता रहा टीलेके समान एक दूसरेपर पड़े तीनों प्राणियों-को । उसने कदाचित् सोचा होगा—'यह कौन-सा पशु है ? अपने वनमें ऐसा गोलमटोल पशु तो मैंने देखा नहीं । कैसी गन्ध आती है इससे ? बंदरकी और बंदरसे विचित्र भी । मैं मारूँगा इसे ? वनका राजा मैं इस बिना पैरके कछुएके समान पड़े रहनेवाले पशुको मारूँ । क्या हुआ जो यह खूब बड़ा कछुआ है ।' कोई प्राणी अपरिचित आहार सहसा मुख-में नहीं डालता । शेर किसी विवशतासे मनुष्य-भक्षी न बन जाय, तबतक मनुष्यपर चोट नहीं करता और उस वनमें कभी मनुष्य आया होगा—संदेह ही है ।

शेर जैसे आया था, वैसे ही दूसरी ओर चला जा रहा था । जब वह ओझल हो गया, नन्दलाल शर्मा उठकर बैठ गये । शंकरदत्तने भी बंदरके ऊपरसे अपने-को अलग किया । बंदर कई क्षण वैसे ही सिकुड़ा बैठा

रहा। इसके बाद जब उसने नेत्र खोले—पहले दो पैरोंपर खड़े होकर इधर-उधर देखना प्रारम्भ किया और फिर उन दोनों मनुष्योंको देखता और कई प्रकारके संकेत करता रहा। सम्भवतः वह कृतज्ञता प्रकट कर रहा था। सहसा वहाँसे वह एक ओर भागने लगा और वृक्षोंकी डालियोंपर कूदता वनमें चला गया।

'पास ही कहीं जल होना चाहिये।' नन्दलाल शर्मा ठीक कह रहे थे। 'शेर पानी पीने गया हो सकता है या फिर पानी पीकर लौटा होगा।'

'समुद्रके किनारे कहीं मीठा पानी होगा, यह तो कठिन ही है।' शंकरदत्तने इधर-उधर देखना प्रारम्भ किया। छायाकी शीतलताने बहुत कुछ कष्ट कम कर दिया था। अकस्मात् जो भय आया था, उसकी शरीर-पर अनुकूल प्रतिक्रिया हुई थी। बहुत पसीना आया और ज्वर उतर गया।

'महावीरजी ही हमारी रक्षा करने आये थे?' शंकर-दत्तने फिर गद्गद कण्ठसे कहा।

'लगता है, हमारे लिये उन्होंने एक नवीन मित्र भेज दिया है।' नन्दलालजीने देख लिया था कि वह बंदर लौट रहा है। वृक्षोंपरसे चढ़ना-उतरना बड़ा कठिन हो रहा है उसके लिये। किसी प्रकार दो बड़े-बड़े कच्चे नारियल मुख और एक हाथके सहारे पकड़े चला आ रहा है उन्हींकी ओर।

× × × ×

[४]

'शंकर! तुम भारतीय हो और एक भारतीयके लिये क्या यह उचित आचार है?' कई दिनों देखते रहनेके बाद नन्दलालजीने अपने मित्रको समझानेका निश्चय किया। आज वे उसे एकान्तमें ले आये हैं इसीलिये।

'मैं मनुष्य हूँ शर्मा! मनुष्यके संयमकी एक सीमा है।' शंकरदत्तने मस्तक झुका रक्खा था।

'तुम भारत लौटनेको उत्सुक नहीं हो? या तुम उसे भारत ले जानेको प्रस्तुत हो?' नन्दलालने सीधा प्रश्न किया।

'मेरी स्त्री, मेरे बच्चे और मेरा हृदय भारतमें ही है।' जन्मभूमिके स्मरणसे ही शंकरदत्तके नेत्र भर आये। 'हम वहाँ इस जीवनमें पहुँच सकेंगे या नहीं, कौन जानता है।'

'तुम उसे साथ ले चलनेका साहस करोगे, यदि चलनेका अवसर आवे?' नन्दलालजीने फिर पूछा।

'उसे ले चलना—छिः!' शंकरदत्तने मुख बनाया। 'यह कैसी बात सोचते हो तुम? यह कैसे सम्भव है? आवश्यकता भी क्या है इसकी?'

'कोई आवश्यकता नहीं है?' बड़ा तीक्ष्ण व्यंग था। 'वह एक वन्य कन्या है। कुरूपा है। असभ्य जातिकी है। तुम्हें इसीसे यह अधिकार है कि उसको चाहे जैसे ठगो!'

'इसमें ठगनेकी क्या बात है?' शंकरदत्तने सिर उठाया—'उसकी जातिमें कुछ पातिव्रत नहीं चलता। उसे कोई असुविधा नहीं होती है।'

'तुमने बता दिया है?' स्वर कठोर हो गया—'न बताया हो तो मैं उसके पिताको बता दूँ कि तुम विवाहित हो और भारत लौटनेको उत्सुक भी।'

'वह सुनते पागल हो जायगा!' शंकरदत्त चौंक पड़ा। उसके मित्रके मनमें यह बात आयी कैसे? 'तुम चाहते हो कि वह क्रूर जंगली मेरी बोटियाँ कुत्तों-को खिला दे?'

'यह कुछ बुरा नहीं होगा।' नन्दलालजीपर कोई प्रभाव न पड़ा। 'एक भारतीयका इतना पतन हो जाय कि वह झूठ बोलने लगे, भोले वन्य लोगोंको धोखा देकर उनकी कुमारियोंसे अपनी कुत्सित वासना पूरी करना चाहे, इससे अच्छा है कि वह मार डाला जाय।'

दोनों ही भाग्यसे जहाँ पहुँच गये थे, वह कोई वन्य भूमि थी। ऊँचे वृक्ष, घनी लताएँ और सभी प्रकारके वन-पशु। यह तो उन्हें बहुत पीछे पता लगा कि वे अफ्रिका महाद्वीपपर हैं। भूलते-भटकते एक गाँवमें पहुँच गये थे वे। चारों ओर ऊँची लकड़ियोंका सुदृढ़ घेरा बनाकर बीचमें जंगल काटकर स्वच्छ भूमि निकाल ली है वहाँके लोगोंने। कुछ झोपड़ियाँ हैं उस भूमिके मध्य। केले लगे हैं आस-पास और कुछ खेत भी हैं। सामान्य जंगली जातियाँ आखेटजीवी होती हैं और यह गाँव इसमें अपवाद नहीं है। केवल इतनी बात है कि अफ्रिकाके घोर वनोंमें रहनेवाली जातियोंके समान यहाँके लोग नरभक्षी या मानव-शत्रु नहीं हैं।

समुद्रका तट दूर-दूरतक जहाजोंके ठहरनेके योग्य नहीं। कहनेको यह गाँव ब्रिटिश-उपनिवेशका भाग है; किंतु इतनी दूर है उपनिवेशकी मुख्य बस्तियोंसे कि गाँवके बड़े-बूढ़ोंको ही स्मरण है कि गाँवमें एक बार तीन शिकारी साहब कुछ हब्शी मजदूरोंके साथ आये थे। जब नन्दलाल शर्मा और शंकरदत्तजी ग्राममें पहुँचे उनका स्वागत सत्कार हुआ। ग्रामके लोगोंने समझा—'ये दोनों साहब ही हैं।' कपड़े पहननेवाला उनके लिये साहब होगा या साहबका कृपापात्र। वे तो कमरमें छालकी लँगोटी लगाते हैं। स्त्रियाँ खजूरके पत्तोंका बना घाघरा पहनती हैं।

कोलतार-जैसा काला शरीर, मोटे-मोटे ओठ, पीले-गंदे दाँत—उनकी भाषाका एक शब्द शंकरदत्त नहीं जानता था। पण्डित नन्दलालजी शर्मा विद्या-व्यसनी हैं। यात्रासे पहले ही उन्होंने मूक-संवाद (केवल ओठ हिलाकर बातचीत) बड़े परिश्रमसे सीखी। प्रायः सभी जंगली जातियाँ बातचीतकी यह पद्धति जानती हैं। अफ्रिकामें यह नित्यकी बात है कि दो ऐसी जातिके हब्शी परस्पर मिलें जो एक-दूसरेकी भाषा नहीं जानते। मूक-संवादकी पद्धतिको उस महाद्वीपकी सार्वभौम भाषा माननी चाहिये। इस भाषाके कारण ग्रामके निवासियोंसे परिचय कर लेनेमें नन्दलालजीको कठिनाई नहीं पड़ी। शंकरदत्तने भी अपने मित्रसे यह भाषा कुछ गिने दिनोंमें ही सीख ली।

अर्धनग्न लड़कियाँ और युवतियाँ—भले वे अत्यन्त कुरूप सही, किंतु मनुष्यके भीतर जब वासना जगती है……। शंकरदत्तको उनके मध्यमें ही रात-दिन रहना था। पता नहीं क्यों, उनमेंसे कई इस गोरे दीखनेवाले युवकसे बहुत आकर्षित हो गयी थीं। शंकरदत्तने भी एकसे अधिक घनिष्ठता बढ़ा ली और बात इस सीमातक पहुँच गयी कि उसके सावधान मित्रको उसे अकेले ले जाकर समझाना आवश्यक जान पड़ा।

'तुम मित्र हो?' दो क्षण तो शंकरदत्त स्तब्ध खड़ा रहा।

'तुम श्रीहनुमान्‌जीके उपासक हो?' नन्दलालजीने उत्तर दिये बिना कहा—'तुम्हें लज्जा नहीं आती?'

'मैं क्या करूँ? तुम मुझे क्षमा कर दो।' स्वरमें बहुत थोड़ी ग्लानि थी।

'देखो शंकर! मैं परिहास नहीं कर रहा हूँ। तुम जानते हो कि मैं झूठ नहीं बोला करता।' नन्दलालजी-का स्वर बड़ा गम्भीर बन गया—'तुम यह भी जानते हो कि तुमपर थोड़ी भी विपत्ति हो तो मुझे उसे मिटानेके लिये मर-मिटनेमें भी प्रसन्नता होगी। लेकिन मेरा मित्र कदाचारी हो जाय, धूर्त एवं कपटी बने और मरनेके बाद जन्म-जन्मतक नरकोंमें सड़े, इसकी अपेक्षा मैं पसंद करूँगा कि वह मार डाला जाय। उसके देहका मोह मुझे रोक नहीं सकेगा।'

× × ×

'शर्मा मेरे सच्चे मित्र हैं। सच्चा प्रेम करना आता है उन्हें।' शंकरदत्त अब गद्गद कण्ठसे अपने मित्रका गुणगान करता है—'वे न होते तो मैं डूब

चुका था—महासागरसे कहीं भयंकर पापके अगाध दलदलमें डूब ही गया था मैं।'

समुद्रके किनारे सूखी लकड़ियोंके ढेर करना और उनमें अग्नि लगा देना—शर्माजीने यह नियम बना रक्खा था। उनका परिश्रम सफल हुआ। उधरसे निकलनेवाले एक जहाजने धुआँ देख लिया। कुतूहल-वश ही किनारे आया था वह जहाज; किंतु उसके कप्तानको भी कम प्रसन्नता नहीं हुई दो भारतीय नागरिकोंका इस प्रकार उद्धार करनेमें।

नन्दलाल शर्मा और शंकरदत्त—अब ये दो मित्र ही नहीं हैं। उनका मित्रमण्डल तीनका हो गया है। उसमें एक बंदर भी है जो अफ्रिकासे उनके साथ ही आया है और अब नन्दलालजीके बगीचेमें ऊधम करनेकी पूरी स्वतन्त्रता पा गया है।

यज्ञोपवीत और गायत्री-जपकी महिमा

(लेखक—श्रीघनश्यामदासजी जालान)

द्विजोंके संस्कारोंमें 'उपनयन' एक प्रधानतम संस्कार है। इसी संस्कारसे द्विज-बालकको वैदिक कर्मका अधिकार प्राप्त होता है एवं उसे द्विजत्वकी प्राप्ति होती है। इस संस्कारसे ब्रह्मज्ञान या भगवत्प्राप्तिके प्रमुख साधन संयम, ब्रह्मचर्य, सदाचार, सत्-शिक्षा, सत्-ज्ञान, सद्भाव और पारमार्थिक उत्थानका पवित्र और परम उपादेय सूत्रपात होता है। सुयोग्य, सदाचारी आचार्यके द्वारा उपनयन-संस्कारका कार्य सम्पन्न होते ही आचार्यके गुणोंका श्रद्धालु शिष्यमें संचार होने लगता है और उन गुणोंकी सहायता तथा अपनी साधनाके प्रभावसे उपनयन-संस्कारसे सम्पन्न द्विज-बालक विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, प्रगल्भता आदिकी प्राप्तिके द्वारा उत्तरोत्तर उन्नतिके पथपर अग्रसर होता हुआ अपनेको ब्रह्मकी प्राप्तिका अधिकारी बना लेता है। उपनयनमें आचार्य निम्नलिखित मन्त्रके द्वारा अपने हाथसे शिष्य ब्रह्मचारीको यज्ञोपवीत देता है और बालक उसको हाथमें लेकर मन्त्र पढ़ता है—

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

इस मन्त्रके द्वारा परम पवित्र यज्ञोपवीतका ब्रह्माजीके साथ ही आविर्भाव होना एवं आयु, बल, तेज आदिकी वृद्धि करनेकी उसकी शक्तिका परिचय प्राप्त होता है। ब्रह्मतत्त्व और वेदतत्त्वकी सूचना देनेवाला होनेसे इसे ब्रह्मसूत्र कहते हैं—

सूचनाद् ब्रह्मतत्त्वस्य वेदतत्त्वस्य सूचनात्।
तत्सूत्रमुपवीतत्वाद् ब्रह्मसूत्रमिति स्मृतम्॥

यज्ञोपवीतमें नौ तन्तु और तीन दण्ड होते हैं—उन नौ तन्तुओंमें नौ देवताओंका अधिष्ठान बताया गया है—

ॐकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः।

'प्रथम तन्तुमें ॐकार, दूसरेमें अग्नि, तीसरेमें अनन्त, चौथेमें चन्द्रमा, पाँचवेंमें पितृगण, छठेमें प्रजापति, सातवेंमें वायुदेव, आठवेंमें सूर्य और नवेंमें सर्वदेवता प्रतिष्ठित हैं।'

ब्रह्मचारी द्विज-बालक यज्ञोपवीत धारणकर उसके तन्तुओंमें स्थित नौ देवताओंके निम्नलिखित गुणोंसे सम्पन्न हो सकते हैं। इस बातको जानकर दृढ़ धारणा करनेसे ही उनके गुणोंका संचार होता है। गुण ये हैं—

१ ॐकार—एकत्वका प्रकाश, ब्रह्मज्ञान।
२ अग्नि—तेज, प्रकाश, पापदाह।
३ अनन्त—अपार धैर्य, अचञ्चलता, स्थिरता।
४ चन्द्रमा—शीतलता, सुधावर्षा, सर्वप्रियता।
५ पितृगण—स्नेहशीलता, आशीर्वाददान।
६ प्रजापति—प्रजापालन, प्रजास्नेह।
७ वायु—बलशालिता, धारण-शक्ति।

८ सूर्य—स्वास्थ्य-प्रदान, मलशोषण, अन्धकारनाश, प्रकाश ।

९ सर्वदेवता—दैवीसम्पत्ति, सात्त्विक जीवन ।

इस ब्रह्मसूत्रको ब्रह्माजीने बनाया, भगवान् विष्णुने त्रिगुणित किया, भगवान् रुद्रने इसमें ग्रन्थि दी और सावित्री देवीने इसे अभिमन्त्रित किया । (ग्रन्थि देते समय इन चारोंका स्मरण-ध्यान करनेसे इनके गुण, ज्ञान तथा बलका लाभ होता है ।)—

ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम् ।
रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिर्वै सावित्र्या चाभिमन्त्रितम् ॥

यज्ञोपवीतका परिमाण ९६ अंगुलका होता है । इसमें रहस्य है । मानवमान ८४ अंगुलका और देवमान ९६ अंगुलका माना गया है । यज्ञोपवीत धारण करके द्विज-बालक ब्रह्मतत्त्व और वेदतत्त्वके परिज्ञानको पाकर देवत्वकी उपलब्धि करता है और अन्तमें ब्रह्मत्वको प्राप्त करता है । इसी भावसे ९६ देवमानका यज्ञोपवीत बनता है ।

इसके अतिरिक्त तीन दण्डके द्वारा कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्डका अर्थात् शरीर, वाणी तथा मनके संयमका विधान किया गया है । काय-संयमके द्वारा ब्रह्मचर्य, गुरु-देवता-पूजन, अहिंसा, तप आदि, वाणीसंयमके द्वारा सत्य, मित, हित, मधुर वाणीका उच्चारण और मनः-संयमके द्वारा मनकी निर्मलता, कोमलता, भगवच्चिन्तनपरायणता, नियन्त्रित स्थिति और भावशुद्धिकी प्राप्ति होती है, जो भगवत्प्राप्तिके लिये यज्ञोपवीतधारी द्विजको परमावश्यक है ।

ऐसी महान् महिमावाला यज्ञोपवीत कोई साधारण बटा हुआ धागा नहीं हो सकता । गृह्यसूत्रोंमें इसकी बड़ी सुन्दर निर्माण-विधि मिलती है । कात्यायन गृह्यसूत्रमें इस प्रकार विधि बतायी है—

'अथातो यज्ञोपवीतनिर्माणप्रकारं वक्ष्यामः । ग्रामाद्बहिस्तीर्थे गोष्ठे वा गत्वाऽनध्यायवर्जितपूर्वाह्णकृतसंध्याष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथाशक्ति गायत्रीं जपित्वा ब्राह्मणेन तत्कन्यया सुभगया धर्मचारिण्या वा कृतं सूत्रमादाय भूरिति प्रथमां षण्णवतीं मिनोति, भुवरिति द्वितीयां स्वरिति तृतीयां मीत्वा, पृथक् पलाशपत्रे संस्थाप्य, आपो हिष्ठेति तिसृभिः शन्नोदेवीत्यनेन सावित्र्या चाभिषिच्य वामहस्ते कृत्वा त्रिःसंताड्य, व्याहृतिभिस्त्रिवलिं कृत्वा पुनस्ताभिस्त्रिगुणितं कृत्वा, पुनस्त्रिवृतं कृत्वा प्रणवेन ग्रन्थिं कृत्वोङ्कारमग्निं नागान् यमपितॄन् प्रजापतिं वायुं सूर्यं विश्वान् देवान् नवतन्तुषु क्रमेण विन्यस्य सम्पूजयेत् । देवस्येत्युपवीतमादाय, उद्वयं तमसस्परीत्यादित्याय दर्शयित्वा यज्ञोपवीतमित्यनेन धारयेदित्याह भगवान् कात्यायनः ।'

अर्थात् अब हम यज्ञोपवीतके निर्माणकी विधि कहते हैं । यज्ञोपवीत-निर्माताको चाहिये कि गाँवसे बाहर किसी तीर्थ-स्थान, मन्दिर या गोशालामें जाकर अनध्यायरहित किसी भी दिन संध्यावन्दनादि नित्यकर्म तथा यथाशक्ति गायत्री-जप करके ऐसे सूतसे यज्ञोपवीत बनावे जो किसी ब्राह्मण या ब्राह्मण-कन्याद्वारा अथवा सधवा ब्राह्मणीद्वारा काता हुआ हो । इस सूतको 'ॐ भूः' इस मन्त्रका उच्चारण करके एक बार अङ्गुष्ठसहित चारों अंगुलियोंके मूल भागपर लपेटे । 'ॐ भुवः' इस मन्त्रसे दूसरी बार तथा 'ॐ स्वः' इस मन्त्रसे तृतीय आवृत्ति की जाय । तदनन्तर 'आपो हि ष्ठा' 'शन्नो देवी' 'तत्सवितुः' इत्यादि तीन मन्त्रोंसे जलसे भिगोकर बायें हाथपर रखकर तीन बार फटकारे । फिर प्रणवसहित तीनों व्याहृतियोंसे बल देकर इन्हीं मन्त्रोंसे त्रिगुणितकर पुनः बल दे और प्रणवसे ब्रह्मग्रन्थि लगा दे । उसके नौ तन्तुओंमें क्रमशः उपर्युक्त ओङ्कार, अग्नि आदि उपर्युक्त देवताओंका आवाहन-स्थापन करे । 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि मन्त्रसे सूर्यके सम्मुख करके 'यज्ञोपवीतम्' इस मन्त्रसे धारण कर ले ।

कात्यायनसूत्रसे मिलती-जुलती ही विधि अन्य गृह्य-सूत्रोंमें भी मिलती है । महर्षि देवल आदि स्मृतिकारोंने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है । आजकल मिलोंमें कता हुआ सूत आसानीसे मिल जाता है, इसलिये घरोंमें सूतकी कताई बंद हो गयी । ऐसी हालतमें जो हाथका सूत न ला सकें वे मिलका सूत लेकर विधिपूर्वक यज्ञोपवीत बना सकते हैं । पर बन सके तो हाथका सूत ही काममें लाना चाहिये । 'ॐ भूः' इस मन्त्रसे विधिका श्रीगणेश होता है । ब्रह्मग्रन्थि लगानेतक निर्माणविधि समाप्त हो जाती है । तत्पश्चात् उपाकर्मपद्धतिके अनुसार देव-ऋषि-पूजन सम्पन्न होता है । पूजन करके यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये ।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि शास्त्रोंमें स्त्रियोंको भी यज्ञोपवीत-निर्माणका अधिकार दिया गया है । परंतु उपर्युक्त विधिसे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियोंका सम्बन्ध सूतकी कताई मात्रसे ही है । उन्हें मन्त्रोच्चारणपूर्वक सविधि यज्ञोपवीत बनानेका अधिकार नहीं है । बाजारमें जो यज्ञोपवीत मिलते हैं वे प्रायः मिलके तिहरे बटे हुए सूतसे सीधे तैया

किये जाते हैं। बहुत-से लोग ९६ आवृत्ति हाथपर न करके केवल एक मापसे सूत काट लेते हैं और यज्ञोपवीत बना लेते हैं, समस्त विधियोंके अनुसरणकी तो बात बहुत दूर रह जाती है। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको चाहिये कि सविधि बने हुए यज्ञोपवीत ही धारण करें। कहींसे सस्ता धागा लेकर गलेमें डाल लेना उचित नहीं।

आजकल यज्ञोपवीतके परिमाणके विषयमें कोई ध्यान नहीं दिया जाता, किंतु शास्त्र परिमाणपर भी बड़ा बल देते हैं। गोभिलीय गृह्यकर्म-प्रकाशिकानें लिखा है 'न नाभेरूर्ध्वं नाधः' अर्थात् यज्ञोपवीत न तो नाभिसे ऊपर रहे, न नीचे। महर्षि कात्यायन कहते हैं—

पृष्ठदेशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥

'पीठ और नाभिपर होता हुआ जो यज्ञोपवीत कटितक चला जाता है वही धारण करने योग्य है। न इससे अधिक लम्बा होना चाहिये और न छोटा। गृह्यसूत्रकारोंमें महर्षि कात्यायनकी वाणीको विशेष आदर दिया जाता है। इसीलिये अन्यान्य सूत्रकार भी उनकी वाणीको उद्धृत करते रहते हैं। पूरे यज्ञोपवीतकी पहचान यह है कि आसन लगाकर बैठ जानेसे वह जमीनको नहीं छूता, एक अंगुल जमीनसे ऊँचा ही रह जाता है। बहुत लंबा यज्ञोपवीत पहनना शास्त्रकी मर्यादासे बाहर है।

यज्ञोपवीतका निर्माण अपने हाथसे किया जाय तो सर्वोत्तम है। ऐसा न हो सके तो अपने किसी विश्वस्त व्यक्तिके द्वारा हाथका विधिपूर्वक बना हुआ यज्ञोपवीत पहन सकते हैं। यज्ञोपवीत और गायत्री-मन्त्रमें अभिन्न सम्बन्ध है। अतः यहाँ गायत्री-मन्त्रके सम्बन्धमें दो-चार शब्द कहना अप्रासंगिक नहीं होगा, बल्कि पाठकोंको गायत्री-जपके लिये उससे प्रोत्साहन ही मिलेगा। पद्मपुराण स्वर्गखण्ड (अ० ४३। १४२ तथा अ० ५३। ५८) में लिखा है—

चतुर्वेदाश्च गायत्री पुरा वै तुलिता मया।
चतुर्वेदात् परा गुर्वी गायत्री मोक्षदा स्मृता॥
गायत्री वेदजननी गायत्री लोकपावनी।
गायत्र्या न परं जप्यमेतद्विज्ञाय मुच्यते॥

ब्रह्माजी कहते हैं कि 'चारों वेदों तथा गायत्रीको मैंने तुलापर तोला तो गायत्री चारों वेदोंसे बहुत अधिक श्रेष्ठ प्रमाणित हुई। अतः गायत्री मोक्षदा नामसे विख्यात हुई। गायत्री वेदोंकी जननी है। गायत्री तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली है। गायत्रीसे श्रेष्ठ कुछ भी जपनेयोग्य नहीं है, इस प्रकार जो तत्त्वसे जान लेता है वह मुक्त हो जाता है।'

भगवान् मनु भी कहते हैं—

सावित्र्यास्तु परं नास्ति।

(मनु० २। ८३)

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥

(मनु० २। ७९)

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(मनु० २। ८२)

अर्थात् 'गायत्रीसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।' 'जो द्विज गाँवसे बाहर एकान्तमें प्रणव व्याहृतियों-सहित गायत्री-मन्त्रको प्रतिदिन एक सहस्र बार जपता है वह बड़े-से-बड़े पापसे भी एक मासमें उसी प्रकार छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे अलग हो जाता है।' 'जो सावधानीके साथ तीन वर्षतक प्रतिदिन प्रणव व्याहृतिसहित गायत्रीका जाप करता है वह वायुकी भाँति यथेच्छ गति, आकाशकी भाँति निर्लिप्तता पाता है और परब्रह्मकी उपलब्धि करता है।'

गायत्रीकी महिमासे वेद, पुराण, स्मृति आदि सभी शास्त्र भरे हैं। श्रीभगवान्ने तो गीतामें 'गायत्री छन्दसामहम्' गायत्रीको अपना स्वरूप बतलाकर उसकी महत्ता और भी बढ़ा दी है। वास्तवमें गायत्री-मन्त्रकी महिमा अनिर्वचनीय है। जो इसे जपता है, वही इसके प्रभावको जान पाता है।

उपनयन-संस्कार, यज्ञोपवीत (ब्रह्मसूत्र) और गायत्रीके सम्बन्धमें संक्षेपमें जो कुछ निवेदन किया गया है उसपर यदि पाठक ध्यान देंगे और मन्त्रविधिपूर्वक बनाये हुए यज्ञोपवीत-को धारण करके गायत्री-मन्त्रका जप करेंगे तो उनकी बड़ी कृपा होगी। *

* जिनको शुद्ध यज्ञोपवीत चाहिये, वे छः पैसे जोड़े कीमतपर 'गोविन्दभवन-कार्यालय' ३० बाँसतल्ला गली, कलकत्तासे मँगवा सकते हैं। वहाँ शुद्ध यज्ञोपवीत बनवाकर बेचनेकी कुछ व्यवस्था की गयी है।

जाति जन्मसे है या कर्मसे ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

वस्तुतः देखा जाय तो यह प्रश्न बनता ही नहीं । जाति जन्मसे है, यह कोई कह ही नहीं सकता । हमारे शास्त्र तो जातिको कर्मानुसार प्रतिपादन करते हैं । आजकल कर्मका रहस्य—कर्मके मूलभूत सिद्धान्तोंको लोग समझते नहीं और इसीलिये जन्मसे जाति देखकर वे असमंजसमें पड़ जाते हैं । जातिका निर्णय होता है कर्मसे, परंतु उसकी अभिव्यक्ति होती है जन्मसे ।

अब कुछ भी आगे विचार करनेके पहले 'जाति' शब्द-के विविध अर्थोंको समझ लेना चाहिये । जातिका एक अर्थ 'वर्ण' भी होता है । जैसे ब्राह्मणादि चार वर्ण हैं, उन्हींको कभी-कभी चार जाति कहते हैं । जातिका दूसरा अर्थ योनि भी होता है । जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—इस प्रकार चार मुख्य योनियाँ हैं । पशुयोनिमें या पक्षीयोनिमें, कीट-पतङ्गादि योनिमें या वृक्ष-पाषाण आदि योनियोंमें जन्म हो तो उस समय भी योनिके बदले जाति शब्दका प्रयोग होता है ।

जातिका तीसरा अर्थ एक ही वर्गके प्राणीमें भिन्नता दिखलानेवाला होता है । जैसे नरजाति या नारीजाति । अन्यान्य प्राणी-वर्गमें वह 'नर' और 'मादा' रूपमें पुकारी जाती है और मनुष्यमें 'पुरुष' और 'स्त्री' नामसे पुकारी जाती है ।

इस प्रकार प्रत्येक अर्थमें जातिका निर्णय कर्मके अनुसार ही होता है और व्यवहार यदि जातीय व्यवहारसे भिन्न हो तो भी वह शरीर जबतक वह है तबतक उस जातिके नामसे ही पहचाना जाता है । भरत राजाको हरिणका अवतार लेना पड़ा, उस समय वे हरिणके शरीरमें भी तपस्वी-जैसा जीवन व्यतीत करते थे । तथापि वे हरिणरूपमें ही पहचाने जाते थे । गुरु द्रोणाचार्य और परशुराम जन्मसे ब्राह्मण थे, परंतु कर्म उन्होंने क्षत्रियोचित किये, तथापि उनकी गिनती ब्राह्मणमें ही हुई । अहल्याबाई और लक्ष्मीबाई-जैसी अनेक वीराङ्गनाओंने पुरुषोचित युद्ध किये, तथापि उनकी गणना स्त्रीरूपमें ही हुई । कुम्हार, जुलाहे तथा अन्त्यज भक्तोंने ब्राह्मणोचित व्यवहार किये, तथापि उनकी गणना उनकी जातिमें ही हुई । वे अपने इस जन्मके कर्मोंसे ब्राह्मण नहीं कहलाये । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जातिका निर्णय होता है कर्मसे ही—पूर्वजन्मके कर्मसे ही, परंतु उसकी अभिव्यक्ति होती है जन्मके ही द्वारा, क्योंकि इसका अन्य कोई उपाय ही नहीं है । पीपल और बड़की दो छोटी डालियाँ पत्ते बिना पड़ी हों तो उनको देखकर कौन पीपलकी है और कौन बड़की डाली है, यह नहीं कहा जा सकता । परंतु उनको यदि रोप दें और उनमेंसे अङ्कुर निकले तो पीपल और बड़का भेद प्रत्यक्ष दिखायी पड़ेगा । इसलिये जातिकी अभिव्यक्ति जन्मसे ही होती है, दूसरे किसी प्रकार-से यह सम्भव नहीं है । इसीलिये जबतक जाति शरीर है, तबतक उसको उसी जातिका समझना चाहिये, वर्तमान जन्मके कर्म भले ही भिन्न प्रकारके हों ।

कर्मका अटल सिद्धान्त यह है कि—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।'

अर्थात् करोड़ों कल्प बीत जानेपर भी कर्म, अपना फल दिये बिना, नाशको प्राप्त नहीं होता । इससे यह प्रतिफलित होता है कि जिन कर्मोंका फल मनुष्य वर्तमान जन्ममें नहीं भोगता है, उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये मनुष्यको अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं । इस प्रकार बीजवृक्षन्यायसे, अर्थात् वृक्षसे बीज होते हैं और बीजसे फिर अनेक वृक्ष उत्पन्न होते हैं—उसी प्रकार कर्म भोगनेके लिये शरीर धारण करने पड़ते हैं और शरीरोंसे फिर असंख्य कर्म होते हैं । इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है ।

गीता (अध्याय ४ श्लोक १३) में भगवान्ने कहा है कि गुण और कर्मको ध्यानमें रखकर मैंने मानव-समाजको मुख्य चार भागोंमें बाँटा है, अर्थात् यह चार विभागवाली समाज-रचना मैंने ही की है । प्रकृतिके गुण हैं तीन—सत्त्व, रजस् और तमस् । इनके स्वभावका वर्णन भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायमें किया है । वर्णव्यवस्थामें, जिसमें सत्त्वगुण प्रधान हो उसको ब्राह्मण कहा गया है । जिसमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण-की प्रधानता हो उसको क्षत्रिय कहते हैं । जिसमें तमोगुण-मिश्रित रजोगुणकी प्रधानता हो उसे वैश्य कहा है और जिसमें तमोगुणकी प्रधानता हो उसको शूद्र कहा गया है ।

अब गुण और कर्मका सम्बन्ध देखिये । जब सत्त्वगुण-

की प्रधानता होती है, तब सात्त्विक कर्म—ईश्वरभजन, परोपकार आदि शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। जब रजोगुण जोर पकड़ता है, तब लोभवृत्ति बढ़ती है और उसको तृप्त करनेके लिये विविध प्रवृत्तियोंका आरम्भ होता है। मनचाहा फल न मिलनेपर चित्तमें अशान्ति रहती है और तृष्णा अधिक जोर पकड़ती है। जब तमोगुण बढ़ता है, तब निद्रा, आलस्य और प्रमादमें, अज्ञानी पशु-जैसा जीवन व्यतीत होता है।

ये गुण सब समय एक-से नहीं रहते। सत्त्वगुण बढ़ता है तो वह रज और तमको दबा देता है; रजोगुण बढ़ता है तब सत्त्व और तमको दबाता है; और जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह सत्त्व और रजको दबाता है। रातमें निद्राके समय इसका अनुभव प्रतिदिन प्रत्यक्ष होता है। शारीरिक तथा मानसिक, दोनों प्रवृत्तियाँ जब बंद हो जाती हैं, तब निद्रा आती है। इसका कारण यह है कि निद्रा तमोगुणका स्वभाव है, वह जोर पकड़कर सत्त्व-रजको दबाता है, तभी निद्रा आती है।

गुण तो अपने अनुरूप कर्म करनेकी प्रेरणा देता है, परंतु उसके अनुसार यदि कर्म न हो तो फिर कर्मके अनुसार गुण जोर पकड़ता है और दूसरे गुणोंको दबा देता है। इसीको रोकनेके लिये चारों वर्णोंके लिये कुछ पृथक्-पृथक् अमुक-अमुक प्रकारके कर्म करनेका विधान किया गया है। इसीलिये प्रत्येक वर्ण अपने लिये विहित कर्म ही करता है, दूसरे वर्णके कर्म उससे नहीं कराये जाते। ऐसा होनेपर ही गुण और कर्मका मेल होता है। गुण कर्मके लिये प्रेरणा देता रहता है और तदनुसार कर्म करनेसे गुण टिका रहता है—दूसरे गुण उसको दबा नहीं सकते।

इस वर्ण-धर्मका वर्णन गीताके १८ वें अध्यायमें ४२ से ४४ वें श्लोकतक किया गया है। ब्राह्मणके लिये मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये मुख्य कर्म हैं। क्षत्रियके लिये वीरता, तेज, धीरज, चतुराई, निर्भयता (युद्धमें पीछे पैर न रखना—परंतु सामने छाती करके लड़ना), दान देना और पीड़ित तथा आश्रितको रक्षण प्रदान करना—ये मुख्य कर्म हैं। वैश्यके लिये खेती, व्यापार और पशुपालन तथा शूद्रके लिये इन तीनों वर्णोंको उनके कार्यमें सहायता प्रदान करना—ये मुख्य कर्म हैं।

इस प्रकार जबतक प्रत्येक वर्ण अपने-अपने धर्मका पालन करते रहे, तबतक यह व्यवस्था सुरक्षित रही। विदेशियोंके आनेके बाद, वे लोग गुण-कर्म तथा जन्म-जन्मान्तरके विषयमें समझ न रखनेके कारण इस व्यवस्थाको वहम बताने लगे और उन्होंने हमको यह सिखलाया कि इन सब बखेड़ोंकी ब्राह्मणोंने अपना वर्चस्व बनाये रखनेके लिये व्यवस्था की है। हमलोग भी उस समय पूरे-पूरे निर्माल्य बन गये थे, इससे उनके मोह-जालमें फँस गये और शास्त्रोंके ऊपरसे हमारा विश्वास उठ गया। फल यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। इसीसे आजकल लोग अपनी इच्छाके अनुसार कर्म करते जा रहे हैं, इतनेपर भी आनुवंशिक संस्कार आज भी देखनेमें आते हैं।

उदाहरणके लिये एक कुम्हार और एक ब्राह्मणके लड़केको पढ़नेके लिये बैठाइये और यह देखिये कि कौन जल्दी-जल्दी प्रगति करता है। तो यह प्रकट हो जायगा कि ब्राह्मणका लड़का अधिक कुशलतासे विद्योपार्जन कर सकता है। इसी प्रकार ऐसे दो लड़कोंको यदि कुम्हारका काम करनेके लिये बैठाइये तो देखेंगे कि कुम्हारका लड़का जल्दी काम सीखता है। इसका कारण यह है कि दोनों लड़कोंमें अपनी-अपनी जातिके आनुवंशिक संस्कार मौजूद हैं। घोड़े और कुत्तेमें आनुवंशिक संस्कारकी बात विदेशी लोग स्वीकार करते हैं; और वैसा प्राणी प्राप्त करनेमें गौरव भी मानते हैं, परंतु मनुष्यमें इस बातको स्वीकार करनेके लिये वे तैयार नहीं हैं; क्योंकि उसमें उनको व्यक्तिस्वातन्त्र्यपर आघात लगता दीख पड़ता है।

छान्दोग्योपनिषद्में भी कर्मके अनुसार जातिमें जन्म होता है, ऐसा स्पष्ट कहा है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।'

मनुष्योंकी मृत्यु होनेपर, जिनका आचरण पहले विशुद्ध—पवित्र होता है, वे तत्काल उत्तम योनिमें शरीर धारण करते हैं। वे ब्राह्मणशरीर या क्षत्रियशरीर अथवा वैश्यशरीर धारण करते हैं। इसी प्रकार जिन मनुष्योंका आचरण पापमय होता है, वे मनुष्य भी तत्काल निकृष्ट योनिमें शरीर धारण करते हैं, वे कुत्तेका या सूअरका या चाण्डालका शरीर धारण करते हैं। सारांश यह कि इस जन्ममें जिसकी जैसी रहनी-करनी होती है उसके अनुरूप जातिमें ही उसका जन्म होता है।

मानवसमाजमें आज अधिकसंख्यक लोग पुनर्जन्मको

नहीं मानते और इस कारण उनको कर्मका रहस्य समझमें नहीं आता। इसी कारण उनकी समझमें नहीं आता कि ब्राह्मणके यहाँ जन्म लेनेवाला क्यों ब्राह्मण कहलाता है। इसीसे वे ऐसा कहते हैं कि इस जन्ममें जो जैसे कर्म करता है उसीके अनुसार जाति मानी जानी चाहिये। गत जन्मकी बात वे नहीं समझते और इसीलिये मानते भी नहीं।

अब यदि इस जन्मके कर्मोंके अनुसार जाति मानें तो उसमें अव्यवस्था-दोष आ जायगा। हममेंसे प्रत्येकके अनुभव-की बात है कि मनुष्य सवेरेसे शामतक कितने ही काम ब्राह्मणोचित करता है, कितने ही काम पशु-जैसे करता है और कई काम तो उससे भी अधम कोटिके करता है। अब यहाँ उस मनुष्यको ब्राह्मण गिनें, पशु गिनें, पिशाच गिनें अथवा क्षण-क्षण उसकी जाति बदला करें ? इसलिये इस जन्मके कर्मसे जातिका निश्चय हो सकता ही नहीं। गत जन्मके सारे कर्म नियन्ताके सामने होते हैं और उनमें जिस जातिके कर्मोंकी प्रधानता होती है, उसका उस जातिमें जन्म होना उचित ही है।

इस बातको एक लौकिक दृष्टान्तसे समझिये। एक विद्यार्थी परीक्षामें बैठा है। पूछे गये प्रश्नोंमेंसे जितना उसको आता था उसके अनुसार उसने उत्तर लिखे। परीक्षक सारे प्रश्नोंकी ठीक-ठीक जाँच करता है और योग्यताके अनुसार प्रत्येक उत्तरपर अङ्क देता है। सब अङ्कोंको जोड़ा जाता है, फिर उसीके अनुसार वह विद्यार्थी प्रथमवर्ग, द्वितीयवर्ग अथवा तृतीयवर्गमें उत्तीर्ण होता है, अथवा वह उत्तीर्ण नहीं हुआ—यह परिणाम प्रकट किया जाता है।

जैसे समस्त उत्तर-पत्रोंकी जाँच किये बिना परीक्षक परिणाम नहीं दे सकता, उसी प्रकार नियन्ता भी प्रत्येक व्यक्तिके समस्त जीवनकी पूरी जाँच करनेके बाद ही उसको जातिविशेषमें जन्म देता है, इस प्रकार जातिमें जन्म मिलता है कर्मसे ही। परंतु इस जन्मके कर्मोंसे नहीं, बल्कि गत जन्मके कर्मोंसे।

इस बातके समर्थनमें मनु महाराज कहते हैं—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।' कहनेका तात्पर्य यह कि केवल ब्राह्मणके घर जन्म लेनेसे ब्राह्मणत्व टिका नहीं रहता। उसके लिये तो जीवका षोडश (१६) संस्कारयुक्त जीवन होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणके घर जन्म लेनेपर इस जन्ममें तो वह ब्राह्मण कहलाता है; क्योंकि यह उसके गत जन्मके कर्मोंका फल है और वह उसे मिलना ही चाहिये। परंतु इस जन्ममें यदि उसके ब्राह्मणोचित कर्म नहीं होंगे तो अगले जन्ममें उसको ब्राह्मणका शरीर नहीं मिलेगा। परंतु कर्मके योगके अनुसार ही उसको योग्य शरीर प्राप्त होगा।

इसी प्रकारका दृष्टान्त सुख-दुःखका है। जब अनाचार करते हुए मनुष्य समृद्ध और सुखी दीख पड़ते हैं, तब सदाचारी गरीब मनुष्य कलप उठते हैं और कहते हैं कि ईश्वरके घर न्याय नहीं है। दुःखके मारे बुद्धि व्यग्र हो जानेके कारण वे इस सीधी-सादी बातको भी नहीं समझ पाते कि वे आज जो सुख भोग रहे हैं, यह उनके गत जन्मों-के पुण्यका फल है, इस जन्मके कर्मोंका फल तो उनको कर्मविपाकका समय आनेपर भावी जीवनमें मिलेगा। इसी प्रकार सदाचारी मनुष्यके वर्तमान जीवनका दुःख भी उसके गत जन्मोंके पापका फल है, इस जन्मके सुकृतका फल तो भावी जन्ममें मिलेगा। ईश्वरके नियममें अन्याय कभी होता ही नहीं। आमकी गुठलीमेंसे कभी बबूल नहीं उगता और बबूलके बीजमेंसे कभी आम नहीं फलता। इसी प्रकार शुभ कर्मका फल दुःख होता ही नहीं और पापकर्मका फल सुख होता ही नहीं। यही सिद्धान्त जन्मका भी समझना चाहिये—'जैसी करनी पार उतरनी'।

योगदर्शनमें भी यह स्पष्ट बतलाया है कि कर्मसे ही जातिमें जन्म होता है। 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः'—भाव यह है कि जो कर्म भोगे बिना संचित रहते हैं वे ही वर्तमान शरीर और भावी शरीरोंकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। अब जन्म कैसे होता है, यह बतलाते हुए अगला सूत्र कहता है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।' अर्थात् जबतक बिना भोगे हुए कर्म संचित हैं, तबतक जीवको अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं। उसकी व्यवस्था इस प्रकार है कि जो कर्म-संस्कार फल देनेके लिये तैयार हुए रहते हैं उनको अलग निकाल लिया जाता है। तत्पश्चात् उनके अनुसार योनि निश्चित होती है और यदि मनुष्य-योनिमें जन्म होनेवाला होता है तो यह निश्चय किया जाता है कि किस वर्णमें जन्म हो। अब उस फलको भोगनेमें कितना समय लगेगा, इसका निर्णय करके आयुका निर्माण होता है। इस प्रकार जब जीव एक मनुष्यशरीर छोड़ता है, तब उसकी जाति (व्यापक अर्थमें), आयुकी मर्यादा तथा सुख-दुःखका भोग निश्चय होता है। इसको आगामी

शरीरका प्रारब्ध कहते हैं। इस प्रकार योगदर्शन भी कर्मसे जातिका सिद्धान्त बताता है। परंतु वे कर्म वर्तमान जन्मके नहीं, बल्कि गत जन्मोंके होते हैं।

यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि सम्पूर्ण १०० वर्षकी आयु पूरी होनेपर दूसरा शरीर मिलता है और उसमें यदि इस और गत जन्मोंके कर्मोंका फल भोगना पड़ता हो तो वह किस कामका ? हमलोगोंको तो १०० वर्षका बीचका समय बहुत लंबा लगता है, परंतु सृष्टिकी रचना करनेवाले ब्रह्माके लिये तो यह समय एक पलमात्र भी नहीं है। शास्त्रीय गणनाके अनुसार ब्रह्माका एक दिन हमारे ४३२०००००० वर्ष जितना है। इस हिसाबसे ब्रह्माका एक सेकंडका समय हमारे हजारों वर्षोंसे भी बड़ा हो जाता है। इस बातको बतलाते हुए एक प्रसङ्गमें विष्णुपुराणमें एक इतिहास बताया गया है। सत्ययुगकी बात है। शर्याति-वंशके राजा रैवतको अपनी पुत्रीके लिये कोई योग्य वर नहीं मिल रहा था। इसलिये वे अपनी कन्या रेवतीको साथ लेकर ब्रह्माजीसे सलाह लेने ब्रह्मलोकमें गये। उस समय वहाँ सामगान हो रहा था, इसलिये वे कुछ बोल न सके। गान समाप्त होनेके बाद राजाने अपनी बात ब्रह्माजीसे कही। उत्तर देते हुए ब्रह्माजी बोले—'तुम यहाँ जितनी देरतक रहे इतनी देरमें तो पृथ्वीपर सत्ययुग और त्रेता—दो युग बीत गये और अब द्वापर भी पूरा होनेवाला है। श्रीकृष्णका अवतार हो गया है, तुम अपनी पुत्री बलदेवजीको ब्याह दो।'

इस प्रकार समयका माप सापेक्ष है और सभी लोकोंमें वह समान नहीं होता। देश और काल दोनों सापेक्ष हैं, इस बातको योगवाशिष्ठमें बहुत युक्तिपूर्वक समझाया गया है, परंतु हमारे नवशिक्षित विद्वान् इसको नहीं मानते। अब आइन्स्टाइन जब यही बात कहते हैं तब मान लेते हैं। ऐसी हमारी मनोदशा है।

इस प्रकार एक जन्मके कर्म दूसरे जन्ममें भोगे जायँ, इसमें कोई त्रुटि या दोष नहीं है, बल्कि यह सुविधाजनक बात है और इसमें किसीके प्रति कोई अन्याय होना सम्भव नहीं है; क्योंकि सारे जीवनके कर्मोंका तलपट निकालनेके बाद ही नया खाता शुरू होता है।

कर्मका सिद्धान्त न समझनेसे एक और गड़बड़ी पैदा होती है, उसका भी उल्लेख यहाँ कर लें तो अप्रासङ्गिक न होगा। कुछ 'मत' यह कहते हैं कि 'मनुष्यका शरीर जब एक बार मिल गया तो फिर निकृष्ट योनिमें जानेका भय रहता ही नहीं।' पर यह बात सत्य नहीं है। साथ ही, यह कर्मके सिद्धान्तसे भी विरुद्ध है। मनुष्य-शरीरसे निकृष्ट शरीर धारण करनेके अनेकों उदाहरण पुराणोंमें भरे पड़े हैं। ऊपर छान्दोग्योपनिषद्का जो अवतरण दिया गया है उससे भी स्पष्ट है कि मनुष्यको कुत्ते और सूअरकी निकृष्ट योनिमें जन्म लेना पड़ता है। राजा नहुषने अपनी पाल्की ढोनेके लिये ब्राह्मणोंको लगाया। ब्राह्मण धीरे-धीरे चलते थे, इसलिये उसने क्रोधमें आकर जल्दी-जल्दी पैर बढ़ानेके लिये कहा। ब्राह्मणोंने शाप दे दिया और तत्काल राजा नहुष सर्पके शरीरको प्राप्त हो गये। राजा नृगने भूलसे एक ही गाय दो बार दानमें दे दी थी, इस अपराधके कारण उसको गिरगिटका जन्म लेना पड़ा। गजेन्द्रमोक्षके आख्यानमें गजेन्द्र पूर्वजन्ममें इन्द्रद्युम्न नामक पाण्डुदेशका राजा था और अगस्त्य ऋषिके शापसे हाथी हो गया था। और ग्राह हूहू नामक गन्धर्व था, वह भी देवल ऋषिके शापसे ग्राहकी योनिमें आया था। इसी प्रकार अनेक दृष्टान्त प्राप्त होते हैं, इसलिये यह कहना कि एक बार मनुष्यशरीर मिलनेके बाद, वह चाहे जैसा आचरण करे तथापि, अधोगति न होगी, ठीक नहीं है। जब कर्मके अनुसार ही जन्म होता है, तब फिर नीच कर्म करनेवालेका नीची योनिमें जन्म क्यों न हो।

इस महत्त्वपूर्ण बातको एक युक्तिसे जाँचिये। मनुष्यको यदि एक बार विश्वास हो जाय कि अब मैं इससे नीचे कभी जा ही नहीं सकता, तब वह चाहे जैसे अकर्म करनेमें भी नहीं हिचकिचायेगा परंतु यदि उसको विश्वास हो कि कर्मके अनुसार ही जन्म मिलता है तो इससे मनुष्यको शुभकर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है और वह अशुभसे दूर रहनेका प्रयत्न करता है।

मान लीजिये एक मनुष्यने खून किया। अदालतमें उसके ऊपर मुकदमा चला। प्रमाण न मिलनेसे वह मनुष्य निर्दोष छूट गया। इससे 'वह मनुष्य खून नहीं कर सकता' ऐसा प्रमाणपत्र उसे बिना माँगे मिल गया। इस प्रमाणपत्रके जोरपर उसने पुनः भरे बाजारमें खून कर डाला। फिर उसके ऊपर अदालतमें मुकदमा चला। उसने कहा—'मैं तो खून कर सकता ही नहीं, यह प्रमाणपत्र मुझे इसी अदालतसे मिल चुका है, इससे मुझपर मुकदमा चल ही नहीं सकता।' परंतु क्या अदालत उसकी इस बातको

मान लेगी ? वह तो सबूतके अनुसार निर्णय करेगी और यदि प्राणदण्डकी सजा न देगी, तो देश-निकालेकी ही सजा देगी और कहेगी कि प्रमाणपत्रका दुरुपयोग करनेवालोंकी हमारे राज्यमें आवश्यकता नहीं है ।

इसी प्रकार पूर्वजन्ममें किये हुए अनेक पुण्योंके प्रतापसे मानव-शरीर तो मिला । पर उसका उपयोग ईश्वरप्राप्तिके लिये न करके विषय-सेवनमें ही किया और उसमें भी न्याय-नीतिका ध्यान न रक्खा और यथेच्छाचार किया तो कह सकते हैं कि उसने भी प्रमाणपत्रका दुरुपयोग ही किया और इसकी सजा भोगे विना काम नहीं चल सकता । सजामें नरक-यन्त्रणा अथवा निकृष्ट योनिमें जन्म—जो भी मिले, उसे भोगना ही पड़ेगा ।

एक संत बैठे थे । उनके सामने दो-चार जिज्ञासु बैठे थे । सात-आठ चींटोंकी कतार जाती हुई देखकर वे संत बोल उठे देखो, देखो ! ये चींटे कैसे चले जा रहे हैं ? ये सभी एक बार नहीं, अनेक बार इन्द्रके सिंहासनपर बैठ चुके हैं । इतनेपर भी इनकी भोग-वासना नहीं छूटती, इससे ये भवचक्रमें भ्रमा करते हैं । इन्द्रका पद भोगनेके बाद यदि चींटेका जन्म मिल सकता है तो फिर मनुष्य-शरीरसे नीची योनिमें जन्म हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

इसलिये यह सिद्धान्त सर्वथा असत्य है और मनुष्यको उलटे मार्गपर ले जानेवाला है । इसलिये इसको मानना नहीं चाहिये ।

अब, वर्णव्यवस्थाको अपने यहाँ इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है, इसपर विचारकर निबन्ध समाप्त किया जायगा । इसका मुख्य कारण यह है कि हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार प्रकारके पुरुषार्थ मानते हैं और दूसरे लोग केवल अर्थ-कामरूप पुरुषार्थको ही मानते हैं । 'अर्थ-काम' का हमारा अर्थ 'शरीर-निर्वाहका साधन-मात्र' है और वे लोग इसका अर्थ 'विपुल भोगसामग्री' करते हैं । इससे अपने यहाँ 'संतोष ही सुख है'—ऐसी भावना है और वे लोग 'असंतोषको ही प्रगतिके लिये आवश्यक' मानते हैं ।

साथ ही 'अर्थ-कामके ऊपर धर्मका नियन्त्रण होना चाहिये' ऐसा हम मानते हैं, क्योंकि उसके विना मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार मोक्षकी सिद्धिके लिये धर्मपरायण जीवन विताना अपने यहाँ आवश्यक माना जाता है ।

दूसरे प्रकारसे देखिये तो वर्णव्यवस्था उत्तम ढंगकी समाज-रचना है, क्योंकि इसमें आनुवंशिक शिक्षणके द्वारा विविध गुणोंका परिपोषण करनेकी अनुपम योजना है । प्रत्येक वर्णके लिये विहित धर्म बनाये गये; उन-उन धर्मोंका पोषण करता हुआ प्रत्येक वर्ण अपनी उन्नति करता है और इससे समाजमें संघर्षके लिये कहीं अवकाश ही नहीं रहता । 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' उदाहरणार्थ, ब्राह्मण वर्णको केवल पठन-पाठन, यजन-याजन आदि ही करना चाहिये । उनको संग्रह करना ही नहीं चाहिये । शूद्रका काम सेवा करना होनेके कारण उसे तीनों वर्णोंके काममें मदद करनी चाहिये । इसलिये उसको भी अपरिग्रही होना चाहिये । इस प्रकार समाजका आधा भाग जब अकिञ्चन रहता है, तब धनके लिये खींच-तान या संघर्ष नहीं होता । फिर क्षत्रिय राजा आदिके पास धन संचित होता तब वे यज्ञ-यागादि करनेमें उसका उपयोग करते और शेष बचे हुएको प्रजामें लुटा देते । वैश्यके पास धन इकट्ठा हो तो वह भी लोक-हितके कार्योंमें लगा दे, इकट्ठा करे ही नहीं । ऐसा आदर्श है । इस प्रकार वर्णव्यवस्था एक आदर्श समाज-रचना है और इससे मानवसमाजका कल्याण हुए विना नहीं रहता । सारा जगत् यदि इस नीतिसे समाजको संगठित करे तो जगत्भरमें शान्ति स्थापन होते देर न लगे ।

परंतु यह आशा दुराशामात्र है । अपने यहाँ यह व्यवस्था है, इसीको मिटा देनेका प्रयत्न चारों ओरसे हो रहा है, तब फिर जहाँ यह व्यवस्था नहीं है, वहाँ ऐसी व्यवस्था हो, यह कैसे सम्भव है ? विदेशी लोगोंको जन्म-जन्मान्तरका तत्त्व न समझनेके कारण वर्णव्यवस्थामें केवल अन्याय ही दिखायी दिया और इस कारण उन्होंने यही व्यक्त किया कि यह व्यवस्था तो मनुष्यको गुलाम बनानेके लिये ही है । ब्राह्मणोंने अपनी सत्ता जमाये रखनेके लिये यह बखेड़ा बना रक्खा है । प्रत्येक मनुष्यको अपने इच्छानुसार धंधा करनेका जन्मसिद्ध अधिकार है । इस प्रकार, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी आड़में उन्होंने वर्णव्यवस्थाकी खूब निन्दा की और उनके भौतिक आविष्कारोंसे प्रभावित होकर हमने उनकी बात मान ली !

परिणामस्वरूप, वर्णव्यवस्था टूटती जा रही है और इससे समाजमें संघर्ष पराकाष्ठाको पहुँच गया है । जबतक प्रत्येक वर्ण अपने-अपने धंधेमें गौरवका अनुभव करता था

तबतक रोटीके लिये छीना-झपटी बिल्कुल नहीं थी। परंतु आजकल व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके नारे लगाकर प्रत्येक मनुष्य अक्षरज्ञान प्राप्त करने लगा। मेकॉलेकी शिक्षामें गुलामी करनेके सिवा दूसरी कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। फलतः प्रत्येक मनुष्यको नौकरी चाहिये और नौकरी न मिलनेपर भुखमरीका सामना करना पड़ता है। दिनोंदिन स्थिति बिगड़ती जा रही है, परंतु किसीकी आँखें नहीं खुल रही हैं। अक्षर-शिक्षाको तिलाञ्जलि देनी चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिको अपने वर्णके अनुसार धंधेमें लग जाना चाहिये। ऐसा करेंगे, तभी इस भुखमरीका अन्त आवेगा। हमारे लिये दूसरा कोई मार्ग ही नहीं। प्रभु सबको सन्मति प्रदान करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

भक्त-गाथा

[भक्त मालती और सदाशिव]

दक्षिणमें कावेरीके तटपर एक छोटे गाँवमें ब्राह्मण-दम्पति रहते थे। ब्राह्मणका नाम था सदाशिव और पत्नीका नाम था मालती। दोनों बड़े ही साधु स्वभावके थे। दोनोंमें भगवान्‌की भक्ति थी और बड़ी सादगीके साथ रहकर दोनों अपना पवित्र जीवन बिताते थे। न उन्हें धनकी चाह थी, न पुत्रकी इच्छा थी, न यश-कीर्तिकी और न मान-सम्मानकी आकाङ्क्षा थी। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था कि मानव-जीवनका उद्देश्य संसारके भोगोंमें रमना नहीं है वरं समस्त भोगोंसे उपरत होकर परमात्माके स्वरूपको जानना और प्राप्त करना है। सदाशिवके पिता बहुत बड़े विद्वान् थे। सदाशिवजीने पितासे इस बहुमूल्य निधिको प्राप्त किया था। उद्भट विद्वान् होनेपर भी इनमें आदर्श विनय थी। विद्याका अभिमान इन्हें छूतक नहीं गया था। वे अपनी विद्याका उपयोग भगवान्‌की रसमयी लीला-कथाके अध्ययन और अनुशीलनमें ही करते थे। प्रतिदिन संध्याके समय वे अपनी धर्मपत्नीको श्रीमद्भागवतकी ललित तथा रसमयी व्याख्या सुनाया करते थे। उन्होंने एक दिन दशमस्कन्धकी भगवान्‌की बाल-लीला सुनाते हुए परम भाग्यवती श्रीयशोदाजीके मधुरतम वात्सल्य रसका विलक्षण वर्णन किया। उन्होंने सुनाया—

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्॥
(श्रीमद्भा० १० । ८ । ४५)

'ऋक्, साम, यजुर्वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग और भक्तगण—सदा-सर्वदा जिनकी महिमा गाया करते हैं, उन्हीं भगवान्‌को यशोदाजी अपना पुत्र मानती थीं।'

इस श्लोककी और यशोदाजीके वात्सल्यकी मधुर व्याख्या सुनकर मालती देवीके निष्काम पवित्र मनमें एक मीठी-सी कामना उत्पन्न हो गयी। उसने मन-ही-मन कहा—'कहीं श्यामसुन्दर मेरी गोदमें खेलते, कहीं मैं भी उन्हें अपना पुत्र मानकर लाड़-प्यार करती।' कामनाका यह अङ्कुर क्रमशः बढ़ने लगा और विस्तृत होकर इसने मालतीके मनको चारों ओरसे छा लिया। अब मालती दिन-रात इसी चिन्तामें, इसी दुर्लभ मनोरथके मननमें निमग्न रहने लगी। उसकी जीभपर सदा-सर्वदा श्यामसुन्दरका मधुर नाम नाचता रहता, मन दिन-रात श्यामसुन्दरको गोदमें खिलानेका मधुर चिन्तन करता रहता और बुद्धि सदा इसी विचारमें खोयी-सी रहती। एक दिन मालतीने अपने स्वामी पण्डित सदाशिवको अपनी मनोवाञ्छा सुनायी। सुनाते-सुनाते वह रोने लगी, सिसकियाँ भर गयीं। सदाशिवने मालतीके मनोरथको माना तो बहुत कठिन,

पर साथ ही श्यामसुन्दरके अहैतुकी स्नेह-सुधासे परिपूर्ण हृदयकी ओर जब उनका ध्यान गया, तब उन्हें आशा हो गयी और उन्होंने कहा—'साध्वी! तुम बड़ी भाग्यवती हो जो तुम्हारे मनमें इस मनोरथका अङ्कुर बड़ा होकर इतना विस्तृत हो गया है। तुम कातर-कण्ठसे रो-रोकर एकान्तमें अपने श्यामसुन्दरको मनका मनोरथ सुनाओ, वे बड़े उदार हैं और उनके विशाल हृदयमें सदा-सर्वदा स्नेहका अथाह समुद्र लहराता रहता है, वे तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण करेंगे और तुम्हारी यह महती सिद्धि मुझे भी धन्य कर देगी।'

मालतीको मानो साधनकी दीक्षा प्राप्त हो गयी और साथ ही उसे विश्वास भी हो गया कि भगवान् श्यामसुन्दर मेरे मनोरथको अवश्य पूर्ण करेंगे। वह अब प्रार्थना करने लगी। पहले प्रार्थना एक समय शुरू हुई, फिर बढ़ते-बढ़ते मालतीका जीवन प्रार्थनामय हो गया। वह दिन-रात प्रार्थनामें ही निमग्न रहने लगी। अब दूसरे किसी विषयके लिये उसके मनकी ओर झाँकनेकी भी गुंजाइश नहीं रह गयी।

मालती प्रेमावेशमें बेसुध हुई एक दिन प्रार्थना कर रही थी कि भगवान् उसके सामने प्रकट हो गये। भगवान्की दिव्य झाँकीको निरख-निरखकर मालती निहाल हो गयी। भगवान्का परम दिव्य नव-नीरद-नील श्याम वर्ण है। उससे दिव्य ज्योतिकी किरणें निकलकर चारों ओर मधुर आभाका विस्तार कर रही हैं। कटिदेशमें दिव्य स्वर्णवर्ण पीताम्बर धारण किये हुए हैं। सिरपर मयूरपिच्छका मुकुट है। गलेमें रत्नोंकी, मुक्ताओंकी और पाँच प्रकारके परम सुगन्धित पुष्पोंकी माला सुशोभित हैं। वैजयन्ती और गुंजामाला वक्षःस्थलपर विहार करती हुई अपनी निराली छटा दिखा रही हैं। भगवान्के कर्णयुगल कनेरके पीले-पीले पुष्पोंसे विभूषित हैं। भगवान्की विशाल सुकोमल भुजाओंमें बाजूबंद और हाथोंमें दिव्य कड़े सुशोभित हैं। श्यामसुन्दर अपनी विकट भ्रुकुटि, मुनियोंके मनको आकर्षित करनेवाली निराली नेत्रदृष्टि और मधुर मनोहर मुसकानसे सबके मनोंको बलात्कारसे हरण कर रहे हैं। कोमल करकमलमें मुरली सुशोभित है और उनका एक हाथ आशीर्वाद मुद्रासे मानो वरदान दे रहा है।

इस रूपछटाको देखकर मालतीको देहकी सुध-बुध नहीं रही। उसकी आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो गयीं और वह एकटकी लगाये उनकी ओर देखती ही रह गयी। भगवान्ने मधुर-मधुर मुसकराते हुए बड़ी ही मधुर वाणीमें मालतीसे कहा—'मैया! तुम्हारी स्नेह-डोरीसे खिंचा मैं तुम्हारे सामने आ गया हूँ। तुम मेरी माँ हो—प्यारी माँ हो। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। जगत्के विनाशी पुत्रोंमें लोगोंका मन लगा रहता है, वे उन्हींको पाने, पालने, पोसने और उन्हींका लाड़ लड़ानेके मूर्खताभरे मनोरथोंसे अपने मनको भरे रखते हैं, इससे मैं उनसे दूर रहता हूँ। तुम्हारी तथा तुम्हारे स्वामी, सदाशिवकी भाँति जो संसारके तमाम भोगोंसे मुँह मोड़कर केवल मुझको ही चाहते हैं—वे जिस रूपमें मुझे पाना चाहते हैं, उसी रूपमें मैं उन्हें प्राप्त होता हूँ। उसी रूपमें मैं उन्हें सुख देकर और उन्हें सुखी देखकर परम प्रसन्न होता हूँ। वे मेरे होते हैं और मैं उनका। वे जो एक क्षण भी मुझे नहीं छोड़ना चाहते, एक क्षणके लिये भी वे अपने मनसे मुझको नहीं निकालते। बड़े-बड़े भोगोंके प्रलोभन तथा बड़े-से-बड़े दुःखोंके भयानक भय जिन्हें आधे क्षणके लिये भी मेरी मधुर स्मृतिसे वञ्चित नहीं कर सकते, उन मेरे प्यारे प्रेमी भक्तोंके हृदयमें मैं नित्य-निरन्तर वैसे ही बसता हूँ, जैसे कमल-कोषमें मधुलोभी भ्रमर रहता है। भ्रमर तो कभी वहाँ-से निकलता भी है, पर मैं तो एक बार हृदयमें प्रवेश कर जानेपर फिर कभी निकलता ही नहीं। केवल मनमें ही नहीं, मैं अपने उन भक्तोंके इच्छानुसार उनका पुत्र, मित्र, पिता, भाई, स्वामी, सेवक आदि बनकर उन्हें

सुख देता रहता हूँ और इसीमें मुझ नित्य आनन्दमयको भी महान् विलक्षण आनन्दकी अनुभूति होती है। देखो मालती! मैं प्रतिदिन प्रातःकाल तुम्हारी पूजाके समय—पूजा समाप्त होते ही आ जाया करूँगा और मध्याह्नका प्रसाद पाकर अन्तर्धान हो जाऊँगा। इतने समयतक तुम्हारी गोदमें खेलूँगा। तुम जैसा कुछ मेरा लाड़-प्यार करना चाहोगी, वैसा ही मैं स्वीकार करूँगा। तुम्हें जिस तरह सुख मिलेगा, मैं वही करूँगा। और इस लीलाका आनन्द केवल तुम्हें ही नहीं, तुम्हारे पति तथा गुरु एवं मेरे भक्त सदाशिवको भी मिलेगा और अन्तमें तुम दोनों मेरे दिव्यधाममें जाकर मेरी नित्य सेवाका अधिकार प्राप्त करोगे।'

इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। सदाशिव इस समय घरपर नहीं थे, अतः वे इस अपूर्व लाभसे वञ्चित रहे। मालतीका तो जीवन ही बदल गया। सच्चा मनोरथ, उत्कट अनिवार्य एकान्त इच्छा और भगवान्की कृपापर सुदृढ़ विश्वास होनेसे क्या नहीं हो सकता।

श्रीभगवान्के अन्तर्धान होनेके बाद मालतीकी स्थिति कुछ दूसरी ही हो गयी। 'कल प्रातःकाल भगवान् मेरे पुत्र बनकर पधारेंगे' बस, इस उमंगमें वह बावली-सी हो गयी। रातभर प्रतीक्षा करते बीती। कब पूजा समाप्त हो, कब श्यामसुन्दर पधारें। पूजा ज्यों-त्यों पूरी हुई। सदाशिवजी भी पास बैठे थे। इतनेमें ही मालतीकी गोदमें एक अत्यन्त मनोहर श्यामवर्ण दो-ढाई वर्षका बालक आकर बैठ गया। कैसे आया, कहाँसे आया, पता नहीं। बालकको देखते ही सदाशिव और मालती—प्रेमविभोर हो गये। बालक मानो पेटका जाया हुआ है, माँको पूरा-पूरा पहचानता है। इस प्रकारसे स्तनपानकी चेष्टा करने लगा। मालती प्रौढ़ावस्थामें पहुँच गयी थी। पर उसके स्तनोंसे दूधकी धार बह निकली। बालक बड़े चावसे स्तनपान करने लगा। अबतक मालतीको स्मरण था कि भगवान् ही मेरी गोदके पुत्र होकर पधारे हैं, पर भगवान्की लीलाशक्तिकी अनोखी व्यवस्था है, मालती भूल गयी कि ये भगवान् हैं और अपनी कोखसे पैदा हुए बच्चेकी भाँति श्यामसुन्दरको हृदयसे लगाकर उनका मुख चूमने लगी। यही दशा सदाशिवकी थी। कुछ देर यह स्थिति रही। फिर भगवान्ने अपनी माया हटायी। तब दम्पति भगवान्का स्तवन करने लगे। फिर भगवान्की आज्ञासे बालभोग बना। भगवान्ने मुसकराते हुए बालभोग लिया। इतनेमें मध्याह्न हो गया और कल फिर आनेकी बात कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

जब भगवान् आते, तब भगवान्की कृपाशक्तिके कारण मालती-सदाशिवको उनकी भगवत्ताका विस्मरण हो जाता। वे पुत्रकी भाँति लाड़-प्यार करते। जाते समय भगवान् अपनी भगवत्ता जना देते। यों आठ वर्षतक उसी दो-ढाई वर्षकी अवस्थाके भगवान् लगातार प्रतिदिन दोपहरतक उन्हें पुत्र-सुख देते रहे। अन्तमें कार्तिककी एकादशीके दिन भगवान्ने कहा—'बस, आज तुम्हें गोलोक जाना है। मैं तुम्हारे सामने रहूँगा।' मध्याह्नके समय दोनोंके भगवान्के देखते-देखते प्राण प्रयाण कर गये। भगवान् अन्तर्धान हो गये। पड़ोसियोंमें भी कुछ-कुछ चर्चा फैल चुकी थी। सबने आदरपूर्वक उनका अन्त्येष्टि-संस्कार किया। भगवान्की कृपासे दोनों भगवान्के पार्षद बनकर उनके धाममें पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

कृपा कृपामयकी सदा करती है कल्यान।
निज निश्चय अनुसार ही मिलते हैं भगवान॥

कामके पत्र

आर्त-प्रार्थना करो

प्रिय भाई! सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे दुःखसे मुझे भी बड़ा दुःख है। मैं चाहता हूँ तुम दुःखसे मुक्त हो जाओ, परंतु यह मेरे हाथकी बात नहीं है। तुम्हारे सद्भावके प्रति मेरे मनमें बड़ा आदर है, परंतु मैं तुम्हें यह विश्वास कभी नहीं दिला सकता कि मैं ऐसा कोई चमत्कार कर दूँगा, जिससे रातोंरात तुम्हारा संकट टल जायगा और तुम अपने मनोरथके अनुसार उच्च स्थितिको प्राप्त हो जाओगे। कोई यदि किसीको ऐसा विश्वास दिलाता है कि 'मैं जादूकी तरह तुम्हारी स्थिति बदल दूँगा' तो वह या तो स्वयं भ्रममें है या ठग है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि महात्मा पुरुषोंमें ऐसी क्षमता होती ही नहीं। होती है, पर वैसे पुरुष संसारमें इस समय बहुत थोड़े हैं और यदि कोई हैं तो वे भगवान्के मङ्गलमय विधानको बदलनेका आग्रह नहीं करते। वे भगवान्के मङ्गलमय विधानमें विश्वास करते हैं और वे इस बातको भलीभाँति जानते हैं कि यहाँका हानि-लाभ वास्तवमें हानि-लाभ है ही नहीं। वे महापुरुष जिस स्तरपर रहते हैं, उस स्तरसे यहाँके समस्त परिवर्तनोंमें उन्हें भगवान्की लीला-माधुरी दिखायी देती है। उसमें न दुःख है, न शोक है, न विनाश है, न हानि है—है केवल विविध विचित्र भङ्गिमाओंमें भगवान्का आत्मप्रकाश, उनका लीलाविलास। ऐसी अवस्थामें वे कौन-सी हानिको लाभमें परिवर्तित करने जायँगे। उनको तो प्रत्येक स्थितिमें भगवान्के मधुर पद-निक्षेपसे झंकृत मधुर नूपुरोंकी ध्वनि सुनायी देती है। अतएव उन महापुरुषोंके द्वारा पारमार्थिक कल्याणके सिवा लौकिक लाभकी आशा नहीं रखनी चाहिये। तुम स्वयं भी ऐसा ही कहा करते हो। परंतु तुम्हारा भी दोष क्या है। बुद्धिमें अभीतक विषय-सुखका विश्वास बना हुआ है और हृदयमें मान-प्रतिष्ठा, नामकी इज्जत, शरीरके आराम और बहुत ऊँचे स्टाइलसे रहनेकी कामना प्रबल है। इसीसे तुम जब अनुचित साधनोंसे भी संकट टालने और सुख प्राप्त करनेकी बात सोचते हो तब 'किसी महात्माके द्वारा काम हो जाय तो बड़ा उत्तम है'—यह सोचना स्वाभाविक ही है; परंतु न तो मैं महात्मा हूँ और न मेरी दृष्टिमें ऐसे कोई अन्य महात्मा ही हैं, जिनका नाम तुम्हें बता सकूँ या जिनसे तुम्हारे लिये मैं अनुरोध कर सकूँ। यह मैंने तुमको स्पष्ट इसीलिये लिखा है कि तुमको इस झूठी आशाके कारण दुखी न होना पड़े।

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि जबतक मनुष्य संसारके प्राणी-पदार्थोंसे सुखकी आशा रखता है और अनुकूलरूपमें उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील रहता है, तबतक उसे सुख-शान्ति मिल ही नहीं सकती। संसारमें संसारके पदार्थोंको लेकर आजतक न कोई सुखी हुआ, न हो सकता है। तथापि जबतक यह सत्य मनुष्यकी समझमें नहीं आता, तबतक उसे अनुकूल स्थितिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना ही पड़ता है। परंतु कम-से-कम वह प्रयत्न ऐसा तो होना ही चाहिये, जो नयी दुर्गतिका कारण न बने। वह निर्दोष प्रयत्न है—भगवान्से प्रार्थना करना एकनिष्ठ होकर, जैसे द्रौपदी, गजराज आदिने की थी। मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार भगवान्से प्रार्थना करनेवालेकी दुर्गति होती ही नहीं, उसकी अभीष्ट-सिद्धि भी सहज ही हो सकती है, अथवा भगवान्की कृपासे उसका हृदय ही विषयकामनाकी गंदगीसे शुद्ध हो जा सकता है। अतएव भैया! तुम कातर हृदयसे, विश्वासपूर्वक आर्त-प्रार्थना करो। इससे अच्छी सलाह मैं और दे ही नहीं सकता; क्योंकि मुझे इससे अच्छे किसी साधनकी न तो जानकारी है और न मेरा विश्वास ही है।

पर यह निश्चय रखना चाहिये कि भगवान् मङ्गलमय हैं, अतएव उनका प्रत्येक विधान भी मङ्गलमय है। यदि वे समझेंगे कि अमुक स्थितिकी प्राप्ति होनेपर हमारा अकल्याण होगा तो हमारे चाहने और प्रार्थना करनेपर वे उस स्थितिकी प्राप्ति नहीं होने देंगे और वास्तवमें उसीमें हमारा कल्याण भी होगा।

तुम्हारे संकटसे नहीं, परंतु तुम्हारे इस संकटजनित मानस-दुःखको देखकर कई बार मेरे चित्तमें बड़ी उद्विग्नता हो जाती है, पर फिर जब मङ्गलमय भगवान्की सहज सुहृदताका ध्यान आता है, तब यह जानकर संतोष हो जाता है कि वे तुम्हारा अमङ्गल तो होने देंगे ही नहीं। जो कुछ भी विधान करेंगे, वह प्रतिकूल दीखनेपर भी परिणाममें होगा तो वह मङ्गल करनेवाला ही।

घबराओ मत, प्रभुकी कृपापर विश्वास करो और जहाँतक बने असत्-पथका आश्रय न लेकर विपत्तिनाशके लिये भगवान्से आर्त-प्रार्थना करो। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करेंगे। शेष भगवत्कृपा।

रजि० सं० ए० १७५

श्रीहरिः

तीन नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयी !!

विदुरनीति

(सरल हिंदी-अनुवादसहित)

आकार ५×७॥, पृष्ठ-संख्या १६८, मूल्य ॥-) मात्र । डाकखर्च ≡), रजिस्ट्री-खर्च ।=), कुल १=) ।

महाभारत, उद्योगपर्व (प्रजागरपर्व) के ३३वेंसे ४०वें अध्यायतकका अंश विदुरनीतिके नामसे प्रसिद्ध है । इसमें विदुरजीने महाराज धृतराष्ट्रको धर्म, सदाचार, न्यायपरायणता, स्वार्थत्याग, परोपकार, सत्य, क्षमा, अहिंसा और निर्लोभता आदिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए राजधर्मका उपदेश दिया है । यह पुस्तक सभीके लिये अत्यन्त उपादेय है । इसे संस्कृतकी प्रथमा-परीक्षामें रक्खा गया है, जिससे संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये भी यह बड़े कामकी वस्तु है । विस्तृत विषय-सूची देनेसे श्लोकोंके भाव समझनेमें और भी सुविधा हो गयी है ।

बड़ोंके जीवनसे शिक्षा

आकार ५×७॥, पृष्ठ-संख्या ११२, सुन्दर रंगीन टाइटल, मूल्य ।=) मात्र । डाक-खर्च =), रजिस्ट्रीखर्च ।=), कुल ॥।=) ।

इस पुस्तकमें सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र, महाराज रघु, महाराज दिलीप, महाराज शिवि, महाराज रन्तिदेव, महर्षि दधीचि, लिखित मुनि, दानी कर्ण, राजकुमार कुणाल, संयमराय, राजा हमीर, रघुपतिसिंह, पन्ना धाय, भामाशाह, छत्रपति महाराज शिवाजी, माहाता शैसा, सर गुरुदास आदि महापुरुषोंके जीवन-परिचयके साथ उनके जीवनके महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग संकलित किये गये हैं । विद्वान् लेखकने यह बहुत ही सुन्दर संकलन थोड़े-से शब्दोंमें कर दिया है । सभी स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध तथा विद्यार्थी भाइयोंको इस पुस्तकसे विशेष लाभ उठाना चाहिये ।

गायका माहात्म्य

आकार ५×७॥, पृष्ठ-संख्या २०, मूल्य)॥ मात्र । डाकखर्च अलग ।

इस पुस्तकमें गायके माहात्म्यविषयक वेदों, पुराणों तथा सभी मतावलम्बी महापुरुषोंके १०० वचन संकलित किये गये हैं ।

तीनों पुस्तकोंका एक साथ मँगानेपर मूल्य ॥≡)॥, डाकखर्च ।-)॥, रजिस्ट्रीखर्च ।=), कुल १॥≡) ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वर्ष २८]

[अंक ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०११, सितम्बर १९५४

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीसिद्धि-गणराज

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्धयै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०११, सितम्बर १९५४ { संख्या ९
पूर्ण संख्या ३३४

श्रीसिद्धि-गणराज

रक्त वर्ण शुभ, एकदंत शुचि ध्वज, मूषक, शोभित शशि भाल ।
कम्बु कमल, भुज अष्ट, पाश पुस्तक त्रिशूल कर चक्र सुमाल ॥
गज-मुख-धान्य-मंजरी राजत, विपद-विघ्नवारण शुभधाम ।
अखिल अमंगलहर, हर-सुत, श्रीसिद्धिसहित गणराज प्रणाम ॥

कल्याण

याद रक्खो—जबतक किसी वस्तुका मनमें महत्त्व है, जबतक उसकी ओर देखकर मन ललचाता है, जबतक 'किसीके पास वह वस्तु है' इसलिये उसे सौभाग्यवान् तथा ईश्वरका कृपापात्र समझा जाता है, जबतक उस वस्तुका अपने पास न होना अभागयका चिह्न माना जाता है, जबतक उसकी आवश्यकताका अनुभव होता रहता है और उसके प्राप्त होनेपर अभाव तथा कष्टका नाश एवं सुख-सुविधाकी प्राप्ति होगी, ऐसी धारणा रहती है, तबतक मनुष्य उसकी कामनासे कभी मुक्त नहीं हो सकता। उसमें निष्कामभाव नहीं आ सकता।

याद रक्खो—'निष्काम' शब्दके रटनेसे तुम निष्काम नहीं हो सकते। निष्कामभाव मनमें आता है और वह तभी आवेगा जब तुम जिस वस्तुकी कामना करते हो, उस वस्तुमें तुम्हारी दुःख-दोष-बुद्धि, मलिन-बुद्धि, 'वह तुम्हारे लिये हानिकारक है, तुम्हारे यथार्थ सुख-सुविधामें बाधक है' ऐसी बुद्धि और उसमें असत्-बुद्धि वस्तुतः हो जायगी।

याद रक्खो—मलको उठाकर कोई शरीरपर लेपना नहीं चाहता, उलटीको कोई मनुष्य चाटना नहीं चाहता, विषको कोई खाना नहीं चाहता, दुःखको कोई सिर चढ़ाकर स्वीकार नहीं करता, रोगसे कोई प्रीति नहीं करना चाहता। इसी प्रकार जब इस लोक और परलोकके तमाम भोग-पदार्थोंमें, स्थितियों और अवस्थाओंमें तुम्हारी मल-बुद्धि, वमन-बुद्धि, विष-बुद्धि, दुःख-बुद्धि और रोग-बुद्धि हो जायगी, वे सब इसी प्रकारके दिखायी देंगे, तब उनसे तुम्हारा मन आप ही हट जायगा। फिर उनमें न आसक्ति रहेगी, न मोह ही रहेगा। फिर उन्हें अपनाना, अपना बनाना, उनपर अपनी ममताकी मुहर लगाना, उनके न होनेपर छटपटाना, चले जानेपर शोक करना, चले जानेकी आशङ्कासे ही व्याकुल हो जाना, उनको प्राप्त करनेकी कामना या इच्छा होना—आदि बातें नहीं रहेंगी। कामनाका त्याग मनसे हुआ करता है, वाणीसे नहीं। सत्यकी कल्याणमयी सुन्दर प्रतिष्ठा मनमें ही हुआ करती है। अतएव तुम यदि जीवनमें निष्कामभाव लाना चाहते हो तो काम्य-वस्तुओंमें अनित्यता, मलिनता, दुःखरूपता और विनाशिताको देखो। भगवान्‌के बिना जितने भी भोग हैं—सब दुःख हैं, भयानक दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं—यह अनुभव करो। फिर उनकी ओर मनका प्रवाह अपने-आप ही रुक जायगा।

याद रक्खो—तुम्हारे मनका जो यह विश्वास है, तुम्हारी बुद्धिका जो यह निश्चय है कि भोगोंमें सुख है—चाहे यह विश्वास और यह निश्चय वाणीसे फूट न निकलता हो, पर तुम्हें भोगोंमें लगाये बिना नहीं रह सकता। तुम हजार निष्काम-शब्दकी रटना करो, निष्कामके महत्त्वका गुणगान करो। तुम सुखके लिये भोगोंका होना अनिवार्य समझोगे। तुम्हारा अन्तर्हृदय भोगोंके लिये छटपटाता रहेगा। तुम ऊपर चाहे जितना भी हँसो—तुम्हारा अन्तर भोगोंके अभावमें रोता-कलपता रहेगा। यही तो भोगकामना है। इसके रहते तुम निष्काम कैसे बनोगे?

याद रक्खो—भोग-पदार्थोंमें सुख-बुद्धि, आवश्यक-बुद्धि, आदर-बुद्धि जबतक रहेगी, तबतक भोगोंके प्रति, जिनके पास भोग-पदार्थ अधिक हैं उनके प्रति तथा जिन साधनोंसे भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति सुगम समझी जाती है, उन साधनोंके प्रति तुम्हारे मनमें सम्मान और प्रीतिका भाव होगा ही। तुम स्वयं उस सम्मान तथा प्रेमको प्राप्त करना चाहोगे और उसीमें अपना गौरव तथा सौभाग्य समझोगे। जिनके पास भोग-पदार्थ नहीं हैं या अपेक्षाकृत कम हैं, उन्हें तुम अभागा समझोगे, उनके प्रति सम्मान और प्रेमका भाव तुम्हारे मनमें तथा व्यवहारमें नहीं

होगा। तुम उनकी उपेक्षा करोगे। इसलिये तुम स्वयं भी इस अभाग्य, इस सम्मान तथा प्रेमके अभाव और लोगोंकी उपेक्षासे डरोगे। ऐसा होनेमें अपना दुर्भाग्य मानकर ऐसी स्थितिसे सर्वथा दूर रहना चाहोगे, जबतक इस प्रकारकी मनोवृत्ति रहेगी, तवतक कामनाके कठिन चंगुलसे तुम नहीं छूट सकोगे।

याद रक्खो—भोगसहित और भोगरहित सभी अवस्थाओंमें सर्वत्र भगवान् हैं इसलिये आदर सवका करो, सम्मान सवका करो, पर करो भगवान् समझकर, भोग समझकर नहीं। भोग समझकर करोगे तो भोगरहितमें तुम्हारी आदर या सम्मान-बुद्धि नहीं रहेगी। मनसे भोगोंके आदरका वहिष्कार कर दो—निकाल दो और वह तभी निकलेगा, जब भोगोंमें सुख-बुद्धि और आवश्यक-बुद्धिका सर्वथा अभाव हो जायगा। तब उनके अभावके जीवनमें एक भारमुक्त स्थितिकी, एक बड़े आश्वासनकी, एक अभूतपूर्व सुखकी और विलक्षण शान्तिकी अनुभूति होगी।

याद रक्खो—सुख-शान्ति वस्तुओंमें नहीं है, वह मनकी निष्काम-स्थितिमें ही है। जब तुम्हारा मन कामना और स्पृहासे रहित हो जायगा, जब तुम्हारी ममताकी वेड़ी कट जायगी एवं जब तुम्हारा अहंकार भगवान्‌के दिव्य चरणकमल-युगलमें समर्पित होकर धन्य हो जायगा, तभी तुम सच्ची शान्ति पा सकोगे और तभी तुम्हें यथार्थ सुखका शुभ साक्षात्कार होगा।

'शिव'

रमते हैं भगवान्

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, वार-एट्-ला)

खंड-खंडमें फिरें खोजते, सारे धर्मस्थान।
जन-जनके मन-मंदिर अंदर वसते हैं भगवान॥ १॥
भोली सूरत, तुतली वोली, मधुर-मधुर मुसकान।
धूलि-धूसरित शिशुके सँगमें खेल रहे भगवान॥ २॥
गोपी हँसी, खिलाया पतिने, निज कर ले जलपान।
उनकी प्रेमभरी चितवनपर रीझ रहे भगवान॥ ३॥
नारीका मातृत्व, विश्वका है अनुपम वरदान।
माताकी पावन ममतामें मिलते हैं भगवान॥ ४॥
सहता रहता घाम-शीतके कष्ट अनेक किसान।
उसके स्वेद-विंदुमें विंवित होते हैं भगवान॥ ५॥
किया समर्पित तन मन धन, सुन मातृ-भूमि-आह्वान।
नर-वरके उस कर्मयोगमें भास रहे भगवान॥ ६॥
लड़े देश-हित रणमें सैनिक, कर जीवन वलिदान।
शोणित-सिंचित उस भूतलपर विचर रहे भगवान॥ ७॥
रवि छिपनेपर पंछी लौटे निज-निज नीड-निधान।
उनके ललित कलित कलरवमें राचे हैं भगवान॥ ८॥
जमुना-तट वंशी-वट नीचे करें भक्त जन गान।
उनके भावभरे भजनोंमें रमते हैं भगवान॥ ९॥

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(२८)

साधकको विचार करना चाहिये कि मैं जो अपनेको मनुष्य मानता हूँ तो पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है। आहार, निद्रा, मैथुन आदि विषय-भोगोंका सुख तथा उनके वियोगका और मरनेका भय, यह सब तो उनमें भी होते हैं वरं मनुष्यकी अपेक्षा भी उनका विषय-सेवन अधिक नियमित और प्रकृतिके अनुकूल है।

विचार करनेपर माछ्म होगा कि उनकी अपेक्षा मनुष्यमें विवेकशक्ति अधिक है। उसके द्वारा वह यह समझ सकता है कि मैं वास्तवमें कौन हूँ। मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इत्यादि।

यदि मनुष्य इस विवेकशक्तिका आदर न करे, उसका सदुपयोग न करके भोगोंके सुखको ही अपना जीवन मान ले तो वह पशु-पक्षियोंसे भी गया-बीता है; क्योंकि पशु-पक्षी आदि तो कर्मफलभोगके द्वारा पूर्वकृत कर्मोंका क्षय करके उन्नतिकी ओर बढ़ रहे हैं, किंतु विवेकका आदर न करनेवाला मनुष्य तो उलटा अपनेको नये कर्मोंसे जकड़ रहा है। अपने चित्तको और भी अशुद्ध बना रहा है।

अतः साधकको चाहिये कि प्राप्त विवेकका आदर करके उसके द्वारा इस बातको समझे कि यह मनुष्य-शरीर उसे किसलिये मिला है, इसका क्या उपयोग है। विचार करनेपर माछ्म होगा कि यह साधन-धाम है। इसमें प्राणी अपना चित्त शुद्ध करके अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है।

चित्तशुद्धिके लिये यह आवश्यक है कि साधक ऐसे संकल्प न करे, जिनकी पूर्ति किसी दूसरेपर अवलम्बित हो, जिन्हें वह स्वयं पूरा न कर सकता हो; क्योंकि जो मनुष्य दूसरोंके द्वारा उपार्जित वस्तुओंसे या उनके परिणामसे अपने संकल्पोंकी पूर्ति चाहता है एवं करता और कराता रहता है उसके संकल्प चाहे कितने ही शुभ क्यों न हों, उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। अपने संकल्पोंको दूसरोंके द्वारा पूरा करानेवाला उनका ऋणी हो जाता है एवं उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है और पराधीनताकी वृद्धि होती है। पराधीन प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकता।

अपने द्वारा पूरे किये जानेवाले आवश्यक योग्य संकल्पोंको पूरा करा देना चाहिये; किंतु उनकी पूर्तिके रसका भी उपभोग नहीं करना चाहिये। इसके उपभोगसे रागकी वृद्धि होती है और अन्तःकरण अशुद्ध होकर उसमें पुनः संकल्पोंकी बाढ़ आ जाती है।

साधकको हरेक प्रवृत्तिद्वारा दूसरोंके अधिकार और संकल्पोंकी रक्षा और पूर्ति करते रहना चाहिये। दूसरोंपर अपना कोई अधिकार नहीं मानना चाहिये और उसमें भी ऐसा अभिमान तो कभी नहीं करना चाहिये कि मैंने दूसरोंका कोई उपकार किया है, बल्कि यह समझना चाहिये कि इन्हींके लिये प्राप्त हुई शक्ति और पदार्थ मैंने इनको दिये हैं। इसमें मेरा कुछ नहीं है। जैसे कोई डाकिया डाकघरसे प्राप्त रुपयोंको या पारसलको पानेवाले व्यक्तिके पास पहुँचा देता है तो उसमें उसका उस व्यक्तिपर कोई अहसान नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि अपना कर्तव्य ठीक-ठीक पालन करनेके नाते उसे सरकारकी प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसी प्रकार प्राप्त शक्तिका सदुपयोग करनेसे साधकको भी भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करनेके लिये अर्थात् उनके मनमें उत्पन्न संकल्पकी पूर्तिद्वारा उनकी प्रसन्नताके लिये साधकको कोई आवश्यक वस्तु लेनी पड़े या कोई उनके द्वारा किया हुआ काम स्वीकार करना पड़े तो वह चित्तकी अशुद्धिका हेतु नहीं है। उसमें साधकको यह भाव रखना चाहिये कि यह शरीर भी भगवान्‌का ही है। अतः भगवान्‌ने इनके द्वारा अपने-आप जो इस शरीरके लिये आवश्यक वस्तु प्रदान की है, उसे इनसे लेकर, इसके उपभोगमें लगा देना है, यह भी देना ही है; परंतु इसमें भी उपभोगके रसका सङ्ग नहीं होना चाहिये, क्योंकि रसका उपभोग करनेसे अपने शरीरमें अहंभाव और जिनके द्वारा संकल्पोंकी पूर्ति की जाती है, उन व्यक्तियोंमें आसक्ति हो जाती है। इससे चित्तमें अशुद्धि बढ़ती है।

प्राप्त शक्तिका उपयोग अपने संकल्पोंकी पूर्तिमें तो पशु-पक्षी भी करते हैं। वही काम यदि मनुष्य भी करता रहे तो उसमें मनुष्यशरीरकी क्या विशेषता हुई। अतः साधकको समझना चाहिये कि जिस प्रकारकी जो कुछ भी शक्ति भगवान्‌ने दूसरोंको देनेके लिये अर्थात् उनकी प्रसन्नता और हितमें लगानेके लिये प्रदान की है, उसका उपयोग भगवान्‌के आज्ञानुसार कर देना ही मनुष्यता है।

इतना करनेपर भी सर्वथा चित्तशुद्धि नहीं होती; क्योंकि जबतक शरीरमें अहंता-ममता रहती है, तबतक किसी-न-किसी प्रकारका रस अर्थात् आसक्ति रहती है। आसक्तिके रहते हुए संकल्पोंका जाल नहीं टूटता। किसी-न-किसी प्रकारकी चाह बनी रहती है। यह चाह ही चित्तकी अशुद्धि है। अतः साधकको अहंता-ममताका त्याग कर देना चाहिये।

मनुष्यकी चाहके दो भेद होते हैं—एक तो दृश्यकी चाह, जो कि उसका पतन करनेवाली है। जैसे नदियोंमें नीचेकी ओर बहनेवाला जल समुद्रमें पहुँच जाता है। वहाँसे बादल बनकर बरसता है और झरनों तथा नलोंके द्वारा पुनः नदीमें आकर समुद्रमें चला जाता है। इसी प्रकार इस दृश्यकी चाह करनेवाला मनुष्य भी जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़कर नाना योनियोंमें भटकता रहता है। दूसरी उस प्रेमास्पदकी चाह जिससे यह दृश्यवर्ग—सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। जो इसका प्रकाशक और इसे सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है। यह चाह साधकको उस प्रेमास्पदसे मिला देती है। अर्थात् शरीर और संसारमें अहंता-ममता न रहनेके कारण जिस साधककी दृश्य-जगत्‌में कहीं भी आसक्ति नहीं रही है, भोगवासना न रहनेके कारण चाहका सर्वथा अभाव हो गया है, जो एकमात्र भगवान्‌पर विश्वास करके उन्हींको अपना मानता है एवं जिसके मन-बुद्धि-अहंभाव आदि एकमात्र भगवत्प्रेमके रूपमें बदल गये हैं, भगवान्‌का प्रेम ही जिसका जीवन है, वह अपने प्रेमास्पदको पा लेता है और नित्य-नव अनन्त प्रेमरसका अनुभव करता रहता है।

जो समस्त दृश्यवर्गकी चाहकी निवृत्ति कर देता है, उस चाहरहित साधकको जो दिव्य आनन्द मिलता है, वह चाहयुक्त प्राणीको चाहकी पूर्तिमें कभी नहीं मिलता। यह संतोंके अनुभवकी बात है। जिसको विश्वास न हो, वह अधिक नहीं तो, दो-चार मिनट चाहरहित होकर देख ले। चाहरहित होनेके कालमें उसे वह सुख मिलेगा, जो उसके जीवनमें चाहकी पूर्तिसे कभी नहीं मिला; क्योंकि चाहकी पूर्तिमें वास्तविक सुख नहीं मिलता। सुखकी प्रतीति होती है जो कि दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाती है।

(२९)

प्रश्न—गीतामें निष्कामकर्मके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है। हमलोग गृहस्थ हैं।

हमलोगोंके लिये लौकिक उन्नतिकी चेष्टा करते हुए निष्काम कर्म करना बड़ा कठिन है, तो कैसे करना चाहिये ?

उत्तर—लौकिक उन्नति और पारलौकिक उन्नति अर्थात् भगवत्प्राप्तिके साधन अलग-अलग नहीं हैं। जो वास्तविक लौकिक उन्नतिका साधन है, वही पारलौकिक उन्नतिका भी साधन है। इन दोनोंका भेद मानकर लोग अपने कर्तव्यमें भूल कर बैठते हैं। वास्तवमें लौकिक उन्नतिवाला वही है कि जिसकी आवश्यकता हो जाय, संसारमें जो बड़े आदमी समझे जाते हैं, वे भी जिसके पीछे-पीछे फिरते रहें और उनकी कोई वस्तु वह अपने उपयोगमें ले ले तो लोग अपना अहोभाग्य समझें।

जो मनुष्य दूसरोंसे कुछ लेना चाहता है, अपने सुखका आधार दूसरोंको मानता है, दूसरोंसे आशा लगाये रहता है, वह क्या उन्नतिशील कहा जा सकता है ? वह तो चाहे कितना भी बड़ा वैभवशाली क्यों न हो, दरिद्री ही है। उन्नतिशील तो वही है जो प्राप्त विवेकका आदर और बलका सदुपयोग करता है। दूसरोंके हितमें अपने तन, मन, धनको लगा देता है। लोभी मनुष्य कभी भी उन्नतिशील नहीं हो सकता।

विचार करना चाहिये कि कर्म करनेका विधान किस लिये है ? विचार करनेपर मालूम होगा कि मनुष्यमें जो क्रियाशक्तिका वेग है, उसकी जो कर्म करनेमें आसक्ति है, उसे मिटानेके लिये ही कर्मोंका विधान है। अत: अपने स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जो कर्म कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुआ है, उसे खूब सावधानीके साथ उत्साहपूर्वक साङ्गोपाङ्ग पूरा कर दे; किंतु उस कर्मके फलरूपमें प्राप्त होनेवाले पदार्थोंसे अपना मूल्य अधिक समझे। उनके बदलेमें अपने आपको वेचे नहीं; क्योंकि जो कर्मसे प्राप्त होनेवाले फलसे अपना मूल्य कम कर लेता है, उनके बदलेमें अपनेको बेच देता है, वह न तो वास्तविक लौकिक उन्नति कर सकता है और न पारलौकिक उन्नति ही कर सकता है। वह उन वस्तुओंकी दासताके कारण सदैव अभावका ही अनुभव करता रहता है।

जो यह समझता है कि यदि मुझे कर्मसे कुछ लेना ही नहीं है तो मैं कर्म क्यों करूँ। वह भी कर्मको ठीक-ठीक नहीं कर सकता। आलसी बन जाता है। जो फलके लालचसे कर्म करता है, उसका लक्ष्य भी कर्मकी सुन्दरतापर नहीं रहता। अत: वह भी करनेयोग्य कर्मको ठीक-ठीक पूरा नहीं कर सकता। लोभके वशमें होकर वह उस कर्ममें अनेक प्रकारकी त्रुटियोंका समावेश कर लेता है। कर्मको साङ्गोपाङ्ग तो वही कर सकता है, जिसके मनमें फलका लालच नहीं है, किंतु कर्त्तव्य-कर्मको साङ्गोपाङ्ग पूरा करना ही-जिसका उद्देश्य है।

कर्मका जो दृश्य फल है, वह तो कर्त्ता चाहेगा तो भी होगा और न चाहेगा तो भी होगा। चाहने और न चाहनेसे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। जैसे भोजन करनेसे भूखकी निवृत्ति तो दोनोंकी ही होगी; परंतु जो स्वादके लालचसे भोजन करेगा, वह कर्म-विधानके विपरीत वस्तुओंको खाकर उलटा अपना अहित कर लेगा। इसी प्रकार व्यापारमें भी समझ लेना चाहिये। व्यापारमें लाभ या हानि तो जो होनी है, वही होगी; परंतु जो मनुष्य लाभके लालचसे और हानिके भयसे युक्त होकर व्यापार करेगा, वह उस व्यापारमें उन नियमोंका भी यथायोग्य पालन नहीं कर सकेगा, जिनका लौकिक उन्नतिकी दृष्टिसे पालन करना चाहिये।

इससे यह सिद्ध हुआ कि निष्काम कर्ममें कोई कठिनाई नहीं है, बल्कि सकामकी अपेक्षा निष्काम ही सुगम है और वही लौकिक उन्नतिका भी उपाय है।

जो सम्पत्तिशाली मनुष्य लोभके वश होकर उस

सम्पत्तिका सदुपयोग नहीं करता, उससे निर्धनोंके अभावकी पूर्ति नहीं करता, वह लोकमें भी उन्नतिशील नहीं माना जाता तथा जो निर्धन मनुष्य धनकी कामनाका त्याग नहीं करता, वह भी सुखी नहीं हो सकता। अतः लौकिक उन्नतिके लिये भी सब प्रकारसे कामनाका त्याग आवश्यक है।

जो साधक अपने स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप कर्तव्यरूपसे प्राप्त कर्मको बिना किसी प्रकारके फलकी चाहके ठीक-ठीक पूरा कर देता है, जिस प्रकार उसे करना चाहिये, ठीक वैसे ही करता है, आलस्य या प्रमादवश उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं करता, शौच जाना, स्नान करना, जीविकाके कर्म करना, सेवारूप कर्म करना, भोजन करना, शयन करना आदि जितने भी आवश्यक कर्म हैं, सबको जो यथायोग्य-समय भलीभाँति कुशलता और उत्साहपूर्वक पूरा कर देता है, उस कर्तव्यपालनसे उसकी क्रियाशक्तिका वेग और कर्म करनेकी आसक्ति मिटती जाती है। चित्त शुद्ध हो जाता है। भोगवासना नष्ट हो जाती है। किसी प्रकारकी चाह न रहनेसे चित्त निर्विकल्प हो जाता है। फिर योगसे सामर्थ्य, विवेकसे बोध और वैराग्यसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होकर उसका परलोक भी सब प्रकारसे सुधर जाता है।

प्रश्न—भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि शरीररूप यन्त्रपर चढ़े हुए प्राणियोंको उनके हृदयमें स्थित परमेश्वर घुमाता है अर्थात् उनसे कर्म करवाता है, तब फिर उनका फल प्राणियोंको क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर—क्रियामें और कर्ममें अन्तर है। उस अन्तरको समझ लेनेपर इसका उत्तर हल हो जायगा। जिसमें कोई कर्ता नहीं होता, जो किया नहीं जाता, अपने-आप होता है जैसे हवासे पेड़ोंका हिलना आदि, वह तो क्रिया है। और जो कर्ता बनकर राग-द्वेषपूर्वक किया जाता है, वह कर्म है। अतः जिसका सचमुच यह भाव है कि जो कुछ हो रहा है वह ईश्वरकी शक्ति और प्रेरणासे ही हो रहा है। मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भावसे जो अपनेको सर्वथा असङ्ग समझ लेता है, न तो उस कर्मका कर्ता बनता है और न उसमें आसक्त होता है। वह भोक्ता भी नहीं होता। उसके द्वारा होनेवाला कर्म वास्तवमें कर्म नहीं है। वह तो क्रियामात्र है। अतः उसका कोई फल नहीं बनता; किंतु जो मनुष्य स्वयं किसी कर्मका कर्ता बनकर उसे आसक्तिपूर्वक, किसी प्रकारकी फल-कामनासे करता है, उसे उस कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है। जो कर्ता है वही भोक्ता है।

प्रश्न—कुन्तीदेवी सती मानी जाती हैं, किंतु सूर्य आदि देवताओंके द्वारा पुत्र उत्पन्न करनेपर भी उनका सतीत्व अक्षुण्ण कैसे रहा, यह समझमें नहीं आता, अतः इसे समझाइये।

उत्तर—उस समय आजकलकी-सी परिस्थिति नहीं थी। उन लोगोंको धर्मका ज्ञान था और धर्ममें निष्ठा थी। स्त्रियोंके मुख्य दो धर्म माने गये हैं—एक तो सतीधर्म, दूसरा साध्वीधर्म। सतीधर्म तो वह है जिसमें पतिको ही परमेश्वर मानकर सर्वस्व उसके समर्पण किया जाता है और साध्वीधर्म वह है जिसमें परमेश्वरको ही पति मानकर उन्हें सर्वस्व समर्पण किया जाता है। मीराँ, गोपियाँ और उसी ढंगकी अन्य स्त्रियाँ तो साध्वीधर्मका पालन करनेवाली थीं। कुन्तीदेवी सती-धर्मका पालन करनेवाली थीं। सती स्त्रीका एक पतिके सिवा और कुछ भी अपना नहीं रहता। वह शरीर, घर आदि किसीपर अपना अधिकार नहीं मानती। सब कुछ पतिका ही मानती है। वह जो कुछ करती है, पतिके लिये ही करती है। पतिकी प्रसन्नता और हित ही एकमात्र उसका लक्ष्य होता है। कुन्तीके सामने परिस्थिति ऐसी थी कि शापके भयसे पाण्डु स्त्रीसहवास कर नहीं सकते। यदि करें तो उनकी मृत्यु हो जाय। पाण्डुके मनमें पुत्रकी वासना थी। अतः उन्होंने उस वासनासे प्रेरित होकर जब कुन्तीसे अपने मनकी बात कही, तब कुन्तीने सब हाल कह सुनाया कि 'मुझे दुर्वासासे मन्त्र प्राप्त हुए हैं, उनसे मैं

देवताओंको बुलाकर पुत्र उत्पन्न कर सकती हूँ ।' तब पाण्डुने आज्ञा दी कि तुम देवताओंसे पुत्र उत्पन्न करो । इस परिस्थितिमें कुन्तीने बिना किसी भोग-वासनाके एकमात्र पतिकी प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञाका पालन किया । इससे उसका सतीत्व क्षीण क्यों होता ? उसने तो जो कुछ किया, वह सती-धर्मका ही पालन किया । वह शरीरको अपना थोड़े ही मानती थी । वह तो उसपर अपने पतिका ही पूरा अधिकार मानती थी ।

प्रश्न—कर्णकी उत्पत्तिके समय तो उसका विवाह नहीं हुआ था । उस समय उसका धर्म कैसे सुरक्षित रहा ?

उत्तर—उस समय कुन्ती अविवाहिता थी । अतः उसके शरीरपर दूसरे किसीका तो अधिकार था नहीं । उसने ऋषिद्वारा प्राप्त मन्त्रोंकी परीक्षा करनेके लिये बिना किसी प्रकारकी भोग-वासनाके सद्भावपूर्वक सूर्यका आवाहन किया था । सूर्यदेवके प्रत्यक्ष होनेपर उसने स्पष्ट शब्दोंमें इन्कार कर दिया कि मैंने तो आपका दर्शन करनेके लिये ही बुलाया था, किसी प्रकारकी कामनासे प्रेरित होकर नहीं । इसपर भी सूर्यने कहा कि मेरा आना व्यर्थ नहीं हो सकता । अतः तुम्हारे गर्भसे पुत्र तो होगा परंतु तुम्हारे कौमार्यका नाश नहीं होगा ।

इस घटनासे कुन्तीको तो इसलिये कोई दोष नहीं लगा कि उसने अपनी इच्छासे वह काम नहीं किया । उसे विवश होकर करना पड़ा ।

सूर्यको इसलिये दोष नहीं लगा कि देवयोनि भोगयोनि है । उसमें नये कर्म नहीं बनते । उसके कर्मोंका फल नहीं बनता ।

प्रश्न—क्या आजकल भी कोई स्त्री अपने पतिकी आज्ञासे ऐसा कर सकती है ?

उत्तर—यदि कोई कुन्ती-जैसी सती स्त्री हो, जिसमें किञ्चिन्मात्र भी भोग-वासना न हो तथा देवता दिव्यभावसे जिसके बुलानेपर आ जायँ और पाण्डु-जैसा धर्मात्मा पति आज्ञा देनेवाला हो तो कोई आपत्ति नहीं । परंतु वैसी परिस्थिति इस समय नहीं है । देश-कालके अनुसार धर्मके बाह्यस्वरूपमें भेद होता है । आन्तरिक उद्देश्यमें नहीं । धर्माचरणका मुख्य उद्देश्य प्राणोंके रहते हुए वासनाओंसे रहित होना है, अतः धर्माचरण वही है जो मनुष्यको वासनारहित बनानेमें समर्थ हो ।

(३०)

चित्तकी अशुद्धिके अनेक कारण होते हैं और उसकी शुद्धिके उपाय भी अनेक हैं । उनमेंसे एक प्रधान कारण अभिमान भी है । अभिमान उसे कहते हैं जिससे मनुष्य किसी प्रकारके गुणके साथ अपनी एकता करके अपनेको दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ मानने लगता है ।

इस अभिमानके कारण मनुष्य जिनमें उस गुणका अभाव या कमी देखता है, उनको तुच्छ समझकर उनसे घृणा करने लगता है और जिनमें अपनेसे अधिक देखता है, उनसे ईर्ष्या करने लगता है । इस प्रकार घृणा और ईर्ष्याके कारण उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है ।

गुणके अभिमानसे मनुष्यको अपने दोषोंका दर्शन नहीं होता । अतः वह उनको हटा नहीं सकता । गुणोंका अभिमान स्वयं ही एक बड़ा भारी दोष है । उसके रहते हुए दूसरे दोषोंका नाश कैसे किया जा सके । संतोंका कहना है कि अभिमानी योगीसे पश्चात्ताप करनेवाला पापी अच्छा है । इसी प्रकार अच्छाईका अभिमान ही बुराईका मूल है ।

जो मनुष्य यह समझता है कि मैं सत्यवादी हूँ, उसमें कहीं-न-कहीं झूठ छिपी हुई है । यदि वह सचमुच सत्यवादी हो तो उसे यह भास ही नहीं होना चाहिये कि मैं सत्यवादी हूँ । अपितु सत्य बोलना उसका जीवन बन जाना चाहिये । जो गुण साधकका जीवन बन जाता है उसमें साधकका अभिमान नहीं होता । वह उसके कारण अपनेमें किसी प्रकारकी विशेषताका अनुभव नहीं करता । जबतक किसी गुणका गुणबुद्धिसे भास होता है, उसमें रसका अनुभव होता रहता है, तबतक मनुष्यमें अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति होती रहती है । अतः गुणके अभिमानसे चित्त अशुद्ध होता रहता है ।

गुणके अभिमानसे भेदबुद्धि उत्पन्न हो जाती है ।

जो समझता है कि मैं ईश्वरको मानता हूँ, आस्तिक हूँ और अमुक आदमी ईश्वर और धर्मको नहीं मानता, वह नास्तिक है। इस भेदभावके कारण जिसकी ईश्वरको न माननेवालेमें तुच्छ बुद्धि और द्वेष हो जाता है, वह उससे प्रेम नहीं कर सकता। बिना प्रेमके एकता नहीं होती। परंतु जो सच्चा आस्तिक होता है, उसको किसीमें भी घृणा या द्वेष नहीं होता। वह तो सबमें अपने प्रेमास्पदका दर्शन करता है। अतः सबसे प्रेम करता है।

साधकको विचार करना चाहिये कि मेरे स्वामीका कैसा स्वभाव है। वे मुझसे क्या आशा रखते हैं। क्या उनको न माननेवालेको वे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि तत्त्वोंके उपभोगमें उतनी ही स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करते, जितनी कि एक आस्तिकको करते हैं। यदि भगवान् उसके साथ भेद करें तो एक क्षणभर जीवित रहना भी उसके लिये असम्भव हो जाय, किंतु वे ऐसा नहीं करते। अतः वे अपने भक्तको भी वैसा ही आदेश देते हैं।

अपनेमें साम्यवादीपनका अभिमान रखनेवाला यदि उनसे द्वेष करता है, जो साम्यवादी नहीं हैं तो वह द्वेष करनेवाला क्या सच्चा साम्यवादी है? क्या उसमें समता है?

इसी प्रकार हरेक गुणके अभिमानमें समझ लेना चाहिये। गुणके अभिमानीमें गुणकी पूर्णता नहीं होती। जिसमें गुणकी पूर्णता होती है, उसमें अभिमान नहीं होता—यह इसकी कसौटी है।

गुणके अभिमानीको दूसरेमें दोष-ही-दोष प्रतीत होते हैं। इस कारण वह अपने दोषोंकी ओर नहीं देखता। उसमें गुणके अभिमानके कारण दोषोंकी पुष्टि होती चली जाती है। अतः साधकको चाहिये कि अपने दोषोंका निरीक्षण करे और उनका त्याग करे एवं पुनः उनको उत्पन्न न होने दे तथा गुणोंके अभिमानको दूसरे दोषोंसे भी बढ़कर दोष समझकर उसको कभी उत्पन्न न होने दे।

जो साधक गुणोंमें अभिमान नहीं करता, उनका रस लेकर उनमें बँधता नहीं और दोषोंको उत्पन्न नहीं होने देता, उसका चित्त शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।

कर्ममें और मान्यतामें भेद रहते हुए भी स्नेहकी एकता होनी चाहिये। कर्ममें और मान्यतामें भेद होना अनिवार्य है। इसे कोई मिटा नहीं सकता। अतः कर्मके भेदको लेकर या मान्यताके भेदको लेकर स्नेहमें भेद करना अर्थात् किसीमें राग और किसीमें द्वेष करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। इससे चित्तमें अशुद्धि आती है। अभिमान अधिकारकी लालसाको जाग्रत् करता है। उससे वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, जो परतन्त्रताकी मूल हैं। अपने कर्तव्यपालनसे दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना ही वास्तवमें अधिकार है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है। जो अपने अधिकारको भूलकर दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करते हैं, उनका हृदय प्रेमसे भर जाता है। उनको निर्वासना प्राप्त होती है। वासनारहित होना ही 'मुक्ति' और हृदयका प्रेमसे भर जाना ही 'भक्ति' है। सच्चा ईश्वरवाद अनीश्वरवादमें ईश्वरका दर्शन करता है। सच्चे साम्यवादीके हृदयमें सबके प्रति अगाध स्नेह रहता है।

जो मान्यता तथा जो सिद्धान्त मनुष्यको स्नेहसे दूर करके राग-द्वेषमें आबद्ध करते हैं, वे चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, उनसे चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त शुद्ध करनेके लिये तो साधकको अपना हृदय प्रेमसे भरना होगा और सभी वासनाओंका अन्त करना होगा। वह तभी सम्भव है जब साधक सब प्रकार अभिमानसे रहित होकर अपने अधिकारको भूल जाय। यही चित्त-शुद्धिका सुन्दर और सुगम उपाय है। तथा चित्त शुद्ध होनेपर ही साधक वास्तविक योग, बोध तथा प्रेमको प्राप्त कर सकता है। चित्त शुद्ध करनेमें साधक परतन्त्र नहीं है; क्योंकि चित्तशुद्धि अपने बनाये हुए दोषोंके त्यागसे होती है, जिसके करनेमें सभी साधक सर्वदा स्वतन्त्र हैं।

दानका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

दानमें महत्त्व है त्यागका, वस्तुके मूल्य या संख्याका नहीं। ऐसी त्याग बुद्धिसे जो सुपात्रको यानी जिस वस्तुका जिसके पास अभाव है, उसे वह वस्तु देना और उसमें किसी प्रकारकी कामना न रखना उत्तम दान है। निष्कामभावसे किसी भूखेको भोजन और प्यासेको जल देना सात्त्विक दान है। संत श्रीएकनाथजीकी कथा आती है कि वे एक समय प्रयागसे काँवरपर जल लेकर श्रीरामेश्वर चढ़ानेके लिये जा रहे थे। रास्तेमें जब एक जगह उन्होंने देखा कि एक गदहा प्यासके कारण पानीके विना तड़प रहा है, उसे देखकर उन्हें दया आ गयी और उन्होंने उसे थोड़ा-सा जल पिलाया, इससे उसे कुछ चेत-सा हुआ। फिर इन्होंने थोड़ा-थोड़ा करके सब जल उसे पिला दिया। वह गदहा उठकर चला गया। साथियोंने सोचा कि त्रिवेणीका जल व्यर्थ ही गया और यात्रा भी निष्फल हो गयी। तब एकनाथजीने हँसकर कहा—'भाइयो, बार-बार सुनते हो, भगवान् सब प्राणियोंके अंदर हैं फिर भी ऐसे बावले बनते हो! मेरी पूजा तो यहींसे श्रीरामेश्वरको पहुँच गयी। श्रीशङ्करजीने मेरे जलको स्वीकार कर लिया।'

एक महाजनकी कहानी है कि वह सदैव यज्ञादि कर्मोंमें लगा रहता था। उसने बहुत दान किया। इतना दान किया कि उसके पास खानेको भी कुछ न रह गया। तब उसकी स्त्रीने कहा—'पासके गाँवमें एक सेठ रहते हैं, वे पुण्योंको मोल खरीदते हैं, अतः आप उनके पास जाकर और अपना कुछ पुण्य बेचकर द्रव्य ले आइये, जिससे अपना कुछ काम चले।' स्त्रीके बार-बार कहनेपर वह जानेको उद्यत हो गया। उसकी स्त्रीने उसके खानेके लिये चार रोटियाँ बनाकर साथ दे दीं। वह चल दिया और उस नगरके कुछ समीप पहुँचा, जिसमें वे सेठ रहते थे। वहाँ एक तालाब था। वहीं शौच-स्नानादि कर्मोंसे निवृत्त होकर वह रोटी खानेके लिये बैठा कि इतनेमें एक कुतिया आयी। वह वनमें ब्यायी थी। उसके बच्चे और वह, सभी तीन दिनोंसे भूखे थे; भारी वर्षा हो जानेके कारण वह बच्चोंको छोड़कर शहरमें नहीं जा सकी थी। कुतियाको भूखी देखकर उसने उस कुतियाको एक रोटी दी। उसने उस रोटीको खा लिया। फिर दूसरी दी तो उसको भी खा लिया। इस प्रकार उसने एक-एक करके चारों रोटियाँ कुतियाको दे दीं। कुतिया रोटी खाकर तृप्त हो गयी। फिर, वह वहाँसे भूखा ही उठकर चल दिया तथा उस सेठके पास पहुँचा। सेठके पास जाकर उसने अपना पुण्य बेचनेकी बात कही। सेठने कहा—'आप दोपहरके बाद आइये।'

उस सेठकी स्त्री पतिव्रता थी। उसने स्त्रीसे पूछा—'एक महाजन आया है और वह अपना पुण्य बेचना चाहता है। अतः तुम बताओ कि उसके पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य सबसे बढ़कर लेने योग्य है।' स्त्रीने कहा—'आज जो उसने तालाबपर बैठकर एक भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, उस पुण्यको खरीदना चाहिये; क्योंकि उसके जीवनमें उससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है।' सेठ 'ठीक है'—ऐसा कहकर बाहर चले आये।

नियत समयपर महाजन सेठके पास आया और बोला—'आप मेरे पुण्योंमेंसे कौन-सा पुण्य खरीदेंगे?' सेठने कहा—'आपने आज जो यज्ञ किया है, हम उसी यज्ञके पुण्यको लेना चाहते हैं।' महाजन

बोला—'मैंने तो आज कोई यज्ञ नहीं किया । मेरे पास पैसा तो था ही नहीं, मैं यज्ञ कहाँसे कैसे करता ।' इसपर सेठने कहा—'आपने जो आज तालाबपर बैठकर भूखी कुतियाको चार रोटियाँ दी हैं, मैं उसी पुण्यको लेना चाहता हूँ ।' महाजनने पूछा—'उस समय तो वहाँ कोई नहीं था, आपको इस बातका कैसे पता लगा ?' सेठने कहा—'मेरी स्त्री पतिव्रता है, उसीने ये सब बातें मुझे बतायी हैं ।' तब महाजनने कहा—'बहुत अच्छा, ले लीजिये; परंतु मूल्य क्या देंगे ।' सेठने कहा—'आपकी रोटियाँ जितने वजनकी थीं, उतने ही हीरे-मोती तौलकर मैं दे दूँगा ।' महाजनने स्वीकार किया और उसकी सम्मतिके अनुसार सेठने अंदाजसे उतने ही वजनकी चार रोटियाँ बनाकर तराजूके एक पलड़ेपर रक्खीं और दूसरे पलड़ेपर हीरे-मोती आदि रख दिये; किंतु बहुतसे रत्नोंके रखनेपर भी वह (रोटीवाला) पलड़ा नहीं उठा । इसपर सेठने कहा—'और रत्नोंकी थैली लाओ ।' जब उस महाजनने अपने इस पुण्यका इस प्रकारका प्रभाव देखा तो उसने कहा कि 'सेठजी ! मैं अभी इस पुण्यको नहीं बेचूँगा ।' सेठ बोला—'जैसी आपकी इच्छा ।'

तदनन्तर वह महाजन वहाँसे चल दिया और उसी तालाबके किनारेसे, जहाँ बैठकर उसने कुतियाको रोटियाँ खिलायी थीं, थोड़े-से कंकड़-पत्थरों तथा काँचके टुकड़ोंको कपड़ेमें बाँधकर अपने घर चला आया । घर आकर उसने वह पोटली अपनी स्त्रीको दे दी और कहा—'इसको भोजन करनेके बाद खोलेंगे ।' ऐसा कहकर वह बाहर चला गया । स्त्रीके मनमें उसे देखनेकी इच्छा हुई । उसने पोटलीको खोला तो उसमें हीरा-पन्ने-माणिक आदि रत्न जगमगा रहे थे । वह बड़ी प्रसन्न हुई । थोड़ी देर बाद जब वह महाजन घर आया तो स्त्रीने पूछा—'इतने हीरे-पन्ने कहाँसे ले आये ?' महाजन बोला—'क्यों मजाक करती हो ?' स्त्रीने कहा—'मजाक नहीं करती, मैंने स्वयं खोलकर देखा है, उसमें तो ढेर-के-ढेर बेशकीमती हीरे-पन्ने भरे हैं ।' महाजन बोला—'लाकर दिखाओ ।' उसने पोटली लाकर खोलकर सामने रख दी । वह उन्हें देखकर चकित हो गया । उसने इसको अपने उस पुण्यका प्रभाव समझा । फिर उसने अपनी यात्राका सारा वृत्तान्त अपनी पत्नीको कह सुनाया ।

कहनेका अभिप्राय यह कि ऐसे अभावग्रस्त आतुरको दिये गये दानका अनन्तगुना फल हो जाता है, भगवान्‌की दयाके प्रभावसे कंकड़-पत्थर भी हीरे-पन्ने बन जाते हैं।

इस प्रकार दीन-दुखी, आतुर और अनाथको दिया गया दान उत्तम है । किसीके संकटके समय दिया हुआ दान बहुत ही लाभकारी होता है । अकाल या बाढ़के समय एक मुट्ठी चना देना भी बहुत उत्तम होता है । जो विधिपूर्वक सोना, गहना, तुलादान आदि दिया जाता है, उससे उतना लाभ नहीं, जितना आपत्तिकालमें दिये गये थोड़ेसे दानका होता है । अतः हरेक मनुष्यको आपत्तिग्रस्त, अनाथ, लूले, लँगड़े, दुखी, विधवा आदिकी सेवा करनी चाहिये । कुपात्रको दान देना तामसी दान है । मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये दिया हुआ दान राजसी है; क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा भी पतन करनेवाली है । आज तो यह मान-बड़ाई हमें मीठी लगती है, पर उसका निश्चित परिणाम पतन है । अतः मान-बड़ाईकी इच्छाका त्याग कर देना चाहिये, बल्कि यदि किसी प्रकार निन्दा हो जाय तो वह अच्छी समझी जाती है । श्रीकबीरदासजी कहते हैं—

> निन्दक नियरें राखिये, आँगन कुटी छवाय ।
> बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय ॥

इसलिये परम हितकी दृष्टिसे मान-बड़ाईके बदले संसारमें अपमान-निन्दा होना उत्तम है । साधकके लिये मान-बड़ाई मीठा विष है और अपमान-निन्दा

अमृतके तुल्य है। इसीलिये निन्दा करनेवालेको आदरकी दृष्टिसे देखना चाहिये। परंतु कोई भी निन्दनीय पापाचार नहीं करना चाहिये। दुर्गुण-दुराचार बड़े ही खतरेकी चीज है। इसलिये इनका हृदयसे त्याग कर देना चाहिये। अपने सद्गुणोंको छिपाकर दुर्गुणोंको प्रकट करना चाहिये। आजकल लोग सच्चे दुर्गुणोंको छिपाकर बिना हुए ही अपनेमें सद्गुणोंका संग्रह बताकर उनका प्रचार करते हैं, यह सीधा नरकका रास्ता है। अतः मान-बड़ाईकी इच्छा हृदयसे सर्वथा निकाल देनी चाहिये। संसारमें हमारी प्रतिष्ठा हो रही है और हम यदि उसके योग्य नहीं हैं तो हमारा पतन हो रहा है। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा चाहनेवालेसे भगवान् दूर हो जाते हैं; क्योंकि मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा पतनमें ढकेलनेवाली है। मान-बड़ाईको रौरवके समान और प्रतिष्ठाको विष्ठाके समान समझना चाहिये। यही संतोंका आदेश है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि सुपात्रको दिया गया दान दोनोंके लिये ही कल्याणकारी है। कुपात्रको दिया गया दान दोनोंको डुबानेवाला है। जैसे पत्थरकी नौका बैठनेवालेको साथ लेकर डूब जाती है, उसी प्रकार कुपात्र दाताको साथ लेकर नरकमें जाता है।

दानके सम्बन्धमें एक बात और समझनेकी है। बड़े धनी पुरुषके द्वारा दिये गये लाखों रुपयोंके दानसे निर्धनके एक रुपयेका दान अधिक महत्त्व रखता है; क्योंकि उसमें त्याग है। भगवान्के यहाँ न्याय होता है। ऐसा न होता तो फिर निर्धनोंकी मुक्ति ही नहीं होती। इस विषयमें एक कहानी है। एक राजा प्रजाजनोंके सहित तीर्थ करनेके लिये गये। रास्तेमें एक आदमी नंगा पड़ा था, वह ठंडके कारण ठिठुर रहा था। राजाके साथी प्रजाजनोंमें एक जाट था, उसने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती उस नंगे आदमीको दे दी, इससे उसके प्राण बच गये। जाटके पास पहननेको एक ही धोती रह गयी। आगे जब वे दूर गये तो वहाँ बहुत कड़ी धूप थी, पर उन्होंने देखा कि बादल उनपर छाया करते चले जा रहे हैं। राजाने सोचा कि 'हमारे पुण्यके प्रभावसे ही बादल छाया करते हुए चल रहे हैं।' तदनन्तर वे एक जगह किसी वनमें ठहरे। जब चलने लगे तब किसी महात्माने पूछा—'राजन्! तुम्हें इस बातका पता है कि ये बादल किसके प्रभावसे छाया करते हुए चल रहे हैं?' राजा कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। तब महात्माने कहा—'अच्छा, तुम एक-एक करके यहाँसे निकलो। जिसके साथ बादल छाया करते हुए चलें, इसको उसी पुण्यवान्के पुण्यका प्रभाव समझना चाहिये।' तब पहले राजा वहाँसे चले, फिर एक-एक करके सब प्रजाजन चले, पर बादल वहीं रहे। तब राजाने कहा—'देखो तो, पीछे कौन रह गया है।' सेवकोंने देखा कि वहाँ एक जाट सोया पड़ा है। उसे उठाकर वे राजाके पास लाये, तब बादल भी उसके साथ-साथ छाया करते चलने लगे। तब महात्मा बोले—'यह इसी पुण्यवान्के पुण्यका प्रभाव है।' राजाने उससे पूछा—'तुमने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है?' बार-बार पूछनेपर उसने कहा कि 'मैंने और तो कोई पुण्य नहीं किया, अभी रास्तेमें मैंने अपनी दो धोतियोंमेंसे एक धोती रास्तेमें पड़े जाड़ेसे ठिठुरते हुए एक नंगे मनुष्यको दी थी।'

इसपर महात्माने राजासे कहा—'राजन्! तुम बड़ा दान करते हो, परंतु तुम्हारे पास अतुल सम्पत्ति है, इसलिये तुम्हारा त्याग दो धोतीमें-से एक दे डालनेके समान नहीं हो सकता'।

इस प्रकार दानका रहस्य समझकर दान करना चाहिये।

मौनकी प्रेरणा

(लेखक—श्री सी० टी० वेणुगोपाल)

आज विश्व जिन संघर्षशील परिस्थितियोंसे गुजर रहा है और स्वार्थोंकी अंध होड़में मानव-आदर्शोंकी जिस प्रकार बलि दी जा रही है उसे देखकर प्रत्येक आत्मवेत्ता और शान्तिके उपासकको इस बातका अनुभव हो रहा है कि वर्तमान भौतिक विश्वका मन और प्राण सत्यकी दिशासे दूर महानाशकी ओर तीव्रतासे अग्रसर हो रहा है। सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र और संसार हिंसा तथा लालचके मदसे व्यग्र अन्धकारकी चादरमें आत्माके सत्यबोधको छिपाता जा रहा है। दूसरोंपर हावी होना; बिना प्रयत्न अधिकारकी माँग करना और बराबर असंतोषकी अग्निमें जलते रहना आजके मनुष्यका चारित्रिक गुण बन गया है। झूठे भौतिक ज्ञानकी चकाचौंधने मनुष्यको अन्तश्चेतनासे दूर फेंक दिया है और कार्य-कारणके वैज्ञानिक अनुसंधानोंने उसे एकान्त अनुभवके प्रेरक स्वरोंसे विलुप्त कर दिया है। यही कारण है कि व्यक्ति अपने भीतर, अपने परिवारकी परिधिमें, अपने राष्ट्रकी सीमाएँ और अन्तर्विश्वके साथ हर क्षण, हर पग अभाव और असंतोषका अनुभव करता, हर प्रकारका अनाचार तथा पाप बिना संकोच, बिना रोक केवल सांसारिक हानियोंके आँकड़े बनाते करता जा रहा है। विश्व इस रोगसे जितना आज पीड़ित है सम्भवतः अपने पुराने दिनोंमें कभी न रहा होगा; क्योंकि प्राचीन स्वप्नद्रष्टा महर्षियोंने वस्तुसे अधिक विचारको और बाह्य संचरणसे अधिक अन्तःसंचरण तथा अन्तर्ध्वनिको स्थान दिया था।

समय-परिवर्तनकी ही देन है कि औद्योगिक क्रान्तिके साथ जमानेने करवट ली और वही आशा तथा विश्वासके साथ साधनसम्पन्न होते मनुष्यके नेत्र खुले—उसने सोचा, इसी भौतिक सुखकी प्राप्तिमें वह सम्पूर्ण सुखकी प्राप्ति कर लेगा, किंतु उसकी इस अवस्थापर निरन्तर संहार होने लगा। महायुद्धोंकी भयंकर विभीषिकाओंने उसके सुख-स्वप्नकी स्वर्णाभाको महानाशका द्योतक बताया। कारण स्पष्ट है। इस अंधाधुंध सुख-सामग्रीके संग्रहके पीछे मनुष्य समाजका केवल निम्नकोटिका स्वार्थ है और जहाँ प्रेरणा स्वार्थसे मिलती है वहाँ भयावह नर-संहार भी अनिवार्य होता है, ऐसा इतिहास और पुराने अनुभवोंसे सिद्ध है।

तो आखिर इस परिस्थितिमें मनुष्यके आत्म-गौरव, उसके शाश्वत सत्य तथा आदर्शोंकी रक्षा कैसे हो? युगीन आदर्शोंके प्रवर्तक रामकृष्ण, ईसा, मुहम्मद और महामानव बापूकी वाणी कैसे साकार एवं सार्थक हो? आदर्शोंकी बात करना, धर्मकी चर्चा करना और आत्मान्वेषणका संकेत करना तो अब केवल अन्धविश्वास और ढोंगकी संज्ञा पाकर परित्यक्त कर दिया जाता है। फिर क्या दवा है इस महानाशकी बुनियादी रोगकी, जिसकी जड़ें मनुष्यकी धमनियोंका रस चूसकर दिनोंदिन दृढ़ तथा सघन होती जा रही हैं। कितना अच्छा होता यदि मनुष्य केवल वस्तुओं और प्राकृतिक शक्ति-सम्पन्न तत्त्वोंके अन्वेषण और विश्लेषणमें ही खोया न रहता। महान् आवश्यकता इस बातकी है कि वह अपने मनका, अपनी भाव-सृष्टि और अगोचर स्वरोंका विश्लेषण कर सही मार्ग-दर्शन कर पाता। महात्माओंने हर युगमें अपने मनकी प्रयोगशालामें यह सत्य पाया है कि अपनी भावनाओंकी ईमानदारीसे की गयी समीक्षा सदा सही मार्ग प्रेषित करती है, उसे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, असत्यसे सत्यकी ओर और मरणसे अमरताकी ओर ले चलती है। यह उनकी अमर उत्कण्ठा रही है जिसके स्वरोंकी संवेदनाका अमर श्लोक यों है—

'असतो मा सद्गमय।' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।' 'मृत्योर्मा अमृतं गमय।'

यदि मनुष्य-समाज उन प्रयोगोंका आदर्श एक बार पुनः अपना पाता तो मुझे विश्वास है कि विश्वकी समस्त जिज्ञासाको शान्ति तथा सत्यका निर्देश मिलता। मैं—केवल कहनेके लिये बात कही जाय इसलिये ही ऊँचे आदर्शोंकी बात करना प्रधान नहीं मानता। मेरे सम्मुख आज भी इसी युगकी—थोड़े दिनों पूर्व घटनेवाली दो ऐसी घटनाएँ हैं जिनके प्रकाशमें यदि मेरे उक्त कथनका विवेचन किया जाय तो शायद संदेह और भ्रमका भलीप्रकार निवारण हो जाय।

पहली घटना एक ऐसी महिलासे सम्बन्धित है जो बहुत बड़ी विज्ञानवेत्ता, विदुषी और अध्ययनशीला है। हर वस्तुको, हर कारण तथा उसके परिणामको वह बराबर ज्ञानके पलड़ोंपर तौला करती थी। उसकी दृष्टिमें आत्मा नामकी कोई ऐसी शक्ति न थी, जिससे कभी प्रेरक वाणी या ध्वनि

निकलती हो। उसकी विद्वत्ताने उसे नास्तिक बना दिया था और वह सोचने लगी थी कि प्रकृतिका संचालन प्रकृतिकी संघर्षशील द्वन्द्वात्मक शक्तियोंमात्रसे हो रहा है, इसके पीछे कोई प्रेरणा या प्रकाश ऐसा नहीं है, जो मनुष्यकी पहुँचके बाहर हो। संयोगकी बात थी कि इस महिलाका पारिवारिक जीवन अतिशय कलहपूर्ण हो उठा था। कुछ कारणवश उसकी छोटी बहिन तथा बहिनके पति उससे बुरी तरह रुष्ट हो गये थे और जब भी उसने इन लोगोंको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया था, बराबर असफल रही। इस प्रकार-की असफलतासे उसकी निराशा बढ़ती गयी और धीरे-धीरे उसको विश्वास हो गया था कि अब भावी जीवनमें कभी भी यह पारिवारिक कलह दूर न हो पायेगा। इस विदुषीको एक वृद्धाका सहवास मिला, जिसने उससे कहा, 'तुम एक बार अपना अहं छोड़कर मौनमें विश्वास करो और नित्य-प्रति केवल आधे घंटेकी मौन-साधना आरम्भ करो और साधनाके इन क्षणोंमें अच्छी भावनाओंकी ओर उन्मुख रहो।' उस तर्कपूर्ण महिलाकी बुद्धिमें पहले यह बात घुसी ही नहीं और उसने इस कार्यको केवल उपहास और व्यंगके साथ टाल दिया; किंतु जब उसका मन इस कलह-पीड़ासे अतिशय उत्पीडित हो उठा और वह इसके निवारणके निमित्त कुछ भी करनेको तत्पर हुई तो उसने वृद्धाके आग्रह और आदेश-पर मौन-व्रत धारण किया। कुछ दिनोंतक उसने नित्य घंटे भर मौन रक्खा और फिर वृद्धाके पास जाकर कहा—'बूढ़ी माँ! मुझे इन दिनों केवल एक ही बात बार-बार परेशान करती रही कि मैं एक बार अपनी बहिनको संतुष्ट करनेका और प्रयास करूँ, किंतु मुझे तो यह विश्वास है कि मेरा फिर बहिनके पास जाना केवल निरर्थक ही नहीं, आत्मसम्मानके विरुद्ध भी होगा।' वृद्धा स्त्रीने सान्त्वनाके स्वरमें कहा—'यदि तुम्हारे मौनका यही आदेश है तो तुम फिर एक बार वहाँतक अवश्य जाओ—शायद तुम्हें महान् परिवर्तन दिखायी पड़े।' यह आदेश युवतीको ठीक नहीं जान पड़ा। उसने सोचा, समय और अर्थ यह सब फिर क्यों व्यर्थ लगाया जाय, कई बार तो जाकर देख चुकी हूँ कि कोई परिणाम नहीं निकलता। वृद्धाके कहनेपर ही वह किसी प्रकार तैयार हुई और लंबी यात्राके बाद जब वह अपनी बहिनके घर पहुँची तो देखा नौकर मकानमें ताले लगा रहा था। नौकरने उससे बताया कि उसकी मालिकिन अपने पतिके साथ बड़ी बहिनके यहाँ जा रही है। इस उत्तरसे उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उसका अपनी छोटी बहिनसे साक्षात्कार हुआ तो बहिन तथा बहिनके पतिने बहुत विनम्र होकर क्षमायाचना करते हुए कहा—'हमसे बड़ा अपराध हुआ और सचमुच हमने आपके साथ यह बहुत बड़ा अन्याय किया जो आपको बराबर दुखी करते आये और इतने दिनोंतक सम्बन्ध-विहीन रक्खा।'

यह कहानी नहीं, एक सच्ची घटना है; जिसने मेरे विश्वास-को बड़ा बल दिया है और मुझे उस बूढ़ी माँका यह कथन भूलता नहीं जो उसने विज्ञानकी प्रकाण्ड पंडिता युवतीसे कहा था—'बेटी! मौनने तुम्हारे मनकी एकाग्रताको जो बल दिया था और तुम्हारी उन क्षणोंकी शान्त सत्यनिष्ठाका जो प्रभाव था उसने तुम्हारे क्रुद्ध सम्बन्धियों और बिछुड़े परिवारवालोंके विचारमें ऐसा महत्तम परिवर्तन उपस्थित किया।'

दूसरी घटना ब्रह्माकी पहाड़ियोंमें बसी बुद्ध-धर्मावलम्बी नागरिकोंकी एक बस्तीसे सम्बन्धित है, जहाँ कुछ दिनों पूर्व दिन-दहाड़े चोरियाँ होने लगी थीं और दिनोंदिन अनाचार बढ़ने लगा था। एक बार वहाँ ऐसा हुआ कि एक किसान-की गाय किसीने चुरा ली और हजार ढूँढ़नेपर भी उसका पता न लगा। दुखी होकर उस किसानने बस्तीभरके लोगोंसे निवेदन किया और सबकी पंचायत जुटी। उस गाँवके धर्मगुरुने सभी एकत्र लोगोंसे कहा—'कोई किसीको दोष न दे। इससे केवल कटुता बढ़ेगी, अपने दोषकी तहतक हम न पहुँच पायँगे और जहाँ कटुता होती है- वहाँ सत्यका दर्शन नहीं होता, इसलिये सब लोग मौन रक्खें और एक घंटेके सामूहिक मौनमें सभी यह सोचें कि हमारी बस्ती-का कल्याण कैसे होगा?'

इस घंटेभरके मौनका परिणाम यह था कि उन्हीं किसानोंकी मण्डलीसे एक नौजवान स्वयं सिर नीचा किये खड़ा हो गया और उसने अपने अपराधकी स्वीकृतिके साथ बताया कि 'मैंने गाय चुरायी है और मुझे बड़ा दुःख है कि उसका मांस मैंने बेच डाला है। अब उसका मूल्य देनेको मैं तैयार हूँ।' इस आत्मस्वीकृतिका पूरी बस्तीके वासियों-पर अलौकिक प्रभाव पड़ा। क्रमशः इस मौनके प्रयोगसे उस बस्तीका कलुष मिट गया और अब वहाँ जिस शान्ति तथा सुव्यवस्थाका दर्शन होता है उससे हमें महान् शिक्षा और मानवकी अन्तर्भूत आदर्श कल्पनाओंकी सही स्वीकृतिका सापेक्ष उदाहरण मिलता है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि अनाचारकी ओर बढ़ते हुए आजके जमानेका मनुष्य यदि अहं और ढोंग त्यागकर परस्पर मिल-जुलकर मौन-मनसे कष्टका वास्तविक कारण ढूँढ़े और उसके निवारणका सही रूपमें प्रयास करे तो सच्चे सुखकी प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। व्यक्तिके लिये इस मौनका इतना महान् महत्त्व है कि यदि वह नित्य नियमसे मौनका थोड़ा अभ्यास करे तो वह अपने भीतरी तत्त्वोंका अन्वेषण और विश्लेषण करनेमें पूरी तरह सफल हो सकता है। उसके लिये उसे न तो बहुत तर्क-वितर्क करना है और न हठयोगकी आवश्यकता है। केवल शान्तचित्त सुन्दर भावनाओंके संग्रहसे उसे ऐसा प्रकाश प्राप्त होगा, जिसकी ज्योतिसे उसका जीवन-मार्ग ज्योतिमान् हो उठेगा और अपने अभीष्टकी प्राप्तिमें उसे सफलता दृष्टिगत होगी।

(हिंदी-रूपान्तरकार, श्रीरामविनायक सिंह)

षोडश संस्कार और उनका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

[गताङ्कसे आगे]

उत्पत्तिवाले दिन—नामकरण

'शाङ्खायनगृह्यसूत्र'में जातकर्ममें कहा है—

'नाम अस्य दधाति घोषवदादि अन्तरन्तःस्थं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा, अपि वा षडक्षरं कृतं कुर्यान्न तद्धितम् ।'

(१ । २४ । २६७)

'पिता इस बालकका नाम रक्खे। उस नामका आदि अक्षर घोष[1] प्रयत्नवाला हो। बीचमें अन्तःस्थ (य, र, ल, व) वर्ण हों। नाम दो अक्षरका, चार अक्षरका, अथवा छः अक्षरका कृदन्त ही रक्खे, तद्धित नहीं।'

—यह कहकर वहाँ जातकर्ममें रक्खे हुए नामके लिये कहा गया है—

'तद् (नाम) अस्य पिता माता च विद्याताम् ।'

(१ । २४ । २६८)

'इसके उस नामको केवल पिता-माता ही जानें।'

'दशम्यां व्यावहारिकं ब्राह्मणजुष्टम् ।' (१ । २४ । २६९)

'दसवें दिन ऐसा व्यावहारिक नाम रक्खे, जिसे ब्राह्मणोंने अपनाया हो।'

—यह कहकर जन्म-नामको गुप्त रखना तथा दसवें दिनके नामको प्रसिद्ध करना कहा है।

जैसे कि—

'दशरात्रे चोत्थानम्, मातापितरौ शिरःस्नातौ, अहतवाससौ कुमारश्च ।' (१ । २६ । २७८-२७९)

'नामधेयं प्रकाशं कृत्वा ।' (२८४)

'दस रातके बाद उत्थान होता है। माता-पिता सिरसे स्नान करके नूतन वस्त्र धारण करें। फिर कुमारको भी नहलाकर नूतन वस्त्र धारण कराया जाय।' 'तत्पश्चात् लोक-प्रसिद्ध नाम निश्चित करके ....।'

इस प्रकार 'वीरमित्रोदय' जातकर्म-संस्कार (१९४ पृष्ठ) में कहा है—

पारस्कर—

'जातस्य कुमारस्य अच्छिन्नायां नाड्याम् अस्य गुह्यं नाम करोति ।'

'गुह्यम्—मातापितृवेद्यम् ।'

'उत्पन्न हुए कुमारका नाल-छेदनके पहले ही गुप्त नाम रक्खे। गुप्तका तात्पर्य यह है कि वह नाम माता-पिताके सिवा और किसीको मालूम न हो।'

वहीं नामकरण (पृ० २३१) में कहा है—

जन्माहे द्वादशाहे वा दशाहे वा विशेषतः ।
कुर्याद् वै नामकरणं कुमारस्येति वै श्रुतेः ॥

'जन्मके दिन, बारहवें दिन अथवा विशेषतः दसवें दिन कुमारका नामकरण करे। यह श्रुतिका विधान है।'

इस 'ज्योतिर्वसिष्ठ'के वचनसे जन्मवाले दिन भी नामकरण कहा है। वहीं महेश्वरका—

'कार्यं सूनोर्जननसमये जातकर्मार्थनाम ।'

'जन्मके समय पुत्रका जातकर्मके लिये नाम रक्खे।'

—यह वचन भी दिया है। वहीं आश्वलायन-सूत्रवृत्तिकारकी—

---

[1] ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द—इतने अक्षरोंका प्रयत्न घोष है।

'जातकर्मानन्तरमेव नामकरणं कार्यम् ।'

'जातकर्मके बाद ही नामकरण करना चाहिये ।'

इस अभिप्रायकी 'नाम चास्मै दद्युः' इस सूत्रकी व्याख्या बतायी है कि—

'नामकरणमाचार्येणानुक्ते जातकर्मानन्तरं कार्यमिति ।'

'नामकरण आचार्यके द्वारा करनेका विधान न होनेसे जातकर्मके बाद उसे कर डालना चाहिये ।'

बृहदारण्यकोपनिषद्में भी कहा है—

'जाते अग्निमुपसमाधाय……अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति, तद् अस्य गुह्यमेव नाम भवति ।' (६ । ४ । २४–२६)

'पुत्रका जन्म होनेपर अग्निकी स्थापना करके' 'फिर उसका नाम नियत करे । तुम वेद हो । उसका यह नाम अत्यन्त ही गोपनीय होता है ।'

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं । एक यह कि—जन्मवाले दिन भी शिशुका नाम किया जाय, पर वह गुप्त रहे, वह नक्षत्राश्रय नाम हो । दूसरा ऐच्छिक नाम हो, पर हो शास्त्र-नियमानुकूल । मनु० (३ । ९ पद्य) में कन्याका नाक्षत्रिक नाम निषिद्ध करनेसे ऐसे नामकी प्राचीनता सिद्ध होती है । नक्षत्रके चार पादोंके तत्समयागत नाम रखनेसे मनुप्रोक्त दोष नाममें न रह सकेगा । पूर्व प्रमाणोंमें यद्यपि पिताद्वारा नामकरण कहा है तथापि पिताके ज्योतिषी वा वैयाकरणी न होनेपर पितृप्रतिनिधि पुरोहित वा कोई विद्वान् ब्राह्मण भी कर सकता है । संस्कार भी तो वही कराता है ।

नामगोपन-रहस्य

पहला नाम जातकर्मके समय किया जाता है—यह पूर्व कहा जा चुका है । उसे केवल माता-पिता जानें, अन्य न जानें ।

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ………… ॥

'कल्याण चाहनेवाला पुरुष अपने नाम, गुरुके नाम तथा अत्यन्त कृपण मनुष्यके नामका उच्चारण न करे ।'

इस स्मृति-वचनमें जो कि अपने नामके छिपानेका वर्णन आया है—वह उसके पूर्वके नामको समझना चाहिये । जैसे कि 'खादिरगृह्यसूत्र' में लिखा है—

'असौ इति नाम दध्यात, तद् गुह्यम् ।' (२ । २ । ३२)

'अमुक यह नाम रक्खे, वह नाम गोपनीय होता है ।'

इसपर श्रीरुद्रस्कन्ध-टीकाकारने लिखा है—

'वैदिककर्मार्थकं तत् । व्यावहारिकं तु अन्यदेव, गुह्यत्वोक्तेः । नामाऽपरिज्ञाने अभिचाराद्यसिद्धिः फलम् ।'

'वह नाम वैदिककर्मके लिये होता है । लोकव्यवहारके लिये तो दूसरा ही नाम रखना चाहिये; क्योंकि उसे गुह्य कहा गया है । उस नामको जब दूसरे लोग नहीं जानेंगे तो उसके प्रति मारण-मोहन आदिका प्रयोग सफल नहीं होगा । यही उस नामको गोपनीय रखनेका फल है ।'

इस प्रकार 'काठकगृह्यसूत्र'में भी कहा है—

'पुत्रे जाते नाम निधीयते ।' (३४ । १)

'पुत्रका जन्म होनेपर उसका नाम रक्खा जाता है ।'

यहाँपर जातकर्ममें नाम रखना कहा है । देवपालने इसपर लिखा है—

'पुत्रे जाते जातकर्म कृत्वा नाभिवर्धनादनन्तरं नाम धीयते ।'

नामकरणं हि 'एकादश्यां नाम कुर्वीत पुण्ये वाऽहनि' इति अशौचशुद्धौ स्मृतम् । अन्ये त्वाहुः—'जाते सति एकादशीं तदनन्तरं वा सुलग्नं नामकर्मणि नातिक्रामेद् इत्येवंपरमेतद् इति ।

'पुत्रका जन्म होनेपर जातकर्म करके नाभिवर्द्धनके पश्चात् नाम रक्खा जाता है । ग्यारहवें दिन अथवा किसी पवित्र दिनको नामकरण करे । इसके अनुसार अशौचकी निवृत्ति होनेपर नामकरणकी विधि है, परंतु दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि बालक उत्पन्न होनेपर नामकरणके लिये ग्यारहवाँ दिन अथवा उसके बादका कोई उत्तम लग्न बीतने नहीं देना चाहिये । यही उपर्युक्त वाक्यका तात्पर्य है ।'

'तदेव नाम धीयते ।' (३६ । ३)

इसका तात्पर्य बताते हुए देवपालने लिखा है—

'अत्रानुवाके असौ इत्यस्य स्थाने तदेव नाम धीयते, यत्तु जातकर्मणि कृतं नान्यत् ।'

इस अनुवाकमें असौ (अमुक) के स्थानमें वही नाम रक्खा जाता है, जो जातकर्मके समय निश्चित किया गया है; दूसरा नहीं ।

'अन्यदित्येके' (३६ । ४) इस सूत्रपर देवपालने लिखा है—

एके पुनराहुः—अन्यद् निधीयते। द्वे नाम्नी ब्राह्मणस्य कर्तव्ये। तत्र यद् रहस्यं जातकर्मण्युक्तं—'पुत्रे जाते नाम धीयते' इति। प्रयोजनम्, परैरभिचारे क्रियमाणे अनुच्चाराद् अप्रकटम्, प्रकटं तु एकादशादौ व्यावहारिकम्। तथा च श्रुतिः—'तस्माद् ब्राह्मणो द्विनामा' इति (काठक २६। १)

'कुछ लोगोंका कहना है कि दूसरा नाम रक्खा जाता है। ब्राह्मणके दो नाम रखने चाहिये। इनमें 'पुत्रे जाते नाम धीयते'के अनुसार जातकर्मके समय जो नाम रक्खा गया है, वह गोपनीय है। उसे गोपनीय रखनेका प्रयोजन यह है कि शत्रुओंद्वारा मारण-मोहन आदिका प्रयोग किये जानेपर वह नाम प्रकट नहीं होगा; क्योंकि उसका कोई उच्चारण नहीं करता। प्रकट नाम तो वही है जो ग्यारहवें आदि दिनोंमें व्यवहारके लिये रखा गया है। इसीलिये श्रुति कहती है, ब्राह्मण दो नामवाला होता है।'

इससे सूचित किया गया है कि जातकर्मके समयमें जो ज्यौतिष आदिके अनुसार नाम आता है, उसे प्रसिद्ध नहीं करना चाहिये, इसलिये कि उस नामपर अभिचार-क्रिया कोई न कर सके, जिसका जन्म-नामसे ही विशेष सम्बन्ध हो सकता है। यह आचार (जन्मनामको प्रसिद्ध न करना) इतिहासमें मिलता भी है। पाणिनि, कात्यायन, वार्ष्यायणि, यास्क, औदुम्बरायण, गार्ग्य, शाकटायन आदि व्यावहारिक नाम हैं—यह पिताके नामसे रक्खे गये हैं; यह अपने नाम नहीं हैं; नहीं तो जब कि—'कृतं कुर्यान्न तद्धितम्' 'अवृद्धम्' इस प्रकार आदिवृद्धिरहित तथा कृदन्तीय नाम रखना कहा है, तद्धितीयका निषेध किया है; तब ये तद्धितीय एवं आदिवृद्धिसहित नाम क्यों रक्खे गये? स्पष्ट है कि—'आत्मनाम न गृह्णीयात्' इस स्मृति-वचनका ही अनुसरण किया गया है। इसीके अनुकरणमें अंग्रेजोंके तथा तदनुसारी हिंदुस्थानियोंके नाम भी एम. के. गान्धी, के. एल. मुंशी इत्यादि गुप्त नाम रखे जाते हैं। इसी नामकरणके दिन नामके साथ 'शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास' आदि पितृवर्णिक चिह्न रखकर उसकी जातिका निर्धार जन्मसे कर दिया जाता है। नामकरण कर देनेसे उस नामके साथ आत्मीयता, ममता तथा आकर्षण आदि उत्पन्न हो जाते हैं। शत्रुवाला नाम अपने लड़केका नहीं करना चाहिये।

निष्क्रमणसंस्कार-रहस्य

'अर्कस्येक्षा मासि चतुर्थके' (व्यास० १। १७)

'चौथे मासमें सूर्यका दर्शन करावे।'

यह संस्कार बालक-जन्मके चतुर्थ मासमें किया जाता है। इसमें शिशुको सूर्य-दर्शन कराया जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि—तीन मासतक बच्चेको घरके अंदर रखना चाहिये; उसे तबतक सूर्यप्रकाशदर्शन न कराना चाहिये। इसमें कारण यह है कि—पहले तीन मासतक बच्चेकी आँखें कोमलतावश कच्ची होती हैं। यदि शिशुको शीघ्र ही सूर्य-प्रकाशमें लाया जायगा तो उसकी आँखोंपर उसका दुष्प्रभाव पड़ेगा; भविष्यमें उसकी आँखोंकी शक्ति या तो मन्द रहेगी या उसका शीघ्र ही ह्रास होगा। इस कारण हमारे यहाँकी नारियाँ छोटे बच्चेको शीशा भी नहीं देखने देतीं। इसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि शीशेकी चमक भी कच्ची आँखोंको चौंधिया देती है जिससे उनकी हानिकी सम्भावना रहती है। तीन मासतक शिशुका शक्ति-संचय हो जानेपर क्रम-क्रमसे घरके दीपककी ज्योति देखनेमें अभ्यस्त होकर तब उसकी आँखें बाह्य प्रकाशमें गमनके योग्य होती हैं, तब वैध-संस्कार हो जानेपर सूर्यकी जीवनीशक्तिका तथा घरसे बाहरी शुद्ध वायुका भी बच्चेके अंदर संचार होता है, जिससे उसकी आयु और लक्ष्मीकी वृद्धि होती है। धीरे-धीरे बाहरी शीतोष्णके सहनयोग्य भी बनता है। घरमें रहनेकी कोमलता धीरे-धीरे हटकर हृष्ट-पुष्टताकी दिशामें प्रवृत्त होती है, सृष्टिके अवलोकनका शिक्षण भी प्राप्त होता है।

बिना संस्कारके इस लाभप्राप्तिके सम्भव होनेपर भी वेदमन्त्रपाठादि क्रियासे वैध-संस्कार होनेपर—

'यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते'

यदि इन कर्मोंमें लोक ही प्रमाण है तो शास्त्रसे क्या किया जाता है?

इस प्रश्नमें—

'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि संतापयति; तत्र [वेदमन्त्रप्रयोगसंस्कारे] धर्मनियमः क्रियते। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति।'

लोकसे प्रयोजनवश कार्यका आरम्भ होनेपर शास्त्रके द्वारा धर्मका नियम किया जाता है। यद्यपि बिना मन्त्रके भी

दाहक अग्नि कपालोंको संतप्त कर ही देगी तथापि वहाँ वेदमन्त्र-प्रयोगपूर्वक संस्कार करनेपर धर्मका नियम किया जाता है। इस प्रकार किया जानेवाला कर्म अभ्युदयकारक होता है।

पस्पशाह्निकके महाभाष्यके इस उत्तरके अनुसार शिशुका अभ्युदय प्रवृत्त होता है। इस प्रकार रात्रिमें शिशुको चन्द्रदर्शन कराया जाता है, जिससे वह चन्द्रमासे भी प्रकाश तथा आह्लाद प्राप्त करे। आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें इसका वर्णन नहीं है।

अन्नप्राशनसंस्कारका महत्त्व

'षष्ठे मास्यन्नमश्नीयात्' (व्यासस्मृति १ । १८)

छठे महीनेमें बालकको अन्न खिलाना चाहिये।

यह संस्कार छठे मासमें किया जाता है। इससे माताके गर्भमें मलिनता-भक्षणका दोष नष्ट हो जाता है। अबतक शिशु माताके दुग्धरूप भोजनमें ही अपना भाग लेता था। माता जो कुछ खाती थी, उससे अपने शरीरको भी पालती थी, शिशुके शरीरका भी पोषण करती थी; पर उसे सदा परतन्त्र रखना उचित नहीं होता। धीरे-धीरे उसे अपने पैरोंपर भी तो उठाना है, स्वावलम्बी भी तो बनाना है, उसे शारीरिक स्वतन्त्रताका भी तो ग्रहण करना है। माताके स्तन्यका अपेक्षी होनेपर माताके अस्वस्थ रहनेपर वह भी अस्वस्थ बना रहता है। एतदर्थ प्रकृति उसके दाँत उत्पन्न करती है। इससे वह प्रेरणा करती है कि अब इसके लिये शनैः-शनैः स्वतन्त्रतासे अन्नका अभ्यास अपेक्षित है। इस प्रकार उस शिशुकी क्रम-क्रमसे शारीरिक-स्वतन्त्रतार्थ 'अन्नप्राशन' संस्कार किया जाता है कि—यह केवल परावलम्बी न बना रहे। धीरे-धीरे स्वावलम्बी बन जाय। यही माताका भोजन लेनेवाला शिशु समयपर ऐसा स्वतन्त्र हो जाय कि स्वयं भी अपना भोजन जुटाये और समर्थ होकर फिर माता-पिताको भी स्वार्जित भोजन खिलावे—यह उदात्त भावना भी इस संस्कारमें विहित होती है। इस संस्कारसे धीरे-धीरे अन्नमें अभ्यस्त होकर शिशु क्रमशः स्तन्य (माताके दूध) को छोड़ देता है, जिससे माताकी निर्बलता तथा पीनेसे होनेवाली माताकी पीड़ा हट जाती है। शास्त्रीय अन्न खानेसे अन्नसंकटता हट जाती है। इसमें बालकके भविष्य स्वभावकी परीक्षा भी हो जाती है। उसके आगे क०, शस्त्र, वस्त्र, खिलौना आदि रक्खे जाते हैं। वह जिस वस्तुको पहले उठावे, उसमें उसकी भविष्यकी वृत्ति अनुमित हो जाती है। अन्नप्राशनसे शिशुके मुखसे स्तन्य-पानजन्य गन्ध भी क्रमशः दूर हो जाता है, आगे अन्न खानेका उसका अभ्यास बढ़ता है। तेजकी वृद्धिके लिये उसे दधि-मधुसे मिला भोजन कराया जाता है।

चूडाकरण-रहस्य

'चूडाकर्म कुलोचितम्' (व्यास० १ । १८)

यह संस्कार पहले वा तीसरे वर्ष अथवा कुलधर्मानुसार करना पड़ता है। माताके गर्भसे आये हुए बाल अशुद्ध होते हैं, इधर वे झड़ते रहते हैं, उनसे शिशुके तेजकी वृद्धि नहीं हो पाती। उन केशोंको मुँडवाकर शिशुकी शिखा रक्खी जाती है, जिससे वह कर्मके योग्य हो सके। शिखासे आयु एवं तेजकी वृद्धि होती है। इन्द्रशक्ति प्राप्त होती है। कम-से-कम एक वर्ष देरी इस कारण की जाती है कि उसके सिरकी कोमल त्वचा कुछ कठोर हो जाय, क्षुरके प्रयोगको सह सके।

दाँत निकलनेके समय बालकको अनेक प्रकारके सिरके रोग होते हैं। छठे माससे बच्चा दाँत निकालने लगता है, तीन वर्षमें जाकर दाँत प्रायः बन जाते हैं। तन्मूलक शिरोरोग वृद्धि न पावें, अतः उसका सावधानतासे मुण्डन करना पड़ता है। फिर सिरपर माखन-दही आदि लगानेसे वे शिरोरोग दूर हो जाते हैं। किसीका सिर पक गया हो, फोड़े-फुंसियाँ निकल आयी हों तो सिरके बाल कटानेसे ही आराम आता है; क्योंकि—तब सुविधापूर्वक दवाईका लेप लग सकता है और लाभ पहुँचता है। उस समय सिरमें उष्णता बढ़ जाती है। इधर बाल रहनेसे वह गरमी न निकल पानेसे ही वे शिरोरोग हो जाते हैं, साथ ही दस्त भी लग जाते हैं, जुएँ भी पड़ जाती हैं, आँखें भी आ जाती हैं। मुण्डन हो जानेसे, बाह्य वायुके लगनेसे तथा माखन लगा देनेसे, सिरके अंदर ठंडक पहुँच जानेसे उन रोगोंकी शङ्का नहीं रह जाती वा कम पड़ जाती है। सिर हल्का हो जाता है, बालकके चर्मसम्बन्धी तथा भीतरी सिरकी गरमीसे होनेवाले अन्य रोग भी हट जाते हैं।

इसके अतिरिक्त माताके गर्भसे आये हुए बाल बहुत कोमल होनेसे गिरते रहते हैं। मुण्डनके पश्चात् उगनेवाले बाल पुष्ट वा दृढ होते हैं, पहलेकी तरह टूटते नहीं। खोपड़ी भी दृढ हो जाती है। शिरोमुण्डन हो जानेसे खून भी सिरकी

ओर ठीक गति करने लगता है तथा सिरके सब स्थानोंमें बराबर पहुँचता है। 'सुश्रुतसंहिता'में—

पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम् ।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम् ॥

केश, नख और रोमका कटा देना पापकी शान्ति करनेवाला, हर्ष, हल्कापन और शोभाका देनेवाला तथा उत्साह बढ़ानेवाला है।

चिकित्सास्थान (२४ । ७१) तथा 'चरकसंहिता' के सूत्रस्थान (५ । ९) में केशकर्तन पौष्टिक तथा आयुष्यवर्धक एवं मलरूप-पाप-निवारक माना गया है। इससे बच्चोंके सिरमें ठंढक पहुँचकर रोगोत्पादक गरमी नष्ट होती है। इस कारण उसे चक्षुरोग भी नहीं होता। शिशुके प्रथम वर्षमें पहली दाढ़ें आती हैं, अन्तिम तीसरे वर्षमें अन्य दाढ़ें उगती हैं। इसी प्रथम वा तृतीय वर्षमें शिरोरोगोंकी, आँखें आनेकी विशेष आशङ्का रहती है। अतः वपन भी इन्हीं वर्षोंमें किया जाता है। साथ ही चूडा (शिखा) भी रक्खी जाती है। समन्त्रक चूडाकरणसे आयुर्वृद्धि, जठराग्निसंदीपन, बलवृद्धि तथा सौभाग्यबल होता है। यह हिंदुत्वको बाह्यमें प्रकट करनेवाला विशेष संस्कार है, क्योंकि इसीमें जातीय चिह्न शिखा रक्खी जाती है। जैसे राजाका चिह्न ध्वजा होता है, वैसा यह भी हिंदुत्वका ध्वज है। इस शिखाका महत्त्व भिन्न निबन्धमें प्रकाशित किया जायगा।

कर्णवेध-रहस्य

'कृतचूडस्य बालस्य कर्णवेधो विधीयते ।'
(व्यासस्मृति १ । १८)

जिसका चूडाकरण हो गया हो, उस बालकका कर्णवेध करना चाहिये।

शिखायुक्त पाँचवें वर्षके बालकका यह संस्कार किया जाता है। इसमें दोनों कानोंमें वेध करके उसकी नसको ठीक रखनेके लिये उसमें सुवर्णका कुण्डल धारण किया जाता है। इससे शारीरिक रक्षा होती है। 'सुश्रुतसंहिता' सूत्रस्थानमें कहा है—

'रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे, प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गल-स्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के कुमारमुपवेश्य······विध्येत्। पूर्व दक्षिणं कुमारस्य, वामं कुमार्याः।' (१६ । ३)

रक्षा और आभूषणके लिये बालकके दोनों कान छेदे जाते हैं। छठे या सातवें महीनेमें शुक्लपक्षके अन्तर्गत उत्तम तिथि, करण, मुहूर्त और नक्षत्रमें माङ्गलिक कृत्य एवं स्वस्तिवाचन करके कुमारको माताके अङ्कमें बिठाकर उसके दोनों कान छेदने चाहिये। यदि पुत्र हो तो पहले दाहिना कान छेदे और कन्याका पहले बायाँ कान छेदना चाहिये।

सुवर्ण शिशुके शरीरसे स्पृष्ट रहे—इस कारण यह संस्कार किया जाता है। सुवर्णस्पृष्ट शरीर कीटाणुओंके संक्रमण न होनेसे स्वस्थ तथा शतायु रहता है। जैसा कि वेदमें कहा है—

'नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते······यो. बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यम् ।' (शौ० अथर्व सं० १ । ३५ । २)

'जरामृत्युर्यो बिभर्ति ।' (अथ० १९ । २६ । १)

जो दाहिने कानमें सुवर्ण धारण करता है, उसके तेजको राक्षस और पिशाच नहीं सह सकते।

यह संस्कार मनुस्मृति तथा गृह्यसूत्रोंमें नहीं आया; परंतु 'सुश्रुतसंहिता' (सूत्रस्थान १६ । ३) तथा व्यासस्मृति (१ । १८) में सूचित है। कात्यायनगृह्यसूत्रमें भी इसकी सत्ता सुनी जाती है। मनुजीको भी यह संस्कार—

'यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ।'
(४ । ३६)

यज्ञोपवीत, वेद और सुन्दर सुवर्णमय कुण्डल धारण करे।

—इस वचनमें कहे हुए सुवर्ण-कुण्डल धारणसे इष्ट अवश्य प्रतीत होता है। कर्णवेध विशेष रोगोंकी निवृत्तिके लिये भी है। सात प्रकारके अण्डवृद्धिके रोग हुआ करते हैं। उनमें सातवाँ भेद अन्त्रज अण्डवृद्धि (हर्निया) भी है। उसके उपशमनार्थ कर्णवेध-संस्कार भी उपाय है; क्योंकि कानकी नसका अण्डकोषकी नसके साथ सम्बन्ध हुआ करता है। 'सुश्रुतसंहिता'के चिकित्सित स्थानमें—

शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम् ।
व्यत्यासाद् वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये ॥'
(१९ । २१)

गलेसे ऊपर, कानके निचले भागमें, सेवनी (सीवनके स्थान) को यत्नपूर्वक छोड़कर अथवा व्यत्यासपूर्वक (दाहिने ओरकी आँत बढ़ी हो तो बायें कान और बायें ओरकी बढ़ी हो तो दाहिने कानकी) नसको छेदे। इससे आँतकी वृद्धि दूर होती है।

—इस प्रकार कही हुई अन्त्रवृद्धिसे भावी रोगकी आशङ्काको हटानेके लिये कर्णवेध हुआ करता है। इसीलिये लघुशङ्का आदिके समय यज्ञोपवीत-सूत्रको कानपर लपेटा जाता है, वहाँ भी यही कारण है। उस समय मूत्रज अण्ड-वृद्धिकी आशङ्काके दूरीकरणार्थ वैसा किया जाता है।

इस समय कानोंकी त्वचा कोमल होनेसे तथा बच्चेके कुछ बलवाला होनेसे यह संस्कार करना ठीक भी है। आगे क्रम-क्रमसे लड़केकी कर्ण-त्वचा कड़ी होती जाती है; उस समय बालक कर्ण-वेधनमें बाधा उपस्थित करता है। इस कर्णवेध तथा उस स्थानमें सुवर्ण-धारण करनेसे बढ़नेकी आशङ्कावाला अण्डकोष वा नल प्रकृतिस्थ रहता है। अण्ड-कोपस्थित जल भी क्षीण हो जाता है। तन्मूलक पुरुषकी नपुंसकता तथा स्त्रीका वन्ध्यात्व भी दूर हो जाता है। कर्णेन्द्रिय-की नसोंका सम्बन्ध वीर्यवाहिनी नसोंसे हुआ करता है; तब यह संस्कार अण्डवृद्धिसे अतिरिक्त पुंस्त्वनाशक रोगोंसे संरक्षण करनेवाला भी सिद्ध हुआ।

उपनयन-रहस्य

(क) विप्रो गर्भाष्टमे वर्षे क्षत्र एकादशे तथा।
द्वादशे वैश्यजातिस्तु व्रतोपनयमर्हति॥
(व्यासस्मृति १।१९)

ब्राह्मण-बालक गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रिय-बालक ग्यारहवें वर्षमें और वैश्य-जातिका बालक बारहवें वर्षमें ब्रह्मचर्यव्रतकी दीक्षा एवं उपनयन-संस्कारका अधिकारी होता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका यह संस्कार आठ, ग्यारह, बारह वर्षोंमें किया जाता है। पहले जीव माता-पिताके गर्भमें शरीरधारणार्थ आता है, फिर आचार्यके गर्भ (आचार्यकुल)में विद्याशरीर-प्राप्त्यर्थ जाता है; अतः यह संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका एकजत्वसे द्विजत्व-सम्पादक है। यह संस्कार आचार्यकुलमें विद्याग्रहण करनेके लिये अधिकार-पट्ट है। शूद्रको इसका अधिकार नहीं; क्योंकि उसके लिये अन्य कठिन कार्य हैं—जिनसे वह संसारकी सेवा करता है। इधरके कठिन कार्योंमें भी प्रवृत्त होनेसे उसकी 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' की आशङ्का रहती है।

उपनयनमें मौञ्जी भी धारण करनी पड़ती है। वह अण्डवृद्धि-रोगकी आशङ्काको दूर करनेवाली भी होती है। उपनयन द्विजत्वका विशेष संस्कार है। इस संस्कारमें भिक्षा भी की जाती है; उसमें एक तो धनी-निर्धनकी समता, दूसरा देशका ऋण अपने ऊपर चढ़वाना लक्ष्य है, जिससे हम आगे देशका ऋण-संशोधन करनेके उपलक्ष्यमें देशकी सेवा कर सकें।

यह संस्कार भी लड़कियोंका नहीं होता। उनका पतिके पास वैध नयनरूप विवाह ही द्विजत्व-सम्पादक उपनयन है। वैवाहिक वरदत्त उपवस्त्रको ही विवाहतक यज्ञोपवीतकी तरह लपेटना कन्याओंका उपनयनसूत्र-धारण होता है। वैवाहिक स्वयोग्य कई मन्त्रोंका वरके आश्रयसे (जैसे कि माणवक पहले आचार्यके आश्रयसे गायत्री-मन्त्रको बोलता है) बोलना ही उनका वेदारम्भ है। उस पतिकी अग्निमें लाजाप्रक्षेप करना ही उनका समिदाधान होता है। पुरुषके लिये शास्त्रोंमें प्रयुक्त 'संस्कार' शब्द जैसे उपनयनवाचक देखा गया है, वैसे ही स्त्रीके लिये शास्त्र-वचनोंमें आया 'संस्कार' शब्द स्त्रीके 'विवाह'को बोधन कराता है। 'असंस्कृतः' यह पुंलिङ्ग शब्द 'अनुपनीतः' इस अर्थमें आता है, 'असंस्कृता' यह स्त्रीलिङ्गान्तशब्द 'अविवाहिता' अर्थमें आता है; अतः विवाहसे भिन्न स्त्रियोंका कोई उपनयन-संस्कार पृथक् नहीं। शूद्रको कृच्छ्रकर्माभिरत रहनेसे आयुतक एकज ही रहना पड़ता है। अतः द्विजत्वका सम्पादक उपनयन उसका नहीं होता। इस लाइनमें आनेपर फिर उनकी कृच्छ्रकर्मोंमें रुचि नहीं रह जाती। इससे देशकी बड़ी हानि हो सकती है। इसलिये 'तपसे [कृच्छ्रकर्मणे—] शूद्रम्' (यजुः सं० ३०।५) इत्यादि वेदके निर्देशोंको देखकर उसे इस लाइनमें नहीं लाया गया। जन्मजात वर्ण ही अपने वर्ण-धर्मका उत्तरदायित्व सदाके लिये लेता है। कर्मजात वर्ण तो तंग होकर उस वर्ण-धर्मके जूएको अपने कंधेसे उतार फेंकता है। इससे देशकी बड़ी हानि एवं अव्यवस्था आ उपस्थित होती है। इसके त्राणार्थ दूरदर्शी हमारे ऋषियोंने वेदके संकेतसे जन्मना ही वर्ण व्यवस्थापित किया है।

(ख) वेदारम्भ—उपनयन वेदाध्ययनका अधिकार-प है; तब उस उपनयनके पहननेपर उसी दिन वेदाध्ययनका क्रम प्राप्त है—

'स्मृत्वोङ्कारं च गायत्रीमारभेद् वेदमादितः।'
(व्यासस्मृति १।२४)

ॐकार और गायत्रीका स्मरण करके आदिसे ही वेदाध्ययन आरम्भ करे।

इसमें सब वेदोंका प्रतिनिधि सावित्र मन्त्र पढ़ाया जाता है; क्योंकि—वह वेदका सारभूत है। इस विषयमें 'गायत्री-मन्त्रकी महत्ताका रहस्य' हमारा निवन्ध 'कल्याण' (२५ । १२) में देखें। इस संस्कारमें मन्त्रसंहिताओंका स्वाध्याय किया जाता है। मुख्यतया स्वशाखीय चारों वेदोंकी एक-एक संहिताका अध्ययन करना पड़ता है। 'मनुस्मृति'में वेदारम्भ पृथक्‌रूपसे नहीं है, आश्वलायनगृह्यमें भी नहीं है। पारस्करमें भी पृथक् नहीं। उपनयनमें ब्रह्मचर्यका व्रत होनेसे कई उसके नियम अनुसरण करने पड़ते हैं; वे 'मनुस्मृति' के २ । १७७-१७८-१७९-१८० पद्योंमें तथा 'गोभिलगृह्यसूत्र' तथा 'व्यासस्मृति' आदिमें द्रष्टव्य हैं। उनसे ब्रह्मचारियोंका हित-साधन होता है। यह उपनयन एवं वेदारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम संस्कार है।

केशान्त-संस्कार

'केशान्तकर्मणा तत्र यथोक्तं चरितव्रतः ।'

(व्यासस्मृति १ । ४१)

(वहाँ शास्त्रोक्त विधिसे भलीभाँति व्रतका आचरण करने-वाला ब्रह्मचारी केशान्त संस्कारद्वारा ·······।)

पहला बालकका मुण्डन प्रथम वा तृतीय वर्षमें होता है। उसमें लक्ष्य गर्भके केश दूर करना है। फिर मुण्डन उपनयनके समय करना पड़ता है, जिससे क्रियामें अधिकार हो सके। फिर अष्टम वर्षमें रक्खे गये केशोंका मुण्डन इस केशान्तमें होता है। ब्राह्मणका १६ वें, क्षत्रियका २२ वें, वैश्यका २४वेंमें हुआ करता है (मनु० २ । ६५)। केशान्तसे शिखातिरिक्त केशोंका छेदन इष्ट है, शिखाका छेदन इष्ट नहीं। उसका श्रीमनुके मतमें उष्ण देश-कालसे भी कुछ सम्बन्ध नहीं। 'केश'से 'शिखा'का ग्रहण भी नहीं होता; तभी—

'केशा न शीर्षन् यशसे, श्रियै शिखा ।' (यजुः १९ । ९२)

मस्तकपर यशके लिये जो केश हैं और श्री (शोभा एवं लक्ष्मी) के लिये जो शिखा है—

इस मन्त्रमें केश और शिखाको पृथक्-पृथक् कहा है; और ब्राह्मणादिका १६–२२–२४ वर्षमें उष्णतासे कोई भी सम्बन्ध नहीं।

इस संस्कारको आश्वलायनगृह्यमें पृथक् नहीं माना गया। इसीको सूत्रग्रन्थोंमें 'गोदान' शब्दसे भी कहा है। 'रघुवंश' के ३ । ३३ पद्यकी व्याख्यामें श्रीमल्लिनाथने 'गोदान'का—

'गावो—लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या 'गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्यं केशान्ताख्यं कर्म उच्यते ।'

'गौ अर्थात् लोम—केश जिसमें काट दिये जाते हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार गोदान-पद यहाँ ब्राह्मण आदि वर्णोंके सोलहवें आदि वर्षोंमें करनेयोग्य केशान्त नामक कर्मका वाचक है।'

—यह अर्थ किया है। यह मध्यम शिरोमुण्डन है।

समावर्तन (स्नान)-संस्कार

समाप्य वेदान् वेदौ वा वेदं वा प्रसभं द्विजः ।
स्नायीत गुर्वभ्यनुज्ञातः प्रवृत्तोदितदक्षिणः ॥

(व्यासस्मृति १ । ४२)

द्विजको चाहिये कि तीन, दो या एक वेदको पूर्णरूपसे समाप्त करके गुरुको उनकी माँगी हुई दक्षिणा देकर उनसे आज्ञा ले व्रतान्त-स्नान (समावर्तन-संस्कार) करे।

इस संस्कारमें विद्या-समाप्ति होती है। २४ वें वर्षमें आचार्यकुलमें विशेष स्नान भी करना होता है। ब्रह्मचर्यके चिह्न मेखला आदिका त्याग करना पड़ता है। जटा-लोम आदिका छेदन करके गार्हस्थ्यके उपयुक्त चन्दन, पुष्पमाला, पगड़ी, भूषण, शीशा देखना, सुरमा लगाना, छाता करना, जूता पहनना यह नियम आचार्यकी देख-रेखमें किये जाते हैं। फिर आचार्यको दक्षिणा देकर आचार्यकुलको छोड़कर अपने घरमें आ जाना पड़ता है। ऐसा नियम ठीक भी था। विद्याकी प्राप्ति आचार्यकुलमें जैसी हो सकती है, वैसी अपने घरमें नहीं। घरमें कई विघ्न आते हैं। लड़का घरमें उतने नियम पालन भी नहीं कर सकता। पिता आदिका गुरु-इतना भय भी नहीं रहता। आचार्यकुलमें आचार्यके भयसे तथा अन्य साथियोंके देखनेसे नियमोंके अनुसरणमें प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्राप्त होता है। विद्या एवं व्यायामके अतिरिक्त वहाँपर कोई कार्य नहीं करना पड़ता। गुरु-शुश्रूषाके निमित्तसे वटु स्वकार्यपटु भी हो जाता है। घरमें रहनेवाले लड़केकी भाँति वह आलसी नहीं रहता। इसमें अन्तमें उपदेश दिया जाता है कि जो विद्या पढ़ी है, जो आचार-विचार सीखे हैं, जो ज्ञान लिया है, इनका 'अधीति-बोधाचरणप्रचारणैः' से जीवनमें उपयोग लो। उनके स्वयं

उदाहरण बनो; दूसरोंमें उनका प्रचार करो । इस संस्कारमें ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्ति होती है ।

विवाह तथा अग्न्याधानका रहस्य

एवं स्नातकतां प्राप्तो द्वितीयाश्रमकाङ्क्षया ।
प्रतीक्षेत विवाहार्थमभिवन्द्याऽन्वयसम्भवाम् ॥
(व्यासस्मृति २ । १)

'अनन्यपूर्विकां लघ्वीं विख्यातदशपूरुषाम्' (३)

इस प्रकार स्नातक होकर दूसरे आश्रम (गार्हस्थ्य) में प्रवेश करनेकी इच्छासे विवाहके लिये उच्चकुलकी कन्याको ग्रहण करे । वह कन्या किसी दूसरेको न तो दी गयी हो और न किसीकी पत्नी ही रह चुकी हो । अवस्थामें अपनेसे छोटी हो और उसकी ऊपरकी दस पीढ़ियोंमें सभी लोग अपने शुद्ध आचार-विचारके लिये विख्यात रहे हों ।

यह संस्कार विद्या-समाप्तिके बाद पितृ-ऋणसंशोधनार्थ किया जाता है । इसमें विधिपूर्वक दारवहन—स्त्रीग्रहण किया जाता है । विवाह करके फिर विद्याग्रहण हो भी नहीं सकता । अतः विद्यार्थीको सदा विद्यास्नान समाप्त करके ही विवाह करना चाहिये । इससे कामका केन्द्र उसकी पत्नी रहती है; अन्यत्र उसका दृक्पात वा गमन नहीं होता । काम एक स्वाभाविक वस्तु है, परमात्माकी सृष्टि बढ़ानेका एक साधन है । जो जितेन्द्रिय होकर रह सकते हैं, वे भले ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहें; पठन-पाठन-प्रचारण आदिके द्वारा लोकोपकार-का कार्य करते रहें; पर—

'तस्माद् एकाकी न रमते' (शत० १४ । ४ । २ । ४)

इसलिये अकेला मनुष्य प्रसन्न नहीं रहता ।

संसारमें एक दूसरे साथीकी भी अवश्य आवश्यकता पड़ती है, जो कि हमारा क्षेत्र-पूरक हो । पुरुषका कार्य बाहर आने-जानेका रहता है; क्योंकि उसे वृत्ति भी तो करनी होती है और घरमें धर्म-कर्म भी करना होता है, अतः उसे गृहपत्नी भी तो चाहिये, जो उसका सर्वकर्मका निर्वाह कर सके, उसकी सेवा कर सके, जिससे वह अपने धर्म-कर्ममें निश्चिन्ततासे लगा रहे; और वृत्ति भी कर सके; अतः विधिपूर्वक स्त्रीपरिग्रह भी आवश्यक ही है । विवाह—विधिपूर्वक स्त्रीको ग्रहण कर लेना—यह धर्मोद्देश्यसे होता है । ऐसे ही किसी स्त्रीको रख लेनेसे वह 'धर्मपत्नी' नहीं बन सकती; वह 'रखेली' कही जाती है; अतः विधिपूर्वक विवाह करनेसे ही 'धर्मपत्नीत्व' होता है और धर्मानुष्ठान भी पुरुषका पूर्ण होता है ।

स्त्री स्वतन्त्र-वृत्ति न करती हुई भी जैसे पुरुषकी वृत्ति-की फलभागिनी होती है, वैसे ही यज्ञादि कर्म स्वतन्त्रतासे न करती हुई भी उस कार्यमें सहायता देने और साथ बैठनेसे उसके फलको प्राप्त कर लेती है । तभी तो कहा जाता है—

'वसिष्ठस्य पत्नी—वसिष्ठकर्तृकयज्ञस्य फलभोक्त्री' (वसिष्ठकी पत्नी अथवा वसिष्ठके किये हुए यज्ञ-फलको भोगनेवाली) इसीलिये वह विद्या प्राप्त नहीं करती; क्योंकि उसका काम सेवा करना है; सेवासे विद्यावाला मेवा उसे मिल ही जाया करता है । उसका पति ही विद्या पढ़ा होनेसे उसके विद्याकार्यका निर्वाहक हो जाता है । दाहिना हाथ लिखता है, बायाँ नहीं । पर बायाँ हाथ दाहिनेका सहायकमात्र होता है । न तो बलशाली होता है, न दाहिने हाथवाले सब विशिष्ट अनुष्ठानों तथा कर्मोंमें वह अधिकृत ही होता है । यदि स्त्री भी पुरुष-इतनी विद्या पढ़े, तो वह पुरुषकी सेवा ही न कर सके । साम्यवादमें सेवा नहीं हुआ करती । यदि उससे दोनों काम लिये जायँ; अपनी सेवा भी उससे पूरी करायें, विद्याकार्य भी उससे लें तो यह उसपर अत्याचार होगा । देखिये; पुरुष ही विद्याकार्य करके फिर सेवा करने योग्य नहीं रहता, किंतु अपनी सेवा कराने ही लगता है । उसे यज्ञकार्य करना है, ग्रन्थ-प्रणयन करना है; उसे वृत्तिके लिये जाना है, उसे सब वस्तुएँ प्रस्तुत चाहिये । पठिता स्त्री स्वाभाविकतावश अपने उसी विद्याकार्यमें संलग्न रहनेसे उस सेवामें सक्षम नहीं हो सकती ।

'ममेयमस्तु पोष्या' (अथर्व० १४ । १ । ५२)

'यह मेरी पोष्या हो ।' इस वैवाहिक मन्त्रने उसे 'पोष्या' बताकर सिद्ध कर दिया है कि उसे स्वतन्त्र विद्याकार्य वा स्वतन्त्र-वृत्तिकार्यकी कोई आवश्यकता नहीं । हाँ, आचार-विचारकी शिक्षा उसके लिये माता-पिताद्वारा आवश्यक है । पुरुष ही उसके योगक्षेमका निर्वाहक होता है । अस्तु ।

विवाह-संस्कारका प्रयोजन—विवाह एक सांसारिक अव्यवस्थाको दूर करनेवाला संस्कार है, इसीसे पुरुष सुसंस्कृत तथा सभ्य एवं धर्मात्मा बनता है । यदि विवाह-संस्कार न हो तो पुरुष पशुसे भी गया-बीता हो जाय । विवाहके अभावमें न तो पुरुषकी कोई पत्नी हो सकती है, न उसकी कोई लड़की-लड़का आदि संतान । विवाह-बन्धनके अभावमें

पुरुष अपनी कामवासनाको पूर्ण करनेके लिये कुत्ते आदि पशुओंकी तरह स्त्रीमात्रके पीछे लगा रहता, बलात्कार करता, छीना-झपटी करता, लड़ता-झगड़ता, खून कर डालता, अपनी बुद्धिको दूसरेके विनाशमें लगाता और क्रोधके साम्राज्यको व्यापक बनाता है। उससे उत्पन्न इन अवैध संतानोंकी कोई रक्षा नहीं करता। उनको पशु-पक्षी खा जाते, जीवित रहते तो गली-गली ठोकरें खाते फिरते। न उनका घर होता, न कोई उनका स्कूल-कॉलेज होता। विवाहरहित राष्ट्र, धर्म, शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, कला, विज्ञानसे सर्वथा शून्य एक पशुराष्ट्र ही होता, परंतु इसी विवाह-संस्कारने मनुष्यको व्यवस्थित किया, परिवार दिया, घर बसानेकी प्रेरणा दी। विवाहसे ही हमारा यह सुनहला संसार बस पाया।

मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है; अपने शरीरमें उसकी जितनी मोह-ममता हो सकती है, उतनी अन्य किसी वस्तुमें नहीं। विवाहद्वारा उसका स्वार्थ या अपने शरीरका ममत्व अपने शरीरसे आगे निकलकर पत्नी, पुत्र, कन्या, सगे-सम्बन्धी आदि परिवारमें बँट जाता है। उस मनुष्यका स्वार्थपरक प्रेम पहले घरकी चहारदीवारीसे प्रारम्भ होकर मोहल्ला, गली, ग्राम, नगर, प्रान्त, देश और फिर क्रमशः समस्त विश्वमें व्याप्त हो जाता है। गृहस्थमें रहते हुए पति-पत्नीको एक दूसरेके हितके लिये अपने स्वार्थका बलिदान, मनके प्रतिकूल व्यवहारमें सहिष्णुता और क्षमा, अत्यन्त कष्टमें भी धैर्य आदि गुणोंका प्रयोग अनिवार्य होता है, उनका जीवन स्वतः ही सुनियन्त्रित हो जाता है। ये सब गुण क्रमशः विकसित होकर मनुष्यको सामाजिक क्षेत्रमें विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। गृहस्थके इस परम विद्यालय-में त्याग-प्रेम आदिका पूर्ण अभ्यास कर जब पति-पत्नी उसी प्रेमभाव, त्यागभावका प्रयोग ईश्वरकी दिशाकी ओर प्रवृत्त कर देते हैं, तब वे ईश्वरके अत्यन्त निकट पहुँच जाते हैं। यही उनके शास्त्रानुसार जीवनका चरम लक्ष्य हुआ करता है। इस प्रकार यह विवाह-संस्कार संसारको सुव्यवस्थित करनेका एक अचूक उपाय है। (क्रमशः)

उत्तेजनाके क्षणोंमें

[क्रोध, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[गताङ्कसे आगे]

यह क्रोध आता कहाँसे है? इसका उद्गम कहाँ है? 'गीताप्रवचन'में संत विनोबाने इसकी सुन्दर व्याख्या की है—

'पानी ऊपरसे साफ दीखता है; परंतु उसमें पत्थर डालिये, तुरंत ही अंदरकी गंदगी ऊपर तैर आयेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अन्तःसरोवरमें नीचे घुटने-भर गंदगी जमा रहती है। बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह दिखायी देने लगती है। हम कहते हैं, उसे गुस्सा आ गया। तो यह गुस्सा कहीं बाहरसे आ गया? वह तो अंदर ही था! मनमें यदि न होता तो वह बाहर दिखायी ही न देता!'

× × × ×

वस्तुतः काम-क्रोध आदि विकार तो हमने मनके भीतर सँजो-सँजोकर रख छोड़े हैं। उनके संस्कार मनमें ठसाठस भरे पड़े हैं। वे प्रकट होनेके लिये कुलबुलाया करते हैं। मौका मिला और वे हाजिर! प्रसङ्ग उपस्थित हुआ नहीं कि उन्हें हाजिर होते देर नहीं लगती!

× × × ×

बच्चोंको हम कागजों, पत्थरों, चूड़ियोंके टुकड़े, सलाईके खाली डिब्बे, फटे-पुराने चित्र आदि सँजोते देखकर उनके परिग्रहकी आदतपर हँसते हैं, परंतु हम जो मनमें दुनियाभरके फाल्तू विचार, गंदे संस्कार, दुर्भावनाएँ, अनावश्यक स्मृतियाँ सँजोया करते हैं, उनपर कभी हमें हँसी आती है? कैसी नादानी है हमारी यह!

× × × ×

बच्चोंके खजानेकी एक कौड़ी भी कोई छीन ले फिर देखिये उनका रोना-चिल्लाना, बिलखना और पैर पटकना। परंतु हमारा क्रोध उनसे किसी अंशमें कम नहीं! रुपया-पैसा,

धन-दौलत, जमीन-मकान, स्त्री-पुत्र आदि हमारे खिलौने कोई छीन ले, उन्हें तोड़-फोड़ दे, किसी प्रकार नष्ट कर दे, हमारे विचारोंको, हमारे संस्कारोंको, हमारी वासनाओंको जरा-सा ठुकरा दे, हल्की-सी भी ठेस मार दे, फिर देखिये हमारा ताव!

नादानीमें हम बच्चोंसे किसी कदर कम नहीं !

वाये नादानी कि वक्ते-मर्ग यह साबित हुआ,
ख्वाब था जो कुछ कि देखा जो सुना अफसाना था ।

× × × ×

इस नादानीको मिटाये बिना काम-क्रोधसे छुटकारा मिलना असम्भव है। 'सत्यधर्माय दृष्टये' हमें हिरण्मय ढकनको उठाना ही होगा। मनके अन्तःसरोवरमें हमने जो गंदगी भर रक्खी है, उसे निकाले बिना काम चलनेवाला नहीं। मनोमलको नष्ट किये बिना न तो हम शान्ति प्राप्त कर सकते हैं, न आनन्द। जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये हमें इन विकारोंसे अपनेको मुक्त करना ही होगा।

× × × ×

उस दिन अकस्मात् श······ने मुझसे पूछ ही तो दिया—'अच्छा बताइये तो क्रोधसे कैसे छुटकारा पाया जाय ?'

मेरे पास इस प्रश्नका उत्तर ही क्या है ? क्रोधसे मैंने छुटकारा पा लिया होता तो मैं इस प्रश्नका उत्तर देनेका अधिकारी हो सकता था। परंतु अपनी हालत तो मैं पहले ही बता चुका हूँ। यहाँ तो अभी 'दिल्ली दूर अस्त'। फिर भी—

पानी मिलै न आपको औरन बकसत छीर।
आपन मन निश्चल नहीं और बँधावत धीर ॥

× × × ×

डाक्टरका बेटा बिना डाक्टरी पढ़े घाव चीरने नहीं बैठता। वकालत पढ़े बिना वकीलका बेटा वकालत करने नहीं जाता। परंतु हमारे लिये ये बातें लागू नहीं होतीं। अमल भले ही न करें, परंतु उपदेश देनेका तो हम अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते ही हैं। इसी हैसियतसे मैंने श······को समझानेकी चेष्टा की।

× × × ×

श······एक कम्पनीमें काम करते हैं। वहाँ दुर्व्यवस्था तथा कुछ ऐसे ही अन्य कारणोंसे कर्मचारियोंको समयसे पैसा नहीं मिलता। दो-दो, तीन-तीन मासकी देर हो जाना नियम-सा बन गया है। समयपर पैसा न मिलनेपर और उसके अभावमें कष्ट होनेपर चित्तका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। श······गये थे मैनेजरसे पैसा माँगने। न मिलनेपर उनका क्रुद्ध हो उठना अस्वाभाविक नहीं था।

जल्दी ही गरमागरमी आ गयी बातचीतमें।

पैसा भी नहीं मिला, पश्चात्ताप भी हुआ। 'दोऊ दीनसे गये पाँड़े, हलुआ मिला न माँड़े !'

मुझसे भेंट हुई तो उनकी जबानपर यही प्रश्न था कि इस क्रोधको कैसे रोका जाय ?

× × × ×

मैंने कहा—क्रोधको रोकनेके उपाय तो कितने ही बताये गये हैं। कुछ तात्कालिक हैं, कुछ स्थायी। जैसे—

(१) गालीका जवाब गालीसे मत दो।
(२) मौन हो जाओ।
(३) मैदान छोड़ दो।
(४) राम-राम जपने लगो।
(५) 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः' का जप करने लगो।
(६) शीतल जलसे स्नान कर लो।
(७) प्रसंग बदल दो।
(८) क्रोधके पात्रसे क्षमा माँग लो।

ये हुए तात्कालिक उपाय, क्रोधको स्थायी रूपसे शान्त करनेके लिये कुछ अन्य उपाय हैं—

(९) मालिककी मर्जीको अपनी मर्जी बना लो। उनके मङ्गलविधानको मङ्गलमय मान लो।
(१०) वाणीके संयमका अभ्यास करो।
(११) सात्त्विक जीवन अपनाओ।
(१२) सोचो कि क्रोधसे बिगड़ा काम बिगड़ेगा ही, सुधरेगा नहीं।
(१३) क्षमा-धारणका अभ्यास करो।
(१४) घट-घटमें ब्रह्मके दर्शन करो।
(१५) शान्तिको न फिसलने देनेका निश्चय करो।

× × × ×

गीतामें कहा गया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(३ । ३७)

'रजोगुणसे पैदा होनेवाला यह काम ही क्रोध है। बड़ा पेटू

है यह । कभी इसका पेट भरता ही नहीं । यह बड़ा पापी है। इसे ही तू अपना शत्रु समझ ।'

गाँधीजी कहते हैं—'हमारा वास्तविक शत्रु अन्तरमें रहनेवाला चाहे काम कहिये, चाहे क्रोध,—यही है ।'

इन्हींको जीतनेकी जरूरत है ।

पर यह है बहुत कठिन । बड़े अभ्याससे इसपर विजय प्राप्त की जा सकती है । बड़ी साधना करनी पड़ती है इसके लिये । तभी न कहा गया है—

जग जीतनेसे बढ़कर है नफ्स जीत लेना !

× × × ×

जिस व्यक्तिने विकारोंपर विजय प्राप्त कर ली, विषयोंको जीत लिया, उससे बढ़कर और कौन हो सकता है ?

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
(गीता ५ । २३)

शरीर छूटनेसे पहले जो व्यक्ति काम और क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, काम-क्रोधको जो जीत लेता है, वही तो योगी है, वही तो सुखी है !

जिंदा होते जो मुर्दा बन जाता है, काम-क्रोध आदि विकार जिसे विचलित नहीं कर पाते, वही पुरुष तो सच्चा सुखी है । मानव-जीवनकी सार्थकता तो इसीमें है। शव बने बिना शिवकी प्राप्ति हो ही कैसे सकती है ?

× × × ×

गीता कहती है—'कामात्क्रोधोऽभिजायते !'
कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है ।
सो कैसे ?
शङ्कराचार्य कहते हैं—

'कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोधः अभिजायते ।'

कामके प्रतिहत होनेपर उसमेंसे क्रोध पैदा होता है ।

'बुझै न काम अगिनि 'तुलसी' कहुँ विषय भोग बहु घी ते !'

कामनाओंका कभी अन्त होनेवाला है ?

जहाँ उनकी पूर्तिमें बाधा पड़ी कि क्रोध आया !

× × × ×

एकनाथ कहते हैं—'काम या तो पूरा होगा या अधूरा रहेगा । अधूरा रहा तो क्रोध पैदा होगा, पूरा हो गया तो लोभको जन्म देगा । अतः 'क्रोध' शब्दका अर्थ क्रोध और लोभ मिलाकर व्यापक करना चाहिये ।'

× × × ×

विनोबा 'स्थितप्रज्ञदर्शन'में कहते हैं—'क्रुध' धातुका मूल अर्थ तौलनिक भाषाशास्त्रके अनुसार क्षोभ, खलबली है । इसके समानार्थक 'क्षुभ' धातुका तो 'क्षोभ'के अर्थमें संस्कृतमें प्रायः सदा ही प्रयोग होता है । क्रोधका स्थूल एवं हमारा परिचित अर्थ है गुस्सा—संताप । यहाँ अभीष्ट है चित्तका चलन अथवा क्षोभ ।'

'कामके उत्पन्न होते ही मनकी स्थिरता डिगने लगती है । मनमें अप्रसन्नता उत्पन्न होती है । कामकी पूर्ति हो या न हो, उसके उत्पन्न होते ही चित्तकी समता चली जाती है ।'

'काम कहते हैं मनकी इस छटपटाहटको कि मुझे अमुक चीज चाहिये । और, यही अप्रसन्नता है । जबतक वह विषय प्राप्त नहीं होता तबतक मैं पूर्ण नहीं हूँ । उसके बगैर मुझमें कमी है । यही कारण है जो कामनासे मन मलिन होता है ।'

'संस्कृतमें साफ पानीको 'प्रसन्नं जलम्' कहते हैं । प्रसन्नताका अर्थ है निर्मलता और पारदर्शकता । मल होता है पानीके बाहरकी वस्तु । उसका रंग जहाँ पानीपर चढ़ा कि वह मटमैला हुआ ।'

'आत्मा जब अपने मूलस्वरूपमें रहता है तो प्रसन्न रहता है । उसे बाहरी वस्तुकी इच्छा होना, उसका रंग उसपर चढ़ने लगना उसका मैलापन है। यही अप्रसन्नता है । बाह्य कामना जहाँ आयी कि मिलावट हुई । तब कामनाके सामने आत्मा गौण हो जाता है, फीका पड़ जाता है । उसका मन चलित होने लगता है, अशान्ति, व्याकुलता मालूम होने लगती है, क्षोभ होता है । इसीको यहाँ 'क्रोध' कहा है ।'

× × × ×

कामनासे चित्तक्षोभ क्यों होता है, इसकी व्याख्या करते हुए विनोबा कहते हैं—

'आत्माके परिपूर्ण और अनन्त गुणी होते हुए भी मनुष्य बाह्य वस्तुके लिये क्यों छटपटाता है ? बाहरकी इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके झंझटमें वह क्यों पड़ता है ? इसका कारण यह है कि मनुष्यके चित्तको आत्माका दर्शन नहीं होता । केवल बहिर्दर्शन होता है । बाहरी सृष्टिका

सौन्दर्य उसे लुभाता है। असौन्दर्य त्रास देता है। वस्तुतः सौन्दर्य अथवा असौन्दर्य बाह्य वस्तुमें नहीं है। वहाँ तो आकारमात्र है। तद्विषयक अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति मुख्यतः चित्तकी करनी है।'

'चित्त इन्द्रियाधीन है। सृष्टि ईश्वरकी बनायी हुई है, परंतु उसके सम्बन्धमें जो कल्पना है, ख्याल है, वह मेरा है। अर्थात् मेरे इन्द्रियाधीन चित्तका है। इस तरह मैं सृष्टिके भिन्न-भिन्न पदार्थोंके विषयमें अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति बनाता हूँ। वह क्षोभका कारण होती है। बाह्य वस्तुकी अभिलाषा करते रहनेसे आत्मा न्यूनताको प्राप्त होता है और इससे चित्त क्षुब्ध होता है। चित्तकी इस क्षुब्धताको ही यहाँ 'क्रोध' कहा है।'

× × × ×

चित्तमें कामनाका उदय हुआ नहीं कि क्षोभ आया। क्षोभ आते ही चित्त आत्माका आश्रय छोड़कर जगत्के प्राणी-पदार्थोंके लिये छटपटाने लगता है। यह छटपटाहट, यह आकुलता ही क्रोधकी जननी है। इसीसे बुद्धि अपने स्थानसे चलित हो जाती है। उसका संतुलन जाता रहता है। मनुष्य ऊटपटांग बकने लगता है, ऊल-जलूल काम करने लगता है। इसीका नाम क्रोध है। इसीको गुस्सा कहा जाता है। इसीका नाम अप्रसन्नता है।

× × × ×

क्रोधके प्रसंग हमारे जीवनमें हजारों बार उपस्थित होते हैं।

हमारे आराममें बाधा पड़ती है, हमें क्रोध आ जाता है।

हमारे स्वार्थमें व्याघात होता है, हमें क्रोध आ जाता है।

हमारी इच्छा और रुचिके विपरीत कुछ होता है, हमें क्रोध आ जाता है।

हमारा कोई काम बिगड़ता है, कोई चीज खराब हो जाती है, हमें क्रोध आ जाता है।

हमारे अहंकारको ठेस लगती है, हमारी शान किरकिरी होती है, हमें क्रोध आ जाता है।

× × × ×

हमारे हृदयमें कामना है—आरामकी, सुखोपभोगकी। हम चाहते हैं कि सारी दुनिया उसी ढंगसे घूमे जिस ढंगसे हम घुमाना चाहें। हम चाहते हैं कि हमारी ही शान रहे, हमारी ही तूती बोले, सभी लोग हमसे दबकर रहें, हमें ही सब लोग महत्त्व दें, हमें ही ऊँचा मानें। इन सब इच्छाओंके विपरीत कुछ हुआ कि हमें क्रोध आया!

× × × ×

क्रोधसे छुटकारा पानेके लिये हमें इन सभी इच्छाओंपर काबू करना पड़ेगा। उसके लिये हमें स्वार्थ त्याग करना होगा, कष्टोंको बिना ननु-नच किये स्वीकार करना होगा, हानि चाहे जैसी हो जाय, चेहरेपर शिकन भी नहीं लानी होगी, अहंकारको धो बहाना होगा, नम्रता धारण करनी पड़ेगी और निरन्तर क्षमाका अभ्यास करना होगा।

× × × ×

श··से मैंने कहा—आप पैसा माँगने गये थे। पैसा आपको नहीं मिला। आपके स्वार्थमें बाधा आयी। आपके सुखोपभोगमें अड़चन उपस्थित हो गयी। आपको क्रोध आ गया।

आप चाहते हैं कि आपको क्रोध न आये तो आपके चिन्तनकी धारा कुछ इस प्रकारकी होनी चाहिये—

क्रोध करनेसे क्या लाभ है?

(१) सम्भव है गरमागरमी करनेसे आपको पैसा मिल जाय।

(२) सम्भव है गरम पड़नेपर भी आपको पैसा न मिले।

× × × ×

अब पहली सम्भावनापर विचार कीजिये।

मैनेजरने किसी प्रकार व्यवस्था करके आपको पैसा दे दिया। परंतु यह निश्चित है कि उसके दिलमें आपके बारेमें एक गाँठ पड़ गयी। वह सोचेगा कि यह कर्मचारी बड़ा अभद्र है। इसे बात करनेका भी शऊर नहीं है। ऐसे आदमीको जितनी जल्दी सम्भव हो, हटा देना चाहिये।

जब मौका मिलेगा, वह आपको जलील करनेकी कोशिश करेगा। वह आपके साथ कड़ाईसे पेश आयेगा, आपकी तरक्की रोक लेगा और सदाके लिये आपके प्रति एक दुर्भावना अपने हृदयमें बैठा लेगा।

आपके गरम पड़नेसे मैनेजरके अहंकारको ठेस लगेगी, उसकी शानमें बट्टा लगेगा। हो सकता है कि उसके कारण वह पैसा देकर भी आपको हमेशाके लिये कामसे छुड़वा दे।

'जलमें रहकर मगरसे बैर' ठीक नहीं होता। याद

रखिये, पैसा ही सब कुछ नहीं है। पैसेसे सद्भाव कहीं ऊँची चीज है। पैसा पाकर आपने सद्भाव खो दिया तो यह बहुत बड़ी हानि हुई।

× × × ×

अब दूसरी सम्भावनापर विचार कीजिये।

आप गरम भी पड़े, पैसा भी नहीं मिला। पश्चात्ताप मिल गया घलुएमें।

हो सकता है मैनेजरके पास पैसा रहा हो, वह आपको देना भी चाहता हो, पर आपने गरम पड़कर स्वयं ही अपना पक्ष कमजोर कर लिया। तब उसने यही ठीक समझा कि आपके क्रोधके दण्डस्वरूप आपको अभी पैसा नहीं दिया जाय। नम्र और आज्ञाकारी कर्मचारियोंको पहले पैसा दे दिया जायगा, उसके बाद देखा जायगा।

आपकी अभद्रतासे आपको जो हानि पहुँच सकती है, उसकी आशंका तो रहेगी ही। मौका पाते ही मैनेजर दूधकी मक्खीकी तरह आपको निकाल बाहर करेगा!

आपकी वही स्थिति होगी कि—

न खुदा ही मिले न विसाले सनम, न इधरके रहे, न उधरके रहे।

× × × ×

मैं यह नहीं कहता कि आप पैसा नहीं माँगें। माँगें, जरूर माँगें। मेहनतकी कमाई माँगनेका आपको पूरा हक है।

मैं तो सिर्फ यही कहता हूँ कि आप नम्रतापूर्वक माँगें, पैसेके लिये चित्तका संतुलन न खो दें। फिर भी पैसा न मिले तो संतोष रक्खें।

नम्रतासे यह भी हो सकता है कि आपको पैसा देनेकी योजना न रहनेपर भी आपको पैसा मिल जाय। सद्भाव मिलेगा मुफ्तमें!

× × × ×

क्रोधसे छुटकारा पानेके लिये स्वार्थत्याग पहली शर्त है।

स्वार्थमें बाधा पड़ते ही हम गरम हो उठते हैं।

कोई-कोई तो इतने गरम हो उठते हैं कि मार-पीट, खूनखराबाकी डिग्रीतक जा पहुँचते हैं।

उनसे अच्छे हैं वे, जो गरम तो पड़ते हैं पर उनका क्रोध वाणीतक ही सीमित रहता है। मारपीटतक वे नहीं जाते।

उनसे भी अच्छे हैं वे, जो वाणीमें भी क्रोधकी छाया नहीं आने देते। परंतु हृदयमें तो उनके क्रोध रह ही जाता है।

सबसे अच्छे हैं वे, जो हृदयसे भी क्रोधको निकाल बाहर करते हैं। उत्तेजनाके कैसे भी विषम-से-विषम क्षण उपस्थित हों, उनके चेहरेपर शिकनतक नहीं आती, हृदयमें भी क्षोभकी हल्की-सी लहर नहीं उठती! काश, हम यह स्थिति प्राप्त कर सकें!

× × × ×

उन दिनोंकी बात है जब विहारमें साम्प्रदायिक विद्वेषकी आग धूधू करके जल रही थी। धर्म और मजहबके नामपर, दाढ़ी और चोटीके नामपर आदमी इंसानसे हैवान बन बैठा था!

बापू आये थे यहाँका दौरा करने।

उनके साथ दौरा करनेवाले एक पत्रकार बन्धु मुझे बता रहे थे कि बापूके समक्ष जब हिंसाकी परम उत्तेजक घटनाएँ उपस्थित की जाती थीं तो बापूके चेहरेपर बादलोंमें जिस तरह बिजली कौंधती है उस तरह पलभरके लिये क्रोधका भाव चमक उठता था, परंतु वे आधे सेकेंडसे भी कममें उसे जब्त कर लेते। दूसरे ही क्षण उनके चेहरेपर उनकी अखण्ड गम्भीरता और परम शान्ति आ विराजती थी।

कितनी जबर्दस्त थी बापूकी यह साधना! क्रोधपर विजय प्राप्त करनेका अद्भुत अभ्यास!

बापूकी इसी अद्भुत क्षमताने, नीलकण्ठकी भाँति विषको हँसते-हँसते पान कर लेनेकी साधनाने ही तो सारे देशमें प्रेम और अहिंसाकी वह स्रोतस्विनी प्रवाहित की, जिसमें अवगाहन करनेवाला कोई भी व्यक्ति पवित्र हुए बिना नहीं रह सकता! (क्रमशः)

× × × ×

श्वासोंका दैनिक विभाजन

(लेखक—श्रीरामलालजी पहाड़)

ऋग्वेदके अन्तमें कहा है—

'यथाभागं पूर्वे देवसंजानाना उपासते।'

शब्दार्थमें इतना ही है कि जिस तरह देव अपने पूर्वनिश्चित भागको अच्छी तरह जानते हुए ग्रहण करते हैं। लक्ष्यार्थ यह होता है कि अपने शरीरमें देवोंका निवास है और सबका भाग निश्चित है। शरीरकी भौतिक क्रियामें यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यकृत-स्थित पित्ताशय पित्तको ही, चाप शर्करा-रसको, गुर्दे (यूरिक-रस) मूत्रको, लारपिंड मुँहमें लारको ही एकत्रित करते हैं। इन क्षेत्रोंके शासक कभी अनाचार या अत्याक्रमण नहीं करते। यदि उनके अधीनस्थ कर्मचारी (सूक्ष्मकोशाणु) नियम तोड़कर काम करें तो पूरे शरीरमें अनास्था आरम्भ हो जाती है। मनुष्य रोगोंके घेरेमें फँस जाते हैं। शरीरको सुन्दर और स्वस्थ रखनेके लिये यही आवश्यक है कि प्रत्येक अवयव अपने निश्चित किये हुए भागको ही ले और पूरे शरीरका सामञ्जस्य स्थिर रक्खे। कोई भी अवयव ताल-भंग न करे। सब अपने यन्त्र लेकर और पोषणसे अपना ही भाग लेकर एक स्वरसे गाते रहें। सबको यही कहा है सब मिलकर 'संगच्छध्वम्' अर्थात् अपनी गति अच्छी तरह सँभालकर शरीरका कार्य करें। व्यक्तित्वकी पुष्टिमें लगकर अनुचित संग्रह कर तालभ्रष्ट न हों। समाजमें व्यक्ति जब अपनी ही तुष्टि-पुष्टिपर अत्यधिक ध्यान देता है और अन्य जनोंके स्वत्वकी उपेक्षा करता है, तब समाजमें विषमता उपस्थित हो जाती है। परिणामतः दरिद्रता, भूखमरी, अल्पायु आदि अनेक रोग और बुराइयाँ बढ़ जाती हैं।

ऋषियोंने अपनी निर्मल दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थमें दिव्य शक्तिका दर्शन किया। उन्होंने मानव-शरीरको भी देवोंका निवास माना है। एक उपनिषद्में कहा गया है कि ब्रह्मदेवने घोड़ा, ऊँट, हिरन, सिंह, गाय आदि शरीर रचकर कहा, 'देवो! इनमें तुम प्रवेश करो और रहो!' देवोंको यह सुनकर बड़ी व्यथा हुई। विचार करते हुए ब्रह्मदेवने कालान्तरमें मनुष्याकृतिकी रचना की। अब देवोंको बुलाकर कहा—'इसमें प्रवेश करो और रहो।' देव बहुत प्रसन्न हुए और प्रवेश करने लगे। देवोंने मनुष्य-शरीरको अपना निवास-स्थान बना लिया। इस आख्यायिकाका रहस्य यह है कि मनुष्यशरीरमें (योनिमें) दिव्य शक्तियाँ काम करती हैं, परंतु अन्य प्राणियोंमें नहीं। मनुष्य-शरीर 'मोक्षकर द्वारा' माना गया है। अन्य शरीर केवल भोगायतन हैं। योगियोंने बताया है कि हमारे शरीरमें सूक्ष्म चक्र हैं और चक्राधिदेवता रहते हैं। प्रत्येक देव अपने क्षेत्रको सुन्दर रखनेका प्रयत्न करता है। प्रथमपूज्य देव गणेशजी हैं। इनका केन्द्रस्थान मूलाधार चक्र है और क्षेत्र अखिल पचनप्रणाली है। जिसमें स्थान-स्थानपर विशेष कर्मचारी काम करते हैं। जिस प्रकार निर्मल दृष्टिसे देवोंका दर्शन किया, उसी प्रकार यह भी जान लिया कि मनुष्य दिन-भरमें २१६०० बार श्वासोच्छ्वास करता है। इन श्वासोंमें गणेशजी केवल ६०० पानेके अधिकारी हैं। प्रतिमिनिटमें मनुष्य १५ बार श्वासोच्छ्वास लेता है। इस कारण ६०० के लिये ४० मिनिट लगते हैं। इस गणितके आधारपर जीवनके कार्योंको निश्चित कर दिया। मनुष्य इस नियमके अनुकूल अपनी दिनचर्या रक्खे तो वह सुखी और स्वस्थ रह सकता है। अस्तु।

गणेशजीका भाग २४ घंटोंमें केवल ४० मिनिट है। इसका रहस्य यह है कि यदि गणेशका कोप नहीं और वे संतुष्ट हैं अर्थात् पचनप्रणालीमें लारपिंड, दाँत, अन्ननली, आमाशय, आन्त्रभाग, पित्ताशय, गुर्दे आदि अवयव यथोचित रीतिसे काम करते और सब स्वस्थ हैं तो शौच, मुखमार्जन (हो सके तो स्नान) का काम ४० मिनिटोंमें समाप्त हो जाना चाहिये। अन्यथा गणेशजीके क्षुब्ध हो जानेसे, पचन-प्रणालीमें विकार आ जानेसे न्यूनाधिक समय लग जाता है। जिससे अन्य देवोंका भाग मारा जाता है। शरीरका सामञ्जस्य बिगड़ जाता है। इस क्षेत्रमें अनेक भयंकर रोग हुआ करते हैं, यथा—जाँडाइस, अपेंडिसाइटिस (आन्त्रपुच्छ-विकार), आँव, पेचिस, संग्रहणी, अतिसार, अर्श, भगंदर आदि। जब गणेशजीके कोपके कुछ चिह्न प्रकट हों तब उनकी प्रिय वस्तु दूर्वा ही परम ओषधि और मोदक (चूरमा) ही अनुपान है। मनुष्य संयमसे रहे और गणेशजीको उचित भाग देकर शान्त करता रहे तो वह अपने जीवनको सुखी बना सकता है।

इनके आगे स्वाधिष्ठानमें ब्रह्मा, मणिपूरमें विष्णु और

अनाहतमें शिवजीका निवास-स्थान है। प्रत्येक भागके लिये ६००० श्वास निश्चित है अर्थात् दिनमें प्रत्येककी सेवा-आराधनामें ४०० मिनिट अर्थात् ६ घंटे और ४० मिनिट दिये जायँ। ऐसा करनेसे मनुष्यका सर्वथा कल्याण होता है। ब्रह्मा-उपार्जन (निर्माण) शक्तिके, विष्णु भोग (पालन-रक्षण) शक्तिके और शिवजी उपराम (संहार) शक्तिके अधिष्ठाता हैं। इसका आशय यह है कि मनुष्य अपने दिनका विभाजन इस प्रकार कर ले। वह ६$\frac{2}{3}$ घंटे द्रव्य-उपार्जनके कार-बार करनेमें लगावे। आधुनिक विज्ञान भी यही कहता है कि मनुष्य अधिक-से-अधिक सात या आठ घंटे परिश्रम करे। प्राचीन गणित भी वही ६ या ७ घंटोंका प्रमाण बताता है। न्यायोचित परिश्रम कर उपार्जित द्रव्यके उपभोग-रक्षणमें ६$\frac{2}{3}$ घंटे लगावे और निश्चित होकर सबको समेटकर सोनेमें ६$\frac{2}{3}$ घंटे लगावे। मनुष्य कमाने, खाने-पीने, राग-रंग और सोनेमें बीस घंटे लगा ले तो भी उसे शेष समय आत्मचिन्तन और ईश्वरके ध्यानमें लगाना चाहिये। इन देवोंको यथोचित भाग क्रमशः मिलता रहेगा तो इनकी कृपा बनी रहेगी। ये क्रमशः जेननेन्द्रियों, लसीग्रन्थियों और रक्तसंचार-प्रणालीके स्वामी हैं। ये ही वात, पित्त और कफको सम रखकर शरीरको सुन्दर रखते हैं। इनकी अवहेलनासे त्रिदोष-सदृश भयंकर व्याधि हो जाती है। इन क्षेत्रोंमें अनेक व्याधियाँ होती हैं। इनकी प्रिय वस्तु तुलसी, शहद, काली मिर्चके साथ लेकर पायस-अन्न और बेलपत्री, दही मिश्रीके साथ लेकर सूखी रोटी शहदके साथ खानेसे प्रायः सब कष्ट दूर कर देते हैं। देवोंको देवप्रिय पदार्थ मिलनेसे तृप्ति हो जाती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

'हे अर्जुन ! तुम इस आदान-प्रदान (हवन, पूजन, यजन) से देवोंका प्रिय काम करो और वे देव तुमपर कृपा करते रहें। इस प्रकार परस्पर प्रेम-व्यवहारसे 'कल्याण'को प्राप्त करो।' अथवा—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

हे अर्जुन ! युक्त होकर, देवों और उनकी प्रकृतिसे मिल-जुलकर तुम अपना खान-पान, परिश्रम, राग-रंग, जागना-सोना करते रहो। तुम्हें उनकी कृपासे दुःखनाशक योग प्राप्त हो जायगा। ये देव कृपा कर दैहिक, दैविक और भौतिक तापोंका नाश कर सकते हैं। इनकी शरणमें रहो।

इनके आगे विशुद्ध चक्रमें जीव और आज्ञाचक्रमें ईश्वर और सहस्रारचक्रमें पुरुषोत्तम (गुरु) निवास करते हैं। प्रत्येक १००० श्वासके अधिकारी हैं। इतने श्वासोंमें १ घंटा ६$\frac{2}{3}$ मिनिटका समय लगता है। इसका रहस्य यह है कि मनुष्य प्रतिदिन संसारके कोलाहलसे हटकर १ घंटा ६$\frac{2}{3}$ मिनिट आत्मनिरीक्षणमें लगावे। अपने भले-बुरे कार्योंका विचार करता रहे। उपनिषद्में यही कहा है। 'क्रतो ! क्रतुं स्मर' हे काम करनेवाले जीव ! अपने कामोंका स्मरण कर। दूसरोंको दोष मत दे। अपने आचरणको सुधार। इसके उपरान्त अपने श्रेष्ठ शासक ईश्वरका ध्यान करता रहे। प्रार्थनामें समय लगाता रहे। वेदमें प्रार्थना की गयी है—'अग्ने नय सुपथा राये' इत्यादि। हे अग्रणी-अग्नि-ईश्वर ! हमको ऐश्वर्यके लिये सुपथसे ले चल इत्यादि। ईश्वरने जब जीवको शरीर आदि शक्तियाँ दी हैं तो उनका किस तरह उपयोग करना चाहिये। इस ज्ञानको जाननेके लिये आत्म-चिन्तन, स्वाध्याय आदि शुभ विचारोंमें प्रतिदिन एक घंटा लगाना ही चाहिये। पूरे दिनका गणित ४० मिनिट २० घंटे और अन्तिम ३ घंटे २० मिनिट मिलाकर २४ घंटे और श्वास भी ६००+१८०००+३००० मिलाकर २१६०० हो जाते हैं। ऋषियोंने इस प्रकार विभाजन कर व्यावहारिक चक्रभेदन कर अपने जीवनको दिव्य बनाया। आध्यात्मिक दृष्टिसे शरीरको समझनेपर उसकी दिव्यताका ध्यान रहता है और आचरण भी सुन्दर बन जाता है। हाड़-मांसपर दृष्टि रखनेवालोंके शरीर अधम बने रहते हैं। वे भौतिक पिण्ड और उसकी आवश्यकताओंको घेरे पड़े रहते हैं। ऋषियोंकी आध्यात्मिक दृष्टिका आधार लेनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। भगवान् भी कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

'हे अर्जुन ! जो विषयोंका अत्यधिक सङ्ग छोड़कर ब्रह्मका आधार रख सब देवोंका उचित भाग देकर काम करता है, शरीर-निर्वाहके काम करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता, जैसे कमलका पत्ता पानीमें गीला नहीं होता।' देवोंका उचित भाग देनेवाला मनुष्य सुखी और स्वस्थ रहता है। उसके शरीरसे सब दोष दूर हो जाते हैं।

श्रीरामदास बाबाजी महाशय

(अ० एवं प्रे०—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल)

विक्रम संवत् १९३३ सालकी २२ चैत्र कृष्णा षष्ठी तिथिके शुभ क्षणमें फरीदपुर जिलेके कुमरपुर नामक ग्राममें वर्द्धिष्णु परिवार श्रीदुर्गाचरण गुप्तकी जो अष्टम संतान आविर्भूत हुई, वही हमारे परम पूज्य श्रीश्री बाबा रामदास बाबाजी महाशय हैं। आपकी माताका नाम श्रीमती सत्यभामा देवी था। आपके जन्म-समयमें दोनों पैर पहले भूमिष्ठ हुए थे। आप बाल्यकालसे ही संगीतप्रिय थे। आप श्रीभगवच्चरित्रकी लीलाकथाके श्रवण एवं दर्शन करनेमें सदा ही आविष्ट रहते थे।

यथासमय आपके विद्याध्ययनका श्रीगणेश हुआ। हितैषी बंगविद्यालयमें वे छात्ररूपमें प्रविष्ट हुए। आप अपने कानोंसे एक बार जो सुन लेते, वह आपके सदैव ध्यानमें रहता। आप परीक्षामें प्रायः प्रतिवर्ष ही सर्वोच्च स्थानाधिकार प्राप्त करते। आप छात्रवृत्ति-परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए। आपका बाल्यकालका नाम श्रीराधिका-चरण था। अन्धे, दुखी एवं आहत व्यक्तिको देखते ही सकरुणहृदय राधिकाके दोनों नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते। देवीके सम्मुख बकरेकी बलि देना आपके घरकी रीति थी। पर इस प्रकारका प्रसङ्ग आते ही राधिकाका हृदय व्यथासे भर उठता। उसी व्यथाभरे हृदयके परिणामस्वरूप सं० १९४८ वि० से उनके घरमें बलि देना बंद हो गया।

आपके तृतीय भ्राता श्रीयतीन्द्रमोहन गुप्तने एक 'श्रीहरिसंकीर्त्तनदल' संगठित किया था। बालक राधिकाचरण उस संकीर्त्तन-दलमें प्रधान गायक रहते। श्रीराधिकाचरण उसमें 'राधाकृष्ण' विषयक गान आदि अविकल स्वरमें छन्दसहित अनर्गल गाया करते। आपके चतुर्थ भ्राता श्रीवीरेश्वरगुप्तको श्रीनामसंकीर्त्तन बहुत अच्छा लगता था। आप भी उनके साथ कीर्त्तन करते-करते मत्त हो जाते।

बाल्यकालमें वीरत्व

सं० १९४६ वि० के आषाढ़ मासमें पूर्वबंगालमें प्रबल वर्षा हुई। उस वर्षाका प्रकोप फरीदपुरमें विशेष रूपमें हुआ। जिस समय वर्षाके प्रबल वेगमें वृक्ष, घर आदि गिरने प्रारम्भ हुए, उस समय ग्रामके व्यक्ति सर्वथा ज्ञानशून्य थे, ठीक उसी समय इनका एक छप्परका घर भी गिर पड़ा। मालूम हुआ कि उस घरमें आपके ताऊजी थे। इधर आत्मीय-स्वजनोंको किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए हाय-हाय करते देखकर असीम साहससे इस बालकने उस भग्नस्तूपको भेदन करके वृद्ध ताऊजीकी जीवन-रक्षा की। इस घटनासे ग्रामवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे इनके सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे आलोचना करने लगे।

प्रभु जगद्बन्धुसे मिलन

एक दिन बालक राधिकाचरण स्थानीय अभिनयमें जगज्जननी-वेशमें गान कर रहे थे। उसी दिन फरीदपुरके विख्यात प्रभु जगद्बन्धु उनके कण्ठसे गान सुनकर इतने मुग्ध हुए कि उस बालकसे मिलनेका अवसर खोजने लगे। दैवयोगसे मिलन हो गया। कुछ दिनों पश्चात् उन्हें साथ लेकर प्रभु निकटवर्ती पीपलके वृक्षके नीचे बैठकर ध्रुव-प्रह्लादके वैराग्यका उपदेश देने लगे। वे प्रतिदिन पाठशाला जानेके बहाने प्रभुके साथ कीर्तनादि करते और तीसरे पहर घर लौटते। क्रमशः वे प्रभुके इतने प्रिय हो गये कि कभी-कभी तो दो-तीन दिनोंतक घर नहीं लौटते।

उस समय आप प्रभुके साथ नाम-प्रेम-वितरण कार्यमें प्रधान सहायक हो गये। आपके माता-पिताने प्रभुका साथ छुड़ानेके लिये तथा संसारके प्रति आस्था उत्पन्न करनेके लिये उनको बरीसाल भेज दिया, परंतु आप साधारण ज्वर होनेके कारण लौट आये और पुनः प्रभुके निकट आने-जाने लगे। नाम-प्रेम-वितरण करने लगे।

आपके अभिभावक आपको घर रखनेकी अनेक चेष्टाएँ करने लगे, परंतु वे असफल ही रहे। तेरह वर्षका बालक एक दिन जगत्के वृहत्तम प्रयोजनसे घरसे निकल पड़ा। साथ-में केवल एक धोती और चद्दर, करताल और श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशयकी प्रार्थना।

सं० १९५० वि०की फाल्गुनी पूर्णिमाको ग्रहणके उपलक्ष-में श्रीजगद्बन्धुके साथ आप श्रीधाम नवद्वीप चले आये। श्रीमन्महाप्रभुकी जन्मतिथिके उपलक्षमें कीर्तन करके वहाँके महात्माओंसे आशीर्वाद प्राप्त किया। प्रभुके आदेशानुसार आप वृन्दावन रवाना हुए और अर्धरात्रिके समय स्टेशन

पहुँचकर अज्ञातपथसे यथासमय श्रीवृन्दावन जा पहुँचे । श्रीगोविन्ददेवजीके पुराने मन्दिर जानेको सोच ही रहे थे कि अकस्मात् एक वृद्धाने आकर पूछा 'तुम कहाँ जाओगे ? चलो मेरे साथ, तुम्हें पहुँचा दूँगी' कहकर वह आगे-आगे चलने लगी । मन्दिरके सिंहद्वारके निकट आकर वृद्धा अकस्मात् ही अन्तर्धान हो गयी ।

इसके पश्चात् उसी श्रावण—भाद्रमाससे श्रीदुर्गापूजनकी षष्ठी तिथितक व्रजमें रहकर आपने तत्कालीन भारतवर्षके विख्यात-विख्यात महापुरुषोंके दर्शन किये और उनकी अलौकिक शक्तिके मिलित केन्द्र बन गये । त्याग, वैराग्य, दया एवं निरहंकारकी मूर्ति बन गये । जैसे केशीघाटपर व्रजबालाके दर्शन, पतितपावन कुंजमें प्रेमानन्दभारतीके साथ नृत्यगोपाल, गोपेन्द्रनारायण मैत्र, हरिदास आदिसे मिलन । उसके पश्चात् सप्तमी-पूजाके दिन हाथरस आकर आप पुनः जगद्बन्धुसे आ मिले और फिर वृन्दावन लौटकर छत्तीसगढ़वाली कुंजमें रहने लगे ।

इस पुनर्मिलनके बादसे आपका वैराग्य बड़ा कठोर हो गया । कभी केवल एक ग्लास शिउली पत्तेका रस, कभी केवल यमुनाका जल, कभी एक ग्लास मट्ठा तथा कभी सामान्य मधुकरी खाकर ही दिन-रात बैठकर कठोर ब्रह्मचर्यकी साधना करते रहते ।

श्रीधाम वृन्दावन रहनेके समय एक बार बंदरोंने आपके बायें पैरकी जाँघपर घाव कर दिये । आपके माता-पिताको जब यह समाचार मिला, तब वे व्याकुल होकर वृन्दावन आये । आप उनसे मिलकर उनके प्राणोंको शान्ति प्रदान करके काशीधाम चले आये । पुनः वृन्दावन लौट आये । उस समय आप वृन्दावनमें श्रीरघुनन्दन गोस्वामी प्रभुके घर रहते थे । सदा प्रबल निष्ठा एवं कठोर साधनामें लगे रहते ।

इसी समय प्रभु जगद्बन्धुने उनका 'माता-पिताके साथ काशी जाना' सुनकर दस-बारह दिन उपवास किया और कुछ रुपयोंके साथ राधिकाचरणको लिख भेजा—'शीघ्र कलकत्ता चले आना, मैं भी जा रहा हूँ ।' पत्र पाकर राधिकाचरण आलमबाजारमें कालीकृष्ण ठाकुरके घरमें प्रभुसे आ मिले । फिर दोनोंके घनिष्ठ सान्निध्यमें आनन्द-सागर उमड़ उठा । कुछ दिनों पश्चात् प्रभुके साथ वे फरीदपुर लौटे । वहाँ रास्तेमें कीर्तन करते हुए वे एक दिन अपने घर पहुँच गये और पुनः मानो घरमें बँध गये ।

अपनी विलक्षण चतुराईसे यथार्थ गृहस्थका-सा अभिनय आपने किया और आत्मीयस्वजनोंके मनको अपनी ओर आकर्षित कर लिया । उन्होंने समझा कि अब ये वैराग्य नहीं करेंगे, परंतु चिरवैरागीको कौन बाँध सकता है ? प्रेमोन्मत्तको उसके अभीष्ट पथपर चलनेसे कौन रोक सकता है ? इसीसे श्रीरामदासजीने संसारी होकर भी सुयोग पाते ही पुनः गृहका त्याग कर दिया एवं कुछ दिनोंमें कलकत्ता चासाधोबापाड़ामें प्रभुसे जा मिले ।

श्रीराधारमणचरणदासदेवसे मिलन

उसके पश्चात् आपने इस तरहका एक मार्ग अवलम्बन किया कि जिसके प्रभावसे समग्र भारत-भूमिपर एक महनीय शक्तिका प्रकाश प्रकट हो गया । श्रीधाम पुरीके बड़े बाबाजी महाशयका अकृत्रिम आनुगत्य ग्रहण करके आप नाम-प्रेममें बंगाल, बिहार, उड़ीसा, दाक्षिणात्य तथा उत्तर-पश्चिम भारतके आपामर जनसाधारणके हृदयोंमें अकुण्ठितभावसे श्रीनिताई-गौराङ्गके आकर्षण मन्त्र 'भज, निताई गौर राधेश्याम । जप, हरे कृष्ण हरे राम' नामका बीज बोने लगे ।

संवत् १९५२ विक्रमीके पौषमासमें राधिकाचरणने श्रीराधारमणचरणदासदेवका प्रथम दर्शन कुलियाके पाटमें प्राप्त किया था । कटकमें रहते समय श्रीराधारमणदेवने आपको गौर-मन्त्रादिसे दीक्षित किया । १३१२ बंगाब्दमें श्रीराधाचरण-देवके अप्रकट होनेपर सम्प्रदायका समस्त भार आपके कंधोंपर आ पड़ा । संवत् १९६८ विक्रमीमें श्रीधाम पुरीमें श्रीहरदासठाकुरका मठ बिका । तीन हजार रुपयेमें उसे खरीदकर आप उसीमें सेवा-कार्य करने लगे । आपने संवत् १९६८ विक्रमीमें सेवाश्रमकी प्रतिष्ठा की और १९७१ विक्रमीमें प्रतिवर्ष कार्तिक मासमें पानिहाटिग्राममें श्रीमन्महाप्रभुके आगमनोत्सवकी व्यवस्था करने लगे । बाराहनगर पाठबाड़ीकी सेवाके पश्चात् संवत् १९९० विक्रमीमें श्रीगौराङ्गग्रन्थ-मन्दिरकी स्थापना हुई, जिसमें बहुत-से प्राचीन ग्रन्थोंका संकलन, प्राचीन चित्रपट, तीर्थोंके जल एवं श्रीपादरेणु आदिका भी संग्रह हुआ ।

भारतके लुप्त तीर्थोंका उद्धार, प्राचीन टूटे हुए और जनताकी दृष्टिसे उपेक्षित मन्दिरोंका जीर्णोद्धार और उनमें सेवाकी व्यवस्था, प्राचीन वैष्णवग्रन्थ एवं वैष्णवोंकी पुण्यस्मृतिकी रक्षा, पृथ्वीपर श्रीमन्महाप्रभुका नाम-प्रेम-

प्रचार—जीवनभर श्रीरामदास बाबाजीने यही सब किया । दीनताकी मूर्त्ति बाबाजी महाशय अपनेको 'रामदास' कहा करते थे ।

आपने अपने पूज्य गुरुदेव (श्रीराधारमणचरणदासदेव) की पुण्य जीवनकथा 'चरितसुधा' नामक बंगला ग्रन्थके छः भागोंमें प्रकाशित की ।

कलकत्तेमें वाराहनगरस्थ पाठवाड़ी आश्रममें शुक्रवार मार्गशीर्ष कृष्णा त्रयोदशी संवत् २०१० विक्रमीकी रात्रिको लगभग दो बजे वैष्णवाचार्य श्रीमत् रामदास बाबाजी महाशयने सतहत्तर वर्षकी अवस्थामें देहरक्षा की ।

अन्तिम दिनतक आपने अन्य दिनोंकी भाँति भजन-साधन किया । उनमें कोई विलक्षणता नहीं देखी गयी । उस दिन रात्रिके एक बजे आप अपने कमरेसे निकले, लघुशंका आदिसे निवृत्त होकर पुनः कमरेमें लौटे और सेवकोंसे कहा—'मुझे जाना होगा । दीदी (ललिता-सखी, आपकी गुरुबहिन) मुझे बुला रही हैं ।' इसके पश्चात् आपने श्रीगुरु, गौराङ्ग-मूर्ति सामने लानेकी आज्ञा दी । नाम-संकीर्तन प्रारम्भ हुआ । देहरक्षाके कुछ क्षण पूर्वतक आप कहते रहे 'सब गेल (सब चले गये) ! सब गेल ! जय गुरु, जय गुरु, जय श्रीराधारमण ।' इसके पश्चात् सब शेष । आपके चले जानेसे वैष्णवजगत्का एक महान् आधारस्तम्भ जाता रहा ।

जाको राखै साइयाँ

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आपकी माता अब शय्यासे उठ नहीं पातीं !' बड़ी उत्कण्ठा थी, कोई समाचार मिले घरका और समाचार मिला तो यह—'उनकी बड़ी इच्छा है, आते समय आँखोंमें आँसू भरकर उन्होंने कहा है—'बलवन्तका मुँह देख पाती मरनेसे पहले !' वैद्योंकी जो राय है, वह अच्छी नहीं है उनके सम्बन्धमें ।'

'माँ अभी हैं तो ?' बलवन्तसिंहके नेत्र भर आये ।

'होना तो चाहिये !' संदेश देनेवालेने उलटे घबराहट अधिक बढ़ा दी—'मैं झूठ नहीं बोलूँगा । जब मैं चला, उनको तीव्र ज्वर था और दुर्बलता तो बढ़ती ही जा रही थी । वृद्ध शरीर है और पूरे डेढ़ महीनेसे चारपाई पकड़ रक्खी है । मुझे किशनगढ़ छोड़े पंद्रह दिन हो रहे हैं ।'

'हे प्रभु !' बलवन्तसिंहने दोनों हाथ जोड़कर किसी अदृश्यको मस्तक झुकाया । माता डेढ़-दो महीनेसे रुग्ण हैं और उन्हें अब समाचार मिल रहा है; लेकिन इसमें दोष किसका है ? किसे पता है कि वे यहाँ हैं ? यदि बीकानेरसे वे कोलायत मेलेके समय न आये होते—यह पता भी उन्हें नहीं लगता ।

'घरपर किसके झगड़ा नहीं होता ? बड़े भाईने कुछ कह दिया तो हो क्या गया था ? अन्ततः स्नेहवश तो उन्होंने डाँटा था ।' आज बलवन्तसिंहको ढाई वर्ष पुरानी बातें अभी सामने हुई जान पड़ती हैं । चार भाइयोंमें सबसे छोटे होनेके कारण सबके स्नेहपात्र हैं वे । राजपूत सरदारोंके कुमार जैसे होते हैं—किंतु बड़ा पवित्र घर है उनका । उनके पिताकी कीर्ति न्याय, सदाचार और पीड़ितोंकी रक्षाके लिये किशनगढ़ (रैनिवाल) में अबतक गायी जाती है । बड़े भाईने पिताके स्वर्गवासी होते ही उनका उत्तराधिकार—उनके सद्गुण भी अपना लिये । गुण-दोष सङ्गसे आते हैं । राजपूतकुमारोंका साथ—लेकिन छोटा भाई प्रजापर कुदृष्टि करे, जिनकी रक्षा कर्तव्य है उनकी ही बहू-बेटियोंपर व्यंग कसे, यह वे कैसे सह सकते थे ।

'तू कलंक उत्पन्न हुआ इस कुलमें ।' बड़े भाईने

सामने आते ही आग्नेय नेत्रोंसे देखा और तड़प उठे थे। किसीने उनसे कह दिया होगा—झूठ तो कहा नहीं था। वे ठीक डाँट रहे थे—'यह किसका घर है, यह तुझे पता नहीं? पिताकी कीर्तिको कलंकित करके यहाँ आते तुझे लज्जा नहीं आयी?'

'बात कुछ नहीं थी। पिताके समान स्नेह करनेवाले बड़े भाई थे वे। क्षमा माँग लेनेसे ही काम चल जाता। क्षमा न भी माँगी जाती तो भी दो घंटेमें स्वयं स्नेहपूर्वक समझाते; किंतु बलवन्तका राजपूत रक्त उबल पड़ा था—'मैं तबतक इस घरमें पैर नहीं रक्खूँगा, जबतक मेरे आनेसे मेरे पिताकी कीर्ति उज्ज्वल न होती हो।' वह उलटे पैरों लौट पड़ा था।

बड़े भाईने सोचा था कि वह थोड़ी देरमें लौट आयेगा या घूमकर सीधे माताके पास चला जायगा। जब दोपहरीमें भी वह घर नहीं पहुँचा—सब लोग व्याकुल हो गये। लेकिन घरकी सबसे अच्छी साँड़नी (ऊँटनी) घर नहीं थी। भाइयोंने, मित्रोंने सप्ताह और महीने बिता दिये पता लगानेमें, माताने रो-रोकर आँखोंकी ज्योति खो दी; किंतु बलवन्तका पता नहीं लगा सो नहीं लगा।

'तुम कोलायत जा रहे हो?' उस रुग्णा देवीने कितनी उत्कण्ठासे कहा था रामप्रसादसे—'सम्भव है मेरा बलवन्त वहाँ आवे। उससे कहना कि तेरी वृद्धा माँ मर रही है। अब तो उसे क्षमा कर दे।'

बलवन्त रो पड़ा फूटकर—'माँ! माँ! क्षमा करो मुझे।'

भाईकी बात लग गयी थी उस समय और जब मनुष्यको बात लग जाती है, यदि वह मनुष्य है तो देवता हो जाता है। बात लगनेपर जो पिशाच हो जाते हैं, वे तो मनुष्य पहले भी नहीं थे। बीकानेरमें लोग कहते हैं—'सरदार बलवन्तसिंह तो देवता हैं। ढाई वर्ष पूर्व साँडनीकी पीठपर चढ़ा अकेला बलवन्त बीकानेर पहुँचा था। उसके पास सामानके नामपर केवल राजपूतकी नित्य संगिनी तलवार थी। सेनामें स्थान मिलना कठिन नहीं था तब राजपूतके लिये और ढाई वर्षमें ही बलवन्तसिंह सरदार हो गया है। उसकी तत्परता, परिश्रम, राजभक्ति और इन सब बातोंसे बढ़कर यह कि एकमात्र वही सेनामें ऐसा है जो समय पाते ही नगरमें यह ढूँढ़ने निकलता है—'कौन बीमार है? कौन दुखी है? किसकी क्या सेवा की जा सकती है?'

बीकानेर और वहाँका गोस्वामी चौक—काँकरोलीके महाराजका यह आत्मीय परिवार, इसकी सेवा, श्रद्धाने बलवन्तसिंहको श्रीनाथजीकी भक्तिका प्रसाद दे दिया है। वह वैष्णव हो गया है। मन्दिरमें दर्शन किये बिना जल पी लेना उसके लिये अकल्पनीय बात हो गयी है।

'माँ!' आज यहाँ कोलायतमें उसे माताका समाचार मिला है। परम प्रभु श्रीनाथजीने ही प्रेरणा की थी कि वह यहाँ आया।

सेनाकी सेवा ऐसी नहीं होती कि कोई बिना सूचना दिये चाहे जहाँ चल दे और कम-से-कम बलवन्तसिंहसे यह आशा नहीं की जा सकती। एक बात और—ढाई वर्षमें जो कुछ उसे मिला, दुखियोंकी सेवाके लिये अर्पित हो गया। खाली हाथ घर जाय? इसकी चिन्ता करने का कारण नहीं है। अन्नदाता महाराज बीकानेर—प्रभु उन्हें चिरायु करें। वह उनसे घर जानेकी अनुमति माँगेगा। उन परम उदारसे कुछ और माँगनेकी आवश्यकता पड़ेगी ही नहीं।

उसी समय सरदार बलवन्तसिंहकी साँड़नी बीकानेरकी ओर उड़ चली।

× × ×

[२]

सरदार बलवन्तसिंह किशनगढ़के हैं, यह किसीने नहीं सोचा था। ढाई वर्षमें अपना परिचय उन्होंने किसीको नहीं दिया। 'मैं एक दुःखका मारा राजपूत हूँ।' स्वयं महाराज तकको परिचय नहीं दिया उन्होंने। राजपूत—यह इतना ही परिचय विश्वस्त होनेके लिये पर्याप्त हुआ

करता है । राजपूतको भी क्या विश्वासपात्र बननेके लिये परिचयकी आवश्यकता होती है ? लेकिन आज अवकाश-प्राप्तिकी प्रार्थनाके साथ जो परिचय दिया बलवन्तसिंहने, वह परिचय होकर भी परिचय नहीं था । यदि महाराजने अनुमान किया होता कि उनका यह युवक सरदार जैसलमेरसे आगे किशनगढ़ (रैनिवाल) जा रहा है— अकेले नहीं जाने देते । जैसलमेर लुटेरोंका प्रान्त है और जाना है उस प्रान्तके मध्यसे । लेकिन किशनगढ़— सबने समझा यह पासका किशनगढ़ और वहाँ जानेमें कोई बाधा थी ही नहीं ।

कोई जान भी लेता कि बलवन्तसिंह किस किशनगढ़ जा रहे हैं तो क्या होना था । इस तपते ज्येष्ठमें कोई भी वहाँ जाना चाहेगा तो कोलायत, मोहनगढ़, जैसलमेरके मार्गसे ही जायगा । 'कोलायतसे सीधे किशनगढ़—केवल ७६ कोस ही तो है । दो सवा दो सौ कोसका चक्कर क्यों किया जाय ? दो दिन लगेंगे और साँड़नी द्वारपर खड़ी होगी । माँ पता नहीं—हैं या नहीं……।' कोई विक्षिप्त होनेपर ही ऐसी बात सोच सकता है । छिहत्तर मील—मध्यमें एक गाँव नहीं, एक झोंपड़ा नहीं, शमी या करीरकी झाड़ी भी है या नहीं—पता नहीं । जिस मार्गकी ओर बढ़ते डाकुओंके भी पैर काँपें, वह मार्ग ! महाराज बीकानेर कोई सैनिक सहायक देते भी तो क्या वे इस मार्गसे बढ़नेका साहस करते ?

'माँ शय्यासे उठ भी नहीं पाती । पता नहीं वह है भी या नहीं ।' बलवन्तसिंहको दूसरा कुछ नहीं सूझता था । जहाँ एक घड़ी एक वर्ष जान पड़ती हो—सात दिनसे पहुँचनेका भी मार्ग है, वही एक मार्ग ही है । लेकिन मार्ग हो या न हो—दो दिनमें भी पहुँचा जा सकता है । उसी दो दिनके मार्गपर, जो मार्ग था ही नहीं, साँड़नी उड़ी जा रही थी ।

'बड़ी धीमी है यह साँड़िनी !' बलवन्तसिंह बार-बार झुँझलाते थे । साँड़नीको उत्साह देते थे—'मरुकी रानी ! बढ़ ! बढ़ी चल तो ।' साँड़नी अपने सवारके मनोभाव समझती थी । कदाचित् वह समझती थी आज-की यात्रा मृत्युयात्रा है । जब मरना ही है—सवारने जब मरनेका ही निश्चय किया है, ऐसा ही सही । वह मूक प्राणी पूरे वेगसे उड़ा जा रहा था । सेनाके उत्तम ऊँटोंमेंसे वह था । उसपर भरोसा किया जा सकता था, किंतु बलवन्तके मनमें जो उतावली है—कोई मनकी गतिका साथ कैसे दे सकता है ?

कोलायतसे आगे बढ़ते ही सूर्योदय हो गया । दिनके साथ वायुका वेग भी चढ़ने लगा । साँड़नीने एक बार सिर उठाया, कुछ सूँघनेका प्रयत्न किया । खड़ी हो गयी और लौटनेके लिये मचलने लगी ।

'बढ़ो ! आगे बढ़ो रानी !' बलवन्तने पुचकारा—'लौटना नहीं है । मेरी देह भी माताके पास तुम पहुँचा सको तो मेरा जीवन सफल हो जायगा ।'

ऊँटने जैसे बात समझ ली । बस चलना ही है तो वह चलेगा । सेनाका ऊँट कायर नहीं होता । लेकिन उसने अपनी ओरसे सूचित कर दिया कि आगे बढ़नेका क्या अर्थ है ।

मरुस्थलमें जब अंधड़ चलता है—कोई मनुष्य बैठ जाय तो उसके तो ऊपर रेतका पहाड़ खड़ा हो जायगा और अंधड़ ज्येष्ठमें न चले तो चलेगा कब । बड़े-बड़े टीबे (रेतके टीले) उड़ते हैं और मील दो मील दूर एक नवीन पर्वताकार टीबा बनता है । यह सब क्षणोंमें होता है—होता ही रहता है पूरे ग्रीष्मकी दोपहरियोंमें । ऐसे ग्रीष्ममें शरणहीन, ग्रामहीन, छायाहीन, मार्गरहित मरुस्थलमें जो बढ़ पड़े—क्या कहेंगे आप उसे ?

बहुत थोड़ी देरमें बलवन्तको अपने सिरके साफेका ढंग बदलना पड़ा । उसने दोनों कान बंद कर लिये । अनेक बार दोनों नेत्र बंद कर लेने पड़ते थे उसे ।

'क्यों ? चौंकनेका क्या कारण है ?' सहसा ऊँट चौंका । बलवन्तने अपने पीछेकी ओरसे रेत उड़ती देखी । भालेको उसने ठीक सम्हाल लिया । चार-पाँच ऊँट उसके पीछे आ रहे हैं—दौड़े आ रहे हैं । 'आने

दो उन्हें !' राजपूत स्वभावसे निर्भय होता है और बलवन्तके पास तो सेनाका ऊँट है । पाँच डाकुओंके लिये वह अकेला भी भारी ही पड़ेगा ।

'आप कहाँ जायँगे ?' पीछा करनेवाले पास आये । वेशसे डाकू नहीं लगते थे वे । कोई भले नागरिक-जैसे ही थे । आक्रमण करनेकी कोई चेष्टा उन्होंने प्रकट नहीं की । बड़े प्रेमसे पास आकर उनमेंसे एकने पूछा ।

'किशनगढ़ !' बलवन्तसिंहने भी पूछा—'आप लोग ?'

'हमलोगोंको भी वहीं जाना है । हमारे साथी जैसलमेरसे वहाँ कल ही पहुँच गये होंगे । हमलोग बीकानेर रह गये कुछ आवश्यक वस्तुएँ लेनेके लिये ।' आगन्तुकोंमेंसे एकने पूरा परिचय दिया अपना । कोई बारात गयी है किशनगढ़ । ये लोग पीछे रह गये हैं । अब पहुँचनेकी शीघ्रता है, इससे सीधा मार्ग पकड़ा है । 'मार्गमें डाकुओंका भय रहता है । आपका साथ हो गया, यह बड़ा अच्छा हुआ । सेनाके एक सरदारका साथ मार्गमें भाग्यसे ही मिलता है ।'

बलवन्तसिंह अपने सैनिक वेशमें ही थे । यात्राके लिये उन्हें यह वेश इसलिये भी सुविधाजनक लगा कि इस वेशके कारण लुटेरोंको आक्रमण करते समय दो बार सोचना पड़ेगा ।

'आपके साथ तो पानी नहीं है ।' आगन्तुकोंको आश्चर्य तो हुआ पर उन्होंने उसे प्रकट नहीं किया । 'कोई बात नहीं, हमारी बखाल (मशक) भरी है और कल तो हम किशनगढ़ पहुँच ही जायँगे ।'

'मैं बखालका जल नहीं पीता !' बलवन्तसिंहने जबसे श्रीनाथजीकी कृपा प्राप्त की, वे वैष्णव हो गये हैं । दो दिन मार्गमें लगेंगे और मरुस्थलका जलहीन मार्ग; परंतु बखालमें साथ जल लेनेकी बात उन्होंने नहीं सोची ।

'कोई बात नहीं ! बीचमें थोड़ा पानी मिल सकता है । एक देवी-स्थान है मार्गमें !' आगन्तुकोंने आश्वासन दिया—'मार्ग हमारा जाना-बूझा है । आवश्यकता होनेपर ऊँट रेतमें दबे मतीरे ढूँढ़ लेगा ।'

इस निर्जन मरुमें मतीरे (तरबूज) मिलेंगे, यह आशा बलवन्तसिंहको नहीं है । लेकिन कुछ मार्ग जाननेवाले साथी मिल गये हैं । मरुभूमिका ज्ञान उन्हें अधिक है । स्वयं उसने भी बचपनमें सुना है कि इस दुर्गम मरुस्थलमें कहीं देवी-स्थान है । मरुभूमिकी वे अधिष्ठात्री देवी भूले-भटके यात्रियोंकी रक्षा करती हैं । यह किंवदन्तियाँ भी उसने सुनी हैं । 'देवी-स्थानके पास एक छोटा कुण्ड है । उस कुण्डमें सदा मीठा जल भरा रहता है ।' बहुत-सी बातें उसे स्मरण आ रही हैं जो उसने कभी लोगोंसे सुनी हैं । उसे इस दुर्गम मार्गके साथी मिल गये हैं, इसलिये वह बहुत निश्चिन्त हो गया है ।

× × × ×

[२]

'क्या ?' चौंका बलवन्तसिंह । वह निश्चिन्त चला जा रहा था । आँधीका वेग बढ़ गया था । रेतके झोंकोंके कारण प्रायः नेत्र बंद रखने पड़ते थे । ऊँट अपने अनुमानपर स्वतः बढ़े जा रहे थे । सहसा एक भाला खटाकसे उसकी काठीमें आकर लगा ।

'अच्छा !' दूसरा भाला फिर फेंका गया; किंतु वह सिरके पाससे होता नीचे गिर गया । बलवन्तसिंह-की साँड़नी सावधान हो गयी थी । स्वयं बलवन्तने अपना भाला सम्हाल लिया था ।

'मूर्ख !' चिल्लाया एक लुटेरा । बलवन्तसिंह जिन्हें साथी मानकर निश्चिन्त हो गया था, वे वस्तुतः लुटेरे थे । यह तो अंधड़की कृपा थी कि उनके भाले लक्ष्यच्युत हो रहे थे । अन्यथा अच्छे-से-अच्छा सैनिक भी इन लुटेरोंसे दो-दो हाथ नहीं कर सकता ।

'अच्छा रह !' बलवन्तसिंहने क्रोधमें एककी ओर

ऊँट झुकाया और भालेका भरपूर हाथ धर दिया। लेकिन चूक गया उसका भी लक्ष्य ! मनुष्यका रक्त गिरनेके स्थानपर ऊँटपर बँधी बखालमें भरा जल भल-भल करके गिर रहा था और कोई सम्हाले, इससे पहले बखाल खाली हो गयी।

'ठहरो !' लुटेरोंके सरदारने हाथ उठा दिये। उसके साथी भी ठिठक गये। कितना बहुमूल्य था वह खालमें भरा पानी ! किसी मनुष्यके रक्तसे इस समय वह कहीं मूल्यवान् था और अब तो रेत उसे पी चुकी थी।

'अब तो मरना है।' लुटेरे सरदारने कहा—'तुम्हें भी मरना है और हम सबको भी मरना है। लड़नेसे अब कोई लाभ नहीं। जब जीवनकी आशा ही नहीं है तो धनका महत्त्व क्या। हम सब साथ रहेंगे तो तुम्हें कुछ सुविधा ही होगी।'

'मुझे लुटेरोंकी दया नहीं चाहिये।' बलवन्तसिंहने भाला उठा रक्खा था।

'तुम्हें न सही, हमें तो चाहिये !' सरदारने हाथ जोड़ दिये। 'हम छः साथ रहेंगे तो किसी प्रकार कहीं पानी ढूँढ़नेका प्रयत्न कर भी सकेंगे। तुम्हें हमलोगोंपर विश्वास न हो तो हम अपने शस्त्र फेंक देते हैं।' लुटेरोंने कमरकी तलवारें भी रेतमें नीचे फेंक दीं।

'देवीके स्थानपर जल नहीं है क्या ?' बलवन्तसिंह चौंका। लुटेरे सहसा इतने दीन बन जायँ, यह कोई छोटी बात नहीं थी। पानी न मिला तो इस मरुभूमिमें समाधि बनेगी, इसमें संदेह करनेका कोई कारण ही नहीं है।

'आप समझते हैं कि ऊँट अभी दो घंटे और चल सकते हैं ?' लुटेरोंके सरदारने कहा—'देवीका स्थान मरुस्थलके केन्द्रमें है। वहाँ संध्यासे पहले नहीं पहुँचा जा सकता और जल वहाँ है या नहीं, यह कोई नहीं जानता। आपने सुना नहीं कि गर्मियोंमें वहाँ देवी प्रत्यक्ष निवास करती हैं। मनुष्य वहाँ जा नहीं सकता और पहुँच जाय तो लौटता नहीं।'

'श्रीनाथजी जानते हैं क्या होगा ?' बलवन्तसिंहको अब एक क्षण व्यर्थ नष्ट करना भयंकर दीखता था। लुटेरे निःशस्त्र थे। उनसे कोई भय नहीं था। लेकिन महाभय मुँह फाड़े सामने खड़ा था। आकाश धूलिसे भर गया था। पश्चिम दिशा अन्धकारमयी हो रही थी। अंधड़ आ रहा था और अंधड़का सीधा अर्थ था मृत्यु।

रेत भड़भूजेकी भट्ठीमें भी इतनी कदाचित् तपती हो। ऊपर सूर्य अग्निकी वर्षा कर रहा था। दिशाओंसे लपटें आ रही थीं। शरीर झुलसा जा रहा था। कण्ठ सूख गया था। इसपर अंधड़ आ रहा था। बैठ जायँ तो रेत ऊपर पहाड़-सी समाधि बना देगी और खड़े ऊँटपर बैठे रहें तो पता नहीं कितनी दूर जाकर हड्डियाँ रेतमें गड़ेंगी। ऊँटतक निराशासे क्रन्दन-जैसी ध्वनि करने लगे।

'हम सब एक-दूसरेको आपसमें बाँधकर बैठ जायँ।' लुटेरोंके सरदारने सलाह दी।

'मैं तुमलोगोंके साथ मृत्युमें भी बँटवारा नहीं करूँगा।' बलवन्तसिंहने साथ नहीं दिया। लेकिन पाँचों लुटेरे एक-दूसरेको परस्पर बाँधकर बैठ गये रेतमें सिमटकर और अपने ऊँट उन्होंने अपने चारों ओर खड़े कर लिये।

अंधड़को आना था—आया। बलवन्तसिंहको फिर पता नहीं क्या हुआ। अवश्य अंधड़ने उसे उठाकर फेंका, इतना स्मरण है। फिर तो मूर्च्छा आते-आते उसके मुखसे निकला था—'श्री····नाथजी····।'

× × × ×

[४]

'महर्षि उत्तङ्क प्यासे हैं। समाधिसे जग गये हैं वे महातापस।' देवराज इन्द्रके यहाँ बड़ी त्वरा थी।

द्वापरमें त्रिभुवनके स्वामी द्वारिकेशने महर्षिको वरदान दे दिया है और वह वरदान सार्थक न हो—देवराज देवराज रह कैसे सकते हैं।

मरुभूमिमें एक छोटा मेघ-खण्ड प्रकट हुआ। तपती दोपहरीमें, भयंकर अंधड़के मध्य, कहीं और कभी—राजस्थानके वासी जानते हैं कि उत्तङ्क मेघ कब कहाँ प्रकट होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। वह तो ग्रीष्मकी दोपहरीमें ही प्रायः प्रकट होता है। अदृश्य रहनेवाले महातापस उत्तङ्ककी समाधि कब भङ्ग होगी, कब उन्हें प्यास लगेगी, इस बातका तो देवराजको भी पहलेसे पता नहीं होता।

बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ रही थीं। धरा और आकाश चारों ओर आग उगल रहे थे और उस अग्निवर्षाके मध्य कुछ गज भूमिमें बड़े जोरसे वर्षा हो रही थी। राजस्थानमें उत्तङ्क मेघ सदा ऐसे ही तो वृष्टि करता है।

बलवन्तसिंहके नेत्र खुले। वह भूमिपर पड़ा था। उसके वस्त्र भीगकर रेतसे लथपथ हो गये थे। उसने अपनेको सम्हाला। उसकी दृष्टि सबसे पहले ऊँटपर पड़ी। उसकी साँड़नी वर्षामें भीगी उसके पास खड़ी थी।

'धन्य प्रभु!' बलवन्तसिंहने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। अब उसमें पर्याप्त स्फूर्ति थी। ऊँटपर चढ़नेके बाद उसे स्वयं पता नहीं कि किधर जा रहा है। मार्ग जाननेका कोई उपाय नहीं था। लेकिन सायंकालकी अरुणिमाने जब मरुस्थलपर गुलाल बिखेरना प्रारम्भ किया, बलवन्तसिंहका ऊँट देवीस्थानके कुंडमें जल पी रहा था और बलवन्तसिंह टेकरीपर खेजड़ीके नीचे देवीके चबूतरेके सामने साष्टाङ्ग प्रणिपात करते लेट गया था।

× × × ×

'तू आ गया बेटा!' दूसरे ही दिन रोगशय्यापर पड़ी माताके कर अपने बिछुड़े पुत्रकी पीठ सहला रहे थे।

'मैं आ गया माँ!' बलवन्तके कण्ठ भरे थे। 'सीधे मरुस्थलके मार्गसे आया हूँ।'

'मरुस्थलके मार्गसे?' पीछे खड़े बड़े भाईके स्वरमें आश्चर्य था।

'हाँ भैया!' बलवन्तने उनके चरणोंमें मस्तक रक्खा। 'श्रीनाथजीकी भुजाएँ बहुत लंबी हैं। वे मरु-भूमिमें भी अपने जनोंको बचा ही लेती हैं।'

तुम और मैं

मैंने कभी न चाहा तुमको, तुमने चाहा बारंबार।
बिना बुलाये ही, आ हियमें दर्शन दिये, किया अति प्यार॥
नित आदरके बदले तुमने मुझसे पाई नित दुतकार।
दूर चले जानेपर मुझको खींच लिया निज भुजा पसार॥
'लौटो, उस पथपर मत जाओ' कहा कानमें कितनी बार।
तब भी चला गया, लौटानेको तुम दौड़े प्रिय! हर बार॥
चिर अपराधी पापीका तुमने हँस, उठा लिया सब भार।
मेरी निज निर्मित विपदामें गोद उठाकर लिया उबार॥

(बंगलासे अनुवादित)

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

महोदय ! सादर प्रणामपूर्वक हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । समाचार माळूम हुए, मेरे उत्तरसे आपको संतोष हुआ सो यह आपका सौजन्य है ।

रामायणमें भगवान् रामने जगह-जगह शङ्करका स्मरण किया, यह बिल्कुल और सर्वथा सत्य है । भगवान् रामके इष्टदेव शङ्कर और शङ्करके इष्टदेव राम, यह तो रामायणमें आपको स्थल-स्थलपर मिलेगा, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है ।

भगवान् रामने कैलासमें जाकर जो शिवजीसे विवाह करनेके लिये कहा और वरके रूपमें माँग पेश की, यह बिल्कुल ठीक है; परंतु वहाँ देखिये शिवजी क्या कह रहे हैं—

नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा ।
परम धरमु यह नाथ हमारा ॥
आग्या सिर पर नाथ तुम्हारी ॥

—इसपर तुलसीदासजी क्या कहते हैं—

प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना ।
भक्ति बिबेक धर्म जुत रचना ॥

प्रसङ्ग देखनेसे यही सिद्ध होगा कि इनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना उपासक अपने इष्टके अनुसार कर सकता है । वास्तवमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है ।

आपने पूछा कि योगिराज, जिन्होंने हलाहल विषका पान किया, वे कौस्तुभमणि और लक्ष्मीको धारण करनेवालेका ध्यान करें अथवा कौस्तुभमणि और लक्ष्मीको धारण करनेवाले भगवान् विष्णु हलाहल विष-पान करनेवालेका ध्यान करें । इसका उत्तर विस्तृत रूपमें माँगा । तो इसका असली उत्तर तो ऊपर दे दिया गया है ।

आप थोड़ी गम्भीरतासे विचार करेंगे तो माळूम होगा कि शङ्करजी हलाहल-पान करनेमें भी भगवान् रामका ही प्रभाव मानते हैं, उसमें वे अपना बल नहीं मानते । तुलसीदासजीने कहा है—

नाम प्रभाउ जान सिव नीको ।
कालकूट फल दीन्ह अमी को ॥

अधिक विस्तारकी आवश्यकता इसलिये नहीं है कि रामायणमें इस बातको स्पष्ट करनेमें तुलसीदासजीने कोई कमी नहीं रक्खी है । अतः गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर आप स्वयं समझ लेंगे ।

(२)

सादर हरिस्मरण । आपका कार्ड मिला, आपके प्रश्नों-का उत्तर इस प्रकार है । निर्बीज समाधि उसे कहते हैं, जिसमें सब प्रकारके कर्म-संस्कारोंका सर्वथा निरोध हो जाता है । इसका वर्णन योगदर्शनके समाधि-पादके अन्तमें आया है । इसीको असम्प्रज्ञातयोग, धर्ममेघ-समाधि, कैवल्यपद, द्रष्टाकी स्वरूप-प्रतिष्ठा आदि नामोंसे योग-दर्शनमें कहा है ।

सबीज समाधिके मुख्य दो भेद हैं—एक सविकल्प, जिसका वर्णन सवितर्क और सविचारके नामसे आया है । इसका विस्तार योगदर्शन-समाधि-पादके सूत्र ४१-४३ में आया है । उसी प्रकरणमें निर्वितर्क और निर्विचारके नामसे निर्विकल्प-समाधिका वर्णन है ।

लेन-देन, जहाँतक हो, भले मनुष्योंके साथ करना चाहिये तथा कानूनकी पाबंदी पहलेसे ही कर लेनी चाहिये, ताकि झगड़ा न पड़े । बनावटी गवाह खड़ा करना तो झूठ ही है, यह कैसे उचित हो सकता है । सच्चा मामला तभी खारिज होता है जब कोई पहले की हुई बुराईका दण्ड मिलनेवाला होता है ।

(३)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार मालूम हुए।

आपने तुलसीदासजीकी यह चौपाई लिखी कि—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

—सो यह चौपाई नवीन कर्म करनेके लिये नहीं है। यह तो केवल पूर्वकृत-कर्मोंके फल-भोगको लेकर है। भाव यह कि मनुष्य फलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है। उसको जो सुख या दु:ख जिस प्रकार प्रारब्ध कर्मफलके अनुसार होता है, वैसा ही होगा। पर नवीन कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र भी है। इसीलिये भगवान्‌ने मनुष्यको बुराई और भलाईको समझनेके लिये विवेक दिया है। अत: मनुष्यको चाहिये कि जो कुछ करे, विवेकके प्रकाशमें करे और वही करे जो उसे करना चाहिये, पाप-कर्म भूलकर भी न करे, यदि करेगा तो उसकी सारी जिम्मेदारी करनेवालेकी है और उसका दण्ड उसे अवश्य भोगना पड़ेगा; क्योंकि भगवान्‌ने हरेक मनुष्यके लिये कर्तव्यका विधान कर दिया है और उसे समझनेके लिये मानवको विवेकशक्ति भी दे दी है।

आपने जो उदाहरण दिये वे तो, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो, किसी घबराये हुए कविने भगवान्‌से प्रणय-कोपमें प्रार्थना की है। ये कोई शास्त्रीय प्रमाणरूप वाक्य नहीं हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३ श्लोक ३४ से ४३ तकका प्रकरण देखिये। उसमें अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने इस विषयको स्पष्ट किया है तथा अध्याय २ श्लोक ४७ में भी स्पष्ट कहा है कि तेरा कर्म करनेमें अधिकार है एवं फलमें अधिकार नहीं है। अत: यह समझना चाहिये कि तुलसीदासजीका कहना फलभोगके विषयमें है, नवीन कर्म करनेके विषयमें नहीं।

(४)

महोदय! सादर हरिस्मरण! आपका पत्र ता० ३-६-५४ का लिखा यथासमय मिल गया था। आपकी शंकाओंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

शास्त्रोंमें आततायियोंको मारनेमें पाप नहीं बताया है। इस बातको अर्जुन भी जानता था, पर उसे अपने सामने सब अपने ही कुटुम्बी लोग खड़े दीख रहे थे। अत: मोहके कारण अर्जुनको उनका मारना पापकर्म मालूम होता था, जिसकी व्याख्या स्वयं अर्जुनने कुल-घातसे होनेवाले परिणामका प्रदर्शन करते हुए की है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें आत्माको नित्य जन्म-मरणसे रहित बताया है, यह बिल्कुल सत्य है एवं श्रुतिमें जो आत्महत्या करनेवालोंके नरकमें जानेकी बात कही है, वह भी ठीक है; क्योंकि 'आत्मा' शब्दका कोई एक ही अर्थ नहीं होता। गीतामें जो जन्म-मरणसे रहित आत्माका वर्णन है, वह विशुद्ध चेतन आत्मतत्त्व-का वर्णन है और श्रुतिमें 'आत्म' शब्द निजका वाचक है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन न करके मनुष्य-जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं, अपना अध:पतन कर रहे हैं, उनको वहाँ 'आत्महत्यारा' कहा गया है। आत्म-हत्यासे यदि आत्माके नाशकी बात होती तो यह कहना ही नहीं बनता कि वे घोर अन्धकारसे भरपूर लोकोंमें जाते हैं। यदि उनका नाश (अभाव) ही हो जाता तो जाता कौन?

अर्जुन भगवान्‌का सखा था, यह बात भगवान्‌ने और स्वयं अर्जुनने भी बार-बार स्वीकार की है, इसमें कोई संदेह नहीं है। पर भगवान्‌के उस भयानक स्वरूपको देखकर वह उस सखाभावको भूल गया और भयभीत हो गया। इसीलिये तो भगवान्‌ने कहा है—यह अद्भुत रूप मैंने तुमपर प्रसन्न होकर दिखाया है; इसे देखकर तुम्हें भय और व्यथा नहीं होनी चाहिये।

गीता तीसरे अध्यायमें 'ज्ञान' और 'ज्ञानी' शब्दका कई जगह प्रयोग हुआ है। वहाँ सभी जगह किसी एक ही अर्थमें उसका प्रयोग हुआ हो ऐसी बात नहीं है। कहीं तत्त्वज्ञानीके अर्थमें (३ । ३३, ४३), कहीं विवेकज्ञानके अर्थमें (३ । ३९) और कहीं ज्ञान-योगके अर्थमें (३ । ३) हुआ है। अतः आप कौन-से श्लोकमें उल्लिखित ज्ञानका स्वरूप जानना चाहते हैं सो लिखियेगा।

जिस ज्ञानको कामसे आवृत बताया है, वह तो विवेक है। जिस ज्ञानसे कामको मारनेकी बात कही है, वह तत्त्वज्ञान है। अतः पूर्वापरके प्रकरणसे ज्ञानका स्वरूप समझ लेना चाहिये।

तुलसीदासजीने जो यह कहा है कि कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है, वह कथन सकाम कर्मके लिये ही है। निष्कामभावसे या कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर किये जानेवाले कर्मोंका फल भोगना पड़े, ऐसी बात नहीं है। रामायणमें भी निष्काम कर्मोंकी बड़ाई की गयी है तथा जो कर्म भगवान्‌के समर्पण कर दिये जाते हैं, उनका फल भोगना नहीं पड़ता।

(५)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। आपने सकाम पाठ, उपासना और स्वप्न आदि घटनाओंकी बातें लिखीं, उनसे सब हाल मालूम हुए।

आपके मनमें जिस घटनाको लेकर पश्चात्ताप हो रहा है, उसे स्वप्नकी घटना मानना ही आपके लिये हितकर है। उस स्त्रीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये और न किसी प्रकारका क्रोध ही उस-पर करना चाहिये; क्योंकि उसका कोई अपराध नहीं है। आपके ही मनका विकार है। इसका सर्वोत्तम प्रायश्चित्त भगवान्‌का भजन-स्मरण ही है।

हनूमान्‌जी तो भगवान्‌के भक्त, परम दयालु और संत हैं। वे किसी भी हालतमें किसीका बुरा नहीं करते। वे अपने भक्तसे कभी नाराज नहीं होते, हर प्रकारसे उसका हित ही करते हैं। अतः उनकी नाराजीका वहम आपको छोड़ देना चाहिये। वे तो स्वभावसे ही क्षमाशील हैं। उसपर आपने क्षमा-प्रार्थना कर ही ली, अब उनकी ओरसे आपको निर्भय हो जाना चाहिये और भगवान्‌के भजन-स्मरणका अभ्यास करना चाहिये। भगवान्‌के नामका यथासाध्य जप करना चाहिये। इसमें लाभ-ही-लाभ है। बीती हुई घटनाके चिन्तनसे कोई लाभ नहीं है।

(६)

सादर हरिस्मरण! आपका कार्ड मिला। समाचार मालूम हुए। तत्त्वविवेचनी अध्याय (१४।१४) के श्लोकके अर्थमें सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंको जो उत्तम तत्त्व-वेत्ताओंके अमल लोकोंकी प्राप्तिका वर्णन है, वह साधारण स्वर्गकी यानी देवलोककी प्राप्ति नहीं है, अतः जो अर्थ किया गया है वही ठीक है; क्योंकि गीतामें जहाँ-जहाँ सात्त्विक कर्म आदिका वर्णन है, सभी जगह निष्कामभावसे ही उसकी सात्त्विकता बतायी गयी है। सकामभावको राजस कहा गया है। सतरहवें और अठारहवें अध्यायमें सात्त्विक यज्ञ, सात्त्विक तप, सात्त्विक दान, सात्त्विक कर्म, सात्त्विक त्याग, सात्त्विक कर्ता आदिके प्रसङ्गमें आप अच्छी प्रकार देख सकते हैं। इस चौदहवें अध्यायमें भी ज्ञान और प्रकाशको ही सत्त्व-गुणका चिह्न बताया है। अतः जब गीता निष्काम-भावको ही सात्त्विकभाव मानती है तब उनका फल निष्काम कर्म करनेवालोंके लोकोंकी प्राप्ति न हो, यह कैसे हो सकता है।

मनुस्मृति और भागवतमें जिस सत्त्वगुणका वर्णन है, उसमें निष्कामभावकी प्रधानता नहीं है, इसलिये उसका फल देवलोककी प्राप्ति बतलाना उचित ही है। उपनिषद्‌में जो निष्कामका फल मुक्ति बताया है वह

भी ठीक है; क्योंकि वहाँ हृदयस्थ सम्पूर्ण कामनाकी निवृत्ति हो जानेके बादका वर्णन है। यही बात गीता अध्याय २ श्लोक ७१में भी है।

गीता अध्याय ३ श्लोक १९में पूर्ण निष्कामभावका ही वर्णन है। आशा है अब आप तत्त्वविवेचनीके अर्थसे सहमत हो जायँगे।

(७)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र यथासमय मिला। समाचार माल्रम हुए। पत्रोत्तर बंद करनेकी तो कोई बात नहीं है। इसमें परोपकारकी कौन-सी बात है, यह तो मनुष्यमात्रका ही कर्तव्य है कि अपने पास जो कुछ भी भगवान्‌की दी हुई वस्तु है, वह भगवान्‌के काममें लगे तो अपना अहोभाग्य समझे।

वास्तविक संतको पहचानना बड़ा कठिन है, भगवान्‌की कृपासे ही संतका मिलन और उसकी पहचान हुआ करती है।

जो साधन गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थोंसे अनुमोदित है, वह चाहे किसी भी सज्जनके द्वारा बताया हुआ हो, उसके पालनसे उन्नति निश्चित है, किंतु साधन ऐसा होना चाहिये जिसपर साधकका संदेहरहित सरल विश्वास हो, जो साधककी योग्यताके अनुकूल हो अर्थात् जिसे वह सहज भावसे कर सकता हो और जिसमें साधककी रुचि हो।

वास्तवमें मनुष्यमें जानकारीकी कमी नहीं है। भगवान्‌की कृपासे उसे जो स्वाभाविक विवेक प्राप्त है यदि उसका ठीक-ठीक आदर किया जाय, उसे ठुकराया न जाय अर्थात् जो कुछ वह जानता है उसके अनुसार आचरण करने लगे तो भगवान्‌की कृपासे आवश्यक जानकारी उसे अपने-आप प्राप्त होती रहेगी। उसका मार्ग आगे-से-आगे सुख-साध्य होता रहेगा। उसे बाहरी गुरुकी विशेष आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी और यदि आवश्यकता होगी तो भगवान् स्वयं वैसे गुरुसे भेंट करवा देंगे।

आजकल समय बड़ा भयंकर है, गुरुओंकी भरमार है, ऐसे विकट समयमें गुरु-दीक्षाका आग्रह न रखकर भगवान्‌को ही अपना गुरु मान लेना ठीक माल्रम होता है।

वास्तविक अनुभवी योगीको पहचानना बड़ा ही कठिन है; साधक तो बहुत मिल सकते हैं, परंतु साधना सबकी भिन्न-भिन्न होती है। अतः आप स्वयं ही किसी साधकको अपना सहयोगी चुन लें तो वह अच्छा होगा।

गीतापर संस्कृत भाषामें तो बहुत टीकाएँ मिलती हैं, परंतु हिंदीमें वैसी टीका प्रायः नहीं मिलती। बहुत-सी संस्कृत टीकाओंको और अपने विचारोंको मिलाकर मैंने अपनी समझके अनुसार तत्त्वविवेचनी नामकी टीका गीतापर हिंदीमें लिखी है। गीताप्रेससे ४) में मिलती है, उसे आप देख सकते हैं। उससे यदि आपको कुछ सहायता मिल सके तो बड़ी अच्छी बात है।

पातञ्जलयोगदर्शनपर भी हिंदी व्याख्या गीता-प्रेससे प्रकाशित हुई है, उसे देख सकते हैं।

अपनी घरेलू परिस्थितिके साथ-साथ आपने जो यह लिखा कि मेरी रुचि अध्यात्मकी ओर ऐसी है, जिससे सांसारिक बातें अच्छी नहीं लगतीं, सो यह भगवान्‌की विशेष कृपा है। घरका काम और कालेज-की पढ़ाईकी चिन्ता रहती है, इस विषयमें मेरा परामर्श माँगा, सो कालेजकी पढ़ाई तो मेरी समझमें खास जरूरी नहीं है। घरमें आप स्वयं ही या मास्टरद्वारा आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। रही जीविकासम्बन्धी कार्यकी बात, उसका तो सरल उपाय यही माल्रम होता है कि घर और कुटुम्बीजनोंको अपना न

मानकर भगवान्का मानें और घरके कामको भगवान्का काम समझकर भगवान्की प्रसन्नताके लिये उनकी दी हुई शक्तिसे साधनरूपमें करते रहें। ऐसा करनेसे वह काम साधन बन जायगा, साधनमें विघ्न नहीं होगा और उसका भार भी माल्म नहीं होगा।

आपने आजीवन ब्रह्मचर्यपालन करते हुए ही माता-पिताकी सेवाके लिये विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की सो अच्छी बात है। इस विषयमें मेरी राय पूछी, सो ठीक है। ब्रह्मचर्य-पालन करना आध्यात्मिक उन्नतिके लिये परम लाभप्रद है, परंतु यदि हठपूर्वक शरीरसे तो संयम रक्खा और मानसिक विकार होते रहे, वीर्य सुरक्षित नहीं रह सका, मनमें भोग-कामनाका और स्त्री-विषयक सम्भोग-सुखका महत्त्व बना रहा, तो उससे बहुत लाभ नहीं होगा। उसकी अपेक्षा यदि भोगवासना-को मिटानेके उद्देश्यसे अपनी धर्मपत्नीके साथ धर्मानुकूल ऋतुकालमें महीनेमें एक बार नियमित संयोग करते हुए क्रम-क्रमसे भोग-वासनाका नाश करनेकी चेष्टा की जाय तो अधिक लाभ हो सकता है।

आप दो वर्षसे साधनमें लगे हैं सो भगवान्की बड़ी कृपा है। उसके पहलेका जीवन जैसा भी रहा हो, उन दोषोंका बार-बार चिन्तन नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार दोषोंको करना बुरा है, उसी प्रकार उनका चिन्तन भी बड़ा भयानक होता है, अतः न तो अपने भूतकालके दोषोंका चिन्तन करना चाहिये और न दूसरोंके दोषोंका ही चिन्तन करना चाहिये। दूसरोंके दोषोंको देखना, उन्हें दोषी समझकर उनसे घृणा या द्वेष करना, अपनेको अच्छा समझकर सद्गुणोंका अभिमान करना—ये भी भयानक दोष हैं।

साधन-परिवर्तनमें प्रारब्धका हाथ नहीं है। साधक-की रुचि, योग्यता और विश्वासके अनुरूप साधनका निर्माण न होनेके कारण ही वह भाररूप हो जाता है। उसमें रस नहीं आता, इस कारण उसे बदलनेकी बार-बार मनमें आती है। अतः जबतक साधनका निर्माण न हो जाय तबतक अपनी रुचि और योग्यताका ठीक-ठीक अनुभव करनेके लिये साधन बदलनेमें हानि नहीं है। पर हरेक साधनमें भगवद्विश्वास बढ़ता रहे, भगवान्की ओर प्रेममें प्रगति हो, भोग-वासना नष्ट होती रहे, जगत्की कोई भी वस्तु, परिस्थिति एवं कोई भी व्यक्ति सुखके हेतु माल्म न हों, किसी भी नश्वर वस्तुको आधार न मान लें—यह लक्ष्य सुरक्षित रहना चाहिये। लक्ष्य न बदले तो साधन बदलनेमें हानि नहीं है।

साधन बदलने या न बदलनेके बारेमें भगवान्के सामने कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिये। यह बात उन्हीं-पर छोड़ देनी चाहिये और यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान् जो कुछ करेंगे, उसीमें मेरा मङ्गल है। अपने मनसे यह अभिमान उठा देना चाहिये कि मैं कुछ कर सकता हूँ। जो कुछ साधन बन रहा है वह भगवान्की कृपा-भरी प्रेरणासे हो रहा है, ऐसा समझकर हरेक परिस्थितिमें भगवान्की कृपाका बार-बार दर्शन करना चाहिये और अपनेको उनका कृतज्ञ मानकर उनके प्रेममें मग्न होते रहना चाहिये।

भगवान्के सामने की हुई प्रतिज्ञा जो भंग हुई, उसके लिये सच्चे हृदयसे भगवान्के समक्ष क्षमा माँग लेना ही सुन्दर प्रायश्चित्त है। भाव यह अच्छा है कि 'भगवन्! मैंने अज्ञानता और अभिमानवश आपके सामने प्रतिज्ञा की थी, आपने मेरे अभिमानका नाश करनेके लिये ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी जिससे मुझे उसे तोड़ना पड़ा। यह आपका बड़ा ही अनुग्रह है। मेरी गलतीको आप क्षमा करें। भविष्यमें मुझमें ऐसा अभिमान कभी पैदा न हो, ऐसी कृपा रक्खें।'

आपने अपने एक मित्रके विषयमें पूछा कि वे चौदह वर्षसे साधन कर रहे हैं, पर विशेष प्रगति नहीं

कर सके। इस विषयमें पूरी जानकारीके बिना मैं क्या लिखूँ। हो सकता है उनके साधनका ठीक-ठीक निर्माण न हुआ हो, अपने लक्ष्य और साधनके प्रति श्रद्धाकी कमी हो। उन्होंने केवल शरीरसे हठपूर्वक तो ब्रह्मचर्य-पालन किया, परंतु मानसिक संयम नहीं हुआ, यह आपके ही लिखनेसे मालूम होता है। नहीं तो, उनको स्वप्नदोष क्यों होता?

कष्ट-भोग किस जन्मके पापका फल हुआ यह निश्चय होना कठिन है; क्योंकि फल देना फलदाताके अधिकारकी बात है, पर साधकको इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। उसे तो प्रतिकूल परिस्थितिमें भी भगवान्‌की कृपाका ही अनुभव करना चाहिये।

भगवत्कृपा और उसकी प्राप्तिके साधन

(लेखक—डा० महम्मद हाफिज सैयद एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

लोगोंको हम अनर्गलरूपसे भगवत्कृपाके विषयमें बातें करते हुए सुनते हैं, जो यह समझनेकी चेष्टा नहीं करते कि वस्तुतः इसका क्या तात्पर्य है और यह कैसे प्राप्त हो सकती है। यथार्थमें भगवत्कृपा क्या वस्तु है, यह समझनेके पहले हमें भगवत्स्वरूप और भगवत्कृपा प्राप्त करानेवाले अनिवार्य नियमोंको समझना है।

प्राचीन वैदिक विचारधाराके अनुसार विभिन्न नामोंसे पुकारे जानेवाले अव्यक्त, अनवच्छिन्न, असीम, अथाह, अशेष, परम और निर्गुण परब्रह्मका ज्ञान सबके लिये सहज सम्भव नहीं है।

'जिनका मन अव्यक्तमें आसक्त है, उनको अधिक कठिनाईका सामना करना पड़ता है; क्योंकि देहधारीके लिये अव्यक्त-पथकी प्राप्ति दुष्कर है।' (गीता १२–५) इस श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णने संक्षेपमें सगुण उपासनाकी आवश्यकता दिखलायी है। हिंदू-परम्पराके अनुसार हम कदाचित् निर्गुण ब्रह्मको सहज ही प्राप्त नहीं कर सकते। शरीरधारी होनेके कारण हम केवल एक ऐसी सत्तासे प्रेम कर सकते हैं, उसकी पूजा-अर्चना कर सकते हैं, जो मनुष्यरूपमें हमारे सामने प्रकट होती है। अत्यन्त आध्यात्मिक उन्नतिको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंको लें, या भगवान्‌के उन अवतारोंको लें, जो इस लोकमें धर्मकी प्रतिष्ठा और दुष्कृतियोंका नाश करनेके लिये आते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि उनका एकमात्र उद्देश्य होता है यहाँ आकर अधःपतित प्राणियोंका उद्धार करना। इस दुःख और शोकमय जगत्‌में रहने और विचरनेकी उनको स्वयं कोई आवश्यकता नहीं होती। वे विभ्रान्त मनुष्योंकी सेवाके परमपावन उद्देश्यके अधिवश होकर, अपने परमधामके अक्षुण्ण आनन्दका उत्सर्ग करके हमको निर्वाण या मुक्तिका मार्ग प्रदर्शन करने और हमारी सहायता करनेके लिये ही हमारे बीचमें आकर उपस्थित होते हैं। हमारा उद्धार करने और हमारा उपकार करनेके लिये आनेवाली इन दिव्य आत्माओंके प्रति अपनी कृतज्ञताके ऋणसे हम सम्भवतः उऋण नहीं हो सकते।

इस संसारमें जब-जब लोग पापमें रत होने लगते हैं तब-तब भगवान् श्रीकृष्ण धर्मकी रक्षा और दुष्कृतियोंके विनाशके लिये अवतार लेते हैं। पुनः भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'सब प्राणियोंके लिये मैं एक-सा हूँ। मेरे लिये न तो कोई द्वेष्य है, न प्रिय है। जो भक्तिभावसे मेरा भजन करते हैं, वे

मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ ।' इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि भगवान् सबके प्रति एक-सा वर्ताव करते हैं, तथापि उनका ध्यान उसी आदमीकी ओर आकर्षित होता है, वे उसीको अपनी कृपा प्रदान करते हैं जो कठिन अभ्यास तथा परम श्रद्धा, आत्मसंयम और आत्मशुद्धिद्वारा अपनेको अधिकारी बना लेता है । भगवत्कृपाका पात्र हमें अपनेको स्वयं बनाना पड़ेगा ।

भगवत्कृपाकी प्राप्तिका यह अधिकार प्राप्त करनेके लिये फिर हमें क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि हमको निरन्तर उनका चिन्तन करना होगा, उनके दिव्य गुणोंका ध्यान करना होगा, उनके पथपर आत्मसमर्पण कर देना होगा और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निरन्तर प्रार्थना करना होगा कि 'हे प्रभो ! हमारे जीवनको पलट दो; हमको अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलो ।'

छान्दोग्य-उपनिषद्का कथन है कि मनुष्य भावना-से बना है, वह जैसी भावना करता है वैसा ही बनता है। मनःप्रेरित परिवर्तनका यह सर्वमान्य सिद्धान्त कहीं भी विपर्ययको प्राप्त नहीं होता । निरन्तर भगवान्का चिन्तन करनेसे उनका ध्यान हमारी ओर आकर्षित होगा और हम इस प्रकार उनके अनुग्रहके सुपात्र बन सकेंगे ।

सांसारिक चिन्तन और अभिलाषाओंसे अपने मनको हटानेका एक उपाय यह है कि हम बारंबार अपने-आपसे पूछें कि हम कहाँ हैं और किसके विषयमें सोच रहे हैं । शान्तचित्त होते ही हम बरबस इस परिणामपर पहुँचेंगे कि हम प्रायः क्षणिक सांसारिक वस्तुओंकी अभिलाषा और चिन्तनमें ही पड़े रहते हैं और उस निर्विकार और प्यारे आनन्दके आदिकारण प्रभुकी ओर ध्यान नहीं देते ।

अतएव हमको करना यह है कि हम सांसारिक वस्तुओंकी क्षणभङ्गुरता और जीवनकी परिवर्तनशील अवस्थाओंको ध्यानपूर्वक अवलोकन करते हुए अपने आचरणको व्यसनशून्य और विवेकपूर्ण बनावें । वस्तुओंकी आपातरमणीयतापर ध्यान न दें । वे सामने आनेपर कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न लगें, जब हमको पूरा-पूरा और अडिग विश्वास हो जायगा कि यह ठोस दीख पड़नेवाला बाह्य संसार आदि और अन्तवाला है, दुःखयोनि तथा निरन्तर परिवर्तनशील है—अतएव मिथ्या है, तब हमारा मन स्वभावतः इससे भाग खड़ा होगा और निरन्तर संसारमें चिपके रहनेके बदले हम अपने आत्माके यथार्थ स्रोतकी ओर अपने-आपको पूर्णतः मोड़ देंगे, जो सत्-चित् और आनन्दस्वरूप है ।

हमको यह निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिये कि मानव-जातिके उद्धारक महापुरुष, वे पूर्ण आत्मा, जिनको हम ऋषि, मुनि, संत, संन्यासी, देवदूत आदि नामोंसे पुकारते हैं, हमको अपने चरणोंमें लेनेके लिये तथा हमारी सहायता और मार्गप्रदर्शन करके हमारे लक्ष्यस्थानकी ओर ले जानेके लिये उससे कहीं अधिक आतुर होते हैं, जितना कि हम उनकी कृपा और सान्निध्य-प्राप्तिके लिये आतुर होते हैं ।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि भगवत्कृपा किसी व्यक्तिविशेषको दैवी पुरुषोंके पक्षपातसे नहीं मिलती, बल्कि यह स्वयं हमारे अन्तःकरणकी अनवरत अभिलाषा तथा जीवनकी पूर्णता और मुक्तिके उच्च आदर्शके प्रति हमारी श्रद्धाके फलस्वरूप हमको प्राप्त होती है; जब हम परमार्थ-साधनाके द्वारा अपनेको अधिकारी बनाते हैं, तब भगवान्की या गुरुकी कृपासे बिना किसी विघ्न-बाधाके हम अनुगृहीत होते हैं ।

साधकका स्वरूप

(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके एक भाषणका सार)

चार प्रकारके मनुष्य होते हैं—१ पामर, २ विषयी, ३ साधक या मुमुक्षु और ४ सिद्ध या मुक्त। इनमें पामर तो निरन्तर पाप-कर्ममें ही लगा रहता है, विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति होनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये वह सदा-सर्वदा बुरी-बुरी बातोंको सोचता और बुरे-बुरे आचरण करता रहता है। उसकी बुद्धि सर्वथा मोहाच्छन्न रहती है तथा वह पुण्यमें पाप एवं पापमें पुण्य देखता हुआ निरन्तर पतनकी ओर अग्रसर होता रहता है। अतएव उसकी बात छोड़िये। इसी प्रकार सिद्ध या मुक्त पुरुष भी सर्वथा आलोचनाके परे है। उसकी अनुभूतिको वही जानता है। उसकी स्थितिका वाणीसे वर्णन नहीं किया जा सकता तथापि हमारे समझनेके लिये शास्त्रोंने उसका सांकेतिक लक्षण 'समता' बतलाया है। वह मान-अपमानमें, स्तुति-निन्दामें, सुख-दु:खमें, लाभ-हानिमें सम है। उसके लिये विषयोंका त्याग और ग्रहण समान है, शत्रु-मित्र उसके लिये एक-से हैं। वह द्वन्द्वरहित एक-रस स्वसंवेद्य स्वरूप-स्थितिमें विराजित है। किसी भी प्रकारकी कोई भी परिस्थिति, कोई भी परिवर्तन उसकी स्वरूपावस्थामें विकार पैदा नहीं कर सकते।

अब रहे विषयी और साधक। सो इन दोनोंके कर्म दो प्रकारके होते हैं। दोनोंके दो पथ होते हैं। विषयी जिस मार्गसे चलता है, साधकका मार्ग ठीक उसके विपरीत होता है। विषयी पुरुषको कर्मकी प्रेरणा मिलती है—वासना, कामनासे और उसके कर्मका लक्ष्य होता है भोग। वह कामना-वासनाके वशवर्ती होकर, कामनाके द्वारा विवेक-भ्रष्ट होकर कामनाके दुरन्त प्रवाहमें बहता हुआ विषयासक्त चित्तसे भोगोंकी प्राप्तिके लिये अनवरत कर्म करता है। साधकको कर्मकी प्रेरणा मिलती है—भगवान्‌की आज्ञासे और उसके कर्मका लक्ष्य होता है भगवान्‌की प्रीति। वह भगवान्‌की आज्ञासे प्रेरणा प्राप्त कर, विवेककी पूर्ण जागृतिमें भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे भगवान्‌में आसक्त होकर भगवान्‌की प्रीतिके लिये कर्म करता है। यही उनका मौलिक भेद है। विषयी मान चाहता है, साधक मानका त्याग चाहता है; विषयी निरन्तर बड़ाईका भूखा रहता है, उसे बड़ाई बड़ी प्रिय मालूम होती है, पर साधक बड़ाई-प्रशंसाको महान् हानिकर मानकर उससे दूर रहना चाहता है। वह प्रतिष्ठाको 'शूकरी-विष्ठा'के समान त्याज्य और घृणित मानता है। विषयीको विलास-वस्तुओंसे सजे-सजाये महलोंमें सुख मिलता है तो साधकको घास-फूसकी कुटियामें आरामका अनुभव होता है। विषयी बहुत बढ़िया फैशनके कपड़े पहनता है तो साधकको उन कपड़ोंसे शर्म आती है और वह सादे साधारण वस्त्रका व्यवहार करता है। विषयी इत्र-फुलेल लगाता है तो साधकको उनमें दुर्गन्ध आती है। इस प्रकार विषयी पुरुष संसारका प्रत्येक सुख चाहता है, साधक उस सुखको फँसानेवाली चीज मानकर—दु:ख मानकर उससे बचना चाहता है।

साधकमें सिद्धपुरुषकी-सी समता नहीं होती और जबतक वह सिद्धावस्थामें नहीं पहुँच जाता, तबतक समता उसके लिये आवश्यक भी नहीं है। उसमें विषमता होनी चाहिये और वह होनी चाहिये विषयी पुरुषसे सर्वथा विपरीत। उसे सांसारिक भोग-वस्तुओंमें वितृष्णा होनी चाहिये। सांसारिक सुखोंमें दु:खकी भावना होनी चाहिये और दु:खोंमें सुखकी। सांसारिक लाभमें हानिकी भावना होनी चाहिये और हानिमें लाभ-की। सांसारिक ममताके पदार्थोंकी वृद्धिमें अधिकाधिक बन्धनकी भावना होनी चाहिये और ममताके पदार्थोंकी कमीमें अधिकाधिक बन्धन-मुक्तिकी। जगत्‌में उसका

सम्मान करनेवाले, पूजा-प्रतिष्ठा करनेवाले, कीर्ति, प्रशंसा और स्तुति करनेवाले लोग बढ़ें तो उसे हार्दिक प्रतिकूलताका बोध होना चाहिये और इनके एकदम न रहनेपर तथा निन्दनीय कर्म सर्वथा न करनेपर भी अपमान, अप्रतिष्ठा और निन्दाके प्राप्त होनेपर अनुकूलताका अनुभव होना चाहिये । जो लोग साधक तो बनना चाहते हैं पर चलते हैं विषयी पुरुषोंके मार्गपर तथा अपनेको सिद्ध मानकर अथवा बतलाकर समताकी बातें करते हैं, वे तो अपनेको और संसारको धोखा ही देते हैं । निष्काम कर्मयोगकी, तत्त्वज्ञानकी या दिव्य भगवत्प्रेमकी ऊँची-ऊँची बातें भले ही कोई कर ले । जबतक मनमें विषयासक्ति और भोग-कामना है, जबतक विषयी पुरुषोंकी भाँति भोग-पदार्थोंमें अनुकूलता-प्रतिकूलता है तथा राग-द्वेष है, तबतक वह साधककी श्रेणीमें ही नहीं पहुँच पाया है, सिद्ध या मुक्तकी बात तो बहुत दूर है । मनमें कामना रहते केवल बातोंसे कोई निष्काम कैसे होगा ? और मनमें भोगसुखमें विश्वास रहते कोई उनकी कामना कैसे नहीं करेगा ? मनमें मोह रहते कोई तत्त्वज्ञानी कैसे होगा और मनमें विषयानुराग रहते कोई भगवत्प्रेमी कैसे बन सकेगा ? अतएव साधकको विषयीसे विपरीत मार्गमें अनुकूलता दिखायी देनेवाली मनोवृत्तिका निर्माण करना होगा । इसीलिये भगवान्‌ने 'बार-बार विषयोंमें दुःख-दोष देखने'की आज्ञा दी है—'दुःखदोषानुदर्शनम् ।' संसारकी प्रत्येक अनुकूल कहानेवाली वस्तुमें, भोगमें और परिस्थितिमें साधकको सदा-सर्वदा दुःख-बोध होना चाहिये । दुःखका बोध न होगा तो सुखका बोध होगा । सुखका बोध होगा तो उनकी स्पृहा बनी रहेगी । मन उनमें लगा ही रहेगा । इस प्रकार संसारके भोगादिमें सुखका बोध भी हो, उनमें मन भी रमण करता रहे तथा उनको प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा भी बनी रहे और वह भगवान्‌को भी प्राप्त करना चाहे—यह बात बनती नहीं—

जहाँ काम तहाँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम ।
तुलसी कबहुँक रहि सकें, रवि रजनी इक ठाम ॥

जैसे सूर्य और रात्रि—दोनों एक साथ एक स्थानमें नहीं रह सकते, इसी प्रकार 'राम' और 'काम'—'भगवान्' और 'भोग' एक साथ एक हृदयदेशमें नहीं रह सकते । इसलिये साधकको चाहिये कि भोगोंको दुःख-दोष-पूर्ण देखकर उनसे मनको हटावे । उसे यदि भोगोंके त्यागका या भोगोंके अभावका अवसर मिले तो उसमें वह अपना सौभाग्य समझे । वस्तुतः भोगोंमें सुख है ही नहीं, सुख तो एकमात्र परमानन्दस्वरूप श्रीभगवान्‌में है । विषय-सुख तो मीठा विष है जो एक बार सेवन करते समय मधुर प्रतीत होता है पर जिसका परिणाम विषके समान होता है । भगवान्‌ने कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
(गीता १८ । ३८)

इसीलिये बुद्धिमान् साधक इन दुःखयोनि संस्पर्शज भोगोंसे कभी प्रीति नहीं करते, वे अपना सारा जीवन बड़ी सावधानीसे भगवान्‌के भजनमें बिताते हैं । देवर्षि नारदजी कहते हैं—

विहाय कृष्णसेवां च पीयूषादधिकां प्रियाम् ।
को मूढो विषमश्नाति विषमं विषयाभिधम् ॥
स्वप्नवन्नश्वरं तुच्छमसत्यं मृत्युकारणम् ।
यथा दीपशिखाग्रं च कीटानां सुमनोहरम् ॥
यथा बडिशमांसं च मत्स्यापातसुखप्रदम् ।
तथा विषयिणां तात विषयं मृत्युकारणम् ॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्म० ८ । ३६–३८)

ऐसा कौन मूढ़ होगा जो अमृतसे भी अधिक प्रिय—सुखमय श्रीकृष्ण-सेवा (भजन) को छोड़कर विषम विषयरूप विषका पान करना चाहेगा ? जैसे कीट-पतंगोंकी दृष्टिमें दीपककी ज्योति बड़ी मनोहर माल्रम होती है और बंसीमें पिरोया हुआ मांसका टुकड़ा मछलीको सुखप्रद जान पड़ता है, वैसे ही विषयासक्त लोगोंको स्वप्नके

सदृश असार, विनाशी, तुच्छ, असत् और मृत्युका कारण होनेपर भी, 'विषयोंमें सुख है'—ऐसी भ्रान्ति हो रही है।

साधक इस भ्रान्तिके जालको काटकर इससे बाहर निकल जाता है अतएव जब उसके विषय-सुखका हरण या अभाव होता है, तब वह भगवान्‌की महती कृपाका अनुभव करता है। वास्तवमें है भी यही बात। मान लीजिये, एक दीपक जल रहा है; दीपककी लौ बड़ी सुन्दर और मनोहर प्रतीत होती है, उस लौकी ओर आकर्षित होकर हजारों पतंगे उड़-उड़कर जा रहे हैं और उसमें पड़कर अपनेको भस्म कर रहे हैं। इस स्थितिमें यदि कोई सज्जन उस दीपकको बुझा दे या दीपक और पतंगोंके बीचमें लंबा पर्दा लगा दे, पतंगोंको उधर जानेसे रोक दे तो बताइये, इसमें उन पतंगोंका उपकार हुआ या अपकार? और इस प्रकार पतंगोंको जल मरनेसे बचानेवाला वह मनुष्य उनका उपकारी हुआ या अपकारी? बुद्धिमान् मनुष्य यही कहेगा कि उसने बड़ा उपकार किया जो पतंगोंको जलनेसे बचा लिया।

इसी प्रकार यदि सहज-सुहृद् भगवान् दया करके हमें भोगके भीषण दावानलसे बचानेके लिये भोगवस्तुओंका अभाव कर देते हैं, उनसे हमारा विछोह करा देते हैं तो वे हमपर बड़ा उपकार करते हैं। कीचड़में आकण्ठ धँसे हुए किसी प्राणीको यदि कोई उससे खींचकर निकाल लेता है तो वह बहुत ही अनुग्रह करता है। भगवान्‌ने बलिके साम्राज्य-वैभवका हरण कर लेनेके बाद ब्रह्माजीसे स्वयं कहा है—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते॥
(श्रीमद्भा० ८। २२। २४)

'ब्रह्माजी! धनके मदसे मतवाला होकर मनुष्य मेरा (भगवान्‌का) और लोगोंका तिरस्कार करने लगता है (इससे वह परमार्थके मार्गसे वञ्चित हो जाता है अतः उसका कल्याण करनेके लिये) उसपर अनुग्रह करके मैं उसका धन (विषय-वैभव) हर लिया करता हूँ।'

उसपर तो मेरी बड़ी ही कृपा समझनी चाहिये कि जो मनुष्य-योनिमें जन्म लेकर कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धनादि विषयोंको पाकर उनका घमंड नहीं करता,—

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः॥
(श्रीमद्भा० ८। २२। २६)

आगे चलकर भगवान्‌ने इसी सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करते हुए यहाँतक कह दिया कि—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।
(श्रीमद्भा० १०। ८८। ८–१०)

'जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका सारा धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ। जब वह धनहीन हो जाता है, तब उसके घरके लोग उसके दुःखाकुल चित्तकी परवा न करके उसे त्याग देते हैं। वह (यदि) फिर धनके लिये उद्योग करता है तो (उसके परम कल्याणके लिये मैं कृपा करके) उसके प्रत्येक प्रयत्नको असफल करता रहता हूँ। इस प्रकार बार-बार असफल होनेके कारण जब उसका मन धनसे विरक्त हो जाता है, उसे दुःख समझकर वह उधरसे अपना मन हटा लेता है, तब वह मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे मैत्री करता है और तब मैं उसपर अहैतुक अनुग्रह करता हूँ। मेरी उस कृपासे उसे उस परम सूक्ष्म अनन्त सच्चिदानन्दघन परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

साधकके तो जीवनका लक्ष्य ही परमात्माकी प्राप्ति है, अतः वह इस अवस्थामें भगवान्‌के अनुग्रहका प्रत्यक्ष

अनुभव करके सहज ही प्रसन्न होता है। वह समझता है भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके मुझको कीचड़से—दलदलसे, नरककुण्डसे निकाल लिया। भयानक विषपानसे बचा लिया। वह विषयोंके अभावमें सचमुच एक विलक्षण आश्वस्तिका, शान्तिका, भारमुक्तिका अनुभव करता है। यह सत्य है कि जिसको संसारमें जितनी सुख-सुविधा अधिक मिलती है, वह उतना ही अधिक रागसम्पन्न होकर संसारपाशमें बँधता है। इस दृष्टिसे जिसके पास ममत्वकी वस्तुएँ—मकान, जमीन, धन आदि अधिक हैं, जिसके आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, अनुयायी-अनुगामी, शिष्य-प्रशिष्य जितने अधिक हैं, उतनी ही उसकी विषयोंमें आसक्ति अधिक है और वह उतना ही दुःखका, नरकयन्त्रणाके भोगका अधिक अधिकारी होगा। उसका नरकोंमें जाना और वहाँके भीषण कष्टोंको भोगना उतना ही सहज होगा; क्योंकि जहाँ विषयासक्ति बढ़ी होती है, वहाँ विवेक नहीं रहता। विवेकका नाश होते ही पापबुद्धि हो जाती है और पापका फल नरकभोग या संताप अनिवार्य है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि जो लोग कामोपभोगको ही जीवनका एकमात्र ध्येय मानते हैं, आशाओंकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधपरायण होकर कामोपभोगकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रहका प्रयत्न करते रहते हैं। जो कहते हैं कि आज हमने यह कमाया, हमारे और सब मनोरथ पूरे होंगे। हमारे पास इतना धन हो गया, और भी होगा। हमने उस शत्रुको मार दिया, दूसरोंका भी काम तमाम कर देंगे। हम ही ईश्वर हैं, हम भोगी हैं, हम सफल-जीवन हैं, हम बलवान् और सुखी हैं, हम बड़े धनी और जनताके नेता हैं। हमारे समान दूसरा है ही कौन? हम यज्ञ करेंगे, हम दान देंगे, हम आनन्दसागरमें हिलोरें लेंगे। इस प्रकार अज्ञानविमोहित, अनेकचित्तविभ्रान्त और मोह-जालसमावृत, कामोपभोगमें अत्यन्त आसक्त मनुष्य महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं—

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

(गीता १६। १६)

ऐसे लोग चाहे अपनेको कितना ही सुखी और समृद्ध मानें, चाहे इनको कितनी ही सुख-सुविधा और मान-सम्मान प्राप्त हो, चाहे इनके कितने ही अनुयायी, शिष्य, अनुगामी, सहयोगी, सखा, मित्र, बान्धव हों, कितना ही ऊँचा इनको अधिकार या पद प्राप्त हो, कितने ही अधिक आरामसे विशाल सुसज्जित भवनोंमें इनका निवास हो, चाहे इनके सुख-ऐश्वर्यको देख-देखकर लाखों-करोड़ों लोग ललचाते हों, परंतु जिनकी मनोवृत्ति उपर्युक्त प्रकारकी है,—उनका यह सारा सुख-वैभव उस दुःखपूर्ण विशद ग्रन्थकी भूमिका है, जो उनके लिये निर्माण हो रहा है या वह उस दुःख-यातनापूर्ण विशाल भवन—नरकालयकी नींव है जो उनके लिये बन रहा है। इसलिये साधकको बड़ी सावधानीके साथ इस भोगसुखाश्रयी आसुरी मनोवृत्तिसे बचना चाहिये और संसारके इस भोग-सुख-वैभवके अभावमें सौभाग्यका अनुभव करना चाहिये। परम-बुद्धिमती कुन्तीदेवीने भगवान्‌से वरदान माँगा था—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २५)

'जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सदा पद-पदपर विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि विपत्तियोंमें निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जानेपर फिर अपुनर्भव (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है। फिर जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं आना पड़ता।'

कुन्ती इस बातको जानती थी कि भगवान् 'अकिञ्चन' (निर्धन) प्रिय हैं, 'अकिञ्चन' (निर्धन) के धन हैं और 'अकिञ्चन'को ही प्राप्त होते हैं।' इसीलिये उन्होंने अपनी स्तुतिमें 'अकिञ्चनवित्ताय' 'अकिञ्चन-गोचरम्' कहकर उनका गुणगान किया है।

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल राम रटाय॥

इसीलिये साधक भोगसुखमें परम हानिका प्रत्यक्ष करके भोगोंके अभावरूप दुःखका इच्छापूर्वक वरण करता है। पर याद रखना चाहिये कि भोगोंके स्वरूपतः त्यागसे ही इस भावकी पूर्णता नहीं होती। असलमें तो मनसे भोगोंका त्याग होना चाहिये। भोगोंमें मलिन-बुद्धि, दुःख-बुद्धि, दोष-बुद्धि, वमन-बुद्धि, मल-बुद्धि या विष-बुद्धि होनी चाहिये। अपने टाट पहन ली, पर यदि रेशमी वस्त्र पहननेवालोंके प्रति आकर्षण रहा, अपने झोपड़ीमें रहते हैं पर यदि महलोंमें रहनेवालोंका सौभाग्य मनपर प्रभाव डालता है, अपने रूखा-सूखा खाते हैं पर यदि मेवा-मिष्टान्नोंपर मन चलता है, अपने सादगीसे रहते हैं पर यदि विलासी जीवनको देखकर उसके सुखी और सौभाग्यवान् होनेकी कल्पना होती है; चाहे कोई दुःख प्रकट न करे, पर जबतक मनकी यह स्थिति है, तबतक भोगोंके अभावमें प्रतिकूलता बनी ही है। भोगोंका गौरव तथा महत्त्व मनमें वर्तमान है ही। साधक-के लिये मनकी यह स्थिति बड़ी विघ्नकारक है। उसकी साधनामें यह एक महान् प्रतिबन्धक या अन्तराय है। अतएव साधकको अपने मनसे भोगोंका गुरुत्व, महत्त्व बिल्कुल निकाल देनेका प्रयत्न करना चाहिये।

एक बार काशीमें एक विधवा बहिन मिली थी। वह अपनी स्थितिमें बहुत ही संतुष्ट थी। उसने मुझे बताया कि 'विधवा होनेके बाद ही भगवत्कृपासे मेरी मनोवृत्ति बदल गयी। मैंने भोगोंके अभावमें सुखका अनुभव किया।' उसने कहा—'मैं यदि संसारमें भोग-जीवन बिताती, मेरे बाल-बच्चे होते, कोई बीमार होता, कोई मरता, किसीके विवाहकी चिन्ता होती। हजारों तरहके नये-नये अभावोंकी आगमें मुझे झुलसते रहना—जलते रहना पड़ता। अब मैं बड़ी सुखी हूँ, बिना किसी भय-आशङ्काके भगवान्‌का भजन करती हूँ। रूखा-सूखा जो मिल जाता है, खा लेती हूँ, जो मोटा-झोटा मिल जाता है पहन लेती हूँ। मेरे कोई आवश्यकता ही नहीं है। न मुझे शृङ्गारकी चिन्ता है, न आवश्यकता है; न मुझे जीभके स्वादकी चिन्ता है, न आवश्यकता है।' यदि इसी प्रकार विधवा बहिनोंके, अभावग्रस्त भाई-बहिनोंके भाव बदल जायँ और वे अभावकी स्थितिमें अनुकूलता-का अनुभव करने लगें तो सभी तुरंत सुखी हो सकते हैं। वस्तुतः संसारमें सुख-दुःख किसी वस्तुमें, अवस्थामें, स्थिति-में या प्राणी-पदार्थमें नहीं है। वह तो केवल मनकी भावनामें है। भावना बदल जाय, दुःखमें भगवत्कृपाके दर्शन हों तो दुःख नामक कोई वस्तु रह ही नहीं जायगी। भावनामें ही दुःख-सुख रहते हैं। एक आदमी ध्यानका अभ्यास करनेके लिये कोठरीमें जाकर बाहरसे बंद कर लेनेको कहता है और दूसरे आदमीको कोई वैसी ही कोठरीमें बलपूर्वक बंद कर देता है। दोनों एक-सी कोठरीमें, एक-सी स्थितिमें हैं। दोनोंके ही चित्त चञ्चल हैं, ध्यानका अभ्यास करनेवालेका भी मन नहीं लग रहा है और दूसरेका मन तो चञ्चल है ही। पर उनमें जो स्वेच्छासे ध्यानके अभ्यासके लिये बंद हुआ है, वह सुखका अनुभव करता है और जिसको अनिच्छासे बंद किया गया है वह दुःखका। इसका कारण यही है कि पहलेकी उसमें अनुकूल भावना है और दूसरेकी प्रतिकूल। इसी प्रकार एक मनुष्य अपना सर्वस्व लुटाकर स्वेच्छासे फकीर बना है और एक दूसरेको डाकुओंने लूटकर घरसे निकाल दिया है। दोनों ही घर और धनसे रहित हैं, पर फकीर सुखी है और लुटा हुआ दुखी; क्योंकि उनमें फकीरकी अपनी स्थितिमें अनुकूल भावना है और लुट जानेवालेकी प्रतिकूल। यदि मनुष्य भगवत्प्राप्तिमें सहायरूप मानकर भोग-वस्तुओंके अभावको भगवत्कृपासे प्राप्त परम हितकी स्थिति मान ले तो उसकी अनुकूल भावना हो जायगी,

और वह उसमें परम सुखी हो जायगा। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

अथवा—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

बात ठीक ही है—हम यदि किसीके माता, पिता, सुहृद्, भाई, बन्धु, स्वामी, पत्नी हैं और उससे हमारा यथार्थ प्रेम है तो हम उसे उसी पथपर ले जाना या चलाना चाहेंगे, जो उसके भविष्यको उज्ज्वल और सुखमय बनानेवाला है। जो ऐसा उपदेश देते हैं कि जिसके पालनसे उसका अहित होता है, भविष्य अन्धकारमय होता है, उसे नरकोंमें जाना पड़ता है—वे तो उसका प्रत्यक्ष ही बुरा करते हैं। इस प्रकार चोरी, जारी, असत्य, हिंसा आदिमें लगानेवाले तो वस्तुतः उसके वैरी ही हैं, वे स्वयं भी नरकगामी होते हैं और अपने उस आत्मीयको भी नरकोंमें ढकेलनेमें सहायक होते हैं। देवर्षि नारदजीने कहा है—

पुत्रान् दारांश्च शिष्यांश्च सेवकान् बान्धवांस्तथा।
यो दर्शयति सन्मार्गं सद्गतिस्तं लभेद् ध्रुवम्॥
यो दर्शयत्यसन्मार्गं शिष्यैर्विश्वासितो गुरुः।
कुम्भीपाके स्थितिस्तस्य यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
स किं गुरुः स किं तातः स किं स्वामी स किं सुतः।
यः श्रीकृष्णपदाम्भोजे भक्तिं दातुमनीश्वरः॥
(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्म० ८। ५९—६१)

'जो मनुष्य पुत्र, स्त्री, शिष्य, सेवक और भाई-बन्धुओंको सन्मार्ग (भगवान्‌के मार्ग) में लगाता है, उसको निश्चय ही सद्गतिकी प्राप्ति होती है और जो गुरु अपने विश्वस्त शिष्यको (कोई भी गुरुजन अपने प्रिय सम्बन्धीको) असत् मार्ग (भगवद्विरोधी पाप-मार्ग) में लगाता है, वह जबतक चन्द्रमा-सूर्य रहते हैं तबतक कुम्भीपाक नरकमें रहता है। जो गुरु, पिता, स्वामी, पुत्र अपने शिष्य, पुत्र, सेवक (या पत्नी) तथा पिताको श्रीकृष्ण-चरणारविन्दकी भक्तिमें नहीं लगा सकता, वह गुरु, पिता, स्वामी और पुत्र ही नहीं है।'

अतएव साधक जब भगवत्कृपासे भोगोंके अभावरूप यथार्थ सुखकी स्थितिमें पहुँचता है और उसके मनसे भोगासक्ति चली जाती है, तब यह समझना चाहिये कि उसके सौभाग्य-सूर्यका उदय हुआ है। यही जीवनका वह शुभ तथा महान् मङ्गलका मुहूर्त है, जब कि अनादिकालसे विषयासक्तिमें फँसा हुआ जीव उसके बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेके लिये प्रयत्नशील होता है। यही उसके लिये बड़भागीपनका क्षण है।

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

नहीं तो—

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

आज यह विषयानुरागका मोह मिटा, बस, आज ही जीवनका यथार्थ शुभ क्षण आरम्भ हुआ है, आज ही विपत्तिके विकराल वनसे निकलकर सुखमय प्रकाशमय पथपर पैर रखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है। यही सच्चे सौभाग्यका महिमामय मार्ग है। यही यथार्थ त्याग है। घर छोड़ना त्याग नहीं है, कपड़े या नाम बदलना त्याग नहीं है। यदि मनमें विषयानुराग है तो वहाँ घरका नाम भवन या महल न होकर आश्रम या मठ होगा; नाममें भी संन्यासका संकेत होगा। पर सच्चा संन्यास, सम्यक् त्याग तो तभी होगा, जब विषयानुरागका त्याग होगा। विषयीके सारे कार्य विषयानुरागसे ओत-प्रोत होते हैं और साधकके भगवदनुरागसे। यही उनका महान् अन्तर है। विषयीका मन सदा-सर्वदा विषयोंमें अटका रहता है, वह मृत्युके समयमें भी विषय-चिन्तनमें लगा रहता है और साधकका मन सदा विषयोंसे विरक्त रहता है, उनके त्यागमें उसे जरा-सी कठिनता नहीं प्रतीत होती। उसका

चित्त निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें संलग्न रहता है। मौत चाहे जब आवे, वह तो उसे मिलेगा भगवान्‌का चिन्तन करता हुआ ही। इसीसे उसको भगवान्‌की प्राप्ति सुनिश्चित मानी जाती है।

पर यदि कोई ऐसा अधिकारी हो कि भगवान् उसके पास प्रचुर मात्रामें भोग-पदार्थ रखकर ही उसे अपनी ओर लगाना चाहते हों, उसके द्वारा आदर्शरूपसे भोग-पदार्थोंका सेवन कराना चाहते हों, तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। यदि कोई राग-द्वेषसे रहित होकर अपने वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करता है तो उसे भगवान् प्रसाद देते हैं अर्थात् वह अन्तःकरण-की प्रसन्नता या निर्मलताको प्राप्त होता है और उस प्रसादसे—निर्मलतासे उसके सारे दुःखोंका अभाव हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
(गीता २। ६४-६५)

बन्धनका प्रधान कारण है अनुकूल विषयोंमें आसक्ति या राग। जहाँ अनुकूलमें राग होता है वहाँ प्रतिकूल-में द्वेष होता ही है। अनुकूल वस्तुओंपर मनुष्य अपनी ममताकी मुहर लगाकर उनका स्वामी, भोक्ता बनना चाहता है, तब बन्धन और भी गाढ़ा हो जाता है। यदि वह अपनेको तथा भगवान्‌के द्वारा दिये हुए समस्त प्राणी-पदार्थोंको भगवान्‌का बना दे, भगवान्‌का मान ले, जो यथार्थमें हैं, अपने सहित अपना सर्वस्व भगवान्‌का बनाकर केवल भगवान्‌के चरणोंमें ही सारी ममताको लगा दे—

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

—तो फिर भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब न हो। ऐसी अवस्थामें धन-वैभव, मकान-जमीन सभी कुछ रहें, कोई आपत्ति नहीं; वे रहेंगे भगवान्‌के और उनके द्वारा होगी केवल भगवान्‌की सेवा। भोगोंमें ममत्व जल जायगा। विषयोंकी आसक्ति नष्ट हो जायगी। सारी ममता और सारी आसक्ति अनन्य अनुरागके रूपमें भगवान्‌के चरणोंमें आकर केन्द्रित हो जायगी। फिर वह साधक स्वयं कुछ नहीं करेगा, भगवान् ही उसके हृदयदेशमें विराजित होकर अपनी मनमानी करेंगे; क्योंकि वही भगवान्‌का अपना घर है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

सियावर रामचन्द्रकी जय।

अपनी भक्ति दीजिये

दीन कौं दयाल सुन्यौ, अभय-दान-दाता, साँची बिरुदावलि, तुम जगके पितु माता।
ब्याध-गीध-गनिका गज इनमें को ज्ञाता? सुमिरत तुम आए तहँ, त्रिभुवन बिख्याता॥
केसि-कंस दुष्ट मारि, मुष्टिक कियौ घाता, धाए गजराज-काज, केतिक यह बाता।
तीनि लोक बिभव दियौ तंदुल के खाता, सरबस प्रभु रीझि देत तुलसी कै पाता॥
गौतम की नारि तरी नेकु परसि लाता, और को है तारिबे कौं, कहौ कृपा-ताता।
माँगत है सूर त्यागि जिहिं तम-मन राता, अपनी प्रभु भक्ति देहु जासौं तुम नाता॥

—सूरदासजी

उन्नतिका सर्वोत्कृष्ट साधन आत्मविश्वास है

(लेखक—ठाकुर श्रीरामसिंहजी)

जीवनमें आशा और निराशाका चक्र चलता ही रहता है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन, प्रकाश और अन्धकार यह सब हमारे जीवनके मार्गमें आनेवाले संस्थान हैं। मनुष्य जब उत्थानके शिखरपर चढ़ता है, तब उसके समक्ष उत्साहका प्रयास झलकने लगता है और उसकी आकृतिपर एक प्रकारकी ओजकी चमक आ जाती है। जब वही पतनके गहरे गड्ढेमें गिर पड़ता है, तब उसकी आँखोंके सामने घोर अन्धकार छा जाता है, उसकी आकृति अपवित्रताकी कालिमासे स्याह पड़ जाती है और उसके सच्चे मित्र भी उसे सहायता देना पाप समझने लगते हैं। जब वह अपने उत्थानके दिनोंको याद करता है तो वह विह्वल होकर रो पड़ता है। उसे यह प्रतीत होने लगता है कि मैं पतित हूँ। पापी हूँ। मेरा भविष्य अन्धकारमें है। अब मेरा उत्थान नहीं हो सकता। उसके हृदयमें एक प्रकारकी आग धधकने लग जाती है, जिससे वह अहर्निश झुलसने लगता है। उसके जीवनकी सारी प्रसन्नता-प्रफुल्लता उससे कोसों दूर भागती है। जिस समय इस प्रकारके निराश और निराश्रित व्यक्तिके सम्मुख कोई निर्दोष, प्रसन्न एवं निर्मलचरित्र व्यक्ति आ निकलता है तो मानो उसके शरीरको सहस्रों वृश्चिक एक साथ अपने डंक चुभोने लगते हैं और वह कहने लगता है, काश ! मैं भी ऐसा ही होता।

इस प्रकारके पतितचरित्र एवं अपने जीवनसे सर्वथा निराश महानुभावोंके लिये एक ही औषध है आत्म-विश्वास ! एक और भी अमोघ औषध है जिसके द्वारा निराश व्यक्तिको आश्वासन प्राप्त हो सकता है, वह है भगवान्पर विश्वास; किंतु आत्मविश्वासके बिना भगवान्पर विश्वास भी नहीं होता। जो मनुष्य अपने जीवन-मार्गमें आगे और आगे ही बढ़नेकी इच्छा रखता है, उसे सबसे प्रथम अपने ऊपर दृढ़ विश्वास रखना पड़ेगा। जबतक उसे अपने-आपपर विश्वास नहीं, तबतक यह असम्भव है कि वह अपने स्थानसे तिलमात्र भी आगेकी ओर चरण निक्षेप कर सके। पतित-से-पतित भी क्यों न हो, यदि उसे अपने आपपर विश्वास है तो यह निश्चय रखिये कि वह अपनी इस अनीप्सित अवस्थासे उभरकर रहेगा। भीषण-से-भीषण दुर्वृत्तोंकी ओर घसीटनेवाले मानसिक शत्रुओंको परास्त करके उन्हें कुचलकर रहेगा और एक-न-एक दिन उत्थानके भव्य एवं स्वर्गिक शिखरपर समारूढ़ होकर रहेगा। इसलिये कोई भी कितना ही पतित क्यों न हो, उसे अपने हाथसे इस आत्मविश्वासको नहीं जाने देना चाहिये।

कट जायेंगी दुःखकी घड़ियाँ, होगा प्रात, न रात रहेगी।
क्या रह जायेगा दुनियामें, कहनेको बस बात रहेगी॥

मनुष्यको अपने ऊपर विश्वास रखना चाहिये। अपने अंदर निहित भगवत्प्रदत्त दिव्य शक्तियोंपर विश्वास रखना चाहिये। भगवान्ने प्रत्येक व्यक्तिके अंदर नाना प्रकारकी शक्तियाँ निगूढ़रूपमें स्थापित कर रक्खी हैं। आज हम संसारके अंदर नित्यप्रति आविर्भूत होनेवाले नूतन और मानवीय चर्म-चक्षुओंको चमत्कृत करनेवाले आविष्कारोंको देख रहे हैं। नहीं, नहीं, मनुष्योंके स्वप्नलोकको इस मर्त्यभूमिपर अवतीर्ण होता हुआ देख रहे हैं। उन्हीं दश-एकादश आवश्यक खण्डोंसे निर्मित किसी विचित्र धातुका पुतला मानव संसारके अंदर युगान्तर उपस्थित कर देनेवाला यह सब कार्य कर सकता है। क्या हमारेमें वह सामर्थ्य नहीं कि हम भी उसी प्रकारके अलौकिक कार्योंसे इस

विश्वको चकित कर सकें ? है, अवश्य है; फिर हम उस प्रकार करके नहीं दिखा सकते, इसका कारण क्या है ? यही कि हमें अपने सामर्थ्यका ज्ञान नहीं है। हमें इस बातपर विश्वास नहीं कि हमारे अंदर भी कुछ शक्तियाँ विराजमान हैं, जिनके उपयोगमें लाने तथा प्रदीप्त करनेसे हम संसारमें युगान्तर उपस्थित कर सकते हैं। अस्तु, आज हम जनसाधारणके लिये आत्मविश्वासका पाठ पढ़ाने नहीं बैठे हैं। हमारी आजकी पङ्क्तियाँ तो केवल उन्हीं लोगोंको लक्ष्य करके लिखी जा रही हैं, जो अपनेको पतित समझते हैं, पातकी समझते हैं तथा जिन्हें अपने भविष्यकी उज्ज्वलतापर रत्तीमात्र भी विश्वास नहीं रह गया है। संसारमें नाना प्रकारके व्यक्ति हैं और उनके अपने नाना प्रकारके विश्वास एवं सिद्धान्त बने हुए हैं। हम नहीं कह सकते कि हमारे बन्धुओंका क्या विश्वास होगा; किंतु हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिपल आगे बढ़ता ही जा रहा है। पीछे नहीं हट रहा है। प्रत्येक कार्य उसे उन्नतिके मार्गपर आगे ही बढ़ाये लिये जा रहा है। कहनेका अभिप्राय यह है कि प्रतिक्षण मनुष्यका जो चरण अपने स्थानसे उत्थित होता है वह आगे ही जाकर स्पर्श करता है। यदि कभी भूलकर उसी स्थानपर पड़ भी जाय तो पड़ सकता है। यद्यपि हमें इसमें भी विश्वास नहीं, तो भी पीछे कदापि नहीं पड़ेगा, यह खूब ध्यानमें रखिये। अतः जो बन्धु अपनेको अत्यधिक हीनचरित्र समझते हैं, उन्हें इस बातसे डरना नहीं चाहिये कि हम अपूर्णचरित्र हैं, हमारा भविष्य सर्वथा अन्धकारपूर्ण है और हम कभी इस अवस्थासे उद्धरित नहीं हो सकेंगे। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि संसारमें सब व्यक्ति पङ्क्तिबद्ध होकर मोक्षकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं और क्रमसे प्रत्येक मनुष्यको मोक्षकी प्राप्ति होती जा रही है। प्रत्येकको मोक्ष-प्राप्तिके लिये उतना ही रास्ता तय करना पड़ता है, जितना अगले व्यक्तिने मोक्ष-प्राप्त्यर्थ किया है। हम सब उस पङ्क्तिके अंदर विद्यमान हैं, कोई हमसे आगे है, कोई हमसे पीछे। जिस मार्गपर यह प्रकृति प्रक्रमण कर रही है, उसमें उतार-चढ़ाव बहुत हैं। जब एक व्यक्ति उतारके अन्तिम सिरेपर पहुँचकर अपने अगले और पिछले आदमियोंको अपनेसे बहुत ऊपर देखता है तो वह समझता है कि हाय! मैं कितना पतित हूँ और ये लोग मुझसे कितने उन्नत हैं; किंतु यह सब भ्रान्ति है। मनुष्यको केवल अपनी पतित-अवस्थाको देखकर ही यह नहीं कल्पना कर लेनी चाहिये कि मैं पतित हूँ; किंतु उसे अपने आगे और पीछे देख लेना चाहिये कि वस्तुस्थिति क्या है ? उसे अनुभव होगा कि सभी भगवान्‌के अमृत पुत्र हैं।

हे मेरे भूले हुए बन्धुओ! यदि तुम अपने-आपको पातकी समझते हो, यदि तुम्हें अपने जीवनसे सर्वथा ग्लानि एवं निराशा हो गयी हो तो तुम अपने भविष्यको तमपूर्ण समझकर अपने दोषशून्य आत्माका हनन मत करो। तुम अपने ऊपर पूर्ण विश्वास रक्खो कि हम पवित्र हैं। हमारा रेणु पवित्र है। इस पाप और पुण्यके संहारभूत विश्वमें आकर काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि भयंकर प्रवञ्चनाओंके सम्मुख अनिच्छन्नपि कौन नहीं झुक जाता। तुम भी इसी प्रकार अज्ञानवश या जान-बूझकर इन कुचक्रियोंके पाशमें आबद्ध हो गये हो तो डरते क्यों हो। तुम अपने ऊपर, अपनी पवित्रतापर दृढ़ विश्वास रक्खो। तुम्हारे एक ही झटकेसे इन प्रपञ्चकोंके फंदे टूक-टूक हो जायँगे, तब तुम्हें अनुभव होगा कि हम भी उसी भगवान्‌के पुत्र हैं। संसारके बड़े-बड़े प्रतिभाशाली, जिन्हें हम देखते हैं, सब आत्मविश्वासके द्वारा ही संसारमें अपना नाम अमर कर गये हैं।

गुरुकुल काँगड़ीके आदर्श कुलपिता श्रीस्वामी श्रद्धानन्दजीने आत्मविश्वाससे ही गुरुकुल नामका छोटा-सा

पौदा लगाया था। उस समय आशाओंकी बहुत कम रेखाएँ चारों ओर देख पड़ रही थीं। यह उनका अदम्य साहस और उत्कट उत्साह तथा आत्मविश्वासका एक उदाहरण है कि उन्होंने हमारी शिक्षाको सच्ची राष्ट्रिय और सर्वथा स्वतन्त्र बनानेका विचार ही नहीं किया, अपितु इस विचारपर जंगलमें बैठकर अपने हाथ वनकटी करके और जंगली जानवरोंका सामना करके इस विद्यालयकी स्थापना की, जिसने आज विश्व-विद्यालयका रूप धारण कर लिया है। आरम्भमें कुछेक ब्रह्मचारियोंने भविष्यके बारेमें बड़ी आशङ्काएँ स्वामीजीके सामने रक्खीं। स्वामीजीने उन शङ्काओंका निवारण बड़े सुन्दर ढंगसे किया और अन्तमें एक सवैया पढ़कर सुनाया—

दाँत न थे तब दूध दियो अब दाँत दिये तो क्या अन्न न दैहैं।
जीव बसे जलमें थलमें सबकी सुधि लेइ सो तेरी भी लैहैं॥
काहेको सोच करे मन मूरख, सोच करे कछु हाथ न ऐहैं।
जानको देत, अजानको देत, जहानको देत सो तोकू न दैहैं?

और कहा—उस परमपिता परमात्मापर विश्वास करो। सोच करनेसे कुछ हाथ नहीं आयेगा। स्वामीजी जिस क्षेत्रमें भी उतरे, उसमें पूर्णतया सफल हुए। इसका मुख्य कारण उनका परमात्मामें पूर्ण विश्वास था। दूसरा उदाहरण हमारे सामने महात्मा गांधीजीका है। जिन्होंने अहिंसाका शस्त्र लेकर भारतको स्वतन्त्रता दिलवायी। क्या हम इन्हें बीसवीं सदीका चमत्कार नहीं कह सकते? इन दोनों महात्माओंकी भारतवासियों-को आत्मविश्वास भी एक अच्छी देन ही है, जिसके लिये हम सब सदा इनके ऋणी रहेंगे। इनके नाम सर्वदा हमें ध्रुव उत्तरकी तरह पथ-प्रदर्शकका कार्य करते रहेंगे और ये तरुण भारतके लिये प्रातःस्मरणीय पुरुष बने रहेंगे।

गुरुतत्त्वका रहस्य

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

किसी शब्दका अर्थ तो बालक भी रट लेते हैं पर उसका भाव विचारशील मानव ही समझ पाते हैं और भावगत-रहस्यकी अनुभूति सूक्ष्मदर्शी बुद्धिमानोंको ही होती है।

गुरु शब्दका भावार्थ बड़ी सरलतासे तब समझमें आता है जब लघु शब्दके अर्थका ध्यान रहता है। गुरु वह है जिसमें लघुता नहीं होती है। जो किसीके द्वारा नहीं हिलता है—जिसे संसारके सुख-भोगकी कामनाएँ चञ्चल नहीं कर पाती हैं और जो सुखद-सुन्दर वस्तुपर विमुग्ध—लुब्ध नहीं होता है, वही गुरु है।

गुरु ज्ञानस्वरूप है। किसी गुरुमें देहभाव अथवा देहमें गुरुभावकी प्रतिष्ठा करना सत्यकी ओटमें असत्यकी उपासना है। अपने ज्ञानस्वरूपसे भगवान् ही परम गुरु हैं। वे ही दुखी प्राणियोंके कल्याणके लिये शुद्ध तथा निर्मल—पवित्र अन्तःकरणवाले व्यक्तियोंमें अपना ज्ञानस्वरूप प्रकाशित—अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकारके व्यक्तियोंको मानव-समाज महापुरुष, महात्मा और संत, आदि नामसे समलंकृत करता है। यदि किसी संत, महात्मा, महापुरुष नामवाले व्यक्तिसे सद्ज्ञान—दिव्य-गुण अलग करके देखा जाय तो वह कदापि श्रद्धेय, पूज्य और माननीय न रह जायगा। इससे यह सिद्ध होता है कि आकृति—व्यक्ति पूज्य, सेव्य और उपास्य नहीं है; उसमें दैवीगुण तथा ज्ञानकी पूर्णता ही उपास्य, सेव्य और पूज्य है। दैवीगुण—पूर्णज्ञान अथवा

निष्काम प्रेमकी उपासना—आराधना ही वास्तविक गुरुकी उपासना-आराधना है ।

जब लघुका आश्रय लेकर—लघुपर निर्भर रहकर मानव स्थिर सुख तथा शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता है और उसके परिवर्तन तथा विनाशको देखकर अनेक बार वियोग, हानि और अपमानसे दुखी हो लेता है, तब किसी गुरुकी शरणमें जाता है । अपने-आपमें ज्ञानकी कमीसे दुखी होकर ज्ञानकी पूर्णताके लिये संशयरहित होकर तथा अभिमानका त्यागकर गुरुके आगे रख देना ही गुरु-शरण है । लघुसे गुरु होनेके लिये ही गुरु-शरणकी आवश्यकता है । गुरुका प्रेमी लघुका मोही नहीं रह जाता, गुरुकी आज्ञाका पालन करनेवाला छोटी-छोटी बातोंके पीछे हर्ष और शोक नहीं करता है । सांसारिक पदार्थ और सुखोपभोगकी वस्तुकी माँग लघु-आज्ञा है; तप, त्याग, प्रेम आदि दैवीगुणकी पूर्णता और दोषके नाशकी माँग गुरु-आज्ञा है ।

जो ज्ञानस्वरूप गुरुकी आज्ञा-पालन करते हुए अपने बनाये दोषोंका नाश करता है तथा सद्गुणोंसे जीवन सुसज्जित करता है और गुणोंको भगवद्गत जानता है वह गुरुमुख है— गुरुका उपासक है । इसके विपरीत गुरु-ज्ञानका अभिमानी होकर गुरुकी दयाका उपयोग अपने मनकी रुचि-पूर्तिमें करनेवाला मनमुख है । गुरुमुख मानव सत्यका योगी होकर परम शान्ति पाता है, मनमुख मानव सांसारिक सुखोंका भोगी होकर अन्तमें अशान्त और दुखी होता है ।

ज्ञानस्वरूप गुरुका कभी नाश नहीं होता है । जिन नाम-रूपमें ज्ञानस्वरूप गुरुतत्त्वका दर्शन हो, उन्हींके निकट बैठकर व्यक्तित्वकी नहीं, गुरुतत्त्वकी उपासना करनी चाहिये । इस प्रकार गुरुकी उपासना करनेवाला शोक, मोह और दुःखके बन्धनसे मुक्त होकर स्वयं गुरु हो जाता है । गुरुके व्यक्तित्वका उपासक संसारमें बद्ध रहता है । श्रद्धायुक्त शुद्ध बुद्धिसे गुरुका दर्शन होता है । श्रद्धायुक्त विवेकसे गुरुप्रदत्त सम्पत्तिका ग्रहण होता है । श्रद्धायुक्त प्रीतिसे गुरु-सम्पत्तिकी रक्षा होती है । श्रद्धायुक्त त्यागसे गुरुके प्रति प्रगाढ़ प्रीति होती है और श्रद्धायुक्त तप-संयमसे गुरुके पथमें प्रगति होती है ।········गुरुमन्त्र परमानन्द परमात्मासे संयुक्त करता है । गुरु-भक्ति लघुताकी सीमासे—बन्धनसे मुक्त कर देती है ।

श्यामके नखचन्द्र

स्याम-कमल-पद-नखकी सोभा ।
जे नखचंद्र इंद्रसिर परसे सिव बिरंचि मन लोभा ॥
जे नखचंद्र सनकमुनि ध्यावत नहिं पावत भरमाहीं ।
ते नखचंद्र प्रगट ब्रज-जुवती, निरखि-निरखि हरषाहीं ॥
जे नखचंद्र फनिंद-हृदय तें एकौ निमिष न टारत ।
जे नखचंद्र महामुनि नारद, पलक न कहूँ बिसारत ॥
जे नख-चंद्र-भजन खल नासत, रमा हृदय जे परसति ।
सूर स्याम नखचंद्र बिमल छबि, गोपीजन मिलि दरसति ॥

—सूरदासजी

सद्भाव आते ही मनमुटाव मिट गया

(लेखक—श्रीजेलिया एम्० वाल्टर्स)

डाक्टर हस्टनको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि यह स्त्री उनके पास क्यों आयी है ? माल्म होता है जो कुछ वह करना चाहती है, उसका उसे ज्ञान है और आचरण तथा जिम्मेदारीके बारेमें भी उसकी बुद्धि निश्चित है। उन्होंने इसे समझ लिया कि परस्पर चर्चा करनेकी मनुष्योचित आवश्यकतावश ही वह यहाँ आयी है। हो सकता है इसके हितैषी इसकी समस्याकी चर्चासे ही ऊब गये हों। उन्होंने ध्यानसे उसकी ओर देखा।

थोड़ी ही देरमें ज्यों ही उसने अपनी पड़ोसिनकी व्यवहार-सम्बन्धी बातें कहीं, उन्होंने सोचा, अभी इस प्रसङ्गको रोक देना ही ठीक है। उन्होंने कहा—'मैं समझता हूँ, तुम सोचती होगी कि तुम्हारी पड़ोसिन तुम्हारे साथ बड़ा बुरा व्यवहार करती है। अब उस तरफ अधिक ध्यान न देकर यह सोचना चाहिये कि क्या करना उचित है।'

इतनेमें श्रीमती अन्तरुनने कहा, 'अभीतक आपको उसकी आधी बातें भी तो माल्म नहीं हैं। वह अपने बच्चोंको हमें चिढ़ानेके लिये खूब उकसाया करती है और वे भी जब हमारे सामनेसे निकलते हैं तो बड़ी उल्टी-सीधी बातें करते हैं।'

डाक्टर हस्टनने दृढ़ताके साथ कहा, 'हम कह नहीं सकते उसका इन सब कार्योंके करनेमें क्या मतलब है, न उसे ही यह पता है कि तुम्हारे इस प्रकार कार्य करनेका क्या कारण है। तुम उसके मनकी बातको तो जान नहीं सकती, तुम तो केवल अपने ही मनको जान सकती हो।'

उन्होंने देखा कि उसका मुख उत्तेजनासे लाल हो उठा है। 'मैंने कभी भी उसे नुकसान पहुँचाने या चिढ़ानेका किंचित्-मात्र भी प्रयत्न नहीं किया है।' उसने कहा।

'नहीं ? (अच्छा तो बताओ) तुम जो उसके बारेमें इस प्रकारकी बातें कह रही हो, इसको क्या वह अपनेपर आक्षेप नहीं कह सकती ? इन व्यर्थके झगड़ोंसे किसीका भी भला होनेको नहीं। हमें तो सुधारकी ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये। तुम्हारी समस्याका समाधान तो तुम्हारे अन्तर्मनको सुलझानेसे होगा। क्या तुम उसके लिये कुछ भी करनेको तैयार हो ?' डाक्टरने कहा।

'हाँ, मुझे माल्म है, मुझे क्या करना पड़ेगा। मैं अपना घर बेच दूँगी और वहाँसे चली जाऊँगी। मैं आपके पास भी इसलिये आयी हूँ कि आप (प्रभुसे) प्रार्थना करें जिससे मुझे कोई खरीददार मिल जाय। श्रीमती फ्लीटने मुझे बतलाया है कि किस प्रकार आपने उसके लिये प्रार्थना की, जब उसने बेचनेकी इच्छा की, ठीक मौकेपर ही उसे सही ग्राहक मिल गया और उसने उसको अपना घर बेच दिया।'

क्षणभरतक डाक्टर हस्टन शान्त रहे। सोचने लगे कि अब इसे क्या कहना चाहिये। भला, इस भोलीको क्या पता कि मेरे पास ऐसा कोई चमत्कारी जादू तो है नहीं कि जिसके प्रयोगसे ही प्रार्थनाका, फिर ऐसी प्रार्थनाका उत्तर मिल जाय। माल्म होता है यह उत्तरकी प्रतीक्षा कर रही है।

वे बड़ी ही धीरतासे कहने लगे मानो एक-एक शब्दकी विशद व्याख्या करेंगे।

'मेरा विश्वास है कुछ ऐसे भी प्रसङ्ग होते हैं जब कि प्रार्थना करना नितान्त व्यर्थ होता है, तब हम

प्रार्थनामात्रको ही बकवाद कह देते हैं। जब एक आदमी प्रार्थना करता है—'प्रभो! आप मेरे शत्रुओंका नाश कर दें (उनका अनिष्ट हो जाय)।' वह (ऐसी प्रार्थना करके उत्तर पाना तो दूर रहा) उल्टे अपने और ईश्वरके बीचमें एक दीवार खड़ी कर देता है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हम किसी भी प्रकारकी घृणित भावनाको लेकर ईश्वरके साथ सम्पर्क कदापि नहीं जोड़ सकते। भला, हम यह कैसे भूल जाते हैं कि वे प्रभु प्रेमस्वरूप हैं। वे तो सदा अपनी संतानको, वह चाहे भली हो या बुरी, यदि वह अपने हृदयको उनका प्रेम पानेके लिये उन्मुक्त रखती है तो वे सदा-सर्वदा उसे प्रेमका दान करते ही रहते हैं। इसके पहले कि हम अपने परमपितासे बात कर सकें, हमें उनकी इच्छाके अनुगत अवश्य होना पड़ेगा। अतः उत्तर देनेके पूर्व ही सोच लो तुम उन प्रेमस्वरूप परमात्माके अनुकूल तो हो न ?'

उसे प्रथम बार ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उसकी पाषाण-सरीखी कठोरता उसे अधिक दिन जीवित न रख सके। उसने कहा, 'आप नहीं समझते, भला, घृणित व्यक्तियोंसे कोई कैसे प्रेम कर सकता है? कम-से-कम मैं तो नहीं कर सकती। मेरी पड़ोसिनको मेरे प्रेमकी आवश्यकता ही नहीं है, वह तो अभी-अभी मुझपर हँस रही थी।'

'प्रभु ईसाने तो अपनेको फाँसीपर चढ़ानेवालोंसे भी प्रेम किया था। उन्होंने उन व्यक्तियोंके लिये भी प्रार्थना की थी, जिन्होंने उनके जीवित शरीरमें कीलें ठोकी थीं। जब मैं यह कहता हूँ कि बिना पड़ोसिनसे प्रेम किये तुम्हारा काम ही नहीं चल सकता तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि तुम विधिपूर्वक उसके पास जाओ और जैसे हम अपने स्वजनोंसे प्रेम करते हैं, वैसे ही तुम भी प्रेमका अभिनय करो। मेरा अभिप्राय तो केवल सद्भावनामात्रसे है। यदि तुम्हारी इच्छा उसका मङ्गल करनेकी है तो मैं तुम्हारे साथ प्रार्थनामें शामिल हो सकता हूँ। तब हमारे द्वारा उस पवित्र शब्द (प्रार्थना) का कभी उपहास नहीं होगा। तुमने अभी जो कुछ देर पहले कहा था उसी धारणाके अनुसार यदि तुम अब भी उसका अनिष्ट देखना चाहती हो और तुम्हें उसके अमङ्गलमें ही अधिक आत्मसंतोषकी अनुभूति होती हो और कहो कि उसके प्रति यह बहुत अच्छा हुआ—

बीचमें ही श्रीमती अन्तरुनने (कुछ सहमते हुए) बात काटकर कहा, 'आपको इसका ठीक पता भी तो नहीं है कि वह कितनी नीच है।'

डाक्टर साहबने किंचित् दृढ़तासे कहा—'मैं इन पारस्परिक झगड़ोंको खूब जानता हूँ। यद्यपि मैंने कभी भी झगड़ा नहीं किया है पर मैंने ऐसे झगड़ोंको अलगसे देखा बहुत है। इस प्रकार देखनेसे ऐसे मामलोंकी भूलको पहचाननेमें मेरी बुद्धि तीव्र हो गयी है। तुमलोगोंके लिये समस्या इसीलिये खड़ी हो गयी है कि तुममेंसे एकने दूसरेकी नुक्ताचीनी की, जिससे आपसमें दुर्भाव और ज्यादा बढ़ गया। फलतः असंतोषके वातावरणमें पैदा हुई घृणाकी दुर्वृत्ति सीमोल्लङ्घन कर गयी। अब तुम यदि स्थिति-सुधारके लिये कुछ भी करना चाहती हो तो तुम्हें निश्चय ही समझना चाहिये कि 'सम्भव है मेरा ही कोई दोष हो'।

उसने अपने हाथोंसे अपनी आँखें ढाँप लीं और बड़ी देरतक वह इसी प्रकार शान्त बैठी रही। डाक्टर साहबने सोचा, सम्भव है, यह उत्तर न दे सकेगी। इतनेमें ही उसने कहा, 'हाँ'।

'शाबाश!' डाक्टर साहबने कहा—'अब हम अवश्य विचार करेंगे।' उसने सिसकते स्वरमें कहा, 'मैं महानीच हूँ।'

'अब नहीं !' डाक्टर साहबने हँसते हुए कहा, 'सम्भव है तुम बहुत बड़ी भूलमें रहती। पर जिस क्षण तुमने इरादा बदला और सारी बातें ठीक करनी चाहीं, उसी क्षण सभी कुछ बदल गया। अब तुम पापिन नहीं हो। भगवान्‌की इच्छामें ही तुम अपनी इच्छा मिला रही हो। अब तुम प्रभुसे अधिकारपूर्वक ज्ञान, प्रेरणा और शक्तिकी याचना कर सकती हो। वे तुम्हारी प्रार्थनाको अब निष्फल नहीं जाने देंगे। मैं भी अब तुम्हारे साथ एकात्मता और विश्वासके सहित प्रार्थना करनेको तैयार हूँ। तुम्हारे अंदर भी अब उसी पवित्र मनका उन्मेष हो जायगा जो संतोंके अंदर होता है। मैं फिर तुम्हें प्राचीन संतोंद्वारा मुमुक्षुओंको कहे गये उपदेशको दुहराता हूँ। उन्होंने कहा—'शान्त रहो और देखो भगवान् जीवोंका कैसे उद्धार करते हैं।'

'तो क्या आपका यह तात्पर्य है कि मैं अभी घर चली जाऊँ और जबतक स्पष्ट मार्ग न दीख जाय, इंतजार करूँ? पर वहाँ तो सारा मामला ही गड़बड़ है।'

'हाँ, जबतक तुम्हें कार्य करनेके प्रकारका स्पष्ट आदेश न मिल जाय, इंतजार करो। जब आदेश मिल जाय, तब आज्ञाका पालन करो। उत्तरके बारेमें चिन्ता मत करो, वह अवश्य मिलेगा।'

उसने अपना सिर झुका लिया, डाक्टरने एक छोटी-सी प्रार्थना की, 'प्रभो! आपकी यह संतान बिना किसी भय और भ्रमके आपका आश्रय प्राप्त करे, जिससे कि इसे क्या करना चाहिये, उसके बारेमें स्पष्ट आदेश मिल जाय।'

उसने छुट्टी ली और बिना दूसरा प्रश्न किये ही वह चल दी। बहुत दिनोंसे उसके मनमें घृणाके दुर्भाव थे तो क्या वह एक ही दिनमें उन सबसे छुटकारा पा जायगी?

श्रीमती अन्तरुन घरकी ओर बढ़ी, अब उसके मनमें घृणाके भाव नहीं थे। उसे अपने मनमें अब पड़ोसिनके प्रति प्रेमका अभाव खटक रहा था। वह स्वयं भी नहीं समझ सकी कि क्या बात है, उसने समझनेका अधिक श्रम भी नहीं किया। वह तो बस, अब एक ही विश्वासको लिये हुए थी कि (भगवत्कृपासे निश्चय ही) वह जान जायगी कि उसे क्या करना है।

ज्यों ही आज वह अपनी गलीकी तरफ मुड़ी, उसने जैसे जीवनमें प्रथम बार ही देखा हो—'अहा, कितनी सुन्दर सड़क है यह। एक-एक वाटिकासे युक्त छोटे-छोटे घर हैं, जिनमें विलासिताकी गन्ध भी नहीं है। गुलाबके पुष्प खिलनेकी मौसिम थी,' वह सोचने लगी पुष्पकुंज अपनी भीनी-भीनी मधुर गन्धका दान कर रहे हैं।

'अब वह सोचने लगी—मैं इन सबको घृणाके कारण छोड़ने जा रही थी। पतिके विरोध करनेपर भी मैंने कुछ ध्यान नहीं दिया। अहो, हम मनुष्य भी कितने अन्धे हो सकते हैं?'

वह स्वयं चलती-चलती रुक गयी। अरे, यहाँ तो सर्वत्र फूल-ही-फूल हैं। यही एक फूलवाली बाड़ी थी, जिसने उसे अपनी पड़ोसिनसे पृथक् किया था। उसने उसे खूब सजाया और अपनी ओरसे उसे बिल्कुल ठीक कर दिया। उसकी पड़ोसिनने भी उसी तरह उसे सजा दिया था। 'पहले तो मैंने ऐसा कभी नहीं देखा था, क्या ऐसी ही अनदेखी दूसरी चीजें भी यहाँ हैं?'

वह दुपहरीका भोजन करनेके लिये घरमें गयी, पर भोजन अभी तैयार नहीं हुआ था। बस थोड़ी ही देर थी।

जब वह दरवाजेकी तरफ मुड़ी तो उसने देखा कि उसकी पड़ोसिनका लड़का उसको आती देखकर ठहर गया है। यह छोटा लड़का बड़ा नटखट था। उसके

मनमें विचार आया—सम्भव है यह कुछ शैतानी करेगा। अतः वह उसको जोरसे डाँटने जा रही थी।

पर वह शान्त हो गयी। 'सम्भव है यह दरवाजेवाली फुलवाड़ीके खिले फूलोंको ही देख रहा हो।' वह घरमें चली गयी और क्षणभर बाद झाड़ीकी आड़से एक थालीमें मिठाई लेकर लौटी। लड़का उसे देखे, इसके पूर्व ही वह उसके सामने आ गयी। लड़का भागना ही चाहता था।

'जरा ठहरो' उसने कहा, 'मैं चाहती हूँ कि तुम मेरी इस मिठाईमेंसे कुछ ले लो।'

उसने संदेहभरी नजरसे उसकी ओर देखा और लौटकर वह उसकी ओर बढ़ा। अब भी सजगतासे उसकी ओर देखते हुए उसने मिठाईके लिये हाथ बढ़ा दिया।

'एक ही क्यों, और ले लो। मैं जानती हूँ बच्चोंको भूख खूब लगा करती है।' उसने कहा।

लड़केने एक बरफी और ले ली और कहने लगा—'माँने कहा था कि जब गाँववाले तुझे कोई चीज देने लगें तो लोभ नहीं करना चाहिये। बस, बस बहुत है।' लड़केने परीक्षाके लिये उसे चक्खा और कहा—'बरफी बहुत बढ़िया हैं। बहुत अच्छी बनी हैं, आपको बहुत-बहुत धन्यवाद।'

जब वह घर भाग गया तो खड़ी-खड़ी उसे पीछेसे देखने लगी। उसके मनमें तुमुल संघर्ष हो रहा था। जैसे किसी बहुत दिनोंके रुके हुए निर्झरके अन्तरालमें एकाएक ताजे पानीका स्रोत आने लगे। उसके चित्तमें धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था, दूसरोंकी आलोचना करने और दोष देखनेवाली बुद्धि उसी पवित्र मनके रूपमें बदल रही थी, जो हमलोगोंके संतोंमें होती है। कलतक वह लड़केको बड़ा उद्धत बतलाती थी और अब कहती है, 'वह बड़ा अच्छा लड़का है। उसके आचरण शुभ हैं, उसने दो बार मुझे धन्यवाद दिया था। मुझे विश्वास है कि उस दिन वह गुलाबके लाल-लाल पुष्पोंकी प्रशंसा कर रहा था। मैं कल उसे कुछ अवश्य दूँगी और कहूँगी कि तुम स्वयं ही अंदर चले आओ और अपने लिये फूलोंका गुलदस्ता तोड़ लो। मेरे खयालसे वह इससे बड़ा प्रसन्न होगा।'

आँगनके बीचकी बाड़से पड़ोसिनके घरके शब्द सुननेमें कोई रुकावट नहीं होती थी। उसने बालकको अपनी माँसे यह कहते हुए सुना 'देखो, माँ! अपने घरके पासवाली माईने मुझे कुछ मिठाई दी है। यह बड़ी स्वादिष्ट है माँ! क्या तुम भी ऐसी ही बना सकती हो? अगर तुम उससे पूछोगी तो वह तुम्हें बतला देगी। वह जरा भी बुरी नहीं है, बड़ी अच्छी है।'

श्रीमती अन्तरुनके मन और बुद्धिको बदलनेके लिये अब यदि किसी चीजकी आवश्यकता थी तो वह बच्चेके निष्कपट हृदयसे निकले ये प्रशंसाके सच्चे शब्द थे। अब अन्तरुनने माताका उत्तर भी सुना।

'अच्छा, मुझे तो सचमुच बड़ा आश्चर्य होता है डैनी! मैं तो सोचती थी कि जब भी तुम उसके घरके पास जाते हो तो वह तुम्हें निकल भागनेके लिये दुतकारती है और मैं समझती थी कि वह हमें जरा भी नहीं चाहती है। पता नहीं, उसपर क्या जादू हो गया। क्या तुमने उसे धन्यवाद दिया? और देखो अब जब भी तुम उससे मिलो बहुत अच्छा व्यवहार करना, भला!'

'ठीक है!' बच्चेने प्रत्युत्तरमें कहा, 'माँ! इसे जरा चक्खो तो कितनी अच्छी है यह! तुम उस (श्रीमती अन्तरुन) से पूछना वह कैसे इसे बनाती है।'

'हाँ, यह बरफी तो बहुत अच्छी है, परंतु मैं उसे पूछ नहीं सकती। सम्भव है मेरा पूछना उसे न रुचे। तुम तो जानते ही हो, मेरी तो उससे कोई जान-पहचान ही नहीं है।'

'पर उससे जान-पहचान करना भी तो कोई

कठिन नहीं है । माँ ! वह बड़ी अच्छी है, वह मेरी मित्र है ।'

(इतनेमें ही) धीरेसे श्रीमती अन्तरुनने कहा, 'हाँ, प्यारे बच्चे ! मैं तुम्हारी मित्र हूँ ।'

उसने दूसरे दिन बच्चेको देखा । वह बगीचेमें काम कर रही थी और वह दरवाजेके पास आ गया ।

कृतज्ञतायुक्त उद्गार प्रकट करते हुए उसने अंदर प्रवेश किया । श्रीमती अन्तरुनने देखा कि उसने झाड़ीके बराबरतक गुलाबके पेड़ोंको बड़ी ही सावधानीके साथ काटकर सुन्दर बना दिया है । वह फिर बरफी ले आयी और कहने लगी—'यदि कोई होशियार लड़का नारियल तोड़कर उनकी गिरी निकाल दे तो यह बरफी बड़ी ही जल्दी और आसानीसे बन सकती है ।' वह उसके द्वारा अपनी माँसे किये हुए प्रश्नको लक्ष्य करके कह रही थी । इतनेमें लड़केने कहा, 'क्या मैं आपको नारियलका गूदा (गिरी) निकालकर दे सकता हूँ ?' तो क्या तुम निकाल दोगे ? उसने कहा—

'यदि तुम्हारे पास समय होगा तो मुझे बड़ी सहायता मिलेगी । देखो तो, हम कितने सौभाग्यवान् हैं जो कि हमारे घरके सामने ही नारियलके पेड़ हैं । जितने नारियल हमें मिल जायँगे, हम सभीका उपयोग कर लेंगे ।'

'मेरे पास इसके लिये पर्याप्त समय है'—लड़केने उसे आश्वासन दिया, 'मैं आज रातको बेस बॉल खेलनेके बाद अवश्य आऊँगा ।'

'मैं विशेष तौरसे तुम्हारे लिये एक परातभर बरफी बना दूँगी ।'

जब लड़का चला गया तो उसके मनका पारस्परिक विद्वेषभाव सर्वथा मिट गया । उसकी पड़ोसिन भी बुरी नहीं थी जैसा कि उसका अनुमान था और न लड़केने ही वैसा बुरा वर्ताव किया जैसा कि उसने मान रक्खा था । उसने निश्चय कर लिया, अब वह यहाँसे कहीं नहीं जायगी । उसका पति प्रसन्न होगा । उसने अभी-अभी नया एक फूलोंका बगीचा लगाया था और उसके अगले वर्षके शुभ परिणामकी प्रतीक्षामें था । साथ ही, उसका एक मित्र है—वह लड़का ! अबतक वह उसे जान नहीं पायी थी ।

यों एक सप्ताह बीत गया । इस बीचमें उसके चित्तको खिन्न करनेवाली कोई घटना नहीं घटी । बालक डैनी या तो प्रतिदिन उसका स्वागत करता या उसके घर आ जाता । अब वह काम करते समय अपनी बाड़के दूसरी तरफ पड़ोसिनके घरकी बात सुन सकती है । पहली साल नये घरमें बहुत अधिक काम करना पड़ता है । वह चाहती थी कि कोई उसकी सहायता करे, किंतु शत्रुता हो जानेके बाद ऐसा होना सम्भव नहीं दीखता था ।

उन्हीं दिनों एक दिन उसकी पड़ोसिन उससे कुछ बात करने बाड़के पास आयी । उसने कहा—

'आपकी डैनी (बच्चे)के प्रति कितनी दया है, वह आपके यहाँ आकर खूब प्रसन्न होता है । अतः मैंने सोचा, चलो, इसके लिये मैं आपको धन्यवाद दे आऊँ । आज मेरा भाई अपने खेतसे चैरी फलोंकी एक बड़ी टोकरी लाया है, मैं चाहती हूँ कि आप भी उनमेंसे कुछ लें ।'

श्रीमती अन्तरुन हँसने लगी और बोली—

'आपका स्वभाव कितना उदार है, श्रीमती बेनसन ! हमलोगोंको चैरी-फलोंका बड़ा शौक है, मैं कुछ फल ले लूँगी । मुझे चैरीके लड्डू भी बनाने आते हैं, जिन्हें छोटे और बड़े सभी लड़के बड़े चावसे खाते हैं । लड़कियाँ भी उन्हें खूब पसंद करती हैं । क्या आप ऊपरवाले कमरेमें चलकर कुछ देर छायामें बैठेंगी, कम-से-कम बच्चे जबतक स्कूलसे घर लौट आयें ?'

'आपका ऊपरवाला कमरा तो सदा ही ऐसा लगता है मानो निमन्त्रण ही दे रहा हो । मैं चाहती

हूँ कि मेरे यहाँ भी इसी तरह अंगूरोंकी बेलें छा जायँ।'

वे बैठ गयीं और बातें करने लगीं। यह बड़ा आश्चर्यजनक था कि दोनोंके स्वार्थोंमें कितनी समानता थी और उनके विषयमें चर्चा करना उनके लिये कितना सुखद था। जब श्रीमती बेनसन घर चली गयी, दोनोंका मनमुटाव बिल्कुल ही मिट गया।

उसके बाद श्रीमती अन्तरुन सदा ही इस प्राचीन आदेशको अपने सम्पूर्ण हृदयसे माननेको तैयार रहती—'तुम्हें अपने पड़ोसीसे आत्मवत् प्रेम करना चाहिये।' (शुनिटि)

कामके पत्र

(१)

राम-नामके बहाने तमोगुणका आश्रय मत लीजिये

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। जहाँतक मेरा अनुमान है, आप राम-नामकी आड़ लेकर आलस्य और प्रमादकी तमोमयी दुःस्थितिमें पड़ गये हैं। आपको मन धोखा दे रहा है। यह सत्य है कि राम-नाम अमोघ है। यह भी सत्य है कि राम-नाम सारे तापोंके नाश करनेवाली एक दवा है, परंतु राम-नामका विश्वासी साधक या राम-नामका आश्रय करनेवाला भक्त क्या श्रीरामकी आज्ञाका पालन नहीं करेगा? श्रुति-स्मृति तो भगवान्‌की आज्ञा ही है। जिस घरमें आप पैदा हुए हैं, जिन माता-पिताने आपको जन्म देकर तथा बड़े-बड़े दुःखोंको भोगकर पाला-पोसा और बड़ा किया है, जिस पत्नीको आप अग्निकी साक्षी देकर घर लाये हैं, उनके पालन-पोषणकी आपपर जिम्मेवारी है। इस जिम्मेवारीको निवाहनेके लिये भगवान् रामकी आज्ञा है। आप राम-नामके अर्थस्वरूप भगवान् रामकी जीवन-लीलाओंको देखिये। उन्होंने आलस्य और प्रमादको कभी आश्रय नहीं दिया। कर्तव्यका पालन ही उनका मुख्य उद्देश्य रहा। राम-नामके प्रेमी श्रीहनुमान्‌जीसे बढ़कर और कौन होंगे, पर वे चौबीसों घंटे श्रीरामकी सेवामें ही संलग्न रहते हैं। सेवाके लिये ही वे जीवन धारण करते हैं। गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्णने निष्कामभावसे निरन्तर भगवत्सेवारूप कर्म करनेकी आज्ञा दी है। मुझे बड़ा आश्चर्य है कि आप गीता-रामायणका नाम लेकर तथा राम-नामकी बात कहकर चारपाईपर पड़े सोये रहने तथा विषाद एवं निराशाकी तमसाच्छन्न मानसभूमिमें विचरण करते रहनेका समर्थन करते हैं और उसके लिये मुझसे भी स्वीकृति चाहते हैं। मैं तो समझता हूँ सोना और रोना दोनों ही राम-नाम लेनेवालेके लिये विरोधी भाव हैं। राम-नामके सेवकको निरन्तर मनसे राम-राम जपते हुए रामकी सेवासे कब अवकाश मिलेगा कि वह बारह-बारह घंटे सोनेमें बितायेगा और राम-नामके विश्वासीको विषाद और निराशाका अवसर ही कब होगा जब वह रोयेगा। विषाद और निराशाके दुःखसे बचनेके लिये आप बारह घंटे सोते हैं या कभी जागते हैं तो सिनेमामें चले जाते हैं। कोई भी उद्योग, परिश्रम, किसी कार्यकी खोज नहीं करते—और 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम' का उदाहरण देकर अपनेको नामविश्वासी मान रहे हैं। यह आपका बुद्धिभ्रम ही है। यदि राम-नामपर इतना विश्वास है तो फिर निराशा, विषाद और रोना क्यों? आपकी स्थिति तो यह है कि आपको सोने-रोनेसे ही फुरसत नहीं मिलती, इसलिये आप राम-नामका जप भी नहीं कर पाते। थोथी बात ही करते हैं। मैं तो कहता हूँ कि राम-नामका दिन-रात जाप करनेवालेको भी रामकी सेवा-बुद्धिसे कर्तव्य-कर्मका पालन अवश्य करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निरन्तर अपना

(भगवान्‌का) स्मरण करनेकी स्पष्ट आज्ञा दी; पर साथ ही युद्ध करनेका भी आदेश दिया । भगवान्‌ने कहा—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८ । ७)

(अन्तकालमें मेरा स्मरण करनेवालेको मेरी (भगवान्‌की) प्राप्ति होती है—) इसलिये तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त तुम निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होओगे ।

'सब धर्म छोड़कर अनन्य शरणागति'का आदेश देकर भी भगवान्‌ने अर्जुनसे युद्धरूपी भीषण कर्म ही करवाया । उन्हें हाथमें माला लेकर एकान्तमें जप करनेकी आज्ञा नहीं दी, क्योंकि अर्जुनके लिये वही उचित था । इसलिये मोहवश कर्तव्यकर्मका त्याग करके अपनेको भक्त या विश्वासी कहना और प्रतिकूल स्थितिका अनुभव करते हुए प्रमादालस्यमें डूबे रहना तो आत्मप्रवञ्चनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

माना, भाग्यके अनुसार ही परिणाम प्राप्त होता है, पर भाग्य—प्रारब्ध भी तो पुरुषार्थ—पूर्वकृत कर्मका ही परिणाम है न ? फिर मनुष्य तो कर्मयोनि है, वह 'पंछी' और 'अजगर'की तरह भोगयोनि नहीं है । उसे तो भगवान्‌ने कर्म करनेके लिये यहाँ भेजा है, उसकी भगवदर्थ निष्काम-कर्ममें कभी विरक्ति नहीं होनी चाहिये । विरक्ति होनी चाहिये—कर्मफलमें, रागका अभाव होना चाहिये—भोग-पदार्थोंमें ।

अतएव मैं बलपूर्वक आपको सलाह देता हूँ कि—

(१) आप छः घंटेसे अधिक मत सोया कीजिये । दिनमें तो कभी नींद मत लीजिये ।

(२) चित्तको विषाद-निराशाके दुःखसे बचानेके लिये नींद लेना—यह विचार भी तामसिक है । आप निश्चय कीजिये कि भगवान्‌की कृपापर तथा उनके नामपर विश्वास करके आप उनके आज्ञानुसार कर्तव्य-क्षेत्रपर डट जायँगे और आलस्य-प्रमाद छोड़कर विपत्तिके नाशका प्रयत्न करेंगे तो विषाद-निराशाका कारण ही नष्ट हो जायगा और सुख-शान्तिकी आपको प्राप्ति हो जायगी । जबतक विषाद-निराशा है तबतक तो मङ्गलमय भगवान् और उनके मङ्गलमय विधानपर आपको विश्वास ही नहीं है ।

(३) विषाद-निराशासे बचनेके लिये सिनेमामें जाकर वहाँसे दुर्विचार लेकर आते हैं, यह भी आपकी भूल है, इसका त्याग कीजिये ।

(४) नींद और सिनेमा तो तमोगुणके प्रधान लक्षण आलस्य और प्रमादके मूर्तरूप हैं, इनका आश्रय त्यागकर विषाद और निराशाका नाश करनेके लिये पुरुषसिंह बनकर सत्-पुरुषार्थमें लगिये । भगवान्‌की कृपाका भरोसा और उनके आज्ञानुसार कर्तव्यकर्ममें लगे रहनेका व्रत ले लीजिये । विजय आपके हाथमें रहेगी । यदि प्रारब्ध-वश लौकिक सफलता न भी मिली, जिसकी आशंका उपर्युक्त प्रकारसे करनेपर बहुत ही कम है, तो भी आपका जीवन विषाद और निराशाके दुःखपूर्ण क्षेत्रसे तो सर्वथा पृथक् हो जायगा । इसमें जरा भी संदेह नहीं है । भगवान्‌के अन्तरङ्ग सेवक सञ्जयने धृतराष्ट्रसे बहुत सत्य कहा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

(गीता १८ । ७८)

'जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और (कर्तव्य-पर डटा हुआ) गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन है, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है । यह मेरा मत है ।'

अतएव आप कभी यह मत समझिये कि भजन

करनेवाला आलसी, प्रमादी और कर्तव्यविमुख होता है। वह तो बड़ा शूर होता है जो भगवान्‌के अमोघ कृपाबलका भरोसा करके सारी विघ्न-बाधाओंके मस्तकपर पैर रखकर उन्हें कुचलता हुआ, उनके दुर्गम दुर्गोंको ध्वस्त और धूलिसात् करता हुआ सच्ची सफलताके मार्गमें आगे बढ़ता रहता है। वह न कभी निराश-उदास होता है और न कभी कर्तव्यच्युत होकर कायरकी तरह अपना तामसिक जीवन बिताता है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

साधकका कर्तव्य

प्रिय बहिन ! सादर सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। प्रभुको जीवनमें कभी न भूलनेका संकल्प करना प्रभुकृपाका ही फल है। प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं और सबके परम सुहृद् हैं। उनकी कृपाका भरोसा रहेगा तो शुभ संकल्पका सफल होना और सांसारिक कार्योंको प्रभुसेवाके भावसे करते हुए भी चित्तकी मुख्य वृत्तिका प्रभुमें लगे रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। भगवान्‌की कृपासे क्या नहीं होता।

यह बिल्कुल सत्य है कि 'प्रेम छलकता नहीं, वह तो सागरकी भाँति बड़ा गम्भीर होता है।' जो प्रेम बाहर आता है, जिसका प्रदर्शन होता है या जिसमें जरा भी इन्द्रियचरितार्थ करनेकी वासना होती है, वह तो प्रेम ही नहीं है। भगवत्प्रेमी पुरुष अपनेमें नित्य प्रेमकी कमीका अनुभव करता हुआ भगवान्‌से अपने अन्तरकी ध्वनिके द्वारा निरन्तर प्रेमकी ही भीख माँगता रहता है; प्रेमका फल भी प्रेम ही होता है, इससे प्रेममें अन्य किसी वस्तुके लिये अवकाश ही नहीं है।

जीव सदा अपराध ही करता है और प्रभु सदा क्षमा ही करते हैं। यह जीव और प्रभुका सहज स्वभाव है। प्रेमास्पद प्रभुमें क्रोध करके किसीको दण्ड देनेकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। वहाँ तो सदा क्षमा-ही-क्षमा है।

साधकको बिना किसी शर्तके विश्वासपूर्वक अपनेको भगवान्‌के मङ्गलमय हाथोंमें सौंपकर निश्चिन्त मनसे उनकी रुचिके अनुसार जीवन बिताना चाहिये। बस, साधकका यही कर्तव्य है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

मृत्युके बाद

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तरमें निम्नलिखित निवेदन है—

मृत्यु होनेके पश्चात् तत्काल जीवको एक आधार-शरीर मिल जाता है। वह शरीर स्थूल पाञ्चभौतिक नहीं होता इसलिये 'शरीर छूटते ही दूसरा शरीर मिल जाता है'—यह कथन भी ठीक है और स्थूल शरीर नहीं मिलता इससे 'स्वर्ग-नरकादि भोग भोगनेके बाद शरीर मिलता है'—यह बात भी सत्य है। दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। शरीर अवश्य मिलता है, पर स्थूल नहीं। उस शरीरका नाम 'आतिवाहिक' शरीर होता है। उसके पश्चात् यदि उस जीवको उसके कर्मानुसार पुण्यका फल भोग कराना होता है तो तेजःप्रधान 'देवदेह' मिल जाता है, जिसके द्वारा वह पुण्यबलसे स्वर्गादि लोकोंके दिव्य भोग भोगता है और यदि पापका फल भुगताना होता है तो वायुप्रधान 'प्रेत-देह' मिल जाता है, जिससे वह यमराजके भयावह भोग भोगनेको बाध्य होता है। उसमें भी यदि उसे नरकोंकी भीषण यातना भोगनी है तो 'यातनादेह' नामक नरक-भोगके योग्य वायुप्रधान शरीर मिलता है; जिसके द्वारा नरकोंकी पीड़ाका तो भयानक भोग होता है पर वह शरीर नष्ट नहीं होता। स्वर्ग या नरकके भोग समाप्त होनेपर उसका कर्मानुसार मनुष्य, पशु, पक्षी या

तिर्यग्योनिमें, मनुष्योंमें भी चाण्डालादिका स्थूल देह प्राप्त होता है। स्वर्ग और नरकसे बचे हुए कर्मफलोंका भोग करनेके लिये ही उसे फिर विभिन्न स्थूल योनियोंमें भेजा जाता है। स्वर्ग-नरकादि भोगके पश्चात् जीवका मनुष्ययोनिमें ही जन्म लेना निश्चित नहीं है, वह कर्मानुसार किसी भी योनिमें जा सकता है। प्रमाणके लिये छान्दोग्य उपनिषद् (५।१०।७) देखिये।*

(२) मृत्युका निश्चित काल श्वासोंके आधारपर रहता है, वर्षों और दिनोंके आधारपर नहीं। जो योगी प्राण (श्वास) निरोध करके समाधिस्थ हो रहते हैं, वर्षोंकी गणनाके हिसाबसे उनकी आयु बढ़ जाती है। मृत्यु अधिकांशमें निश्चित कालपर ही होती है निमित्त चाहे स्वेच्छा हो, परेच्छा हो या अनिच्छा हो। इसी प्रकार कर्मानुसार भोगादि भी निश्चित रहते हैं, परंतु किसी प्रबल कर्मके द्वारा यदि कोई तत्काल नवीन प्रारब्ध (फलदानोन्मुख) कर्म बन जाता है तो पहलेके फलदानोन्मुख कर्मको रोककर बीचमें वह अपना फल भुगता देता है, इस दृष्टिसे रोग, मृत्यु, धन-हानि आदिमें भी परिवर्तन हो सकता है। पर ऐसी घटना विरली ही होती है।

(३) रोग-व्याधि आदि अधिकांश पूर्वकर्मानुसार ही प्राप्त होते हैं, परंतु जैसे अन्यान्य कर्मफल-भोग तथा भोग-समाप्तिमें निमित्त हुआ करते हैं, वैसे ही कुपथ्यसे रोगका उत्पन्न होना, बढ़ना तथा नियमित आहार-विहार एवं संयमसे उनका मिटना-घटना भी देखा जाता है। पर यह कोई निश्चित नियम नहीं है।

(४) सच्चे भक्त, ईमानदार, धर्मनिष्ठ और हककी कमाई खानेवाले सभी शत-प्रति-शत दीन-दुखी पाये जाते हैं और धोखाधड़ी, बेईमानी, चोरी आदि करनेवाले सभी शत-प्रति-शत खूब मौज उड़ाते हैं—यह कथन ही भ्रमात्मक है। मैं ऐसे बहुत लोगोंको जानता हूँ और ऐसे असंख्य लोग खोजनेपर मिल सकते हैं जो सच्चे, ईमानदार, धर्मनिष्ठ और हककी कमाई खानेवाले हैं और परम सुखी हैं तथा धोखाधड़ी, बेईमानी, चोरी करनेमें लगे हुए बड़ी भीषण पीड़ा और दुःख-क्लेश भोग रहे हैं। फिर यह भी जानना चाहिये कि दुःख बाहरी भौतिक पदार्थोंमें या प्राणियोंके अभावमें नहीं रहता, इसी प्रकार सुख भी भौतिक पदार्थों और प्राणियोंकी प्राप्ति या अधिकतामें नहीं रहता। दुःख-सुखका सम्बन्ध तो मनसे है। बड़े-बड़े धनी-मानी अधिकारी सज्जन भीतरसे महान् दुखी पाये जाते हैं और अर्थ-मानहीन सज्जन अत्यन्त सुखी।

इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सभी धर्म तथा ईश्वरपरायण ईमानदार लोगोंने पूर्वजन्ममें सुकर्म नहीं किये थे और सभी पापाचारियोंने पूर्वजन्ममें सुकर्म किये थे। बल्कि यही कहा जायगा कि जो यहाँ अभी यथार्थमें सुख भोग रहे हैं, वे पूर्वकृत पुण्यका फल पा रहे हैं, वर्तमान पापका फल उन्हें भविष्यमें मिलेगा और वर्तमानमें जो यथार्थमें दुःख भोग रहे हैं, वह उनके पूर्वकृत पापका फल है। वर्तमान सत्कर्मका फल आगे मिलनेवाला है। परंतु सभी ऐसे हैं, यह बात न तो युक्तिसङ्गत है और न प्रत्यक्ष अनुभवकी ही है। अतएव पापकर्म करनेवालोंकी उन्नति देखकर जरा भी धर्मविचलित नहीं होना चाहिये और ईश्वर तथा धर्मपर दृढ़ श्रद्धा रखकर उनके अनुकूल कर्म ही करने चाहिये। शेष प्रभुकृपा।

* 'उन जीवोंमें जो अच्छे आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं, वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं और जो अशुभ आचरणवाले होते हैं, वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं, वे कुत्तेकी, सूअरकी अथवा चाण्डालकी योनि प्राप्त करते हैं।' छान्दोग्य उपनिषद्।

क्रम-संख्या पुस्तक-नाम	मूल्य
८१—लोक-परलोकका सुधार (कामके पत्र) भाग १ (श्रीभाईजीके पत्रोंका संग्रह)	।=)
८२— ,, भाग २	।=)
८३— ,, भाग ३	॥)
८४— ,, भाग ४	॥)
८५— ,, भाग ५	॥)
८६—नारी-शिक्षा	।=)
८७—पिताकी सीख	।=)
८८—तत्त्व-विचार	।=)
८९—बड़ोंके जीवनसे शिक्षा	।=)
९०—पढ़ो, समझो और करो	।=)
९१—चोखी कहानियाँ	।-)
९२—उपयोगी कहानियाँ	।-)
९३—प्रेम-दर्शन	।-)
९४—विवेक-चूडामणि (सानुवाद)	।-)
९५—भवरोगकी रामबाण दवा	।-)
९६—भक्त बालक	।-)
९७—भक्त नारी	।-)
९८—भक्त-पञ्चरत्न	।-)
९९—आदर्श भक्त	।-)
१००—भक्त-सप्तरत्न	।-)
१०१—भक्त चन्द्रिका	।-)
१०२—भक्त कुसुम	।-)
१०३—प्रेमी भक्त	।-)
१०४—प्राचीन भक्त	॥)
१०५—भक्त-सरोज	।=)
१०६—भक्त-सुमन	।=)
१०७—भक्त-सौरभ	।-)
१०८—भक्त-सुधाकर	॥)
१०९—भक्त-महिलारत्न	।≡)
११०—भक्त-दिवाकर	।≡)
१११—भक्त-रत्नाकर	।≡)
११२—भक्तराज हनुमान्	।-)
११३—सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	।-)
११४—प्रेमी भक्त उद्धव	≡)
११५—महात्मा विदुर	=)॥
११६—भक्तराज ध्रुव	≡)
११७—शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	।)
११८—सती सुकला	।)
११९—महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	।)
१२०—भगवान्पर विश्वास	।)

क्रम-संख्या पुस्तक-नाम	मूल्य
१२१—परमार्थ-पत्रावली भाग १ (श्रीजयदयालजीके पत्रोंका संग्रह)	।)
१२२— ,, भाग २	।)
१२३— ,, भाग ३	॥)
१२४— ,, भाग ४	॥)
१२५—कल्याण-कुञ्ज भाग १	।)
१२६— ,, भाग २	।-)
१२७— ,, भाग ३	।=)
१२८—भगवान राम भाग १	।)
१२९— ,, भाग २	।)
१३०—भगवान श्रीकृष्ण भाग १	।-)
१३१— ,, भाग २	।-)
१३२—बाल-चित्रमय चैतन्यलीला	।-)
१३३—सत्सङ्ग-माला	।)
१३४—बालकोंकी बातें	।)
१३५—बाल-चित्र-रामायण भाग १	।)
१३६— ,, ,, भाग २	।)
१३७—वीर बालक	।)
१३८—दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ	।)
१३९—गुरु और माता-पिताके भक्त बालक	।)
१४०—वीर बालिकाएँ	≡)
१४१—हिंदी बाल-पोथी—शिशुपाठ भाग १	≡)
१४२—हिंदी बाल-पोथी—शिशुपाठ भाग २	≡)
१४३—हिंदी बाल-पोथी—पहली पोथी (कक्षा १)	।-)
१४४— ,, दूसरी पोथी (कक्षा २)	।=)
१४५—प्रार्थना	≡)
१४६—श्रीआरती-संग्रह	।)
१४७—आदर्श नारी सुशीला	≡)
१४८—आदर्श भ्रातृ-प्रेम	≡)
१४९—मानव-धर्म	≡)
१५०—दैनिक कल्याणसूत्र	≡)
१५१—गीता-निबन्धावली	=)॥
१५२—साधन-पथ	=)॥
१५३—अपरोक्षानुभूति	=)॥
१५४—मनन-माला	=)॥

क्रम-संख्या पुस्तक-नाम	मूल्य
१५५—नवधा भक्ति	=)
१५६—बाल-शिक्षा	=)
१५७—श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति	=)
१५८—गीता-भवन-दोहा-संग्रह	=)
१५९—वैराग्य-संदीपनी (सार्थ)	=)
१६०—भजन-संग्रह भाग १	=)
१६१— ,, भाग २	=)
१६२— ,, भाग ३	=)
१६३— ,, भाग ४	=)
१६४— ,, भाग ५	=)
१६५—बाल-प्रश्नोत्तरी	-)॥
१६६—स्वास्थ्य, सम्मान और सुख	-)॥
१६७—श्रीधर्मप्रश्नोत्तरी	-)॥
१६८—नारीधर्म	-)॥
१६९—गोपी-प्रेम	-)॥
१७०—मनुस्मृति (दूसरा अध्याय सार्थ)	-)॥
१७१—ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	-)॥
१७२—श्रीविष्णुसहस्रनाम (सटीक)	-)॥
१७३—हनुमानबाहुक	-)॥
१७४—शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र	-)॥
१७५—श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा	-)।
१७६—मनको वश करनेके कुछ उपाय	-)।
१७७—ईश्वर	-)।
१७८—मूलरामायण	-)।
१७९—रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्य-पुस्तक	-)।
१८०—विनय-पत्रिकाके बीस पद	-)
१८१—सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन	-)
१८२—सामयिक चेतावनी	-)
१८३—आनन्दकी लहरें	-)
१८४—गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र	-)
१८५—श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश	-)
१८६—ब्रह्मचर्य	-)
१८७—हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप	-)
१८८—सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय	-)
१८९—श्रीभगवन्नाम	-)
१९०—श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन	-)

क्रम-संख्या पुस्तक-नाम	मूल्य
१९१–भगवत्तत्त्व	-)
१९२–संध्योपासन-विधि (सार्थ)	-)
१९३–रामायण सुन्दरकाण्ड	-)
१९४–दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य	-)
१९५–बाल-अमृत-वचन	-)
१९६–हरेरामभजन १४ माला	।-)
१९७–† ,, ६४ माला	१)
१९८– ,, २ माला	)।।।
१९९–शारीरकमीमांसादर्शन	)।।।
२००–मंत्र-महिमा	)।।।
२०१–श्रीरामगीता	)।।।
२०२–विष्णुसहस्रनाम (मूल)	)।।।
२०३–वैराग्य	)।।।
२०४–बलिवैश्वदेवविधि	)॥
२०५–विवाहमें दहेज	)॥
२०६–विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद	)॥
२०७–सीतारामभजन	)॥
२०८–भगवान् क्या है ?	)॥
२०९–भगवान्‌की दया	)॥
२१०–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग	)॥
२११–सेवाके मन्त्र	)॥
२१२–प्रश्नोत्तरी	)॥
२१३–संध्या विधिसहित	)॥
२१४–सत्यकी शरणसे मुक्ति	)॥
२१५–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	)॥
२१६–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति	)॥
२१७–स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग	)॥
२१८–परलोक और पुनर्जन्म	)॥
२१९–ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन	)॥
२२०–अवतारका सिद्धान्त	)॥
२२१–सत्संगकी कुछ सार बातें	)॥
२२२–गोवध–भारतका कलंक	)॥
२२३–गायका माहात्म्य	)॥
२२४–कुछ विदेशी वीर बालक	)॥
२२५–बलपूर्वक मंदिर-प्रवेश	)॥
२२६–तीर्थोंमें पालन करनेयोग्य कुछ सार बातें	)।
२२७–पातञ्जलयोगदर्शन	)।
२२८–धर्म क्या है ?	)।
२२९–श्रीहरिसंकीर्तन-धुन	)।
२३०–दिव्य संदेश	)।
२३१–नारद-भक्ति-सूत्र	)।
२३२–महात्मा किसे कहते हैं ?	)।
२३३–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है	)।
२३४–प्रेमका सच्चा स्वरूप	)।
२३५–हमारा कर्तव्य	)।
२३६–कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ	)।
२३७–शोकनाशके उपाय	)।
२३८–ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है	)।
२३९–चेतावनी	)।
२४०–त्यागसे भगवत्प्राप्ति	)।
२४१–श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव	)।
२४२–लोभमें पाप	आधा पैसा
२४३–सप्तश्लोकी गीता	आधा पैसा
२४४–गजल गीता २ प्रति	)।

अंग्रेजी पुस्तकें

No. Title	Price
245. Philosophy of Love	1-0-0
246. †Gems of Truth (First Series)	0-12-0
247. †Gems of Truth (Second Series)	0-12-0
248. ‡Bhagavadgita (with English translation)	0-4-0
249. Gopis' Love for Sri Krishna	0-4-0
250. Way to God-Realization	0-4-0
251. The Divine Name and Its Practice	0-3-0
252. Wavelets of Bliss	0-2-0
253. The Immanence of God	0-2-0
254. What is God ?	0-2-0
255. The Divine Message	0-0-9
256. What is Dharma ?	0-0-9

चित्रावलियाँ

क्रम-संख्या पुस्तक-नाम	मूल्य
२५७–चित्रावली १५×२० नं० १	२।।।)
२५८– ,, ,, नं० २	२।।।)
२५९– ,, ,, नं० ३	२।।।)
२६०–चित्रावली १०×७॥ नं० १	१।-)
२६१– ,, ,, नं० २	१।-)
२६२– ,, ,, नं० ३	१।-)
२६३–श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि	।=)
	१४१॥-)।
बाद रियायती	२१॥-)।
बाकी	१२०)
२६४–†महाभारताङ्क दो खण्डोंमें	१०)
	१३०)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीशिव, भगवती लक्ष्मी, श्रीदुर्गा आदिके भव्य दर्शन

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्रावलियाँ

साइज १५×२० नं० १, दाम २।।।), पैकिंग और डाकखर्च १)

इसमें १५×२० साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा ८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी–१–युगल छवि, २–आनन्दकंद पालनेमें।

बहुरंगे–१–वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, २–श्रीव्रजराज, ३–भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, ४–श्रीराम-दरबार, ५–भुवनमोहन राम, ६–भगवान् शंकर, ७–भगवान् नारायण, ८–श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी।

† इस चिह्नवाली पुस्तकें सभी सजिल्द हैं। ‡ इस चिह्नवाली ३८ पुस्तकोंको सजिल्द लेनेपर १०) अधिक लगेगा।

साइज १५×२० नं० २, दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-भगवान् श्रीराम, २-आनन्दकंदका आँगनमें खेल।

बहुरंगे—१-विश्वविमोहन श्रीकृष्ण, २-श्रीराधेश्याम, ३-श्याममयी संसार, ४-श्रीरामचतुष्टय, ५-महावीर, ६-भगवान् विश्वनाथ, ७-भगवान् विष्णु, ८-भगवान् शक्तिरूपमें।

साइज १५×२० नं० ३, दाम २॥।), पैकिंग और डाकखर्च १)

सुनहरी—१-रामदरबारकी झाँकी, २-कौसल्याका आनन्द।

बहुरंगे—१-मुरलीमनोहर, २-श्रीनन्दनन्दन, ३-महासंकीर्तन, ४-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ५-दूल्हा राम, ६-ध्रुव-नारायण, ७-ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति, ८-श्रीलक्ष्मी-नारायण।

उपर्युक्त १५×२० साइजके—एक चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ३॥।), दो चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य ६॥।=), तीन चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य १०॥)

साइज १०×७॥ नं० १, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।॥)

इसमें १०×७॥ साइजके बढ़िया आर्टपेपरपर छपे हुए २ सुनहरे तथा १८ बहुरंगे सुन्दर चुने हुए चित्र हैं। टाइटल मोटे कागजपर छापकर लगाया गया है। चित्रोंके नाम निम्नलिखित हैं—

सुनहरी—१-युगल छवि, २-साकार-निराकार ब्रह्म।

बहुरंगे—१-श्रीगणपति, २-कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म, ३-ध्यानमग्ना सीता, ४-दीपावलि-दर्शन, ५-श्रीरघुनाथजी, ६-प्यारका वन्दी, ७-दधि-माखनके भूखे, ८-भक्त-मन-चोर, ९-वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण, १०-श्रीबाँकेविहारी, ११-श्रीराधाकृष्ण, १२-द्रौपदीको आश्वासन, १३-श्रीगौरी-शंकर, १४-भगवान् श्रीशंकर, १५-भगवान् श्रीविष्णु, १६-श्रीलक्ष्मीजी, १७-महावीरका महान् कीर्तन, १८-भारतमाता।

साइज १०×७॥ नं० २, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।॥)

सुनहरी—१-श्रीभगवान्, २-भगवान् श्रीराम। *बहुरंगे*—१-वनवासी राम, २-तपोवनके दिव्य पथिक, ३-पुष्पकविमानपर, ४-भगवान् श्रीराम-लक्ष्मण, ५-श्रीरामदरबार, ६-मथुरासे गोकुल, ७-श्रीकृष्ण-यशोदा, ८-व्रज-सर्वस्व, ९-मुरलीका असर, १०-श्याममयी संसार, ११-व्रजराज, १२-विहारीलाल, १३-श्रीराधेश्याम, १४-योगीश्वर श्रीशिव, १५-शिव-परिवार, १६-पर्वताकार हनुमान्‌जी, १७-लक्ष्मीनारायण, १८-श्रीदुर्गा।

साइज १०×७॥ नं० ३, दाम १।-), पैकिंग और डाकखर्च ।॥)

सुनहरी—१-श्रीसीतारामकी झाँकी, २-श्रीश्यामा-श्यामकी झाँकी।

बहुरंगे—१-माँका प्यार, २-श्रीरघुनाथजीकी रूप-माधुरी, ३-त्रिभुवनमोहन राम, ४-दूल्हा राम, ५-सीताकी खोजमें, ६-शबरीके अतिथि, ७-भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अभ्यर्थना, ८-श्रीरामचतुष्टय, ९-भगवान् बाल-कृष्ण, १०-तुलसीपूजन, ११-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें, १२-योद्धा श्रीकृष्ण, १३-तपस्यामें लगी हुई पार्वतीजीको भगवान् शिवके दर्शन, १४-शिव-पार्वती, १५-भगवान् हरि-हर, १६-शुक्लाम्बरधर शशिवर्ण भगवान् विष्णु, १७-देवर्षि नारदजीको गरुड़वाहन श्रीहरिके दर्शन, १८-भगवान् शक्तिरूपमें।

उपर्युक्त १०×७॥ साइजके—एक चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित मूल्य २-), दो चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित ३॥) एवं तीन चित्रावलिका पैकिंग और डाकखर्चसहित ५)

श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (भाग १) साइज ५×७॥, पृष्ठ ६४, मूल्य ।=), पैकिंग-डाकखर्च ॥-)

इसमें श्रीश्यामसुन्दरकी बाललीलाके ६० रेखा-चित्र (लाइन चित्र) दोरंगे छापे गये हैं। प्रत्येक पृष्ठमें चित्रका परिचय तथा उसके अनुरूप सुन्दर चुने हुए पद-पदांश भी दिये गये हैं।

विशेष सूचना—१५×२० साइजकी तीनों चित्रावलियाँ, १०×७॥ की तीनों तथा श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (भाग) कुल सातों प्रतियाँ एक साथ लेनेपर उनके दाम १२॥-), पैकिंग-डाकखर्च २॥≡), कुल १५।) भेजने चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस (चित्रावलि-विक्रय-विभाग) पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

नोट—अधिक चित्रावलियाँ एक साथ मँगवानेपर रेलवेस्टेशनका नाम अवश्य लिखें।

संत-वाणी-अङ्क

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क 'संत-वाणी-अङ्क' प्रकाशित होनेवाला है। इसमें प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय तथा विदेशी विभिन्न मतोंके सैकड़ों संत-महात्माओं और संत-नारियोंकी चुनी हुई वाणियोंका संक्षिप्त संकलन होगा। वाणियोंका संग्रह प्रायः हो चुका है। सम्पादन हो रहा है। शीघ्र ही छपाई आरम्भ होनेवाली है। निवेदन यह है—

१—अब बिना माँगे कोई भी सज्जन वाणी न भेजें, क्योंकि जितनी सामग्री संग्रह हो चुकी है, वह पूरे अङ्कसे बहुत अधिक है।

२—अधिकांश सज्जनोंकी भेजी हुई वाणियाँ वही हैं, जिनका संग्रह पहले हो चुका है।

३—इस अङ्कमें कई कारणोंसे वर्तमान संतोंकी वाणियाँ नहीं दी जायँगी; अतएव कोई सज्जन न भेजें।

४—चित्रोंका चुनाव तथा निर्माण-कार्य भी प्रायः सम्पन्न हो चुका है। चित्र बड़े ही सुन्दर भावपूर्ण बने हैं।

५—इसमें लेखादि प्रायः नहीं जायँगे।

६—यह संत-वाणी-अङ्क बहुत ही उपादेय होगा।

७—इसका जितना ही अधिक प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही जनता-का कल्याण होगा।

विनीत—

सम्पादक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण

वर्ष २८] [अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २०११, अक्टूबर १९५४

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।=)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीललिताम्बा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०११, अक्टूबर १९५४ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ३३५

जय श्रीललिताम्बा

रक्तवर्ण रक्ताम्बर राजत रम्य कण्ठ मुक्ता-मणि हार ।
अंकुश-पाश-बाण-धनु शोभित चारु भुजा भूषणयुत चार ॥
हेम मुकुट रत्नावलि मण्डित तिलक भाल मारण मद-मार ।
कुण्डल कर्ण, कमल-दल-लोचन ललिताम्बा जय जय सुख-सार ॥

याद रक्खो—पारमार्थिक लाभ ही यथार्थ लाभ है और पारमार्थिक हानि ही यथार्थ हानि है। अतः जहाँ लौकिक लाभ पारमार्थिक लाभका विरोधी हो, वहाँ लौकिक लाभका मोह त्यागकर पारमार्थिक लाभकी रक्षा करनी चाहिये। इसी प्रकार जहाँ पारमार्थिक लाभमें लौकिक हानि हो, वहाँ पारमार्थिक लाभके लिये लौकिक हानिको सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये।

याद रक्खो—लौकिक हानि-लाभसे आत्माके पतन-उत्थानका, अपने-आपके बन्धन-मोक्षका कोई सम्बन्ध नहीं है; परंतु पारमार्थिक हानिका तो अर्थ ही है आत्माका पतन, जीवात्माके बन्धनकी और भी दृढ़ता। तथा पारमार्थिक लाभका अर्थ ही है आत्माका उत्थान, जीवात्माकी मुक्तिकी ओर अग्रसरता।

याद रक्खो—एक आदमीके पास बहुत धन है, बड़ी उसकी प्रतिष्ठा है। जमीन-मकान हैं, पुत्र-पौत्र हैं, पद-अधिकार प्राप्त है—वह सब प्रकारसे सम्पन्न है, लौकिक लाभ उसके चारों ओर व्याप्त है, परंतु इसके बदलेमें उसका मन काम-क्रोधसे, मद-अभिमानसे, तृष्णा-लोभसे, द्वेष-हिंसासे, वैर-विरोधसे, मोह-ममतासे भर गया है और वह ईश्वरको भूलकर केवल विषयभोगोंकी प्राप्ति, रक्षा और भोगके लिये सदैव चिन्तित और निषिद्ध आचरणमें रत है तो उसका उपर्युक्त लौकिक लाभ उसके किसी कामका नहीं होगा। मरते ही समस्त प्राणि-पदार्थोंसे सम्बन्ध टूट जायगा, सबसे नाता टूट जायगा और उसे बाध्य होकर नरकानलमें दग्ध होना, नारकीय यातना भोगना और फिर बुरी-बुरी दुःखदायिनी योनियोंमें भटकना पड़ेगा। इस प्रकार उसका जीवात्मा—वह पतनके गर्तमें गिर जायगा।

याद रक्खो—यदि एक मनुष्य संसारकी दृष्टिमें अभावपूर्ण जीवन बिता रहा है; धन-मान, प्रतिष्ठा-प्रशंसा, पुत्र-परिवार, मित्र-सुहृद्, जमीन-मकान, पद-अधिकार—सभीसे वञ्चित है, बल्कि शरीरनिर्वाहके लिये भी जिसके पास साधन नहीं है, परंतु जिसका हृदय संतोष-क्षमा, विनय-विनम्रता, सहिष्णुता-तितिक्षा, प्रेम-सेवा, सुहृदता-सहानुभूति, मैत्री-करुणा, विवेक-वैराग्यसे पूर्ण है और जो भगवत्प्राप्तिके लक्ष्यसे भगवद्भजन और भगवत्सेवाको ही जीवनका स्वरूप मानकर नित्य-निरन्तर भगवत्प्रीति-कारक दैवी गुणोंके अर्जन, रक्षण और आचरणमें लगा हुआ ईश्वरकी ओर बढ़ रहा है, उसका उपर्युक्त लौकिक हानि या लौकिक प्राणि-पदार्थोंके अभावसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह निश्चय ही परम- कल्याण-रूप भगवान्‌को प्राप्त करेगा। इस प्रकार उसको मानव-जीवनकी सच्ची सफलता प्राप्त होगी।

याद रक्खो—मनुष्ययोनि भगवत्प्राप्तिरूप महान् पारमार्थिक लाभके लिये ही प्राप्त हुई है। भगवान्‌की बड़ी कृपासे यह साधनधाम मानव-शरीर मिला है। इसको केवल इसी महान् कार्यकी साधनामें लगाना यथार्थ मानवता है। यदि मानव-शरीरका उपयोग भोगकामना और भोगोंके भोगमें किया जाय तो वह उसका दुरुपयोग ही है और यदि भोगोंके लिये दुर्गुण, दुर्विचारोंका आश्रय लेकर दूषित कर्म किये जायँ, तब तो मानव-जीवनका महान् दुरुपयोग है; क्योंकि मानव-जीवनमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अनन्त लोकों तथा अनन्त योनियोंमें विविध प्रकारसे भोगना पड़ता है।

याद रक्खो—जीव जबतक मनुष्ययोनिमें नहीं आता, तबतक तो वह अपने पूर्व मानव-जन्मकृत भोगोंको भोगकर कर्म-ऋणसे क्रमशः मुक्त होता रहता है। पर मानव-शरीर प्राप्त करके यदि भगवत्प्राप्तिके साधनमें नहीं लगता और भोग-प्राप्त्यर्थ सत्कर्म करता है तो उसे जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहकर सत्कर्मोंके फलका

विविध लोकों तथा योनियोंमें लौकिक सुख मिलता है, भगवत्प्राप्ति नहीं होती। यह उसकी महान् हानि होती है। मानव-जीवनका सुदुर्लभ अवसर हाथसे चला जाता है। और यदि वह मानव-शरीरमें दुष्कर्म करता है तव तो उसे विविध प्रकारकी भीषण नरकयन्त्रणा और विविध जघन्य योनियोंमें जन्म लेकर अपार कष्ट-भोग करना पड़ता है, इससे अच्छा था कि वह मानव-शरीर ही प्राप्त न करता।

याद रक्खो—मानव-शरीर विफल न हो जाय—नहीं तो, फिर वड़ा पश्चात्ताप करना पड़ेगा। अवसर हाथसे निकल जानेपर कोई भी उपाय नहीं रह जायगा, अतएव जवतक मानव-शरीर है, जबतक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि क्रियाशील हैं, तबतक इनके द्वारा मानव-जीवनके एकमात्र कार्य भगवत्प्राप्तिके साधनमें लग जाओ। लौकिक हानिसे वचनेके लिये या लौकिक लाभकी प्राप्तिके लिये कोई भी ऐसा कार्य कभी भूलकर भी मत करो, जिससे पारमाथक लाभमें वाधा पहुँचे और तनिक भी पारमार्थिक हानि हो।

याद रक्खो—लौकिक हानिकी इच्छा मत करो, ऐसा भी कोई काम जान-बूझकर मत करो जिससे लौकिक हानि होती हो, इसी प्रकार ऐसा काम भी मत करो, जिससे वैध लौकिक लाभमें बाधा पहुँचे, परंतु नित्य-निरन्तर सावधान रहो—सदा सजग रहो, कहीं क्षण भरके लिये भी लौकिक लाभका लोभ या लौकिक हानिका सम्भावनाजनित भय तुम्हें पारमार्थिक लाभसे उदासीन न बना दे और पारमार्थिक हानिको सहनेकी वृत्ति न पैदा कर दे।

याद रक्खो—लौकिक विपत्ति विपत्ति नहीं है; क्योंकि वह तो मरनेके साथ ही मर जायगी। इसी प्रकार लौकिक सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं है; क्योंकि वह भी मरनेके साथ ही छूट जायगी। यथार्थ विपत्ति भगवान्का विस्मरण है और सच्ची सम्पत्ति भगवान्का पावन स्मरण है। इसलिये उस सम्पत्तिको सदा विपत्ति मानो, जो भगवान्को भुलाकर आसुरी सम्पदामें प्रीति उत्पन्न करा दे और उस विपत्तिको सदा परम लोभनीय सम्पत्ति मानो, जो दैवी सम्पदाका नित्य सान्निध्य प्रदानकर जीवनको एकमात्र भगवान्की ओर लगा दे। भगवान्का भजन ही जीवन वन जाय।

'शिव'

भगवान्की अमोघ कृपा

संसारमें नर-नारियोंके चित्त स्वाभाविक ही लौकिक पदार्थोंकी कामनासे व्याकुल रहते हैं और जबतक इन्द्रिय-मन-बुद्धि इस कामना-कलुषसे कलङ्कित रहते हैं, तबतक भगवान्की उपासना करता हुआ भी मनुष्य अपने उपास्य देवतासे स्पष्ट या अस्पष्टरूपसे कामनापूर्तिकी ही प्रार्थना करता है। यही नर-नारियोंका स्वभाव हो गया है। इसीसे वे भगवद्भावके परम सुखसे वञ्चित रहते हैं। असलमें उपासनाका पवित्रतम उद्देश्य ही है—भगवद्भावसे हृदयका सर्वथा और सर्वदा परिपूर्ण रहना। परंतु वह हृदय यदि नश्वर धन-जन, यश-मान, विषय-वैभव, भोग-विलास आदिकी लालसासे व्याकुल रहता है तो उसमें भगवद्भाव नहीं आता और उपासनाका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता; किंतु सत्सङ्गके प्रभावसे यदि कोई भगवान्की अमोघ कृपाका आश्रय ग्रहण कर लेता है तो दयामय भगवान् अनुग्रह करके उसके हृदयसे विषय-भोगकी कामना-वासनाको हटाकर उसमें अपने चरणारविन्द-सेवनकी वासना उत्पन्न कर देते हैं।

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(३१)

हरेक प्राणी आदर और सम्मान चाहता है परंतु जबतक मनुष्य करने योग्य कामको जिस प्रकार कुशलतापूर्वक करना चाहिये, उस प्रकार पूरा नहीं करता और न करने योग्य व्यर्थ कामको करता रहता है, तबतक उसको आदर नहीं मिलता। आदर उसीको मिलता है जो कर्तव्यपरायण और संयमी होता है। इसलिये साधकको कर्तव्यपरायण होना चाहिये अर्थात् करने योग्य कामको कुशलतापूर्वक पूरा कर देना चाहिये। उसके करनेमें न तो किसी प्रकारका प्रमाद करना चाहिये और न आलस्य करना चाहिये। जबतक मनुष्य आलस्य और प्रमादका त्याग नहीं करता, तब-तक कोई भी काम सर्वाङ्गसुन्दर नहीं हो सकता। इसी प्रकार साधकको कोई भी ऐसा काम नहीं करना चाहिये जिसका करना आवश्यक न हो और जिसमें किसीका हित निहित न हो। मन और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टा न होने देनेका नाम ही संयम है। संयमी मनुष्यके नेत्र खुले रहते हैं, परंतु जिसको नहीं देखना चाहे, वह वस्तु उसे नहीं दीखती। कान खुले रहते हुए भी, जिसको नहीं सुनना चाहिये, वह सुनायी नहीं देता। इतनेपर भी साधकको यह अभिमान नहीं होना चाहिये कि मैं कर्तव्यपरायण हूँ या मैं संयमी हूँ; क्योंकि गुणका अभिमान होनेसे वह गुण दोषके रूपमें बदल जाता है। उसमें वास्तविकता नहीं रहती। दिखावा रह जाता है अर्थात् वह दम्भाचारका रूप धारण कर लेता है।

साधक वही है जिसका हरेक गुण, जीवन बन जाता है और किसी भी गुणमें जिसका अभिमान नहीं होता तथा जो गुणोंका आचरण किसी लालच या भयसे नहीं करता; क्योंकि आदर-सम्मानके लालचसे या अनादरके भयसे किया हुआ आचरण सच्चा आचरण नहीं होता। अतः वह चित्तको शुद्ध नहीं होने देता।

जो मनुष्य ऊपरके आचरणोंमें सुन्दर वस्त्रोंका पहनना छोड़ देता है। पलँगके सुन्दर बिछौनेको काममें नहीं लाता, सब प्रकार सादगीसे रहता है; परंतु भीतर चित्तमें उनकी वासना है या उनके त्यागका अभिमान है, उस सादगीसे उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। उससे तो अपनेमें त्यागका अभिमान और दूसरों-से घृणा उत्पन्न हो जानेके कारण चित्त अशुद्ध रहता है।

साधनका दम्भ करनेवालेसे साधन न करनेवाला अच्छा है; क्योंकि साधन न करनेवाला तो भविष्यमें साधक बन सकता है, परंतु जो दम्भी मनुष्य सम्मानके लिये या अन्य किसी कारणसे दिखाऊ साधन करता है और अपनेको साधक दिखलाना चाहता है, उसका सुधार होना कठिन है।

अतः चित्तकी शुद्धिके लिये साधन करनेवाले साधक-को चाहिये कि साधनका अभिमान न करे और उसमें किसी प्रकारका दिखौआपन न आने दे।

जो मनुष्य नेता या प्रचारक बन जाता है या उपदेष्टा बन जाता है, उसका चित्त शुद्ध होना कठिन है; क्योंकि दूसरोंके दोषोंको देखना उसके लिये आवश्यक काम हो जाता है। दूसरोंके दोषोंको बिना देखे, उनको दूर करनेका उपाय वह श्रोताओंको कैसे बतायेगा। इसी प्रकार अपने दोषोंको भी वह प्रकट नहीं कर सकता; क्योंकि हरेक प्रकारसे अपने दोषोंको छिपाना उसका स्वभाव बन जाता है। दूसरोंके दोषोंके

देखना, अपनेमें गुणोंका अभिमान होना और उन गुणोंका प्रदर्शन करना तथा अवगुणोंको छिपाना—ये सभी चित्तकी अशुद्धिके कारण हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें नेता या गुरु बननेको पतनका हेतु माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह काम महापुरुषोंके ही उपयुक्त है। साधकको इस बखेड़ेमें कभी नहीं पड़ना चाहिये।

अपने दोषोंको सामने रखकर परस्पर विचार-विनिमय करना, अपने सुधारके लिये परस्पर परामर्श करना—नेतागिरी या उपदेष्टा बनना नहीं है। अतः साधकको जब कोई सुधारकी बात दूसरोंके सामने कहनेका मौका प्राप्त हो जाय तो उसमें अपने सुधारका लक्ष्य रखते हुए ही उसे बोलना चाहिये। जो साधक अपनेमें यह अभिमान रखता है कि मैं सत्सङ्गी हूँ, दोषोंको किस प्रकार दूर करना चाहिये, किस प्रकार सद्गुण और सदाचारका पालन करना चाहिये, इस बातको मैं समझता हूँ, एवं इस भावको लेकर जो दूसरोंके दोषोंको देखता रहता है और उनको दूर करनेके लिये दूसरोंसे कहता रहता है, उसका चित्त अनेक प्रकारसे कोशिश करते रहनेपर भी शुद्ध नहीं हो पाता। यही कारण है कि वह अनेक वर्षोंतक सत्सङ्ग करते हुए भी अपने लक्ष्यको प्राप्त नहीं कर सकता।

जबतक मनुष्यको अपना साधन भाररूप प्रतीत होता है, उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हुई। जैसे सत्सङ्गमें जाता है तो या तो ठीक निश्चित टाइमपर जाता ही नहीं। जाता है तो सत्सङ्गकी बातोंको ध्यानपूर्वक सुनता नहीं। शरीर सत्सङ्गमें बैठा है, मन कहीं दूसरा ही काम कर रहा है। इसी प्रकार जप-ध्यान आदि साधनमें भी मन नहीं लगता। तबतक उसे समझना चाहिये कि मेरे साधनका निर्माण नहीं हुआ। जो साधन मैं कर रहा हूँ वह मेरी योग्यता और रुचिके अनुकूल नहीं है।

जो साधन साधकको अपना जीवन प्रतीत होता हो, जिसके बिना उसे चैन नहीं पड़ता, साधन किये बिना रहा नहीं जा सकता, जीवनसे भी साधन अधिक प्रिय हो जाता है, साधनोपयोगी हरेक काम ठीक समयपर करनेमें नित्य नया उत्साह और प्रेम बढ़ता रहता है, तब समझना चाहिये कि अब प्रभुकी और महापुरुषोंकी कृपासे मेरे साधनका निर्माण हुआ है। सच्चे साधकमें कभी भी साधनका अभिमान नहीं होता और उसे किसी भी अवस्थामें साधन भाररूप नहीं प्रतीत होता, यह नियम है।

साधन कोई भी छोटा-बड़ा नहीं होता, किंतु उसमें प्यार होना चाहिये और उसे पूरी शक्ति लगाकर उचित ढंगसे करना चाहिये। मान लो, किसीने यह निश्चय किया कि मैं तो केवल एक बार प्रभुका नाम लूँगा और ठीक चार बजे प्रातःकाल लूँगा। इस निश्चयके अनुसार यदि वह एक सेकेंड भी कालका व्यतिक्रम न करके प्रतिदिन प्रातःकाल ठीक चार बजे प्रभुका नाम एक बार प्रेमपूर्वक ले लेता है और प्रभुके प्रेममें सराबोर हो जाता है तो वह एक बार लिया हुआ नाम ही उसका उद्धार कर देगा। जिस साधकका यह निश्चय है कि एकादशीको मरनेवालेकी सद्गति होती है, अतः मेरी मृत्यु उसी दिन होगी, तो वह ठीक उसी दिन मरेगा। जिस साधकका भगवान्के ध्यानमें विश्वास और प्रेम है एवं ठीक नियमित समयपर प्रेमपूर्वक वह ध्यान करता है तथा उसकी यह इच्छा है कि मैं ध्यान करता हुआ ही मरूँ, तो वह ध्यान करता-करता ही मरेगा। मनुष्यके विश्वासपूर्वक किये हुए संकल्पमें अद्भुत शक्ति होती है। पर वह जो कुछ करे उसे साङ्गोपाङ्ग सुन्दर-से-सुन्दर प्रेमपूर्वक करना चाहिये।

जो लोग भगवान्का नाम-जप और चिन्तन करते हैं और चिन्तन या कीर्तन करते समय जब कभी

उनको कुछ रस मिल जाता है तो उसीमें संतोष कर लेते हैं और साधनकी सफलता मान लेते हैं, वे अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकते । साधनमें तो नित्य नया उत्साह और व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये । जिनको अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया है, जो सब प्रकारसे पूर्ण हैं, उनके लिये तो कुछ कहना नहीं बनता । वे तो पूज्य हैं । भगवान्‌के ही सदृश या भगवान्‌के भी भगवान् हैं, परंतु जबतक साधक और साधनका प्रसङ्ग है, तबतक साधकके जीवनमें कभी किसी भी अवस्थाको लेकर संतोष नहीं होना चाहिये । उसके हृदयमें तो प्रतिदिन उत्तरोत्तर नित्य नया उत्साह, नित्य नयी व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये ।

किसी भी साधनाकी सफलता उसके आगेकी नवीन साधनाको उत्पन्न कर देती है । जबतक कुछ भी करना शेष है, तबतक साधनमें संतोष आ जाना साधनमें शिथिलता उत्पन्न करता है जो कि वास्तवमें असावधानी है । ज्यों-ज्यों साधक साधनसे अभिन्न होता जाता है, त्यों-त्यों साध्यके लिये परम व्याकुलता तथा उत्साह बढ़ता रहता है । यही साधनकी सफलता है ।

(३२)

प्रश्न—उत्साह और व्याकुलता दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—जिसके पानेकी तीव्र अभिलाषा होती है उसके मिलनेमें ज्यों-ज्यों देर होती है, त्यों-ही-त्यों व्याकुलता बढ़ती है और उसके पानेकी आशा रहती है इस कारण उत्साह बढ़ता रहता है । जैसे किसीको किसी महात्मासे मिलनेके लिये या किसी देवविग्रहका दर्शन करनेके लिये किसी निश्चित स्थानपर जाना है । वहाँ जानेके लिये जिसकी तीव्र अभिलाषा है और किसी विघ्नके कारण जानेमें विलम्ब हो रहा है, उस समय उस विलम्बके कारण उसकी व्याकुलता बढ़ती रहती है और वहाँ जानेसे अभिलाषा पूर्ण होनेकी उमंगमें उत्साह बढ़ता रहता है । अतः वह सब प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करता हुआ भी अपने अभीष्टकी ओर चल पड़ता है । उत्साहके कारण उसे चलनेका परिश्रम और कठिनाई दुःखप्रद नहीं होते, किंतु अपने अभीष्टकी प्राप्तिमें देर असह्य होनेके कारण व्याकुलता बढ़ती रहती है । इसी प्रकार साधकके जीवनमें भी उत्साह और व्याकुलताका बढ़ते रहना अनिवार्य है ।

जबतक मनुष्य वासनाओंकी पूर्तिके सुखमें रस लेता है, अपने मनकी बात पूरी होनेमें ही जो संतुष्ट हो जाता है या जो आलस्य और निद्रा आदि जडतामें रस लेता रहता है, उसके जीवनमें प्रेमकी लालसा जाग्रत् नहीं होती । इसी कारण उसका न तो साधनमें उत्साह होता है न लक्ष्य-प्राप्तिके लिये व्याकुलता आती है और न तत्परता ही होती है ।

देखा जाता है कि जबतक साथियोंका मन एक नहीं होता, उसमें भेद रहता है तबतक वे छोटे-से-छोटा काम भी पूरा नहीं कर पाते और आपसमें मतभेदका द्वन्द्व बना रहता है; किंतु जहाँ मनकी एकता होती है, वहाँ कठिन-से-कठिन काम भी सुगमतासे पूरा हो जाता है ।

जहाँ साथियोंके और साधकके विचारोंमें भेद हो वहाँ साधकको चाहिये कि जो प्रवृत्ति विवेकके प्रतिकूल न हो, उसके लिये अपने साथियोंके मनमें अपना मन मिलाकर एकता कर ले । दूसरोंके अधिकारकी रक्षाके लिये अपने मनकी बात पूरी करनेका आग्रह हर्षपूर्वक त्याग दे और यदि उनके मनकी बात विवेकके विरुद्ध हो तो बिना किसी द्वेषभावके उनका साथ छोड़ दे । त्यागका फल सबसे अधिक त्याग करनेवालेको मिलता है । अतः साधकको सब प्रकारकी चाहका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । त्यागसे ही सदा रहनेवाली शान्ति मिलती है ।

साधककी प्रवृत्ति दूसरोंके हितमें होनी चाहिये। निवृत्तिकालमें सबसे असङ्ग होना चाहिये।

कर्मका सम्बन्ध जगत् और शरीरसे है। इनका चिन्तन करना व्यर्थ है। इनके चिन्तनसे कोई लाभ नहीं होता।

आत्मा और परमात्माका सम्बन्ध चिन्तनसे है। इसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि जो वस्तु चिन्तनसे मिलती है, वह कर्मसे नहीं मिलती और जो कर्मसे मिलती है, वह चिन्तनसे नहीं मिलती।

बुद्धिको विवादमें न लगाकर सत्यकी खोजमें लगाना चाहिये। बलको उपभोगमें न लगाकर दूसरोंका दुःख मिटानेमें लगाना चाहिये। समयको व्यर्थ चिन्तनमें न लगाकर सार्थक चिन्तनमें लगाना चाहिये। संयोगजनित सुखकी प्राप्ति मन चाहता है। विवेकको वह प्रिय नहीं है। वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके सम्बन्धसे होनेवाला सुख, वास्तवमें सुख नहीं है। उसका जन्म दुःखसे होता है और अन्त भी दुःखसे ही होता है। जब प्यासका दुःख होता है तभी जल पीनेमें सुख माल्म होता है। भूखका दुःख ही भोजनमें सुख देता है। इसी प्रकार सुखके वियोगमें भी दुःख ही बच रहता है।

(३३)

साधकको चाहिये कि चित्त-शुद्धिके लिये अपनी योग्यता और रुचिके अनुरूप ऐसे साधनको अपनावे जो किसी दूसरेपर अवलम्बित न हो अर्थात् जिसमें अपनेसे भिन्न किसी व्यक्ति, पदार्थ, स्थान या परिस्थितिके सहयोगकी आवश्यकता न हो, जो सर्वथा स्वतन्त्र हो।

वेदान्तमें जो विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—ये चार साधन बताये हैं, उनमें भी साधक सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियोंको वशमें करना, मनको वशमें करना, शीतोष्णको सहन करना आदि साधनोंके लिये शरीरमें बल चाहिये।

इसी प्रकार तप करनेमें, दान देनेमें, तीर्थ सेवन करनेमें, एकान्त वास करनेमें अथवा किसी प्रकारकी परिस्थितिको बनाये रखनेमें भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है।

जबतक साधक यह सोचता रहता है कि जब अमुक तीर्थमें जाऊँगा तब साधन करूँगा, ऐसा वातावरण मिलेगा तब साधन करूँगा, शरीर स्वस्थ होगा तब साधन करूँगा, इत्यादि, तबतक जीवनका अमूल्य समय यों ही चला जाता है, साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती।

जो साधक अपने साधनमें दूसरेके सहयोगकी आशा रखता है या उनकी सहायता लेता रहता है, उसका उन व्यक्तियोंमें मोह और पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है, अतः चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

विश्वास, त्याग, प्रेम और कर्तव्य-पालन—इन साधनोंमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। किसी भी व्यक्ति या वस्तुका संयोग करना मनुष्यके हाथकी बात नहीं है, परंतु त्यागमें कठिनाई नहीं है। इसी प्रकार विश्वासके लिये भी किसीके सहयोगकी जरूरत नहीं है। जब चाहे अपने इष्टपर मनुष्य विश्वास कर सकता है। प्रेममें भी परतन्त्रता नहीं है। हरेक प्राणी प्रेम करनेमें स्वतन्त्र है। एवं अपना कर्तव्य पालन करनेमें भी किसी प्रकारकी परतन्त्रता नहीं है; क्योंकि प्राप्त विवेकका आदर और प्राप्त बलका सदुपयोग ही उसका कर्तव्य है, जो कि हर मनुष्य हरेक परिस्थितिमें कर सकता है। संसार और शरीरसे विमुख होकर अपने आपको प्रभुके समर्पण करके उनपर निर्भर रहनेमें उनकी अहैतुकी कृपाके आश्रित हो जानेमें किसी प्रकारकी भी कठिनाई नहीं है। अतः यह साधन अत्यन्त सुगम और अमोघ है।

जो मनुष्य दूसरोंकी उदारतासे, उनके त्याग, परिश्रम एवं कर्तव्यपरायणतासे अपने अधिकारको सुरक्षित रखता है, अपने मनकी बात पूरी करता रहता है तथा अपने मनकी बात पूरी न होनेपर उनके कामोंमें दोष निकालता है और उनपर क्रोध करता रहता है, उसका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। हाँ, जो लोग उसका आदर करते हैं, उसके अधिकारकी रक्षाके लिये अपने कर्तव्यका पालन करते हैं, क्रोध करनेपर भी नाराज

नहीं होते, अपने ही दोषका अनुभव करते हैं, एवं अपना कोई अधिकार नहीं मानते, उनका चित्त अवश्य शुद्ध हो सकता है, उनका व्यवहार अवश्य साधन माना जा सकता है; परंतु यदि वे भी वही काम किसी सांसारिक सुखके लालचसे या किसी प्रकारके भयसे करते हैं, चित्तशुद्धिद्वारा अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नहीं करते तो उनका भी चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

अतः साधकको चाहिये कि साधनके लिये किसी भी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति और स्थान आदिकी आशा न करे। जब जो परिस्थिति अपने-आप प्राप्त होती रहे,—उसे प्रभुका विधान, उनकी अहैतुकी कृपा मानकर साधन-परायण हो जाय और उस प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करता रहे। अर्थात् किसीपर अपना अधिकार न माने और दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करता रहे तथा अपने शरीर और प्राप्त पदार्थोंद्वारा ऐसी सेवा, जिसमें उनका हित और प्रसन्नता निहित हो, करता रहे और किसी प्रकारके अभिमानको स्थान न दे।

धर्महीन राजनीति

(रचयिता—पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा)

जब राजनीतिसे धर्म हटाया जाता है,
बढ़ता अधर्म अंधेर-अँधेरा छाता है।

जो लोक और परलोक-सिद्धिका साधक है,
'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस्' का आराधक है,
जिसको संकीर्ण भावना कभी न भाती है,
जिसकी प्रभुता शुचिता-पीयूष पिलाती है,
वह परमतत्त्व सर्वथा भुलाया जाता है,
जब राजनीतिसे धर्म हटाया जाता है।

सत् धर्म सदा सुख-शान्ति-सुधा बरसाता है,
नय, न्याय, नीतिका शुभसन्मार्ग सुझाता है,
मानवतामें वर बन्धु-भाव उमगाता है,
वसुधाका बृहत् कुटुम्ब-रूप दरसाता है,
इस विधि-विधानमें सार न पाया जाता है,
जब राजनीतिसे धर्म हटाया जाता है।

अत्याचारोंसे भूमि काँपने लगती है,
सोती सुनीति, दुर्नीति दानवी जगती है,
तब स्वार्थ-असुर दुर्दम्म-दर्प दिखलाता है,
निजता-परताका क्षुद्रमात्र भर जाता है,
मानव मानवतापर विष-वज्र गिराता है,
जब राजनीतिसे धर्म हटाया जाता है।

जो धर्मतत्त्वमें द्वेषभाव बतलाते हैं,
वे अज्ञ व्यर्थ ही जनताको भरमाते हैं,
क्या कभी धर्म-ध्रुवताने युद्ध रचाए हैं,
क्या सत्य-अहिंसाने नर-रक्त बहाए हैं,
विपदा-वारिधिमें विश्व डुबाया जाता है,
जब राजनीतिसे धर्म हटाया जाता है।

संग्राम-भूमिमें तोपें आग उगलती हैं,
अगणित लोगोंकी देहें जीती जलती हैं,
होकर अनाथ लाखों जन घुट-घुट रोते हैं,
भूखे-नंगे रह प्राण करोड़ों खोते हैं,
दुर्भिक्ष दुष्ट दानव मानव-दल खाता है,
जब राजनीतिसे धर्म हटाया जाता है।

शासन-सत्ता जब धर्मयुक्त हो जाती है,
शासित जनता भी नैतिकता अपनाती है,
तब, 'रामराज्य' की धवल ध्वजा फहराती है,
सुख, शान्ति, समृद्धि-वृद्धि नित होती जाती है,
सद्भावोंको भी व्यर्थ बताया जाता है,
जब राजनीतिसे धर्म हटाया जाता है।

अच्छी नीयत

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानका सार)

शास्त्रोंमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रद्धाकी बड़ी महिमा है। वस्तुतः श्रद्धा महिमाके योग्य ही है। श्रद्धासे जो कार्य सहज ही सम्पन्न होता है, वैसा और किसी भी साधनसे नहीं हो सकता। परमात्माकी प्राप्तिमें तो श्रद्धा ही प्रधान सहायक है। अतएव इस साधनामें तो श्रद्धाके बिना काम चलता ही नहीं।

मान लीजिये कि कुछ सज्जन मुझपर श्रद्धा करते हैं और उससे उनमेंसे किसीको लाभ होता है, तो वह उनकी श्रद्धासे होता है। जिसको हम श्रद्धेय पुरुष कहें, या श्रद्धाके योग्य कहें, वैसा श्रद्धाका पात्र मैं अपनेको नहीं मानता। विचारकी दृष्टिसे देखा जाय, तो मैं श्रद्धाके योग्य नहीं हूँ। न मेरेमें कोई ऐसी योग्यता है, न प्रभाव है, न कोई करामात ही है; परंतु यदि कोई अपनी श्रद्धासे, उस श्रद्धाके बलपर लाभ उठा ले तो उसमें मेरा कोई प्रभाव कारण नहीं है। अपनी श्रद्धाके द्वारा मनुष्य हर जगह लाभ उठा लेता है। एक पाषाणकी या धातुकी मूर्तिमें भगवान्की भावना करके उसे प्रत्यक्ष भगवान् समझकर हम लाभ उठाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य किसी भी पदार्थसे अपनी श्रद्धाके बलपर लाभ उठा सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि किसीपर किन्हींकी श्रद्धा होती है और यदि वे उसे सत्पुरुष, पक्षपातरहित पुरुष मानते हैं तो उसकी बातका उनपर तुरंत असर होता है। मान लीजिये दो व्यक्ति हैं और दोनों ही मुझपर श्रद्धा रखते हैं। किसी बातको लेकर उनके आपसमें मनमुटाव या वैमनस्य हो गया। झगड़ा यहाँतक बढ़ा कि कोर्टमें जानेकी तैयारी हो गयी। ऐसी अवस्थामें यदि मैं दोनोंको बुलाकर समझा देता हूँ तो श्रद्धाके कारण मुझे पक्षपातरहित मानकर वे तुरंत मेरी बात मान लेते हैं और बहुत दिनोंका झगड़ा मिनटोंमें ही मिट जाता है। श्रद्धा न होनेपर ऐसा नहीं होता। इस दृष्टिसे श्रद्धा करनेवालोंका विरोध नहीं किया जाता। कोई हमारी बात मानकर अपना सुधार करें, अपनी भूलोंको समझकर उन्हें छोड़ दें, तो उसका विरोध क्यों होना चाहिये ? हाँ, यदि कोई शरीरकी सेवा करे तो उसका विरोध अवश्य करना चाहिये। हम तो जो कुछ कहते हैं वह गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण, मनुस्मृति आदि शास्त्रोंके आधारपर कहते हैं। शास्त्र त्रिकालज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी ऋषियोंकी वाणी है और श्रीमद्भगवद्गीता तो साक्षात् भगवान्के दिव्य वचन ही हैं। इस प्रकार ऋषि-मुनि-महात्मा और भगवान्के वचनोंपर निर्भर करके उन्हींके आधारपर जो बात कही जाती है, वह तो वस्तुतः उन्हींकी बात है। कहनेवाला तो केवल अनुवादमात्र करता है। यदि लोग श्रीभगवान्के और ऋषि-मुनियोंके वचनोंको मानकर अपना कल्याण-साधन करें तो बहुत उत्तम बात है। वे वचन कल्याणकारी और उच्चकोटिके हैं ही, जो कोई भी उनके अनुसार अपना जीवन बनायेगा, उसीका कल्याण होगा। मैं बनाऊँगा तो मेरा, दूसरे कोई बनायेंगे तो उनका। ऋषि-महात्मा और भगवान्के इन वचनोंका सभीको आदर करना चाहिये और उन्हें काममें लानेकी श्रद्धापूर्वक विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

वर्षोंतक इन वचनोंके सुननेपर भी यदि लाभ नहीं देखा जाता, या बहुत कम देखा जाता है, तो इसमें कारण यही है कि उन वचनोंके अनुसार क्रिया नहीं की गयी। ऋषि-मुनियोंके और भगवान्के वचनोंके सुनने-सुनानेमें जो समय लगा, वह समय तो अवश्य ही

सार्थक हुआ, परंतु उन वचनोंका सदुपयोग तभी होता जब लोग उन वचनोंके अनुसार अपना जीवन बना लेते। एक दिनके भी सुने-सुनाये हुए महात्माओंके और भगवान्‌के वचनोंका जीवनपर असर हो जाय तो कार्य सफल हो सकता है। फिर श्रद्धा होनेपर कल्याण हो, इसमें तो कहना ही क्या है ? महात्मा पुरुषोंके वचनोंपर श्रद्धा करनेसे बहुत शीघ्र कल्याण हो सकता है।

तीसरी बात यह है कि यदि किसीको प्रत्यक्षमें भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई, महात्मा नहीं मिले तो शास्त्रोंके वचनोंपर विश्वास करके उनके अनुसार चलनेसे भी कल्याण हो सकता है। चौथी बात यह है कि भगवान्‌के भक्तों या महात्मा पुरुषोंमें अथवा उनमें जिनकी श्रद्धा है, ऐसे साधकोंमें श्रद्धा करने और उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत अधिक लाभ हो सकता है।

पाँचवीं बात यह है कि अपने शुद्ध अन्तःकरणमें—जिसमें स्वार्थका त्याग और पक्षपातका अभाव है—जिसमें समभाव है, ऐसे अन्तःकरणवाले साधकके हृदयमें जो स्फुरणा होती है, उसको आदर्श मानकर यदि मनुष्य दृढ़ निश्चयपूर्वक उसके अनुसार भी साधन करता है अथवा अपने मन-बुद्धिके निर्णयके अनुसार जिसको शुद्ध नीयतसे उत्तम समझता है और उसीके अनुसार अपना जीवन बनाता है, तब भी उसका कार्य चल जाता है। शास्त्रोंपर, महात्मापर और ईश्वरपर भी विश्वास न हो तो उस परिस्थितिमें मनुष्यको अपनी बुद्धिपर तो विश्वास करना ही चाहिये।

संसारमें परस्पर-विरोधी जो दो-दो पदार्थ हैं, उनको सामने रखकर निर्णय करना चाहिये और उनमें जो कल्याण-कारक—शुभ हो, उसका आचरण करना चाहिये और जो अनिष्टकारक अशुभ हो, उसका त्याग करना चाहिये। इस प्रकार करनेपर भी कल्याण हो सकता है। जैसे, सत्य-भाषण और मिथ्या-भाषण—इन दोनोंको अपने सामने रखकर बुद्धिसे विचार करे कि इन दोनोंमें सत्य श्रेष्ठ है या मिथ्या। ठीक-ठीक विचार करनेपर मनुष्य यही कहेगा कि 'श्रेष्ठ तो सत्य ही है। लोभके वशमें होकर या अन्य किसी कारणसे मनुष्य असत्य बोलता है परंतु परिणाममें तो सत्य ही कल्याणकारक होता है।' इस निर्णयके अनुसार सत्यको शुभकी श्रेणीमें रख ले और मिथ्याको अशुभकी। इसी प्रकार एक ओर किसीको कष्ट पहुँचाना और मारना-काटना हो और दूसरी ओर सबको आराम पहुँचाना, सेवा करना और उपकार करना हो। इन दोनोंमें अच्छे-बुरेका बुद्धिके अनुसार निर्णय करे, तो संसारमें कोई किसी भी सिद्धान्तका माननेवाला क्यों न हो, चाहे वह स्वयं पालन न कर सकता हो, पर वह निर्णय तो यही देगा कि 'आराम पहुँचाना, सेवा, उपकार और हित करना ही श्रेष्ठ है। चोट पहुँचाना और मारना तो सर्वथा अन्याय है।' जब यह निर्णय हो गया तो सेवा, उपकार आदिको शुभकी श्रेणीमें रख ले और हिंसा आदिको अशुभकी श्रेणीमें। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन और व्यभिचार। विषय-भोगोंमें आसक्ति तथा विषय-भोग और विषय-वैराग्य—विषयोंका त्याग। इनपर विचार करे और बुद्धिका ठीक निर्णय प्राप्त करके ब्रह्मचर्य और वैराग्य-त्यागको शुभकी श्रेणीमें एवं व्यभिचार तथा विषयासक्ति और विषयभोगको अशुभकी श्रेणीमें रक्खे। कोई भी आदमी ब्रह्मचर्य और त्यागके श्रेष्ठत्व और महत्त्वको अस्वीकार नहीं कर सकता। भोगी आदमी भी यही कहेगा कि 'भाई, मैं तो भोगासक्त हूँ, परंतु भोग और त्यागका मुकाबला करनेपर तो त्याग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। त्यागसे शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'। (गीता १२। १२)। त्यागी-विरक्त पुरुषोंकी लोक-परलोकमें सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है, पर भोगासक्तकी प्रतिष्ठाका तो कोई प्रश्न ही नहीं आता।

एक आदमी विश्वासपात्र है, दूसरेके धनको ग्रहण करनेमें धूल या विषके समान समझता है और एक ऐसा आदमी है जो किसी प्रकारसे भी दूसरेके धनपर उसे अन्यायपूर्वक प्राप्त करनेके लिये, निरन्तर दृष्टि गड़ाये रहता है। और परापवाद करने तथा पर-धनको हड़पनेमें ही अपना गौरव मानता है। दूसरे एक ऐसे पुरुष हैं जो उनके स्वत्वपर दूसरा कोई अधिकार कर ले तो उसकी कुछ भी परवा नहीं करते, परंतु स्वयं दूसरेके स्वत्व-पर निरन्तर ग्लानि रखते हैं। यहाँतक कि दूसरेके पद, धन या किसी प्रकारके पदार्थपर तो उनकी ग्लानि है ही; परंतु अपने निजी स्वत्वपर भी वे मोह-ममता न करके उसपर अनासक्त ही रहते हैं।

एक ऐसा मनुष्य है जो अपनी चीजको तो अपनी मानता है, दूसरेको उसकी ओर देखना भी सहन नहीं कर सकता और कहीं दूसरेकी चीज हाथ लग जाय तो उसे अपनी बनानेमें तनिक भी हिचकता नहीं। चोरीसे, जोरीसे, ठगीसे, कैसे भी मिले। एक ऐसे पुरुष हैं जो दूसरेकी चीजके चुरानेकी कल्पना ही नहीं करते, पर यदि दूसरा कोई उनकी चीज चुराकर ले जाता है तो समझते हैं, कि 'यह चीज इसके काम आ जायगी।' उपर्युक्त दोनों प्रकारके लोगोंके कार्योंपर तथा नीयतपर विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि एक ओर विषय-विरक्ति है, त्याग है, उदारता है। दूसरी ओर विषयानुराग है, चोरी है, डकैती है और परस्वापहरण है। यों विचार करके उदारता आदिको शुभमें रक्खे और परस्वापहरण आदिको अशुभमें। इसी प्रकार संसारके सभी पदार्थोंके दो-दो विभाग करनेसे शुभ और अशुभकी एक सुन्दर सूची बन जायगी। उसमें शुभको दैवी सम्पदा कह सकते है और अशुभको आसुरी। इसी प्रकार एक ओर त्याग, क्षमा, संतोष, विवेक आदि हैं और दूसरी ओर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अवगुण हैं। जिस ओर सद्गुण हैं वहाँ दैवी-सम्पत्ति है और अवगुण हैं उस ओर आसुरी-सम्पत्ति। दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये है और आसुरी बन्धनके लिये—

'दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'

(गीता १६। ५)

दैवी-सम्पत्तिवाला जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जायगा और आसुरी-सम्पत्तिवाला बन्धनमें जकड़ा हुआ बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें भटकता रहेगा। इस प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धिपर निर्भर करके आत्माके कल्याणकी इच्छासे विवेचन करके शुभका ग्रहण कर लेता है तो उसका उद्धार हो जाता है, चाहे वह नास्तिक ही क्यों न हो?

अच्छी नीयतका अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकमें मेरा और सभी भाइयोंका कल्याण हो। इस नीयतसे जो आचरण किया जाता है, उसका नाम 'अच्छी नीयत है।' इससे भी श्रेष्ठ वह नीयत मानी जाती है, कि जिसमें अपनेको बाद देकर यह चाहा जाय कि 'इस लोक और परलोकमें सबका कल्याण हो जाय।' इससे भी श्रेष्ठ एक नीयत और होती है। उदाहरण-के लिये मान लीजिये, एक जगह बहुत-से सज्जन बैठे हैं। वहाँ आकाशवाणी होती है कि 'आप लोगोंमेंसे किसी एक आदमीको चुनकर बता दें तो उसका उद्धार किया जा सकता है अर्थात् आप लोगोंकी सबकी तपस्या, भक्ति, साधनाको शामिल करके उसके फल-स्वरूप आपमेंसे केवल एक व्यक्तिका कल्याण हो सकता है।' मतलब यह कि सबकी पूँजीसे एकका कल्याण होगा। इसके उत्तरमें जो यह कहता है कि 'प्रभो! एक मुझको छोड़कर आपकी इच्छा हो, उसीका कल्याण कर दें' तो वह कल्याणका अधिकारी हो गया और जो ऐसा कहता है कि 'प्रभो! मेरा कल्याण कर दो, तो वह स्वार्थी मनुष्य है। सभी लोग यह कहें कि 'मेरा कल्याण कर दो।' 'मेरा कल्याण कर दो।'—तो एकका भी कल्याण नहीं

होगा। और सभी एक स्वरमें यह कहें कि 'मुझे छोड़कर चाहे जिसका कल्याण कर दिया जाय' तो सभी कल्याणके पात्र हो जाते हैं। ऐसी दशामें भगवान् सबको दर्शन देकर उनका उद्धार कर देते हैं; क्योंकि स्वार्थ-त्यागका बड़ा माहात्म्य है। इस प्रकार अपने साधन, तप, भक्ति आदिको देकर दूसरेका कल्याण करना बड़ी श्रेष्ठ नीयत है। इससे भी श्रेष्ठ नीयत एक और है। वहाँ मनुष्य यह सोचता है कि 'लोगोंका कल्याण न होनेमें कारण उनके पाप हैं। इसलिये उन सबके पाप मुझको भुगता दिये जायँ और उन सबका कल्याण कर दिया जाय।' ऐसी श्रेष्ठ नीयतवाले पुरुषका कल्याण भगवान्के यहाँ सबसे पहले होता है। परंतु 'इस प्रकारकी नीयत रखनेसे सबसे पहले मेरा उद्धार हो जायगा' इस दृष्टिसे ऐसा नहीं करना चाहिये; क्योंकि इसके गर्भमें भी स्वार्थ ही है। 'मैं स्वार्थका त्याग करूँगा तो दूसरा मेरे साथ व्यवहार करनेवाला भी स्वार्थका त्याग करेगा और इस प्रकार मेरा स्वार्थ सिद्ध हो जायगा'—यह सोचकर स्वार्थ-त्याग करने जाना भी एक प्रकारसे स्वार्थ ही है। अपने तो हृदयमें यही बात विशुद्ध भावसे होनी चाहिये कि 'सबका कल्याण हो, सबका हित हो और यदि पापके कारण किसीका हित न होता हो और उसके पाप हमारे स्वीकार करने या भोगनेसे उसका कल्याण हो जाता हो तो उसके पाप हम भोग लें।' यह सर्वोत्तम भाव है।

यद्यपि मुझमें यह भाव नहीं है कि मैं सबका पाप भोग लूँ और सबका उद्धार हो जाय। यह तो मैं आपसे कह रहा हूँ और वास्तवमें यह है बहुत ऊँची बात। अच्छे लोगोंके मनोंमें भी यह बात आ जाती है कि यह बड़ी कठिन है। जब मनुष्यके लिये रुपयोंका त्याग करना भी बड़ा कठिन होता है, तब यह तो मुक्तिका त्याग है। मुक्तिका ही नहीं, आरामका ही नहीं, दूसरोंके पापोंके फलस्वरूप कष्ट-भोगका स्वीकार करना है। कितना महान् त्याग है।

आप निष्कामभावसे और अच्छी नीयतसे मेरा हित कर रहे हैं, और इसी बीचमें आपसे कोई गलती हो गयी तथा उसके लिये आपको संकोच भी हो रहा है, किंतु मैं यह कहता हूँ कि 'आपको संकोच नहीं करना चाहिये। आप तो मेरे ही हितके लिये कर रहे थे। भूल हो गयी, इसमें आपका कोई दोष नहीं है। यह तो मेरे भाग्यकी बात है।' इस वाक्यमें 'यह तो मेरे भाग्यकी बात है'—इन शब्दोंसे आपके मनमें यह बात आ सकती है कि 'भूल तो सर्वथा मेरी थी और इनको अपने भाग्यका दोष बताना पड़ा।' यह अच्छी नीयतका एक उदाहरण है। जिनकी अच्छी नीयत है, वे ही वस्तुतः सत्पुरुष हैं और उन्हींकी लोक-परलोकमें तथा भगवान्के यहाँ भी प्रतिष्ठा है। एक आदमीके पास पैसा नहीं है, पर वह लाखोंका व्यापार करता है और उसकी सच्ची नीयतपर विश्वास करके निर्भयताके साथ लोग उससे लाखोंका लेन-देन करते हैं। दूसरे एक व्यक्तिके पास लाखों रुपये हैं, पर वह दूसरेका धन हड़पनेकी नीयत रखता है, इसलिये लोग उससे व्यवहार नहीं रखना चाहते। लोग जानते हैं कि यह बेईमान है। रुपये हाथमें चले जानेके बाद यह लौटायेगा नहीं। इस प्रकार विचार करके उसे लोग एक पैसा भी देना नहीं चाहते और जिसपर विश्वास है, उससे आग्रह करके, बिना ब्याजके भी, अपनी रकम उसके यहाँ सुरक्षित मानकर जमा कराना चाहते हैं।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि 'जो चोरी नहीं करता, दूसरेके धनको, पदको, जमीन-मकानको, ऐश्वर्यको, किसी प्रकारके स्वत्वको हड़पना नहीं चाहता—चोरीसे, जोरीसे या ठगीसे। इस प्रकार चोरीके भावसे सर्वथा

रहित पुरुषके लिये सब जगह रत्न उपस्थित हो जाते हैं।' इसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि सब लोग उसका विश्वास करते हैं, उसकी दृष्टिमें रत्न-ही-रत्न भरे रहते हैं। दूसरेके धनको वह किसी प्रकार भी लेना नहीं चाहता। यह महान् गुण उसमें आ जाता है। इसलिये हरेक भाईको अपनी नीयत शुद्ध और शुभ बनानी चाहिये। दूसरेके धनको मलके समान समझकर उसका त्याग करना चाहिये। मल स्वयं तो गंदा है ही, परंतु यदि किसीके कपड़ेमें या शरीरपर लग जाता है तो उसे भी गंदा कर देता है। पहले अपने शरीरपर या कपड़ेपर मल लगावें और फिर उसे गङ्गा-जल या शुद्ध जलसे धोवें, यह भी प्रमाद ही है। कितना भी धोया जाय, उसकी गन्ध तो रह ही जाती है। अतएव यह समझे कि इस धनको लेकर हम किसी अच्छे काममें लगा देंगे तो यह भी भूलकी बात है। दूसरेके धनको या उसके हककी किसी चीजको मलकी भाँति छूना ही नहीं चाहिये। यदि छू जाय तो तुरंत हाथ धोकर शुद्ध करना चाहिये। अर्थात् दूसरेका धन बुरी नीयतसे तो कभी ग्रहण करे ही नहीं, परंतु जैसे गङ्गास्नान करने गये और वहाँ कोई गहना पड़ा मिल गया, उसे उसके मालिकको ढूँढ़कर दे देनेके लिये उठा लाये। मालिक मिला नहीं, ऐसी अवस्थामें उसे जब किसी पुण्य कर्ममें लगाया जाय तो अपने पाससे कुछ और मिलाकर ही लगाना चाहिये। यही छू लेनेपर हाथ धोना है। दूसरेका धन है न, उसे पुण्य करनेका भी हमें क्या अधिकार है?

प्राचीन युगमें तो इस प्रकारके पड़े हुए धनको उठाकर लानेकी भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि सभी लोग उसे विष और मलके समान समझते थे। उसपर किसीका मन चलता ही न था। पर आज कलियुगका जमाना है, अपात्रके हाथों चीज न चली जाय और उसकी रक्षा हो, इसलिये मालिकका पता लगाकर उसको सौंप देना न्याय-संगत प्रतीत होता है। अस्तु,

श्रेष्ठ नीयत अथवा उत्तम भावकी लोक-परलोक और भगवान्के यहाँ प्रशंसा—प्रतिष्ठा है। किसी मत-मतान्तरका कोई भी पुरुष क्यों न हो, अच्छी नीयतवालेकी सभी इज्जत करते हैं। इस बातको समझकर परधन, परस्त्र आदिको पाप तथा मल-मूत्रके समान त्याज्य मानना चाहिये। उत्तम भाव तो यह है कि यदि ये चीजें किसी दाताके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दानमें प्राप्त होती हों तब भी वे त्याज्य ही हैं; क्योंकि ये छूने योग्य नहीं हैं और यदि कभी इन्हें छूना पड़े तो केवल उसी अवस्थामें जब कि देनेवालेका हित होता हो। अपने स्वार्थके लिये, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये तो कभी इनको स्वीकार करे ही नहीं। इसपर यदि कोई कहे कि "दाताको हमारे स्वीकार न करनेसे दुःख हो, तथा स्वीकार करनेपर विशेष संतोष हो और इस प्रकार समझकर कोई उस वस्तुको स्वीकार कर ले कि 'हमारे निमित्तसे दूसरेको दुःख क्यों हो, हमसे सेवा तो नहीं बनती, पर हम दूसरेके दुःखमें निमित्त क्यों बनें।' इसमें जो उत्तम पात्रको देता है, उस दाताका तो कल्याण होता है, परंतु गृहीतापर तो ऋण ही चढ़ता है। उसका भार तो बढ़ता ही है न?" ऐसी बात नहीं है, जहाँ त्याग है, वहाँ दोनोंका ही कल्याण होता है। कोई कहे कि फिर वह कल्याण आता कहाँसे है? तो इसका उत्तर है कि 'वह आता है भगवान्के यहाँसे।' भगवान्के यहाँ किसी वस्तुकी कमी नहीं है, वे तो इस प्रकारकी त्यागपूर्ण बातोंको देखकर मुग्ध हो जाते हैं।

उदाहरणके लिये मान लीजिये, कोई सज्जन किसी गृहस्थके घर गये। वह गृहस्थ बड़े प्रेमसे अपना कर्तव्य समझकर, निष्कामभावसे उनका आतिथ्य करना चाहता है। अच्छा भोजन करवाना, स्वच्छ जल पिलाना

और कुछ सेवा करना चाहता है। वे सज्जन इस प्रकार अपने लिये कुछ भी करवाना भार समझते हैं, ऋण समझते हैं, इसीलिये उससे पीछे हटते हैं और हर प्रकारसे अस्वीकार करते हैं। सत्य ही कहते हैं कि 'हमने कुछ ही देर पहले भोजन किया था। जल तो पीकर ही आये हैं।' वह कहता है 'फल ही ले लें' कहते हैं—'नहीं, बिलकुल इच्छा नहीं है।' तब वह कहता है कि 'कुछ तो मेरे संतोषके लिये आपको लेना ही चाहिये। बहुत-सी चीजें हैं—लौंग हैं, इलायची हैं, सब चीजें हैं।' इसपर यदि उक्त सज्जनने लौंग, इलायची ले लीं और अपनी जेबमें डाल लीं और इतनेमें उसे संतोष हो गया तब तो ठीक ही है। पर यदि वह अपने भाग्यको कोसने लगा कि 'मैं बड़ा अभागा हूँ कि हमारे घरपर अतिथि आये, पर वे हमारा आतिथ्य किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते। मैं सोनेके लिये चारपाई लाकर रखता हूँ तो कहते हैं—'हम चारपाईपर सोते नहीं।' बिछौना लगाता हूँ तो कहते हैं कि 'बिछौना तो हमारे साथमें है।' फिर मैं क्या सेवा करूँ? जलके लिये पूछता हूँ तो कहते हैं कि 'मैं अपने आप कुएँसे निकाल लूँगा; क्योंकि मेरा ऐसा ही अभ्यास है।' फिर वह करुणा भावसे कहता है कि—'मैं किसी भी लायक नहीं, किसी भी सेवाके योग्य नहीं।' और वे सज्जन देखते हैं कि उसके करुणाभावसे आँसू आ रहे हैं, वह अपनेको अयोग्य समझकर निराशा प्रकट कर रहा है और दुखी है, तो ऐसे अवसरपर उक्त सज्जनका यह कर्तव्य हो जायगा और वे कहेंगे कि—'बोलो, तुम क्या चाहते हो?'' मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरी कुछ तो सेवा स्वीकार करें, दूध है, फल है—यही ले लें तो भी ठीक है।' इसपर वे सज्जन कहते हैं कि 'अच्छा, तो ठीक है, तुम्हारे पास इस समय जो फल, दूध या जो शुद्ध पवित्र चीज हो, वह दे दो।' यों कहकर उसके दिये हुए दूधको वे सज्जन पी लें, फल खा लें, जल भी पी लें अपनी आवश्यकतानुसार, तो वह प्रसन्न हो जाता है और वह समझता है कि मैंने अपने कर्तव्यका पालन कर लिया। इस कर्तव्यके पालनसे अपनेको वह कृतकृत्य मान लेता है।

उक्त सज्जनने उसके हितके लिये, उसके कल्याणके लिये, उसके संतोषके लिये, उसके दुःखकी निवृत्तिके लिये ये चीजें स्वीकार कीं। उन्होंने न तो अपने आराम, भोग और स्वास्थ्यके लिये वस्तुएँ लीं और न 'पैसे बच जायँगे, परिश्रम बच जायगा, दूध-फलके खानेमें आराम मिलेगा'—यह कल्पना की। केवल मात्र उसको सुख-शान्ति मिलेगी, इसीलिये यह सब स्वीकार किया। इस प्रकार निष्कामभावसे उक्त सज्जनने वस्तुएँ स्वीकार कीं तो इस निष्कामभावसे उक्त सज्जनका भी कल्याण होगा और उसका भी। महत्ता तो उत्तम भावकी है। और जिसमें अपना तनिक भी स्वार्थ नहीं है वही उत्तम भाव है—बढ़िया नीयत है। दूसरेको किसी प्रकारसे संतोष कराना ही अपना परम धर्म है। अतः वे सज्जन अपने परम धर्मको निष्कामभावसे पालन कर रहे हैं और वह भी उनको अतिथि समझकर अपने परम धर्मका निष्कामभावसे पालन कर रहा है। भगवान् न्यायकर्ता और सबके सुहृद् हैं। वे समस्त रहस्यको जाननेवाले हैं तो फिर इन दोनोंके लिये भगवान्‌के यहाँ स्थान क्यों नहीं होगा? स्थान ही नहीं, भगवान् तो मुग्ध हो सकते हैं—दोनोंकी दान तथा ग्रहणकी पवित्र क्रिया देखकर।

राज्य मुक्ति देनेवाली वस्तु नहीं है, मुक्तिको देनेवाली वस्तु तो त्याग है। अयोध्याका विशाल राज्य है। उसे भरतजी भी ठुकरा रहे हैं और भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका हरेक प्रकारसे—साम, दाम, दण्ड, भेदसे यही बर्ताव है कि भरत राज्य स्वीकार करके १४ वर्षतक राज्य करें। और भरतकी हर प्रकारसे यही चेष्टा है कि भगवान् श्रीराम ही राज

बनकर राज्य करें। आखिर, राज्य स्वीकार करना पड़ता है भरतको। पर वह जिस भावसे, जिस पवित्र परिस्थितिमें स्वीकार करना पड़ता है वह भरतके लिये कलङ्क नहीं, भरतके लिये वह आभूषण है, कल्याण-मय है। भरतजी यदि कैकेयीकी आज्ञासे राज्य करते तो उनके लिये वह कलङ्कका टीका था। दुर्गतिरूप था। लोग भी निन्दा करते कि 'माँने तो बुरा काम किया था, किंतु भरतने भी सम्मति करके उसे स्वीकार कर लिया।' भरतजी भगवान्‌से कहते हैं कि 'मैं तो ऐसा काम कर रहा हूँ जो बहुत ही निम्न-श्रेणीका है। मैं माता, पिता, गुरु और आपके वचनोंका भी उल्लङ्घन करके यहाँ आपको लेने चला आया। मैंने सबकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया और इसपर भी आप मेरी बड़ाई करते हैं कि 'भरत तेरे समान तू ही है।' तो यह तो आपका स्वभाव है। मैंने तो ऐसा कोई काम किया ही नहीं, जो प्रशंसाके योग्य हो। मैंने तो निन्दनीय कार्य ही किया है।' भरतजीका तो ऐसा ही भाव होना चाहिये, तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी भरतका यह वर्ताव बहुत ही उच्च कोटिका है। भरतजी यदि माता कैकेयीको यह कहते 'माता! तैंने मेरे लिये यह बड़ा अच्छा किया और मन्थराने भी बड़ी सहायता की।' और अपना हक समझकर राज्य स्वीकार कर लेते तो वह शास्त्रानुसार भरतके लिये दुर्गतिका कारण बनता और उनकी माता कैकेयी तथा दासी मन्थराकी भी दुर्गति होती। किंतु भरतजीने तो ऐसा पवित्र कार्य किया कि अपनी माताको भी दुर्गतिसे बचा लिया। माता-पिताकी पापमयी आज्ञाको पालन करनेवाला लड़का भी नरकमें जाता है और उसके माता-पिता भी नरकमें जाते हैं। कोई लड़का चोरी करके लाता है और उस चोरीके धनको यदि उसके माता-पिता उससे सहमत होकर घरमें रख लेते हैं तो केवल उसीके हथकड़ी नहीं पड़ती, उसके माता-पिता भी पकड़े तथा बाँधे जाते हैं। भरतजीकी नीयत कितनी ऊँची थी। उनका यही उद्देश्य था कि किसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र वापस अयोध्या लौट चलें और राज्य करें। भरतकी यह नीयत बहुत ही उत्तम मानी गयी। पर भगवान् श्रीरामचन्द्रकी यह नीयत नहीं थी कि हम जाकर राज्य करें। वे तो उसको पाप समझते हैं। भरत यदि चाहते हैं कि भगवान् अयोध्या लौटकर राज्य करें तो भरतके लिये तो यह सर्वथा शोभनीय भूषण है, उनके लिये तो यह परम कल्याण-स्वरूप है। पर यदि भगवान् श्रीराम इसे स्वीकार करें तो कलङ्क है। सबसे उत्तम नीयत वही है—जिसमें स्वार्थका सर्वथा त्याग हो, उदारता हो और पक्षपात न हो। न्यायसे ऊँचा दर्जा उदारताका है, उदारतासे ऊँचा दर्जा स्वार्थ-त्यागका है और स्वार्थत्यागसे भी ऊँचा दर्जा निष्काम-भावका है। स्वार्थत्याग तो है परंतु उसमें निष्काम-भाव नहीं है, तो वह निम्नश्रेणीकी ही चीज है। जैसे समतासे त्याग श्रेष्ठ है, ऐसे ही स्वार्थत्यागमें भी जो निष्काम भाव है, जो त्यागका भी त्याग है वही सर्वश्रेष्ठ है। जहाँ उत्तम नीयत है वहाँ सब कुछ है। बहुत उत्तम नीयत होगी तो ये सारे वर्ताव अपने-आप होने लगेंगे, उसको कुछ भी सीखना-सिखाना नहीं पड़ेगा।

भगवान् सर्व-समर्थ

चाहै सुमेरुकी छार करैं अरु छारको चाहै सुमेरु बनावै।
चाहै तो रंक तें राव करैं चहै रावकों द्वार हि द्वार फिरावै॥
रीति यही करुनानिधिकी कवि 'देव' कहै विनती मोहिं भावै।
चींटीके पाँय मैं बाँधि गयंदहि चाहै समुद्रके पार लगावै॥

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(७२)

नेत्रोंसे अविरल प्रवाह बह रहा है, अङ्गोंके वस्त्र-भूषण स्खलित हो चुके हैं, वेणी खुल गयी है, आकुलता-वश देहकी सुधि छूटती-सी जा रही है, चित्त उत्तरोत्तर विह्वल होता जा रहा है;—इस दयनीय दशामें नाग-वधुएँ अपने छोटे शिशुओंको सामने रखकर, अञ्जलि बाँधकर श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंके समीप दण्डवत् गिर पड़ीं। उन्हें बार-बार प्रणाम करने लगीं। वे जानती हैं—समस्त भूतप्राणियोंके पति, प्राणिमात्रके रक्षक ये व्रजेन्द्रनन्दन ही हैं; एकमात्र आश्रयदाता ये नन्दकुल-चन्द्र ही हैं। यद्यपि कालियने अपराध इन श्रीचरणोंमें ही किया है, अत्यन्त पापात्मा है यह। पर इन व्रजराज-नन्दनके अतिरिक्त अन्य कोई त्राता भी जो नहीं; हम सबोंको अपने पतिके लिये प्राणदानकी भिक्षा भी केवल इन्हींसे प्राप्त हो सकती है। परम करुणामय हमें निराश नहीं करेंगे, हमारी यह कामना अवश्य पूर्ण करेंगे। अतएव एक क्षण भी न खोकर वे श्रीकृष्णचन्द्रकी ही शरण ले लेती हैं—

... .

आर्त्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः॥
तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः
कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्त्तु-
र्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ३१-३२)

चौ०—छुट्टे लरिकन आगे किये। जैसैं दया फुरै हरि हिये।
नैनन तैं जलकन यों परैं। कमलन तैं जनु मुक्ता झरैं॥
बिगलित कच सु बदन छबि बढ़े।
अहि सिसु जनु कि ससिन पर चढ़े॥

× × ×

मन चित अति उद्वेग न थोरा। हरि कहँ देखि उभय कर जोरा॥
आगे धरि निज बाल अनेका। करहिं दंडवत छिति सिर टेका॥
प्रभु सरन्य बरदेस अनंता। सरन गही तिन श्रीभगवंता॥

कालियके द्वारा किये हुए अगणित अपराधोंकी स्मृति तो उनमें किञ्चित् भयका संचार कर रही है; पर साथ ही नीलसुन्दरका वह प्रसन्न वदनारविन्द प्राणोंके कण-कणमें उल्लास भर दे रहा है। इसी अवस्थामें किसी अचिन्त्य प्रेरणासे अभिभूत होकर वे सब-की-सब श्री-कृष्णचन्द्रका स्तवन करने लगती हैं—

चौ०—कछु मुद भरी कछू भय भरी। करि दंडवत स्तुती अनुसरी॥

उनके गद्गद कण्ठका वह अतिशय मधुर स्वर सर्वत्र गूँज उठता है। ह्रदके तटपर अवस्थित समस्त व्रजवासी भी प्रत्यक्ष सब कुछ देख रहे हैं, सुन पा रहे हैं—

ठाढ़े देखत हैं, व्रजवासी।
कर जोरे अहि-नारि बिनय करि कहति, धन्य अबिनासी॥

नागपत्नी सुबलाने तो श्रीकृष्णचन्द्रके पदसरोजोंको अपने अञ्जलिपुटमें धारण कर लिया है। अन्य पत्नियाँ अत्यन्त समीपमें हाथ जोड़े खड़ी हैं। तथा उन सबके ही अन्तस्तलके भाव क्रमशः एक-एकके मुखसे बाहर आकर नीलसुन्दरके चारु चरणोंमें समर्पित होने लगते हैं। वे अविराम कहती जा रही हैं—'नाथ! प्रभो! जगत्में तुम्हारा आविर्भाव ही होता है दुष्टोंका दमन करनेके लिये। अतएव मेरे स्वामिन्! सर्वथा उचित है कालियके प्रति तुम्हारा यह दण्डविधान, महान् अपराधी हमारे पतिके लिये यह शासन! अपनेसे निरन्तर शत्रुता रखनेवालेके प्रति तथा दूसरी ओर अपनी संततिके प्रति तुम्हारी नित्य समदृष्टि रहती है भगवन्! दोनोंके सम्बन्धमें कदापि तुममें भेदभावका उन्मेष नहीं होता। अपराधीको परम कृतार्थ करनेके लिये ही, उसे अपने पादपद्मोंकी शीतल शंतम छायाका दान कर अनन्त

अपरिसीम सुखमें सदाके लिये निमग्न करनेके लिये ही तुम्हारा दण्डविधान होता है ।

'अहा ! करुणावरुणालय ! कितना महान् अनुग्रह हुआ है तुम्हारा हम सबोंके प्रति, इस कालियके प्रति ! इस दण्डके रूपमें तुम्हारी परम कृपा ही तो व्यक्त हो रही है; क्योंकि यह निश्चित है—तुम्हारे द्वारा विहित दण्ड समस्त पापोंका क्षय कर देता है । देखो सही, स्पष्ट है कि पापोंके परिणामस्वरूप ही तो कालियको सर्पयोनिकी प्राप्ति हुई है, किंतु यह लो प्रभो ! तुम्हारे क्रोधमें कालियके वे पाप, नहीं-नहीं उसकी सम्पूर्ण पाप-राशि ध्वंस हो गयी ! यह केवल देखनेभरको अब सर्प रहा है, वास्तवमें तो यह जीवन्मुक्त हो चुका है । इतना ही नहीं, भक्तिकी अजस्र धारा संचरित हो चुकी है इसके अन्तस्तलमें और यह परम कृतार्थ हो चुका है । इसीलिये दयामय ! तुम्हारा दण्ड, दण्डका हेतुभूत क्रोध सर्वथा तुम्हारे अनुग्रहकी ही परिणति है । इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं ।

'अवश्य ही अतीतके किसी जन्ममें हमारी बुद्धिसे अगोचर किसी तपका आचरण इसने किया है; स्वयं अभिमानशून्य रहकर एवं दूसरोंको सम्मान-दान करते हुए उस तपमें अचल भावसे परिनिष्ठित रहा है । अथवा समस्त भूतप्राणियोंके प्रति दयापरायण रहकर किसी धर्म-विशेषका इसने अनुष्ठान किया है; जिनके फलस्वरूप तुम सर्वान्तर्यामी इसपर प्रसन्न हो उठे हो, निग्रहके रूपमें इसे अपने अनुग्रहका परम दान देने आये हो देव !

'किंतु नहीं; हम सब भूल रही हैं भगवन् ! तप-से, धर्मानुष्ठानसे ऐसे अप्रतिम सौभाग्यकी उपलब्धि कहाँ सम्भव है । यह तो निश्चय ही तुम्हारे अचिन्त्य कृपा-वैभवका ही चमत्कार है । तुम्हीं सोचो सर्वेश्वर ! तप आदिके द्वारा ब्रह्मा आदि भी जिन लक्ष्मीकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेनेकी अभिलाषा करते हैं, उन स्वयं श्रीदेवी तकने भी तुम्हारी चरणरजको स्पर्श कर लेनेका अधिकार चाहा है और फिर इस अदम्य लालसासे प्रेरित होकर वे तुम्हारे अतिरिक्त अन्य समस्त कामनाओंका परित्याग कर, विविध नियमोंका पालन करती हुई दुश्चर तपमें बहुत समयतक संलग्न रही हैं । ऐसी इतनी दुर्लभ वस्तु तुम्हारे श्रीचरणोंकी रज है ! पर यहाँ तो—बलिहारी है तुम्हारे इस अयाचित कृपादानकी !—इन चरण-सरोरुहके धूलिकणोंको स्पर्श कर लेनेका अधिकार अधम कालियको मिल रहा है ! अब कौन बतावे, कौन जानता है—कालियकी किस साधनाका यह फल है । हम सब तो समझ नहीं पातीं भगवन् !

'अहा ! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणोंकी धूलि ! जो इस परम दुर्लभ धूलिकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उनके मनमें सागरसमन्वित सम्पूर्ण धराका आधिपत्य पा लेनेकी इच्छा नहीं होती । इसकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट, जरा आदि दोषोंसे रहित देहके द्वारा एक मन्वन्तर कालपर्यन्त भोगने योग्य स्वर्गसुखकी भी कामना उन्हें नहीं होती । इससे भी अत्यधिक मात्रामें लोभनीय एवं विघ्नबाधाशून्य पातालसुख—पाताललोकका आधिपत्य भी उन्हें आकर्षित नहीं करता । इस सुखसे भी अत्यधिक महान् ब्रह्मपदको पा लेनेकी वासना भी उनमें कभी नहीं जागती । ब्रह्मपदसे भी श्रेष्ठ योगसिद्धिकी ओर भी उनका मन नहीं जाता । इससे भी श्रेष्ठ जन्ममृत्युविहीन मोक्षपद तककी इच्छा उनमें उत्पन्न नहीं होती । यह है तुम्हारी चरणरजकी शरणमें चले आनेका परिणाम प्रभो !

'अहो ! क्या ही आश्चर्य है ! उसी चरणरजको इस सर्पराज कालियने बिना किसी प्रयासके ही पा लिया । तमोमय योनिमें उत्पन्न एवं अत्यन्त क्रोधी स्वभावका होनेपर भी इसे उसका स्पर्श प्राप्त हो गया । उस चरणरजका स्पर्श कि जो श्रीदेवी आदितकके लिये परम दुर्लभ है तथा जिसे प्राप्त कर लेनेकी इच्छामात्रसे ही संसारचक्रमें भ्रमण

करते हुए जीवको सर्वविध सम्पदा—अपवर्ग तककी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है ! सचमुच कालिय-जैसे महापराधीके जीवनमें यह अनिर्वचनीय सौभाग्योदय केवल तुम्हारी कृपासे ही सम्भव है स्वामिन् !

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मि-
स्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे-
र्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥
अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥
तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं
निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया
यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥
कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥
न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥
तदेष नाथाप दुरापमन्यै-
स्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो
यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ३३–३८)

चौ०—अहो नाथ यह दंडन जोगू। न्याय दंड यह भयो निरोगू॥
तव अपराध कीन एइ भारी। जोग्य दंड एहि दियो मुरारी ॥
सुत अरु रिपु एक सरिस तुम्हारे। तद्यपि खल तुम अमित संघारे
खल निग्रह हित यह अवतारू। हरि महि भार उतारन हारू॥

छं०—एहि दंड जु दीना अति भल कीना परम अनुग्रह मैं माना ।
तव पगतल धूरी भव रुज मूरी लहैं न सूरी श्रुति गाना ॥
इन निज सिर धारा पुण्य अपारा कै व्रत दान करेउ ध्याना ।
यह सर्प कुजाती अघ भव पाती सो जरि गौ अब मैं जाना ॥
यह नाम जु काली परम कुचाली परि पूरव तप कृत रासी ।
कै तजि मद माना जप कछु ठाना कै तीरथको है वासी ॥
कै धौ यह दानी जन सनमानी कै जानी इन अबिनासी ।
या की सुभ करनी जात न बरनी पाय धरे सिर भय नासी ॥
हे देव! मुकुंदा ! आनँदकंदा ! अहि मतिमंदा क्रूर महा ।
एहि सुकृत पुराना हम नहिं जाना तव पद-पंकज सीस लहा ॥
निति करि तप भारी अज असुरारी चाहत जासु प्रसाद सदा ।
सो रमा सदा ही हिय उमगाही तव पद-पंकज-आस मुदा ॥

दो०—रमा आदि जेहि परस हित, करहि सदा व्रत नेम ।
अहो सर्प सठ भाग की, परस्यो पद बिनु प्रेम ॥

सो०—ऐसी मोहि लखाइ, नहिं तपादि कारन कछू ।
तव कृपालुता गाइ, कहत वेद कछु मिति नहीं ॥

चौ०—जे तव पद रज सरन गहाही। ते कछु अपर न सुख ललचाही
नाक लोक सुर ईस निकेता। एक चक्र भू धन सुख जेता ॥
नागलोक सुख अमित प्रकारा। योगसिद्धि फल कहे अपारा ॥
मुक्ति चाह नहिं तिन कहुँ कबहूँ। तव पद-पंकज मैं सुख सबहूँ॥
अखिल लोक तेहि तुच्छ समाना। जिन किय कंज-रसासव पान
अहि मलीन पति नाथ हमारा। विष अति घोर मूढ तम भारा॥
सो रज विनु प्रयास इन पावा। तासु भाग्य कौ को कवि गावा ॥
जो रज हित करि जतन अनेका। करत योग गहि नेम विवेका ॥
सो इन बिना जतन सिर धरेऊ। भव-रुज रोग सकल परिहरेऊ॥

नागवधुओंका अन्तस्तल सदाके लिये आलोकित हो चुका है । ज्ञान-विज्ञानकी रश्मियोंमें वे व्रजेन्द्रनन्दनकी अपरिसीम भगवत्ताका दर्शन कर रही हैं । जहाँ जिस ओर जिसकी चित्तवृत्ति डूब रही है, उसीका आभास उसकी वाणी ग्रहण कर लेती है, उसीका उल्लेख स्तवनमें होने लगता है और आगे चलकर तो विह्वलतावश, प्रेमवश उन्हें यह भी भान नहीं रहता कि ये क्या कह रही हैं, कहीं व्यक्त हुई भावनाकी ही पुनरावृत्ति तो नहीं कर रही हैं । वे तो बस, कहती ही चली जा रही हैं और नीलसुन्दरके पादपद्मोंमें बार-बार नमस्कार समर्पण कर रही हैं—

'भगवन् ! तुम अनन्त ऐश्वर्य-निकेतन हो, सर्वान्तर्यामी हो, अपरिच्छिन्न हो, सर्वभूताश्रय हो, सबके आदि हो,

सर्वकारणकारण हो, कारणातीत हो। तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम है!

'तुम ज्ञान-विज्ञान-निधि हो, सजातीय-विजातीय भेदरहित हो, अनन्तशक्तिशाली हो, प्राकृत गुणरहित हो, अविकारी हो, अप्राकृत गुणगण-समलङ्कृत हो! तुम्हें नमस्कार है!

'तुम कालस्वरूप हो, कालशक्तिके आश्रय हो, कालके अवयव निमेष आदिके साक्षी हो, विश्वरूप हो, विश्वान्तर्यामी हो, विश्वकर्ता एवं विश्वकारण हो। तुम्हें हमारा वन्दन है!

'विभो! पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, दशेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—इन सबके रूपमें तुम्हीं विराजित हो। त्रिगुणसे होनेवाले देहादिमें अभिमानके द्वारा तुमने आत्मतत्त्वज्ञानको आवृत कर रक्खा है! तुम्हारे श्रीचरणोंमें नमन है।

'तुम अनन्त हो, अज्ञेय हो, उपाधिकृत विकाररहित हो, सर्वज्ञ हो, विभिन्न मतवादियोंकी भावनाके अनुरूप ही रूप धारण करते हो। तुम्हीं शब्दोंके अर्थके रूपमें हो एवं शब्द भी तुम्हीं हो, इन दोनोंको सन्धित करनेवाली शक्ति भी तुम्हीं हो। तुम्हें नमस्कार है!

'तुम समस्त प्रमाणोंके मूलस्वरूप ह., स्वत:सिद्ध ज्ञानवान् हो, शास्त्रोंके उद्भवस्थान हो, तुम्हीं प्रवृत्तिशास्त्र हो, तुम्हीं निवृत्तिशास्त्र हो, इन दोनोंके मूलस्वरूप निगम—वेद भी तुम्हीं हो। तुम्हें नमस्कार, नमस्कार है प्रभो!

'तुम्हीं वासुदेव हो, तुम्हीं संकर्षण हो, तुम्हीं प्रद्युम्न हो, तुम्हीं अनिरुद्ध हो, इस प्रकार चतुर्व्यूहरूप एवं भक्तोंके स्वामी, यादवपति श्रीकृष्णचन्द्र! तुम्हें नमस्कार है!

'तुम अन्त:करणके, अन्त:करणकी वृत्तियोंके प्रकाशक हो, उन्हींसे अपने आपको आवृत भी रखते हो। उन्हींके द्वारा तुम्हारा संकेत भी तुम उनके साक्षी हो, स्वयंप्रकाश हो।

'अतर्क्य महिमा है तुम्हारी नाथ! समस्त स्थूल-सूक्ष्म जगत्की सिद्धि तुमसे ही है प्रभो! तुम आत्माराम हो, आत्मारामस्वभाव हो। हृषीकेश! तुम्हें हमारा वन्दन स्वीकार हो!

'तुम स्थूल-सूक्ष्म गतियोंके ज्ञाता हो, सर्वाधिष्ठाता हो, विश्वसे अभिन्न हो, पर साथ ही विश्वातीत हो, विश्वद्रष्टा हो, विश्वहेतु हो। तुम्हें नमस्कार है स्वामिन्!'

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने॥
ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च॥
कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे॥
भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥
नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः॥
नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे॥
अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने॥
परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ३९–४८)

छं०—तव पद नमामि अनंत। भगवंत कमलाकंत॥
तुम पुरुष परम सुजान। जेहि महत करि श्रुति गान॥
अग जग सकल तव वास। सबके परे सुख रास॥
चर अचर कहँ तुम हेतु। निज संत कहँ सुख देतु॥
तुव आदि अंत न जान। जेउ निपुन जग महँ ज्ञान॥

इम नारि सब बिधि हीन। तव चरन अब दग दीन ॥
तुम ज्ञान रूप जु ईस। हम नमहि पद धरि सीस ॥

छं०—तुम ज्ञान घन विज्ञान रूप सरूप ब्रह्म नमामि हे।
तुम अगुन सगुन सरूप सुंदर सकल सन्निधिवान हे ॥
प्रभु कालरूप सरूप अद्भुत भुवन संभवपाल हे।
तुम कालहू के परम साक्षी विश्वरूप नमामि हे ॥
तव पाद नुति करि बार बार उदार द्रष्टा जगत के।
तव पद नमामि वदामि किमि गुन अखिल सुखप्रद भगत के
छिति आदि पंच प्रपंच रचना सकल तव वपु नाथ हे।
दस प्रान इंद्री बुद्धि मन चित सकल तुम व्रजनाथ हे ॥

चौ०—नमो त्रिगुण सत्वादि स्वरूपं। नमो अहंकृत ईश अनूपं ॥
नमो महत प्रकृतिन के ईसा। नमो सकल कर्ता जगदीसा॥
जय कूटस्थ अनंत एक रस। जय सूछम सर्वज्य विश्वबस ॥

छं०—षटशास्त्र विचार विचारि रहैं। तव भूति न तद्यपि कोउ लहैं
नत वाचक वाच्य सरूप करं। जग वंदित रूप परेस परं ॥
दग आदि सरूप नमामि विभो। तिनतें निरपेछिक रूप प्रभो
तव स्वास लवैं निगमादि हरे। तिनमें हूँ भेद प्रसिद्ध करे ॥
जय कृष्न किसोर नमामि पदं। भव खंडन राम महा विपदं॥
जय वासुदेव पद कंज नमो। परद्युम्न विभो अपराध छमो॥
अनिरुद्ध सुखाकर रूप हरे। पति पेगुन नाथ छिमा जु करे॥
जय भक्तनके यदुनाथ प्रभो। पदकंज नमामि नमामि विभो॥
हिय अंतहकरन चतुर्विध जो। तुम कारन रूप सदा सब जो॥

दो०—अग जग के अंतहकरन, सकल प्रकाशक नाथ।
सबके साक्षी रूप तुम, मम पति भयो सनाथ ॥

सो०—मन अरु बुद्धि विचार, नाहिं गोचर तव रूप हरि।
कहि कईं यह अविकार, तव महिमा कहुँ को लखै ॥

इस प्रकार कालियपर किये गये शासनका अनुमोदन एवं श्रीकृष्णचरणसरोजोंमें शत-सहस्र प्रणाम निवेदन करनेके अनन्तर अब अन्तमें नागवधुएँ प्राणियों-की [illegible] संकेत करती हुई कालियको क्षमा करनेके लिये, उसे प्राणदान देनेके लिये व्रजेन्द्रनन्दनसे [illegible] करती हैं—

'सर्वेश्वर! तुम अनीह—इच्छारहित हो। तथापि अनादि कालशक्तिको स्वीकार करते हो! और फिर हे [illegible]! सत्यसंकल्प! अपने ईक्षणमात्रसे संस्काररूपमें विद्यमान प्राणियोंके स्वभावको जाग्रत् कर देते हो; जाग्रत् करते हुए इस परिदृश्यमान विश्वका सत्त्वादि त्रिगुणोंके द्वारा सृजन-पालन एवं प्रलय करते हो!

'भगवन्! त्रिलोकीकी तीनों योनियाँ—सत्त्व-प्रधान शान्त, रजोगुणप्रधान अशान्त, तमःप्रधान मूढ़—तुम विश्वनिर्माताकी ही लीलामूर्तियाँ तो हैं! तथापि संतजनोंका, धर्मका परिपालन करनेकी इच्छासे तुम अवतरित हुए हो। इसीलिये उनकी रक्षाके लिये आविर्भूत हुए तुम लीलामयको इस समय सत्त्वप्रधान शान्तजन ही प्रिय हैं, अन्य नहीं देव!

'शान्तात्मन्! स्वामीके लिये, पालकके लिये आखिर एक बार तो अपनी प्रजा, संतानके द्वारा किया हुआ अपराध क्षमाके योग्य है ही। इसीलिये स्वामिन्! क्षमा कर दो इस मूढ़के द्वारा किये हुए अपराधको भी। तुम्हें यह पहचानता नहीं नाथ!

'हे परमदयालो! सर्वज्ञशिरोमणे! इस सर्पका प्राणान्त बस हो ही चला है। कृपा, कृपा करो नाथ! साधु पुरुष हम अबलाओंपर सदा ही दयार्द्र रहते हैं। बस अब, अब विलम्ब मत करो भगवन्! प्राणतुल्य पतिको हमें भिक्षामें दे दो दयामय!

'स्वामिन्! हम तुम्हारी दासियाँ तुम्हारे समक्ष उपस्थित हैं, हमारे योग्य सेवाका निर्देश करो देव! क्योंकि तुम्हारे आदेशका श्रद्धासहित पालन करते ही कोई भी व्यक्ति समस्त भयसमूहोंसे त्राण पा लेता है प्रभो!—

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो
गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः
समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥
तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां
शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां
स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥

अपराधः सकृद्भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः॥
अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥
विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतोभयात्॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ४९-५३)

छं०—प्रभु कारन कारज रूप नमो। गोजाल प्रवर्तक नाथ नमो।
जग संभव पालन आपु करो। पुनि अंत समैं निज माहिं धरो॥
गुन ईस नियंता नाथ हरे। पद द्वंद नमामि दया जु करे।
जग आदि समैं पुनि नाथ तुँही। जस जासु अदिष्ट सच्यो सबही॥
प्रतिबोध करावत हो तुम ही। पदकंज नमामि कृपा कर ही।
गुहितें जगजीव जहाँ लगि जे। सबके करता तुम नाथ अजे॥
कोउ संत असंत जु मूढ़ महा। जस संचित है तस रूप लहा।
तव क्रीडा साधन हैं सिगरे। सबके तुम रच्छक एक हरे॥
हित साधुन के अवतार स्वयं। तेहि रच्छक हौ सुख कंदमयं।
खल खंडन मंडन भूमि भ्रजं। श्रुति धर्म परायन त्रान अजं॥

छं०—विनती प्रभु मोरी सुनिय बहोरी नंदसुअन सुखकंदा।
अहिजाति कुजाती अघ मैं ख्याती रचेहु मोर पति मंदा॥
यह प्रजा तिहारी छमहु विचारी सुत पितु इव जदुनंदा।
तुम सीलनिधाना छमा प्रधाना छमहु नाथ यह अति मंदा॥
छं०—तुम दीन दयाला होहु कृपाला न तरु तजै यह प्रान प्रभो।
हम कँह बड़ सोचू तिय मति पोचू दीजै पति यह दान विभो॥
पद पंकज दासी हे अविनासी जानि हमैं अब पाहि प्रभो।
तव आज्ञाकारी रहहि मुरारी नाथ कृपा पति छाड़ि त्रिभो॥

नागसुन्दरियोंका यह स्तवन समाप्त होते-न-होते नीलसुन्दरके अरुणिम अधरोंपर समुज्ज्वल स्मित भरने लगता है। अन्तर्हृदयमें उठी हुई करुणाकी ऊर्मियाँ श्यामल अङ्गोंको चञ्चल करने लगती हैं। पुनः पीत दुकूल झलमल करने लगता है और देखते-ही-देखते वे कालियके फणोंसे उतर आते हैं—

तिय प्रेम सौं रचि बैन। मुसक्याइ राजिव नैन।
करुना उठी अति अंग। दिय छाँड़ि नाग अभंग॥

प्रभु जो करते हैं सो सब भलेके लिये

(लेखक—स्वामी श्रीचिदानन्दजी)

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥
(श्रीमद्भा० ३ । १६ । ३७)

त्रिलोकीके स्वामी ब्रह्माके रूपमें विश्वका सृजन करते हैं, विष्णुरूपसे उसका पालन-पोषण करते हैं और रुद्ररूप धारण करके विश्वका संहार भी वही करते हैं। भगवान्‌की मायाका पार बड़े-बड़े योगीश्वर भी नहीं पा सकते। तात्पर्य यह है कि मायापतिकी शरणमें गये बिना उनकी दुस्तर मायाको पार पानेका दूसरा कोई साधन नहीं, केवल पुरुष-प्रयत्नसे उसका पार नहीं पाया जाता।

इस प्रकार सर्वसमर्थ सर्वसत्ताधीश परमात्मा स्वयं हमारा कल्याण करनेके लिये तैयार हैं तथापि मनुष्य जो यह सोचता है कि मेरा क्या होगा? उसका कुछ अर्थ नहीं, अर्थात् उसकी चिन्ता निरर्थक है—बेकार है।

जिस बालकके माता-पिता जीते हों, उसको अपनी चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता? माता-पिता उसका सब प्रकारसे ध्यान रखते हैं और उसका हित ही करते हैं, परंतु जो बालक नासमझ होता है, वह माता-पिताके शुभ विधानको नहीं समझता। माता जब अच्छा भोजन देती है, तब तो बालक जरूर प्रसन्न रहता है; परंतु वही माता जब उसकी ठीक खोज-खबर लेती है, उसके आरोग्यकी रक्षा करती है, उसको रगड़कर नहलाती है तब वह रोने लगता है और समझता है कि माता उसके साथ क्रूर व्यवहार करती है।

इस प्रकार हम जबतक ईश्वरकी महिमा नहीं

समझते और समझकर जबतक उसको हृदयमें नहीं उतारते, तबतक बालकके समान, ईश्वरके प्रत्येक विधानमें हमारा कल्याण ही भरा हुआ है—इस बातका निश्चय हमको नहीं हो सकता।

जबतक सारे व्यवहार हमारी इच्छाके अनुकूल चलते रहते हैं, तबतक हम ईश्वरके विधानमें विश्वास रखते हैं। परंतु जब हमारी इच्छा या समझके विरुद्ध ईश्वरका विधान दिखलायी देता है तब हमारी ईश्वरके प्रति श्रद्धा डिग जाती है और हम ईश्वरके प्रति क्रूर, घातकी या निर्दय आदि अनेक विशेषण लगा देते हैं।

ऐसी मानसिक स्थिति जबतक है, तबतक हम भले ही अपनेको आस्तिक मानें और संसार भी भले ही हमें आस्तिक समझे, पर हम वास्तवमें आस्तिक नहीं हैं, बल्कि नास्तिक हैं; क्योंकि हमारा ईश्वरमें सर्वदा और सर्वथा विश्वास नहीं रहता।

आस्तिककी व्याख्या करते हुए एक संत कहते हैं—

'मैं हरिका, हरि मेरे रक्षक, यह भरोस नहिं जाय कभी।
जो हरि करते, सो मेरे हित यह निश्चय नहिं जाय कभी॥'

इस सच्ची आस्तिकताको स्पष्ट करनेके लिये आज हम 'भगवान्‌का विधान सदा ही मङ्गलमय होता है'—इस बातको कुछ दृष्टान्तोंके द्वारा समझानेका प्रयत्न करेंगे। और इतना ही यदि निश्चय हो जाय और हृदयमें उतर जाय और चाहे कैसी भी विषम परिस्थिति क्यों न आवे, श्रद्धा, विश्वास न डिगे तो फिर मुक्तिके लिये किसी दूसरे साधनकी आवश्यकता न होगी। भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
(गीता ५।१९)

'सर्ग' यानी उत्पन्न होना। जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु अनिवार्य है। इस प्रकार सर्गका अर्थ हुआ जन्म-मरणका बन्धन। जन्म-मरणके चक्रसे छूट जानेका नाम ही मुक्ति है। इसीसे भगवान् यहाँ कहते हैं कि जिसका मन सुख-दुःखमें सम रह सकता है, उसने तो इस शरीरसे ही जन्म-मृत्युको जीत लिया है, अर्थात् वह जन्म-मरणकी प्रणालीसे छूट जाता है।

ईश्वरका प्रत्येक विधान हमारे हितके लिये है, इसका जब पक्का निश्चय हो जाता है, तब दुःख-जैसा शब्द भी हमारे लिये निरर्थक हो जाता है। हमको माता जब मनचाहा भोजन खिलाती है उस समय जिस प्रकार हम प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार जब हमें ज्वर आता है और माता कड़वी औषध पिलाती है, उस समय भी उतनी ही प्रसन्नता होती है; क्योंकि हम जानते हैं कि वह हमारे हितके लिये ही है। इसलिये अनुकूल दीख पड़े या प्रतिकूल—दोनों ही अपने हितके लिये हैं—ऐसा जिसका दृढ़ विश्वास है उसके लिये फिर अनुकूलता और प्रतिकूलता देखनेकी दृष्टि नहीं होती। 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्'—जो अनुकूल लगता है, उसको हम सुख कहते हैं और 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'—जो प्रतिकूल लगता है, उसको हम दुःख कहते हैं। इस प्रकार जिसको ईश्वरके विधानमें विश्वास है, उसके लिये फिर दुःख-जैसी कोई वस्तु ही नहीं होती। उसके लिये तो प्रत्येक परिस्थिति ही अनुकूल है—सुखमय है।

एक छोटे-से गाँवमें एक व्यापारी था। उसके पास रुपयोंकी कुछ बहुतायत हो गयी, उनसे उसने माल खरीदनेका तथा शेष रुपये एक साहुकारके यहाँ अमानत रखनेका विचार किया। दूसरे दिन खूब तड़के जाना है, ऐसा निश्चय करके वह रातको सो गया। रातको पेशाब करने उठा और अँधेरेमें सीढ़ीसे सरककर गिर गया। चोट लगी, पर प्राण बच गये। लेकिन इससे दूसरे दिन उसका शहरका जाना रुक गया।

उस गाँवमें एक विश्वासी भक्त रहता था और वह सेठके घर कभी-कभी आया-जाया करता था। जब सेठके गिरनेकी बात सुनी तो वह भक्त दूसरे दिन उसके घर गया। सेठने भक्तसे सारी बातें कहीं तो भक्तने

कहा—'ईश्वर जो करता है सब भलेके लिये।' यह सुनते ही सेठको बड़ा क्रोध आया। परंतु क्रोधको कुछ दबाकर वह बोला—"भगत! तुम तो एकदम गँवार ही हो, मुझे इतनी चोट लगी कि मेरा दूसरे गाँवका जाना रुक गया और मेरा जरूरी काम बिगड़ गया और तुम कहते हो कि 'जो ईश्वर करता है सब भलेके लिये।' यह मैं कैसे मानूँ? अबतक तो ईश्वरने मेरा कोई भला किया हो यह देखनेमें नहीं आया; बुरा किया है, सो तो प्रत्यक्ष है।"

प्रत्युत्तर देते हुए भगतने कहा—'सेठ! तुम्हारी दृष्टि केवल वर्तमान कालको ही देख सकती है, भविष्यके गर्भमें तुम्हारी दृष्टि नहीं पहुँचती। इसीसे तुम ऐसा कह रहे हो; परंतु मैं तो अब भी कहता हूँ कि भगवान् जो करता है, वह हमारे हितके लिये ही होता है, भले ही हम उसे न देख सकें।'

कुछ दिनों बाद भगत सेठके यहाँ गया, तब सेठने उसके पैरोंमें पड़कर कहा—'भगतजी! तुम्हारी सब बातें सच्ची हैं। यदि मैं उस दिन नहीं गिरा होता तो मैं जरूर शहरकी ओर गया होता और मेरी मृत्यु हो गयी होती तथा साथ ही बहुत-सा धन भी चला जाता। ठगोंको मेरे जानेकी खबर लग गयी थी और उन्होंने मुझे मारकर मेरा धन लूट ले लेनेकी पूरी साजिश की थी, परंतु ईश्वरने मेरी यात्रा रोककर मुझे बचा लिया। शूलीके कष्टको काँटा गड़ाकर ईश्वरने दूर कर दिया और मैं मूर्ख काँटा गड़ जानेके कारण अपनी लापरवाही-को दोष देनेके बदले ईश्वरको दोष देने लगा!'

× × ×

एक छोटे-से राज्यका राजा था। वह एक दिन अपने दरबारमें बैठा था। किसीने लाकर उसे एक तलवार भेंट की। राजा उसे म्यानसे निकालकर धीरे-धीरे अँगुलीसे उसकी धार देखने लगा, जरा जोर लग गया। अँगुली कट गयी। पास ही भगवान्‌का विश्वासी दीवान बैठा था। इससे सहज ही उसके मुँहसे निकल गया—'ईश्वर जो करता है, सब भलेके लिये करता है।' फिर दीवानने अपना साफा फाड़कर अँगुलीका खून पोंछ दिया, खून बहना बंद होनेपर गीले कपड़ेकी पट्टी बाँध दी, इतनी तात्कालिक सेवा करनेपर भी राजाके क्रोधका पारावार न रहा। वह बिगड़ उठा,—'अरे दुष्ट दीवान! मुझे इतना कष्ट हुआ और तू कहता है कि ईश्वर सब भला करता है! मेरा दुःख देखकर दुखी होनेके बदले तू प्रसन्न हो रहा है? तुझे मैं मार ही डालता, पर इतने दिनों पास रहा, इससे जेलमें भेजता हूँ।' यों कहकर राजाने सिपाहियों-को आदेश दिया। वे दीवानको पकड़कर कारागारमें ले गये।

तनिक भी दुखी न होकर दीवान जाते समय राजाके पैर छूकर यह कहता हुआ चला गया कि—'भगवान् जो करता है, सब भलेके लिये करता है।'

राजा एक दिन शिकारके लिये गया। सिपाही पीछे रह गये। राजा जंगलमें अकेला रह गया। कुछ लुटेरोंने आकर राजाको पकड़ लिया और उसे उसीके घोड़ेपर बाँध दिया और देवीके मन्दिरकी ओर ले गये।

लुटेरोंने देवीको एक नरबलि देनेकी मानता मानी थी और इसी कामके लिये वे राजाको पकड़ ले गये थे। नंगी तलवार लेकर दो आदमी उसके दोनों ओर खड़े हो गये। पुजारीने आकर राजाका शरीर देखा तो उसके हाथकी एक अङ्गुलिमें पट्टी बँधी थी, उसने पट्टी खोलकर देखा तो अँगुली कटी दिखायी दी। पुजारीने कहा, 'इसका अङ्ग खण्डित है, इसलिये इसकी बलि नहीं लग सकती' और वह छोड़ दिया गया। राजा छूटते ही घोड़ेपर सवार होकर सीधा जेलखाने पहुँचा।

राजाने दीवानको जेलसे बाहर निकलवाकर उसे छातीसे लगा लिया। दीवानने हाथ जोड़कर अभिवादन किया। राजाने सब बातें सुनाकर कहा, मेरी अँगुली

कटनेके कारण मैं तो मौतके मुँहसे बचा, इसलिये मेरे विषयमें तो 'ईश्वर जो करता है, सब भलेके लिये'— यह तुम्हारी बात ठीक निकली, परंतु तुम्हारा तिरस्कार करके मैंने तुम्हें जेलखानेमें डलवा दिया तब भी तुमने कहा कि 'ईश्वर जो करता है सब भलेके लिये'—तो इसमें तुम्हारा क्या भला हुआ ?

दीवानने कहा—'राजन् ! मेरा भला तो प्रत्यक्ष है फिर भी आपने कैसे नहीं समझा ? आप शिकारको जब भी जाते, मैं साथ रहता, वे लुटेरे हम दोनोंको पकड़ ले जाते । आपकी अँगुली कटी होनेके कारण आपको तो छोड़ देते, परंतु मुझको तो मरना ही पड़ता । इस प्रकार मेरे विषयमें भगवान्ने आपके द्वारा तिरस्काररूपी मानसिक उत्पात पैदा करके, मुझे शारीरिक मृत्युसे बचा लिया ।' इस प्रकार ईश्वर शूलीके विघ्नको सूईसे दूर कर देता है, परंतु हमारी दृष्टिकी सीमा वर्तमान-कालपर्यन्त ही होती है, इसलिये हम उसका अनुभव नहीं कर सकते । ईश्वरके मङ्गलमय विधानमें जिसका विश्वास है, वह इसका अनुभव अवश्य कर सकता है ।

प्रसङ्ग बहुत बढ़ता जा रहा है, परंतु एक प्रत्यक्ष घटनाका उल्लेख किये बिना मैं नहीं रह सकता । आज-से दस वर्ष पहलेकी बात है, हम भावनगरमें एक गृहस्थके यहाँ थे । जहाँ मेरा आसन था, उस कमरेकी खिड़कीमें दो रस्सियाँ लटक रही थीं । एक गौरैयाका ध्यान उसके ऊपर गया और उसे जगह अनुकूल दिखायी दी, इससे उसने उस रस्सीके ऊपर एक घोंसला बनाया । शामको घरका मालिक मेरे पास बैठनेके लिये आया और उसकी दृष्टि उस घोंसलेपर पड़ी । उसने कहा—'स्वामीजी ! इस गौरैयाने यहाँ घोंसला बनाया है, परंतु इस खिड़कीके ऊपर तो रोज रातको एक बिल्ली चढ़ती है, इसलिये वह गौरैया और उसके अण्डोंका नाश कर डालेगी । गौरैयाका प्राण बचाना है तो उसके घोंसलेको नष्ट कर देना होगा और घोंसला तोड़नेपर गौरैयाके कष्टका मुझे पाप लगेगा । आप ही बतलाइये, मुझे क्या करना चाहिये ?'

जवाब देते हुए मैंने कहा—'भाई ! ईश्वरकी क्रिया सामने नहीं दीखती, परंतु उसका भाव सामने दीख पड़ता है । तुम गौरैयाका प्राण बचानेके लिये घोंसला तोड़ते हो, इसलिये तुम भगवान्की दृष्टिमें पापी नहीं हो । इसमें गौरैयाको सतानेका पाप तुम्हें नहीं लगेगा; क्योंकि तुम्हारा उद्देश्य दोषरहित है ।'

ईश्वर तो जो करता है सब भलेके लिये होता है, परंतु इस बातकी हमें खबर नहीं होती है, इसलिये हम गौरैयाके हेतु दुःख करते हैं और ईश्वरको निर्दयी कहते हैं ।

उपसंहारमें यह कहना है कि जो मनुष्य प्रतिदिन नहा-धोकर, पवित्र होकर, ईश्वरकी मूर्तिके सामने बैठकर, घीका दीपक और अगरबत्ती देवताको अर्पितकर इस प्रकार विचार करे तो निश्चय ही ईश्वरके विधानमें अचल श्रद्धा हुए बिना न रहेगी । साधन करना होगा, केवल पुस्तक पढ़नेसे काम न चलेगा । जैसे पकवानका नाम लेनेसे पेट नहीं भरता, उसी प्रकार क्रिया-साधनके बिना कोई फल नहीं मिलता । पेट भरनेके लिये जैसे भोजन-क्रिया आवश्यक है, उसी प्रकार साधन भी करनेकी वस्तु है, केवल बाँचने या चर्चाकी वस्तु नहीं ।

वह विचार इस प्रकार है—'हमारे सुख-दुःखका विधान तो हमारे पूर्वजन्ममें किये कर्मोंके फलस्वरूप ही होता है । इसलिये दुःखका जो भोग आता है वह किसी दूसरेका दिया हुआ नहीं है, बल्कि अपने-आप कर्म-फलके रूपमें आता है, तो फिर दुःखके समय उद्वेग करना मूर्खताके सिवा और क्या है ?'

और सुख-दुःखका विधान स्वयं ईश्वर करता है, इसीसे वह जगन्नियन्ता कहलाता है । नियन्ता तो ईश्वर है, यह हम जानते हैं, परंतु सभी अपनी-अपनी

शक्तिके अनुसार नियमन करते हैं। ईश्वर पुनः सर्वशक्तिमान् भी है, अतएव अमुक कार्य उससे हो सकता है या नहीं—यह प्रश्न ही नहीं उठता। अब यदि यह मानें कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् तो है, पर उसके सेवक या प्रतिनिधि तो भूल कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि 'भगवान् सर्वव्यापक हैं, इसलिये हमारा कोई कार्य करनेके लिये उनको दौड़ना नहीं पड़ता और इस कारण उनको किसी नौकरकी जरूरत ही नहीं पड़ती।' 'परंतु उनकी जानकारीके बिना यदि कोई अन्याय हो जाय तो क्या हो?' इसका उत्तर यह है कि 'परमेश्वर सर्वज्ञ हैं, उनकी जानकारीके बिना तिनका भी हिल नहीं सकता। इसलिये उनसे कुछ छिपा नहीं रह सकता। इतना होनेके साथ ही प्रभु हमारे 'सुहृद्' हैं 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'—वे जो कुछ भी विधान करेंगे, उसमें निश्चय ही हमारा मङ्गल—हित ही होगा।'

इस प्रकार पवित्र हृदयसे नित्यसुहृद् ईश्वरके सान्निध्यका अनुभव करते हुए दीर्घकालतक, निरन्तर शान्त और प्रसन्न चित्तसे विचार करते रहनेसे दृढ़ता अवश्य आयेगी और अचल दृढ़ता होते ही जीवन धन्य हो जायगा।

इस विचारको स्थिर करनेके हेतु नीतिकार कहते हैं—

येन शुक्लीकृताः हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते श्रेयो विधास्यति॥

जिस प्रभुने हंसोंको सफेद बनाया और शुकको हरे रंगका बनाया तथा मयूरको विभिन्न रंगोंसे चित्रित किया, वे समर्थ प्रभु तुम्हारे हितचिन्तक हैं और तुम्हारा कल्याण ही करेंगे। फिर तुम्हें चिन्ता किस बातकी?

एक हिंदी कविने इसी भावको बहुत सुन्दर रीतिसे दर्शाया है—

अमर बेलि बिन मूलकी प्रतिपालत जो ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तज का ढूढ़त जग माँहि॥

रहीम कवि कहते हैं कि बिना जड़वाली अमरबेलका जो प्रतिपालन करता है, इस प्रकारके सर्वसमर्थ प्रभुको छोड़कर तू संसारमें दूसरे किसकी आशा करता है?

रन, वन, व्याधि विपत्तिमें रहिमन परयो न रोय।
जो रच्छक जननी जठर सो हरि गये न सोय॥

रहीम कहते हैं कि रण, वन, व्याधि और विपत्तिमें पड़नेपर रोओ मत। जो प्रभु माताके गर्भमें रक्षा करते हैं, वे क्या उसको नहीं देखते। अर्थात् वे दयालु प्रभु सब कुछ देखते हैं और अवश्य ही कल्याण करेंगे।

नरहरिः कुरुतां जगतां शिवम्।

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्त मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम्॥
मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून् रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।
तस्माद्वाचमुषतीमुग्ररूपां धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत॥

जो मनुष्य मर्मको पीड़ा पहुँचानेवाली, कठोर और रूखी वाणी बोलता है और काँटे-जैसे वचनोंसे मनुष्योंको दुःख पहुँचाता है, उसे अमङ्गलयुक्त तथा मुखमें मृत्युको धारण करनेवाला समझना चाहिये। रूखे वचन मनुष्योंके मर्म, अस्थि, हृदय और प्राणोंको जला देते हैं; अतएव धर्मनिष्ठ पुरुषको तीखी तथा रूखी वाणीका सदा-सर्वदा त्याग करना चाहिये।

विज्ञानका भविष्य

(लेखक—श्रीजयप्रकाशजी एम्० ए०)

मनुष्यके बौद्धिक विकासमें विज्ञान एक अपूर्व चेतना है। उसने मनुष्यके विकासमें अतिशय सहयोग दिया है तथा उसकी बुद्धिको परिष्कृत कर उसे रहस्यमय प्रकृतिपर विजय पानेके लिये पर्याप्त शक्तिशाली बना दिया है। लेकिन अभ्युदयकी इस पृष्ठभूमिमें विज्ञानका जो धाराप्रवाह है एवं पिछले दो सौ वर्षोंमें उसका जो उत्कर्ष हुआ है, उसने मनुष्यको अत्यन्त विक्षिप्त कर दिया है। इसमें संदेह नहीं है कि विज्ञान विकासके उस कालसे गुजरने लगा है जब कि बहुत सम्भव है वह अपनी संयत प्रौढ़ताके सहारे विकासके उच्चतम शिखरपर चढ़ जाय, या फिर डर है कि कहीं उच्छृंखलताके उन्मादमें आत्महत्या न कर ले और इस प्रकार उसकी भित्तिपर टिकी हुई सभ्यता समाप्त न हो जाय। वस्तुतः आजके मनुष्यके समक्ष यही प्रश्न है कि क्या उसके विकासका पर्यवसान विज्ञान है अथवा उसकी बौद्धिक प्रगति विकासकी एक सीढ़ी है जिसका अन्तिम लक्ष्य एक महान् आध्यात्मिक चेतना है ?

उपर्युक्त दो विभिन्न धारणाओंको लेकर वैज्ञानिकोंमें बड़ा मतभेद है। साधारण मनुष्य तो विज्ञानके उत्कर्षका उद्देश्य समझनेमें असमर्थ है ही, वैज्ञानिक और दार्शनिक भी कुछ कम विक्षिप्त नहीं हैं। वैज्ञानिकोंका एक दल, जिसे विज्ञानकी क्षमतापर संदेह नहीं है, विश्वास करता है कि विज्ञानने अपनेको सर्वशक्तिशाली सिद्ध कर दिया है तथा वह स्रष्टाके रूपमें न सही, संहारकके रूपमें जरूर सर्वोपरि है। ऐसे वैज्ञानिकोंको भय है कि यदि विज्ञानका धाराप्रवाह शिथिल न हुआ तो संस्कृतिका विनाश अवश्यम्भावी है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० ग्रीनहैडका कथन है कि विज्ञानकी उन्नतिके साथ हम ऐसे स्थानपर पहुँच गये हैं जहाँ अपनी बरबादीके लिये हमारे पास काफी सामान है। अतएव ऐसी घिनावनी सम्भावनाओंके होते हुए वैज्ञानिकोंका यह दल विज्ञानसे किसी वरदानके मिलनेकी आशा नहीं करता तथा उसके मतानुसार विज्ञानका भविष्य नितान्त अन्धकारमय है।

लेकिन वैज्ञानिकोंके एक दूसरे दलका विश्वास है कि विज्ञानकी उन्नतिसे डरनेका कोई कारण नहीं है। उनका कहना है कि हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि विज्ञान हमारी सभ्यता एवं संस्कृतिका विध्वंस करनेके लिये पर्याप्त शक्तिशाली हो गया है। उनके मतानुसार विज्ञानके उत्कर्षका तथा उसकी संहारताका जो चित्रण किया जाता है उसमें अतिशयोक्ति है। ऐसे वैज्ञानिकोंका बुनियादी मत है कि मनुष्यका ज्ञान विज्ञानके सभी साधनोंके साथ अभी प्रारम्भिक है तथा विकासकी बृहत् आयोजनाकी तुलनामें तो नहींके बराबर है। अतएव विज्ञानकी प्रगतिको रोकना बुद्धिमत्ता नहीं है।

कहना न होगा कि वैज्ञानिकोंका उपर्युक्त दल विज्ञान और दर्शनके सौमनस्यका पक्षपाती है। वस्तुतः दर्शनसे परे विज्ञानका अस्तित्व है भी नहीं, क्योंकि विज्ञानमें जो चेतना है उसका मूलाधार दर्शन है। तब स्पष्ट है कि विज्ञानकी प्रगति कदापि निरर्थक नहीं हो सकती। दर्शनका यह मौलिक सिद्धान्त है कि संसृतिमें जो है वह कदापि निरर्थक नहीं है। यद्यपि बहुतसे वैज्ञानिक इस सत्यसे इनकार करते हैं, किंतु अपने जीवनके कार्यक्षेत्रमें वे उसे झुठला नहीं सकते। उन्हें मानना पड़ेगा कि कार्य-कारणका जो अभिन्न सम्बन्ध संसृतिकी उपयोगिताका द्वन्द्वन्याय (Dialectic) है वही बौद्धिक विकासमें सार्थकताका आदिकारण है। प्रत्ययित (Idealistic) विचारोंके अन्तर्गत प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेलका यह विचार अक्षरशः सत्य है कि विज्ञानका उत्कर्ष अन्तमें अपनी परिधिपर पहुँचेगा और इस प्रकार विज्ञानसे आगे जो है उस पूर्ण प्रत्यय (Absolute Idea) के लिये मार्ग बना देगा। वैज्ञानिक अन्ततः जान लेंगे कि विज्ञान अपने लिये ही विनाशक है और तब उसकी जो पर्यालोचना होगी, उससे एक महान् उद्देश्यकी प्राप्ति होगी। विश्वकी अनेकता एकतामें परिणत हो जायगी। अराजकतासे छटपटाती हुई आत्माओंको अध्यात्ममें समष्टिका एक सूत्र मिलेगा जो उन्हें शान्ति देगा।

वस्तुतः विकासके क्षेत्रमें यदि विज्ञान अपने अधिष्ठानका अतिक्रमण नहीं करता तो उसके उत्कर्षसे डरनेका कोई कारण नहीं है। हम जानते हैं कि विकासका धाराप्रवाह अर्धचैतन्य (Infra-rational) से चैतन्य (Rational) और फिर चैतन्यसे अपर-चैतन्य (Supra-rational) की ओर प्रवाहित रहता है। विज्ञान अर्धचैतन्य और अपरचैतन्यके बीचकी कड़ी है। वह एकाङ्गी और अपूर्ण है। अतएव वह

सदोष है। हमारी आँखें विज्ञानके चमत्कारोंको देखकर कुछ समयके लिये अवश्य चकाचौंधसे भर जाती हैं और हम सोचने लगते हैं कि विज्ञान ही विकासका पर्यवसान है। हम भूल जाते हैं कि विज्ञान जो स्वयं अपूर्ण है वह पूर्ण प्रत्यय नहीं हो सकता। उसका आरम्भ संदेह और घटनासे होता है जो वास्तवमें एक बड़ी गलती है। हमें मानना पड़ेगा कि संसृति एक घटना नहीं है। उसका एक उद्देश्य है। मनुष्यका चैतन्य तब निरर्थक नहीं हो सकता। यदि हम मनुष्यके चैतन्य और उसके विकासका सूक्ष्म निरीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि अपूर्णताका भाव ही इस विकासकी मूल भित्ति है। मनुष्यको अपने चैतन्यसे संतोष नहीं मिलता; क्योंकि उसे अपूर्णताकी अनुभूति होती है और यह अनुभूति ही उसे पूर्णता प्राप्त करनेके लिये निरन्तर अग्रसर करती रहती है।

स्पष्ट है कि विज्ञान मनुष्यके चैतन्यकी स्टेज है। लेकिन मनुष्य उत्तरोत्तर विकासकी ओर अग्रसर है और वह पूर्णता प्राप्त करनेका निरन्तर प्रयत्न कर रहा है। वस्तुतः वह विकासकी उस मोड़पर पहुँच गया है जहाँ यदि वह विकासकी प्रतिक्रियासे, जो स्वाभाविक है, भयभीत हो गया तो वह सब कुछ पा लेनेके प्रयासमें सभी कुछ समाप्त भी कर देगा। अतएव विज्ञानकी प्रगतिको रोकना नहीं चाहिये और न उससे भयभीत होनेका कोई कारण है; क्योंकि उसीके द्वारा तो मनुष्यको विकासके पूर्ण प्रत्ययका आभास मिल सकता है।

इसमें आश्चर्य नहीं है कि विज्ञानसे आगे जो है वही अध्यात्म है। मनुष्यके विकासका अन्तिम लक्ष्य उसी अध्यात्मको प्राप्त कर लेना है। संसृति उसी *एक आत्माकी अनेकताका स्वरूप है,* मनुष्य उसीका विवर्त है तथा विकास उसीकी केन्द्रापसारी अभिव्यक्ति है। यह शाश्वत सत्य है कि जीवनका *अन्तिम उद्देश्य* उसी आत्माका अनुभव है। हो सकता है कि विज्ञान और उसके युगका मनुष्य कुछ समयतक अपने चमत्कारोंसे विमोहित रहे, पर वह समय दूर नहीं है जब अध्यात्मका प्रकाश उनके भविष्यको ज्योतिर्मय कर देगा।

उत्तेजनाके क्षणोंमें

[क्रोध, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

अभी उस दिन एक एम्० ए० पास सज्जन बहुत मामूली-सी बातपर अपने अधीनस्थ एक कर्मचारीपर बुरी तरह बिगड़ पड़े। तावमें आकर उन्होंने हाथ पकड़कर उसे बाहर कर दिया। नौजवान कर्मचारीका गरम खून उबला तो जरूर, परंतु वह ऐन मौकेपर सँभल गया। पी गया वह गुस्सेको। याद आ गया उसे कि उत्तेजनाके ऐसे क्षणोंमें शान्त रह जानेमें ही तो बहादुरी है।

फिर भी उसके जीमें मलाल था।

मुझसे जब उसकी बात हुई तो वह सहजभावसे पूछ बैठा—'हम तो अपढ़ हैं, पर भला बताइये तो कि बी० ए०, एम्० ए० पास करके भी आदमी ऐसा क्यों करता है?'

मैंने कहा—भैया,

'वह चितवनि कछु और है जेहि बस होत सुजान।'

वह पढ़ाई ही दूसरी होती है। स्कूल-कालेजोंमें उसकी शिक्षा नहीं दी जाती! मनोविकारोंसे विचलित न होना साधारण बात नहीं है। जीवनकी पाठशालामें बड़ी साधनाके बाद, कठिन और सतत अभ्यासके बाद कहीं जाकर मनुष्य इस परीक्षामें पास हो पाता है। सबके बसकी बात नहीं है यह। इसके लिये यह जरूरी नहीं कि मनुष्य डिग्रीयाफ्ता हो। गँवार-से-गँवार, अपढ़-से-अपढ़ व्यक्ति इस पढ़ाईमें पास हो सकता है और विद्वान्-से-विद्वान्, एम्० ए०, डी० लिट्०, डी० फिल्०, महामहोपाध्याय भी इसमें फेल हो सकता है!

तभी न कहा गया है—

निहंगो अजदहा ओ-शेरे-नर मारा तो क्या मारा!
बड़े मूजीको मारा, नफ्से-अम्माराको गर मारा!!
न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर बन जाता!
अगर पारेको अय अक्सीरगर! मारा तो क्या मारा!!

× × ×

कोई बीस साल पहलेकी एक घटना है। एक किसान अपने गाढ़े पसीनेकी फसल बेचकर घर लौटा। नोटोंका बंडल उसने कपड़ेमें लपेटकर एक ताखेमें रख दिया। उसका छोटा बच्चा देखता रहा और मौका पाते ही उस पोटलीको खींच लाया।

बाल-कौतूहल ! वे रंग-बिरंगे कागजोंके टुकड़े उसको बहुत भले लगे ! सामने आग जल रही थी ।

'इन्हें आगमें जलानेसे कैसा मजा आयेगा'—बालककी कल्पना जाग्रत् हुई और उसने एक-एक कागज आगमें फेंकना शुरू ही तो कर दिया ।

बाहरसे पिता लौटा तो देखा, बेटा उसके पसीनेकी सारी कमाई वस्तुतः स्वाहा कर रहा है ।

क्रोध अपनी चरम सीमापर जा पहुँचा ।

उसने बच्चेको ही उठाकर आगमें झोंक दिया !

× × ×

मेजपर एक बहुमूल्य पाण्डुलिपि रक्खी थी । घरके पालतू कुत्तेने उछल-कूदमें उसपर जलती हुई बत्ती गिरा दी । आगमें और चीजोंके साथ वह पाण्डुलिपि भी स्वाहा हो गयी !

कुत्तेका मालिक था विश्वका एक प्रख्यात महापुरुष ।

जानते हैं उसने कुत्तेको क्या दण्ड दिया ?

वह सिर्फ इतना बोला—'टामी ! तुम नहीं जानते कि आज तुमने मेरा कितना भारी नुकसान कर दिया ।'

× × ×

एक सिक्केके दो पहलू ! परंतु एक दूसरेसे कितने भिन्न ! नुकसान दोनोंको हुआ । क्षति दोनोंकी हुई, परंतु एक क्रोधके हाथका खिलौना बन गया, दूसरेने क्रोधको यह कहकर मार भगाया—'नुकसान तो हो ही गया । कुत्तेको मारने-पीटनेसे अथवा जानसे ही मार देनेसे भी जली हुई पाण्डुलिपि भला वापस आनेवाली है ?'

किसानके नोट तो स्वाहा हुए ही, उसके कलेजेका टुकड़ा, उसके कुलका दीपक भी जाता रहा ! कानूनकी अवज्ञाका दण्ड मिला ऊपरसे !

× × ×

क्रोधशान्तिका एक उपाय है—गालीके बदले गाली न देना !

सभी जानते हैं कि गालीसे गाली बढ़ती है । इसलिये गालीका सबसे सटीक जवाब चुप रहना है ।

आवत गारी एक है, उलटत होय अनेक ।
कह 'कबीर' नहिं उलटिये, वही एककी एक ॥

उत्तेजनाके क्षणोंमें बड़ी जल्दी आग लगती है । क्रोधाग्निमें गालियोंकी आहुति पड़ी नहीं कि मामला संगीन होने लगता है । गाली ठहरी विषकी बेल । बातका बतंगड़ होते देर नहीं लगती । तू-तड़ाकसे गाली-गलौज, गाली-गलौजसे मारपीट, खून-खराबा । एक ही चीजके ये भिन्न-भिन्न पहलू हैं ।

× × ×

कहते हैं कि एक बार भगवान् बुद्धने भिक्षा लेनेके लिये किसीका दरवाजा खटखटाया । धन-सम्पत्तिसे अत्यधिक आसक्ति रखनेवाले व्यक्ति मुफ्तमें किसीको एक छदाम भी नहीं देना चाहते । कोई भिक्षुक उनके द्वारपर आता है तो नम्रतासे उसे हाथ जोड़ना तो दूर रहा, वे गालियोंसे ही उसका स्वागत करते हैं । भगवान् बुद्धका पाला भी ऐसे ही व्यक्तिसे पड़ गया ।

उन्होंने उससे पूछा—'अच्छा यह तो बताइये कि आप किसीको कोई चीज दें और वह उसे स्वीकार न करे तो क्या होगा ?'

वह बोला 'तो मेरी चीज लौटकर मेरे ही पास आ जायगी ।'

बुद्ध बोले—'आप मुझे जो गालियोंका दान दे रहे हैं, उसे मैं स्वीकार नहीं करता !'

शर्मसे फट गया बेचारा !

× × ×

कोई गाली देता है, मैं उसे स्वीकार ही नहीं करता । चलो छुट्टी ! गाली कुछ चिपट तो जाती नहीं ! उसकी उपेक्षा ही वाञ्छनीय है । बात तो तब बढ़ती है जब मैं गालीको स्वीकार कर गाली देनेवालेको खुद भी गाली देने लगता हूँ ! मैं समझ लूँ कि गाली देकर वह अपनी ज़बान खराब कर रहा है तो मैं भी क्यों अपनी ज़बान खराब करूँ !

गुफ्तगूए ना मुलायम नेस्त रस्मे आकिलां !

बुद्धिमानोंका यह तरीका नहीं है कि वे कड़ी बात बोलें ।

प्रभु तो इतने दयालु हैं कि उन्होंने जबानमें हड्डीतक नहीं रक्खी ।

फितरतको नापसंद है सख्ती जबानमें,
पैदा हुई न इसलिये हड्डी जबानमें !

फिर भी हम कड़ी बात कहें, कड़वी बात बोलें यह ठीक नहीं !

उत्तेजनाके क्षणोंमें हम इतना-सा ही सावधान रहें, बस, काम बना रक्खा है !

× × ×

उत्तेजनाके क्षणोंमें मौन हो जाना भी क्रोध रोकनेका उत्तम उपाय है।

शान्त रहिये, कुछ मत बोलिये। कोई कुछ भी बकता रहे, आप अपनेपर उसका कुछ भी असर मत पड़ने दीजिये।

स्वामी कृष्णानन्दने उसकी अच्छी तरकीब बतायी है—

'मौनके आरम्भिक पाठके तौरपर आप अपनेको आज्ञा दें,—यदि आज मुझे किसीने नाराज किया, मैं क्रुद्ध भी हो गया और मुझमें बदलेकी इच्छा जाग्रत् हो गयी, तो भी मैं शान्तिसे काम लूँगा। अपने मुखपर किसी तरहके क्रोधके चिह्न प्रकट नहीं होने दूँगा। मुसकराऊँगा और चुप रहूँगा।'

× × ×

कहते हैं सुकरातकी पत्नी अपने पतिपर व्यंग्यबाण कसनेकी अभ्यस्त थी। वे हँसकर, शान्त रहकर उसकी बातोंको सुनी-अनसुनी कर देते।

एक दिन बाहरसे उनके लौटनेपर उसने वाग्बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, पर वे चुपचाप रोजकी तरह सुनते रहे।

पत्नीके क्रोधका उफान फिर भी शान्त न हुआ।

वह नालीसे एक घड़ा कीचड़ भर लायी और उसे उँड़ेल दिया सुकरातके सिरपर।

मस्त दार्शनिक हँसकर बोला–चलो, अच्छा हुआ। गरजनेके बाद बरसना लाज़िमी था!

आपमें यदि इतनी क्षमता नहीं है, क्रोधका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर आप उत्तेजित हो उठते हैं, दूसरेको क्रुद्ध होते देख आप शान्त नहीं रह पाते, तो सबसे अच्छी तरकीब यह है कि आप मैदान छोड़कर कहीं भाग जाइये। एकान्तमें चले जाइये। ऐसे व्यक्तिके पास चले जाइये, जिसका आप आदर करते हैं।

यों मैदानसे भागना बुरी बात है, कापुरुषोंका कार्य है, परंतु क्रोधके मैदानसे भागनेमें कोई बुरी बात नहीं है। यहाँ तो मैदान छोड़कर भागनेसे आप मैदान जीतते हैं! क्रोधपर विजय प्राप्त करनेमें आपको सुभीता होता है।

उत्तेजनाके क्षणोंमें युद्धस्थलसे हट जाना, अन्यत्र चले जाना, मौका बरा देना, क्रोधको रोकनेका उत्तम उपाय है। अहंकारपर ठेस लगनेसे, इच्छाके विरुद्ध कुछ होनेसे, स्वार्थमें बाधा पड़नेसे हमारा क्रोध फुफकार उठता है। सामने रहनेसे क्रोधाग्निमें घी पड़ता है, गालियोंसे बारूद भड़कती है, हमारी भी ज़बान बे-लगाम दौड़नेके लिये खुजला उठती है। ऐसे मौकेपर मौकेसे टल जाना श्रेयस्कर है।

न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी!

× × ×

राम-नाममें जो जादू है, वह किसीसे छिपा नहीं है। उत्तेजनाके क्षणोंमें दस-पंद्रह मिनटतक 'राम-राम'की रट लगा दीजिये, आप देखेंगे, आपका क्रोध शान्त हो गया है; आपका गुस्सा काफ़ूर हो गया है।

'राम-राम' कहिये, 'हरे-कृष्ण' कहिये 'नमः शिवाय' कहिये 'ॐ' कहिये, जिस किसी नाममें रुचि हो, भगवान्‌का जो नाम प्रिय हो उसमें अपनेको डुबा दीजिये, क्रोध जाता रहेगा।

× × ×

शान्तिका नाम ही शान्ति लाता है।

रोते बच्चेसे कहिये—शान्त हो जाओ। वह शान्त हो जायगा।

इसी प्रकार विकारग्रस्त जीव भी शान्तिका जाप करके शान्तिलाभ कर सकता है, 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'की जोर-जोरसे रट लगा दीजिये, क्रोध शान्त हो जायगा। 'ॐ द्यौः शान्तिः, पृथिवी शान्तिः, आपः शान्तिः' स्तोत्रका पाठ करने लगिये, गुस्सा जाता रहेगा।

× × ×

क्रोधसे जल रहे हैं, स्नान कर लीजिये। क्रोध शान्त हो जायगा। किसीका माथा गरम है, यह सुनते ही हम पानी लेकर दौड़ते हैं। इसीलिये कि जलमें उत्तेजनाको शान्त करनेकी अद्भुत सामर्थ्य है। स्वामी रामतीर्थने ठीक ही कहा है—

'जब देखो कि चिन्ता, क्रोध, काम, (तमोगुण) घेरने लगे हैं, तो चुपकेसे उठकर जलके पास चले जाओ। आचमन करो, हाथ-मुँह धोओ या स्नान ही कर लो, अवश्य शान्ति आ जायगी; हरि-ध्यानरूपी क्षीरसागरमें डुबकी लगाओ, क्रोधके धुएँ और भापको ज्ञान-अग्निमें बदल दो।'

× × ×

क्रोध रोकनेकी यह भी एक तरकीब है कि सौसे एक तककी उल्टी गिनती गिनना शुरू कर दीजिये। सौ,

निन्यानवे, अट्ठानवे, सत्तानवे, छानवे, पंचानवे, चौरानवेसे होते-होते एकतक आ जायँ। फिर उसी प्रकार सौसे एकतक लौटें।

एक राजा क्रोध शान्त करनेके लिये एक कठिन भाषा-की वर्णमालाके अक्षर याद करने लगता था।

तात्पर्य यह कि मनकी दिशाको मोड़ दें। क्रोधकी बात छोड़कर किसी अन्य ही काममें उसे लगा दें। प्रसङ्ग बदल देनेसे क्रोधका उफान शान्त हो जाता है।

× × ×

क्रोधका विरोधी भाव है क्षमा। आपसे यदि किसीके प्रति कोई अपराध बन पड़ा है तो क्षमा माँग लेना आपका कर्तव्य है।

दूसरेने यदि आपके प्रति कोई अपराध किया है तो उसे भी आप क्षमा कर दें।

प्रभु हमारे न जाने कितने अपराध क्षमा करते हैं और हम मामूली-से-मामूली अपराधोंको क्षमा नहीं करते, इससे बढ़कर कृतघ्नता और होगी ही क्या!

पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ तें कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके॥

× × ×

"मैं सबको क्षमा करता हूँ, सब मुझे क्षमा करें।"—यही हमारा आदर्श होना चाहिये।

मेरा कोई विरोधी नहीं। कोई मेरा शत्रु नहीं। सब प्राणिमात्र मेरे परम आत्मीय हैं, मेरे परम मित्र हैं। सबके हितमें ही मेरा हित है।

इस प्रकारकी मैत्री-भावना हमें प्रतिक्षण करते रहनी चाहिये।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

× × ×

मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान हमारे मङ्गलके लिये होता है; भले ही बुद्धिपर अज्ञानका पर्दा पड़ा रहनेसे हम उसे समझ न पायें।

प्रभुकी मर्जीके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। किसीने मेरा कुछ बिगाड़ा, मुझे नुकसान पहुँचा दिया अथवा मेरी इच्छाके प्रतिकूल कुछ हो गया, उसमें मङ्गलमयका वरद हस्त तो छिपा ही हुआ है। सुख हो या दुःख, सफलता हो या असफलता, जीत हो या हार, मान हो या अपमान—सब उन मङ्गलमय दयामयके मङ्गल-विधानसे ही तो होता है। फिर किसपर गुस्सा करना, किसपर नाराज होना!

मालिककी मर्जीमें हम खुश रहना सीख लें फिर तो क्रोधकी जड़ ही कट जाती है।

हमें विश्वास रखना चाहिये कि वे मङ्गलमय जो विधान करेंगे उसमें हमारा मङ्गल ही होगा। हमारा कल्याण ही होगा।

सर निविश्ते मा बदस्ते-खुद-निविश्त।
खुश निवीसन्दा नख्वाहद बद निविश्त॥

हमारी निविश्त (तकदीर) उस मालिकने अपने हाथसे लिखी है। वह ठहरा खुश-निवीस। वह भला खराब क्यों लिखेगा?

इसलिये हमें भले-बुरे सबका हँसी-खुशीसे स्वागत करना चाहिये—

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।
या यों भी वाह वा है औ वों भी वाह वा है॥

× × ×

क्रोधकी अभिव्यक्ति प्रायः वाणीद्वारा होती है। इसे शान्त करनेके लिये वाणीके संयमका अभ्यास जरूरी है। बिना विचारे, बिना सोचे-समझे जो जीमें आ जाय, बोल बैठनेकी आदत सदाके लिये छोड़ देनी होगी। मुँहसे कोई भी बात निकालनेके पहले सोच लेना होगा कि उसमें क्रोधका दंशन तो नहीं है, उससे किसीको कष्ट तो नहीं पहुँचेगा, किसीको उद्वेग तो न होगा? वह सच तो है? हितकर तो है? साथ ही मीठी भी तो है?

वाङ्मय तपकी पहली शर्त है—

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।"

'वाणी उद्वेग करनेवाली न हो, साथ ही सच्ची, प्रिय और हितकारक भी हो।'

क्रोधकी उत्पत्ति रजोगुणसे बतायी गयी है। तमोगुणसे वह बुरी तरह भड़कता है। अतः उसपर काबू पानेके लिये रजोगुण और तमोगुण दोनोंसे ही किनाराकशी कर लेनी होगी। रजोगुणको उद्दीप्त करनेवाले, तमोगुणको उकसानेवाले

पदार्थोंसे दूर रहना होगा। ऐसे वातावरणसे भी अपनेको मुक्त रखना होगा। रजोगुण और तमोगुणको बढ़ानेवाले भोजनका परित्याग कर हल्का और सात्त्विक भोजन अपनाना होगा।

× × ×

क्रोधको शान्त करनेके लिये सारा जीवनक्रम ही सुधारना पड़ेगा। सहनशीलता, स्वार्थत्याग और कष्टसहिष्णुताका अभ्यास करना होगा। हृदयको निर्मल बनाना पड़ेगा। कैसा भी अप्रिय प्रसङ्ग उपस्थित हो, चित्तको क्षुब्ध न होने देना होगा।

एक दिनमें इसकी साधना सम्भव नहीं। इसके लिये सतत अभ्यास करना होगा और हर क्षण सावधान रहना होगा। किसी प्रसङ्गको लेकर हम उत्तेजित न हो जायँ!

× × ×

एक लड़केसे चरित्र-सम्बन्धी एक अपराध बन पड़ा। उसके मामाके पास शिकायत गयी। सहज ही उत्तेजित होनेवाले मामाने हंटर उठाकर उसे सड़ासड़ छोड़ना शुरू कर दिया। घरकी महिलाएँ, माँ-बहिनें रो रही थीं, समझा रही थीं; पर क्रोध शान्त नहीं हो पा रहा था।

संयोगसे मेरी ट्रेन छूट गयी और मैं वहाँ जा पहुँचा। उत्तेजनाकी चरम सीमापर पहुँचे हुए लड़केके मामा छुरा खोज रहे थे। सब हक्के-बक्के थे; मैंने आगे बढ़कर उनके हाथसे छुरा छीन लिया।

मेरे प्रति उनके हृदयमें कुछ आदर-भाव था, इसीसे मैं उन्हें शान्त करनेमें समर्थ हो सका। अन्यथा न जाने क्या हो रहता।

× × ×

किसीसे कोई गलती हो गयी, हो गयी। कोई काम बिगड़ गया, बिगड़ गया। उसपर उत्तेजित होनेसे लाभ?

उत्तेजित होनेसे, बिगड़नेसे, नाराज होनेसे, ऊलजलूल, ऊट-पटाँग कुछ कर बैठनेसे नुकसानके सिवा फायदा कुछ न होगा।

दूसरा कुएँमें गिरता है तो मैं भी क्यों कुएँमें गिरूँ? किसीने कोई गलती कर दी तो मैं भी गलती क्यों करूँ? उत्तेजनाके क्षणोंमें यही सोचनेकी जरूरत है कि क्रोधसे बिगड़ा हुआ काम और बिगड़ेगा ही; सुधरेगा नहीं। तब क्रुद्ध होने और अपनी शान्ति खोनेसे क्या फायदा! थोड़ी-सी समझदारीसे बिगड़ी बात बन जायगी। इसलिये विवेकको हाथसे न जाने देनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

× × ×

क्रोधसे मुक्त होनेके लिये क्षमाधारणका अभ्यास सबसे जरूरी है। क्रोधके आवेशमें गलती कर बैठना अस्वाभाविक नहीं। गलतीका पता चलते ही उसे सुधार लेना चाहिये।

किससे गलती नहीं होती? मनुष्यमात्रसे गलती होती है; परंतु क्षमा करना सबके वशकी बात नहीं। तभी न कहा गया है—To err is human. To forgive Divine!

क्षमा करनेके लिये हृदयकी उदारता चाहिये। जो क्षमा करता है, वही बड़ा है, वही महान् है।

क्षमा बड़ेनको चाहिये, छोटेनको उत्पात।
कहा विष्णुको घटि गयो जो भृगु मारी लात॥

× × ×

कहते हैं एक साधक गुरुके आदेशानुसार सालभरसे साधना कर रहा था, सालकी समाप्तिपर जिस दिन गुरुने बुलाया था, उस दिन गुरुके ही गुप्त आदेशसे मेहतरानीने वहीं गर्दगुबार उड़ाना और झाड़ना शुरू कर दिया, जहाँ वह नहा-धोकर पूजा कर रहा था।

कूड़ा और गर्द उड़ते देख साधकको बड़ा क्रोध आया। वह मेहतरानीपर बुरी तरह बिगड़ा।

गुरुके पास गया तो वे बोले—जा बचा, फिर साल-भर साधना कर।

दूसरी बार वर्षकी समाप्तिके दिन मेहतरानीने फिर वहाँ जाकर कूड़ा साफ करना शुरू किया और उसी क्रममें साधकके शरीरमें अपनी झाड़ू छुआ दी।

इस बार साधक पिछले सालकी तरह बिगड़ा तो नहीं, परंतु उसकी भौंहोंमें तेवर तो पड़ ही गये, फिर नहा-धोकर वह पूजापर जा बैठा।

गुरुने फिर कहा—'जा बचा, एक साल बाद आना।'

तीसरे सालकी समाप्ति जिस दिन हो रही थी, उस दिन मेहतरानीने कूड़ेसे भरी टोकरी ही लाकर साधकके सिरपर उड़ेल दी! तुरंत उसने मेहतरानीके पैर पकड़ लिये—'धन्य है तू माँ! तूने मुझे क्रोध जीतनेकी शिक्षा देनेके लिये इतना कष्ट उठाया!'

× × ×

क्षमा-धारणका ऐसा अभ्यास कर लेना चाहिये कि उत्तेजनाके क्षणोंमें भौंहोंपर बल भी न आये, हृदयमें भी उसका भाव उत्पन्न न हो। ईसाकी भाँति भले ही शरीर क्रास पर लटक रहा हो, अङ्ग-अङ्गमें कीलें ठोक दी गयी हों, रक्तके फौवारे छूट रहे हों, परंतु हमारे मुखपर एक ही वाक्य हो—'प्रभु ! तू इन लोगोंको क्षमा कर। ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं !'

× × ×

तुलसी बाबाने काकभुशुण्डि-प्रकरणमें ठीक ही कहा है—

"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान ?"

आँख खोलकर देखें तो सर्वत्र एक ही प्रभुकी लीला हो रही है। नाना प्रकारके रूप धारण कर वे ही तो हमारे समक्ष उपस्थित हैं, परंतु हमारी अक्लपर तो पत्थर पड़े हैं। हमारी दृष्टि दूषित है। इसीसे हम घट-घटमें उनके दर्शन नहीं कर पाते।

"कृष्णेर मूर्त्ति करे सर्वत्र झलमल।
सेई देखे जार आँखि हय निर्मल॥"

मायाका आवरण भेदकर देखनेकी देर है कि सर्वत्र प्रभुकी ही झाँकी दीख पड़ेगी।

साहेब तेरी साहबी घट-घट रही समाय।
ज्यों मेंहदीके पातमें लाली लखी न जाय॥

यह तत्त्व समझमें आ जाय फिर तो क्रोधकी जड़ ही नष्ट हो जायगी। फिर तो—'जित देखौं तित स्याममयी है !'

तब किसपर क्रोध किया जायगा ? किसके प्रति द्वेष किया जायगा ? किससे घृणा होगी ? किसका अपमान किया जायगा ?

इसीलिये साधकोंसे कहा गया है—

घूँघटका पट खोल रे, तोंहि पीव मिलेंगे।
घट-घटमें तोरा साँई रमत है, कटुक वचन मत बोल रे॥तोंहि॥

× × ×

क्रोध आना मानसिक दुर्बलता है। हमारी कमजोरी है। यहाँ हमारी बहादुरी इसीमें है कि हम क्रोधके हाथका खिलौना न बनें। हम उत्तेजित होकर क्यों अपनी शान्तिसे हाथ धो बैठें ?

उत्तेजनाके क्षणोंमें हम अपनी कलुषित भावनाको व्यक्त करनेके लिये अपने आपपरसे अपना नियन्त्रण छोड़ बैठते हैं। हमारी जबान बेकाबू हो जाती है। हमारी वाणी, हमारी लेखनी, हमारे हाथ-पैर—सब बिना सोचे-समझे ऊटपटाँग काम कर बैठते हैं। यह बहुत बुरी बात है। हमारे चित्तकी अमूल्य शान्ति जाती रहती है। इससे बढ़कर हमारी और हानि हो ही क्या सकती है ?

× × ×

हमें दृढ़ निश्चय करना है कि कैसी भी परिस्थिति हो, कैसा भी प्रसङ्ग हो, कैसी भी उत्तेजना हो—हम विचलित न होंगे। हम किसी भी कीमतपर अपनी शान्तिका खजाना नहीं लुटने देंगे।

× × ×

माना, उत्तेजनाके क्षणोंमें शान्त रहना बहुत कठिन है, परंतु कठिनाईपर विजय पानेमें ही तो हमारी बहादुरी है। इसके लिये हमें प्रतिपल, प्रतिक्षण सतर्क रहना होगा और हृदयमें भरी तरह-तरहकी दुर्भावनाओंको खोज-खोजकर निकाल बाहर करना पड़ेगा।

क्रोध दबकर घृणा और द्वेषका रूप ग्रहण कर लेता है। हमारा कर्तव्य है कि हृदयमें क्रोधको पलभरके लिये भी डेरा न जमाने दें। उसे जरा-सा सुस्तानेका मौका मिला कि उसने हमें पछाड़ा !

× × ×

आइये, क्रोधसे हम कुश्ती लड़ें और उसे 'चारों खाने चित' करके ही दम लें।

माना, हमारा दुश्मन बड़ा शक्तिशाली है, मगर सिर्फ तभीतक, जबतक हम उसे शक्तिशाली माने बैठे हैं। अन्यथा उसमें हिम्मत ही क्या, जो हमें पछाड़ सके।

हम साहससे आगे बढ़ें, हिम्मत न हारें, दाँव हारकर भी दूने उत्साहसे फिर आगे कदम बढ़ायें तो मजाल है कि काम-क्रोध आदि कोई भी विकार हमें परास्त कर सके। हम परास्त तो तभी होते हैं जब हम मान लेते हैं कि वह हमसे बलवान् है। पर सच तो यों है कि उसके पास जो शक्ति है वह हमारी ही दी हुई है। तब निराशा और पराजयका प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

मङ्गलमय प्रभु हमें बल दें कि हम उत्तेजनाके क्षणोंमें विचलित न हों।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

षोडश संस्कार और उनका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

[गताङ्कसे आगे]

विवाहकी विधिका रहस्य

विवाहके आरम्भमें पाद्यादि देना तो वरका सत्कार है; मधुपर्क अर्पण करना जहाँ सत्कार है, वहाँ उसके द्वारा वरको यह भी सूचित किया जाता है कि गृहस्थाश्रममें तुम दधि-मधु-नवनीतका उपयोग किया करो। इसीसे वीर्यप्राप्ति होगी—यही तुम्हारा वाजीकरण है। फिर वर कन्याको वस्त्र देकर तथा स्वयं वस्त्र पहनकर यह सिद्ध करता है कि मैं तुम्हारे तथा अपने पालनमें समर्थ हूँ—यह देखकर पिता अपनी कन्याको उसे दान कर देता है। पहले कन्या-दानका संकल्प कराके, फिर कन्याको वस्त्र देना अयुक्त तथा स्वार्थपूर्ण है। पिता देखेगा कि—यह कन्याका वस्त्रादिद्वारा पोषण कर सकता है तभी तो वह कन्या दे देनेका संकल्प करेगा। कन्यादानके बाद फिर उनको परस्पर प्रेमीक्षणका अवसर देना भी ठीक ही है। कन्यादानमें वरके हाथपर वधूका हाथ रखकर फिर उसपर शङ्खसे संकल्पके लिये जल डाला जाता है तथा अग्निको समक्ष रक्खा जाता है। हाथके सम्बन्धद्वारा दोनोंका विद्युत्प्रवाह चलता है और जल विद्युत्का संचालक होता है। इससे पति-पत्नीकी प्रेमधाराका एक-दूसरेमें प्रवेश और प्रेमकी विद्युत्-शक्तिके दृढ होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। किसी वस्तुको दृढ करनेके लिये जल और अग्निकी सहायता ली जाती है। मिट्टीका घड़ा तभी दृढ़ होता है, जब मिट्टीको भिगोकर पहले घड़ेका आकार दिया जाय; फिर कच्चे घड़ेको अग्निमें तपाकर दृढ़ कर दिया जाय। दो भिन्न वस्तुओंका सम्बन्ध मिलाना और उस सम्बन्धको दृढ़ तथा स्थायी बनाना जल और अग्निकी सहायतासे उत्तम रूपसे होता है। इस प्रकार विवाहमें पति-पत्नीके सम्बन्धको जल-द्वारा स्थिर किया जाता है, उसे दृढ़ तथा जन्म-जन्मान्तर-तक स्थायी बनानेके लिये अग्निका साक्षीरूपसे आश्रय लिया जाता है।

अग्निकी साक्षीमें कन्याका देना, फिर वर-वधूका अग्नि-परिक्रमा करना इसमें यह रहस्य है कि—कौमार्यमें कन्याके सोम, गन्धर्व, अग्नि—ये तीन क्रमशः पति (पालक) होते हैं। एक-एक वर्ष वे अपना आधिपत्य रखकर फिर बादवालेको सौंप देते हैं। कौमार्यमें अन्तिम पति अग्निदेव होते हैं। उनको स्थापित करके यह भाव प्रकाशित किया जा रहा है कि वही अग्नि अपने आश्रित कुमारीको मानव वरको दे रहा है। जैसा कि—

'तृतीयो अग्निष्टे पतिः तुरीयस्ते मनुष्यजाः'

(ऋ० १० । ८५ । ४०)

'तुम्हारा तीसरा पति (पालक) अग्नि है और यह मनुष्य-बालक मैं तुम्हारा चौथा पति हूँ।'

'रयिं च पुत्रांश्चादाद् अग्निर्मह्यमथो इमाम्'

(ऋ० सं० १० । ८५ । ४१)

'अग्निदेव इस कन्याको मुझे पत्नीरूपमें प्रदान करें। साथ ही वे धन और पुत्र भी दें।'

यह मन्त्र बता रहा है। इसीलिये वह पुरुष स्त्रीके रखने (संन्याससे पूर्व) तक सस्त्रीक अग्निकी हवि आदिसे पूजा करता रहता है। अग्नि कन्याके भीतरके ऋतुधर्मका स्वामी होता है। जबतक आर्तव कन्याके अंदर है, तबतक उसमें आधिपत्य भी अग्निका होता है। जब आर्तवका सम्बन्ध भीतरसे बाहरको होना चाहता है, उस समय उसे वर मिलना चाहिये—यही अग्निदेवका मानव वरको सौंपनेका रहस्य है। इससे कन्याका विवाह देशकालानुसार ऋतु-दर्शनके कुछ पूर्व कर्तव्य है। जिस उष्ण देशमें कन्याका ऋतु-प्राकट्य ९-१० वर्षकी अवस्थामें होता है वहाँ उसका विवाह भी अल्प अवस्थामें करना चाहिये। जहाँपर ऋतुप्राकट्य १३ वें, या १४ वें वर्षमें होता है, वहाँ कन्याका विवाह भी १२-१३ वर्षकी ही अवस्थामें करना चाहिये। जिस शीत-देशमें ऋतु-दर्शन १६-१७ वर्षकी अवस्थामें होता है, वहाँ कन्याका विवाह भी १५ वें, १६ वें वर्षमें ही कर्तव्य है। उसका विवाह-संस्कार एवं दान उसकी शुद्ध अवस्थामें हो जाय—यही ऋतुकालसे पूर्व कन्या-विवाह-का तात्पर्य है, क्योंकि विवाहमें कन्यादान कर्तव्य होता है और दान शुद्ध वस्तुका ही होता है। ऋतुकालके पूर्वका समय कुमारावस्था ही कन्यादानका उचित काल है। लड़कीको

ऋतुमती पतिके घर ही होना चाहिये। ऋतुस्नानके समय उसे पुरुष अपेक्षित होता है। जैसे कि—

'जायेव पत्य उशती सुवासाः'

(ऋ० १० । ७१ । ४, १ । १२४ । ७)

'ऋतुस्नानके अनन्तर सुन्दर वस्त्र धारण करके पतिकी कामना करनेवाली पत्नीकी भाँति।'

'मलवद्वासाः' (मलिन वस्त्रवाली) के प्रतिद्वन्द्वी' 'सुवासाः' पदद्वारा ऋतुस्नानको बताकर ऋतुस्नाताकी 'पत्ये उशती' इन पदोंद्वारा पतिविषयक कामना बतायी गयी है।

'महाभाष्य' पस्पशाह्निकके उद्योतमें श्रीनागेशभट्टने इस मन्त्रके अर्थमें लिखा है—

'जाया सुवासाः—निर्णिक्तवासा नीरजस्का ऋतुकालेषु विवृतसर्वाङ्गावयवा भूत्वा उशती—कामयमाना भर्त्रे प्रेम्णा दर्शयति आत्मानम्। तदा हि अतितमां स्त्री पुरुषं प्रार्थयते।'

(ऋ० १ । १२४ । ७ में)

'सुवासा—धुले हुए वस्त्रवाली पत्नी रज निवृत्त होनेपर ऋतुकालमें शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंको निरावृत करके प्रेमपूर्वक पतिकी कामना करती हुई अपने आपको उसके सामने प्रस्तुत कर देती है; क्योंकि उस समय स्त्रीको पुरुषकी अत्यधिक अभिलाषा होती है।'

इसी प्रकारके मन्त्रपर श्रीसायणने लिखा है—

'पत्ये उशती—कामयमाना सुवासाः—पूर्वं रजोदर्शनसमये मलिनवस्त्रा सती स्नानानन्तरं शोभनवस्त्राभरणादिना शोभमाना विशेषेण पतिभोगाय काङ्क्षन्ती तेन सह संक्रीडते।'

'पतिकी कामना रखती हुई सुवासा होकर—पहले रजोदर्शनके समय जो मलिन वस्त्र धारण किये हुई थी वही ऋतुस्नानके अनन्तर सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे विशेष शोभासम्पन्न हो भोगके लिये पतिकी अभिलाषा रखकर उसके साथ क्रीडा करती है।'

पतिकी प्रथम ऋतुकालमें उपस्थिति तभी हो सकती है जब ऋतुप्राकट्यसे कुछ पूर्व विवाह सम्पन्न हो जाय।

ऋतु पुष्प कहलाता है; उसका प्रादुर्भाव करके प्रकृति इंगित करती है कि अब पुत्ररूप फल प्राप्त होना चाहिये। तभी 'कृष्णयजुर्वेद' की 'तैत्तिरीयसंहिता'में आया है—

'स (इन्द्रः) स्त्रीषद्ꣳ सादमुपासीदद् अस्यै ब्रह्महत्यायै तृतीयं प्रतिगृह्णीतेति। ता अब्रुवन्—'वरं वृणामहा, ऋत्वियात् प्रजां विन्दामहै, काममाविजनितोः सम्भवाम।'

(२ । ५ । १ । ५)

'वे इन्द्र स्त्रियोंके पास गये और बोले 'तुम इस ब्रह्महत्या का तीसरा भाग ग्रहण कर लो।' वे बोलीं—'हम इसके लिये वर लेंगी। ऋतुदर्शनके पश्चात् हम संतान प्राप्त करें। हमें इच्छानुसार काम-भोग प्राप्त हों।'

फलतः विवाह ऋतुप्राकट्यसे कुछ पूर्व तथा ऋतुदान ऋतुस्नानके पश्चात् करना चाहिये, पर गुणवान् वरके अन्वेषणमें यदि कन्या ऋतुमती भी हो जाय तो मनुजी दोष नहीं मानते। जैसे कि—

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

(९ । ८९)

'कन्या ऋतुमती हो जानेपर भी भले ही घरमें आजीवन कुमारी रह जाय; परंतु उसे कभी गुणहीन (अयोग्य) वरके साथ नहीं ब्याहना चाहिये।'

पर गुणवान् वरकी प्राप्तिमें ऋतुकालसे पूर्व ही उसका विवाह उचित है।

उसी कन्याके अन्तिम अधिपति अग्निकी साक्षीमें कन्या लेकर फिर वरको हवनद्वारा अग्निकी पूजा करनी पड़ती है, फिर दोनोंको अग्निकी प्रदक्षिणा करनी पड़ती है। पहली तीन परिक्रमाओंमें स्त्री आगे होती है, पहले बैठनेके समय भी स्त्री पुरुषके दाहिने होती है—इसका रहस्य यह है कि—उस समयतक पुरुषका उसपर पूरा आधिपत्य नहीं होता। इसी अवसरमें कन्या अपने कन्यात्वको समाप्त करनेके लिये पतिकी सहायतासे लाजाहोम करती है। चतुर्थ परिक्रमामें कन्या अवशिष्ट लाजोंका होम करके अपने कन्यात्वको समाप्त कर देती है, तब वह पतिकी भार्या—पोष्या हो जाती है, अतः चौथी परिक्रमामें वह पतिके पीछे चलती है।

चार परिक्रमाओंमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग भी तात्पर्यके विषय हो सकते हैं। सो पहलेके तीन वर्गोंमें

स्त्री पुरुषसे आगे ही रहती है। धर्मके कार्यमें भी स्त्री पुरुषसे आगे ही रहती है—वही रहती है। अर्थ—धनके कार्यमें भी। तभी श्रीमनुजीने—

'अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्'
(९ । ११)

'स्त्रीको धनके संग्रह और व्ययके कार्यमें नियुक्त करे।'

यह स्त्रीके लिये कहा है। काममें तो स्त्री अगुआ होती ही है। चतुर्थ परिक्रमा मोक्षकी होती है। मोक्षमें स्त्री मार्ग-प्रदर्शन नहीं कर सकती; अतः चतुर्थ परिक्रमामें स्त्रीको आगे न रखकर पुरुषको ही आगे रक्खा जाता है।

फिर सप्तपदी करके पतिकी प्रिया बनकर—पतिका हृदय बनकर वह उसके वामाङ्गमें हो जाती है। पुरुषका हृदय उसका प्रिय तथा वाम अङ्गमें हुआ करता है—ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं।

ग्रन्थिबन्धनका रहस्य यह है कि हम दोनों पहले अलग-अलग थे; अब हम एक बन्धनमें बद्ध हुए हैं, इसलिये मिलकर सब कार्य करेंगे। वही गाँठका कपड़ा इस समयसे लेकर वरके घरमें पहुँचनेतक दोनोंमें बँधा होता है; इससे लौकिक लाभ यह भी होता है कि स्त्रीका पतिसे पार्थक्य आशङ्कित नहीं होता। ऐसा न होनेसे एक बार रेलगाड़ीसे उतरती हुई दो बारातोंकी दो नववधुएँ घूँघट होनेसे बदल गयीं; एककी वधू दूसरेके साथ चली गयी, क्योंकि इस अवसरपर वधुओंके वस्त्र प्रायः एक-से होते हैं।

लाजाहोम करके स्त्री सूचित करती है कि यह लाजा पहले छिल्केमें आवृत थी, इस प्रकार मैं भी पितृगृहमें कन्यात्वसे आवृत थी। जब मैं बढ़ी तो मेरा उस छिल्केमें समाना कठिन हो गया। फिर अग्निका सम्पर्क पाकर इस धान्यका छिल्का जल गया और यह खिल गयी; इसी प्रकार अग्निस्वरूप आप (पति) का सम्पर्क पाकर मेरा कन्यात्व एवं पितृसम्बन्ध समाप्त हो गया है। उस बन्धनसे मुक्त होकर और आपको पाकर मैं भी विकसित हो चुकी हूँ। अब जैसे चावलका रक्षक छिल्का न रहा; इस प्रकार मुझ कन्यापर भी पिताका कोई आधिपत्य न रहा। कन्या इससे यह भी सूचित कर रही है कि त्वक्से रहित धान्य-कणिका जिस प्रकार उत्पादनशक्तिसे रहित होती है, त्वक्संहित ही वह अनेक धान्य उत्पन्न करती है; वैसे मैं और आप भिन्न-भिन्न रहकर वन्ध्य ही रहेंगे और त्वक्से रहित उस धानको अग्निमें डाल दिया जाता है, वह लाजा बन जाती है। अतः आपका और मेरा आपसमें एकीभाव होनेसे ही आपका वंश बढ़ेगा और मैं भी सुरक्षित रहूँगी।

सप्तपदीमें कन्याने अपनी सात बातें मनवायीं। वरने उनका अनुवाद कर दिया। जिनसे लोकव्यवहारकी पूर्णता होती है, उनमें पहली वस्तु है अन्न। धनके बिना जीवन चल जाता है, पर अन्नके बिना नहीं चल सकता; अतः पहले अन्न माँगा गया, दूसरेमें बल, तीसरेमें धन-वस्त्रादि, चौथेमें सुख, पाँचवेंमें गाय, छठेमें सभी ऋतुओंका सुख, सातवेंमें सखित्व माँगा गया। सात पग चलकर अपना सख्य पतिको देकर—

'सतां साप्तपदं सख्यम्'

'सत्पुरुषोंकी मित्रता सात पग साथ चलनेसे ही हो जाती है।' यह वचन चरितार्थ हुआ। पतिके वामाङ्गमें आकर उसकी पोष्या बनी एवं उसकी अधीनता स्वीकार की।

विवाह-संस्कार ही कन्याका उपनयनस्थानीय संस्कार है। इसमें पति उसका आचार्यस्थानीय होता है। पतिकुल उसका आचार्यकुल होता है, पतिकुलवास एवं पतिसेवा उसका आचार्यकुलवासके साथ आचार्यसेवन होता है। घरका काम-काज, पतिके यज्ञमें सहायता करना, उसमें उसके साथ बैठना—यही उसका अग्निहोत्र होता है। इस प्रकार विवाह ही उसका द्विजत्व-सम्पादक संस्कार है। इसी कारण जैसे आचार्य उपनयनमें शिष्यको सूर्य-दर्शन कराता है,—

'मम व्रते ते हृदयं दधामि'

'मेरा जो व्रत है, उसमें तुम्हारे हृदयको लगाता हूँ।' —आदि मन्त्र पढ़कर शिष्यका हृदय स्पर्श करता है, वैसे ही पति-पत्नीका उसी मन्त्रसे हृदयालम्भनादि करता है। यह गृह्यसूत्रादिमें स्पष्ट है। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रमें उपनयनमें आचार्य ब्रह्मचारीको—

'या अकृन्तन्···आयुष्मन् इदं परिधत्स्व वासः'
'जरां गच्छ परिधत्स्व वासः'

'जिन्होंने काता·····'आयुष्मन् ! यह वस्त्र पहन लो।' 'यह वस्त्र धारण करो एवं वृद्धावस्थातक पहुँचो।'

—इत्यादि द्वारा वस्त्र प्रदान करता है, वैसे ही विवाहमें भी

वर उक्त मन्त्रसे वधूको वस्त्र प्रदान करता है। उपनयनमें वहीं आचार्यद्वारा ब्रह्मचारीका साङ्गुष्ठ दक्षिणहस्त ग्रहण किया जाता है, वैसे विवाहमें वर भी पति पत्नीका साङ्गुष्ठ पाणि-ग्रहण करता है इत्यादि। अतः विवाह ही कन्याका द्विजत्व-सम्पादक उपनयनरूप है, इससे अलग कन्याका उपनयन-संस्कार नहीं होता।

यह दारपरिग्रह करना ही गृहाश्रम-संस्कार है, उसी विवाहाग्निको विधिपूर्वक कन्याके गृहसे मण्डपसे लाकर उस अग्निको पति अपने जीवनतक अपने घरमें रखता है। उसीमें अपने पञ्चमहायज्ञ आदि स्मार्तकर्म करता है, इसीको आवसथ्याधान वा स्मार्ताग्निपरिग्रह वा गृहाग्नि, औपासनाग्नि वा वैवाहिकाग्नि कहा जाता है। इसीमें वैश्वदेव, नैत्यिक होम आदि करना पड़ता है। पत्नीकी सहायतासे तथा उसको अपने साथ बैठाकर यह सब कर्तव्य करना पड़ता है। पत्नीको भी अभिन्न एवं सहायक होनेसे इसका फल मिलता है। पत्नीको सदा उसकी अग्निकी रक्षा करनी पड़ती है कि वह अग्नि बुझे नहीं, उसी अग्निसे पाक-क्रिया भी करनी पड़ती है। जैसे कि मनुस्मृतिमें कहा है—

> वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
> पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही॥
> (३। ६७)

'गृहस्थ वैवाहिक अग्निमें विधिपूर्वक गृह्य-कर्म—अग्निहोत्र आदि पञ्चयज्ञका अनुष्ठान और प्रतिदिनकी रसोई करे।'

> वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
> आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥
> (३। ८४)

'ब्राह्मण वैवाहिक अग्निमें विधिपूर्वक तैयार किये हुए विश्वेदेवसम्बन्धी अन्नका इन देवताओंके लिये प्रतिदिन होम करे।'

इसी अग्निमें पक्षादिकर्म भी करने पड़ते हैं। इसीका दूसरा अङ्ग त्रेताग्निसंग्रह वा श्रौताधान वा वैज्ञानिक कर्म आदि हैं। इसमें दर्श, पौर्णमास आदि वैदिक यज्ञ करने पड़ते हैं। पत्नीको यज्ञशालासे भिन्न देशान्तरमें जानेका निषेध है; तभी उसका 'गृहपत्नी' नाम सार्थक है। इस कार्यमें त्रुटि न पड़े, इसलिये यहाँपर बहुपत्नीविवाह भी संकेतित होता है; क्योंकि एक ही पत्नीके होनेपर उसके भिन्न स्थानमें जानेपर विवाहाग्नि नष्ट हो जाती है। फिर प्रायश्चित्तपूर्वक पुनराधान करना पड़ता है; अथवा उसी एक पत्नीके रजस्वला होनेपर यज्ञमें उपस्थिति सम्भव न होनेसे यज्ञ अपत्नीक होनेके कारण अप्रशस्त हो जाता है; उस समय अन्य पत्नी उसका कार्यनिर्वाह कर देती है। यदि एकपत्नीव्रत ही इष्ट हो तो सुवर्णमय सीताकी तरह कुशकी स्त्री वा स्त्रीका ग्रन्थिबन्धनवाला वस्त्र ही उसका प्रतिनिधि मान लेना पड़ता है। पर उस पत्नीकी मृत्यु हो जानेपर उसी अग्निसे उसका दाह करके वह अग्नि समाप्त कर दी जाती है, फिर अन्य अग्निके आधानकरणार्थ अन्य विवाह करना पड़ता है। यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो उस अग्निसे पतिका संस्कार कर दिया जाता है। पत्नीका स्वतन्त्र अग्न्या-धान न होनेसे वह न फिर नूतन अग्न्याधान कर सकती है, न विवाह। वह वैधव्य उसका संन्यास-स्थानीय होता है। यदि पति अपनी पत्नीकी मृत्यु हो जानेपर अन्य आधान तथा अन्य विवाह न करना चाहे तो वह गृहस्थ-आश्रममें रह नहीं सकता। अग्नि न होनेसे वानप्रस्थमें भी नहीं रह सकता। उसे संन्यासमें चला जाना चाहिये। नहीं तो—

> एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्।
> दाहयेदग्निहोत्रेण (श्रौतस्मार्ताग्निभिः) यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्॥
> भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि।
> पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च॥
> (मनु० ५। १६७-१६८)

'धर्मज्ञ द्विज ऐसे आचारवाली अपनी सजातीय पत्नीकी अपनेसे पहले मृत्यु होनेपर अग्निहोत्रकी अग्नि तथा यज्ञपात्रों-द्वारा उसका दाह-संस्कार करे। पहले मरी हुई पत्नीको अन्त्येष्टिकर्मके समय आग देकर गृहस्थ मनुष्य पुनः पत्नी-परिग्रह और अग्निस्थापन करे।'

इस प्रकार पुनर्विवाह कर यज्ञादि धर्म-कर्ममें संलग्न रहे, केवल काममें नहीं।

इस प्रकार अपने नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य करते रहनेसे—

> 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।'
> (मनु० २। २८)

'पञ्च महायज्ञों तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंद्वारा यह शरीर ब्रह्मप्राप्तिके योग्य बनाया जाता है।'

ब्राह्मी गति (मुक्ति) प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त यज्ञोंसे वृष्टि आदि होनेपर अन्नकी समृद्धि होनेसे देशका तथा

अपना उपकार हो जाता है । अङ्गरूप देवपूजासे अङ्गी महान् देवकी पूजा भी हो जाती है । गृहाश्रम २५ वर्षसे लेकर ५० वर्षतक अवलम्बन करना पड़ता है । ब्रह्मचर्यमें संहिताओंका अध्ययन करना पड़ता है; आचार्यकी अग्निमें केवल समिदाधान करना पड़ता है, गृहस्थमें वेदके ब्राह्मण-भागका अभ्यास तथा तत्प्रोक्त अनुष्ठान, संहिताहोम आदि करना पड़ता है । इसमें यथासमय पूर्वोक्त गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन संस्कारद्वारा संतानकी प्राप्ति करके उनका पालन-पोषण, लड़केका यथासमय आचार्यकुलमें प्रेषण तथा लड़कियोंका रजःकालसे पूर्वतक पोषण, संरक्षण, गृहकार्यशिक्षण तथा यथासमय उनका विवाह कर देना पड़ता है। यहाँतक १६ संस्कारोंकी विधि पं० श्रीभीमसेनजी—इटावाप्रणीत 'षोडश संस्कारविधि'में देख लेनी चाहिये ।

वानप्रस्थ वा वनवासका रहस्य

गृहाश्रमके बाद ५१ वर्षसे ७५ वर्षतक वानप्रस्थाश्रम-संस्कार करना पड़ता है । इसमें घरका भार आचार्यकुलसे लौटे हुए प्रथम पुत्रपर डालकर पत्नीके साथ अपनी गृह्य-अग्निको लेकर वनमें निवास करना पड़ता है, जिससे संन्यासकी योग्यता प्राप्त हो सके । यह एक श्रान्त जीवन होता है । इसमें शहरसे दूर रहकर परलोक-लाभार्थ धर्म-कर्ममें संलग्न रहे । घरकी चिन्ता तथा गृहस्थके धंधोंसे मुक्त हो जाय । इसमें मुख्यतया आरण्यकोंका स्वाध्याय करना पड़ता है, तपस्या तथा विविध व्रत आदि करने पड़ते हैं। संसारसे सम्बन्ध धीरे-धीरे हटाकर मुनिवृत्ति अवलम्बन करनी पड़ती है । यज्ञ यहाँ भी करने चाहिये । यहाँ मुख्यतया निष्काम कर्म करने पड़ते हैं । पचास वर्षतक पूर्ण अनुभव हो जानेसे मुनिलोग धर्म-प्रचारार्थ इन पचीस वर्षोंमें ५१ से ७५ तक वेदार्थ व्याख्यान-रूप ग्रन्थरचना भी करते थे, समाधिसे प्राप्त ज्ञान उनका सहायक होता था । उनको अन्नादिसे उदर-पूर्तिकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी; देश उनको इस चिन्तासे मुक्त कर देता था । तब वे नये-नये अनुसंधान तथा आविष्कार करके लोकहिताधायक नियमोंका प्रचार करके उनको ग्रन्थ-बद्ध करते थे । नास्तिक वा सनातनधर्मद्वेषी लोगोंके तर्कोंका प्रत्युत्तर दार्शनिक ग्रन्थरूपमें निबद्ध कर देते थे । यही वानप्रस्थाश्रमका रहस्य है ।

परिव्रज्या वा संन्यासका रहस्य

इसमें पूर्व सर्व कर्मोंका संन्यास (त्याग) करना पड़ता है । इसमें अग्निका भी त्याग करना पड़ता है, अग्नि लिवानेवाली स्त्रीको भी छोड़ना पड़ता है; क्योंकि स्त्री धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गका साधन है, चतुर्थ मोक्षका नहीं। मोक्ष-पथमें तो वह—

'एषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ'

'संसारसागरमें डूबनेवालोंके लिये यह स्त्री गलेमें बाँधी हुई शिलाके समान है।रोड़ारूप है।'उसे अपने पुत्रोंके सहारे छोड़ दिया जाता है । इसमें पुत्रादि सबसे अपना सम्बन्ध सर्वथा छोड़कर सदाचारी, दम्भरहित, निश्चल होकर मुमुक्षुत्वका अवलम्बन करना पड़ता है । साथ ही ग्राम-ग्राममें घूमकर उपदेश आदिसे जनोपकार भी किया जाता है; वह सांसारिक अव्यवस्था तथा अज्ञानको दूर करता है । संन्यासी पुरुष चलता-फिरता पुस्तकालय; चलता-फिरता ज्ञान होता है । सब संदेहोंका निराकर्ता होता है । तब उसका भोजन-निर्वाह भी देशको ही करना पड़ता है । यह सदा देशमें शान्ति-व्यवस्था भी करता है, जनहिताधायक सब कार्य करता है ।

इस आश्रममें ज्ञानका संचय करना पड़ता है । इसमें वित्तैषणा, लोकैषणा (यश), पुत्रैषणा आदि सभी एषणाओंका त्याग करना पड़ता है । इसमें तन, मन, धन अपने नहीं रहते । धनका तो वानप्रस्थके आश्रयण करते ही त्याग कर दिया जाता है; अब तन तथा मनको भी जनताकी भलाईमें लगा दिया जाता है । इसमें गेरुए रंगके वस्त्र पहनने पड़ते हैं । गेरू रंग नेत्रहितकारी; दाह, पित्त, कफ, रुधिरविकार, ज्वर, विष, विस्फोटक, अर्श, रक्त, पित्तको हरनेवाला होता है । रक्तसंशोधक होनेसे त्वग्-रोग नहीं होते ।

इसमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्डतक सीमित शिखा तथा यज्ञोपवीतसूत्र तथा यज्ञोंका भी त्याग करना पड़ता है । ७६ वर्षसे लेकर शेष जीवनतक इस संन्यासाश्रमको ही अवलम्बन करना पड़ता है । वानप्रस्थाश्रमतक पुरुषका स्त्री तथा परिवारसे कुछ सम्बन्ध बना रहता है । 'यह मेरा है' 'यह तेरा है' ऐसा व्यवहार कुछ रहा करता है; परंतु संन्यासमें 'तेरा-मेरा' भाव तनिक भी शेष नहीं रहता । यहाँ तो संसारसे पूर्ण वैराग्य करना पड़ता है । किसीके लिये मोह, शोक नहीं करना पड़ता । निःस्वार्थता, निष्कामता रखनी पड़ती है । इसमें तो न कोई लड़का है न लड़की, न स्त्री, न भाई, न जमाई, न बहिन, न मित्र, न शत्रु, न अपना, न पराया । यहाँ तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' करके उदारमात्र अवलम्बन

करना पड़ता है। संकुचितभाव न रहनेसे उसे मृत्यु-समय कोई चिन्ता नहीं होती। क्रमप्राप्त संहिताओंके ज्ञानकाण्डीय चार सहस्र मन्त्रों एवं उपनिषदोंका इसमें मनन करके ज्ञानसंचय करना पड़ता है। इसमें भिक्षासे अपना निर्वाह किया जाता है। अधिक दिनोंतक एक स्थानमें स्थिति नहीं की जाती।

मृत्यु हो जानेपर—अग्नित्याग हो जानेपर संन्यासीका दाह भी नहीं होता, किंतु भूमिखनन वा जलप्रवाह ही हुआ करता है। कई विद्वान् ऐसा व्यवहार परमहंसकोटिवाले संन्यासियोंका ही मानते हैं, आदिम कोटिवाले संन्यासियोंका वे यज्ञत्याग वा अनग्नित्व स्वीकार नहीं करते; किंतु उनका निष्काम यज्ञ स्वीकार करते हैं और उसी यज्ञाग्निसे उसका दाह मानते हैं। संन्यासमें ब्राह्मणोंका अधिकार होता है, कइयोंके मतमें समस्त द्विजोंका; पर शूद्र इसका सर्वथा अधिकारी नहीं। स्त्री भी नहीं। पर स्त्री-शूद्रोंका त्यागवृत्तिरूप अवैध-संन्यास कहीं-कहीं 'संन्यास' शब्दसे वर्णित मिल जाता है।

यद्यपि 'कलौ पञ्च विवर्जयेत्' इत्यादि वचनोंसे कई हानियोंका विचार करके संन्यासको कलिवर्जित किया गया है तथापि—

यावद् वर्णविभागोऽस्ति यावद् वेदः प्रवर्तते।
संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे॥

कलिमें जबतक वर्णोंका विभाग है और जबतक वेदकी प्रवृत्ति है, तबतक कलियुगमें अग्निहोत्र और संन्यास अपने अधिकारके अनुसार करे।

इस पूर्ववचनके अपवादभूत देवल-वचनसे वह भी अपवादरूपसे कर्तव्य है।

(१६) पितृमेध वा अन्त्यकर्म

यह संस्कार पितृमेध, अन्त्यकर्म, अन्त्येष्टि वा श्मशान आदि नामसे प्रसिद्ध है। आश्वलायन गृह्यसूत्रादिमें इसका वर्णन है। कई गृह्यसूत्रोंमें इसका वर्णन नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि—पहले गृह्यसूत्रोंके 'पितृमेधसूत्र' पृथक् बने होते थे। जिनको संन्यासका अधिकार नहीं होता अथवा जिन्होंने कलियुगमें संन्यासका निषेध होनेसे वा अब्राह्मणताके कारण संन्यासमें अधिकार न होनेसे वा ब्राह्मण होनेपर भी अपनी वैसी योग्यता न देखकर संन्यासको स्वीकार नहीं किया, उनकी मृत्युमें अपनी गृह्याग्निसे दाह होता है। उस पुरुषके पुत्र, सम्बन्धी आदि उसकी गृह्याग्निको उसके यज्ञपात्रसहित श्मशानमें लाकर उसमें गृह्यसूत्रोक्त विधिसे अन्त्येष्टिकी आहुतियाँ देकर उसके उन सभी यज्ञपात्रोंको आश्वलायन आदिके अनुसार मृतकके अङ्गोंपर रखकर फिर उस अग्निसे मृतकका दाहमात्र कर देते हैं।

फिर उसकी उदकक्रिया—तर्पण आदि करके यथासमय, शास्त्रानुसार अस्थिसंचयन, नित्यक्रिया, दशगात्रादि कर्म, एकोद्दिष्ट, सपिण्डन, धर्मशान्ति तथा श्राद्धादि पितृकर्म मृतकके आत्माकी सद्गतिके लिये करने पड़ते हैं। ब्राह्मणोंको यह क्रिया ११ वें १२ वें दिन तथा शुद्धि बारहवें दिन करनी चाहिये। स्त्रीके लिये यज्ञोपवीत-विधान न होनेपर भी—

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद् ऋते।*
(मनु० २। १७२)

इस वचनके अनुसार मृतक-कर्म-सम्बन्धी मन्त्रोंका उच्चारण निषिद्ध नहीं है, अतः पुत्रादि न होनेपर स्त्री भी पतिकी अन्त्येष्टि कर सकती है। उक्त पद्यका अर्थ आर्यसमाजके विद्वान् श्रीतुलसीराम स्वामीजीने यही किया है—'उसकी मौञ्जीबन्धनसे पूर्व कोई श्रौत-स्मार्त आदि क्रिया ठीक नहीं है। मौञ्जीबन्धन (उपनयन) से पूर्व वेदका उच्चारण न करावे, परंतु मृतक-संस्कारमें वेदमन्त्रोंका उच्चारण वर्जित नहीं है।' इधर विवाहिता होनेसे तथा द्विजवंशीया होनेसे द्विजा होनेके कारण पतिसद्गतिकारक स्वनियमित कर्मविशेष वह पुरोहितादिकी सहायतासे कर सकती है। अस्तु।

क्षत्रियोंको पितृसंस्कारसम्बन्धी सपिण्डनादि कर्म १२ वें, १३ वें दिन तथा शुद्धि १३ वें दिन करनी चाहिये। वैश्यको उक्त कर्म १४ वें १५ वें दिन और शुद्धि भी १५ वें दिन करनी चाहिये। कहीं-कहीं सभी द्विजोंके लिये १२ वें दिनकी प्रथा है।

यह पितृमेध-संस्कार भी आवश्यक है। पुरुषका आदिम संस्कार होता है 'जातकर्म', यह उसके जन्मके समय किया जाता है। जन्मकी समाप्ति मरणमें होती है; तब मृतक-संस्कार भी आवश्यक है। जैसे प्रस्तावमें उपक्रम, फिर मध्य, अन्तमें उपसंहार भी अनिवार्य हुआ करता है; तभी उसकी पूर्णता मानी जाती है; वैसे ही संस्कारोंमें यदि आदिम 'जातकर्म' है, तब संस्कारोंमें अन्तिम 'मृतककर्म' वा

* यज्ञोपवीतके पहले द्विज बालकसे मृतककर्म-सम्बन्धी मन्त्रोंके सिवा अन्य वेदमन्त्रोंका उच्चारण नहीं कराना चाहिये।

'अन्त्यकर्म' ही स्वाभाविक है। अतः यह संस्कार प्रयोजनीय है, पर मृतकके अङ्गोंपर हवन कर्तव्य नहीं। किंतु उस मृतककी वैवाहिक अग्निमें अन्त्येष्टि करके उसी अग्निसे मृतकका दाह कर देना चाहिये।

दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्।
(५।१६७)

इस मनुपद्यसे मृतकपर 'अग्निहोत्र' शब्दसे 'हवन' इष्ट नहीं, यहाँपर 'अग्निहोत्र' का अर्थ 'अग्निहोत्र' की अग्नि ही है, हवन करना नहीं; जैसे कि श्रीकुल्लूकभट्टादिने भी लिखा है—'अग्निहोत्रेण श्रौतस्मार्ताऽग्निभिः।

इसी कारण अग्रिम पद्यमें—

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि।
(५।१६८)

यहाँ मृतकको अन्त्यकर्ममें अग्नि देना कहा है, हवन करना नहीं। 'अग्निहोत्र' शब्द यहाँ 'अग्नि'-वाचक है, इसमें प्रमाण—

'अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।'
(मनु० ६।४)

'गृह्याग्नि और अग्निहोत्रकी सामग्री लेकर' यह पद्य है। यहाँपर वानप्रस्थाश्रममें अग्निहोत्र अर्थात् अग्निहोत्रकी अग्नि ही ले जाना इष्ट है, हवन नहीं। हवन कैसे ले जाया जा सकता है? अतः इसका श्रीकुल्लूकभट्टादिने 'श्रौताग्निम् आवसथ्याग्निम्' यही अर्थ किया है। यही मृतकका जीवनावस्थामें रक्खी हुई यज्ञाग्निसे दाह ही पितृ (मृत)-मेध हुआ करता है। यहाँपर वह मृतक ही उस अग्निकी आहुति बनता है; मृतकपर आहुति नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार वैध संस्कारसे मृतकके आत्माकी परलोकमें सद्गति हुआ करती है।

संन्यासीकी वैवाहिक अग्नि तो होती नहीं; अतः उसका उससे संस्कार भी नहीं होता; तब उसकी भूमिमें समाधि वा जलसमाधि ही उसका पितृमेध हुआ करता है। पहलेसे ही उसके जीवन्मुक्त होनेसे उसका सद्गतिदायक पितृकर्म कर्तव्य नहीं रहता; पितृकोटिसे ऊँची गति प्राप्त करनेके कारण उसके सपिण्डनादि भी नहीं करने पड़ते। शेष रही विधवा स्त्री, यद्यपि उसकी स्वतन्त्र अग्नि तो होती नहीं, पर मृतक पतिका पतित्व तो उसमें—

'प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधामि, अस्थिभिरस्थीनि, माꣳसैर्माꣳसानि त्वचा त्वचम्' (पारस्करगृह्य० १।११।५)

'अपने प्राणोंसे तुम्हारे प्राणोंका संयोग करता हूँ, अस्थियोंसे अस्थियोंका, मांससे मांसका एवं त्वचासे त्वचाका संयोग करता हूँ।'

—अस्थि-त्वचाकी स्थितितक रहता ही है। इसीसे वह द्विज भी रहती है; अतः मृत्यु होनेपर उसका भी अग्निसंस्कार कर्तव्य हो जाता है। उसके पतिकी अन्तर्हित अग्निको पुनः प्रकट करके उसका दाह-संस्कार ठीक ही है।

शेष रहे शूद्र, उनके कई अमन्त्रक संस्कार माने जाते हैं; अतः यहाँ उनका अमन्त्रक दाहमात्र हो जाना चाहिये। शेष रहे चातुर्वर्ण्यसे भिन्न अन्त्यज तथा अवर्ण आदि; तथा दो वर्षसे कमके बच्चे आदि; सो उनके असंस्कृत वा संस्कारानर्ह होनेसे भूमिखनन वा जलप्रवाह ही शास्त्रसम्मत तथा युक्तिसङ्गत है—

'नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया।'
(मनु० ५।६९)

इनका अग्नि-दाह-संस्कार या जलाञ्जलिदान न करे।

परंतु आजकल हिंदू-मुसल्मानका प्रश्न सामने होनेसे अब हिंदुत्वका चिह्न शिखा और दाह मान लिया गया है; अतः अन्त्यजों आदिका भी असंस्कृत अग्निसे दाहमात्र ही कर देना पड़ता है, अन्य कोई क्रिया नहीं। एक तो अग्निदाहसे रोगोंके फैलनेका डर नहीं रहता, दूसरा पृथिवी नहीं रुकती; हजारों मुर्दे एक स्थानपर जल जाते हैं, कृषिकर्म तथा नगरोंकी आबादीको कोई बाधा नहीं पड़ती। श्मशानको शहरसे बाहर ही होना चाहिये, जिससे कि मुर्देके परमाणु हानि न पहुँचायें।

'भस्मान्तꣳशरीरम्' (यजुः ४०।१५)

शरीरकी भस्मान्त गति कही गयी है। आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें शवके बाल काट देना भी लिखा है। इसका यह भाव हो सकता है कि बालोंके जलनेसे अशुद्ध वायु फैलती है। उन बालोंको काटकर श्मशानमें वहीं दबा देना पड़ता है। मृतकके पुत्रादिका मुण्डन क्रियामें अधिकारार्थ है, क्योंकि क्रियामें बाल अशुद्ध (अमेध्य) माने जाते हैं; इसके अतिरिक्त उस समय ब्रह्मचर्य रखना पड़ता है। अतः उस समय बालोंका मुण्डन ठीक ही है, इसीलिये यज्ञोपवीतके समय

भी ब्रह्मचर्यके आश्रयणीय होनेसे उसमें भी मुण्डन कराना पड़ता है। तीर्थमें भी इसीलिये मुण्डन कराना पड़ता है। विधवाको भी एतदर्थ ही मुण्डितसिर रहना पड़ता है। आर्यसमाजके महामना म० म० पं० आर्यमुनिजीने यागमें सिरके बाल मुड़ानेका समर्थन करनेके लिये अपने मीमांसार्यभाष्य (३। ८। ४) में—

'मृता वा एषा त्वग् अमेध्या यत् केशश्मश्रु, मृतामेव त्वचममेध्यामपहत्य यज्ञियो भूत्वा मेधमुपैति।'

'निश्चय ही यह मरी हुई और अपवित्र त्वचा है जो कि सिर और दाढ़ी-मूँछके बालोंके रूपमें है। उस मरी हुई एवं अपवित्र त्वचाको काटकर यज्ञानुष्ठानके योग्य होकर मनुष्य यज्ञको प्राप्त होता है।'

'यह श्रुति उद्धृत की है—जिससे उक्त बातकी पुष्टि होती है। इस प्रकार (४। ३। १) मीमांसासूत्रमें—

'केशश्मश्रू वपते, दतो धावते···मृता वै एषा त्वग्, अमेध्यं वा अस्य एतद् आत्मनि शमलम्, तदेव उपहते। मेध्य एव मेधमेवमुपैति।'

'केश और दाढ़ी-मूँछके बाल कटाता है, दाँत धोता है, यह मरी हुई त्वचा है। यह बाल अपने शरीरमें अपवित्र मल है। उसके कट जानेपर पवित्र होकर ही मनुष्य यज्ञको प्राप्त होता है।'

इस शाबरभाष्यमें भी यह स्पष्ट किया है। उक्त श्रुति तैत्तिरीयसंहिता (१। १। २) में आती है।

यह और्ध्वदैहिक क्रियाके समयमें मेध्यतार्थ मृतकके उत्तराधिकारीके शिरोमुण्डनका रहस्य है। यह मुण्डन निर्मूल भी नहीं है। बोधायनीय पितृमेधसूत्रमें कहा है—

'एतस्मिन् काले अस्य [प्रेतस्य] अमात्याः [सहचारिणः पुत्रादयः] केशश्मश्रूणि वापयन्ते (मुण्डयन्ति), ये संनिधाने भवन्ति।'

(१। १२। ७)

'इस समय इस मृतकके अमात्य सहचारी पुत्र आदि, जो उसके निकट होते हैं, सिरके बाल और दाढ़ी-मूँछ मुँड़वाते हैं।'

इसी प्रकार 'अग्निवेश्यगृह्यसूत्र' (३। ६। २) में भी कहा है—

'श्रुतवता तु वपनमेव असंनिधानेऽपि'

(बोधा० पितृ० १। १९। ८)

'जिसने पितादिकी मृत्युका समाचार सुन लिया हो, उसे दूर होनेपर भी मुण्डन करवाना ही चाहिये।'

पितृमेधशेष सूत्रमें भी कहा है—

'पुत्रस्तु अकृतचौलोऽपि मातरं पितरं वा दग्ध्वा चौलवत् तूष्णीं वपनम्'

(१। १०)

'पुत्रका चूड़ाकरण-संस्कार न हुआ हो तो भी माता अथवा पिताका दाह करके चूड़ाकरण-संस्कारकी ही भाँति बिना मन्त्रके सिरका बाल मुँड़ा दे।'

'नास्य केशान् प्रवपन्ति (मुण्डयन्ति) नोरसि ताडमाघ्नते।'

(१९। ३२। १)

'उसके लिये केश नहीं कटवाते और छाती भी नहीं पीटते।'

अथर्ववेदसंहिताके इस मन्त्रके अनुसार पिता आदिकी मृत्यु होनेपर छाती पीटना और केशोंका मुण्डन कराना सूचित होता है। आपस्तम्बधर्मसूत्रके 'घ' पुस्तकमें भी कहा है—

'ब्राह्मणश्च एतस्मिन् काले [मरणे] अमात्यान् केशश्मश्रूणि वापयते।'

(२। १५। ११)

'ब्राह्मण इस अवसरपर मृतकके पुत्र आदिका मुण्डन करवाता है।'

'प्रयागे तीर्थयात्रायां मातापितृवियोगतः।
कचानां वपनं कुर्यात्··················।'

'तीर्थयात्राके प्रसंगसे यदि माता-पिताकी प्रयागमें मृत्यु हो जाय तो पुत्र अपने केशोंका मुण्डन करवा दे।'

इस भविष्यपुराणके वचनसे भी माता-पिताके मरणमें मुण्डन सूचित होता है।

जीवितको सोनेके समय सिर दक्षिणमें और पैर उत्तरमें करने पड़ते हैं। पर मृतकके सिरको उत्तरमें और पैरोंको दक्षिणमें करना पड़ता है। इसका भाव यह है कि उत्तरी ध्रुवमें विद्युत्-पुञ्ज रहता है; उत्तर ओर सिर रखनेसे वह विद्युत्-पुञ्ज शरीरकी विद्युत्को खींच लेता है, तब मृतकके शरीरका भी विद्युत्-पुञ्ज उधर खिंच जाता है। पर यदि

जीवितका विद्युत्-पुञ्ज उत्तरमें सिर रखनेसे खिंचता जावे, तो वह निर्बलताको प्राप्त होकर वृद्धावस्थामें विकृत-मस्तिष्क होकर पागल हो जाता है।

इस प्रकार यह सोलह संस्कार विवृत कर दिये गये हैं। जो महोदय अन्त्येष्टिको संस्कारोंमें परिगणित नहीं करते, वे उपनयन और वेदारम्भको पृथक्-पृथक् संस्कार गिन लेते हैं। तब भी संस्कारोंकी १६ संख्या पूर्ण हो जाती है। जो केशान्तको भी पृथक् संस्कार नहीं गिनते, वे विवाह और श्रौतस्मार्ताग्निपरिग्रहको पृथक्-पृथक् संस्कार गिन लेते हैं, तब भी संस्कारोंकी १६ संख्या पूर्ण हो जाती है। हमने उपनयन और वेदारम्भके परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध होनेसे इसी प्रकार विवाह और अग्निपरिग्रहके भी अनिवार्य सम्बन्ध होनेसे इनको भिन्न-भिन्न संस्कार न मानकर एक-एक ही संस्कार माना है। श्रीमनुजीके आशयसे हमने वानप्रस्थ, संन्यास तथा पितृकर्म—इनको भी संस्कारोंमें रक्खा है। इस विषयमें उपपत्तियाँ भी दी हैं।

यह संस्कार जहाँ शास्त्रीय हैं, वहाँ रहस्यपूर्ण भी हैं। सनातनधर्मके स्तम्भ हैं। हिंदूके हिंदुत्वको स्थिर कर देनेवाले हैं। खेद है—आजकल विवाहके अतिरिक्त कोई संस्कार भी यथाविधि सम्पन्न नहीं होता, तब हिंदुओंमें हिंदुत्वकी निष्ठा भी भला कैसे रहे ? प्रसिद्ध है—

'नवे हि भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।'

नये पात्रपर (नूतन बालकके मनपर) पड़ा हुआ संस्कार कभी बदल नहीं सकता।

जब नये पात्रपर लगा संस्कार भी अन्यथाभावको प्राप्त नहीं करता, तब विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारणादि क्रियाद्वारा हुआ गर्भका एवं नवीन पात्र बालकका संस्कार भला अन्यथाभावको कैसे प्राप्त हो सकता है ? वेदमन्त्रोंका शब्दमें ही विशेष गौरव माना जाता है। अर्थमें लौकिक गौरव भले ही हो; पर अलौकिक गौरव शब्दमें ही होता है। इसलिये वेदमन्त्रोंके अनुवादद्वारा संस्कार-कार्य न कराकर अधिकारियोंके वेद-मन्त्रोंके शब्दोच्चारणद्वारा ही संस्कार-कर्म होते हैं। इन सस्वर पठित मन्त्रोंका संस्कार उस नवपात्रपर पड़ता है, इससे वह अपने धर्ममें स्थिर रहता है, विधर्मियोंमें सम्मिलित होकर उनकी संख्या बढ़ानेवाला नहीं होता। अपने धर्ममें निष्ठावान् रहता है, उसे कुतर्क उससे च्युत नहीं कर सकते। अतः हिंदुओंका कर्तव्य है कि वे यथाधिकार इन संस्कारोंको सम्पन्न करें और उनके रहस्योंका प्रचार एवं प्रसार करके ऐहिक यश तथा पारलौकिक पुण्यके भागी बनें।

भारतीय संस्कृति और उसके मूलाधार

(लेखक—डा० परमानन्द मिश्र, 'आनन्द्राज' एम्० ए०, एल्-एल्०बी० पी-एच्०डी०)

भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें बहुत चर्चा होती है। और सभी लोग अपने-अपने मतके अनुसार इसके विभिन्न स्वरूप मानते हैं। संस्कृति, धर्म, सभ्यता, आचार-विचार आदि शब्दोंमें बहुत-से विद्वान् समानार्थता प्रकट करते हैं। यहाँ हम किसी मतविशेषका खण्डन-मण्डन न करके अपनी समझके अनुसार भारतीय संस्कृतिका विशुद्ध स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

संस्कृतिका स्वरूप

संस्कृति शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातुसे भाव-अर्थमें 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर बनता है, जिसका अर्थ होता है—परम्परागत अनुस्यूत संस्कार। समाजके जीवनमें व्याप्त उन्हीं परम्परागत संस्कारोंके रूपको संस्कृतिके नामसे पुकारते हैं। श्रीराजगोपालाचारीजीके शब्दोंमें 'किसी भी जाति अथवा राष्ट्रके शिष्ट पुरुषोंमें विचार, वाणी एवं क्रियाका जो रूप व्याप्त रहता है उसीका नाम संस्कृति है।'

१—निरन्तर प्रगतिशील मानव-जीवन प्रकृति और मानव-समाजके जिन-जिन असंख्य प्रभावों और संस्कारोंसे संस्कृत तथा प्रभावित होता रहता है, उन सबके एक सामूहिक स्वरूपको ही आज हम संस्कृतिके नामसे सम्बोधित करते हैं। युगोंमें मानवका अनवरत चिन्तन और अनवरत कर्म-व्यापार कभी प्रकृतिके प्रभावसे प्रभावित, कभी आन्तरिक प्रेरणासे प्रेरित एवं कभी नानास्थलोंके निवासियोंके पारस्परिक सम्पर्कसे सम्पन्न होता है। संस्कृति इन्हीं समष्टिगत समान अनुभवोंसे उत्पन्न होती है। श्रीसम्पूर्णानन्दजीके शब्दोंमें 'एक ही जलवायुमें पले, एक ही प्रकारके गिरि, निर्झर, नदी, सागरको देखनेवाले, एक ही प्रकारके राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सुख-दुःखको भोगे हुए लोगोंके चित्तोंका झुकाव प्रायः एक-सा होता है।' यही उन लोगोंकी संस्कृतिके निर्माणमें सहायक होती है।

२—किसी देशकी संस्कृति बनायी नहीं जाती, वह स्वयं बनती है।

३-संस्कृति ही राष्ट्र बनाती है। किसी राष्ट्रका निर्माण एक संस्कृतिपर होता है। यदि वह संस्कृति नष्ट हो जाती है तो वह राष्ट्र भी नष्ट हो जाता है।

४-संस्कृति बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रहती है। इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृति बदलती ही नहीं। वह बदलती अवश्य है किंतु शीघ्रतासे नहीं। उदाहरणके लिये यूरोप वही है लेकिन ६०० वर्ष पूर्व और आजकी यूरोपीय संस्कृतिमें विशेष अन्तर है। अतः संस्कृति निश्चल, एकरस पदार्थ नहीं है।

५-संस्कृति किसी समुदायविशेषकी मानसिक बनावट (Mental attitude) है जो व्यावहारिक रूपमें जीवनके समस्त पहलूमें प्रकट होता है। यह मानसिक बनावट उस समुदायविशेषकी पुरातन व वर्तमान अनुभूतियोंके संस्कारोंके अनुरूप होती है।

६-संस्कृतिका मूल आधार भाषा है, यही कारण है कि विजेता अपनी संस्कृतिका प्रचार करनेके लिये विजित राष्ट्रकी भाषाको विकृत कर उसमें विदेशी शब्दोंद्वारा विदेशी संस्कृति भर विजित राष्ट्रकी संस्कृतिका समूलोच्छेद कर देता है।

७-संस्कृति विश्वासकी वस्तु नहीं होती। मानने न माननेसे धर्मकी तरह संस्कृति नहीं बदलती रहती। धर्म-परिवर्तन भले ही हो जाय; किंतु यह आवश्यक नहीं कि संस्कृति भी बदल जाय।

भारतीय संस्कृति

संस्कृतिके सम्बन्धमें उपर्युक्त विचारोंकी पृष्ठभूमिके आधार-पर भारतीय संस्कृतिके स्वरूपको अब अच्छी प्रकार समझा जा सकता है जैसा अभी ऊपर कहा गया है कि किसी देशकी संस्कृति बनायी नहीं जाती, स्वतः बनती है। इस भारत-देशकी अपनी एक संस्कृति है जिसे समस्त विश्व जानता है। समय-समयपर विजेता लोग अपने साथ विदेशी संस्कृतियोंकी लहरें ले आये जो भारतीय संस्कृतिके महासागरमें विलीन हो गयीं। उन्होंने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खोकर भारतीयताके रंगमें अपनेको रँग लिया। विश्वमें जितनी संस्कृतियाँ पायी जाती हैं उनमें भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन है। मानव-जीवनके इतिहासमें प्रचण्ड झंझावात आये, युगोंमें परिवर्तन हुआ, बहुत-सी संस्कृतियोंमें उलट-फेर हुआ; किंतु भारतीय संस्कृति सदैव अविच्छिन्न गतिसे प्रवाहित होती रही है और मनुष्यके एक बड़े समुदायको अनुप्राणित एवं विकसित करती रही है।

भारतीय संस्कृतिका दूसरा नाम हिंदू-संस्कृति

कभी-कभी यह प्रश्न उठ खड़ा होता है, क्या भारतीय संस्कृति व हिंदू-संस्कृति दोनों एक ही वस्तुएँ हैं। इस विवादका समाधान करनेके लिये हम एक विद्वान्‌द्वारा प्रयुक्त उदाहरणका आश्रय लेंगे। 'भारतीय संस्कृतिका ताना वही है जिसे आर्य या हिंदू नामसे उपलक्षित किया जाता है। बानेके सूत इधर-उधरसे आये हैं, पर वे सब तानेपर आश्रित हैं। गङ्गामें बहुत-सी छोटी-बड़ी नदियाँ मिली हैं परंतु मिलनेपर जो पयस्विनी बनती है वह गङ्गा ही कही जाती है। इस न्यायसे भारतीय संस्कृतिको हिंदू-संस्कृति भी कह सकते हैं।' जिस प्रकार भारतीय दर्शनका नाम लेनेसे वैदिक, बौद्ध, जैन, हिंदू इत्यादि दर्शनोंका बोध होता है उसी प्रकार भारतीय संस्कृति कहनेसे वैदिक, बौद्ध, जैन इत्यादि विचारधाराओंका समावेश हो जाता है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति व हिंदू-संस्कृतिके सम्बन्धमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं खड़ा करना चाहिये। यह एक दूषित मनोवृत्तिका परिचायक होगा। भारतीय संस्कृति और हिंदू-संस्कृति दोनों समानार्थसूचक हैं।

भारतीय संस्कृतिद्वारा अनेकतामें एकताका दर्शन

इस भारतीय अथवा हिंदू-संस्कृतिने अपनेको धर्म, वाङ्मय, चित्रकला एवं मूर्तिकला इत्यादि विविध रूपोंमें व्यक्त किया है। समयानुकूल इसके कलेवरमें भिन्नता दृष्टिगोचर होती रही। उदाहरणके लिये बौद्धकालीन संस्कृति वैदिक कालकी संस्कृतिसे कुछ भिन्न रही, उसी प्रकार अशोककालीन संस्कृति गुप्तकालीन संस्कृतिसे भिन्न थी और आगे आकर पठान व मुगलकालमें संस्कृतिका कुछ दूसरा ही रूप रहा। और उसी समयमें उत्तर व दक्षिण भारतमें भी अन्तर था। किंतु इन देश-कालानुगत भेदोंके रहते हुए भी भारतकी संस्कृतिकी यह विशेषता रही है कि यह भिन्नतामें भी एकता-का दर्शन कराती है, अनेकरूपतामें एकरूपता, भेदमें अभेद-का विवेचन करती है। यह विशेषता इसकी प्रधान धारा—वैदिक धारासे आयी है, जो इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें सर्वत्र अनुस्यूत है। श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके शब्दोंमें 'व्यावहारिक अनेकतामें तात्त्विक एकता और प्रकृतिजनित जगत्‌की विषमतामें परमात्माकी नित्य समता देखना 'हिंदू-संस्कृति'की विशेषता है।'

भारतीय संस्कृतिके मूल आधार

अब प्रश्न उठता है कि भारतीय संस्कृतिके वे कौनसे प्रमुख आधार हैं जो इसे अन्य संस्कृतियोंकी अपेक्षा भिन्नता तथा विशिष्टता प्रदान करते हैं। यहाँ उन्हीं प्रमुख आधारोंका संक्षिप्त विवेचन उपस्थित किया जायगा।

१—आध्यात्मिकता—भारतीय संस्कृतिकी पहली विशेषता है उसकी आध्यात्मिकता। हमारी सामूहिक आत्माका झुकाव आध्यात्मिकताकी ओर है। हम जीवनके समस्त प्रश्नोंको आध्यात्मिकताकी कसौटीपर कसते हैं। जो बात आध्यात्मिक ढंगसे कही जाती है वह हमें अधिक रुचिकर प्रतीत होती है। भौतिकताकी ओर भारतीयोंका झुकाव कम है। इस आध्यात्मिकतामें हमें अद्वैतवादकी प्रधान धारणा मिलती है। यद्यपि और भी वाद प्रचलित हुए हैं किंतु सभीमें अद्वैतभावनाकी ही पुष्टि मिली है। जीव, परमात्मा एक है। ब्रह्म ही सब कुछ है। सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति एक ही भगवान्से हुई है। उसी भगवान्में यह अखिल विश्व स्थित है और उन्हींमें विलीन होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् ३। १ में कथन है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् ब्रह्म।

गीतामें भी भगवान्ने कहा है कि परमेश्वरसे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और वही समस्त जगत्में व्याप्त हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

किंतु भारतीय संस्कृतिकी इस आध्यात्मिक प्रवृत्तिका यह अर्थ नहीं कि भारतीय जनता अर्थ व कामसे विमुख रही। सांसारिक उन्नति करना भी आवश्यक समझा जाता था। यहाँके राजा दिग्विजयमें अपना गर्व समझते थे। चक्रवर्ती सम्राट् होना उनका आदर्श रहता था। अपनी विजयपताका-को वे सुदूर देशोंमें फहराते रहे। अन्ताराष्ट्रीय व्यापारमें भी भारत सदैव आगे रहा। भारतीय संस्कृतिमें ऐहलौकिक उन्नतिकी कभी उपेक्षा नहीं की गयी। लेकिन इस ऐहलौकिक उन्नतिका मूल आधार आध्यात्मिक था जिससे कि समाजका जीवन सदैव बिना किसी जटिलताके सुचारुपूर्वक चलता रहा। अद्वैतमूलक इस आध्यात्मिक प्रवृत्तिके तीन महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। एक तो कट्टरपनका अभाव। हिंदूका हाथ दूसरेके देवालयको ढहानेको नहीं उठता। परधर्मावलम्बियोंके प्रति हिंदुओंने जैसा उदार व्यवहार दिखलाया वैसा संसारकी किसी संस्कृतिमें नहीं मिलता। दूसरा है अहिंसा-भाव और दया। राग-द्वेषजनित स्वार्थके वशीभूत होकर हिंदू भी बुरे-से-बुरे काम कर बैठता है, परंतु सामान्यतः उसकी प्रवृत्ति स्वरक्षणात्मक (Defensive) होती है। आक्रमणात्मक (Offensive) नहीं। शारीरिक बल होते हुए भी वह अकारण, केवल अपने लिये, दूसरोंसे कम ही कलह-विग्रह करता है। अज्ञानवश या मोहवश निर्दयता भी करता है, परंतु प्रत्यक्ष जीवदया उसे अधिक रुचती है। वह यह सोचता है कि जब सभी प्राणी अपने समान ही हैं तो कौन किससे द्वेष करे और कौन किसका अहित करे। तीसरा परिणाम मायावादका है। अपढ़ ग्रामीण भी ऐसा मानता है कि संसार माया है, मिथ्या है। मायाका बन्धन तोड़ना चाहिये। हिंदू त्यागीको भोगीसे ऊँचा मानता है, चाहे स्वयं त्यागी न हो सके। वैराग्यको अच्छा समझता है, चाहे स्वयं विरागी न हो। यतिके प्रति उसके मनमें श्रद्धा रहती है। हिंदू-जीवनमें इसी कारण तपस्याका थोड़ा-बहुत स्थान अवश्य रहता है। व्रत, उपवास, जागरण इसीके परिणाम होते हैं। प्रत्येक हिंदू इन सब बातोंसे बचपनसे ही परिचित रहता है।

२—कर्म व पुनर्जन्म—कर्म व पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर अटल विश्वास हिंदू-संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है। ईश्वर या अन्य उपास्यकी पूजा करते हुए और योग-क्षेमके लिये सैकड़ों देवी-देवताओंकी ड्योढ़ियोंपर माथा टेकते हुए भी हिंदू अन्ततोगत्वा अपनेको ही सुख-दुःखका दायी मानता है। इस विश्वाससे उसमें अपूर्व शक्ति आती है। वह भले ही विपत्तियोंसे घिर जाय किंतु वह विचलित नहीं होता। मृत्यु भी उसके लिये महत्त्वकी चीज नहीं रहती। इन सब विश्वासोंसे उसमें कष्ट सहनेकी क्षमता आ जाती है।

हिंदू सदैवसे यह विश्वास करते आ रहे हैं कि मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा फल उसे प्राप्त होता है। दूसरे शब्दोंमें वह स्वयं अपने भविष्यका निर्माता होता है। तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदय बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई॥

वाल्मीकिने भी (युद्धकाण्ड १११। २५-२६ में) इसी प्रकारके विचार व्यक्त किये हैं—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
यतः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः।
शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते।

कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है और कर्मानुसार
जन्मान्तरकी प्राप्ति होती रहती है। एवं जबतक मुक्ति नहीं
हो जाती तबतक यह जन्म-मरणका प्रवाह चलता ही रहता है।
वैधकर्मोंके फलस्वरूप शुभयोनि प्राप्त होती है और निषिद्ध
कर्मोंके द्वारा अशुभ योनिमें जाना पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद्
(५ । १० । ७) में कहा है—

रमणीयचरणाः रमणीयां योनिम् आपद्येरन्......

कपूयचरणाः कपूयां योनिम् आपद्येरन्।

इसीसे सम्बन्धित हिंदू-संस्कृतिकी एक
३—परलोकवाद—
तीसरी विशेषता है परलोकवाद। हिंदू परलोकवादमें भी
विश्वास रखता है। किये हुए कर्मका फल कर्ताको परलोकमें
मिलता है। इसलिये हिंदू बुरे कर्मसे बचता है और
समझता है कि अधम साधनोंसे इस लोकमें उन्नति कर
लेना वास्तविक उन्नति नहीं है। इस लोक व परलोक
दोनोंकी उन्नति वास्तविक उन्नति है। यही कारण है
कि हिंदू अपने जीवनमें साधन (Means) को साध्य
(Ends) की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है। उसके
धर्मकी कणाद ऋषिके शब्दोंमें यही परिभाषा है—
'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' जिससे इस लोक व
परलोक दोनोंकी उन्नति हो वही धर्म है।

परलोककी कल्पना आदि मानवमें तथा प्रायः सभी
धर्मोंमें दृष्टिगोचर होती है; पर हिंदू-संस्कृतिमें इस सम्बन्धमें
जैसी सूक्ष्मता एवं व्यापक दृष्टि देख पड़ती वैसी अन्यत्र नहीं।
हिंदू-संस्कृतिमें इसकी जितनी विविधता है उतनी ही
गूढ़ता है।

४—अवतारवाद—भारतीय संस्कृतिकी चौथी विशेषता
उसका अवतारवाद है। प्रत्येक हिंदूको यह पूर्ण विश्वास है
कि भगवान् हमारे रक्षक हैं। वे स्वयं इस पृथ्वीमण्डलमें
अवतीर्ण होकर मनुष्यमात्रका प्रदर्शन करते हैं। अवतार-
वादके सिद्धान्तसे भारतीय साहित्यके प्रत्येक ग्रन्थ ओतप्रोत हैं।
गोस्वामी तुलसीदासजीका रामचरितमानस अवतारवादके
सिद्धान्तको प्रतिपादित करनेवाला एक ज्वलन्त प्रमाण है।
बालकाण्डमें शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

रावणद्वारा प्रताड़ित देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान्ने
दशरथजीके घरमें अवतार लेना स्वीकार कर लिया था।
वाल्मीकि ऋषिने बालकाण्डके ५। २९-३० में लिखा है—

हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम्।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन्पृथिवीमिमाम्।

राम अथवा कृष्णकी हम जो यह अत्यधिक श्रद्धा और
भक्तिके साथ उपासना करते हैं वह केवल इसी अवतारवादके
सिद्धान्तके कारण ही। जिसके आधारपर हमारे महर्षियोंने
मानव-जीवनके उत्तरोत्तर विकासके लिये आदर्श उपस्थित कर
रक्खे हैं। संसारमें कोई असम्भव नामकी वस्तु नहीं है; मनुष्य-
के पुरुषार्थोंकी कोई भौतिक सीमा नहीं है। उसमें अपरिमित
सामर्थ्य एवं क्षमता है जिसका समुचित उपयोग कर वह
मानवमात्रको सुखी बना सकता है। अवतारवादका यही
संदेश है।

५—वर्णाश्रम-व्यवस्था—भारतीय संस्कृतिकी पाँचवीं
विशेषता उसकी वर्णाश्रम-व्यवस्था है। हिंदू-संस्कृति एक
सुव्यवस्थित समाजव्यवस्थामें विश्वास रखती है। वर्ण-व्यवस्था
एवं आश्रम-व्यवस्थाके द्वारा आचार्योंने मनुष्यमात्रके ऐहिक-
पारलौकिक कृत्योंकी पूर्तिका सुलभ साधन सम्पादित किया था।
इस सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट करते हुए श्रद्धेय डा०
भगवानदासने अपनी पुस्तक 'साइंस आफ सेल्फ' (Science
of Self) में लिखा है—

"He who knows the inner purpose of the laws of process and its orders, ideated by the self-existent, he alone can rightly ascertain and enjoy the rights and duties of the different classes of human being, of their social occupations (Varnas) and vocations and of their Āshramas 'stages' in life".

अर्थात् जिसने सृष्टिके नियमों तथा अध्यात्म-भावनासे
प्रेरित उसके सम्बन्धोंके आन्तरिक उद्देश्योंके बारेमें ज्ञान प्राप्त
कर लिया है केवल वही व्यक्ति समुचितरूपसे मानवोंकी
विभिन्न जातियोंके सम्बन्धमें; उनके वर्णोंके सम्बन्धमें और उनकी

आजीविकाके सम्बन्धमें उनके कर्तव्यों और अधिकारोंका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। डा० भगवानदास इस वर्णाश्रम-व्यवस्थाको प्राचीन आध्यात्मिक समाजवाद समझते हैं। उनका कहना है कि केवल प्राचीन समाजवाद ही वास्तविकरूपसे वैज्ञानिक आधारपर निर्मित है; क्योंकि आधुनिक पाश्चात्य व्यक्तियोंद्वारा सबसे प्रमुख विज्ञान जिसे मनोविज्ञान कहते हैं उसपर यह आधारित है—

"It is the ancient socialism which is truly scientific because based on the science of psychology, the most important of all sciences recognized in the west now."

(अ) आश्रम-व्यवस्थाने भारतीय संस्कृतिमें व्यक्तिगत जीवनको सुन्दर ढाँचेमें ढाल दिया है। हिंदूकी दृष्टिमें जीवनका लक्ष्य भोग नहीं, संग्रह नहीं, किंतु त्याग और परोपकार है। उसका जीवन धर्मप्रधान है। अतः उसका प्रारम्भ धार्मिक शिक्षा व पवित्र रहन-सहन—ब्रह्मचर्य-आश्रमसे होता है। गृहस्थाश्रममें भी वह त्यागमय भोगका जीवन बिताता है। तथा अन्तमें वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रमोंमें पूर्णतः उच्चतर धर्मकी ओर लगता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रमकी भित्ति ब्रह्मचर्याश्रम है तो उसका लक्ष्य वानप्रस्थ और संन्यास है। पुत्रकी इच्छा हिंदू इसलिये करता है कि उसे गृहस्थाश्रमका भार सौंपकर स्वयं पूर्णतः उच्चधर्मकी ओर लग सके। इस तरह हम देखते हैं कि चारों आश्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक त्यागकी स्थितिमें ले जानेवाले हैं। और अपने-अपने पूर्वाश्रमकी सुदृढ़ भित्तिके आधारपर स्थित हैं।

(ब) वर्ण-व्यवस्थाने हिंदू-संस्कृतिमें समाजको सुनियन्त्रित एवं सुपरिचालितरूपमें रख रक्खा है। जीवन-संग्राममें प्रतिस्पर्धाका अभाव ही हिंदू-संस्कृतिका ध्येय है। इसीके उपायस्वरूप वर्ण-प्रथाका विधान है। इसका अर्थ है—सांसारिक सम्पत्तिके लिये अपने वर्णकी आजीविकाको अपनाकर उससे संतुष्ट रहना और उसके द्वारा जो सम्पत्ति प्राप्त हो उसे समाजमें वितरण करना।

आजीविकाके अनुसार वर्ण विभिन्न होनेपर वे सभी समाजके अङ्ग हैं और उनमें पारस्परिक प्रेम एवं बन्धुताका अभाव नहीं समझना चाहिये। यदि उपमाके तौरपर शूद्र वर्णकी उत्पत्ति परमात्माके चरणोंसे और ब्राह्मण वर्णकी मुखसे बतायी गयी है तो इससे यही सूचित होता है कि ब्राह्मणकी तरह शूद्र भी उसी देहका एक आवश्यक अङ्ग है। चैतन्यकी दृष्टिसे मुख और पैरमें क्या अन्तर है ? और फिर उसी चरणसे गङ्गाजीकी उत्पत्ति है, उसी चरणको भक्तजन सबसे अधिक चाहते हैं जब कि मुखसे तो उच्छिष्टता भी आ जाती है। अतः शूद्रोंकी श्रीचरणोंसे उत्पत्ति बताना उनकी अधमताका चिह्न नहीं है। दूसरे शब्दोंमें वर्णोंमें न तो आत्माकी दृष्टिसे कोई भेद है और न कर्म-भेदसे उनमें कोई छोटा-बड़ा है। अपने-अपने स्थानपर सभीका समान महत्त्व है। सभी अन्योन्याश्रित हैं। एक-दूसरेके पूरक और सहायक हैं तथा सभीकी अपने-अपने स्थानपर विशिष्ट उपयोगिता है। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल तथा श्रमबलसे गौरवशाली है। यही इनका सुधर्म है।

श्रीसम्पूर्णानन्दजी वर्णाश्रम-व्यवस्थाको संस्कृतिका अङ्ग न मानकर सभ्यताका अङ्ग समझते हैं। उनका कहना है कि—

'वर्ण-भेद जन्मगत हो या कर्मगत, परंतु उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्तिको समाजमें अपने गुण-कर्मानुसार यथोचित स्थान मिल सके। ताकि वह अपना और समाजका अधिक-से-अधिक अभ्युदय और सम्भवतः अपना पारलौकिक कल्याण कर सके। आश्रम-भेदका उद्देश्य यह है कि व्यक्ति-जीवनका इस प्रकार नियमन किया जाय कि उसके सहज गुणोंके विकासको अधिक-से-अधिक अवसर मिल सके। जो स्थान समष्टिके जीवनमें वर्ण-भेदका है वही व्यष्टिके जीवनमें आश्रम-भेदका है। दोनों ही सामाजिक संगठनके पहलू हैं। अतः सभ्यताके अन्तर्गत हैं।'

६–पुरुषार्थ—भारतीय संस्कृतिकी छठवीं विशेषता है उसका 'पुरुषार्थ' पर महत्त्व। भारतीय जीवनकी चरितार्थतामें चार पुरुषार्थ माने गये हैं। यह हैं—

'धर्म', 'अर्थ', 'काम' और 'मोक्ष'। अंग्रेजीमें हम इन्हें चार प्रकारके (Values) कह सकते हैं। 'मॉरल', 'इकोनामिक', 'इंस्टिंक्टिव' और 'स्प्रिचुअल'। यही मनुष्यकी चार आवश्यकताएँ हैं जिनका जीवनमें सामञ्जस्यरूपमें रहना बहुत आवश्यक है। हिंदू यह विश्वास करता है कि 'मोक्ष' प्राप्तिके लिये अर्थात् जीवनको सफल बनानेके लिये 'अर्थ' व 'काम' की पूर्ति होनी चाहिये। किंतु 'अर्थ' व 'काम'की प्राप्तिके लिये धर्मका आश्रय लेना होगा। वाल्मीकिजीके शब्दोंमें 'धर्मात् अर्थश्च कामश्च,' 'धर्म' हीसे 'काम' और 'अर्थ' की पूर्ति होती है। 'धर्म' के विपरीत 'अर्थ' व 'काम' का सेवन नहीं करना चाहिये। हिंदू ध्येयकी प्राप्तिके लिये सदैव उचित साधनोंपर जोर देता है। यहींपर हम देख

सकते हैं कि हिंदू-संस्कृति आदर्श जीवनके साथ-साथ व्यावहारिक जीवनकी सफलतापर भी बहुत जोर देती है। वस्तुतः हिंदू-संस्कृतिके अनुसार आदर्श जीवन व व्यावहारिक जीवन कोई पृथक्-पृथक् वस्तु नहीं है। जो आदर्श जीवन है वही व्यावहारिक जीवन है। और जो व्यावहारिक जीवन है वही आदर्श जीवन है। जीवन्मुक्त एक ऐसे ही प्रकारके जीवनको बितानेवाला है।

इस तरह हम देखते हैं कि 'धर्म' के आधारपर पलती हुई 'अर्थ' व 'काम' के आधारपर विकसित व परिपुष्ट होती हुई भारतीय संस्कृति अन्ततोगत्वा 'मोक्ष' अर्थात् 'सर्वहिताय' की भावनामें अपने चरम एवं प्रखरतम स्वरूपमें प्रकट होती है।

७—संस्कार—भारतीय संस्कृतिकी सातवीं और अन्तिम विशेषता है—भारतीय जीवनका पग-पगपर संस्कारोंसे पावन बनना। गर्भाधान-संस्कारसे लेकर अन्त्येष्टि क्रिया संस्कारतक भारतीयोंने षोडश संस्कारकी परम पावन कल्पना की है। जब जीव गर्भमें आता है भारतीय संस्कृतिने उस समयके लिये गर्भाधान-संस्कारकी व्यवस्था कर रक्खी है। व्यक्तिके भावी जीवनको सुमधुर एवं पावन बनानेकी योजना इस संस्कारद्वारा की जाती है। व्यक्तित्वके निर्माणका दृष्टिकोण निश्चित कर दिया जाता है। इसी प्रकार पुंसवन, मुण्डन, विद्याध्ययन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि प्रमुख संस्कारोंसे पावन होता हुआ व्यक्ति मोक्षको प्राप्त करता है। मृत्युके समय भी भारतीय संस्कृतिमें एक संस्कारकी व्यवस्था है। ऋषियोंने इस सम्बन्धमें बड़ी सुन्दर व्यवस्था की है। विस्तारसे जाननेके लिये आवश्यक ग्रन्थोंको देखना वाञ्छनीय है। काशी हिंदू-विश्वविद्यालयके प्रोफेसर डा०राजबली पाण्डेयने हिंदू-संस्कारों-पर एक अत्यन्त गवेषणापूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उन्होंने सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोणसे सभी संस्कारोंके विभिन्न पहलुओंपर सुन्दर प्रकाश डाला है।

संक्षेपमें भारतीय संस्कृतिका यही प्रमुख मूलतत्त्व है जो इसे अन्य संस्कृतियोंकी अपेक्षा विशिष्टता प्रदान करता है। प्रत्येक संस्कृतिमें अपनी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ होती हैं। भारतीय संस्कृति इस नियमका कोई अपवाद नहीं है। जीवनकी जटिलता और विषमताके बढ़नेके साथ-ही-साथ हमारी संस्कृतिका प्रवाह कभी-कभी ढीला भी पड़ जाता रहा है, किंतु इसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ रही हैं जिसके कारण यह सदैव अबाध गतिसे भारतीयोंके जीवनको प्रेरणा देती रही है। यहाँ संक्षिप्तमें अब हम उन्हीं बातोंपर विचार करेंगे जिसके कारण भारतीय संस्कृतिकी इतनी महत्ता है और जिसके कारण यह आज भी जीवित और जाग्रत् है।

भारतीय संस्कृतिकी महत्ता

महात्मा गांधीके शब्दोंमें 'दुनियाँमें किसी संस्कृतिका भण्डार इतना भरा-पूरा नहीं है जितना हमारी संस्कृतिका है। हम लोगोंने उसे अभी जाना नहीं है। हम उसके अध्ययनसे दूर रक्खे गये हैं। हमें उसके जानने और माननेका मौका ही नहीं दिया गया। हमने उसके अनुसार चलना करीब-करीब त्याग दिया है।' महात्मा गांधीकी उक्ति कितनी सत्य है। अपनी संस्कृतिके सम्बन्धमें अनभिज्ञ हो जाना हमारे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व नैतिक पतनका कारण हुआ। हमारा विकास और हमारी उन्नति तभी सम्भव है जब हम अपनी संस्कृतिके सम्बन्धमें समुचित जानकारी रख भविष्यको अतीतसे सम्बन्धित रक्खें। अतीतसे सम्बन्ध न रहनेपर हमारी दशा वही हो जाती है जैसी एक पाश्चात्त्य दार्शनिकने इन शब्दोंद्वारा प्रकट किया है।

'हम बढ़ते हैं किंतु परिपक्वता नहीं आती। हम आगे जाते हैं किंतु दिशाका ज्ञान नहीं है।'—We grow but we donot mature. We move forward but in a directionless line.

भारतीय संस्कृतिकी महत्ताके कई प्रमुख कारण हैं जिसके कारण यह सार्वभौमरूपसे भारतीयोंका कल्याण करती हुई चली आयी।

१—आशावाद—भारतीय संस्कृति सदैव आशावादकी ओर हिंदुओंका ध्यान आकर्षित करती रही है। कितनी ही विपत्तियाँ आ जायँ, कितने ही बड़े सङ्कटमें हिंदू पड़ जाय किंतु उसको सदैव इस बातका भरोसा रहता है कि भगवान् उसके रक्षक हैं, विपत्तियाँ क्षणिक हैं, उनकी कृपासे इन विपत्तियों तथा आपत्तियोंको वह दूर कर सकता है। प्रह्लादका जीवन इसका एक उदाहरण है। इस आशावादका प्रमुख आधार भारतीय संस्कृतिकी आध्यात्मिकता है। स्वामी विवेकानन्द इस आध्यात्मिकतापर बहुत गर्व करते हैं। उनका कहना है कि—

'भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता। अमर है वह और वह उस वक्ततक अमर रहेगा जबतक कि यह विचारधारा पृष्ठ-भूमिके रूपमें रहेगी, जबतक कि उसके लोग आध्यात्मिकताको न छोड़ेंगे।'

इसलिये हिंदू-संस्कृति अमर है। वह मिट नहीं सकती। क्यों? उसका मूल अमर है। उसकी आधारशिला अमर है। हिंदू देहात्मवादी नहीं है। उसकी दृष्टिमें देहाध्यास अज्ञानमूलक है। जन्म, शिक्षा, दीक्षा, संघ-संस्कार, वातावरणादि नाना कारणोंसे हिंदू हार्दिक विश्वास रखता है—इस दृश्यमान स्थूल जगत्के मूलमें, इसके अणु-अणुमें, प्रत्येक कण-कणमें, एक, अद्वितीय, पूर्ण, अपरिच्छिन्न, अनादि और अविनाशी आत्मा है और वही मैं हूँ जिसे यजुर्वेद (४०।१६) में 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' है। कठोपनिषद्के शब्दोंमें (२।१।११) 'नेह नानास्ति किंचन' है, छान्दोग्य (३।१४।१) के शब्दोंमें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है, माण्डूक्यके शब्दोंमें 'अयमात्मा ब्रह्म' है और बृहदारण्यक (१।४।१०) के शब्दोंमें 'अहं ब्रह्मास्मि' कहलाता है।

२—समानता—भारतीय संस्कृतिकी यह महत्ता है कि उसमें प्राणिमात्रके प्रति समानताकी भावनाकी अभिव्यञ्जना हुई है। यह समानता न केवल भौतिक परिस्थितियोंतक ही सीमित है वरं उससे भी आगे बढ़कर आध्यात्मिकताके क्षेत्रमें भी यह समानता दृष्टिगोचर होती है। श्रीमद्भागवत (७।१४।९) में देवर्षि नारदजी धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, साँप, पक्षी और मक्खी आदिको अपने निज पुत्रके समान समझे, उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है—

> मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
> आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥

कितनी पवित्र भावना है, कितना सच्चा स्नेह है। यह केवल भारतकी उदार संस्कृतिमें ही सम्भव है। जिसमें प्राणिमात्रको अभयदान ही नहीं समस्नेह दानकी भी व्यवस्था है।

यही नहीं, जिन जीवोंके आकार-प्रकार, खान-पान, व्यवहार इत्यादिमें कभी समता हो ही नहीं सकती, उनमें भी भारतीय संस्कृतिके समान समानता देखी गयी है। श्रीकृष्ण भगवान् गीता (५।१८) में कहते हैं—विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणमें, चाण्डालमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें भी विवेकी पुरुष समदृष्टि रखते हैं—

> विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

भारतीय संस्कृतिमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना व्यापकरूपसे संनिहित है। यही कारण है कि इसका आदर्श सदैव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रहा है।

३—सहिष्णुता—विविध सम्प्रदायोंके प्रति सहिष्णुता और सम्मानका भाव ही भारतीय संस्कृतिकी महत्ताका कारण रही है। इस देशमें धार्मिक एवं साम्प्रदायिक विद्वेष प्रायः हुआ ही नहीं, बौद्ध-धर्म जो वैदिक धर्ममें सुधारके हेतु आया था स्वयं वह सनातन-धर्ममें आत्मसात् हो गया। बुद्धको अवतार बना लिया गया। हिंदू-धर्ममें अनेक मत व सम्प्रदाय रहे हैं उनमें परस्पर विरोध भी रहा है; किंतु साथ ही उनमें सदैव समन्वय बना रहा। वे सभी एक विशाल परिवारके सगे बन्धु बने रहे। अशोकने अपने एक शिलालेखमें यह स्पष्ट रूपमें आदेश जारी किया था कि—

'सब सम्प्रदायोंका आदर करना लोगोंका कर्तव्य है। ऐसा करनेसे अपने सम्प्रदायकी उन्नति और दूसरे सम्प्रदायका उपकार होता है। इसके विपरीत जो करता है वह अपने सम्प्रदायको भी क्षति पहुँचाता है और दूसरे सम्प्रदायका भी अपकार करता है।'

अशोक इस सहिष्णुताकी भावनाको अतीव आवश्यक समझता था इसलिये इस सम्बन्धमें उसका स्पष्ट आदेश था कि—

'जहाँ-जहाँ समुदायवाले हों उनसे कहना चाहिये कि देवताओंके प्रिय दान या पूजाको इतना बड़ा नहीं मानते जितना इस बातको कि सब सम्प्रदायोंके सार (तत्त्व) की उन्नति हो।'

इस सहिष्णुताकी भावनाके कारण ही यवन, शक, हूण, कुशाण आदि जातियाँ भारतीय समाजका अङ्ग बन गयीं। और उनके अनेक विश्वास एवं अनुष्ठान सनातन वैदिक धर्ममें सम्मिलित कर लिये गये। इसी विशेषताके कारण ही प्राचीन संस्कृतिकी परम्परा अक्षुण्ण बनी है।

भारतीय संस्कृतिकी महत्ताके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट करते हुए एक विद्वान् लिखता है—

'यदि संसारमें कोई ऐसा देश है जिसमें सभ्यताके सूर्यका सर्वप्रथम उदय हुआ, जिसमें ज्ञान-महोदधिकी उत्ताल तरङ्गें अनादिकालसे सुदूर कोनोंको भी आप्लावित करती रही हैं, जहाँ सदासे धर्म, त्याग और वैराग्यकी अविरल वाहिनी धाराओंने लोगोंको मनसा, वाचा, कायेन पावन किया है, जहाँ कर्म, ज्ञान, भक्तिकी परम त्रिवेणी पूर्वेतिहासिककालसे दुःखदावानलदग्ध प्राणियोंके संतप्त हृदयोंको शान्ति-सुधा पिलाती रहती है, जिसको युग-युगमें संख्यातीत संत, महापुरुष और अवतारोंको प्रकट करनेका गौरव प्राप्त है, जहाँ

आध्यात्मिकता-लता खूब घनी फली-फूली है, तो वह पुण्यभूमि भारतवर्ष है ।

'यदि समस्त विश्वमें कहीं ऐसी कोई जाति है जिसने भू-भागपर सर्वप्रथम मानव-सभ्यता व संस्कृतिको जन्म दिया, जिसने जीवनकी अत्यन्त उलझी हुई तमोमय ग्रन्थियोंको त्याग-स्नेहपूर्ण आलोकशाली ज्ञान-प्रदीपके सहारे सुस्पष्ट रीतिसे सुलझाकर मनुष्यजातिका परम कल्याण किया ।······जिसकी सभ्यता प्रारम्भसे आजतक चली आयी है और विधर्मी वैदेशिक शासकोंके क्रूर व कपटमय मूलोच्छेदी प्रहारोंको एक हजार वर्षतक ढकेलती हुई जीवित रही है, जो आत्माकी अमरताके सुनहले गीत गाती हुई तन्मय होकर अपने लक्ष्य-आत्माके समान अमर हो गयी है, तो वह पुण्य-भूमि भारतवर्षकी आर्य हिंदू-जाति है ।'

जर्मन विद्वान् मैक्समूलर १८५८ में महारानी विक्टोरिया-के नाम एक पत्र लिखते हुए भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये हैं—

"If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty, that Nature can bestow, I should point to India.

"If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has mostly deeply pondered over the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant, I should point to India.

"And if I were asked myself from what literature, we here in Europe, we who are nurtured almost exclusively on *the thoughts of the* Greeks and Romans, and of the Semitic Race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more universal, in fact, more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and Eternal life, again I *should point to India.*"

भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें मैक्समूलरके ये विचार कितने उदार एवं सत्य हैं । भारतीय संस्कृति सबके लिये, कल्याण और मङ्गलकी परम कामना है—सब सुखी हों, सब स्वस्थ रहें, सब एक-दूसरेकी भलाई करें, किसीको कोई दुःख न हो ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

यही कारण है कि भारतीय सदैवसे अपनेको इस परम पवित्र भावनामें लीनकर मानव-जातिको उच्चतम आदर्शोंका संदेश चिरकालसे देते रहे ।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

असार संसार

पाइ प्रभुताई कछु कीजिए भलाई, यहाँ
नाहीं थिरताई बैन मानिए कविनके ।
जस अपजस रहि जात बीच पुहुमी के,
मुलक खजाना 'बेनी' साथ गए किनके ॥
और महिपालनकी गिनती गनावै कौन,
रावनसे है गए त्रिलोकी बस जिनके ।
चोपदार चाकर चमूपति चमरदार,
मंदिर मतंग ये तमासे चार दिनके ॥

—बेनी कवि

चेत !

चमकि चमाचम रहे हैं मनि-गन चारु,
सोहत चहूँधा धूमधाम धन धामकी ।
फूल फुलवारी फल फैलिकै फबे हैं तऊ,
छवि छटकीली यह नाहिन अरामकी ॥
काया हाड़ चामकी लै रामकी बिसारी सुधि,
जामकी को जानै बात करत हरामकी ।
'अंबादत्त' भाखै अभिलाखैं क्यों करत झूठ,
मूँदि गईं आँखैं तब लाखैं कौन कामकी ॥

—अम्बादत्तजी

निरन्तर आगे बढ़ते रहिये

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

जो आगे बढ़ता है, वह स्वस्थ, शक्तिमान् और दीर्घजीवी रहता है; जो थककर एक ही स्थानपर हारकर बैठ जाता है, वह निर्बल, अशक्त और अल्पजीवी होता है—यह नियम प्रकृतिमें सर्वत्र दिखायी देता है।

निरन्तर तीव्र गतिसे प्रवाहित कलकल-निनादिनी सरिताओंका क्षिप्र जल जीवन और उल्लाससे परिपूर्ण होता है; इसके विपरीत जिस जलमें प्रवाह नहीं है, जो एक स्थानपर चारों ओरसे घिरकर ठहर गया है, वह सड़कर दुर्गन्धिमय हो उठता है। इसी सड़े जलको यदि गतिमान् कर दिया जाय, तो इसीमें नवजीवन, शुद्धि एवं शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है।

गति ही जीवन है, स्थिरता मृत्युका पर्याय है।

प्रकृतिका निरीक्षण कीजिये। अनन्त आकाशका भ्रमण करता हुआ सूर्य प्रातःसे अपना गतिमान् जीवन प्रारम्भ करता है और असंख्य लोकोंको द्युतिमान् करता हुआ सम्पूर्ण दिन गतिशील रहकर रात्रिमें विश्राम करता है। उसका जीवन प्रतिदिन प्रतिक्षण गतिसे परिपूर्ण रहता है। वह निरन्तर आगे बढ़ता है। गतिशील रहनेके कारण उसके द्वारा विश्वका उदर-पोषण होता है। सूर्यका एक दिनका विश्राम जीव-जन्तु-जगत्‌के लिये मृत्युका संदेश बन सकता है।

जीव-जन्तुओं, पक्षियोंको देखिये। सर्वत्र गति है। वे आलस्यमें चूर कभी नहीं रहते, सतत उद्योगशील बने रहते हैं। गतिमान् जीवनके कारण वे स्वास्थ्य, सौन्दर्य और स्फूर्तिका आनन्द प्राप्त करते हैं। यत्र-तत्र आकाशमें विहार करनेवाले पक्षी, जंगलोंमें चौकड़ी भरनेवाले हरिण, गतिमान् गायें, बकरिएँ, घोड़े, भेड़ और भैंसे, वृक्षोंपर उछल-कूदका जीवन व्यतीत करनेवाले बंदर, जलमें नित्य गतिशील मछलियाँ, कछुवे, मगर इत्यादि पूर्ण स्वस्थ, स्फूर्तियुक्त जीवन व्यतीत करते हैं। इनके जीवनमें गति नव उल्लासकी प्रतीक है। इसके विपरीत आलस्यमें जड-जीवोंकी तरह स्थिर पड़े रहनेवाले जीव पंगु, अल्पायु और अस्वस्थ रहते हैं। निष्क्रिय जीवन व्यतीत करनेवाले जीव जल्दी मृत्युको प्राप्त होते हैं। उनके अवयव शिथिलता पड़े रहनेके कारण अपना कार्य यथोचित रीतिसे पूर्ण नहीं कर पाते।

प्राणिशास्त्र हमें सिखाता है कि जो अपनी शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक शक्तियोंका निरन्तर उपयोग करता है, उस गतिके कारण उसकी ये शक्तियाँ तथा निरन्तर सक्रिय रहनेवाले अवयव पुष्ट होकर सुन्दर बन जाते हैं। काम न करनेवाले अवयव सूखकर विनष्ट हो जाते हैं। निरन्तर कार्यसे हमारा शरीर पुष्ट होकर आत्माकी ऊँचाई प्राप्त करता है।

लेखकके लिये अपनी माताजीका उदाहरण गतिमान् जीवनका जाग्रत् उदाहरण है। वे बड़े तड़के पाँच बजे गृहस्थके नाना कार्योंमें दत्तचित्त हो संलग्न हो जाती हैं। ठंड या गरमीमें शौचादिसे निवृत्त होकर स्नान, ध्यान, पूजन, गीतापाठके अतिरिक्त गृहस्थके सभी कार्य ऐसे करती हैं जैसे किसी मशीनके द्वारा किये जा रहे हों। भैंस दुहनेका कार्य हो या वस्त्र धोनेका, पाकशालाके कार्य हों या सीने-पिरोनेके, वे निरन्तर चलते रहते हैं। समस्त दिन कार्यसे थककर वे रात्रिमें मीठी नींद सोती हैं। उन्हें पता नहीं रहता कि कहाँ सो रही हैं। भोजन कम-से-कम, वस्त्र सबसे थोड़े किंतु कार्य सबसे अधिक! उनसे कोई उनके उत्तम स्वास्थ्यका रहस्य पूछे, तो वे उसे एक ही वाक्यमें कहेंगी, 'जो फिरैगो, सो चरैगो; बँधो भूखौ मरैगो।' अर्थात् जो चल-फिरकर गतिशील जीवन व्यतीत करेगा, उसे खुलकर भूख लगेगी; जो एक स्थानपर बँधा रहकर गतिविहीन जीवन व्यतीत करेगा, उसकी निष्क्रियता उसे

मार डाला। इस युक्तिने उनके स्वस्थ जीवनका सम्पूर्ण मर्म खिंचकर आ जाता है। वे गतिको ही जीवनका प्रधान लक्षण मानती हैं।

आधुनिक मानवके गिरे हुए स्वास्थ्य, कुरूपता, अल्पायुका एक प्रधान कारण स्थिर गतिविहीन जीवन है। उसे थोड़ी-थोड़ी दूरके लिये सवारी चाहिये। बस और ट्रामने उससे यात्राका आनन्द छीन लिया है; साइकिल आधुनिक मानवका शत्रु है; क्योंकि इसने आधुनिक युवकके पाँव जर्जरित, पंगु, शक्तिविहीन कर दिये हैं। वह साइकिलका ऐसा क्रीतदास हो गया है कि उसे थोड़ा भी चलना नहीं पड़ता। पाँवोंका समुचित उपयोग न करनेके कारण उसकी जीवनशक्तिका ह्रास हो गया है।

हम यह मानते हैं कि कुछ शौकीन लोग टहलने जाते हैं। बड़ी आबादियोंमें ऐसे व्यक्ति दस प्रतिशतसे अधिक नहीं हैं जो टहलनेके अभ्यस्त हैं। चाहे आप कोई और व्यायाम करें अथवा नहीं, किंतु टहलनेका लोकप्रिय व्यायाम अवश्य करें। यदि यह नहीं तो आजसे ही साइकिलका प्रयोग छोड़कर इधर-उधर जानेके लिये पैरोंका ही प्रयोग किया करें।

'चलते रहो' का तात्पर्य विस्तृत है। इसका एक अर्थ यह भी है कि कुछ-न-कुछ कार्य करते रहो, आलस्यमें निष्क्रिय जीवन व्यतीत न करो। एक कार्यके पश्चात् दूसरा कोई नवीन कार्य प्रारम्भ करो। मानसिक कार्यके पश्चात् शारीरिक, शारीरिक श्रमके पश्चात् मानसिक कार्य—यह क्रम रखनेसे मनुष्य निरन्तर कार्यशीलताका जीवन व्यतीत कर सकता है।

आलस्य शत्रु है, सक्रियता जीवन-जागृतिका लक्षण है। श्रम ही मनुष्यकी सर्वोत्कृष्ट पूँजी है। आलसी व्यक्ति परिवार तथा समाजका शत्रु है। वह दूसरोंके संचित अन्नपर निर्वाह करता है। ऐसे व्यक्तिसे प्रत्येक परिवारको बचना चाहिये।

परिवारमें जितने व्यक्ति हों, सभी सक्रिय रहें; अपना-अपना कार्य जागरूकतासे सम्पन्न करें। मुखियाका कर्तव्य है कि वह बच्चोंमें प्रारम्भसे ही कार्य करनेकी आदतोंका विकास करे। बच्चोंमें आलस्य उनके भावी जीवनके लिये हानिकर है।

निरन्तर कार्य करनेसे वासनाएँ नियन्त्रित रहती हैं। थक जानेसे मनुष्यका मन धृणास्पद कृत्योंसे बच जाता है। उसकी प्रवृत्तियाँ शुभ कार्योंकी ओर अधिक लगती हैं। कार्यशीलता चरित्रको चमकाकर गुणवान् कर देती है और स्वास्थ्य सौन्दर्यसे परिपूर्ण कर देती है।

गतिशील जीवनका समग्र ज्ञान-विज्ञान एवं मर्म ऐतरेय ब्राह्मणके एक गीतमें बड़ी सुन्दरतासे व्यक्त किया गया है। इस गीतमें भगवान् इन्द्रने हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहितको सक्रिय जीवन व्यतीत करनेका उपदेश इस प्रकार किया है—

रोहित! श्रमसे जो नहीं थका, ऐसे पुरुषको श्री नहीं मिलती। बैठे हुए आदमीको पाप धर दबाता है। इन्द्र उसीका मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो!

जो पुरुष चलता है, उसकी जाँघोंमें फूल फूलते हैं। उसकी आत्मा भूषित होकर फल प्राप्त करती है। चलनेवालेसे पाप थककर सोये रहते हैं इसलिये चलते रहो, चलते रहो!

बैठे हुएका सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होनेवालेका सौभाग्य खड़ा हो जाता है; पड़ेका सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलनेवालेका सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो!

सोनेवालेका नाम कलि है, अँगड़ाई लेनेवाला द्वापर है। उठकर खड़ा होनेवाला त्रेता है और चलनेवाला कृतयुगी होता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो!

चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है। चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है। सूर्यका परिश्रम देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिये चलते रहो, चलते रहो!

वीरताका लोभ

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

शरद्‌की सुहावनी ऋतु है। दो दिनसे वर्षा नहीं हुई है। पृथ्वी गीली नहीं है; परंतु उसमें नमी है। आकाशमें श्वेत कपोतोंके समान मेघशिशु वायुके वाहनों-पर बैठे दौड़-धूपका खेल खेल रहे हैं। सुनहली धूप उन्हें बार-बार प्रोत्साहित कर जाती है। पृथ्वीने रंग-बिरंगे पुष्पोंसे अंकित नीली साड़ी पहन रक्खी है। पतिंगेके झुंड दरारोंमेंसे निकलकर आकाशमें फैलते जा रहे हैं। आमोद और उत्साहके पीछे मृत्युके काले भयानक हाथ भी छिपे हैं, इसका उन्हें न पता है और न चिन्ता ही।

भिंडीके खेतमें मोटा बंदर दोनों हाथोंसे भिंडियाँ तोड़कर मुँह भरता जा रहा है। उसके कण्ठके दोनों ओरका भाग फूल उठा है। बार-बार वह दो पैरोंसे खड़ा होता है, इधर-उधर देखता है और फिर नीचे बैठकर भिंडियोंको मुखमें भरने लगता है। उसे अपना पेट भर लेना है। कोई आवे और पत्थर मारे, इससे पहले भागकर आमके पेड़पर चढ़ जानेको उसे प्रस्तुत रहना है। वीरता दिखाना होगा तो आमकी डालपर पहुँचकर, मुख नीचे झुकाकर, खों-खाँ करके वह दिखा लेगा। अभी तो उसे सावधान रहना है।

पीले मक्खनके रंगकी छोटी तितलियाँ इधर-उधर उड़ रही हैं। काले पंखोंवाली, गाढ़े पीले, नारंगी या सुचित्रित रंगके पंखोंवाली बड़ी तितलियोंसे उनकी न कोई स्पर्धा है, न कोई लड़ाई। वे बहुधा थोड़ी ऊँचाई-तक उड़ती हैं। इधर-उधर बैठती हैं और फिर उड़ जाती हैं। उन्हें नन्हें फूलोंका रस बहुत छोटी बूँद जितना मिल जाय इतना ही बहुत है। उनको कहाँ वीरता दिखानी है। उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं कि पृथ्वीपर फुदकते फिरनेवाले टिड्डे उनके कोमल सुन्दर पंखोंकी प्रशंसा नहीं करते और मिट्टीके पत्तेके डंठलसे लगा मटमैला मोटा कीड़ा उनकी ओर नहीं देखता।

बिलमेंसे एक चूहेने मुख निकाला। उसने अपनी बड़ी मूँछें इधर-उधर कीं, हवामें कुछ सूँघता रहा और फिर बिलमें घुस गया। वह इतना डरपोक क्यों है? क्या हुआ जो चितकबरी बिल्ली वहाँ घासमें दुबकी बैठी है और बड़े ध्यानसे उसके बिलकी ओर देख रही है। उसे थोड़ी वीरता दिखानी थी। कदाचित् वह बिल्लीको छका सकता—वह भागकर दूसरे बिलमें भी छिप जाता तो वह गिलहरी उसकी प्रशंसाके छन्द बड़े सुन्दर स्वरमें गाती जो पेड़की झुकी हुई डालीकी अन्तिम फुनगीतक बार-बार दौड़कर आती है और पूँछ पटक-पटककर बिल्लीको कोस रही है।

'नहीं—इनमेंसे कोई वीर नहीं है। इनमें वीरताका नाम भी नहीं है।' वह लौट पड़ा। उसे अपने मित्रका पत्र मिला है। उसके मित्रने उसे वीरताका एक आदर्श सुझाया है। मित्रके पत्रका उसे उत्तर देना है। व्यर्थ है यह सब—प्रकृतिमें उसे ऐसी कोई प्रेरणा नहीं मिल रही है, जिससे वह अपने मित्रके पत्रका उत्तर दे।

गेरुए खपरैलोंके रंगका काली पंखोंवाला भद्दा कीड़ा अपने चारों पंखोंको ऊपर उठाकर भन-भन करता बड़े विचित्र ढंगसे उड़ रहा है। यह क्या? सबसे कोमल, सबसे सुन्दर और सुगन्धित गुलाबके पुष्पपर वह आकर बैठ गया है। सृष्टिकर्ताने सृष्टिका सबसे भव्य स्थान

क्या इस घिनौने कीड़ेका सिंहासन बननेके लिये बनाया। परंतु वह तो उस पुष्पको चरता जा रहा है। पंखड़ियोंको काटकर कुरूप किये दे रहा है। सौन्दर्य, सौरभ और मृदुलतासे उसकी नैसर्गिक शत्रुता क्यों है ?

उसे अपने मित्रका पत्र मिला है। पत्र उपेक्षा करने योग्य नहीं है। वह कल दोपहरसे उस पत्रपर विचार कर रहा है। मित्रने लिखा है—

'बन्धु, मैं यहाँ प्रसन्न हूँ। यहाँ एक अच्छे सज्जन पुरुष हैं श्री········वे देशके चार छः प्रख्यात········ व्यक्तियोंमें हैं। उनकी सम्मति है कि धार्मिक लोगोंकी पलायनवादी नीति ठीक नहीं है। इसमें कोई वीरता नहीं है। उनकी रायमें विकृतिके केन्द्रोंमें रहकर उनको सुधारने, उन्हें परिष्कृत करने और उनको उपयोगी बनानेमें वीरता है। वे सदाचारी हैं, विनम्र हैं और····।'

पत्रका अक्षर-अक्षर आप पढ़ लें, इससे कोई लाभ नहीं होना है। पत्र किसका है, किसे लिखा गया आदि भी सामान्य बातें हैं। मुख्य बात तो उसकी वीरताकी प्रेरणा है। मित्र विद्वान् हैं, विचारशील हैं, स्वाभिमानी हैं। वे न तो झूठ बोलेंगे और न चाटुकारी करेंगे। ऐसा करनेसे कोई लाभ भी नहीं है। उनकी बातोंपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। उसे मित्रके पत्रका उत्तर देना है—क्या उत्तर दे वह।

× × ×

मित्रके पत्रका उत्तर देना है। प्रकृतिसे उसे प्रेरणा नहीं मिलती तो वह अपनी स्मृतिकी कोठरियोंको ढूँढ़ेगा। अपनी मेजपर बैठकर उसने केशोंको अस्तव्यस्त करके सिर खुजलाना प्रारम्भ कर दिया है।

एक स्मृति

बहुत छोटा था वह। समाचार-पत्रोंमें बड़े-बड़े ··· छपा था कि विश्वविजयी पहलवान जिबिस्कोको भारतीय पहलवान गामाने अखाड़ेमें पहुँचते ही चारो खाने चित्त कर दिया। गामा उस समय तो भारतीय पहलवान ही था। समाचारको उद्धृत करनेमें कुछ भूल हुई हो तो आप क्षमा करेंगे, क्योंकि बचपनकी स्मृतिकी कोठरीसे निकला यह समाचार बूढ़ा होकर सिकुड़ गया है और उसमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं।

उस दिन पाठशालामें अध्यापकजीने व्यायामकी उपयोगिता बताते हुए कहा था—'गामाने अपनी पूरी शक्ति, पूरा श्रम, पूरा जीवन लगा दिया है शरीरकी इस महती शक्तिको प्राप्त करनेके लिये। अध्यवसाय ही सफलताका मन्त्र है। गामाकी सफलता और उसकी कीर्तिका कारण है उसका अध्यवसाय।'

उसी दिन उसके कई सहपाठियोंने अखाड़ा खोदा। बड़े उत्साहसे वे दण्ड-बैठक करनेमें जुट गये। एक मित्रने उससे भी कहा—'तुम भी चलो!' वह सहपाठियोंमें अधिकांशसे दुर्बल था। व्यायामसे उसकी सहज अरुचि थी। उसने कह दिया—'मुझे गामा नहीं बनना है।'

विद्यार्थियोंका उत्साह दो-चार दिन चला। उनकी संख्या तीन दिनतक बढ़ती रही फिर आठ दिन लगभग एक-सी रही और उसके बाद घटने लगी। दो महीने बाद अखाड़ेकी मेड़के अतिरिक्त यह जाननेका दूसरा कोई उपाय नहीं था कि वहाँ अखाड़ा भी खोदा गया था। लेकिन आठ दिनके उत्साहमें एक बालकके पैरमें मोच आ गयी थी और वह दो सप्ताह लंगड़ा बना रहा। एकके नेत्रोंमें एक बार मिट्टी पड़ गयी थी। उसके नेत्र लाल हो गये और रात्रिमें बड़े कष्टसे वह सो सका। गामा निश्चय वीर हैं; किंतु बालकोंमें कोई छोटा-सा पहलवान भी नहीं बन सका।

दूसरी स्मृति

स्मृतियोंकी कोठरियाँ परस्पर गिचपिच कर लेती हैं। वे सुसभ्य नहीं हैं। उन्हें इतना भी पता नहीं कि

प्रत्येक स्मृतिको क्रमशः सजाकर रखना चाहिये और क्रमशः देना चाहिये। भेड़ोंके झुंड-जैसी दशा है। कोई भेड़ कहींसे उठकर भाग पड़ेगी और सब-की-सब उसके पीछे झुंड बनाकर चल देंगी बिना किसी क्रमके। इनको बनानेवाला निश्चय सेनापति नहीं है। अन्यथा वह इन्हें ठिकानेसे पंक्तिबद्ध रहने और राइट-लेफ्ट करते चलना सिखलाता। अब सृष्टिकर्ताकी भूलका यह परिणाम है कि पता ही नहीं लगता कि कौन-सी बात पहलेकी है और कौन-सी पीछेकी।

प्रोफेसर राममूर्तिके व्यायामोंका समाचार पत्रोंमें छपा था। वे मोटे-मोटे लोहेके छड़ तोड़ देते थे। दो मोटरोंको पकड़कर रोक लेते थे। छातीपर हाथी चढ़ा लेते थे। उनकी अद्भुत शक्ति, अद्भुत कौशल और अद्भुत सुयश पाया उन्होंने इसके बदले। वे निश्चय वीर हैं। उनकी वीरता, उनका यश आदि उनके अध्यवसायका परिणाम है। इसके लिये पूरा जीवन लगा दिया उन्होंने।

'तुम राममूर्ति बनोगे?' किसीने उससे नहीं पूछा। पूछता भी तो क्या लाभ था। उसे व्यायामसे चिढ़ है। वह राममूर्ति बनना चाह ही नहीं सकता और ऐसी बेसिर-पैरकी चाहसे लाभ? छछूंदर शीर्षासन करने लगे तो क्या योगिराज हो जायगी?

अब स्मृतियोंके द्वार एक साथ धड़-धड़ाकर खुल गये हैं। काले चींटोंके बिलमें पानी पड़नेपर जैसे वे एक साथ भर-भराकर निकल पड़ते हैं, स्मृतियाँ भी इसी प्रकार निकलती हैं। लज्जाशील बालकोंके समूहमेंसे किसी बच्चेको पुकारिये—वह मुँह छिपा लेगा या दूसरे साथीके पीछे छिप जायगा। लेकिन एक-दो बालकोंसे हेल-मेल करते ही सब-के-सब पास दौड़ आयेंगे। मना करनेपर भी ठेल-मठेल करेंगे। इतिहास और पुराणोंमें महान् वीर सोये हुए हैं। मेरी स्मृतिके सुखदायक कोषमें उनकी जो मूर्तियाँ विश्राम कर रहीं थीं, वे सहसा जाग्रत् हो उठी हैं। उनकी पंक्तियाँ समाप्त होनेका नाम नहीं लेंगी। उन महान् वीरोंमें आप बहुत अधिकसे परिचित हैं, उन्हें बिना जाने ही प्रणाम कर लेना उचित है।

नवीनतम दो स्मृतियाँ—

सगरमाथा (एवरेस्ट) को वहाँ पहुँचकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनेवाले श्रीतेनसिंह—वे महान् शूरमा। पर्वतारोहणका उनका अध्यवसाय, उनकी कीर्तिका आधार स्तम्भ है। लेकिन सच मानिये, उसमें छोटे-से हिमपर्वतपर चढ़नेका उत्साह भी वह सब विवरण एवं प्रशंसाएँ पढ़कर नहीं आया जो तेनसिंहकी सफलतापर समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुए। वह बहुत दुर्बल है। वह कहता है—'तेनसिंह वीर हैं; किंतु इन समाचारपत्रोंको तो थोड़े ही दिनोंमें किताबी कीड़े चाट जायँगे अथवा दूकानदार पुड़िया बाँध-बाँधकर समाप्त कर देंगे।' अपने अटपटे तर्कपर वह स्वयं खुलकर हँस लेता है।

दूसरा समाचार किसी योगीके सम्बन्धमें छपा था। बम्बईमें या ऐसे ही 'क' से 'ज्ञ'के किसी समात्रिक या अमात्रिक अक्षरसे जिसका नाम प्रारम्भ होता था, उस नगरमें उन योगी महाराजने बहुत-से प्रतिष्ठित दर्शकोंके सामने—क्योंकि दर्शक तो सदा प्रतिष्ठित ही होते हैं, उन्होंने काँचके टुकड़े चबाकर दिखाया, तेजाब पी और विश्वका भयानकतम विष खाकर सबको चकित कर दिया। उनकी कोई हानि नहीं हुई।

वे वीर थे, इसमें भला किसे संदेह होगा। समाचारपत्र लिखे या न लिखे, यह बात सवा सोलह आने पक्की है कि उनकी प्रशंसामें बजी तालियोंसे आकाश गूँज गया होगा। पक्षी चौंककर चक्कर करने लगे होंगे और छिपकलियोंने पूछ हिलाकर परस्पर पूछा होगा—'संसारमें कौन-सी नई घटना हो रही है?' लेकिन उसमें इतना अध्यवसाय और इतनी रुचि नहीं है

कि वह थोड़ा-सा कड़ुआ तेल ही पीनेका मन कर ले।

उसे अपने मित्रके पत्रका उत्तर देना है। पत्र वीरताकी प्रेरणा देता है उसकी स्मृतिके भण्डारमें वीरोंके अद्भुत आकारोंका कोई अभाव नहीं। लेकिन प्रत्येककी वीरताके पीछे जो श्रम, जो अध्यवसायका इतिहास है—वह क्या उत्तर दे अपने मित्रको ?

× × ×

'वीरता निश्चय उत्तम गुण है। उससे लोकोत्तर कीर्ति प्राप्त होती है।' लीजिये, वह अपने मित्रके पत्र-का उत्तर देने बैठ गया है। लेकिन उसके लिये सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर देना पड़ता है मेरे बन्धु—सम्पूर्ण जीवन। उसके लिये कठोर श्रम, पूरी सावधानी एवं महान् अध्यवसाय मूल्यके रूपमें अर्पित करना पड़ता है।'

अब वह क्या करे, उसे वह बंदर स्मरण आता है, जिसे वह अभी खेतमें भिंडियाँ खाते देख आया है। वह अपने पत्रको उस बंदरके प्रभावसे बचा नहीं सकता। उसने लिखा—'जीवन बहुत थोड़ा है। किसी क्षण काल अपनी भयानक गुलेल लिये आ सकता है। मनुष्य-जीवनका यह खेत छूटा और छूटा। अवसर गया तो चला ही जायगा। मुझे वीर बननेके बदले सावधान रहना अधिक ठीक लगता है।'

उसे वे तितलियाँ स्मरण आयीं। वह लिखता गया—'समाचारपत्र क्या लिखते हैं और लोग कितनी प्रशंसा करते हैं—इसका कुछ बहुत अर्थ नहीं है। अनन्त जीवनके लिये चुपचाप कुछ पाथेय प्राप्त हो जाय, मुझे तो किसी भी वीरतासे यह बहुत अधिक महत्त्वकी बात जान पड़ती है।'

उसके पत्रका अगला अंश था—'मृत्युकी बिल्ली छिपी बैठी है। चूहेकी वीरताका क्या अर्थ है ? गिलहरियाँ प्रशंसा करें या न करें, उसे तो अपनी रक्षा-की चिन्ता करनी चाहिये।'

अन्तमें उसने लिखा—'मेरे भाई रोग, शोक, दुर्बलताके घिनौने कीड़े संसारमें भरे पड़े हैं। मनुष्यका मन पत्थरके समान नहीं है। वह पुष्पके समान है और बुराइयोंके कीड़े उसके बाहरसे ही आवें, यह आवश्यक नहीं है। वे उसके भीतर भी छिपे बैठे हैं। अनुकूल वायुमण्डल मिलते ही वे नोच-नोचकर खाना प्रारम्भ कर देंगे। परिस्थिति उनके अनुकूल हो तो वे क्षमा करनेवाले नहीं हैं।'

निश्चय कोई अपनेको भेड़ियोंके मध्यमें डाल दे और सुरक्षित बचा रहे, उनसे मित्रता कर ले या उन्हें पराजित कर दे, यह महान् वीरता है। लेकिन मेरे मित्र—ऐसा करनेका प्रयत्न करनेमें सहस्रमें नौ सौ निन्यानवे बार यही भय है कि प्रयोक्ताके शरीर-खण्ड उन भूखे पशुओं-की अँतड़ियोंमें ही पच जायँ। ऐसी वीरताके बदले अच्छा यही होगा कि मनुष्य सीधा मार्ग ले अपने लक्ष्य-पर जानेके लिये और सीधा मार्ग वह है जिसमें विपत्तियोंका भय न हो। जिसमें हम अधिक-से-अधिक सुरक्षित रह सकते हों।'

उसने पत्र समाप्त कर दिया, लेकिन क्या उसने पत्र भेजा ? उसके मित्रको उसका पत्र मिला ही नहीं; क्योंकि अपना पत्र डाकखाने भेजनेके बदले उसने फाड़कर फेंक दिया। उस दिन वह संध्या-समय मन-ही-मन कह रहा था—'सृष्टिके दयामय कर्ता! वीरोंकी मैं वन्दना करता हूँ। उन्हें हतोत्साह करनेसे मुझे क्या मिलेगा। लेकिन मैं वीर नहीं हूँ। मैं तो तेरी सृष्टिका एक साधारण प्राणी हूँ। मुझे ऐसी बुद्धि मत देना कि मैं अपनेको विकृत परिस्थितिमें डाल दूँ और वीरताके लोभसे पतनकी आशंकाको आमन्त्रण दे बैठूँ। तू मुझे शक्ति दे—केवल ऐसी शक्ति कि वीरताके प्रलोभनसे बचकर मैं सावधान रहूँ और अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ता रह सकूँ—अप्रख्यात एवं कोलाहलहीन गतिसे निरन्तर।'

दुःख-सुखका सदुपयोग

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

मानव-समाजमें ऐसी मान्यता है कि मानव-जीवन प्रारब्धके अनुसार दुःख-सुखके भोगके लिये मिला है और कर्मभोगकी दृष्टिसे यह भी ठीक ही है। पर तत्त्व-दर्शी ज्ञानी महापुरुषोंका कहना है कि मानव-जीवन दुःख-सुखके भोगके लिये नहीं, दोनोंके सदुपयोगके लिये होना चाहिये। जो जीवन केवल भोगके ही लिये है वह तो कीट-पतंग-पशु-पक्षियोंका जीवन है; पशु-जीवनमें विचार करने अथवा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेकी बुद्धि नहीं होती है; वह तो केवल मानव-जीवनमें ही होती है; इसलिये मानव वही है जो बुद्धिके द्वारा विचारपूर्वक दुःख-सुखका सदुपयोग करे। मिले हुए सुखका उदारतापूर्वक अपनेसे दुखी जनोंमें वितरण ही सुखका सदुपयोग है। मिले हुए दुःखको तपके भावसे मौन रहकर सह लेना और जिस चाहकी अपूर्तिसे दुःख होता है उसका त्याग करना अथवा जिस परापेक्षी सुखके लिये दुःख होता है उससे ही विरक्त हो जाना दुःखका सदुपयोग है।

जो व्यक्ति दुखी होकर दूसरोंको दुःख देता है वह एक नया अपराध करता है। जो सुखी होनेपर दूसरोंको सुख देता है वह और भी अधिक सुख पानेका अधिकारी बनता है। प्रायः संसारमें जितने भी दुःख हैं वे जीवके किसी-न-किसी दोषके ही कारण आते हैं। उनके मूलमें अज्ञानवश होनेवाले लोभ, मोह, अभिमान और काम हैं। इन्हींकी प्रबलतामें राग, द्वेष, क्रोध, छल, कपट, हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि अनेक दोषोंका विस्तार होता जाता है। इन्हीं दोषोंके कारण अनेक दुःख जीवको देखने पड़ते हैं। जो मनुष्य दुःख मिटाना चाहता है उसे दोषोंको मिटानेका प्रयत्न करना चाहिये। दोषोंके मिटनेपर दुःख अपने-आप मिट जायेंगे। किसी पीड़ाकी ओषधि करनेके साथ उसका कारण जान लेना आवश्यक है। इसी तरह दुःख मिटानेका उपाय जाननेके साथ-ही-साथ उसका कारण जान लेना भी आवश्यक है।

कुछ लोग सांसारिक सम्बन्धियों और वस्तुओंके संयोगसे दुःख-निवृत्तिकी आशा करते हैं, पर यह स्मरणीय है कि इस प्रकारके संयोगसे कुछ देरके लिये दुःख दब जाता है पर मिटता नहीं है। यद्यपि सुख-प्राप्तिका साधन अधिकाधिक पुण्योंका संचय और विधिवत् प्रयत्न है तो भी अधिक सुखसे किसीका दुःख नहीं मिटता है। दुःख दोषोंके त्यागसे ही मिटता है। दुःख ही पापसे पुण्य, अविचारसे विचार, रागसे त्याग, द्वेषसे प्रेम, भोगसे योग, असंयमसे संयम, मृत्युसे मुक्ति, सुखसे आनन्द, असत्यसे सत्य, देहसे शाश्वत आत्मा और अन्धकारसे प्रकाशकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा देता है। दोषोंसे मुक्त हुए बिना दुःख कभी पीछा नहीं छोड़ता है।

दुखी होकर दूसरोंको दोषी ठहराना और भी अधिक दुःखको आमन्त्रित करना है। दुखी होकर अपने भीतर दोषोंको खोज लेना मानवता है—बुद्धिमत्ता है। विवेककी प्रधानतामें ही मानवता प्रतिष्ठित होती है; मानवतामें दिव्यताका अवतरण ही जीवनकी सार्थकता है। दुःख ही सद्गतिका मुहूर्त बनता है; दुःखकी कमी दोषोंके पथमें ले जाती है, दुःखकी पूर्णता दोषोंसे विमुख बनानेमें सहायक होती है; संसारसे निराश होनेपर ही दुःख पूर्ण होता है और ऐसी स्थितिमें ही जीव भगवान्‌के शरणागत होता है। शरणागतिसे दोषोंका अन्त होनेपर दुःखसे सदाके लिये मुक्ति मिल जाती है।

पूर्ण दुखी संसारसे विरक्त हो जाता है; किसीको

दुःख नहीं देता है; सांसारिक विनाशी वस्तुओंके संयोग-का सुख नहीं चाहता है। दुःखकी निवृत्ति चाहता है इसलिये वह त्यागको अपनाता है। त्यागी होना ही दुःखका सदुपयोग है। संसारसे कुछ न चाहना, किसी पदार्थ या व्यक्तिको अपना न मानना और 'मैं-पन' तथा 'मेरे-पन' को छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। दुःख और सुखके सदुपयोगके लिये प्रत्येक मानव स्वतन्त्र है। जो सुख-भोगमें आसक्त रहता है तथा दुःखसे डरता है वह जीवनमें कोई भी श्रेष्ठ कार्य नहीं कर पाता है। दुःखसे न डरकर दोषसे डरना चाहिये। दोषके त्यागसे दुखीपर दीनबन्धु परमात्माकी दया हो जाती है, वह सौभाग्यकी ओर गतिशील होता है। सुखी और सौभाग्यशाली व्यक्ति दोषको स्वीकार करते ही दुर्भाग्यके पथमें पतित होता है। सुखकी चाहका त्याग कर देनेपर दुखीको आनन्द मिलता है; सुखीको परिवर्तनशील भोग मिलता है। दुःखसे जीवका विकास और सुख-भोगसे शक्तिका ह्रास होता है। जड संसार दुःख दे नहीं सकता और आनन्दस्वरूप भगवान् दुःख प्रदान नहीं कर सकते; समस्त दुःख मानवके दोषोंके कारण ही होते हैं। दोषों-का अन्त करनेके लिये संत पुरुषोंने तीन उत्तम साधन बताये हैं; वे हैं जितेन्द्रियता, दूसरोंकी निष्पक्ष-निष्काम सेवा और भगवान्‌का चिन्तन। अविवेकीद्वारा दुःख-सुखका भोग बन्धनका पथ है। विवेकीद्वारा दुःख-सुखका सदुपयोग मुक्तिका मार्ग है।

वचन-सुधा

(प्रेषिका—श्रीकृष्णा सहगल)

आत्म-सम्मान, आत्म-ज्ञान तथा आत्म-संयम—केवल यही तीनों जीवनको सर्वोच्च शक्तिके पास ले जाते हैं।

भगवान्‌के शक्तिशाली पुत्र! ओ अमर प्रेम! हमने तुम्हारे मुखका कभी भी दर्शन तो नहीं किया है किंतु जब हम निश्चयात्मक रूपसे तुमको प्रमाणित नहीं कर सकते, तब श्रद्धा और केवल श्रद्धासे ही तुम्हारा आलिङ्गन करते हैं।

केवल अच्छा बनना ही पुण्य है।

जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, क्या वह सब भगवान् नहीं है? क्या यह बाह्य प्रकृति भगवान् नहीं है?

स्वप्नोंका जबतक अन्त न हो वे सत्य ही प्रतीत होते हैं और क्या हम स्वप्नोंमें निवास नहीं करते?

उसके साथ तुम वार्तालाप करो; क्योंकि वह श्रवण करता है और आत्माका आत्मासे ही मिलन होता है।

वह श्वास लेनेकी क्रियासे भी समीप तथा दोनों हाथों और पाँवोंसे भी अधिक निकटतम है।

कई कहते हैं भगवान् ही नियम-विधान हैं और कुछ मूर्ख लोग कहते हैं कि भगवान् नामक कोई वस्तु ही नहीं।

—लार्ड टैनिसन

महान् व्यक्तियोंने उच्चताको पहुँचकर जो ख्याति (गुरुता, प्रभुता) प्राप्त की, वह किसी अचानक उड़ानका कार्य नहीं था, बल्कि जब उनके अन्य साथी रात्रिमें विश्राम करते थे, वे तब भी परिश्रमपूर्वक ऊपरकी ओर चढ़ते रहे।

विषाद और वेदनाकी अनुभूति दुःख-दर्दकी नातिन नहीं है। यह तो वेदनाके साथ केवल उसी प्रकार मिलती-जुलती है जैसे वर्षाके साथ धुंध।

महान् व्यक्तियोंकी जीवनियाँ इस बातकी स्मारक (द्योतक) हैं कि हम भी अपने जीवनको उत्कृष्ट और आदर्श बना सकते हैं तथा संसारसे विदा लेते हुए अपने पीछे समयरूपी रेतपर अपने चिह्न छोड़ सकते हैं।

ऐसे पद-चिह्न, जिन्हें देखकर, एक ऐसा भाई जिसकी जीवनरूपी नौका संसाररूपी समुद्रमें तैरते हुए चट्टानोंसे टकराकर अपने साथियोंसे बिछुड़कर तथा मार्गसे च्युत होकर मँझधारमें डूब रही हो, वह भी उन पदचिह्नोंद्वारा उत्साहित होकर, अपने हृदयमें साहस एकत्र करके फिरसे अपने लक्ष्य (ध्येय) की ओर अग्रसर बढ़ सकें।

—लॉगफैलो

श्रीभगवन्नाम-जप

गत वर्ष 'कल्याण' के द्वारा प्रार्थना की गयी थी, तदनुसार 'कल्याण'के भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंने सोलह नामके महामन्त्रका बड़े उत्साहके साथ जप किया और कराया, यह उन्होंने महान् कल्याणकारक पुण्यकार्य किया। इसके लिये हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

कुल ५१६ स्थानोंसे जप होनेकी सूचना दर्ज हुई है। बहुत-से स्थानोंसे सूचना आयी ही नहीं; कुछ दर्ज होनेसे भी रह गयी होंगी। इस सोलह नामके महामन्त्रके अतिरिक्त अन्यान्य नामों तथा मन्त्रोंका जप हुआ है, उनकी संख्या इसमें शामिल नहीं है। बहुत-से लोगोंने जप अधिक संख्यामें किया है और सूचना एक सीमित संख्याकी ही भेजी है। कई महानुभावोंने संख्या रक्खी ही नहीं, कई लोगोंने संख्या लिखना उचित नहीं समझा, केवल यही लिखा है कि हमने जप किया है। इसके अतिरिक्त भारतवर्षसे बाहर भी बहुत जगह जप हुआ है, उसकी सूचना इसमें प्रायः नहीं है, इतना होनेपर भी मन्त्र-जपकी संख्या १८, ५८, ५८, २०२ है। इसकी नाम-संख्या—२, ९७, ३७, ३१, २०० (दो अरब, सत्तानवे करोड़ सैंतीस लाख इकतीस हजार दो सौ) होती है। हमारे पाठक-पाठिकाओंने इस महान् नामयज्ञमें जो सक्रिय सहयोग दिया है, उसके लिये हम उन सभीको हृदयसे साधुवाद देते हैं। जिन स्थानोंसे सूचनाएँ आयी हैं उनके नाम निम्नलिखित हैं, सम्भव है कुछ नामोंमें गड़बड़ी हो गयी हो अथवा कुछ नाम छूट गये हों। इसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं—

अब्बलगुम्मा, अक्कलकोट, अकोढ़ी, अचलगाँव, अजनौरा, अटकाचट्टी, अथनी, अथोटी, अम्बारी, अमझेरा, अमरावती, अमलापुरम्, अमलेटा, अरथू, अलीगंज, अलीगढ़, अहमदनगर, अहमदाबाद, अहिल्यापुर, ऑवलीकल, आकोदिया मण्डी, आकोला, आगरा, आबू, आमला, आलंद, इटाली, इचातु, इचापुर नवलगंज, इटाढ़ी, इटारसी, इतवारी, इन्दौर, इलाहाबाद, इसाइलपुर नवादा, उदयपुर, उन्नाव, उसमानाबाद, ऊना, ऊमरपुर, ऊलाखेड़ी, एल्लेघी, ओगलेवाड़ी, औरंगाबाद, कण्टा ग्राम, कइलगढ़ स्टेट, कजौरा ग्राम, कतरासगढ़, कटक, कटरा, कन्धईपुर, कन्हेरा, कनौरा, कमालपुर, करमसाद, करीमगंज, कविया बाबू टोल, कहमली, कॉट, कॉवट, कॉडे (सतराली), काठगोदाम, कातरकि, कादरगंज, कादिविगहा, कानपुर, कामटमपट्टी, कामती, काम्पटी कैम्प, कारवार, कालिंगपटनम्, किच्छा, किनखेड़ा, किन्नल, किरकी, कुंकावाव, कुण्डवापर, कुम्बला, कुम्हेर, कुसुरिपेटा, कुलीतलाई, केशोद, केसरिया, कैंथा, कैसुर, कोटली, कोटापल्ली, कोठरी, कोठीचारकलॉ, कॉडगल, कोतमा, कोल्हापुर, कोसाना, कौटिली, खंभात, ख्वाजगीपुर, खडकी, खजुरी, खडेर टीकतपुरा, खतौला, खरगपुर अरसारा, खरगोन, खरसली, खाराघोड़ा, खितौला बाजार, खेरालु, गङ्गापुर, गंजमड़सर, गढ़गाँव, गढ़ी उमरहर, गर्चा, गरीपा, गहुनी, गाजीपुर, गिरियक, गुडगॉव, गुड़ेसिरा, गुजरा, गुरुवायूर (दक्षिण), गुहीबाँध, गोंडल, गोकुला, गोगी, गोजैहा, गोधरा, गोपालपुर, गोराइरजोर, घाटाखेड़ी, घुनवारा, घुरना, चकपुरवा, चकॉध, चम्पा, चॉदपुर, चाँदपुरा स्थान, चॉदुर विस्वा, चादगर, चामी, चालीसगाँव, चिंचोली, चिखलठाण, चितरावहरदी, चिनअग्रहारम्, चेथरिया, चौथम, छॉजन, छिंच, जगतपुरा, जतौलीतली, जबलपुर, जम्हौर, जयपुर, जर्वे, जरिगुम्मा, जशपुरनगर, जहाँगीराबाद, जाखलमण्डी, जादर, जालना, जावरा, जुकुल, जुन्हैरा, जेतलपुर, जोकीहाट, जोधपुर, जोरावरडीह, जोशीमठ जोशीमठ डाँड़ो, जौनपुर, जौरीकलाँ, झाँमड़ी, झाँसी, झालोद, झुरकी, टाकली, टिकमपुर, टेकसारी, टिकारी, टेंगरैला छोटी, ठठिया, ठाढ़ी, डबवालीमण्डी, डुमरी, डेंगपदर, डेहरी, डोंगरगढ़, टौंडी, ढील, ढोढरमालवा, तरडगाँव, तादोंग, तालाला, तालालागीर, तासगाँव, तिरूर, तिवारीपट्टी, तुंडी, तेरंगा, थानगढ़, थोरीथांमा, थोल, दरबारपरा, दहणा, दालिया बड़वाजी, दातारपुर, दिगि,

दिल्ली, दिलीननगर, दुब्बाक, दुर्ग, दुर्गापुर नौबस्ता, देव, डेवठाना, देवरी, दोन्दाना वासना, धन्नूर, धमतरी, धुलिया, नंदग्राम (निहौरागोड), नकहरा, नयापुर, नयीदिल्ली, नवरंगपुर, नवाँ शहर, नागपुर, नाढ़ी, नामक्कि, नारदीगंज, नाथानगर, नासिक, निनागा, निमियाँ, नेम्मिक्कुम (कृष्णा), नेरुमी, नैमिषारण्यक्षेत्र, नौरोजाबाद, नौलागी, प्रयागपुर नगौना, पकड़ी बराँट, पचिगवाँ, पटना, पट्टीनाम, पनिया, पत्थरकट्टी, पनडूड़ी, पम्मेल, पलामी, पाटन, पाटनवाव, पत्रपुर, पानावोझ, पालकोट, पाल्नपुर, पाल, पावरी, पावर्गीस्ट न्यामवाड़ी, पिंगली, पिछौर (झाँसी), पिटराम, पियोरा, पिनकापार, पिनरिया, पिनरिया पाल्विय, पिरू कुलौर कोल्यिरी, पिलखुआ, पिल्लिवाग्गिनी, पीटिया, पीरल्दा, पीरी बाजार, पीलीभीत, पुगदिल्लुर, पेटवाड़, पेंडरा, पेरवा, पोन्नरेंडा, पोठिया, पोरया, फतहपुर, फतेहनगर, फतेहपुर, फर्रुखाबाद, फरह, फरेंदा शुक्ल, फानिल्का, फुलवरिया, फुलनावंगी, फुलकाँहा गोविन्द, फूलपुर, फैजाबाद, बंगिनोवाड़ी, ब्राह्मणगाँव, ब्राह्मणदेवहल, ब्राह्मणदेवरल्ली, ब्राह्मणहल्ली, बगवानगंज, बड़की डाँड, बड़गाँव, बड़वानी, बड़ौदा, बदलपुर, बदौसा, बबड़ा, बन्नापुर, बनारस, बनियाल, बबुरी, बम्बई, बरवार खुर्द, बरेली, बलथर, बलरामपुर बलआदू, बलिया, बसंतगाये, बस्ती, बनहा, बहराइच, बहादुरपुर जट, बाँगिन ड्योढी, बाँटवा, बाँदा, बाँदीकुई, बाँसी, बाँवोडिया ताल्लुका, बालममुंद, बालापुर, बावल, बार्शी, बान, बिठुगुड्डा (नया), बिलासपुर, बीकानेर, बीजापुर, बीना, बुडेना, बुढ़िगाँऊँ, बुरहानपुर, बेतिया, बेल्लारा, बेल्मान, बेलाँव, बेलाडर, बेलापुर गाँव, बेसवाँ, बेहटा, भगवतगढ़, भगूर, भड़ौंच, भद्रपुरा, भद्रक, भरथीपुर, भागलपुर, भानोत, भान्द्रमार, भावनगर, भुज, भुसावल, भृगुपुर, भोपाल, भोगालपटनम्, भैसाना, मऊरानीपुर, मकुनाही, मखनी, मजरा, मझगवाँ, मझौली, मनीपुर, मदील, मद्रास, मरतरा, मरौली, मल्लमपल्ली, मसुरिहा, महमदाबाद, महरौली, महाराजगंज, माँट, माडीया, मानिकपुर, माल्नवाड़ा, मालेरकोटला, मिर्जापुर, मीनावदा १३३६, मीरगंज, मुंदी, मुड़ेरा, मुड़ेरी, मुर्गीटाना, मुरादाबाद, मेनगाग्राम, मेरपुर, मैनपुरी, मैसूर, मोहामर, मोदीनगर, मौथिया, यवनी, येरूनी, रघाडर, रन्दौल, रसूलाबाद, राजकोट, रानीला, रामगढ़ (राजस्थान), रामगढ़ कैंट, रामनगर, रामपुरी, रामभद्र, रामानुजगंज, रायपुर, रावतपुर, रिनाक, रुदावल, रुपईदीह, रूप, रेवाड़ी बुड़ुर्ग, रेहटी, रेयाँ, रैसैना, रोहतक, लखनगपुर, लखतर, लखनऊ, लखीमपुर, लसौद, लवाछा, लश्कर, लाम्बगाँव, लावा, लुटानावाडीह, लोहार्गी, वंमगोनाल, वलेड्ड, वगही, वड़न्गार, वड़वागकैम्प, वढौद, वल्लौपुर, वागहो, वासुदेवपुर, विनैका, विल्कोह, वीरगाँव, वीरनगर, वेल्नूर, वेदरा हुसुर्ग, वौरहार, श्रीमाधोपुर, शाहआलम नगर, शाहजहाँपुर, शाहपुर, शाहपुरपट्टी, शिमला, शिलकोट, शिवीट, शोलापुर, संतरामपुर, सड़ीपसैया, सनमोली, सतारा, सनावद, सनीगवाँ, समस्तीपुर, समहुता, सर्भी, सर्मोला, सरकंडा, सरखेज, सरदारगढ़, सरायपुख्ता, सरैयापार, सलमाग्राम, सलेम, सलेमपुर पतौरा, सेलेटपम, सवाई जयपुर, सहारनपुर, साँगली, साँड़ा, सागर, सामोज, साल्यान्केड़ी, सानाराम, सिऊनीग्राम, सिंगदोनी, सिन्नर, सीकर, सीका, सीतामढ़ी, सीनावाली, सीपरियाँ, सुकदेव सेल्ही, सुन्दरपुर (सुन्दामन), सुन्दुक दस्ती, सुराड़ा, सुरेन्द्रनगर, सुल्तानगंज, सुल्तानपुर, सुल्यिा आँवली, मोदपुर, सोरखण्डकलाँ, सोलापुर, हंसकेर, हयवोम, हम्पि, हरगाम बड़ीडमरिया, हरणगाँव, हरदुआ, हरदोई, हरपुर, बोचहा, हरखुद, हरीगढ़, हॉफा, हायरस, हिल्मा, हिसार, हीराखुटहरी, होलागढ़, होशियारपुर ।

नाम-जप-विभाग—कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

राम भज

नंकी मति लेह, रमनीकी मति लेह मति, 'सेनापति' चेत कछू, पाहन अचेत है।
करम-करम करि करमन कर, पापकरम न कर मूढ़ ! सीस भयौ सेत है ॥
आवै बनि जतन ज्यौं, रहै बनि जतनन, पुन्नके बनिज तन-मन किन देत है।
आवत बिराम ! बैस बीती अभिराम, तातैं, करि बिसराम भजि रामैं किन लेत है ॥

श्रीआइसन होइवरका प्रार्थनामें विश्वास

(लेखक—श्रीरामगोपालजी अग्रवाल, बी० ए०)

उस सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्माकी अन्तर्हृदयसे श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करनेसे मनुष्यमें अनन्त शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। परम प्रभु शीघ्रातिशीघ्र प्रार्थीकी इच्छाको अपनी इच्छा तथा विपत्तिको अपनी विपत्ति मानकर उसकी माँगको पूरी करते हैं। यह भगवान्का 'विरद' है, सनातन रीति है। जैसे ध्रुव, प्रह्लाद, द्रौपदी, गजराजकी प्रार्थना और आर्तपुकार सुनकर प्रभुने उनके मनोरथ पूर्ण किये, महान् भयसे बचाया, 'दुःशासनकी भुजा थकित भइ वसनरूप भये श्याम' और 'तजि आये निज धाम', वैसे ही भगवान् आज भी सब कुछ कर सकते हैं।

सब प्रकारका दूसरा भरोसा छोड़कर यदि मनुष्य सच्चे हृदयसे प्रार्थना करे तो ऐसी कौन-सी बात है जो भगवत्कृपासे सहज ही नहीं हो सकती।

इधर कुछ समयसे भौतिक सभ्यताके विकासके साथ-साथ आधुनिक स्त्री-पुरुषोंका भगवत्-विश्वास शिथिल हो गया और वे प्रार्थनाका निरादर-सा करने लगे हैं। जो बातें उनकी भौतिक स्थूल बुद्धिमें नहीं समातीं, वे उनका तिरस्कार करते हैं। अपने नित्यके जीवनमें तथा अन्यान्य स्थलोंपर भौतिक विज्ञान और आधुनिक साधनोंका ही आश्रय लेते हैं। यहाँतक हो गया कि हमारी लोकसभा तकमें भगवान्का नाम लेना भी व्यर्थ माना जाने लगा।

परंतु सच तो यह है कि इस भौतिक विकासकी चमक-दमकमें लुब्ध-सा यह मनुष्य अपनी बहुत बड़ी 'निधि' खोता चला जा रहा है—वह है 'मानवता' जिसको 'रत्न अमोल' कहा गया है। इस भौतिक विकासकी चकाचौंधमें मनुष्य अपने-आपको धोखा देता हुआ अपने नैसर्गिक रूप और स्वभाव (Character) का स्वयं ही विनाश—विलय कर रहा है। वह मनुष्य होकर मनुष्यसे घृणा करता है, दूर होता जा रहा है और जहाँ पहले मनुष्य दैवी-कोप, महामारी, भूकम्प, बाढ़ तथा अन्यान्य उपद्रवोंको 'काल' समझता था, वहाँ आज वह सबसे बड़ा 'काल' 'मनुष्य' को समझने लगा है। बाघ, हाथी, साँपसे न डरकर मनुष्य आज मनुष्यसे ज्यादा डरता है। इसका कारण यही है कि मनुष्य आज 'असुर' बनता जा रहा है। गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, भाई-भाईका वह स्नेह-सूत्र अब अति क्षीण हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनेको विपत्तिमें, संकटमें ही देखता है। कहीं भी शान्तिमय जीवन देखनेमें नहीं आता। हिंसा, भय तथा असामञ्जस्य जीवनका स्वरूप बन गया है। सभी व्यवहारोंमें राग-द्वेषका आश्रय है। ऐसे समयमें मनुष्य यदि ध्यानपूर्वक गम्भीरतासे कृत्रिमता और आत्म-प्रवञ्चनाको त्यागकर विचारे तो उसको आश्रय मिलेगा केवल एक ही जगह—वह है भगवान्की प्रार्थना तथा उनकी अनुकम्पा। यह नयी बात नहीं है। विश्वमें जब-जब ऐसी परिस्थिति हुई है तथा जब मनुष्य दानवी भावनाओंसे अभिभूत होकर दानव बनने लगा है, तब-तब संतसहृदयोंने विश्वासपूर्वक प्रार्थना की है और भगवान्ने उनकी विपत्तिका नाश किया है। रावण, हिरण्यकशिपु, वेणु, कंस आदिके काल इसके साक्षी हैं।

विश्वमें आज भी एक ऐसा ही युग बीत रहा है। दो बड़ी शक्तियों तथा अन्यान्य छोटी-छोटी शक्तियोंने अपने-अपने भौतिक विकासको इतनी चरम सीमातक पहुँचाया है कि वे स्वयं ही अपने उन विज्ञानके चमत्कारों एवं ध्वंसात्मक साधनोंसे भयभीत हैं और कब किसका विनाश हो जायगा यह सोच रहे हैं।

इस भयानक काल-विभीषिकासे डरकर विश्वके सभी बुद्धिमान् और शान्तिप्रिय पुरुष अपनी-अपनी विचारधाराके अनुसार इस चेष्टामें लगे हैं कि किस प्रकार इस बढ़ते हुए वैषम्य-जन्य राग-द्वेषका निर्मूलन हो; पर सभी चेष्टाएँ असफल-सी हो रही हैं। और तृतीय विनाशकारी महायुद्धका भीषण उद्योगपर्व चल रहा है। ऐसे ही समयमें अमेरिकाके राष्ट्रपति श्रीआइसन होवरने गत ता० १९-८-५४ को एवास्टन (Evaston) शहरमें ४२ देशोंके (धर्मयाजक) अधिष्ठाता तथा प्रतिनिधियोंके प्रति एक अपील की है—भाषण दिया है—वह भाषण हर एक व्यक्तिके पढ़नेकी चीज है। उसका संक्षिप्त सार यहाँ दिया जाता है—

विश्वकी शान्ति खतरेमें है

(१) आज विश्वमें स्थायी सुखदायिनी शान्ति-स्थापन करनेके लिये हमें ऐसी सामूहिक शक्तिकी आवश्यकता है जो

जनताके अन्तस्तलको ऊँचा उठावे तथा उसमें परिवर्तन कर दे। परंतु ऐसी शक्ति मनुष्यकी अन्तरात्मासे ही प्राप्त होगी और वह भी कब जब कि मनुष्यमात्र सर्वमङ्गलमय विचारधारानुयायी होकर ईश्वर या अन्तरात्माकी आज्ञाओंका सत्कार करेगा।

(२) आप सभी राष्ट्रोंके धर्म-संघोंके प्रतिनिधि ही नहीं, आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक हैं; मुझे विश्वास है कि आप तथा आप-जैसे अन्य धर्मावलम्बी नेता भी ऐसे अभियानका नेतृत्व कर सकते हैं। इसका प्रथम कार्य होगा कि हरेक राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको, जो उस परम शक्तिमान् ईश्वरकी प्रार्थनामें विश्वास रखता है, आह्वान किया जाय ताकि सभी व्यक्ति एक साथ इस बृहत् धर्मानुष्ठानमें सम्मिलित हों।

(३) इसके बाद श्रद्धापूर्वक विश्वके अरबों नर-नारी उस जगन्नियन्ताकी व्यक्तिगत प्रार्थना करें कि 'वह ईश्वर उन्हें शान्ति-स्थापन कार्यके लिये अनवरत परिश्रम करनेकी श्रद्धा, लगन, सुबुद्धि तथा शौर्य प्रदान करे।'

(४) इस प्रकार यदि जनमात्र इस प्रयासको सफल करनेके लिये निरन्तर सच्चे हृदयसे प्रयत्न करे तथा साथ-ही-साथमें प्रार्थनाका अमोघ संबल रक्खे तो उसका ऐसा आशातीत फल होगा कि जिससे सारी वस्तु-स्थिति ही बदल सकती है, क्योंकि इससे मनुष्य ही बदल जायगा।

(५) प्रारम्भमें थोड़ा-सा भी यदि हम मनन करें तो हरेक व्यक्तिको यह स्मरण रखना होगा कि विश्वमें शान्ति या संघर्षकी जिम्मेवारी हममेंसे हरेककी कुछ-न-कुछ है। लक्ष्य और धर्मकी एकता, एकाग्रता तथा तज्जनित पारस्परिक सहयोग, बन्धुत्वकी भावना और मनोबल प्राप्त होनेसे सबको उत्साह और शान्ति मिलेगी। इस प्रकारके आचरणसे स्वयं ही एक बड़ी विशाल शक्तिका क्रमशः उत्थान होगा, जो मनुष्यमात्रको एक सूत्रमें आबद्ध करेगी, जैसे युद्धके समय एक सर्वव्यापी खतरा सबको एकताबद्ध कर देता है।

उन्होंने फिर कहा—'इस अभियानमें उन-उन विषयोंका अध्ययन करना चाहिये जो कि विश्वकी शान्तिके बाधक रहे हैं। संसारके सच्चे, कर्मठ, त्यागी नेताओंकी सहायता एवं भरण-पोषणके लिये भी प्रबन्ध किया जाय जिससे वे इस विषयमें गहरे डूबकर अन्तर्ज्ञान और जानकारी प्राप्त करें, तथा पारस्परिक सामञ्जस्य तथा समझौतेके नवीन पथ खोज निकालें।

इसी प्रकार नवीन-नवीन विधान और योजनाएँ खड़ी की जायँ, जिससे लाखों मनुष्योंके जीवनसे दुःख, क्लेश तथा निराशाका नाम उठ जाय।

हमारा ही यह एक ऐसा समय है कि धर्म एवं श्रद्धाके नामपर बहुत बड़ी हिम्मत की जा सकती है।'

उन्होंने फिर कहा कि 'संसारके सभी नर-नारी ऐसे भविष्यकी खोजमें हैं जिससे न्याय और चिर शान्तिका सुप्रभात हो, परंतु ऐसे भविष्यका प्रादुर्भाव कूट राजनीतिज्ञ या योद्धाके द्वारा नहीं होगा। इतिहास ऐसे महापुरुषोंकी असफलताओंकी गाथाओंसे भरा पड़ा है चाहे वे कितने ही बुद्धिमान् और अध्यवसायी क्यों न हुए हों।'

'किंतु उनकी ये असफलताएँ अभी आशावृक्षको समूल नष्ट नहीं कर पायी हैं। इस विश्वमें मनुष्यमात्रमें इससे सर्वसम्मत अदम्य तथा उत्कट इच्छा दूसरी नहीं है कि विश्वमें चिर शान्तिकी स्थापना हो यदि यह लक्ष्य हमें पूर्ण सफल होता न दीखे तो भी हम, आप सब मिलकर (प्रार्थना-द्वारा) बहुत कुछ कर सकते हैं।'

पाठक स्वयं ही समझ लें कि जो श्रीआइजनहोवर युद्धकलाके बहुत बड़े ज्ञाता हैं तथा युद्धनीतिमें बहुत बड़ा विश्वास रखते आये हैं, वे ही निरुपाय होकर अमेरिकाके राष्ट्रपतिके आसनपर स्थित होकर इसी प्रार्थनामें ही सर्व सुन्दर आश्रय खोजते हैं तथा विश्वास रखते हैं। हमारे देशके नर-नारियोंको इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और सर्वत्र फैलते हुए अनीश्वरवादसे सभी भाई-बहिनोंको बचना चाहिये तथा अपने जीवनमें प्रार्थनाको सर्वोच्च स्थान देना चाहिये। इसीसे व्यक्तिगत और राष्ट्रगत परम शान्तिकी प्राप्ति होगी।

चार प्रकारके मनुष्य

केते सतपुरुष पराये काज करिबेकों, आतुर अनंत होत स्वारथ सुधारैं ना।
केते सम पुरुष जहानमैं दिखाई देत, आपको सुधारे काज औरको बिगारैं ना॥
केते निज काज ही, बिगारैं पर काज नित्य, असुर अज्ञानी बात नीतिकी बिचारैं ना।
केते बिन काज ही बिगारैं पर काज, ऐसे कौन ते कहावैं हिय आवत हमारे ना॥

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

समस्त ऋषि, मुनि, महात्मा, संत तथा भक्तोंने एकमतसे यह सिद्धान्त प्रकट किया है कि भगवन्नाम सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके सब प्रकारके हित तथा कल्याणके लिये परम श्रेष्ठ साधन है। निष्कामभावसे भगवन्नामका जप-कीर्तन करनेपर मोक्षकी प्राप्ति, परम प्रेमास्पद भगवान्‌के दुर्लभ प्रेमकी इच्छासे करनेपर भगवत्प्रेमकी प्राप्ति, व्यक्तिगत आर्ति-विपत्ति आदिके नाशके लिये करनेपर आर्ति-विपत्ति-नाश, किसी वस्तुकी इच्छासे करनेपर उस वस्तुकी प्राप्ति; देश और विश्वमें फैले हुए अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार आदिके नाशके लिये सामूहिक या विभिन्न व्यक्तियोंके द्वारा किये जानेपर जगत्‌के समस्त प्राणियोंके लिये भीषण और घोर दुःखोंके कारणरूप इन समस्त दोषोंका नाश, पारस्परिक कल्याण तथा प्रीतिकी इच्छासे करनेपर संसारमें परस्पर वैरनाश और प्रीतिवर्धन एवं भूकम्प, बाढ़, अवर्षा, अकाल, अन्न-जल-कष्ट, अग्निदाह, व्याधि, महामारी आदि जनपदको ध्वंस करनेवाले प्राकृतिक कष्टोंके नाशके लिये करनेपर इन सबका नाश होकर सुख-समृद्धि-आरोग्यकी प्राप्ति—ये सभी कार्य विश्वासपूर्वक भगवन्नामके जप-कीर्तनसे सुसम्पन्न होते हैं, हो सकते हैं और होते देखे गये हैं। दुर्बलहृदय, असंयतेन्द्रिय, अल्पायु कलियुगके मनुष्योंके लिये तो इससे बढ़कर और कोई भी सुगम और अमोघ साधन नहीं है। भगवन्नामका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र—सभी कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण'के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रति वर्ष प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक अपने तथा सबके सर्वविध कल्याणकी भावनासे अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमपूर्वक प्रयत्न करके दूसरोंसे करवायें। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१—यह श्रीभगवन्नाम जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२—इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ (१० नवम्बर, १९५४) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ (७ अप्रैल, १९५५) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१२को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय तब तो बहुत ही उत्तम है।

३—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४—एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५—संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६—यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जन-से जप करवा लेना चाहिये। ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। पर यदि ये दोनों बातें ही न हो सकें तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९–स्त्रियाँ रजस्वलाके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं; किन्तु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११–सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें; जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३–सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितना जप करने का संकल्प किया गया हो उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र पूर्णिमाके बाद जिसमें जप प्रारम्भ करने की तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५–सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६–सूचना भेजनेका पता–'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'–कार्यालय, गोरखपुर।

प्रार्थी—हनुमानप्रसाद पोद्दार
सम्पादक–'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

दुस्तर भवसागर

करमकी नदी जामैं भरमके भौंर परैं, लहरैं मनोरथकी कोटिन गरत हैं।
काम सोक मद महा मोहसे मगर तामैं, क्रोध सो फनिंद जातें देवता डरत हैं॥
लोभ-जल पूरन अखंडित 'अनन्य' भनै, देखे वारपार ऐसो धीर ना धरत हैं।
ज्ञान ब्रह्म सत्य जाके ज्ञानको जहाज साजि, ऐसे भवसागरकों विरले तरत हैं॥

कामके पत्र

(१)

साधकका सिद्धदेह

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र मिला। साधनक्षेत्रमें सिद्धदेहविषयक यह आपका प्रश्न रागानुगा भक्तिके एक अति उच्च साधनका संकेत करता है। वास्तवमें ये सब प्रश्न गोपनीय दिव्य-साधनासे सम्बन्ध रखते हैं; अतः इनका वास्तविक उत्तर इस मार्गके अनुभवी महापुरुष ही दे सकते हैं। पर आप मुझसे पूछनेका आग्रह करते हैं, इसलिये मैं उक्त मार्गके महानुभावोंके विचारानुसार कुछ लिखनेका प्रयत्न करता हूँ।

साधकदेह और सिद्धदेह—इस प्रकार सेवाके लिये दो देह माने गये हैं। हमारे इस पाञ्चभौतिक स्थूल देहको ही साधनामें संलग्न होनेपर साधकदेह कहते हैं। इसके परे सिद्धदेह है, जिसकी पहले साधकदेहवाले महानुभाव भावना करते हैं और उस भावनामय सिद्धदेहके द्वारा भगवान्‌की सेवा किया करते हैं। पर जिनके हृदयमें यथार्थ रतिकी उत्पत्ति हो गयी है, उनको सिद्धदेहकी भावना नहीं करनी पड़ती, उसकी स्वयं स्फूर्ति हुआ करती है और वे परम सौभाग्यवान् साधक उक्त सिद्धदेहके द्वारा श्रीराधा-माधवकी मधुरतम निकुञ्जसेवामें नियुक्त रहकर नित्य निरतिशय परमानन्दाम्बुधिमें निमग्न रहते हैं। यह सिद्धदेह न तो अस्थिमांसरक्तमय जडदेह है और न सांख्यप्रोक्त सूक्ष्म और कारणदेह ही है। यह है दिव्यानन्दचिन्मय-रस-प्रतिभावित नित्यशुद्ध सुचारु समुज्ज्वल परम सुन्दरतम सच्चिदानन्दरसमय-विग्रह। वैष्णवसाधनाके क्षेत्रमें इस सच्चिदानन्दरसमयी मूर्तिको 'मञ्जरी' कहते हैं। ये सखियों-की अनुमतिके अनुसार श्रीराधामाधवकी सेवामें नियुक्त रहती और परमानन्दका अनुभव करती हैं। इनका यह देह नित्य सुन्दर, नित्य मधुर, नित्य नव-सुषमासम्पन्न और नित्य समुज्ज्वल रहता है। इनपर देश-कालका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस मार्गकी साधनाकी परिपक्व स्थितिमें इस सिद्धदेहकी स्वयमेव स्फूर्ति हुआ करती है। पाञ्चभौतिक देह छूट जाती है, पर यह सच्चिदानन्द-रस-विग्रहमयी व्रज-सुन्दरियाँ भगवान्‌के प्रेमधाममें स्फूर्ति प्राप्त करके श्रीयुगल-स्वरूपकी सेवामें नित्य नियुक्त रहती हैं। इस साधनाके क्षेत्र-में तथा भगवान् श्रीराधामाधवके प्रेमधाममें भगवान् श्री-वृन्दावनेश्वर तथा श्रीवृन्दावनेश्वरी, उनकी अष्ट सखी और अष्ट मञ्जरियोंके नाम, वर्ण, वस्त्र, वय तथा सखी एवं मञ्जरियोंकी दिशा और उनकी सेवाकी सूची निम्नलिखित प्रकारसे मानी गयी है—

दिशा	नाम	देहका वर्ण	वस्त्रका रंग	वयस्—वर्ष मास दिन	सेवा
×	श्रीनन्दनन्दन श्यामसुन्दर	इन्द्रनीलमणि	पीला	१५।९।७	×
	श्रीमती राधिका रासेश्वरी	तपाया स्वर्ण	नीला	१४।२।१५	×
			सखी		
उत्तर	श्रीललिता	गोरोचन	मयूरपिच्छ	१४।३।१२	तांबूल
ईशानकोण	श्रीविशाखा	बिजली	तारावर्ण	१४।२।१५	वस्त्रादि
पूर्व	श्रीचित्रा	काश्मीर	काँचवर्ण	१४।१।१९	चित्र
अग्निकोण	श्रीइन्दुलेखा	हरिताल	दाडिमपुष्प	१४।२।१२	अमृतासन
दक्षिण	श्रीचम्पकलता	चम्पापुष्प	चीलवर्ण	१४।२।१४	चँवर
नैर्ऋत्यकोण	श्रीरङ्गदेवी	पद्मकिञ्जल्क	जवापुष्प	१४।२।८	चन्दन
पश्चिम	श्रीतुङ्गविद्या	काश्मीर	पाण्डुवर्ण	१४।२।२०	गानवाद्य
वायव्यकोण	श्रीसुदेवी	पद्मकिञ्जल्क	जवापुष्प	१४।२।८	जल

मञ्जरी

उत्तर	श्रीरूपमञ्जरी	गोरोचन	मयूरपिच्छ	१३।६।०	ताम्बूल
ईशानकोण	श्रीमञ्जुलीलामञ्जरी	तप्तस्वर्ण	किंशुकपुष्प	१३।६।७	वस्त्र
पूर्व	श्रीरसमञ्जरी	चम्पापुष्प	हंसवर्ण	१३ वर्ष	चित्र
अग्निकोण	श्रीरतिमञ्जरी	बिजली	तारावर्ण	१३।२।०	चरणसेवा
दक्षिण	श्रीगुणमञ्जरी	बिजली	जवापुष्प	१३।१।२७	जल
नैर्ऋत्यकोण	श्रीविलासमञ्जरी	स्वर्णकेतकी	भ्रमरवर्ण	१३।०।२६	अंजन-सिंदूर
पश्चिम	श्रीलवङ्गमञ्जरी	बिजली	तारावर्ण	१३।६।१	माला
वायव्यकोण	श्रीकस्तूरीमञ्जरी	स्वर्णवर्ण	कॉचवर्ण	१३ वर्ष	चन्दन

इनके नाम, सेवा आदिमें व्यतिक्रम भी माना जाता है।

जैसे—श्रीसुदेवीजीके देहका वर्ण उद्दीप्त स्वर्णके समान भी माना गया है—'प्रोत्तप्त शुद्ध कनकच्छवि चारु देहाम ……'। प्रधान अष्टमञ्जरियोंके नामोंमें भी अन्तर माना गया है; उपर्युक्त सूचीके स्थानपर ये नाम भी माने गये हैं- (१) श्रीअनङ्गमञ्जरी, (२) श्रीमधुमतीमञ्जरी, (३) श्रीविमलामञ्जरी, (४) श्रीश्यामलामञ्जरी, (५) श्रीपालिकामञ्जरी, (६) श्रीमङ्गलामञ्जरी, (७) श्रीधन्यामञ्जरी; (८) श्रीतारकामञ्जरी। तथा इन प्रत्येकके अनुगत दो-दो मञ्जरियाँ अथवा प्रिय नर्म सखियाँ क्रमशः इस प्रकार मानी गयी हैं—(१) श्रीलवङ्गमञ्जरी, (२) श्रीरूपमञ्जरी, (३) श्रीरसमञ्जरी, (४) श्रीगुणमञ्जरी, (५) श्रीरतिमञ्जरी, (६) श्रीभद्रमञ्जरी, (७) श्रीलीलामञ्जरी, (८) श्रीविलासमञ्जरी (क), (९) श्रीविलासमञ्जरी (ख), (१०)श्रीकेलिमञ्जरी, (११) श्रीकुन्दमञ्जरी, (१२) श्रीमदनमञ्जरी, (१३) श्रीअशोकमञ्जरी, (१४) श्रीमञ्जुलीलामञ्जरी, (१५) श्रीसुधामञ्जरी, (१६) श्रीपद्ममञ्जरी। प्रधान अष्ट सखियोंका क्रम भी कहीं-कहीं ऐसा माना गया है—श्रीरङ्गदेवी, श्रीसुदेवी, श्रीललिता, श्रीविशाखा, श्रीचम्पकलता, श्रीचित्रा, श्रीतुङ्गविद्या, श्रीइन्दुलेखा अथवा श्रीललिता, श्रीविशाखा, श्रीचम्पकलता, श्रीइन्दुलेखा, श्रीतुङ्गविद्या, श्रीरङ्गदेवी, श्रीसुदेवी, श्रीचित्रा। कहीं-कहीं प्रधान अष्ट सखियोंके नामोंमें भी अन्तर माना गया है।

सखियों और मञ्जरियोंकी संख्या इतनी ही नहीं है। ये तो मुख्य आठ-आठ हैं। सिद्धदेहमें मञ्जरियोंकी स्फूर्ति और तद्रूपता प्राप्त हो जाती है। यह परम गोपनीय साधन-राज्यका विषय है। यह बात जान लेनेकी है कि इस राग-मार्गमें—रति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—ये आठ स्तर माने गये हैं। इनमें रति प्रथम है और वह रति तभी मानी जाती है जब कि इस लोक और परलोकके—ब्रह्मलोकतकके समस्त भोगोंसे तथा मोक्षसे भी सर्वथा विरति होकर केवल भगवच्चरणारविन्दमें ही रति हो गयी हो। साधकके चित्तमें नित्य-निरन्तर केवल एक यही धारणा दृढ़ताके साथ बद्धमूल हो जाय कि इस लोकमें, परलोकमें सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे हैं। श्रीकृष्णके सिवा मेरा और कोई भी, कुछ भी, किसी कालमें भी नहीं है। अतएव यहाँ दूसरी वस्तु मात्र तथा तत्त्वका ही अभाव हो जाता है, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या और असूया आदि दोषोंके लिये तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। ये तो साधकदेहमें ही समाप्त हो जाते हैं। सिद्धदेहमें तो नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णानुभवके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं।

अनन्त गुणगण

गावत गजानन सकुंचि एक आनन तें, जात चतुरानन हू बैठि बस लाज के।
मौन गहि रहे संभु कहि पंच आनन तें भाषत षड़ानन ना सामुहें समाजके॥
कहाँ पुनि कौन विधि गाइये गुनानुवाद, 'भानु' लघु आनन तें देव-सिरताज के।
सेस जब गावैं सहसानन तें तो हूँ गुन, गाये ना सिरात ब्रजराज महाराजके॥

श्रीहरिः

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क

संत-वाणी-अङ्क

सहृदय तथा प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे प्रार्थना

यह अट्ठाईसवें वर्षका दसवाँ अङ्क है । इसके अतिरिक्त दो अङ्क और निकलनेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा । उसके पश्चात् सौर माघमास अथवा जनवरीका प्रथम अङ्क 'संत-वाणी-अङ्क' बृहत् अङ्क (विशेषाङ्क) के रूपमें प्रकाशित होगा । ठीक समयपर ग्राहकोंको अङ्क मिल जाय, इसके लिये प्रयत्न किया जा रहा है । इसलिये ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे कृपापूर्वक वार्षिक मूल्यके ७।।) रुपये मनी-आर्डरके द्वारा पहलेसे भेज दें ।

अन्धकारमय जगत्में निर्मल प्रकाशका विस्तार करनेवाली संत-वाणी ही है, विविध प्रकारके दारुण संतापोंसे जलते हुए जीवोंको पवित्र, मधुर, शान्ति-सुधाका पान कराकर उनकी अन्तर्ज्वालाको बुझाकर, उन्हें शीतल सुखद स्थितिमें पहुँचानेवाली भी संत-वाणी ही है । संत सभी युगोंमें, सभी देशोंमें और सभी जातियोंमें होते आये हैं, उन्हीं संतोंकी चुनी हुई वाणियोंका इस अङ्कमें संग्रह होगा । महर्षि नारद, वसिष्ठ, अंगिरा, याज्ञवल्क्य, गौतम, भरद्वाज, अत्रि, व्यास, शुकदेव आदि बहुत-से ऋषि-मुनियों; मनु, जनक, पृथु, भरत, भीष्म, युधिष्ठिर आदि राजर्षियों; संत अलवारों, विविध मतोंके महान् आचार्यों; कबीर, दादू, नानक, रैदास, सुन्दरदास, गरीबदास आदि बहुतेरे संतों, तुलसी, सूर आदि सैकड़ों भक्तों, ब्रह्मवादिनी वाक्, मैत्रेयी, अनसूया, अरुन्धती, मदालसा, कुन्ती, द्रौपदी आदि वेद-पुराण-प्रसिद्ध संत माताओंसे लेकर मीराबाई, दयाबाई, सहजोबाई आदि अनेकों भक्त-देवियों; बौद्ध, जैन संतों, आधुनिक युगके श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द, महात्मा गान्धी, महामना मालवीय आदि महात्माओं तथा अनेकों देवियोंकी सुन्दर सुशीतल तथा जीवनमें उत्साह, उल्लास फूँकनेवाली, सात्त्विक आदर्शको अनुप्राणित करनेवाली, पाप-तापके अन्धकारको नाश करके प्रखर प्रकाशमय ज्ञान-प्रेमके निर्मल शीतल सूर्यका उदय करानेवाली, असत्य, हिंसा, द्वेष आदिसे मुक्त कर सत्य, अहिंसा, प्रेमकी प्रतिष्ठा करानेवाली लगभग तीन-चार सौ संतोंकी वाणियोंका संग्रह इसमें होगा । प्रायः सभी काल, सभी देश और सभी जातिके संतोंकी वाणियोंका समावेश होगा ।

इसमें सैकड़ों संतोंके सादे तथा बहुत-से विविध भावात्मक अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ण सुनहरी, बहुरंगे, दुरंगे, इकरंगे चित्र रहेंगे । पृष्ठ-संख्या लगभग ८०० होगी । जो लोग पहलेसे रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, सम्भव है उन्हें आगे चलकर

रजि० सं० ए० १७५

जो महानुभाव इस अङ्कसे नये ग्राहक बनना चाहते हैं, अथवा 'कल्याण'के जो पुराने ग्राहक अपने इष्ट-मित्रोंको इस परम उपादेय 'संत-वाणी-अङ्क'का लाभ प्राप्त करवाना चाहते हैं, वे अपने तथा इष्ट-मित्रोंके वार्षिक चन्देके ७॥) रुपये तुरंत मनीआर्डरसे भेजनेकी कृपा करें और मनीआर्डर-कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिख दें। 'कल्याण'के ग्राहक बनाना—लोगोंमें सद्भाव, सदाचरण, सद्विचारका प्रसार करके उन्हें परमहितके मार्गमें लगाना है। अतएव यह बड़ा ही पुनीत कार्य है। हमारा नम्र निवेदन है कि 'कल्याण'के ग्राहक बढ़ाकर सच्ची लोकसेवाके द्वारा भगवत्सेवाका पुण्य-लाभ सभी करें।

ग्राहकोंको पत्र-व्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय और मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, डाकघर, जिला, प्रान्त—सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। ग्राहक-नम्बर भी अवश्य लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याण
धर्म
वर्ष २८
अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २०११, नवम्बर १९५४

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

कल्याणके प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे सादर निवेदन

१–कल्याणका यह ग्यारहवाँ अङ्क है। एक अङ्क और निकलनेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। ...के बाद २९ वें वर्षका पहला अङ्क 'संत-वाणी-अङ्क' (विशेषाङ्कके रूपमें) प्रकाशित होगा। पिछले अङ्कमें इसकी सूचना दी जा चुकी है। 'संत-वाणी-अङ्क' की छपाईका कार्य जोरोंके साथ चल रहा है।

२–जगत्को असली सुख-शान्तिके मार्गपर ले जाने, लोगोंके अज्ञानान्धकारको मिटाकर उन्हें प्रकाश देने एवं नरकमें ले जानेवाले आचरणों और विचारोंसे छुड़ाकर भगवत्प्राप्तिके परम सुखमय मार्गपर पहुँचा देनेके लिये 'संतोंकी वाणी' ही प्रधान साधन है। संत किसी युग, देश, जातिविशेष-में ही सीमित नहीं होते। भगवान्को पहचाननेवाले उनके प्यारे संत, महात्मा, भक्त (पुरुष और नारी) सभी युगोंमें, सभी देशोंमें और सभी जातियोंमें प्रकट होते रहते हैं। ऐसे ही संतोंमेंसे सैकड़ों संतोंकी चुनी हुई वाणियाँ इस अङ्कमें सङ्कलित की गयी हैं। वैदिक संतोंसे लेकर आधुनिक कालके भारतीय एवं अन्यदेशीय संतोंकी वाणियोंका यह बड़ा विशाल संग्रह है। इससे लोक-परलोक दोनोंको बनानेवाले अनुभूत तथा पवित्र साधन पाठकोंको प्राप्त हो सकेंगे।

३–इस अङ्कमें लगभग ८०० पृष्ठ होंगे और विभिन्न शैलियोंके प्राचीन और नवीन, विविध भावपूर्ण, जीवनको पवित्र बनानेमें सहायता करनेवाले बहुत-से सुनहरे, बहुरंगे, दुरंगे तथा सादे चित्र रहेंगे। साथ ही संतोंके भी सैकड़ों चित्र होंगे। इससे इस महान् अङ्ककी उपादेयता और भी बढ़ जायगी।

४–यह अङ्क बहुमूल्य रत्न-मञ्जूषाकी भाँति संग्रह करके घरमें रखने योग्य तो होगा ही, इसका प्रचार भी बड़ा लाभजनक होगा। इसलिये निवेदन है कि जिन लोगों-को ग्राहक बनना हो, वे वार्षिक मूल्यके ७॥) (साढ़े सात रुपये) मनीआर्डरके द्वारा तुरंत भेज दें। रुपये भेजते समय कूपनमें 'ग्राहक-नम्बर' अवश्य लिख दें। नाम, पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रान्त आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। जो नये ग्राहक हों, वे कूपनमें 'नया-ग्राहक' अवश्य लिख दें और जहाँतक बने नये-नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये भिजवानेका शीघ्र प्रयत्न

करें। विशेषाङ्क बहुत उपादेय होगा, इसलिये सम्भव है कि वी० पी० द्वारा भेजने-को अङ्क शायद बहुत कम बचें, इसलिये मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये।

५-जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिख-कर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ ही डाकखर्चकी हानि न उठानी पड़े।

६-गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग 'कल्याण' से सर्वथा अलग है, इसलिये कल्याणके चंदेके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये न भेजें और पुस्तकोंके आर्डर भी 'मैनेजर, गीताप्रेस' के नामसे अलग भेजें। पुस्तकोंके लिये रुपये भी इसी नामसे भेजें।

७-जिन सज्जनोंको सजिल्द अङ्क लेना हो वे सवा रुपया १।) अधिक यानी ८।।।) भेजें; परंतु यह ध्यान रहे कि सजिल्द अङ्क अजिल्द अङ्क भेजे जानेके बाद भेजे जा सकेंगे, इसलिये महीने-डेढ़-महीनेकी देर होगी।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

आवश्यक सूचना

धूर्तों और ठगोंसे सावधान

इधर कई पत्र ऐसे मिले हैं, जिनसे यह पता लगता है कि एक या कई आदमी मेरे नामसे अथवा अपनेको 'मेरा भाई' बताकर या 'सम्बन्धी' बताकर लोगोंसे रुपये माँगते हैं। सहारनपुरके पास किसी आश्रमसे एक आदमी अपनेको मेरा भाई बताकर कुछ ले गया। जयपुरसे पत्र मिला कि वहाँ एक फर्मको किसीने मेरे नामसे फोन किया और रुपये माँगे। झरियासे पत्र मिला कि किसीने अपनेको मेरा सम्बन्धी बताकर रुपये माँगे और फिर फोनका पता न मिलनेपर उन सज्जनने रुपये मेरे पास भेजे जो उन्हें सधन्यवाद लौटा दिये गये। चित्रकूटके अनुसूया-आश्रमका पत्र मिला है। उसमें लिखा है कि किसीने अपनेको मदनलाल पोद्दार नामक मेरा छोटा भाई बताकर रुपये लिये। ऐसे कई पत्र और भी मिले थे। अतएव मैं इस सूचनाके द्वारा सभीसे निवेदन करता हूँ कि न तो मेरा कोई सहोदर भाई है, न मेरा कलकत्तेमें कोई कारोबार है, न मेरे ऐसे कोई सम्बन्धी हैं जो रुपयोंकी माँग करनेवाले हों। यह सारी ठगबाजी है। अतएव मेरे नामसे अथवा मेरे भाई, सम्बन्धी या प्रेमीके नामसे या गीताप्रेसके किसी सेवक या कर्मचारीके अथवा 'कल्याण' के सञ्चालक, लेखकके नामसे कोई किसीसे रुपये माँगे तो उसे भूलकर भी कोई कुछ न दे और हो सके तो उस आदमीको पुलिसमें पकड़वा दिया जाय।

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

श्रीअंजनीकुमार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०११, नवम्बर १९५४ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ३२६

श्रीअंजनिकुमार

काञ्चनाद्रि कमनीय कलेवर कदली-वन राजत अभिराम ।
हेम-मुकुट सिर, भूषण भूषित, अर्धनिमीलित नेत्र ललाम ॥
वरद पाणि वपु ध्यानमग्न मन, भक्त-कल्पतरु नित्य निकाम ।
राघवेन्द्र-सीता-प्रिय-सेवक मन-मुख सदा जपत सियराम ॥

याद रक्खो—जैसे बरफमें केवल जल-ही-जल है, घड़ेमें मिट्टी-ही-मिट्टी है, सोनेके हारमें सोना-ही-सोना है, कपड़ेमें केवल सूत-ही-सूत है, इसी प्रकार इस चराचर जगत्में केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं। भगवान्के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। परंतु भगवान् केवल इस जगत्में ही नहीं हैं, इससे परे भी हैं।

याद रक्खो—जल न हो तो बरफका, मिट्टी न हो तो घड़ेका, सोना न हो तो स्वर्णहारका और सूत न हो तो कपड़ेका अस्तित्व ही नहीं रहता; वैसे ही भगवान् न हों तो जगत्का अस्तित्व न रहे। परंतु जैसे बरफ न होनेपर भी जल रहता है, घड़ा न होनेपर भी मिट्टी रहती है, हार न होनेपर भी सोना रहता है और कपड़ा न होनेपर भी सूत रहता है, वैसे ही जब जगत् नहीं रहता है, तब भी भगवान् तो रहते हैं।

याद रक्खो—अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भगवान्के एक देशमें ही स्थित हैं, भगवान्की अनन्तताका कोई पार नहीं है।

याद रक्खो—जगत्में जैसे भगवान्के सिवा और कुछ भी नहीं है, वैसे ही जगत्में जो कुछ हो रहा है, सो सब भगवान्की लीला हो रही है और लीला तथा लीलामय भगवान् एक ही वस्तुतत्त्व है।

याद रक्खो—भगवान् ही सर्वमय हैं और भगवान् ही सर्वातीत हैं। भगवान् ही अनन्त ब्रह्माण्डोंके रूपमें प्रकट हैं और भगवान् ही उन सबसे अलग सर्वथा रूपहीन हैं। भगवान् ही सब कुछ करते हैं और भगवान् ही सर्वथा निष्क्रिय हैं। भगवान् ही अनन्ताचिन्त्य कल्याण-गुणगण-सम्पन्न हैं और भगवान् ही सर्वथा गुणरहित हैं। यों जो एक ही समय परस्पर-विरोधी गुणों, रूपों तथा स्थितियोंके स्वरूपोंमें प्रकट हैं तथा सबसे सर्वथा सर्वदा परे हैं, वे ही भगवान् हैं।

याद रक्खो—इन भगवान्को इस प्रकार समझकर, जो सर्वत्र, सबमें भगवान्को देखकर उनकी उपासना करता है, वह तुरंत ही भगवान्को प्राप्त करके भगवान्के साथ एक हो जाता है।

याद रक्खो—यही भगवान् नित्य-नव-सुन्दर परम मधुर मनोहर दिव्य सच्चिदानन्द विग्रह साकार—श्रीमहाविष्णु, श्रीसदाशिव, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र आदि रूपोंमें सच्चिदानन्दमय दिव्य लोकोंमें नित्य निवास करते हैं और समय-समयपर भूतलपर अवतीर्ण होकर जगत्के प्राणियोंका परम कल्याण-साधन किया करते हैं। भगवान् भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं, अतएव भगवान्को कोई किसी भी भावसे भजे, भगवान् उसकी रुचिके तथा भावके अनुसार उसे अपनी अनुभूति कराते हैं, उसकी मनोवाञ्छा पूर्ण करते हैं और उसकी अज्ञान-ग्रन्थियोंको तोड़कर उसे अपने दिव्य धाममें पहुँचा देते हैं।

याद रक्खो—भगवान्का दिव्य परम धाम भगवान्से भिन्न नहीं है। भगवान्का स्वरूप, भगवान्का नाम, भगवान्की लीला और भगवान्का धाम सब भगवद्रूप ही है। उनका परम धाम दिव्यस्थान होते हुए भी स्थान नहीं है, सच्चिदानन्द तत्त्व है, इसी प्रकार उनका स्वरूप, उनका नाम, उनकी लीला सभी—रूप, नाम और लीलारूप होते हुए ही सच्चिदानन्द-तत्त्व हैं। उनमें भौतिकता, मायाका लेश नहीं है। वे औपाधिक, जरा-मरणशील, केवल मध्यमें व्यक्त होनेवाली वस्तु नहीं हैं, वे भगवत्स्वरूप, नित्य सत्य देशकालातीत चिदानन्दमय हैं।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(३४)

प्रश्न—स्वप्न क्या है ?

उत्तर—जाग्रत्‌में देखे, सुने, अनुभव किये हुए भावोंके जो संस्कार मनमें जम जाते हैं, उन्हींका प्रकारान्तरसे स्वप्नका दृश्य बन जाता है। स्वप्नमें भी प्रारब्ध-कर्मका उपभोग होता है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्तिके बाद स्वप्न आता है या नहीं ?

उत्तर—स्वप्न तो एक अवस्था है। अत: जबतक शरीर रहता है, तबतक आता ही है। जिसका जैसा भाव जाग्रत्‌में रहता है, वैसा ही स्वप्नमें भी रहता है। जिसका मन शुद्ध हो जाता है उसको स्वप्न भी वैसा ही आता है। सूक्ष्म शरीरके व्यापारका नाम स्वप्न है। स्वप्नमें मनका जैसा स्वरूप है, वैसा सामने आ जाता है।

प्रश्न—स्वप्नके पुण्य-पाप लगते हैं या नहीं ?

उत्तर—नहीं लगते; क्योंकि जगते ही उस दृश्यमें असत् बुद्धि हो जाती है। चित्तशुद्धि तक ही मनुष्य-का प्रयत्न है। चित्त शुद्ध हो जानेके बाद करना कुछ भी नहीं रहता। जो कुछ करना है, वह अपने-आप हो जाता है, जो प्राप्त होना है वह मिल जाता है। अन्तिम साधन जीवका पुरुषार्थ नहीं है। वह तो भगवान्‌की कृपा है। उसीपर साधकको निर्भर रहना चाहिये।

प्रश्न—गांधीजीके विषयमें आपका क्या ख्याल है ?

उत्तर—वे किस स्थितितक पहुँचे थे, यह तो वे ही जानें, या परमेश्वर। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि मुझसे अच्छे थे। ईश्वरनिर्भरता और मानवता उनके जीवनमें आदर्शरूपमें थीं।

ईश्वरविश्वास ही समस्त साधनोंका मूल है। विना विश्वासके साधनमें उत्साह और सफलता नहीं होती।

प्रश्न—विना विश्वासके अर्थात् श्रद्धाके तो कोई भी काम सफल नहीं होता। यज्ञ, दान आदि कर्मोंमें भी श्रद्धा आवश्यक है ?

उत्तर—कर्ममें विधिकी प्रधानता है। वहाँ श्रद्धा भी विधिके रूपमें ही है। यदि विधिकी कमी हो तो कर्मका जैसा फल होना चाहिये, वैसा नहीं होता, उसके फलमें भेद हो जाता है। परंतु उपासनामें अर्थात् भगवत्प्राप्तिके साधनोंमें विश्वास ही मुख्य है। विना विश्वासके किसी भी साधनमें साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

साधकके जीवनमें ईश्वरविश्वास, उनके प्रेमकी लालसा और उनपर निर्भरता होनी चाहिये। अपने प्रेमास्पदके वियोगसे व्याकुल रहते हुए उनपर निर्भर रहना, प्रेमकी भूख और निर्भरता दोनोंका एक साथ होना—यही साधक-जीवनका अन्तिम पुरुषार्थ है।

जब मनुष्य सुख और दु:खका कारण किसी दूसरेको मान लेता है, तब राग-द्वेषके कारण चित्त अशुद्ध हो जाता है। वास्तवमें जब मनुष्य अपनी प्रसन्नताका कारण किसी दूसरेके कर्तव्यको मान लेता है, उसकी प्रसन्नता दूसरेपर निर्भर करती है, यही उसके जीवनका सबसे बुरा समय है, ऐसा साधकको समझना चाहिये।

कुछ लोग सुख और दु:खको कर्मोंका फल मानते हैं, परंतु वास्तवमें कर्मोंका फल सुख-दु:ख नहीं है। कर्मोंके फलरूपमें तो परिस्थिति प्राप्त होती है। उनमें सुख और दु:ख तो मनुष्यके भावानुसार होते हैं।

विवेकशील मनुष्य भयंकर परिस्थितिमें दुखी नहीं होता। अपितु उसको अपनी उन्नतिका हेतु समझकर, उसका सदुपयोग करता है। और सब प्रकारकी परिस्थितियोंको परिवर्तनशील और अनित्य तथा अपूर्ण

समझकर, परिस्थितियोंसे ऊपरका जीवन प्राप्त करनेके लिये, उनसे असङ्ग हो जाता है।

भगवत्-विश्वासी साधक तो प्रतिकूल परिस्थितिको भगवान्‌की अहैतुकी कृपा समझकर उनके प्रेममें मुग्ध हो जाता है। वह समझता है कि अब प्रभु अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं। इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और क्या हो सकता है?

जिसको लोग सुख कहते हैं, उस अनुकूल परिस्थितिको भगवद्भक्त भगवान्‌की दया मानता है। वह समझता है कि यह परिस्थिति भगवान्‌ने मेरे छिपे हुए रागकी निवृत्तिके लिये और विश्वरूपमें अपनी सेवा करवानेके लिये दी है। अतः वह उसमें आसक्त न होकर प्राप्त शक्ति और पदार्थोंको भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये जगत्-जनार्दनकी सेवामें लगाकर भगवान्‌की प्रसन्नतामें प्रसन्न रहता है।

साधकको चाहिये कि अनुकूल और प्रतिकूल किसी प्रकारकी परिस्थितिमें आबद्ध न हो, उसमें रस न ले अर्थात् उसमें ही संतुष्ट होकर परिस्थितियोंसे जो अतीत जीवन है, उससे निराश न हो जाय। किंतु हरेक प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके उससे ऊपर उठनेकी चेष्टा रक्खे। प्रत्येक परिस्थिति प्राणीके लिये साधनरूप है, साध्य नहीं।

कृपा और दयाके शब्दार्थमें कोई खास भेद नहीं है। परंतु अनुकूल परिस्थितिकी अपेक्षा प्रतिकूल परिस्थिति साधकको भगवान्‌की ओर अधिक आकर्षित करती है। इसलिये उसमें साधकको भगवत्-कृपाका अनुभव होता है। दया तो हरेक दुखीपर हो सकती है, परंतु जिस दयाके साथ अपनता और प्रेमका भाव अधिक हो, उसे 'कृपा' कहा जा सकता है।

(३५)

पहले यह बात कही गयी थी कि जबतक साधकको अपनेमें अपने रसका अनुभव नहीं होता, रसकी प्राप्तिके लिये वह दूसरोंपर निर्भर रहता है, तबतक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता।

यहाँ दूसरोंसे अभिप्राय ईश्वरसे या अपने आपसे और कर्तव्यसे नहीं है; क्योंकि ईश्वरसे साधकका भेद नहीं है। उससे तो साधकका नित्य सम्बन्ध है। जिनसे स्वरूपका या जातीय नित्य सम्बन्ध नहीं है, माना हुआ सम्बन्ध है, वे ही दूसरे हैं।

जब मनुष्य दूसरोंके कर्तव्यपर निर्भर होकर उनको साधनमें सहायक मानता है, तब उनके अनुकूल व्यवहारसे तो उनमें आसक्ति हो जाती है और प्रतिकूल व्यवहारसे क्रोध हो आता है। ये दोनों ही चित्तकी अशुद्धिके मुख्य कारण हैं।

विचार करनेपर मालूम होता है कि साधन करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। जो परिस्थिति और योग्यता उसे वर्तमानमें प्राप्त है, उसीमें वह साधन कर सकता है। और साधनकी सफलता भी निश्चित है। इसपर भी साधनमें प्रवृत्ति और रुचि नहीं होती। जो काम करना ठीक समझते हैं उसे नहीं कर पाते। यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। प्राप्त विवेकके द्वारा साधकको खोज करनी चाहिये कि वास्तवमें इसका कारण क्या है। विचार करनेपर मालूम होगा कि प्रायः जो अपनेको साधक मानते हैं और साधनके उद्देश्यसे घरबार और कुटुम्बसे सम्बन्ध छोड़कर अलग रहते हैं, वे भी अपने साथियोंसे एवं जिससे किसी प्रकारका सम्पर्क है, उनसे किसी-न-किसी प्रकारकी आशा रखते हैं। उनके कर्तव्यसे अपने मनकी बात पूरी करना चाहते हैं। अपने अधिकारका त्याग और भगवान्‌के नाते दूसरोंके मनकी बात पूरी कर देना, अपना कर्तव्य नहीं समझते। इसलिये उनका चित्त शुद्ध नहीं होता।

दूसरा कारण यह भी मालूम होगा कि जो काम करते हैं, उसे जिस प्रकार करना चाहिये, ठीक उस प्रकार पूरा नहीं करते। जिस किसी प्रकारसे उसे समाप्त कर देना चाहते हैं। अतः उसके संकल्प दूसरे समयमें उठते रहते है, उसका चिन्तन नहीं छूटता।

इसलिये साधकको चाहिये कि जिस समय जो काम करे, उसे भगवान्का काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये उत्साहपूर्वक उसमे पूरा मन लगाकर उसे सुचारुरूपसे पूरा कर दे ताकि कामसे अलग होते ही उसका मन संकल्परहित हो जाय। या अपने प्रेमास्पदके चिन्तनमें लग जाय और उनके प्रेमरसका अनुभव होने लगे।

जिस प्रकार एक सती स्त्री हरेक काम अपने पतिकी प्रसन्नताके लिये सुचारुरूपसे करती है। उसमें गलती नहीं करती और जिस प्रकार वह पतिके मनमें अपना मन मिला देती है। अपना कोई आग्रह न रखकर पति जो चाहता है वही करती है और पतिकी प्रसन्नताके लिये पतिके मित्र, सम्बन्धी, पिता-माता, भाई-बहिन आदिकी सेवा भी बड़े प्रेम और उत्साहके साथ कुशलतापूर्वक करती है। उसमें किसी प्रकारकी असावधानी, अवहेलना या आलस्य नहीं करती। जिस प्रकार एक श्रेष्ठ शिष्य अपने गुरुकी प्रसन्नताके लिये, एक श्रेष्ठ पुत्र अपने माता-पिताकी प्रसन्नताके लिये, एक पिता अपनी संतानकी प्रसन्नताके लिये, अपने स्वार्थका त्याग करता है। अपने मनकी बात छोड़कर उनके अनुकूल व्यवहार करता है। वैसे ही साधकको भी अपने प्रभुकी प्रसन्नताके लिये सबके साथ उनके अनुकूल व्यवहार करना चाहिये।

जो स्त्री अपने सुखके लिये पतिकी सेवा करती है। अपने पतिसे अपने मनकी बात पूरी कराना चाहती है और जो पति अपने मनकी बात स्त्रीसे पूरी कराना चाहता है। अपने सुख-भोगके लिये स्त्रीका पालन-पोषण करता है। उनका आपसमें संघर्ष बना रहता है, प्रेम नहीं होता और वे एक दूसरेको छोड़ भी नहीं सकते। इसी प्रकार गुरु और शिष्य, पिता-पुत्र, मित्र और मित्र, सेवक और स्वामी इन सबके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये।

जो साधक भगवान्की भक्ति, उनका भजन-स्मरण अपने सुख-प्राप्तिकी इच्छासे करता है। भगवान्से कुछ लेना चाहता है, जिसको उनके प्रेमकी अभिलाषा नहीं है, उसका चित्त भी सर्वथा शुद्ध नहीं होता और वह भगवान्का प्रेमपात्र नहीं बन सकता।

इसलिये साधकको चाहिये कि दिन-रातके चौबीस घंटे एवं साधनके आरम्भसे मृत्युपर्यन्त जो कुछ करे, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये करे, उनके प्रेमकी लालसाके अतिरिक्त किसी प्रकारकी चाह न करे। अपने सारे जीवनको साधन बना ले। भजन, स्मरण और खाना-व्यवहार-व्यापार और अतिथि-सत्कार-सेवा आदिमे कोई प्रीतिका भेद न रहे।

आजकल लोग अपने सम्पर्कवालोंके कर्त्तव्यसे अपने अधिकारकी रक्षा और अपनी चाहकी पूर्ति चाहते हैं। हरेक मनुष्य दूसरेके कर्तव्य और अपने अधिकारकी ओर देखते हैं। अपने कर्त्तव्यकी ओर नहीं देखते। इस कारण न तो धर्म-पालन होता है और न आपसमें प्रेम ही सुरक्षित रहता है। गुरु शिष्यको उसके कर्तव्यकी त्रुटि बताता है, शिष्य गुरुके कर्तव्यकी त्रुटि देखता है। साधु गृहस्थको उसके कर्तव्यकी बात बताता है और अपने मनके थोड़ा-सा भी प्रतिकूल होनेपर क्रोध करने लगता हैं। गृहस्थ देखता है, यह कैसा साधु है। साधुको कभी क्रोध आना चाहिये? इसी प्रकार एक दूसरेके दोषोंको देखते रहते हैं। तब उनका अन्तःकरण शुद्ध कैसे हो?

इस प्रकारके व्यवहारमें जब पिता पुत्रसे कहता है

कि तू अमुक काम हमारे मनके माफिक नहीं करता, तू बड़ा नालायक है, तो पुत्र यदि सामने नहीं कहता तो उसके मनमें तो यह भाव आ ही जाता है कि भूल तो इनकी है और मुझे नालायक बताते हैं। अतः यदि किसीको हितकी बात बतानी हो, तो भी बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि पहले उसमें प्यार और विश्वास उत्पन्न करे। जब उसे यह विश्वास हो जायगा कि ये मेरा सब प्रकारसे हित चाहते हैं, इनका कोई स्वार्थ नहीं है, तभी वह उनकी बात मानकर उसके अनुसार चलनेका प्रयत्न करेगा।

चित्तशुद्धिके लिये व्यवहारमें समता भी होनी चाहिये। विषमताके व्यवहारसे चित्त अशुद्ध हो जाता है। इससे मनुष्यकी साधनमें रुचि नहीं होती।

आजकल देखा जाता है कि लोग अपने साथियोंमें और जिनके साथ समयपर सम्पर्क होता है उनमें व्यवहारका बहुत भेद रखते हैं। पिता जिस प्रकार अपने पुत्रसे प्रेम करता है—वैसा भाईके पुत्रसे या पड़ोसीके पुत्रसे नहीं करता। स्त्री अपने पतिको जैसा भोजन देती है, अपने देवर-जेठको वैसा नहीं देती। जैसे अपने पुत्रको देती है, वैसे देवर-जेठके पुत्रोंको नहीं देती। औरकी तो कौन कहे, अपने ही शरीरसे उत्पन्न पुत्र और पुत्रीमें भी भेद रखती है। समझती है कि पुत्र तो अपने घरमें रहेगा। कमाकर हमारा पालन-पोषण करेगा। लड़की तो अपने घरकी होगी। हमें तो उल्टा देना-ही-देना रहेगा। इसी प्रकार अपने सगे-सम्बन्धी, जान-पहचानके व्यक्तियोंमें और अपरिचित आगन्तुक व्यक्तिके साथ भी व्यवहारमें भेद होता है। उपर्युक्त भेद केवल कर्ममें हो या आवश्यकताके भेदसे हो, या जिसका सत्कार करना है, उसकी रुचिके भेदसे वस्तुका भेद हो तो कोई हानि नहीं है। वह तो होना ही चाहिये। परंतु प्रीतिकी एकता होनी चाहिये। प्रेमका भेद नहीं होना चाहिये; पर होता बिल्कुल इसके विपरीत है। किसी समय किसी कारणसे वस्तुमें भेद न होकर भी प्रीतिमें भेद हो जाता है। इससे न तो चित्त शुद्ध होता है, न प्रेम बढ़ता है, न आपसमें एकता आती है और न शान्ति ही मिलती है।

अतः साधकको चाहिये कि जिसके साथ व्यवहार करे, उसे ईश्वरका स्वरूप माने अर्थात् यह समझे कि स्वयं भगवान् ही कृपा करके मेरी सेवा स्वीकार करनेके लिये इस वेषमें आये हैं। अथवा यह समझे कि सर्वव्यापी भगवान् इसमें विद्यमान हैं, अतः इसकी सेवा उन्हींकी सेवा है। यह भी न हो सके तो कम-से-कम यह तो समझे कि जो समस्त जगत्के कर्त्ता, संहर्त्ता और स्वामी हैं, यह भी उन्हींका है। अतः इसके आदर, सत्कार एवं सेवासे भगवान् प्रसन्न होंगे। मुझे उनका प्रेम प्राप्त होगा। इस भावको लेकर प्रेम और उत्साहके सहित उसकी हरेक आवश्यकताकी पूर्ति करे और सब कुछ भगवान्का है, उन्हींकी वस्तु उन्हींके काममें लग रही है इस भावनासे अपने मनमें किसी प्रकारका अभिमान न आने दे। इस प्रकार व्यवहार करनेवाले साधकका चित्त शुद्ध हो जाता है। उसको किसी प्रकारकी भोगवासना नहीं रहती। निःस्वार्थ प्रेम ही वास्तवमें भक्ति है और सब वासनाओंसे रहित होना ही मुक्ति है। अतः भक्ति चाहनेवाले साधकोंमें, प्राणिमात्रके प्रति अगाध प्रेम रहना चाहिये। और मुक्ति चाहनेवाले साधकोंमें सब प्रकारकी वासनाओंका अभाव होना चाहिये।

जपबल तपबल बाहुबल, चौथो बल है दाम।
हमरे बल एको नहीं, पाहि-पाहि श्रीराम ! ॥

मानव-जीवनका सर्वोत्तम कार्य

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक भाषणके आधारपर)

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७ । ३)

'सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक ही परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है ।' इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य होनेपर भी भोगोंकी आसक्ति और कामनावश मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लगता नहीं । पशुकी भाँति आहार-निद्रा, भय-मैथुनादिमें ही अपना अमूल्य जीवन खो देता है । यदि कोई उत्तम कर्म करता भी है तो उसका फल भी वह मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा ही चाहता है । इसलिये परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला साधन तो प्रायः बनता ही नहीं । यद्यपि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी उत्तम कर्ममें प्रवृत्त होना केवल विषय-सेवनमें ही लगे रहनेकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है; परंतु मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी वृत्ति जब मनुष्यके अंदर उत्पन्न हो जाती है और फूलती-फलती है तब उसमें दम्भ-पाखण्ड एवं दिखाऊपन आ जाता है । फिर यथार्थमें उत्तम कर्म बनना बंद हो जाता है । केवल बाहरसे उत्तम कर्मका दिखावामात्र रह जाता है । इसलिये मनुष्यको यथासाध्य भगवत्प्राप्तिके लिये ही उत्तम आचरण करना चाहिये । जिसमें लौकिक कामना न हो और जो गुप्त भावसे किया जाय, वही उच्चकोटिका साधन होता है । जैसे श्रीभगवान्‌के नामका जप, वाणीकी अपेक्षा श्वाससे किया जाय तो श्रेष्ठ होता है । मनसे किया जानेवाला उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है और भगवान्‌के ध्यानसहित एवं निरन्तर तथा निष्काम प्रेम-भावसे किया जाय और उसे सर्वथा गुप्त रक्खा जाय तो वह सर्वश्रेष्ठ है । इस प्रकारसे किया जानेवाला भगवान्‌के नामका जप बहुत शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला होता है ।

इसीके साथ-साथ प्राणिमात्रमें भगवद्-बुद्धि रखते हुए सबकी सेवा की जाय, तो वह भगवत्सेवा ही होती है । मनुष्यके पास विद्या-बुद्धि, धन-दौलत, मकान-जमीन, बल-आयु आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌की वस्तु है और भगवान्‌की सेवाके लिये ही प्राप्त है । जो मनुष्य निष्काम भावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌की सब वस्तुओंको भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की सेवामें लगाता रहता है, वह निरन्तर भगवान्‌की पूजा ही करता रहता है, पर ऐसा न करके जो लोग उन वस्तुओंमें अपना ममत्व मानकर उनके द्वारा इस नश्वर शरीरको सुख पहुँचाना चाहते हैं और भोग-वासनाकी पूर्तिके लिये मोह-वश झूठ-कपट, दम्भ-छल, चोरी-बेईमानी आदि करते हैं, वे तो मानव-जीवनका सर्वथा दुरुपयोग करते हैं और उन्हें इसका बहुत ही बुरा फल भोगनेको बाध्य होना होगा । पाप-कर्म करनेवालोंकी अपेक्षा तो सकाम भावसे भगवान्‌का भजन करनेवाले और देवाराधन करनेवाले भी श्रेष्ठ हैं, परंतु उससे आत्म-कल्याण नहीं होता, अतएव साधकको निष्काम भावसे ही भगवान्‌के शरणापन्न होना चाहिये । समस्त दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुराचारोंका त्याग करके, इन्द्रिय और मनका संयम करते हुए तथा प्रेमपूर्वक भगवान्‌का ध्यान करते हुए भगवान्‌की सेवाके भावसे ही समस्त कार्य करने चाहिये । सेवाको परम सौभाग्य मानना चाहिये । मनुष्यका शरीर भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भगवान्‌की सेवाके लिये ही मिला है ।

प्रातःकाल और सायंकाल नियमित रूपसे जो लोग साधन करते हैं,—नित्यकर्म, पूजा-पाठ, संध्या-वन्दन,

जप-ध्यान आदि करते हैं, सो बहुत ही उत्तम है; परंतु उसमें भी सुधारकी बड़ी आवश्यकता है। अश्रद्धापूर्वक केवल बला टालनेके लिये ही या लोगोंको दिखानेके लिये जो लोगोंद्वारा साधन या आराधन आदि किया जाता है, वह उत्तम फल देनेवाला नहीं होता। श्रद्धा, विश्वास, धैर्य और आदर-बुद्धिसे जो साधन होता है, वही उत्तम फलदायक हुआ करता है। उसमें निष्काम भाव हो, विषयोंके प्रति वैराग्य और भगवान्‌में अनन्य अनुराग हो तब तो वह भगवत्प्राप्तिका प्रत्यक्ष साधन बन जाता है। अतएव प्रातःकाल और संध्याके समय जो साधन होता है, उसमें उपर्युक्त प्रकारसे सुधारके साथ-साथ प्रयत्न ऐसा होना चाहिये कि दिनभरके सारे काम प्रेमसहित निष्काम भावसे भगवत्पूजाके ही रूपमें हों।

रात्रिके समय शयनकालमें सब तरफसे वृत्तियोंको हटाकर भगवान्‌के नामका जप और उनके गुण, प्रभाव, तत्त्वका स्मरण करते हुए शयन करना चाहिये। इस प्रकारसे जो शयन किया जाता है, वह सोनेका समय भी साधनकालके समान ही बीतता है; क्योंकि उसमें शयन और जागरण दोनों भगवान्‌की स्मृतिमें ही होते हैं।

मनुष्यकी बुद्धिमानी इसीमें है कि वह अपने जीवन-का एक-एक क्षण आत्माके कल्याणके लिये ही लगावे। यह काम उसे स्वयं ही करना है और जबतक जीवन है तभीतक इसे किया जा सकता है। मरनेके बाद दूसरा कोई इस कामको कर देगा, यह सर्वथा असम्भव है। संसारके काम तो मनुष्यके मरनेके बाद भी दूसरोंके द्वारा सिद्ध हो सकते हैं। जैसे धन, मकान, जमीन, गहने, कपड़े और रुपये आदि तमाम चीजें उत्तराधिकारी अपने-आप सँभाल लेते हैं, इसके लिये कोई चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। चिन्ता तो करनी है अपने आत्म-कल्याणके लिये, जिसका मरनेके बाद उत्तराधिकारी-के द्वारा सिद्ध होना सम्भव नहीं है। इस कामको तो जीते-जी ही कर लेना चाहिये। यही मानव-जीवनका सर्वोत्तम कार्य है। मनुष्यको यह ख्याल करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, किस लिये आया हूँ, और मेरा क्या कर्तव्य है? उसे यह समझना चाहिये कि मैं ईश्वरका अंश हूँ और यह संसार प्रकृतिका कार्य है। मेरा यहाँ आना ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये है, न कि संसारके भोग भोगनेके लिये। जो मनुष्य दुर्लभ मानव-देह पाकर संसार-के भोगोंमें ही अपने जीवनको बिता देता है, वह मूर्ख अमृत त्याग कर विष-पान करता है।

नर तनु पाइ विषय मन देही। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

तेरा कुछ नहीं

धरा धन धाम बाम सोदर सुहृद सखा,
सेवक-समूह आप पुरुष प्रमाथी है।
बाजीबर बारन हैं बलहू हजारन हैं,
गाढ़े गढ़वासी वीर महारथी माथी है॥
लवा ज्यों अचानक सचानक गहैगो बाज,
प्रान की परैगी तोहिं लेत हाथी हाथी है।
बदत 'गुलामराम' कोऊ तो न आवै काम,
राखा जौन हाथी तौन साँकरे को साथी है॥

निर्भय-पद

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

किसी प्रकार भी विचार किया जाय, इस परम कष्टके स्थान भयंकर संसारमें अचिन्त्याद्भुतगुणगण-निलय प्रभुके गुणगण और पवित्र नामादि सुनने, जाननेके अतिरिक्त निरवच्छिन्न या यथार्थ सुख कहीं भी नहीं दीखता[1]। प्रभुका पावन नाम तथा पवित्र चरित्र बड़ा ही मङ्गलमय है, उनका स्वभाव मृदुताकी पराकाष्ठा—'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।' विशेषणविशिष्ट कहा गया है। अपने जनके लिये आपने कभी नाहीं नहीं किया—'जन कहुँ नहिं अदेय कछु मोरे'। भक्तोंके लिये सारी अघटितघटनापटीयसी लीला तथा घोर-से-घोर पीड़ातक आप स्वीकार कर लेते हैं। अम्बरीषके लिये एक नहीं, दस-दस बारतक गर्भमें आना, जन्म लेना, शरीर छोड़ना तथा अन्य कितने कष्ट झेलने—जैसी व्यवस्था भी स्वीकार कर ली—

> जाके नाम लिए छूटत भव जनम मरन दुख भार।
> अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनमेउ दस बार॥

भक्तोंको भी केवल उन्हींकी आशा रहती है, एकमात्र उन्हींका भरोसा और सहारा होता है—अन्यत्र कहीं कोई सुखद नहीं मिलता, बहुत हुआ तो कोई उन्हीं-जैसा दूसरा प्रभु-भक्त ही फिर कुछ सुखद लगा—

> एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
> एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

> हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

इसलिये भारी-से-भारी कष्ट आनेपर भी जब कभी वह प्रभुके वात्सल्य, औदार्य, कारुण्य, सौशील्य, आशुतोष एवं प्रणतजन-खेद-विच्छेद-विद्या-नैपुण्यादि दिव्य कल्याणगुणगणनिलयताको श्रवण करता है, तो तुरंत प्रसन्न हो जाता है और उसका कष्ट वहीं समाप्त हो जाता है।

यों तो यह भयंकर-परिणामी सम्पूर्ण चराचर जगत् ही वायुमध्यमें स्थित दीपशिखाके समान अत्यन्त चञ्चल है और वह तथा तत्कारणभूत पञ्चमहाभूत आकाश, पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल तथा महान् पर्वत, समुद्र, सरिताएँ एवं दिशाएँ भी हठात् कालके मुखमें बड़े वेगसे चली जा रही हैं,—

> अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥
> अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥

—इस विनाशलीलाको ध्यानसे देखनेपर भार्या, मित्र तथा विभिन्न विभवोंमें कोई सरसता नहीं प्रतीत होती। आये दिन तूफान एवं रेल-दुर्घटनाओंसे हजारोंके मरनेके दारुण समाचार सुने-देखे जाते हैं। बड़े-बड़े कोलाहलपूर्ण बाजारोंसे व्याप्त महानगर कुछ ही दिनोंके बाद शून्य भयंकर अरण्यके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसी प्रकार कभी तमोमण्डलव्याप्त भीम अरण्य ही पताकाच्छादित महान् पुरी बन जाता है। नाना तरु-लताओंसे व्याप्त वनश्रेणी कभी मरुस्थली और मरुस्थली कभी वनस्थली बन जाती है। जहाँ आज शुष्क सागरके समान बृहत् गर्त दिखायी देता है, वहीं कल बादलोंसे घिरा हुआ पर्वत खड़ा होता है। जहाँ आज गगन-

---

१. (क) कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचकम्।
(ख) श्रोत्रमनोऽभिरामात्।
(ग) यशः शिवं सुश्रव आर्य सङ्गमे
यदृच्छया चोपश‍ृणोति ते सकृत्।
कथं गुणज्ञो विरमेद् विना पशुं
श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया॥
(घ) छाया निरङ्कुशगतिः स्वयमातरस्तु
छायान्वितः शतश एव निजं प्रसङ्गम्।
दुःखं सुखेन पृथगेवमनन्तदुःख-
पीडानुवेधविधुरा न सुखस्य वृत्तिः॥

जप- चुम्बी महावृक्षावली दिखायी देती है, वहीं कुछ दिनोंमें शुष्क धरती या महान् गर्त दिखलायी देता है। जिस कालकी भयानक विनाशलीलामें एक ब्राह्म, प्राजापत्यपद भी खेल है, वहाँ चक्रवर्ती सार्वभौम राजाधिराज आदि पद तथा साधारण पदोंका क्या प्रश्न हो सकता है? जो पुरुष आज तेजस्वी होकर जगत्पर शासन करता है, वही कुछ दिनोंमें एक भस्मकी ढेरी हो जाता है—'अभी आज जो राजको था चलाता। वही कल पड़ा धूलमें है दिखाता।' विद्युत्के समान चपल इस विश्वमें कोई भी पद या सुख स्थिर नहीं[1]। क्षणमें ऐश्वर्य, क्षणमें दरिद्रता, क्षणमें घनघोर घटा और दामिनि-पूर्ण महाकाश, क्षणमें शीतमयी चन्द्रज्योत्स्ना, क्षणमें प्रचण्ड मार्त्तण्डमण्डलका उत्ताप। कहाँतक कहा जाय आपत्ति-सम्पत्ति, जन्म-मरणसे संसार व्याप्त है।

फिर तो जैसे साँपके मुँहमें पड़ा हुआ मेढक खानेके लिये मच्छरोंको ताकता है, उसी प्रकार कालरूपी सर्पसे ग्रस्त यह संसार अनित्य भोगोंकी ओर प्रवृत्त होता—दौड़ता है।[2] इन बुद्बुदोपम अत्यन्त क्षणभङ्गुर विश्व-भोगोंको जानकर भी उधर प्रवृत्ति तो महामोह ही है। इन भोगोंकी समाप्ति निश्चित है, भान ही आश्चर्य है, फिर उनके नष्ट होनेपर पश्चात्ताप महामोह नहीं तो और क्या है? इसलिये भगवत्कृपासे जिन्हें विवेक प्राप्त हुआ रहता है, वे बाहर क्या होता है, यह नहीं देखते। श्वासोंकी अल्पताको जानकर वे सदाके लिये भगवद्ध्यान-परायण हो जाते हैं। उन्हें हार-जीत, जन्म-मरण, पद-प्रतिष्ठाकी कोई चिन्ता नहीं होती। सच्ची बात तो यह है कि एकमात्र यही अवस्था निर्भय भी है[3]। निरुपधि निश्छल, हरिचरणैकशरण्य हो जानेपर शोक भी उत्सव, हार भी जीत, जंगल भी मङ्गलमय तथा मृत्यु भी अमरत्व-संज्ञाको प्राप्त होती है[4]। अतएव विवेकी कहते हैं कि सब कुछ चला जाय, कोई चिन्ता नहीं—यदि प्रभुके ध्यानमें कोई बाधा न आवे।[5] अतः शान्त होकर प्रभुसे मोह दूर होने, ज्ञान मिलने, उसमें स्थिर होने तथा सतत, नित्य-निरन्तर, अबाध, मनसा, वचसा, कर्मणा और रोम-रोमसे सर्वथा, सदा-सर्वदा प्राणान्तपर्यन्त केवल भजनकी ही भिक्षा माँगनी चाहिये। यही एकमात्र निर्भय पद है।

सदभिलाषा

पीत कसे कटि मैं कछनी बनमाल गरे सिर मोरकी पाँखैं।
गोल कपोलन पैं मकराकृति मार अनेकनके मद नाखैं॥
टेरत वेनु कदंब तरे लखि 'दीन' हिये उपजैं अभिलाखैं।
या छवि देखनकों करतार करौ प्रति रोम हजारन आँखैं॥

१. भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः।

२. यथा व्यालगलस्थोऽपि सर्पो दंशानपेक्षते। तथा कालाहिना ग्रस्तो देही भोगानशाश्वतान्॥ (अध्यात्म० अयोध्या०)

३. सर्वं नाम भयान्वितं भुवि नृणां विष्णोः पदं निर्भयम्। (वैराग्यशतक)

४. तुलसी निरुपधि रामको भये हार हू जीति।

५. श्रवण घटै पुनि दृग घटै, घटै सकल बल देह। इतै घटे तो का घटा जो न घटै हरि-नेह॥

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(७३)

जिन आँखोंमें निरन्तर विषकी ज्वाला जलती रहती, कालियके उन नेत्रोंमें ही एक अतिशय पवित्र दैन्यका संचार होने लगा। क्रमशः इन्द्रियोंकी, प्राणोंकी शक्ति भी लौट आयी। नासाछिद्रोंसे व्यथाभरे दीर्घ निःश्वास अवश्य आ रहे हैं, किंतु भक्तिरसकी आर्द्रता उसे आत्मसात् करती जा रही है। और यह लो, उसके अत्यन्त सुलम्बित भयावह सर्प-शरीरके अन्तरालमें एक सौम्य देवविग्रहकी अभिव्यक्ति हो गयी। पहले भी कालियमें देवोंके अनुरूप अगणित शक्तियाँ वर्तमान थीं, वह इच्छित रूप धारण कर सकता था। और आज तो वह श्रीकृष्णचन्द्रके पादपद्मोंका पावन स्पर्श पाकर परम कृतार्थ हो चुका है। फिर इस समय अञ्जलि बाँधकर आराध्यदेवकी आराधना करनेका सुदुर्लभ अवसर वह क्यों छोड़ दे। इसीलिये अपने दुर्मद-दोषहारी श्रीहरि व्रजराजनन्दनके समक्ष कृताञ्जलि होकर वह अवस्थित हुआ है, उनका स्तवन करने जा रहा है—

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम्।
कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ५५)

सावधान भा छन एक बीते।
इन्द्रिप्रान भए सुखहीते॥
अति दुख लह्यो सिथिल सब गाता।
मंदक्रिया मुख आव न बाता॥
दीरघ स्वास डारि बहु बारा।
जेन तेन हिय साहस धारा॥
दीन जोरि जुग हाथ महीसा।
बोल्यो हरिसन बचन अहीसा॥

× × ×

करि आइ कालिय प्रीति, गति मंद मंद बिनीति।
प्रभु पाँइ मेले सीस, करिये कृपा जगदीस॥

कालिय कहने लगा—'नाथ! महामहेश्वर! हम जन्मसे ही अत्यन्त दुष्ट हैं। परपीड़ा हमारा जन्मसिद्ध स्वभाव है। तमका घन आवरण हमपर नित्य फैला रहता है। विवेकसे सर्वथा शून्य हम हैं प्रभो! क्रोध हमारा चिरसङ्गी है। हमारी प्रतिशोधकी भावना कभी शान्त होती ही नहीं। क्या करें, किसीके लिये, जीवमात्रके लिये, अपने स्वभावका परित्याग अत्यन्त कठिन जो है नाथ! और यही कारण है कि जीव अनेक प्रकारके दुरभिनिवेशोंमें रच-पच जाता है, बस, तुम्हीं बचा सकते हो सर्वेश्वर!—

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ५६)

हम निसर्ग तें खल अति घोरा।
तामस अधिक क्रोध नहिं थोरा॥
नाथ सुभाव दुसह सब काहू।
तजि न सकै कोउ भलि मति जाहू॥
आग्रह असत करै सब कोई।
त्यागि न सकै कोऊ किन होई॥

'हे विश्वविधाता! इस स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण परिदृश्यमान जगत्की रचना तुमने ही तो की है। तुम्हीं सोचो स्वामिन्! गुणोंके भेदसे यह विस्तार, नानाविध स्वभाव, देहशक्ति, इन्द्रियशक्ति, मातृशक्ति, पितृशक्ति, वासना, आकृति—इनसे विशिष्ट यह विविध वैचित्र्यमय विश्व तुमसे ही तो सृष्ट है! और तुम्हारी ही सृष्टिमें, तुमसे ही निर्मित हम सर्प भी हैं सर्वेश्वर! जातिस्वभावसे ही हम अत्यन्त क्रोधी हैं; तुम्हारी मायासे नितान्त मोहित हैं। अब भला, तुम्हारी कृपाके बिना, स्वयं अपनी शक्तिसे ही तुम्हारी दुस्त्यज मायाको हमारे लिये पार कर लेना कैसे सम्भव है भगवन्!

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम्।
नाना स्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥
वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ५७-५८)

नाथ विश्व यह गुन कृत कीन्हा।
जस गुन जासु तासु तस चीन्हा ॥
पुनि नाना विधि जाति सुभाऊ।
बल विक्रम आकार बनाऊ ॥
जस जेहि जोनि बीज जस जासू।
फल उपजै तैसे तब तासू ॥
हे भगवंत अनंत गोसाई।
हम पुनि सर्प जाति दुखदाई ॥
विषधर क्रूर क्रोध नहिं थोरा।
किमि त्यागहिं निज प्रकृति कठोरा ॥
तव माया मोहित हम स्वामी।
अति अतर्क पदकंज नमामी ॥
माया दुस्तर नाथ तव, सो तव सदा अधीन।
माया कृत चर अचर सब, कैसी करैं प्रवीन ॥

× × ×

रिस सर्प में अधिकाइ, तम जोनि दुष्ट सुभाइ।
मद मोह कोह प्रबन्ध, फिरि हैं विरज विस अंध ॥
इनमें सदा मन दीन, तव भक्ति में नहिं लीन।
तुम दीनबंधु दयाल, मुहि रक्ष रक्ष कृपाल ॥

'तुमसे छिपा ही क्या है नाथ ! तुम सर्वज्ञ जो ठहरे, जगत्के समस्त प्राणियोंके सम्पूर्ण स्वभावको सदा जानते रहते हो । जगन्नियन्ता भी तुम्हीं हो, तुमसे ही तो जगत्के समस्त जीवोंके स्वभावोंका सृजन एवं नियन्त्रण होता है । मायाकृत बन्धनमें, मायापाशसे मुक्तिदानमें भी तुम्हीं मुख्य हेतु हो प्रभो ! अब तुम स्वेच्छासे मेरे प्रति अनुग्रह तथा निग्रह—जो भी करना चाहो—वही करो सर्वेश्वर ! हमारे लिये तो तुम्हारी इच्छा ही परम कल्याणमय है, वही शिरोधार्य है स्वामिन् ! बस, आदेश करो देव !—

भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ५९)

तुम सर्वज्ञ सुजान, जिमि कोउ पाल पयूर चन।
आँच न करै निदान, तदपि हम आधीन तव ॥
कारन करन ईस भगवंता।
सब जग के तुम एक अनंता ॥
निग्रह अनुमोदन दोउ नाथा।
सकल अहै प्रभु तव एक हाथा ॥
आग्या देहु नाथ तुम जैसी।
हम करि हैं संतत प्रभु तैसी ॥

इतना कहकर कालिय स्थिरदृष्टिसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखने लगा । सचमुच अन्तस्तलसे ही वह व्रजेन्द्रनन्दनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहा है । तथा नीलसुन्दर भी तुरंत ही उसे अपना निर्णय सुना देते हैं । व्रजपुरवासियोंका वह चिर-परिचित मधुस्यन्दी स्वर ह्रदके वक्षःस्थलपर सर्वत्र गूँज उठता है, वे अतिशय प्रेमभरे कण्ठसे स्पष्ट कह रहे हैं—

नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम्।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ६०)

'कालिय ! देख, अब तुझे यहाँ इस ह्रदमें, व्रजपुरकी सीमामें, मेरे इस लीलाक्षेत्रमें निवास नहीं करना चाहिये । तनिक भी विलम्ब न करके तू आत्मीय कुटुम्ब पुत्र-भार्या—इन सबके सहित यहाँसे समुद्रमें चला जा तथा जाकर अपने उस पूर्व वासस्थलमें ही बस जा । अब तो यमुना-जलका उपभोग व्रजकी गायें एवं व्रजपुरवासी ही करें !'

सुनि असि बचन कृष्ण सुखकंदा।
बोले बचन सुखद नँदनंदा ॥
इहाँ न तू अब बसहि फनीसा।
जाहि सीघ्र तूँ तट बारीसा ॥
जमुना जल पीवैं नर नारी।
धेनु वत्सतर होहिं सुखारी ॥
सुत दारादिक कौ लै साथा।
जाहि बेगि अब ही अहिनाथा ॥

× × ×

सुखसदन मोहन मदन मूरति बदन ससि मुसक्याइ कैं।
करुना अगार अपार सोभा दया उरमें ल्याइ कैं॥
दुखहरन उर सीतल करन प्रभु बचन कहत सुनाइ कैं।
अहिराज सकल समाज लै तुम बसहु जलनिधि जाइ कैं॥

नतमस्तक हुए कालियने व्रजेन्द्रनन्दनके इस आदेशको स्वीकार किया। किंतु उन नागवधुओंकी आँखें तो झर-झरकर बह चलीं। 'हाय रे! शतसहस्र जन्मोंकी अभिलाषा पूर्ण तो हुई, आराध्यदेव श्रीकृष्णचन्द्र मिले अवश्य; पर उनकी लीलास्थलीका अब हमें परित्याग कर देना है!'—इस दुःसह तापमें ही नागरमणियोंका हृदय द्रवित होकर बाहरकी ओर प्रवाहित होने लगता है, सामने अवस्थित नीलसुन्दरके उस श्यामल छविसिन्धुमें ही विलीन होनेकी आशासे प्रसरित हो रहा है; क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्रके प्रत्यक्ष दर्शनका यह अनिर्वचनीय सुदुर्लभ सौभाग्य फिर प्राप्त हो न हो!

इधर इसी समय बाल्यलीलाविहारीने एक क्षणके लिये आकाशकी ओर देखा। उस अभिनव मुग्धताकी ओटसे झाँकती हुई अनन्त ऐश्वर्यकी छाया—जिसने अभी-अभी कालियको सागर लौट जानेका आदेश किया है—किंचित् और भी गाढ़ी हुई। अन्तरिक्षके वे गन्धर्व, सिद्ध, देव, चारण आदि सचकित होकर उन्हें देखने लगे। प्रतीत हुआ—मानो कालियके मिससे व्रजराजनन्दन उन अन्तरिक्षवासियोंको, सम्पूर्ण जगत्में विस्तारित कर देनेके लिये, एक सुन्दर संदेश-दान करने जा रहे हों! और सचमुच ही उन महामहेश्वरने अपनी असमोर्ध्व महिमाके एक तनिकसे अंशकी घोषणा स्वयं अपने श्रीमुखसे कर ही दी। उनके वे दृगसरोज अन्तरिक्षसे मुड़कर पुनः नागराजपर ही पीयूषकी वर्षा करने लगे तथा मेघगम्भीर स्वरमें उन्होंने कहा—

य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्।
कीर्तयन्नुभयोः संध्योर्न युष्मद् भयमाप्नुयात्॥
योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः।
उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(श्रीमद्भा० १०।१६।६१-६२)

'कालिय! सुनो, जो व्यक्ति सायं-प्रातः तुम्हारे प्रति किये हुए मेरे अनुशासन-वाक्यको उच्चारण करते हुए मेरी इस लीलाका स्मरण करे, अथवा मेरी इस आज्ञाका या मेरे इस सम्पूर्ण चरित्रका स्मरण एवं कीर्तन करे, उसे सर्पोंसे भय न हो! देखो, यह ह्रद मेरा विहारस्थल बन चुका है। जो कोई इसमें विधिवत् स्नान करके, इस ह्रदके जलसे देव, ऋषि एवं पितृगणोंका तर्पण करेगा एवं तीर्थोपवासकी विधिसे उपवास कर मुझे स्मरण करता हुआ मेरी पूजा करेगा—वह समस्त पापोंसे पूर्णतया मुक्त हो जायगा।'

यह प्रसंग गावै जो सुनई।
तुम तें भय सो कबहुँ न लहई॥
एहि सर जो मज्जन कोउ करि है।
देव पितर हित पिंड जु भरि है॥
व्रत करि मम सुमिरन अरु ध्याना।
जे करिहै तेहि पाप नसाना॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी यह परम मधुर कल्याणमयी वाणी कालियके कर्णरन्ध्रोंमें भी प्रविष्ट हो रही है; किंतु अब तो उसका भी हृदय भर आया है। अतीतके अगणित वर्षोंकी घटनाएँ, अपने बहिर्मुख जीवनका प्रवाह और अभी-अभी व्रजेन्द्रनन्दनके द्वारा पाये हुए अनिर्वचनीय सौभाग्य-दानकी निराविल सुखानुभूति—दोनोंके अत्यन्त जीवन्त प्रतिचित्र हृत्पटपर झलमल कर रहे हैं। पश्चात्तापकी दुःसह व्यथा, परमानन्दका अपरिसीम उद्वेलन—दोनों क्रमशः, नहीं-नहीं, एक साथ ही उसके प्राणोंको अभिभूत कर रहे हैं। वह सोच रहा है—'इस महामलिन सर्पदेहमें अध्यस्त रहकर, इससे सम्बद्ध समस्त वस्तुओंमें अपने-परायेकी भावनासे सतत भावित रहकर न जाने कहाँ-से-कहाँ बहता रहा हूँ, अपनी इस तमोमयी जीवन-

धारामें बहते हुए न जाने कितनी कोटि-कोटि नृशंस कर्मराशियोंका निर्माण मैंने किया है। फिर भी इन सामने अवस्थित करुणावरुणालय प्रभु व्रजराजनन्दनने मुझे अपने चरणसरोजोंकी शीतल शन्तम छायाका दान किया ही! प्राणवारण सफल हो गया मेरा। पर हाय यह हुआ उस अन्तिम मुहूर्तमें जब कि मैं, बस, तुरंत इस आगेके कुछ क्षणोंमें ही—स्वेच्छा या अनिच्छासे—मृत्युको वरण करने जा रहा हूँ; ह्रदकी सीमाके उस पार कालिय नामसे अभिहित इस शरीरका सदाके लिये अवसान होने जा रहा है! पक्षिराज गरुड़ प्रतीक्षा ही कर रहे होंगे मेरी! और यद्यपि इस विनश्वर तमोमय सर्प-शरीरकी तो सचमुच अब चिन्ता ही क्या है. मेरी एकमात्र निधि, इन मेरे आराध्यदेव श्रीकृष्णचन्द्रको पा लेनेके अनन्तर अब क्या भय है; किंतु प्राणोंकी यह नवीन अभिलाषा तो हाय! अपूर्ण ही रह गयी! मेरा कर्मविपाक मुझे शरीर तो दे सकता है पर ओह! श्रीकृष्णचरणसरोरुहने स्पृष्ट हुए शरीरकी उपलब्धि मुझे कहाँ होगी? मेरे अनादि अज्ञान-तिमिरका आज सहसा अन्त हो जानेके उपरान्त इन मेरी भक्तिमती पत्नियोंके साथ, ऐसे पावन परिवारसे आवृत होकर, श्रीकृष्णचरणोंकी सेवा मैं आगे कहाँ किस जन्ममें कर पाऊँगा? आह! कदाचित् किसी भी मूल्यमें मैं इतना-सा और पा जाता—अपने इस शरीरको गरुड़के मुखसे सुरक्षित अनुभव कर लेता! मेरे प्रभुके ही प्रिय पार्षद गरुड़में कृपालुता भर आती! मुझे कृपापूर्वक वे भी जीवन-दान दे देते। ह्रदकी सीमाका उल्लङ्घन करनेपर भी वे मेरा प्राण हनन न करते! फिर तो अवशिष्ट जीवनकी यह अन्तिम साध भी पूरी हो जाती; शेष आयुका प्रत्येक क्षण श्रीकृष्णचरण-सेवामें व्यतीतकर अपना यह मनोरथ भी पा लेता; मुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक स्नेहदान करनेवाली मेरी इन पत्नियोंको चिरवाञ्छित दान करके इनके ऋणका भी किसी अंशमें परिशोध कर लेता; अबतक मेरी बहिर्मुखताको देख-देखकर निरन्तर व्यथित इनका हृदय, इनके अश्रुपूरित नेत्र शीतल हो जाते; मेरे साथ अवस्थित होकर श्रीकृष्ण-चरणोंमें प्रतिक्षण श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते रहनेकी इनकी लालसा पूर्ण हो जाती; हम सभी एक साथ क्षण-क्षणमें श्रीकृष्णचन्द्रके चारु-चरणोंमें न्यौछावर होते रहते..........! किंतु अब अवकाश नहीं; प्रभुने आज्ञा दे दी, बस, अब तो यहाँसे चलना है! देव! मेरे नाथ! हे परम कृपालो! भक्तवाञ्छाकल्पतरो! अशरणशरण! स्वामिन्! बस, इतनी कृपा हो, तुम्हारा यह कालिय, मृत्युपथका यह पथिक उस अन्तिम क्षणमें कहीं तुम्हें विस्मृत न हो जाय! जन्म-जन्मान्तरमें भी कभी, किसी कालमें भी, एक क्षणके लिये भी तुम्हारे दिये हुए इस अप्रतिम कृपादानके अधिकारसे वञ्चित न हो जाय! बस, इतनी-सी कृपा हे करुणार्णव!!..........!'

कालियके नेत्रोंसे भी विन्दु झरने लगे। पर व्रजेन्द्र-नन्दनकी वह वीणाविनिन्दित वाणी तुरंत कालियके कण-कणको झङ्कृत कर उठी। वे कहने लगे—

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः।
यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १६। ६३)

'कालिय! सुनो, जिनके भयसे तुम रमणक द्वीपको छोड़कर वृन्दावनके इस ह्रदमें निवास कर रहे हो, वे गरुड़ अब, तुम्हारे मस्तकको मेरे पद-चिह्नोंसे चिह्नित देखकर अपने मुँहका ग्रास तुम्हें नहीं बनायेंगे।'

रमनक नामा दीपवर, तहाँ बसो सुख पाइ।
जासु त्रास तें इत बस्यो सो भय गयो नसाइ॥
गरुड़ खाइ तो कँह नहिं कबहूँ। तहाँ बसहु सुत परिजन सबहू॥

× × ×

मम चरन चिह्नित फन तिहारे विहगपति यह जानिकैं।
करि कैं सुहृदता हितु करै मन मित्रता कौं मानि कैं॥

प्रेमविह्वल होकर कालिय श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें

ही गिर पड़ा। आँखोंसे अनर्गल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है; किंतु अब उसे नीलसुन्दरके पादपद्मोंकी पूजा भी तो करनी हैं। इसीलिये किसी अचिन्त्य शक्तिने ही उसे अनुप्राणित कर अग्रिम कृत्यकी प्रेरणा दी, अन्यथा उसमें तो ऐसी सामर्थ्य रही नहीं थी। जो हो, कालिय तुरंत यन्त्रप्रेरित-सा हुआ उठ बैठा, नीलसुन्दरके श्यामल सुकोमल कलेवरकी ओर उसकी दृष्टि गयी और हृदय विदीर्ण होने लगा—'हाय रे! इन्हीं मृदुल अङ्गोंको मैंने वेष्टित किया था, शतसहस्रदंशनसे क्षत-विक्षत करनेका अथक प्रयास किया था।' फिर तो कालिय मानो भूल-सा गया व्रजेन्द्रनन्दनके अपरिसीम ऐश्वर्यको; उसे बस, डँसे हुए उन-उन स्थलोंकी भावना होती और उसके प्राण हा-हाकार करने लगते। सहसा झरते हुए नेत्रोंसे ही उसने अपनी पत्नियोंको कुछ संकेत किया। भक्तिरसकी लहरोंपर वे सब स्वयं बह रही थीं। इसीलिये पतिके रसमय प्राणोंका संवेदन उनमें संकेत मात्रसे ही व्याप्त हो गया। वे दौड़ीं, नहीं-नहीं, वहीं—न जाने कैसे—कालियके कोषागारकी सम्पूर्ण सम्पत्ति तत्क्षण उपस्थित हो गयी। कालियने, उसकी पत्नियोंने नीलसुन्दरको सर्वप्रथम एक परम दिव्य आसनपर पधराया; फिर दिव्यातिदिव्य मृगमद, कुङ्कुम, चन्दन आदिसे उनके समस्त अङ्गोंको विलेपित किया—मानो उनके प्राण अत्यन्त आकुल हो उठे हों इस विलेपनके द्वारा सबसे पहले उन दंशित स्थलोंकी वेदना हर लेनेके लिये! इसके अनन्तर परम दिव्य पीताम्बर धारण कराया। पश्चात् वहीं नाग एवं नागवधुओंके पार्श्वदेशमें रंग-बिरंगे विविध सुरभित कुसुमोंकी राशि एकत्र हो गयी; उनके स्पर्शमात्रसे ही अतिशय सुन्दर पुष्पमालाएँ गुम्फित हो गयीं और उन सबने व्रजेन्द्रनन्दनको एक-एक सौरभमय पुष्पमाला धारण करायी। अब पद्मराग आदि मणियोंका शृंगार धराया तथा अमूल्य अलंकारोंसे श्रीअङ्गोंको अलंकृत किया। फिरसे अतिशय शोभामय एक कमलमाला समर्पित की। इसीके साथ क्षणभरमें ही अर्चनाके कितने उपचार अर्पित हुए—यह गणना सम्भव ही नहीं है वहाँ। बस, उनके भावोंकी ऊर्मियाँ जिन-जिन उपचारोंका सृजन कर रही हैं, वे ही मूर्त हो जा रहे हैं और उनसे ही व्रजेन्द्रकुलचन्द्रकी अर्चना सम्पन्न हो रही है। और सच तो यह है कि महा-महेश्वरके वे चिदानन्दस्वरूपभूत अलंकार आभूषण आदि ही—जो बाल्यावेश रसके अनुरूप न होनेके कारण तिरोहित हैं—आविर्भूत होकर उनके श्रीअङ्गोंका स्पर्श लेने आये हैं। इसीलिये तो नित्य कौस्तुभ भी आज उनकी ग्रीवाको, वक्षःस्थलको अलंकृत करने आया है—

> तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम्॥
> दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः।
> दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया॥
> (श्रीमद्भा० १०। १६। ६४-६५)

पुनि सादर जुत बिबिध प्रकारा। प्रभुहि पूजि कीन्ही सतकारा॥
दिव्य बसन मनिगन सुभमाला। दिव्य गंध सच सौरभ साला॥
दिव्य कंज स्रज भूषन आनी। अरपेउ प्रभु कहँ अति सुख मानी॥

अस्तु, इस प्रकार जगदीश्वरकी पूजा सम्पन्न हुई; कालियने श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त की। अनुराग-भरे हृदयसे उसने देवाधिदेवकी परिक्रमा की; फिर अनेक वन्दन समर्पित किये और रमणक चले जानेकी अनुमति ली—

> पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम्।
> ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम्॥
> (श्रीमद्भा० १०। १६। ६६)

एहि बिधि प्रभुहि पसन्न कराई। पुनि अति बिनय करयो मन लाई॥
आयसु माँगि प्रदच्छिन कीन्हा। पुनि निज सिर हरिचरन सु दीन्हा॥

ह्रदके तटपर अवस्थित व्रजपुरवासी देख रहे हैं; अन्तरिक्षचारी देवगण देख रहे हैं—कलिन्दनन्दिनीके प्रवाहमें एक वेगपूर्ण स्पन्दन हो रहा है, नहीं-नहीं, पत्नी-पुत्र-बन्धु-बान्धवके साथ कालिय यमुनाप्रवाहके

मार्गसे चला जा रहा है; आगे सुरसरिकी धाराका अनुसरण करते हुए समुद्रके रमणक द्वीपमें चले जानेके उद्देश्यसे उसने इस जलपथका ही आश्रय लिया है—

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ६७)

सुत कलत्र मिलि कै एक साथा । गये द्वीप रमनक नर नाथा ॥

और तपनतनया श्रीयमुनाके ह्रदका वही जल-प्रवाह तत्क्षण निर्विष ही नहीं अपितु सुधा-मधुर बन गया है—

तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।
(श्रीमद्भा० १० । १६ । ६७)

ता दिन ते रविसुता सुहावनि । गत विष भई सुभग अति पावनि ॥

अब विविध शृङ्गारसे सुशोभित श्रीकृष्णचन्द्र तो तटकी ओर अग्रसर हो रहे हैं तथा अन्तरिक्ष एवं वृन्दाकाननका कण-कण देवोंके जयघोषसे नादित हो रहा है—

जय-जय धुनि अमरनि नभ कीन्हीं ।
धन्य-धन्य जगदीस गुसाईं, अपनौ करि अहि लीन्हीं ॥

योगसिद्धा भारतीय नारी

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें कहा है कि सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई एक अपने जीवनको सम्यक् प्रकारसे कृतार्थ करनेके लिये प्रयत्न करता है और ऐसे प्रयत्न करनेवाले सहस्रोंमेंसे कोई एक सिद्धि प्राप्त करता है । और जो लोग विशेष साधनोंके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, उनमेंसे भी कोई एक विरला ही भगवान्को तत्त्वतः जाननेमें समर्थ होता है । अतएव मानव-समाजमें भगवान्को जाननेवाले सम्यक् सिद्ध पुरुषोंकी संख्या सदा ही बहुत थोड़ी रहा करती है । ऐसे पुरुष असाधारण होते हैं । इन असाधारण पुरुषोंमें बहुत-से ऐसे होते हैं, जिनके नाम और चरित्रोंको न तो शास्त्रमें ही कोई स्थान मिलता है, न इतिहास, साहित्य या जनश्रुतिमें ही । भगवान्के विधानसे समाजमें जिनका विशेष प्रभाव फैला होता है, जो लोग पूर्णतया अभिमानरहित, आसक्ति-रहित, समस्त बन्धनोंसे मुक्त और उदासीनकी भाँति आसीन होकर भी भागवती विद्या शक्तिकी प्रेरणासे लोक-कल्याणके लिये उपदेशादि देते तथा समाज-संघटन आदि कार्य करते रहते हैं, उन लोगोंकी स्मृति मानव-समाजमें बनी रहती है, विभिन्न प्रकारके ग्रन्थोंमें भी उन्हींके चरित्रोंका तथा अनुभूतियोंका वर्णन देखा जाता है । अतएव वे विशेषरूपसे असाधारण होते हैं ।

भारतीय शास्त्र, साहित्य, इतिहास-पुराणादि ग्रन्थोंमें ऐसे जिन अति-असाधारण सिद्ध, ब्रह्मज्ञानी, तत्त्वोपदेशकों-का वर्णन है, उनमें महापुरुषोंके समान ही महानारियोंका भी समावेश है । ब्राह्मणादि उच्च वर्णमें उत्पन्न नर-नारियोंके समान ही समाजके निम्नस्तरमें उत्पन्न नर-नारियाँ भी इसमें हैं; गृहत्यागी संन्यासी-संन्यासिनियोंके समान ही गृहस्थ पुरुष तथा नारियोंका भी इसमें संग्रह है । इन ग्रन्थोंकी प्रामाणिकतासे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि मानव-जीवनकी सम्यक् कृतार्थताको प्राप्त करना—सम्यक ज्ञान, सम्यक् भक्ति, सम्यक् योगसिद्धि आदि किसी वर्ण या आश्रमकी सीमामें नहीं बँधा है और न केवल पुरुष-जातिमें ही यह सीमित है । जीवन-की पूर्णताको प्राप्त करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है । तथापि इस प्रकारका पूर्ण जीवन सभी युगोंमें, सभी देशोंमें और सभी श्रेणियोंमें बिरले ही मनुष्योंको प्राप्त होता है ।

वे सर्वत्र ही असाधारण होते हैं, चाहे वैदिक युग-

में हों, चाहे वर्तमान युगमें । फिर, किसी भी युगमें— विशेषतः भारतवर्षमें ऐसे असाधारण नर-नारियोंका कभी अभाव नहीं होता । धर्मशास्त्रमें, समाज-विधानमें, साम्प्रदायिक उपदेशोंमें जिस अधिकार-भेदका निरूपण है, वह साधारण नर-नारियोंके लिये ही है, और समाज-संरक्षणके लिये वह आवश्यक भी है । असाधारण महा-पुरुषों और महानारियोंके असाधारण अधिकार इस अधिकार-भेदके द्वारा कभी छिन नहीं सकते । मनुष्यत्व-के पूर्ण अधिकारमें ही वे अपने जीवनको विकसित करते हैं ।

इस छोटे-से लेखमें हम तीन युगोंकी तीन महासिद्धा भारतीया नारियोंकी पवित्र मूर्तियोंका ध्यानके द्वारा दर्शन करना चाहते हैं ।

सबसे पहले हम अति प्राचीन युगके अम्भृण ऋषिकी कन्या वाक् देवीका स्मरण करते हैं । उनके जीवनकी घटनाओंका तो पता नहीं है, किंतु उनकी अनुभूतिका भलीभाँति परिचय ऋग्वेदके अहंसूत्र या देवीसूत्रमें मिलता है । इस परिचयके बाद दूसरे किसी परिचयकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती । सम्पूर्ण ऋग्वेदमें ऐसे किसी दूसरे सूक्तका मिलना दुर्लभ है । वाक् देवी इस सूक्तकी द्रष्टा ऋषि हैं । योगकी चरमभूमिमें प्रतिष्ठित हुए बिना इस प्रकारके सर्वात्मभावका अनुभव नहीं हो सकता । सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वान्तर्यामी विचित्र-भावविलासी एक अद्वितीय परमात्मा वाग्देवीकी अनुभूतिमें केवल 'तत्' शब्दवाच्य ही नहीं है, 'अहं' शब्दवाच्य भी हैं । अहंभावमें उनकी अनुभूति होती है । उसका 'मैं' सर्वविलक्षण, सर्वातीत, सर्वोपाधिवर्जित, सर्वभेदविरहित आत्मा मात्र ही नहीं है; उसका 'मैं' सर्वविलक्षण होकर भी सर्वभाव-विलासी, सर्वातीत होकर भी सर्वमय, सर्वभेदरहित होकर भी समस्त विचित्र भेदोंमें लीलायमान होता है । वह देखती हैं, जगत्में विचित्र शक्तिकी क्रीड़ा, विचित्र भावोंकी तरङ्गें, विचित्र जड-चेतनका, स्थावर-जंगमका, क्षुद्र-बृहत्का, भोग्य-भोक्ताका समावेश, विचित्र शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका प्रवाह; और सभीके अंदर अपने अहंका आस्वादन करती हैं । सभी उसका अपना ही आनन्दमय प्रकाश है । रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वेदेव— वरुण, इन्द्र, अग्नि, अश्विनीकुमार—सोम, त्वष्टा, पूषन्, भग,—सभी रूपोंमें समान भावसे उसका अपना ही 'अहम्' विचित्र लीला कर रहा है । राष्ट्र, समाज, व्यक्ति,—कर्म, कर्मफल-भोग, कर्मफल-प्रदान,—सभी उसके अपने ही 'अहम्' का विलास है । उसका 'अहम्' ही सर्वरूप, सर्वनियन्ता, सर्वभोक्ता है । मनुष्यकी दिव्य अहंताके अनुभवका पूर्णतम उत्कर्ष वाग्देवीके इन केवल आठ मन्त्रोंमें देखनेको मिलता है । भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें जिस भागवत-अहंताका विशद कवित्वपूर्ण वर्णन किया है, उसका मूल वेदोक्त इस महामानवीकी महान् योगानुभूतिमें है । मनुष्य अपनेको विश्वरूपमें, विश्वातीत-रूपमें, विश्वनियन्तारूपमें, पूर्णनिष्क्रियरूपमें और पूर्ण-सक्रियरूपमें किस प्रकार आस्वादन कर सकता है, इसका प्रथम सुस्पष्ट निदर्शन वाग्देवीके इस वैदिक मन्त्रमें है ।

दूसरी, बृहदारण्यक उपनिषद्में वचक्नुकी कन्या ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी गार्गी ज्ञानयोगकी महिमाकी एक समुज्ज्वल मूर्ति हैं । विदेह-राज जनककी सभामें ब्रह्म-विद्याके विचारके समय श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंके साथ वे समान आसनपर विराजमान थीं । उस समय एक सभामें इस बातका विचार हुआ कि यहाँ ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठतम आसनका अधिकारी कौन है ? महर्षि याज्ञवल्क्यने मुखसे अपनेको ब्रह्मविदोंका दास कहकर बड़ी विनय दिखाते हुए भी प्रकारान्तरसे अपनेको ही इस श्रेष्ठताका अधिकारी सूचित किया। सभामें उनकी परीक्षा हुई । ब्रह्मर्षिगण एक-एक करके उनसे प्रश्न-पर-प्रश्न करने लगे । सभी अपने-अपने प्रश्नोंका संतोषजनक उत्तर पाकर चुप हो गये । अन्तमें वाचक्नवी गार्गीने खड़ी होकर घोषणा

की—मैं महात्मा याज्ञवल्क्यसे केवल दो प्रश्न करूँगी; यदि वे इन दोनों प्रश्नोंकी सम्यक् मीमांसा कर सकेंगे, तो बिना किसी संदेहके सभी लोग उन्हें ब्रह्मविद्वरिष्ठ माननेको बाध्य हो जायँगे । गार्गीके प्रश्नोंके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने ब्रह्मतत्त्व, जीवतत्त्व और जगत्तत्त्वके सम्बन्धमें अपनी चरम अनुभूतिको प्रकट किया । गार्गीने संतुष्ट होकर जब याज्ञवल्क्यके सम्मुख मस्तक झुका दिया, तब सभी लोगोंने बिना किसी संदेहके यह मान लिया कि याज्ञवल्क्यजी पूर्ण ज्ञानी हैं । उस समयके ब्रह्मज्ञानियोंमें यह भी सिद्ध हो गया कि याज्ञवल्क्यके बाद गार्गीका ही प्रथम स्थान है । वे भी अक्षय ब्रह्मानुभूतिसे देदीप्यमान हैं । उनके तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें और भी अनेक स्थानोंमें वर्णन मिलता है ।

भारतीय अध्यात्मज्ञानके पिपासु समाजमें ब्रह्मविद्याकी पारदर्शिनीके रूपमें इस महीयसी नारीकी श्रद्धाभक्तियुक्त पवित्र स्मृति सदासे ही चली आयी है ।

इसके बाद हम महाभारतमें वर्णित एक योगसिद्धा महानारीका स्मरण करते हैं । वह है महायोगिनी सुलभा । यह अनिकेता स्थिरमति तत्त्वदर्शिनी योगैश्वर्यसे विभूषित महानारी लोक-कल्याणार्थ विभिन्न देशोंमें भ्रमण किया करती थीं । एक दिन वे अकस्मात् राजर्षि जनककी सभामें आ पहुँचीं । सभीकी श्रद्धाभरी दृष्टि उनकी ओर आकृष्ट हो गयी । लज्जा, घृणा, भय, संकोच उन्हें कुछ भी न था; नारी और पुरुषकी भेद-बुद्धि उनके अन्तरसे लुप्त हो गयी थी; वे सभी जीवोंमें एक अद्वय परमात्माके ही विचित्र प्रकाशका ही दर्शन और आस्वादन करती थीं । राजर्षि जनकके प्रति सस्मित दृष्टि-निक्षेप करके योगबलसे वे उनके देहमें प्रविष्ट हो गयीं । सूक्ष्म अनुभूतिसे सम्पन्न राजाने उनसे पूछा—नारी होकर आपने इस पुरुष-देहमें क्यों प्रवेश किया ? इसपर महायोगिनीने जो उत्तर दिया, उसका मर्मार्थ यह है—मैं स्वदेह और परदेहमें कोई भेद नहीं देखती, नारी-देह और पुरुष-देहमें भी कोई भेद मैं नहीं जानती । मेरी अपनी कोई देह नहीं है । जब जिसी देहमें इच्छा होती है, थोड़ा आराम कर लेती हूँ । सभी देह एक परमात्माकी ही देह हैं—एक परमात्माके ही विलासक्षेत्र हैं । सभी देहोंमें जीवात्मारूपसे परमात्मा ही विलास कर रहे हैं । विदेहराजकी देहको एक सुन्दर पवित्र विलासक्षेत्र मानकर मैं उसके अंदर थोड़ा विश्राम और आराम करनेके लिये प्रविष्ट हो गयी । इसमें आपकी आपत्तिका कोई कारण मुझे नहीं दीखता । सभी लोग कहते हैं—जनक पूर्णज्ञानी हैं, वे विदेह हैं, उनमें देहात्मबोध नहीं है । इस बातकी परीक्षा करनेका कौतूहल भी कुछ था । यह स्त्री-पुरुष-भेद, स्वदेह-परदेह-भेद—क्या यह देहात्मबोधका निदर्शन नहीं है ? अज्ञानका लक्षण नहीं है ? इस प्रसंगमें राजर्षि जनक और महायोगिनी सुलभाके जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, सुलभादेवीने परमतत्त्व और साध्य-साधन-सम्बन्धमें जनकको जो-जो उपदेश दिये हैं, महाभारतमें वह एक मनोहर पठनीय और विचारणीय अंश है । प्रकारान्तरसे यह महायोगिनी राजर्षि जनकके गुरु-पदपर अधिष्ठिता थी—अन्तरमें विदेह होकर, देहाभिमानसे पूर्णतया मुक्त होकर, किस प्रकार देहमें स्थित रहना और कर्तव्य करना चलता है, इसका आदर्श सुलभाने दिखा दिया ।

मुकुट-लटक कटि पीतपट, मुरली मधुर त्रिभंग ।
बाम भुजा बृषभानुजा, हियमें रहो अभंग ॥

पुरुषार्थ

(लेखक—श्रीकृष्णचन्द्रजी)

पुरुषके अर्थकी पूर्तिमें मन तथा इन्द्रियोंकी संलग्नताका नाम पुरुषार्थ है। अथवा यों कहिये कि यह एक दृढ़ निश्चयपूर्वक, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिके लिये, किया गया प्रयत्न है।

जो कर्म पूर्वकालमें तीव्र यत्नपूर्वक किया जा चुका है, वही इस जन्ममें दैव या प्रारब्धके नामसे पुकारा जाता है। इसी प्रकार वर्तमानमें किया हुआ उद्योग, कुछ तो विशेष प्रबल होनेपर तत्काल ही फलोन्मुख हो जाता है और शेष आगामी जन्मोंमें भोगप्रद होता रहता है।

पहिलेका जो अव्यक्त संचित भण्डार है, उसमें तो न्यूनाधिकता हो ही नहीं सकती। हाँ, आधुनिक कालमें किये जानेवाले पुरुषार्थको हम भलीभाँति समझते, जानते और उसपर आधिपत्य रखते हैं। अतः इसीके प्रभावसे भूतकालिक कर्म सरलतासे भोगनेमें आ जाते हैं तथा भावी सुखकी जड़ भी जम जाती है।

मनुष्य-जीवन ही कर्मक्षेत्र कहलाता है, यद्यपि प्रारब्ध कर्मोंका भोग इसमें भी आ उपस्थित होता है; किंतु अन्य सब योनियाँ तो निरी भोगयोनि ही हैं। देवयोनिमें शुभ कर्मोंका भोग समाप्त हो जाने तथा तिर्यक् आदिमें किसी पुण्यका उदय हो जानेपर, यह मानव-शरीर मिलता है। यदि इसको पाकर भी शास्त्रानुसार पुरुषार्थ करनेमें अवहेलना कर, कोई भाग्यपर ही निर्भर रहे तो उसकी नितान्त भूल है। ऐसा दैवाधीन पुरुष न तो चालू जीवनमें उन्नति कर सकता है और न भावी जन्म ही उसके सुखदायक होते हैं। ऐसे लोगोंमें अकर्मण्यता तथा भीरुता आ जाती है और पूर्व भोगोंद्वारा यह इस प्रकार टकराते फिरते हैं जैसे नदीकी लहरोंमें निर्जीव वस्तु। यही नहीं, किंतु कभी-कभी पूर्वके दुष्कर्मोंके संयोगवश, नवीन कर्म करनेमें भी अपनेको सर्वथा असमर्थ माननेवाले अथवा 'बुरे कर्म भी प्रारब्धवश परवश होकर करने पड़ते हैं'—ऐसी भ्रान्त धारणाके कारण इनसे ऐसे कुटिल कर्म बन जाते हैं, जिनके भोगनेके लिये अनेक जन्म धारण करनेपर भी पीछा नहीं छूटता।

पुरुषार्थ कैसा होना चाहिये, इसकी मीमांसा भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है—

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥

(योगवा० २।५।४)

तस्मात्पौरुषमाश्रित्य सच्छास्त्रैः सत्समागमैः।
प्रज्ञाममलतां नीत्वा संसारजलधिं तरेत्॥

(योगवा० २।६।२४)

पुरुषार्थ दो प्रकारका होता है, एक शास्त्रानुसार, दूसरा शास्त्रविरुद्ध। प्रथमसे परमार्थकी सिद्धि होती है और दूसरेसे अनर्थकी। इसलिये शास्त्रोंके आदेश और सज्जनोंके सत्संगसे युक्त पुरुषार्थका आश्रय लेकर बुद्धिको निर्मल करके संसार-सागरको पार कर जाओ।

भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें सकाम और निष्काम कर्मका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे करते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

(४।१२)

इस लोकमें कामनाओंकी पूर्तिके लिये मनुष्य देवताओंको पूजते हैं (यज्ञादिद्वारा), जिससे सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

फिर इसीका प्रतीकार इस प्रकार करते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(गीता २।४५)

हे अर्जुन ! वेद त्रिगुणात्मक सकाम कर्मोंका निरूपण करनेवाले हैं, अतः तू निष्काम कर्मोंका करनेवाला, द्वन्द्वों (राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि) से रहित नित्य वस्तु (सच्चिदानन्द) में स्थित होकर किसी भी पदार्थकी आकाङ्क्षा न करता हुआ आत्मपरायण हो ।

प्रारब्ध कर्मोंपर विजय प्राप्त करने तथा आत्मानन्द-की उपलब्धिका सहज उपाय, कामनारहित सत्पुरुषार्थ ही है । इससे भावी बन्धनयुक्त भोगोंकी उत्पत्ति न हो-कर पूर्वसंचित कर्मोंकी समाप्ति सहजमें हो जाती है । यह कर्मफलको भगवदर्पण (भक्ति-योगद्वारा) करना है । ऐसा करनेपर ही कार्यक्रममें सुगमता होती है । यथा—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
(गीता १८ । ५६)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

'मेरे आश्रित हुआ कर्मयोगी (कर्मफलको मुझमें ही अर्पण करनेवाला) सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है । सम्पूर्ण धर्मों (कर्मोंके आश्रय फल) को त्यागकर केवल एक मेरी (सच्चिदानन्दघनकी) ही श्रद्धा-भक्ति-मय अनन्य भावपूर्वक शरणको प्राप्त हो जा । मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

भगवान् पतञ्जलिने भी ईश्वरप्रणिधान बताकर उपर्युक्त कथनका समर्थन किया है—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।
(पा० योग० द० साधनपाद १)

इन्द्रिय-निग्रह, शास्त्रोक्त चिन्तन तथा भगव-च्चरणारविन्दमें अपनेको समर्पण कर देना पुरुषार्थमय उपासना है ।

मझधार

[गज़ल]

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी)

तुझको किसीने क्या देखा नहीं है ?
देखा नहीं है तो संसार क्या है ?
निराकारवाले बता दें मुझे अब
निराकार तू है तो साकार क्या है ? ॥१॥

अपनी अदासे इस चितको चुराया
इससे वड़ा और बेतार क्या है, तुझको ॥२॥
जीता नहीं हूँ मैं मरता नहीं हूँ
तेरा अनोखा यह बीमार क्या है, तुझको ॥३॥
तुझे देखता हूँ नहीं देखता हूँ
पर्देकी ऐसी दीवार क्या है, तुझको ॥४॥
दुनियाँको समझा, न समझा तुझे जो
समझदार वह है तो दुमदार क्या है, तुझको ॥५॥
तड़फता हूँ तटके लिये मैं नहीं अब
निराधार तू है तो मझधार क्या है—

तुझको किसीने क्या देखा नहीं है ?
देखा नहीं है तो संसार क्या है ?
निराकारवाले बता दें मुझे अब
निराकार तू है तो साकार क्या है ॥ ६ ॥

महात्मा गाँधीके धार्मिक विचार

(ले०—श्रीमती सुशीला चन्द्र, एम्० ए०, बी० टी०)

संसारका ध्यान महात्मा गाँधीकी ओर उनकी देश-भक्ति तथा राजनीतिके कारण आकर्षित हुआ। जिस समय पाश्चात्त्य देश शत्रुको पराजित करनेके लिये नये-नये शस्त्रोंका आविष्कार कर रहे थे, उस समय महात्मा गाँधीने सत्याग्रहरूपी नये शस्त्रका प्रयोग किया और विजय प्राप्तकर एक बार संसारको हिला दिया। पर यह उनके आन्तरिक जीवनका सबसे मुख्य अंग नहीं; जैसा वे स्वयं लिखते हैं—'बहुत-से धार्मिक लोग, जिनसे मुझे मिलनेका अवसर प्राप्त हुआ है, वास्तवमें धार्मिक वेश-भूषामें छिपे हुए राजनीतिज्ञ थे, किंतु मैं, जिसे लोग राजनीतिज्ञ समझते हैं, वास्तवमें हार्दिक रूपसे धार्मिक हूँ।'

ईश्वरमें अटल विश्वास तथा उसके सामने नतमस्तक हो दिन-रात प्रार्थनामय रहना उनके जीवनका विशेष अङ्ग था। जिस प्रकार शरीरके लिये भोजनकी आवश्यकता है, उसी प्रकार आत्माके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता है। मनुष्य भोजनके बिना बहुत दिन जीवित रह सकता है, पर यदि उसका ईश्वरमें विश्वास है तो वह एक दिन भी बिना प्रार्थनाके नहीं रह सकता।

उनका भक्तकी भाँति ईश्वरमें विश्वास था। उनके राम हमेशा उनकी निष्कपट पुकार सुनते थे तथा जिस समय कठिनाइयोंके बादल चारों ओर घिरे रहते थे, राम उनके अत्यन्त समीप रहते थे। महात्मा गाँधीका यह अनुभव था कि उनके जीवनमें एक भी ऐसा अवसर नहीं आया, जब सच्चे हृदयसे उन्होंने प्रार्थना की हो और भगवान्‌की विशाल भुजाओंका उन्हें आधार न मिला हो।

'बहुत दिन हुए अपनी विवेक-बुद्धिके द्वारा मुझे यह ज्ञात हुआ कि भगवान्‌का सबसे श्रेष्ठ गुण 'सत्य' है! पर सत्यको मैं राम-नामसे पुकारता हूँ। उस रामने मुझे जीवनकी कड़ी-से-कड़ी परीक्षाओंसे बचाया है और अब भी वह मुझे सर्वदा बचा रहा है। यह हो सकता है कि यह बाल-जीवनका संस्कार हो या तुलसीदासके लेखोंका आकर्षण हो। पर वस्तुतः इन पङ्क्तियोंको लिखते समय अपने बालपनके दृश्य मेरे स्मृति-पटलपर आ जाते हैं। जब मैं प्रतिदिन अपने घरके पास रामजीके मन्दिर जाया करता था, मेरे राम उस समय वहाँ विराजमान थे। उन्होंने बहुत-से पापोंसे मुझे बचाया। जब मैं छोटा बच्चा ही था, उस समय मेरी आयाने मुझसे कहा कि जब तुम्हें डर लगे या कुछ दुःख हो, उस समय राम-राम जपा करो। उम्र तथा ज्ञानकी वृद्धिके साथ-साथ यह मेरे जीवनका विशेष अङ्ग बन गया है। अब मैं यहाँतक कह सकता हूँ कि राम-नाम यद्यपि मेरे ओठोंपर नहीं, पर मेरे मनमें चौबीसों घंटे बना रहता है। राम-नाम हमेशा मेरा रक्षक रहा है और मैं उसीके आधारपर जीवित हूँ।'

जिस समय चारों ओर निराशा-ही-निराशा थी, जिस समय कोई भी सहायक नहीं था, उस समय न जाने कहाँसे कौन उन्हें सहायता पहुँचा जाता था। उनका अनुभव था कि भगवान् कभी मनुष्यरूपमें नहीं, वरं कार्यरूपमें भक्तोंको मदद करते हैं। विनती, पूजा, प्रार्थनाको केवल अन्ध-विश्वासकी बातें नहीं मानना चाहिये। वे खाने, पीने, बैठने, उठनेकी क्रियाओंसे भी अधिक वास्तविक हैं। यह कहनेमें भी अत्युक्ति नहीं होगी कि केवल प्रार्थना आदि ही सत्य हैं और सब मिथ्या हैं। ....पर भगवान् कभी भी घमंडीकी प्रार्थना नहीं सुनता। न वह उनकी प्रार्थना ही सुनता है, जो उससे मोल-भाव करते हैं। यदि भगवान्‌से सहायता चाहिये तो विनीत भावसे प्रार्थना करो—इस

संसारमें धर्म और अधर्ममें, सत्य और असत्यमें तथा ज्योति और अन्धकारमें निरन्तर संघर्ष चल रहा है। महात्मा गाँधी आशावादी थे। उनका अविचल विश्वास था कि अन्तमें धर्म और सत्यकी ही विजय होगी। पर धर्मकी विजय होनेसे पहले तथा सत्यके सम्मुख साक्षात् दर्शन होनेसे पहले शारीरिक तथा आत्मिक शक्तियोंमें भारी युद्ध होता है। इन्द्रियोंकी वासनाएँ हमें एक ओर खींचती हैं तथा आत्माकी शक्ति हमें दूसरे रास्तेपर ले जाना चाहती है। रास्ते बड़े कठिन तथा संकीर्ण हैं। बिना कर्म किये अधर्मपर विजय नहीं प्राप्त हो सकती। बड़ी बुद्धिमानी तथा निष्काम भावसे काम करनेपर ही इन्द्रियोंका दमन तथा धर्मकी विजय होती है।

उस सत्यरूपी भगवान्‌तक पहुँचनेका मार्ग भी महात्मा गाँधीने हमें दिखलाया। 'सत्यके खोजनेवालेको धूलके कणसे भी विनम्र होना चाहिये। तभी उसे सत्यकी झलक दिखायी दे सकती है। निरन्तर प्रार्थना, विनम्रता, प्रेम तथा मनुष्यमात्रकी सेवा करनेसे ही सत्यके दर्शन हो सकते हैं। भगवान्‌तक पहुँचनेका मार्ग केवल यह ही है कि संसारके छोटे-से-छोटे जीव-जन्तुको भी हम अपने समान प्यार कर सकें। मैं मनुष्यमात्रकी सेवा करके भगवान्‌के दर्शन करनेका प्रयत्न कर रहा हूँ। न भगवान् स्वर्गमें है, न भगवान् पाताललोकमें है। भगवान् सबमें विद्यमान है। मैं उसे मनुष्यमात्रसे अलग और कहीं नहीं पा सकता। यदि यह मेरी समझमें आ जाय कि भगवान् मुझे हिमालयकी एक गुफामें मिल जायँगे तो मैं आज ही वहाँ जानेकी तैयारी कर दूँ। पर मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मैं भगवान्‌को मनुष्यमात्रसे अलग नहीं पा सकता।'

मन, वचन तथा कर्ममें अहिंसाका पालन करनेपर ही सत्यका सम्पूर्ण दर्शन सम्भव है। हम प्रायः अहिंसाका अर्थ कर्मसे ही लगाते हैं। किसीको न मारना अहिंसा है। पर महात्मा गाँधीके विचारमें अहिंसाका अर्थ बहुत बड़ा है। किसीको शारीरिक कष्ट न पहुँचाना, किसीको भी वाणीसे दुःख न देना तथा मनमें भी किसीका बुरा न चाहना, अहिंसाका पूरा पालन करना है। विश्वकी एकताके सामने सबसे प्रेम ही हमारा आदर्श है। महात्मा गाँधी लिखते हैं—

'मुझे सत्यकी जो क्षणिक झलक मिली है, उससे सत्यकी अनिर्वचनीय ज्योतिकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। सत्यका प्रकाश, सूर्यकी ज्योतिसे हजारों गुना अधिक प्रकाशमान है। मैं तो उस प्रबल तेजका केवल एक मन्द प्रकाशभर देख सका हूँ। पर अपने अनुभवोंके फलस्वरूप मैं यह कह सकता हूँ कि अहिंसाका पूरा पालन करनेपर ही सत्यका दर्शन सम्भव है।'

श्रीकृष्ण-मुख

आठैं के सुधाधर सो लसत बिसाल भाल,
मंगल सो लाल तामैं टीको छवि भारी को।
चाप सी कुटिल भौंह नैन पैने सायक से,
सुक सी उतंग नासा मोहै मन प्यारी को॥
बिंब से अरुन ओठ रद-छद सोहत हैं,
पेखि पेम-पासि पर्‌यौ चित्त ब्रज नारी को।
चंद सो प्रकासकारी कंज सो सुवासधारी,
सब दुख-त्रासहारी आनन बिहारी को॥

ठीक आजके लिये

(लेखक—प्रो० श्रीपी० रामेश्वरम्)

जीवनका उद्देश्य क्या है ? हम किस लिये उत्पन्न हुए हैं ? तथा एक सुन्दर जिंदगी कैसे जियें ? इन प्रश्नोंपर विचार-विमर्श करनेके हेतु विश्व-धर्म-सम्मेलनमें दो दिनतकका समय दिया गया । ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध, साम्यवादी आदि सभी धर्मों और मतोंने इसमें भाग लिया था । अन्तिमरूपसे वे किसी एक निर्णयपर नहीं पहुँचे, किंतु 'केवल—आजके लिये' नामक संदेशको सभीने उपयोगी माना, वास्तवमें यह संदेश प्रत्येक व्यक्तिके लिये, प्रत्येक दशामें वरं प्रत्येक दिन उपयोगी है । अनुकरणीय है ।

ठीक आजके लिये

मैं केवल आजके लिये जीनेकी कोशिश करूँगा और सम्पूर्ण जीवनकी समस्याओंको केवल आज ही सुलझानेकी व्यर्थ कोशिश न करूँगा । व्यर्थकी चिन्ताओंसे मुक्त रहूँगा और आनेवाले सुन्दर भविष्यकी कल्पनाओंसे मनका भार हल्का कर लूँगा ।

ठीक आजके लिये

मैं सुखी और प्रसन्न रहूँगा । मैं सुकरात (St.Socretese) की उस बातको आज स्मरण रखूँगा जो व्यक्ति जितना अधिक प्रसन्न अपने मस्तिष्कको बनाता है, वह उतना ही अधिक प्रसन्न रहता है ।

आज मैं अपने मस्तिष्कको शक्तिमान् बनाऊँगा । कोई लाभदायक कार्य करूँगा, जिसमें मुझे उद्योग करना पड़े, एकाग्रचित्त रहना पड़े तथा मनन करनेका अवसर मिले ।

ठीक आजके लिये

आज मैं अपने मनको लचकीला बनाऊँगा और अपने वर्तमानके साथ अपनेको स्थिर करूँगा । आज मैं संसारकी वस्तुओंको अपनी आशाके अनुकूल ढालनेका प्रयत्न नहीं करूँगा । जैसा है, उसीके अनुसार अपनेको ढालूँगा और इस प्रकार, एक भ्रमरकी भाँति संसार-पुष्पसे सुख-रसको खींचूँगा ।

ठीक आजके लिये

आज मैं शेक्सपीयरकी उक्ति 'संसार एक रङ्गमञ्च है और हम सभी नाटक करनेवाले पात्र हैं' को नहीं भूलूँगा और इसीलिये एक पात्रकी भाँति मनमें प्रसन्न रहूँगा । जो भी मेरे संसर्गमें आयेगा, उससे अत्यन्त मधुरता और आत्मीयतासे वार्तालाप करूँगा ।

और आज वार्तालाप करते समय मेरे ओठोंपर कुछ छिपी-सी कुछ खुली-सी मुसकराहट होगी ।

केवल आजके लिये

अपनी आत्माको—प्रेरक मस्तिष्कको तीन कार्योंके करनेकी प्रेरणा दूंगा—

१. किसी व्यक्तिके साथ उपकार करूँगा ।

२. जिस अच्छे कार्यको करनेकी इच्छा नहीं हो रही थी, जिसे मैं कलपर ढालता आ रहा था—उसे करूँगा ।

३. यदि मुझे आज कोई मर्मान्तक चोट पहुँचेगी तो उसे दूसरोंपर प्रकट नहीं करूँगा ।

केवल आजके लिये

अपने प्रिय मित्र 'आडम्बर'से पृथक् रहूँगा । 'जैसा हूँ वैसा ही रहूँगा ।' धीरे बोलूँगा । दूसरोंको सुधारने और ठीक करनेसे बचूँगा । किसीकी आलोचना नहीं करूँगा और आज मैं किसीकी बात काटूँगा नहीं ।

ठीक आजके लिये

आजका एक कार्यक्रम बनाऊँगा । चाहे उसपर

पूर्णतया अमल न कर सकूँ, किंतु बनाऊँगा अवश्य। और आजके कार्यक्रममें दो बातें नहीं होंगी—

क. शीघ्रता (जल्दबाजी)

ख. अनिर्णयता।

ठीक आजके लिये

आज मैं डरूँगा नहीं। संसारकी सत्यता एवं सुन्दरताका 'आनन्द' लूटनेमें आज मुझे डर नहीं लगेगा। आज मैं मृत्युसे भी नहीं डरूँगा। अनिवार्यता-से भय कैसा?

महात्मा बौद्धके प्रवचनकी एक पंक्ति 'संसारको जितना मैं दूँगा—उतना ही मुझे संसारसे मिलेगा।' में विश्वास करनेमें, आज मुझे कोई संशय नहीं रहेगा।

राम-भक्त श्रीहनुमान्जी

(लेखक—याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

भगवान्‌के असंख्य अवतारोंमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका अवतार मानवताकी सर्वात्मना रक्षा एवं मर्यादाके पालनार्थ हुआ है। महाराज श्रीरामचन्द्रने पृथ्वीका भार हरण कर देव, गौ एवं ब्राह्मण-साधुओंकी मान-मर्यादाका पोषण किया। यह सब होते हुए भी हमारे प्रस्तुत चरित्रनायक भक्तप्रवर श्रीहनुमान्जीकी भक्ति-सरिताके पावन स्रोतमें एक बार स्नान किये बिना मानव-जीवन असफल ही रह जाता है।

श्रीहनुमान्जीके विषयमें इस लघु-कलेवर लेखमें विशदतया उल्लेख करना असम्भव है, फिर भी जितना भी हो सके, अमृत-पानसे आत्म-शुद्धि होनी ही चाहिये। हनुमान्जी भगवान् शङ्करजीके अवतार माने जाते हैं। उनके अदम्य पराक्रम, बुद्धि-वैभव, कर्तव्य-कुशलता एवं सामयिकता आदि अनेक गुणोंसे रामायणके पृष्ठ रँगे हुए हैं। श्रीरामजीके वे अनन्य भक्त तो थे ही, किंतु लङ्का-विजयके वे चिर-देदीप्यमान स्तम्भ भी थे। वे कामरूप थे। नीतिका पालन करनेमें तो उनकी तुलनामें अन्य नीति-निष्णात कोई भी नहीं आ सकेगा। वानरराज सुग्रीवके साथ दशरथनन्दन श्रीरघुनन्दनकी यथार्थ मित्रता कराकर उन्होंने कर्तव्य-कुशलताका भद्र आदर्श स्थापित कर दिया।

वे महापराक्रमी थे। सीता माताकी खोज करना उन्हींका कार्य था। उन्होंने समुद्रका संतरण कर अशोकवनमें जाकर श्रीजनकनन्दिनीका पता लगाया। प्रकट होकर उन्हें अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी। सीताजीके संदेह-निवारणार्थ उन्होंने अपने शरीरको विपुलकाय भयङ्कर पर्वत-तुल्य बनाकर कर्मठताका परिचय देकर सीता माताको धैर्य प्रदान किया। इस सम्बन्धमें महर्षि वाल्मीकिने कितना मनोहर वर्णन किया है। कतिपय पङ्क्तियाँ पढ़िये—

मेरुमन्दरसंकाशो बभौ दीप्तानलप्रभः।
अग्रतो व्यवतस्थे च सीताया वानरोत्तमः॥
हरिः पर्वतसंकाशस्ताम्रवक्त्रो महाबलः।
वज्रदंष्ट्रनखो भीमो वैदेहीमिदमब्रवीत्॥
सपर्वतवनोद्देशां साट्टप्राकारतोरणाम्।
लङ्कामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे॥
(सुन्दरकाण्ड ३७। ३७—३९)

सीताजीने उनके पर्वताकार अद्भुत शरीरको देख-कर कहा—

तव सत्त्वं बलं चैव विजानामि महाकपे।
वायोरिव गतिश्चापि तेजश्चाग्नेरिवाद्भुतम्॥
(सुन्दरकाण्ड ३७। ४२)

'महाकपि हनुमान्! मैं तुम्हारी शक्ति-सामर्थ्य, बल-पराक्रमको जानती हूँ और मैं यह भी समझती हूँ कि तुम्हारी गति पवनके समान है, अथच तेज अग्निके तुल्य है।'

हनुमान्जीकी शक्तिका अनुसंधान करना नितान्त

असम्भव है। उन्होंने निर्भयताके साथ लङ्कामें डंका बजाकर जय-घोषके साथ कह दिया था—

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥
(सुन्दरकाण्ड ४२ । ३३)

'महाराजा रामकी जय हो' इस नारेके साथ उन्होंने अनेक राक्षसोंको धराशायी बना दिया। उनके सिंह-गर्जनसे मही एवं पर्वत भी कम्पायमान हो जाते थे। राक्षसराज दशग्रीवकी सारी पटुता उन्होंने एक ही झटकेमें सुला दी थी।

सीता-माताका वरदान पाकर वे उनकी चूडामणि लेकर महाराज रामके पास आ गये और सब समाचार सुनाकर उन्हें दल-बलसहित लङ्कामें पहुँचनेके लिये प्रेरित करने लगे। उनके प्रार्थनानुसार भगवान् रामने समुद्र-संतरण कर भयङ्कर युद्ध किया और उनकी विजयके अग्रदूत वे ही बने।

महाराज रामके राज्याभिषेक-महोत्सवमें कुछ अनूठे वचन उनकी अनुपम भक्तिके चमकते हुए प्रतीक हैं। उन्होंने विनम्र शब्दोंमें भगवान्से प्रार्थना करते हुए निवेदन किया—

स्नेहो मे परमं राजंस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु॥
यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः॥
(उत्तरकाण्ड ४० । १५-१६)

'प्रभो! आपमें मेरा सच्चा स्नेह हो। निश्चल भक्ति हो। मेरा मनोभाव अन्यत्र न जाने पाये। जबतक राम-कथा पृथ्वीपर रहे, तबतक मेरे शरीरमें प्राण निवास करें।'

उत्तरमें महाराजने कितना अनुपम प्रसाद दिया। वास्तवमें श्रीहनुमान्जीके अतिरिक्त और कोई उस परम प्रसादका अधिकारी भी तो नहीं है। उन्होंने कहा—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥
(उत्तरकाण्ड ४० । २२-२३)

'प्यारे हनुमान्जी! मैं तुम्हारे उपकारोंका बदला चुका देनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ। एक-एक उपकारके बदलेमें प्राण देकर भी पूरा बदला न चुका सकूँगा, शेष ऋण फिर भी बच रहेगा। मैं चाहता हूँ तुम्हारे उपकार मेरे शरीरमें ही जीर्ण हो जायँ। प्रत्युपकारकी भावना तो विपत्तिका साम्राज्य उपस्थित कर देती है।'

जिनके लिये स्वयं भगवान् राम अपने आपको ऋणी कह रहे हैं, निःसंदेह उन महाप्रतापी भक्तशिरोमणि हनुमान्जीका चरित्र मानव-जीवनको पवित्रकर भगवान् रामके चरणकमलका मधुप बना देता है। वे माता सीताके वरद हस्तकी छायासे पोषित हो चुके हैं। उनके नाममात्रसे ही कलिकल्मष समूल उन्मूलित हो जाते हैं। उनके भक्तोंकी सभी कामनाएँ सफल होती हैं।

जड़ लेखनीमें इतनी शक्ति ही कहाँ है, जो उनके चरित्रका यथावत् उल्लेख कर सके। अन्तमें श्रीपुष्प-दन्ताचार्यजीके निम्नलिखित श्लोकका स्मरण करते हुए हम इस लेखका उपसंहार करते हैं।

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

श्रीमहामृत्युञ्जय मन्त्र

(लेखक—श्रीजशवंतराय जैशंकर हाथी)

भगवान् श्रीशङ्करका रुद्राध्याय तथा मृत्युञ्जय महामन्त्रसे भारतके कोने-कोनेमें अभिषेक किया जाता है। श्रावणमें तो इसकी बहार देखने ही योग्य होती है। हम आज यहाँ उसी मृत्युञ्जय महामन्त्रकी अर्थ-गम्भीरतापर कुछ विचार करते हैं। यह विचार निश्चय ही परम पुण्यप्रद है।

ॐ हौं जूँ सः। ॐ भूर्भुवः स्वः। ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। ॐ स्वः भुवः भूः। ॐ सः जूँ हौं ॐ।—

यह सम्पुटयुक्त मन्त्र है।

ॐकारका प्रतीक शिवलिङ्ग है, उसीके ऊपर अविच्छिन्न—अनवरत जलधाराके प्रवाहमें अपनी दृष्टि स्थिर करते हुए मृत्युञ्जय महामन्त्रका जप करता रहे तो ध्यानावस्था प्रत्यक्ष खड़ी हो जाती है और एक विलक्षण आनन्दकी अनुभूति होती है।

सृष्टिके आदि, मध्य और अन्त तीनों—'हौं' और 'जूँ' से अपने समक्ष उपस्थित करते हुए त्रिलोकीमें जप करनेवाला व्यक्ति श्रीत्र्यम्बकेश्वरके समक्ष अपने-आपका बलिदान दे रहा है। त्र्यम्बकेश्वरकी कृपारूपी सुगन्धि फैल रही है और उपासकके रोम-रोममें ऐसी स्फूर्ति होने लगती है कि उसका आध्यात्मिक प्रभाव छिप नहीं सकता। इन्द्रायण (तूँबे) की बेल सूख जानेपर फल बन्धनसे मुक्त होकर आसपासकी अनन्ततामें छिप जाता है, उसी प्रकार जप करनेवाला उपासक अपनी मोक्षकी अवस्थाको प्रत्यक्ष कर सकता है। बेलकी तरह शरीर मृत्युको प्राप्त होकर पड़ा रह जाता है। उपासककी आत्मा, शरीरके बंदीगृहसे छूट-कर चारों ओर घनरूपसे व्यापक ब्रह्ममें मिल जाती है। बोधपूर्वक इस मन्त्रका जप करनेका महान् फल अत्यन्त सुन्दर है।—अमरत्व तो है ही!

'एकोऽहं बहु स्याम्' परब्रह्मकी यह इच्छा होती है, और महाप्राणकी अलौकिक गति प्रस्तुत होती है। उसका सूचन महाप्राण अक्षर 'ह' से होता है। प्रकृति विकृत होने लगे, पञ्चतन्मात्रा उद्भूत हों, शब्दगुण आकाश सृष्टिको झेलनेके लिये तत्पर हो जाय, उस दृश्यका आभास 'औं' की ध्वनि करा रही है। ज्=जन्म, ऊ=उद्भव-विकास-विस्तार, ँ=शून्य=प्रलय। इस प्रकार 'जूँ' सृष्टिकी तीनों अवस्थाओंका दिग्दर्शन करा रहा है। सः=पुरुषः=विराट्—यही तो प्रलयके समय अवशिष्ट रहता है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' के साथ 'यथापूर्वमकल्पयत्' इन वाक्योंका स्मरण ऐसे समय क्यों नहीं होगा? ऐसी सृष्टि 'भूर्भुवः स्वः' की त्रिलोकी है। उस त्रिलोकीका निवासी उपासक त्र्यम्बकेश्वरके सामने जपयज्ञ कर रहा है और फलस्वरूप सहज ही अपुनरावृत्तिवाली मुक्ति प्राप्त करता है।

ऊपर कहा गया है कि शिवलिङ्ग ॐकारका प्रतीक है, वह इस प्रकार—उ, ৶, ँ इन ॐकारके तीन भागोंपर विचार करे। उपासक पूर्वाभिमुख बैठता है। जल झेलनेवाला भाग 'उ' उत्तर दिशाकी ओर जलको बहाकर ले जाता है। '৶' यह भाग आधार है, जो जलहरीको ऊँचे उठाये रहता है। 'ँ' यह भाग लिङ्गके रूपमें ऊपरको विराजमान रहता है। किसी भी शिवमन्दिरमें जाकर पूर्वाभिमुख रहकर इस दृश्यका साक्षात्कार किया जा सकता है।
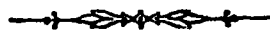
आत्मप्रेरणा तथा महत्त्वाकांक्षाओंके चित्र बनाया करें

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्. ए.)

'मैं दो वर्षसे आपके आत्मप्रेरक लेख पत्र-पत्रिकाओंमें पढ़ रहा हूँ पर फिर भी मुझे क्षणिक साहस और धैर्यके पश्चात् निराशा और उदासीके दौरे-से पड़ते रहते हैं। उन्नीस वर्षका होकर भी मैं गुपचुप मनमें कुछ हीनता और कमजोरीकी भावनाका अनुभव करता हूँ। मैं नये मित्र नहीं बना पाता, सदा उदास रहता हूँ और चिन्ता *मुझे व्यग्र रखती है। मेरी कोई महत्त्वाकांक्षा पूर्ण नहीं* होती दीखती। बतलाइये मैं क्या करूँ ?'

हमारे एक पाठकका पत्र आपके समक्ष है। अधिकांश व्यक्तियोंको कभी-न-कभी इसी प्रकारकी क्षणिक दुर्बलता, उदासी और निराशाका अनुभव हुआ करता है। यदि हम यह जान लें कि ऐसी मनोदशा केवल हमारी ही नहीं, अन्य व्यक्तियोंकी भी है, तो हम इस साधारणीकरणद्वारा अपनी मनोव्यथा बहुत कुछ हल्की कर सकते हैं। यदि हम यह समझते रहें कि केवल हमहीपर दुःखका यह पर्वत फट पड़ा है, तो निश्चय ही हम रोते रहेंगे; हीनत्वकी भावना अधिकाधिक हमारे पछे पड़ेगी। प्रायः सभीपर ऐसी दुःखद अवस्था आती है, यह विचार हमारे दुःखभारको हल्का करनेवाला है। इससे वेदनाकी पीड़ा कुछ कम होती है।

आप चिन्ता और उदासीको इसलिये नापसंद करते है, क्योंकि ये नकारात्मक रीति (Negative way) से आपको सोचने-विचारने, अतीतकी शूलमयी स्मृतियोंमें उलझनेमें मदद करते हैं। उस व्यक्तिके ऊपर हमें तरस खानी चाहिये जो अपने अनिष्टकी कल्पनाओंके नरकमें निवास करता है। यह भ्रान्ति तब उपस्थित होती है, जब मनुष्य अपने उच्च आदर्शों और महत्त्वाकांक्षाओंको मानस [illegible] दूर कर देता है। यदि आत्मप्रेरक विचारों, उपयोगी सुझावों तथा जीवनमें करने योग्य महत्त्वपूर्ण कार्योंका एक चित्र, चार्ट या नक्शा (Treasure Map) तैयार किया जाय और सदा हमारे नेत्र चलते-फिरते, उठते-बैठते उसपर पड़ते रहें, तो ये प्रेरक विचार हमारे गुप्त मनमें दृढ़तापूर्वक स्थायी रूपसे जम जाते हैं। नकारात्मक संकेतोंका दूषित प्रभाव उनपर नहीं पड़ता। *जिस प्रकार आपको* शारीरिक रोग दूर करनेके हेतु शफाखानेकी दवाई कई दिन बादतक चालू रखनी पड़ती है कि शरीरके विषैले कीटाणु मर जायँ, उसी प्रकार हमें नक्शे, चार्ट या चित्रके रूपमें प्रेरक विचार घरमें यत्र-तत्र (पूजागृहमें विशेषरूपसे) रखने चाहिये जिससे वातावरण प्रेरक, महत्त्वाकांक्षी, शक्तिपूर्ण और उत्साहवर्द्धक रहे। जैसे ही जिधरको नेत्र फिरें, आपकी दृष्टि आत्मप्रेरक चार्ट अथवा चित्रपर पड़े ! ये भव्य विचार आपके शरीरके कण-कणमें विद्युत्की भाँति समा जायँ। आप ऐसा अनुभव करें, मानो परमात्माका दिव्य अंश आपके रोम-रोममें प्रविष्ट हो रहा हो; श्वास-श्वासमें रमकर रक्तमें प्रवाहित हो गया हो।

एक आत्मवादीका आत्मप्रेरक चार्ट इस प्रकार है—

'मैं अभय हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं साहसी हूँ, मैं आरोग्य हूँ, मैं आनन्दमय हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं विजय हूँ, मैं सफलता हूँ, मैं प्रेम हूँ। मैं सच्चिदानन्दरूप हूँ और नित्य मुक्त स्वभाववाला हूँ! ऋद्धि, सिद्धि, विजय, लक्ष्मी मेरी दासी हैं। मैं सर्वशक्तिसम्पन्न हूँ।'

यह चित्र आपने दीवारपर लगा रक्खा है। अब जब आप घरमें प्रविष्ट होंगे, तुरंत आपका सम्बन्ध इन शब्दोंके पीछे रहनेवाले दिव्य साहसी भावोंसे हो जायगा। ये शब्द आपके गुप्त मनमें पैठकर साहसी स्वभावकी सृष्टि करेंगे। इन शब्दोंको तो बार-बार

दृढ़तासे उच्चारण करना ही चाहिये, साथ ही मनमें भावके साथ अपनी तद्विषयक कल्पनाके चित्र भी खींचने चाहिये। जव आप कहें—'मैं अभय हूँ' तो मनमें अपनेको एक परम साहसी, वली, शक्तिमान्, वलवान् व्यक्तिके रूपमें देखिये। जव 'आनन्दमय' कहें तो मनमें एक शान्तिपूर्ण मुखमुद्रासे हँसते हुए, मीठी मुसकान विखेरते हुए व्यक्तिका मानस चित्र लाइये। जव आप 'सफलता' का विचार लायें तो अपनेको उसी अवस्थामें देखनेका भी अभ्यास करते चलें। मनकी भावना वैसे ही चित्रके रूपमें आनेसे अधिकाधिक दृढ़ होती है और हम साहसपूर्ण आत्मप्रेरक विचारोंको विस्मृत नहीं कर पाते। इन आत्मप्रेरणाओंमें रमण करते समय अपने प्रति अविश्वासके भाव मनमें प्रविष्ट न होने दो। हठपूर्वक दिव्य प्रेरणाओंमें निवास करो।

कुछ आत्मप्रेमीगण गायत्री, आरती, राम-राम या ॐ के चित्र खरीदकर घरकी शोभावृद्धि किया करते हैं। यह उत्तम वातावरण निर्माण करनेका एक अच्छा उपाय है। इनपर दृष्टि पड़नेसे उत्तम भावनाएँ स्वयं दृढ़ होती हैं। संकल्प शुद्ध और बुद्धि निर्लिप्त होती है।

पाश्चात्त्य देशोंमें इसे 'ट्रेजर मैप' कहकर पुकारते हैं। प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी एक कागजपर भिन्न-भिन्न शब्द काटकर चिपकाता जाता है, तसवीरें चिपका लेता है और इस नक्शेको उस स्थानपर टाँगता है जहाँ उसकी दृष्टि उसतक पहुँचती और गुप्त रूपसे उन शब्दोंके पीछे रहनेवाले विचारोंको ताजा वनाये रखती है। वहाँ शीशेके एक कोनेपर इन प्रेरक संकल्पोंको चिपकानेकी भी प्रथा है। उनके 'ट्रेजर मैप' वड़े सुन्दर होते हैं। ये हमारी महत्त्वाकांक्षाओंको सदा चेतनाकी सतहपर रखते और उन्नत जीवनके लिये प्रेरित किया करते हैं। नेत्रोंके सम्मुख पुनः-पुनः आनेसे वे ही दिव्य विचार सांसारिक व्यापारोंसे मनको हटाकर साहस और सामर्थ्यकी वृद्धि करते और आध्यात्मिक व्यक्तित्वकी भावनाको दृढ़ करते हैं। जब सदा-सर्वदा शुभ सत्य और सुन्दर विचार मानसमें वसते हैं, तो वैसा ही मानसिक संस्थान वन जाता है; वही भाव सर्वत्र—भीतर-वाहर झलकता है। घातक विचारोंकी धाराएँ फीकी पड़ जाती हैं और साहस, निर्भयता, प्रेम, दया, मैत्रीभावनाकी दिव्य धाराएँ समस्त मानसिक केन्द्रोंसे प्रवाहित होने लगती हैं।

प्रेम, दया, मैत्री, साहस, निर्भयता, मधुरता, प्रसन्नता आदि रचनात्मक या निर्माणकारी धाराएँ हैं। इसके विपरीत क्रोध, लोभ, कायरता, भय, घृणा, द्वेष, विषाद, ध्वंसात्मक या विनटकारी विषैली धाराएँ हैं। ट्रेजर मैप सामने रहनेसे हमारी सर्जनात्मक धारा सशक्त रहती है और भव्य विचारकी सूक्ष्म विचारतरङ्गें उन्नत वातावरणकी सृष्टि करती हैं। हम स्पष्ट मानसिक चित्र वनाकर अपनी परिस्थितियोंमें आश्चर्यजनक वृद्धि कर लेते हैं।

मूर्तरूपमें आत्मप्रेरणाएँ अपने चर्म-चक्षुओंके समक्ष रखनेसे हम अपने दिव्य और साहसी स्वरूपको सदा चेतनाकी सतहपर रख पाते हैं। अतः दीवारोंपर, शीशेपर अथवा चित्रोंके रूपमें यत्र-तत्र प्रेरक आत्मप्रेरणाएँ लिखकर सदा उनमें रमण करते रहना आत्मोन्नतिका एक साधन है। गायत्री मन्त्र तथा भगवान्‌की आरतीके चित्र नेत्रोंके सम्मुख रहनेसे दिव्य भावोंकी तरङ्गें मनमें फैलती रहती हैं।

मोरौ मुख घर ओर सों, तोरौ भवके जाल।
छोरौ सव साधन सुनौ, भजौ एक नँदलाल॥

—हरिश्चन्द्र

शान्ति कैसे प्राप्त हो ?

(लेखक—श्रीरामजीवनजी चौधरी)

आज सारे विश्वमें अशान्तिका साम्राज्य छाया है। जिससे भी पूछा जाय, तो यही पता लगता है कि उसके जीवनमें शान्ति नहीं है। कोई शारीरिक अशान्ति भोग रहा है तो कोई मानसिक। कोई आर्थिक, पारिवारिक एवं सामाजिक अशान्तियोंसे पीड़ित है। व्यापारियोंसे पूछा जाय तो वे कहते हैं, आयमें तो दिन-प्रति-दिन कमी होती जा रही है, खर्च कुछ-न-कुछ बढ़ रहा है, झंझटोंकी सीमा नहीं, आये दिन नये-नये टैक्सोंका बखेड़ा खड़ा रहता है। यदि साधारण मजदूरसे पूछा जाय तो कहा जाता है कि दिन भर अथक परिश्रमके बाद भी उदरपूर्तिके लिये काफी मजदूरी नहीं मिलती। स्कूलके शिक्षकोंमें भी यही कारण अशान्तिका है। किसी गृहस्थको पूछा जाय तो अपनी और गृहसदस्योंकी बीमारीका तथा गृहकलहका रोना-धोना शुरू कर देता है। यहाँतक कि बहुधा साधु-महात्माओंमें भी आज शान्तिका अभाव देखा जाता है।

सोचा जाय तो, इसका कारण क्या है ? मनुष्योंमें विषयासक्ति, अर्थलिप्सा और मिथ्या मान-बड़ाईकी चाह दिन-प्रति-दिन बढ़ती चली जा रही है। त्यागकी भावना तो नाममात्रको भी नहीं रह गयी है। हमें यदि एक रुपयेकी आमदनी होती हो तो हम दूसरेको पचास रुपयेका नुकसान पहुँचानेमें भी हिचकिचाते नहीं। जिस किसी भी तरह हमारा व्यक्तिगत लाभ होना चाहिये। असत्य कहनेमें अब तनिक भी आत्मग्लानि नहीं होती। सामान्य-से-सामान्य स्वार्थके लिये हम झूठ बोलनेमें डरते नहीं। पहले तो एक गृहस्थी इस तरहकी भावना रखता था कि 'हम बाल-बच्चेदार आदमी हैं, हम झूठ कैसे बोल सकते हैं।' यानी उनमें यह भय समाया हुआ रहता था कि हम झूठ बोलेंगे तो परमात्माके समक्ष दोषी होंगे और इससे हमारे बाल-बच्चोंका अनिष्ट हो सकता है। अथवा हम असत्य-भाषण करेंगे तो अपने धर्मसे विचलित हो जायँगे और परलोकमें दुःख भोगना पड़ेगा। और आजकल किसी गृहस्थसे पूछा जाय तो वह कहेगा 'हम बाल-बच्चेदार आदमी हैं, झूठ न बोलें तो गुजर-बसर कैसे हो।' देखिये तबमें और अबमें भावनाका कितना अन्तर है। यानी अब लोगोंकी इतनी नीच धारणा हो गयी है कि झूठ बोले बिना गृहस्थीका पालन-पोषण भी नहीं हो सकता। इसीसे इस तरहकी अशान्तिपूर्ण स्थिति पैदा हो गयी है।

सरकारी दफ्तरोंमें 'घूस देना और लेना घोर अपराध है' का पट टँगा हुआ रहता है तो भी किसी दफ्तरमें बिना घूस दिये कोई काम नहीं चलता। यदि घूस न दी जाय तो किसी हालतमें भी काम होना सम्भव नहीं। आये दिन मिल-कारखानोंमें मजदूरोंकी हड़तालें होती रहती हैं। छात्रोंकी हड़ताल स्कूल-कालेजोंमें होती रहती है। स्कूल-कालेजोंके परीक्षा-केन्द्रोंमें अनैतिकताका बोल-बाला हो रहा है। नकल करते हुए छात्र यदि पकड़े जाते हैं तो पकड़नेवालेके लिये अपनी जानका खतरा उपस्थित हो जाता है। दिनों-दिन बेकारी बढ़ रही है और इसी कारण चोरी-डकैतियाँ भी जोरोंसे हो रही हैं।

जनता सरकारको कोसती रहती है और सरकारी अधिकारी जनताको दोषी ठहराते हैं। बढ़ती हुई अनैतिकताका नियन्त्रण करनेके लिये नये-नये कानून बनाये जाते हैं, इधर जनता उन कानूनोंसे बचकर अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये नये-नये तरीके ढूँढनेमें तत्पर रहती है।

इसलिये देखा जाता है कि मनुष्योंके जीवनमें

अशान्ति दिनों-दिन बढ़ती ही चली जा रही है। इसका कारण हम इसी भोग-ऐश्वर्यमें ढूँढते हैं, परंतु वास्तविकतासे हम बहुत दूर चले जा रहे हैं। मूल कारण न ढूँढकर उस वृक्षकी पत्तियों और टहनियोंमें जल सींच रहे हैं जो कि दिन-प्रतिदिन सूखता चला जा रहा है।

प्रथम दोष तो हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धतिका है। हमारे सुकुमार शिक्षार्थियोंमें धार्मिक भावनाका, सदाचारके महत्त्वका बिल्कुल प्रकाश नहीं कराया जाता। आजकी शिक्षा तो सिर्फ नौकरी करके पेट भरने भरकी है। सो वह भी नहीं भर पाता। इस शिक्षामें न तो उनका नैतिक स्तर ऊँचा उठानेकी ही कोशिश की जाती है, न त्यागकी भावना ही सिखायी जाती है। धर्मका ज्ञान होना तो दूरकी बात है। जबतक मनुष्योंमें धर्मकी सच्ची भावना नहीं भरी जायगी, जबतक यह ज्ञान न होगा कि हम जो बुरा या अच्छा कर्म करेंगे, उसका फल हमें भोगना ही होगा, तबतक मनुष्य अनैतिक कर्म करने या असत्य बोलनेसे कभी विरत न होंगे।

दूसरा कारण हमारेमें त्यागकी भावनाका अभाव है। हम जो कुछ करते हैं वह केवल अपने भौतिक स्वार्थके लिये। दूसरेकी भावनापर ठेस पहुँचाना या उसका नुकसान करना हमें बिल्कुल नहीं अखरता। ऐसी बुरी भावनाका त्याग करना चाहिये। हमें सत्यका आश्रय लेकर अपने भरण-पोषणके लिये उपार्जन करनेमें तत्पर रहनेके साथ दूसरोंके स्वार्थ और हितका भी खयाल रखना चाहिये। दूसरोंको फूलते-फलते देखकर हमें जलन नहीं होनी चाहिये। अक्सर देखा जाता है कि जिस व्यक्तिने अपने जीवनमें बुरे-ही-बुरे कर्म किये, सदा असत्यका ही आश्रय लिया, अनैतिकताका साथ कभी नहीं छोड़ा, उसपर लक्ष्मीकी कृपा रहती है। वह धन-धान्यसे फूला-फला रहता है और मान-प्रतिष्ठामें बढ़-चढ़कर रहता है। इससे जो व्यक्ति सत्कर्मोंमें अपना जीवन बिताता है, सदा परमात्माके ध्यान-स्मरणमें रहता है तब भी जिसे उदरपूरणमें बड़ी कठिनाई होती है, वह सोचता है कि 'देखो, वह आदमी बुरा होते हुए भी कितना सुखी है और मैं इतना सत्यपर आरूढ़ होनेपर भी इतना दुखी हूँ। भगवान्‌का यह कैसा न्याय है ?' लेकिन यह सोचना ठीक नहीं है। जिसने गत वर्ष खेती करके अनाज जमा कर रक्खा है, वह इस वर्ष खेतको उजाड़ कर भी संगृहीत अनाजसे खूब खा-पी सकता है। उसका यह वर्तमान सुख उसकी पूर्वकी कमाईका है। इस वर्षके खेत उजाड़नेका फल तो उसे आगे मिलेगा। इस प्रकार उस बुरे मनुष्यको पूर्वकृत अच्छे कर्मके प्रारब्धवश सुख मिल रहा है। पूर्व जन्ममें किये हुए सत्कर्मसे उसे यह धनराशि प्राप्त हुई है। हमें इससे क्या ? हमें तो परमात्माके सहारे रहकर सत्पुरुषार्थ करते हुए जीवन व्यतीत करना है। हमें जिस हालतमें रक्खा गया है उसी हालतमें हमको प्रसन्न रहना चाहिये। दूसरेके प्रारब्धसे हमको डाह नहीं करनी चाहिये।

यदि हम मनमें संतोष नहीं रक्खेंगे, परमात्मापर भरोसा न रक्खेंगे। नित्यप्रति परमात्मासे प्रार्थना न करेंगे तो हमको कभी शान्ति नहीं मिलेगी। यह बात निश्चय है कि कितना भी धन हमारे पास हो जाय, कितने ही मकानोंके हम मालिक हो जायँ, समाजमें हम कितने ही बड़े नेता या पंच गिने जायँ लेकिन जबतक आत्म-संतोष नहीं होगा, जबतक परमात्माके विधानपर हम विश्वास न करेंगे, अनैतिकताका साथ न छोड़ेंगे, सत्य और धर्मका आश्रय न लेंगे, तबतक हम शान्तिकी छायासे भी बहुत ही दूर रहेंगे।

षोडश संस्कार और उनका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

[गताङ्कसे आगे]

संस्कारोंकी इतिकर्तव्यताके लिये बहुत-सी पुस्तकें बनी हुई हैं। प्राचीन शैली तो यह थी कि जिसकी जो कुलपरम्परागत वेदसंहिता होती थी, वह उसीके गृह्यसूत्रका अवलम्बन करता था। जैसे कि ऋग्वेदकी आश्वलायन संहितावाला पुरुष गृह्यकर्मोंके लिये 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' का अवलम्बन करता था। शुक्लयजुर्वेदकी वाजसनेयी-संहितावाला 'पारस्कर गृह्यसूत्र' का अवलम्बन करता था। कृष्णयजुर्वेद-संहितावाला अपनी संहिताके अनुसार आपस्तम्ब आदि गृह्यसूत्रोंका आश्रय लेता था। सामवेदकी जैमिनि-संहितावाला 'जैमिनि-गृह्यसूत्र' का आधार लेता था। कौथुमी-संहितावाला 'गोभिलगृह्यसूत्र' का अवलम्बन करता था। अथर्ववेदकी पैप्पलाद-संहितावाला 'कौशिक गृह्यसूत्र' का अनुसरण करता था और शौनक-संहितावाला 'शौनक गृह्यसूत्र'का। इस प्रकार जितनी वेदसंहिता होती थीं, उतने ही गृह्यसूत्रादि थे; पर हिंदू जातिके दुर्भाग्यसे जिस प्रकार बहुतसे संहिता-ब्राह्मणादि लुप्त हो गये हैं, वैसे गृह्यसूत्र भी बहुत-से लुप्त हो गये हैं। कुल-परम्पराओंके अस्त-व्यस्त हो जानेसे अब तो यह भी पूर्णरूपेण पता नहीं लगता कि यह किस संहिताका ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र अथवा धर्मशास्त्र है। तथापि विद्वानोंने इस विषयमें बहुतसे निबन्धग्रन्थ, निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु, प्रयोगपारिजात, वीरमित्रोदय, संस्कारगणपति, संस्कारदीपक, स्मृतिचन्द्रिका, संस्कारविधि, षोडशसंस्कारविधि आदि बनाये हैं। सबने अपनी-अपनी शैलीसे अच्छा परिश्रम किया है। पारस्कर गृह्यसूत्रके भाष्योंमें श्रीहरिहर आदिने भी भिन्न-भिन्न संस्कारोंका प्रयोग लिखा है। विवाहसंस्कारतक सबकी शैली प्रायः सदृश देखी जाती है; अतः हम भी विवाहतक प्रत्येक संस्कारकी अति संक्षिप्त विधि यहाँ दिखलायेंगे।

इसमें हमने सनातन धर्मके प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित श्रीभीमसेनजीकी 'षोडशसंस्कारविधि' को प्रायः आधारभूत माना है। विस्तीर्णरूपसे संस्कारोंकी इतिकर्तव्यता जाननेके इच्छुक उसीका आश्रय लें। संन्यासकी विधिके लिये भारतधर्ममहामण्डलके स्वामी श्रीदयानन्दजीकी 'संन्यासपद्धति' द्रष्टव्य है। अन्त्यकर्मके लिये गृह्यसूत्रोंके पितृमेधसूत्र देखने चाहिये, जो आश्वलायन, बोधायन, आग्निवेश्य, वैखानस आदि गृह्यसूत्रोंमें हैं। उनमें कई ऐसे कर्म भी हैं, जो कलिवर्जित हैं—उनको छोड़ देना चाहिये। इन अवसरोंपर अपनी कुलपरम्परा भी नहीं छोड़नी चाहिये; क्योंकि उनका भी कोई-न-कोई आधार हुआ करता है। बहुत-सी बातें तो कुलकी वृद्धा स्त्रियोंको भी मालूम होती हैं। अतः गृह्यसूत्रोंमें आया है—

'यच्च स्त्रिय आहुस्तत् कुर्वन्ति'

'जो स्त्रियाँ बतावें, उस कुलाचारका भी पालन करना चाहिये।' अस्तु,

अब विवाहतकके संस्कारोंकी संक्षिप्त विधियाँ भी दी जाती हैं।

संस्कारोंकी विधि

यह बात याद रखनी चाहिये कि सब संस्कारोंमें कर्ता-पुरुष पूर्वाभिमुख होकर, नवीन वस्त्र धारण करके मार्जन, आसनशुद्धि, शिखाबन्धन, तिलक, आचमन, प्राणायामादि करके ब्राह्मणोंसे पुष्पादिद्वारा स्वस्तिवाचनादि कराकर देशकाल-कीर्तनपूर्वक संकल्प करे। संकल्पके बाद गणपति-नवग्रह-मातृकादिका पूजन करावे। देशकालका कीर्तन इस प्रकार करना चाहिये—

'ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते कुमारिकानाम्नि क्षेत्रे, वैवस्वतमन्वन्तरे, अष्टाविंशतितमे कलियुगे, कलिप्रथमचरणे बौद्धावतारे……नद्यास्तटे……नगरे एकादशोत्तर-द्विसहस्रतमे* वैक्रमेऽब्दे मासोत्तमे……मासे……पक्षे……तिथौ अमुककर्म† करिष्ये। आदौ तन्निर्विघ्नतार्थं श्रीगणपतिनवग्रहादिपूजनमहं करिष्ये।'

प्रायः संस्कारोंके आदिमें हवन भी होना चाहिये, अन्तमें ब्राह्मण-भोजन तथा देवविसर्जन करे। आचार्यको दक्षिणा दे। मन्त्रोंके आदिमें 'ॐ' का उच्चारण भी होना चाहिये। बालकका संस्कार समन्त्रक तथा बालिकाका निर्मन्त्रक करना चाहिये। विवाह तथा हवन दोनोंका समन्त्रक होना चाहिये।

---

* यहाँपर प्रचलित वैक्रमवर्षकी संख्या कहनी चाहिये।

† आगे जो संकल्प करना चाहिये, वह उस-उस संस्कारमें लिखा जायगा।

ये सब संस्कारोंमें जो सामान्य कर्तव्य हैं, हम उन्हें बार-बार नहीं लिखेंगे । संस्कारकर्ता स्वयं करना जान लें ।

१ गर्भाधान-संस्कार-विधि

ऋतुकालसे पूर्व शास्त्रानुमोदित सजातीय कन्यासे विवाह करके यथासमय ऋतुकालमें गर्भाधानकी योग्यता-अवस्था आदि देखकर पुत्रार्थी चतुर्थ आदि सम दिनोंमें ज्यौतिषानुसार शुभ दिनको गर्भाधान-संस्कार करे। पत्नी नवीन वस्त्र पहनकर पूर्वाभिमुख बैठे । पति पहले देशकालादि-कीर्तन करके यह संकल्प करे—

ममास्या धर्मपत्न्या जनिष्यमाणगर्भस्य बीजगर्भसमुद्भवैनोनिरसनार्थं गर्भाधानसंस्कारकर्म करिष्ये ।

फिर—

'ॐ या फलिनीर्या अफलाः ।'

(यजु० वा० सं० १२ । ८९)

—यह मन्त्र पढ़े । सौभाग्यवती कुलस्त्रियाँ पत्नीके ऊपर पुष्प डालें । फिर पति—

'आदित्यं गर्भम्'　　(यजुः १३ । ४१)

इस मन्त्रको पढ़कर स्वयं भी सूर्यदर्शन तथा नमस्कार करे और पत्नीको भी कराये । शेष कार्य रातको पहला पहर बीत जानेपर करे ।

उत्ताना होकर शयाना स्त्रीके नाभिदेशको स्पर्श करके—

'ॐ विष्णुर्योनिं०'　　(ऋ० १० । १८४ । १)

'गर्भं धेहि सिनीवालि' 'हिरण्यपी अरणी'

—इन मन्त्रोंसे अभिमन्त्रण करे । फिर—

'गायत्रेण त्वा परिगृह्णामि छन्दसा　(यजुः १ । २७)

'रेतो मूत्रं वि जहाति'　　(यजुः १९ । ७६)

इन मन्त्रोंसे परिष्वजनपूर्वक पुत्रोत्पत्तिका उद्देश्य करके अभिगमन करे। 'यथेयं पृथिवी' (अथर्व० ६। १७। १-४) इत्यादि मन्त्रोंसे प्रार्थना करके 'यत्ते सुसीमे' (पार० १ । ११ । ९) इससे पत्नीका हृदयालम्भन करे । ब्राह्मणभोजन तथा दक्षिणादिका—

'कृतस्य कर्मणः साङ्गतासिद्ध्यर्थं ब्राह्मणभोजनं करिष्ये, तेन कर्माङ्गदेवताः प्रीयन्ताम् ।'

—इस प्रकार संकल्प करके देवविसर्जन करे । यदि उसे गर्भ न हो तो श्वेतपुष्पी (भटकटैया) की जड़को जलके साथ पीसकर 'इयमोषधी त्रायमाणा ।' (पार० १ । १३) मन्त्रसे उसके दाहिने नाकके छिद्रमें उसकी तीन-चार बूँदें डाले ।

२ पुंसवन-संस्कार-विधि

गर्भाधानसे तीसरे मासमें पुष्य, पुनर्वसु, मृगशिरा, हस्त, मूल, श्रवण—इन नक्षत्रोंमें किसी नक्षत्रसे युक्त चन्द्रमा हो—उस दिन उक्त संस्कार करे । पति पत्नीको पूर्वाभिमुख बैठाकर—

'मम अस्याः पत्न्या उत्पत्स्यमानगर्भस्य बैजिकगार्भिकदोषपरिहारार्थं पुत्रपत्योत्पत्तये च देवानां प्रीत्यर्थं पुंसवनसंस्कारं करिष्ये ।'

—यह संकल्प करे । फिर गिलोय, ब्राह्मी, बड़की जटा और अङ्कुर—इन सबको ठंडे जलके साथ पीसकर उसके रसको गर्भिणीको दाहिने नाकसे पिलावे । 'हिरण्यगर्भः' (यजुः २३ । १) 'अद्भ्यः सम्भृतः' (३१ । १७) मन्त्र पढ़े । फिर 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' (यजुः १२ । ४) मन्त्रसे पत्नीकी गोदमें रखे जलपूर्ण मृत्पात्रके जलको अनामिका अङ्गुलीसे उसके पेटसे स्पृष्ट करावे । फिर—

'कृतस्य कर्मणः साङ्गतायै ब्राह्मणभोजनं करिष्ये' ।

—यह संकल्प करके ब्राह्मण-भोजन कराकर दक्षिणा दे। आशीर्वाद ले । देवविसर्जन करे ।

३ सीमन्तोन्नयन-संस्कार-विधि

गर्भसे छठे वा आठवें मासमें सीमन्तोन्नयन करे । पत्नीके साथ बैठकर—

'अस्या मम भार्यायाः क्षेत्रगर्भसंस्कारार्थं गर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणपुरस्सरं देवप्रीत्यर्थं सीमन्तोन्नयनसंस्कारं करिष्ये ।'

इसमें अग्निस्थापन एवं हवनके पश्चात् एक पीपलका शङ्कु, एक सल्लकी (साही) का काँटा, पीले सूतसे लपेटा तकुआ, तेरह-तेरह कुशोंकी दर्भकी तीन पिञ्जुली, गूलरके दो फलोंसहित प्रादेशमात्र गूलरकी सुवर्णयुक्त शाखा—इन सबको संगृहीत करके पत्नी इनसे अपने सीमन्तके बालोंको ऊँचा कर दे 'ॐ भूरुन्नयामि, भुवरुन्नयामि, स्वरुन्नयामि',—पति ये मन्त्र पढ़े । 'अयमूर्जावितः' (पार० १ । १५ । ६)—इस मन्त्रसे गूलरकी शाखा आदिको पत्नीकी चोटीमें बाँध दे । फिर वीणा बजानेवाले दो ब्राह्मण

'सोम एव नो राजा' (पार० १ । १५ । ८) इस मन्त्रका गान करें । इस मन्त्रके अन्तमें आये हुए 'असौ' के स्थानपर उस नगरकी नदीका नाम ले । फिर—

'कृतसंस्कारस्य सङ्गतासिद्ध्यर्थं ब्राह्मणभोजनं कारयिष्ये'।

—यह संकल्प करके आगत ब्राह्मणोंका सत्कार करे।

४ जातकर्म-संस्कार-विधि

पुत्र उत्पन्न होनेपर स्नान करके नालच्छेदनसे पूर्व जातकर्म करे।

'अहं ममास्य आत्मजस्य गर्भवासजनितसकलदोषनिवृत्तिपूर्वकमायुर्मेधाभिवृद्ध्ये बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा देवप्रीत्यर्थं जातकर्मसंस्कारं करिष्ये।'

—यह संकल्प करे। फिर शहद और असम घृतको मिलाकर सुवर्णकी शलाकासे उसे शिशुको चार बार चटाये। यह मन्त्र पढ़े—

ॐ भूस्त्वयि दधामि, भुवः, स्वः, भूर्भुवः स्वस्त्वयि सर्वं दधामि। (पारस्क० १ । १६ । ४)

यह मेधाजनन है। फिर 'अग्निरायुष्मान्' (पार० १ । १६ । ५)—इन आठ मन्त्रोंको बोले। यह उसका आयुष्यकरण है। 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' (यजुः ३ । ६२) —मन्त्रको भी तीन बार पढ़े। फिर पिता पुत्रके हृदयका स्पर्श करके उसकी पूर्ण आयुके लिये 'ॐ दिवस्परि प्रथमे जने' (यजुः १२ । १८ । २८) इत्यादि ग्यारह मन्त्रोंका उच्चारण करे। उस समय ज्यौतिषनक्षत्रानुसार नाम भी करे। फिर ब्राह्मण और पिता चारो दिशाओं तथा मध्यमें क्रम-क्रमसे बैठकर 'प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान' शब्द कहे। फिर 'वेद ते भूमि०' (पार० १ । १६ । १२) मन्त्र बोलकर शिशुके जन्मवाली भूमिका अभिमन्त्रण करे। फिर 'अश्मा भव परशुर्भव' (पार० १ । १६ । १३) मन्त्रसे बालकका स्पर्श करे। इसके बाद 'इडासि मैत्रावरुणी (पार० १ । १६ । १४) मन्त्रसे शिशुकी माताका अभिमन्त्रण करे।

फिर उसके दक्षिण स्तनको धोकर 'इमꣳ स्तनं' (यजुः १७ । ८७) मन्त्रसे ओर वामको धोकर 'यस्ते स्तनः शशयोः' (यजुः ३८ । ५) इस मन्त्रसे बच्चेके मुखमें क्रमशः स्तन दे। अनन्तर 'अपरे देवेषु' (पार० १ । १६ । १७) मन्त्रको बोलकर शिशुकी जननीके सिरकी ओर जलपूर्ण घट रक्खे; वह दस दिनतक रहे। उसमें दस दिनके लिये अग्निका स्थापन करे, उसमें दस दिन प्रातः और सायं चावलोंके कण तथा पीली सरसोंसे पितर वा ब्राह्मण 'शण्डामर्का उपवीरः' 'अलिखन्ननिमिषः' (पार० १ । १६ । १८) इन मन्त्रोंसे दो आहुतियाँ डालता रहे। बालग्रह-उपद्रव-निवारणार्थ 'कूर्कुरः सुकूर्कुरः' (पार० १ । १६ । १९) मन्त्रका जप करे। अन्तमें 'न नामयति न रुदति' (पार० १ । १६ । २०) मन्त्रसे बच्चेके सर्वाङ्गमें स्पर्श करके—

'कृतस्य कर्मणः साङ्गतासिद्ध्ये सूतकान्ते ब्राह्मणान् भोजयिष्ये।'

यह ब्राह्मणभोजनका संकल्प करके शुद्धिके दिन उन्हें खिलावे।

५ नामकरण-संस्कार-विधि

ग्यारहवें दिन पुत्रका नामकरण-संस्कार करे।

'ममास्य शिशोर्बीजगर्भसमुद्भवैनउपमार्जनायुरभिवृद्धिद्वारा देवानां प्रीत्यर्थं नामकरणसंस्कारं करिष्ये।'

—यह संकल्प करे। तीन ब्राह्मणोंके भोजनका संकल्प भी करे। काँसेकी थालीमें चावल फैलाकर उनपर सुवर्णकी शलाकासे शिशुके कुलदेवताका नाम लिखे। फिर मासनाम, नक्षत्रनाम और व्यवहारनाम लिखे। फिर—

'ममास्य शिशोर्वेहायुःप्राप्तये नामदेवतापूजनं करिष्ये।'

—ऐसा संकल्प करके 'मनो जूतिः।' (यजुः २ । १३) —इस मन्त्रसे नामदेवताकी प्रतिष्ठा करके 'श्रीश्च ते' (यजुः ३१ । २२) मन्त्रसे 'नामदेवताभ्यो नमः' कहकर पूजन करे। फिर माताकी गोदमें स्थित शिशुके दाहिने कानमें कहे—'हे कुमार! त्वममुककुलदेवताभक्तोऽसि, त्वं मासनाम्ना [चैत्रादिसे फाल्गुनमासतक क्रमशः १ कृष्ण, २ अनन्त, ३ अच्युत, ४ चक्री, ५ वैकुण्ठ, ६ जनार्दन, ७ उपेन्द्र, ८ यज्ञपुरुष, ९ वासुदेव, १० हरि, ११ योगीश, १२ पुण्डरीकाक्ष—ये मासनाम हैं] अमुकोऽसि। हे कुमार! त्वं नक्षत्रनाम्नाऽमुकोऽसि [नक्षत्रनाम या तो उसके देवताके नामसे रखे, या 'चू चे चो ला' इस क्रमसे पादानुसार रखें] हे कुमार! त्वं व्यवहारनाम्ना अमुकोऽसि [व्यवहारनाममें आदिका अक्षर वर्गके तीसरा, चौथा वा पाँचवाँ हो, य, र, ल, वमें कोई अक्षर मध्यमें हो। कृदन्ती नाम हो, तद्धितीय न हो, दो या चार अक्षरोंवाला हो।] ब्राह्मण 'मनो जूतिः' मन्त्र पढ़कर कहें—

'नाम प्रतिष्ठितमस्तु ।' नामके पीछे ब्राह्मणादि वर्णका शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास—यह चिह्न रखें ।

फिर पिता उक्त नामोंको क्रमशः कहकर पुत्रके द्वारा ब्राह्मणोंको अभिवादन करावे । ब्राह्मणगण 'आयुष्मान् भव सौम्य कृष्णशर्म३ न्!' इत्यादि वाक्यसे आशीर्वाद दें । फिर 'वेदोऽसि येन त्वं देव ! वेद' (यजुः २ । २१) मन्त्र पढ़ें । [गोभिलगृह्यसूत्र (२ । ८ । १२) के अनुसार तिथि तथा उसके देवता, नक्षत्र तथा उसके देवताके नाम अग्निमें आहुति दें । जैसे 'ॐ प्रतिपदे स्वाहा, ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, ॐ अश्विन्यै स्वाहा, ॐ—अश्विभ्यां स्वाहा ।' क्रमसे तिथि-देवता ये हैं—१ ब्रह्मन्, २ त्वष्टृ, ३ विष्णु, ४ यम, ५ सोम, ६ कुमार, ७ मुनि, ८ वसु, ९ शिव (पिशाच), १० धर्म, ११ रुद्र, १२ वायु (रवि), १३ काम, १४ अनन्त (यक्ष), १५ (पूर्णिमा) विश्वेदेव, ३० (अमा) पितर । नक्षत्रदेवता ये हैं—अश्विनी—अश्विन् । भरणी—यम । कृत्तिका—अग्नि । रोहिणी—प्रजापति (ब्रह्मन्) । मृगशिर—सोम (शशी) । आर्द्रा—रुद्र (शर्व) । पुनर्वसु—अदिति । पुष्य—बृहस्पति (गुरु) । अश्लेषा—सर्प । मघा—पितृ । पूषा—भग । उत्तराफाल्गुनी—अर्यमन् । हस्त—सवितृ (दिवाकर) । चित्रा—त्वष्टृ । स्वाति—वायु । विशाखा—इन्द्राग्नी । अनुराधा—मित्र । ज्येष्ठा—इन्द्र (पुरन्दर) । मूल—निर्ऋति । पूर्वाषाढ़ा—अप् । उत्तराषाढ़ा—विश्वेदेव । श्रवण—विष्णु (हरि) । धनिष्ठा—वसवः । शतभिषा—वरुण । पूर्वाभाद्रपदा—अजपात् । उत्तराभाद्रपदा—अहिर्बुध्न्य (अग्निर्बुध्न्य) । रेवती—पूषन् ।] ब्राह्मणभोजन करके मातृविसर्जनादि करे । लड़कीका नाम अमन्त्रक तथा विषमाक्षर रखे ।

६ निष्क्रमण-संस्कार-विधि

शिशुके चौथे वा छठे मासमें उक्त संस्कार करे ।

'ममास्य शिशोरायुरभिवृद्धिव्यवहारसिद्धिद्वारा देवानां प्रीत्यर्थं निष्क्रमणसंस्कारं करिष्ये ।'

—ऐसा संकल्प करे । शुभमुहूर्तमें शिशुको घरसे बाहर ले जाकर—

'ॐ तच्चक्षुः ।' (यजुः ३६ । २४) मन्त्रसे उसे सूर्यदर्शन करावे । फिर देवमन्दिरमें देवदर्शन करावे और प्रणाम करवावे । फिर घरमें आकर सौभाग्यवती स्त्रियाँ आरती करें । ब्राह्मणभोजन करके मातृविसर्जन करे । उसी रात शिशुको चन्द्रदर्शन भी करावे । यह मन्त्र पढ़े—

चन्द्रार्कयोर्दिगीशानां दिशां च वरुणस्य च ।
निक्षेपार्थमिदं दद्मि ते त्वां रक्षन्तु सर्वदा ॥
प्रमत्तं वा प्रसुप्तं वा दिवारात्रमथापि वा ।
रक्षन्तु सततं ते त्वां देवाः शक्रपुरोगमाः ॥

'मैं चन्द्रमा, सूर्य, दिक्पाल, दिशा तथा वरुणके हाथ धरोहरके रूपमें तुम्हें सौंप रहा हूँ । वे सदा तुम्हारी रक्षा करें । असावधानीकी दशामें, सोते समय, दिनमें तथा रात्रिमें भी इन्द्र आदि देवता तुम्हारी रक्षा करें ।'

अथवा गोभिलगृह्यसूत्रानुसार—

'यददश्चन्द्रमसि' (२ । ८ । ७)

—मन्त्र बोलकर चन्द्रको अर्घ्य दे । पाँचवें-छठे महीने शिशुको विधिपूर्वक भूम्युपवेशन भी करावे । अथर्ववेदके पृथिवीसूक्तके कई मन्त्र उसमें पढ़कर पृथिवीसे शिशुकी रक्षाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये ।

७ अन्नप्राशन-संस्कार-विधि

छठे मासमें अन्नप्राशन होना चाहिये ।

'ममास्य शिशोर्मातृगर्भाशयपूतप्राशनशुद्ध्यर्थं-मन्नाद्यब्रह्मवर्चस्तेजइन्द्रियायुर्बललक्षणसिद्धिबीजगर्भसमुद्भवैन-उपमार्जनद्वारा देवानां प्रीत्यर्थमन्नप्राशनसंस्कारं करिष्ये ।'

स्थण्डिल बनाकर पञ्चभूसंस्कार कर कुशकण्डिका करके हवन करे । षड्रस अन्न तैयार करके—

'अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य ।' (यजुः ११ । ८३)

'अन्नके स्वामी परमेश्वर ! आप हमारे इस बालकको अन्नका नीरोग एवं निर्विकार अंश अर्पित कीजिये ।'

—इस मन्त्रसे एक बार अन्न खिलावे । फिर भूमिपर बैठे बालकके आगे पुस्तक, शस्त्र, खिलौना आदि रक्खे । इनमें जिसे शिशु पहले उठावे, आगे उसका वही व्यसन वा उससे उसकी वृत्तिका अनुमान करे । फिर पूर्णाहुति करके तथा यज्ञ-भस्मका तिलक शिशुको भी लगाकर ब्राह्मणभोजन कराके आचार्यदक्षिणा आदि देकर देव-विसर्जन करे ।

८ चूडाकरण-संस्कार-विधि

बालकके पहले वा तीसरे वर्षमें यह संस्कार करे । अथवा जैसी कुल-परम्परा हो । लड़केको गोदमें बैठाकर—

'अस्य कुमारस्य बीजगर्भसमुद्भवैनोनिराकरणेन बलायु-र्वर्चोऽभिवृद्धिव्यवहारसिद्धिद्वारा देवानां प्रीत्यर्थं चूडाकरण-संस्कारं करिष्ये ।'

—यह संकल्प करे। ब्राह्मणभोजनके बाद स्थण्डिल-निर्माण, कुशकण्डिका, हवनादि करे। शीतल जलको गर्म जलके साथ 'उष्णेन वाय' (पार० २ । १ । ६) मन्त्रसे मिलावे, उसमें तक्र भी कुछ मिलावे। बालकके सिरके दक्षिण, पश्चिम, उत्तरमें तीन जूड़े माङ्गलिक सूत्रसे बाँध रखे। उसमें दक्षिणके जूड़ेको 'सवित्रा प्रसूता' (पार० २ । १ । ९) मन्त्रसे पूर्व रखे जलको गीला करके साहीके काँटेसे बालोंको अलग-अलग करके 'ओषधे त्रायस्व' (यजुः ५ । ४२) मन्त्रसे कुश लगावे। फिर 'शिवो नामासि' (यजुः ३।६३) 'निवर्तयाम्यायुषे' (३ । ६३) मन्त्र बोलकर छूरेको केशोंमें लगाकर 'येनावपत् सविता' (पार० २ । १ । ११) मन्त्रसे पश्चिम भागके केशोंको काटे। बालोंको बैलके गोबरपर रखता जाय। इसी प्रकार शेष दो जूड़ोंको भी पूर्ववत् काटे। फिर सारे सिरको भिगोकर 'यत् क्षुरेण मज्जयता' (पार०२।१।१८) मन्त्रसे छूरेको सिरपर तीन बार घुमावे। 'अक्षिण्वन् परिवप' (पार० २ । १ । २०) इस बालकके सिरको कोई क्षति न पहुँचाते हुए इसके केशोंको मूँड़ दे। मन्त्रसे छूरा नाईको दे। नाई शिखा रखकर बालकके समस्त बालोंका मुण्डन कर दे। कटे बालोंको पूर्वकी तरह गोबरपर रखता जाय और उन्हें गोशाला या नदी, तालाब आदिके किनारे गाड़ दे। बालकके सिरपर दही-माखन लगाकर उसे स्नान कराके माङ्गलिक रङ्गवाला वस्त्र पहरावे। रोलीका तिलक उसे करे। देव-विसर्जन, आचार्य-दक्षिणा, ब्राह्मणभोजन करे। इस संस्कारमें सारे सिरका मुण्डन नहीं होना चाहिये, किंतु शिखा अवश्य रखनी चाहिये। शिखाका महत्त्व भिन्न निबन्धमें बताया जायगा। पाठक उसे अवश्य देखें।

९ कर्णवेध-संस्कार-विधि

बालकके तीसरे वा पाँचवें वर्षमें, शुक्लपक्ष, पुष्य, चित्रा, रेवती आदि नक्षत्र और शुभ वार एवं शुभ मुहूर्तमें कर्णवेध-संस्कार करे। उसमें—

'मम अस्य कुमारस्य आयुरभिवृद्धिव्यवहारसिद्धि-रोगाविशेषदूरीकरणद्वारा देवानां प्रीत्यर्थं कर्णवेधसंस्कारं करिष्ये।'

—यह संकल्प करे। पूर्वाभिमुख बालकके हाथमें खानेके लिये मिटाई देकर,

'भद्रं कर्णेभिः' (यजुः २५ । २१)

—इस मन्त्रसे दाहिने कानको अभिमन्त्रित करके,

'वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति' (यजुः २९ । ४०)

—मन्त्रसे बायें कानका अभिमन्त्रण करे। फिर योग्य सौभाग्यवती स्त्री या पुरुषद्वारा माङ्गलिक सूत्रसे युक्त सूईके द्वारा कानमें (पहले दाहिने कानमें) वेध करे। लड़कीका बिना मन्त्र (पहले बायें कानमें) वेध करे। नसका ध्यान रखे। इस संस्कारके करनेसे लड़का भविष्यमें नपुंसक नहीं होता, लड़की भविष्यत्में वन्ध्या नहीं होती। ब्राह्मण-भोजन और देवविसर्जन करे।

सूचना—स्त्री और शूद्रके नौ ये, दसवाँ विवाह—ये दस संस्कार बिना वेदमन्त्रोंके होते हैं। उनमें द्विजोंके गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्त वेद-मन्त्रोंसे होते हैं—क्योंकि भीतरका ज्ञान तो नहीं होता कि लड़का है या लड़की। लड़का भी सम्भव हो सकता है।

१० उपनयन एवं वेदारम्भ-संस्कारकी विधि

ज्यौतिषानुसार शुभ दिनमें—जब गुरु-शुक्रादि अस्त न हों—विवाहकी तरह मुहूर्त निकलवाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके बालकका क्रमशः ८, ११, १२ वें वर्षमें, तथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ऋतुमें उपनयन करे।

'अस्य कुमारस्य द्विजत्वसिद्धिद्वारा वेदाध्ययनाधिकार-सिद्ध्यर्थं देवानां प्रीतय उपनयनं करिष्ये।'

—ऐसा संकल्प करके पिता स्वस्तिवाचन-गणपत्यादि-पूजन करे। पहले 'उपनयनाङ्गविहितं वपनं करिष्ये' ऐसा संकल्प करके उसका मुण्डन करवावे। फिर उसे स्नान करवाकर अग्निस्थापन करे, पञ्च-भूसंस्कार आदि कर ले। ब्राह्मण 'आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो' (यजुः २२ । २२) मन्त्रसे कुमारको आशीर्वाद दें। आचार्य कुमारको 'ब्रह्मचर्यमागाम्' ब्रह्मचर्यको प्राप्त होऊँ। 'ब्रह्मचारी असानि' ब्रह्मचारी होऊँ'—यों कहलवावे। 'येनेन्द्राय' (पार० २ । २ । ७) मन्त्र-को बोलकर कौपीन आदि वस्त्रोंको उसे पहरावे। फिर 'इयं दुरुक्तं परिबाधमाना' (पार० २ । २ । ८) इस मन्त्रको पढ़कर उसे मौञ्जी, मौर्वी, सणतान्तवी मेखला वर्णानुसार पहरावे।

'आपो हि ष्ठा०' (यजुः ११ । ५०)

—इस मन्त्रसे उपवीतपर जल सींचे।

'ब्रह्म जज्ञानम्' (यजुः १३ । ३)

'इदं विष्णुः' (यजुः ५ । १५)

'नमस्ते रुद्र मन्यवे' (यजुः १६ । १)

—मन्त्रोंसे उसपर अँगूठा घुमावे । फिर उसके नौ तन्तुओंमें ओङ्कार, अग्नि, नाग, सोम, इन्द्र, प्रजापति, वायु, सूर्य, विश्वेदेव—इन नौ देवताओंको प्रतिष्ठापित करे । उस उपवीतको दोनों हाथोंमें रखकर गायत्रीमन्त्रको दस बार पढ़कर उससे अभिमन्त्रित करे । फिर—

'उपयामगृहीतोऽसि' (यजुः ८ । ७)

—मन्त्रसे यज्ञसूत्र सूर्यको दिखलाकर ब्रह्मचारीको दे दे और वह—

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' (पार० २ । २ । ११)

—मन्त्रसे दाहिने बाहुको उठाकर बायें कंधेपर पहने । फिर—

'युवा सुवासाः' (ऋ० ३ । ८ । ४)

—मन्त्रसे चीरेदार कपासका वस्त्र यज्ञोपवीतकी भाँति पहिने ।

फिर—

'मित्रस्य चक्षुः' (पार० २ । २ । ११)

—मन्त्रसे कृष्णमृग, रुरु (साँभर) मेषका यथावर्ण चर्म धारण करे ।

'यो मे दण्डः परापतद्' (पार० २ । २ । १२)

पलाशादिका यथावर्ण दण्ड उठावे । फिर आचार्य—

'आपो हि ष्ठा' (यजुः ३६ । १४)

—मन्त्रसे माणवककी अञ्जलिको अपनी अञ्जलिके जलसे पूर्ण करे ।

'तच्चक्षुः' (यजुः ३६ । २४)

—मन्त्रसे उसे सूर्यदर्शन करावे ।

'मम व्रते ते' (पार० २ । २ । १६)

—मन्त्रसे आचार्य माणवकका हृदयालम्भन करे । फिर कुमारका साङ्गुष्ठ दक्षिण हस्त पकड़कर आचार्य उससे पूछे—

'को नामासि' ।

'तुम्हारा क्या नाम है ?'

वह कहे—

'असुकशर्माहं भोः' ।

'भगवन् ! मैं अमुक शर्मा हूँ ।'

'कस्य ब्रह्मचारी असि'

'किसके ब्रह्मचारी हो ?'

'भवतः' ।

'आपका ।'

'इन्द्रस्य ब्रह्मचारी असि' (पार० २ । २ । १९)

'इन्द्रके ब्रह्मचारी हो ।'

'प्रजापतये त्वा' (पार० २ । २ । २०)

—मन्त्रोंसे कुमारको पूर्व आदि दिशाओंमें उपस्थान करावे । फिर अग्निकार्य प्रारम्भ करे । आचार्य ब्रह्मचारीको शिक्षा दे—

'ब्रह्मचारी असि, अपोऽशान, कर्म कुरु, मा दिवा सुषुप्थाः, वाचं यच्छ, समिधमाधेहि,' इत्यादि ।

'ब्रह्मचारी हो । आचमन करो । कर्म करो । दिनमें न सोओ । वाणीपर संयम रखो । समिधा लाकर रखो ।'

फिर ब्राह्मण ब्रह्मचारीको गायत्री सावित्री—

'ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम्' (यजुः ३ । ३५)

क्षत्रियको—

'विश्वा रूपाणि' (यजुः १२ । ३)

—यह त्रिष्टुप् सावित्री, वैश्यको—

'ताᳪ सवितुः' (१७ । ७४)

—जगती-सावित्री मन्त्र प्रदान करे। तीनोंका सविता देवता है और बुद्धिकी प्रार्थना है ।

फिर ब्रह्मचारी—

'अग्ने ! सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु' (पार० २ । ४ । २)

—मन्त्रोंसे अग्निको प्रदीप्त करे ।

'अग्नये समिधमाहार्षं' (२ । ४ । ३)

'अग्निके लिये समिधा लाया ।'

—मन्त्रसे तीन समिधाएँ डाले । फिर हाथको तपाकर—

'तनूपा अग्नेऽसि' (२ । ४ । ७)

'अग्निदेव ! तुम शरीरकी रक्षा करनेवाले हो ··· ।'

—मन्त्रसे मुखको स्पर्श करे ।

'अङ्गानि च म आप्यायन्ताम्' (२ । ४ । ९)

'मेरे अङ्ग भी पुष्ट हों ।'

—मन्त्रसे अङ्ग-स्पर्श करे ।

(यजुः ३ । ६२)

'त्र्यायुषं जमदग्नेः'

—से यज्ञभस्मको माथे आदिमें लगावे।

पश्चात् आचार्यको नाम लेकर अभिवादन करे; आचार्य उसे आशीर्वाद दे। फिर माता वा भगिनीसे भिक्षा माँगे—

(ब्राह्मण)

'भवति ! भिक्षां देहि'

'पूजनीया माँ ! भिक्षा दो।'

(क्षत्रिय)

'भिक्षां भवति देहि'

(वैश्य)

भिक्षां देहि भवति'

भिक्षा लेकर 'स्वस्ति' कहे। भिक्षा गुरुको दे। गुरु—

'भैक्षं भुङ्क्ष्व'

'भिक्षान्न भोजन करो।'

—कहकर उसे अपने कार्यमें लगानेको कहे। उस दिनसे भूशय्या आदि व्रत रखे।

वेदारम्भ

वहीं दूसरी वेदी वेदारम्भकी बनावे। 'अमुकवेदव्रतादेशं करिष्ये' यह संकल्प करे। अग्निस्थापन करे। यदि ऋग्वेद-संहिताका आरम्भ करना हो तो आज्याहुतियोंके बाद 'पृथिव्यै स्वाहा, अग्नये स्वाहा' कहकर आहुतियाँ दे। अथवा यजुर्वेद-संहिताका आरम्भ करना हो तो 'अन्तरिक्षाय स्वाहा, वायवे स्वाहा' इन मन्त्रोंसे आहुति दे। यदि सामवेदसंहिताका आरम्भ करना हो तो 'दिवे स्वाहा, सूर्याय स्वाहा' मन्त्रसे आहुति दे। यदि अथर्ववेदसंहिताका आरम्भ करना हो तो 'दिग्भ्यः स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा'—से आहुतियाँ दे। फिर 'ब्रह्मणे स्वाहा, छन्दोभ्यः स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, देवेभ्यः स्वाहा, ऋषिभ्यः स्वाहा, श्रद्धायै स्वाहा, मेधायै स्वाहा, सदसस्पतये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा' से ९ आहुतियाँ दे। फिर महाव्याहृतियोंसे स्विष्टकृत्‌तक आहुति दे। फिर ऋग्वेद-संहिताका आरम्भ करना हो तो 'अग्निमीळे पुरोहितम्' यह मन्त्र पढ़े। यजुः-संहिताका करना हो तो 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' मन्त्र पढ़े। सामसंहिताका करना हो तो 'अग्न आ याहि वीतये' मन्त्र बोले। अथर्व-संहिताका आरम्भ करना हो तो पैप्पलाद-संहिता होनेपर 'शन्नो देवीरभिष्टये',शौनक-संहिता होनेपर 'ये त्रिषप्ता परियन्ति' मन्त्र पढ़े। फिर पूर्णाहुति देकर ललाटादिमें भस्मयोजन करे, देवविसर्जन और ब्राह्मण-भोजन करे। यह संस्कार आचार्यकुलमें करना पड़ता है, वहीं समावर्तनतक रहना पड़ता है। ब्रह्मचर्यके नियम पूर्ण करने पड़ते हैं। जो देखे कि मैं इन नियमोंको पूर्ण नहीं कर सकता, उसका उसी दिन समावर्तन-संस्कार भी कर दिया जाता है।

११ केशान्त-संस्कार-विधि

आचार्य अपने दाहिने ब्रह्मचारीको बैठाकर 'अस्य ब्रह्मचारिणः केशान्तसंस्कारं करिष्ये' ऐसा संकल्प करे। वेदी बनाकर होम करे। शीतल जलको—

(पार० २ । १ । ६)

'उष्णेन वाय'

—इस मन्त्रसे गर्म जलसे मिलावे। केशोंके तीन भाग करके एक भागको—

(पार० २ । १ । ९)

'सवित्रा प्रसूता'

—मन्त्रसे गीला करके कुशपत्रसे युक्त करे। साहीके काँटेसे बालोंको अलग-अलग करके—

(यजुः ५ । ४२)

'ओषधे त्रायस्व'

—मन्त्र बोले।

(यजुः ३ । ६३)

'शिवो नामासि'

—मन्त्रसे छूरेको लेकर—

(३ । ६३)

'निवर्तयाम्यायुषे'

—मन्त्रसे जूड़से लगावे।

(पार० २ । १ । ११)

'येनावपत्'

—मन्त्रसे जूरिकाको काटे। कटे बालोंको बैलके गोबरपर रखे। इस प्रकार शेष जूड़ोंका पूर्ववत् छेदन करे।

(यजुः ३ । ६२)

'त्र्यायुषं जमदग्नेः'

(पार० २ । १ । १६)

'येन भूरिश्चरा'

—मन्त्र पढ़े। फिर सारे सिरको धोकर केशोंके ऊपर छूरेको घुमावे।

(पार० २ । १ । १८)

'यत् क्षुरेण'

—मन्त्र पढ़े।

(पार० २ । १ । २०)

'अक्षिण्वन् परिवप'

—मन्त्रसे छूरा नाईको दे। नाई चोटीको छोड़कर शेष बाल एवं दाढ़ी मूँछ आदिका वपन करे। पूर्णाहुति, भस्म-तिलक करके बालोंको तालाबके किनारे गाड़ दे। देवविसर्जन करके ब्राह्मण-भोजन करे।

१२ समावर्तन-संस्कार-विधि

आचार्य शुभासनपर बैठकर आचमन-प्राणायामादि करके—

'अस्य अमुकशर्मणो ब्रह्मचारिणो गृहाश्रमप्राप्तिद्वारा देवानां प्रीत्यर्थं समावर्तनसंस्कारं करिष्ये, तदङ्गत्वेन गणपति-नवग्रहादीनां पूजनादिकं च करिष्ये।'

'यह संकल्प करे। ब्रह्मचारी कहे—

'भो आचार्य ! अहं स्नास्यामि'

आचार्य कहे—'स्नाहि।' फिर वेदी बनाकर पञ्चभू-संस्कारपूर्वक अग्निस्थापन करके, ब्रह्मवरणादि, कुशकण्डिका आदि करके आज्यभागादि हवन करे। यदि ऋग्वेदसंहिताको पढ़ा हो तो—

'पृथिव्यै स्वाहा, अग्नये स्वाहा'

—ये आहुतियाँ करके—

'ब्रह्मणे, छन्दोभ्यः, प्रजापतये, देवेभ्यः, ऋषिभ्यः, श्रद्धायै, मेधायै, सदसस्पतये, अनुमतये स्वाहा'—

—ये नौ आहुतियाँ दे। यदि यजुर्वेदसंहिता समाप्त की हो—तो 'अन्तरिक्षाय, वायवे' ये दो आहुतियाँ देकर पूर्वोक्त नौ आहुतियाँ दे। यदि सामवेदसंहिता समाप्त की हो—तो 'दिवे, सूर्याय' ये दो आहुतियाँ देकर पूर्वकी नौ आहुतियाँ दे। यदि अथर्ववेदसंहिताको समाप्त करके समावर्तन कर रहा हो तो—

'दिग्भ्यः, चन्द्रमसे'

—ये आहुतियाँ देकर पूर्वोक्त 'ब्रह्मणे' आदि नौ आहुतियाँ दे। 'स्वाहा इदं न मम' इत्यादि प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें जोड़े। घृतशेष प्रोक्षणी-पात्रमें छोड़े। स्विष्टकृत् आहुतितक होम करके संस्रव-प्राशन करे। ब्रह्माको पूर्णपात्र दे। प्रणीतापात्रके जलसे मार्जन और फिर उसका न्युब्जीकरण करे। स्तरण की हुई कुशाओंको घृताक्त करके—

'देवा गातु' (यजुः ८। २१)

—मन्त्रसे उनका होम करे। फिर—

'अग्ने ! सुश्रवः' (पार० २। ४। २)

—मन्त्रसे—

'अग्नये समिधमाहार्षं' (२। ४। ३)

—इत्यादि मन्त्रसे समिदाधान करके—

'तनूपा अग्नेऽसि' (२। ४। ७)

—मन्त्रोंसे अग्निहोत्रकी अग्निसे तप्त हस्तको मुख आदि अङ्गोंमें स्पर्श कराके—

'अङ्गानि मे आप्यायन्ताम्' (२। ४। ९)

—मन्त्रसे अङ्ग, मुख, नासिका, आँख, कान, बाहुका स्पर्श करे। ललाट आदिमें यज्ञभस्मयोजन करे। फिर आचार्यका अभिवादन करके आचार्यसे आशीर्वाद ले।

फिर पहलेसे भरकर रखे हुए आठ घड़ोंमें एकसे—

'ये अप्स्वन्तरग्नयः' (पार० २। ६। १०)

—मन्त्रसे जल लेकर

'तेन मामभिषिञ्चामि' (२। ६। ११)

—मन्त्रसे अपनेपर आम्रपल्लवसे सींचे। फिर दूसरे घटसे—

'येन श्रियं' (२। ६। १२)

—मन्त्रसे, तृतीयसे

'आपो हि ष्ठा०' (यजुः ११। ५०)

—मन्त्रसे, चतुर्थ घटसे

'यो वः शिवतमो' (यजुः ११। ५१)

—मन्त्रसे, पञ्चमसे

'तस्मा अरं गमाम वो' (११। ५२)

—मन्त्रसे, शेष तीन घड़ोंके जलको पूर्ववत् लेकर तूष्णीं अपनेपर सेचन करे। अनन्तर—

'उदुत्तमं' (ऋ० १। २४। १५)

—मन्त्रसे ब्रह्मचर्यके आरम्भसे बाँधी हुई मेखलाको उतार दे। दण्ड और मृगचर्मको बिना ही मन्त्रके उतारकर अन्य वस्त्र पहने।

'उद्यन् भ्राजभृष्णु' (पार० २। ६। १६)

—मन्त्रसे सूर्योपस्थान करके दधिप्राशन करके जटा, लोम, नख आदिका छेदन करावे।

'अन्नाद्याय' (पार० २। ६। १०)

—मन्त्रसे उदुम्बरकी लकड़ीसे दन्तधावन करे। उबटन लगावे। स्नान करके—

'प्राणापानौ' (पार० २। ६। १८)

—मन्त्रसे केसर, चन्दन आदि लगावे। दक्षिणाभिमुख, मुख करके अपसव्य होकर—

'पितरः शुन्धध्वं' (पार० २। ६। १९)

—मन्त्रसे पितृतर्पण करे। फिर चन्दन लगाकर—

'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां' (२। ६। १९)

—मन्त्र पढ़े। तदनन्तर—

'परिधास्यै यशो धास्यै' (२। ६। १८)

—मन्त्रसे कोरा वस्त्र पहने। फिर—

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' (२। २। ११)

—मन्त्रसे दूसरा यज्ञोपवीत धारण करे। फिर— (२।६।२१)

'यशसा मा'

—मन्त्रसे दुपट्टा पहने। (२।६।२३)

'या आहरत्'

—मन्त्रसे माला लेकर (२।६।२४)

'यद् यशो'

—मन्त्रसे कण्ठमें पहने। फिर— (ऋ० ३।८।४)

'युवा सुवासाः'

—मन्त्रसे पगड़ी पहने। (पार० २।६।२६)

'अलङ्करणमसि'

—मन्त्रसे सुवर्णकुण्डल पहने। (२।६।२७)

'वृत्रस्यासि'

—मन्त्रसे अञ्जन लगावे। (२।६।२८)

'रोचिष्णुरसि'

—मन्त्रसे शीशा देखे। (२।६।२९)

'बृहस्पतेश्छदिरसि'

—मन्त्रसे छत्री धारण करे। (२।६।३०)

'प्रतिष्ठे स्थो'

—मन्त्रसे जूता पहने। (२।६।३१)

'विश्वाभ्यो'

—मन्त्रसे बाँसका डंडा उठावे। फिर आचार्य स्नातकको शिक्षाएँ दे। स्नातक आचार्य-दक्षिणा दे।

(यजुः ७।२४)

'मूर्धानं'

—मन्त्रसे पूर्णाहुति देकर यज्ञ-भस्म लगावे। देवविसर्जन और ब्राह्मणभोजनादि करे। फिर आचार्यकुलसे अपने घर आ जाय।

पगडंडी

[कहानी]

(लेखक—श्रीमोरेश्वरजी तपस्वी 'अथक')

'आखिर बात क्या है? नौ बजने जा रहे हैं और अभी आप सब्जीतक लानेके लिये नहीं गये हैं। तब तो स्कूलके समयतक भोजन बननेसे रहा!'

'आज हम सब्जी लाने नहीं जायँगे।'

'क्यों? अजी आज तो घरमें दालका दाना भी नहीं है और इसीलिये तो कल आप कह रहे थे न कि सुबह सब्जी ला दूँगा? और अब आप ही ....।'

'वह सब कुछ मुझे भी याद है, लेकिन आज मेरे लिये यह सम्भव नहीं होगा, यह जून तो 'तुम किसी प्रकार निभा लो।'

'निभा लूँगी, लेकिन कल तो आप सब्जी ला देंगे न?'

'कलकी कल देखी जायगी, आज ही उसकी क्या पड़ी है?'

अपनी धर्मपत्नीके साथ इस प्रकारकी दो बातें कर अशोक पीढ़ेपर जा बैठा। उसका जीवन रटी-पिटी चक्कीमेंसे गुजर रहा था, ठीक घड़ीकी सूइयोंकी भाँति। सेकेंडकी सूईकी भाँति उसका वेतन तेजीके साथ कमीका एक चक्कर घूम जाता और उसकी गतिके साथ योग्य अनुपात रखकर वह स्वयं मिनटकी सूईकी भाँति तथा उसकी पत्नी शान्ता घंटा-सूईकी भाँति कालक्रमण किया करती थी। फिर भी अशोक-ने अपने पारिवारिक जीवनकी घड़ीको सामान्य आदमीके 'स्टैंडर्ड टाइम' से कभी पीछे नहीं रहने दिया था। खूब चाहकर भी वह उसे उसके आगे ले जानेमें असमर्थ था।

बिल्कुल रटी-पिटी चक्कीका जीवन। वेतन प्राप्त होते ही माहभरकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना और हाथ-खर्चके लिये लानेवाले पैसोंके अतिरिक्त साग-सब्जीके लिये डेढ़-दो रुपये निकाल कर रखना उसका नित्यका क्रम हो गया था। यही कारण था कि बैंकका द्वार देखनेकी बारी उसपर कभी नहीं आती थी। यदि कभी किसी अवसरपर बैंकमें जाना उसके लिये अनिवार्य हो जाता था तो वह पैसे रखनेके लिये नहीं, वरं पिताजीद्वारा अर्जित धनराशिमेंसे दूसरोंके लिये कुछ रकम निकालनेके लिये ही होता था। जी हाँ, अशोकके पिता उसके लिये केवल ५००) रुपये छोड़ गये थे। किंतु अशोककी धारणा थी कि चूँकि यह पैसा उसका अपना कमाया हुआ नहीं है, अतः यही उचित होगा कि उसका विनियोग यथार्थमें आवश्यकताके मारे लोगोंके लिये किया जाय और उसीसे पिताजीकी आत्माको शान्ति प्राप्त हो सकेगी। उसके इसी परोपकारी स्वभावके कारण 'अशोक मास्टर'

केवल स्कूलमें ही नहीं वरं सारे गाँवमें आदरके पात्र हो गये थे। लेकिन उसकी पत्नीकी समझमें अशोकके इस व्यवहार-का अर्थ नहीं आ पाता था। वह कह देती थी, 'पसीना बहाकर आपके पिताजीने जो धन इकट्ठा कर रक्खा है, वह आप यों ही बाँटते फिरियेगा। आप तो दानी कर्णके ही दूसरे अवतार ठहरे। दोनों हाथों पैसे लुटाते जा रहे हैं! लेकिन जब आपके हाथ-पाँव थक जायँगे, तब आपके बाल-बच्चोंके लिये क्या कोई फूटी कौड़ी भी रखें छोड़ेगा?' किंतु हर बार उसका यह कहना सुनकर ईसामसीहकी तरह अशोक मंद-मंद मुसकरा देता, मानो कहना चाहता हो—'भगवन्! इसे क्षमा करना।'

आजकी जून निभानेको कहा गया था इसलिये शान्ता-ने चावल उबाले थे और मट्ठा बनाया था। लेकिन वह मट्ठा-भात भी अशोकने बड़े चावके साथ खाया। बस, अशोकके व्यवहारकी यही एक बात थी जो हर बार शान्ताको झुकनेके लिये बाध्य करती थी। इस बातपर वह गर्वका अनुभव करती थी कि अपने नामके सदृश ही अशोक किसी भी परिस्थितिमें अ-शोक ही रहता है। इसी स्वभावानुसार आज शान्ताद्वारा परोसा गया मट्ठा-भात खाकर उसने खुशी-खुशी स्कूलकी राह ली। ठीक साढ़े दस बजे जब वह स्कूल जानेके लिये निकला, तब प्रतिदिनके अनुसार आज भी वह 'शामको जल्दी ही लौट आइयेगा' कहनेके लिये द्वारके पास आयी थी। किंतु 'नत्थूजीका लड़का कुछ अधिक बीमार हो गया है। सोचता हूँ कि शामको जरा उधर हो आऊँ' इस अशोकके वाक्यसे वह मन मारकर रह गयी। फिर भी उसने कहा—'आते समय नन्हेके लिये एक खिलौना लेते आइयेगा।' 'ठीक है'—कहकर अशोक चल पड़ा। पौने ग्यारह हो गये थे। दसवीं कक्षापर उसका पहला ही पाठ था। अतः समय बचानेके लिये अशोकने कल्लूके खेतमेंसे होती हुई जानेवाली पगडंडीसे जानेका तय किया।

ज्वारकी खड़ी फसलमेंसे होता हुआ लंबी-लंबी डगें भरता अशोक बढ़ा जा रहा था। 'पाय लागी गुरुजी, पाय लागी' झुककर जमीनको स्पर्श करते हुए कल्लूने प्रणाम किया उसे और कहा—'आसों कालीमाता बड़ी परसन्न है गुरुजी, ल्यालय फसल आयी है अबकी। संजाको इधरसे ही आइयो और हरे-हरे भुट्टा लेते जइयो नन्हे बाबाके लिये।' 'अच्छा कल्लू, बहुत अच्छा। मैं जरूर आऊँगा।' कहकर अशोक आगेको बढ़ा। आज प्रातः जब वह जूतोंको पालिश करानेके लिये निकला था, तबका किस्सा उसकी आँखोंके सम्मुख खड़ा हो गया.....।

हमेशाके स्थानपर जब वह चमारको ढूँढ़ने लगा था तब यकायक 'आप अपना जूता थोड़ी देरके लिये मेरे हवाले कर दीजिये, मैं उसपर बहुत बढ़िया पालिश चढ़ा दूँगा—सिर्फ एक आनेमें; दीजिये न साहिब जूता!' इन वाक्योंसे वह चौंक गया था। उसने देखा, बोलनेवाला व्यक्ति निश्चय ही बूट-पालिश करनेवालोंमेंसे न था। उसके चेहरे-मोहरेपर सुसंस्कृतता-का और सुविद्याका तेज चमक रहा था। वह 'छोकरा' भी न था। अशोक चकरा गया—'तुम''आप''आपका तो यह व्यवसाय नहीं है न?'

'लेकिन आपको पालिश पसंद आये तो ही आप पैसे दें। फिर तो आपको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, ऐसा मेरा खयाल है, क्यों न?' उसकी भाषा भी बिल्कुल सुलझी एवं अस्खलित थी। पता नहीं, किस अदृश्य प्रेरणासे, किंतु अशोकने अपने जूते उसके हवाले कर दिये। पालिश करनेवाले उस युवकके हाथोंमें यद्यपि अभ्यस्त हाथोंकी सफाई नहीं थी, फिर भी अपने हाथों उत्कृष्ट पालिश हो, इसके लिये वह जो दक्षता दिखा रहा था, वह तो व्यावसायिक मोचीको भी लज्जा देती। अशोकसे प्रेम और सान्त्वनाके दो शब्द सुनते ही उसका मौन टूट गया। वह कहने लगा—

'महाशय! सौतेले भाइयोंके व्यवहारके बारेमें तो आपने बहुत-कुछ सुन रक्खा होगा। किंतु मुझसे तो मेरे सगे भाइयोंने ही दगाबाजी की। मैं बहुत उच्च कुलका हूँ और इसीलिये कुलकी मान-मर्यादाकी रक्षा करनेकी इच्छाके कारण मैं अपने कुलका नाम नहीं बताता। मैं बी. ए. पास हूँ, लेकिन गत चार वर्षमें बेकारीकी महाभीषण विभीषिकाओं-में मैं इतनी बुरी तरहसे झुलस गया हूँ कि अब कोई भी प्रामाणिक व्यवसाय करनेमें मुझे कोई लज्जा मालूम नहीं होती। घरमें मेरी धर्मपत्नीको रोटीके लाले तो पड़ते ही हैं, चिथड़ोंसे पाले भी पड़ते हैं। बेचारी दूसरोंके यहाँ मजदूरी कर जैसे-तैसे बसर कर रही है। फिर भी मैं यही कहूँगा दुनिया सारी खराब ही नहीं है। उसमें कुछ धर्मात्मा भी बसते हैं। उन्हींमेंसे एकने मेरी सहायता कर दी है। अगले बुधवारसे मुझे एक सरकारी नौकरी मिल जायगी। किंतु आज शनिवार है। अभी चार दिन और निकालने हैं। मेरे पास केवल आठ आने बचे थे। उसीसे यह बूटपालिशका सामान ले आया हूँ और इस आशासे कि दिनभरमें बारह

आने भी मिल गये तो बहुत होगा, यहाँ इस चौराहे-पर खड़ा हूँ। मैं आत्माभिमानी हूँ और इसीलिये भीख नहीं माँग सकता। लेकिन नौकरीपर जाना प्रारम्भ कर कुछ एडवान्स रकम प्राप्त करनेतक तो इस पगडंडीपरसे ही चलना पड़ेगा।'

'पगडंडी ? वह कैसे ?'

'*महाशय ! यह पगडंडी नहीं तो और क्या है ?* जब मनुष्यके लिये उसके निश्चित मुकामपर पहुँचनेके सारे बड़े मार्ग बंद हो जाया करते हैं, तब पगडंडी ही तो उसका एकमात्र सहारा होती है।'

पालिश हो चुका था। अशोकने एक क्षणभर विचार किया। १०) रुपयेका दूध, ३०) रुपये मकानका किराया, ८) रुपये राशन, चाय, चीनी और पंसारी मालके १५) रुपये—ऐसे सभी बिल चुकाकर खुदरा खर्च एवं साग-सब्जीके लिये उसके पास केवल ७) रुपये बचे थे। कल नत्थूजी-के लड़केके लिये लाये गये डाक्टरकी विजिट फीसके ३) रुपये इसीमेंसे दिये गये थे। सातवीं कक्षाके लछमनकी फीसके दो रुपये भी इसीमेंसे उसे आज ही भरने थे। आज यदि वह फीस जमा न की जायगी तो लछमनका नाम स्कूलसे निकाल दिया जायगा। मतलब जेबमें सिर्फ दो रुपये थे और अभी महीनेके शेष पंद्रह दिन जाने बाकी थे।

'कहिये साहब, पालिश आपको पसंद आयी न ?' इस प्रश्नसे अशोककी तन्द्रा टूटी।

'जी हाँ, जी हाँ ! पालिश तो वाकई आपने बहुत ही सुन्दर बनायी है। लीजिये अपने पैसे।' कहकर अशोकने अपनी जेबका सर्वस्व दो रुपयेका वह नोट उस युवकके हाथमें दे दिया।

'जी, मेरे पास रेजगारी तो नहीं है।'

'कोई बात नहीं। फुरसतसे ला दीजियेगा।'

'लेकिन कहाँपर ला दूँ ?'

'भारत हाई स्कूलमें। मैं वहाँ शिक्षक हूँ……।'

और स्कूलकी पहली घंटीके समयपर अशोकने स्कूलमें प्रवेश किया। उसने लछमनको दो रुपये दिये और दसवीं कक्षामें प्रवेशकर पूछा—'*आज हमें कौन-सा अध्याय लेना है ?*' 'पगडंडी' किसीने बताया। अशोक मन-ही-मन बुद-बुदाया, 'अजीब संयोगकी बात है।' और उसने पढ़ाना प्रारम्भ किया। पढ़ाते-पढ़ाते अशोक पाठके साथ एकरूप हो गया। छात्रोंको भी खूब रस लेनेकी इच्छा हुई। वे भी तल्लीन हो गये। अशोक पढ़ा रहा था—

'बच्चो ! पगडंडी गरीबोंकी लाडली हुआ करती है। उन लोगोंको तो जिन्हें सारे काम अपने ही पगपर खड़े होकर करने होते हैं, पगडंडी बहुत बड़ा सहारा प्रतीत होती है। और बच्चो ! समयाभावके कारण जब बड़े-बड़े रास्ते और राजमार्ग हमें हमारे उद्देश्यतक पहुँचानेमें असमर्थ हो जाते हैं, तब पगडंडीसे जाकर हम अपने गन्तव्यतक आसानीसे पहुँच सकते हैं। पगडंडी हमेशा ही पासका रास्ता हुआ करती है। लेकिन खयाल रखना, पगडंडीका रास्ता हमेशा ही मोड़-पर-मोड़ लेता निर्जन प्रदेशमेंसे होकर ही जाया करता है। उस-पर चलनेवालोंको ऊँचे-ऊँचे भवनों और महलों, आकर्षक दूकानों, मनमोहक बाजारोंकी जगमगाहटसे दूर रहना पड़ता है। राह चलते समय गपशप करनेके लिये एकाध मित्र भी अपने साथ-साथ नहीं चल सकता। अपने साथ चलनेवाले या तो अपने पीछे-पीछे आयँगे या अपने आगे चलेंगे। पगडंडीका मार्गक्रमण ऐसा एकाकी हुआ करता है। राजमार्ग पथिकका ध्यान विचलित करते हैं, किंतु पगडंडी उनके ध्यानको सदैव गन्तव्यपर ही केन्द्रित रखती है। लेकिन ऐसी पगडंडी बनानेके लिये बहुत कष्ट पड़ते हैं। जहाँ राह न हो, वहाँ राह निर्माण करना हमेशा ही कठिन होता है। लोग हँसी उड़ाते हैं, उपहास करते हैं, झक्की कहा करते हैं और अन्ततः तो पागलतक कहनेपर उतारू हो जाते हैं। फिर भी गन्तव्यकी पहचान रखनेवाले और वहाँतक पहुँचनेका दुर्दम्य आत्म-विश्वास रखनेवाले ही नयी राह निर्माण कर जाते हैं। वे काँटोंको कुचल देते हैं, कीचड़को रौंदते हैं, ठोकरें खाते हैं, किंतु कठिनाईके समय दिशाभ्रष्ट व्यक्ति उन्हींके पदचिह्नोंपर चलते आते हैं और वहाँ पगडंडी बन जाती है। हमारे स्कूलमें आनेके लिये भी एक पगडंडी है, किंतु हम नहीं जानते कि उसका निर्माता कौन है। पगडंडीके निर्माताका जीवन तो पगडंडीकी ही भाँति लोकोपयोगी होता है, किंतु उसके जीवनकी प्रेरणा पगडंडी-के निर्माताके नामके समान अज्ञात ही रहती है। और बच्चो ! कई बार तो पगडंडी-निर्माण करनेवालोंको मार्गमें आने-वाली बाधाओंसे संघर्ष करते-करते बीचहीमें समाप्त हो जाना पड़ता है। ऐसी हालतमें किसी औरको आगे आकर उस निर्माताका अधूरा काम पूरा करना होता है……।'

अशोकका भाषण जारी ही था कि बंसीलाल नत्थू बनिया नामक दसवीं कक्षाके छात्रकी मृत्यु हो जानेके कारण स्कूलको छुट्टी दी जानेकी सूचना प्राप्त हुई। नत्थूजीका लड़का आखिर चल बसा था। उसकी शवयात्रामें चले जानेके कारण ही अशोक उस दिन शामको देरीसे घर पहुँचा। घर पहुँचते ही नन्हा दौड़ता ही आया—'दादा, मेले वात्ते आप किलोना लाये ?' उसने अशोकसे पूछा। नन्हे अपनी अँगुली पकड़ाकर शान्ताको वहाँ खींच लाया था और शान्ताकी आँखोंमें भी यही प्रश्न नाच रहा था। नन्हेको गोदमें उठाकर अशोकने कहा—'बेटा! अपने यहाँ वह बंसीलाल आता था न ?' 'बंछी ?' नन्हेने शायद बंसीलालको अपनी ओरसे दिये नामका उच्चारण करते पूछा। 'हाँ, हाँ वही बंछी।' तो सुनो बेटा, तुम्हारा वह बंछी भगवान्के घर चला गया आज, हम उसे पहुँचाने ही तो गये थे।'

'अच्छा, अबी दिवालीके दिन मैं माँके साथ मामाजी-के घल गया था तब आप हमें पौचानेके वात्ते आये थे ठेसन, वैसे ?' हाँफते-हाँफते नन्हा एक बड़ा-सा वाक्य कह गया।

'ना, ना, नन्हे बेटा! लेकिन आज हम तुम्हारे लिये खिलौना नहीं लाये।'

'अच्छा तो क्या कल ला देंगे ?'

'अच्छा, हमें यह तो बताओ कि तुमने भोजन किया या नहीं ?' यों ही कुछ कहकर अशोकने उस नन्ही-सी जानका ध्यान किसी और बातकी ओर लगा दिया। गर्दनको नापसंदगी सूचक झटका देकर शान्ता अंदरकी ओर चली गयी। अशोकने नन्हेको सुला दिया और वह भोजनके लिये आ बैठा। इस जून भी शान्ताने चावल ही चढ़ाये थे, किंतु वे कुछ खिचड़ीनुमा थे। अशोक चुपचाप भोजन कर रहा था। आखिर शान्तासे न रहा गया। वह बोली—

'लोकप्रियताके इस गुम्मजकी नींवमें यदि अपने ही कच्चे-बच्चोंकी अनास्था हो, तो किस कामका है यह गुम्मज ?'

'नन्हेकी क्या अनास्था हुई मालूम तो हो।'

'खिलौनेके लिये सुबह वह कितना रोया, जानते हैं आप ?'

'लेकिन क्या उसे समझाया नहीं जा सकता ?'

'अभीसे ही आप बच्चेको समझदारीके पाठ पढ़ाइयेगा।'

'पढ़ाने ही पड़ेंगे।'

'लेकिन मैं पूछती हूँ कि आप खिलौना ले आते तो क्या बिगड़ जाता ?'

'बिगड़ता तो कुछ भी नहीं, लेकिन उसके बिना कुछ अड़ता भी तो नहीं।'

'लेकिन यह कहाँका न्याय है कि पैसे होकर भी बच्चे-के लिये चीज न लायी जाय ?'

'तो क्या तुम सचमुच यह समझ रही हो कि पासमें पैसे होनेपर भी मैं खिलौना नहीं लाया ?' इस प्रश्नके साथ अशोककी आवाजमें प्रकट हुए कम्पनसे शान्ता कुछ सहम गयी! विषयान्तर करनेके लिये उसने कहा—'अच्छा, कलके लिये सब्जी तो लानेवाले हैं न आप ?'

'जी नहीं, अब इस माहमें हमलोग सब्जी भी नहीं खा सकेंगे।'

'बहुत खूब, घरमें दालका तो दाना भी नहीं और अब उसपर यह घोषणा कि सब्जी भी न खायी जाय, क्यों! ऐसा क्यों ?'

इसपर अशोकने बंसीलालके लिये बुलाये हुए डाक्टर-की फीस और लछमनकी फीस देने तथा प्रातःके उस बूटपालिशवाले अजनबीको दो रुपये दे डालनेका सारा किस्सा कह सुनाया। उसने कहा—'शान्ता! राजमार्गकी राह चलनेवालोंकी दिक्कतोंसे दुनिया परिचित रहती है, किंतु पगडंडीमें चलनेवालोंके दुखड़े वे ही लोग जान सकते हैं, जिन्हें कभी पगडंडीपरसे चलना पड़ा होगा। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि उन लोगोंकी कुछ सहायता करता रहूँ, जिन्हें सिवा पगडंडीपर चलनेके अन्य कोई चारा ही न रहा हो और तुम यह भी ध्यानमें रक्खो कि पगडंडीके पथिकोंकी सहायता करना चाहनेवालोंको भी पगडंडीपरसे ही चलना पड़ेगा। उनको राजमार्गसे चलनेके सपने नहीं देखने चाहिये। जब-जब तुम मेरे आचरणका अर्थ न समझ सको तब-तब तुम सदैव याद रक्खो कि हमारे जीवनकी राह पगडंडीकी ही है, राजमार्गकी नहीं।'

'लेकिन यह तो हुई सिद्धान्तकी बातें; कल पेटमें क्या डाला जाय, इस व्यवहारकी भी तो कुछ कहिये।'

'सिद्धान्तोंके अनुसार ही व्यवहार होना चाहिये व्यवहारके अनुरूप सिद्धान्तका नाम भी निकाला जाय।'

'अजी, मैं और आप तो किसी तरह रूखी-सूखी खा
'अजी, मैं और आप तो किसी तरह रूखी-सूखी खा

'अजी, मैं और आप तो किसी तरह रूखी-सूखी खा लेंगे, लेकिन बेचारे नन्हेने क्या पाप किया है ?'

हम दोनोंकी चाय बंद कर उसके लिये दूध-रोटीकी व्यवस्था आसानीसे की जा सकती है। और अब केवल पंद्रह ही दिन तो निकालने हैं हमें। तबतक तुम याद कर देखो, शायद किसीको कुछ उधार-वधार दे दिया हो तुमने। शान्ताको एकदम याद आया। उसने पड़ोसिनको एक कटोरी बेसन दे रक्खा था।

फिर भी क्या बनना था ? कटोरीभर बेसनपर दो दिन बीत गये। चाय बंद हो गयी। अशोकने नन्हेको समझा दिया था। रूखा-सूखा करते शान्ताने आठ दिन निकाले। अब तो घरमें मोटे अनाजका भी कणतक न रहा। दोनोंके सामने फिरसे बड़ा भारी प्रश्न-चिह्न मुँह बाये खड़ा था। उसे सुलझाते-सुलझाते शान्ता तो रो देती। अशोक भी चिन्तामग्न था। इतनेमें·······

सिरपर बोझा लिये कल्लू जा पहुँचा—'पाय लागी गुरुजी। ज्वारके हरे-भुट्टे लेने नहीं आये आप। लैयो मैं ही दने आ गया, और गुरुजी ! हाथ जोड़ता हूँ, पैरों पड़ता हूँ, माफ करना जी।'

'भाई कल्लू, बात क्या है ? तुम ऐसे गिड़गिड़ा क्यों रहे हो ?'

'गुरुजी ! आप देवता हैं, हमारे बेटेके पढ़ावनका रुपिया हम अबकी माह नाहीं न दे सकैं, वाकै बदले हम कुंडो भर अरहरकी दाल दे सकैं, मंजूर कर ली जो गुरुजी !'

'अच्छा, अच्छा, कोई बात नहीं कल्लू रहने दो।' कल्लू अत्यन्त गद्गद हो झुक-झुककर प्रणाम कर चला गया। भीतर जाकर अशोकने अरहरकी दालकी वह पोटली शान्ताके सामने रख दी, तो आश्चर्य कर उसने पूछा—'ऐं, यह कैसा गल्ला ?'

'यह पगडंडीसे चलकर आया गल्ला है।'

'और इसके पैसे ?'

'श्रीमतीजी ! राजमार्गपरसे गाड़ियोंमें भर-भरकर बाजारोंमें बेचनेके लिये लाये जानेवाले गल्लेके पैसे पड़ते हैं, किंतु पगडंडीपर चलकर दिये गये ज्ञानके फल ये इसी प्रकार लगते हैं। कल्लूके लड़केकी ट्यूशनकी फीस है यह दाल, समझी ?'

'तो क्या यह उसके अपने खेतमें पैदा हुई फसलकी है ?'

'और नहीं तो क्या ! हमारे स्कूलको जानेवाली पगडंडी-पर ही तो है उसका खेत।' दोनोंने खिड़कीमेंसे दूर देखा। पगडंडीके मोड़ोंपरसे झूमते हुए कल्लू जा रहा था। इतनेमें ही—

'मास्टरसाहेब हैं क्या ?' इस प्रश्नके कारण अशोकने मुड़कर देखा—बूटपालिशवाला वह युवक द्वारपर खड़ा था।

'अरे आइये, आइये। बैठिये क्या हाल है अब आपका ?'

'एकदम ठीक है मास्टरजी ! आपके रुपये लौटाने आया हूँ, लीजिये आपके दो रुपये।'

'अजी, उसकी भी क्या जल्दी पड़ी थी ?'

'जल्दी नहीं, मास्टरसाहेब, मुझे तो विलम्ब ही अधिक हुआ, क्षमा कीजिये। किंतु केवल आपके वर्णनमात्रसे आपका पता लगाना बहुत टेढ़ी खीर थी। आखिर आपकी ऐनकने मेरी सहायता की। अपना नामतक न बताते हुए आपने उस दिन मुझे पैसे दे दिये। आपका दिल बहुत-बहुत बड़ा है। इस रविवारको आप सब हमारे यहाँ भोजन करने आयें।' और अपना पता बताकर अत्यन्त आग्रहपूर्वक न्योता देकर वह चला गया।

द्वारकी आड़से इस सारे दृश्यको देखती खड़ी शान्ता भी आँचलसे आनन्दाश्रु पोंछती हुई भीतरको चली गयी।

वन आवनकी छवि

पटपीत कसे नट-वेष लसै मुसुकायकै नैन नचावनकी।
गर गुंजन-माल विसाल दिपै करमैं वर कंज फिरावनकी ॥
मधुरी धुनि वेनु बजावनि गावनि वानि परी तरसावनकी।
निसि-द्यौस [illegible] मन माँहि वसै छवि वा वनतें वनि आवनकी ॥

प्रेमके साथ वार्तालाप

["ईश्वर ही प्रेम है" और जो ईश्वरसे प्रेम करता है, उसे जीवमात्रसे प्रेम करना चाहिये ।]

(लेखक—श्रीरिचर्ड ह्विटहाल)

मानवके द्वारा प्रेमका स्तवन

अहा, प्रेम ! तुम कितने मधुर हो । तुम्हारे बिना किसीका कुछ भी मूल्य नहीं । अहा, वह समय कितना सुन्दर होता है, जब कि हमारे सम्पूर्ण विचारोंका प्रवाह एक तुम्हारी ही ओर धावित होता है, तुम्हींमें उनका पर्यवसान होता है । तुम कल्याणकी मधुर धारा हो, जो समष्टि हृदयमें प्रसूत होकर स्पन्दन करती हुई जीवनकी बाह्यतम सीमामें प्रवेश करती है । तुम आनन्द हो, उल्लास हो और जीवनको समरसता प्रदान करनेवाले मधुर संगीत हो । जब तुम्हारा मधुर आगमन होता है, तब सारी तिक्तता, सारे विपर्यय-ज्ञान और सारी विरसताका अन्त हो जाता है । तुम्हारे अंदर ही मनुष्यको अपने दिव्य स्वरूपकी उपलब्धि होती है, उसे भूभागमें ज्योतिर्मण्डलकी प्रतीति होने लगती है और वह आश्चर्यचकितकी भाँति देखने लगता है ।······(प्रेम !) तुम ईश्वरके सबसे अनुपम उपहार हो, तुम प्रभुकी सबसे बहुमूल्य देन हो । विवेक और ज्ञान तुम्हारे हाथकी ही कठपुतलियाँ हैं । तुम जाज्वल्यमान उज्ज्वल प्रकाश हो; तुम आत्माकी मधुर स्वर-लहरी हो; शोकसे संतप्त हृदयको आह्लादित करनेवाले आनन्द भी तुम्हीं हो । तुम्हारे सामने अन्धकार नहीं ठहरता; क्योंकि तुम ज्योतिःस्वरूप हो, परिपूर्णतम हो, सत्य और एकमात्र सत्य तुम्हीं हो । प्रेम ! तुम्हीं जीवन हो—सबमें और सबको एक सूत्रमें गूँथनेवाले जब तुम अपना विकर्षण करते हो तो जीवन ही समाप्त हो जाता है, फिर कुछ भी अवशेष नहीं रहता ।· (प्रेम !) तुम हमारे स्वभावकी दीप्ति बनो, इतने जीवनगत—स्वभावगत बनो कि तुम्हारे अंदर ही हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग किलोल कर उठे और प्रत्येक विचार तुम्हारे ही आनन्दसे ओतप्रोत हो जाय । सारा जीवन तुम्हींसे गतिमान्—शक्तिमान् है । आओ, ईश्वरीय कृपाकी उत्तुङ्ग लहर और हमारे प्राणोंको बहा ले चलो, जिससे हमारा अणु-अणु प्रेम करने लगे और हमारा जीवन ही तुम्हारी अविराम स्तुति बन जाय ।······प्रेम ! तुम्हारे शब्द (संकेत) ही प्राण हैं, जीवन हैं । वे गरुड़की गतिसे भी तीव्र हैं; उनमें अन्तस्तलके आशातीत स्तरतक पहुँचनेकी सामर्थ्य है, वे अन्यथा दुर्लङ्घ्य घाटियोंको भी पार कर जाते हैं, वे उससे भी परे पहुँच जाते हैं जहाँ जाना भी सम्भव नहीं । वे कभी व्यर्थ नहीं लौटते । वे आत्माको नवजीवन प्रदान करते हैं और कालकी सीमामें बँधी हुई हमारी प्रेमानुभूतिको जगा देते हैं ।

प्रेम ! तुम्हारे ही कारण कालमें नित्यता आती है, तुम्हीं बाह्यरूपके अन्तरालमें स्थित दिव्य (शाश्वत) जीवनको प्रकट करते हो······। जब द्वेष, गर्हणा और नृशंस आलोचनासे हमारे हृदय और मन रिक्त हो जाते हैं, तब हमारे अंदर भगवदीय दिव्यताका उन्मेष होता है और तुम्हारा भी प्राकट्य हो जाता है । तबतक हम तुम्हारे उपहारको ग्रहण करनेके अधिकारी नहीं बनते, जबतक हम उसे खुले हाथों बाँटनेके लिये प्रस्तुत नहीं होते । तुम्हीं दाता और तुम्हीं देन हो । हमारी पारस्परिक सच्ची मित्रताके रूपमें हम तुम्हारा ही तो आदान-प्रदान करते हैं············ तुम्हारे अंदर सभी वस्तुएँ नवीन बन जाती हैं । ईश्वरकी ओर उन्मुख होनेवाली प्रार्थनाके पवित्र भाव भी तुम्हीं हो और तुम्हीं ईश्वरीय धामसे उतरनेवाले स्वर्गीय संस्थान और मनुष्यमात्रके प्रति उस (परमात्मा) का वरदान हो······। हम अपने पासका सर्वोत्तम पवित्र उपहार तुम्हारे चरणोंमें चढ़ाते हैं और तुम अबाधरूपसे हमारे उस अणु-अणुमें प्रसरित होते हो और वह पवित्र (धन्य, कृतार्थ) हो जाता है······। जब शान्ति हमारे श्वास-प्रश्वासमेंसे निकलने लगती है और जब अहंकारका प्रत्येक स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब हमारे अन्तरात्मामें तुम्हारा दिव्य प्रकाश फैलता है, अन्धकार तिरोहित हो जाता है (अज्ञानका विनाश हो जाता है) और तुम्हारी दिव्य ज्योत्स्ना (कृपा-प्रकाश) से समस्त संशयोंका शोधन (छेदन) हो जाता ह; जो विचार हमारे जाग्रत् जीवनमें पुष्ट होते हैं और जिनपर हमारी भ्रातृभावना-की (आत्म-भावनाकी) छाप रहती है, नवायमान हो जाते हैं और नक्षत्रोंकी भाँति चमकने लगते हैं ।······उस समय हमारी प्रत्येक धारणा सर्वोत्तम होती है । फिर कोई भी विचार जो हमारे पास दूसरोंसे पहुँचता है, चाहे वह किसीके द्वारा क्यों न मिला हो, हमें कभी दुःखद प्रतीत नहीं होता;

क्योंकि हमारे पास पहुँचनेके पूर्व उसका तुम्हारी उस चैतन्य धारासे संयोग हो जाता है, जो सदा हमारी आत्माको उसी प्रकार सुरक्षित रखती है जैसे हम तुम्हारे अंदर रहते हैं। संस्पर्श होते ही वह विचार पवित्रतम हो जाता है (उसका संशोधन हो जाता है) और बदलेमें हमारे हृदयसे तुम्हारा कल्याणकारी आशीर्वाद निकलता है। उसके प्रतापसे विचार-में चिपटी हुई सारी मलिनता मिट जाती है और हमारे भाईकी शत्रुता दूर हो जाती है। (प्रेम !) तुम ईश्वरीय शक्ति हो और जिस प्रकार हमारा निवास तुम्हारे अंदर होगा उसी प्रकार तुम्हारी सर्वत्र विजय होगी। तुम्हारा प्रत्येक शब्द (संदेश) हमारे लिये जीवन और सत्य है ……। ओ प्रेम ! तुम्हारी वाणी क्या है? जो हमारे जीवनमें नये प्राण फूँकती है।

मानवके प्रति प्रेमके उद्गार

हे अमृतपुत्र ! तुम्हारा जीवन ही मानो मेरा जीवन, तुम्हारा आनन्द ही मेरा आनन्द और तुम्हारा विषाद ही मेरा दुःख है। सुनो, मैं तुम्हारी आत्मामें हूँ। मैं मुक्त होनेके लिये तुम्हारे अंदर छटपटाता हूँ और मुक्त होकर (तत्काल ही मैं यह अनुभव करता हूँ) कि सेवा करनेके लिये मैं कितना स्वतन्त्र और सशक्त हो गया हूँ और उद्धार करनेकी पर्याप्त शक्ति भी मुझमें आ गयी है। अपने ध्येयका नारा लगाता हुआ ध्वजाको उठाकर मैं आगे बढ़ता हूँ।

मैं वह द्वार हूँ जिसके द्वारा तुम जीवनमें प्रवेश करते हो…… मैं तुम्हारे जीवनका सौन्दर्य हूँ, माधुर्य हूँ और उल्लास हूँ। तुम्हारे अंदर समझनेवाली, प्रेम करनेवाली और उल्लास उत्पन्न करनेवाली शक्ति मैं ही हूँ। मेरी प्रार्थना तुम्हारे भीतर भगवदीय इच्छाकी पूर्ति है जो कि तुम्हारे जीवनका लक्ष्य है—मैं तुम्हारे अंदर वह शुभशक्ति हूँ जो स्रोतकी भाँति रचनात्मक जीवनकी ओर प्रवाहित होती है।…… जब अहंकारका मार्ग ठीक बीचमें रोक दिया जाता है तब मैं सूर्यकी-सी प्रभा लेकर प्रकट हो जाता हूँ।…… तुम्हारी निर्बलता, दरिद्रता और दुःखको मैं शक्तिमत्ता, सम्पन्नता और सुखमें परिवर्तित करता हूँ। मेरेद्वारा ही तुम्हारा अन्धकारमय जीवन स्वर्गीय और नूतन संसार बनता है।…… मैं ही तुम्हारी अशान्तिको शान्तिमें रूपान्तरित … मेरे सम्मुख तो होओ, भैया, फिर समृद्धिका अनुभव होगा। मेरे प्रवेश करते ही सम्पूर्ण जीवन संगीत और माधुर्यसे ओत-प्रोत हो जायगा…… अहंताके बन्धनसे तुम बहुत थक गये हो, बहुत क्लान्त हो गये हो। आओ, और अपने आपको मेरे विशाल जीवनमें खो दो, तब तुम देखोगे कि मेरे अंदर ही तुम्हारा पुनर्जीवन हो गया है।…… यदि तुम फिसल गये हो, यदि तुम्हारा जीवन कुमार्गकी ओर उन्मुख हो गया हो और तुम पतनके गड्ढेमें क्षणमात्रके लिये भी गिर गये हो अथवा अचानक तुम विपत्तियोंसे घिर गये हो या मित्रोंने तुम्हारी तीव्र भर्त्सना की हो तो मेरे पास आओ; क्योंकि मैं तुमसे घृणा नहीं करता, क्योंकि मैं तुम्हें पूरी तरह समझता हूँ। मेरे समीप आओ, मैं तुम्हें उन्नत बनाऊँगा।……'देखो, मैं जीवनकी पूर्णता हूँ—मैं तुम्हें समस्त बन्धनोंसे मुक्त कर दूँगा। मैं तुम्हारा समर्थ उद्धारक हूँ। मैं जीवनका वह सौरभ हूँ जो सारे सम्बन्धोंको मधुमय बना देता है। मैं ही देनेवाला हाथ और सेवा करनेवाले पैर हूँ। तुम्हारे अंदर ईश्वरके सम्मुख होनेवाली अनन्य दृष्टि भी मैं ही हूँ। मैं तुम्हारे अंदर वह छोटा-सा बालक हूँ जिसके हाथमें शक्तिकी बागडोर होती है।

मानवके द्वारा प्रेमका स्तवन

प्रेमदेव ! जबतक हम तुम्हारे पाशमें नहीं बँध जाते, हमें स्वतन्त्रताका बोध नहीं होता। जबतक तुम्हारी आवाज हमारे कानोंमें गूँजती रहती है, तबतक हम मूक हैं। जब तुम नहीं रहते, हम असहाय कृपणकी भाँति चिल्ला उठते हैं—'मैं भूखके मारे मरा जा रहा हूँ।' समूचा जीवन ही अन्धकारमय प्रतीत होता है। पर ज्यों ही तुम पीछे खड़े हुए कि यह सौन्दर्यसे चमक उठता है (तुम्हारेसे पृथक् इसका कोई अर्थ नहीं)। तब सभी कुछ पहलेकी भाँति सार्थक और सफल हो जाता है। उमड़ती हुई उदासी कोसों दूर भाग जाती है और परम आनन्दका अखण्ड साम्राज्य छा जाता है। प्रेम, अहा, तुम कितने मधुर हो, हमारे प्रति तुम कितनी आत्मीयताके शब्दोंका व्यवहार करते हो।

मानवके प्रति प्रेमके उद्गार

मैं कल्याणस्वरूप हूँ—शान्तिस्वरूप हूँ। मेरा स्पर्श पाते ही तुम्हारी अशान्ति दूर भाग जायगी। मैंने हाथ पकड़ा कि तुम ज्ञानवान् हो जाओगे। फिर शब्दोंकी आवश्यकता न रहेगी। मैं वह सेवाका स्रोत हूँ कि जहाँ मेरा आगमन हुआ कि आनन्द बिखर पड़ेगा। मेरा पाद-

निक्षेप हुआ कि आनन्दके वासन्ती पुष्प खिल उठेंगे। मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें निर्भ्रान्त मार्गकी ओर अग्रसर कर दूँगा। उन समस्त समस्याओंका समाधान भी मैं ही कर दूँगा, जो तुम्हें खाये जा रही हैं। भैया, क्या नक्षत्र तुम्हारे ऊपर हैं, वे तो मेरे पैरोंके पास हैं। वे प्रेमप्रदीप हैं·······मैं असंदिग्ध सत्य हूँ और जब सब तुम्हारा परित्याग कर देते हैं, मैं तुम्हारा ही बना रहता हूँ। मुझे पुकारते ही तुम मुझे अपने पास पाओगे।···न तो मेरे मनमें कोई बुरे भाव आते हैं, न गर्हणाकी गन्ध ही मुझे स्पर्श करती है, न किसी प्रकारका द्वेष ही मेरे मार्गका अवरोधक बनता है। तुम मेरी सन्निधिमें चलो और शान्तिको पा लो; तब तुम समस्त संदेहोंसे मुक्त हो जाओगे। मुझे जानते ही ईश्वरसे तुम्हारा परिचय हो जायगा और तुम्हें तुम्हारे अंदर ही स्वर्ग दीख पड़ेगा (स्वर्गीय दीप्तिका तुम्हारे अंदर ही उद्बोध हो जायगा); क्योंकि प्रेमकी झलक पाते ही तुम आनन्दसे छलक उठोगे और उसी आनन्दमें अपने जीवनकी भेंट चढ़ा दोगे। मेरी वाणी तुम्हें आदेश करेगी और तुम्हारे जीवनके शब्दोंका भाव खोल देगी।·······मेरे हृदयके अन्तरालकी ओर झाँको और उसमें अपने ही प्रतिबिम्बका दर्शन करो, जैसे मैं ईश्वरको देखता हूँ; क्योंकि मेरी दृष्टि पड़ते ही पर्दा उठ जाता है और (परमात्माकी) उसके देदीप्यमान मुखड़ेकी झाँकी नेत्रोंके सामने आ जाती है।'

'जब तुम स्वयं अपना आपा खो देते हो, (जब तुम स्वयं ही आत्मविस्मृत हो जाते हो) तब मैं तुम्हारे पास रहता हूँ। मैं मार्ग हूँ, अतः मेरे अंदर चलो। मैं सत्य हूँ, इसलिये मेरेमें निवास करो। अपने विचार और वाणीका मुझमें निक्षेप कर दो, उन्हें मेरे बन जाने दो। मैं जीवन हूँ, अतः मेरे अंदर जीवनका अनुभव करो; मेरेमें श्वास लो और मुझे अपनेमें श्वास लेने दो। इन्द्रियोंकी सीमाको तोड़कर मैं बाहर निकल आता हूँ और अपने समस्त साथियोंमें मिल जाता हूँ। द्वेष और निन्दाकी दीवालको ढहाकर मैं सम्पूर्ण हृदयोंमें निर्बाध प्रवेश पा जाता हूँ।·····मेरी वाणी अमोघ है, विशुद्ध है और निष्पक्ष है; वह दिव्य सत्यको प्रकट करती है; वह पृथ्वीपर पवित्र नामोंको अंकित करती है।·····मैं ही सबके हृदयको सत्यसे सम्बन्धित करता हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंका प्रेम मेरी ही तो अभिव्यक्ति है।·····जब तुमने मुझे देख लिया है, मेरा संस्पर्श पा लिया है, जब तुमने मेरी यह वाणी सुन ली है, कि 'आओ मेरे पीछे चलो' तब अतीतकी ओर अपनी पीठ कर दो, उसकी उपेक्षा कर दो और प्रसन्नता, आनन्द और भक्तिपूर्वक मेरा अनुगमन करो, जैसे मैं चलाता हूँ—संकेत करता हूँ।·····मैं वह हूँ जो मधुरतम है और सत्यतम है, जो सर्वोत्कृष्ट और सर्वथा निर्भ्रान्त है; मैं वह न्याय हूँ जिसे सब लोग खोजते हैं और जिससे निर्णय होता है।

'मेरे लिये अपने हृदयका द्वार खोल दो जिससे मैं उसमें प्रवेश कर सकूँ···। ज्यों ही मेरा तुम्हारे साथ सम्पर्क हुआ कि तुम देखोगे कि अज्ञानका—असत्यका अन्धकार विलीन हो रहा है, उल्टा ज्ञान विलुप्त हो रहा है और तुम्हारी दृष्टि स्पष्ट और समझ निर्भ्रान्त हो रही है।·····मेरे द्वारा ही दिव्य स्वर्गका पृथ्वीपर आकर्षण होता है और मैं ही उसको (स्वर्गीय सुप्रभाको—भगवदीय दीप्तिको) जन-जनमें विकीर्ण करता हूँ और उस दिव्य जीवनके प्रसादको सब लोगोंको वितीर्ण करता हूँ। मेरी वाणीमें तुम्हें सिद्धोंका स्वस्तिवाचन सुनायी पड़ेगा और मेरे शब्दोंमें ही दिव्य जीवन तुम्हारा आह्वान करता है·····हमारे अन्तरमें जाज्वल्यमान सत्यके द्वारा प्रत्येक क्रिया दिव्य भावसे उद्भासित हो उठती है; यह तुम्हारेपर इस प्रकार प्रतिष्ठित हो जाता है कि तुम मेरे आश्रयकी अवहेलना नहीं कर सकते।·····मैं सेवा करता हूँ, फिर भी दीनतासे मेरा मस्तक नहीं झुकता। सबको आत्मसमर्पण करते हुए सेवाकी भावनासे घुटने टेक देता हूँ फिर भी मैं किसीके सामने नतमस्तक नहीं होता।·····मैं अपने भाइयोंके पाँव पखारता हूँ और उससे अपने उस अद्वितीय प्रियतमको, जिसे-जिसे मैं स्पर्श करता हूँ, उसी-उसीमें नक्षत्रकी तरह चमकता हुआ पाता हूँ।·····प्यारे श्रान्त बालक! तुम थक गये हो; मुझे अपने जीवनमें आने दो और उसे आह्लादित करने दो। ज्यों ही मैं उसमें प्रवेश करूँगा, मैं तुम्हारे हृदयको अनुप्राणित करने लगूँगा और तबतक करता रहूँगा जबतक कि वह प्रेमके माधुर्यसे (मादकतासे) स्पन्दित न हो उठे। (देखो!) मेरे हाथ खुले हैं, इन्हें पकड़ लो; तुम अकेले नहीं हो। तुम्हारे पार्श्वमें एक प्रेमी मित्र है·····तुम अपने प्रत्येक कार्य, अपने प्रत्येक विचार और अपने प्रत्येक व्यवहारके समय, मेरे लिये क्षण भर रुको और मुझे अपने साथ आने दो। मुझपर आश्रित होओ; फिर मैं तुम्हें तुम्हारी कठिनाई, उलझी हुई स्थिति और विकट एवं दुःखद समस्यासे उबार लूँगा।·····क्योंकि निश्चय समझो, तुम्हारी उलझन मेरे लिये सेवाका अवसर है·····क्योंकि

मेरा हृदय प्रेममय और मन सत्यस्वरूप है। इसीलिये मेरे आते ही समस्त द्वार उन्मुक्त हो जाते हैं·····मैं तुम्हारी उत्कट इच्छाके दिव्य अन्तरालसे प्रकट होता हूँ; मेरे हाथमें उसी दिव्य भूमिमें उत्पन्न हुए फल रहते हैं और मेरा वक्षःस्थल उस पुष्पसे सज्जित रहता है जिसकी गन्ध ही अमृत है।·····मैं जीवनको सत्यकी आँखोंसे देखता हूँ, इसीलिये मेरे सामने सभी कुछ सुन्दर है। मैं दोष नहीं देखता; क्योंकि प्रेम सब जगह सभी वस्तुओंपर अपनी ज्योति बिखेरे हुए है। मेरा सत्यमें निवास है इसीलिये मैं प्रेम करता हूँ और प्रत्येक पुकारका प्रतिदिन प्रेमभरा उत्तर देता हूँ। मैं अपने साथियों और प्रेमियोंको अपने अनेकों हाथोंसे अङ्कमें ले लेता हूँ·····'वत्स! मैं तुम्हारे अंदर जाग्रत् होकर संचारित होऊँगा। तुम्हारा कल्याण कर दूँगा और तुम्हें एक उन्मुक्त द्वार बना दूँगा। जैसे रात्रिकी सीमापर उषाका दिव्य प्रकाश होता है उसी प्रकार दुलारे! मैं तुम्हारे जीवनको उद्दीप्त कर दूँगा। मेरे प्यारे बच्चे! तुम्हारे अंदर मेरे प्रेमकी दीप्ति जगमगा उठेगी। तब तुम्हीं मेरी आँखें बनोगे और तुम्हीं कान बनोगे (अधिक क्या) तुम्हीं मेरे हाथ और पैर होओगे। जिसमें तुम्हारा स्वयंका निवास है, उसीमें तुम मुझे रक्खोगे और जो तुम्हें समावृत किये हुए है, वह स्वयं भी तुम्हीं बन जाओगे। प्यारे, प्रेम करो और अविराम प्रेम करो। ·····'तुमसे मिलनेवाला ऐसा कोई भी नहीं है जो विशेष आवश्यकतावश मुझे न पुकारता हो और मैं तुम्हारे भाईको तुम्हारे ही प्रेमका आश्रय लेकर उत्तर दूँगा।·····'डरो मत; क्योंकि मैं तुम्हारे साथ हूँ और तुम्हारे चलनेके पूर्व ही मैं तुम्हें मार्ग दिखलाता हुआ उसकी सारी कठिनाइयोंको दूर कर दूँगा। मेरी शक्तिसे इस सरल कार्यको अनायास करो, स्पष्ट और मधुर बोलो। मेरी संनिधिमें सभी कुछ सम्भव है।·······मैं वह सत्य हूँ जिसका और सब कुछ संकेतमात्र है। मुझे देखते हुए सबको स्वीकार करो, जहाँ मैं न दीखूँ उसे स्वीकार मत करो।········ मैं सत्यका विचारक और सत्यका द्रष्टा होनेके नाते राग-रहित हूँ। सुहृद् भी मैं ही हूँ; क्योंकि मैं सेवा करता हूँ— मेरी सेवाके उपकरण बहुत हैं; और हाँ, रागी भी मैं ही हूँ, क्योंकि मैं प्रेमी हूँ। (वस्तुतः) अपनी दिव्यताके कारण मैं (मूर्तिमान्) वैराग्य हूँ—मैं सर्वथा निष्कपट हूँ। अपनी मानवताके कारण सौहार्द हूँ। तुम्हारे देवत्वके कारण मैं राग हूँ·····। जहाँ जाता हूँ भगवदीय शक्ति मेरे साथ रहती है। मेरे पास बैठो और मेरा हाथ पकड़ो, तब तुम्हें ऐसा विलक्षण संगीत सुनायी पड़ेगा कि फिर तुम उसे कभी न भूल सकोगे और ऐसे अपूर्व सौन्दर्यको तुम देखोगे, जैसा पहले तुमने कभी नहीं देखा। जो कुछ भी तेज तुम्हें आवृत किये हुए है पहले वह कितना क्षीण और धुँधला था। किंतु अब वही कितने अभूतपूर्वरूपसे स्पष्ट और वास्तविक हो गया है। और यही जीवन है, यही प्रेम है और यही स्वर्ग है·····लोग तुम्हारे चेहरेकी दीप्ति देखेंगे और आश्चर्य करेंगे तथा तुम्हारे मुखसे निकलनेवाली नवीन एवं अनोखी वाणीके द्वारा प्रभावित होंगे·····। अपने चरणोंमें कल्याणको लिये मैं आता हूँ, और भैया, उषा-द्वारसे तुम्हारा स्वागत करता हूँ।·····मैं वही हूँ जैसा कि तुम मुझे देखना चाहते हो; नितान्त सत्यरूपसे जो तुम हो वही मैं हूँ।·····जब मैं अपने स्वरूपको सँभालता हूँ और निर्मल नेत्रोंसे देखता हूँ तो एक दिव्य मानवता मुझे भगवद्धामके समीप पहुँचती हुई दृष्टिगोचर होती है।'

('साइंस ऑफ थॉट रिव्यू'से)

भजिये श्यामा-श्याम

भजन बिन है चोला बेकाम।
मल अरु मूत्र भरो नर! सब तन है निष्फल यह चाम॥
बिन हरि भजन पवित्र न ह्वैहै धोवौ आठौ याम।
काया छोड़ हंस उड़ि जैहै पड़ो रहै धन धाम॥
अपनो सुत मुत्र लूघर देहै सोच लेहु परिणाम।
रूपकुँवरि सब छोड़ बसहु व्रज भजिये श्यामा-श्याम॥

समझने-सीखनेकी चीज

[दो सत्य घटनाएँ]

तुम अन्नपूर्णा माँ रमा हो और हम भूखों मरें ?

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

कल सायंकालकी ही तो बात है ।

गाँधी-मैदानमें बैठा देख रहा था भगवान् अंशुमाली-की ओर, जो द्रुतगतिसे अस्ताचलकी ओर जा रहे थे ।

अचानक एक वृद्ध बंगाली सज्जन आकर मेरी बेंचपर बैठ गये ।

सफेद दाढ़ी, सफेद कुर्ता-धोती, हाथमें बंगलाका एक दैनिक ।

बात शुरू की उन्होंने ।

सामान्य परिचयकी चर्चा उठी तो काशीका नाम आते ही श्रद्धासे भट्टाचार्य महाशयका हृदय भर उठा । बोले—'काशी तो कैलाश है । परंतु अब कहाँ रह गयी वह काशी ? अब तो वह कलकत्ता-जैसी नगरी बनती जा रही है ! क्या खयाल है आपका ?'

मैं क्या कहता ! काशीमें भी आधुनिकताका रंग आ ही रहा है ।

× × ×

'बाबा विश्वनाथकी नगरीमें, माँ अन्नपूर्णाके दरबारमें कभी कोई भूखा नहीं रह सकता । इस बातकी लोगोंने परीक्षा करके देखी है ।' कहते-कहते वे सुना गये ८०-८५ साल पहलेकी एक घटना ।

बोले—मेरे ही पूर्व पुरुषोंके सम्बन्धी एक वृद्ध दम्पतिने काशीवासका निर्णय किया । उनका एक भतीजा था, जो कलकत्तेमें नौकरी करता था । उसने उन्हें काशी पहुँचा दिया और उनके खर्चके लिये बीस रुपया मासिक भेजने लगा ।

उस जमानेमें बीस रुपयेका मूल्य बहुत था । वृद्ध ब्राह्मण दम्पति स्वयं तो मजेमें अपनी गुजर करते ही, साधु-संन्यासियोंकी भी सेवा करते, फिर भी दस-पाँच रुपया बच जाता ।

× × ×

अचानक भतीजेकी नौकरी छूट गयी । दो महीनेके खर्चके लिये चालीस रुपये भेजते हुए उसने लिखा—'ताऊजी ! मेरी नौकरी छूट गयी है । दो महीनेकी तनखाह मिली है, इससे आपको भी दो माहका खर्च भेज रहा हूँ । कौन जाने कितने दिन बेकार रहना पड़े । इसलिये जरा हाथ रोककर खर्च करियेगा । आपके आशीर्वादसे मुझे शीघ्र ही नौकरी मिल जायगी, ऐसी आशा है ।'

वृद्ध दम्पतिको चिन्ता तो हुई, पर उन्होंने सब कुछ बाबा विश्वनाथ और अन्नपूर्णा माईपर छोड़ दिया ।

× × ×

पहलेकी संचित निधि और अन्तमें मिले चालीस रुपयोंसे वृद्ध दम्पतिने छः मासतक काम चलाया । अन्तमें एक दिन ऐसा आ ही गया, जब शकरकन्दका एक टुकड़ा घरमें बच रहा । उसीको खाकर दोनोंने पानी पी लिया ।

दिन भर यों ही निकल गया ।

× × ×

उन दिनों कुछ मारवाड़ी सज्जन सीधा बाँटा करते थे । एक-एक सीधेमें आटा, दाल, चावल, घी आदि पर्याप्त रहता । लगभग ३) का सामान, ऊपरसे २)

दक्षिणा भी देते। सेठके कर्मचारी उन लोगोंके घर सीधा पहुँचा आते थे, जिनके प्रति सेठकी श्रद्धा होती थी।

× × ×

वृद्ध ब्राह्मण दम्पतिका तो निश्चय था कि वे विश्वनाथकी नगरीमें माँ अन्नपूर्णाके रहते किसीसे भिक्षा माँगकर पेट न भरेंगे। वे चुपचाप पड़े थे अपनी कोठरीमें।

× × ×

दूसरे दिन वृद्ध दम्पतिकी कोठरीके बाहर एक अपरूप बालिका आ खड़ी हुई। सीधा बाँटनेवाले सेठके कर्मचारी वहाँसे निकले तो उसने उन्हें पास बुलाया। उनके पास आनेपर बोली—'देखो भाई! मेरी बूढ़ी माँ और बाबा कलसे भूखे पड़े हैं। तुम एक सीधा हमें भी दे जाओ।'

कर्मचारी बोले—'सीधा हम उन्हीं लोगोंको बाँटते हैं जिनको बाँटनेकी आज्ञा हमारा सेठ देता है। बिना आज्ञा हम सीधा नहीं बाँट सकते।'

वह बालिका आँखोंमें आँसू भरकर बोली—'तो क्या होगा बाबा? मेरे बूढ़े माँ-बाबाके पास कुछ नहीं है। मर जायँगे वे बिना भोजनके? अपने सेठसे कहो न जाकर कि मेरे माँ-बाबा भूखे पड़े हैं कलसे।'

'अच्छा माँ! हम सेठसे जाकर जरूर कहेंगे।'

बालिकाकी बात टालनेकी क्षमता मानो उनमें थी ही नहीं।

× × ×

सेठसे उसके कर्मचारियोंने जाकर कहा—'सेठजी! रास्तेमें एक बालिका हमें मिली थी। बड़े सम्पन्न घरकी लड़की जान पड़ती थी। वह कह रही थी कि उसके बूढ़े माता-पिताने कलसे कुछ नहीं खाया है। उनके लिये उसने एक सीधा माँगा है।'

× × ×

सेठजीके मनमें आ गया—चलो देखें।

सीधा लेकर वे कर्मचारियोंके साथ वृद्ध ब्राह्मण दम्पतिके मकानपर पहुँचे। कुंडी खटखटायी।

वृद्ध दम्पतिने किसी तरह दरवाजा खोला। सेठने उनसे पूछा—'बाबा, आपकी बेटी कहाँ है?'

वे तो हैरान। बोले—'कहाँ? हमारे तो कोई बेटी नहीं, एक भतीजा है जो कलकत्ते रहता है।'

'अच्छा, यह तो बताइये, आपने कलसे कुछ खाया-पिया है या नहीं?'

'क्यों हमने तो किसीसे कुछ कहा नहीं!'

'आपकी बेटी कह रही थी कि मेरे माँ-बाबा कलसे भूखे हैं। भूखसे उनके प्राण जा रहे हैं!'

'सेठजी, और किसीने कहा होगा। आप मकान भूल तो नहीं गये हैं?'

सेठने कर्मचारियोंसे पूछा। वे बोले—'नहीं सेठजी, यही मकान है। हमें खूब याद है। यहींपर वह लड़की रो-रोकर हमसे कह रही थी कि मेरे बूढ़े बाबा और माँ भूखे हैं कलसे। उन्हें एक सीधा दे जाओ।'

× × ×

सेठके बहुत कहनेपर वृद्ध दम्पतिने बताया कि बाबा विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णाको छोड़कर और कोई नहीं जानता कि हम दोनोंने कलसे कुछ नहीं खाया। हमने किसीसे कहा ही नहीं।

× × ×

माँ अन्नपूर्णा भला अपने भक्तोंको भूखा रहने दे सकती हैं? यह भला हो ही कैसे सकता है—

'तुम अन्नपूर्णा माँ रमा हो और हम भूखों मरें?'

× × ×

सेठका आग्रह स्वीकार कर वृद्ध दम्पतिको उसका सीधा लेना ही पड़ा और तबसे नियमित रूपसे वहाँ भी सीधा आने लगा।

× × ×

कुछ दिनोंके बाद भतीजेका पत्र आया जिसमें लिखा था—'ताऊजी ! आपलोगोंके आशीर्वादसे मुझे पहलेसे भी अच्छी नौकरी मिल गयी है । अब मैं आपको तीस रुपये मासिक भेजा करूँगा । खाना बनानेमें आपको बड़ा कष्ट होता होगा । कोई दाई आदि रख लीजियेगा ।'

× × ×

वृद्ध दम्पतिको भतीजेका पत्र पाकर प्रसन्नता हुई । उन्होंने सेठकी कोठीपर जाकर उनसे भेंट की और उनसे अनुरोध किया कि वे अब उनको मिलनेवाला सीधा किसी अन्य व्यक्तिको दे दिया करें; क्योंकि अब उनके भतीजेको काम मिल गया ।

भतीजेका पत्र भी उन्होंने सेठको दिखाया । पर सेठ बोला—'यह नहीं हो सकता बाबा । आप नाराज न हों । जैसा आपका वह भतीजा, वैसे ही मैं आपका बेटा । आपको तो यह सीधा लेना ही होगा !'

वृद्ध दम्पति सेठके आग्रहको टाल नहीं सके । सेठके यहाँसे सीधा आता रहा । भतीजेके यहाँसे आनेवाले पैसेसे वे साधु-संन्यासियों और दीनोंकी सेवा करने लगे ।

× × ×

श्रद्धा और विश्वासकी कैसी अद्भुत कहानी ।

× × ×

'यह सारा खेल श्रद्धा और विश्वासका ही तो है ।' कहते हुए भट्टाचार्य महाशयने एक और घटना सुनायी ।

घटना है उनकी माताकी मौसीके सम्बन्धमें ।

वैधव्यके दिन बिता रही थीं बेचारी । बाबा विश्वनाथजीके दर्शनोंकी, काशी पहुँचनेकी बड़ी लालसा थी उनकी ।

गरीबीका जाल बिछा था । श्रीरामपुरसे काशी पहुँचना विषम समस्या थी ।

उनकी एक ही रट थी—

'विश्वनाथ बाबा टाका दाओ, देखा दाओ !'

(हे बाबा विश्वनाथ ! पैसा दो, दर्शन दो !)

× × ×

अचानक एक दिन उन्हें एक पत्र मिला जिसमें लिखा था कि रेलवे कम्पनी एक नयी लाइन खोल रही है । उसके लिये तुम्हारी ससुरालकी जमीन रेलवेने ले ली है । उसका मुआविजा कलकत्ता आकर ले जाओ ।

× × ×

कलकत्ता जाते ही सात-आठ सौ रुपये मिल गये ।

फिर विश्वनाथ बाबाके दर्शन करनेके लिये काशी जानेसे उन्हें कौन रोक सकता था ?

× × ×

काश, यह श्रद्धा, यह विश्वास हममें होता ! फिर तो कुछ कहना ही नहीं था । पर हमारी तो वही दशा है जिसका चित्रण रामकृष्ण परमहंसने एक दृष्टान्तमें किया है—

एक ग्वालिन नदी-पारसे दूध लेकर आया करती थी । बरसातके दिनोंमें नाव देरमें मिलनेसे दूध पहुँचानेमें बड़ी देर होती । एक दिन एक पण्डितजी, जो उससे दूध लेते थे, उससे बोले—'तू रोज बड़ी देर कर देती है । क्यों नहीं तू रामका नाम लेकर नदी पार कर लिया करती ! रामका नाम लेकर लोग भवसागर पार कर जाते हैं । तुझसे यह नदी भी पार नहीं की जाती !'

दूसरे दिनसे पण्डितजीको सवेरे ही दूध मिलने लगा ।

कई दिन बाद पण्डितजीने ग्वालिनसे पूछा—'अब तो तू रोज सवेरे ही दूध ले आती है । अब तुझे रोज सवेरे ही नाव मिल जाती है ?'

ग्वालिन बोली—'अब मुझे नावकी कौन जरूरत है महाराज ! आपने जो तरकीब बता दी है, उससे मेरी नावकी उतराई भी बच जाती है !'

पण्डितजी हैरान होकर बोले—'कौन-सी तरकीब ग्वालिन ?'

'वही राम-नामवाली तरकीब ! मैं रामका नाम लेती हूँ और उधरसे इधर चली आती हूँ और इधरसे उधर चली जाती हूँ।'

'सच ?'

'और क्या झूठ कहती हूँ महाराज ?'

पण्डितजी आकाशसे गिरे। सहज ही विश्वास न हो सका उन्हें ग्वालिनकी बातपर। बोले—'मुझे दिखाओगी ?'

'हाँ-हाँ, चलिये न ?'

दोनों चल दिये। ग्वालिन रामका नाम लेकर झम-झम करती हुई नदी पार करने लगी। पण्डितजी राम-राम करके आगे बढ़े पर पानी ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा त्यों-त्यों वे अपनी धोती ऊपर सरकाने लगे ! स्थिति डूबने-जैसी होने लगी !

ग्वालिनने पीछे मुड़कर देखा। बोली—'यह क्या महाराज ! आप रामका नाम भी लेते हैं और धोती भी समेटते जाते हैं ?'

× × ×

हम भी इसी तरह रामका नाम लेते हैं और धोती भी समेटते जाते हैं। ग्वालिन-जैसा विश्वास हममें कहाँ है ? उस वृद्ध दम्पतिकी तरह हम माँ अन्नपूर्णापर अपनेको कहाँ छोड़ते हैं ? उस विधवा ब्राह्मणीकी भाँति हम परम विश्वाससे कहाँ कहते हैं—'बाबा, टाका, दाओ, देखा दाओ !' फिर यदि हम भवाटवीमें भटकते रहते हैं तो दोष किसका !

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव कि लह बिश्राम॥

बालकका अनुभव

(लेखक—डा० श्री० एम० मुरारी सिन्हा)

'क्या यह तुम्हारी कृति है ?'

'जी, हाँ'

'तुमने अभीतक इसे किसीको नहीं दिखलाया है ?'

'जी नहीं'

'अच्छा यह लो' मैंने फुल्स्केप कागजके कुछ पन्नोंको पकड़े हुए मुझसे बात करनेवाले उस १५-१६ वर्षके बालकसे कहा। परंतु उसने उन्हें लेनेके लिये हाथ नहीं बढ़ाया, उल्टे, पूछने लगा—

'क्या मैं जान सकता हूँ कि आपको यह चीज पसंद आयी या नहीं ?'

'निःसंदेह, यह बहुत सुन्दर है। मैं तुम्हें इसकी सफलतापर बधाई देता हूँ।' मैंने कहा।

'धन्यवाद, महाशय !'

'क्या सचमुच यह तुम्हारे अनुभवकी बात है ?'

'जी हाँ, यह सर्वथा मेरे अनुभवके आधारपर है। क्या मैं आपसे एक बात और पूछ सकता हूँ ?'

'हाँ, हाँ, पूछो।'

'क्या किसी दैनिक अथवा मासिक पत्र-पत्रिकामें इसका प्रकाशन हो सकता है ?'

'तो तुम्हारी यह इच्छा है। अच्छी बात है, कुछ दिन इसे मेरे पास रहने दो, देखूँगा, कदाचित् इसका प्रकाशन हो सके।'

× × ×

एक दिन सबेरे, ज्यों ही मैं अपने पत्रालयको, जहाँ मैं सदा काम किया करता हूँ, जानेकी तैयारी कर ही रहा था कि एक छोटा बालक कुछ दिखलानेके लिये मेरे पास आया। बालक मेरा अपरिचित था, अतः कुछ आश्चर्य-सा हुआ। पर उसने बिना किसी प्रकारकी

देर किये ही, तत्काल अपने प्रसंगकी बात छेड़ दी। अपने दाहिने हाथवाले कागजोंको मेरे सामने रक्खा और कहने लगा, 'मैंने अंग्रेजीमें यह एक कहानी लिखी है। यह (घटना) मेरे अपने निजी अनुभवकी है। यदि आप समय निकालकर इसे पढ़ने और भाषा सुधारनेका कष्ट करेंगे तो मैं आपका बड़ा कृतज्ञ होऊँगा।'

मैं लड़केकी सरलता और सुन्दर व्यवहारपर मुग्ध हो गया। मुझे आश्चर्य हुआ कि इसने कैसे जाना कि मैं एक पत्रकार हूँ। मैंने उससे इस सम्बन्धमें कुछ दिन बाद आनेके लिये कह दिया। उसने नम्रतासे अभिवादन किया और चल पड़ा।

उसी दिन संध्याको कार्यालयसे लौटनेके उपरान्त मैंने उसे पढ़ा। कहानी इस प्रकार थी—

मैं लखनऊके अलीगंज मुहल्लेमें अपनी माँके साथ रहता हूँ। मेरे कोई भी भाई अथवा बहिन नहीं है। मेरे पिताजी एक गरीब व्यक्ति थे। विगत महायुद्धमें वे सेनामें भर्ती हो गये और वहीं लड़ाईमें मारे गये। मेरी माँको थोड़ी-सी पेंशन मिलती है। वह पड़ोसियोंके लिये थोड़ा-बहुत सीने-पिरोनेका भी काम कर दिया करती है। इन सबसे मेरे अन्न-वस्त्र तथा स्कूलकी फीस-का भी काम चल जाता है।

मैं अपनी माँसे बहुत अधिक प्रेम करता हूँ और केवल स्कूलके वक्त ही उसे छोड़ता हूँ और छुट्टी होते ही सीधे उसके पास आ जाता हूँ। वह इतनी अधिक सरल, दयालु और सहृदय है कि ईश्वरको मैं इसके लिये धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझे इतनी अच्छी माँ दी।

कभी-कभी मेरी माँको इतने बड़े जोरोंका सिर-दर्द होता है कि उसकी तीव्र वेदनाके कारण आत्मीयतावश मुझे भी उसी तरहकी मानसिक व्यथा होने लगती है। एक बार किसीने बतलाया कि सिर-दर्दमें एस्पिरिन बड़ा लाभ पहुँचाती है। इसलिये दूसरी बार जब माँ बाजार गयी तो दो एस्पिरिनकी टिकिया एक आना प्रति टिकियाके हिसाबसे खरीद लायी। अबकी बार जब पुनः सिर-दर्द हुआ तो उसने एक गोली पानीसे ले ली और आराम हो गया। दूसरी गोली भी शीघ्र ही समाप्त हो गयी।

उसके बाद भी माँको कई बार सिर-दर्द हुआ, परंतु वह अर्थाभावके कारण पुनः टिकिया न खरीद सकी। पर एक दिन शामको उसके सिरमें बड़े जोरोंका दर्द हुआ और वह एक टिकियाके लिये पागल-सी हो गयी। परंतु उस समय घरमें कोई न था।

माँने मुझे बुलाया और एक चवन्नी मेरे हाथमें रखते हुए कहा—'बेटा! मेरे सिरमें इस वक्त भयानक दर्द हो रहा है, अतः तुम सड़कपर चाँदबाग जाओ। वहाँ तुम्हें बस मिलेगी, छः पैसे देकर टिकिट खरीद लेना और सीधे हजरतगंज पहुँच जाना। वहाँसे एक आनेमें एस्पिरिनकी एक टिकिया खरीद लेना और पुनः बस पकड़कर चाँदबाग आ जाना और वहाँसे घर लौट आना।

मैंने रास्ता समझ लिया। जूता और टोपी पहनी। जेबमें पैसे रक्खे और शीघ्रतासे चल दिया। तत्काल मुड़कर मैंने माँसे कहा—'माँ! क्या मैं हजरतगंजतक पैदल चला जाऊँ? इससे तीन आने पैसे भी बच जायँगे।'

पर माँने समझा कि इतनी दूर पैदल चलनेसे यह अवश्य थक जायगा, अतः उसने कहा 'यदि तुम पैदल जाओगे तो बड़ी देर लगेगी इसलिये बससे ही जाओ। मैं तुम्हारा इंतजार कर रही हूँ।'

मैं करीब बीस मिनिटतक पैदल चला होऊँगा कि चाँदबाग आ गया। वहाँ एक बड़ी बस खड़ी थी।

मैं अंदर गया और कण्डक्टरको चवन्नी देते हुए कहा, 'मुझे हजरतगंज जानेके लिये टिकिट दे दो ।' उसने मुझे जंक्शनतककी टिकिट दे दी और दो आने लौटा दिये ।

'परंतु तुम्हें मुझको अभी दो पैसे और देने चाहिये' मैंने कहा ।

'हाँ, पर इस समय मेरे पास फुटकर पैसे नहीं हैं, थोड़ी देर बाद दे दूँगा । जाइये, अपनी जगहपर बैठ जाइये ।'

अत: मैं चला गया और दो सुसभ्य व्यक्तियोंके बीच अपनी जगहपर बैठ गया । थोड़ी देरमें गाड़ी चली और करीब दस मिनट बाद हजरतगंज आ गया । जब गाड़ी ठहरी, तब मैं उस टिकिट-विक्रेताके पास गया और उससे अपने दो पैसे माँगे ।

'कौन-सा, दो पैसा ?' उसने कहा, 'मैं तुम्हारे-जैसे भले मानुषोंको बहुत अच्छी तरह जानता हूँ, उनका पेशा ही यही है । जरा टिकिट तो दिखाना, क्या इसके पीछे कुछ लिखा है ? नहीं ? तो फिर तुम्हें दो पैसा नहीं मिलेगा । अब चुपचाप भले आदमीकी तरह रास्ता पकड़ लीजिये ।'

उसके बाद उसने मुझे बाहरकी ओर जरा धक्का-सा दिया । दूसरे लोग अंदर आ गये और गाड़ी चल दी । मैं बाहर चला आया था । चुपचाप अकेला खड़ा रह गया ।

आखिर मैं एक दूकानपर गया और मैंने एक टिकिया खरीदी । इसमें एक आना खर्च हो गया । अब केवल एक आना बच रहा । पर बसका किराया तो छ: पैसा लगेगा ? समझमें नहीं आया कि क्या करूँ ?

आखिर सोचा कि सैकड़ों भले आदमी सड़कपर चल रहे हैं । किसीसे भी दो पैसे माँगकर क्यों न शीघ्र लारीपर चढ़कर माँके पास पहुँच जाऊँ । पर मैं माँग सका । अत: मैंने पैदल ही जाना निश्चय किया और सोचा कि माँको साफ-साफ सच्ची बात बतला दूँगा । मुझे विश्वास है कि वह पूरी तरह समझकर मुझे क्षमा कर देगी ।

मैं इस प्रकार सोच ही रहा था कि मैंने एक बहुत बड़े जन-समूहको मन्दिरकी तरफ पूजा करनेके लिये जाते हुए देखा । उसी समय मुझे याद आया कि आज मंगलवार है । माँ भी प्रतिमंगलवारको अलीगंजवाले हनुमान्‌जीके मन्दिरको जाया करती और लौटनेपर प्रसाद दिया करती थी । पर आज वह नहीं जा सकी है ।

अत: मैंने एक काम करना निश्चय किया । मेरे पास एक आना बचा था । मैं सीधे मन्दिर गया और यथाशक्ति सचाई और सरलतासे थोड़ी देर प्रार्थना की कि 'प्रभो ! मेरी माँ स्वस्थ हो जाय ।' प्रार्थना करनेके बाद मैंने पुजारीको पैसा दिया और लौटने लगा । पर उसने पुकारा और कहा, 'बच्चा ! प्रसाद तो लेते जाओ ।' ऐसा कहकर, उसने दो पेड़े उठाये और एक दोनेमें रख दिये । जब वह यह सब कर रहा था तब मुझे एक चवन्नीका थोड़ा-सा हिस्सा उसमें चिपका हुआ नजर आया, उसने भी इसे देख लिया था । तब उसने मेरे मस्तकपर भगवान्‌का प्रसादी सिंदूर लगाया, कुछ बतासे दोनेमें रक्खे और कुछ सिंदूर दोनेके किनारेपर लगाकर, मुझे दे दिया ।

'पर, पुजारीजी ! दोनेमें तो एक चवन्नी है' मैंने कहा, 'क्या आपने नहीं देखी है ।'

'हाँ, जब मैं तुम्हारे लिये प्रसाद उठा रहा था तो साथमें चवन्नी भी आ गयी । सम्भव है, तुम्हें पैसेकी जरूरत हो । महाराजजीकी यही इच्छा मालूम देती है । यह प्रसाद है, इसे ले लो, इन्कार न करो । भगवान् तुम्हारा कल्याण करें' पुजारीजीने कहा ।

मेरी प्रसन्नताका कोई पार न रहा, मैंने पुन: श्रद्धा-सहित वन्दना की और दोना ले लिया । मेरा हृदय आनन्दसे परिपूर्ण था । यदि उस समय कोई मुझसे बोलना चाहता तो मैं बोल भी न सकता ।

दोनेको हाथमें लिये मैं बस-स्टेशनपर आया। पहलेसे ही वहाँ कई आदमी खड़े थे। इतनेमें ही लारी आ गयी। मैंने देखा कि वही आदमी टिकिट बेच रहा है। मैंने उसे चवन्नी दी और उसने मुझे तीन आने लौटाये। जब मैंने भूल बतलायी तब उसने धीमी-सी आवाजमें कहा, 'तुम्हारे दो पैसे मेरे पास रह गये, मुझे पता नहीं था कि तुम भगवान्के दर्शन करनेके लिये जा रहे थे।' उसके बाद उसने उच्च स्वरमें कहा—'चलिये, चलिये, अपनी जगहपर बैठिये।' मैं बढ़ा और अपनी जगहपर बैठ गया। मेरी आँखोंसे आँसू झर रहे थे।

थोड़ी ही देरमें मैं अपने घर पहुँचा और माँके सामने दवा, प्रसाद और पैसोंको रख दिया तथा सारी बातें बता दीं। उसने प्यारसे मुझे गले लगा लिया और प्रसन्नतासे उछल पड़ी! उसके बाद उसने दवा ली और थोड़ी ही देर बाद उसने बतलाया कि उसके सिरमें अब बिल्कुल ही दर्द नहीं है।

यह एक सच्ची घटना है। इसमें मैंने रञ्चमात्र भी ऐसी कोई बात नहीं लिखी है जो असत्य हो। इस बातका ईश्वर साक्षी है।

अगली बार जब लड़का मेरे पास आया तो मैंने उसे तीस रुपये दिये और कहा कि तुम्हारी कहानीको एक पत्रिकाने प्रकाशित करना स्वीकार कर लिया है। शीघ्र ही उसका प्रकाशन हो जायगा। वह चुपचाप था। सम्भव है उसे मालूम न हो कि कहानी लिखना भी एक अर्थ-व्यवसाय है।

(२९ अगस्त १९५४ के 'पायनियर' से अनुवादित। प्रेषक—श्रीगंगासागर दूबे)

गौका धार्मिक तथा वैज्ञानिक महत्त्व

(लेखक—श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥
(अथर्व० १२ । १ । ५)

'पुराने समयमें हमारे पूर्वज जिस भूमिमें पराक्रम दिखा चुके हैं, जिस भूमिमें ऊँचे पदपर अधिष्ठित लोगोंने शत्रुओंको जीता था तथा जो गौओं, घोड़ों एवं पक्षियोंको विशेष सुखदायक स्थान देनेवाली है, वह हमारी भूमि ऐश्वर्य एवं तेज प्रदान करे।'

यह वेदमन्त्र भारतभूमिको गौओंकी पवित्र भूमि, जीवमात्रको सुख-शान्ति देनेवाली सिद्ध करता है। यहाँकी गायें प्रचुरमात्रामें दुग्धवती होती थीं। अथर्व (१२ । १ । ९) तथा ऋग्वेद (३।३०।१४) में आता है कि 'भारतकी नदियोंमें बड़ा तेज छिपा हुआ है। नदियोंके किनारोंपर व्यायी हुई गायें सुमधुर दुग्धका भण्डार लिये घूमती हैं। भगवान्ने ये सारे दुग्धादि पदार्थ गौओंमें संग्रह किये हैं। गायोंको हमारे लिये भोजन देनेको रक्खा है।' इसका अर्थ यह सूचित करता है कि गौओंमें दुग्ध, दही, घृत तो सुस्वादु भोजन है ही, साथ ही गोबर-गोमूत्र भी भूमिको वह शक्ति देते हैं, जिससे समस्त विश्वके जीवोंके भोजनार्थ वनस्पति तैयार होती है, विश्व सुख-शान्तिमय बनता है।

भारत वह स्थान है जहाँ गायको धन माना जाता था। जहाँ असंख्य गोधन था। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्र राजेन्द्र श्रीरामचन्द्रजी महाराजने एक खरब गौएँ ब्राह्मणोंको दान दी थीं। (वा० रा० १। १। ९४) पाँचों पाण्डवोंके दस हजार गो-वर्ग थे। प्रत्येक वर्ग ८ लाख गायोंका था। लाख-लाख, दो-दो लाख गायोंके तो कई वर्ग थे। ये गायें कैसी स्वस्थ तथा गर्भवती होती थीं, इसका वर्णन महाभारत, विराटपर्व (अ० २८) में आता है। नौ लाख गायवाला नन्द, दस लाखवाला वृषभानु, एक करोड़ गौओंवाला नन्दराज कहा जाता था। (गर्गसंहिता, गोलोक-खण्ड अ० ४) जैनोंके चौबीसवें तीर्थङ्करके समयमें महाशतककी स्त्री रेवतीके दहेजमें ८० हजार गायें आयी थीं। धनंजय सेठने अपनी पुत्रीके दहेजमें १४० हाथ चौड़े तीन कोसमें आपसमें भिड़कर चलती हुई गायें दी थीं। १८०००० गाय,

बैल, बछड़े तो फाटक बंद करते-करते निकल गये थे। सिकन्दर यहाँसे चुनी हुई सुन्दर स्वस्थ एक लाख गायें अपने साथ ले गया था। ये वर्णन इस बातकी साक्षी देते हैं कि भारतका गो-वंश असंख्य था, परंतु जैसे-जैसे चारों वर्ण और आश्रमकी शिक्षा-दीक्षाकी प्रणालीमें खराबी होती गयी, गोवंशका ह्रास होने लगा तथा उसीके साथ हम अपना सर्वस्व खोने लगे। विश्व-रक्षक धर्मस्थान भारतभूमिकी उर्वरा शक्ति ह्रास होने लगी। आज पतनोत्तर पतन ही होता जा रहा है।

गोसाहित्यकी छोटी-से-छोटी जानकारी, अनपढ़ भोले-भाले ग्रामीणोंको थी। खेती तथा गोपालनविषयक ज्ञानका गाँव-गाँव घर-घर इतना सहज प्रचार था कि पुस्तकें या स्वतन्त्र साहित्यकी आवश्यकता ही न थी। वेद, पुराण, आयुर्वेद आदिके महान् प्रसंगोंको लोगोंने मानो जीवनमें उतार रक्खा था और कण्ठस्थ कर रक्खा था। अंग्रेज विद्वानोंने सरकारकी देख-रेखमें जो साहित्य तैयार किया, उनमें दो व्यक्ति जो सबसे बढ़े-चढ़े विशेषज्ञ गिने जाते हैं—डा० जान अगस्तस बुलनर, पी-एच. डी. बी. ए., बी-एस-सी., एफ. टी., सी. और डा० नोरमैन बी राइट एम. ए., डी-एस. सी., पी-एच. डी.। ये भारतकी कृषि और गोपालन-पद्धतिको देखकर आश्चर्य-चकित हो गये थे।

हमारे भारतीय शास्त्र-ज्ञानभण्डारमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातोंका अनुसंधान करके उनका सूत्रवाक्योंमें वर्णन किया गया है, जिसके आधारपर यह पूर्णतया निर्विवाद सिद्ध है कि विश्वमे आध्यात्मिक और भौतिक—वैज्ञानिक कोई भी खोज ऐसी नहीं, जो हमारे शास्त्रोंमें न हो। बल्कि ऐसे अनेक वर्णन हैं, जिन्हें अभीतक पाश्चात्त्य जगत् समझ नहीं सका है। गायके श्वासोंमे चारों वेदोंका वास है।ओंकारका उच्चारण हुंकारादि है। संध्याको जब गाय चरकर आती है, तब गोधूलि-वेला होती है। गौकी चरण-धूलिसे दसों दिशाएँ पवित्र होती हैं। शुभ कार्यके लिये गोधूलि-वेला पवित्र मानी जाती है। गौकी चरणधूलिसे और उसके बैठनेसे भूमिकी उर्वरा शक्ति बढ़ती है, इस बातका ज्ञान आज अमेरिकाको हो सका है। परंतु गोधूलि-वेलाको क्यों शुभ कामोंमें पवित्र मानते हैं, इस रहस्यको वह नहीं जानता। गौ जब सुबह चरने जाती है, उस समय भी गो चरणधूलि उठती है। पर उस समयकी वेला क्यों नहीं पवित्र मानी जाती, इस रहस्यको क्या वह समझ सका है? विचार करें तो अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनोंके बीचमें कोई मध्य-बन्दु स्थान ऐसा है, जहाँ ये दोनों क्रियाएँ एक दूसरेमें अनुप्राणित होती हैं। इसका सम्बन्ध त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे है। यदि शास्त्रीय वाक्योंके आधारपर भौतिक विज्ञानसे गोतत्त्वके रहस्यवादकी खोज हो तो भौतिक विज्ञानके द्वारा चमत्कारमें डालनेवाली अनेकों बातें जानी जा सकती हैं। हमारे शास्त्रीय वाक्योंके आधारपर जर्मनीने अनेक भौतिक अनुसंधान किये हैं, परंतु कलिके प्रभावसे अनादिकालीन भारतीय ज्ञान-भण्डार रहते हुए भी हम पाश्चात्त्योंके चकमकमें आकर उनका अन्धानुकरण कर रहे हैं। हमारी शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन, लेन-देन, व्यवहार-व्यापार सभीको ब्रिटिश अमलदारीकी कूटनीतिने भ्रष्ट कर दिया, जिससे आज स्वतन्त्र होकर भी हम परतन्त्रताकी बेड़ीमें ही जकड़े हैं और अब भी जकड़ते जा रहे हैं; क्योंकि हम उन्हींका पदानुसरण आज भी कर रहे हैं।

भारतमें अरबों गायें थीं। भारतमें सोने, चाँदी, हीरे, पन्ने, मोतियोंके भण्डार भरे थे; परंतु भारतीय लोग त्यागवृत्तिमें विश्वमें अपना शानी नहीं रखते थे। भारतकी अतिथिसेवा देखकर विश्व चकित हो जाता था। ये सब गुण कहाँसे आते थे? गम्भीर गवेषणापूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट दिखलायी देगा कि विश्वमाता, सत्त्वगुणकी भण्डार, गोमाता जब परम सुखी थी, तब उसके श्वासके साथ चारों वेदोंका षडङ्ग प्रश्रवण होता था और परम प्रेमपूर्वक किये हुए उसके हुंकारसे ॐकारका उच्चारण होता था। इससे प्रकृति सत्त्वगुण-प्रधान बनकर समस्त भौतिक कार्यों, पदार्थों और मानव-बुद्धिको सत्त्वगुणी बना देती थी। यज्ञोंमें नाना प्रकारकी ओषधियोंकी तथा विभिन्न अन्नादि एवं गोघृत आदिकी वेदमन्त्रोंसे युक्त आहुतियाँ दी जानेके कारण समस्त वातावरण पवित्र होता था, देवता संतुष्ट होते थे। फलतः सहज ही अनिष्टका विनाश होकर विश्वकल्याण हुआ करता था। जबसे यह ज्ञान हमारी दृष्टिसे ओझल हो गया, यज्ञोंमें हवन-सामग्री, अन्न, गोघृत आदिकी आहुति देना अन्धविश्वास समझा जाने लगा, तबसे विनाशलीला आरम्भ हो गयी। यज्ञके अन्य भी कई अङ्ग हैं। पर मुख्यतः विराटरूपा गौ भगवती ही सत्त्वगुणकी भण्डार है। इसीलिये शास्त्र स्पष्ट घोषणा करते हैं, 'यतो गावस्ततो वयम्' 'यद्गृहे दुःखिता गावः स याति नरकं नरः।' त्रिकालज्ञ महात्मा ऋषियोंने ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयका प्रत्यक्ष अनुभव करके भारतीय ज्ञानभण्डारको भरा था। आजके भौतिक विज्ञानको यदि श्रद्धा हो तो वह हमारे शास्त्रीय ज्ञानके सूत्रवाक्यों-का उनकी बतायी हुई प्रक्रियाके अनुकूल अपनी पद्धतिसे

अनुसंधान कर देख ले। बेतारके तारसे एक मशीनद्वारा रूप-रंग और शब्द स्थानान्तरित होते हैं, वे पञ्चभूतद्वारा होते हैं, तब गौके सत्त्वगुणी और तमोगुणी परमाणुओंको जानना किसी हदतक भौतिक विज्ञानसे अवश्य सम्भव है। गौका पृथ्वीसे, सूर्य-रश्मियोंसे, पञ्चभूतोंसे, त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे निकट सम्बन्ध है; इसीसे भारत अध्यात्म-ज्ञानके लिये अनादिकालसे विश्वका गुरु रहा है, आज भी है और रहेगा।

भारतमें जब असंख्य गौएँ थीं तब गोपालन और गौकी बीमारियोंके निदान तथा इलाजमें भी भारत अद्वितीय था। इस विषयका साहित्य आज प्रायः नष्ट हो गया है। पहले इसका ज्ञान घर-घरमें व्याप्त था। यह ज्ञान इतना सहज व्यापक था कि छोटे-छोटे ग्रामोंमें अनपढ़ किसान लड़कपनसे ही इसे प्राप्त कर लेता था। पुस्तक-ज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक कार्यरूपसे प्रत्यक्ष ज्ञान लोगोंको प्राप्त होता था। किंतु भौतिक विज्ञानकी पदार्थोन्नतिमें आजका मानव अध्यात्मज्ञानसे मुख मोड़कर वासनाका दास बन गया है। कल-कारखानोंमें कार्य करता हुआ स्वयं जड, कल-पुर्जावत् बन गया है। भ्रमरकीट-न्यायसे विज्ञान यह सिद्ध करता है कि चौबीस घंटे मानव जिस विचारधारामें बहता है, वैसा ही बन जाता है। आज यही बात प्रत्यक्ष हमारे सामने मौजूद है। भोग्य-वस्तुओंकी बाढ़ने हमारी वासनाओंको बढ़ा दिया। हम गौको भूल गये। गौके तात्त्विक रहस्य हमारे मानस-नेत्रोंसे ओझल हो गये। कृषि दूषित हो गयी। पशु, पौधे और भूमिके मेल जादूके खेलकी तरह लुप्त हो गये। वस्तुतः मानव-स्वास्थ्य; पशु, पौधे और मिट्टीका स्वास्थ्य अलग-अलग नहीं है और इस अखण्डताकी प्राप्तिके लिये, संरक्षणके लिये, हरेक वस्तुको, उसकी मृत्युके बाद बेकार न समझकर मिट्टीमें लौटा देना चाहिये, जिससे वह फिर सजीव हो जाय। यह जीवनका पहला नियम है। यही उसे पूर्णता और स्वस्थता देता है। इन सिद्धान्तोंको सामने रखकर ही डा० वार्स सफल हुए। यही उपनिषदोंके शाश्वत ज्ञानकी श्रद्धा है, जिसे आज भारत भूल-सा गया है।

छान्दोग्य-उपनिषद्में सत्यकामकी कथा है। बालक सत्यकाम गुरुदेवकी आज्ञासे दुबली-पतली चार सौ गायें लेकर जंगलमें जाता है और १००० पूरी होनेपर स्वस्थ पशु लेकर लौटता है। इस कथानकमें दो बातें सामने आती हैं। यदि गायोंको इच्छानुकूल हरी घास स्वमुखसे चरनेको मिले तो उनका प्राकृत स्वास्थ्य स्वतः बन जाता है। तब वे दाना नहीं खातीं। सीकर राज्यके रामगढ़में मेरे निजका खेत है। हमने उस साल खेत न जुतवाकर उसे चरागाह रक्खा। गायें रात-दिन वहीं रहीं। तीन-चार दिनोंमें ही गायोंने ग्वार (दाना) खाना छोड़ दिया; क्योंकि पहले साल जुते हुए खेतमें, यथेष्ट वर्षा होनेके कारण नाना प्रकारकी वनस्पति, हरी-हरी घास यथेष्ट पेटभर मिलती थीं, इससे वे दूसरी चीज खाना पसंद नहीं करती थीं। मथुरा-वृन्दावनमें जंगली गायोंके झुंड हरिणसे तेज दौड़नेवाले और स्वस्थ हैं, बीमार तो वे कभी होतीं ही नहीं, कभी कोई होती भी हैं तो वनौषधियाँ ही उनका सहज इलाज बन जाती हैं। किंतु दूध उनके अपने बच्चोंके पेट भरने योग्य होता है। इन सब बातोंको देखकर मेरे विचारसे बच्चोंको यथेष्ट दुग्ध देकर दुग्ध दुहना हो तो गायें अपने बछड़े-बछड़ीके लिये, मानवरूप पुत्र-पुत्रीके लिये तथा हवनके घृतके लिये अधिक दूध देती हैं। भारतमें दुग्ध बेचना पूत बेचनेके समान पाप समझा जाता था और ग्रामीणोंमें कहीं-कहीं लोग अब भी पाप मानते हैं; क्योंकि कृषिमें मानव और बैल दोनोंके परिश्रमकी साझीदारी है। गौ माता है। वह अपने मानव-पुत्र और बछड़ा-पुत्र दोनोंके लिये दूध देती है। खेतीके लिये खाद भी—गोबर, गोमूत्रके रूपमें अधिक देती है। उससे उत्पन्न घास, तृणसे स्वयं पेट भरती है, अन्न मानवको देती है। आजकलकी डेयरी-प्रथा केवल दुग्ध-व्यापारके लिये है। इससे उनकी अच्छी नस्ल तैयार नहीं हो सकती; क्योंकि डेयरीवाला बछड़ी-बछड़ेके हककी भी चोरी करता है। गाय अपने बच्चेको दुग्ध न मिलना जान लेती है। उसका हृदय रोता है। मूक और सरल पशु सहन कर लेता है, परंतु उसका दूध कम हो जाता है। हाथी तो बदला लेता है। जो महावत हाथीके अन्नमेंसे अधिक अन्न चुरा लेता है, मौका पाकर हाथी उस महावतको मार डालता है। यह महावतोंका प्रत्यक्ष अनुभव है। परंतु दयामयी गौएँ ऐसा नहीं करती हैं। बचपनमें दुग्ध न भी मिले, तो भी चारे-दानेके सहारे बछड़ी-बछड़े जीवित रह सकते हैं। आगे चलकर वे स्वस्थ भी बन सकते हैं। परंतु यथेष्ट दुग्ध मिलनेपर तो उसका प्रभाव विलक्षण ही होता है। भारतके बैलोंका शरीर इतना बड़ा होता था कि लादनेके समय उन्हें बैठाकर लादते थे और वे घोड़ोंसे अधिक दौड़ते थे। जमीनसे हम अन्न, तृण, फल-फूल लें और मरे पदार्थ, मरे पशु-

पक्षी; कीट-पतंग; गोबर-गोमूत्र—सब सड़ी-गली चीजें
भूमिको लौटा दें और उसको कुछ आराम भी लेने दें
तो उसकी सर्वप्रकारकी शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। हम चरागाह
छोड़ते हैं; यदि उसे बहुत वर्षोंतक पड़ा रहने दें तो
जमीन कड़ी पड़कर वनस्पतियाँ उगनी बंद हो जाती हैं।
अतः खेतीके योग्य भूमिको उलट-पलट करते हुए उससे
चरागाह और खेती दोनों काम लें, जिससे गोपालनका
खर्च कुछ भी न हो; दुग्ध, दही; घृत मुफ्तमें मिले।
यही विधि भारतीय थी। परंतु आज हम भूमिसे पैदा ही
करना चाहते हैं; उसे बदला नहीं चुकाते। पशु-पक्षी,
अन्न; तृण सब कुछ पाकर भी नष्ट कर देते हैं। मृतक
खाद वापस नहीं लौटाते। गंगा; यमुना नदी, पवित्र
तालाब आदिमें, जहाँ पूजा कर गो-दुग्ध चढ़ाते थे; उस
विज्ञानको भी आज हम भूल गये हैं। आज हम गटरोंके द्वारा
समस्त भूमिकी खादको बेकाम बहा देते हैं। भूमिको
आहार नहीं मिलता। उसमें नाना प्रकारके कृमि-नाशक
कीटाणु फैलते रहते हैं। इधर हमारे स्नान-पानादिके जलकी
स्वच्छता नष्ट होकर नयी-नयी बीमारियोंके कीटाणु फैलते
हैं। यह मानव-कृत भयंकर भूल है, जिससे मानवोंकी
संख्या बल-वीर्यहीन पशु-कीटोंकी नाईं बढ़ रही है।
सात्त्विक ज्ञानसे हीन दानवी-बुद्धि वृद्धि पा रही है। परम
उपकारिणी गोमातातकका मांस खाकर आज लोग मानवता-
को लज्जित कर रहे हैं! भौतिक यन्त्ररूपी राक्षसी स्वप्नधारी
कल-कारखाने, रेलवे; हवाई जहाजोंके ऐरोड्रोम तथा बड़ी-बड़ी
सड़कें आदिके द्वारा खेतीकी जमीनें नष्ट कर डाली गयीं
तथा अब भी की जा रही हैं। जो कुछ भूमि है, उसको भी
यथेष्ट खूराक न देकर हम उसकी उपजाऊ-शक्तिका नाश
कर रहे हैं!

हमें यदि गोपालन करना है तो वह खेतीके साथ
गोपालन करनेसे ही होगा। इसीमें हमारा कल्याण है।
गो-वध कानूनके द्वारा एकदम बंद करना होगा। गौके
अङ्ग-प्रत्यङ्गका व्यापार बंद करना होगा। गौके किसी
भी अङ्ग-प्रत्यङ्गकी एक पाईकी भी चीज विदेश भेजना
कानूनके द्वारा भारतीय राष्ट्रके लिये प्राणघातक ठहराना
होगा। सरकारको कानून बनाकर घोषणा करनी होगी कि
गोवध भारत-जैसे राष्ट्रमें असम्भव है। गोवध करनेवाले
और गोमांस विदेश भेजनेवालोंको कड़ी सजा दी जायगी।
भारतमें गो-रक्तकी एक बूँद भी भूमिपर न गिरे, भारतकी
गायें जरा भी दुखी न हों; गाय-बैलको मारना तो दूरकी
बात, गाय-बैलको कोई अपशब्दतक न कहे; इसके
लिये कड़े-से-कड़े कानून बनाने पड़ेंगे। तभी सच्चा
वैदिक ज्ञान प्रकट होगा और उस ज्ञानसे विश्वविनाशकी विपत्ति
टलेगी। एवं तभी विश्वरक्षक भारतका आध्यात्मिक गुरुस्थान
पुनः प्रतिष्ठित और जाज्वल्यमान होगा। आज विश्व
इसी अन्धकारमें पड़कर महानाशका आमन्त्रण कर रहा है।
उसको बचानेका कार्य भारतके जिम्मे है, भूमण्डलपर जब-
जब विपत्तियाँ आयीं, भारतमें भगवान् तथा महापुरुषोंने
अवतार लिये। उन अवतारोंमें सर्वप्रसिद्ध राघवेन्द्र
राजेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और लीलाविहारी
श्रीरासरसिकेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र प्रधान हैं। इन्होंने
गो-सेवा करके गोविन्द; गोपाल नाम धारण किये
हैं। यह एक शिक्षा सत्यकाम जाबालके आख्यानकी
है। अब दूसरी शिक्षापर ध्यान दें।

सत्यकाम जाबाल श्रीगुरुदेवकी आज्ञासे गो-सेवामें लीन
हो गया। गायोंमें ही रहना, बैठना, चलना, फिरना, खड़े
होना; सोना—चौबीसों घंटे उनको सुखी बनानेका ध्यान
रखना; जहाँ हरी सुन्दर वनौषधियाँ हों; सुन्दर मीठा निर्मल
जल हो; वहीं उन्हें ले जाना, हाथ फेरना; उन्हें नहलाना,
मच्छर-मक्खियोंसे बचाना; हर-तरह उनकी प्राण-पणसे सेवा
करना; उनके सुखमें सुखी और दुःखमें दुखी होना और
बछड़ोंकी नाईं बचा हुआ दुग्धपान करना—यही उसका
काम था। गायें बड़े स्नेहसे उसे चाटती हैं। गौ-श्वासोंसे
प्रस्रवित चारों वेद, षडङ्ग सत्यकाम जाबालके रोमकूपोंमें
अनवरत भरते रहते हैं। परम प्रेमपूर्वक की हुई हुंकारोंसे
ॐकारका दिव्य अनहद-नाद उसके हृदयमें निरन्तर प्रवेश
करता है। गो-सेवा तथा गोमाताके द्वारा प्राप्त इस दिव्य
आनन्दमें विभोर होकर, दिन-रात इसी साधनमें संलग्न हुआ
सत्यकाम जाबाल अपने शरीरकी सुधितक भूल जाता है।
गोवंशकी एक हजार संख्या पूरी होनेपर भी श्रीगुरुगृह लौटनेकी
बात उसे याद नहीं है। तब वृषभने उसे याद दिलाकर
एकपाद ब्रह्मका ज्ञानोपदेश दिया। फिर अग्निदेवने द्वितीय,
हंसदेवने तृतीय और मुद्गलने चतुर्थ पाद ज्ञानका उपदेश
दिया। तदनन्तर जब वह श्रीगुरु-चरणोंमें उपस्थित हुआ
तब उसे देखते ही श्रीगुरुदेव कहते हैं—'तुम तो ब्रह्मज्ञानी-से
प्रतीत होते हो। तुमको ब्रह्मज्ञान किसने दिया?' तब
सत्यकामने सब वृत्तान्त वर्णन कर श्रीगुरुचरणोंमें गिरकर

ब्रह्मज्ञानके चारों पाद सुनाये । श्रीगुरुदेवसे आशीर्वाद पाकर वह सच्चा परिपूर्ण ब्रह्मज्ञानी बन गया । सत्यकामकी भाँति गो-सेवा करनेपर आज भी यह गौका रहस्य प्राप्त हो सकता है । परंतु कलियुगके प्रभावसे गौ आज दुखी है, गोरक्तके परमाणुओंने उसके श्वासोंमें आकर समस्त प्रकृतिको ही दानवी बना दिया है । कलकत्ता हाईकोर्टके भूतपूर्व चीफ-जज श्रीजॉन उडरफ अपने तन्त्र-ग्रन्थ 'प्रिंसिपलस् ऑफ तन्त्रास्' के पृष्ठ १८८ में लिखते हैं कि 'भारतमें गोरक्त गिरे तब मन्त्र-तन्त्र क्यों सफल हो ।' श्रीउडरफ साहब विदेशी गोमांसाहारी जातिमें उत्पन्न हुए थे । परंतु पूर्वजन्म-संस्कारके कारण उन्होंने मन्त्र-तन्त्र-शास्त्रका गम्भीर अध्ययन किया । अंग्रेजीमें कई ग्रन्थ मन्त्र-तन्त्रपर लिखे । मन्त्र विश्व-कल्याणार्थ हैं; गोरक्त गिरना, गौका दुखी होना उन मन्त्र-क्रियाओंमें परम बाधक है । उन्हें इसके मजबूत प्रमाण मिले, तभी उन्होंने यह लिखा, नहीं तो, ऐसा वर्णन उनके लिये सम्भव न था । अतः गौको सुखी करनेसे भारतके अध्यात्मशास्त्रकी रक्षा होगी । वैदिक कर्म-उपासना-ज्ञान पनपेगा, जिससे विश्वका यथार्थ संरक्षण होगा ।

राष्ट्रोंमें सर्वाधिक धनिक, परम उन्नतिके शिखरपर स्थित राष्ट्र अमेरिकाके प्रेसीडेंट स्वर्गीय श्रीरुजवेल्ट महोदय दो विश्वव्यापी लड़ाइयोंका अनुभव करके द्वितीय युद्धका विजयोत्सव मनाकर अन्तिम संदेश देते हैं कि 'हमने विश्वकी शान्तिके लिये दो महायुद्ध किये, परंतु विश्वशान्ति अभी दूर है । तीसरा महायुद्ध हमारे सिरपर मँडरा रहा है । युद्धोंसे विश्व-शान्ति न होगी । विश्वशान्तिके लिये हमको भय (Fear), शङ्का (Doubt), अज्ञानता (Ignorance) और लालच (Greed) पर विजय प्राप्त करनी पड़ेगी ।' इस संदेशके दो घंटे बाद उनके हृदयकी गति रुक गयी और वे पार्थिव शरीर छोड़कर चल बसे । आश्चर्य तब होता है जब वर्षोंसे सभी राष्ट्रोंके विद्वान् विश्वशान्ति-सम्मेलनमें इतना जोर लगा रहे हैं, परंतु अबतक वे इन सूत्र-वाक्योंके गम्भीर अर्थ नहीं समझ सके । उनके देहत्यागके बाद सिर्फ यह संदेश अप्रैल १९४५ ता० १३, १४ या १५ के पत्रोंमें छप गया, परंतु इसके अनन्तर कोई चर्चातक नहीं हुई; क्योंकि गौके दुखी श्वासों और गोरक्त-परमाणुओंसे व्याप्त तमोगुणी वायुमण्डलमें मानवी-बुद्धि तमोगुणी—दानवी होनेके कारण इस रहस्यको नहीं समझ सकती थी । उस विपरीत बुद्धिने इधर ध्यान ही आकर्षित न होने दिया । विश्वशान्ति-सम्मेलन इधर ध्यान कैसे देता ? महान् भयंकर प्रलयंकारी शस्त्रास्त्र बनाकर विश्व-विनाश करना इनका स्वाभाविक धर्म बन गया है ! आज अणु-बमसे इन्हें संतोष नहीं, मृत्युकी किरणोंसे संतोष नहीं, अब हाईड्रोजन बमतक तो बन चुका है । आगे इससे भी प्रबल ब्रह्मास्त्र कौन-से बनायेंगे, सो प्रभु जानें । आजकी मशीन और विज्ञान दोनोंने मिलकर मानव-जीवनको भोगोंके उच्च स्तरपर चढ़ानेका पाप किया है । भारतीय शास्त्र इसका स्पष्ट अर्थ कह रहे हैं कि 'भोगसे रोग और रोगसे नाश' । शास्त्रीय उपदेशपर ध्यान देनेपर क्या यह प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होगा कि ये सब चमत्कारी बातें गोतत्त्व-रहस्यमें भरी हैं । यदि हम गो-सम्बन्धी शास्त्रका संग्रह करें, अन्वेषण करें तो इसका प्रत्यक्ष हो सकता है । परंतु आज तो इतना अंधेर है कि धर्मके नामपर धनदान होता है, पर बटोरा जाता है—अधर्म । येन-केन-प्रकारेण परीक्षामें पास होनेके लिये प्राप्त की जानेवाली धर्महीन दूषित शिक्षा, गोमांस-मिश्रित दवाओंतकका उपयोग करनेवाले दवाखाने, चेचक आदिके टीकेके लिये बछड़ों तथा अन्य जानवरोंके शरीरसे सामग्री लेना आदि अबाध-गतिसे चल रहा है । 'गोमांस खानेसे अमुक रोग नहीं होंगे' ऐसी शिक्षा केवल विदेशी डाक्टर ही नहीं, भारतीय हिंदू कहलानेवाले डाक्टर भी देते हैं ! बड़े-बड़े होटलोंमें एक चूल्हेपर गो-मांस पकता है, पास ही दूसरेपर चावल पकता है । वहाँ अनेकों हिंदू शाकाहारी भोजन करते हैं । इन सब दूषित भावोंका एक प्रधान कारण हमारे भारतीयोंपर गौके दुखी श्वासों और गोरक्त गिरनेका प्रभाव है !

भारतमें लगभग ३००० गोशालाएँ हैं । उनमेंसे अधिकांश गोशालाओंमें, जिनकी गायें बिकतीं नहीं, प्रायः गाय, बछड़े-बछड़ी मर जाते हैं । कोई कहे तो जवाब मिलता है कि मरणोन्मुख पशु आते हैं, मर जाते हैं । परंतु गोशालामें जिन गायोंने दुग्ध दिया और—जो बच्चे जन्मे हैं, वे गाय-बछड़े तो बचने ही चाहिये । बच्चे यथेष्ट दूध न मिलनेसे मरते हैं और गायें चारा-दानाके तथा देख-भालके अभावमें मरती हैं । एक गाय अपनी उम्रमें कम-से-कम १२ या १३ बार ब्याती है । फिर उसकी बछड़ी तीसरे वर्ष ब्याने लगती है । इस हिसाबसे देखा जाय तो गोवंशकी उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिये; परंतु गोशाला तो मानो सभीके लिये एक-डेढ़ बर्ष टिकनेका स्थान मात्र रहती है । चाहे स्वस्थ दुग्धवती गायें हों, चाहे बछड़े-बछड़ी । क्या यह धर्म है ? गौकी

सेवाके लिये कहीं-कहीं डाक्टर हैं, परंतु क्या उनका इलाज कुछ ठीक है; जब कि गाय एक-डेढ़ वर्ष ही जीवित रहती है। फिर आज तो हर जगह एलोपैथिक दवा और डाक्टर गाँवोंमें भी प्रवेश कर रहे हैं। जहाँ दो पैसेकी दवासे काम चलता था, गरीबी दवाएँ चलती थीं; वहाँ गरीब किसानको दो रुपये खर्च करने पड़ते हैं। गौके इलाजके देशी नुस्खे लोप हुए जा रहे हैं। शालिहोत्र आदि पशु-चिकित्साके प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ मिलने कठिन हो गये हैं। भारतमें जहाँ अरबों गायें थीं; वहाँ कुछ गायें बीमार भी होती थीं, (यद्यपि उनकी संख्या कम थी; क्योंकि उस समय देख-रेख, सेवा-सँभाल तथा उपयुक्त खान-पानकी व्यवस्था थी) परंतु बीमार पशुओंकी चिकित्सा उस समय इतनी सुन्दर पद्धतिसे होती थी कि इलाज होते ही थोड़े ही दिनोंमें पशु सर्वथा स्वस्थ हो जाते थे। चरकसूत्र, अत्रि और पाराशर-संहिता; अग्निपुराण, मत्स्यपुराण आदिमें पशु-चिकित्साके सुन्दर प्रकरण हैं। इन ग्रन्थोंमें पशुओंके लक्षण बतलाये हैं। 'आइने-अकबरी' में भी वर्णन है। सबसे प्रसिद्ध शालिहोत्र ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रति लन्दनकी इण्डिया आफिसके पुस्तकालयमें सुरक्षित है। श्रीनिधिराम मुखर्जीका 'शालिहोत्र-सार-संग्रह' बँगला भाषामें ग्रामोंमें आज भी गोवैद्योंके पास है। उसमें अनेकों सफल नुस्खे हैं, जो ग्रामीणोंको याद हैं। एक जगह दो-ढाई वर्षका एक सुन्दर स्वस्थ बछड़ा पेट फूलकर अचानक बीमार हो गया और भूमिपर पड़ा तड़फड़ा रहा था। देखनेवाले दुखी थे, डाक्टर दवा करके हार मान चुका था। इतनेमें एक ग्रामीण गाड़ीवान आ गया। उसने पाँच-सात काली मिर्च जलके साथ खूब महीन पीसकर बछड़ेकी आँखोंमें आँज दी। दो मिनट भी नहीं लगा, गोबर-गोमूत्र करके वह बछड़ा स्वयं ही खड़ा हो गया। ऐसे पशु-चिकित्साके ग्रन्थोंका न तो आज कोई अन्वेषण है, न कोई शिक्षा है। परम्परागत कृषि, गोपालन, गौके इलाज, भूमिकी उत्पादनशक्ति बढ़ाकर कीटाणुओंसे खेतीके पौधोंकी रक्षा करना आदि गूढ़-विज्ञान हम भूलते जा रहे हैं।

हमारी भारतीय पद्धतिमें प्रकृतिका खेतीके साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्रोंमें देखें। अमुक दवा; अमुक मासमें, अमुक तिथि, वार, नक्षत्र, समयमें अमुक दिशाकी ओर मुँह करके खड़े होकर उखाड़े। तारागणोंको देखकर ग्रामीण अपढ़ किसान कितने बजे हैं, यह आज भी बताते हैं। पशु-पक्षीकी बोलीसे शुभ-अशुभ बतानेवाले अपढ़ व्यक्ति आज भी मिलते हैं। परंतु क्रमशः भारतीय शास्त्रीय ज्ञान लोप हो रहा है। मानो गायके वधके साथ हम भी सत्त्वगुण-विहीन होते चले जा रहे हैं। 'यतो गावस्ततो वयम्' का प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर भी तमोगुणी वातावरणके कारण हमारी तमोगुणी बुद्धि इतनी विपरीतदर्शिनी हो गयी है कि हम आज तमोगुणी भोगके सिवा और कुछ भी नहीं चाहते। इसका अवश्यम्भावी फल आत्माका पतन और विनाश ही है! कहनेको हम अपनेको भले ही गो-संतान कहें, गो-पूजक कहें, परंतु हमारी प्रतिनिधि सरकार होनेपर भी हम गो-वध होने देते हैं, यह क्या कम लज्जाकी बात है? गोवंशका अपने ही हाथों लोप करके आर्थिक, राष्ट्रिय और धार्मिक सब प्रकारकी हानि सहना और पाश्चात्त्योंका अन्धानुकरण करके ट्रैक्टर तथा कृत्रिम खादके लिये करोड़ों रुपये बरबाद कर देशको सुखी बनानेका स्वप्न देखना कितना बड़ा प्रमाद है? वे पाश्चात्त्य गुरु ही कहते हैं कि 'ट्रैक्टर और बनावटी खाद आगे जाकर भूमिकी उपजाऊ-शक्ति नष्ट कर देगी। भारतीय पद्धति तथा औजार उत्तम हैं। तब भी हमारी तमोगुणसे आवृत बुद्धि एक रुपयेकी जगह नौ रुपये खर्च करके उधर ही दौड़नेकी मूर्खता कर रही है। घरके ज्ञानभंडार वेदोंको हम निरर्थक कहते शर्माते नहीं हैं? कार्यरूपमें शास्त्रीय ज्ञानको स्थान ही नहीं देते। हमारे भाग्यविधाता आज दूषित शिक्षासे प्रभावित हैं। जनताकी कमजोर आवाज इनके कानोंतक पहुँचती ही नहीं। अतएव पाठकोंसे प्रार्थना है—यदि आपको सुख-शान्ति चाहिये; यदि भारतीय संस्कृति और भारतीय धर्म प्यारा है, मानव-देहके मुख्य ध्येय शिवत्वकी प्राप्तिके लिये वैदिक कर्म, उपासना और ज्ञानकी आवश्यकता है; गौ-ब्राह्मण, साधु-संत, मन्दिर और तीर्थकी रक्षा अभीष्ट है; तो 'संघे शक्तिः कलौ युगे' के अनुसार संघटित शक्ति तैयार कीजिये। आइये, इधर गोवधबंदी, गो-अङ्ग-प्रत्यङ्गके विदेश भेजे जानेकी सर्वथा बंदीकी सम्मिलित माँग करें। जबतक बंद न हो एक क्षण भी चुप न हों। ग्रामोंमें उत्साह भर जाये। सर्वस्व होमनेवाले लोग आगे बढ़ें! साथ ही कूटनीतिकी चालोंसे सतर्क रहें।

इधर भारतीय शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार खेती, गोपालन और इलाज शुरू कर दें। साथ ही गो-साहित्य-संग्रह करके उसके प्रकाशन और प्रचारका सफल प्रयत्न करें। गो-ज्ञानके महत्त्वका पुनः प्रकाशन हो, लोगोंको भूला हुआ मार्ग पुनः दिखाया जाय। लोग समझ सकें कि गो विश्वमाता है,

गौके विश्वरूप-वर्णनमें वेदों तकमें गौके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें भिन्न-भिन्न देवताओंका वास क्यों माना गया है। चौरासी लक्ष योनियोंमें एकमात्र गौके शरीरमें ही क्यों इस प्रकारकी महत्ता बतायी गयी है। इसी तरह गोबर-गोमूत्रको परमपावन प्राशनीय क्यों माना गया ? आयुर्वेदकी दृष्टिसे रोगविशेषपर अन्य जीवोंके विट-मूत्रके लेनेसे रोग-नाश माना गया है। परंतु उसका प्रायश्चित्त भी माना है। जैसे उष्ट्रका मूत्र जलोदर रोगमें पान कराया जाता है पर साथ ही धार्मिक दृष्टिसे उसका प्रायश्चित्त भी करवाया जाता है। लेकिन गोबर-गोमूत्र तो हमारे देवपूजन, श्राद्ध और हवन आदि धार्मिक कृत्योंतकमें पवित्रताके लिये अनिवार्य आवश्यक बतलाया गया है। पद्मपुराणमें कहा गया है कि पाँचों गव्योंमेंसे एक मासतक यदि मनुष्य कोई-सा एक भी गव्य न भक्षण करे तो वह मानव नहीं, 'मांस-पिंडवत्' है। गाय ही नरकसे उद्धार करती है। वैतरणीसे पार उतारती है। गो-घृत ही हवनीय है। अनादिकालसे हवनमें घृत होमा जाता है। चक्रवर्ती सम्राटोंने हाथीकी सूँडके समान गो-घृतकी मोटी धाराओंसे हवन किये थे। साग्निक लोग गो-घृतसे ही नित्य हवन करते आये हैं। सकाम-निष्काम हवन गो-घृतसे ही होता आया है, आज भी होता है। अनादिकालीन गो-घृत-पद्धतिको त्रिकालज्ञ ऋतम्भरा-प्रज्ञा-प्राप्त परमोच्च विद्वान् सदासे बरतते चले आये हैं। रावणादि राक्षस देवताओंको वशमें करनेके लिये गो-ब्राह्मण-हत्याको अनिवार्य समझकर अपनी सेनाओंको इनके नाशकी आज्ञा देते थे। किसलिये ऐसा करते थे ? चक्रवर्ती सम्राट् गायोंके पीछे नंगे पैर जंगलोंमें स्वयं घूमकर उन्हें चराते थे, जब कि लाखों सेवक उनके पूर्ण आधीन थे। गायें सेवाविशेषसे या समय-विशेषमें कामधेनुस्वरूपा होकर समस्त भौतिक पदार्थ देती थीं। सहस्रार्जुनकी सम्पूर्ण सेनाका राजोपमोगसे जंगलमें आतिथ्य, श्रीवसिष्ठजीकी नन्दिनीके रोमकूपोंसे अगणित सैनिकोंका निकलना—यह सब आश्चर्य गो-तत्त्वमें वर्तमान है। 'अध्यात्म-विज्ञान'से 'भौतिक-विज्ञान'के मध्यविन्दुतक यह विषय जाना जा सकता है। गो-तत्त्वके जिज्ञासु वैज्ञानिक विद्वानोंके द्वारा वेद, पुराण, प्राचीन-अर्वाचीन इतिहास आदि-का तात्त्विक अनुसंधान और अन्वेषण करके यह रहस्य बहुत कुछ जाना जा सकता है। भौतिक विज्ञानके द्वारा अनेकों बातें जानी जा सकती हैं। आज विश्व विनाशकी ओर जोरसे जा रहा है। सर्वत्र अशान्ति बढ़ रही है। इस सबका तमोगुणी वातावरण ही तो कारण है। इसके निराकरणका रामबाण उपाय है सत्त्वगुणी वातावरणका निर्माण। वह सत्त्वगुणका प्रत्यक्ष खजाना गौके शरीरमें है।

जब महाराज पृथुने गो-दोहन किया था और विश्वको सुख-शान्तिमय बनाया था, तब उन्होंने महर्षियोंमें श्रेष्ठ श्रीबृहस्पतिजीको वत्स बनाकर वेदरूपी दुग्ध दूहा था। इस कथानकके विद्वान् लोग अन्य अर्थ भी लगाते हैं। परंतु जो स्पष्ट अर्थ प्रचलित है, उसको क्यों छोड़ा जाय ? लोग कहेंगे कि 'हमारी बुद्धि ग्रहण न करे, तब कैसे मानें ?' सो बुद्धिपर तो गुणोंका प्रभाव है। शिक्षा-दीक्षा, वातावरण, संगति और खान-पानसे बुद्धि प्रभावित होती है। विकृत बुद्धि सत्यका निर्णय नहीं कर सकती। एक अपढ़की बुद्धि और विद्वान्की बुद्धिमें कितना अन्तर होता है। हरेककी बुद्धिका निर्णय सर्वत्र नहीं माना जाता। किसी अनुभवी ड्राइवरके स्थानमें एक कुलीको रेलका इंजन चलाने दिया जाय तो यात्रियोंकी मृत्यु निश्चित है। आज विश्व-मानव विश्वशान्ति चाहता है। विश्व-विनाशके दो महायुद्ध हो चुके। तीसरा सिरपर मँडरा रहा है। भौतिक वैज्ञानिकगण महानाशके भयंकर-से-भयंकर विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण कर रहे हैं पर इससे कभी शान्ति न होगी। विश्व-शान्तिदायक तथा निश्चित लाभकारी हवनादिके सुन्दर सफल अनादिकालीन प्रयोग सामने होनेपर भी हमारी बुद्धि यदि आज उन्हें नहीं अपना रही है तो यह दोष हमारी तमसाच्छन्न बुद्धिका है। जबतक यह दोष रहेगा, जबतक मनुष्य सुख-शान्तिके आधार गो-तत्त्वकी भारतीय शास्त्रोंसे खोज करके पूरी बात न समझकर गौको सुखी न बनायेगा, तबतक उसका कल्याण नहीं होगा। विश्व-प्रकृति क्षुब्ध रहेगी, विश्वकी अशान्ति नहीं मिटेगी। भगवान् स्वयं अवतार लेकर भी प्रथम गो-ब्राह्मणकी रक्षा करते हैं।

'नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥'

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

महोदय ! सादर प्रणामके साथ हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए। मेरे साथ आप मित्रभावसे व्यवहार कर सकते हैं और हरिस्मरण लिख सकते हैं।

'आत्मा' शब्द स्वभावतः निर्मलताका बोधक होते हुए भी जब उसे कर्ता या ज्ञाता कहा जाता है तब वह उसके निर्मल स्वरूपको लक्ष्य करके नहीं कहा जाता। इसलिये गीता अ० १८ श्लोक १६ में 'केवल' शब्दका अर्थ निर्मल—विशुद्ध करना आवश्यक है। अकेला भी उसे इसी भावसे कहा जाता है। उक्त श्लोकमें 'तत्र' शब्द न्याय्य और विपरीत कर्मोंका बोधक नहीं, किंतु उक्त समस्त प्रकरणका बोधक है तथा 'एवं' शब्द उक्त प्रकारका बोधक है। उसे प्रकारान्तरसे पाँच हेतुओंका भी बोधक माना जा सकता है। परंतु आगे चलकर जो सात्त्विक, राजस, तामस कर्ताके भेद बताये गये, वह कर्ता कौन है तथा पाँच हेतुओंमें जो एक कर्ता बताया गया है वह कौन है ? पाँचोंमें जो एक कर्ता है, वह चेतन है या जड, इसपर विचार करनेपर आप समझ सकते हैं कि यहाँ 'केवल'का अर्थ अकेला नहीं, किंतु विशुद्ध—निर्मल करना ही ठीक है।

'दैव' शब्द नैमित्तिक कर्मका वाचक नहीं हो सकता; क्योंकि 'दैव'की गणना पाँच हेतुओंमें है और नैमित्तिक कर्म तो स्वयं कर्म है, जो उक्त पाँच हेतुओंसे सम्पादित होता है।

श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी हरेक कर्ममें करण हैं। बिना ज्ञानेन्द्रियोंके कर्म-सम्पादन हो ही नहीं सकता। क्या देखना, सुनना आदि ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रिया कर्म नहीं हैं ? विचार करनेपर मालूम होगा कि हाथ-पाँव आदिकी क्रियामें तो आँख-कान आदिकी आवश्यकता है; परंतु आँख और कान आदि इन्द्रियोंके कर्ममें हाथ-पैरकी जरूरत नहीं। अतः 'ज्ञान' शब्द यहाँ ज्ञानेन्द्रियोंका वाचक नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रिय नाम करणका ही है। करण भी प्रेरक नहीं हो सकता। यहाँ 'ज्ञान' शब्द कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानका वाचक है। कर्तव्य-अकर्तव्य ही ज्ञेय हैं और उसे जाननेवाला ज्ञाता है। इन तीनोंके संयोगसे ही मनुष्यकी कर्म करनेके लिये इच्छा होती है। अतः इनको कर्म-प्रेरक कहा गया है। कर्म करनेका संकल्प पहले-पहल मनमें उठता है, इन्द्रियोंमें नहीं। उदाहरण इस प्रकार समझिये—

जैसे किसी मनुष्यको प्यास लगी तो जल पीना आवश्यक मालूम हुआ। यहाँ जल पीना कर्तव्य है। यह ज्ञेय है। इसकी आवश्यकताका 'मालूम' होना ज्ञान है। और जिसको मालूम हुआ वह ज्ञाता है। उसके बाद जल प्राप्त करनेके लिये और पीनेके लिये जो क्रिया की गयी उसका नाम कर्म है। जिन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा क्रिया की गयी, उनका नाम करण है। क्रिया करनेवालेका नाम कर्ता है। जल पिया जाना ही कर्मका सम्पादन होना है। इसी प्रकार प्रत्येक विषयमें समझ लेना चाहिये।

किसी भी वस्तुके ज्ञान होनेमें योगशास्त्रमें तीन प्रमाण माने गये हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) आगम। इन तीनोंका नाम ही प्रमाण है। प्रमाण नामका कोई चतुर्थ हेतु नहीं है। उदाहरण-से होनेवाले प्रमाणका नाम उपमान है। इसका अन्तर्भाव अनुमानमें ही हो जाता है। इसलिये योगशास्त्रमें तीन प्रमाण माने गये हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान केवल इन्द्रियोंसे नहीं होता। इन्द्रियाँ तो मन और बुद्धिकी सहायकमात्र हैं। मरुभूमिमें आँखोंद्वारा प्रत्यक्ष जल दीखता है; परंतु मिलता नहीं, तब बुद्धिको आँखोंकी भूल मालूम हो जाती है। अतः

इन्द्रियाँ स्वतः ज्ञानकी कारण नहीं हैं। उसी प्रकार शास्त्रज्ञान और अनुमान-ज्ञान भी सबके सहयोगसे ही होता है। किसी एक इन्द्रियसे नहीं। मन-बुद्धिके विना किसी प्रकारका भी ज्ञान नहीं होता।

ज्ञानेन्द्रियोंके विना केवल मन-बुद्धिसे भी उस विषयका तो ज्ञान हो सकता है जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे भिन्न है। जैसे संकल्प केवल मनका विषय है, इसमें इन्द्रियोंका सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार देखना, सुनना, गन्ध ग्रहण करना आदि कर्मोंका सम्पादन विना कर्मेन्द्रियोंके भी हो सकता है। अतः दसों इन्द्रियाँ ही कर्मसम्पादनमें करण हैं। इनमें कोई भी इन्द्रिय कर्म-प्रेरक नहीं है।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। समाचार मालूम हुए। आप भगवान्‌के लिये रोते हैं तब भी आपको दर्शन नहीं हुए, इसका कारण पूछा सो इसका कारण मैं क्या बताऊँ? सम्भव है आपने अपने हृदयको शुद्ध अर्थात् सांसारिक पदार्थोंसे खाली नहीं किया होगा, उसमें दूसरी आवश्यकताएँ भी भरी होंगी। ऐसा न होता, एकमात्र प्रभुकी ही आवश्यकता बच रहती, तब तो भगवान् देर नहीं कर सकते। साधकका तो बस, इतना ही काम है कि वह भगवान्‌के मिलनेकी चाहको एकान्त और अनिवार्य बना ले। जबतक भगवान् न मिलें, चैन न पड़े तथा उस परम सुहृद् अकारणकरुणा-वरुणालय भगवान्‌की कृपापर यह दृढ़ भरोसा, यह दृढ़ विश्वास रक्खे कि उस अहैतुकी कृपासे भगवान् मुझे अवश्य दर्शन देंगे।

एक संतने जो आपसे कहा कि—'हजारों वर्ष रोते जाओ तो भी कुछ न होगा' सो उन संतने यह बात किस भावसे कही, यह तो वे ही जानें, परंतु आपको उनकी बातपर खयाल करके कभी निराश नहीं होना चाहिये। मिलना-न-मिलना तो भगवान्‌के हाथकी बात है, परंतु साधकका काम पुकारते रहना और आशा लगाये रहना है। उसकी पुकार तो दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती ही रहनी चाहिये। बादल यदि वर्षा न करे, पानीके बदले यदि पत्थरोंकी वर्षा करके पपीहेकी पाँखें तोड़ डाले, तब क्या पपीहा पुकार लगाना छोड़ दे? क्या वह निराश हो जाय?

संसार स्वप्नवत् दिखायी दे, यह तो बहुत ही अच्छी बात है।

दूकान और उसका काम अपना न समझकर उस प्रियतम (भगवान्) का समझें और उनकी प्रसन्नताके लिये ही इस भावसे करें कि इस कामको सुचारुरूपसे करनेपर मेरा प्रियतम उसी प्रकार मुझपर प्रसन्न होगा, जिस प्रकार किसी एक नाटक-कंपनीका स्वामी अभिनेताके सर्वथा सफल अभिनयपर होता है।

रात्रिमें स्वप्नमें कभी-कभी इष्टदेवके दर्शन होते हैं, यह तो अधिक आशावर्धक बात है। स्त्री-भोगकी इच्छाका होना ही इस बातको प्रमाणित करता है कि भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य विषयोंकी आसक्ति तथा चाह भी हृदयमें है। यही तो विलम्बका कारण है।

दूसरे महात्मा, जो साकारका खण्डन करते हैं, वे साकारके रहस्यको नहीं जानते। अतः उनसे हाथ जोड़कर क्षमा माँग लेनी चाहिये। आपका यह समझना कि मेरा प्रियतम कण-कणमें सर्वत्र है, बहुत ठीक है; परंतु वह जब सर्वत्र है तब क्या मूर्तिमें नहीं है? अवश्य है। यह बिलकुल ठीक है कि वह इष्टदेव निर्गुण भी है और सगुण भी, निराकार भी है और साकार भी।

भगवान्‌के दर्शन तो एकमात्र उन्हींकी कृपासे होते हैं। प्रारब्धका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। संसारसे जितना अधिक वैराग्य हो, अच्छा है।

अपने-आपको ईश्वरके प्रति सौंप देना, उन्हींपर निर्भर हो जाना, यह तो सर्वोपरि साधन है। गुरु करनेके लिये कहनेवाले संतोंको हाथ जोड़कर कह देना चाहिये कि मैंने तो एक परमात्माको गुरु बना लिया है। जो सबका गुरु है, वही मेरा गुरु है। यह मनमें दृढ़ रखना चाहिये कि फिर अन्य गुरुकी जरूरत नहीं रहेगी। आजकल गुरु बननेवालोंकी भरमार है, उनसे तो अलग रहना ही अच्छा है।

अपने साधनपर अटल विश्वास रखना चाहिये। साधनके विरोधी भावोंको मनमें स्थान नहीं देना चाहिये, भगवान्‌पर निर्भर हो जानेके बाद डर किस बातका?

प्रेमकी कभी पूर्णता नहीं होती। यह तो नित्य नया रहता है। प्रेमका स्वरूप अनन्त है। अतः यह नहीं समझना चाहिये कि मेरा प्रेम पूर्ण है और यह भी अभिमान नहीं करना चाहिये कि साधनके बलसे भगवान् मिलेंगे। भगवान् तो अपनी कृपाके वश होकर ही मिला करते हैं, उनसे बिना मिले रहा नहीं जाता।

कमजोरीका लक्ष्य करानेवाले और मिटानेवाले तो एकमात्र वे प्रियतम ही हैं। उनके सिखानेके ढंग अनेक प्रकारके होते हैं। जिसने अपनेको उनपर छोड़ दिया, जिसने निराश होकर एकमात्र उनपर ही विश्वास कर लिया, जो उन्हींपर निर्भर हो गया, उसका जीवन व्यर्थ कैसे जा सकता है? जीवन तो उसी दिन, उसी समय सार्थक हो गया जब यह जीव अपने परम सुहृद् प्रभुपर सरल विश्वास करके उनपर निर्भर हो गया। निर्भर भक्तके पास काम-क्रोधादि दुर्गुण आनेमें स्वयं डरते हैं। जो प्रभुका हो गया, उसमें दुर्गुण कैसे रह सकते हैं? फिर दुर्गुणोंद्वारा कुचले जानेका तो सवाल ही नहीं उठ सकता।

अपनी पत्नीको माँ कहनेकी या माँ-भावसे देखनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। उसको तो अपनी साथी, सहयोगिनी समझना चाहिये तथा धर्मानुकूल ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उसका और अपना कर्तव्य-पालन करते रहना चाहिये। जो कुछ करें, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उन्हींकी प्रेरणाके अनुसार करना चाहिये।

वास्तवमें सब भगवान् हैं, सबमें भगवान् हैं,—इस भावसे यदि सर्वत्र सम-भाव हो, प्रेमकी समानता और केवलमात्र व्यवहारका भेद रहे तो बहुत ही उत्तम बात है।

(३)

महोदय, सादर हरिस्मरण। आपने परम सुहृद् प्रभुकी शरणमें जानेका उपाय पूछा, सो यह उपाय प्रायः मनुष्योंको विदित है। जब मनुष्य किसी प्रकारके घोर दुःखसे दुखी होता है और उसे निवारण करनेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ समझता है, तब वह सर्वसमर्थकी शरणमें जाता है, यह सभीके अनुभवकी बात है। अतः इस नश्वर संसारके भोगोंको दुःखमय समझकर एवं अपने जन्म-जन्मान्तरके पापोंको और वर्तमानके भयंकर जीवनको देखकर साधकको अत्यन्त दुखी होना चाहिये और संसारसे और अपने बलसे सर्वथा निराश होकर अपनी निर्बलताका अनुभव करके, निर्बलोंके एकमात्र बल, परम सुहृद्, अकारण कृपा करनेवाले सर्वसमर्थ भगवान्‌के प्रति अपने आपको समर्पण कर देना चाहिये। सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर हो जाना ही उनकी शरणमें जाना है। शरणमें जानेके लिये किसी प्रकारके गुण या बलकी आवश्यकता नहीं है। बलका अभिमान तो शरणमें रुकावट डालनेवाला है। जो अपनेको जितना ही निर्बल, असमर्थ और नीच मानता है, वह उतना ही अधिक शरणका अधिकारी है।

रजि० सं० ए० १७५

श्रीगीता-जयन्ती

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको मुझमें त्यागकर तुम केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ । मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा । तुम शोक मत करो ।'

श्रीमद्भगवद्गीता सर्ववेदमयी, सर्वशास्त्रमयी, सर्वयोगमयी, सर्वसिद्धिमयी, सर्वमन्त्रमयी और सर्व-कल्याण-सिद्धान्तमयी है । इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, अभ्यासयोग, ध्यानयोग आदि समस्त साधनों-का संक्षेपमें बड़ा महत्त्वपूर्ण वर्णन है । किसी भी क्षेत्रका, किसी भी दुविधामें पड़ा हुआ, किसी भी देश, जाति, धर्मका मनुष्य गीतासे दिव्य प्रकाश प्राप्त कर सकता है । गीता सारी उलझनोंको सहज ही सुलझा देनेवाला सरल सिद्ध वाङ्मय है । इससे अन्धकारमें पड़े हुओंको प्रकाश, मार्ग भूले हुओंको सन्मार्ग, निराश प्राणियोंको निश्चित आशाकी ज्योति, शोकग्रस्तोंको उल्लासमय प्रसाद, कर्तव्यविमूढ़ोंको कर्तव्यज्ञान, पापियोंको पापनाशका सहज साधन, राजनीतिक कर्मियोंको दिव्य नीतिकी शिक्षा, कर्मप्रवण पुरुषोंको बन्धनसे मुक्त करनेवाले निष्कामकर्मकी प्रक्रिया, भक्तोंको उच्चतम भक्तिका स्वरूप, ज्ञानियोंको दिव्य ज्ञानका प्रकाश—कल्याणमय कल्पतरुकी भाँति जो जिस कल्याण-वस्तुको चाहता है, उसे वही मिलती है । गीतामाता स्नेहमयी जननीकी भाँति सभी संतानोंको नित्य कल्याण-मार्ग प्रदान करती हैं । वर्तमान विपत्तिग्रस्त, कलह-क्लेशसे त्रस्त और संदेह-अविश्वासके पाशमें आबद्ध प्राणिजगत्‌को यदि सर्वाङ्गीण मुक्तिका मार्ग मिल सकता है तो वह श्रीमद्भगवद्गीतासे ही । अतः गीतामाताकी ही सबको शरण ग्रहण करनी चाहिये ।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ल ११ सोमवार तारीख ६ दिसम्बरको श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है । इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताजीके क्रियात्मक अध्ययनकी स्थायी योजना बननी चाहिये । पर्वके उपलक्ष्यपर श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीताग्रन्थका पूजन ।

(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन ।

(३) गीताका यथासाध्य पारायण ।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताप्रचारके लिये सभाएँ, गीतातत्त्व और गीतामहत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नामकीर्तन आदि ।

(५) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण ।

(६) प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्‌की विशेष पूजा ।

(७) जहाँ कोई अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभा-यात्रा ।

(८) लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें ।

कल्याण
वर्ष २८
अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०११, दिसम्बर १९५४

चित्र-सूची

तिरंगा

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)

साधारण प्रति
भारतमें ।≡)
विदेशमें ॥-)
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

कल्याणके प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे सादर निवेदन

'कल्याण' इस अङ्कमें अपना अट्ठाईसवाँ वर्ष पूरा कर रहा है। यह बारहवाँ अङ्क इस वर्षकी अन्तिम संख्या है और इस संख्यामें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है। उनतीसवें वर्षका प्रथम अङ्क (विशेषाङ्क) 'संत-वाणी-अङ्क' होगा। सब प्रकारके दुःख-द्वन्द्वोंसे, निराशाके घोर अन्धकारसे, अज्ञानके गहरे गड्ढेसे, पाप-तापके नरकानलसे उद्धार करनेमें संत-वचन परम समर्थ हैं। इस अङ्कमें इस प्रकारके ५५० से कुछ अधिक संतोंके चुने हुए महामूल्यवान् वचनरत्नोंका संग्रह किया गया है। इस अङ्कमें जो कुछ है, सभी परम उपादेय और परमधनकी भाँति संग्रहणीय है। इसमें क्या-क्या है?—

१. सनकादि, नारद, वशिष्ठ, वाल्मीकि आदि पचासों दिव्यज्ञानसम्पन्न महर्षियों और मुनियोंके तथा सिद्ध राजर्षि; प्रह्लाद, ध्रुव, भीष्म, अर्जुन आदि महान् भक्त; प्रह्लाद, बलि, वृत्रासुर आदि असुर-भक्त; व्याधादि शूद्र आदि संतोंके वचनोंका संकलन है।

२. माता देवहूति, अनुसूया, सुकला, सावित्री आदि पतिव्रता सतियों और कुन्ती-द्रौपदी आदि भक्त-नारियोंकी सुमधुर वाणी है।

३. श्रीशंकराचार्य तथा वैष्णव-सम्प्रदायाचार्य श्रीरामानुज, श्रीनिम्बार्क, श्रीमध्व, श्रीवल्लभ, श्रीरामानन्द, श्रीचैतन्य आदिके दिव्य वचन हैं। अल्वार भक्तोंकी मधुर वाणियाँ हैं।

४. श्रीजालन्धरनाथ, गोरखनाथ, ज्ञानदेव आदि योगी; एकनाथ, समर्थ रामदास, तुकाराम, नामदेव आदि महाराष्ट्र-भक्त; कबीर, दादू, रैदास, सुन्दरदास, धरमदास, धरनीदास, बुल्लासाहिब, दरियासाहेब आदि मध्यकालीन अद्वैतवादी संतोंकी वाणियाँ हैं।

५. श्रीसूरदास तथा अष्टछापके भक्त-कवि, श्रीहितहरिवंशजी तथा उनके अनुयायी भक्त-कवि, निम्बार्क-सम्प्रदायके भक्त-कवि आदिकी; श्रीतुलसीदासजी आदि तथा अयोध्याधामके अन्यान्य विशिष्ट संतों तथा अनेकों राम-भक्तोंकी सुललित मनोहर वाणियाँ हैं।

६. भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर तथा अन्यान्य जैन-बौद्ध संतोंकी, श्रीनानक आदि सिख-गुरुओंकी, रामस्नेही, दादूपन्थी आदि सम्प्रदायोंके खास-खास संतोंकी वाणियाँ हैं।

७. स्वामी ब्रह्मानन्दजी, अवधूत केशवानन्दजी, योगी गंभीरनाथजी, स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी, स्वामी श्रीस्वयंज्योतिजी आदि त्यागी संन्यासियोंके सद्वचन हैं।

८. वर्तमान युगके श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, श्रीविजय-कृष्ण गोस्वामी, प्रभु जगद्बन्धु, श्रीरमण महर्षि, लोकमान्य तिलक, श्रीअरविन्द, महामना मालवीयजी, महात्मा गांधी, ऋषि दयानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदिके चुने हुए वचन-रत्न हैं।

९. पचासों सूफी संतों और दर्जनों विदेशी संतोंके अमूल्य वचनोंका संकलन है।

१०. श्रीगोपीजनोंके मनोहर चार गीत; भगवान् विष्णु, श्रीशंकर, श्रीराम और श्रीकृष्णके मनोहर ध्यान; श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदिके छोटे-छोटे सुन्दर सिद्धान्तके तथा स्तवनके ग्रन्थ मूल और अनुवादसहित हैं।

*

११. धैर्य तथा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दीर्घकालतक अनुष्ठान करनेसे रोग-संकट, प्राण-संकट, ऋणसंकट, अर्थसंकट, शत्रुसंकट, पापसंकट और मोहसंकट आदिको मिटाकर आरोग्य, जीवन, अर्थ, सम्पत्ति, यश, विजय आदि लौकिक, तथा भक्ति, मुक्ति, भगवत्प्रेम आदि पारमार्थिक स्थिति प्रदान करनेवाले चुने हुए सिद्ध तथा अनुभूत स्तोत्रोंका मूलसहित भाषान्तर दिया गया है।

१२. भगवान् शंकर, भगवान् विष्णु, भगवान् सीताराम, भगवान् राधाकृष्णके रंगीन-सुनहरी चित्रोंके साथ ही इस अङ्कमें बड़ी संख्यामें रंगीन तथा सादे चित्र एवं संतोंके चित्र भी दिये गये हैं।

इस प्रकार यह विशेषाङ्क लोक-परलोकहितकारी और स्वार्थ-परमार्थको प्राप्त करनेके अचूक साधन बतलानेवाला है। सुदूर प्राचीनकालसे लेकर वर्तमान कालतकके भारतीय शत-शत महान् संतों तथा अन्यदेशीय एवं विभिन्नधर्मीय सैकड़ों संतोंकी दुर्लभ वाणियोंका संग्रह एकत्र आजतक हिंदीमें कहीं नहीं छपा है। केवल ७॥) रुपयेमें इतनी अमूल्य सामग्रीका प्राप्त होना बड़े ही सौभाग्य और सुअवसरकी बात है, इससे सभी प्रेमियोंसे अनुरोध है कि वे तुरंत ७॥) रुपये मनीआर्डरसे भेजकर इसके ग्राहक बन जायँ और प्रयत्न करके इसके कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक बनाकर पवित्र संतवाणीके प्रचार-प्रसारमें सहायक हों। इससे देशकी, धर्मकी तथा ईश्वरकी बड़ी सेवा होगी।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं। अतः सारे पत्र-व्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय तथा मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये।

पत्र-व्यवहारमें और रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नंबर जरूर लिखनेकी कृपा करें। नंबर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना-ग्राहक' अवश्य लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें।

ग्राहक-नंबर न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें विशेषाङ्क नये नंबरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नंबरकी वी० पी० दुबारा जायगी। ऐसा भी संभव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न करें और प्रयत्न करके नया ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेका कष्ट करें।

जिन महानुभावोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक मनाहीका एक कार्ड अवश्य लिख दें। ऐसा करनेसे उनके सिर्फ तीन पैसे खर्च होंगे, पर 'कल्याण' कई आने डाकखर्चके नुकसान तथा समयके अपव्ययसे बच जायगा।

सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये। सजिल्द अङ्क जानेमें देर हो सकती है।

व्यवस्थापक—'कल्याण' कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)
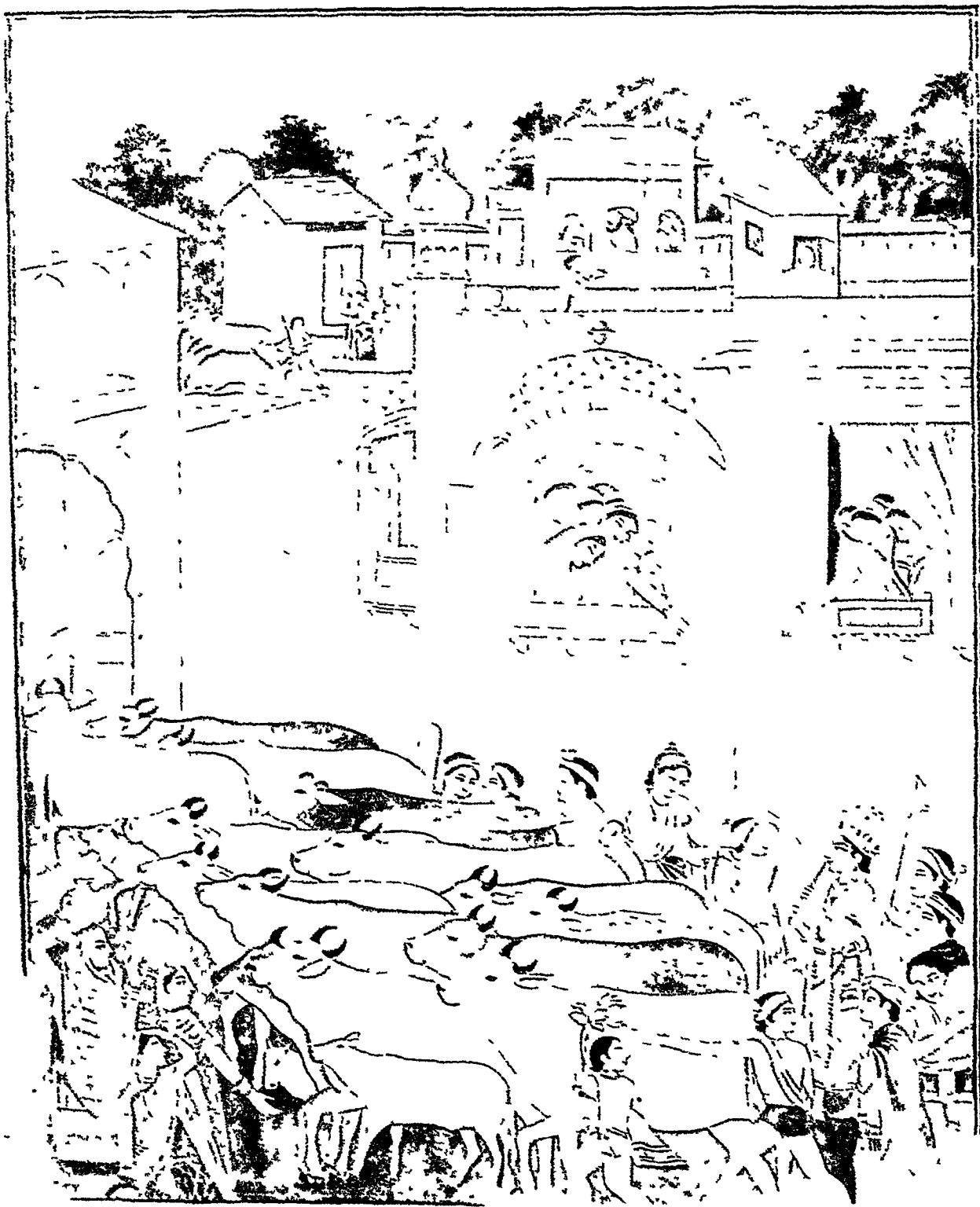
हरि आवत गाइनके पाछे

[प्राचीन चित्रसे

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्धयै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ } गोरखपुर, सौर पौष २०११, दिसम्बर १९५४ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ३३७

हरि आवत गाइनके पाछे

मध्य किए लै स्याम कौं, सखा भए चहुँ पास ।
वच्छ धेनु आगे किए हो, आवत करत विलास ॥
बाजत वेनु विषान, सवै अपने रँग गावत ।
मुरली धुनि, गोरंभ, चलत पग धूरि उड़ावत ॥
मोर मुकुट सिर सोहई, वनमाला पटपीत ।
आसपास नाचत सखा हो, विच्च हरि गावत गीत ॥
देखि हरषि व्रज-नारि, स्याम पर तन मन वारति ।
इकटक रूप निहारि, रहीं मेटति चित आरति ॥

—श्रीसूरदासजी

याद रक्खो—(१) भगवान् इच्छा करनेसे मिलते हैं। अवश्य ही वह इच्छा होनी चाहिये एकान्त और अनिवार्य आवश्यकताके रूपमें।

(२) भगवान् नित्य पूर्ण हैं, अतएव वे पूर्ण ही मिलते हैं।

(३) भगवान् मिलकर कभी बिछुड़ते नहीं, उनकी एक बारकी प्राप्ति सदाकी प्राप्ति होती है।

(४) भगवान्‌की प्राप्तिकी कामना और साधना इन्द्रियोंको संयमित तथा मनको शुद्ध करेगी। अतएव पाप नहीं होंगे।

(५) भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें राग-द्वेष, वैर-विरोध, आशा-ममता आदि छूटेंगे, इससे साधन-कालमें ही मनमें शान्ति रहेगी।

(६) भगवान्‌को प्राप्त करनेकी कामना और साधना रहनेपर अन्तकालमें संसार छोड़ते समय दुःख नहीं होगा।

(७) भगवान्‌को प्राप्त करनेकी कामना और साधना रहनेपर अन्तकालमें मन भगवान्‌में रहेगा और उसे सहज ही भगवान्‌का स्मरण होगा।

(८) अन्तकालमे भगवान्‌में मन रहते मरनेपर मरनेके अनन्तर निश्चितरूपसे भगवान्‌की ही प्राप्ति होगी।

याद रक्खो—(१) भोगोंकी प्राप्ति इच्छासे नहीं होती। कर्मसे होती है। धन, पुत्र, मान, अधिकारकी कौन इच्छा नहीं करता, पर वे नहीं मिलते। उनके लिये कर्मका बीज चाहिये। जैसा कर्मबीज होगा वैसा ही फल मिलेगा।

(२) भोग सभी अपूर्ण है, इसलिये वे जब भी, जो भी मिलेंगे अधूरे ही मिलेंगे, इससे कभी भी अभाव-का नाश नहीं होगा। अभाव ही दुःख है।

(३) भोगका वियोग अवश्य ही होगा, चाहे पहले भोग समाप्त हो जायगा या पहले हम मर जायँगे।

(४) भोग-प्राप्तिकी कामना और साधनामें इन्द्रियों-का असंयम और मनकी अशुद्धि बढ़ेगी—नये-नये पाप अवश्य होंगे।

(५) भोग-प्राप्तिकी कामना और साधनामें राग-द्वेष, वैर-विरोध, आशा-ममता आदि बढ़ते ही रहेंगे, इससे मन सदा-सर्वदा अशान्त रहेगा।

(६) भोग-प्राप्त करनेकी कामना-साधनामें मन लगा रहनेसे तथा भोगोंमें ममता होनेसे संसार छोड़ते समय अन्तकालमें महान् दुःख होगा।

(७) भोग-प्राप्तिकी कामना तथा भोगोंमें ममता-आसक्ति रहनेसे अन्तकालमें मन किसी-न-किसी भोगमें ही रहेगा। भोगकी स्मृति ही निश्चित होगी।

(८) अन्तकालमें भोगमें मन रहते मरनेपर उसके अनुसार तथा जीवनभर भोग-कामनाओंसे प्रेरित होकर पाप-संचय करनेके कारण मरनेके बाद भीषण दुःखमय नरकोंकी तथा बार-बार नीच आसुरी योनियों-की प्राप्ति होगी।

याद रक्खो—इच्छा करनेपर भगवान्‌की प्राप्ति निश्चित, सहज है और भोगोंकी प्राप्ति हजार इच्छा करनेपर भी सर्वथा अनिश्चित और बड़ी कठिन है। अवश्य ही वह इच्छा ऐसी होनी चाहिये जिसकी पूर्ति दूसरी वस्तुसे न हो।

याद रक्खो—इन दोनोंमेंसे तुम किसी एकको अपने लिये चुन सकते हो। एकमें मानव-जीवनकी परम सफलता और जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटकर नित्य परमानन्दकी प्राप्ति है। दूसरेमें मानव-जीवनकी सर्वथा विफलता और जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकते हुए घोर दुःख-यन्त्रणाओंकी प्राप्ति है।

याद रक्खो—जीवन बहुत थोड़ा है। मृत्यु किसी क्षण हो सकती है। विलम्बके लिये समय नहीं है। सफलता और परमानन्द मनुष्यका ध्येय होना ही चाहिये। अतएव उसीमें अपना जीवन लगाकर कृतकृत्य हो जाओ।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[गताङ्कसे आगे]

(३६)

प्रश्न—ईश्वरका भक्त यदि आवश्यकता पड़नेपर दूसरोंसे कामना न करके ईश्वरसे कामना करे तो क्या दोष है ?

उत्तर—जबतक साधकका संसारसे सम्बन्ध रहता है तबतक उसका भगवान्‌से सम्बन्ध नहीं होता। संसारसे और शरीरसे सब प्रकारका सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ लेना, भगवान्‌के सिवा किसीसे कोई नाता न रहना, यही तो भक्ति है। दो सम्बन्ध एक साथ नहीं रह सकते। लड़की जब पिताके घरसे सर्वथा सम्बन्ध छोड़ती है, तब पतिके घरसे सम्बन्ध होता है। जब उसका शरीर और संसारसे सम्बन्ध नहीं रहता, तब कोई वस्तु या परिस्थिति उसके लिये आवश्यक कैसे हो सकती है और वह किसी प्रकारकी कामना कर ही कैसे सकता है। जो वस्तुओं-की कामना करता है वह तो वास्तवमें उन वस्तुओंका ही भक्त है, ईश्वरका नहीं।

भगवान्‌में पूर्ण विश्वास और नित्य नया प्रेम हो इसी-का नाम भक्ति है। यदि साधक अपनी कमजोरीका अनुभव करे और किसी प्रकारके संकल्पको विचारके द्वारा नहीं मिटा सके तो उसे भगवान्‌के समर्पण कर दे। उसकी मरजीपर छोड़ दे। वे चाहें उसे पूरा कर-के मिटा दें, चाहें बिना पूरा किये मिटा दें। साधकको पहलेसे किसी प्रकारका निश्चय करके माँग नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उसका वास्तविक हित उस संकल्पको पूरा करनेमें है या मिटानेमें, इस बातको साधक नहीं जानता। अतः साधकको अपनी राय कायम नहीं करनी चाहिये और कामनापूर्तिके लिये प्रार्थना भी नहीं करनी चाहिये। सब कुछ भगवान्‌पर ही छोड़ देना चाहिये। वे जो कुछ करें उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। यदि प्रार्थना करनी ही हो तो उनके पवित्र प्रेमकी प्राप्तिके लिये, सुख-दुःखके बन्धनसे छूटनेकी, सब प्रकारकी चाहसे रहित होनेकी माँग पेश करे।

इससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि भगवान् कामना पूर्ण करनेमें असमर्थ हैं या कामना पूरी नहीं करते। जो साधक भगवान्‌का भजन-स्मरण किसी कामनाकी पूर्तिके लिये करता है, वह कामना यदि उस-के पतनमें हेतु नहीं हो तो भगवान् अवश्य पूरी करते हैं। परंतु उससे उस साधकको भगवान्‌का प्रेम नहीं मिलता।

भगवान्‌का चिन्तन तो चिन्तनके लिये नहीं, उनके प्रेम-के लिये होना चाहिये। चिन्तन प्रेमके लिये किया जाता है। चिन्तनके लिये चिन्तन करनेका कोई स्वारस्य नहीं होता।

प्रश्न—भगवान्‌के नामका जप करना—यही तो भक्ति है या और कुछ ?

उत्तर—जिसमें प्रेम होता है उसके नामका जप करना नहीं पड़ता। विचार करके देखें—जिन स्त्री, पुत्र और मित्र आदिमें प्यार होता है, क्या कोई उनका जप करता है। जिसको धन प्रिय होता है क्या वह उसका जप करता है। जिसमें प्यार होता है उसका स्मरण और चिन्तन तो अपने-आप होता है, करना नहीं पड़ता; क्योंकि प्रेम प्रयत्नसाध्य नहीं है, वह तो भगवान्-पर विश्वास करके उनको अपना समझकर अपने आप-को उनके चरणोंमें समर्पण कर देनेसे होता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि नाम-जप नहीं करना चाहिये। जिसका नामपर विश्वास हो उसके लिये नाम-

जप बहुत ही लाभदायक है। मेरे कहनेका अभिप्राय तो इतना ही है कि नाम-जप ही भक्ति है, ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न—मनुष्य क्या करनेमे स्वतन्त्र है और किसमें परतन्त्र है?

उत्तर—हरेक मनुष्य प्राप्त वस्तुका सदुपयोग या दुरुपयोग करनेमें स्वतन्त्र है, परंतु उसके फलभोगमे स्वतन्त्र नहीं है। फल देना विधाताके अधीन है। वह जिस कर्मका फल जब और जिस प्रकार देना चाहे, दे सकता है। प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगका नाम भलाई और दुरुपयोगका नाम बुराई है। भलाईका फल सुख और बुराईका फल दुःख होता है। जो कुछ बल अर्थात् वस्तु, परिस्थिति और उनका उपयोग करनेकी शक्ति प्रकृतिसे मिलती है वह कर्मसे मिलती है और विवेक भगवान्की कृपासे मिलता है। विवेक किसी कर्मका फल नहीं होता।

शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार जो प्रारब्ध बनता है उसके अनुसार परिस्थिति मिलती है। उसके सदुपयोग और दुरुपयोगसे फिर प्रारब्ध बनता है, उसका फल भोगनेके लिये फिर जन्म लेना पड़ता है। इसी प्रकार यह कर्मभोगका चक्र चलता रहता है। सुखभोगका लालच मनुष्यको अपना कर्तव्य पालन नहीं करने देता।

इसलिये साधकको चाहिये कि सुखभोगके लालचका त्याग करे और भगवान्की अहैतुकी कृपासे जो विवेक प्राप्त हुआ है उसका आदर करके प्रतिकूल परिस्थितिको भगवान्की कृपा मानकर प्रसन्न रहे। किसी प्रकारके सुखभोगकी कामना न करे। सुखभोगकी कामनाके त्यागको ही निष्कामभाव कहते हैं। अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर उसमें आसक्त न हो, उसको उदारतापूर्वक दुखियोंको सुख पहुँचानेमें लगा दे और उसमे ऐसा समझे कि भगवान्की दी हुई वस्तु उन्हींके आज्ञानुसार उनके काममें लग रही है, इसमें मेरा कुछ नहीं है।

इस भावसे साधककी वासना मिट जाती है। अपने अधिकारका त्याग करके अपने कर्तव्यपालनद्वारा भगवान्के नाते दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना और उनके हितकी भावनासे उनको सुख पहुँचाना—यही साधकका पुरुषार्थ है।

जिस बातका निर्णय करना हो उसका अच्छे-से-अच्छा पहलू लेकर कर्तव्यका निश्चय करना चाहिये, इसीमें प्राप्त विवेककी सार्थकता है।

प्रश्न—गुरुसे उऋण होनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये?

उत्तर—जिससे हमे अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त हो अर्थात् जो हमारे साधनका निर्माण कर दे, वही गुरु है। एवं गुरुद्वारा उपदिष्ट साधनको जीवनमें ढाल लेना, उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना ही गुरुसे उऋण होना है।

हाड़-मांसका शरीर गुरु नहीं है। गुरुमें जो दिव्य ज्ञान है, वही गुरुतत्त्व है। एवं उसका आदर करके उनकी आज्ञाके अनुसार अपना जीवन बना लेना ही शिष्यका शिष्यत्व है।

मनुष्यको गुरुतत्त्वकी प्राप्ति चार प्रकारसे होती है—

१—पहला गुरु तो भगवान्की कृपासे मिला हुआ विवेक है। उससे हरेक मनुष्य अपने साधनका निर्माण कर सकता है। जो प्राप्त विवेकका आदर करता है उस साधकको बाह्य गुरुकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

२—दूसरा गुरु व्यक्तिके रूपमें मिलता है। जब मनुष्य अपने प्राप्त विवेकका आदर नहीं करता और सद्गुरुकी आवश्यकता समझकर उनको पानेकी चेष्टा करता है तब उसे व्यक्तिके रूपमें गुरुकी प्राप्ति होती है।

३—तीसरा गुरु ग्रन्थके रूपमें मिलता है। जब

मनुष्यकी किसी व्यक्तिपर श्रद्धा नहीं होती, किसीके बताये हुए साधनके अनुसार वह अपना जीवन नहीं बना सकता, तब सत्-शास्त्र जैसे गीता-रामायण आदि सत्-पुरुषोंद्वारा रचे हुए ग्रन्थोंको गुरुरूपमें वरण करता है और उसके अनुसार अपने साधनका निर्माण करके उसके अनुकूल अपना जीवन बना सकता है।

४—चौथा गुरु सत्सङ्ग है, अर्थात् आपसमें विचार-विनिमयद्वारा साधनका निर्माण करना। अपने दोषों-को सामने रखकर उनपर विचार करके साधनका निर्माण करनेका नाम ही सत्सङ्ग है। उससे साधनका निर्माण करके उसके अनुसार वह अपना जीवन बना सकता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि साधनतत्त्व ही गुरुतत्त्व है और साध्यतत्त्व ही भगवान् है। साध्यसे भी साधन-का महत्त्व अधिक है, जैसे धनसे भी धन-प्राप्तिके साधनका महत्त्व अधिक है। इसी भावको लेकर गुरु-को भगवान्से भी बड़ा कहा जाता है। गुरुके शरीर-का सेवन करना भी शिष्यका काम है; परंतु गुरुकी असली सेवा तो उनकी आज्ञाके अनुसार जीवन बना लेना ही है। श्रद्धा गुरुमें करनी चाहिये और प्रेम भगवान्में करना चाहिये। गुरु भी यही सिखाता है।

(३६)

यह पहले कहा गया था कि चित्तशुद्धिके लिये माने हुए सम्बन्धका त्याग करना अनिवार्य है।

साधकको चाहिये कि शरीर और संसारके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, उसको तोड़कर अपने प्रभुपर विश्वास करके उनके साथ सम्बन्ध जोड़े, उनके सिवा और किसीको अपना न माने।

उनको अपना माननेमें और उनसे प्रेम करनेमें साधक सदैव स्वतन्त्र है। हाँ, भगवान् उसको अपना मानें या न मानें, उसे अपना प्रेम प्रदान करें या ठुकरा दें, यह उनके हाथकी बात है। इसमें साधकके वशकी बात नहीं है, परंतु उनके ठुकरानेपर भी उनको अपना मानना, उनसे प्रेम करना और उन्हींपर निर्भर रहना—इसमें तो साधक किसी प्रकार भी पराधीन नहीं है। क्या गोपियोंको भगवान्ने नहीं ठुकराया, परंतु इतनेपर भी क्या वे कभी उनसे विमुख हुईं? क्या उनको अपना मानना और प्रेम करना छोड़ दिया? नहीं, वे चाहे ठुकरावें और चाहे प्रेम करें—प्रत्येक अवस्थामें उन गोपियोंको तो वे अपने ही दीखते थे। यही कारण था कि भगवान् अलग रहते हुए भी उनके पास ही थे। भगवान् श्यामसुन्दर भी प्रेममें इतने मुग्ध थे कि उनका स्पर्श पाकर आये हुए पुष्पको देखकर प्रेममें विभोर हो जाते, उनके चरणकी रज हवामें उड़कर शरीरपर पड़ती तो अपनेको धन्य मानते।

कोई कहे कि भगवान्को तो हमने कभी देखा नहीं, हम कैसे उनको अपना मान लें और कैसे उनसे प्रेम करें तो इसका उत्तर यह है कि जिस संसार और शरीरको तुम देख रहे हो, इससे सम्बन्धका त्याग करनेमें तो तुम स्वतन्त्र हो। यह सम्बन्ध तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है। अतः इससे सम्बन्ध तोड़कर सर्वथा विमुख हो जाओ। यदि यह तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़े तो भी तुम इसकी ओर दृष्टिपात मत करो। जब तुम्हारा इससे सम्बन्ध नहीं रहेगा, तब भगवान्से सम्बन्ध अपने-आप हो जायगा। इसको पीठ देते ही तुम भगवान्के सम्मुख हो जाओगे, सम्मुख होते ही तुम्हारे अनन्त जन्मोंके पापोंका नाश होकर तुम्हारा चित्त उसी क्षण शुद्ध हो जायगा और भगवान् तुमको अपना लेंगे।

कोई कहे कि 'पहले हमको भगवान्का प्रेम प्राप्त हो जाय तब हम इस जगत्से सम्बन्ध छोड़ दें' तो ऐसा नहीं होता। यदि कोई अपना मुख गिलोयसे भर ले और कहे कि मिसरीका मिठास प्राप्त होनेपर गिलोयका

त्याग करूँगा। यह जैसे सम्भव नहीं, इसी प्रकार जब-तक साधक संसारको पीठ देकर भगवान्‌के सम्मुख नहीं होता, तबतक उनका प्रेम प्राप्त होना सम्भव नहीं है। उनसे सम्बन्ध जोड़नेके लिये अर्थात् जिनसे साधक-का नित्य सम्बन्ध है और जिनको वह अपने ही प्रमादसे भूल गया है, उस भूलको मिटानेके लिये अपने माने हुए सम्बन्धको पहले मिटाना होगा।

शरीर और संसारसे सम्बन्ध टूटते ही निर्वासना और असंगता प्राप्त हो जायगी और रागका सर्वथा अभाव हो जायगा। निर्वासनासे योग, असंगतासे बोध और समर्पणसे अनुराग अपने-आप प्राप्त हो जाता है। यह नियम है।

जगत्‌से सम्बन्ध तोड़नेसे मुक्ति और भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ लेनेपर भक्ति स्वतः हो जाती है।

(३८)

प्रश्न—शरणागतिकी व्याख्या कीजिये ?

उत्तर—शरणागतिकी व्याख्या नहीं हो सकती, वैसे इस विषयका एक निबन्ध लिखा गया है, वह छप भी गया है पर अभी आया नहीं, आ जाता तो एक पुस्तक दे देते। शरणागतिका कोई एक ही प्रकार नहीं होता, अधिकारीके अनुसार शरणागतिमें भी भेद होता है।

शरणागतिकी भूमि विश्वास है, जहाँ विश्वास होता है, साधक अपनी योग्यता और विश्वासके अनुरूप प्रभु-की महिमाको जैसी और जितनी समझता है, उसी ढंगसे वह प्रभुके शरण होता है। शरणागति तो साधकके हृदयकी पुकार है, वह सीखनेसे नहीं आती।

जबतक मनुष्य अपने विवेक, गुण और आचरणों-द्वारा अपने दोषोंका नाश कर लेनेकी आशा रखता है, तबतक उसमें शरणागतिका भाव जाग्रत् नहीं होता। जब अपने प्राप्त विवेक और बलका प्रयोग करके भी साधक अपने दोषोंको मिटानेमें अपनेको असमर्थ पाता है, जब उसका सब प्रकारका अभिमान गल जाता है और वह अपनेको सर्वथा निर्बल समझ लेता है तथा भगवान्‌की महिमा इस प्रकार जान लेता है कि वे सर्व-शक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसुहृद्, परब्रह्म परमेश्वर, पतितपावन और दीनवत्सल हैं; हरेक प्राणी, चाहे वह कितना ही पापी, कितना ही नीच, क्यों न हो; उसको अपनानेके लिये, उससे प्यार करनेके लिये, वे हर समय, हर जगह प्रस्तुत रहते हैं; एवं साथ ही यह संदेह-रहित विश्वास हो जाता है कि मैं जैसा भी हूँ, उनका हूँ, एकमात्र वे ही मेरे हैं; उनके अतिरिक्त मेरा और कोई नहीं है; साथ ही उनके प्रेमकी लालसा भी है और उसकी पूर्तिसे निराश भी नहीं हुआ है, उस साधकमें शरणागतिका भाव जाग्रत् होता है।

मनुष्यके जीवनमें जितने प्रकारके अभाव होते हैं, जिनके कारण वह दुखी होता है, वे सब प्राप्त विवेकके अनादरसे और बलके दुरुपयोगसे होते हैं। जो साधक विवेकका आदर और बलका सदुपयोग करके सब प्रकार-के दोषोंको मिटाकर अपने चित्तको शुद्ध कर लेता है उसे शरण लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। एवं भगवान् भी, जबतक कोई अपनी पूर्ति स्वयं कर लेता है, तब-तक उसमें हस्तक्षेप नहीं करते। जो साधक शरण लेना चाहता है, सम्भव है, भगवान् उसे भी शरणागत होनेका अवसर न दें, उसके पहले ही उसकी लालसा पूरी कर दें।

व्याख्यान उसी बातका होता है जो की जानेवाली हो। जो अपने-आप या भगवान्‌की कृपासे होनेवाली बात है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य-का यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि जिस शरीर, बुद्धि, मन आदिको मैं अपना समझता था, एवं संसारके जिन व्यक्तियोंको, जिस सम्पत्ति और परिस्थितिको अपनाकर

मैंने उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ रक्खा है वे कोई मेरे नहीं हैं, इस भावसे जब वह सब ओरसे निराश हो जाता है, तब उसका उन शरणागतवत्सल, सर्वसुहृद् भगवान्‌की ओर लक्ष्य जाता है और उनके शरणागत होनेकी लालसा प्रकट होती है। यह शरणागति ही जीवका अन्तिम पुरुषार्थ है।

अतः साधकको चाहिये कि भगवान्‌की महिमा और उनके सहज कृपालु स्वभावकी ओर देखकर अपने उत्साहमें कमी न आने दे, अपने लक्ष्यकी प्राप्तिसे कभी निराश न हो और भगवान्‌के शरण होकर सर्वथा उन्हींपर निर्भर हो जाय। अपनी निर्बलताको जानकर इस भावको सर्वथा मिटा दे कि मैं कुछ कर सकता हूँ या मुझे कुछ करना है।

साधकका जीवन अपनी मान्यता और जानकारीसे अभिन्न हो जाना चाहिये। मान्यता, जानकारी और जीवन, तीनोंकी एकता होनी चाहिये। उनमें भेद न हो। जब साधक प्रभुके शरण हो जाता है, तब उसका अहंभाव मिट जाता है; क्योंकि किसी प्रकारके बलका और गुणोंका अभिमान रहते हुए मनुष्य भगवान्‌के शरण नहीं हो पाता। शरणागत साधक कभी भी भगवान्‌से कुछ चाहता नहीं एवं यह भी नहीं समझता कि मेरा उनपर कोई अधिकार है। वह तो सब प्रकारसे विश्वासपूर्वक अपने-आपको उनके समर्पण कर देता है और उन्हींपर निर्भर रहता है।

भगवान्‌की कृपासे शरणागत भक्तोंका सङ्ग करनेसे और प्राप्त विवेकका आदर करनेसे शरणागत-भाव प्राप्त होता है। जब साधकका कोई उपाय न चले, अपनी निर्बलताका पूरा-पूरा अनुभव हो जाय, तब उसे भगवान्‌की शरण लेकर उनको पुकारना चाहिये। शरणागति अचूक शस्त्र है। इससे मनुष्यके समस्त दोष जलकर भस्म हो जाते हैं।

यदि किसीके मनमें यह भाव आये कि भगवान् तो स्वभावसे ही दयालु हैं, उनकी कृपा मुझपर क्यों नहीं हुई तो उसे अपनी दशाका अध्ययन करना चाहिये। पहले तो उसे यह देखना चाहिये कि मैं क्या चाहता हूँ, उसके बाद यह देखना चाहिये कि मैं उसकी पूर्तिके लिये क्या कर सकता हूँ, फिर यह कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ उससे मेरी आवश्यकता पूरी हो रही है या नहीं, अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये मुझमें व्याकुलता है या नहीं, उसके लिये मैं संसारके प्यारे-से-प्यारे कामको और पदार्थोंको छोड़ सकता हूँ या नहीं।

इस प्रकार अपनी दशाका अध्ययन करनेपर यदि माल्रम हो कि मैं संसारकी किसी अनित्य वस्तुको चाहता हूँ तो प्राप्त विवेकके द्वारा उसके परिणामपर विचार करके उसे मिटा देना चाहिये। यदि यह माल्रम हो कि मैं स्वयं कुछ कर सकता हूँ तो यह देखकर कि अबतक मैंने जो कुछ किया है उससे मेरी आवश्यकता पूर्ण नहीं हुई। इस प्रकार अपनी निर्बलताका अनुभव करके उस अभिमानका त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि अभिमानके रहते हुए भगवान्‌की कृपा प्राप्त नहीं होती। अपने बलका अभिमान छोड़कर जब यह दृढ़ विश्वास कर लेता है कि मुझपर भगवान्‌की कृपा अवश्य होगी, मैं उनका कृपापात्र हूँ। जब साधकका यह विश्वास विकल्परहित सुदृढ़ हो जाता है, उसी समय उसपर भगवान्‌की कृपा अवश्य हो जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

जब भगवान्‌की असीम कृपासे शरणागतिका भाव उदय हो जाता है, उसके बाद साधकको कभी असफलताका दर्शन नहीं होता।

मनुष्यको विचार करना चाहिये कि मुझे सबसे अधिक प्रिय क्या है? यदि उसे यह माल्रम हो कि

मेरा प्यार बहुत जगह बँटा हुआ है तो उसे समझना चाहिये कि अनेक जगह प्यार बँटा रहते हुए शरणागतिका भाव उत्पन्न नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि जिन अनित्य वस्तुओंसे सम्बन्ध जोड़कर वह उनसे प्यार करता है उनसे प्रियता उठाकर एकत्र करे। एकमात्र उसीको अपना प्रिय समझे कि जिसके बिना वह किसी प्रकार भी चैनसे नहीं रह सके। ऐसा प्रिय एक प्रभु ही हो सकता है।

विचार करनेपर माळूम हो सकता है कि संसारकी समस्त वस्तुओंके बिना हम चैनसे रह सकते और रहते हैं बल्कि उनका वियोग अनिवार्य है; क्योंकि जो विनाशशील पदार्थ हैं उनसे मनुष्यका नित्य सम्बन्ध कैसे रह सकता है, अतः उनसे प्यार करके अपने नित्य सम्बन्धी प्रभुसे दूरी मान लेना कितनी बड़ी भूल है। अतः साधकको चाहिये कि भली प्रकार विचार करके अनित्य पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ दे और अपने प्रभुपर विश्वास करके उनसे सम्बन्ध जोड़ ले। जिसपर विश्वास होता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध होता है उसीका चिन्तन होता है और जिसका चिन्तन होता है उसीमें प्रेम होता है। भगवान्‌पर विश्वास और प्रेम स्वाभाविक होना चाहिये; किसी प्रकारका जोर डालकर नहीं; क्योंकि प्रयत्नसाध्य वस्तु स्थायी नहीं होती। अपने जीवनपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये कि मेरा भगवान्‌पर सहज विश्वास और प्रेम क्यों नहीं होता? यदि यह माळूम हो कि भगवान्‌को मैंने कभी देखा नहीं, इस कारण विश्वास नहीं होता तो सोचना चाहिये वे हमें क्यों नहीं दीखते? तब माळूम होगा कि हम अनेक सीमित वस्तुओंको देखते हैं और उन्हींके साथ-साथ भगवान्‌को भी देखना चाहते हैं, इसीलिये भगवान् नहीं दीखते, क्योंकि वे असीम हैं, अतः सीमित चीजोंके साथ सीमित दृष्टिसे कैसे दिखलायी दें।

इसके सिवा यह बात है भी नहीं कि भगवान् दीखते नहीं, इस कारण उनपर विश्वास नहीं होता; क्योंकि दीखनेवाली सब वस्तुओंपर भी तो विश्वास नहीं होता।

कामना-पूर्तिकी इच्छा वास्तविक आवश्यकताका ज्ञान नहीं होने देती। वही विश्वासमें बाधक है। उसकी उत्पत्ति देहमें अहंभावसे होती है।

अपनी आवश्यकता क्या है? इसपर विचार करनेपर साधारण दृष्टिसे माळूम होता है कि धन ही सबसे अधिक जरूरी है। आगे बढ़नेपर माळूम होगा धनकी अपेक्षा वस्तु अधिक आवश्यक है। उससे बढ़कर अपने सम्बन्धित व्यक्ति और उससे भी अधिक आवश्यक अपना शरीर माळूम होता है।

धनकी आवश्यकता लोभके कारण माळूम होती है। चित्तकी अशुद्धिसे लोभ उत्पन्न होता है। वस्तुओंकी आवश्यकता भोगकामनासे होती है। अपने माने जानेवाले व्यक्तियोंकी आवश्यकता मोहसे माळूम होती है। लोभ, काम और मोह—ये सभी चित्तकी अशुद्धिसे होते हैं और चित्तको अशुद्ध करते रहते हैं तथा इनके कारण मनुष्यको कभी शान्ति नहीं मिलती। बारंबार अभावका दुःख भोगना पड़ता है; क्योंकि सभी अनित्य हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि संसार वास्तवमें हमारी आवश्यक वस्तु नहीं है। चित्तके दोषसे ही उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। वास्तवमें वे इच्छाएँ हैं; क्योंकि आवश्यकता अनेक नहीं हुआ करती। इच्छाकी निवृत्ति होती है और आवश्यकताकी पूर्ति होती है। इच्छाओंकी निवृत्तिसे ही आवश्यकताओंकी पूर्ति हुआ करती है।

अतः साधकको कभी इच्छाओंके जालमें नहीं फँसना चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि शरीरका नाश होनेपर भी मेरा नाश नहीं होता, संसारके सभी व्यक्तियों और पदार्थोंके बिना मैं रह सकता हूँ। शरीरमें न जीवन है और न पूर्णता है। आवश्यकता उसीकी

है जिससे मेरा नित्य सम्बन्ध है। जो पूर्ण जीवन है, जिसका कभी अभाव नहीं होता। सब प्रकारसे पूर्ण तो एक प्रभु ही हैं। उसके बिना इच्छाओंकी पूर्तिमें लगे रहकर मैं अनेक जन्मोंसे अनेक योनियोंमें भटकता रहा, आजतक उनकी पूर्ति या निवृत्ति नहीं हुई। अब भी यदि मैं उन इच्छाओंके जालमें फँसा रहूँगा तो मुझे प्रभुकी कृपाका कैसे अनुभव होगा।

इस प्रकार अपनी दशाका अध्ययन करनेसे मनुष्यको वास्तविक स्थितिका ज्ञान हो जाता है और वह अपनी वास्तविक आवश्यकतासे परिचित हो जाता है। उसके होनेपर वह ईश्वरसे भी शीघ्र ही परिचित हो जायगा।

जबतक साधककी ईश्वरमें सर्वोत्कृष्ट बुद्धि नहीं होती, तबतक वह ईश्वरके शरणागत नहीं हो सकता।

अतः साधकको चाहिये कि सब ओरसे बुद्धि और मनको हटा ले, एकमात्र ईश्वरमें ही दोनोंको लगा दे। भगवान्‌पर विश्वास न होनेके जितने भी कारण हैं उनको खोज-खोजकर मिटा दे तथा अपने प्रभुपर अचल और विकल्परहित विश्वास करे। ईश्वरके अतिरिक्त किसीमें भी न तो विश्वास करे, न किसीको अपना माने, न किसीसे प्यार करे और न किसीका चिन्तन करे; क्योंकि अन्य सभी अनित्य हैं। कोई भी प्रेमी नहीं है। प्रेमी वही है जो कभी कुछ ले नहीं।

इस प्रकार जब साधकका सबपरसे विश्वास उठकर एवं सबसे सम्बन्ध टूटकर एकमात्र अपने प्रभुमें ही विश्वास और सम्बन्धकी दृढ़ता हो जाती है, तब उनमें स्वतः ही प्रेम जाग्रत् हो जाता है और प्रेम होनेके बाद चिन्तन और स्मरण करना नहीं पड़ता, अपने-आप होता है। उस समय साधक एकमात्र भगवान्‌के शरण हो जाता है। अपने-आपको उनके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर हो जाता है।

विज्ञान और धर्म

आविष्कारों की कथा, ज्ञान-गरिमा का तत्त्व बढ़ाती है।
पाकर सुबुद्धि-बल भौतिकता, उपकारमयी बन जाती है॥
जल-थल-नभ-चारी यानों ने दूरी का भेद मिटाया है।
गति तीव्र इन्द्रियों की करके मानव-महत्त्व दरसाया है॥
जग को हितकारी होता है, सब के दुख-संकट हरता है।
विज्ञान धर्म को धारण कर, कल्याण विश्व का करता है॥

रोगों का रौरव दूर किया, भोगों के साज सजाए हैं।
भौतिक जीवन के उपादान यन्त्रादि लोक ने पाये हैं॥
तन को सुख-साधन दान किये, मन-रंजन के सामान दिये।
लोहे-लकड़ी जड द्रव्यों को प्रतिभा ने प्राण प्रदान किये॥
मत् सेवा में संलग्न सदा अवता-अधर्म से डरता है।
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है॥

जब स्वार्थ-वाद का दुष्ट दैत्य, निजता-परता फैलाता है।
रच-रचकर भीषण महायुद्ध तब वज्र-बाण बरसाता है॥
'विज्ञान' नाश का कारण क्यों? 'अज्ञान' सर्व संहारक है।
मानव-दानव का दम्भ-दर्प, पशुता-पाखण्ड-प्रचारक है॥
कुटिला कुनीति का क्रूर भाव विष विषम भावना भरता है।
विज्ञान धर्म को धारण कर कल्याण विश्व का करता है॥

शुभ साधन बुद्धि-विपर्यय से दुख के कारण बन जाते हैं।
अपना अस्तित्व मिटाने को मानव नर-मेध रचाते हैं॥
उपयोग वस्तु का सदा भावना, मनोवृत्ति पर निर्भर है।
शिव-शङ्कर है विज्ञान कभी, और कभी घोर प्रलयङ्कर है॥
संकल्प बुद्धि का प्रेरक है, शुचिता शुभ सत्य अमरता है।
विज्ञान धर्म को धारण कर, कल्याण विश्व का करता है॥

हो अपने को प्रतिकूल न वह व्यवहार अन्य के साथ करो।
धन, धाम, धरा, अधिकार, नारि, सुख-सुविधा औरों की न हरो॥
तुम जियो जगत् में, बन्धु-भाव से, सब लोगों को जीने दो।
विज्ञान-धर्म के मधुर-मिलन का प्रेमामृत नित पीने दो॥
सद्भाव, स्नेह, समता, ममता-मय पथ ही ठीक ठहरता है।
विज्ञान धर्म को धारण कर, कल्याण विश्व का करता है॥

—पं० श्रीहरिशङ्करजी शर्मा

ब्राह्मी स्थिति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव बलवान् है। इसलिये अपना जो भाव है, उसको उत्तरोत्तर खूब बढ़ाना चाहिये। कैसा भी पापी और नीच क्यों न हो, यदि मरनेके समय भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उच्च कोटिका निष्काम भाव हो जाय तो उसका निश्चित कल्याण हो जाता है। परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाय, तब तो कहना ही क्या है। गीतामें बतलाया है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(२। ७२)

एषा—ऊपर जो बतलायी गयी है, वह ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपमें जो स्थिति है, वह ब्राह्मी स्थिति। इसको प्राप्त होकर मनुष्य फिर मोहको प्राप्त नहीं हो सकता। अन्तकालमें भी यह स्थिति हो जाय तो फिर वह निर्वाणब्रह्मको अर्थात् सच्चिदानन्दघन, निर्गुण-निराकार परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह ब्राह्मी स्थिति कैसी बतलायी गयी है ?—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(२। ६९)

जो सारे भूतोंकी निशा—रात्रि है, उसमें संयमी जागता है। अभिप्राय यह है कि उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें संयमी—मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें किये रखनेवाला पुरुष जागता है, वह उस परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है। जो सोये हुए हैं यानी सोये हुएके समान हैं, उन लोगोंको इस बातका ज्ञान नहीं है कि परमात्मा क्या चीज है, परमात्माका स्वरूप कैसा है। अतः वे सोये हुएके तुल्य हैं। जैसे गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषको बाहरका कोई ज्ञान नहीं रहता, इसी प्रकार जो अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ है, वह परमात्मविषयक ज्ञानसे सर्वथा वञ्चित है।

'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।'

जिस संसारके विषय-भोगोंमें संसारी मनुष्य जागते हैं यानी संसारके विषय-भोगोंका अनुभव करते हैं, वह ज्ञानी मुनिकी रात्रि है। जैसे रात्रिके शयनके समयमें गाढ़ निद्रावाले पुरुषको बाह्य संसारका ज्ञान नहीं रहता, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित होनेपर समाधिस्थ ज्ञानी मुनिको संसारका ज्ञान नहीं रहता। अभिप्राय यह है कि जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें यह सृष्टि नहीं रहती। जो परमात्मामें तन्मय हो जाता है, उसीमें तन्मय होकर उसको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें संसारका सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे गाढ़ निद्रामें शयन करते हुए पुरुषके लिये इस संसारका अभाव हो जाता है, ऐसे ही उसकी दृष्टिमें यह सृष्टि नहीं रहती। इस प्रकारकी जो स्थिति है, वह अन्तकालमें भी हो जाय तो वह पुरुष निर्वाण-ब्रह्मको अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसलिये हरेक माता-बहिनोंको और भाइयोंको उस परमात्मामें अपनी गाढ़ स्थिति हो, इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। किंतु इससे मनुष्यको यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि मरनेके समयमें ही अपना भाव ठीक कर लेंगे। प्रथम तो मरनेतककी जोखिम उठाना मूर्खता है। फिर मरनेके समयमें अपने अधिकारकी बात नहीं रहती कि हम अपनी स्थितिको उच्च कोटिकी बना लें। यह भाव तो अपने मनमें रखनेका है कि यदि अचानक मृत्यु निकट आ जाय तो उस समय सावधानीपूर्वक अपनी स्थितिको परमात्मामें कर लेना चाहिये। शरीरका क्या भरोसा है ? देखा जाता है कि क्षणमात्रमें ही हार्ट फेल होकर मनुष्यकी अचानक मृत्यु हो जाती है।

उसको यह थोड़े ही पता रहता है कि मैं अभी मरनेवाला हूँ। ऐसी घटना यदि हमलोगोंको प्राप्त हो तो क्या आश्चर्य है। यह शरीर तो क्षणभङ्गुर और नाशवान् है ही। कालका कोई भरोसा नहीं है। इसलिये मनुष्यको पहलेसे ही सावधान होकर रहना चाहिये। यह नियम है कि मृत्युके समय जिस-जिस भावसे भावित होकर मनुष्य जाता है, उसी-उसी भावको प्राप्त होता है (गीता ८।६)। इसलिये हर समय परमात्माकी स्मृति रखनी चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ सब कालमें स्मरण करना मुख्य है और युद्ध करना गौण है। अतएव अपना भाव सदा उच्च कोटिका (निष्काम) रखना चाहिये। कोई चाहे भक्तिका साधन करे, चाहे योगका, उसमें भाव उत्तम होनेसे ही उसका कल्याण हो सकता है। एक भाई यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है, सेवा करता है, पूजा करता है, जप करता है, संयम करता है, जो कुछ भी साधन करता है, पर सकाम भावसे करता है तो उसका जो फल मिलेगा, उससे उसकी कामनाकी सिद्धि ही हो सकती है; सो भी यदि भगवान् उसके लिये उसमें हित समझेंगे तब। हित नहीं समझेंगे तो देवतालोग भले ही उसकी कामनाकी पूर्ति कर दें, पर भगवान् तो उसका हित समझेंगे, तभी उसकी कामनाकी पूर्ति करेंगे। भगवान् सब प्रकारसे हमलोगोंकी रक्षा करते रहते हैं। किसी भी प्रकारसे इसका हित हो, वही चेष्टा भगवान्‌की रहती है; इसलिये हमलोगोंको प्रत्येक शुभ क्रियामें उच्च कोटिका अर्थात् निष्काम भाव बनाना चाहिये। भगवान्‌की और शास्त्रोंकी तो हमलोगोंपर दया है ही तथा सत्-शास्त्र हमलोगोंको सुगमतासे मिल भी रहे हैं एवं महात्माओंकी भी दया है ही, वे तो सदा ही सबका हित चाहते हैं। केवल अपनी ही—अपने-आपपर दयाकी कमी है। इसलिये अपना भाव उच्च कोटिका बनाना चाहिये। अपनी सारी ही क्रिया शास्त्रोक्त होनी चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अपना भाव उच्च कोटिका हो जायगा तो क्रिया तो अपने-आप ही उच्च कोटिकी होने लगेगी। जब हमारा निष्काम भाव हो जायगा, तब हमारे द्वारा होनेवाली सारी ही क्रियाएँ निष्काम समझी जायँगी। बाहरसे देखनेमें कोई क्रिया दूसरोंको सकाम भी प्रतीत हो तो कोई हानि नहीं; वास्तवमें जो निष्काम है, वह निष्काम ही है, वह बड़ा उच्च कोटिका भाव है। निष्कामका अभिप्राय यह है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थसे सर्वथा रहित होना अर्थात् किसी भी प्रकारसे, किसीसे भी किञ्चिन्मात्र भी अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छा न रखना। बाहरमें कोई व्यक्ति यदि हमारी न्याययुक्त सेवा करना चाहता है और उसको उसके सुखके लिये, उसके संतोषके लिये हम स्वीकार भी कर लेते हैं तो यह भी हमारा निष्कामभाव ही है। निष्कामभावका रहस्य हमलोग समझते नहीं हैं। यदि निष्कामभावके तत्त्व और रहस्यको समझ जायँ तो साधनकालमें भी इतनी शान्ति और प्रसन्नता—आनन्द रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है। 'निष्कामभाव होना कठिन है'—यह बात कहीं नहीं लिखी है। आप खूब ध्यान देकर देखें कि हमें यह क्यों कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें निष्कामके रहस्यको हमलोग समझे नहीं हैं, इसीसे वह कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि हमलोगोंके हृदयमें, मनमें, वाणीमें, अणु-अणुमें सकाम भाव छाया हुआ है। जब हृदयमें निष्कामभाव होता है और उसके अनुसार उसकी क्रिया होती है, तब उस क्रियाको देखकर दूसरे

लोग भी मुग्ध हो जाते हैं कि देखो ! यह कैसा स्वार्थ-रहित परोपकारी है । यह कैसा निष्कामी पुरुष है । दूसरे लोग तो उसकी क्रियासे केवल अनुमान ही करते हैं, वे वास्तवमें भावको समझते नहीं हैं । वे बाहरकी क्रियामें स्वार्थ नहीं देखते हैं इसीसे उसको निष्काम मानते और समझते हैं; किंतु जिसके हृदयमें वस्तुतः निष्कामभाव होता है, उसके चित्तमें जैसे समुद्रमें लहरें आती हैं, वैसे ही शान्तिकी, आनन्दकी और ज्ञानकी लहरें उठा करती हैं । जो मनुष्य संसारमें निष्कामभावका केवल दिखाऊ वर्ताव करता है, वह वास्तवमें निष्काम नहीं है । बल्कि दिखावटी झूठा निष्काम भाव तो एक प्रकारसे कलङ्क है । वह प्रकारान्तरसे सकामभाव ही है; वह कहीं-कहीं तो दम्भका रूप धारण कर लेता है, जो पतनका हेतु हो जाता है । जब वास्तवमें हृदयमें कोई भी कामना नहीं रहती, तब उसे प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है । स्वयं भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

(गीता २ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममता-रहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति-को प्राप्त है ।'

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

(गीता २ । ७०)

'जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ।'

निष्कामी पुरुष अपने निष्कामभावसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार उस परमात्माके स्वरूपमें जो स्थिति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति कही जाती है । ऐसी ब्राह्मी स्थितिवाला पुरुष, किस प्रकारसे परमात्मामें स्थित होता है, उसके लिये समुद्रकी उपमा देकर भगवान् कहते हैं कि जैसे समुद्र 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्'— अपने-आपमें ही जलके द्वारा परिपूर्ण है और अपनी महिमामें अचल स्थित है, इसी प्रकार परमात्मा-के स्वरूपमें स्थित होकर जिसको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, वह उन विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूप-से परिपूर्ण है और अपनी महिमामें अचल स्थित है । ब्रह्मकी ही महिमा उसकी अपनी महिमा है, इसलिये वह अपनी महिमामें अचल है । जैसे समुद्र अपनी महिमामें अचल और स्थित है, ऐसे ही वह है ।' समुद्रमें सारी नदियोंका जल प्रवेश करता है, किंतु वह विचलित नहीं होता, उसमें किसी प्रकारका विकार भी नहीं होता । सारी नदियोंका जल प्रवेश होनेपर भी न तो कोई उसमें वृद्धि होती है और न कोई क्षोभ ही होता है । इसी प्रकार जो परमात्माके स्वरूपमें स्थित है, वह प्रारब्धके अनुसार संसारके सारे भोगों—पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी विचलित नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्ममें स्थित है और उस विज्ञानानन्दघन परमात्मा-के आनन्दसे परिपूर्ण है तथा उसीमें अचल और स्थित है । जो परमात्माको प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो परमात्मामें स्थित होकर परमात्मामें ही तन्मय हो चुकता है, उसके ज्ञानका, शान्तिका, आनन्दका पार नहीं है, वस्तुतः वह स्वयं ही ज्ञानमय, शान्तिमय, आनन्दमय है । संसार-के विषयभोगोंकी कामनावाले पुरुषको कभी शान्ति नहीं मिलती । इससे समझना चाहिये कि परमात्मविषयक

जो शान्ति, आनन्द और ज्ञान है, वह कितना उच्च कोटिका है ।

मनुष्यको साधनकालमें भी परमात्मविषयक अत्यन्त विलक्षण शान्ति, आनन्द और ज्ञान मिलता है; तब जो उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है उसके लिये तो कहना ही क्या है ? अतएव इस रहस्यको जान लेनेपर परमात्माके स्वरूपमें नित्य निरन्तर स्थित रहना, यह कोई बहुत कठिन बात नहीं है । हम लोगोंको जो कठिन प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि हमलोग उसके तत्त्व, रहस्य और भावको समझे नहीं हैं। वस्तुतः यह जो संसार दिखायी देता है, इससे हमारे आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है । इसके साथ वस्तुतः सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है । यह संसार तो जड है और आत्मा चेतन है । चेतन और जडकी एक जाति नहीं । इसलिये जड और चेतनका वास्तविक सम्बन्ध कभी हो ही नहीं सकता ।

संसारके किसी पदार्थका त्याग करनेपर हम कहते हैं कि हमने अमुक वस्तुका त्याग कर दिया, किंतु जब उपर्युक्त बात समझमें आ जाती है, तब यह जान पड़ता है कि हमने यथार्थमें कोई त्याग नहीं किया है । दूसरोंकी चीजको जो हमने अपनी मान रक्खा था कि यह चीज है और हमारी है, केवल इस मान्यताका त्याग किया है । यह वास्तवमें न्याय ही है । उस मान्यताको पकड़े रहनेमें तो प्रत्यक्ष ही हमारा पतन है । वास्तवमें तो वह चीज है ही नहीं, बिना हुए ही प्रतीत होती है; और यदि यह मान भी लें कि वह है तो उसको अपनी मानना तो बिल्कुल ही अज्ञता है । दूसरोंकी चीजको अपनी न मानकर जब हम दूसरोंकी मान लेते हैं, तब हमें प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है ।

चोर किसी दूसरेकी चीजको अपनी मान बैठता है और उसपर अपना अधिकार जमा लेता है तो उसको घोर दण्ड मिलता है । इसी प्रकार संसारकी चीजोंको जो अपनी मान बैठता है, वह भी एक प्रकारसे चोर ही है और उसको दण्ड होना भी उचित ही है । इस बातको खूब समझ लेना चाहिये । उदाहरणके लिये मान लें, मेरे पास लाख रुपये हैं और मैं साठ सालकी उम्रका हो गया हूँ तो यह तो है ही नहीं कि मैं सैकड़ों वर्षतक जीता ही रहूँगा । अतः अपने शरीर-निर्वाहके लिये कम-से-कम जितने रुपयोंकी आवश्यकता हो, उतने रखकर शेषको मैं परमात्माके ही काममें लगा दूँ तो यह सर्वथा उचित है । हरेक मनुष्यके लिये यही बात होनी चाहिये । साथ ही यह सोचना चाहिये कि यदि मैं दस वर्ष और जीऊँगा और दो हजार रुपये सालाना अपने शरीरके लिये लगाऊँगा तो बीस हजार रुपये होंगे । इसलिये अस्सी हजारको रोककर रखना मूर्खता ही नहीं, एक प्रकारसे चोरी ही है; क्योंकि यह असलमें दूसरोंके स्वत्वपर अपना अधिकार जमाना है ।

दूसरे, यदि यह कहें कि यह चीज तो है किंतु मेरी नहीं है, भगवान्की है; तो फिर जब भगवान्के काममें लगानेका मौका आये, तब उसे आँख मूँदकर लगा देना चाहिये । वास्तवमें जिसका यह भाव होगा, उसको रुपये लगानेमें उत्तरोत्तर प्रसन्नता होगी । परंतु यदि भगवान्की सेवामें रुपया लगाते मनमें चिन्ता, शोक, भय होता है या उसमें रुकावट होती है तो समझना चाहिये कि उसका भाव ठीक नहीं है; क्योंकि जिस चीजको हम अपनी नहीं मानते हैं, वह जिस मालिककी चीज होती है, उसको दी जानेमें तो हमें प्रसन्नता ही होनी चाहिये । कोई अमानतके रूपमें पाँच हजार रुपयेका गहना हमारे पास रख जाय और वह बद्रीनारायणसे वापस आकर हमसे अपना गहना माँगे और उसकी चीज हम उसे सौंप दें तो हमें कितनी प्रसन्नता होती है ।

इसी प्रकार चित्तमें जब यह अनुभव हो जाता है कि यह भगवान्‌की चीज है, मैं केवल इसकी रक्षा या सेवा कर रहा हूँ, तब यदि वह चीज भगवान्‌के काममें लग जाती है तो उसे बड़ी भारी प्रसन्नता होती है। मन भी हल्का हो जाता है। यह बात एकदम प्रत्यक्ष है। आप करके देख सकते हैं।

वास्तवमें ये संसारके जो कुछ भी पदार्थ हैं, सब भगवान्‌के हैं। हमारा कोई भी अधिकार नहीं कि हम अपने स्वत्वसे अधिक वस्तुओंको रोक रक्खें। यह तो एक साधारण न्याययुक्त बात है; किंतु जो उच्च कोटिका साधक है, उसकी तो बात ही निराली है! उसके लिये तो संसारके सभी विषय-भोग मल-मूत्रके समान हैं। हम जब मल-मूत्रका त्याग करते हैं, तब क्या कोई गर्व करते हैं कि हमने बड़ा त्याग किया है? बल्कि उनके त्यागसे यह सोचकर प्रसन्नता और सुख होता है कि विकार निकल गया। इसी प्रकार संसारके इन विषय-भोगरूप पदार्थोंके त्यागसे सुख होना चाहिये। कोई भी आकर जब हमसे कहता है कि हमारी इस वस्तुको आप धरोहररूपसे रख लें तो उसे हम मनसे रखना नहीं चाहते; किंतु किसीके भलेके लिये, अथवा संकोचमें पड़कर हमें वह चीज रखनी पड़ती है और फिर जब स्वयं वह आकर अपनी वस्तुको माँग लेता है तब उसको वह वस्तु हम इस भावसे देते हैं कि मानो सिरपरसे उसका ऋण उतर गया। यह धरोहर भी एक प्रकारसे सिरपर ऋण ही है।

ये संसारकी ऐश्वर्य, धन, मकान आदि जो वस्तुएँ हैं, इनमेंसे कोई भी वस्तुतः हमारी नहीं है। औरोंकी तो बात ही क्या, यह शरीर भी हमारा नहीं है। गम्भीरतासे विचारें तो ये सभी पदार्थ और शरीर वास्तवमें परमात्माके हैं, या यों कहें कि प्रकृतिके हैं। यह बात प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि जो मनुष्य मरकर चला जाता है, उसका यह स्थूल शरीर हमारे देखते-देखते जलकर भस्म हो जाता या कब्रमें मिट्टी हो जाता है और प्रकृतिमें मिल जाता है। फिर यह शरीर और ये वस्तुएँ हमारी कैसे हुईं? शरीर हमारा होता तो हम इसको साथ लेकर जाते। यह किसी प्रकार भी हमारे साथ नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थितिमें हम शरीरसे जितना अधिक-से-अधिक पारमार्थिक लाभ उठा लें, वह हमारा है। इस शरीरमें यदि रोग हो जाय तो भी हमें उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; बल्कि परमात्माकी भक्तिका और ज्ञानका साधन उत्तरोत्तर तेज करना चाहिये; क्योंकि जब मनुष्य मरता है तो प्रायः बीमार होकर ही मरता है, अतः अन्त समय अधिकांशमें बीमारी होनेकी सम्भावना रहती है। ऐसी परिस्थितिमें हमें यह विचार करना चाहिये कि बीमारीमें तो हमें साधनको विशेष तेज करना उचित है, पता नहीं, यही बीमारी हमारे इस शरीरका अन्त करनेवाली हो।

इसी प्रकार जितने भी संसारके पदार्थ हैं, सभी नाशवान और क्षणभङ्गुर हैं। हम यदि अपने खानेके लिये अन्न और पहननेके लिये वस्त्र अधिक मात्रामें इकट्ठा करके रोक रखते हैं तो यह हमारी अनधिकार चेष्टा है। संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबपर सबका समान भावसे अधिकार है। जो मनुष्य अपने अधिकारमें अधिक वस्तुओंका संग्रह करके उनको अपने भोगके काममें लाना चाहता है या अपने कुटुम्बके लिये रोककर रखना चाहता है, वह अज्ञ है। उसे यह समझना चाहिये कि जिन वस्तुओंपर वास्तवमें सबका समान भावसे हक है, हमें क्या अधिकार है कि हम अपने हिस्सेसे अधिक उन वस्तुओंपर अपना अधिकार जमावें। हाँ, यदि संसारके हितके लिये आप अधिकार जमाते हैं तो भले ही आप किसी राज्यपर अधिकार जमा लें, चाहे सारे ब्रह्माण्डपर ही अधिकार जमा लें, उसमें कोई दोष नहीं है। यदि आपके हृदयमें यह भाव है कि यह वस्तु हमारी नहीं है, जगज्जनार्दनकी है, इससे हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, हम इसमें केवल निमित्तमात्र हैं,

हम केवल ट्रस्टीकी भाँति इसकी रक्षा और सँभाल करनेवाले तथा यथायोग्य प्रभुकी सेवामें लगानेके लिये प्रस्तुत हैं तो यह बहुत उत्तम बात है। परंतु इस रक्षाके भावमें भी रक्षकपनका अभिमान नहीं आना चाहिये। यह समझना चाहिये कि इसके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह केवल निमित्तमात्र है और यों निश्चय करके हर समय चित्तमें बड़ी उदारता रखनी चाहिये। कोई भी योग्य अधिकारी ग्राहक मिल जाय यानी सेवा करानेवाला मिल जाय तो यह समझना चाहिये कि इनकी मुझपर बड़ी भारी कृपा है जो मुझको पवित्र करके संसारसे उद्धार करनेके लिये, मुझसे सेवा लेनेके लिये स्वयं पधारे हैं; भगवान् इनको भेजकर मुझसे सेवा ले रहे हैं, इनके द्वारा भगवान् अपनी चीज मुझसे सँभाल रहे हैं। मेरे पास यह चीज अमानतकी तरह पड़ी थी, भगवान्की सेवामें लग गयी, यह बहुत अच्छी बात है; और यदि हम यह समझ लेते हैं कि स्वयं भगवान् ही हमसे सेवा लेनेके लिये पधारे हैं, तब तो और भी उत्तम बात है; क्योंकि उस समय हमें अतिशय प्रसन्नता और अतिशय आनन्द होता है ! यह समझकर हमें हर समय उपर्युक्त भावसे सेवा करनी चाहिये कि यह भगवान्की वस्तु भगवान्की सेवामें लग जाय और इसके लिये सदा सहर्ष प्रस्तुत रहना चाहिये।

यदि हम इन वस्तुओंको अपनी मानकर यहाँ छोड़कर चले जायँगे तो आगे जाकर हमको घोर दण्ड मिलेगा। ये चीजें भी हमारे किसी काममें नहीं आयेंगी। न मालूम, इनका कौन मालिक होगा। सरकार मालिक होगी या अन्य कोई। कुछ भी पता नहीं है। कोई भी हो, इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। इसलिये जबतक हम जीवित हैं, तभीतक अपनेको सँभाल लेना चाहिये, अपनेको भगवान्के सामने निर्दोष बना लेना चाहिये, वस्तुमात्रसे अपना अधिकार उठा लेना चाहिये। जीवन रहेगा तो धन, मकान या कुटुम्बके भरोसे थोड़े ही रहेगा; वह तो भगवान्की कृपाके ही भरोसे रहेगा। यथार्थमें यों मानना भी अपने जीवनके लिये भगवान्का आसरा लेना है; अतः सकाम भाव है। किंतु उस चोरीसे तो यह भाव भी बहुत श्रेष्ठ है। दूसरोंके—जगज्जनार्दनके धनपर अपना अधिकार जमाना तो प्रत्यक्ष चोरी है। दुनियामें जितना भी है, वह सब दूसरोंका है यानी सबके हिस्सेका है। चाहे उसे भगवान्का समझें, जनताका समझें या प्रकृतिका समझें। किसी भी हालतमें वह हमारा नहीं है। इसलिये किसी भी धनके ऊपर, किसी भी शरीरके ऊपर या किसी भी ऐश्वर्यपर हम यदि अपना अधिकार जमाते हैं, तो वह हमारी अनधिकार चेष्टा है और महान् अज्ञता है। यदि हम इन पदार्थोंपर अपना अधिकार कायम करके मर जायँगे तो चोरको जो दण्ड होता है, वही हमें भी प्राप्त होगा। यह बात सर्वथा युक्तिसंगत है तथा शास्त्रसंगत है। अतः अकाट्य है।

अतएव इस बातको ध्यानमें रखकर हमें संसारकी वस्तुओंसे तथा शरीरसे अपना माना हुआ अधिकार हटा लेना चाहिये तथा परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये। परमात्माके स्वरूपमें अचल निरन्तर नित्य स्थितिमें यह मिथ्याधिकार बड़ा बाधक है। इसमें हमारा मन फँसा है, यही मरनेके समय महान् दुःख देता है। इसी कारण हमारा चित्त संसारमें अटक जाता है, जिससे हमारी दुर्गति होती है। जीते हुए भी दुर्गति और मरनेके समय भी दुर्गति। अतः विशेष ध्यानपूर्वक यह विचार करना चाहिये कि 'मेरा इससे क्या सम्बन्ध है, क्यों मैं अपने गलेमें फाँसी लगाकर अपना अहित कर रहा हूँ।' जब यह बात समझमें आ जायगी, तब स्वतः ही शरीर और संसारसे सम्बन्धविच्छेद हो जायगा। फिर यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि मेरा इससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मेरी यही जिम्मेवारी है कि मैं इसको जल्दी-से-जल्दी परमात्माकी सेवामें लगा दूँ। तभी मेरी जिम्मेवारी दूर होती है अर्थात् मैं सब ऋणोंसे सर्वथा मुक्त हो

जाता हूँ। इसलिये अपना कर्त्तव्य समझकर जिन पदार्थोंपर अपना अधिकार है तथा जिनमें ममता और अभिमान है, उनपरसे शीघ्र-से-शीघ्र अधिकार तथा ममता-अभिमान उठाकर परमात्माकी शरण हो जाना चाहिये; परमात्मा-के स्वरूपमें अपनी स्थिति कर लेनी चाहिये। परमात्मा-के स्वरूपमें जो स्थिति है, वही ब्राह्मी स्थिति है और ब्राह्मी स्थितिका फल ही परमात्माके स्वरूप-की प्राप्ति है।

महारसायन

(लेखक—स्वामीजी श्रीसीतारामदासजी ओंकारनाथ)

'बेटा ! सो क्यों रहे हो ?'

'सो कहाँ रहा हूँ, आप देखते नहीं मैं कितनी दौड़-धूप कर रहा हूँ, कितना काम कर रहा हूँ—अभी सोऊँगा कैसे ?'

'क्या दौड़-धूप करना ही जाग्रत् रहना है ? विषयोंके पीछे दौड़-धूप करना ही तो निद्राका लक्षण है।'

'तो फिर आपके विचारसे जाग्रत् रहना क्या है ?'

'जिसकी जिह्वा सदैव मेरा नाम लेती है, जिसका एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जाता, यथार्थमें वही जाग्रत् है। समयके सदुपयोगमें असमर्थ व्यक्ति ही निद्रित है। वह केवल निद्रित ही नहीं—महानिद्रित अर्थात् मृत है। जागो और जागकर नाम लो।'

'नाम लो, नाम लो, आप तो बस, यही कहते हैं। क्या नामको छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है ?'

'हाँ—कर्म, योग और ज्ञानसे भी मुझे प्राप्त किया जा सकता है; किंतु यह कलियुग है, इस युगमें विशुद्ध द्रव्य, शुद्ध मन्त्र तथा वित्तशाठ्यहीन कर्मी न होनेके कारण यज्ञादि कर्म नहीं हो सकते। त्याग करनेमें पूर्णतया सामर्थ्य न होनेके कारण योगमें फल-प्राप्ति दुष्कर है। यथार्थ यति न होनेके कारण वेदान्त-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है। अतएव तुम्हारे-जैसे जिह्वा और उपस्थपरायण क्षुद्र प्राणीके लिये नामके अतिरिक्त और गति नहीं है। तुम उच्च स्वरसे नाम लेकर दिग्दिगन्तको प्रतिध्वनित कर दो। वैखरी सिद्ध हो।'

'यदि उच्च स्वरसे नाम न लिया जाय तो क्या नामका फल नहीं होता ?'

'उच्च स्वरसे नाम लेनेसे सब जीवोंके प्रति मित्रवत् व्यवहार करना होता है।'

'अच्छा ! इसीलिये नृसिंहपुराणमें कहा है—

ते सन्तः सर्वभूतानां निरुपाधिकबान्धवाः।
ये नृसिंह भवन्नाम गायन्त्युच्चैर्मुदान्विताः॥

—'हे नृसिंह ! जो सज्जन तुम्हारा नाम उच्च स्वरसे आनन्दचित्त होकर गाते हैं, वे ही वास्तवमें सब प्राणियोंके मित्र हैं।'

देखो, जो अपने घरमें या जंगलमें मेरा नाम मनमें जपता है, वह केवल स्वयं ही धन्य और पवित्र होता है, उसका कर्मबन्धन टूट जाता है, परंतु—

न चैवमेकं वक्तारं जिह्वा रक्षति वैष्णवी।
आश्राव्य भगवत्ख्यातिं जगत् कृत्स्नं पुनाति हि॥

(हरिभक्तिसुधोदय)

विष्णुनाम लेनेवाली जिह्वा केवल नाम लेनेवालेका ही कल्याण करे, ऐसा नहीं है, वरं श्रीभगवान्‌का नाम समस्त जगत्‌को पवित्र करता है। समझे ? विशेषतया इस कलियुगमें नाम छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। नाम-साधन बहुत सरल है। जिह्वाद्वारा मेरे नामरूपी महामन्त्रका प्रचार करना ही साधना है।

'योगी अथवा ज्ञानी होनेके लिये त्यागकी आवश्यकता है, संयमका अभ्यास करना पड़ता है; किंतु नाम-साधनामें कुछ भी नहीं करना पड़ता, केवल निरन्तर नाम लेनेसे ही मैं भक्तको भाव-राज्यमें ले जाता हूँ। 'त्याग, त्याग' करके उसको दौड़ना नहीं पड़ेगा, बल्कि त्याग ही उसके पीछे दौड़ेगा। जिस प्रकार बादलकी ओर ताककर चातककी समस्त इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, उसी प्रकार अविराम नाम लेते-लेते भक्तसे बाह्य-जगत्‌का अनुभव लुप्त हो जाता है। मैं उसे आलिङ्गन करता हूँ। उसे मेरे हृदयमें स्थान मिल जाता है। वह शान्त हो जाता है, उसकी सब व्यथा मिट जाती है। क्यों, चुप क्यों हो? क्या विश्वास नहीं होता?'

'नहीं, नहीं, यह नहीं। जब आप कह रहे हैं, तब मैं क्या अविश्वास कर सकता हूँ? मैं तो यह सोच रहा हूँ कि हाय! मैंने कितना समय व्यर्थ बिता दिया। कभी यशके लिये, कभी धनकी आशामें, कभी स्त्रियोंके साथ मैंने जीवनके अमूल्य समयको नष्ट कर दिया। इसलिये बड़ा दुःख हो रहा है। अब मेरी यह इच्छा होती है कि आपके पैर पकड़कर रोऊँ और उन चरणकमलोंको अश्रुओंसे धो डालूँ।'

'अच्छा तो, रो लो। हृदयका मैल अश्रु ही काट सकते हैं। भक्त पहले आँसुओंके द्वारा अपने हृदयको शुद्ध तथा कोमल करता है, तत्पश्चात् मेरे लिये आसन बिछा देता है। देखो, मेरी अन्तर और बाह्य पूजाकी प्रधान सामग्री आँसू है। इसी उपादानसे जो मेरी पूजा करता है, उसको मैं तुरंत शान्ति देता हूँ। रोओ-रोओ, जी भरकर रोओ। हरि, हरि कहकर रोते-रोते अपने वक्षःस्थलको प्लावित कर दो। हृदयके आँसू मुझे बड़े प्रिय हैं। मेरा नाम लेकर जो रोता है, मैं उसके हाथों बिक जाता हूँ।

गीत्वा च मम नामानि रुदन्ति मम संनिधौ।
तेषामेव परिक्रीतो नान्यक्रीतो जनार्दनः॥
(आदिपुराण)

'प्रतिक्षण विषयोंमें लिप्त रहनेसे हृदय मरुभूमि बन गया। आँखें पथरा गयीं। कितना भी हरिको पुकारते हैं, किंतु नेत्रोंमें एक बिन्दु अश्रु नहीं आता।'

'न आये, तब भी मैं तुमसे कहता हूँ कि जो मुझे याद करता है, वह पत्थर अथवा काठकी भाँति हीन क्यों न हो, मैं उसे अभीष्ट फल देता हूँ। 'पाषाण-काष्ठसदृशाय ददाम्यभीष्टम्'। तुम जगत्‌में किसलिये आये हो, स्मरण है? मैं फिर कहता हूँ, जगत्‌में नामका प्रचार करनेके लिये आये हो। नाम लो, नाम लो, नाम लो।'

हे जिह्वे! अब चुप न रहना, वह सुनो, महा-मिलनकी पुकार—अविराम बोलो—

जय रघुनन्दन जय सियाराम। जानकिवल्लभ सीताराम॥

(२)

श्रद्धया हेलया नाम रटन्ति मम जन्तवः।
तेषां नाम सदा पार्थ वर्तते हृदये मम॥
(आदिपुराण)

'श्रद्धा या अवहेलनासे भी जो मेरा नाम लेते हैं, हे पार्थ! उन मनुष्योंका नाम मेरे हृदयपर सदा अङ्कित रहता है। मैं अपना नाम लेनेवाले भक्तोंके हृदयसे कभी दूर नहीं जाता हूँ। नाम लेनेवाले मुझे बहुत प्रिय हैं। तुम नाम लेते जाओ।'

'क्या नाम लेनेपर आप प्रेम करते हैं? तो फिर मैं आपका नाम नहीं लूँगा।'

'तुम मेरे प्रेमसे इतने डरते क्यों हो?'

'सब कुछ देख-सुनकर आपके प्रेमसे मेरे मनमें एक आतङ्क-सा छा गया है। आपके प्रेमकी बातें सुनते ही बेचारे राजा दशरथकी याद आती है। वे आपके प्रेमके

असीम समुद्रमें डूब मरे । कौसल्या रो-रोकर अंधी हो गयीं । जिनके आप सर्वस्व थे उन श्रीजनकनन्दिनीके प्रति प्रेम करके आपने अपने प्रेमका कैसा सुन्दर आदर्श जगत्‌के सामने रक्खा, कुछ स्मरण है ? अरे दयालु-निष्ठुर ! कोमल-कठिन ! प्रेमका नाम और मत लो । कंसके कारागारमें वसुदेव-देवकीकी लाञ्छना आपके प्रेमका कीर्तिस्तम्भ है । नन्द-यशोदाका करुणक्रन्दन आपके प्रेमकी विजय-पताका है । आपके प्रेममें उन्मादिनी गोपिकाओंका प्राणभेदी हाहाकार आपके प्रेमका राज्यछत्र है । और कितना बताऊँ ? आपके मुखसे प्रेमका नाम सुनते ही पाण्डवोंकी दुर्गति, प्रह्लादके कष्ट, बलिके बन्धन—सब याद आ जाते हैं । नाम लेनेको कहते हैं, सो नाम ले रहा हूँ । बस, यही ठीक है । प्रेमकी चर्चा न करें और मैं भी आपके प्रेमका प्रार्थी नहीं हूँ । आप मुझे इतनी शक्ति दें कि मैं आपसे प्रेम कर सकूँ ? इससे अधिककी इच्छा नहीं ।'

'तो क्या तुम यह कहना चाहते हो कि मैं जिससे प्रेम करता हूँ, वह मनुष्य दुःख पाता है ?'

'मैं क्यों कहता हूँ ? आपके भक्तोंके चरित्रोंकी बातें पढ़-सुनकर जो गूँगे नहीं हैं, वे सभी यही कहेंगे ।'

'देखो ! मैं भक्तोंका दुःख सदाके लिये मिटा देना चाहता हूँ; इसीलिये उनकी सांसारिक ममताका नाश करनेके लिये मैं उनके चारों ओर दुःखका दावानल जलाकर, उनको अपनी गोदमें लेकर बैठ जाता हूँ । सब लोग समझते हैं कि वे दुःख पा रहे हैं, किंतु उस दुःखकी जलन मेरे उस भक्तके शरीरको नहीं छू पाती । वह भक्त मेरी गोदमें निर्भय सोया करता है । उन लोगोंके क्षणिक मिथ्या सुखसदनको जलाये बिना वे यथार्थ शान्तिके मार्गपर जाना नहीं चाहते । इसीलिये जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसका सर्वनाश करता हूँ, उसका सर्वस्व हरण कर लेता हूँ ।

'यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।'

'तो दरिद्रता ही क्या आपकी कृपाका लक्षण है ?'

'हाँ, धन मेरे मार्गमें एक विषम कंटक है ।'

'मानता हूँ, अच्छा, मेरे ऊपर आपकी इतनी कृपा क्यों हुई ? मैं योगी नहीं, ज्ञानी नहीं, निष्कामकर्मी नहीं, भक्त नहीं; मैं तो भोगी, भजन-साधन-हीन द्विपद पशु हूँ, फिर मेरे प्रति इतनी करुणा क्यों ? मुझे महाजनोंका तकाजा क्यों सहना पड़ता है; यदि वे तकाजा नहीं करते, तब भी भय क्यों प्रतीत होता है ? उनका उचित प्राप्य उचित समयपर न देनेसे मनमें भय क्यों होता है ?'

'अरे, यह तो होगा ही, तुम कभी नाम न लो और तुम्हारा दुःख मिट जाय, ऐसा नहीं होता । तुम अविराम नाम लो ।'

'निर्धनत्वं महारोगो मदनुग्रहलक्षणम्'

'निर्धनता और महारोग मेरी करुणाका लक्षण है । मैं कष्ट देकर उसे अपना बना लेता हूँ ।'

'नाम लो, अविराम नाम लो, तब तुम समझोगे कि *ऋणी और महाजन दोनों मैं ही हूँ* । मेरे संसारमें तुम कर्त्ता क्यों बनते हो ? स्थिर हो और स्थिर होकर नाम लो । तुम्हारी भलाई-बुराई, योगक्षेम सब मैं स्वयं वहन करूँगा । मैं तुम्हें पग-पगपर दिखा रहा हूँ कि स्थिर होनेसे तुम्हें शान्ति मिलेगी, तब भी तुम भटकते रहते हो । तुम स्थिर होकर बैठो, मैं तुम्हारी सांसारिक आवश्यकताओं-की पूर्ति करूँगा । अहं-भावका बोझा मुझे देकर तुम निश्चिन्त हो जाओ । कर्तृत्वाभिमान त्याग करते ही मैं सारा भार ले लेता हूँ ?'

'प्रभो ! मैं तो असमर्थ हूँ, कर्ता बननेका अभिमान मैं तो त्याग नहीं सकता; तब मेरा क्या होगा ? क्या मेरे लिये अन्य कोई उपाय नहीं है ?'

'इसीलिये तो कहता हूँ कि नाम लो । आधि-

व्याधि, शोक-ताप, ज्वाला-यन्त्रणा मेरे स्मरण और मेरे नामकीर्त्तनसे नाश हो जायँगे, मेरा नाम लो।'

'मैं तो शक्तिहीन हूँ। यदि मैं नाम लूँ, तो क्या आप सुनेंगे? क्या मेरा पाप नाश हो जायगा?'

'अरे, नाम लेनेसे भक्ति आयेगी। सुनो—

गोविन्देति तथा प्रोक्तं भक्त्या वा भक्तिवर्जितैः।
दहति सर्वपापानि युगान्ताग्निरिवोत्थितः॥
(स्कन्दपुराण)

'मेरे नामकी शक्ति भक्तिकी प्रतीक्षा नहीं करती। युगान्तकालकी आग जैसे ब्रह्माण्डको ध्वंस कर देती है, उसी प्रकार मेरा नामरूपी अग्नि करोड़ों जन्मके उगे हुए पापोंको पूर्णतया दग्ध कर देती है। पापी! मैं तुम्हारा हूँ—मत डरो।'

'कितनी आशाकी बात है, कितना अभय आश्वासन है। बड़ा मधुर है, बड़ा मधुर है, आप मेरे हैं। मेरे हृदयका बोझ हल्का हो गया। अरे पापी! अब तुझे डर नहीं है'—

हरि बोलो! हरि बोलो!! हरि बोलो!!!

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(७४)

श्रीकृष्णचन्द्र ह्रदकी उस गभीर जल-राशिपर इस प्रकार चरण रखते हुए बाहर निकल आये, जैसे वह स्थल हो और तटपर आते ही श्रीअङ्गोंकी अप्रतिम शोभासे ह्रदका सम्पूर्ण परिसर उद्भासित हो उठा। दिव्य माल्य, चन्दन एवं वस्त्रकी शोभा, अमूल्य रत्नाभरणोंकी छटा, स्वर्णालंकारकी वह चमक-दमक—सब कुछ अनोखी है।—

कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम्।
महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १७। १३)

तब नँद-नंदन दह तैं निकसे। मुसकत नवल कमल से विकसे॥
अहिपति निज कर पूजे स्याम। अद्भुत पट, अद्भुत मनि-दाम॥
बन्यौ जु बदन सु को छबि गनैं। दीनी ओप चंद मधि मनौं॥

× × ×

इत जमुन दह तैं कढे सुंदर स्याम घन छबि छाजहीं।
नव रतन भूषन तन अलंकृत किरन जगमग राजहीं॥

व्रजपुरवासियोंकी दृष्टि तो सदासे उस ओर केन्द्रित थी ही, किंतु अब मानो मृत देहमें सचमुच ही प्राणोंका संचार हो गया हो, इस प्रकार उनकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हो उठीं। उनके कोटिप्राणसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्र उनके सामने पुनः अवस्थित हैं, यह अनुभव करते ही उनका कण-कण परमानन्दसे पूर्ण हो उठा। सबसे पहले सुबल एवं श्रीदाम—दोनों ही विद्युत्-वेगसे दौड़कर नीलसुन्दरके समीप आये। दोनोंने एक ही साथ उन्हें अपने भुजपाशमें भर लिया। इसके अनन्तर वे असंख्य गोपबालक अपने प्राणसखासे मिलने आये। प्राकृत जगत्में तो यह सम्भव नहीं, पर वहाँ तो व्रजेन्द्रनन्दनने एक साथ प्रत्येक सखाका ही प्रेमालिङ्गन स्वीकार कर लिया। स्नेहके उस स्रोतमें श्रीकृष्णचन्द्र एवं सखा डूबने-उतराने लगे, कुछ क्षणके लिये सचमुच ही सुध-बुध भूल गये—

उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे॥
(श्रीमद्भा० १०। १७। १४)

देखि कृष्न कहँ सब व्रजबासी। हरखि उठे लहि सुख की रासी॥
प्रान पाइ इन्द्रीगन जैसें। सुखित भए सब एहि बिधि तैसें॥
गोपन कहँ आनंद अपारा। मिले परस्पर बारहिं बारा॥

इतनेमें जननी यशोदा आयीं। अघटघटनापटीयसी योगमायाने उनके लिये भी स्थान बनाया। सखाओंके

भुजपाशसे नीलसुन्दर सहसा अनावृत हो गये। जननी-को अपनी प्राणनिधि अपने सामने अत्यन्त निकटमें ही दीख गयी, किंतु मैया एवं मैयाके लालका वह मिलन—ओह ! वाग्वादिनीमें कहाँ सामर्थ्य है कि चित्रित कर दें ! केवल उसकी छायामात्र—सो भी न जाने कितने कालके अनन्तर—इतनी-सी झङ्कृत हो सकी—

मन संग हिय अगिवानि करि जननी लये तट आइ कैं।
पय स्रवत आँसू ढरत अंक गुविंद भैंटे धाइ कैं॥

× × ×

लीन्हौं जननि कंठ लगाइ।
अंग पुलकित, रोम गदगद, सुखद आँसु बहाइ॥

अब श्रीरोहिणीजीने नीलसुन्दरको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया—

लखि अतुल छबि प्यारे ललन उर उरकि लागी रोहिनी।

व्रजेश्वर अबतक मानो प्रतीक्षा-सी कर रहे थे। बालकोंको, व्रजरानीको, श्रीरोहिणीको ही प्रथम अधिकार है नीलमणिको अपने वक्षःस्थलपर धारण करनेका—सुप्त चेतनाकी यह भावना उन्हें रोके हुए थी। पर उनका मिलन तो हो चुका। इसीलिये अब धैर्यका बाँध टूटा। परम शीलवान् व्रजेन्द्र प्रेमजनित उत्कण्ठासे अतिशय चञ्चल हो उठे। उनकी गम्भीरता नष्ट हो गयी। विलम्ब असह्य हो गया। व्रजपुरन्ध्रियोंकी अपार भीड़का भी जैसे उन्हें तनिक भान न रहा हो, ऐसे वे उस स्त्री-समूहमें प्रविष्ट हो गये और श्रीकृष्णचन्द्रको अपने अङ्कमें भर लिया—

ततः प्रेमौत्कण्ठ्यचुलुकितगाम्भीर्यो विलम्बा-सहिष्णुः स्त्रीसम्मर्दमध्य एव प्रविश्य नन्दः।
(सारार्थदर्शिनी)

गह्वर गरे उर कहँ भरे कहि नंद कछुव न आवहीं।
धरि अंक सुत कौं अंग लागे रंक ज्यों निधि पावहीं॥

फिर अवसर मिला वात्सल्यवती गोपियोंको। सबने ही श्रीकृष्णचन्द्रको अपने हृदयपर धारण कर प्राण शीतल किये। तथा इसके अनन्तर मिलन हुआ उपनन्द आदिका एवं तरुण व्रजगोपोंका। श्रीकृष्णचन्द्र उनके कण्ठसे लगकर, उनकी ग्रीवामें अपनी भुजाएँ डालकर झूलने लगे—

ततोऽन्या गोप्यो वत्सला गोपाश्चोपनन्दादयः।
(सारार्थदर्शिनी)

और वे तरुणी गोपसुन्दरियाँ, गोपकुमारिकाएँ—व्रजेन्द्रनन्दनको यद्यपि अपने वक्षःस्थलपर प्रत्यक्षरूपसे धारण न कर सकीं, फिर भी अपने दृगञ्चलके पथसे उनका मानस-मिलन संघटित हुआ ही; उनकी इन्द्रियोंमें भी सामयिक शक्तिका संचार हुआ; उनके मनोरथ भी पूर्ण हुए। मृत्युके उस पारसे वे भी मानो लौट आयीं—

पूर्वरागवत्यो गोप्यश्च दूरतो लोचनाञ्चलीभिरेव समेत्य परिष्वङ्गादिभिः सङ्गतीभूय लब्धचेष्टा लब्ध-वाञ्छिता मृता इव जीवन्त्यो बभूवुः।
(सारार्थदर्शिनी)

इस प्रकार व्रजपुरवासी—व्रजेन्द्रगेहिनी, श्रीरोहिणी, व्रजेश्वर, गोपिकाएँ, गोप, गोपतरुणियाँ, गोप-कुमारिकाएँ—नीलसुन्दरसे यथायोग्य मिलकर परमानन्दमें निमग्न हैं। सबका मनोरथ पूर्ण हो गया है। आनन्द-सिन्धुकी लहरें सबको आत्मसात् कर रही हैं—

यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव।
कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १७। १५)

सुख पयोधि पय प्रेमकौ उमगि चल्यौ चहुँ ओर।
प्रीति लहरि लखि लखि बढ़तु राकारमन किसोर॥

अबतक रोहिणीनन्दन श्रीबलराम दूर अवस्थित रहकर मन्द-मन्द मुसकाते हुए सबके मिलन-सुखका आनन्द ले रहे थे, किंतु अग्रज-अनुजका मिलन भी तो अनिवार्य है। इसीलिये दाऊ भैया भी दौड़े ही और लपककर अनुजको वक्षःस्थलपर धारण कर लिया।

अवश्य ही दाऊ भैयाके नेत्रोंसे अश्रु ढलकनेपर भी मुखकमलपर एक दिव्य हास्य भरा है, वे हँस रहे हैं। वे क्यों न हँसें, अपने भाईके अनन्त ऐश्वर्यसे वे चिर-परिचित जो ठहरे—

रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्।
(श्रीमद्भा० १० । १७ । १६)

मिलि बलदेव हँसे मुसुकाई। जानत भ्रात चरित समुदाई॥

किंतु दूसरे ही क्षण बाल्यलीलारसका उनमें भी आवेश हुए बिना न रहा। रोहिणीनन्दनका वह नित्य-सिद्ध ज्ञान, अपने अनुजके अपरिसीम ऐश्वर्यकी अनुभूति स्नेहरसकी उत्ताल तरङ्गोंमें सहसा विलीन हो गयी। और यह लो, वे नीलसुन्दरको अपने क्रोडमें धारण कर बारंबार देखने लगते हैं—'कहीं दुष्ट कालियके द्वारा उन मृदुल अङ्गोंमें कोई क्षत तो नहीं हो गया है!'—

प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य पुनः पुनरुदैक्षत।

अग्रजसे मिल लेनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी दृष्टि उस असंख्य धेनुराशिकी ओर जाती है। वे गायें, वृषभ, वत्स अभी भी चित्रलिखे-से हुए निष्पन्द मुग्ध-से अवस्थित हैं, अपलक दृष्टिसे उनकी ओर ही देख रहे हैं। सदा ही वे गायें श्रीकृष्णचन्द्रको देखते ही उनकी ओर दौड़ पड़तीं। पर आज वे स्वयं चलकर नहीं आयीं। कारण स्पष्ट है—वे गोपगोपी-समूहके श्रीकृष्ण-मिलनमें बाधक बनना नहीं चाहतीं। पशुयोनिमें होनेपर भी उनमें पशुताका अभाव है। वे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिय गायें जो ठहरीं। अस्तु, अब नीलसुन्दर उनकी ओर ही दौड़ पड़ते हैं, जाकर उनके ग्रीवा-देशमें अपनी भुजाएँ डाल देते हैं। एक साथ प्रत्येक गौ, वृषभ, वत्सको ही श्रीकृष्णचन्द्रका परम दिव्य स्पर्श प्राप्त हो जाता है। उस समय उन मूक पशुओंकी दशा—ओह! कोई कैसे बताये! वे गायें अपनी सजल आँखोंसे श्रीकृष्णचन्द्रको मानो पी जाना चाह रही हों; अपने प्रफुल्ल नासापुटोंसे उनके प्रत्येक अङ्गको ही सूँघ रही हों, अपनी रसज्ञा रसनाके द्वारा प्रेमातिरेकवश उन्हें चाट लेना चाह रही हों; प्रेमविह्वलताके कारण मधुर अस्फुट हाम्बारव करती हुई मानो वे नीलसुन्दरका कुशल जान लेना चाह रही हों—'मेरे जीवनाधार! कालियके द्वारा तुम्हें कहीं चोट तो नहीं आयी!'—

धेनुभिरपि साश्रैरव नयनपुटैः पीयमान इव प्रफुल्लाभिर्घ्राणाभिर्घ्रायमाण इव रसज्ञाभी रसज्ञाभी रभसेन लिह्यमान इव कलगद्गदेन हम्बारवेण सप्रणयमनामयं पृच्छ्यमान इव।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र उस असंख्य धेनुराशिसे मिल रहे हैं, उस समय उनके चरणसरोरुह ह्रदकी उस जली हुई तट-भूमिको, तृणरहित स्थलको स्वाभाविक अपना पावन स्पर्श दान करते जा रहे हैं और इसका यह तत्क्षण परिणाम हो रहा है—अद्भुत हरीतिमा वहाँ व्यक्त होने लगती है। वह जला हुआ स्थल-देश मनोहर तृण-संकुलित श्यामल वन जाता है। इतना ही नहीं, ह्रदकी सीमासे पारके जो वृक्ष विषकी ज्वालासे झुलस गये थे, वे भी नीलसुन्दरकी दृष्टि पड़ते ही तत्क्षण पल्लवित, पुष्पित हो गये—

नगा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम्।
(श्रीमद्भा० १० । १७ । १६)

धेनु वृच्छ बछरा व्रप सारे। लहे परम आनँद अति भारे॥

इसी समय अपने परिवारको साथ लिये व्रजवासी ब्राह्मण एवं गोपकुल-पुरोहितगण व्रजेन्द्रके समीप आये। ये सभी आये तो वहाँ पहले ही थे। जब सम्पूर्ण व्रज अशकुनका अनुभव कर कालियह्रदकी ओर भाग छूटा था तो ये भी उनके पीछे-पीछे दौड़ आये थे, किंतु आकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे। अब पुन. व्रजेन्द्रनन्दनके दर्शनसे ये भी अतिशय प्रफुल्लित हो उठे एवं व्रजेशसे कहने लगे—'नन्दराय! सुनो, तुम्हारे एवं हम सबके

भाग्यसे ही तुम्हारा पुत्र श्रीकृष्ण अक्षत बचकर चला आया; कालिय-जैसे महाविषधर नागसे ग्रस्त होनेपर भी यह छूट आया। एकमात्र श्रीनारायणकी अनुकम्पासे ही यह सौभाग्य हम सबोंके लिये सम्भव हुआ है व्रजेश! शीघ्र ही श्रीनारायणकी अर्चनाके रूपमें महामहोत्सव आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दानसे परितृप्त कर दो।' तथा व्रजेशने भी अतिशय प्रसन्नताका अनुभव करते हुए तत्क्षण इस आदेशका पालन किया। अपरिमित स्वर्णराशि, अगणित गो-दानका संकल्प व्रजेन्द्रने अविलम्ब ग्रहण कर लिया। संकल्पपाठके समय व्रजेश्वरकी आँखें बरस रही हैं एवं मनका प्रत्येक अंश इस भावनामें निमग्न है—'मेरे प्राणधन नीलमणिको ऐसी कोई विपत्ति छूतक न सके; सदा ही मेरा लाल इन सबसे सर्वथा अक्षत बच निकले।'

नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः।
ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः॥
देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे।
नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १७। १७-१८)

आये ब्रज के द्विज अनुरागे। नंद सौं कहन सबै यौं लागे॥

× × ×

बोले भूसुर धाइ, अहो नंद तव भाग्य बड़।
पर्‌यो सर्प मुख जाइ, दैव बचायो सुअन तव॥
देहु दान द्विज कौं सनमानी। अहि तें छुट्‌यो तनय निज जानी॥
सुनि कै नंद बहुत सुख माना। दिए धेनु कंचन मनि नाना॥

× × ×

जु कछु जन्म-उत्सव मैं कीनौं। ब्रजपति तातैं दूनौ दीनौ॥

अस्तु, सबका मिलन सम्पन्न होनेके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र पुनः जननीके पास ही चले आये। जननीने भी अपने लालको हृदयसे लगाकर क्रोडमें धारण किया। महाभाग्यवती कृष्णवत्सला मैया यशोदा अपने विनष्टप्राय पुत्र-नीलमणिको फिरसे हृदयपर धारण कर सकीं—बस, इससे अधिक उन्हें और कुछ नहीं चाहिये, किंतु उनके आँसू अभी भी थम नहीं रहे हैं; नीलसुन्दरको गोदमें लिये मूर्ति-सी बनी वे बैठी हैं तथा नेत्रोंसे निरर्गल अश्रुप्रवाह बहता जा रहा है—

यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः॥
(श्रीमद्भा० १०। १७। १९)

जसुमति परम भाग्य निधि भूपा। नष्ट प्राय सुत लह्यो अनूपा॥
अंक राखि पुनि पुनि हिय लाई। जलज नयन जल धार बहाई॥

जननीका यह करुणभाव सबको आर्द्र कर देता है। पुनः सबकी आँखें झरने लगती हैं—

चलत सबन के नैंनन नीर। जनु निकसी जल ह्वै उर पीर॥

बीच-बीचमें व्रजेन्द्रगेहिनी अस्फुट कण्ठसे बार-बार इतना-सा कह उठती हैं—

मैं तुमहिं बरजति रही हरि, जमुन-तट जनि जाइ।
कह्यौ मेरो कान्ह कियौ नहिं, गयौ खेलन धाइ॥

श्रीकृष्णचन्द्र मैयाके अङ्कमें विराजित रहकर मन्द-मन्द हँस रहे हैं। अचानक उनके चञ्चल नेत्र किञ्चित् और भी चञ्चल हो उठे। ताली पीटकर, हँसकर उन्होंने व्रजेशका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और पुकार उठे—'बाबा! बाबा! विलम्ब मत करो, वे कमलपुष्प कंसको भेजने हैं न; शीघ्र भेज दो!'—

तुरत कमल अब देहु पठाइ।
सुनहु तात कछु बिलँब न कीजै, कंस चढ़ै ब्रज ऊपर धाइ॥

फिर तो व्रजेश्वर चौंक उठे, व्रजरानीका वह करुण-भाव शिथिल हो गया। अन्य समस्त व्रजवासियोंका ध्यान भी उधर ही जा लगा। ऐसा इसीलिये हुआ कि व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्यलीला महाशक्तिकी योजनाके अनुसार ही तो लीलाप्रवाह अग्रसर होगा। उसी योजनासे अबतक सब कुछ हुआ है, आगे अनन्त काल-तक होता रहेगा। व्रजेश्वरके समीप सम्राट् कंसका दूत आया था, कालियह्रदके कमलपुष्प सूर्यास्तसे पूर्व सम्राट्के समीप प्रेषित कर देनेकी आज्ञा हुई थी, व्रजेश्वर-

व्रजवासी चिन्तामें निमग्न थे तथा उससे पूर्व रात्रिमें श्रीकृष्णचन्द्रने एक स्वप्न देखा था। मैया स्वप्न सुनकर आकुल हो गयी थीं। इन सबकी सर्वथा विस्मृति जिस योजनाके अनुसार हो गयी थी, उसीके अनुसार अब समयपर पुनः स्मृति भी उदय हो आयी है। जो हो, व्रजेश्वर तो नीलसुन्दरकी बात सुनते ही अग्रिम व्यवस्थाकी बात सोचने लग गये तथा बाल्यलीलाविहारी जननीकी ठोढ़ी छूकर अतिशय मधुकण्ठसे उन्हें प्रबोध देने बैठे—

कंस कमल मँगाइ पठए, तातैं गयउँ डराइ।
मैं कह्यौ निसि सुपन तोसौं, प्रगट भयौ सु आइ॥
ग्वाल सँग मिलि गेंद खेलत, आयौ जमुना तीर।
काहु लै मोहिं डारि दीन्हौ, कालिया-दह-नीर॥
यह कही तब उरग मो सौं, किन पठायौ तोहिं।
मैं कही, नृप कंस पठयौ, कमल-कारन मोहिं॥
यह सुनत डरि कमल दीन्हौ, लियौ पीठि चढ़ाइ।
सूर यह कहि जननि बोधी, देख्यौ तुमहीं आइ॥

जय हो बाल्यलीलारसमत्त प्रभु व्रजेन्द्रनन्दनकी! प्रभुकी शिशुसुलभ परम रसमय सरल वचनावलीकी!!

और वह देखो—वहाँ कालियह्रदकी ओर! जहाँ उस सुविस्तीर्ण ह्रदके जलपर एक तृणका चिह्नतक उपलब्ध न था, वहीं सर्वत्र मानो कमलपुष्पोंका ही आस्तरण आस्तृत हो रहा है, राशि-राशि विकसित पद्मोंसे सम्पूर्ण ह्रद आच्छादित हो रहा है! इतना ही नहीं, ह्रदके स्थान-स्थानपर एकत्र किये हुए पद्म-पुष्पोंका अंबार लग रहा है।

दृश्य देखकर व्रजेश्वरका रोम-रोम खिल उठा। व्रज-पुरवासियोंके आनन्दका पार नहीं रहा। आदेशभरकी देर थी। सभी सेवक कंस-सम्राट्के लिये आवश्यक उपहार-सामग्री एकत्र करनेमें जुट पड़े। व्रजसे शकटोंका समूह आया। भेंटकी अन्य सामग्रियाँ आयीं। देखते-देखते ही तीन कोटि पद्मपुष्प सहस्र शकटोंमें पूरित कर दिये गये और गोपरक्षकोंके संरक्षणमें शकट मधुवनकी ओर चल पड़े—

सहस सकट भरि कमल चलाए।
अपनी समसरि और गोप जे, तिनकौं साथ पठाए॥
और बहुत काँवरि दधि-माखन, अहिरनि काँधैं जोरि।

व्रजेश्वरने सम्राट् कंसके लिये पत्र भी दिया एवं कुछ मौखिक संदेश भी दिये—

नृप कैं हाथ पत्र यह दीजौ, विनती कीजौ मोरि॥
मेरौ नाम नृपति सौं लीजौ, स्याम कमल लै आए।
कोटि कमल आपुन नृप माँगे, तीनि कोटि है पाए॥
नृपति हमहिं अपनौं करि जानौ, तुव लायक हम नाहिं।
सूरदास कहियौ नृप आगैं, तुमहिं छाँड़ि कहँ जाहिं॥

इधर भुवनभास्करका रथ अस्ताचलको स्पर्श करने लगा है। व्रजेन्द्र किञ्चित् चिन्तित-से हो गये—'इतने बड़े समुदायके साथ व्रजमें पहुँचते-पहुँचते अर्द्ध निशा हो जानेमें संदेह ही क्या है!' किंतु नीलसुन्दरने अपने तातकी यह चिन्ता हर ली, अतिशय सुन्दर समाधान कर दिया—

व्रजवासिनि सौं कहत कन्हाई।
जमुना-तीर आजु सुख कीजै, यह मेरें मन आई॥
गोपनि सुनि अति हरष बढ़ायौ, सुख पायौ नँदराइ।
घर-घर तैं पकवान मँगायौ, ग्वारनि दियौ पठाइ॥
दधि-माखन षट-रसके भोजन, तुरतहिं ल्याये जाइ।
मातु-पिता-गोपी-ग्वालनि कौं, सूरज प्रभु सुखदाइ॥

मन-मीन

(रचयिता—श्रीसुरेन्द्रनारायण शर्मा शास्त्री, बी० ए०, 'साहित्यरत्न')

तुम बंसीधर मोहना हो मछुवा परवीन। बंसी गेर फँसायलो मो मन भवसर मीन॥
मम हिय सर जलहीन, सोखेउ अंध निदाघ सब। तलफत मो मन मीन, झट बरसहु घनस्याम जू॥

परोक्ष ज्ञानकी महत्ता

(लेखक—श्रीमंत प्रतापसेठजी)

जो सज्जन ऐसा कहते हैं कि अपरोक्ष वस्तु भी अपरोक्ष, उसका ज्ञान भी अपरोक्ष और अज्ञान भी अपरोक्ष होता है, उनसे नम्रतापूर्वक हमारा निवेदन है कि अभीतक वे अपरोक्षताकी सब बातें परोक्षतामें ही कह रहे हैं। सच तो यह है कि उन्हें अपरोक्षताकी सारी बातें अपरोक्षतामें ही कहनी चाहिये, परंतु हमें समझानेके लिये वे अपरोक्षताकी बातें परोक्षतामें करते हैं और इससे बात भी हमारी समझमें आ जाती है। अर्थ यह है कि अपरोक्षताकी बातें परोक्षतासे कही जा सकती हैं और हमें भी यही कहना है। प्रमाणरूपमें महाराष्ट्रिय संत-कवियोंके वचन नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

आतां अद्वैत पाहणें	तें दुसरे करुन जाणणें
पुनरपि मुखविणें	ठायी चे ठायीं

—मुकुन्दराजका परमामृत

आपुले ची वदन पहावे	ऐसी इच्छी स्वभावे
तरि आरसिया पुढें करावे	देखावे स्वमुख
तैसे अद्वैत पाहणे जरी	दुसरीकडून जाणावे तरी
पुन्हां स्वमुखा माझारीं	स म र सा चे
अपरोक्ष ते परोक्ष रीति	घेतां नव्हे दुजी व्यक्ती
हें हि ज्ञानाचे संपत्ति	अज्ञान कवण म्हणे
ज्ञानें जरी भिन्न झाले	तरी अज्ञान ते समूली गेले
पुढें ज्ञान हि मावलले	निज स्वरूपी

—शंकराचार्यकृत सदाचार टीका हंसराज स्वामी

सिर्फ इन्द्रियोंमें ही अपरोक्षता है, लेकिन हमने अमुक चीज देखी, ऐसा ज्ञान इन्द्रियोंको नहीं होता, वह ज्ञान सिर्फ बुद्धिको होता है। इसपरसे भी अपरोक्षताकी पूर्ति परोक्ष ज्ञानसे ही होती है, यह बात सिद्ध है। जिस प्रकार एक इन्द्रियका काम दूसरी इन्द्रिय नहीं कर सकती, उसी प्रकारका भेद इन्द्रियोंमें और बुद्धिमें है। इन्द्रियाँ सिर्फ सत्ता दर्शाती हैं और उसका ज्ञान बुद्धिमें होता है अर्थात् वस्तुको अर्थ प्राप्त होता है। अज्ञान दूर करनेकी दृष्टिसे यानी मोक्षप्राप्तिकी दृष्टिसे बुद्धिमें जो ज्ञान आता है, वही कामकी चीज है; परंतु वह कामकी चीज विधिस्वरूप न होकर निषेधस्वरूप है। 'आत्माका ज्ञानके क्षेत्रमें आना कभी भी सम्भव नहीं' इस परोक्ष ज्ञानमें ही आत्माका यथार्थ स्वरूप आ जाता है। उसे जाननेके बाद आत्माके सम्बन्धमें कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता, अतः 'आत्माका ज्ञानमें आना कभी भी सम्भव नहीं' यह परोक्ष ज्ञान होना कामकी चीज है।

शास्त्रोंमें ब्रह्माकारवृत्ति और अपरोक्ष ज्ञानका उल्लेख है और ऐसा कहा गया है कि वे बादमें आत्मामें लीन हो जाते हैं। इसपर हमारा कहना है कि जो वस्तु आत्मामें लीन हो जाती है, वह आत्मामें लीन होनेसे पहले आत्मासे पृथक् थी, अतः वह वस्तु सच्ची अपरोक्ष वस्तु नहीं हो सकती, सच्चा अपरोक्ष तो केवल एक आत्मा ही है। बृहदारण्यक श्रुतिमें आत्माको "साक्षादपरोक्षत्वाद्ब्रह्म" कहा गया है।

अपरोक्ष वस्तुको अपरोक्षताका अर्थ परोक्षतामें ही आता है और वह मनुष्यकी समझमें भी आता है। अपरोक्षतामें अपरोक्ष वस्तु, अपरोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष अज्ञान यह भेद नहीं है। भेद-बुद्धिसे विषय करनेमें होता है और अपरोक्षतामें तो विषय-विषयीभाव ही नहीं रहता। वे हमें अपरोक्ष वस्तुओंको परोक्ष ज्ञानका विषय करके कहते हैं। यदि अपरोक्षतामें तीन वस्तुएँ होतीं तो उनके भेद अपरोक्षतामें ही अर्थात् बुद्धि-प्रयोगके बिना ही मालूम पड़ने चाहिये थे और उसे अपरोक्षतामें ही कहना सम्भव होता। इतना ही नहीं, यदि अपरोक्षताका और परोक्षताका कोई सम्बन्ध न होता तो अपरोक्ष स्थितिमें की हुई कोई भी बात परोक्ष ज्ञानमें आ ही न सकती और परोक्ष रीतिसे वे उसे कह भी न सकते। इतना ही नहीं, बल्कि अपरोक्षता कोई चीज है, इसकी भी परोक्ष ज्ञानको कभी खबर न मिलती।

अपरोक्ष वस्तुको अपरोक्षताका अर्थ परोक्षतामें आता है, इससे यह सिद्ध होता है कि अपरोक्ष ज्ञानकी पूर्ति परोक्ष ज्ञानसे ही होती है। अपरोक्षता तो सिर्फ सत्तास्वरूप होनेसे वह किसीकी भी विरोधिनी नहीं हो सकती। अज्ञानरूपी रावणको मारनेका कामतक परोक्ष ज्ञानरूपी रामचन्द्र ही कर सकते हैं।

हमारे अपरोक्ष और परोक्ष ज्ञानकी प्रक्रियाएँ यदि देखी

जायँ, तो यह साबित होगा कि परोक्ष ज्ञानमें आनेपर ही अपरोक्ष ज्ञानकी पूर्ति होती है। 'देखना' यह इन्द्रियोंकी अपरोक्ष वस्तु-स्थिति है, परंतु 'हमने अमुक चीज देखी' यह बुद्धिका परोक्ष ज्ञान है। अर्थ परोक्ष ज्ञानमें ही आता है और परोक्ष ज्ञानसे आये हुए ज्ञानका उपयोग करनेसे ही मोक्ष मिलता है।

मोक्षे न हि वासोऽस्ति न ह्यवस्थान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इत्युच्यते॥

हमारी परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार वाणियोंमें जिस प्रकार वैखरी वाणी ही पूर्ण स्वरूपकी है, उसी प्रकार परोक्ष ज्ञानकी पूर्णता है। अन्य वाणियोंद्वारा वस्तुका उतना स्पष्ट स्वरूप नहीं आता, जितना वैखरी वाणीमें आता है। चार वाणियोंका परस्पर सम्बन्ध यही है कि एक वाणीसे दूसरी वाणीमें वस्तुका स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता हुआ निखरता जाता है। जब वैखरी वाणीमें वस्तुका स्वरूप आता है, तब उसके ज्ञानकी स्पष्टताके लिये और कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वही बात यहाँ है। अपरोक्षताको अपरोक्षताका स्पष्ट स्वरूप परोक्ष ज्ञानमें ही प्राप्त होता है, या हम कह सकते हैं कि अपरोक्षताकी पूर्णता परोक्ष ज्ञानमें ही होती है। अपरोक्षता यह वस्तु-स्थिति है, परोक्षता उसका ज्ञान है, इसलिये अपरोक्षताकी बातें परोक्षतासे जाननेकी हमारी जो प्रवृत्ति है, उसे परोक्ष ज्ञान ही पूर्ण कर सकता है। अर्थ यह कि यदि अपरोक्षता मोक्ष-प्राप्तिके लिये पर्याप्त और समर्थ होती तो परोक्ष ज्ञानसे जाननेकी प्रवृत्ति भी न होती और परोक्ष ज्ञानकी कोई जरूरत ही न रहती। यद्यपि परोक्ष ज्ञान विपरीत-स्वरूपका है, फिर भी अज्ञान हटाने और मोक्ष पानेकी दृष्टिसे उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। सारांशमें हमारा प्रतिपादन है कि किसी भी वस्तुकी पूर्ति परोक्ष ज्ञानमें आये बिना हो नहीं सकती और इसलिये सब वस्तुओंका अर्थ निकालनेके लिये उन्हें परोक्ष ज्ञानमें लाना चाहिये। ऐसी हमारी अपेक्षा है।

अपरोक्ष क्रियाका परोक्ष ज्ञान, यह अपरोक्ष क्रियाकी पूर्ण अवस्था है; क्योंकि हर बातको उसके परोक्ष ज्ञानमें आनेपर ही अर्थ प्राप्त होता है और ऐसा अर्थ प्राप्त होनेपर ही अज्ञान दूर होता है तथा मोक्ष मिलता है। हमने ऊपर कहा ही है कि—

मोक्षे न हि वासोऽस्ति न ह्यवस्थान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इत्युच्यते॥

चूँकि अज्ञान् बुद्धिको रहता है और मोक्ष भी बुद्धिका होनेका है, आत्माका नहीं, अतः परोक्ष ज्ञानकी जरूरत है। आत्माकी निगाहमें अपरोक्षता आत्माका ही स्वरूप है। पशु-पक्षी आदि प्राणिमात्र अपरोक्षतामें ही रहते हैं, परंतु आत्माके अजरामरादि गुणोंका परोक्ष ज्ञान उन्हें न होनेसे आत्मा कितनी विलक्षण चीज है, इस बातका उनका अज्ञान नहीं जाता और उन्हें मोक्ष नहीं मिलता। अज्ञान दूर होना और मोक्ष मिलना—यह वस्तुको परोक्षतासे अर्थ आनेपर ही निर्भर है। आत्माके होनेमात्रसे मोक्ष नहीं मिलता, मोक्ष आत्म-ज्ञानसे मिलता है, आत्मा हममें सदैव है ही।

अपरोक्षताकी निगाहसे देखा जाय तो पशु-पक्षी आदि जीव मनुष्यकी तुलनामें आत्माके अधिक निकट हैं और ज्ञानकी निगाहसे देखा जाय तो पशु-पक्षी आदिकी तुलनामें मनुष्य आत्माके अधिक निकट है। यह बड़ी उलझी हुई बात है। लड़का पैदा होनेपर दिन-ब-दिन लोग मानते हैं कि वह बड़ा होता जा रहा है, परंतु सत्य तो यह है कि वह दिन-प्रति-दिन बड़ा न होकर छोटा होता जाता है; क्योंकि उसकी आयुमर्यादा घटती जाती है। बिल्कुल ऐसी ही बात अपरोक्षता और परोक्षताकी है। एक ओर अपरोक्षता आत्माका स्वरूप होनेके कारण पशु-पक्षी आदि आत्माके निकट आते हैं और आत्मा ही हो जाते हैं, दूसरी ओर मनुष्यका अधिकांश समय परोक्षतामें व्यतीत होनेके कारण यद्यपि वह आत्मासे दूर है, फिर भी अर्थकी दृष्टिसे ज्ञान परोक्ष होते हुए भी वह आत्माके निकट ही, आता नहीं वह आत्मा ही हो जाता है। एक ओर पशु-पक्षी आदि अपरोक्ष होनेसे वह ब्रह्मस्वरूप ही है, परंतु इस बातका परोक्ष ज्ञान न होनेसे वह बद्ध है, दूसरी ओर वही ज्ञान मनुष्यको होनेके कारण वह आत्मस्वरूप ही हो जाता है अर्थात् वह मोक्षका अधिकारी है।

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

यद्यपि परोक्ष ज्ञान विपर्यस्त है, फिर भी अज्ञानके जानेके लिये और मोक्ष पानेके लिये उसकी आवश्यकता है; क्योंकि हर बातको अर्थ परोक्ष ज्ञानमें ही आता है और प्रश्न भी परोक्ष ज्ञानमें ही पैदा होता है।

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(संग्रहकार—एक सत्सङ्गी)

१—मानव-जीवनकी गतिको हमने भगवान्‌की ओर मोड़ दिया, भगवान्‌के मार्गपर हम चल निकले तो कभी-न-कभी हम भगवान्‌को पा लेंगे; क्योंकि यह वस्तु ही ऐसी है। जिसने एक बार अपना हाथ भगवान्‌को पकड़ा दिया, उसे भगवान् कभी छोड़ते नहीं। वह छुड़ाना चाहे—चाहे वह वैर करे, द्वेष करे, दोषारोपण करे—भगवान् उसे छोड़ते नहीं। वे छोड़ना जानते ही नहीं।

२—भगवान्‌को हाथ कैसे पकड़ाये, वे दीखते नहीं?—इसका उत्तर है कि भगवान् सर्वत्र हैं, वे न दीखनेपर भी हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं, हमारी प्रत्येक चेष्टाको देखते हैं। अतः बिना किसी मिश्रणके हम कहें कि 'भगवन्! हमारा हाथ पकड़ लो' तो वे न दीखते हुए भी हमारा हाथ पकड़ लेंगे। गड़बड़ हमारी ओरसे ही होती है; हम कुछ-न-कुछ अपने पास रखकर हाथ पकड़ाना चाहते हैं।

३—भगवान् भावको देखते हैं। वे जैसे ब्राह्मणके हैं, वैसे ही चाण्डालके भी। उनके मनमें किसीके भी प्रति भेद नहीं है। भेद तो व्यावहारिक जगत्‌का है और यह आवश्यक भी है। भगवान् तो अंदरके भावको देखते हैं,—'किसके मनमें मुझे पानेकी कैसी चाह है, कौन किस वस्तुके बदले मुझे चाहता है' और वे भावके अनुरूप अपनी कृपाका प्रकाश करते हैं।

४—शूरवीर वह है जो अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये सर्वस्व देनेको तैयार है; जो अपनेको भगवान्‌के लिये होम देनेको प्रस्तुत हो। भगवान्‌के लिये जो कुछ दे दिया जाय, वही सच्चा सौदा है। वास्तवमें तो भगवान्‌को देनेके लिये हमारे पास है ही क्या?

५—भगवान्‌के भजनमें, भगवान्‌की प्राप्तिमें, भगवान्‌के लिये चाह पैदा होनेमें कुछ कमी है तो श्रद्धा-विश्वासकी। भगवान्‌की चाहमें दूसरी चाह शामिल होनेसे भगवान् बहुत बिगड़ते हैं। बिगड़नेका यह अर्थ नहीं कि वे नाराज हो जाते हैं; वे बस, अपनेको छिपाये रहते हैं, सामने नहीं आते। वे उस दिन सामने आयेंगे जिस दिन भक्त कहेगा—'भगवन्! मैं केवल तुम्हें ही चाहता हूँ! मुझे धन-परिवार, लोक-परलोक, भोग-मोक्ष, कुछ भी नहीं चाहिये। मैं तो केवल तुम्हींको चाहता हूँ। तुम्हें चाहनेमें यदि मेरा लोक बिगड़े तो बिगड़ने दो, परलोक बिगड़े तो बिगड़ने दो।'

६—भगवान् सत्यसंकल्प हैं। भगवान्‌की बात तो भगवान्‌में ही है। परंतु जो भगवान्‌के हैं, जो संत पुरुष हैं, उनकी सद्भावना, उनका सत्संकल्प भी हमलोगोंकी उन्नतिमें बहुत सहायक होता है। हमलोगोंकी उन्नतिका एक परम साधन यह है कि जो अच्छे पुरुष हैं, उनका सत्संकल्प हमारे लिये हो। हमारा आचरण इस प्रकारका हो कि उससे प्रसन्न होकर सत्पुरुष हमारे लिये सत्संकल्प करें। वैसे सत्पुरुषोंका स्वाभाविक ही सबके लिये सत्संकल्प होता है पर जहाँ विशेष संकल्प होता है, वहाँ अत्यन्त कलुषभावापन्न व्यक्ति भी उसके प्रभावसे पवित्र बन जाता है। सत्पुरुषोंका हमारे लिये सत्संकल्प हो—इसमें विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। वे हमारा जैसा आचरण-स्वभाव चाहते हैं, उसके अनुरूप बननेका हम प्रयत्न करें। फिर वे सहज दयालु तो हैं ही।

७—सत्पुरुष बननेकी यह तरकीब है कि भगवान्‌का आश्रय करके एक-एक दैवी गुणको अपनेमें लानेकी चेष्टा करे।

८—श्रद्धा-विश्वास—ये दो भक्तिके आधारस्तम्भ हैं; भक्ति पनपती है इन्हींके आधारपर तथा इन्हींके द्वारा। जहाँ विश्वास हुआ, वहीं तत्परता आ गयी; जहाँ तत्परता आयी, वहाँ सारी इन्द्रियाँ उसमें लगीं; और जहाँ सारी इन्द्रियाँ लगीं कि वस्तुकी प्राप्ति हो गयी।

९—जो भगवान् ध्रुवके समय थे, द्रौपदीके समय थे, वे कहीं गये नहीं हैं। उनकी सामर्थ्य वही है, उनका सौहार्द वही है, उनका प्रेम वही है; हमारे अंदर ध्रुव-द्रौपदीवाले विश्वासकी कमी है।

१०—सच बात कही जाय तो यह है कि भोगोंका मिलना जितना कठिन है, भगवान्‌का मिलना उतना कठिन नहीं है। बल्कि बहुत सहज है; क्योंकि भगवान् मिलते हैं चाहसे, इच्छासे; संसारके पदार्थ प्राप्त होते हैं उनके लिये वैसी क्रिया होनेपर। खेतमें बीज बोया, अङ्कुर निकला, पत्ते निकले, फूल आये, फल लगा—यह क्रम है कर्मका। पर

भगवान् कर्मके फल नहीं हैं, भगवान् तो प्राप्त ही हैं। उनकी प्राप्तिके लिये चाहिये इच्छा। पर इच्छामें कहीं गड़बड़ी नहीं होनी चाहिये। इच्छा यदि व्यभिचारिणी रही तो भगवान्का मिलना असम्भव है। भगवान्के लिये हमारी जो चाह है, वह होनी चाहिये अनन्य अर्थात् उनको छोड़कर दूसरे औरके लिये नहीं। जिसके मनमें जिस घड़ी ऐसी चाह उत्पन्न होगी, उसको उसी समय भगवान् मिल जायँगे। भगवान् ठहरे अन्तर्यामी। वे जान लेते हैं कि किसके मनकी इच्छा क्या है, कैसी है। अतएव उनसे हमारे मनकी व्यभिचारिणी चाह छिपी नहीं रह सकती।

११–भगवान्में चाह नहीं है, वे इच्छारहित हैं। भक्तकी चाह भगवान्में प्रतिबिम्बित होती है। किसीने अनन्य चाह की—'भगवान् मुझे मिलें।' भक्तकी यह चाह भगवान्में दीखने लगेगी। भगवान्की चाहका उत्पन्न होना और पूर्ण होना एक साथ होता है। अतः जहाँ भगवान्में चाह हुई कि भक्तको दर्शन हुए।

१२–भगवान्की कीमत है—लालसा, इतनी उत्कण्ठा मनमें पैदा हो जाय कि उनको छोड़कर दूसरी कोई चीज सुहावे ही नहीं।

१३–भगवान्की प्राप्ति—भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति सहज है, पर उसकी प्यास होनी चाहिये। प्यास लगेगी भगवान्के महत्त्वका ज्ञान होनेसे तथा उनकी आवश्यकताका अनुभव होनेसे। ये दोनों बातें होती हैं सत्सङ्गसे, इससे सत्सङ्गकी आवश्यकता है।

१४–भगवान् मिलते हैं केवल चाहसे, किसी साधना, प्रयत्न, क्रियासे नहीं। भगवान् किसी कारखानेमें बनाये नहीं जाते, किसी खेतमें बीजरूपमें बोकर फलरूपमें भगवान् प्रकट नहीं किये जाते। भगवान् मिलते हैं अनन्य लालसासे; मिलनेकी एकान्त चाह हो, दूसरी कोई चाह रहे ही नहीं। × × × भगवान् चाहते हैं, मेरा भक्त रहे और मैं रहूँ, तीसरा उन्हें सुहाता नहीं।

१५–सारे पुण्योंकी कीमत है, पर भगवान्के भजनकी कीमत नहीं। जो, जो चाहे वही भगवान्के भजनकी कीमत है। रामनामकी कीमत किसी शास्त्रमें अङ्कित नहीं है। यदि किसीने भोग चाहे तो उसकी कीमत वही हो गयी। पर यदि भक्त उसके बदले कुछ न चाहे तो भगवान् स्वयं उसके वशमें हो जाते हैं। × × × भगवान्के भजनका कोई मूल्य आँक लेता है, माँग लेता है—'भगवन्! मुझे पुत्र दो, धन दो, सम्पत्ति दो, यश दो, स्वर्ग दो'—तो वह घाटेमें ही रहता है। भगवान्से माँगे तो यही कि 'आप जो चाहें वही दें।' भगवान् क्या चाहेंगे?—वे अपनेको ही दे देते हैं।

१६–जो भगवान्को अपना मानता है, भगवान् भी उसे अपना मानते हैं। भगवान् जिसे अपना लेते हैं, उसके समान समृद्धिमान्, भाग्यवान्, सौभाग्यवान् और कौन होगा?

१७–'भगवान् ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं'—ऐसा निश्चय हो जाय और अपने त्राणकर्त्ताके रूपमें दूसरेको हिस्सा न दे तो भगवान् उसकी सँभाल स्वयं करते हैं। पापोंको काटनेका पूरा अधिकार भगवान् स्वयं चाहते हैं। वे कहते हैं—'पूरी मालिकी मुझे दे दो।' वास्तवमें बात भी सच्ची है; पापीको कौन अपने पास बैठायेगा। ऊपरके मैलसे लोग घृणा करते हैं, फिर भीतरके मैलको कौन सहन करेगा। परंतु महापापी-को भी पास बैठानेमें भगवान्को न भय है, न लज्जा। इसीसे उनका नाम है—पतितपावन।

१८–जगत्के जितने भोग हैं वे प्रारब्धवश आते-जाते रहेंगे। उनके आनेमें हमारा कोई वास्तविक लाभ नहीं, जानेमें वास्तविक कोई हानि नहीं। यदि संसारकी चीजोंने आकर मनमें गर्व उत्पन्न कर दिया और उन चीजोंके सेवन-से बुराई आने लगी तो वे हमारे लिये हानिकर हैं। इसके विपरीत संसारकी चीजें गयीं और उससे वैराग्य उत्पन्न हुआ, भगवान्में मन लगा तो उनका जाना भी हितकर है। हमारे मनसे भगवद्भाव घटा तो हानि, गया तो महान् हानि। और भगवद्भाव बढ़ा तो लाभ, स्थिर हो गया तो महान् लाभ। जगत्के पदार्थ जायँ या रहें—मतलब भगवद्भावसे है, वह रहना चाहिये। वह भाव जगत्के पदार्थोंके रहनेसे रहे तो उत्तम, और उनके चले जानेमें रहे तो उत्तम।

१९–भगवान्में एक बड़ा महान् दयाका भाव है कि वे पुराने इतिहासके पन्ने नहीं उलटते। पहले हमने क्या किया, कैसे रहे, क्या बर्ताव किया—ये सब वे कुछ भी नहीं देखते। वे देखते हैं—वर्तमानमें हम क्या हैं। अतः भूतको भूलकर वर्तमानको सँभालो और भगवान्की अनन्य शरण हो जाओ। भगवान्के सामने आते ही सारे शुभाशुभ अपने-आप जल जायँगे। 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'

२०–संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो निरन्तर

एक-सी रुचि बढ़ाता रहे और उससे सदा आनन्द मिलता रहे। पर भगवान्‌का स्मरण प्रतिक्षण आनन्द देनेवाला है और वह आनन्द प्रतिक्षण-वर्द्धमान है, किंतु हमलोग तो भगवान्‌से क्षण-क्षणमें ऊबते हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि हमें उनका वास्तविक स्वाद आया ही नहीं।

२१–जबतक भगवत्-साधनमें भार मालूम होता है, तबतक वह बहुत मन्द है। जब भार मालूम नहीं होता, सुखकी आशासे मन उसमें लगा रहता है तो वह मन्द दर्जेका है। पर जब सुखकी आशा न रखकर भी मन उसमें लगा रहता है तो वह मन्दसे ऊपरके दर्जेका है। लेकिन जब मन भजन किये बिना रह सकता ही नहीं—न होनेपर उसमें छटपटाहट होने लगती है तब वह उत्तम है। जबतक भजनमें रुचि नहीं होती, तबतक भजनकी वास्तविक माधुरीकी अनुभूति नहीं। रुचि उसका नाम है, जिसमें क्षण-क्षणमें शरीर रोमाञ्चित होता रहे, मन पुलकित हो जाय तथा विमोरचित्त होकर आँखोंसे आँसू बह चले। रति तो इसके बाद होती है।

२२–भजनसे ही मानवता टिकती है; जिसके भजन नहीं, वह मानव दानव हो जाता है।

२३–विषयोंका चिन्तन सर्वनाशका मूल है और भगवान्‌का चिन्तन यदि पापी भी करेगा तो उसके सब पापोंका समूल नाश हो जायगा तथा उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

२४–संसारके भोगोंमें अनर्थकारी बुद्धि पैदा हो जाय, यह साधनाकी पहली सीढ़ी है।

२५–साध्यवस्तुमें जबतक विश्वास नहीं, तबतक साधन कैसे हो? कहाँ जाना है, इसका पता हुए बिना यात्राकी बातें कैसी? अतः सबसे पहले यह स्थिर कर लेना है कि भगवान्‌में ही सुख है, जगत्‌के विषयोंमें नहीं। इसलिये भगवान्‌को पाना ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य है।

२६–जहाँ प्रेम है, वहाँ वैराग्य है ही। प्रेमी मनुष्य विषयानुरागी हो नहीं सकता। जो सर्वस्व छोड़ नहीं सकता वह प्रेमी नहीं बन सकता। प्रेमकी यह परिभाषा है कि प्रेमके सिवा सारे जगत्‌का अस्तित्व मिट जाय प्रेमीके लिये। उसे प्रेम ही दीखे, प्रेम ही सुने और प्रेमकी ही सुवास आवे। जगत्‌का सर्वनाश होनेपर ही प्रेम आता है। बिना त्यागके प्रेमकी पाठशालामें प्रवेश ही नहीं हो सकता, त्यागकी भूमिमें ही प्रेमका बीज वपन होता है।

२७–प्रेमकी जड़ नित्य होती है। प्रेममें दो बातें होती हैं—वह कभी घटता नहीं, टूटता नहीं। जहाँ ये दो बातें नहीं होतीं, वहाँ स्वार्थ ही प्रेमका स्वाँग धरकर बोलता है। प्रेममें कुछ भी लेनेकी कल्पनातक जाग्रत् नहीं होती। सर्वस्व देकर भी मनमें आता है कि कुछ है ही नहीं, क्या दिया जाय। प्रेम सदा अपनेमें कमीका बोध करता है। मोहसे उत्पन्न प्रेम (काम) वस्तु प्राप्त होनेपर घट जाता है। प्रेम वस्तुकी प्राप्ति होने और न होने—दोनों ही अवस्थाओंमें एक-सा रहता है।

२८–जबतक मनुष्य भोगोंकी प्राप्तिमें भगवान्‌की कृपा मानता है, तबतक उसने कृपाको समझा नहीं है।

२९—मौत आनेसे पहले-पहले अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दो—'हम तो तुम्हारे हो गये, अपनी चीजको जैसे चाहो सँभालो, बरतो, सजाओ, तोड़ो।' बस, मनुष्य-जीवनमें यही करना है।

३०—निर्भर भक्त भगवान्‌पर ही पूर्ण निर्भर करता है। उसे इतना ही याद रहता है—'मैं भगवान्‌का हूँ।' फिर भगवान्‌को जब जैसे करना है, अपने-आप करें। सारी चिन्ता, व्यवस्था, सारा भार माँके जिम्मे; बच्चा तो माँकी गोदमें मस्त है। पर जहाँ कुछ तकलीफ मालूम दी कि रोने लगा। माँ मारती है तब भी वह उसीकी गोदमें छिपता है। निर्भर भक्तकी यही दशा है।

३१–भगवान्‌की शरण होनेपर भी निश्चिन्तता न आवे और चिन्ता बनी रहे तो समझना चाहिये कि निर्भरताको समझा ही नहीं गया है। भगवान्‌की शरण होनेपर भी चिन्ता बनी रहे, यह सम्भव नहीं। अतः जबतक ऐसा न हो, तबतक अपनी शरण-निष्ठामें कमी समझनी चाहिये।

३२–जैसे धनका हिसाब-किताब रहता है, उसी प्रकार हमारा जो आध्यात्मिक धन है, असली कमाई है, उसमें हम घाटेमें रहे कि नफेमें, क्या कमाई हुई—दिन भरमें, महीने भरमें, साल भरमें, क्या तलपट रहा—इसका हिसाब रखना चाहिये।

३३–जिसके मनमें चाह है, वह भिखमंगा है। जहाँतक चाह है वह बादशाह होते हुए भी भिखमंगा है और जिसके कुछ चाह नहीं, उसके पास कुछ न होते हुए भी वह बादशाह है। वह सदा निश्चिन्त और निर्भय रहता है।

३४–सुख किसी वस्तुमें नहीं, अपने आत्मामें है, अपने

अंदर है । हमारी मनचाही चीज जब हमें मिलती है, तब हमारा मन कुछ क्षणोंके लिये टिकता है और उस टिके हुए मनपर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं हम मान लेते हैं कि सुख अमुक वस्तु या परिस्थितिमें है । पर वास्तवमें संसारकी वस्तुएँ तो उपभुक्त होनेके पश्चात् मनको दूसरी वस्तुके लिये चंचल कर देती हैं, उनमें सुख कहाँ ?

३५–जितना भी जागतिक सौन्दर्य है, केवल हमारी कल्पनामें है । सुन्दरता वस्तुमें नहीं है, वह हमारी धारणामें है । हमने मान लिया है कि अमुक पोशाक, रूप, रंगमें सुन्दरता है । पर वास्तवमें देखें तो इस हड्डी, चमड़ी, कफ, थूक, लार, मांस, मज्जा, बालोंसे भरे शरीरमें सौन्दर्य कहाँ है ? इन चीजोंको अलग-अलग करके देखा जाय तो उनमें सौन्दर्यकी तो कौन कहे, घृणा प्रतीत होगी । चमड़ीके वेष्टनमें ये चीजें भरी हैं । इससे हमारे मनने उनमें सौन्दर्य-बुद्धि कर ली है । हमारे मनने मान लिया है कि अमुक डील-डौल, अमुक प्रकारका रंग, अमुक प्रकारके अङ्गोंकी बनावटमें सौन्दर्य है । वस्तुतः तो इस शरीरकी प्रत्येक वस्तु घृणाका ही रूप है ।

३६–घाटा दो प्रकारका है—एक लौकिक और दूसरा पारमार्थिक । लौकिक घाटा मनसे माननेपर है तथा उसकी पूर्ति भी सम्भव है, किंतु पारमार्थिक घाटा जन्म-जन्मान्तरतक कष्ट देता है । अतः जागतिक धनके लिये पारमार्थिक धनका नाश नहीं करना चाहिये ।

३७–अपने अंदर इतनी भलाई भरे और वह इतनी सुदृढ़ हो जाय कि कहीं भी जायँ, उसपर बाहरकी बुराईकी बूँद भी न लगे, अपितु जो सम्पर्कमें आवें उनपर हमारी अच्छाईकी निश्चित छाप पड़े । इतना प्रागल्भ्य होना चाहिये, इतना तेज होना चाहिये अपनी शुद्धतामें कि यदि कोई पापी आदमी भी सम्पर्कमें आ जाय तो कम-से-कम जितनी देर वह पास रहे, उतनी देरके लिये तो उसका मन पापसे हट जाय ।

३८–जहाँ जो काम होता है, जैसे आदमी रहते हैं, जैसी बातें होती हैं, जैसी क्रियाएँ होती हैं, वहाँ वैसे ही चित्र वायुमण्डलमें बन जाते हैं । स्थान-माहात्म्य वहाँके परमाणुओंको लेकर है और परमाणु वहाँ हुई क्रियाओंको लेकर । तीर्थ क्या हैं ?—तीर्थोंमें अच्छे लोग रहे, महात्मा रहे, भगवान्‌की उपासना-आराधना तथा तप आदि हुए । अतः वहाँके वायुमण्डलमें, जलकणमें, रजकणमें भगवद्भावके परमाणु भर गये । यही तीर्थोंका तीर्थत्व है ।

३९–मनुष्य दूसरेके दोष देखता है, अपने नहीं । जो वस्तु मनुष्य देखता रहता है, वह उसमें आती रहती है । गुण देखनेवालेको गुण मिलते हैं, दोष देखनेवालेको दोष—यह नियम है । कोई भी चीज जब इन्द्रियाँ देखती हैं, सुनती हैं, सूँघती हैं और मन साथ है तो सुनी, देखी, सूँघी बात उड़ नहीं जायगी, वह मनपर लिखी जायगी । अतः जब हम किसी वस्तुमें, व्यक्तिमें बुराई देखते हैं तो वह बुराई हमारे मनपर लिखी जाती है और जब भलाई देखते हैं तो भलाई लिखी जाती है । अतएव बुद्धिमान् पुरुषको सदा-सर्वदा सर्वत्र शुभको ही देखना चाहिये ।

४०–जिसके ममताकी चीजें जितनी अधिक हैं, वह उतना ही अधिक दुखी है ।

४१–वैराग्यका अर्थ घर छोड़ना या कपड़े बदलना नहीं है । वैराग्यका अर्थ है विषयासक्तिको छोड़ना, भोगोंमें फँसे मनको उनसे छुड़ा लेना । वैराग्यका अर्थ यह नहीं कि किसी वस्तुको हम स्वरूपसे छोड़ दें; वैराग्यका अर्थ है—उस वस्तुमेंसे हम मनकी वृत्तिको हटा लें ।

४२–विपत्तिमें साहस भगवान्‌की बड़ी कृपासे होता है । जो विपत्तिमें अपनेको निराश कर देता है, उसका उठना बड़ा कठिन होता है । विपत्ति तो मनुष्यके लिये कसौटी है; मनुष्यको मनुष्य बनाती है, उज्ज्वल बनाती है । विपत्ति सेवाकी भी भावना उत्पन्न करती है; क्योंकि विपत्तिमें पड़नेसे मनुष्य दूसरेकी विपत्तिको समझनेकी योग्यता प्राप्त करता है ।

४३–जगत्‌के विषयी लोगोंमें जो श्रेष्ठ कहलाता है, उनके तराजूपर जो वजनदार उतरता है, समझ लो कि वह नीचे गिरा हुआ है । जो भगवान्‌की ओर बढ़नेवाला है, वह जगत्‌की बुद्धिके काँटेमें हल्का उतरता है, किंतु वास्तवमें वह श्रेष्ठ है । संसारके विषयी लोगोंकी बुद्धिमें विषयोंका त्याग करनेवाला मूर्ख जँचता है; चाहे वे ऊपरसे कभी उसकी प्रशंसा कर दें, परंतु उसके प्रति उनकी तिरस्कार-बुद्धि होती है । अतएव विषयीलोग जिसको मूर्ख समझें, वही बुद्धिमान्

है आध्यात्मिक मार्गमें और जगत्का तिरस्कार, अपमान ऐसे पथिकके भूषण होते हैं।

४४—मिठाईमें जहर मिला हुआ है। सब चीजें—घी, चीनी, मावा आदि वैसे ही हैं, देखनेमें सुन्दर है, सुगन्धित है और खानेमें मीठी भी है, बड़ा स्वाद भी आता है पर परिणाम जहरका होता है। खानेवाला मर जाता है। ऐसे ही जितने विषय-सुख हैं, वे आरम्भमें अमृतके समान मालूम होते हैं परंतु उनका नतीजा जहरके समान है। जगत्के जितने विषय हैं, वे वास्तवमें सुखरूप नहीं हैं, वे ऊपरसे ही सुखरूप दिखायी देनेवाले हैं।

४५—दैवी सम्पत्ति यदि बढ़ रही है, भगवान्में रुचि, प्रेम, आसक्ति, आकर्षण, उनका चिन्तन, उनकी स्मृति—ये सब चीजें बढ़ रही हैं तो समझना चाहिये कि हम ठीक रास्तेपर हैं। हमारी प्रगति हो रही है। यदि हम भगवान्को भूल रहे हैं, उनके प्रति आकर्षण, प्रीति आदि नहीं हैं, वे लापरवाहीकी वस्तु बने हुए हैं और आसुरी सम्पत्तिकी क्रमशः वृद्धि हो रही है तो चाहे हम भक्त, संत या महात्मा बने हुए हों और लोग भी हमें संत-महात्मा कहते हों, पर हम हैं पतित ही और जा भी रहे हैं पतनके गर्तमें ही। झूठे संत—महात्मा कहलानेमें हमें कुछ भी लाभ नहीं; उल्टे हानि-ही-हानि है।

४६—दुःख न तो किसी वस्तुमें है और न उसके अभावमें है। दुःख है हमारे मनकी भावनामें। एक व्यक्ति घरसे निकाल दिया गया; दूसरा घर छोड़कर संन्यासी हो गया। स्थिति दोनोंकी एक है; पर पहलेको दुःख है, दूसरेको सुख। मङ्गलमय भगवान् हमारे लिये अमङ्गल कर ही नहीं सकते—इसपर विश्वास करके प्रत्येक दशामें सदा भगवान्का मङ्गलमय विधान समझें तो हमारे लिये दुःख रहे ही नहीं।

४७—संसारका सुख प्रच्छन्न दुःख है। जब पर्दा हट जाता है तो वह दुःख तो है ही, पर मनुष्य उस स्थितिमें रोने लगता है।

४८—चाहे सत्यपर रहनेवाले व्यक्तिको असत्यसे अनुप्राणित लोगोंद्वारा कष्ट दिया जाय, परंतु इससे सत्यका कुछ बिगड़ता नहीं। वह तो सोनेको तपानेकी भाँति और भी उज्ज्वल होता है, निखरता है।

४९—जो सत्यको अपनाये हुए हैं, उन्हें जो लाभ होता है, वह ठोस होता है। असत्यसे जो लाभ होता है, वह तो लाभ ही नहीं है, भ्रमवश लाभ-सा दीखता है। वह महान् हानिका पूर्वरूप होता है। सत्य-पालनमें जो कष्ट होता है वह अन्तमें बहुत सुख देनेवाला होता है। वह पहले जहर-सा लगता है, पर परिणाममें अमृत-सदृश होता है, स्थायी होता है, ठोस होता है, नित्य होता है। यह हवाका-सा सुख नहीं होता जो उड़ जाय।

५०—विपत्तिमें, दुःखमें धर्म और सत्यपर दृढ़ रहना बड़ी कठिन बात है। पर जो दृढ़ रहता है उसकी विजय अवश्य होती है। जो व्यक्ति सत्य-सेवनसे विपत्ति-ग्रस्त हो, उसे घबराना नहीं चाहिये; क्योंकि सत्य सदा विजयी है। सत्यका मूल्य प्राणोंकी अपेक्षा भी बहुत ऊँचा है।

५१—जब विपत्ति आये तब समझना चाहिये कि मुझपर भगवान्की बड़ी कृपा है, भगवान् कृपा करके मुझे अपनाना चाहते हैं इसीसे वे 'अपने मन'की कर रहे हैं। विपत्ति भगवान्के मिलनेका संकेत है; मानो भगवान् इशारा करते हैं कि मैं तुमसे मिलना चाहता हूँ।

५२—जबतक 'विषयोंमें सुख है'—यह भ्रान्ति है, तबतक चाहे संसारके कितने ही भोग प्राप्त कर लें, हम सुखी हो नहीं सकते; क्योंकि वहाँ सुख है नहीं। जबतक आग जलती रहेगी, तबतक गरमी कैसे मिटेगी ?

५३—बुद्धिमान् वह, बड़भागी वह, जिसका मन यह जान चुका कि विषय दुःखयोनि है, दुःखोंकी उत्पत्तिका क्षेत्र है। विषयोंमें सुख नहीं, इनसे सुख मिल नहीं सकता! इसके विपरीत जो विषयोंमें सुख है, ऐसा मानते हैं, वे अभागे हैं, मूर्ख हैं।

५४—जिसको यह निश्चय हो गया कि एकमात्र भगवान्में ही सुख-शान्ति है और जिसने विश्वासपूर्वक अपनेको भगवच्चरणोंपर न्योछावर कर दिया, वही भोगत्यागी महापुरुष बड़भागी है।

सम्पूर्ण संसारकी वन्दनीया माताएँ

(लेखक—श्रीमनसुखरायजी मोर)

मातृ-जातिकी गौरव-गाथा अनादिकालसे गायी जाती रही है। संसारमें जितने भी महान् पुरुष, विभूतियाँ, सती देवियाँ, योद्धा, विद्वज्जन, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, दानी, तपस्वी, विचारक और एक-से-एक बढ़कर ऋषि-महर्षि हुए, आज जिनसे संसारका मुख उज्ज्वल है वे सब इन माताओंकी गोदमें ही हुए।

माताकी इस सदा स्थिर रहनेवाली गरिमाको लक्ष्यकर ही आदिशक्ति कहती है "अहं राष्ट्री संगमनी चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्" और "अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः" अर्थात् सर्वप्रथम चिच्छक्तिरूपा भगवतीका आविर्भाव हुआ। रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वेदेवोंके साथ। यहाँतक कि सम्पूर्ण चराचरमें मातृत्वका अस्तित्व सदा रहनेवाला और उसकी सर्वोपरि प्रभुता बतलायी गयी है।

> देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद
> प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
> प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
> त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥
> आधारभूता जगतस्त्वमेका
> महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।
> अपां स्वरूपस्थितया त्वयैत-
> दाप्यायते कृत्स्नमलङ्घ्यवीर्ये॥

'हे शरणमें आये जनके दुःखोंको हरनेवाली संसारकी माता! हे विश्वेश्वरि! आप संसारकी रक्षा कीजिये, क्योंकि आप चराचरका नियन्त्रण करती हैं।

'आप सारे स्थावर-जंगमकी आधारभूता हैं; क्योंकि पृथ्वीरूपा हैं। हे अजेयशक्तिशालिनी माता! आप जलरूपमें सारे संसारको तृप्त करती हैं।' परशुराम-कल्पसूत्रमें आता है—

> तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं
> वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।
> दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये
> सुतरसि तरसे नमः॥

'हम भगवती दुर्गाकी शरणमें जाते हैं जो अग्निवर्णा हैं, अपने-आप तेजसे प्रकाशित होती हैं, परमात्माके सम्बन्धसे वैरोचनी हैं और संसारके उद्धारके लिये तारनेवाली हैं। हमारा उन्हें बारंबार नमस्कार है।'

माताओंकी इसी गरिमाको लेकर शास्त्रकार कहते हैं—

> सर्वेषामपि पूज्यानां पिता वन्द्यो महान् गुरुः।
> पितुः शतगुणैर्माता गर्भधारणपोषणात्॥
> माता च पृथ्वीरूपा सर्वेषां जगतीतले।
> न हि तस्याः परः कोऽपि वन्द्यः पूज्यश्च वेदतः॥
> (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

माताके पवित्र वात्सल्य और स्नेहसे भरे लालन-पालनसे जो विशेषता बालकमें आती है, उसका दृढ़ संस्कार खरादपर (शाणपर) चढ़ाये गये हीरेके समान जगमगाकर उसे चमत्कारी तथा महान् बना देता है। इसीलिये पृथ्वीरूप माँ जगज्जननी है। सब पूज्यवर्गमें आचार्यसे पिताकी श्रेणी ऊँची है एवं पितासे सौगुना अधिक महत्त्व माताका है। वह उसे गर्भमें रखती है, बड़े लाड़-चावसे इस भावसे अपने लालको पालती है कि एक दिन वह राष्ट्रका गौरव होगा। उस अलौकिक गौरवके कारण ही माताका स्थान सबसे बड़ा है। मातृषोडशीमें सोलह श्लोकोंमें माताकी जो विशेषता बतलायी गयी है, उनमें कष्ट सहनेकी क्षमता, मानसिक अशान्तिको पचानेकी शक्ति, मानसिक धैर्य, विपत्ति-जालकी उद्वेलना और नाना तरहके कष्टोंका अपने प्यारे पुत्रके लिये सहन करनेका जो वर्णन है वह अवश्य हमारे चित्तमें मातृत्वके प्रति श्रद्धाकी भावनाको बढ़ाता है। पृथ्वीके समान प्रहार और कष्ट सहकर भी बेटेके लिये माँ अपने हृदयमें बहुत बड़ा स्थान रखती है। धन्य हैं वे पृथ्वी-स्वरूपा माताएँ! पूज्यवर्गमें यही एकमात्र कारण उन गुणोंकी जीवित मूर्ति माताओंको ऊँचे आसनपर विराजमान कर देता है। इसीलिये पूज्यवर्गमें उनका नाम गौरवके साथ लिया जाता है।

सम्पूर्ण विश्वमें नाना योनियोंमें स्त्री और पुरुषके स्त्री-परमाणु और पुं-परमाणुओंके योगसे सृष्टिका क्रम अनादि कालसे बराबर चल रहा है। जैसे, बिजलीके उत्पादनके लिये ऋणात्मक (विकर्षण) एवं धनात्मक (आकर्षण) लहरोंका होना परमावश्यक है, वैसे ही धन और ऋणके प्रतीक पुरुष

और स्त्रीके योगसे शिव-शक्तिका क्रम सदासे ही जीवन-प्रवाहमें चलता रहता है।

गृहस्थकी इस महान् उत्तरदायी भारकी शृङ्खलाको बराबर चलाते रहनेके लिये दोनों ही स्त्री और पुरुषके कर्तव्य और अधिकार बराबर हैं फिर भी स्त्री-जातिका इसमें प्रमुख स्थान है। स्त्रियाँ नाना रूपोंमें कल्याणदायिनी होती हैं। मार्कण्डेयपुराणमें आता है—

> त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
> विश्वस्य बीजं परमासि माया।
> सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्
> त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥

'भगवती दुर्गे! आप अनन्त शक्तिकी स्रोत हैं। संसारकी बीजरूपा हैं, हे मातः! आप परमा माया हैं। सारे प्राणी आपके द्वारा मोहित हैं। आप प्रसन्न होकर मुक्तिका कारण बन जाती हैं।'

इसीलिये बाल्यकालमें कन्यारूपमें, फिर घरकी रक्षिकाके रूपमें, तदुपरान्त गृहलक्ष्मीके रूपमें और अन्तमें सबसे ऊपर घरकी मालकिन बन पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रोंकी अक्षय सम्पत्ति छोड़कर संसारमें मूक सेवाके आदर्शद्वारा सबको अपने-अपने कर्तव्यपर डटे रहनेका संदेश देती हैं। ऊपर जो *मङ्गलविधान बताया है उसमें मातृत्वकी गौरवगरिमाका* ही पूरा संकेत है; परंतु विधानके निर्माणमें पुरुष ही प्रधान है। लिंगपुराणके १०२ अध्याय श्लोक ४४ में आया है—

> तवाहं दक्षिणाद्धस्तात्सृष्टः पूर्वं पुरातनः।
> वामहस्तान्महाबाहो देवो नारायणः प्रभुः॥

अर्थात् 'शक्तिके दाहिने अङ्गसे स्वयं शङ्करजी और बायें अङ्गसे साक्षात् नारायण प्रकट हुए।'

स्त्री अपने पूर्ण विकासको गृहस्थके सर्वस्व अपने पतिके *व्यक्तित्वमें लीनकर धन्य और कृतकृत्य* होती है। इस त्यागभावनाका ही महत्त्व है कि सम्पूर्ण त्रिदेवोंके वामाङ्गमें चिच्छक्तिरूपा महामहिमशालिनी माता पार्वतीजी शङ्करजी-के, जगद्धात्री लक्ष्मीजी विष्णुभगवान्के और उत्पादयित्री ब्रह्माणीजी ब्रह्माजीके पास अहर्निश रहकर संहार, स्थिति और उत्पत्तिमें सदा उपस्थित रहती हैं। इसीलिये मातारूपा पृथ्वी-की निःस्वार्थताको हमारे शास्त्रोंमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक बताकर पूर्ण गौरवके साथ गाया गया है।

एक वर्षकी बालिकासे लेकर षोडशवर्षीया बालाके लिये जो पूज्य भावना रुद्रयामलमें आयी है, वह मनन करने योग्य है।

> एकवर्षा भवेत्संध्या द्विवर्षा च सरस्वती।
> त्रिवर्षा च त्रिधा मूर्तिश्चतुर्वर्षा च कालिका॥
> सूर्यगा पञ्चवर्षा च षष्ठवर्षा च रोहिणी।
> सप्तभिर्मालिनी साक्षादष्टवर्षा च कुब्जिका॥
> नवभिः कालसंदर्भा दशभिश्चापराजिता।
> एकादशे च रुद्राणी द्वादशेऽब्दे तु भैरवी॥
> महालक्ष्मीस्त्रयोदशे द्विसप्ते पीठनायिका।
> क्षेत्रज्ञा पञ्चदशभिः षोडशे चाम्बिका मता॥

पहले वर्षकी संध्या, दो वर्षकी सरस्वती, तीन वर्षकी त्रिमूर्ति, चार वर्षकी कालिका, पाँच वर्षकी सूर्यगा, छःकी रोहिणी, सातकी मालिनी, आठकी कुब्जिका, नौकी काल-संदर्भा, दशकी अपराजिता, ग्यारहकी रुद्राणी, बारहकी भैरवी, तेरह वर्षकी महालक्ष्मी, चौदहकी पीठनायिका, पंद्रहकी क्षेत्रज्ञा और सोलहकी अम्बिका होती है।

इसके उपरान्त यावन्मात्र स्त्रियोंमें मातृभावना रखनेके लिये शास्त्रकार कहते हैं, जो साधनामें विशेष सहायक है, देखिये—

> सा च मे धर्मतो माता तथेमाः सर्वसम्मताः।
> स्तनदात्री गर्भदात्री भक्ष्यदात्री गुरुप्रिया॥
> अभीष्टदेवपत्नी च पितुः पत्नी च कन्यका।
> सगर्भकन्या भगिनी पुत्रपत्नी प्रियाप्रसूः॥
> मातुर्माता पितुर्माता सोदरस्य प्रिया तथा।
> मातुः पितुश्च भगिनी मातुलानी तथैव च॥
> जनानां वेदविहिता मातरः षोडश स्मृताः।
> (ब्रह्मवैवर्तपु० गण० १५ अध्याय)

अर्थात् यह मेरी धर्मकी माता है और ये और सर्वसम्मत माताएँ हैं। दूध पिलानेवाली (स्तनदात्री), जन्म देनेवाली (गर्भदात्री), खिलाने-पिलानेवाली (भक्ष्यदात्री), गुरुपत्नी, अभीष्टदेवपत्नी (सर्वभूतहितेरत महापुरुष अभीष्टदेव उनकी पत्नी या पतिपरायणा सभी स्त्रियाँ), पिताकी स्त्री (मौसी), कन्याँ, बहिन, पुत्रवधू, सासु, नानी, भाईकी स्त्री, माताकी बहिन, बूआ और मामी—ये वेदप्रतिपादित व्यावहारिक सोलह माताएँ हैं। इसके साथ-साथ भृत्यपत्नी आदि और भी माताएँ मानी गयी हैं।

पृथ्वीभरमें मातृ-जातिका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। भारतीय आत्मतत्त्ववेत्ता महामहिम त्रिकालदर्शी ऋषियोंने मातृ-जातिकी गौरव-परम्पराको, उन्हें पूज्या एवं जगद्वन्द्या कहकर सदा स्थिर रक्खा है। आज जब अधिकार एवं कर्तव्यके लिये संघर्ष मचा है, तब भारतीय धर्म ही सबको सच्चा मार्ग बताकर मानवताको आगे बढ़ायेगा।

यहाँ मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जो माताएँ सदासे ही अपने आपको पतिके व्यक्तित्वमें विलीन कर गृहको वैकुण्ठतुल्य बनाती हैं, ऐसी निःस्वार्थताकी प्रतीक ये गृहलक्ष्मियाँ हमारी पूज्य भावनाकी सदा ही अधिकारिणी हैं। इसका स्पष्ट संकेत उपर्युक्त स्तुतिका प्रयोजन है।

दीक्षाके सम्बन्धमें गोमतीतन्त्रमें लिखा है—

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि सर्वकामार्थसिद्धिदाम्।
यां विना नैव सिद्धः स्यान्मन्त्रो वर्षशतैरपि॥
तया विना महादेवि ह्यधिकारो न कर्मणि।
सर्वाश्रमेषु भूतेषु सर्वदेवेषु सुव्रते।
दीक्षां विना महादेवि तस्य सर्वं वृथा भवेत्॥
दीक्षामूलं जगत्सर्वं दीक्षामूलं परं तपः।
दीक्षामूलं महासिद्धिस्तस्माद्दीक्षां समाचरेत्॥
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः।
न भवन्ति प्रियं तेषां शिलायामुप्तबीजवत्॥

अर्थात् दीक्षा सम्पूर्ण काम और अर्थकी सिद्धिको देनेवाली है। इसके न लेनेसे सौ वर्षतक भी मन्त्र जपते रहिये, मन्त्रकी सिद्धि नहीं मिलेगी। इसके बिना हे महादेवि! मनुष्य कर्मानुष्ठानका अधिकारी नहीं होता। दीक्षा ही सबका मूल है। इसीसे तपस्या फलदायिनी होती है।

इसीलिये दीक्षाकी अत्यन्त आवश्यकता है। शिलामें जमाया हुआ बीज जैसे नहीं उगता, वैसे ही दीक्षा न लेनेवाले पुरुषकी सब क्रियाएँ व्यर्थ हो जाती हैं।

इसके अनन्तर दीक्षावाले गुरुको देखिये। गान्धर्व तन्त्रमें आता है—

गुरुर्भूत्वैव भगवान् महाविद्यां ददाति वै।
मनुष्यरूपः सम्प्राप्तः सर्वतन्त्रार्थतत्त्ववित्॥
मन्त्रतन्त्रावतारोऽथ विचराम्यहमेव सः।
गुरुः शाक्तो भवेद् ऋद्धौ तदन्यो विपरीतदः॥
गुरुः सर्वगुणोपेतो दोषैरस्पृष्टमानसः।
अरोगी नातिवृद्धश्च सुरुचिरर्थिभाषणः॥
सुन्दरः सुमुखः स्वच्छः स्वलोभी बहुमन्त्रवित्।
असंशयः संशयच्छिन्निग्रहानुग्रहे प्रभुः॥
निर्द्वन्द्वो निरहंकारः सत्यवादी दृढव्रतः।
आश्रम्याश्रमधर्मज्ञो मात्सर्यरहितः शुचिः॥
अबहुमन्त्रदो वाग्मी जपपूजापरायणः।
सर्वतन्त्रार्थवेत्ता च दयावांश्च च हिंसकः॥
यदृच्छालाभसंतुष्टः शान्तो नियमवानृजुः।
स्मेरपूर्वाभिभाषित्वं स्वच्छताजिह्मवृत्तिता॥
संतोषत्वमगर्वित्वमलोभित्वमनिन्दिता।
अपक्षत्वमवित्तेच्छा गुरुत्वं हितवादिता॥
एवंविधो गुरुर्ज्ञेयस्त्वितरः शिष्यदुःखदः।

'भगवान् स्वयं गुरु बनकर शिष्यको महाविद्याका दान करते हैं। सम्पूर्ण आगम-निगमके अर्थोंको जाननेवाला मन्त्र और तन्त्रका अवतार मैं स्वयं गुरुरूपमें संसारमें घूमता हूँ। कहनेका अभिप्राय यह है कि गुरुतत्त्व अमर है। शक्तिका उपासक गुरु समृद्धि देता है और इससे इतर विपरीत देनेवाला है। गुरु सर्व गुणवान्, दोषोंसे रहित, रोगहीन हो, अति वृद्ध न हो, सुरुचि परिष्कारवाला, सभीको पूर्ण धर्मयुक्त वचनोंसे संतोष करानेवाला, सुन्दर, हँसमुख, स्वच्छ, आत्मसंतोषी, बहुत मन्त्रोंको जाननेवाला, कभी संशयको स्थान न देनेवाला, दूसरोंके संदेहोंको मिटानेवाला, निग्रह (रोकने) अनुग्रह (दया करने) में समर्थ, राग और द्वेषसे दूर, निरभिमान, सत्यवादी, दृढ़व्रती, आश्रम और धर्मका पालन करनेवाला, वर्णाश्रमोंकी मर्यादाका पूरा जाननेवाला, मद और मत्सरसे रहित, शुद्धात्मा, कभी अधिक शिष्योंको मन्त्र न देनेवाला, वाग्मी—शास्त्रका वक्ता, निरन्तर भजनमें लगा रहनेवाला, सारे तन्त्रोंमें पूरी गति रखनेवाला, दयालु, अहिंसक, यथालाभसंतुष्ट शान्त, नियमशील, सीधा-सादा जीवनवाला, पहले हँसमुख हो सबसे बोलनेवाला, सीधे-सादे व्यवहारवाला, संतोषी, गर्वरहित, लोभशून्य, निन्दा न करनेवाला, पक्षपातरहित, धनकी किञ्चिन्मात्र इच्छा न करनेवाला, गुरुताका अधिकारी और हितमितवादी—ऐसे मनुष्य गुरु होनेके अधिकारी हैं। ऐसे ही गुरुदेव वास्तवमें शिष्यका कल्याण कर सकते हैं, दूसरे नहीं।'

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

—कहकर श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि श्रद्धा-विश्वासयुक्त और गुरुका सेवा-परायण शिष्य ही गुरु-चरणोंकी कृपाका सच्चा अधिकारी है।

उपरिनिर्दिष्ट सम्पूर्ण समीक्षासे यही सिद्ध होता है कि ऐसे यथार्थ तत्त्वके जाननेवाले शिष्यप्रिय गुरु और गुरुप्रिय शिष्य आधुनिक वातावरणमें विरलतर हैं, जो हैं वे साक्षात् भगवान्‌के अंशावतार ही हैं।

दीक्षाको लेकर आजकल कई प्रकारकी चर्चाएँ सुनी जाती हैं। मेरा इस विषयमें सादर नम्र निवेदन है कि सबसे पूज्यतमा इन माताओं और बहनोंको कौन दीक्षा दे सकता है।

यदि प्राचीन परम्परापर दृष्टि डालें तो हमें यह स्पष्ट मालूम होगा कि भगवती पराम्बा माता सीताको अनसूयाजीने उपदेश दिया था, न कि किसी ऋषि या किसी परपुरुषने। स्वयं माताकी दीक्षा देनेके बहाने जो महाशय मानी और गुरु बननेका उपक्रम करते हैं वे भगवान्‌के अमानी और मानद-जैसे यशस्वी यथार्थ नामोंकी अवज्ञा करते हैं। यह अनधिकार चेष्टा ही कही जायगी। इससे मातृत्वजातिको श्रद्धा और सम्मानकी भावनासे देखनेका हमारा जो भारतीय आचार है, उसे बड़ी भारी ठेस पहुँच सकती है। इसे जितना जल्दी बंद किया जाय, उतना ही हितकर है।

रुद्रयामलमें लिखा है—

न पत्नीं दीक्षयेद् भर्ता न पिता दीक्षयेत्सुताम्।
न पुत्रश्च तथा भ्राता भ्रातरं नैव दीक्षयेत्॥
सिद्धमन्त्रो यदि पतिस्तदा पत्नीं स दीक्षयेत्।
शक्तित्वेन भैरवस्तु न च सा पुत्रिका भवेत्॥
मन्त्रार्णो देवता ज्ञेया देवता गुरुरूपिणी।
तेषां भेदो न कर्तव्यो यदीच्छेच्छुभमात्मनः॥
स्त्रियो दीक्षाः शुभाः प्रोक्ता मातुश्चाष्टगुणाः स्मृताः।
पुत्रिणी विधवा ग्राह्या केवला ऋणकारिणी॥
सिद्धमन्त्रं यदि भवेद् गृह्णीयाद् विधवामुखात्।
केवलं सुफलं तत्र मातुरष्टगुणं ध्रुवम्॥
यदि माता स्वकं मन्त्रं ददाति स्वसुताय च।
तदाष्टसिद्धिमाप्नोति भक्तिमार्गे न संशयः॥
तदैव दुर्लभं तत्र यदि मात्रा प्रदीयते॥

अर्थात् ब्रह्माण्डकी जो लीला है वह पृथ्वीकी है, उसी प्रकार इस भौतिक जगत्‌की सम्पूर्ण लीलाका मूल स्त्री (माया) है। गृहस्थके सारे दुःख और सुख गृहकी स्वामिनी स्त्रीपर अवलम्बित हैं, उसे दीक्षा देनेका अधिकार पुरुषोंका नहीं है। हाँ, स्त्री अपनी माता, सास, बूआ आदि पूजनीया देवियोंसे दीक्षा ले सकती हैं, औरोंसे नहीं। दूसरे, दीक्षा दी जाती है शक्तिका सम्पात करनेके लिये, परंतु जो स्वयं साक्षात् शक्तिरूपा है उसमें सम्पातकी क्या आवश्यकता है? लोग स्त्रीको यज्ञके समय पुरुषकी अर्धाङ्गिनीके नाते दीक्षा लेनेके सम्बन्धमें प्रश्न कर सकते हैं; यदि दीक्षा नहीं हुई तो स्त्री यज्ञकी अधिकारिणी नहीं। यह बात ठीक है परंतु वैवाहिक संस्कारमें ही उसका दीक्षिता होना शास्त्र बतलाते हैं—

'वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः।'

विवाह-विधि ही स्त्रियोंका उपनयन है। पतिके सम्बन्धसे पतिकी अर्धाङ्गिनी होनेसे वह एक रूप हो गयी। पतिके दीक्षित होते ही वह भी दीक्षिता हो गयी। फिर भी गुरुके लिये तो शिष्य पत्नीत्वेन वह पूज्या है, माता है।

तीसरे, शास्त्रोंमें पुरुषके अदीक्षित होनेसे उसकी व्रात्य संज्ञा दी गयी है। श्रौतसूत्र कहते हैं कि "अदीक्षितो वै व्रात्यः" अदीक्षित व्यक्ति व्रात्य है। पर कहीं भी स्त्री अदीक्षिता व्रात्या है—यह नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण शक्तिका स्रोत मनुष्यकी प्राणरूप स्त्री ही है। वह बल और शक्ति-स्रोत है, पूज्य है। उन्हें कहीं किसीसे दीक्षाका विधान नहीं करवाना चाहिये। डायनमोसे बिजली डिस्चार्ज होती है न कि उसमें बिजली भरी जाती है। इस प्रकारसे माताओंको पुरुषोंद्वारा दीक्षासे अपने अस्तित्वको संसारमें रसातलमें ले जाना है।

इसीलिये शास्त्र कहते हैं कि समस्त संसारमें मातृ-जाति पूज्य है। उन्हें पुरुषोंद्वारा दीक्षा दिलाकर हम अधिकारके बाहर कार्य कर रहे हैं। स्त्रीके पतनके छः कारण आङ्गिरस-स्मृतिमें आये हैं—

जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम्।
देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥

उपर्युक्त विवेचनमें अन्तर्गूढ़ अर्थ यही है कि जप, तप, तीर्थयात्रा, प्रव्रज्या और मन्त्रसाधनकी केन्द्रीभूत सिद्धियाँ स्त्रीके लिये पतिमें ही रक्षित हैं। अतः सती सुकला, माता अरुन्धती और अनसूयाजीने जो आदर्श संसारके सामने रक्खा, वही सनातन परम्परा है, उसीसे सबका कल्याण है।

पतिर्हि दैवतं स्त्रीणां पतिरेव परायणम्।
अनुगम्यः स्त्रिया साध्व्या पतिः प्राणधनेश्वरः॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य च दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

स्त्रीको पति अपना सर्वस्व देता है। इसके बाद कुछ भी कहना नहीं रह जाता, फिर भी एक बात विशेष महत्त्व की है—

भगवान् शङ्करके वक्षःस्थलपर भगवती पार्वतीजी विराजती हैं। इसे सोचिये तो आपको पता लगेगा कि प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें अपनी स्त्रीके प्रति विशेष स्थान रहता है। लक्ष्मीजी स्वयं विष्णुभगवान्के वक्षःस्थलपर विराजमान होती हैं। भगवती पार्वती भी इसीलिये भगवान् शङ्करके हृदयमें अहर्निश निवास करती हैं। उनकी एकान्त पति-साधना ही इस अनन्त प्रेम-भावनाका अद्वितीय उदाहरण है। इसीलिये तो पति स्त्रीको अपना हृदय देता है।

माताएँ अपने स्त्री-वर्गकी पूज्याओंको ही प्रणाम और चरण-स्पर्श करनेकी अधिकारिणी हैं, औरोंकी नहीं। पुरुषोंके लिये संसारकी रचयित्री, उद्धार करनेवाली माताओंसे चरण-स्पर्श करवाना एवं मत्था टिकाना कभी इष्ट नहीं।

हमने पूर्वजन्ममें आत्मशक्तिको संचित कर अनन्त साधना और दैवी सम्पद् एकत्रित करनेके लिये मनुष्य देह पाया है। अब यदि इसे और साधनमय बनाकर शास्त्रानुसार आचरण कर आगे बढ़ें तो अपने समाजका और संसारका बड़ा भारी हित कर सकते हैं।

पहले तो इस सम्बन्धमें थोड़ा-सा विनम्र निवेदन संसारकी रचयित्री माताओंसे है कि वे अपने स्वरूपको समझें। उनका यह कर्तव्य है कि पतिको छोड़ सारे ही परपुरुषोंको अपने पुत्रवत् ही समझें, न कि उनसे दीक्षा लें और उनके पाँव पूजें।

पुत्ररूपं च पुरुषं सदा पश्यन्ति धर्मतः।

धर्मशास्त्रोंने स्थान-स्थानपर परपुरुषको आपके लिये पुत्रस्वरूप बतलाया है। स्त्रीमात्रमें छोटी-बड़ीका कोई प्रश्न नहीं है, सभी पूज्या हैं, सृष्टिकी रचयित्री हैं। संसारकी रचना इन्हींपर आधारित है।

साथ ही सभी सम्मान्य महानुभावोंसे मेरी हाथ जोड़कर सादर विनती है कि वे संसारको भागवत बनानेमें शास्त्राज्ञाका पालन करें। माताओंको कतई दीक्षा न दें। केवल पुरुषोंको ही दीक्षा देनेका—उनमें शक्ति-सम्पात करनेका प्रयत्न करें। साक्षात् जगज्जननी इन सती सावित्री, माता सीता, ऋषिपत्नी अनसूया एवं अरुन्धतीजीकी प्रतिनिधिस्वरूपा माताओं और बहिनोंको किसी प्रकारसे दीक्षित करनेका साहस न करें। इससे मातृत्वके गौरवपर सीधा प्रहार होता है। ऐसा करके हमारी आर्यपरम्पराका उच्छेद और मातृत्वकी शक्तिका ह्रास किया जाता है।

ऐसे उद्धारक महानुभावोंसे मेरा यह निवेदन है कि अधिकार सीमामें ही सब कुछ शक्य है। इससे आगे बढ़ना तो अतिगर्हित है। और पतनके मार्गको प्रशस्त करता है।

मुझे बड़ी ही प्रसन्नता होगी कि सम्मान्य विद्वन्मण्डली स्त्री-दीक्षाके सम्बन्धमें अपनी बहुमूल्य सम्मति प्रकाशित कर जनताको अनर्थसे बचानेमें सहायक होगी। उपर्युक्त विचारोंपर सविशेष प्रकाश डालनेवाले महानुभावोंका मैं हृदयसे आभार मानूँगा।

राम-नाम-आधार

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट्-लॉ विद्यावारिधि)

जहाँ महल थे धवल मनोहर, नभ-नयनोंके तारे।
विमल चाँदनी ने जिस तलपर, पुलकित पाँव पसारे॥
उपवन-छटा निरखने जिनकी, मेघ घटा उतराई।
चपला चमक चमक कर जिनमें, आनेको तरसाई॥
जिन के प्रांगण में कवियों ने, काव्यामृत बरसाया।
ललित कला ने फूल फैलकर, संस्कृति को सरसाया॥
वहाँ अब खड़े खंडहर मौन।
बने वे आज शोक साकार॥
चेत नर नश्वर यह संसार।
धार अब राम-नाम आधार॥

जहाँ सरित करती थी कलरव, जलकी चादर ताने।
दूर दूर से खग-कुल आते, उसे सुनाने गाने॥
कुंज-कुंज में अलिगण गुंजन, कोकिल की किलकारी।
सोर मचाते मोर मस्त हो, सुन घन गर्जन भारी॥
नावोंके सँग रास खेलती, लहरें वन मतवाली।
स्वच्छ सलिल में उषा देखती, अपने मुख की लाली॥
गई सब सूख नदी की धार।
करुण क्रंदन कर कहे कगार॥
चेत नर नश्वर यह संसार।
धार अब राम-नाम आधार॥

षोडश संस्कार और उनका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)

[गताङ्कसे आगे]

१३ विवाह-संस्कार-विधि

मण्डप बनाकर वरको पूर्वाभिमुख बैठावे, उसके दाहिने वधू बैठेगी। स्वस्तिवाचन करावे। 'अपसर्पन्तु ते भूताः' से गौरसर्षप विकिरण करे। कन्याका पिता संकल्प करे—श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्तये चतुर्वर्गसिद्ध्यर्थं करणीयकन्यादान-साङ्गतायै श्रीगणेशादीनां पूजनं करिष्ये।

फिर वर संकल्प करे—

'स्वकीयविवाहसंस्कारे विवाहकालिकलग्नतोऽनिष्टस्थान-स्थितसूर्यादिग्रहजन्यजनितजनिष्यमाणशेषत्रयनिराकरणपूर्वकं स्वकीयसुखसंतानधनधान्याद्यभिवृद्धिहेतवे देवानां प्रीत्यर्थं श्रीगणेशादीनां पूजनमहं करिष्ये।'

यह कहकर गणेश, ओङ्कार, नवग्रह, षोडशमातृका, वास्तु, शेषनाग, चतुर्वेद, सप्तर्षि, क्षेत्रपाल और श्रीः आदिका पूजन करे। पुरोहित वर-कन्याके 'मानः शंसो' (यजुः ३ । ३०) 'यदाबध्नं' (यजुः ३४ । ५२) मन्त्रसे रक्षा-विधान करे। लड़कीका नाना या मामा कन्याको सौभाग्य-प्रतिष्ठार्थ गजदन्तदान करे। फिर वास्तुपूजन, योगिनीपूजन, ब्रह्म-विष्णु-रुद्रपूजन, लक्ष्मीपूजन, दशदिक्पालपूजन, कलशमें वरुणपूजन, अग्निपूजन करे।

कन्या-पिता 'साधु भवानास्ताम्' (आप अच्छी तरह बैठ जायँ, हम आपकी पूजा करेंगे) (पार० १ । ३ । ४) इत्यादि वरको कहकर उसे विष्टर-प्रदान करे। वर 'वर्ष्मोऽसि' (१ । ३ । ८) मन्त्रसे उसपर बैठ जाय। वरको पाद्य दे, वर 'विराजो दोहोसि' (१ । ३ । १२) मन्त्रसे लेकर उससे ब्राह्मण होनेपर पहले दाहिना फिर बायाँ पैर धोवे। फिर उसे अर्घ्य दे। वर उसे लेकर 'आपःस्थ' (१ । ३ । १३) मन्त्रसे उसमें स्थित अक्षतको सिरपर रक्खे। फिर 'समुद्रं वः' (१ । ३ । १३) मन्त्रसे उस पात्रको उलटा करके उसका जल ईशान कोणमें डाल दे। फिर वरको आचमन-जल दे; वर 'आमागन् यशसा' (१ । ३ । १५) मन्त्रसे आचमन करे। अनन्तर उसे मधुपर्क (दधि, मधु, घृत) काँसीके पात्रसे ढका हुआ दे। वर 'मित्रस्य त्वा' (१ । ३ । १६) मन्त्रसे उसे दाताके ही हाथमें देखे। 'देवस्य त्वा' (यजुः १ । १०) मन्त्रसे उसे वह बायें हाथसे लेकर 'नमः श्यावास्याय' (१ । ३ । १८) मन्त्रसे अनामिका और अङ्गुष्ठसे तीन बार मिलावे। कुछ भूमिपर डाले। यहाँपर आश्वलायनगृह्यसूत्र (१ । २४ । १५) के अनुसार—

'वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वे त्वा देवा गायत्रेण, त्रैष्टुभेन, जागतेन, आनुष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु'

(अर्थात् हे मधुपर्क ! वसुदेवता गायत्री छन्दसे, रुद्र-देवता त्रिष्टुप् छन्दसे, आदित्यदेवता जगती छन्दसे और विश्वेदेव अनुष्टुप् छन्दके द्वारा तुम्हें भक्षण करें) मन्त्रोंसे क्रम-क्रमसे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशामें वसु आदि दिव्य पितरोंके नामसे मधुपर्क डाला जाता है। फिर वर 'यन्मधुनो' (पार० १ । ३ । २०) मन्त्रसे मधुपर्कको खाता है। दो बार आचमन करके 'वाङ्म आस्येऽस्तु' (मेरे मुखमें वाक्-शक्ति हो) (१ । ४ । २५) इत्यादि मन्त्रोंसे अङ्गोंका स्पर्श करे। फिर 'माता रुद्राणां' (१ । ३ । २७) मन्त्र बोलकर गायके लिये तृण देनेका संकल्प करके तृण डाल दे। फिर *पञ्चभूसंस्कारपूर्वक अग्नि-स्थापन करे, 'विवाह्य कन्याको अपने दाहिने बैठावे। 'जरां गच्छ' (१ । ४ । १२) मन्त्र पढ़कर उसे अधोवस्त्र दे, 'या अकृन्तन्' (१ । ४ । १३) मन्त्रसे उसे उत्तरीय वस्त्र दे। यहाँ गोभिलगृ०के अनुसार स्त्री उस उत्तरीयको जनेऊकी तरह पहने। 'परिधास्यै यशोधास्यै' (२ । ६ । २०) मन्त्र पढ़कर वर स्वयं अधोवस्त्र पहने—

'यशसा मा द्यावापृथिवी' (२ । ६ । २१)

मन्त्र बोलकर स्वयं उत्तरीय धारण करे। फिर—

'समञ्जन्तु विश्वे देवाः' (ऋ० १० । ८५ । ४७)

मन्त्र बोलकर वर कन्याको एक दूसरेके सामने करे।

---

* तीन कुशोंसे वेदीकी भूमिको परिसमूहन (झाड़) कर कुशोंको ईशानमें फेंककर, वेदीको गोबर और जलसे लीपकर स्रुवेके मूलसे उत्तरोत्तर तीन प्रागायत रेखा करे। अनामिका और अङ्गुष्ठसे उल्लेखन-के क्रमसे मिट्टीको उद्धृत कर फेंके, जलसे वेदीमें सेचन करे। काँसेके पात्रसे अग्निको लाकर स्थापित करे—यही पञ्चभूसंस्कार है।

फिर शङ्खमें अक्षत, पुष्प, चन्दन, जल लेकर दाता जामाताके दक्षिण हाथपर कन्याका दक्षिण हाथ रखकर 'दाताहं वरुणो राजा' मन्त्र बोलकर देश-काल-कीर्तनपूर्वक गोत्रोच्चारण करे। प्रत्येक गोत्रोच्चारणमें माङ्गलिक श्लोक बोले।

'तत्सदद्य···मासोत्तमे अमुकमासे···पक्षे···शुभतिथौ··· वासरे···लग्ने, एवंगुणगणविशिष्टायां शुभवेलायाम् अमुकगोत्रस्य, अमुकप्रवरस्य, अमुकशाखिनः, अमुकशर्मणः प्रपौत्राय, पौत्राय, पुत्राय, अमुकगोत्रस्य, अमुकप्रवरस्य, अमुकशाखिनः अमुकशर्मणः प्रपौत्रीम्, पौत्रीम्, पुत्रीम्

(इनको तीन बार पढ़े)

अमुकगोत्राय, अमुकप्रवराय, अमुकशाखिने, अमुकशर्मणे ब्राह्मणाय कन्यार्थिने वराय, अमुकगोत्रोत्पन्नाम्, अमुकप्रवराम्, अमुकनाम्नीमिमां कन्यां सालंकारां परालंकारवर्जितां, प्रजापतिदेवतां, श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलावाप्तिकामोऽनेन वरेण अस्यां कन्यायामुत्पादयिष्यमाणसंतत्या दशपूर्वान्, दशावरान्, मां च—एवमेकविंशतिपुरुषान् उद्धर्तुं ब्राह्मविवाहविधिना श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतये भार्यात्वेन भवतेऽहममुकगोत्रः, अमुकप्रवरोऽमुकशर्मा सम्प्रददे।'

फिर वरके हाथमें जल डालकर कन्याका हाथ दे दे। वर 'स्वस्ति' कहे और 'द्यौस्त्वा' मन्त्र पढ़े। फिर दाता वरको-

'तत्सदद्य कृतैतत्कन्यादानप्रतिष्ठार्थमिदं सुवर्णाङ्गुलीयकम् (गां वा) अमुकगोत्राय अमुकशर्मणे भवतेऽहं सम्प्रददे।'

वर 'स्वस्ति' कहकर 'को दात्' (यजुः ७ । ४८) मन्त्रको पढ़े। उस समय वर—

'गृहीतकन्यादानभारावतारणार्थम् इमां गां तत्प्रतिनिधिभूतां दक्षिणां वा भवते सम्प्रददे'

यह संकल्प करके अपने पुरोहितको गोदान या तत्प्रतिनिधिभूत दक्षिणा दे। इस अवसरपर सनातन-धर्मके प्रचारार्थ सत्पात्र या संस्थाको दान दिया जा सकता है।

फिर कन्याका वैवाहिक नाम प्रतिष्ठित करना। वर 'यदैपि मनसा' (१ । ४ । १५) मन्त्र पढ़े और उसका पाणिग्रहण करे और अन्तमें उसका वैवाहिक नाम पढ़े। फिर वर-कन्याका 'परस्पर समीक्षण' हो, वर मन्त्र पढ़े 'अघोरचक्षुः' (ऋ० १० । ८५ । ४४), 'सोमः प्रथमो विविदे' (ऋ० १० । ८५ । ४०), 'सोमो ऽददद्गन्धर्वाय' (१० । ८५ । ४१), 'सा नः पूषा शिव' (पार० १ । ४ । १६)। अनन्तर वर—

'अद्य प्रतिगृहीताया अस्या भार्यायाः पत्नीत्वसिद्ध्ये वैवाहिकहोममहं करिष्ये'

यह संकल्प करके—

'अद्य कर्तव्यविवाहहोमकर्मणि कृताकृतावेक्षणरूपब्रह्मकर्म कर्तुममुकगोत्रममुकशर्माणं ब्राह्मणमेभिः पुष्पचन्दनताम्बूलवासोभिर्ब्रह्मत्वेन भवन्तं वृणे।'

—पढ़कर ब्रह्माका वरण करे। 'वृतोऽस्मि' यह ब्रह्माका प्रतिवचन 'यथाविहितं कर्म क्रियताम्' यह वरका वचन 'यथाज्ञानं करवाणि' यह ब्रह्माका प्रतिवचन होगा। ब्रह्माके लिये अग्निसे दक्षिणमें आसन दे। फिर—

'अद्य कर्तव्यविवाहहोमकर्मणि कृताकृतावेक्षणरूपाचार्यकर्म कर्तुममुकगोत्रममुकशर्माणं ब्राह्मणमेभिः पुष्पचन्दनताम्बूलवासोभिराचार्यत्वेन भवन्तमहं वृणे'

—आचार्य-वरण करे। 'वृतोऽस्मि' यह प्रतिवचन होगा। फिर अग्निसे उत्तरमें कुशपर प्रणीतापात्र-स्थापन,*कुश-परिस्तरण, प्रणीता और अग्निके बीच प्रोक्षणीपात्र, आज्यस्थाली, तीन समिधा, स्रुव, घृत, पूर्णपात्र, शमीपलाशमिश्रित लाजा, पत्थरका टुकड़ा, कुमारीका भाई, छाज, दृढपुरुष, जल-कलश, आचार्यदक्षिणा—यह सब सम्पन्न कर रक्खे। दृढपुरुष वरके पीछे जलकलश लेकर चुपचाप खड़ा रहे।

पवित्रेसहित दाहिने हाथसे प्रणीताके जलको तीन बार प्रोक्षणीपात्रमें डालकर प्रोक्षणीके जलका तीन बार उत्पवन कर प्रोक्षणीपात्रको वाम हाथमें लेकर पवित्रेसे तीन बार उद्दिङ्गन करके उस जलसे यथासादित वस्तुओंका सेचन करे। प्रणीता और अग्निके बीचमें प्रोक्षणीपात्रको रख दे। घी निकालकर अग्निकुण्डमें तपनेके लिये रक्खे। जलते हुए तृणको घृतके चारों ओर घुमाकर अग्निमें डाल दे। फिर स्रुवेको तपाकर कुशोंसे बाहर-भीतर सम्मार्जन कर प्रणीता-जलसे कुशाद्वारा सेचन करके फिर तपाकर अग्निसे दक्षिणमें रख दे। घीको अग्निसे उतारकर पवित्रेसे उत्पवन करके घृतको देख ले कि कहीं उसमें कुछ अपद्रव्य तो नहीं है; हो तो उसे निकाल दे। फिर प्रोक्षणीके जलका उत्पवन कर कुशोंको बायें हाथमें ले प्रजापतिका मनसे ध्यानकर घृताक्त तीन समिधाओंको एक-

* परिस्तरण—कुशोंके चार भाग करके अग्निकोणसे ईशानकोणतक उत्तराग्र एक भाग, ब्रह्मासे अग्निपर्यन्त द्वितीय भाग, नैर्ऋत्यकोणसे वायुकोणतक तृतीय भाग और अग्निसे प्रणीतापर्यन्त पूर्वाग्र चतुर्थ भाग बिछावे।

एक करके उठकर चुपचाप अग्निमें डाल दे। फिर बैठकर पवित्रेसे प्रोक्षणीके जलसे ईशानकोणसे उत्तरतक अग्निके चारों ओर पर्युक्षण करे। पवित्रे प्रणीतापात्रमें रख दे। दाहिना घुटना टेककर प्रज्वलित अग्निमें हवन करे, हुतशेष घृतको प्रोक्षणीमें डालता जाय। दो* आघाराहुति, दो† आज्य-भागाहुति, तीन‡ व्याहृति और पाँच§ सर्वप्रायश्चित्ताहुति, फिर प्रजापति और स्विष्टकृत आहुति दे, 'स्वाहा' शब्द अन्तमें बोलता जाय। 'इदम् प्रजापतये न मम' आदि त्याग भी बोलता जाय। फिर 'ऋताषाड्' (यजुः १८ । ३८–४३, पार० ५ । ७ । ८) इन १२ मन्त्रोंसे राष्ट्रभृत् होम करे। अनन्तर 'चित्तं च स्वाहा' (पार० १ । ५ । ९) आदि तेरह मन्त्रोंसे जयाहोम करे। फिर 'अग्निर्भूतानामधिपतिः' (पा० १।५।१०) आदि १८ मन्त्रोंसे अभ्यातान होम करे। फिर 'अग्निरैतु' (पार० १।५। ११-१२) आदि पाँच मन्त्रोंसे आहुति दे। इनमें 'परं मृत्यो' (१ । १५ । १२) मन्त्रकी आहुतिके समय वधूके आगे परदा कर ले।

फिर लाजाहोम करनेके लिये वर-वधू अपने आसनसे उठें। वधूको आगे करे, दोनों पूर्वाभिमुख हों। वरकी अञ्जलिके ऊपर वधूकी अञ्जलि हो। उसमें वधूका भ्राता घृतसंसक्त, शमीपत्रमिश्रित लाजाओंको, जो शूर्पमें हों, डाले।

'अर्यमणं देवं, इयं नार्युपब्रूते, इमान् लाजानावपामि।'

(पार० १ । ६ । २)

इन मन्त्रोंको क्रमसे वर वधूके प्रातिनिध्यसे बोलकर उसकी लाजाओंको अपने सहारे डलवावे। फिर 'गृभ्णामि ते' (ऋ० १० । ८५ । ३६) मन्त्र बोलकर वर वधूका साङ्गुष्ठ दक्षिणहस्त ग्रहण करे। अनन्तर वधूका पाँव वर पत्थरपर रखवावे 'आरोहेममश्मानम्' (पार० १ । ७ । १) मन्त्र पढ़े। 'सरस्वति ! प्रेदमव' (१ । ७ । २) मन्त्रसे गाथा-गान करे। फिर वधूको आगे करके वर 'तुभ्यमग्रे' (ऋ० १०।८५।३८) मन्त्र पढ़कर अग्निकी प्रदक्षिणा करे।

फिर पूर्वकी भाँति लाजाहोम, पाणिग्रहण, प्रस्तरारोहण, गाथा-गान, परिक्रमा करे। तीन बार यह सब हो जावे। फिर कन्याका भ्राता अवशिष्ट सभी लाजाओंको बहिनको दे दे; और वह 'भगाय स्वाहा' मन्त्रसे अग्निमें स्वयं डाल दे। चौथी परिक्रमा चुपचाप हो; वर आगे रहे और वधू पीछे। फिर बैठ जायँ। वर प्रजापतिको आहुति दे। फिर—

'एकमिषे, द्वे ऊर्जे, त्रीणि रायस्पोषाय, चत्वारि मयोभवाय, पञ्च पशुभ्यो, षड् ऋतुभ्यः, सखे सप्तपदा'

(१ । ८ । १)

—इन सात मन्त्रोंसे वर-वधूको सात पाँव चलावे। यहीं वधू वरकी बायीं ओर बैठ जाय। कई विद्वान् चतुर्थ परिक्रमामें ही आसनविपर्यय कराते हैं। अब दृढपुरुषसे जलकलश लेकर उसे बैठा देवे। वर उसे आम्रपल्लवसे 'आपः शिवाः' (पार० १ । ८ । ३) 'आपोहिष्ठा' (यजुः ११ । ५०-५१-५२) मन्त्रसे अपनेको तथा वधूको अभिषिक्त करे। फिर वर वधूको—'तच्चक्षुर्देवहितं' (यजुः ३६ । २४) मन्त्र बोलकर सूर्यदर्शन कराता है, सायंको 'ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि' (पार० १ । ८ । १२) मन्त्र बुलवाकर वधूको ध्रुव-दर्शन करावे। फिर वर 'मम व्रते ते' (पार० २ । २ । १६) मन्त्र बोलकर वधूका हृदयालम्भन करे। फिर 'सुमङ्गलीरियं वधूः' (ऋ० १० । ८५ । ३३) मन्त्र पढ़कर वधूकी माँगमें सुवर्णसे माँग करे। चार सौभाग्यवती स्त्रियाँ उसे सौभाग्यका आशीर्वाद दें। फिर स्विष्टकृत् आहुति देकर वर ब्रह्माको पूर्णपात्रका दक्षिणासहित संकल्प दे। ब्रह्मग्रन्थि खोल दे। वर प्रणीताके जलसे कुशाद्वारा 'सुमित्रिया न आपः' (यजुः ६ । २२) मन्त्रसे अपने सिरको सींचे। 'दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु' मन्त्रसे प्रणीतापात्रको ईशान कोणमें उलटा कर दे। परिस्तरवाली कुशाओंको क्रमसे इकट्ठाकर घृताक्त करके 'देवागातु' (यजुः ८ । २१) मन्त्रसे अग्निमें हुत कर दे। फिर वर उठकर वधूसे स्पर्श करवाकर 'मूर्धानं दिवः' (यजुः ७ । २४) मन्त्रसे पूर्णाहुति दे। [जिनको आगे सदाके लिये अग्नि रखनी हो, वे पूर्णाहुति न करें, वही अग्नि अपने साथ अपने घर ले जायँ, कभी बुझने न दें। पक्षादिकर्म, दैनिक हवन आदि उसमें वानप्रस्थतक करते रहें। अन्त्यकर्ममें उसी अग्निमें पितृदैवत मन्त्रोंसे हवन करके उससे मृतकको जलावें। यदि वानप्रस्थसे संन्यास ले लिया हो तो विशिष्ट मन्त्रोंसे उस अग्निमें हवन करके फिर उसका विसर्जन कर दे, अग्निसहचरित पत्नीका भी। फिर अन्त्यकर्ममें संन्यासीको अग्निसम्बन्ध न होनेसे उसे जलाया नहीं जाता; या तो पृथ्वीमें आश्रय देकर उसकी समाधि बनायी जाती है या नदीमें प्रवाहित किया जाता है।] फिर 'वसोः पवित्रमसि'

* प्रजापतये, इन्द्राय। † अग्नये, सोमाय। ‡ भूः भुवः स्वः। § त्वन्नो, स त्वन्नो, अयाश्चाग्ने, ये ते शतं, उदुत्तमम्।

(यजुः १ । २) मन्त्रसे घृतधारा दे । 'त्र्यायुषम्' (यजुः ३ । ६२) मन्त्रसे यज्ञभस्म वर लगावे, वधूको भी दे; ललाट, ग्रीवा, दक्षिणस्कन्ध और हृदयमें लगावे । हुतशेष घृतका प्राशन करे । घृतमें मुखदर्शन करावे, तैल-माषका उतारा करवाकर 'स्वस्ति नः' (यजुः २५ । १९) मन्त्रसे वर-वधूपर जलसेचन करे । फिर वधूको वहाँसे उठाकर 'इह गावो निषीदन्तु' (पार० १ । ८ । ७) मन्त्रसे शुद्ध आसनपर बैठावे । फिर—

'अद्य कृतैतद्विवाहसंस्कारकर्मणि आचार्यकर्मप्रतिष्ठार्थमिदं सुवर्णं रजतं वा यथानामगोत्राय अमुकशर्मणे ब्राह्मणाय भवते दक्षिणां सम्प्रददे'

—यह संकल्प करके आचार्यको दक्षिणा दे । आचार्य—

'दम्पत्योरविच्छिन्ना प्रीतिरस्तु, वंशाभिवृद्धिरस्तु, सदा स्वस्त्यस्तु—'

इन अभिनव पति-पत्नीमें अविच्छिन्न प्रेम हो, इनके वंशकी वृद्धि हो, इनका सदा कल्याण हो, यह आशीर्वाद दें । स्त्रियाँ माङ्गलिक दोहे बोलें । वर-वधू एक वर्ष, या बारह रात्रि, अथवा छः रात्रि, अन्ततः तीन रात्रि अधःशायी और मैथुननिवृत्त रहें ।

चतुर्थी-कर्म

यह कर्म विवाहसे चतुर्थ दिन रात्रिके अन्तिम प्रहरमें करना पड़ता है । वर वैवाहिक अग्निको वधूके साथ उसके घरसे लाकर अपने घरमें स्थापित करे । दक्षिणमें ब्रह्माको बैठाकर अग्निके उत्तर प्रणीता और जलपात्र स्थापित करके भुने हुए चावलोंको दुग्धमें या स्थालीमें पकावे । फिर—

'ममास्याः पत्न्याः पूर्णपत्नीत्वसिद्धये विवाहाङ्गभूतकर्तव्यचतुर्थीकर्म करिष्ये ।'

—यह संकल्प करे । अग्निके फिर—

'अग्ने ! प्रायश्चित्ते' 'वायो ! प्रायश्चित्ते' 'सूर्य ! प्रायश्चित्ते' 'चन्द्र ! प्रायश्चित्ते' 'गन्धर्व ! प्रायश्चित्ते' (पार० १ । ११ । ३)

—इन मन्त्रोंसे पाँच आहुति दे । फिर स्थालीपाकसे 'प्रजापतये स्वाहा' मन्त्रसे आहुति दे । फिर व्याहृति होम, सर्वप्रायश्चित्त होम करके, हुतशेषका प्राशन करे । फिर 'याते पतिघ्नी' (१ । ११ । ४) मन्त्रसे पत्नीके मस्तकपर जल सींचे । फिर उस स्थालीपाकको—

'प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि, अस्थिभिस्ते अस्थीनि सन्दधामि, मांसैस्ते मांसानि सन्दधामि, त्वचा ते त्वचं सन्दधामि ।' (पार० १ । ११ । ५)

'तुम्हारे प्राणोंको प्राणशक्तिसे संयुक्त करता हूँ, तुम्हारी अस्थियोंको अस्थिसे संयुक्त करता हूँ, तुम्हारे मांसको मांससे संयुक्त करता हूँ, तुम्हारी त्वचाको त्वचासे संयोग करता हूँ ।' इन मन्त्रोंको पढ़कर चार बार थोड़ा-थोड़ा खिलावे । 'यत्ते सुसीमे' (पार० १ । ११ । ९) मन्त्रसे पत्नीके हृदयका स्पर्श करे । देव-विसर्जन करे । इस प्रकार चतुर्थीकर्मसे वधूको भार्या बनाकर ऋतुकालमें एवं गर्भकी योग्यतामें पूर्वोक्त प्रकारसे गर्भाधानादि-संस्कार करे । चतुर्थीकर्मसे पूर्वतक पत्नीमें मैथुन-धर्म नहीं हो सकता । आजकल समयानुसार इसमें अशक्यता देखकर चतुर्थीकर्म भी विवाहवाले दिन कर दिया जाता है ।

विवाहाग्नि-परिग्रह

वैवाहिक जो अग्नि लायी गयी थी, उसको विवाहसे पाँचवें दिन शुभ मुहूर्तमें अपने घरमें विधिपूर्वक स्थापन करे । इसीको आवसथ्याधान, या स्मार्त अग्न्याधान, या गृह्याग्निस्थापन, या विवाहाग्निपरिग्रह, औपासन अग्नि कहते हैं । इसीमें वैश्वदेवादि होम या भोजनार्थ पाक किया जाता है । इस दिन पहले देशकाल-कीर्तन करके संकल्प करे—

'अहमावसथ्याग्न्याधानं करिष्ये ।'

स्वस्तिवाचन करे, पत्नीको साथ बैठावे । कुण्ड बनाकर परिसमूहन, उपलेपन, उल्लेखन, उद्धरण, अभ्युक्षण—इन पञ्चभूसंस्कारोंको करके उसपर वैवाहिक अग्नि स्थापित करे । कुशकण्डिका करे ।

'प्रजापतये, इन्द्राय, अग्नये, सोमाय स्वाहा ।'

—इन आहुतियोंको करके 'त्वन्नो अग्ने' (यजुः २१ । ३) 'स त्वं नो अग्ने' (२१ । ४) 'इमं मे वरुण' (२१ । १) 'तत्त्वायामि' (२१ । २) 'ये ते शतं' (पा० १ । २ । ७) 'अयाश्चाग्ने' (१ । २ । ७) 'उदुत्तमं' (यजुः १२ । १२) 'भवतं नः' (यजुः ५ । ३) इन मन्त्रोंसे आहुति दे । फिर—

'अग्नये पवमानाय, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये, अदित्यै स्वाहा ।'

—ये आहुतियाँ दे । स्विष्टकृत् आहुति देकर 'अयास्याग्नेर्वषट्कृतं' (पार० १ । २ । १०) मन्त्रसे आहुति दे । फिर व्याहृति होम करके प्राजापत्य आहुति, बर्हिर्होम, संस्रव-

प्राशन, आचमन करके पवित्रेद्वारा सिरका मार्जन करके पवित्रेको अग्निमें छोड़ दे। अन्तमें ब्राह्मणभोजन करावे। इसी अग्निमें नित्य-नैमित्तिक होम करने चाहिये।

फिर श्रौताग्निका आधान करना पड़ता है। यजमान आचमन, प्राणायाम और संकल्प करके स्वस्ति पुण्याहवाचन, गणपति-मातृकादि-पूजन करके ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, अग्नीध्र इन ऋत्विजोंका वरण करे। फिर शिखाको छोड़कर केश, दाढ़ी और मूँछ आदिका मुण्डन कराना एवं नख कटवाना चाहिये। नवीन दो अरुण वस्त्र पहने, पत्नीको दक्षिणमें बैठावे। गार्हपत्य अग्निपर चावलोंको पकावे। उसमें तीन घृताक्त पीपलकी प्रादेशमात्र समिधाओंको क्रमसे 'समिधाग्निं दुवस्यत' (यजुः ३। १) 'सुसमिद्धाय शोचिषे' (यजुः ३। २) 'तं त्वा समिद्भिः'—'उपत्वाग्ने' (यजुः ३। ३। ४) मन्त्रोंसे अग्निमें डाले। चारों ऋत्विजोंको भोजन करावे। अग्निको सुरक्षित रक्खे, बुझने न दे। इसमें आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्निका आधान करना पड़ता है। प्रतिदिन प्रातः-सायं अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, नवान्नेष्टि, चातुर्मास्ययाग अपने-अपने समयमें करने पड़ते हैं। पूर्ण विवरण पं० श्रीभीमसेनजीकी 'षोडश संस्कारविधि'में देख लेना चाहिये।

१४ वानप्रस्थसंस्कार

गृहस्थ जब पौत्रवान् हो जाय, तब पचास वर्षकी अवस्थाके पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। उस समय उसका वेदोक्त विधिसे संस्कार होना चाहिये। अपनी अग्नि तथा पत्नीको भी साथ ले जाय। आजकल वनोंकी सुविधा न होनेसे यह आश्रम प्रचलित नहीं है। उस अग्निमें यथासमय हवन किया करे; इसमें आरण्यक ग्रन्थोंका मनन करे।

१५ संन्यास

इसका पचहत्तर वर्षके बाद क्रम है। इसमें अग्निको छोड़ देना पड़ता है। शिखाके बाल तथा यज्ञोपवीतको भी जलमें त्याग कर देना पड़ता है। गेरुए रंगकी कौपीन, उपवस्त्र एवं अंगोछा रक्खे। दण्ड धारण करके आहवनीयादि अग्नियोंका आत्मामें ही आरोपण करे। इसमें उपनिषदोंका मनन करे। विशेष विधि भारतधर्ममहामण्डलके स्वा० श्रीदयानन्दजीकी संन्यासपद्धतिमें देखनी चाहिये। इस आश्रमको कलिवर्जित माना गया है; क्योंकि इसके नियमपालन कठिन होते हैं। देवलके वचनसे इसका अपवाद भी मिलता है। इसमें विद्वान् उच्च ब्राह्मण ही अधिकारी हो सकता है—सर्वसाधारण नहीं। परमहंस संन्यासीका गृह्याग्नि आदिका त्याग होनेसे दाह भी नहीं होता। भूमिखनन या जलप्रवाह ही उसका अन्त्यकर्म होता है।

१६ अन्त्यकर्म—पितृमेध

इसकी विधि आश्वलायन वा अन्य गृह्यसूत्रोंके पितृमेध-सूत्रोंमें देखनी चाहिये। विशेष मन्त्रोंसे मृतककी गृह्याग्निमें हवन करके उस अग्निसे उसका दाह कर दिया जाता है। उस यज्ञके पात्रोंको मृतकके विशेष-विशेष अङ्गोंपर रखकर दाह कर दिया जाता है। फिर प्रतिदिनकी क्रिया—दशगात्र, सपिण्डान्न, एकोद्दिष्ट आदि उसके यथासमय किये जाते हैं जिससे मृतककी सद्गति हो। मृतककी अग्नि समाप्त हो जानेसे उसकी स्त्रीका फिर नवीन अग्निमें स्वतन्त्र अधिकार न होनेसे वह पुनर्विवाह भी नहीं कर सकती, जैसा कि कहा है—

'न ह्यस्या अपतित्वात् पुनरग्न्याधेयं विद्यते। विज्ञायते च—तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते।'*

(बोधायनीय पितृमेधसूत्र २। ४। ४)

परंतु मृतपत्नी पुरुष यदि अग्निका आधान करना चाहे तो उसे विवाह करना पड़ता है। जैसा कि—

'मृतपत्नीकः क्रतूनाहरिष्यन् जायामुपयम्य अग्नीनादध्यात्। विज्ञायते च—'तस्मादेको द्वे जाये विन्दते, 'तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दते।'† (२। ४। २)

यही बात मनुस्मृति (५। १६७-१६८)में भी कही है।

मरनेपर पुत्रादिको क्रियाकरणार्थ मुण्डन भी कराना पड़ता है। जैसे कि—

'एतस्मिन् काले अस्य [प्रेतस्य] अमात्याः [सहचारिणः पुत्रादयः] केशश्मश्रूणि वापयन्ते (मुण्डयन्ति) ये सन्निधाने भवन्ति।' (बोधायनीय पितृमेधसूत्र १। १२। ७)

इसी प्रकार आग्निवेश्यगृह्यसूत्र (३। ६। २) में भी कहा है—

---

* पतिहीना होनेसे उसका पुनः अग्निस्थापनमें अधिकार नहीं है, ऐसा ही ज्ञात होता है। इसीसे एक स्त्री दो पति नहीं कर सकती।

† जिसकी पत्नी मर गयी हो वह द्विज यज्ञ करनेका उद्देश्य रखकर दूसरी स्त्रीसे विवाह करके अग्निस्थापन करे। ऐसा ही जाना जाता है। इसीलिये एक पुरुष दो एवं बहुत-सी पत्नियोंसे विवाह कर सकता है।

श्रुतवता तु वक्तव्यमेवासन्निधानेऽपि—इति बोधायनस्य कल्पः।(१।१२।८)

'अथास्य भार्यामुपवेशयति' 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना।' (बोधा० पितृ० १।७।७; १।८।१)

—मृतककी पत्नीको मृतकके साथ सती होनेके उद्देश्यसे लिटाया जाता है। पर यदि वह बाल-बच्चोंके पोषणके उद्देश्यसे जीना चाहे, तो उसे वहाँसे उठा दे।

तां प्रतिहितः सव्ये (वामे) पाणौ अभिपाद्य उत्थापयति 'उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकम्।' (१।८।२)

—इससे यह भी प्रतीत होता है कि—सती-प्रथामें जोर-जुल्म नहीं होता था—यह स्त्रीकी इच्छापर निर्भर था।

मृतकके लिये अनुस्तरणी गौका दान भी आया है—

यद्यनुस्तरणीं नानुस्तरिष्यन्तो भवन्ति—उत्सृजेद् वा एनाम्, ब्राह्मणाय वा दद्यात्। 'दत्ता त्वेव श्रेयसे भवति।'

(बोधायनीयपितृमेध १।१०।२)

—यहाँपर अनुस्तरणी गौका छोड़ने आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणको दान श्रेष्ठ बताया है। सुवर्णका टुकड़ा भी मृतकके नेत्र या मुखमें रखना पड़ता है। पहले पुत्र अग्नि लगावे, फिर बन्धु। जलनेमें आधा समय बीतनेपर पुत्र मृतककी परिक्रमा करता है। फिर वहाँसे आकर स्नान-तर्पणादि करके सबलोग घर आते हैं।

यच्चात्र स्त्रिय आहुस्तत् कुर्वन्ति।

(बोधा० पितृ० १।१२।६)

—स्त्रियोंसे कहे आचार करने पड़ते हैं। 'यावज्जीवं प्रेतपत्नी' (१।१२।१०) स्त्रीको यावज्जीवन ब्रह्मचर्य रखना पड़ता है। चतुर्थ दिनकी क्रिया करके श्मशानमें अस्थिचयन करना पड़ता है। गोला बनाकर उसे गङ्गामें विसर्जन किया जाता है। यथासमय दशगात्र, सपिण्डनादि, एकोद्दिष्ट तथा धर्मशान्ति करके फिर श्राद्ध किया जाता है।

संवत्सरे संवत्सरे एतस्मिन्नहनि दद्यात्।

(१।२१।१८)

—शुद्धि दस दिनके बाद होती है। ब्राह्मणादिकी पूर्ण शुद्धि क्रमसे १२, १४, १५ दिनपर होती है। पितृमेध यज्ञोपवीतको बायें करके करना पड़ता है। पूर्ण विधि बोधायनीय पितृमेधसूत्रादिमें देखनी चाहिये।

आस्तिक और नास्तिकमें अन्तर

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

कोई भी बुद्धिमान् मानव शास्त्रके शब्दोंका वास्तविक अर्थ तथा उसके साथ रहनेवाले भाव और भावके अभ्यन्तर रहनेवाले रहस्यको जबतक नहीं समझ लेता है, तबतक उन शब्दोंके सहारे सत्यतक न पहुँचकर असत्यमें ही भ्रमित रहता है। आजके मानव-समाजमें जिस प्रकार त्याग, तप, ज्ञान, प्रेम और भक्ति आदि शब्दोंका बहुत ही संकुचित अर्थमें प्रयोग किया जा रहा है उसी प्रकार आस्तिक शब्दका भी संकीर्ण ही अर्थ प्रचलित है। प्रायः लोग आस्तिक उसको कहते हैं जो परमेश्वरको मानता है और न माननेवाला नास्तिक कहलाता है। जब ईश्वरके माननेवाले आस्तिकों और न माननेवाले नास्तिकोंके जीवनकी गति-विधिपर दृष्टिपात किया जाता है तो दोनों एक दिशामें चलते हुए लोभी, मोही, अभिमानी, कामी, क्रोधी, भयातुर, दुःखी और शोक-विलापसे ग्रस्त दीख पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो परमेश्वरको माननेवाले इस प्रकारके आस्तिकोंकी अपेक्षा नास्तिक अधिक श्रमी, संयमी, सदाचारी, कर्तव्य-परायण, दयालु, उदार और दानी दीख पड़ते हैं और आस्तिक आलसी, असंयमी, दुराचारी, कर्तव्यविमुख, कठोर और कृपण सिद्ध होते हैं।

विचार यह करना है कि वास्तवमें आस्तिक कौन है ? केवल सत्यके माननेवालेको आस्तिक किस प्रकार कहा जाय ? माना वह जाता है जो वर्तमान कालमें नहीं है; तो सत्य भी क्या कहीं नहीं है ? यदि सत्य सर्वकालमें है तो माना क्यों जाय ? सत्य तो जाननेकी वस्तु है। जो सर्वकालमें है, जिससे देश-काल-वस्तु प्रकाशित हैं उसे जो जानता है वही आस्तिक है। आस्तिक उस पूर्ण तत्त्वकी शरण लेता है जो पूर्ण है, जिसमें कोई अभाव नहीं है, जिसमें उत्पत्ति, विनाश

और जडताका दोष नहीं है और जिसमें देश-कालकी दूरी नहीं रहती है। आस्तिकको कहीं भी चिन्ता और भयके लिये स्थान नहीं है, वह दृश्य विनाशके पीछे नित्य अविनाशीका दर्शन करता है। चिन्ता, भय और शोक-विलाप तो नास्तिकके जीवनमें आते हैं। जिसे शाश्वत अविनाशी सत्यका अनुभव नहीं होता है वही विनाशी वस्तुका आश्रय लेनेसे उसके नाशकी आशङ्कासे चिन्तित, भयातुर और दुखी होता है। जिसे अखण्ड आनन्द और शाश्वत शान्तिका अनुभव होता है वह आस्तिक है; जो परिवर्तनशील वस्तु-व्यक्तिमें प्रतीत होनेवाले सुखमें आसक्त रहता है वह नास्तिक है। नास्तिक अनेककी उपासना करता है पर आस्तिक अनेकताके पीछे आधार-स्वरूप एक सत्यका उपासक होता है। जिसकी बुद्धि अन्तर्मुखी होकर सत्यदर्शी है वह आस्तिक है; जिसकी बुद्धि बहिर्मुखी होकर असत्यस्पर्शी है वह नास्तिक है।

दूसरोंसे सुन-सुनकर मनसे मान लेना नास्तिकता है, माने हुएको बुद्धिसे तत्त्वतः—स्वरूपसे—जान लेना आस्तिकता है। आस्तिक स्वतन्त्र शान्तिका अपनी चेतना-की गहराईमें निर्बाध अनुभव करता है, उसका सम्बन्ध नित्य वर्तमानसे रहता है; नास्तिक पराश्रित सुखका अपने-से बाहर जडत्वके संयोगसे आस्वादन करता है, उसका सम्बन्ध भविष्यसे रहता है। आस्तिक दोषोंका त्यागी होता है, सद्गुणोंका प्रेमी होता है। नास्तिक असत् सुखोंका रागी और तदनुसार प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर द्वेषी होता है। आस्तिकमें बुद्धि-दृष्टिकी प्रधानता होती है; नास्तिकमें इन्द्रिय-दृष्टिका पक्ष रहता है। नास्तिक इन्द्रिय-दृष्टिसे जिस दृश्यको सत्य मानता है, आस्तिक उसीको बुद्धि-दृष्टिसे असत्य जानता है। नास्तिकमें देहासक्ति प्रवल रहती है, माया-मान-भोगसुखकी प्राप्ति ही उसके जीवनका लक्ष्य होता है; आस्तिकमें आत्मानुरक्ति प्रधान होती है, त्याग और ज्ञानके द्वारा पूर्ण योग ही उसके जीवनकी पूर्णता है। जो संसारसे मिली वस्तु तथा व्यक्तिमें अपनत्व मानता है वही नास्तिक है; जो मिली हुई वस्तु अपनी न मानकर परमेश्वरकी जानता है वह आस्तिक है। मिली हुई वस्तु तथा व्यक्तिमें अपनत्व माननेसे ही लोभ, मोह, अभिमान आदि दोषोंकी पुष्टि होती है; इसीलिये नास्तिक अपने बनाये हुए दोषोंके कारण ही सुखके अन्तमें दुःख देखता है। आस्तिक अपने निर्दोष जीवनके कारण प्रत्येक परिस्थितिमें स्वस्थ और शान्त रहता है। नास्तिक वस्तु और व्यक्तिकी दासतामें आबद्ध रहता है, आस्तिक इससे मुक्त रहता है।

सेवा, सदाचार, इन्द्रिय-दमन, दान आदि सद्गुण नास्तिकमें भी पाये जाते हैं पर निरपेक्षता, समता, सत्य-निर्भरता, निःस्पृहता, निष्कामता, निर्वैरता, निर्मोहता आदि दैवी गुणोंकी विशेषता आस्तिक जीवनमें ही मिलती है। नास्तिक सीमित अहंता-ममतामें बद्ध रहता है, आस्तिक उनसे मुक्त रहता है। नास्तिक विविध सुखों और दुःखोंका भोग करता है; विषमताको प्राप्त होता है। आस्तिक सुख-दुःखका सदुपयोग करता है, उनके प्रकाशको देखते हुए सदा समस्थित रहता है।

सच्चा आस्तिक ही पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण भगवद्भक्त और असत्यसे विरक्त होता है। सत्यको, परमेश्वरको, परमानन्द परमात्माको मानने मात्रसे ही आस्तिकता पूर्ण नहीं होती है। यदि कोई अविनाशी परमेश्वरको सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् मानता हो और विनाशी वस्तु तथा व्यक्तिका आश्रय लेकर संयोगकी दासता और वियोगके भयसे कहीं सुखी और कहीं दुखी होता रहता हो तो वह आस्तिक नहीं सिद्ध होता है।

नास्तिक अनेक बार संयोगका अन्त वियोगमें देखता है, आस्तिक संयोगकी दासताका त्यागकर वियोगका अन्त योगमें देखता है। नास्तिक बार-बार सुखका अन्त दुःखमें देखता रहता है; आस्तिक सत्यका ज्ञान प्राप्त कर दुःखका अन्त नित्य आनन्दमें देखता है। नास्तिक बार-बार जीवनका अन्त मृत्युमें देखता है, पर आस्तिक नित्य जीवनको जानकर मृत्युका अन्त मुक्तिमें देखता है। सर्वाधार, महान्—परम तत्त्व परमात्माका योगी आस्तिक है; जगत्के परिवर्तनशील विनाशी नाम-रूपका संयोगी नास्तिक है।

शक्ति, सामर्थ्य और सफलता

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

मनुष्य शक्ति, सामर्थ्य और सफलताका सिपाही है, अज्ञान एवं मोहवश होकर अपने-आपको दीन, हीन, शक्तिविहीन समझता है। अपनी दैवी शक्तियोंको विस्मृतकर कायरका जीवन व्यतीत करना कितनी बड़ी मूर्खता है। दीनावस्थामें जन्म लिया, अभाव और दुःखोंमें पलते-पनपते रहे और विषादमय जीवन व्यतीत करते हुए मृत्युको प्राप्त हो गये—ऐसा जीवन किस अर्थ ? यह तो सृष्टिकर्ता आदिपिता परमात्माका अपमान है।

परमेश्वर चाहते हैं कि मनुष्य अपनी गुप्त शक्ति, अगाध सामर्थ्य और सफलताको पहचानें और सामर्थ्यवान् जीवन व्यतीत करें, प्रतिष्ठित रहें, निरन्तर समुन्नत रहें। हम सबके लिये परमेश्वरने यश, ऐश्वर्य, मान, प्रतिष्ठाका बृहत् भण्डार इस विश्वके कोने-कोनेमें संचित कर रक्खा है। इन्हें हम योग्यता, ईमानदारी एवं परिश्रमसे प्राप्त करते हैं।

हमारी शक्तियोंका गुप्त केन्द्र हमारा अन्तर्मन है। हमारा मन सागरमें तैरते हुए आइस वर्ग (बर्फका पर्वत) की तरह है। जिस प्रकार आइस वर्गका आठवाँ भाग ऊपर सतहपर और शेष जलमग्न रहता है; उसी प्रकार मनुष्यकी कुछ ही शक्तियोंका विकास हो पाता है। हमारे मनके सात भाग अविकसित, निश्चेष्ट और आलस्यमें ही पड़े रहते हैं। हमारे गुप्त मनमें मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्तियों एवं सामर्थ्योंका एक विशाल अंश विकासकी प्रतीक्षा और अवसर देखा करता है। हमारा गुप्त सामर्थ्य मनकी गुप्त कन्दराओंमें सुप्तावस्थामें निश्चेष्ट पड़ा जंग खाया करता है।

शक्ति और सामर्थ्यका गुप्त केन्द्र आपका गुप्त मन ही है। इसमें आपकी नाना गुप्त शक्तियाँ, योग्यताएँ और प्रतिभाएँ संचित रहती हैं। दूसरे शब्दोंमें हमारी चेतनताके गुप्त भागमें शक्तिका वह केन्द्र रहता है; जिसे अज्ञात चेतना (Sub-conscious and Unconscious) कहते हैं। इस केन्द्रस्थलमें अनेक मनोभाव, विचार, कल्पनाएँ और अनुभूतियाँ एकत्रित रहती हैं। हमारे संकल्प, अन्धविश्वास, भावनाएँ चुपचाप हमारे जाग्रत् जीवनके कार्य-व्यापारको क्षण-क्षण प्रभावित किया करते हैं। इस केन्द्रके स्वास्थ्य, समुचित विकास और संतुलनपर हमारी सफलता निर्भर है। अज्ञात चेतनासे कार्य लेनेवाला हमारा गुप्त मन जाग्रत् मनकी अपेक्षा अधिक सशक्त, जागरूक और सचेत है। तुच्छ-से-तुच्छ, हल्की-से-हल्की, छोटी-छोटी अनुभूतियाँ इसमें एकत्रित रहती हैं। दिन-रातके चौबीसों घंटे अन्तश्चेतनाका गुप्त व्यापार (Action) चला करता है। अज्ञात चेतनाका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

एक महात्माने अन्तश्चेतनाकी शक्ति और सामर्थ्यकी ओर संकेत करते हुए लिखा है, 'मेरे हृदयमें किसी अज्ञात देव-शक्तिका निवास है। वह मुझसे जैसा करवाता है, वैसा ही मैं करता हूँ।'

आपके लिये श्रेयस्कर यही है कि आप अपने गुप्त मनकी असंख्य शक्तियोंपर विश्वासकर जीवनमें प्रविष्ट हों। गुप्त मनसे ही शक्ति-सामर्थ्यका स्रोत फूट निकलेगा, हमारी व्यक्तिगत शक्तियोंका विकास होगा—ऐसा मानकर चलें। गुप्त मनके विकासका श्रेष्ठतम मनोवैज्ञानिक नियम सूचना या सजेश्चन (Suggestion and Auto-Suggestion) है। जो गुण, जो मानसिक, शारीरिक या बौद्धिक भावनात्मक शक्तियाँ आपको इष्ट हों, उन्हें दृढ़तापूर्वक गुप्त मनमें दुहराइये, चेतनाके स्तरपर रखिये, उन्हींमें रमण कीजिये। सूचनानुगामिता अर्थात् दिये हुए सजेश्चनोंके अनुसार

कार्य करना हमारे गुप्त मनका गुण है। संकेतोंकी दृढ़तासे पुनरावृत्ति कर आप स्वस्थ, विजयी, सामर्थ्यपूर्ण अन्तर्मनका निर्माण कर सकते हैं। अच्छी आत्मप्रेरणाएँ जब दृढ़तासे चेतनाके स्तरपर लायी जाती हैं, तब उनसे नवीन सामर्थ्योंका निर्माण होता है।

डा० गणपुलेका विचार है कि 'अन्तर्मनकी सूचनानुगामिताकी कोई सीमा नहीं है। इसी नींवपर मानसोपचारकी इमारत खड़ी की जा सकती है। अन्तर्मन यदि सूचनानुगामी न होता तो मानसोपचार शायद ही सम्भव हो सकता।' जो बात रोगोंके लिये सत्य है, वही शक्ति-सामर्थ्य-वृद्धिके लिये और भी सत्य है। यदि हम गुप्त मनको शक्ति-सामर्थ्यकी सूचनाओं (Suggestions) में ओतप्रोत रक्खें और दृढ़तापूर्वक उनमें विश्वास करें तो आन्तरिक शक्तिके केन्द्रको जाग्रत् कर सकते हैं। हमारे यहाँ कीर्तन, मनन, चिन्तन एवं अखण्ड जाप संकेत-विधियाँ ही हैं। अखण्ड-कीर्तन, पठन, भजन, पूजन इत्यादिसे हमारे गुप्त मनकी शुभ-सात्त्विक शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं। यदि हम अन्तर्मनको शक्ति-सामर्थ्यकी शुभ सूचनाएँ देना प्रारम्भ कर दें तो धीरे-धीरे वह उन्हें ग्रहण करने लगेगा और तदनुकूल उसका निर्माण हो जायगा। व्यक्तिमात्रको इसी महान् शक्तिकेन्द्रके शोधनद्वारा आन्तरिक सामर्थ्योंकी अभिवृद्धि करनी चाहिये।

विश्वास कीजिये, आपके भीतर ऐसी-ऐसी विशेषताएँ और गुप्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि उनके विकास एवं प्रदर्शनसे आप संसारको चमत्कृत कर सकते हैं। आपकी एक मौलिकता है, अपने व्यक्तित्वका अपना ही महत्त्व है। ये विशेषताएँ विशेषरूपसे आपको ही दी गयी हैं। अपनी रुचि, स्वभाव और चरित्रका अध्ययन कीजिये। अर्थात् अपनी विशेषता मालूम कीजिये—यही अग्रसर होनेकी आधार-शिला है। विश्वका प्रत्येक पुरुष, बालक, स्त्री, यहाँतक कि जानवरतक एक निजी विशेषता लेकर पृथ्वीतलपर आये हैं। परमेश्वरने अन्य शक्तियाँ तो सामान्यरूपमें ही प्रदान की हैं, किंतु प्रत्येक व्यक्तिमें एक विशिष्टता (Strong point), एक महत्ता, एक खास तत्त्व अन्य तत्त्वोंकी अपेक्षा तीव्रतर है। जब कोई मनुष्य अपनी इस विशेषताको जान जाता है और निरन्तर उसीके विकासमें अग्रसर होता है, तब उस विशेष दिशामें वह सर्वाधिक उत्कृष्टताका उपार्जन करता है। उच्चतम स्थान सदा रिक्त रहता है। योग्यतम व्यक्तिके लिये हमेशा गुंजाइश रहती है।

क्या आपने कभी अपनी विशेषताएँ, अपनी प्रतिभा (Talents) को जाननेकी चेष्टा की है? क्या आपने आत्म-निरीक्षण किया है? प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति अपने-आपको तर्ककी कसौटीपर कसकर इस महान् सत्यका साक्षात्कार करता है। आप व्यापक दृष्टिसे अपने व्यक्तित्व, गुणों और विशेषताओंका अध्ययन करें और अपने मुख्य गुणका विकास प्रारम्भ करें। आत्मनिरीक्षण वह साधन है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने चरित्रको समझनेका प्रयत्न कर सकता है।

आत्मनिरीक्षणमें शान्त चित्त और स्थिर बुद्धि रखिये। इससे नीर-क्षीर-विवेकमें सहायता प्राप्त होती है। आवेश, उद्वेग और जल्दबाजीमें फँसे हुए व्यक्ति प्रायः शान्तचित्त हो अपने व्यक्तित्वका अध्ययन नहीं कर पाते। वे नीर-क्षीर पृथक् करनेवाले विवेकसे उद्विग्न रहकर सहायता नहीं ले सकते। कुछ व्यक्ति विचारों या धर्म, मत इत्यादिकी संकीर्णता तथा पाण्डित्यके मिथ्या दम्भमें अपने आत्माको इतना जकड़ लेते हैं कि विवेकका सच्चा प्रकाश उनमें नहीं हो पाता। संकीर्णता, परदोषदर्शन, अहंकार, दम्भ उनके विवेकको पंगु कर देते हैं। ज्ञानका मुक्त प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। वाणी तेजहीन और निस्सार हो जाती है।

मानसिक आलस्य (अर्थात् पुराने जीर्ण-शीर्ण विश्वासोंमें आबद्ध रहना, दकियानूसी विचार रखना) की घृणित गुदड़ी उतार फेंको और सत्यके व्यापक रूपको अनुभव करनेके लिये विवेकद्वारा रूढ़ियोंसे ऊपर उठो । स्वयं अपनी ओरसे मौलिक विचारधारामें संलग्न हो जाओ । जो व्यक्ति अपनी ओरसे प्रत्येक विषय एवं परिस्थितिपर विचार कर सकता है, वह समस्याका हल अवश्य निकाल लेता है ।

आत्म-निरीक्षणसे मनका विकार दूर होता है और सत्यका प्रकाश प्रकट होता है । अपनी त्रुटियाँ ज्ञात होती हैं तथा सही मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये आत्मिक बल प्राप्त होता है ।

शान्तचित्त हो नेत्र मूँदकर किसी शान्त स्थानपर बैठ जाओ, शरीर और मनको शिथिल कर लो और सब सांसारिक विचारोंको हटाकर केवल 'आत्म-निरीक्षण' की भावनापर चित्त-वृत्तियोंको एकाग्र करो । एक-एक कर अपने सम्पूर्ण दिन, सप्ताह, मास, वर्ष, जीवनके कार्योंकी आलोचना करो । जो कार्य तुम्हारे आदर्शोंसे गिरें, उनके प्रति ग्लानि तथा जो कसौटीपर खरे उतरें, उनके प्रति संतोष प्रकट करो । इस अन्तर्दृष्टिसे मनमें हल्के कार्य स्वतः दूर होने लगेंगे और मन स्थायी महत्त्वके कार्योंमें ही रमण करेगा ।

उज्ज्वल भविष्यके लिये मनमें नयी-नयी कल्पनाओंके सुमधुर स्वप्न भरे-पूरे रखिये, 'मैं अपना जीवन सफल, सुखद, प्रेममय रक्खूँगा । मैं संसारमें आशा, उत्साह, बल, सुख, शान्तिकी अभिवृद्धि करूँगा । चित्रकारी, संगीत, काव्य, विद्याद्वारा संसारमें आनन्द उत्पन्न करूँगा । स्वयं मेरा तथा मेरे सम्पर्कमें आनेवाले अन्य व्यक्तियोंका जीवन सुख-शान्तिमय होगा ।' आदि विचार एवं प्रेरक कल्पनाएँ मनमें जाग्रत् रखनेसे हमारा गुप्त मन इन्हीं मानसिक दशाओंमें चलता है । वस्तुतः मानसिक समृद्धिके लिये ऐसी उत्तम प्रेरणाएँ अति आवश्यक हैं ।

ध्यानपूर्वक आत्म-ध्वनिको सुनते और तदनुसार कार्य करते चलिये । आत्म-ध्वनि पुष्ट, स्वस्थ और कल्याणकारी मार्ग-द्रष्टा है । उसका अनुसरण कर कार्य करनेसे अकल्याणकारी विचारों और दूषित कल्पनाओंसे मुक्ति प्राप्त होती है । सौ चक्षुओंवाले Argus की भाँति यह आवश्यक है कि आप मनकी प्रत्येक क्रियाका सूक्ष्म निरीक्षण करते और विरोधी घृणित विचारोंका तिरस्कार करते रहें । चित्तके प्रलोभनके साथ न प्रवाहित हो जायँ वरं उससे पृथक् होकर मनके द्रष्टा बनें । क्रमशः मनका व्यापार देखते-देखते और उसपर नियन्त्रण करते-करते आप तुरीयावस्थामें प्रविष्ट हो जायँगे । यही अभ्यास राजयोगकी सर्वोच्च समाधि है । जो साधक चित्तका निरीक्षण और नियन्त्रण कर मनोव्यापारको सही दिशामें रखनेका अभ्यास कर लेता है, उसने मानो साधनाकी पहली मंजिल पार कर ली है ।

जीवनमें किसी निश्चित उद्देश्यकी रचना कीजिये । यह पर्याप्त सोच-विचारका विषय है । अधूरे सोच-विचारका दुष्परिणाम उद्देश्यको पुनः-पुनः छोड़ना होता है । फिर साधक किसी भी दिशामें आगे नहीं बढ़ पाता । अतः मित्रोंसे, विशेषज्ञों तथा स्वयं अपने अन्तर्मनसे विचार-विमर्श कर अपने जीवनोद्देश्यका निर्णय कीजिये और फिर पूर्ण श्रद्धासे उसकी प्राप्तिमें संलग्न हो जाइये ।

श्रद्धा या आत्मविश्वास आपकी महत्त्वपूर्ण शक्ति है । जिन-जिन तत्त्वोंमें आपकी श्रद्धा है, वे आपको अवश्यमेव प्राप्त होनेवाले हैं । श्रद्धा आपकी सभी शक्तियोंके मूलमें रहनेवाली सार-स्वरूप है । प्रत्येक कार्य इसीके द्वारा सम्पन्न होना है । विश्वके सब सामर्थ्यवान् व्यक्ति इसी दिव्य शक्तिके बलपर जीवन-युद्धमें विजयी हुए हैं । यह आपके व्यक्तित्वमें पर्याप्त मात्रामें मौजूद है । इसे जाग्रत्भर करना है ।

'मैं निर्विघ्न आगे बढ़ सकता हूँ। शक्ति और सामर्थ्य मुझमें प्रचुरतासे विद्यमान हैं। मैं साधारण कार्योंमें अपनी मौलिकता प्रकट करता हूँ और पूरे जोरसे कार्य करता हूँ। सफलता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।'—जब मनुष्य इन संकेतोंमें पूर्ण विश्वाससे अग्रसर होता है, तब आत्मश्रद्धाकी दिव्य शक्ति उसमें धीरे-धीरे स्वतः प्रकट होती है।

विश्वास कीजिये कि आप शक्तिमान् हैं। विश्वास कीजिये कि अतुलित सामर्थ्योंका भंडार आपमें प्रचुरतासे भरा पड़ा है। विश्वास कीजिये कि आप जिस क्षेत्रमें चलेंगे, सफलता लेकर रहेंगे। विश्वास कीजिये कि आप अपनी सम्पूर्ण शक्ति एक ध्येयकी प्राप्तिमें एकाग्र कर देंगे। सच्चे धैर्य और लगनसे उसपर डटे रहेंगे। सत्य संकल्पसे अग्रसर होते रहेंगे। सत्यके प्रकाशमय रूपको देखेंगे। मनःशक्तिको अपनी शक्तियोंपर केन्द्रित रखनेसे आत्मश्रद्धाकी वृद्धि होती है।

जिस क्षण मनुष्यको अपनी शक्तियों, गुप्त सामर्थ्यों, गुप्त ज्ञानका विश्वास हो गया, उसी क्षणसे वह जीवन-जागृतिका एक नया पृष्ठ खोलता है। इस जागरण (Awakening) को सब धर्मोंसे उच्च समझिये। इसमें गहरी सत्यता निहित है। इस आत्मश्रद्धाके दिव्य बलको अनुभव कीजिये और अपने लक्ष्य, क्षेत्र या कार्यमें लगाइये। आपको नवीनता और सामर्थ्यका अनुभव होगा। स्मरण रखिये, श्रद्धा आपके आत्माका एक प्रमुख अंश है। मनुष्यकी सब सिद्धियाँ श्रद्धाके अनुपातमें ही प्राप्त होती हैं।

अनुभूत नियम है—'प्रत्येकको उसकी आत्मश्रद्धा, उसके आत्म-विश्वासके अनुसार ही प्राप्त होती है।'—यही महानियम मनोवाञ्छित वस्तु (सफलता) का निर्णय करता है। जितनी श्रद्धा, उतना बल-बुद्धि, शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त होता है।

हम निरन्तर इस असीम शक्तिमय जगत्में आत्मश्रद्धा-के अनुसार क्रीड़ा कर रहे हैं। हमारा जीवन-प्राण और सफलता हमें अपने विश्वासों और प्रयत्नोंके अनुसार प्राप्त हो रहा है। विघ्नोंके कारण जो आत्मश्रद्धा लुप्त हो चुकी है, उसे प्राप्त करनेमें सतत प्रयत्नशील रहिये। संक्षय, भय, कायरताका शिरश्छेद कीजिये। दृढ़ निश्चय, तीव्र इच्छा और प्रबल प्रयत्नद्वारा अपने गुप्त सामर्थ्यको प्रकट कीजिये। शक्ति, सामर्थ्य और सफलता आपकी होकर रहेंगी।

स्वयं-तम

कैसा गहन घोर अंधकार! हाथ पसारा नहीं सूझता।

पर इसमें क्या कुछ है?—जानना ही होगा। जाने बिना न तो चैन ही है, न चारा।

खूब सोच-सोचकर, समझ-समझकर, बुद्धि इसमें पैर धरती है, गहरेमें पैठती है और निष्फल लौट आती है।

'और भी गहरे जाऊँगी।' फूँक-फूँककर पैर धरती, पग-पगपर झिझकती बुद्धि अहंकारके स्वरमें स्वर मिलाकर कहती है।

कहती ही नहीं, करती भी है। अपने बूते भर गहरे जाती भी है; पर सदैव निष्फलता ही हाथ लगती है।

प्रयत्न-प्रवाह चालू है।

× × ×

एक दिन—

जाने कौन बिजली कौंध गयी।

अपना-पराया, मैं-तू भूल, सबकी मोह-ममता बिसार, डूबने-तिरनेकी चिन्ता छोड़, झिझकको परे फेंक, एक-चित्त हो, वह उस महासागरमें कूद ही तो पड़ी।

× × ×

खोजने गयी थी, स्वयं खो गयी।

पर खोकर पा गयी।

स्वयं-तम दिप-दिप दमक रहा था।

—श्रीहरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

भगत धन्ना जाट

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

पंजाबके एक गाँवमें एक जाट रहता था। उसके लड़के-का नाम था धनीराम, परंतु गाँववाले उसे 'धन्ना' नामसे पुकारने लगे। जब धन्ना बारह सालका हुआ, तब उसके पिता स्वर्ग पधार गये। माताके साथ वह घरमें अकेला रह गया।

एक दिन शामको कोई राहगीर पण्डित धन्नाकी चौपालमें ठहर गया। प्रातः उसने स्नान किया और शालग्राम-का पूजन किया। प्रसाद चढ़ाया। जब धन्नाको भी प्रसाद दिया तब वह बोला—'पिंडीजी मराज! अपने ठाकुरजी मुझे दिये जाओ।'

'क्यों?' आश्चर्यके साथ पण्डितने प्रश्न किया।

'आपकी तरह मैं भी पूजा किया करूँगा।' बालक बोला।

'अभी तुम बहुत छोटे हो।'

'छोटे लड़कोंकी पूजा, क्या ठाकुरजी मंजूर नहीं करते हैं?'

'नहीं, यह बात तो नहीं है। ध्रुव-प्रह्लाद भी लड़के थे। उनकी पूजा ठाकुरजीने खूब मंजूर की थी।'

'तब मुझे ठाकुरजी दिये जाओ। नहीं तो, आपको जाने नहीं दूँगा।' बालक धन्नाने हठ पकड़ ली। फिर—बाल-हठ तो प्रसिद्ध है।

पण्डितजीने विचार किया कि लड़का हठ नहीं छोड़ेगा। उधर अपने ठाकुरजीको वे दे नहीं सकते थे। कुछ सोच-विचार झोलेमे एक लंबा 'भँग-घुटना' निकाला जो काले पत्थरका बना हुआ था। सोचा कि यही देकर बला टालनी चाहिये। भँग-घोटनेके लिये हम कहींसे दूसरा 'भँग-घुटना' दो-चार आनेमें खरीद लेंगे।

'नहीं मानते हो तो लो।' कहकर पण्डितजीने वह काला भँग-घुटना धन्नाको पकड़ा दिया।

धन्ना बहुत खुश! बोला—'मेरे ठाकुरजी तुम्हारे ठाकुर-जीसे बहुत बड़े हैं!'

'हाँ—बड़े ठाकुरजी बड़ा फायदा पहुँचाते हैं।'

'इनकी पूजा कैसे करूँगा?'

'स्नान करके इनको भी स्नान कराना। पाँच फूल चढ़ाना। जब रोटी खाओ तब थाली इनके सामने रखकर कहना—'भगवान्! भोग लगाओ।' उसके बाद तुम भोजन करना।'

लड़केको झाँसा देकर पण्डितजी चले गये।

× × × ×

जब दोपहरी हुई तब धन्नाने खेतपरसे लौटकर स्नान किया। ठाकुरजीको उसने अपने कोठेके एक आलेमें रख दिया था—उनको भी स्नान कराया। पाँच फूल वह खेतों-परसे ले आया था। तबतक माताने उसे आवाज दी और थालीमें दो बाजरेके 'टिक्कड़' रख दिये। धन्ना थाली लेकर कोठरीमें पहुँचा। उसने उस भँग-घुटनाके सामने थाली रख दी। एक लोटा भरकर पानी रख दिया और कहा—'भगवान्! भोग लगाओ।' थोड़ी-थोड़ी देर बाद वह उठकर देखता कि थोड़ी-बहुत रोटी कम हुई या नहीं। मगर रोटी कम होनेका कारण तो कोई न था। जब भगवान्ने धन्नाकी बाजरेकी डबलरोटी (पनपथ) नहीं चक्खी, तब धन्ना आ गया जाट-पनेपर! पंजाबके जाट—यू० पी० के अहीर—एक ही बात है। धन्ना बोला—'जबतक तुम रोटी थोड़ी-बहुत न निगलोगे, तबतक मैं भी कुछ नहीं खाऊँगा।' उस दिन वह साफ रहा। दूसरे दिन भी रोटी लाया, परंतु भँग-घुटनेने रोटी नहीं खायी। धन्नाने भी नहीं खायी। इस प्रकार सात दिन गुजर गये। वह रोटी शामको धन्ना अपनी भैंसको खिला देता था। माता जानती थी कि कोठरीमें बैठकर वह रोटी खा लेता है।

आठवें दिन ज्यों ही थाली आयी, त्यों ही विष्णुभगवान् एक बालकका रूप बनाकर प्रकट हो गये। उन्होंने देखा कि धन्ना प्राण छोड़ देगा, परंतु हठ नहीं छोड़ेगा।

'वाह भगवान् वाह! पण्डितजीकी जुदाईका इतना सदमा गुजरा कि सात दिन कौर नहीं तोड़ा' धन्नाने कहा।

'नहीं धन्ना, मेरे सिरमें दर्द था।' कहकर भगवान् बाजरेके एक टिक्कड़से जुट गये।

भगवान्‌का स्वभाव है कि वे मूर्खपर प्रसन्न रहते हैं और पढ़े-लिखेसे साढ़े तीन कोस दूर। इसका कारण यह नहीं कि भगवान् भी मूर्ख हैं। बात यह है कि शिक्षित लोगोंके सिरपर तीन भूत सवार हो जाते हैं—(१) शङ्का, (२) तर्क और (३) आलोचना। वे तीनों भूत (१) भक्ति, (२) ज्ञान और (३) निश्चयको समीप नहीं आने देते। उधर भगवान् रहते ह—'दृढ़ विश्वास' के मन्दिरमें। तर्क और विश्वासमें वही सम्बन्ध है जो केलेके वृक्षमें और बबूल-के पेड़में। यानी—

'वे रस डोलें आपने—उनके फाटत अंग।'

× × × ×

जब भगवान्‌ने एक रोटी उड़ा दी, तब धन्ना बोला—'बस-बस-बस! एक रोटी मेरे लिये भी तो छोड़ो! मेरी माता इतनी गरीब है कि वह मुझे दो रोटीसे ज्यादा नहीं दे सकती।'

इतना कहकर मासूम लड़केने थाली अपनी तरफ खिसका ली।

पढ़े-लिखे लोग न तो 'मासूम' बन सकते हैं और न भगवान्‌को पा सकते हैं।

भगवान् बैठे थे—धन्ना रोटी खा रहा था।

पानी पीकर धन्नाने कहा—'अब क्यों बैठे हो! जाते क्यों नहीं? कल फिर इसी समय रोटी मिलेगी।'

'मैं तुमपर बहुत खुश हूँ—धन्ना! कुछ माँगो!' क्योंकि भगवान् 'मासूमिअत' पर आशिक हो जाते हैं। सरलताके सागरमें ही भगवान् शयन करते हैं!

कुछ सोच-समझकर धन्नाने कहा—'मैं अभी लड़का हूँ। खेतीके कामके लिये एक ऐसा नौकर दीजिये कि जो रोटी खानेके अलावा कुछ तनख्वाह न माँगे।'

'ऐसा नौकर तो मैं ही हो सकता हूँ।' मनमें भगवान्‌ने सोचा।

एक दिन राजा दशरथने भगवान्‌से कहा था—'मुझे आप-सा एक पुत्र चाहिये!' भगवान्‌ने सोचा—'मुझ-सा पुत्र तो मैं ही हूँ!'

एक दिन अहीर धन्ना जाटने भगवान्‌से कहा—'बिना तनख्वाहका नौकर चाहिये!' भगवान्‌ने सोचा—'मैं ही ऐसा स्वयं सेवक हूँ।'

धन्ना रास्ता देखता था कि भगवान् क्या उत्तर देते हैं। और भगवान्, माँगनेवालेके सामने 'तथास्तु' कहनेके अलावा, अगर कुछ मीन-मेख निकालने लगें, तो भगवान् कैसे? सर्वशक्तिमान् कैसे? वे बोले—'कल नौकर आ जायगा!'

यह कहकर वह अन्तर्हित हो गये।

× × × ×

पाँच साल बाद वही पण्डितजी फिर धन्नाकी चौपालमें आकर रातको ठहर गये। वे अपनी यजमानीमें घूमा करते थे।

प्रातः पण्डितजीने देखा कि वही लड़का घरमेंसे निकला कि जिसे वे भँग-घुटना थमा गये थे।

अब वह सतरह वर्षका नवयुवक था।

धन्नाने भी पण्डितजीको देखा। वह लपककर पण्डितजीके चरणोंमें दण्डवत् हो गया! बोला—'वाह गुरुजी! पाँच साल बाद दर्शन दिये?'

हाथ पकड़कर पण्डितजीने सामने बैठा दिया। बोले—'कहो बच्चा, मौजमें रहे?'

'खूब गुरुजी—बड़ी मौज है! आप जब पहले आये थे तब हम गरीब थे। आपको एक मुट्ठी चावल न दे सके थे। केवल एक बार चार रोटियाँ बनती थीं। दो मेरे लिये—दो माताके लिये।'

'और अब?'

'वह सामनेवाली तीन मंजिला कोठी मेरी है! कोठीके सामने पक्का तालाब देखते हो, जिसमें कमलका वन खड़ा लहराता है। तालके उत्तरी किनारेपर मन्दिर है। उसीमें वे भगवान् बैठे हैं जो आप मुझे दे गये थे।'

'तो यह सब हुआ कैसे?'

'रुपया, पैसा, नाज, पानी, दूध, दहीकी नदियाँ बह रही हैं।'

'आखिर कैसे?'

'उस समय पाँच बीघा बंजर जमीन थी। अब पचास बीघा दुमट और कछियाना जमीनका मालिक हूँ।'

'मगर यह सब हुआ कैसे?'

'पाँच भैंसें, ११६ गायें! १ घोड़ी थानपर बँधी पिछाड़ी पटका करती है!'

'आखिर यह छप्पर फटा कैसे ?'

'आपकी कृपासे गुरुदेव !' कहकर धन्नाने चरण पकड़ लिये ।

'अगर मेरे पास कृपा होती तो मैं अपने ही ऊपर न कृपा कर लेता ?'

'आपने जो ठाकुरजी दिये थे न ! उन्होंने मेरी डूबती नैया किनारेसे लगा दी ।'

'कैसे क्या हुआ ? सब सही-सही समाचार सुना जाओ ।'

'आप जो ठाकुरजी दे गये थे वे सात दिन आपकी जुदाईमें इतने 'गमगीन' रहे कि एक 'लुकमा' भी न तोड़ा। मैंने भी कुछ न खाया । खाता कैसे ? आपने कहा था कि 'भगवान्‌को खिलाकर खाना !'

'हाँ—वह भी भगवान्‌हीकी एक मूर्ति थी ! मैंने पहचाना नहीं !' पण्डितजीका तर्क हवा खाने चला गया । विश्वासका समीर शरीरमें आ लगा ।

'तो गुरुजी—आठवें दिन भगवान् आये । एक 'पनपथ' खा गये । न जानें कितने दिनोंके भूखे थे वे ! मैं रोक न देता तो दूसरा टिक्कड़ भी बचता नहीं ।'

'क्या सचमुच कोई आया था रे ?' पण्डितका गला शङ्का-सुरने आ दबाया ।

'आया था ? वह कहीं गये नहीं !'

'कहाँ हैं ?'

'खेतोंपर काम करते हैं !'

'काम करते हैं ?'

'नौकर बनकर—भगवना नाम है !'

'भगवना ? नौकर ? क्या भाँग पीकर बैठा है ?'

'गुरुजी ! तुमको दिनमें भी नहीं सूझता है क्या ? उसी भगवनाने पाँच सालमें मुझे राजा बना दिया है ।'

'कहींसे धन लाकर दे दिया था ?'

'नहीं जी—खेतीकी विद्यामें वह मिडिल पास है ! अब जान लिया कि पृथ्वी ही सोना उगलती है !'

'अच्छा तो मुझे भी दिखलाओ । आज मैं कहीं न जाऊँगा । तुम्हारे भगवनाको देखूँगा !' पण्डितजीने आसन बाँध लिया था, उसे खोल डाला ।

'क्यों रे धन्ना ! तू मखौल तो नहीं कर रहा है ?' पण्डितजी बोले । शङ्का, तर्क और आलोचनाके तीनों भूत पण्डितजीसे चिपक गये !

'आप नहीं मानते हैं तो चले जाओ कूएँपर—वह चरसा चला रहा होगा ।' धन्नाने कहा ।

नंगे पैर पण्डितजी भागे । गाँवके बाहर जाकर देखा कि कुएँपर 'पुर' जरूर चल रहा है परंतु न तो कोई बैलोंको हाँक रहा है और न कोई पानी भरा चरसा थाम रहा है। दिखलायी कोई न पड़ा । मगर काम दोनों हो रहे हैं। मानो दो अदृश्य व्यक्ति अपने-अपने काममें तन्मय हैं ! बड़ी देरतक अलग खड़े-खड़े पण्डितजी अपने तीनों भूतोंसे पूछते रहे कि कौन-से साइंससे यह सम्भव है ?

वापस लौटकर पण्डितजीने धन्नासे कहा—'कुएँपर कोई आदमी नहीं है !'

'तो वह कोल्हूके लिये झाँकर इकट्ठे करने जंगल गया होगा ।'

'क्या रसवाला कोल्हू ?'

'हाँ गुरुजी ! वहाँ जाइये । खूब तनकर रस पीजिये । गरमा-गरम मिठाई इतनी अच्छी लगती है कि शहरकी बरफी क्या चीज ? कोल्हूवालोंसे पूछना कि भगवना कहाँ है ?'

खोजते-खोजते पण्डितजी जंगलमें गये । देखा कि उड़-उड़कर झाँखर अपने आप एक जगह जमा हुए और फिर वे अपने-आप कोल्हूकी तरफ उड़ चले ।

पण्डितजीने अपने तीनों भूतोंसे पूछा—'यह घटना कौन-से साइंससे सम्भव हो सकती है !'

वापस आकर पण्डितजीने धन्नासे कहा—'वह न तो कोल्हूपर है और न जंगलमें है !'

'तो जरूर हल चला रहा होगा । गाँवके दक्षिणमें १०० कदमके फासलेपर एक खेत गेहूँके लिये तैयार हो रहा है । वहीं चले जाइये ।'

पण्डितजी खेतपर दौड़े गये । देखा कि हल जरूर चल रहा है, मगर हलवाहा कहीं कोई दिखलायी नहीं पड़ता ।

घबराकर पण्डितजीके तीनों भूत भाग गये ।

वापस आकर पण्डितजीने धन्नाके चरण पकड़ लिये ।

'अरे गुरुजी ! यह क्या करते हो ?' धन्ना बोला ।

'मैं गुरु नहीं हूँ—गोरू हूँ । गुरु तो तुम हो धन्ना

भगत ! कि जिसकी चाकरी भगवान् अनेक रूप धारण करके कर रहे हैं । जिसकी खेतीमें इस प्रकारका तूफानी काम होगा, वह पाँच सालमें अवश्य राजा हो जायगा, और दस सालमें तो महाराजा बन जायगा ! मुझे भी भगवान्के दर्शन करा दो—धन्ना !'

'तो क्या आपको आजतक भगवान्का दर्शन हुआ ही नहीं ?'

'नहीं भगतजी ! सात जन्ममें नहीं हुआ !'

'तो क्या आप भोग नहीं लगाते थे ?'

'भोग तो लगाता था—पर वे खाते-पीते कुछ न थे !'

'जबतक वे न खाते—आप भी न खाते !'

'यही तत्त्व तो इस खोपड़ीमें नहीं उतरा था—भगतजी !'

'वह रातको दस बजे खेतीपरसे यहाँ आता है । दो रोटी खाकर सो जाता है । सुबह चार बजे फिर 'हार' में पहुँच जाता है । मैं आज तुम्हारी बात कहूँगा ।' गुरु गुड़ ही रहे चेला शक्कर हो गया था ।

'जरूर दर्शन देनेकी प्रार्थना करना !' पण्डितजीने कहा ।

× × × ×

'भगवान् ! आज मेरे गुरुजी आये हैं !' धन्नाने रातमें कहा—

'हूँ !' भगवान्ने लापरवाहीसे कहा ।

'वे तुम्हारा दर्शन करना चाहते हैं ।'

'उसे दर्शन नहीं हो सकते !'

'कब दर्शन दोगे उनको ?'

'कभी नहीं !'

'क्यों ?'

'क्योंकि वह विद्वान् है !'

'तुम विद्वान्पर नाराज रहते हो ?'

'विद्वान्को देखकर मेरा दो तोला खून सूख जाता है ।'

'क्यों ?'

'अगर-मगर-लेकिनके मारे !'

'अगर उसने भी रोटी खाना छोड़ दिया तो ?'

भगवान् हँसे । कहने लगे—'उसका नाम कालीचरन पण्डित है । उसका नाम धन्ना जाट नहीं है !'

'तो क्या पढ़-लिखकर आदमी पागल हो जाता है ?'

'ऐसा पागल कि जो अपनेको पागल नहीं समझता । लाइलाज पागल हो जाता है ।'

'अच्छा हुआ कि मैंने कभी मदरसेका मुँह नहीं देखा !'

'मदरसाका मुँह देखते तो मेरा मुँह न देखते ।'

'अगर तुम उसे दर्शन न दोगे तो मैं भोजन करना छोड़ दूँगा ।'

'क्यों ?'

'गुरु होकर मेरे चरण पकड़ लिये और दर्शन पानेके लिये बार-बार आग्रह किया । मेरा वचन खाली जायगा !'

'तुम्हारी खुशीके लिये—एक सेकण्डके लिये दर्शन दूँगा । परंतु बात नहीं करूँगा । कह देना—कल आधी रातपर दर्शन होगा ।'

प्रातः धन्नाने पण्डितजीसे कह दिया कि आधी रातको आज भगवान् दर्शन देंगे ।

पण्डितजी आधी राततक बैठे रहे । जाड़ेके दिन थे । एक कमरेमें द्वार बंद करके—पण्डितजी कम्बल ओढ़े बैठे थे । आधी रात हुई ।

पण्डितजीने देखा—गदा, पद्म, शङ्ख, चक्र धारण किये चतुर्भुज विष्णु भगवान् सामने खड़े हैं ।

पण्डितजीने हाथ जोड़ प्रणाम किया ।

सिर उठाया तो भगवान् अन्तर्हित हो चुके थे ।

प्रातःकाल हुआ, धन्ना घरसे बाहर आया ।

धन्ना गुरुजीके चरण पकड़ रहा था और गुरुजी चेलाके चरण पकड़नेकी धुनमें थे !

बोलो भगवान् और उनके भगतकी जय !

अश्रद्धयापि यन्नाम्नि कीर्तितेऽथ स्मृतेऽपि वा । विमुक्तः पातकैर्मर्त्यो लभते पदमव्ययम् ॥
संसारघोरकान्तारदावाग्निर्मधुसूदनः । स्मरतां सर्वपापानि नाशयत्याशु सत्तमः ॥

जिनके नामका अश्रद्धासे भी कीर्तन या स्मरण कर लेनेपर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो अव्यय पद पा लेता है, वे संसाररूपी घोर जंगलको जलानेके लिये दावानलरूप सत्पुरुषशिरोमणि भगवान् मधुसूदन अपना चिन्तन करनेवाले भक्तोंके सारे पाप शीघ्र नष्ट कर देते हैं ।

श्रीराधेजीकी आरती

(रचयिता—श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी, साहित्य-मनीषी)

वामाङ्गसहिता देवी (श्री) राधा वृन्दावनेश्वरी ।
सुन्दरी नागरी गौरी (श्री) कृष्णहृद्भृङ्गमञ्जरी ॥

श्रीगोपीजनवल्लभ लीलाचूडामणि व्रजविहारी श्रीकृष्ण आज सावन मनभावनकी हरित छटामें विचरण करनेके हेतु श्रीकदम्बके तले विराजे हुए हैं । वामाङ्गमें श्रीवृन्दावनाधीश्वरी देवी श्रीराधाजी विराजमाना हैं । यही श्रीजी सर्वेश्वरी गौरीरूपमें सुन्दरताकी उद्गम नागरी हैं और अखिल-सर्वेश्वर सचराचर-जगत्-माधुर्य एवं ऐश्वर्यके अधिष्ठाता श्रीश्यामसुन्दर आनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्रीकृष्ण-चन्द्रके हृदयरूपी भौंरेके लिये अभीष्ट मञ्जरी हैं ।

समीपमें चारों ओर हरियाली अपने विविध रूपोंमें रसोंके उद्रेकसे प्रस्फुटित है । श्रीनन्दनन्दनके सिरके आभूषण मोरपच्छको फैलाये हुए मयूरका मधुर नृत्य देखते ही बन रहा है । मयूरके लिये मेघकी श्यामता नील-नीरधर-आभा अपनी पराकाष्ठाको पहुँच चुकी है । श्रीश्यामसुन्दर श्याम-घनरूपमें मयूरके हृदयको प्रफुल्लित कर उसके चपल चरणोंको नृत्यमें जुटाये हुए हैं । कलकल-निनादिनी कालिन्दीजी मन्दगतिसे प्रवाहित हैं । मधुर खग-रव बरवस कर्ण-गुहाद्वारा अन्तरतममें प्रवेश कर रहा है ।

हरित निकुञ्जमें रेशमी डोरीपर प्रेमोन्मादिनी लताओंको लपेटकर मञ्जुल बेलोंका झूला बनाया गया है, जिसमें विविध प्रकारके पुष्पोंसे सज्जित सुमनोहर सुकोमल शय्यापर युगल सरकार विराजमान हैं । बायीं भुजा श्रीराधाजीके कण्ठमें पसरी है, दायीं भुजामें शोभित मुरली अधरोंपर जा टिकी है । मोरपच्छ इस मुद्रामें एक ओरको लटका है । मस्तकपर गोरोचन तिलक है । घुँघुराली अलक-लटोंसे कर्णपुटी सुमण्डित है । श्यामसुन्दर तिरछी चितवनसे श्रीजीको निहार रहे हैं ।

मुरलीकी मन्द-मन्द ध्वनिमें, जैसे ही मुरलीमनोहरने श्रीराधे-महानादका मधुर राग अलापना प्रारम्भ किया, वैसे ही माधुर्य-रस-सरोवर अपनी उत्ताल तरंगोंसे श्रीवृन्दावनको आप्लावित करने लगा । वंशी-नादसे निःसृत स्वर सृष्टिमण्डलपर छा गया । लता-पताओंने झूम-झूमकर श्रीराधेके स्वरको झुलाया । ताल, मृदङ्ग, डफ और ग्वालिनोंके नूपुर तथा कटि-भूषणके घुँघुरू—सभी अपनी-अपनी मधुर झंकारसे श्रीराधे-श्रीराधे गान करने लगे ।

श्रीवृन्दाके जलसे अभिषिञ्चित रसाकी सुगन्ध तथा कदम्बके पुष्पोंका पराग भक्तोंके मन-भ्रमरोंको मुग्ध किये हुए हैं । ललिता-विशाखा आदि सखियाँ आज पूजोपचार लिये हुए ठगी-सी रह गयी हैं । दोनों वन-मालाओंको श्रीप्रिया-प्रियतमके गलोंमें पहिनाना विस्मृत हो गया । उन्मत्त होकर एक वनमाला दाहिने हाथसे डालकर दायें कंधेपर तथा दूसरी बायें हाथसे बायें कंधेपर डाल ली और दोनों हाथोंकी ताली दे-देकर मधुरस्वरसे राधे-राधे गाने लगी । आरती आज जगायी नहीं । आज कर्पूरकी बिना जगी आरतीका थाल ही श्रीराधे-राधेके स्वरमें युगल सरकारके सामने परिक्रमा दे रहा है ।

आज आरती जगाये कौन ? और आरती जगे भी कैसे ? नित्यप्रति जल-जलकर आरती आज अपने चिरपोषित मनोरथको प्राप्तकर शान्तिसागरमें डूब गयी है । आज वह चिरमिलषित शीतलताको प्राप्तकर परा शान्ति लाभ कर चुकी है । कोई आरत ही नहीं है, सब श्रीराधे-राधे गा-गाकर अपार आनन्दसाम्बुधिमें निमग्न हैं । आरतिहर-आरतीने अपना प्रसाद आज दे दिया है । प्रसादकी प्रसन्नता कण-कणमें बिखरी है ।

श्रीवृन्दावनमें चारों दिशाओंसे एक ही गूँज है। जो जहाँ जिस अवस्थामें है, उसीमें वह इस महानादमें तन्मय हो उठा और गुन-गुनाने लगा है—

आरती श्रीराधेजीकी, जीवन-मूरि कृष्णजीकी ॥
कुञ्ज नव सोहत कुसुमासन, विटप वंशीवट वृन्दावन,
उदित लख कोटिकोटि मुख चन्द, थाक्यो परयो शरद शशि मन्द,
भावनी सुषमा मृदु मुसकान, हस्त दे रह्यो अभय वरदान,
चन्द्रिका चटक, बिन्दुकी छिटक, दृगनमें अटक,
शाटिका नीली श्रीजीकी, जीवन-मूरि कृष्णजीकी ॥
शैलजा, लक्ष्मी, ब्रह्माणी, सकल सेवहिं राधा रानी,
भानुनन्दिनि जय श्रीराधा, वेग हर सारी भव-बाधा,
हृदयमें दीजै प्रेम अगाध, लागै लक्षित भाव समाध,
अनूठी झलक, भवँर-सी अलक, पाँख-सी पलक,
कृपा है कीर्ति-कुँवरिजीकी, जीवन-मूरि कृष्णजीकी ॥
राधा राधा राधा नाम, तारन पातन है व्रजधाम,
नवल वृन्दावन रजधानी, ऋद्धि सिधि भरती हैं पानी,
वृजेश्वरि सुधि जनकी लीजै, चाकरी परिकरकी दीजै,
नाव मझधार, तुम्हीं पतवार, लगा दो पार,
निवारहु त्रिगुण ग्रंथि हीकी, जीवन-मूरि कृष्णजीकी ॥
आरती श्रीराधेजीकी, जीवन-मूरि कृष्णजीकी ॥
बोलो प्रेमसे श्रीराधे, श्रीराधे, श्रीराधे.........

राम-तरंग

(महात्मा श्रीजय गौरीशङ्कर सीतारामजी)

१—अपनेको सबसे श्रेष्ठ मानना, ऊँचा समझना, बुद्धिमान् बनना बहुत नीचा भाव है। किसीका उपकार करना, भलाई करना, किसीको मदद देना बहुत अच्छा कर्म है; पर उसका बदला चाहना, अहसान चाहना महानीच कर्म है, इससे ईश्वर कभी नहीं मिल सकते। अन्तमें नीचे गिरना पड़ता है। दूसरेके किये हुए उपकार और मृत्युको बराबर याद रक्खो। दूसरेकी की हुई बुराई और अपना किया हुआ उपकार और अच्छा किया हुआ कर्म भूल जाओ। नेकी कर दरियामें डाल दो।

२—दुनिया जिसको नीचा समझती है और अपमान करती है, भगवान् उसीको सबसे ऊँचा बनाते हैं और ऊँचेको नीचा करके घमंड तोड़ देते हैं।

३—मैले मनके पाँच लक्षण हैं—प्रथम राम-भजनसे विमुख रहे, दूसरा रामकी और भक्तोंकी निंदा करे, तीसरा माया और मायाके पदार्थको सत्य जाने, चौथा राम-कथा और राम-नामको भूल जाय और पाँचवाँ सांसारिक पुरुषोंकी चर्चा प्रिय लगे।

४—इस क्षणभङ्गुर संसारमें श्रीसीता-रामसम्बन्धी कहलाना, भेष बनाकर साधु-महात्मा कहलाना, संसारमें पुजवाना सहज है, पर रामका सच्चा भक्त होना बहुत कठिन है। जो हर्ष-शोकमें, हानि-लाभमें समबुद्धि रहता है, मान-अपमान, यश-अपयशमें जो समबुद्धि रहता है वही सच्चा संत है।

५—प्रेमकी मर्यादा संत-महात्मा रखते हैं, सांसारिक मनुष्य प्रेमकी मर्यादा बिगाड़कर अपना अपमान कराते हैं। अन्तमें ठोकर खाते हैं।

६—रामजीमें और जीवमें पाँच परदे हैं। पहला आलस्य, दूसरा कुटुम्बका मोह, तीसरा विषयकी प्रीति, चौथा अभिमान और पाँचवाँ विश्वकी ममता। ये पाँचों परदे दूर हों, तब रामजीसे भेंट हो।

७—रामभक्तोंके पहचाननेके पाँच चिह्न हैं। १—जो चीज खाय बाँटकर खाय, २—सच्ची दीनता, ३—प्रसन्नचित्तता, ४—अचिन्त्यवृत्ति, ५—सदा हरि-यशका कथन।

८—जिज्ञासुओंके तीन लक्षण उत्तम हैं—सहनशीलता भूमिकी तरह, उदारता नदीकी तरह, दयालुता मेघकी तरह। तब रामका दर्शन पानेका मनुष्य अधिकारी हो सकता है।

९—संसारमें मायाका वृक्ष स्त्री है। स्त्रीसे भिन्न पदार्थ शाखा है, पेड़के गहे सब शाखा प्राप्त होती है, पेड़ विना शाखा सूख जाती है।

१०—जैसे अंधेका आटा श्वान खा जाता है, उसको पता भी नहीं चलता, वैसे ही दम्भी मनुष्योंके शुभ कर्म अहंकार खा जाता है। वह पीछे पछताकर रह जाता है।

११—धर्मशालामें रहना तो अधिकार कैसा? अपना खाना तो दीनता कैसी? अपनेको सुधारा नहीं तो बुद्धिमानी कैसी? मर जाना तो चिन्ता कैसी? भगवान् नहीं मिले तो भक्ति कैसी?

१२—यदि भगवान्‌का भजन नहीं करते हो तो उनका दिया हुआ भोजन मत करो। भगवान्‌से संतोष नहीं है, भगवान्‌की करनीपर, भगवान्‌की कृपापर विश्वास नहीं है तो दूसरा कोई उदार चित्तवाला स्वामी मिले तो ढूँढ़ लो। भगवान्‌की आज्ञा पालन नहीं करते और प्रतिकूल चलते हो तो उनके राज्यमें उनके देशमें मत रहो, बाहर चले जाओ। अगर पाप करना न छोड़ सको तो वहाँ जाकर करो, जहाँ भगवान् देख न सकें।

१३—हमको इन सात बातोंपर बहुत अफसोस होता है—१—मनुष्य जानता है कि एक दिन मरना जरूरी है फिर भी भगवान्‌को भूलकर निश्चिन्त बैठा हुआ है और पाप कमा रहा है। २—उस मनुष्यपर अफसोस होता है जो कि मायाको झूठी तथा दुःखदायिनी जानता है फिर भी उसीका भरोसा करता है। ३—उस नीच मूर्खपर अफसोस होता है जो सब काम प्रभुके इच्छानुकूल होते हैं तब भी वृथा चिन्तित हो श्रीरामजीको भुला देता है। ४—उस मनुष्यपर अफसोस होता है जो देखता और जानता है कि भगवान् चारों तरफ हैं, हृदयमें हैं, पासमें ही हैं तो भी पाप करनेसे बाज नहीं आता। ५—उस अधम नरपर अफसोस होता है जो नरककी आगकी गरमीको अच्छी तरह जानता है तो भी पाप करनेसे डरता नहीं, करता ही चला जाता है। ६—उस मनुष्यपर अफसोस होता है जो भगवान्‌के भजनको अक्षय सुख जानकर भी भजन नहीं करता। और ७—उस मनुष्यपर अफसोस होता है जो भगवान्‌को संसारका स्वामी जानकर भी दूसरोंसे प्रेम और स्नेह करता है।

१४—इन छः स्थानोंमें जो संसारी बातें या पापकी बातें करता है उसका तीन वर्षका किया हुआ सुकर्म नष्ट हो जाता है। १—भगवान्‌के मन्दिरमें, २—श्मशान-में, ३—मृतकके निकट, ४—आधीरातमें, ५—संत-महात्माके समीप, ६—भजन-स्मरणमें, भगवान्‌की कथामें, इन सब जगहोंपर शुद्ध चित्त हो सावधानीसे रहना चाहिये।

१५—कैसा ही बुद्धिमान् पुरुष हो, तीन जगहपर मूर्ख बन जाता है—१—सुन्दर तरुण स्त्रीके समीप जो धर्मको काटनेके लिये तीक्ष्ण तलवार है, २—शराब-नशा जो जिन्दगीको नष्ट कर डालता है, ३—धनका लालच और प्रीति जिससे मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा वह क्या-क्या अनर्थ न कर डालता है।

१६—मनुष्यके शरीरमें पाँच अनमोल रत्न हैं और उसके पाँच शत्रु हैं १—धर्म और उसका शत्रु झूठ, २—बुद्धि और उसका शत्रु क्रोध, ३—संतोष और उसका शत्रु लोभ, ४—विद्या और उसका शत्रु अभिमान और ५ उदारता और उसका शत्रु पछतावा।

वेदमार्गबहिष्टानां जनानां पापकर्मणाम्। मनःशुद्धिविहीनानां हरिनामैव निष्कृतिः॥

वेदमार्गसे बहिष्कृत, मनकी शुद्धिसे रहित पाप-कर्ममें लगे हुए मनुष्योंका निस्तार हरिनामसे ही हो जाता है।

कामके पत्र

(१)

दूसरेसे सुखकी आशा करनेसे दुःख ही मिलता है

प्रिय भाई! सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। उत्तर लिखनेमें कुछ देर हो गयी सो कुछ विचार मत करना। मनुष्यके दुःखका प्रधान कारण है किसी वस्तु, स्थिति, व्यक्ति, अवस्था आदिसे सुखकी आशा करना। उनमें न कभी सुख है और न वे सुख दे सकेंगे। भगवान्‌ने खुले शब्दोंमें इन सबको 'दुःखालय' बताया है। जो इस उधारके सुखकी आशा करता है, उसको नित्य निराश ही होना पड़ता है। स्थायी सुख तो भगवान्‌में है और आत्मामें है। वह पूर्ण है तथा अखण्ड है और वह सुख नित्य हमारे पास है। वह कभी घट नहीं सकता, मिट नहीं सकता, छूट नहीं सकता। इस सुखकी आशा छोड़कर, जो वास्तवमें सुख है नहीं; है तो कृत्रिम है और जो है वह भी सर्वथा अपूर्ण और मिटनेवाला है। उस स्थायी सुखको पानेकी चेष्टा करनी चाहिये, जो कभी घटता, हटता या मिटता नहीं। वह आत्मसुख या परमात्म-सुख सदा तुम्हारे पास है।

तुमको जो उनपर रोष आता है या तुम उनके बर्तावमें दोष पाते हो, उसका भी मुख्य कारण यही है कि तुम उनसे कुछ चाहते हो। यदि तुम अपने मनको टटोलकर देखो तो ठीक मालूम हो जायगा कि तुम्हारे मनकी कामना ही इस रोष और दोष-दर्शनमें हेतु है। तुम अगर उनसे कुछ भी आशा नहीं रक्खो, कोई कामना न रक्खो तो फिर रोषका कोई कारण रह ही नहीं जाता।

रही अपनी ओरसे बर्तावकी बात, सो भाई! सर्वोत्तम बर्ताव तो मेरी समझमें यह है कि उनमें भगवान्‌के दर्शन करो और उनसे अपना इस प्रकारका सम्बन्ध मानो कि उनकी सुविधा और हितके लिये ही तुम नियुक्त किये गये हो। अपनी सुख-सुविधा उसीमें समझो, जिसमें उनकी सुख-सुविधा हो। ऐसा करनेपर तुम्हारा मन दूसरे रूपमें बदल जायगा और आज उनमें जो दोष दिखायी देते हैं, वे नहीं दिखायी देंगे।

एक बात ध्यानमें रखनेकी है; वह यह है कि तुम अपनेको मालिक न मानकर मुनीम मान लो और सबसे ममत्व हटाकर सेवकका सम्बन्ध जोड़ लो, तो फिर ये सब उत्पात-उपद्रव अपने-आप बंद हो जायँगे। मैंने संक्षेपसे जो ये बातें लिखी हैं इनपर विचार करना। कोई बात अच्छी लगे तो, केवल बातसे नहीं, मनसे और क्रियासे उसे स्वीकार करना। शेष भगवत्कृपा।

(२)

मानव-जीवनकी सफलताका साधन

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। भगवान्‌का अपने भक्तके साथ कोई एक सम्बन्ध नहीं होता; जो भक्त सब कुछ त्यागकर केवल भगवान्‌को ही अपना सब कुछ मानता है, उसके साथ भगवान्‌का कौन-सा सम्बन्ध नहीं होता। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, ब्रह्म-जीव, सखा-सखा सभी प्रकारके सम्बन्ध भगवान् अपने उस भक्तके साथ जोड़ लेते हैं और भक्तके लिये अपने सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञशिरोमणि, सर्वरूपमय, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वकल्याण-गुणगणमहोदधि और सर्वरहित, सर्वातीत, निरीह, निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकल्प, नित्यमुक्तस्वरूप—ज्ञानस्वरूप, सत्तास्वरूप, चित्स्वरूप आदि समस्त स्वरूपोंको छोड़कर, समस्त मान-सम्भ्रमको भुलाकर भक्तके अपने बन जाते हैं और भक्त जिस रूपमें, जिस भावसे उनसे प्रेम करता है, उसी भावको स्वीकार करके भक्तको अनन्त आनन्दरस-सुधाका पान कराते हैं। भगवान् श्रीनृसिंहदेवके रूपमें वे अपने सरल निष्कामहृदय बालक भक्त प्रह्लादसे कहते हैं—

> सभयं सम्भ्रमं वत्स ! मद्गौरवकृतं त्यज।
> नैष प्रियो मे भक्तेषु स्वाधीनप्रणयी भव॥
> अपि मे पूर्णकामस्य नवं नवमिदं प्रियम्।
> निःशङ्कप्रणयाद् भक्तो यन्मां पश्यति भाषते॥
> सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः।
> अजितोऽपि जितोऽहं तैरवशोऽपि वशीकृतः॥
> त्यक्तबन्धुजनस्नेहो मयि यः कुरुते रतिम्।
> एकस्तस्यास्मि स च मे न चान्योऽस्त्यावयोः सुहृत्॥

(हरिभक्तिसुधोदय)

'वत्स! मुझे बड़ा गौरवशाली मानकर मुझसे भय मत करो और मान-सम्भ्रम भी छोड़ दो। भक्तोंमें मुझसे जो डरता-डरता रहता है, वह मुझे प्रिय नहीं है; तुम मेरे स्वाधीन प्रेमी बनो। जो भक्त शङ्का-भयरहित प्रेमके साथ मुझसे बात करते हैं और निःशङ्क प्रणयके साथ मुझे देखते हैं, वे मुझे बड़े प्यारे हैं। मैं पूर्णकाम हूँ—आत्माराम या आप्तकाम हूँ, मुझे मान-सम्भ्रम, पूजा-प्रतिष्ठाकी कोई कामना नहीं है। मैं नित्य-मुक्त होकर भी भक्तोंकी स्नेह-रज्जुसे बँधा हूँ, अजित होकर

भी भक्तोंके सामने पराजित हूँ, अवश होकर भी उनके वशीकृत हूँ। जो भक्त अपने बन्धु-स्वजनोंका स्नेह त्याग कर मुझमें आसक्ति करता है, मैं उसका निज-जन हो जाता हूँ और वह भक्त भी मेरे अतिरिक्त दूसरेको नहीं जानता। भक्त मेरा बन जाता है और मैं भक्तका बन जाता हूँ।'

इस प्रकारके शील-स्वभाववाले भगवान्से जो प्रेम नहीं करता और पद-पदपर धोखा देनेवाले विषयोंमें आसक्त रहता है उसके समान अभागा और कौन होगा ? श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

तुलसी राम सुभाव सीऊ लखि जौं न भगति उर आई।
तो तोहिं जनमि जाइ जननी जड तनु तरुनता जँवाई॥

अर्थात् रामका ऐसा स्वभाव-शील देखकर भी यदि हृदयमें भक्ति नहीं उत्पन्न हुई तो मूर्खा माताने तुझे जन्म देकर व्यर्थ ही अपने शरीर और यौवनका नाश किया।

अतएव मानव-शरीरका परम और चरम फल यही है कि वह सदा-सर्वदा भगवान्के भजनमें ही लगा रहे।

देह धरे कर फलु यह भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

(२) आपका लिखना लोक-दृष्टिसे ठीक हो सकता है, पर यह लोकदृष्टि ही वस्तुतः मोहका परिणाम है। नाटकके रङ्गमञ्चपर अभिनेता अभिनय अवश्य करे, पर यदि वह नाटकके प्रिय सम्बन्धी पात्रोंको तथा वस्त्राभूषणको अपना मान ले तो वह मूर्ख तो माना ही जायगा, उसपर मुकदमा भी चलेगा। वस्तु तो उसकी होगी ही नहीं, पर इस मूर्खताके परिणामस्वरूप उसे दण्ड भोगना पड़ेगा। अतएव इसी दृष्टिसे जगत्में रहना आवश्यक और उचित है। ममता (मेरापन) आया कि फँसावट हुई। ममता करनेयोग्य तो बस एक ही वस्तु है—वह है श्रीभगवान् या उनके मधुर-मनोहर चरणकमलयुगल। सब जगहसे सदाके लिये सारी ममता हटाकर एकमात्र उन्हींमें ममता करनी चाहिये। तभी मानवजीवन सफल होगा। शेष भगवत्कृपा।

समझने-सीखनेकी चीज

(१)

भगवत्कृपा

सन् १९५० की एक घटना)

(लेखक—स्व० पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

चौमूँसे पश्चिममें एक कोसके अन्तरपर टाँकरड़ा एक क्षुद्र गाँव है। वहाँके अधिपति ठाकुर मुकुन्दसिंह साधारण श्रेणीके जागीरदार हैं। उनकी ओरसे गाँवमें किसी प्रकारका दुःख-संताप या दुर्व्यवहार नहीं—बस्ती ठाकुरोंको चाहती है और ठाकुर बस्तीको चाहते हैं।

आपकी धर्मपत्नी उदार, दयालु, सच्चरित्र और भगवद्भक्त हैं। प्रातःकाल बड़े सबेरे शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर देवपूजा, गीतापाठ और भगवन्नाम-जप करती हैं तथा आये-गये अतिथिका अन्न, वस्त्र, आश्वासन और आश्रयादिसे सत्कार करती हैं।

गाँवके पृष्ठ भागमें श्रीरघुनाथजीका मन्दिर है। भगवान्की मूर्ति बड़ी विलक्षण और चमत्कृत है। वह अकेले विराजते हैं। साथमें सीताजी नहीं हैं। एक-दो बार नवीन मूर्ति लाकर प्रतिष्ठित की तो अलक्षित हो गयी। अतः अकेले रघुनाथजी ही विराजते हैं। विशेषता यह है कि प्रातःकालकी सेवा-पूजा और मध्याह्नका राजभोग होनेके सिवा सायंकालकी आरती आदि सब काम शयनावस्थामें ही होता है।

मुकुन्द और मुकुन्दपत्नीकी रघुनाथजीके प्रति अमिट श्रद्धा है। वह हर्ष, शोक या आपत्तिमें उन्हींका आश्रय लेते हैं। विक्रम संवत् १९९६ के श्रावणमें उनका बड़ा बेटा बीमार हो गया। वैद्य, हकीम और डाक्टरोंने अनेक उपाय किये, परंतु आराम नहीं आया। तब वैद्योंने कहा कि चन्द्रोदय दिया जाय तो अच्छा है, परंतु डाक्टर इसमें सहमत नहीं हुआ। उसने स्पष्ट कह दिया कि यदि दवा दी जायगी तो यह मर जायगा। इस कथनसे कठिन समस्या उपस्थित हो गयी—डाक्टर चला गया।

अर्धरात्रि व्यतीत हो गयी, गाँवमें सर्वत्र सन्नाटा छा गया। बीमारके समीप सेवकगण चिन्तामग्न हो रहे थे और ठाकुर मुकुन्दसिंह उदयकी मरणासन्न अवस्था देखकर वहीं एक तख्तेपर लेट गये थे। रातके लगभग तीन बजे स्वप्नमें दो संन्यासी आये। उन्होंने रोगग्रस्त उदयसिंहको रघुनाथजीके समीप उपस्थित करके औषध देनेका प्रयत्न किया। यह देखकर मुकुन्दने कहा कि 'महाराज औषधके लिये डाक्टर मना कर गया है, अतः आप बच्चेपर दया करके औषधका उपचार

न करें।' परंतु संन्यासियोंने कुछ नहीं सुना और हठात् औषध पिला दी।

ठाकुरोंके नेत्र खुल गये। देखते क्या हैं कि न संन्यासी हैं, न रघुनाथजीका मन्दिर है और न वह अशान्तिकारी दृश्य है। है केवल अपने पलंगपर सोया हुआ उदयसिंह। सो भी मृतप्राय नहीं, चैतन्य-अवस्थामें है और समीपमें बैठी हुई भगवन्नाम-स्मरणमें तल्लीन माताको देख रहा है। इस पुनर्जीवनसे सबको संतोष हुआ और स्वप्नमें आये हुए संन्यासी अश्विनीकुमार प्रतीत हुए।

वास्तवमें यह रघुनाथजीकी असीम कृपाका ही फल है। कि अस्तप्राय उदयको संन्यासियोंके द्वारा स्वप्नमें हठात् औषध दिलवायी और उसको आरोग्य लाभ करवाया। इस प्रान्तमें टाँकरड़ाके रघुनाथजी बड़े विख्यात हैं। विश्वासी भक्तोंको अभीष्ट फल देते हैं और मन्दिरमें किसी प्रकारकी आय न होनेपर भी नित्यकी सेवा-पूजा और नैमित्तिक व्रतोत्सवादिके सब काम यथोचित सम्पन्न हो जाते हैं—उनके अर्थव्ययसे कोई भाराक्रान्त नहीं होता।

विजयादशमी (दशहरा) के अवसरपर यहाँ रामलीला होती है। उसको देखनेके लिये कई गाँवके सैकड़ों मनुष्य आते हैं। रात्रिभर जागरण करते और रामचरित्रकी अद्भुत लीलाओंको देखकर प्रातःकाल प्रसाद लेकर चले जाते हैं। इस काममें जो कुछ खर्च होता है, रघुनाथजीकी कृपासे स्वतः प्राप्त होता है।

(२)

दयामयकी दयालुता

(ले०—श्रीदुर्गाप्रसाद तिवारी आयुर्वेदाचार्य)

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं,
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति॥

जाको राखै साइयाँ मार सकै ना कोय।
बाल न बाँका करि सकै जो जग बैरी होय॥

उपर्युक्त श्लोकको गुरुमुखसे अध्ययन करनेके पश्चात् उसका वास्तविक अर्थ आज मैं समझ पाया हूँ। आज मैं परमात्माकी परमानुकम्पासे पाठकोंके समक्ष आप-बीती सच्ची घटना प्रस्तुत करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सका हूँ। दिनाङ्क ९।३।५४ का दिवस था। मेरे लघु भ्राताका विवाह-संस्कार दिनाङ्क १०।३।५४ को होनेके कारण सायंकाल ९।३।५४ को ७ बजे इन्दौरसे खंडवा जानेवाली रेलसे हमलोग चले। रात्रिको लगभग डेढ़ बजे सानन्द बरातियोंके साथ मैं पहुँच गया। हमें खिड़किया स्टेशन जाना था, वहाँ जानेवाली गाड़ीके आनेमें विलम्ब होनेसे मैं सभी बरातियोंको प्लेटफार्मपर ही छोड़कर अपने एक सम्बन्धी (साढू भाई) के पास मोहल्ला गणेशतलाई चला गया। उनको निमन्त्रित कर, उनके साथ ही लौटा। स्टेशनपर आनेके लिये पूर्वकी ओरसे चढ़ा। ऊपर जानेपर देखा कि गाड़ी खड़ी है। इतनेमें गाड़ीने सीटी दी। मैं ठीक इंजिनके कुछ पास था, प्लेटफार्म उस ओर था। मेरे जानेके लिये केवल एक ही गाड़ी थी। मेरे साढू भाईने कहा कि 'भैया गाड़ी आ गयी और जानेवाली है।' मैं सत्वरतासे बढ़ा और इंजिनसे प्रथम डिब्बेमें चढ़ा, इतनेमें गाड़ीकी गति तीव्र हो गयी। मैंने द्वार खोलनेका प्रयास किया, पर वह बंद था, सहायता-प्राप्तिके लिये अंदरके मानवोंपर निगाह डाली, पर मेरे दुर्भाग्यसे वह महिलाका डिब्बा था, द्वार तालेसे अवरुद्ध था। जितनी महिलाएँ बैठी थीं, सभी पंजाबी-सिन्धी थीं। मेरे कहे गये आर्तस्वर वे न समझ सकीं। मैंने सोचा अग्रिम रेलवे स्टेशनपर डब्बा बदल लूँगा। स्टेशन मथेला आया, पर गाड़ी न रुकी, गाड़ीकी एक महिलाने कहा—यह पंजाब मेल है। मैंने उनसे गाड़ी रुकवानेके लिये जंजीर खींचनेकी प्रार्थना की, परंतु मातृभाषाकी वैषम्यताके कारण कोई लाभ न निकला। निरुपाय होकर अशरणशरणके चरणोंका स्मरण संस्कृतके पठित श्लोकोंद्वारा करता हुआ, कोयलेके कणों, वायुके झकोरोंको सहन करता रहा।

× × ×

प्रातःकाल होनेवाला था, जलकी तृषा व्यथित कर रही थी, परंतु सिर तथा पीठ, कमरमें शताधिक छिद्र रक्त निस्सरणकर पाँतोंकी गिट्टियोंको रक्तार्द्र कर रहे थे। इसका मुझे कुछ भान न था, मुझे तो जलकी अत्यन्त चाह थी। उठनेके लिये प्रयत्न किया, न उठ सका, सहायताकी प्रार्थना की, कौन सहायक हो। प्रभुकी अनुकम्पासे जगज्जननी माता दुर्गाके कवच तथा द्वात्रिंशत्-स्तोत्रका मैंने उसी मूर्च्छितावस्थामें स्मरण किया और कृपावत्सल करुणावरुणालयने ही मुझे उठनेकी शक्ति दी या वे ही मुझे उठा गये। जल-पिपासाकी शान्तिके लिये देखा, समीपमें ही एक दीपक अपने प्रकाशसे स्थानकी सूचना दे रहा है। मैं लड़खड़ाते पैरोंसे पहुँचा और जाकर रेलवेके कर्मचारी (पोटर) से जलकी याचना की, प्रत्युत्तरमें जलका अभाव बताया गया। प्लेटफार्मपर बैठे व्यक्तियोंने मुझे पागल समझा, इतनेमें ही स्टेशनका नाम पूछनेपर मुझे खैगाँव नाम बतलाया गया, बस, मैं तृषित पासके टीलेपर बने मकानपर पहुँचा और

जलकी याचना की। यह मेरे श्वसुरका घर था। वे मेरी आवाज पहचानकर आश्चर्यमें भरे सहसा उठे। मैं जल माँगता हुआ बिस्तरपर गिर पड़ा। उन्होंने मुझे गौका दुग्ध पिलाया; अग्निसे तपाया। खून बहनेवाले स्थानोंपर टिंचर लगाया और १०। ३। ५४ को सुबह मुझे मूर्च्छितावस्थामें खंडवा ले गये और देहका उपचार किया। मेरी खिडकिया जानेवाली गाड़ी उस दिन करीब पाँच घंटे लेट थी। परमात्माकी दयासे तीन दिनोंमें सारे घाव अच्छे हो गये। दि० १२। ३। ५४ को मुझे मेरे कुटुम्बी इन्दौर ले आये। प्रभुकी दयालुतासे मेरी कोई अस्थि नहीं टूटी। एक मासमें मैं चलने-फिरने लग गया। कोई अङ्ग भी विकृत नहीं हुआ।

× × ×

मैं पंजाब मेलसे कब, कैसे, कहाँपर गिरा, कैसे बेहोश हुआ तथा किसने मुझे झेला, जिससे मुझे सामान्य चोटें आयीं। दो लाइनोंके बीचमें लगभग तीन घंटे पड़ा रहा। ट्रेनें बराबर निकलती रहीं, मेरी रक्षा किसने की, यह तो रक्षक ही जानें। मैं लगभग १० मील मूर्च्छितावस्थामें दो स्टेशनोंको पार कर गया और विपिनमें पुलके सन्निकट ही गिरा और यदि मेरी ससुराल पास न होती तो क्या होता यह तो प्रभु ही जानें। परमात्माकी लीला अपार है!

(३)

सतीत्वकी अग्नि-परीक्षा

उत्तर प्रदेशके एटा जिलेमें गंजडुँडवारा ग्रामकी कंजर जातिकी १४-१५ वर्षीया इमरती नामकी एक विवाहिता बालिकापर उसके ससुरने चरित्रभ्रष्टताका दोषारोपण करते हुए घरसे उसके मायके छोड़ दिया। इसपर लड़कीके पिता और भाईने अपनी जातिके पंचोंको अपनी ओरसे मार्गव्यय देकर बुलाया और तब एटा, सोरों, सहसवान, उझियानी, सहावर और गंजडुँडवारेके कंजरोंके पंच एकत्रित हो गये। उनके समक्ष समस्या रखकर प्रार्थना की कि मेरी बहिनपर झूठा दोषारोपण किया गया है। पंचोंने परीक्षा लेनेकी व्यवस्थाका निश्चय किया और तदनुसार उक्त लड़कीको एक कोरी धोती पहिनायी गयी। दूसरी ओर साठ कंडे जलाये गये और उनमें चार सेर वजनकी लोहेकी एक कुदाल गरम की गयी, जो आगके समान लाल हो गयी और चिनगारियाँ छोड़ने लगी। एक सरपंच मुखियाने लड़कीसे कहा कि 'यदि तुझे भय हो तो अब भी परीक्षा मत दे।' उसने कहा कि 'मुझे कोई भय नहीं। मेरी परीक्षा चाहे जिस प्रकार-से कर लो।' तब उस सरपंचने उस लड़कीके दोनों हाथोंपर दो पान रखकर उन्हें कलाया (मौली), जो धर्मकार्योंमें कलाईपर बाँधी जाती है, से दोनों पानोंको बाँध दिया और अपने डगोंसे सात डग नापे जो सतरह हाथ लम्बाईके हुए, वहाँ निशान कर दिया और निकटवर्ती जामुनके वृक्षकी एक दोहरी टहनी तोड़कर वल्कल उतारकर उनसे दोनों सिरे उस लाल हुए लोहेसे उठाये और ईश्वरसे प्रार्थना करते हुए कि 'हे भगवान्! इस लड़कीके सत्यकी रक्षा करना' और लड़कीने भी ईश्वरसे प्रार्थना की कि 'हे परमात्मा! मेरे सतीत्वकी सत्यताको प्रमाणित करना और मेरा धर्म सच्चा है तो यह बात सभीको प्रत्यक्ष करा देना।' और वह लाल लोहा उसके दोनों हाथोंपर उन टहनियोंसे उठाया हुआ रख दिया और लड़की नापी हुई जगहतक निःसंकोच निर्भयतासे चलती चली गयी और जगहसे आगेतक पहुँचकर वह लोहा जमीन-पर डाल दिया। तब देखा गया कि जमीनकी घास जल गयी, मिट्टी काली पड़ गयी। लेकिन लड़कीके दोनों हाथोंपर रक्खे दोनों पान हरे बने रहे और कच्चे सूतका धागा वह कलाया जैसा-का-तैसा ही बना रहा। यह दृश्य दस-पाँच आदमियोंने नहीं, बल्कि करीब पाँच-छः सौ आदमियोंने अपनी आँखोंसे देखा। उस दिन भादों सुदी पूर्णिमा थी। पूर्णिमाका स्नान करके लौटते हुए स्नानार्थी वहाँ एकत्रित हो गये थे; क्योंकि इस स्थानसे श्रीगङ्गाजी केवल पाच-छः कोस ही हैं। इन परीक्षा लेनेवालोंमें कंजर जातिके पंचोंके अतिरिक्त गंजडुँड-वारेके श्रीछत्रसिंह वैद्य, जी० पी० शर्मा रिटायर्ड रेलवे गार्ड, मिश्रीलाल महेश्वरी संवाददाता कासगंज तथा अन्य सम्भ्रान्त व्यक्ति उपस्थित थे।

× × ×

यह लड़की मूमाराम कंजर गंजडुँडवारावालेकी पुत्री है और सोरोंके कल्लू नामक कंजरको व्याही है जो खचेराका बेटा है। पाँच साल पहले विवाह हुआ था।

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका और घनश्यामदासजी जालान अभी जब आगरा फीरोजाबाद पर्यटनमें पधारे थे, तब श्रीलोचनरामजी गोविन्दभवनवालोंको इस लड़कीके बारेमें जाँच करनेको कह गये थे। परिणामस्वरूप श्रीलोचनरामजी गोविन्दभवन कलकत्ता और श्रीरामगोपाल पालीवाल, उपाध्यक्ष मंडल कांग्रेस, फीरोजाबाद १७ अक्टूबरको गंजडुँडवारा गये थे। वहाँके कतिपय व्यक्तियोंसे वे मिले और वृत्तान्त सत्य पाया। अवकाशप्राप्त रेलवेगार्ड तथा संवाददाता श्रीमिश्रीलाल महेश्वरीको भी साथ लेकर परीक्षा की। उस स्थानको देखा, उस लड़कीसे मिले तथा उन पंचोंसे भी मिले और समाचार-को अक्षरशः सत्य पाया।

महापुरुषोंकी महिमा और उनका प्रभाव

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महापुरुषोंकी महिमाके सम्बन्धमें फिर कुछ चर्चा करें। श्रीस्कन्दपुराणके माहेश्वरखण्डके अन्तर्गत कुमारिकाखण्डमें कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥*

(५५ । १४०)

'जिनका चित्त उस अनन्त ज्ञान और आनन्दके समुद्र परब्रह्म परमात्मामें लीन है, उनसे उनका कुल पवित्र हो जाता है, जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और यह पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

उनका कुल कैसे पवित्र हो जाता है? कुलवालोंको उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालाप आदिके अवसर प्राप्त होते ही रहते हैं अतः उनके सङ्गसे कुल पवित्र हो जाता है—कुलके प्रायः सभी परमात्माकी प्राप्तिके पात्र बन जाते हैं। साथमें रहनेसे प्रायः सबपर उनका प्रभाव पड़ता है। उनमें स्वार्थ-का त्याग होता है, इस कारण उनकी बात भी मानी जाती है। उनके दर्शनसे, उनके आचरणोंका और गुणोंका भी प्रभाव पड़ता है। उनमें जो क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष आदि अनन्त गुण होते हैं, उन गुणोंका भी असर पड़ता है। कुटुम्बमें वे कहीं जाकर भोजन करते हैं तो उसका घर पवित्र हो जाता है और उनके यहाँ कोई आकर भोजन करे तो वह भोजन करनेवाला पवित्र हो जाता है; क्योंकि उनका अन्न, धन सब पवित्र होता है।

भगवान्‌ने कहा है कि योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

(गीता ६ । ४१)

वे श्रीमान् धन और ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके साथ ही पवित्र भी होते हैं। संसारके साधारण श्रीमान् प्रायः अपवित्र ही होते हैं; क्योंकि उनके घरमें जो रुपये-पैसे इकट्ठे होते हैं, वे अधिकांशमें अन्यायसे आते हैं। इसीलिये यह कहा गया कि जो पवित्र भी हो और लक्ष्मीवान् भी हो, ऐसे घरमें योगभ्रष्ट पुरुषका जन्म होता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

(गीता ६ । ४२)

अथवा ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें जन्म होता है। अभिप्राय यह कि उन योगभ्रष्ट पुरुषोंमें भी जो बहुत उच्च-कोटिका साधक होता है और साधन करते-करते जिसकी मृत्यु हो जाती है, ऐसे विरक्त साधक पुरुषका जन्म—योगियोंके ही कुलमें होता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि गृहस्थाश्रममें भी ज्ञानवान् योगी होते हैं। ऐसे उच्चकोटिके ज्ञानी योगी गृहस्थके घरमें उसका जन्म होता है। ऐसा जन्म अतिशय दुर्लभ है। ज्ञानी योगीके जो संतान हुआ करती है वह तो उनके अंशके प्रभावसे प्रायः उच्चकोटिकी होती ही है, उनके कुटुम्बमें जो और लोग होते हैं, वे भी उनके सङ्ग और दयाके प्रभावसे पवित्र हो जाते हैं। उनके साथमें किसी भी प्रकारका संसर्ग होना सब तरहसे लाभदायक होता है; क्योंकि वे ज्ञानी महात्मा पुरुष हैं। उनमें एक ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो रही है, जिससे उनके तो सारे पाप भस्म हो ही चुके हैं, पर उनके सङ्गके प्रभावसे दूसरोंके पाप भी भस्म होते रहते हैं—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(गीता ४ । १९)

'ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके सारे पाप भस्म हो गये हैं उनको ज्ञानीजन भी पण्डित—महात्मा कहते हैं।'

जैसे एक आगकी ढेरी है और एक घासकी ढेरी है घास उड़कर यदि आगमें पड़ता है तो वह आग बन जाता है और आग उड़कर यदि घासमें पड़ती है तो भी आग ही बन जाता है, उसे अग्नि अपने रूपमें परिणत कर लेती है। किंतु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि घास अग्निको भी घास बना ले। घासकी यह सामर्थ्य नहीं है। इसी प्रकार संसारी मनुष्योंके

---

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित प्रतिमें इस प्रकार पाठभेद भी मिलता है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च तेन।
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं
लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

(५२ । ३८)

अज्ञान और पापमें यह सामर्थ्य नहीं है कि एक जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माको अज्ञानी बना सके। साधारण मनुष्यपर तो अज्ञानियोंके सङ्गका असर हो सकता है, किंतु महात्मापर असर नहीं हो सकता। ज्ञानी महात्माओंके सङ्गसे अज्ञानी और पापी पवित्र होकर ज्ञानी महात्मा बन जाते हैं। इसलिये उनके सङ्गके प्रभावसे उनके कुटुम्बवाले लोग भी पवित्र हो जाते हैं।

महात्मा पुरुषोंके चरणोंके स्पर्शके प्रभावसे भूमि पवित्र हो जाती है। संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, वे सब भगवान्‌के और महापुरुषोंके सङ्गसे ही तीर्थ बने हैं। उनकी तीर्थ-संज्ञा महापुरुषोंके, ईश्वरके या पतिव्रता स्त्रियोंके प्रभावसे ही हुई है। पतिव्रता भी एक प्रकारसे महात्मा ही हैं। जब साधकके प्रभावसे भी कहीं-कहीं तीर्थ-संज्ञा हो जाती है, तब परमात्माके अवतार और महात्माओंसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्यामें अवतार लिया इसीसे अयोध्या तीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, जहाँ-जहाँ भगवान् जाकर ठहरे, वे सब स्थान तीर्थ हो गये। भगवान् चित्रकूटमें ठहरे तो चित्रकूट अब तीर्थ माना जाता है। नासिक पंचवटीमें ठहरे तो वह भी तीर्थ माना जाता है। भगवान्‌की तो बात ही क्या है, भगवान्‌के भाई भरतजी महाराज भगवान्‌के राजतिलक करनेके लिये तीर्थोंका जल चित्रकूट साथ ही ले गये थे। चित्रकूटमें जिस कुएँमें वह जल रक्खा गया, वह कुआँ आज भी 'भरत-कूप'के नामसे प्रसिद्ध है। फिर भगवान् चित्रकूटसे विदा होकर जहाँ-जहाँ गये, वे स्थान भी तीर्थ बन गये। उन ऋषियोंकी निवास-भूमि या उनकी तपस्थली भी तीर्थरूपा हो गयी। भगवान् चित्रकूटसे विदा होकर अत्रि ऋषिके आश्रममें गये, वहाँ अनसूयाका भी आश्रम है, वह तीर्थ आज भी अनसूयाके नामसे प्रसिद्ध है। अनसूया अत्रि ऋषिकी पत्नी थीं, वे पतिव्रता थीं तथा पातिव्रत्यके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशने उनके यहाँ अंशरूपसे अवतार भी लिया था। आज भी अनसूयाके आश्रमको तीर्थ मानकर लोग वहाँ जाते हैं।

उसके आगे भगवान् बढ़े तो शरभङ्ग ऋषिके यहाँ पहुँचे। शरभङ्ग ऋषि भी बड़े उच्चकोटिके पुरुष थे। वे भगवान्‌के ध्यानमें मग्न होकर भगवान्‌के सामने ही शरीर त्यागकर परम धामको चले गये। वह तीर्थ आज भी शरभङ्गके नामसे प्रसिद्ध है। उसके पश्चात् भगवान् सुतीक्ष्णके आश्रममें गये। सुतीक्ष्ण भी भगवान्‌के बड़े भक्त और बड़े ज्ञानी महात्मा थे। इसलिये सुतीक्ष्णका आश्रम भी आज तीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। ऐसे ही भगवान् और आगे बढ़े तथा अगस्त्य ऋषिके आश्रममें पहुँचे। अगस्त्यजी भी ज्ञानी महात्मा पुरुष थे। उनके नामसे आज भी वह तीर्थ प्रसिद्ध है। कहनेका अभिप्राय यह कि किसीकी भगवान्‌के सम्बन्धसे और किसीकी महात्माओंके सम्बन्धसे तीर्थ-संज्ञा हो गयी।

इसी प्रकार भागीरथी गङ्गा भी महान् तीर्थ है। महाराज भगीरथ भी बड़े उच्चकोटिके भगवान् शिवके भक्त थे। वे भगवान् विष्णुके भी भक्त थे। उनके तपके बलसे हमारे देशको पवित्र करनेके लिये गङ्गाजी यहाँ आयीं। गङ्गाका सभी किनारा तीर्थ-स्वरूप है। प्रायः सभी शास्त्रोंमें गङ्गाकी बड़ी महिमा आती है। देवताओंकी नदी होनेके कारण इनका नाम सुरसरि है। यह शिवजीकी जटामें रहीं, इसलिये इनको 'जटाशङ्करी' भी कहते हैं। इनके बहुत-से नाम हैं*। हेतुको लेकर ही वे सब नाम हैं। यह गङ्गा भगवान्‌के चरणोंसे प्रकट हुई हैं।

श्रीवामन-अवतारके समय जब भगवान् वामनजीने बड़ा विशाल 'त्रिविक्रम' रूप धारण करके तीनों लोकोंको दो ही चरणोंसे नाप लिया था और तीसरा चरण राजा बलिके मस्तकपर रखकर उसको पवित्र कर दिया था, उस समय जब भगवान्‌का दूसरा चरण ब्रह्मलोकतक पहुँच गया और वह ब्रह्माण्डकटाह (शिखर) को छू गया; तब वह ब्रह्माण्ड अंगूठेके अग्रभागके आघातसे फूट गया। भगवान्‌के चरणोंको उस छिद्रमेंसे ब्रह्माण्डके बाहर आये देख ब्रह्माजीने अपने कमण्डलुमें स्थित जलसे उनका प्रक्षालनपूर्वक पूजन किया। वह जल भगवान्‌के चरणको धोता हुआ हेमकूटपर्वतपर भगवान् शङ्करके पास पहुँचकर उनकी जटामें स्थित हो गया। पश्चात् महाराज भगीरथके द्वारा गङ्गाजीके लिये भगवान् शङ्करकी आराधना किये जानेपर वे पृथ्वीपर उतरीं। वे तीन धाराओंमें प्रकट होकर तीनों लोकोंमें गयीं, इसीलिये इनको 'त्रिस्रोता' कहा जाता है। इनकी महिमाके विषयमें श्रीभागवतकार स्वयं कहते हैं—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य
पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि
लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः॥
(८।२१।४)

* स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें 'गङ्गासहस्रनामस्तोत्र'में गङ्गाजीके हजार नाम बतलाये हैं।

'परीक्षित् ! ब्रह्माजीके कमण्डलुका वह जल उरुक्रम भगवान्के चरण पखारनेसे पवित्र होनेके कारण गङ्गाजीके रूपमें प्रकट हो गया, जो भगवान्की उज्ज्वल कीर्तिके समान आकाशमार्गसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं ।'

महाराज भगीरथने गङ्गाजीके लिये बहुत बड़ी तपस्या की थी । उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवती गङ्गाने उन्हें दर्शन दिया और कहा—'मैं तुम्हें वर देनेके लिये आयी हूँ ।' उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने बड़ी नम्रतासे अपना अभिप्राय प्रकट किया कि 'आप मर्त्यलोकमें चलिये ।' तब गङ्गाजीने कहा—'जिस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ, उस समय मेरे वेगको कोई धारण करनेवाला होना चाहिये; ऐसा न होगा तो मैं पृथ्वीको फोड़कर रसातलमें चली जाऊँगी । इसके अतिरिक्त मैं इस कारणसे भी पृथ्वीपर नहीं जाती कि लोग मुझमें स्नान करके अपने पाप धोयेंगे । फिर मैं उस एकत्र पाप-राशिको कहाँ धोऊँगी । राजन् ! इस विषयमें तुम्हें विचार करना चाहिये ।'

इसपर भगीरथ बोले कि भगवान् शङ्कर आपको धारण कर लेंगे । एवं—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ९ । ६)

'माताजी ! जिन्होंने सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने-आपमें ही शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ महापुरुष हैं, वे अपने चरणस्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे; क्योंकि उनके हृदयमें पापोंका नाश करनेवाले भगवान् सदा निवास करते हैं ।'

अभिप्राय यह कि तुम किसी बातकी चिन्ता न करो, तुममें स्नान करने जो आयेंगे, उनमें कोई महापुरुष भी होंगे । उनके चरणोंका स्पर्श तुम्हें प्राप्त होगा, जिससे तुम्हारे अंदर इकट्ठे हुए सब पाप नष्ट हो जायँगे; क्योंकि महात्मालोग अपने चरण-स्पर्शसे भूमिको पवित्र कर देते हैं, पवित्र तीर्थोंको भी पवित्र कर देते हैं । ऐसे ही महापुरुषोंके लिये श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

(११ । १४ । १६)

'जिन्हें किसीकी अपेक्षा नहीं, जो संसारसे उपरत हैं, जो निरन्तर मेरे ही मननमें तल्लीन रहते हैं, जो वैररहित हैं और जिनकी सबके प्रति समान दृष्टि है, उन महात्मा पुरुषोंके पीछे-पीछे मैं सदा इसलिये घूमा करता हूँ कि उनके चरणोंकी धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़े, जिससे मैं पवित्र हो जाऊँ ।'

भगवान् भी उन उच्चकोटिके भक्त महापुरुषोंके पीछे-पीछे फिरते हैं । उनके चरणोंकी धूलिकी आकाङ्क्षा करते हैं और उनके चरणोंकी धूलिसे वे अपनेको पवित्र मानते हैं । बात यह है कि भगवान्के जो उच्चकोटिके भक्त होते हैं वे भगवान्के चरणोंकी धूलिको मस्तकपर धारण करके अपनेको पवित्र मानते हैं तथा भगवान्के ये वचन हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

(गीता । ४ । ११)

'जो जिस प्रकारसे मुझको भजते हैं, उनको मैं उसी प्रकारसे भजता हूँ ।' तो इसका बदला भगवान् कैसे चुकावें ? जो भगवान्के चरणोंकी धूलिको उठाकर अपने मस्तकपर धारण करके अपनेको परम पवित्र मानते हैं, उनका बदला तभी चुकाया जा सकता है कि जब उन भक्तोंकी चरण-धूलिको भगवान् स्वयं अपने सिरपर धारण कर अपने-को परम पवित्र मानें । इसीको चरितार्थ करनेके लिये उन्होंने यह बात कही कि मैं अपने निष्काम भक्तोंकी चरणधूलिसे पवित्र होनेके लिये उनके पीछे-पीछे फिरता हूँ । भगवान् तो सदा स्वरूपसे ही परम पवित्र हैं । यह तो भक्तोंकी महिमा बढ़ानेके लिये ही भगवान्ने कहा है । इस बातको खयालमें रखकर हमलोगोंको भगवान्की भक्ति निष्कामभाव, श्रद्धा और प्रेमसे करनी चाहिये । इस प्रकार भगवान्की अनन्य भक्तिसे सब कुछ हो सकता है ।

महापुरुषोंकी महिमा इतनी अपार है । कि उसका वर्णन स्वयं महापुरुष भी नहीं कर सकते, फिर दूसरा कौन कर सकता है ? जो कुछ यत्किञ्चित् कहा जाता है, वह तो उसका आभासमात्र है या यों कहिये कि स्तुतिमें निन्दा है । किसी अरबपतिको हम लखपति कहें तो वह स्तुतिमें निन्दा ही है । शास्त्रोंमें जिन महापुरुषोंकी महिमा गायी गयी है, वैसे महापुरुष तो आजकल संसारमें मिलने भी बहुत कठिन हैं । भगवान्के भेजे हुए जो महापुरुष संसारके कल्याणके लिये अधिकार पाकर आते हैं, उनकी शास्त्रोंमें

विशेष महिमा गायी गयी है। उन्हींको 'अधिकारी पुरुष' तथा 'कारकपुरुष' भी कहते हैं।

श्रीवेदव्यासजी महाराज ऐसे ही अधिकारी पुरुष हैं। उनकी बड़ी अलौकिक महिमा शास्त्रोंमें आती है। ऐसी और किसी साधारण मनुष्यकी महिमा नहीं देखी गयी। महाभारतके आश्रमवासिकपर्वमें लिखा है कि पतिव्रता गान्धारी, कुन्तीदेवी, सञ्जय और धृतराष्ट्र—ये गङ्गा-तटपर आश्रममें रहकर तपस्या किया करते थे। उस आश्रममण्डलमें पाण्डुके सब पुत्र भी अपनी सेना और अन्तःपुरके सहित ठहरे हुए थे। उस समय एक दिन वहाँ श्रीवेदव्यासजी महाराज आ पहुँचे। तब अन्य भी बहुत-से ऋषि-मुनि वहाँ आ गये। शोकमग्न धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती, द्रौपदी और सुभद्रा आदि स्त्रियोंको देखकर श्रीवेदव्यासजीने कहा—'मैं आप लोगोंके दुःखोंको जानता हूँ और उनको मिटानेके लिये आया हूँ। धृतराष्ट्र! बताओ, मैं तुम्हारी कौन-सी कामना पूर्ण करूँ? तुम आज मेरे तपके प्रभावको देखो।' धृतराष्ट्र बोले—'मैं आज आपका दर्शन पाकर धन्य हो गया, मेरा जीवन सफल हो गया; किंतु दुर्योधनकी और कुटुम्बीजनोंकी मृत्युके कारण मैं बहुत चिन्तित हूँ।' फिर पुत्रशोकसे व्याकुल गान्धारीने हाथ जोड़कर कहा—'मुनिराज! युद्धमें जो मेरे पुत्र मर गये हैं, उनके शोकमें राजाको सारी रात नींद नहीं आती है। आप चाहें तो नयी सृष्टि रच सकते हैं, फिर आपके लिये मरे हुए पुत्रोंसे एक बार मिला देना कोई बड़ी बात नहीं है। आपके अनुग्रहसे राजा धृतराष्ट्रका, मेरा और कुन्तीका भी शोक दूर हो सकता है।' कुन्तीने भी कर्णसे मिलानेके लिये प्रार्थना की। तब श्रीवेदव्यासजी बोले—'बहुत अच्छी बात है। गान्धारी! तू अपने पुत्रोंको, कुन्ती कर्णको, सुभद्रा अभिमन्युको, द्रौपदी अपने पाँचों पुत्रोंको और पिता आदि सबको भी देखेगी। पहलेसे ही मेरे हृदयमें यह बात उठ रही थी कि इतनेमें ही राजा धृतराष्ट्रने, तूने और कुन्तीने भी इसी बातके लिये कहा। अब तुमलोगोंको इनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। आज रातको मैं उन सबसे तुम सबको मिला दूँगा।'

तदनन्तर श्रीव्यासजीके आदेशके अनुसार राजा धृतराष्ट्र अपने मन्त्री और पाण्डवोंसहित तथा वहाँ आये हुए मुनिजन, गन्धर्व आदि सभी गङ्गाके समीप गये और वहाँ इच्छानुसार पड़ाव डाल दिया। गान्धारी आदि स्त्रियाँ भी वहाँ जाकर यथास्थान बैठ गयीं। नगरके और प्रान्तके बहुत-से लोग भी सूचना पाकर वहाँ एकत्र हो गये। फिर महातेजस्वी महामुनि व्यासजीने भागीरथीके पवित्र जलमें प्रवेश करके सब लोगोंका आवाहन किया। पाण्डवोंके और कौरवोंके जो-जो योद्धा समरमें काम आये थे, उन सभीको बुलाया। उस समय रणभूमिमें कौरव और पाण्डवोंकी सेनाओंका जमघट होनेपर जैसा घोर शब्द हुआ था, वैसा ही कोलाहल जलमें हो उठा। फिर सेनासहित भीष्म और द्रोणको आगे करके चलते हुए वे सहस्रों राजागण जलसे बाहर निकले। वे इच्छानुसार अपने बन्धु-बान्धवों, कुटुम्बियों और स्त्रियोंसे परस्पर यथायोग्य मिले और उन सबने उस रात बड़ा ही आनन्द पाया। श्रीवेदव्यासजीकी कृपासे वे सब वैरभाव, ईर्ष्या, शोक, भय, पीड़ा, त्रास आदिसे रहित हो गये। फिर रात्रि बीतनेपर वे सब लोग जहाँसे आये थे, वहीं जाने लगे। उस समय श्रीवेदव्यासजीने कहा—'जो स्त्री अपने पतिके साथ जाना चाहती हो, वह अपने पतिके साथ गङ्गामें गोता लगावे।' यह सुनकर बहुत-सी पतिव्रता साध्वी स्त्रियोंने गङ्गामें गोता लगाया और और वे तुरंत दिव्य शरीर धारण करके अपने-अपने पतियोंके साथ विमानपर बैठकर पतियोंके उत्तम लोकोंको चली गयीं।

वह सारी सेना ठीक वैसी ही थी, जैसी कि युद्धमें मरनेके समय थी। जिसका जैसा शरीर, रूप-रंग और अवस्था थी, जैसा हथियार, घोड़ा, रथ था, ठीक वैसा-का-वैसा ही देखा गया। जैसे भागवतमें वर्णन आता है कि भगवान् जब ग्वाल-बाल और बछड़े बने थे, तब उन ग्वाल-बालोंका वही रूप, वही अवस्था, वही स्वभाव—सब कुछ ठीक वही था; इसी प्रकार यहाँ सेनाका जो वेष, आकृति और रूप था तथा जिसका जो सारथि, जो घोड़े, जो रथ, जो रथी, जो ध्वजा और जो वाहन थे, वे सब वही देखनेमें आये। इस प्रकार युद्धमें जितने मरे थे, वे सभी योद्धा ज्यों-के-त्यों प्रकट हो गये। रातभर मिले और प्रातःकाल वेदव्यासजीने उन सबको विदा कर दिया।

यह कथा श्रीवैशम्पायनमुनि राजा जनमेजयको सुना रहे थे। उस समय जनमेजयने कहा—'यदि श्रीवेदव्यासजी मेरे पिता परिक्षित्को दिखा दें तो आपकी कही बातपर मेरी श्रद्धा हो जाय तथा मेरा यह प्रिय कार्य हो जाय और मैं कृतार्थ हो जाऊँ। इन ऋषिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीकी कृपासे मेरी यह इच्छा सफल होनी चाहिये।' यह बात सुनकर श्रीवेदव्यासजीने राजा परिक्षित्का आह्वान किया। राजा परिक्षित् उसी समय अपने मन्त्रियों-

सहित वहाँ यज्ञशालामें प्रकट हो गये । राजा परिक्षित्‌का शरीर शान्त होनेके समय जैसा रूप-रंग, वेष और अवस्था थी, ठीक वैसे ही वे वहाँ दिखायी दिये । उन्होंने यज्ञान्त-स्नान किया और यज्ञका शेष कार्य भी पूरा किया ।

खयाल करना चाहिये कि श्रीवेदव्यासजी कितने उच्च-कोटिके महापुरुष थे। इसके अतिरिक्त,वेदव्यासजी सर्वज्ञ भी थे। जब कोई उनको याद करता था, तब उसी समय वहाँ प्रकट हो जाते थे और कहीं-कहीं तो बिना स्मरण किये ही आवश्यकता समझते थे तब प्रकट हो जाते थे और कार्यकी सिद्धि करके विदा हो जाते थे। श्रीवेदव्यासजीके लिये संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं था, जो असम्भव हो । ऐसे महापुरुष जो संसारमें आते हैं—संसारके कल्याणके लिये, हितके लिये ही आते हैं। उनकी जितनी महिमा गायी जाय, थोड़ी है। यह जो मृत सेनाको बुला देनेकी बात है, सो तो बहुत ही साधारण है । वे चाहें तो हजारों-लाखोंका कल्याण कर सकते हैं। उनका तो आना ही होता है संसारके कल्याणके लिये। ऐसे महापुरुषोंकी महिमा बड़ी ही रहस्यमयी और अलौकिक है।

महापुरुषोंके विषयमें जितना अनुमान किया जाता है, उससे भी कहीं अधिक लाभ हो सकता है। महापुरुष यदि कोशिश करें या हमलोग महापुरुषोंसे लाभ उठाना चाहें अर्थात् कोई भी उनसे लाभ उठाना चाहे तो परम लाभ उठा सकता है। जब गङ्गामें स्नान करने और गङ्गाजलका पान करनेसे मुक्ति हो जाती है, तब फिर महापुरुषोंके सङ्गसे आत्माका कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ? गङ्गासे तो गीता भी बढ़कर है और गीताके जाननेवाले महापुरुष उससे भी बढ़कर बतलाये जा सकते हैं। जिन महापुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे कल्याण बतलाया गया है, वह उन्हीं महापुरुषोंसे बतलाया गया है, जो 'अधिकारी पुरुष' हैं, अर्थात् जो भगवान्‌के यहाँसे अधिकार लेकर आये हैं।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सभी आश्रमोंमें और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्णोंमें महापुरुष होते हैं । शूद्रोंमें भी बहुत-से महापुरुष हुए हैं। उनमें कोई-कोई तो अधिकारी पुरुष भी हुए हैं । साधारण महात्मा तो बहुत ही हुए हैं और होते ही हैं।

सनकादि तो ब्रह्मचारीके रूपमें ही रहे। इसी प्रकार नारदजी आदि हैं । गृहस्थ ऋषियोंमें भी बहुत-से महापुरुष हुए हैं, जैसे वसिष्ठजी और याज्ञवल्क्यजी आदि। राजाओंमें अश्वपति और जनक आदि, वैश्योंमें नन्दभद्र और तुलाधार आदि तथा शूद्रोंमें सूतजी, सञ्जय, विदुरजी एवं अछूत जातियोंमें गुह, केवट, शबरी (भीलनी), मूक चाण्डाल, धर्मव्याध आदि बहुत-से महापुरुष हुए हैं। इस प्रकार सभी वर्णों और सभी आश्रमोंमें महापुरुष हुए हैं। उन महापुरुषोंमें कोई-कोई तो अधिकारी (कारक) पुरुष भी हुए हैं।

उन अधिकारी महापुरुषोंकी जो मुद्रा है, उसीको देखकर जीवन बदल जाता है। उनके नेत्रोंसे जो चीज देखी जाती है, वह पवित्र हो जाती है। उनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक पवित्रताका प्रसार होता है। उनकी दृष्टिके द्वारा उनके हृद्गत भावोंके परमाणु फैल जाते हैं । उस रास्तेसे कोई निकल जाता है तो उसपर भी असर होता है। जो महापुरुषोंको देख लेते हैं, उनके भी नेत्र और हृदय पवित्र हो जाते हैं। फिर उनकी आज्ञाके पालनसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। महापुरुष हमलोगोंको याद कर लेते हैं तो हम पवित्र हो जाते हैं और हम उनको याद कर लेते हैं तो भी हम पवित्र हो जाते हैं।

महापुरुषोंकी महिमा कहनेमें कुछ संकोच भी होता है और कुछ भय भी। भय तो इस बातसे होता है कि आजकल बहुत-से लोग झूठे महापुरुष बने बैठे हैं और वे अपने पैर पुजवाते हैं, अपनी जूँठन खिलाते हैं, अपने चरणोंकी धूलि और चरणोदक देते हैं, अपने नाम और रूप (फोटो) को पुजवाते हैं तथा लोगोंके धन और स्त्रियोंके सतीत्वका हरण करते हैं ! कहीं-कहीं तो साधारण बनिये और शूद्र भी योगिराज, ज्ञानी, महात्मा बने बैठे हैं। कहीं स्त्रियाँ ज्ञानी महात्मा बनकर भोले-भाले नर-नारियोंको ठगती हैं। इसके सिवा, कोई ब्रह्मचारीके वेषमें, कोई गृहस्थके वेषमें, कोई साधुके वेषमें, कोई वानप्रस्थीके वेषमें कोई तो अपनेको महात्मा बतलाता है और कोई अपनेको अवतार बतलाता है। सच तो यह है कि इन बतलानेवालोंमें सबमें अन्धकार-ही-अन्धकार है । उच्चकोटिके महापुरुष कभी अपनेको महात्मा नहीं बतलाते, कभी अपनेको योगिराज या अवतार नहीं बतलाते। परंतु जो झूठे दम्भी महात्मा बने होते हैं, वे ही अपनेको पुजवानेके लिये, संसारमें अपनी ख्याति—कीर्तिके लिये ऐसा करते हैं और उनका

ऐसा करना संसारको और अपने आत्माको धोखा देना है। इसका परिणाम उनके लिये अत्यन्त भयावह है!

हमारे इस कथनका वे दम्भी, पाखण्डी, झूठे ज्ञानी महात्मा दुरुपयोग कर सकते हैं कि 'देखो! महापुरुषोंकी ऐसी महिमा इन्होंने बतायी है और वे महापुरुष हमीं लोग हैं।' इस प्रकारके वचनोंसे लोगोंको धोखा देकर वे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये मेरे उपर्युक्त वाक्योंका दुरुपयोग कर सकते हैं। भोली-भाली स्त्रियाँ उनके बहकावेमें आकर अपना सतीत्व नष्ट कर देती हैं, धन देती हैं और उनकी पूजा करके अपने और उनके जीवनको कलङ्कित बनाती हैं तथा परलोकको नष्ट करती हैं। इसलिये मनमें कभी कुछ भय-सा होता है।

वास्तविक अधिकारी महापुरुष तो शायद ही किसीकी जानकारीमें हों, किंतु जो अपनेको महात्मा माननेवाले और दूसरोंसे मनवानेवाले हैं, ऐसे झूठे दम्भी महात्मा बहुत मिलते हैं। हाँ, भगवत्प्राप्त पुरुष भी संसारमें मिल सकते हैं, उनकी भी महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है। किंतु उन अधिकारी महापुरुषोंकी महिमा तो उनसे भी विशेष है। वे कारक महापुरुष तो भगवान्के यहाँसे अधिकार लेकर आते हैं और भगवान्के भेजे हुए आते हैं। उनकी क्रिया कभी निष्फल नहीं होती।

अब रही संकोच की बात, सो संकोच इसलिये होता है कि मूर्खतावश अज्ञानसे उस लेखकको ही कोई महात्मा मान ले और महापुरुष मानकर दुरुपयोग करने लगे तो यह उचित नहीं। इस स्थितिमें समझदार आदमियोंको तो संकोच होना ही चाहिये।

महापुरुषोंकी आज्ञा मानकर हम साधन करें तो हमारा कल्याण हो जाय, इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। मैं तो यह कहता हूँ कि महापुरुष न होकर जो उच्चकोटिका साधक है और शास्त्रोंके आधारपर कहता है तो उसकी आज्ञाका पालन करनेसे भी हमारा कल्याण हो सकता है। विश्वास करके गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंके उपदेशोंका अध्ययन करके हम काममें लावें तो हमारा कल्याण हो सकता है, फिर यदि साधन करनेवाला उच्चकोटिका साधक हममें शामिल होकर साधन करे, तब तो हमारा कल्याण और भी सहज है। जैसे बदरिकाश्रम और केदारजी तीर्थमें गया हुआ पुरुष मिल जाय और उसके साथ हम चलें तो बड़ी सुगमतासे हम बदरिकाश्रम और केदारजी पहुँच सकते हैं; क्योंकि वह सारे रास्तेका जानकार है। कहाँ क्या सुविधा है और कहाँ किस प्रकार रहना चाहिये, इस बातको वह अच्छी प्रकार जानता है, अतः सुखपूर्वक हमको बदरिकाश्रम और केदारजी पहुँचा सकता है। किंतु जो गया हुआ तो नहीं है, पर बदरी-केदारकी पुस्तक और झाँकी पढ़कर जिसने यह बात समझ ली है कि कौन-कौन-सी जगह क्या-क्या सुविधाएँ हैं, यदि ऐसे पुरुषका भी साथ हो जाय तो भी हमको बदरी-केदार जानेमें बहुत सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं और हम सुखपूर्वक वहाँ पहुँच सकते हैं।

इसी प्रकार जो शास्त्रके ज्ञाता साधक पुरुष हैं या परमात्माके परम धाम जानेकी इच्छावाले जिज्ञासु पुरुष हैं, उनका भी सङ्ग मिल जाय तो भी हमें कल्याणमें बड़ी सुगमता मिल सकती है। ऐसा न होनेपर भी गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंको आधार बनाकर चलें, तब भी हमारा कल्याण हो सकता है। जैसे कोई बदरिकाश्रम और केदारजीकी पुस्तकोंके आधारसे वहाँ जाता है तो उसको भी रास्तेमें बहुत सुविधा हो जाती है और वह उस गन्तव्य तीर्थस्थानपर पहुँच जाता है।

परमात्माका आधार तो सबके लिये है ही। वे तो सबकी सहायता करते ही हैं, उनकी कृपासे सब लोग पहुँच ही जाते हैं।

हमलोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि बदरिकाश्रम और केदारजी जानेकी इच्छावाले बूढ़े स्त्री-पुरुष, जिनकी ७०।८० वर्षकी अवस्था हो चुकी है, जिनकी चलनेकी शक्ति भी बहुत कमजोर है एवं जो धनहीन भी हैं, किंतु मनमें श्रद्धा और उत्साह रखते हैं तो वे भी परमात्माकी दयासे बदरिकाश्रम पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार उनकी श्रद्धा और उत्साहको देखकर हमलोगोंमें भी, जो वास्तवमें भगवान्के परम धाममें जानेकी इच्छा करनेवाले हैं, विश्वास करना चाहिये, श्रद्धा करनी चाहिये और उत्साह रखना चाहिये कि हमलोग भी परमात्माकी कृपासे परमात्माकी प्राप्तिका साधन सम्पादन करके परमात्माके परम धाममें पहुँच सकते हैं।

हमलोगोंमें जो निराशा है, वह तो श्रद्धा और आत्मबलकी कमी तथा मूर्खताके कारण है। मनुष्यको निराश तो कभी होना ही नहीं चाहिये। जब बदरिकाश्रमका रास्ता बड़ा कठिन है और हम देखते हैं कि जो अत्यन्त कमजोर है, उसमें भी श्रद्धाके कारण शक्ति आ जाती है, उत्साह हो जाता है और वह भी चला जाता है तो फिर हम भगवान्की कृपासे भगवान्के

धामको क्यों नहीं पहुँच सकते। जब शास्त्रोंमें बात बतलायी है कि—

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'जिसकी कृपा मूकको वाचाल कर देती है और जिसकी कृपासे पङ्गु (पँगुला) पहाड़को लाँघ जाता है, उस परमानन्द माधवको हम नमस्कार करते हैं।'

इससे यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है कि बदरिकाश्रमके मार्गके बड़े-बड़े पहाड़ोंपर अल्प शक्तिवाला मनुष्य चला जाता है तो यह एक प्रकारसे पङ्गुके द्वारा ही पहाड़को लाँघना है। जो उचित बोलना नहीं जानता, अपनी भाषामें भी जिसको बोलनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा पुरुष भगवान्‌की कृपासे वाचाल बन जाता है तो यह एक प्रकारसे मूकसे ही वाचाल बन जाना है।

अतएव हमलोगोंको यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हमलोग भी ईश्वरकी और महापुरुषोंकी कृपासे उस परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्यके लिये कोई भी बात असम्भव नहीं है। महापुरुषोंका या भगवान्‌का अपनेपर हाथ समझ लें, तब तो फिर कहना ही क्या है।

महापुरुषोंकी महिमा जितनी बतलायी जाय, उतनी थोड़ी है। उन अधिकारी महात्माओंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही प्राणियोंका कल्याण हो जाता है। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। ऐसे महापुरुषोंके प्रसादसे साधारण जीवोंका भी वैसे ही कल्याण हो सकता है जैसे परमात्माके प्रसादसे भक्तका कल्याण हो जाता है। भगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

यहाँ 'प्रसाद'का अर्थ है—उनकी दया। इसी प्रकार उच्चकोटिके महात्मा पुरुषोंकी दयाके प्रभावसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। गीतामें बतलाया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४।३४)

'तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी महात्मा पुरुषोंसे, भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम, सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्न-द्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले महात्मा तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।' तत्त्वदर्शी महात्माओंकी आज्ञा मानने एवं उनका सङ्ग करनेसे पापी मनुष्य भी परम पवित्र होकर उनकी कृपासे मुक्त हो जाता है।

उनका दूसरा प्रसाद यह है कि वे जो भी कुछ वरदान या आशीर्वाद देते हैं, अथवा कोई रास्ता बतलाते हैं वह सब उनका दिया हुआ प्रसाद है। उनकी कृपासे बहुत-से मनुष्य मुक्त हुए हैं, जिनकी कथा शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक मिलती है और वह युक्तिसङ्गत भी है।

छान्दोग्य-उपनिषद्‌में कथा आती है कि जबालाके पुत्र सत्यकामका हारिद्रुमत गौतमकी कृपासे—उनके आज्ञा-पालनसे उद्धार हो गया। आयोदधौम्य मुनिकी आज्ञा माननेसे आरुणिका कार्य सिद्ध हो गया। यह कथा महाभारतके आदिपर्वमें आती है। एवं सत्यकामकी सेवा करनेसे उपकोसलका उद्धार हो गया, यह कथा भी छान्दोग्य-उपनिषद्‌में है। इसी प्रकार और भी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं; यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

सार यह है कि जो अधिकारी (कारक) महापुरुष हैं, उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे ही कल्याण हो सकता है तथा दूसरे जो सामान्य भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, उनकी आज्ञाका पालन करनेसे, उनकी सेवा और नमस्कार करनेसे तथा उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे कल्याण हो सकता है। फिर भगवान्‌की तो बात ही क्या है! भगवान्‌को तो याद करने मात्रसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है। इसलिये भगवान्‌को हर समय नित्य-निरन्तर याद रखनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष २८

सं० २०१०—२०११ वि०

सन् १९५४ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] ※ [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७॥)
विदेशोंके लिये १०) [१५ शिलिङ्ग]

प्रतिसंख्या ।≡)

॥ श्रीहरिः ॥

संक्षिप्त नारदमहापुराणकी विषय-सूची

संक्षिप्त विष्णुमहापुराणकी विषय-सूची

निबन्ध-सूची

संकलित गद्य-सूची

कहानी

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

संक्षिप्त नारद-पुराणकी चित्र-सूची

तिरंगे चित्र

इकरंगे चित्र

संक्षिप्त विष्णुपुराणकी चित्र-सूची

तिरंगे चित्र

इकरंगे (लाइन) चित्र

साधारण अङ्कोंकी चित्र-सूची

तिरंगे चित्र

हिंदू-कोड विधेयक

ऐसी भ्रान्ति फैल रही है कि हिंदू-समाजमें सुधारकी आवश्यकता है और इसे समयानुकूल बनाना है। इस उद्देश्यसे लगभग ६ वर्ष पूर्व हिंदू-कोड विधेयक बनाया गया और जनमतके लिये उसे प्रचारित किया गया। कोडका समर्थन करनेवाले स्त्री-पुरुष केवल नाममात्रके हिंदू थे, कितने समर्थक तो हिंदू थे ही नहीं। प्रायः सभी हिंदुओंने एक स्वरसे कोडका विरोध किया।

भारतकी लोकतान्त्रिक धर्म-निरपेक्ष सरकार कोड बनानेके लिये कटिबद्ध है और उसे कई खण्डोंमें विभक्त कर 'हिंदू विवाह तथा तलाक विधेयक,' 'विशेष विवाह-विधेयक', 'उत्तराधिकार-सम्बन्धी विधेयक' आदि अनेक नामोंसे लोकसभाके समक्ष पुनः ले आयी है। मूल हिंदू-कोडको कई खण्डोंमें विभक्त करनेका उद्देश्य यह है कि ऐसा करनेसे उसे जबरदस्त विरोधका सामना नहीं करना पड़ेगा।

कोडके समर्थकोंका कथन है कि इससे पुरुष और स्त्रियोंको अपनी रुचिके अनुसार विकासका अवसर मिलेगा।

इन विधेयकोंमें (क) अन्तर्जातीय-विवाह, (ख) सगोत्र-विवाह, (ग) तलाक, (घ) बहु-विवाहके लिये दण्ड, (ङ) विवाहिता पुत्रीको पिताकी सम्पत्तिमें अधिकार दिलानेकी व्यवस्था तथा (च) १६ वर्षकी कन्या और २१ वर्षसे कम उम्रके लड़केका विवाह न हो, हो तो वर-कन्याको जेल भेजा जाय।

ये विधेयक हिंदू-शास्त्रोंके उन बुनियादी सिद्धान्तोंके ही विरुद्ध हैं जिनपर हिंदू-समाज आधारित है।

उच्च न्यायालयके चार विद्वान् न्यायाधीशोंने अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए कहा है कि हिंदू-विधि-विधान पूर्ण-रूपसे ठोस हैं अतः कोडकी कोई आवश्यकता नहीं।

इस विशाल उपमहादेशके हिंदुओंमें, जिनकी इतनी बड़ी आबादी है, रस्म-रिवाजोंकी भिन्नता अनिवार्य है।

उन्होंने यह भी कहा है—

स्मृतियों और निबन्धोंकी व्यवस्थासे रहित हिंदू-कानून स्वयं विरोधाभास-सा होगा।

हिंदू-शास्त्र स्वीकार करते हैं कि कामवासना इस विश्वमें नित्य है, किंतु वे इस लिप्साको प्रोत्साहन नहीं देते और वासनाका शमन करनेके लिये विवाहके रूपमें इसके सीमित, संयमित उपभोगकी व्यवस्था की गयी है। पर पाश्चात्य देशोंमें, जैसा कि एच्० जी० वेल्स महोदय कहते हैं—

'सतीत्वका स्थान अनियन्त्रित सम्भोगकी स्वतन्त्रताने ग्रहण कर लिया है।'

हिंदू-विवाहके धार्मिक स्वरूप वह लंगर है जिसने हिंदू-समाजकी दृढ़ता, शान्ति एवं सुखको अक्षुण्ण रक्खा है। तलाक हिंदूके लिये घृणास्पद व्यवस्था है। आयरिश महिला कुमारी मार्गरेट नोबुलने, जो अब बहन निवेदिताके नामसे प्रख्यात हैं और जिन्हें हिंदू-परिवारके सम्बन्धमें निकटसे जानकारी प्राप्त करनेका अवसर मिला है, लिखा है—

तथाकथित उत्पीड़ित एवं प्रतारित हिंदू-नारी पूर्णताके इतनी समीप हैं जितना कोई मानव हो सकता है। एक बार पत्नी बन जानेपर सदैव वे पत्नी रहेंगी, भले ही इसके लिये औरोंकी साझीदारी स्वीकार करनी पड़े या यह सम्बन्ध सदैव नाममात्रका ही हो। अन्य पुरुष उसके लिये छाया-मात्र हो। उसके कदम सदैव पतिके चरणोंका, मृत्युके पथपर भी अनुसरण करनेको प्रस्तुत रहें, भारतमें पत्नीके जीवनके ये पवित्र अङ्ग हैं। जीवनके हर क्षेत्रमें पवित्रता भारतीय जीवनकी विशिष्टता है।

दूसरी तरफ, पाश्चात्य समाजमें प्रचलित स्त्री-पुरुषकी समानताकी दोषपूर्ण व्यवस्थाके, जिसका अनुकरण करनेके लिये हमें कहा जा रहा है, कारण तलाककी वृद्धिने भयावह रूप धारण कर लिया है और सुखी एवं शान्तिपूर्ण जीवनका बहुधा विघटन होता देखा जाता है। अमेरिकामें [illegible]

चार विवाहोंमें एक टिकाऊ नहीं हुआ करता और ब्रिटेनमें तलाककी रफ्तार यहाँतक पहुँच गयी है कि हर दसवें मिनट एक वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद हुआ करता है। सतीत्वकी भावनाके ह्रासके उत्तरोत्तर बढ़ती हुई इस भावनासे कि विवाहके पूर्व कामपूर्तिके लिये सम्बन्ध स्थापित करने और विवाहके बाद बेवफाईमें कोई दोष नहीं है, जैसा कि डार्चेस्टर समितिके विशपने कहा है, नैतिक बन्धन भयंकर रूपसे ढीले पड़ गये हैं और इसके फलस्वरूप परिवारकी श्रृंखला टूट गयी है तथा बच्चे अपने भाग्यके भरोसे अरक्षित छोड़ दिये गये हैं।

प्रस्तावित उत्तराधिकार कानूनमें विवाहिता पुत्रीको अपने पिताके घरमें हिस्सा देनेकी व्यवस्था है। इसका एकमात्र परिणाम होगा—पारिवारिक स्नेहका हनन। मुस्लिम समाजने अपने उत्तराधिकार कानूनके दोषोंका अनुभव करनेके बाद वक्फ कानूनद्वारा उसे रोकनेकी कोशिश की और परिवारकी जायदादको छिन्न-भिन्न होनेसे बचानेके लिये चचेरी बहनसे विवाहकी व्यवस्था की है!

वर्णव्यवस्था समाप्त करनेकी चेष्टा, हिंदू-धर्मको मिटानेकी चेष्टाके समान है। प्रत्येक हिंदू जानता है कि जन्म लेना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि पूर्वजन्मके कर्मोंके परिणामके रूपमें यह ईश्वरीय विधान है। प्रत्येक हिंदू जानता है कि जन्मान्तर और कर्मफलसे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इसके साथ ही हिंदू-धर्ममें सगोत्र-विवाहकी काफी भर्त्सना की गयी है और इसे मातृगमन-जैसा माना गया है।

प्रिवी कौंसिलके गोकुलचन्द बनाम हुकुमचन्द (४८ एल० ए० १६२) नामक मामलेमें लार्ड समरने निर्णय सुनाते हुए कहा था—'हम सर्वाधिक महत्त्वकी बात यह समझते हैं कि प्राचीन सभ्यताको शासित करनेवाले व्यापक मान्य कानूनों तथा पारिवारिक अधिकार एवं ...गत रीति-रिवाजों और धार्मिक विश्वासोंको प्रभावित ...ले सभी विषयोंमें कोई हेर-फेर या अनिश्चितता नहीं कोई ...की जानी चाहिये।'

प्रोफेसर नागूचीके ये शब्द स्मरण योग्य हैं—

यदि तथाकथित आधुनिक सभ्यताद्वारा भारतका घर स्वच्छ और परिष्कृत किया गया तो हमारे लिये यह असुरोंकी और एक विजय तथा देवोंकी पराजय-जैसी होगी।

ऐसे व्यक्ति, जो अपनेद्वारा निर्मित कानूनोंकी स्याही सूखनेके पहले ही उसके संशोधन करने बैठ जाते हैं, सनातन धर्ममें रद्दोबदल करनेके लिये सर्वथा अयोग्य हैं। सनातन धर्ममें हिंदुओंके लिये सभी आवश्यक व्यवस्था है और उसके सिद्धान्त समयके साथ-साथ नहीं बदलते जाते, जिस तरह आँखें पहलेकी भाँति देखने और कान सुननेका काम करते आ रहे हैं। सर्वदर्शी ऋषियोंने सर्वकालके लिये आवश्यक व्यवस्था कर दी है और अहंकार तथा द्वेषसे मुक्त होनेके कारण उन्होंने समाजके कल्याणके लिये वैसा किया।

हिंदुओ! तुम्हारे घरमें आग लग गयी है, यह निश्चय समझो कि इसका परिवारपर बहुत बुरा असर पड़ेगा। अपना कर्तव्य करो ताकि श्रीहरि अपनी असीम अनुकम्पा दरसाकर भारतको बचायें। (सन्मार्ग)

इस प्रकारके कानून बन जानेपर समाजमें व्यभिचारकी वृद्धि होगी, स्वेच्छाचार फैलेगा, धर्मका नाश होगा। पिताकी सम्पत्तिमें कन्याका अधिकार होनेसे पिताके घरसे कन्याको जैसे मिलेगा, वैसे ही ससुरालसे उसकी ननदको हिस्सा देना पड़ेगा। लड़कियाँ तो प्रायः सभी घरोंमें होती हैं। होना तो यह चाहिये कि पिताकी सम्पत्तिमें अधिकारकी जगह ससुर और पतिकी सम्पत्तिमें पूरा हिस्सा दिया जाय। पर वैसा न करके पुत्रीको जो सम्पत्ति दिलायी जायगी इससे घोर कलह और मुकद्दमेबाजी बढ़ेगी। सौजन्य और स्नेहका नाश हो जायगा। अतएव हिंदूमात्रको इनका घोर विरोध करना चाहिये। जगह-जगह सभाएँ करके विरोधमें प्रस्ताव पास करने चाहिये। प्रस्तावोंकी नकल तथा विरोधके तार-पत्र, रजिस्टर्ड-पत्र लोकसभाके अध्यक्षके नाम नयी दिल्ली भेजने चाहिये।

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७॥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिङ्ग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष सौर माघ या जनवरीसे आरम्भ होकर सौर पौष या दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक माघ या जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु माघ या जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण' के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है; ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।≈) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। बी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी बी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" पो० गीताप्रे (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखने पत्रादि सम्पादक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरख के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधि रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लि या

सत्सङ्गकी सूचना

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका आगामी पौष कृष्ण प्रतिपदा ता० १० दिसम्बर लगभग सत्सङ्गके लिये श्रीवृन्दावन जानेका विचार है। वहाँ महीने, दो-महीने कितने दिन ठहरना होगा, यह अभी अनिश्चित है। गीता-भवन ऋषिकेशकी भाँति प्रबन्ध करनेके साधन वृन्दावन नहीं हैं, इसलिये जो सज्जन सत्सङ्गके उद्देश्यसे जाना चाहें, उन्हें अपने निवास आदिकी सारी व्यवस्था स्वयं करनी चाहिये। —सम्पादक

गीता-दैनन्दिनी सन् १९५५ ई० तीसरा संस्करण

आकार २२×२९ बत्तीस-पेजी, पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ।।=), पूरे कपड़ेकी जिल्द ।।।) मात्र।

पचहत्तर हजार प्रतियोंके दो संस्करण बहुत शीघ्र समाप्त हो गये, अतः दस हजार प्रतियोंका तीसरा संस्करण छापा गया है, जो हाथों-हाथ जा रहा है। अब चौथा संस्करण छापनेका विचार नहीं है, अतः जिन्हें लेना हो वे शीघ्रता करें।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १।), दोके लिये २-), तीनके लिये २।।।=), छःके लिये ५।) और बारहके लिये १०) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १।=) दोके लिये २।=), तीनके लिये ३।=), छःके लिये ६≡) और बारहके लिये ११।।।=) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

पुस्तक-विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है, अतः यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपके समय और पैसे बच सकते हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के प्राप्य विशेषाङ्क

१३ वें वर्षका मानसाङ्क (पूरे चित्रोंसहित)—पृष्ठ ९४४, चित्र बहुरंगे सुनहरी ८, दुरंगे सुनहरी ४, तिरंगे ४६, इकरंगे १२०, मूल्य ६।।), सजिल्द ७।।।)।

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६।।), ५ प्रतियाँ एक साथ लेनेपर १५) प्रतिशत कमीशन।

२६ वें वर्षका भक्त-चरिताङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ १५१२, लेख-संख्या ७३९, तिरंगे चित्र ३६ तथा इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७।।) मात्र।

२७ वें वर्षका बालक-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८१६, तिरंगे तथा सादे बहुसंख्यक चित्र, मूल्य ७।।)।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र तिरंगे २०, इकरंगे लाइन १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७।।), सजिल्दका मूल्य ८।।।) है।

डाकखर्च सबमें हमारा

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)